मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी
व्यवस्थापक परमश्रुतप्रभावकमण्डल,
ख़ाराकुवा जौहरी बाजार, बम्बई

मुद्रक—रघुनाथ दीपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केळेवाडी, बम्बई नं. ४

श्रीमद् राजचन्द्र-वचनामृत

मूल तत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समझ पवित्र धर्ममें प्रवर्त्तन करना (पुष्पमाला १४).

जिनेश्वरके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश सन्निहित है। इन भेदोंके पढ़नेसे, समझनेसे और उनपर अत्यंत सूक्ष्म विचार करनेसे आत्मशक्ति प्रकाश पाती है, और वह जैनदर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती हैं (मोक्षमाला ६०).

'धर्म' बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढ़नेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशोधनसे ही प्राप्त होती है (२६).

सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन निज-स्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे, जिस ज्ञानसे, आत्मत्व प्राप्त होता हो, वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है (४४).

हे जीव! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है; उसे न कर (८६).

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव चाहे जो हो सब समान ही हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहितभावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटायेगा, उसीका कल्याण होगा (उपदेशछाया).

जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातनधर्म प्राप्त करानेका है, और वही साररूप है (व्याख्यानसार-प्रश्नसमाधान).

प्रकाशकका निवेदन

वि० सं० १९६१ में मूल गुजराती 'श्रीमद्राजचन्द्र' प्रकाशित हुआ था। उसी समय इसका हिन्दी अनुवाद निकालनेका विचार था। इसके लिए सम्वत् १९७५ में अहमदाबादके स्व० सेठ पुंजाभाई हीराचन्दजीने पाँच हजार रुपयेकी सहायता भी परमश्रुतप्रभावक मंडलको दी। उसके बाद सं० १९८२ में 'श्रीमद्राजचन्द्र' की दूसरी आवृत्ति भी निकल गई, पर हिन्दी अनुवाद न निकल सका। मेरे पिताजीने इसके लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया, एक दो विद्वानोंसे कुछ काम भी कराया, पर अनुवाद संतोषप्रद न होनेसे रोक देना पड़ा, और इस तरह समय बीतता ही गया। भाषान्तर-कार्यमें कई कठिनाइयाँ थीं, जिनमेंसे एक तो यह थी कि अनुवादकर्त्ताको जैनसिद्धान्त-ग्रन्थों तथा अन्य दर्शनोंका मर्मज्ञ होना चाहिये, दूसरे गुजराती भाषा खासकर श्रीमद्राज-चन्द्रकी भाषाकी अच्छी जानकारी होनी चाहिए, तीसरे उसमें इतनी योग्यता चाहिये कि विषयको हृदयंगम करके हिन्दीमें उत्तम शैलीमें लिख सके। इतने लम्बे समयके बाद उक्त गुणोंसे विशिष्ट विद्वानकी प्राप्ति हुई, और यह विशाल ग्रन्थ राष्ट्रभाषा हिन्दीमें प्रकाशित हो रहा है। इस बीचमें मेरे पूज्य पिता और सेठ पुंजाभाईका स्वर्गवास हो गया, और वे अपने जीवन-कालमें इसका हिन्दी अनुवाद न देख सके। फिर भी मुझे हर्ष है कि मैं अपने पूज्य पिताकी और स्व० सेठ पुंजाभाईकी एक महान् इच्छाकी पूर्ति कर रहा हूँ।

पं० जगदीशचन्द्रजीने इसके अनुवाद और सम्पादनमें अत्यन्त परिश्रम किया है। इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। वास्तवमें, स्वर्गीय सेठ पुंजाभाईकी आर्थिक सहायता, मेरे स्वर्गीय पूज्य पिताजीकी प्रेरणा, महात्मा गांधीजीके अत्यधिक आग्रह और पंडितजीके परिश्रमसे ही यह कार्य अपने वर्त्तमान रूपमें पूर्ण हो रहा है।

पिछले तीन-चार वर्षोंमें रायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें कई बड़े बड़े ग्रन्थ सुसम्पादित होकर निकले हैं, जिनकी प्रशंसा विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। भविष्यमें भी अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकालनेका आयोजन किया जा रहा है, कई अपूर्व ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद भी हो रहा है, जो यथासमय प्रकाशित होंगे। पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस ग्रंथका और पूर्व प्रकाशित ग्रंथोंका पठन-पाठन और खूब प्रचार करें जिससे हम ग्रन्थो-द्धारके महान् पुण्य-कार्यमें सफल हो सकें। इस ग्रन्थका सर्वसाधारणमें खूब प्रचार हो इसीलिए मूल्य भी बहुत ही कम रखा गया है।

मणिभुवन,
मकरसक्रान्ति सं. १९९४

निवेदक—
मणीलाल
रेवाशंकर जगजीवन जौहरी

प्रास्ताविक निवेदन

दो वर्षसे भी अधिक हुए, जब मैंने 'श्रीमद् राजचन्द्र'के हिन्दी अनुवादका काम हाथमें लिया था, उस समय मेरी कल्पना थी कि यह काम सुलभ ही होगा और इसमें अधिक श्रम और समयकी आवश्यकता न पड़ेगी। पर ज्यों ज्यों मैं आगे बढ़ा, त्यों त्यों मुझे इसकी गहराईका अधिकाधिक अनुभव होता गया। एक तो प्राचीन और संस्कृतमिश्रित गुजराती भाषा, धाराप्रवाह लम्बे लम्बे वाक्योंका विन्यास, भावपूर्ण नपे-तुले शब्द और उसमें फिर अध्यात्मतत्त्वका स्वानुभूत विवेचन आदि बातोंसे इस कार्यकी कठिनताका अनुभव मुझे दिनपर दिन बढ़ता ही गया। पर अब कोई उपायान्तर न था। मैंने इस समुद्रमें खूब ही गोते लगाये। अपने जीवनकी अनेक घड़ियाँ इसके एक एक शब्द और वाक्यके चिन्तन-मनन करनेमें बिताईं। अनेक स्थलोंके चक्कर लगाये, और बहुतसोंकी खुशामदें भी करनी पड़ी। आज अढ़ाई बरसके अनवरत कठिन परिश्रमके पश्चात् मैं इस अनुवादको पाठकोंके समक्ष लेकर उपस्थित हुआ हूँ। यद्यपि मुझे मालूम है कि पर्याप्त साधनाभाव आदिके कारणोंसे इस अनुवादमें स्खलनायें भी हुई हैं (ये सब 'संशोधन और परिवर्त्तन'में सुधार दी गई हैं), पर इस संबंधमें इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि मैंने अपनी योग्यता और शक्तिको न छिपाकर इसे परिपूर्ण और निर्दोष बनानेमें पूर्ण परिश्रम और सचाईसे काम किया है।

'श्रीमद् राजचन्द्र' के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत हिन्दी अनुवादमें प्राकृतकी गाथायें आदिके संशोधनके साथ साथ ग्रन्थका और भी अनेक स्थलोंपर संशोधन किया गया है। मुझे स्वयं राजचन्द्रजीके हस्तलिखित मूल पत्रों आदिके संग्रहके देखनेका अवसर नहीं मिल सका, इसलिये इन पत्रों आदिकी 'नकल' तथा आजतक प्रकाशित 'श्रीमद् राजचन्द्र'के गुजराती संस्करणोंको ही आधार मानकर काम चलाना पड़ा है। प्रस्तुत ग्रंथमें राजचन्द्रजीके मुख्य मुख्य लेखों और पत्रों आदिका प्रायः सब संग्रह आ जाता है। इन प्रकाशित पत्रोंमें आदि-अन्तका और बहुतसी जगह बीचका भाग भी छोड़ दिया गया है। जहाँ किसी व्यक्तिविशेष आदिका नाम आता है, वहाँ बिन्दु........लगा दिये गये हैं। इन सब बातोंमें गुजरातीके पूर्व संस्करणोंका ही अनुकरण किया गया है। अनुवाद करते समय यद्यपि गुजरातीके अन्य संस्करणोंके साथ भी मूलका मिलान किया है, पर यह अनुवाद खास करके श्रीयुत स्व० मनसुखभाई कीरतचंदद्वारा सम्पादित, परमश्रुतप्रभावकमण्डलके गुजराती संस्करण-(विक्रम संवत् १९८२) का ही अक्षरशः अनुवाद समझना चाहिये। अनुवादके अन्तमें छह परिशिष्ट हैं, जो बिलकुल नूतन हैं। पहलेमें ग्रंथके अंतर्गत विशिष्ट शब्दोंका संक्षिप्त परिचय, दूसरेमें उद्धरणोंके स्थल आदिके साथ उनकी वर्णानुक्रमणिका, तीसरेमें विशिष्ट शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका, चौथेमें ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी वर्णानुक्रमणिका, पाँचवेंमें मुमुक्षुओंके नामोंकी सूची, और छठे परिशिष्टमें 'आत्मसिद्धि'के पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका दी है। अन्तमें ग्रंथका 'संशोधन और परिवर्त्तन' दिया

गया है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि ग्रन्थको शुद्ध करनेके पश्चात् ग्रंथका अध्ययन करें। आदिमें विषय-सूची और राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय है। ये भी बिलकुल स्वतंत्र और मौलिक हैं।

इस महाभारत-कार्यमें अनेक महानुभावोंने मेरी अनेक प्रकारसे सहायता की है। सर्वप्रथम मैं परमश्रुतप्रभावकमण्डलके व्यवस्थापक श्रीयुत सेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरीका बहुत कृतज्ञ हूँ। ग्रंथके आरंभसे लेकर इसकी समाप्तितक उन्होंने मेरे प्रति पूर्ण सहानुभूतिका भाव रक्खा है। विशेष करके राजचन्द्रजीका संक्षिप्त परिचय आपकी प्रेरणासे ही लिखा गया है। श्रीयुत दामजी केशवजी बम्बई, राजचन्द्रजीके खास मुमुक्षुओंमेंसे हैं। आपकी कृपासे ही मुझे राजचन्द्रजीके मूल पत्रों आदिकी नकलें और तत्संबंधी और बहुतसा साहित्य देखनेको मिला है। सचमुच आपके इस सहयोगके बिना मेरा यह कार्य बहुत अधिक कठिन हो जाता। श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ साहित्यरत्न बम्बई और श्रीयुत पंडित गुणभद्रजी अगासने मुझे कुछ प्रूफोंके देखने आदिमें मेरी सहायता की है। बम्बईके श्रीयुत डाक्टर भगवानदास मनसुखलाल मेहता, श्रीयुत मोहनलाल दलीचन्द देसाई वकील, और मणिलाल केशवलाल परीख सुप्रिंटेंडेण्ट हीराचन्द गुमानजी जैन बोर्डिङ्ग बम्बईने अपना बहुत कुछ समय इस विषयकी चर्चामें दिया है। मेरे मित्र श्रीयुत दलसुखभाई मालवणीयाने इस ग्रंथका 'संशोधन परिवर्त्तन' तैय्यार किया है। परमश्रुत-प्रभावकमण्डलके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनलालजीने मुझे अनेक प्रकारसे सहयोग दिया है। मेरी जीवन-संगिनी सौभाग्यवंती श्रीमती कमलश्रीने अनेक प्रसंगोंपर कर्मणा और मनसा अनेक तरहसे अपना सहकार देकर इस काममें बहुत अधिक हाथ बँटाया है। वडवा, खंभात, अगास और सिंहपुरके आश्रमवासी और मुमुक्षुजनोंने अवसर आनेपर मेरे प्रति अपना सौहार्द अभिव्यक्त किया है। मुनि मोहनलाल सेंट्रल जैन लायब्रेरीके कर्मचारियोंने तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षों और कम्पोजीटरोंने समय समयपर मेरी मदद की है। इन सब महानुभावोंका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ। अन्तमें, धर्म और व्यवहारका सुन्दर बोध प्रदान कर मेरे जीवनमें नई स्फूर्तिका संचार करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्रका परम उपकार मानता हुआ मैं इस कार्यको समाप्त करता हूँ। आशा है विद्वान् पाठक मेरी कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए मेरे इस प्रयत्नका आदर करेंगे।

जुबिलीबाग
तारदेव
१-१-३८

जगदीशचन्द्र

विषय-सूची*

* इस विषय-सूचीमें ग्रन्थके केवल मुख्य मुख्य विषयोंकी ही सूची दी गई है ... चिन्ह है उन्हें राजचन्द्रजीकी प्राइवेट डायरीके नोट्स (हाथनोंध) समझना चाहिये ।

२६ वाँ वर्ष

स्व० सेठ पूंजाभाई

जन्म सं० १८६०] [मृत्यु आसोज वदी ८ सं० १९८८

आपने हिन्दी में 'श्रीमद्राजचन्द्र' के प्रकाशनके लिए ५०००) की सहायता दी।

स्व० सेठ पूंजाभाई

स्वर्गीय सेठ पूंजाभाई हीराचंदका जन्म संवत् १८६० में दहेगामके पास हरखजी नामक ग्राममें हुआ था। छोटी अवस्थामें ही इनके पिताजीका देहान्त हो गया। कुछ समय बाद पूंजाभाई अपने बड़े भाईके साथ अहमदाबाद आकर रहने लगे, और वहाँ नौकरी आदि द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करने लगे। धीरे धीरे अपनी योग्यतासे उन्होंने अपनी स्वतंत्र दूकान भी कर ली और वे लेन-देनका व्यापार करने लगे। पूंजाभाईके तीन विवाह हुए थे, उनका आखिरी विवाह ३६–३७ वर्षकी अवस्थामें हुआ था। अन्तिम पत्नीसे उन्हें एक पुत्रकी भी उत्पत्ति हुई थी, परन्तु वह अधिक समय जीवित न रह सका।

लगभग ३६–३७ वर्षकी अवस्थामें पूंजाभाई श्रीमद् राजचन्द्रके संपर्कमें आये। वे राजचन्द्रजीको गुरुतुल्य मानते थे। राजचन्द्रजीने पूंजाभाईको कुछ पत्र भी लिखे थे। पूंजाभाईके जीवनपर राजचन्द्रजीकी असाधारण छाप थी और राजचन्द्रजीके उपदेशोंसे प्रेरित होकर ही उन्होंने 'जिनागम-प्रकाश सभा', 'श्रीराजचन्द्र ज्ञान-भंडार', 'श्रीमद् राजचन्द्र साहित्य मंदिर' आदि संस्थायें स्थापित की थीं। जैन-ग्रंथोंके उद्धारके लिये आपने 'श्रीराजचन्द्र जिनागम-संग्रह' नामकी ग्रन्थमाला भी निकालनी आरंभ की थी जिसका नाम अब उनकी स्मृतिमें 'श्रीपूंजाभाई जैनग्रन्थमाला' रक्खा गया है और जिसमें आजतक १४ उच्च कोटिके ग्रंथ निकल चुके हैं। राजचन्द्रजीके वचनामृतका हिन्दुस्तानभरमें प्रचार करनेकी पूंजाभाईकी बहुत समयसे तीव्र अभिलाषा थी, और इसके लिये आपने 'श्रीमद्-राजचन्द्र' के हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करानेके लिये पाँच हजार रुपयेकी रकम परमश्रुत-प्रभावकमण्डलको प्रदान की थी।

पूंजाभाई अत्यन्त व्यवहार-कुशल थे। वे अन्त समयतक देश और समाजसेवाके कार्योंमें खूब रस लेते रहे। पू० महात्मा गांधीजी पूंजाभाईको 'चिरंजीवी' कहकर संबोधन करते थे। महात्माजीके आश्रममें पूंजाभाईका बड़ा भारी हाथ था। वे आश्रमको अपना निजका ही समझकर उसके लिये सदा शुभ प्रयत्न करनेमें उद्यत रहते थे। महात्मा गांधीजीने पूंजाभाईको धर्मपरायण, सत्यपरायण, उदार, पुण्यात्मा, मुमुक्षु, निस्पृह आदि शब्दोंसे संबोधन कर उनका खूब ही गुण-गान किया है।

सन् १९३० में, जिस समय महात्माजीने देशसेवाके लिये दांडी-कूच आरंभ किया, उस समय अत्यन्त वृद्ध और अशक्त होनेपर भी पूंजाभाईने महात्माजीके साथ दांडी जानेकी इच्छा प्रकट की थी, तथा, महात्माजीका आश्रममें ही रहनेका आग्रह होनेपर भी, महात्मा-जीके दांडी पहुँचनेके बाद, पूंजाभाई वहाँ गये।

पूंजाभाईने ७२ वर्षकी अवस्थामें संवत् १९८८ आसोज वदी ८ (२२-१०-३२) शनिवारके दिन देहत्याग किया। उस समय महात्मा गांधीजीने 'आश्रम-समाचार' में पूंजाभाईके विषयमें जो लिखा था, वह अवश्य पठनीय है।

* प्रस्तावना

श्रीमद् राजचन्द्रके पत्रों और लेखोंकी इस आवृत्तिकी प्रस्तावना लिखनेके लिये मुझे श्रीरेवाशंकर जगजीवनने जिन्हें मैं अपने बड़े भाईके समान समझता हूँ, कहा, जिसके लिये मैं इन्कार न कर सका। श्रीमद् राजचन्द्रके लेखोंकी प्रस्तावनामें क्या लिखूँ, यह विचार करते हुए मैंने सोचा कि मैंने जो उनके संस्मरणोंके थोड़ेसे प्रकरण यरवदा जेलमें लिखे हैं, यदि उन्हें दूँ तो दो काम सिद्ध होंगे। एक तो यह कि जो प्रयास मैंने जेलमें किया है वह अधूरा होनेपर भी केवल धर्मवृत्तिसे लिखा गया है, इसलिये उसका मेरे जैसे मुमुक्षुको लाभ होगा; और दूसरा यह है कि जिन्हें श्रीमद्का परिचय नहीं उन्हें उनका कुछ परिचय मिलेगा और उससे उनके बहुतसे लेखोंके समझनेमें मदद मिलेगी।

नीचेके प्रकरण अधूरे हैं, और मैं नहीं समझता कि मैं उन्हें पूर्ण कर सकूँगा। क्योंकि जो मैंने लिखा है, अवकाश मिलनेपर भी उससे आगे बहुत जानेकी मेरी इच्छा नहीं होती। इस कारण अपूर्ण अन्तिम प्रकरणको पूर्ण करके उसमें ही कुछ बातोंका समावेश कर देना चाहता हूँ।

इन प्रकरणोंमें एक विषयका विचार नहीं हुआ। उसे पाठकोंके समक्ष रख देना उचित समझता हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि श्रीमद् पच्चीसवें तीर्थंकर हो गये हैं। कुछ ऐसा मानते हैं कि उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। मैं समझता हूँ कि ये दोनों ही मान्य-तायें अयोग्य हैं। इन बातोंको माननेवाले या तो श्रीमद्को ही नहीं पहचानते, अथवा तीर्थंकर या मुक्त पुरुषकी वे व्याख्या ही दूसरी करते हैं। अपने प्रियतमके लिये भी हम सत्यको हल्का अथवा सस्ता नहीं कर देते हैं। मोक्ष अमूल्य वस्तु है। मोक्ष आत्माकी अंतिम स्थिति है। मोक्ष बहुत मँहगी वस्तु है। उसे प्राप्त करनेमें, जितना प्रयत्न समुद्रके किनारे बैठकर एक सींक लेकर उसके ऊपर एक एक बूँद चढ़ा चढ़ाकर समुद्रको खाली करनेवालेको करना पड़ता है और धीरज रखना पड़ता है, उससे भी विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है। इस मोक्षका संपूर्ण वर्णन असम्भव है। तीर्थंकरको मोक्षके पहलेकी विभू-तियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। इस देहमें मुक्त पुरुषको रोगादि कभी भी नहीं होते। निर्विकारी शरीरमें रोग नहीं होता। रागके बिना रोग नहीं होता। जहाँ विकार है वहाँ

---

* यह प्रस्तावना महात्मा गांधीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलद्वारा संवत् १९८२ में प्रकाशित श्रीमद् राजचन्द्रकी द्वितीय आवृत्तिके लिये गुजरातीमें लिखी थी। यह उसीका अनुवाद है।—अनुवादकर्ता.

राग रहता ही है; और जहाँ राग है वहाँ मोक्ष संभव नहीं। मुक्त पुरुषके योग्य वीतरागता या तीर्थंकरकी विभूतियाँ श्रीमद्को प्राप्त नहीं हुई थीं। परन्तु सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा श्रीमद्की वीतरागता और विभूतियाँ बहुत अधिक थीं, इसलिये हम उन्हें लौकिक भाषामें वीतराग और विभूतिमान कहते हैं। परन्तु मुक्त पुरुषके लिये मानी हुई वीतरागता और तीर्थंकरकी विभूतियोंको श्रीमद् न पहुँच सके थे, यह मेरा दृढ़ मत है। यह कुछ मैं एक महान् और पूज्य व्यक्तिके दोष बतानेके लिये नहीं लिखता। परन्तु उन्हें और सत्यको न्याय देनेके लिये लिखता हूँ। यदि हम संसारी जीव हैं तो श्रीमद् असंसारी थे। हमें यदि अनेक योनियोंमें भटकना पड़ेगा तो श्रीमद्को शायद एक ही जन्म बस होगा। हम शायद मोक्षसे दूर भागते होंगे तो श्रीमद् वायुवेगसे मोक्षकी ओर धँसे जा रहे थे। यह कुछ थोड़ा पुरुषार्थ नहीं। यह होनेपर भी मुझे कहना होगा कि श्रीमद्ने जिस अपूर्व पदका स्वयं सुंदर वर्णन किया है, उसे वे प्राप्त न कर सके थे। उन्होंने ही स्वयं कहा है कि उनके प्रवासमें उन्हें सहाराका मरुस्थल बीचमें आ गया और उसका पार करना बाकी रह गया। परन्तु श्रीमद् राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिंदुके समान हैं। उनके पढ़नेवाले, विचारनेवाले और तदनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होगा, उनकी कषायें मंद पड़ेंगी, और वे देहका मोह छोड़ कर आत्मार्थी बनेंगे।

इसके ऊपरसे पाठक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिये ही योग्य हैं। सब पाठक तो उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा। परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् नितर रहा है, यह मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान बतानेके लिये एक भी अक्षर नहीं लिखा। लेखकका अभिप्राय पाठकोंको अपने आत्मानंदमें सहयोगी बनानेका था। जिसे आत्मक्लेश दूर करना है, जो अपना कर्त्तव्य जाननेके लिये उत्सुक है, उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत कुछ मिलेगा, ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले ही कोई हिन्दूधर्मका अनुयायी हो या अन्य किसी दूसरे धर्मका।

ऐसे अधिकारीके, उनके थोड़ेसे संस्मरणोंकी तैयार की हुई सूची उपयोगी होगी, इस आशासे उन संस्मरणोंको इस प्रस्तावनामें स्थान देता हूँ।

रायचन्द भाईके कुछ संस्मरण

प्रकरण पहला

प्रास्ताविक

मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरंभ करता हूँ, उन स्वर्गीय श्रीमद् राजचन्द्रकी आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा (संवत् १९७९) को उनका जन्म हुआ था। मैं कुछ यहाँ श्रीमद् राजचन्द्रका जीवनचरित्र नहीं लिख रहा हूँ। यह कार्य मेरी शक्तिके बाहर है। मेरे पास सामग्री भी नहीं। उनका यदि मुझे जीवनचरित्र लिखना हो तो मुझे चाहिये कि मैं उनकी जन्मभूमि ववाणीआ बंदरमें कुछ समय विताऊँ, उनके रहनेका मकान देखूँ, उनके खेलने कूदनेके स्थान देखूँ, उनके बाल-मित्रोंसे मिलूँ, उनकी पाठशालामें जाऊँ, उनके मित्रों, अनुयायियों और सगे संबंधियोंसे मिलूँ, और उनसे जानने योग्य बातें जानकर ही फिर कहीं लिखना आरंभ करूँ। परन्तु इनमेंसे मुझे किसी भी बातका परिचय नहीं।

इतना ही नहीं, मुझे संस्मरण लिखनेकी अपनी शक्ति और योग्यताके विषयमें भी शंका है। मुझे याद है मैंने कई बार ये विचार प्रकट किये हैं कि अवकाश मिलनेपर उनके संस्मरण लिखूँगा। एक शिष्यने जिनके लिये मुझे बहुत मान है, ये विचार सुने और मुख्यरूपसे यहाँ उन्हींके संतोपके लिये यह लिखा है। श्रीमद् राजचन्द्रको मैं 'रायचंद भाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक संबोधन करता था। उनके संस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओंके समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है। इस समय तो मेरा प्रयास केवल मित्रके संतोपके लिये है। उनके संस्मरणोंपर न्याय देनेके लिये मुझे जैनमार्गका अच्छा परिचय होना चाहिये, मैं स्वीकार करता हूँ कि वह मुझे नहीं है। इसलिये मैं अपना दृष्टि-बिन्दु अत्यंत संकुचित रखूँगा। उनके जिन संस्मरणोंकी मेरे जीवनपर छाप पड़ी है, उनके नोट्स, और उनसे जो मुझे शिक्षा मिली है, इस समय उसे ही लिखकर मैं संतोष मानूँगा। मुझे आशा है कि उनसे जो लाभ मुझे मिला है वह या वैसा ही लाभ उन संस्मरणोंके पाठक मुमुक्षुओंको भी मिलेगा।

'मुमुक्षु' शब्दका मैंने यहाँ जान बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकारके पाठकोंके लिये यह प्रयास नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचंद भाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकोंद्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे; रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट'से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रक्खा है; और रायचन्द भाईने अपने साथ गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचंद भाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण

आफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष संबंधमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिये समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका संबंध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था तो भी उन्होंने मेरी आत्माके कल्याणके लिये चिंता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरी आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायतके अंग्रेज़ मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं। तथा हिंदुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचंद भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा संबंध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था, इसलिये उनसे जो मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जवाबदार रायचंद भाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होनेपर भी मैंने उन्हें धर्मगुरु नहीं माना। धर्मगुरुकी तो मैं खोज किया ही करता हूँ, और अबतक मुझे सबके विषयमें यही जवाब मिला है कि 'ये नहीं'। ऐसा संपूर्ण गुरु प्राप्त करनेके लिये तो अधिकार चाहिये, वह मैं कहाँसे लाऊँ?

प्रकरण दूसरा

रायचन्द भाईकी साथ मेरी भेंट जौलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायतसे बम्बई वापिस आया। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया करता है, इस कारण जहाज़ रातको देरीसे पहुँचा। मैं डाक्टर—बैरिस्टर—और अब रंगूनके प्रख्यात झवेरी प्राण-जीवनदास मेहताके घर उतरा था। रायचन्द भाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डाक्टर साहबने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदासकी पहिचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर साहबने रायचन्द भाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा—'कवि होते हुए भी आप हमारी साथ व्यापारमें हैं, आप ज्ञानी और शतावधानी हैं'। किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हों, जिस क्रमसे मैं बोलूँगा उसी क्रमसे वे दुहरा जावेंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था; मुझे भाषा-ज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विला-यतसे आया मानों आकाशसे उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया, और अलग अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये—क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाला था? और बादमें उन शब्दोंको मैं बाँच गया। उसी क्रमसे रायचन्द भाईने धीरेसे

एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कविकी स्मरण-शक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवा कम पड़नेके लिये यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।

कविको अंग्रेज़ी ज्ञान बिलकुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीससे अधिक न थी। गुजराती पाठशालामें भी उन्होंने थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आसपाससे इतना उनका मान! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरणशक्ति पाठशालामें नहीं बिकती, और ज्ञान भी पाठशालाके बाहर, यदि इच्छा हो--जिज्ञासा हो—तो मिलता है, तथा मान पानेके लिये विलायत अथवा कहीं भी नहीं जाना पड़ता; परन्तु गुणको मान चाहिये तो मिलता है—यह पदार्थपाठ मुझे बंबई उतरते ही मिला।

कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरणशक्ति बहुत लोगोंकी तीव्र होती है, इसमें आश्चर्यकी कुछ बात नहीं। शास्त्रज्ञान भी बहुतोंमें पाया जाता है। परन्तु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहाँ संस्कार अच्छे होते हैं, वहीं स्मरणशक्ति और शास्त्रज्ञानका संबंध शोभित होता है, और जगत्को शोभित करता है। कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

प्रकरण तीसरा

वैराग्य

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथजो?
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो—अपूर्व०

रायचन्द भाईकी १८ वर्षकी उमरके निकले हुए अपूर्व उद्गारोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनमें देखा है। उनके लेखोंकी एक असाधरणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई न कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्यमें और कभी पद्यमें होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिये।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगत्के किसी भी वैभवपर मोह हुआ हो यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आदरपूर्वक परन्तु सूक्ष्मतासे देखता था। भोजनमें जो मिले वे उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्ता, अंगरखा, खेस, सिल्कका दुपट्टा और धोती यही उनकी पोशाक थी। तथा ये भी कुछ बहुत साफ़ या इस्तरी किये हुए

रहते हों, यह मुझे याद नहीं। ज़मीनपर बैठना और कुरसीपर बैठना उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीतिसे अपनी दुकानमें वे गद्दीपर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वे अपने विचारमें मग्न हैं। आँखमें उनकी चमत्कार था। वे अत्यंत तेजस्वी थे। विह्वलता ज़रा भी न थी। आँखमें एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक न नोकदार और न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम, और देखनेमें वे शान्त मूर्ति थे। उनके कंठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अंतरानंदकी छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करते समय कभी कोई शब्द ढूँढ़ना पड़ा हो, यह मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हें देखा होगा। फिर भी पढ़नेवाले को यह न माळूम होता था कि कहीं विचार अपूर्ण हैं, अथवा वाक्य-रचना त्रुटित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीके विषयमें संभव है। बाह्याडंबरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। यह अनेक जन्मोंके प्रयत्नसे मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागोंको निकालनेका प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग रहित होना कितना कठिन है। यह राग रहित दशा कविकी स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जबतक जगतकी एक भी वस्तुमें मन रमा है तबतक मोक्षकी बात कैसे अच्छी लग सकती है? अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानोंको ही—ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थके समझे बिना किसी संगीतका केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरणके आनेमें बहुत समय बीत जाता है। आंतर वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। ऐसे वैराग्यकी लगन कविमें थी।

प्रकरण चौथा
व्यापारी जीवन

*"वणिक तेहनुं नाम जेह जूठुं नव बोले, वणिक तेहनुं नाम, तोल ओछुं नव तोले,
वणिक तेहनुं नाम वापे बोल्युं ते पाळे, वणिक तेहनुं नाम व्याजसहित धन वाळे,
विवेक तोल ए वणिकनुं, सुलतान तोल ए शाव छे,
वेपार चूके जो वाणीओ, दुःख दावानळ थाय छे।"

—सामळभट्ट

* बनिया उसे कहते हैं जो कभी झूठ नहीं बोलता; बनिया उसे कहते हैं जो कम नहीं तोलता; बनिया उसका नाम है जो अपने पिताका वचन निभाता है; बनिया उसका नाम है जो व्याजसहित मूलधन चुकाता है। बनियेकी तोल विवेक है; साहू सुलतानकी तोलका होता है। यदि बनिया अपने बनिजको चूक जाय तो संसारकी विपत्ति बढ़ जाय।

—अनुवादक.

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग अलग विरोधी वस्तुएँ हैं। व्यापारमें धर्मको घुसेड़ना पागलपन है। ऐसा करनेसे दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्यमें केवल निराशा ही लिखी है, क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्मको अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना ही चाहिये, यह रायचंद भाईने अपने जीवनमें बताया था। धर्म कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही, ईदके दिन ही, या रविवारके दिन ही पालना चाहिये; अथवा उसका पालन मंदिरोंमें, देरासरोंमें, और मस्जिदोंमें ही होता है और दूकान या दरबारमें नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्मको न समझनेके बराबर है, यह रायचन्द भाई कहते, मानते और अपने आचारमें बताते थे।

उनका व्यापार हीरे जवाहरातका था। वे श्रीरेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साझी थे। साथमें वे कपड़ेकी दुकान भी चलाते थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकारसे वे प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चालाकी' सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। दूसरेकी चालाकी वे तुरंत ताड़ जाते ते; वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जातीं, और आँखोंमें लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्मकुशल लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस वहमको रायचंद भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे जवाहरातकी परीक्षा वे बहुत बारीकीसे कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेज़ीका ज्ञान उन्हें न था फिर भी पेरिस वगैरहके अपने आड़तियोंकी चिट्ठियों और तारोंके मर्मको वे फौरन समझ जाते थे, और उनकी कला समझनेमें उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होनेपर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिंता न रखते थे। दुकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता, तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वे अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी।। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें हिचकते न थे। 'व्यापारके समयमें व्यापार और धर्मके समयमें धर्म' अर्थात् एक समयमें एक ही काम होना चाहिये, इस सामान्य लोगोंके सुन्दर नियमका कवि पालन न करते थे। वे शतावधानी होकर इसका पालन न करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने लगें तो जैसे दो घोड़ोंपर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वे भी अवश्य गिरते। सम्पूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रियाको जिस समय करता हो, उसमें ही लीन हो जाय, यह योग्य है; इतना ही नहीं परन्तु उसे यही शोभा देता है। यह उसके योगकी निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरहकी जो कोई

अन्य क्रिया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिये। अंतरंगमें आत्म-चिन्तन तो मुमुक्षुमें उसके श्वासकी तरह सतत चलना ही चाहिये। उससे वह एक क्षणभर भी वंचित नहीं रहता। परन्तु इस तरह आत्मचिन्तन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें ही तन्मय रहता है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होनेपर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पड़ी है कि कविने अपने शरीरसे आवश्यकतासे अधिक काम लिया है। यह योगकी अपूर्णता तो नहीं हो सकती? यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीरतक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परन्तु शक्तिसे अधिक बोझ उठाकर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यंत सूक्ष्म राग कविमें था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थदृष्टिसे मनुष्य शक्तिसे अधिक काम लेता है और बादमें उसे पूरा करनेमें उसे कष्ट सहना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रशंसा करते हैं। परन्तु परमार्थ अर्थात् धर्मदृष्टिसे देखनेसे इस तरह किये हुए काममें सूक्ष्म मूर्छाका होना बहुत संभव है।

यदि हम इस जगतमें केवल निमित्तमात्र ही हैं, यदि यह शरीर हमें भाड़े मिला है, और उस मार्गसे हमें तुरंत मोक्ष-साधन करना चाहिये, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्गमें जो विघ्न आते हों उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिये; यही पारमार्थिक दृष्टि है दूसरी नहीं।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकारसे रायचंद भाई अपनी चमत्कारिक भाषामें मुझे सुना गये थे। ऐसा होनेपर भी उन्होंने ऐसी कैसी उपाधियाँ उठाई कि जिसके फलस्वरूप उन्हें सख्त बीमारी भोगनी पड़ी?

रायचंद भाईको भी परोपकारके कारण मोहने क्षणभरके लिये घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह श्लोकार्ध यहाँ ठीक बैठता है; और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक वर्त्ताव करनेके लिये उपर्युक्त कृष्ण-वचनका उपयोग करते हैं, परन्तु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचंद भाईकी प्रकृति उन्हें बलात्कार गहरे पानीमें ले गई। ऐसे कार्यको दोषरूपसे भी लगभग सम्पूर्ण आत्माओंमें ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परोकारी कार्यके पीछे अवश्य पागल बन जाते हैं, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते हैं। इस विषयको इतना ही लिखकर समाप्त करते हैं।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते हैं कि उन्हें सब कोई ठग सकता है। उन्हें दुनियाकी बातोंकी कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह बात ठीक हो तो कृष्णचन्द्र और रामचन्द्र दोनों अवतारोंको केवल संसारी मनुष्योंमें ही गिनना चाहिये। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असंभव होना चाहिये। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान् होनेपर भी कदाचित् ज्ञानी न हो, परन्तु मोक्षके लिये नीति और अनुभवज्ञानका सुसंगम होना चाहिये। जिसे अनुभवज्ञान हो गया है, उसके पास

पाखंड निभ ही नहीं सकता। सत्यके पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसाके सांनिध्यमें हिंसा बंद हो जाती है। जहाँ सरलता प्रकाशित होती है वहाँ छलरूपी अंधकार नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटीको देखे तो उसे फौरन पहिचान लेता है, और उसका हृदय दयासे आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्माको प्रत्यक्ष देख लिया है, वह दूसरेको पहिचाने बिना कैसे रह सकता है? कविके संबंधमें यह नियम हमेशा ठीक पड़ता था, यह मैं नहीं कह सकता। कोई कोई धर्मके नामपर उन्हें ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियमकी अपूर्णता सिद्ध नहीं करते, परन्तु ये शुद्ध ज्ञानकी ही दुर्लभता सिद्ध करते है।

इस तरहके अपवाद होते हुए भी व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका सुंदर मेल जितना मैंने कविमें देखा है उतना किसी दूसरेमें देखनेमें नहीं आया।

प्रकरण पाँचवाँ

धर्म

रायचन्द भाईके धर्मका विचार करनेसे पहिले यह जानना आवश्यक है कि धर्मका उन्होंने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्मका अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्मका अर्थ शास्त्रोंके नामसे कही जानेवाली पुस्तकोंका पढ़ जाना, कंठस्थ कर लेना, अथवा उनमें जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नहीं है।

धर्म आत्माका गुण है और वह मनुष्य जातिमें दृश्य अथवा अदृश्यरूपसे मौजूद है। धर्मसे हम मनुष्य-जीवनका कर्त्तव्य समझ सकते हैं। धर्मद्वारा हम दूसरे जीवोंकी साथ अपना सच्चा संबंध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान लें, तबतक यह सब कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने आपको स्वयं पहिचान सकते हैं।

यह साधन हमें जहाँ कहीं मिले, वहींसे प्राप्त करना चाहिये। फिर भले ही वह भारतवर्षमें मिले, चाहे यूरोपसे आये या अरबस्तानसे आये। इन साधनोंका सामान्य स्वरूप समस्त धर्मशास्त्रोंमें एक ही सा है। इस बातको वह कह सकता है जिसने भिन्न भिन्न शास्त्रोंका अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं कहता कि असत्य बोलना चाहिये, अथवा असत्य आचरण करना चाहिये। हिंसा करना किसी भी शास्त्रमें नहीं बताया। समस्त शास्त्रोंका दोहन करते हुए शंकराचार्यने कहा है।—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। उसी बातको कुरान शरीफमें दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके बिना और दूसरा कुछ नहीं। बाइबिलमें कहा है कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं। ये सब एक ही वस्तुके रूपांतर हैं। परन्तु इस एक ही सत्यके स्पष्ट करनेमें अपूर्ण मनुष्योंने अपने भिन्न भिन्न दृष्टि-बिन्दुओंको काममें लाकर हमारे लिये मोहजाल रच दिया है; उसमेंसे हमें बाहर निकलना है। हम अपूर्ण हैं और अपनेसे कम अपूर्णकी मदद लेकर आगे बढ़ते हैं और अन्तमें न जाने अमुक हदतक जाकर ऐसा मान लेते हैं कि आगे रास्ता ही नहीं है, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अमुक हदके बाद शास्त्र मदद नहीं करते, परन्तु अनुभव मदद करता है। इसलिये रायचंद भाईने कहा है:—

ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ध्यानमां, कही शक्या नहीं ते पद श्रीभगवंत जो
एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में, गजावगर पण हाल मनोरथ रूप जो—

इसलिये अन्तमें तो आत्माको मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्यका निरूपण रायचन्द भाईने अनेक प्रकारोंसे अपने लेखोंमें किया है। रायचन्द भाईने बहुतसी धर्मपुस्तकोंका अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषाके समझनेमें ज़रा भी मुश्किल न पड़ती थी। उन्होंने वेदान्तका अभ्यास किया था, इसी प्रकार भागवत और गीताजीका भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैन पुस्तकें तो जितनी भी उनके हाथमें आतीं, वे बाँच जाते थे। उनके बाँचने और ग्रहण करनेकी शक्ति अगाध थी। पुस्तकका एक बारका बाँचन उन पुस्तकोंके रहस्य जाननेके लिये उन्हें काफ़ी था। क़ुरान, ज़ंदअवेस्ता आदि पुस्तकें भी वे अनुवादके ज़रिये पढ़ गये थे।

वे मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैनधर्मकी ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागममें आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है; मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है। इस विषयमें अपना मत देनेके लिये मैं अपनेको बिलकुल अनधिकारी समझता हूँ।

परन्तु रायचंद भाईका दूसरे धर्मोंके प्रति अनादर न था, बल्कि वेदांतके प्रति पक्षपात भी था। वेदांतीको तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरी साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्षप्राप्तिके लिये किसी खास धर्मका अवलंबन लेना चाहिये। मुझे अपना ही आचार विचार पालनेके लिये उन्होंने कहा। मुझे कौनसी पुस्तकें बाँचनी चाहिये, यह प्रश्न उठनेपर, उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपनके संस्कार देखकर मुझे गीताजी बाँचनेके लिये उत्तेजित किया; और दूसरी पुस्तकोंमें पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठका वैराग्य प्रकरण, काव्यदोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बाँचनेके लिये कहा।

रायचंद भाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न भिन्न धर्म तो एक तरहके बाड़े हैं, और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्षप्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथेपर किसी भी धर्मका तिलक लगानेकी आवश्यकता नहीं।

× सूतर आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे—

जैसे अखाका यह सूत्र था वैसे ही रायचंद भाईका भी था। धार्मिक झगड़ोंसे वे हमेशा ऊबे रहते थे—उनमें वे शायद ही कभी पड़ते थे। वे समस्त धर्मोंकी खूबियाँ पूरी तरहसे देखते और उन्हें उन धर्मावलम्बियोंके सामने रखते थे। दक्षिण आफ्रिकाके पत्रव्यवहारमें भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूँ कि समस्त धर्म उस धर्मके भक्तोंकी दृष्टिसे सम्पूर्ण हैं, और दूसरोंकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं। स्वतंत्ररूपसे विचार करनेसे सब धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक हदके बाद सब शास्त्र बंधनरूप मालूम पड़ते हैं। परन्तु यह तो गुणातीतकी अवस्था हुई। रायचंद भाईकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। सब अपने अपने धर्ममें रहकर अपनी स्वतंत्रता—मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि मोक्ष प्राप्त करनेका अर्थ सर्वांशसे राग द्वेष रहित होना ही है।

मोहनदास करमचंद गांधी

× जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह। जैसे बने तैसे हरिको प्राप्त कर। —अनुवादक.
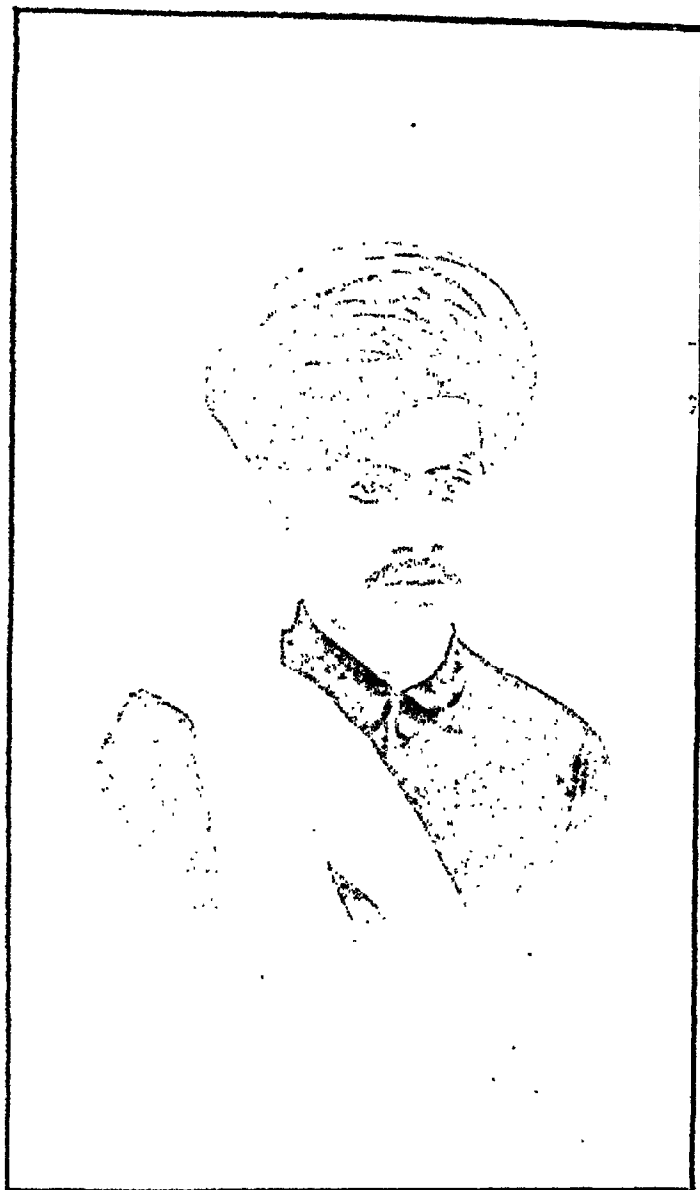
श्रीमद् राजचंद्र.

जन्म,–ववाणीआ.
कार्तिक पूर्णिमा वि. सं. का. पू. रवि.

देहविलय,–राजकोट.
चैत्र वद पंचमी, वि. सं. १९५७ चैत्र वद मंगळ

Lakshmi Art, Bombay, 8.

राजचन्द्र और उनका संक्षिप्त परिचय

राजचन्द्रजीका जन्म संवत् १९२४ (सन् १८६७) कार्तिक सुदी पूर्णिमा रविवारके दिन, काठियावाड़—मोरबी राज्यके अन्तर्गत ववाणीआ गाँवमें, दशाश्रीमाली वैश्य जातिमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाण और माताका नाम देवबाई था। राजचन्द्रके एक भाई, चार बहन, दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। भाईका नाम मनसुखलाल; बहनोंका नाम शिवकुँवरबाई, झबकबाई, मेनाबाई, और जीजीबाई; पुत्रोंका नाम छगनलाल और रतिलाल; तथा पुत्रियोंका नाम जवलबाई और काशीबाई था। ये सब लोग राजचन्द्रजीकी जीवित अवस्थामें मौजूद थे। इस समय उनकी केवल एक बहन झबकबाई और एक पुत्री जवलबाई मौजूद हैं।[1]

तेरह वर्षकी वयचर्या

बालक राजचन्द्रकी सात वर्षतककी बाल्यावस्था नितांत खेलकूदमें बीती थी। उस दशाका दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने स्वयं अपनी आत्मचर्यामें लिखा है:—" उस समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थीं। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। वस्त्र पहिननेकी, स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दशायें विदेही थीं। फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी मुझे याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिए बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है। "[2]

राजचन्द्रजीका सात वर्षसे ग्यारह वर्षतकका समय शिक्षा प्राप्त करनेमें बीता था। उनकी स्मृति इतनी विशुद्ध थी कि उन्हें एक बार ही पाठका अवलोकन करना पड़ता था। राजचन्द्र अभ्यास करनेमें बहुत प्रमादी, बात बनानेमें होशियार, खिलाड़ी और बहुत आनन्दी बालक थे। वे उस समयकी अपनी दशाके सम्बन्धमें लिखते हैं:—"उस समय मुझमें प्रीति और सरल वात्सल्य बहुत था। मैं सबसे मित्रता पैदा करना चाहता था। सबमें भ्रातृभाव हो तो ही सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविकरूपसे रहा करता था। लोगोंमें किसी भी प्रकारका जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अंतःकरण रो पड़ता था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। अभ्यास मैंने इतनी शीघ्रतासे किया था कि जिस आदमीने मुझे पहिली पुस्तक सिखानी शुरू की थी, उसीको, मैंने गुजराती भाषाका शिक्षण ठीक तरहसे प्राप्तकर, उसी पुस्तकको पढ़ाया था। उस समय मैंने कई काव्य-ग्रन्थ पढ़ लिये थे। तथा अनेक प्रकारके छोटे मोटे इधर उधरके ज्ञानग्रन्थ देख गया था, जो प्रायः अब भी स्मृतिमें हैं। उस समयतक मैंने स्वाभाविकरूपसे भद्रिकताका ही सेवन किया था। मैं मनुष्य जातिका बहुत विश्वासु था। स्वाभाविक सृष्टि-रचनापर मुझे बहुत ही प्रीति थी।[3]"

राजचन्द्रके पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे[4]। इन्होंने उनके पास कृष्णकीर्त्तनके पदोंको तथा

---

१ श्रीमद् राजचन्द्र आत्मकथा-परिचय सं. १९९३-हेमचन्द्र टोकरशी मेहता.

२ ६४-१७३-२३.—अर्थात् प्रस्तुत ग्रंथ ६४ वाँ पत्र, १७३ वाँ पृष्ठ, २३ वाँ वर्ष; इसी तरह आगे भी समझना चाहिये.

३ ६४-१७४-२३.

४ श्रीयुत गोपालदास जीवाभाईका कहना है कि राजचन्द्रजीकी माता जैन और पिता वैष्णव थे; इसलिये वे राजचन्द्रजीका कुटुंबधर्म वैष्णव मानते हैं (श्रीमद् राजचन्द्रना विचाररत्नो पृ. ११)। परन्तु हेमचन्द्र टोकरशी मेहता राजचन्द्रजीके कुटुम्बका मूल धर्म स्थानकवासी जैन लिखते हैं (श्रीमद् राजचन्द्र आत्मकथा परिचय).

जुदे जुदे अवतारसम्बन्धी चमत्कारोंको सुना था। जिससे इनकी उन अवतारोंमें भक्ति और प्रीति उत्पन्न हो गई थी; और इन्होंने रामदासजी नामक साधुसे बालकंठी बँधवाई थी। ये नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाते; उनकी कथाएँ सुनते; उनके अवतारोंके चमत्कारोंपर बारबार मुग्ध होते और उन्हें परमात्मा मानते थे। " इस कारण उनके रहनेका स्थल देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके सम्प्रदायका महंत अथवा त्यागी होऊँ तो कितना आनन्द मिले, बस यही कल्पना हुआ करती थी। तथा जब कभी किसी धन-वैभवकी विभूति देखता तो समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उसी बीचमें प्रवीणसागर नामक ग्रन्थ भी मैं पढ़ गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था, फिर भी स्त्रीसम्बन्धी सुखमें लीन होऊँ और निरुपाधि होकर कथाएँ श्रवण करता होऊँ, तो कैसी आनन्द दशा हो! यही मेरी तृष्णा रहा करती थी।"[1]

गुजराती भाषाकी पाठमालामें राजचन्द्रजीने ईश्वरके जगत्कर्तृत्वके विषयमें पढ़ा था। इससे उन्हें यह बात दृढ़ हो गई थी कि जगत्का कोई भी पदार्थ बिना बनाये नहीं बन सकता। इस कारण उन्हें जैन लोगोंसे स्वाभाविक जुगुप्सा रहा करती थी। वे लिखते हैं:—" मेरी जन्मभूमिमें जितने वणिक् लोग रहते थे उन सबकी कुल-श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी, फिर भी वह थोड़ी बहुत प्रतिमापूजनके अश्रद्धालुके ही समान थी। इस कारण उन लोगोंको ही मुझे सुधारना था। लोग मुझे पहिलेसे ही समर्थ शक्तिवाला और गाँवका प्रसिद्ध विद्यार्थी गिनते थे, इसलिये मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर ऐसे मंडलमें बैठकर अपनी चपलशक्ति दिखानेका प्रयत्न करता था। वे लोग कण्ठी बाँधनेके कारण बारबार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वादविवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न किया करता था।"[2]

धीरे धीरे राजचन्द्रजीको जैन लोगोंके प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। 'उनमें बहुत विनयपूर्वक जगत्के समस्त जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई थी।' इससे उनकी प्रीति उनमें भी हो गई और पहलेमें भी रही। धीरे धीरे यह समागम बढ़ता गया। फिर भी आचार-विचार तो उन्हें वैष्णवोंके ही प्रिय थे, और साथ ही जगत्कर्त्ताकी भी श्रद्धा थी। यह राजचन्द्रजीकी तेरह वर्षकी वयचर्या है। इसके बाद, वे लिखते हैं:—"मैं अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगा था। अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिये जब जब बुलाया जाता था, तब तब वहाँ जाता था। दुकानपर रहते हुए मैंने नाना प्रकारकी मौज-मजायें की हैं, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चरित्रोंपर कवितायें रची हैं, सांसारिक तृष्णायें की हैं, तो भी किसीको मैंने कम अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तोलकर नहीं दिया; यह मुझे बराबर याद आ रहा है"।[3]

लघुवयमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

राजचन्द्र विशेष पढ़े लिखे न थे। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत आदिका कोई नियमित अभ्यास नहीं किया था; परंतु वे जैन आगमोंके एक असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशमशक्ति इतनी

१ ६४-१७४-२३. २ वही. ३ ६४-१७५-२३.

४ राजचन्द्रजीने जोग्यता (योग्यता), दुलभ (दुर्लभ), सजित (सर्जित), अभिलाषा (जिज्ञासाके स्थानपर), वृत्त (व्रत) आदि अनेक अशुद्ध शब्दोंका अपने लेखोंमें प्रयोग किया है। इसके अलावा उन्होंने जो प्राकृत अथवा संस्कृतकी गाथायें आदि उद्धृत की हैं, वे भी बहुतसे स्थलोंपर अशुद्ध हैं। इससे भी मालूम होता है कि राजचन्द्रजीका संस्कृत और प्राकृतका अभ्यास बहुत साधारण होना चाहिये.

५ एक जगह राजचन्द्र यशोविजयजीकी छद्मस्थ अवस्थाके विषयमें लिखते हैं:—" यशोविजयजीने ग्रंथ लिखते हुए इतना अखंड उपयोग रक्खा था कि वे प्रायः किसी जगह भी न भूले थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़सौ गाथाके स्तवनमें ७ वें ठाणांगसूत्रकी जो शाखा दी है, वह मिलती नहीं। वह श्रीभगवतीजीके पांचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई मालूम होती है—
८६४-७८२-३३.

तीव्र थी कि जिस अर्थको अच्छे अच्छे मुनि और विद्वान् लोग नहीं समझ सकते थे, उसमें राजचन्द्रजीका प्रवेश अत्यंत सरलतासे हो जाता था। कहते हैं कि राजचन्द्रजीने सवा वरसके भीतर ही समस्त आगमोंका अवलोकन कर लिया था। उन्हें बाल्यावस्थामें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इस सम्बन्धमें एक जगह राजचन्द्रजीने स्वयं लिखा है—

लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध। एज सूचवे एम के, गति अगति कां शोध।
जे संस्कार थवा घटे, अति अभ्यासे कांय। विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय॥

—अर्थात् मुझे जो छोटीसी अवस्थासे तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, वही पुनर्जन्मकी सिद्धि करता है, फिर गति-आगति (पुनर्जन्म) की शोधकी क्या आवश्यकता है? तथा जो संस्कार अत्यंत अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही हो गये हैं; फिर अब पुनर्जन्मकी क्या शंका है?

पुनर्जन्मकी सिद्धि राजचन्द्रजीने और भी बहुतसे प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे की है[२]। वे इस संबंधमें लिखते हैं—" 'पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ'—यह वाक्य पूर्वभवके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसने पुनर्जन्म आदि भाव किये हैं, उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर वह वाक्य लिखा गया है"।[३] कहते हैं कि राजचन्द्र जब लगभग पाँच वरसके थे, तो उनके कुटुम्बमें साँप काटनेसे किसी गृहस्थकी मृत्यु हो गई। राजचन्द्रजीका उनपर बहुत प्रेम था। राजचन्द्र उनके मरण-समाचार सुनते ही घर दौड़े आये और घरके लोगोंसे पूँछने लगे कि 'मरी जवुं एटले शुं'—मर जाना किसे कहते हैं? घरके लोगोंने समझा कि राजचन्द्र अभी बालक है, वह डर जायगा; इसलिये वे उन्हें इस बातको भुलानेका प्रयत्न करने लगे। पर राजचन्द्र न माने, और वे छिपकर स्मशानमें पहुँचे, तथा एक वृक्षपर छिपकर बैठ गये। राजचन्द्रजीने देखा कि कुटुम्बके सब लोग उस मृतक देहको जला रहे हैं। यह देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उनके हृदयमें एक प्रकारकी खलभलाहटसी मच गई, और इसी समय विचार करते करते राजचन्द्रजीका पड़दा टूटा, और उन्हें पूर्वजन्मकी दृढ़ प्रतीति हुई।[४]

शतावधानके प्रयोग

राजचन्द्रजीकी स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि वे जो कुछ एक बार बाँच लेते उसे फिर मुश्किलसे ही भूलते थे। राजचन्द्र बहुत छोटी अवस्थासे ही अवधानके प्रयोग करने लगे थे। वे धीरे धीरे शतावधानतक पहुँच गये थे। संवत् १९४३ में, उन्नीस वर्षकी अवस्थामें राजचन्द्रजीने बम्बईमें एक सार्वजनिक सभामें डाक्टर पिटर्सनके सभापतित्वमें, सौ अवधानोंके प्रयोग बताकर बड़े बड़े लोगोंको आश्चर्यचकित किया था। शतावधानमें वे शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़ घटा गुणा करते जाना, सोलह भाषाओंके जुदा जुदा क्रमसे उल्टे सीधे नंबरोंके साथ अक्षरोंको याद रखकर वाक्य बनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना, आठ भिन्न भिन्न समस्याओंकी पूर्त्ति करते जाना इत्यादि सौ कामोंको एक ही साथ

---

१ ५०—१६०—२१.

२ देखो ४०—१५२—२१ (यह पत्र राजचन्द्रजीने गुजरातके साक्षर स्वर्गीय मनसुखराम त्रिपाठीको लिखा था).

३ ३५०—३३३—२६.

४ कहा जाता है कि जिस समय राजचन्द्र जूनागढ़का किला देखने गये थे, वहाँ भी उन्हें इसी तरहका अनुभव हुआ था। लोगोंमें ऐसी भी प्रसिद्धि है कि राजचन्द्र अपने पूर्वके ९०० भव जानते थे—श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें श्रीमद्के संपर्कमें आये हुए एक मुमुक्षुके लिखे हुए राजचन्द्रजीके वृत्तांतके आधारसे.

कर सकते थे। और उसमें विशेषता यह थी कि वे इन सब कामोंके पूर्ण होनेतक, बिना लिखे अथवा बिना फिरसे पूछे ही इन सब कामोंको करते जाते थे। उस समय पायोनियर, इन्डियन स्पेक्टेटर, टाइम्स आफ इंडिया, मुंबई समाचार आदि पत्रोंने राजचन्द्रजीके इन प्रयोगोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की थी। राजचन्द्रजीकी स्पर्शन इन्द्रियकी शक्ति भी बहुत विलक्षण थी। उक्त सभामें इन्हें भिन्न भिन्न आकारकी बारह पुस्तकें दी गईं; और उन पुस्तकोंके नाम उन्हें पढ़कर सुना दिये। राजचन्द्रजीकी आखोंपर पट्टी बाँध दी गई। उन्होंने हाथोंसे टटोलकर उन सब पुस्तकोंके नाम बता दिये। कहते हैं कि उस समयके बम्बई हाईकोर्टके चीफ जस्टिस सर चार्ल्स सारजंटने राजचन्द्रजीको इन अवधानोंके प्रयोगोंको विलायत चलकर वहाँ दिखानेकी इच्छा प्रकट की थी, पर राजचन्द्रजीने इसे स्वीकार न किया।[1]

भविष्यवक्ता

राजचन्द्रजी एक बहुत अच्छे भविष्यवक्ता भी थे। वे वर्षफल जन्मकुंडली आदि देखकर भविष्यका सूचन करते थे। अहमदाबादके एक मुमुक्षु सज्जन (श्रीजूठाभाई) के मरणको राजचन्द्रजीने सवादो मास पहिले ही सूचित कर दिया था।[2] इसके अतिरिक्त उनके भविष्यज्ञानके संबंधमें और भी बहुतसी किंवदन्तियां सुनी जाती हैं। कहते हैं कि एकबार कोई जौहरी उनके पास जवाहरात बेचने आया। राजचन्द्रजीने उसके जवाहरात खरीद लिये। पर उन्हें भविष्यज्ञानसे मालूम हुआ कि कल जवाहरातका भाव चढ़ जानेवाला है। इससे राजचन्द्रजीके मनको बहुत लगा, और उन्होंने उस जौहरीको बुलाकर उसके जवाहरात उसे वापिस कर दिये। अगले दिन वही हुआ जो राजचन्द्रजीने कहा था। इसपर वह जौहरी उनका बहुत भक्त हो गया।[3]

राजचन्द्र दूसरेके मनकी बात भी जान लेते थे। कहा जाता है कि एकबार सौभागभाई (राजचन्द्रजीके प्रसिद्ध सत्संगी) को आते देखकर राजचन्द्रजीने उनके मनकी बातको एक कागजपर लिखकर रख लिया, और सौभागभाईको उसे बँचवाया। सौभागभाई इस बातसे बहुत आश्चर्यचकित हुए और उसी समयसे राजचन्द्रजीकी ओर उनका आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

कविराज

राजचन्द्रजी कवि अथवा कविराजके नामसे भी प्रसिद्ध थे। उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें कविता लिखी थी। कहा जाता है कि इस उमरमें उन्होंने पाँच हजार कड़ियाँ लिखी हैं; और नौ बरसकी अवस्थामें रामायण और महाभारत पद्यमें रचे हैं। राजचन्द्रजीके काव्योंको देखनेसे मालूम होता है कि यद्यपि वे कोई महान् कवि तो न थे, किन्तु उनमें अपने विचारोंको काव्यमें अभिव्यक्त करनेकी महान् प्रतिभा थी। यद्यपि राजचन्द्रजीने 'स्त्रीनीतिबोध' 'स्वदेशीओने विनंति' 'श्रीमंतजनोने शिखामण' 'हुन्नरकलावधारवाविषे,' 'आर्यप्रजानी पडती' आदि सामाजिक और देशोन्नतिविषयक भी बहुतसे काव्य लिखे हैं, परन्तु उनकी कविता अखा आदि संत कवियोंकी तरह विशेषकर आत्मज्ञान-

---

१ राजचन्द्रजीके अवधानोंके विषयमें विशेष जाननेके लिये देखो 'साक्षात् सरस्वति किंवा श्रीमद् रायचन्द्रनो २९ मां वर्ष सुधीनो टुंक वृत्तांत' अहमदाबाद १९११.

२ प्रस्तुत ग्रंथ पत्रांक १०१ में इस संबंधमें राजचन्द्र वैशाख सुदी ३, १९४६ को बम्बईसे लिखते हैं—" इस उपाधिमें पड़नेके बाद यदि मेरा लिंगदेहजन्यज्ञान-दर्शन वैसा ही रहा हो—यथार्थ ही रहा हो—तो जूठाभाई आषाढ सुदी ९ को गुरुवारकी रातमें समाधिशीत होकर इस क्षणिक जीवनका त्याग करके चले जायेंगे—ऐसा वह ज्ञान सूचित करता है।" तत्पश्चात् आषाढ सुदी १०, १९४६ को उसी पत्रमें वे निम्न प्रकारसे लिखते हैं—" उपाधिके कारण लिंगदेहजन्यज्ञानमें थोड़ा बहुत फेरफार हुआ मालूम दिया। पवित्रात्मा जूठाभाईके उपरोक्त तिथिमें परन्तु दिनमें स्वर्गवासी होनेकी आज खबर मिली है."

३ श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें श्रीमद्के संपर्कमें आये हुए एक मुमुक्षुके लिखे हुए राजचन्द्रजीके वृत्तांतके आधारसे.

प्रधान ही होती थी[1]। 'अमूल्यतत्त्वविचार' नामक काव्यमें राजचन्द्रजीने समस्त तत्त्वज्ञानका रहस्य निम्न पद्यमें कितनी सुन्दरतासे अभिव्यक्त किया है:—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो ? शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं ए नय ग्रहो ।
वधवापणुं संसारनुं नरदेहने हारी जवो । एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पळ तमने हवो ॥

—अर्थात् यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया ? क्या कुटुम्ब और परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो ? हर्गिज़ ऐसा मत मानो, क्योंकि संसारका बढ़ना मानों मनुष्यदेहको हार जाना है । अहो ! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता !

निस्पृहता

इतना सब होनेपर भी राजचन्द्रजीको मान, लौकिक बड़ाई आदि प्राप्त करनेकी थोड़ी भी महत्त्वाकांक्षा न थी। यदि वे चाहते तो अवधान, ज्योतिष आदिके द्वारा अवश्य ही धन और यशके यथेच्छ भोगी हो सकते थे, अपनी प्रतिभासे ज़रूर "एक प्रतिभाशाली जज अथवा वाइसराय बन सकते थे;" पर इस ओर उनका किंचिन्मात्र भी लक्ष्य न था । इन बातोंको आत्मैश्वर्यके सामने वे 'अति तुच्छ' समझते थे । वे तो 'चाहे समस्त जगत् सोनेका क्यों न हो जाय, उसे तृणवत् ही मानते थे।[2]' 'सिद्धियोग आदिसे निज अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा ले रक्खी थी।[4]' उनका दृढ़ निश्चय था कि 'जो कोई अपनी जितनी पौद्गलिक बड़ाई चाहता है, उसकी उतनी ही अधोगति होती है'[5]।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश

राजचन्द्रजीने संवत् १९४४ माघ सुदी १२ को उन्नीस वर्षकी अवस्थामें गांधीजीके परममित्र स्वर्गीय रेवाशंकर जगजीवनदास मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ विवाह किया । दुर्भाग्यसे राजचन्द्रजीके विवाहविषयक कुछ विशेष विगत नहीं मालूम होती । केवल इतना ही ज्ञात होता है कि राजचन्द्र कन्यापक्षवालोंके 'आग्रहसे' उनके प्रति 'ममत्वभाव' होनेके कारण 'सब कुछ पड़ा छोड़कर' पौषकी १३ या १४ के दिन 'त्वरा'से बम्बईसे पाणिग्रहण करनेके लिये रवाना होते हैं । तथा इसी पत्रमें राजचन्द्र अपने विवाहमें पुरानी रूढियोंका अनुकरण न करनेके लिये बलपूर्वक भार देते हुए पूँछते हैं—" क्या उनके हृदयमें ऐसी योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़ीसे प्रतिकूल रह सकते हैं, जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो

१ कविताके विषयमें राजचन्द्रजीने लिखा है:—कविताका कविताके लिये आराधन करना योग्य नहीं—संसारके लिये आराधन करना योग्य नहीं । यदि उसका प्रयोजन भगवान्के भजनके लिये—आत्मकल्याणके लिये हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है—३९६-३६३-२७.

२ ४-६७-१६.

३ अहमदाबादमें राजचन्द्र-जयंतीके अवसरपर गांधीजीके उद्गार.

४ वे लिखते हैं:—जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है तभीसे किसी भी प्रकारके सिद्धियोगसे निजसंबंधी अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी है, और यह याद नहीं पड़ता कि इस प्रतिज्ञामें अबतक एक पलभरके लिये भी मंदता आई हो—२७०-२८०-२५.

५ स्वामी रामतीर्थने अपनी निस्पृहताका निम्न शब्दोंमें वर्णन किया है:—

Away ye thoughts, ye desires which concern the transient, evanescent fame or riches of this world. Whatever be the state of this body, it concerns Me not—अर्थात् ए अनित्य और क्षणभंगुर कीर्त्ति और धनसंबंधी सांसारिक इच्छाओ ! दूर होओ । इस शरीरकी कैसी भी दशा क्यों न हो, उनका मेरेसे कोई संबंध नहीं.

सके ! क्या आप ऐसी योजना करेंगे ! क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा ? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है।"[1] इससे इतना तो अवश्य मालूम होता है कि राजचन्द्रजी केवल एक अध्यात्मज्ञानी ही नहीं, परन्तु एक महान् सुधारक भी थे।

गृहस्थाश्रममें उदासीनभाव

यहाँ यह बात खास लक्ष्यमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीके गृहस्थाश्रममें पदार्पण करनेपर भी, उन्हें स्त्री आदि पदार्थ ज़रा भी आकर्षित नहीं कर सके। उनकी अभी भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकांतवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है, उसका सौंवा भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।"[2] अतएव श्रीमद् राजचन्द्र विरक्तभावसे, उदासीनभावसे, नववधूमें रागद्वेषरहित होकर, 'सामान्य प्रीति-अप्रीति' पूर्वक, पूर्वोपार्जित कर्मोंका भोग समझकर ही अपना गृहस्थाश्रम चलाते हैं। अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"'यदि दुखिया मनुष्योंका प्रदर्शन किया जाय तो निश्चयसे मैं उनके सबसे अग्रभागमें आ सकता हूँ।' मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर भिन्न भिन्न कल्पनायें न करने लग जाय, अथवा इसे मेरा भ्रम न मान बैठे, इसलिए इसका समाधान यहीं संक्षेपमें लिखे देता हूँ।

तुम मुझे स्त्रीसंबंधी दुःख नहीं मानना, लक्ष्मीसंबंधी दुःख नहीं मानना, पुत्रसंबंधी दुःख नहीं मानना, कीर्त्तिसंबंधी दुःख नहीं मानना, भयसंबंधी दुःख नहीं मानना, शरीरसंबंधी दुःख नहीं मानना, अथवा अन्य सर्व वस्तुसंबंधी दुःख नहीं मानना; मुझे किसी दूसरी ही तरहका दुःख है। वह दुःख वातका नहीं, कफका नहीं, पित्तका नहीं, शरीरका नहीं, वचनका नहीं, मनका नहीं, अथवा गिनो तो इन सभीका है, और न गिनो तो एकका भी नहीं। परन्तु मेरी विज्ञप्ति उस दुःखको न गिननेके लिए ही है, क्योंकि इसमें कुछ और ही मर्म अन्तर्हित है।

इतना तो तुम जरूर मानना कि मैं बिना दिवानापनेके यह कलम चला रहा हूँ। मैं राजचन्द्र नामसे कहा जानेवाला ववाणीआ नामके एक छोटेसे गाँवका रहनेवाला, लक्ष्मीमें साधारण होनेपर भी आर्यरूपसे माना जानेवाला दशाश्रीमाली वैश्यका पुत्र गिना जाता हूँ। मैंने इस देहमें मुख्यरूपसे दो भव किये हैं, गौणका कुछ हिसाब नहीं।

छुटपनकी समझमें कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनायें आया करती थीं। सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी, और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री तथा रागरंगोंके भी कुछ कुछ ही मनोरथ थे, किंतु सबसे बड़ी कल्पना तो इस बातकी थी कि यह सब क्या है ? इस कल्पनाका एक बार तो ऐसा फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है, और न पुण्य है। सुखसे रहना और संसारका भोग करना, बस यही कृतकृत्यता है। इसमेंसे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासनायें भी निकाल डालीं। किसी भी धर्मके लिए थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किंतु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया। जैसा होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी, तथा जिसके लिए मेरे विचारमें आनेवाला मेरा कोई प्रयत्न भी न था, तो भी अचानक फेरफार हुआ। कुछ दूसरा ही

---

१ १२–१३०,१–१९.

२ ८२–१८२–२३.

अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न शास्त्रोंमें ही लिखा था, और न जड़वादियोंकी कल्पनामें ही था। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा, और बढ़कर अब एक 'तू ही तू ही' की जाप करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अवश्य आपकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूतकालमें न भोगे हुए अथवा भविष्यकालीन भय आदिके दुःखमेंसे एक भी दुःख नहीं है। स्त्रीके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ खास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी संसारी पदार्थ नहीं है, जिसमें मेरी प्रीति हो, और मैं किसी भी भयसे अधिक मात्रामें घिरा हुआ भी नहीं हूँ। स्त्रीके संबंधमें मेरी अभिलाषा कुछ और है, और आचरण कुछ और है। यद्यपि एक तरहसे कुछ कालतक उसका सेवन करना मान्य रक्खा है, फिर भी मेरी तो वहाँ सामान्य प्रीति-अप्रीति है। परन्तु दुःख यही है कि अभिलाषा न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों घेरे हुए हैं? इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता। परन्तु इसके कारण अच्छे न लगनेवाले पदार्थोंको देखना, सूँघना और स्पर्श करना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है। महारंभ, महापरिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा ऐसी ही अन्य बातें जगतमें कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको भुलादेनेका ध्यान करनेसे परमानंद रहता है। उसको उपरोक्त कारणोंसे देखना पड़ता है। यही महाखेदकी बात है। अंतरंगचर्या भी कहीं प्रगट नहीं की जा सकती, ऐसे पात्रोंकी मुझे दुर्लभता हो गई है। यही बस मेरा दुःखीपना कहा जा सकता है।"[1]

स्त्रीसंबंधी विचार

एक दूसरी बात यहाँ खास ध्यान आकर्षित करनेवाली यह है कि राजचन्द्र गृहस्थाश्रमसे उदासीन रहते हुए भी भारतके बहुसंख्यक ऋषि मुनियोंकी तरह स्त्रीको हेय अथवा तुच्छ नहीं समझते। परन्तु वे 'गृहस्थाश्रमको विवेकी और कुटुम्बको स्वर्ग बनाने' की भावना रखते हुए स्त्रीके प्रति पर्याप्त सम्मान प्रकट करते हैं, और उसे सहधर्मिणी समझकर सदाचारी-ज्ञान देनेका अनुरोध करते हैं[2]। वे लिखते हैं—"स्त्रीमें कोई दोष नहीं। परन्तु दोष तो अपनी आत्मामें है।...स्त्रीको सदाचारी-ज्ञान देना चाहिये। उसे एक सत्संगी समझना चाहिये। उसके साथ धर्म-बहनका संबंध रखना चाहिये। अंतःकरणसे किसी भी तरह मा बहनमें और उसमें अन्तर न रखना चाहिये। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहनीय कर्मके वशसे उपभोग किया जाता है। उसमें योगकी ही स्मृति रखनी चाहिये। 'यह है तो मैं कैसे सुखका अनुभव करता हूँ!' यह भूल जाना चाहिये (तात्पर्य यह है कि यह मानना असत् है)। जैसे दो मित्र परस्पर साधारण चीजका उपभोग करते हैं, वैसे ही उस वस्तु (पत्नी) का सखेद उपभोग कर पूर्वबंधनसे छूट जाना चाहिये। उसके साथ जैसे बने वैसे निर्विकारी बात करना चाहिये—विकार चेष्टाका कायासे अनुभव करते हुए भी उपयोग निशानपर ही रखना चाहिये। उससे कोई संतानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है—यह समझकर ममत्व न करना चाहिये।"[3]

---

१ ५५-१६३-२१.

२ स्त्रियोंके लिये राजचन्द्रजीने स्त्रीनीतिबोध नामक स्वतंत्र पद्यग्रंथ भी लिखा है, जिसमें उन्होंने स्त्रीशिक्षा आदि विषयोंका प्रतिपादन किया है—देखो आगे.

३ गुजराती मूल पत्र इस तरह है:—"स्त्रीने सदाचारी ज्ञान आपवुं। एक सत्संगी तेने गणवी। तेनाथी धर्मबहेननो संबंध राखवो। अंतःकरणथी कोईपण प्रकारे मा बहेन अने तेमां अंतर न राखवो। तेना शारीरिक भागनो कोईपण रीते मोहकर्मने वशे उपभोग लवाय छे, त्यां योगनीज स्मृति राखी 'आ छे तो हुं केवुं सुख अनभवुं छुं' ए भुली जवुं (तात्पर्य ते मानवुं असत् छे)। मित्रे मित्र साधारण चीजनो परस्पर उपयोग लईए छीए, तेम ते वस्तु (ते पत्नी) नो सखेद उपभोग लई पूर्वबन्धनथी छूटी जवुं। तेनाथी जेम बने तेम निर्विकारी बात करवी—विकारचेष्टानो कायाए अनुभव करतां पण उपयोग निशानपर ज राखवो। तेनाथी कई संतानोत्पत्ति थाय तो ते एक साधारण वस्तु छे एम समजी ममत्व न करवुं"—यह पत्र प्रस्तुत ग्रंथके ५१ वें पत्रका ही एक अंश है। 'श्रीमद् राजचन्द्र' के अबतक प्रकाशित किसी भी संस्करणमें यह अंश नहीं दिया गया। उक्त पत्रका यह अंश मुझे श्रीयुत दामजी केशवजीकी कृपासे प्राप्त हुआ है, इसके लिये लेखक उनका बहुत आभारी है.

इतना ही नहीं, आत्मज्ञानकी उच्च दशाको प्राप्त राजचन्द्र अपनी स्त्रीसे कितनी समानता और प्रेमका वर्ताव रखते थे, यह उनके निम्न पत्रसे मालूम होता है। यह पत्र राजचन्द्रजीने अपनी स्त्रीको लक्ष्य करके लिखा है:—

"हे परिचयी! तुम्हें मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने आपमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा।

तुम मेरे अनुयायी हो, और उसमें जन्मांतरके योगसे मुझे प्रधानपद मिला है, इस कारण तुमने मेरी आज्ञाका अवलंबन करके आचरण करना उचित माना है।

और मैं भी तुम्हारे साथ उचितरूपसे ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, किसी दूसरे प्रकारसे नहीं।

यदि तुम पहिले जीवनस्थितिको पूर्ण करो, तो धर्मके लिये ही मेरी इच्छा करो। ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ; और यदि मैं करूँ तो धर्मपात्रके रूपमें मेरा स्मरण रहे, ऐसा होना चाहिये।

हम तुम दोनों ही धर्ममूर्त्ति होनेका प्रयत्न करें। बड़े हर्षसे प्रयत्न करें। तुम्हारी गतिकी अपेक्षा मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान कर लिया है—"मतिमें"।

मैं तुम्हें उसका लाभ देना चाहता हूँ, क्योंकि तुम बहुत ही निकटके संबंधी हो।

यदि तुम उस लाभको उठानेकी इच्छा करते हो तो दूसरी कलममें कहे अनुसार तुम जरूर करोगे, ऐसी मुझे आशा है।

तुम स्वच्छताको बहुत अधिक चाहना, वीतराग भक्तिको बहुत ही अधिक चाहना। मेरी भक्तिको मामूली तौरसे चाहना। तुम जिस समय मेरी संगतिमें रहो, उस समय जिस तरह सब प्रकारसे मुझे आनन्द हो उस तरहसे रहना।

विद्याभ्यासी होना।

मुझसे विद्यायुक्त विनोदपूर्ण संभाषण करना।

मैं तुम्हें योग्य उपदेश दूँगा। तुम उससे रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसंपन्न होगे। बादमें इस दशाको देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा।"[1]

गृहस्थाश्रमसे विरक्त होनेकी सूझ

गृहस्थकी उपाधिमें रहते हुए भी राजचन्द्रजी स्वलक्ष्यकी ओर बढ़ते ही चले जाते हैं। तथा आश्चर्यकी बात तो यह है कि अभी उनके विवाहको हुए तीन-चार बरस भी नहीं हो पाये, और उनका वैराग्य इतना तीव्र हो उठता है कि उन्हें 'गृहस्थाश्रमसे अधिकतर विरक्त होनेकी ही बात सूझा करती है'। उनका दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'गृहस्थाश्रमीसे सम्पूर्ण धर्म-साधन नहीं बन सकता— उसके लिये तो सर्वसंग-परित्याग ही आवश्यक है।' तथा 'सहजसमाधिकी प्राप्ति केवल निर्जन स्थान अथवा योग-धारणसे नहीं हो सकती, वह सर्वसंग-परित्याग करनेसे ही संभव है।' राजचन्द्रजीकी यह भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि उन्हें 'विदेही दशाके बिना, यथायोग्य जीवन्मुक्त-दशाके बिना—यथायोग्य निर्ग्रन्थ दशाके बिना, एक क्षणभरका भी जीवन देखना कठिन हो जाता है, और उनके समक्ष भविष्यकी विडम्बना आ खड़ी होती है'। इस समय जो राजचन्द्रजीके मनमें इस सम्बन्धमें मंथन चला है, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये:—"रात दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहा करता है। आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है, चलना भी यही है, और आसन भी यही है। अधिक क्या कहा जाय? हाड़, माँस और उसकी मज्जाको एक इसी रंगमें रंग दिया है। रोम रोममें भी मानों इसीका विचार रहा करता है, और उसके कारण न कुछ देखना अच्छा लगता है, न कुछ सूँघना अच्छा लगता है, न कुछ सुनना अच्छा लगता है, न कुछ चखना अच्छा लगता है, न कुछ छूना अच्छा लगता है, न कुछ बोलना अच्छा लगता है, न मौन रहना अच्छा लगता है, न बैठना अच्छा लगता है, न उठना अच्छा

[1] ९४-१९१-२३

लगता है, न सोना अच्छा लगता है, न जागना अच्छा लगता है, न खाना अच्छा लगता है, न भूखे रहना अच्छा लगता है, न असंग अच्छा लगता है, न संग अच्छा लगता है, न लक्ष्मी अच्छी लगती है, और न अलक्ष्मी ही अच्छी लगती है—ऐसी दशा हो गई है। तो भी उसके प्रति आशा या निराशा कुछ भी उदय होती हुई नहीं मालूम होती। वह हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक, यह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखकी कारण केवल एक विषम आत्मा ही है, और वह यदि सम है तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है, तो भी बाहरसे गृहस्थपनेकी प्रवृत्ति करनेमें बहुतसे अन्तराय हैं। तो फिर अब क्या करें? क्या पर्वतकी गुफामें चले जाँय, और अदृश्य हो जाँय! यही रटन रहा करती। तो भी बाह्यरूपसे कुछ संसारी प्रवृत्ति करनी पड़ती है, उसके लिये शोक तो नहीं है, तो भी उसे सहन करनेके लिये जीव इच्छा नहीं करता। परमानन्दको त्यागकर इसकी इच्छा करे भी कैसे? और इसी कारण ज्योतिष आदिकी ओर हालमें चित्त नहीं है—किसी भी तरहके भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है। तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रहती है, उसमें भी हालमें तो और भी अधिक रहती है।"[1]

कुशल व्यापारी

तत्त्वज्ञानी होकर भी राजचन्द्र एक बड़े भारी व्यापारी थे। वे जवाहरातका धंधा करते थे। सन् १९४६ में, बाईस वर्षकी अवस्थामें राजचन्द्रजीने श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासके साझेमें बम्बईमें व्यापार आरंभ किया था। प्रारंभमें दोनोंने मिलकर कपड़ा, किराना, अनाज वगैरह बाहर भेजनेकी आड़तका काम शुरु किया। तथा बादमें चलकर बड़ौदाके श्रीयुत माणेकलाल घेलाभाई और सूरतके नगीनचंद आदिके साथ मोतियोंका व्यापार चलाया। राजचन्द्रजीने अपनी कम्पनीके नियम बनाकर एक छोटीसी पुस्तक भी प्रकाशित की थी। कहनेकी आवश्यकता नहीं, श्रीमद् राजचन्द्र व्यापारमें अत्यन्त कुशल थे। अंग्रेजी भाषाका ज्ञान न होनेपर भी वे विलायतके तार आदिका मर्म अच्छी तरह समझ सकते थे[2]। वे व्यापारसंबंधी कामोंको बहुत उपयोगपूर्वक खूब सोच विचार कर करते थे। यही कारण था कि उस समय मोतियोंके बाज़ारमें श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनदासकी पेढ़ी बम्बईकी नामी पेढ़ियोंमें एक गिनी जाने लगी थी। स्वयं राजचन्द्रजीके भागीदार श्रीयुत माणेकलाल घेलाभाईको राजचन्द्रजीकी व्यापार-कुशलताके लिए बहुत सन्मान था। उन्होंने एक जगह कहा है:—"श्रीमान् राजचन्द्रकी साथ मेरा लगभग पन्द्रह वर्षका परिचय था, और उसमें सात आठ वर्ष तो मेरा उनकी साथ एक भागीदारके रूपमें संबंध रहा था। दुनियाका अनुभव है कि अति परिचयसे परस्परका महत्त्व कम हो जाता है। किन्तु मुझे आपको कहना पड़ेगा कि उनकी दशा ऐसी आत्ममय थी कि उनके प्रति मेरा भक्तिभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया। आपमेंसे जो व्यापारी लोग हैं; उनको अनुभव है कि व्यापारके काम ऐसे होते हैं कि बहुत बार भागीदारोंमें मतभेद हो जाता है, अनेक बार परस्परके हितमें बाधा पहुंचती है। परन्तु मुझे कहना होगा कि श्रीमान् राजचन्द्रकी साथ मेरा भागीदारका जितने वर्ष संबंध रहा, उसमें उनके प्रति किंचि-

---

१ १२०-२०३-२३.

२ अपने अंग्रेजी आदिके अभ्यासके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं—शिशुवयमेंसे ही इस वृत्तिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परभाषाका अभ्यास नहीं हो सका। अमुक संप्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और यह नहीं हो सका, इसके लिए कैसा भी खेद अथवा चिन्ता नहीं है। क्योंकि इससे आत्मा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बात मैं सबके लिए नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ); और विकल्प आदिका क्लेश तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिए जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ—११३-१९९-२३.

न्मात्र भी कम महत्त्व होनेका कोई कारण न मिला, अथवा कभी भी परस्पर व्यवहारसंबंधी भिन्नता न मालूम दी। इसका कारण यही है कि उनकी उच्च आत्मदशाकी मेरे ऊपर गहरी छाप पड़ी थी।"[१]

राजचन्द्रजी जितने व्यापारकुशल थे, उतनी ही उनमें व्यवहार-स्पष्टता और प्रामाणिकता भी थी। इस संबंधमें एक जगह अपनेको संबोधन करके वे लिखते हैं—"तू जिसके साथ व्यवहारमें सम्बद्ध हुआ हो, उसके साथ अमुक प्रकारसे बर्त्ताव करनेका निर्णय करके उससे कह दे। यदि उसे अनुकूल आवे तो ठीक है, अन्यथा वह जिस तरह कहे उस तरहका तू बर्त्ताव रखना। साथ ही यह भी कह देना कि मैं आपके कार्यमें (जो मुझे सौंपा गया है उसमें) किसी तरह भी अपनी निष्ठाके द्वारा आपको हानि नहीं पहुँचाऊँगा। आप मेरे विषयमें दूसरी कोई भी शंका न करना। मुझे इस व्यवहारके विषयमें अन्य किसी भी प्रकारका भाव नहीं है। और मैं आपके साथ वैसा बर्त्ताव रखना नहीं चाहता। इतना ही नहीं, परन्तु कुछ यदि मन वचन और कायासे विपरीत आचरण हुआ हो तो उसके लिये मैं पश्चात्ताप करूँगा। वैसा न करनेके लिये मैं पहिलेसे ही बहुत सावधानी रक्खूँगा। आपका सौंपा हुआ काम करते हुए मैं निरभिमानी होकर रहूँगा। मेरी भूलके लिये यदि आप मुझे उपालंभ देंगे, तो मैं उसे सहन करूँगा। जहाँतक मेरा बस चलेगा, वहाँतक मैं स्वप्नमें भी आपके साथ द्वेष अथवा आपके विषयमें किसी भी तरहकी अयोग्य कल्पना नहीं करूँगा। यदि आपको किसी तरहकी शंका हो तो आप मुझे कहें, मैं आपका उपकार मानूँगा, और उसका सच्चा खुलासा करूँगा। यदि खुलासा न होगा तो चुप रहूँगा, परन्तु असत्य न बोलूँगा। केवल आपसे इतना ही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकारसे आप मेरे निमित्तसे अशुभ योगमें प्रवृत्ति न करें। मुझे केवल अपनी निवृत्तिश्रेणीमें प्रवृत्ति करने दें, और इस कारण किसी प्रकारसे अपने अंतःकरणको छोटा न करें; और यदि छोटा करनेकी आपकी इच्छा ही हो तो मुझे अवश्य ही पहिलेसे कह दें। उस श्रेणीको निभानेकी मेरी इच्छा है, इसलिये वैसा करनेके लिये जो कुछ करना होगा वह मैं कर लूँगा। जहाँतक बनेगा वहाँतक मैं आपको कभी कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा, और अन्तमें यदि वह निवृत्तिश्रेणी भी आपको अप्रिय होगी तो जैसे बनेगा वैसे सावधानीसे, आपके पाससे—आपको किसी भी तरहकी हानि पहुँचाये बिना, यथाशक्ति लाभ पहुँचाकर, और इसके बाद भी हमेशाके लिये ऐसी इच्छा रखता हुआ—मैं चल दूँगा।"[२] इससे राजचन्द्रजीके व्यवहार-विषयक उच्च विचारोंकी कुछ झाँकी मिल सकती है।

व्यापारमें अनासक्ति

राजचन्द्र यद्यपि बहुत मनोयोगपूर्वक व्यापार करते थे—वे एक अत्यन्त निष्णात कुशल व्यापारी थे, परन्तु वे व्यापारमें आसक्त कभी नहीं हुए। वे तो इस सब उपाधियोग को 'निष्कामभावसे–ईश्वरार्पित-भावसे' ही सेवन करते थे। आत्मचिन्तन तो उनके अंतरमें सदा जाज्वल्यमान ही रहता था। तथा आगे चलकर तो राजचन्द्रजीका यह आत्मचिंतन इतना प्रबल हो उठता है कि उन्हें 'संसारमें साक्षीरूपसे रहना और कर्त्तारूपसे भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके समान' मालूम होने लगता है; और राजचन्द्र इस उपाधियोगका अत्यन्त कठिनतासे वेदन कर पाते हैं।

निर्ग्रन्थशासनकी उत्कृष्टता

इस बीचमें राजचन्द्रजीका जैनधर्मकी ओर आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अनेक जैन-शास्त्रोंका अवलोकन-चिन्तन करनेके बाद उनको अनुभव हुआ कि वीतरागताका जैसा उत्कृष्ट प्रतिपादन निर्ग्रंथशासनमें किया गया है, वैसा किसी दूसरे धर्ममें नहीं किया। वे लिखते हैं—"जैनदर्शनके एक एक पवित्र सिद्धान्त ऐसे हैं कि उनके ऊपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न मिले। अन्य सब धर्ममतोंके विचार जिन-प्रणीत वचनामृत-सिंधुके आगे एक बिन्दुके समान भी नहीं।

१ श्रीयुत माणेकलाल घेलाभाई झवेरीका राजचन्द्र-जयन्तीपर पढा गया निबंध—राजजयन्ति व्याख्यानो सन् १९१३ पृ. २५.

२ १००–१९३–२३; तथा 'व्यवहारशुद्धि'के ऊपर देखो २७–१४१–२१.

जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है। इसके प्रवर्त्तक कैसे पवित्र पुरुष थे! इसके सिद्धांत कैसे अखण्ड, सम्पूर्ण और दयामय हैं! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैनदर्शन है! ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो। एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है। इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देहमें दो आत्मायें नहीं होतीं, उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं। ऐसा कहनेका कारण क्या? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता, और जगद्धितैषिता।"[1]

जैनधर्मका तुलनात्मक अभ्यास

आगे चलकर तो राजचन्द्रजीने जैनदर्शन, वेदान्त, रामानुज, सांख्य आदि दर्शनोंका तुलनात्मक अभ्यास किया, और इसी निष्कर्षको मान्य रक्खा कि 'आत्मकल्याणका जैसा निर्धारण श्रीवर्धमानस्वामी आदिने किया है, वैसा दूसरे सम्प्रदायोंमें नहीं है।' वे लिखते हैं:—"वेदान्त आदि दर्शनका लक्ष भी आत्मज्ञानकी ओर सम्पूर्ण मोक्षकी ओर जाता हुआ देखनेमें आता है, परन्तु उसमें सम्पूर्णतया उसका यथायोग्य निर्धारण मालूम नहीं होता—अंशसे ही मालूम होता है, और कुछ कुछ उसका भी पर्यायान्तर मालूम होता है। यद्यपि वेदान्तमें जगह जगह आत्मचर्याका विवेचन किया गया है, परन्तु वह चर्या स्पष्टरूपसे अविरुद्ध है, ऐसा अभीतक मालूम नहीं हो सका। यह भी होना संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदय-भेदसे वेदान्तका आशय भिन्नरूपसे समझमें आता हो, और उससे विरोध मालूम होता हो—ऐसी आशंका भी फिर फिरसे चित्तमें की है, विशेष अतिविशेष परिणमाकर उसे अविरोधी देखनेके लिये विचार किया गया है। फिर भी ऐसा मालूम होता है कि वेदान्तमें जिस प्रकारसे आत्म-स्वरूप कहा है, उस प्रकारसे वेदान्त सर्वथा अविरोधभावको प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिस तरह वह कहता है, आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है। और उस उस प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखा जाता है।

मात्र एक श्रीजिनने जो आत्मस्वरूप कहा है, वह विशेषातिविशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। जिनभगवान्का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता उसका हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया आत्मा-वस्था प्रगट नहीं हुई। इस कारण जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका वर्त्तमानमें अनुमान करते हैं, जिससे उस अनुमानको उसपर अत्यन्त भार न देने योग्य मानकर वह विशेषातिविशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी पुरुषमें तो प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मामें निश्चय प्रतीति-भाव आता है। और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, यह विचार करनेसे वह जिनभगवान् जैसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट मालूम होता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्धमानस्वामीमें प्रगट होने योग्य लगता है।"[2]

मतमतांतरकी आवाजसे आँखोंमें आँसू

यह सब होते हुए भी, जैनशासनके अनुयायियोंको देखकर राजचन्द्रजीका कोमल हृदय दयासे उमड़ आता था, और उनकी आँखोंसे टपटप अश्रुधारा बहने लगती थी। प्रचलित मतमतांतरोंकी बात सुनकर उन्हें 'मृत्युसे भी अधिक वेदना होती थी।' राजचन्द्र कहते थे:—"महावीर भगवान्के शासनमें जो बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासकवर्गका लक्ष फिर गया है। बीस लाख जैन लोगोंमें दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे ही नवतत्त्वको पढ़ना जानते

---

१ ४–८९–१६.

२ ५०९–४४९–२८.

होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न निकलेंगे। इस समय वीतरागदेवके नामसे इतने अधिक मत प्रचलित हो गये हैं कि वे केवल मतरूप ही रह गये हैं"।[1] वे लिखते हैं:—"संशोधक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अंतःकरणमें अभिलाषा रखनेवाले और पुरुषार्थ करनेवाले बहुत कम हैं। उन्हें सद्गुरू, सत्संग, अथवा सत्शास्त्र जैसी सामग्रीका मिलना दुर्लभ हो गया है। जहाँ कहीं पूँछने जाओ, वहाँ सब अपनी अपनी ही गाते हैं। फिर सच्ची और झूँठीका कोई भाव ही नहीं पूँछता। भाव पूँछनेवालेके आगे मिथ्या प्रश्नोत्तर करके वे स्वयं अपनी संसार-स्थिति बढ़ाते हैं, और दूसरेको भी संसार-स्थिति बढ़ानेका निमित्त होते हैं।

रही सहीमें पूरी बात यह है कि यदि कोई एक संशोधक आत्मा हैं भी, तो वे भी अप्रयोजनभूत पृथिवी इत्यादि विषयोंमें शंकाके कारण रुक गई हैं। उन्हें भी अनुभव-धर्मपर आना बहुत ही कठिन हो गया है।

इसपरसे मेरा कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि आजकल कोई भी जैनदर्शनका आराधक नहीं। हैं अवश्य, परन्तु बहुत ही कम, बहुत ही कम; और जो हैं भी उनमें मुक्त होनेके सिवाय दूसरी कोई भी अभिलाषा न हो, और उन्होंने वीतरागकी आज्ञामें ही अपनी आत्मा समर्पण कर दी हो, तो ऐसे लोग तो उँगलीपर गिनने लायक ही निकलेंगे। नहीं तो दर्शनकी दशा देखकर करुणा उत्पन्न हो आती है। यदि स्थिर चित्तसे विचार करके देखोगे तो तुम्हें यह मेरा कथन सप्रमाण ही सिद्ध होगा।"[2]

शासनोद्धारकी तीव्र अभिलाषा

इसीलिये जैनशासनका उद्धार करनेकी, उसके गुप्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेकी, उसमें पड़े हुए अंतर्गच्छोंको मटियामेट करनेकी राजचन्द्रजीकी तीव्र अभिलाषा थी। उनका अहर्निश यही मंथन चला करता था कि "जैनदर्शन दिन प्रतिदिन क्षीण होता हुआ क्यों दिखाई देता है? वर्धमानस्वामीके पश्चात् थोड़े ही दिनोंमें उसमें जो नाना भेद हो गये हैं, उसका क्या कारण है? हरिभद्र आदि आचार्योंके अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी लोक-समुदायमें जैनमार्गका प्रचार क्यों नहीं हुआ? अब वर्त्तमानमें उस मार्गकी उन्नति किस तरह और किस रास्तेसे हो सकती है? हालमें विद्यमान जैनसूत्रोंमें जैनदर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा लिखा हुआ देखनेमें आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो सकता है? केवलज्ञान, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, संकोच-विकासशील आत्मा, महाविदेह क्षेत्र आदि व्याख्यायें किस तरह प्रबल प्रमाणसे सिद्ध हो सकती हैं?"[3]

शासनोद्धारकी योग्यता

कहनेकी आवश्यकता नहीं, राजचन्द्रजी जैनशासनका उद्धार करनेके लिये अपनेको पूर्ण योग्य समझते थे। वे अपने सत्संगियोंसे कहा करते थे कि 'जिस पुरुषका चौथे कालमें होना दुर्लभ था, ऐसे पुरुषका योग इस कालमें मिला है'। 'प्रमादसे जाग्रत होओ। पुरुषार्थरहित होकर मंदतासे क्यों प्रवृत्ति करते हो? ऐसा योग मिलना महाविकट है। महापुण्यसे ऐसा योग मिला है। इसे व्यर्थ क्यों गुमाते हो? जाग्रत होओ।' तथा 'जैनमार्गको दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें जो परमश्रुत आदि तथा अंतरंग गुणोंकी आवश्यकता होती है, वे यहाँ मौजूद हैं'। वे लिखते हैं:—"छोटी उम्रमें मार्गका उद्धार करनेके संबंधमें अभिलाषा थी। उसके पश्चात् ज्ञान-दशाके आनेपर क्रमसे वह उपशम जैसी हो गई। परन्तु कोई कोई लोग परिचयमें आये, उन्हें कुछ विशेषता मालूम

१ ४–८९–१६.

२ २०–१३६–२०. तुलना करो—

गच्छना भेद बहु नयण नीहाळतां तत्त्वनी वात करतां न लाजे।
उदरभरणादि निजकाज करतां थका मोह नडिया कलिकाल राजे॥ धार०॥

आनन्दघनचौवीसी १४–३.

३ ६४१–५१९–२९.

होनेसे उनका कुछ मूल मार्गपर लक्ष आया, और इस ओर तो सैकड़ों और हज़ारों मनुष्य समागममें आये, जिनमेंसे कुछ समझवाले तथा उपदेशकके प्रति आस्थावाले ऐसे सौ-एक मनुष्य निकलेंगे। इसके ऊपरसे यह देखनेमें आया कि लोग पार होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वैसा संयोग नहीं मिलता। यदि सच्चे सच्चे उपदेशक पुरुषका संयोग मिले तो बहुतसे जीव मूल मार्गको पा सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत होना संभव है। ऐसा मालूम होनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है। परन्तु दृष्टि डालनेसे वैसा कोई पुरुष ध्यानमें नहीं आता। इसलिये लिखनेवालेकी ओर ही कुछ दृष्टि आती है। परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे ही लक्ष इस तरहका रहा है कि इस पदके समान एक भी जोखम-भरा पद नहीं है, और जहाँतक उस कार्यकी अपनी जैसी चाहिये वैसी योग्यता न रहे, वहाँतक उसकी इच्छा मात्र भी न करनी; और प्रायः अबतक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आई है। मार्गका थोड़ा बहुत स्वरूप भी किसी किसीको समझाया है, फिर भी किसीको एक व्रत—पच्चक्खाणतक—भी नहीं दिया; अथवा तुम मेरे शिष्य हो, और हम गुरु हैं, यह भेद प्रायः प्रदर्शित नहीं किया।"[1] इससे स्पष्ट है कि धर्मके उद्धार करनेमें—उसके पुनः स्थापित करनेमें—राजचन्द्रजीका कोई आग्रह अथवा मान-बड़ाईरूप आकांक्षा कारण नहीं; केवल 'पर-अनुकंपा आदिसे ही मतसे ग्रस्त दुनियामें सत्य सुख और सत्य आनन्द स्थापित करनेके लिये',[2] उनमें यह वृत्ति उदित हुई थी। वे स्पष्ट लिखते हैं:—"उसका वास्तविक आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञान-प्रभाव रहता है, इससे कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अल्पांशसे ही अंगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्वाधीन है। हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसंग-परित्याग हो तो हजारों लोग उस मूल मार्गको प्राप्त करें। और हजारों लोग उस सन्मार्गका आराधन कर सद्गतिको पावें, ऐसा हमारेसे होना संभव है। हमारे संगसे त्याग करनेके लिये अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अंगमें त्याग है।

धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है। उसकी स्पृहासे भी कचित् ऐसी वृत्ति रह सकती है, परन्तु आत्माको अनेकबार देखनेपर उसकी संभवता, इस समयकी दशामें कम ही मालूम होती है। और वह कुछ कुछ सत्तामें रही होगी तो वह भी क्षीण हो जायगी, ऐसा अवश्य मालूम होता है। क्योंकि जैसी चाहिये वैसी योग्यताके बिना देह छूट जाय, वैसी दृढ़ कल्पना हो, तो भी मार्गका उपदेश नहीं करना, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे ही परिग्रह आदिके त्याग करनेका विचार रहा करता है।"[3]

---

१ ६३६-५१५-२९.

२ राजचन्द्र कहते हैं—"हुं बीजो महावीर छुं, एम मने आत्मिक शक्तिवडे जणायुं छे। मारा ग्रह दश विद्वानोए मळी परमेश्वर ग्रह ठराव्या छे। सत्य कहुं छुं के हुं सर्वज्ञसमान स्थितिमां छुं। वैराग्यमां झीलुं छुं। दुनिया मतभेदना बंधनथी तत्त्व पामी शकी नथी। सत्य सुख अने सत्य आनन्द ते आमां नथी। ते स्थापवा एक खरो धर्म चलाववा माटे आत्माए झंपलाव्युं छे। जे धर्म प्रवर्ताविशज। महावीर तेनां समयमां मारो धर्म केटलाक अंश चालतो कर्यो हतो। हवे तेना पुरुषोना मार्गने ग्रहण करी श्रेष्ठ धर्म स्थापन करीश। अत्र ए धर्मना शिष्य कर्या छे। अत्र ए धर्मनी स्थापना करी लीधी छे—" यह लेख श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें एक मुमुक्षुद्वारा राजचन्द्रजीके वृत्तांतके आधारसे यहाँ दिया गया है।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय साहित्यमें इस प्रकारके उद्गारोंकी कमी नहीं है। स्वामी रामतीर्थ अपनेको 'राम बादशाह' कह कर अपने 'हुक्मनामे' निकाला करते थे। वे कहते थे कि 'प्रकृतिमें जो सौन्दर्य और आकर्षण देखा जाता है, और सूर्य और चन्द्रमें जो कांति देख पड़ती है वह सब मेरी ही प्रभाके कारण है:—

There is not a diamond, there is not a sun or star which shines, but to me is due its lustre. To me is due the glory of all the heavenly bodies. To me is due all the attractive nature, all the charms of the things desired.

३ ६३६-५१५-२९.

व्यवहारोपाधिकी प्रबलता

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीकी धर्मका उद्धार करनेकी अत्यन्त तीव्र अभिलाषा होनेपर भी वे व्यवहारोपाधिमें इतने अधिक फँसे हुए थे कि उन्हें उसमेंसे निकलना अत्यन्त कठिन हो रहा था। राजचन्द्र लिखते हैं—" ऐसे उपाधिप्रसंगमें तीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें भी कुछ निर्णय करना हो तो कठिन हो जाय। तथा यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें उस प्रकारके उपाधियोगमें धड़के ऊपर सिरका रहना भी कठिन हो जाय, ऐसा होते हुए भी बहुतबार देखा है; और जिसने आत्मस्वरूप जान लिया ऐसे पुरुषका और इस संसारका मेल नहीं खाता, यही अधिक निश्चय हुआ है"[1]। वे अच्छी तरह समझते थे कि जबतक उनका गृहस्थावास है और व्यापार प्रवृत्ति चालु है, तबतक जनसमुदायको उनकी प्रतीति होना अत्यंत दुर्लभ है,[2] और फिर जीवोंको परमार्थ-प्राप्ति भी होना संभव नहीं। इस समय राजचन्द्रजीको बड़ी कठिन अवस्थाका अनुभव हो रहा था। एक ओर तो उनकी निर्ग्रन्थभावसे रहनेवाले चित्तकी व्यवहारमें यथोचित प्रवृत्ति न होती थी, और दूसरी ओर व्यवहारमें चित्त लगानेसे निर्ग्रंथभावकी हानि होनेकी संभावना थी।

अन्तर्द्वन्द

राजचन्द्रजीके इस अन्तर्द्वन्दको उन्हींके शब्दोंमें सुनियेः—" वैश्य-वेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटाकोटि विचार हुआ करते हैं। वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहारको देखकर लोकदृष्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्ग्रंथभावसे रहनेवाला चित्त उस व्यवहारसे प्रवृत्ति न कर सके यह भी सत्य है। इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक बर्त्ताव नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्ग्रंथभावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्ग्रंथभावकी हानि हुए बिना न रहे।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना, अथवा अत्यंत अल्प किये बिना यथार्थ निर्ग्रंथता नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता। इस सब विभाव-योगके दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।"[3]

हृदयमंथनकी इस अवस्थामें राजचन्द्रजीको कुछ निश्चित मार्ग नहीं सूझ पड़ता। वे अनेक विकल्प उठाते हुए लिखते हैंः—

" तो क्या मौनदशा धारण करनी चाहिये। व्यवहारका उदय ऐसा है कि यदि वह धारण किया जाय तो वह लोगोंको कषायका निमित्त हो, और इस तरह व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती।

तब क्या उस व्यवहारको छोड़ देना चाहिये? यह भी विचार करनेसे कठिन मालूम होता है। क्योंकि उस तरहकी कुछ स्थितिके वेदन करनेका चित्त रहा करता है। फिर वह चाहे शिथिलतासे हो, परेच्छासे हो, अथवा जैसा सर्वज्ञने देखा है उससे हो। ऐसा होनेपर भी अल्प कालमें व्यवहारके घटानेमें ही चित्त है। वह व्यवहार किस प्रकारसे घटाया जा सकेगा?

---

१ ३८०-३५३-२६.

२ वे लिखते हैं—' जिससे लोगोंको अंदेशा हो इस तरहके बाह्य व्यवहारका उदय है। वैसे व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुषके समान उपदेश करना यह मार्गके विरोध करनेके समान है। दृढ़ विश्वाससे समझना कि इसे व्यवहारका बंधन उदयकालमें न होता तो यह दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता। प्रवृत्तिके कारण कुछ असमता नहीं, परन्तु निवृत्ति होती तो दूसरी आत्माओंको मार्ग मिलनेका कारण होता.'

३ ४३६-४००-२७.

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है। व्यापाररूपसे कुटुंब-प्रतिबंधसे, युवावस्था-प्रतिबंधसे, दयास्वरूपसे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे, इत्यादि कारणोंसे वह व्यवहार विस्ताररूप मालूम होता है "[1]।

३६वें वर्ष सर्वसंग-परित्यागका निश्चय

आगे चलकर राजचन्द्रजी इस बातका निश्चय कर लेते हैं कि 'एकांत द्रव्य, एकांत क्षेत्र, एकांत काल और एकांत भावरूप संयमकी आराधना किये बिना चित्तकी शांति न होगी; तथा सर्वसंगपरित्याग किये बिना—बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ हुए बिना—लोगोंका कल्याण नहीं हो सकता। वे अपनेको लक्ष्य करके लिखते हैं:—"परानुग्रहरूप परम कारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्य जिनप्रतिमा हो"। इसका तात्पर्य यह है कि एकांत स्थिरसंयम, एकांत शुद्धसंयम और केवल बाह्यभाव निरपेक्षता प्राप्तकर उसके द्वारा जिन चैतन्यप्रतिमारूप होकर अडोल आत्मावस्था पाकर—जगत्के जीवोंके कल्याणके लिये, अर्थात् मार्गके पुनरुद्धारके लिये प्रवृत्ति करना चाहिये। वे प्रश्न करते हैं—"क्या वैसा काल है? उत्तरमें कहा गया है—उसमें निर्विकल्प हो। क्या वैसा क्षेत्र है? खोजकर। क्या वैसा पराक्रम है? अप्रमत्त शूरवीर बन। क्या उतना आयुबल है? क्या लिखें! क्या कहें! अंतर्मुख उपयोग करके देख।"[2]

राजचन्द्र अपनेको संबोधन करके लिखते हैं—"हे जीव असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो निवृत्त!

उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखाई देता हो, तो भी उससे निवृत्त हो निवृत्त!"

"हे जीव! अब तू संग निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा!

यदि सर्वथा संग-निवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश देखनेमें न आवे तो एकदेश संग-निवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर!"[3]

परन्तु त्यागकी इतनी अभिलाषा होनेपर भी[4], राजचन्द्र 'आश्चर्यकारक उपाधि' में पड़े रहनेके कारण, अपने मनोरथमें सफल नहीं होते। उन्हें निष्कामभावसे उपाधियोगका सहन ही करना पड़ता है। राजचन्द्र लिखते हैं:—"जो कुछ पूर्व निबन्धन किया गया है, उसे निवृत्त करनेके लिये—थोड़े कालमें भोग लेनेके लिये, इस व्यापार नामके कामका दूसरेके लिये सेवन करते हैं।" "आत्मेच्छा यही रहती है कि संसारमें प्रारब्धानुसार चाहे जैसा शुभाशुभ उदय आवे, परन्तु उसमें प्रीति अप्रीति करनेका हमें संकल्प भी न करना चाहिये।" "चित्तके बंधनयुक्त न हो सकनेके कारण जो जीव संसारके संबंधमें स्त्री आदि रूपसे प्राप्त हुए हैं, उन जीवोंकी इच्छाके भी दुखानेकी इच्छा नहीं होती। अर्थात् वह भी अनुकंपासे और मा बाप आदिके उपकार आदि कारणोंसे उपाधियोगको बलवान रीतिसे वेदन करते हैं।

---

१ ४३७-४०१-२७.

२ देखो ७७०, ७७३-७२९,७३०-३१.

३ ४४१,४४२-४०२,४०३-२७.

४ 'आकिंचनरूपमें विचरते हुए एकांत मौनके द्वारा जिनभगवान्के समान ध्यानपूर्वक मैं तन्मयात्मकस्वरूप कब होऊँगा'। 'मेरा चित्त-मेरी चित्तवृत्तियाँ—इतनी शान्त हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो, इस शरीरको जड़ पदार्थ समझकर, अपने सिरकी खुजली मिटानेके लिये इस शरीरको रगड़े'—आदि उद्गारोंसे मालूम होता है कि राजचन्द्रजीकी त्यागकी बहुत उत्कट अभिलाषा थी। राजचन्द्रजी अमुक समय खंभात, चरोतर, काविठा, राळज, ईडरके पहाड़ आदि निवृत्ति-स्थलोंमें भी जाकर व्यतीत करते थे। राजचन्द्र समय पाकर अपने व्यापारके प्रवृत्तिमय जीवनसे विश्रांति लेनेके लिये इन स्थानोंमें आकर गुप्तरूपसे रहा करते थे.

इसमें किसी प्रकारकी हमारी सकामता नहीं है।" इसलिये राजचन्द्र निरुपाय होकर अदीनभावसे प्रारब्धके ऊपर सब कुछ छोड़कर सर्वसंग-परित्याग कर उपदेश करनेके विचारको, ३६ वें वर्षके लिये स्थगित कर देते हैं।

जैनधर्मका गंभीर आलोडन

राजचन्द्रजीने थोड़े ही समयमें जैन शास्त्रोंका असाधारण परिचय प्राप्त कर लिया था। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, भगवती, सूत्रकृतांग आदि आगमग्रन्थोंको तो वे सोलह बरसकी उम्रमें ही देख गये थे। तथा आगे चलकर कुन्दकुन्द, सिद्धसेन, समंतभद्र, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजय, बनारसीदास, आनन्दघन, देवचन्द्र आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी विद्वानोंके मुख्य मुख्य ग्रन्थोंका राजचन्द्रजी गंभीर चिन्तन और मनन कर गये थे। ज्यों ज्यों राजचन्द्रजीकी स्मृति, अवधान आदिकी ख्याति, धीरे धीरे लोगोंमें फैलने लगी, ज्यों ज्यों उनके उज्वल ज्ञानका प्रकाश गुजरात आदि प्रदेशोंमें फैलता गया, त्यों त्यों बहुतसे लोग प्रत्यक्ष परोक्षरूपसे उनकी ओर आकर्षित होने लगे। बहुतसे गृहस्थ और मुनियोंने उनका सत्संग किया; उनसे जैनधर्म-प्रश्नोत्तरसंबंधी पत्रव्यवहार चलाया; और आगे चलकर तो राजचन्द्रजीका बहुत कुछ समय प्रश्नोत्तरोंमें ही बीतने लगा। राजचन्द्रजीने जैनधर्मविषयक अनेक प्रश्नोंका जैन शास्त्रोंके आधारसे अथवा अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे विशद स्पष्टीकरण किया है। निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका राजचन्द्रजीने जो समाधान किया है, उससे मालूम होता है कि राजचन्द्रजीने जैनधर्मका विशाल गंभीर मनन किया था, वे एक बड़े भारी महान् विचारक थे, और जैनधर्मको तर्ककी कसौटीपर कसकर उसे पुनरुज्जीवित बनानेकी उनमें अत्यंत प्रबल भावना थी।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

भवांतरका ज्ञान

(१) प्रश्नः—क्या भवांतरका ज्ञान हो सकता है?

उत्तरः—भगवती आदि सिद्धांतोंमें जो किन्हीं किन्हीं जीवोंके भवांतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशय होने जैसी बात नहीं। तीर्थंकर तो भला पूर्ण आत्मस्वरूप हैं; परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्यासके बलसे रहते हों, उन पुरुषोंमेंके भी बहुतसे पुरुष भवांतरको जान सकते हैं; और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे भवांतरका ज्ञान होना योग्य है—होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्य—क्षयोपशम—भेदसे वैसा कभी नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अत्यंतरूपसे दृढ होनेके लिए शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भवांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भवांतर भी स्पष्ट मालूम होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका विसंवाद नहीं[1]।

सुवर्णवृष्टि

(२) प्रश्नः—क्या तीर्थंकरको भिक्षाके लिए जाते समय सुवर्णवृष्टि होती है?

उत्तरः—तीर्थंकरको भिक्षाके लिए जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके कहनेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोकभाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा—' जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके बलसे

[1] ३३७-३२१, ३२२-२५.

यह होना अत्यंत संभवित है' । ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं कि सर्वत्र ऐसा ही हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है वहाँ सर्व महत्-प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक बात है—निस्सन्देह अंगीकार करने योग्य बात है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो, इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं। परन्तु इस प्रभाव-योगविषयक आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है, यह बात तो अवश्य है; और यदि उसे उस प्रभावयोगविषयक कोई कर्त्तव्य मालूम होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही रहता है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रभाव होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किसी स्वाभाविक पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरपदको बाधाकारक भी नहीं। परन्तु जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।[1]

क्षायिक समकित

(३) प्रश्नः—इस कालमें क्षायिक समकित होना संभव है या नहीं ?

उत्तरः—कदाचित् ऐसा मान लें कि 'इस कालमें क्षायिक समकित नहीं होता,' ऐसा जिनागममें स्पष्ट लिखा है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि क्षायिक समकितका क्या अर्थ है ? जिसके एक नवकारमंत्र जितना भी व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भवमें और नहीं तो उसी भवमें परमपदको प्राप्त करता है, ऐसी महान् आश्चर्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है। फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय ? 'यदि तीर्थंकर भगवान्की दृढ़ श्रद्धाका नाम' क्षायिक समकित मानें तो वैसी कौनसी श्रद्धा समझनी चाहिये; जिसे कि हम समझें कि यह तो निश्चयसे इस कालमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक श्रद्धाको क्षायिक समकित कहा है तो फिर हम कहते हैं कि जिनागमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पीछेके कालके विसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं, तो जिस जीवने इस विषयमें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो, वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सखेद करुणापूर्वक विचारना योग्य है।

हालमें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें 'क्षायिक समकित नहीं है,' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतसे ग्रंथोंमें यह बात चली आती है, ऐसा हमने पढ़ा है, और सुना भी है। और यह वाक्य मिथ्या है अथवा मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है; तथा यह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकांत अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा भी हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकांतरूपसे ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुल होना योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयपूर्वक नहीं जाना तो फिर ये व्याख्यायें ही सफल नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, जिनागममें लिखा हो कि चौथे कालकी तरह पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका श्रवण करना कोई तुम्हारे और हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि जिस दशामें वह मोक्ष-प्राप्ति कही है, उस दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है और कल्याणकारी है।

अन्तमें क्षायिक समकितकी पुष्टिका उपसंहार करते हुए राजचन्द्र कहते हैं—'तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है; और वह हालमें उसके आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् यदि ऐसा कहा हुआ अर्थ

१ ३३७-३२२-२५.

आगममें न भी हो तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं—जिनागम ही हैं। ये शब्द राग, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित प्रकटरूपसे लिखे गये हैं, इसलिए सेवनीय हैं।'[१]

इस कालमें मोक्ष

(४) प्रश्नः—क्या इस कालमें मोक्ष हो सकता है?

उत्तरः—इस कालमें सर्वथा मुक्तपना न हो, यह एकान्त कहना योग्य नहीं। अशरीरीभावरूपसे सिद्धपना है, और वह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं—ऐसा कहें तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं।[२]

राजचन्द्र दूसरी जगह लिखते हैं—'हे परमात्मन्! हम तो ऐसा मानते हैं कि इस कालमें भी जीवको मोक्ष हो सकता है। फिर भी जैसा कि जैनग्रंथोंमें कहीं कहीं प्रतिपादन किया गया है कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता, तो इस प्रतिपादनको इस क्षेत्रमें तू अपने ही पास रख, और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा, हम सत्पुरुषके ही चरणका ध्यान करें, और उसीके समीप रहें—ऐसा योग प्रदान कर।'[३]

'हे पुरुषपुराण! हम तुझमें और सत्पुरुषमें कोई भी भेद नहीं समझते। तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष मालूम होता है। क्योंकि तू भी उसीके आधीन रहता है, और हम सत्पुरुषको पहिचाने बिना तुझे नहीं पहिचान सके। तेरी यह दुर्घटता हमें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है। क्योंकि तुझे वश करनेपर भी वे उन्मत्त नहीं होते; और वे तुझसे भी अधिक सरल हैं। इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ! तू बुरा न मानना कि हम तुझसे भी सत्पुरुषका ही अधिक स्तवन करते हैं। समस्त जगत् तेरा ही स्तवन करता है; तो फिर हम भी तेरे ही सामने बैठे रहेंगे, फिर तुझे स्तवनकी कहाँ चाहना है, और उसमें तेरा अपमान भी कहाँ हुआ'?[४]

साधुको पत्रव्यवहारकी आज्ञा

(५) प्रश्नः—क्या सर्वविरति साधुको पत्र-व्यवहार करनेकी जिनागममें आज्ञा है?

उत्तरः—प्रायः जिनागममें सर्वविरति साधुको पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार लिखना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधारणतया शास्त्रका उपदेश है, और वह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मालूम होता है, फिर भी जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरुद्ध मालूम होती है, और उस अविरोधकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा भी किसी प्रकारसे जिनागममें है।

जिनभगवान्‌की जो जो आज्ञायें हैं, वे सब आज्ञायें, जिस तरह सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्माके कल्याणके लिए कुछ इच्छा है, उन सबको, वह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण वृद्धिंगत हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई हैं। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके संयोगसे न पल सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतीर्थंकरने दूसरी आज्ञा की है।

उदाहरणके लिये 'मैं सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस तरह पच्चक्खाण होनेपर

---

१ ३२३-३११, २, ३-२५.

२ ३३७-३१३-२५.

३ तुलना करो—वीरशैव सम्प्रदायके संस्थापक महात्मा वसवेश्वर लिखते हैं:—ब्रह्माकी पदवी मुझे नहीं चाहिये। विष्णुकी पदवी भी मैं नहीं चाहता। शिवकी पदवी प्राप्त करनेकी भी इच्छा मुझे नहीं है। और किसी दूसरी पदवीको मैं नहीं चाहता। देव! मुझे केवल यही पदवी दीजिये कि मैं तुम्हारे सच्चे सेवकोंका बड़प्पन समझ सकूँ—वसवेश्वरके वचन, हिन्दी अनुवाद पृ. १३, बेंगलोर १९३६.

४ १८४-२३८,९-२४.

भी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस आज्ञाका, यदि लोक-समुदायका विशेष समागम करके, साधु आराधन करेगा, तो पंच महाव्रतोंके निर्मूल होनेका समय आयेगा—यह जानकर भगवान्‌ने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतुरूप जो कारण है, वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर भी नदीके पार करनेकी अप्राणातिपातरूप आज्ञा होती है, फिर भी 'सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ'—इस वाक्यको एक बार क्षति पहुँचती है। परन्तु यह क्षति फिरसे विचार करनेपर तो उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ही मालूम होती है। इसी तरह दूसरे व्रतोंके लिये भी है। 'मैं परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ'—इस प्रकारका व्रत होनेपर भी वस्त्र पात्र और पुस्तकका संबंध देखा जाता है—इन्हें अंगीकार किया जाता है। उसका, परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे विधान किया है, और उससे परिणाममें अपरिग्रह ही होता है। मूर्च्छारहित भावसे नित्य आत्मदशाकी वृद्धि होनेके लिये ही पुस्तकका अंगीकार करना बताया है। तथा इस कालमें शरीरके संहननकी हीनता देखकर पहिले चित्तकी स्थितिके समभाव रहनेके लिये ही वस्त्र, पात्र आदिका ग्रहण करना बताया है, अर्थात् जब आत्म-हित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी।

मैथुनत्यागमें जो अपवाद नहीं है, उसका कारण यह है कि उसका रागद्वेषके विना भंग नहीं हो सकता; और रागद्वेष आत्माको अहितकारी है; इससे भगवान्‌ने उसमें कोई अपवाद नहीं बताया। नदीका पार करना रागद्वेषके विना हो सकता है; पुस्तकका ग्रहण करना भी रागद्वेषके विना होना संभव है; परन्तु मैथुनका सेवन रागद्वेषके बिना संभव नहीं हो सकता। इसलिये भगवान्‌ने इस व्रतको अपवादरहित कहा है, और दूसरे व्रतोंमें आत्माके हितके लिए ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस तरह जीवका—संयमका—रक्षण हो, उसी तरह कहनेके लिये जिनागमकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि कहनेका जो निषेध किया है, उसका भी यही हेतु है। जिससे लोक-समागमकी वृद्धि न हो, प्रीति-अप्रीतिके कारणकी वृद्धि न हो, स्त्रियों आदिके परिचयमें आनेका प्रयोजन न हो, संयम शिथिल न हो जाय, उस उस प्रकारका परिग्रह विना कारण ही स्वीकृत न हो जाय—इस प्रकारके सम्मिलित अनंत कारणोंको देखकर पत्र आदिका निषेध किया है, परन्तु वह भी अपवादसहित है। जैसे बृहत्कल्पमें अनार्यभूमिमें विचरनेकी मना की है, और वहाँ क्षेत्रकी मर्यादा बाँधी है, परन्तु ज्ञान दर्शन और संयमके कारण वहाँ भी विचरनेका विधान किया गया है। इसी अर्थके ऊपरसे मालूम होता है कि यदि कोई ज्ञानी पुरुष दूर रहता हो—उनका समागम होना मुश्किल हो, और यदि पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो तो फिर आत्महितके सिवाय दूसरी सब प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके उस ज्ञानी पुरुषकी आज्ञासे, अथवा किसी मुमुक्षु-सत्संगीकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नहीं होता, ऐसा मालूम होता है[१]।

केवलज्ञान

(६) प्रश्नः—क्या भूत, भविष्य और वर्त्तमानकालकी अनन्त पर्यायोंके युगपत् ज्ञान होनेको केवलज्ञान कहते हैं?

उत्तरः—(क) सर्व देश, काल आदिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका वर्त्तमानमें रूढ़ि अर्थ है। यदि वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विरोध दिखाई देता है।[२] यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोकज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किस तरह हो सकती हैं?[३]

योगधारीपना अर्थात् मन, वचन और कायासहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगांतर हो जानेसे उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना संभव है। एक समयमें

१ ४१४-३७६, ७-२७.
२ ५९१-४९२-२९.
३ ६१०-४९७-२९.

किसीको दो उपयोग नहीं रहते, जब यह सिद्धांत है, तो आहार आदिकी प्रवृत्तिके समय उपयोगमें रहता हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति रहना संभव नहीं; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाय। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि 'जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही केवलज्ञानमें सर्व देश काल प्रतिबिम्बित होते हैं; तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग लगाकर उन्हें जानता है यह बात नहीं है, किन्तु सहज स्वभावसे ही वे पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहते हुए सहज स्वभावसे प्रतिभासित ऐसे केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है,' तो यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दर्पणमें प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका ऐसा कौनसा दूसरा स्वरूप है कि जब आहार आदिमें उपयोग रहता हो, तब उससे केवलज्ञानमें प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा जान सके ?

यदि सर्व देश काल आदिका ज्ञान जिस केवलीको हो उस केवलीको 'सिद्ध' मानें तो यह संभव माना जा सकता है, क्योंकि उसे योगधारीपना नहीं कहा है। किन्तु इसमें भी यह समझना चाहिये कि फिर भी योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमें वैसे केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योगरहितपना होनेसे उसमें सर्व देश काल आदिका ज्ञान संभव हो सकता है—इतना प्रतिपादन करनेके लिये ही यह लिखा है, किन्तु सिद्धको वैसा ज्ञान होता ही है, इस अर्थको प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ि-अर्थके अनुसार देखनेसे तो 'देहधारी केवली' और 'सिद्ध' में केवलज्ञानका भेद नहीं होता—दोनोंको ही सर्व देश काल आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होता है, यह रूढ़ि-अर्थ है; परन्तु दूसरी अपेक्षासे जिनागम देखनेसे कुछ भिन्न ही मालूम पड़ता है। जिनागममें निम्न प्रकारसे पाठ देखनेमें आता है:—

"केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—सयोगीभवस्थ केवलज्ञान और अयोगीभवस्थ केवलज्ञान। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—प्रथम समय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी-केवलज्ञान, और अप्रथम समय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयके पहिलेका केवलज्ञान। इसी तरह अयोगी-भवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकारका कहा है—प्रथम समयका केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेके पहिलेके अन्तिम समयका केवलज्ञान"।[१]

(ख) केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सब वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनंतता सिद्ध न हो। क्योंकि उनका अनादि अनंतपना समझमें नहीं आता; अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता[२]।

केवलज्ञानकी व्याख्या

इसलिये जगत्के ज्ञानका लक्ष छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है—सब प्रकारके रागद्वेषका अभाव होनेपर जो अत्यंत शुद्ध ज्ञान-स्थिति प्रकट हो सकती है वही केवलज्ञान है। उसे बारम्बार जिनागममें जो जगत्के ज्ञानरूपसे कहा है, सो उसका यही हेतु है जिससे इस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें[३]। अतएव समकित देशचारित्र है—एकदेशसे केवलज्ञान है। समकितदृष्टि जीवको केवलज्ञान कहा जाता है। उसे वर्त्तमानमें भान हुआ है; इसलिये देश-केवलज्ञान कहा जाता है; बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है। वह इस तरह कहा जाता है:—समकितदृष्टिको जब आत्माका भान हो तब उसे केवलज्ञानका भान प्रकट हुआ; और जब उसका भान प्रकट हो गया तो केवलज्ञान अवश्य होना चाहिये; इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है।[४] समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं।

१ ५९८–४९२,३–२९.
२ ६१३–४९८–२९.
३ ५९०–४८७,८–२९.
४ ६४३–५५६,७–२९.

समकितका सच्चा सच्चा विचार करे तो नौवें समयमें केवलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है, और अन्तमें पन्द्रहवें भवसे तो केवलज्ञान हो ही जाता है। इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है।[1]

राजचन्द्र सम्यक्त्वसे केवलज्ञानको कहलाते हैंः—मैं इतनातक कर सकता हूँ कि जीवको मोक्ष पहुँचा दूँ, और तू इससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता। तो फिर तेरे मुकाबलेमें मुझमें किस बातकी न्यूनता है? इतना ही नहीं किन्तु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी ज़रूरत रहती है।[2]

इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने जैनधर्मविषयक अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण विकल्प उपस्थित किये हैं। उनमेंसे कुछ निम्न प्रकारसे हैं—

(१) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायके अरूपी होनेपर भी वे रूपी पदार्थको सामर्थ्य प्रदान करते हैं; और इन तीन द्रव्योंको स्वभावसे परिणामी कहा है, तो ये अरूपी होनेपर भी रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं?

(२) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एकक्षेत्र-अवगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें गतिशील वस्तुके प्रति स्थिति-सहायतारूपसे, और स्थितिशील वस्तुके प्रति गति-सहायतारूपसे विरोध क्यों नहीं आता?

(३) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा ये तीनों असंख्यात प्रदेशी हैं, इसका क्या कोई दूसरा ही रहस्य है?

(४) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्त्ताकारसे है, ऐसा होनेमें क्या कुछ रहस्य है?[3]

(५) लोक-संस्थानके सदा एकस्वरूप रहनेमें क्या कुछ रहस्य है?

(६) एक तारा भी घट-बढ़ नहीं सकता, ऐसी अनादि स्थितिको किस कारणसे मानना चाहिये?

(७) शाश्वतताकी व्याख्या क्या है? आत्मा अथवा परमाणुको कदाचित् शाश्वत माननेमें मूलद्रव्यत्व कारण है; परन्तु तारा, चन्द्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है?

(८) अमूर्त्तता कोई वस्तु है या अवस्तु?

(९) अमूर्त्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं?

(१०) मूर्त्त पुद्गलका और अमूर्त्त जीवका संयोग कैसे हो सकता है?

(११) धर्म, अधर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ठीक है?

---

१ ६४३–५६२,३–२९.

२ ७५३–७००–३१; इसके अतिरिक्त केवलज्ञानविषयक मान्यताओंके लिये देखो ६१२–४९७–२९; ६२४–५०२–२९; ६६०–६१८–२९; ७५३–६९५,६–३१.

३ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके विषयमें पूर्व विद्वानोंने भी इसी तरहके विकल्प उठाये हैं। उदाहरणके लिये भगवतीसूत्रमें गौतम जब महावीर भगवान्से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायके विषयमें प्रश्न करते हैं तो महावीर धर्म, धर्मास्तिकाय, प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण आदिको; तथा अधर्म, अधर्मास्तिकाय, प्राणातिपात, मृषावाद आदिको एकार्थ-द्योतक बताते हैं। भगवतीके टीकाकार अभयदेव सूरिने भी धर्म-अधर्मके उक्त दोनों अर्थ लिखे हैं। इसी तरह, लगता है कि सिद्धसेन दिवाकर भी धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायके अलग द्रव्य माननेकी आवश्यकता नहीं समझते। वे निश्चयद्वात्रिंशिकामें लिखते हैंः—

प्रयोगविस्रसाकर्म तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माधर्मयोः फलम्॥ २४॥

—अर्थात् प्रयोग और विस्रसा नामक क्रियाओंसे गति स्थितिका काम चल जाता है, फिर धर्म अधर्मकी क्या आवश्यकता है?

इस संबंधमें देखो पं. बेचरदासका जैनसाहित्यसंशोधक (३-१-३९) में गुजराती लेख; तथा लेखकका इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली कलकत्ता, जिल्द ९,१९३३ पृ. ७९२ पर अंग्रेजी लेख.

(१२) द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

(१३) संकोच-विकासवाली जो आत्मा स्वीकार की है, वह संकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस तरह हो सकता है ?

(१४) निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

(१५) सर्व द्रव्य, क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निजस्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

(१६) चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निजस्वभावका ? पुद्गलसंयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

(१७) जिस तरह मोक्षपदमें आत्मभाव प्रगट हो यदि उस तरह मूलद्रव्य मानें, तो आत्माके लोकव्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

(१८) ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जडत्वभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

(१९) मध्यम-परिमाणवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है ?

(२०) शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद कैसे घटित होता है ?

(२१) जीवकी व्यापकता, परिणामीपना, कर्मसंबंध, मोक्षक्षेत्र—ये किस किस प्रकारसे घट सकते हैं ? उसके विचारे बिना तथारूप समाधि नहीं होती ।

(२२) केवलज्ञानका जिनागममें जो प्ररूपण किया है, वह यथायोग्य है ? अथवा वेदान्तमें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ?

(२३) मध्यम परिमाणकी नित्यता, क्रोध आदिका पारिणामिक भाव—ये आत्मामें किस तरह घटते हैं ?

(२४) मुक्तिमें आत्मा घन-प्रदेश किस तरह है ?

(२५) अभव्यत्व पारिणामिक भावमें किस तरह घट सकता है ?

(२६) लोक असंख्य प्रदेशी है और द्वीप समुद्र असंख्यातों हैं, इत्यादि विरोधका किस तरह समाधान हो सकता है ?[1]

कुछ प्रश्नोंका समाधान

इनमेंसे बहुतसे विकल्पोंके ऊपर, मालूम होता है राजचन्द्रजी 'जैनमार्ग' नामक निबंधमें (६९०-६३२-३०) विचार करना चाहते थे । कुछ विकल्पोंका उन्होंने समाधान भी किया है:—

भगवान् जिनके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे सिद्ध हो सकते हैं ।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे ही समझमें आ सकता है ।

मनुष्यकी ऊँचाई प्रमाण आदिमें भी ऐसा ही है । काल प्रमाण आदि भी उसी तरह घट सकते हैं । सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे मनन करने योग्य मालूम होता है ।

निगोद आदि भी उसी तरह घट सकते हैं । लोक शब्दका अर्थ आध्यात्मिक है । सर्वज्ञ शब्दका समझाना बहुत गूढ है । धर्मकथारूप चरित आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत मालूम होते हैं । जम्बूद्वीप आदिका वर्णन भी आध्यात्मिक परिभाषासे निरूपित किया मालूम होता है [2] ।

इसी तरह राजचन्द्रजीने आठ रुचक प्रदेश, चौदह पूर्वधारीका ज्ञान, प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान, संन्यास और वंशवृद्धि, कर्म और औषधोपचार, ठाणांगके आठ वादी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका स्वतंत्र बुद्धिसे समाधान करके अपने जैनतत्त्वज्ञानके असाधारण पाण्डित्य और विचारकताका परिचय दिया है ।

---

१ देखो ६०६-४९५, ६-२९; ६१३,१४-४९७,८,९-२९;६५४,५६,५८-५८३,४-२९.

२ ६४२-५२०-२९

मूर्तिपूजनका समर्थन

इस संबंधमें यह बात अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है कि यद्यपि राजचन्द्रजीके जैनतत्त्वज्ञानका अभ्यास जैन स्थानकवासी सम्प्रदायसे शुरु होता है, परन्तु ज्यों ज्यों उन्हें श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक और दिगम्बर सम्प्रदायका साहित्य देखनेको मिलता गया, त्यों त्यों उनमें उत्तरोत्तर उदारताका भाव आता गया। उदाहरणके लिये प्रारंभमें राजचन्द्र मूर्त्तिपूजाके विरोधी थे, परन्तु आगे चलकर वे प्रतिमाको मानने लगे थे। राजचन्द्रजीके इन प्रतिमापूजनसंबंधी[1] विचारोंके कारण बहुतसे लोग उनके विरोधी भी हो गये थे। परन्तु उन्हें तो किसीकी प्रसन्नता-अप्रसन्नताका विचार किये बिना ही, जो उन्हें उचित और न्याय-संगत जान पड़ता था, उसीको स्वीकार करना था। राजचन्द्रजीने स्वयं इस संबंधमें अपने निम्नरूपसे विचार प्रकट किये हैं:—"मैं पहिले प्रतिमाको नहीं मानता था, और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ पक्षपातका कारण नहीं, परन्तु मुझे उसकी सिद्धि मालूम हुई, इसलिये मानता हूँ। उसकी सिद्धि होनेपर भी इसे न माननेसे पहिलेकी मान्यता भी सिद्ध नहीं रहती, और ऐसा होनेसे आराधकता भी नहीं रहती। मुझे इस मत अथवा उस मतकी कोई मान्यता नहीं, परन्तु रागद्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है, और इसके लिये जो जो साधन हों उन सबकी मनसे इच्छा करना, उन्हें कायसे करना, ऐसी मेरी मान्यता है, और इसके लिये महावीरके वचनोंपर पूर्ण विश्वास है।" अन्तमें राजचन्द्र अनेक प्रमाणोंसे प्रतिमा-पूजनकी सिद्धि करनेके बाद, ग्रन्थके 'अन्तिम अनुरोधमें' अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— "अब इस विषयको मैंने संक्षेपमें पूर्ण किया। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमापूजनकी सिद्धिके लिये मैंने इस लघुग्रंथमें कलम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके लिये मुझे जो जो प्रमाण मालूम हुए थे मैंने उन्हें संक्षेपमें कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और न्याय-संपन्न पुरुषोंका है। और बादमें जो प्रामाणिक मालूम हो उस तरह स्वयं चलना और दूसरोंको भी उसी तरह प्ररूपण करना वह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एकबार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे तो इससे प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद होता है, और यह कटाक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति थोड़े समय पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अंतःकरण अधिक दुखता और उसके दुखानेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अंतःकरणमें एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि तेरे लिये उन भाईयोंके मनमें संक्लेश विचार आते रहेंगे, तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक तेरे ही हृदयमें रह जायगा, इसलिये उसकी सत्यतापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निर्मल जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे संक्षेपमें कह देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आग्रहके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है; तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान तो हो ही नहीं जाऊँगा।"[1]

दिगम्बर-श्वेताम्बरका समन्वय

राजचन्द्रजीने दिगम्बर-श्वेताम्बरका भी समन्वय किया था। उनका स्पष्ट कहना था कि दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि मतदृष्टिसे सब कल्पना मात्र हैं। राग, द्वेष और अज्ञानका नष्ट होना ही जैनमार्ग है। कविवर बनारसीदासजीके शब्दोंमें राजचन्द्र कहते थेः—

घट घट अन्तर जिन बसै घट घट अन्तर जैन।
मति-मदिराके पानसौं मतवारा समुझै न॥

—अर्थात् घट घटमें जिन बसते हैं और घट घटमें जैन बसते हैं, परन्तु मतरूपी मदिराके पानसे मत्त हुआ जीव इस बातको नहीं समझता। वे लिखते हैंः—' जिससे मतरहित—कदाग्रहरहित—हुआ

[1] २०-१३६-२०.

जाता हो—सच्चा आत्मज्ञान प्रकट होता हो, वही जैनमार्ग है।' 'जैनधर्मका आशय-दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय-द्वादशांगीका आशय—मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करना ही हैं।' 'दिगम्बर और श्वेताम्बरमें तत्त्वदृष्टिसे कोई भेद नहीं, जो कुछ भेद है वह मतदृष्टिसे ही है। उनमें कोई ऐसा भेद नहीं जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सके। दिगम्बरत्व-श्वेताम्बरत्व आदि देश, काल और अधिकारीके संबंधसे ही उपकारके कारण हैं। शरीर आदिके बल घट जानेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बर वृत्तिसे रहते हुए चारित्रका निर्वाह संभव नहीं इसलिये ज्ञानीद्वारा उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्वेताम्बर वृत्तिसे आचरण करना बताया गया है। तथा इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगम्बर वृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्र-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी योग्य नहीं, इसलिये दिगम्बर वृत्तिसे आचरण करना बताया गया है।'[1]

राजचन्द्रजी कहा करते थे कि, 'जैनशास्त्रोंमें नय, प्रमाण, गुणस्थान, अनुयोग, जीवराशि आदिकी चर्चा परमार्थके लिये ही बताई है।[2] परन्तु होता है क्या कि लोग नय आदिकी चर्चा करते हुए नय आदिमें ही गुँथ जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि शास्त्रोंमें जो सात अथवा अनंत नय बताये हैं वे सब एक आत्मार्थ ही के लिये हैं। यदि नय आदिका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो ही फल होता है, नहीं तो जीवको नय आदिका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है, और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। अतएव वास्तवमें नय प्रमाण आदिको लक्षणारूप ही समझना चाहिये, लक्ष तो केवल एक सच्चिदानन्द है।'[3]

वेदान्त आदि दर्शनोंका अभ्यास

राजचन्द्रजीका ज्ञान जैनशास्त्रोंतक ही सीमित न रहा, परन्तु उन्होंने योगवासिष्ठ, भागवत, विचारसागर, मणिरत्नमाला, पंचीकरण, शिक्षापत्र, वैराग्यशतक, दासबोध, सुंदरविलास, मोहमुद्गर, प्रबोधशतक आदि वेदांत आदि ग्रंथोंका भी खूब मनन–निदिध्यासन किया था। यद्यपि जान पड़ता है कि राजचन्द्रजीने बौद्ध,[4] सांख्य, पातंजल, न्याय, वैशेषिक, रामानुज आदि दर्शनोंका सामान्य परिचय षड्दर्शनसमुच्चय आदि जैन पुस्तकोंसे ही प्राप्त किया था; परन्तु उनका वेदान्त दर्शनका अभ्यास बहुत अच्छा था। इतना ही नहीं, वेदान्त दर्शनकी ओर राजचन्द्र अमुक अंशमें बहुत कुछ आकर्षित भी हुए थे, और बहुतसे जैनसिद्धांतोंके साथ वेदान्त दर्शनकी उन्होंने तुलना भी की थी।[5] जैन और वेदान्तकी तुलना करते हुए वे लिखते हैं:—वेदात और जिनसिद्धांत इन दोनोंमें अनके प्रकारसे भेद हैं। वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्वस्थितिको कहता है, जिनागममें उससे भिन्न ही स्वरूप कहा गया है।

१ देखो ६९४–६४८–३०; ७३३–६८५–३०.

२ यशोविजयजी भी लिखते हैं:—

जिहां लगि आतमद्रव्यनुं लक्षण नवि जाण्युं।
तिहां लगि गुणठाणु भलु केम आवे ताण्युं॥
आतमतत्त्व विचारिए ए आंकणी।

—आत्मतत्त्वविचार नयरहस्य सीमंधर जिनस्तवन ३–१.

३ ६४३–५५७, ५६६–२९; १८०–२३६–२४.

४ राजचन्द्रजीका बौद्धधर्मका ज्ञान भ्रान्त मालूम होता है। बौद्धधर्मके चार भेद बताते हुए राजचन्द्रजीने माध्यमिक और शून्यवादीको भिन्न भिन्न गिनाया है; जब कि ये दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसी तरह वे लिखते हैं कि 'शून्यवादी बौद्धके मतानुसार आत्मा विज्ञानमात्र है,' परन्तु विज्ञानमात्रको विज्ञानवादी बौद्ध ही स्वीकार करते हैं, शून्यवादी तो सब शून्य ही मानते हैं—देखो पृ. ५१८ पर अनुवादकका फुटनोट.

५ देखो ५०७–४४९–२८; ५६२–४७५–२९; ५९६–४९१–२९; ६१४–४९८–२९; ६३६–५१३–२९; ६५७, ६५८–५८३, ४–२९.

समयसार पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। एक 'ब्रह्मरूप'के विचार करनेमें बाधा नहीं, अथवा 'अनेक आत्मा'के विचार करनेमें बाधा नहीं। तुम्हें तथा दूसरे किसी मुमुक्षुको मात्र अपने स्वरूपका जानना ही मुख्य कर्त्तव्य है; और उसके जाननेके शम, संतोष, विचार और सत्संग ये साधन हैं। उन साधनोंके सिद्ध हो जानेपर और वैराग्य उपशमके परिणामकी वृद्धि होनेपर ही 'आत्मा एक है,' अथवा 'आत्मा अनेक हैं' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है।'[1]

जैनधर्मके आग्रहसे मोक्ष नहीं

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अब धीरे धीरे राजचन्द्रजीका लक्ष साम्प्रदायिक आग्रहसे हटकर आत्म-ज्ञानकी ओर बढ़ता जा रहा है। इसीलिये राजचन्द्रजीने जगह जगह वैराग्य और उपशमके कारणभूत योगवासिष्ठ आदि सद्ग्रंथोंके वाचन मनन करनेका अनुरोध किया है। वे साफ लिख देते हैं कि 'जब हम वेदान्तके ग्रंथोंका अवलोकन करनेके लिये कहते हैं तब वेदान्ती होनेके लिये नहीं कहते; जब जैन ग्रंथोंका अवलोकन करनेके लिये कहते हैं तब जैन होनेके लिये नहीं कहते। किन्तु वेदान्त और जिनागम सबके अवलोकन करनेका उद्देश एक मात्र ज्ञान-प्राप्ति ही है। हालमें जैन और वेदांती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है'[2]। तथा जबतक आत्मामें वैराग्य-उपशम दृढरूपसे नहीं आते तबतक जैन वेदांत आदिके उक्त विचारोंसे चित्तका समाधान होनेके बदले उल्टी चंचलता ही होती है, और उन विचारोंका निर्णय नहीं होता, तथा चित्त विक्षिप्त होकर बादमें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको धारण नहीं कर सकता[3]। इतना ही नहीं, इस समय राजचन्द्र सूत्रकृतांग आदि जैन शास्त्रोंको भी कुलधर्मकी वृद्धिके लिये पढ़नेका निषेध करते हैं। और वे इन ग्रंथोंके भी उसी भागको विशेषरूपसे पठन करनेके लिये कहते हैं जिनमें सत्पुरुषोंके चरित अथवा वैराग्य-कथा आदिका वर्णन किया गया हो; और वे यहाँतक लिख देते हैं कि 'जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे ही समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं।'

धीरे धीरे राजचन्द्रजीको अखा, छोटम, प्रीतम, कबीर, सुन्दरदास, मुक्तानन्द, धीरा, सहजानन्द, आनन्दघन, बनारसीदास आदि संत कवियोंकी वाणीका रसास्वादन करनेको मिला[4] और इससे उनका माध्यस्थभाव—समभाव—इतना बढ़ गया कि उन्होंने यहाँ तक लिख दिया—'मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।'[5] तथा 'जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस मान्यताको आत्मा बहुत समयसे भूल चुकी है।'[6] 'सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन निजस्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। चाहे जिस मार्गसे और चाहे जिस दर्शनसे कल्याण होता हो, तो फिर मतमतांतरकी किसी अपेक्षाकी शोध करना योग्य नहीं।' 'मतभेद रखकर किसीने मोक्ष नहीं पाया;' इसलिये "जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे और ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त हो वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है।"[7] प्रत्येक सम्प्रदाय अथवा दर्शनके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीसे अकथ्य होनेसे वह गूँगेकी श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता

---

१ ४२४-३९२-२७.

२ २९६-२९२-२५.

३ ४१३-३७४-२७.

४ राजचन्द्रजीने अवधू, अलखलय, सुधारस, ब्रह्मरस अणछतुं, अनहद, पराभक्ति, हरिजन आदि संत साहित्यके अनेक शब्दोंका जगह जगह प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि राजचन्द्रजीने इस साहित्यका खूब मनन किया था.

५ ४८-१६०-२१.

६ १०७-१९९-२४.

७ ४४-१५७-२१.

है; वास्तवमें उसमें भेद नहीं। जबतक जीवको अपने मतका आग्रह है, तबतक उसका कल्याण नहीं होता। कोई जैन कहा जाता हो, और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है--मतरहित ही हितकारी है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहित भावसे, शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा कल्याण उसीका होगा, इत्यादि विचारोंको राजचन्द्रजीने जगह जगह प्रकट किया है।

सब धर्मोंका मूल आत्मधर्म

इस समय राजचन्द्र सब धर्मोंका मूल आत्मधर्म बताते हैं, और वे स्पष्ट कह देते हैं:--

भिन्न भिन्न मत देखिये भेद दृष्टिनो एह। एक तत्त्वना मूळमां व्याप्या मानो तेह ॥
तेह तत्त्वरूप वृक्षनुं आत्मधर्म छे मूळ। स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म तेज अनुकूळ ॥[1]

--अर्थात् जगत्में जो भिन्न भिन्न मत दिखाई देते हैं, वह केवल दृष्टिका भेद मात्र है। इन सबके मूलमें एक ही तत्त्व रहता है, और वह तत्त्व आत्मधर्म है। अतएव जो निजभावकी सिद्धि करता है, वही धर्म उपादेय है। विशालदृष्टि राजचन्द्र कहा करते थे " विचारवुं जिन जेवुं, रहेवुं वेदांती जेवुं "--अर्थात् जिनके समान विचारना चाहिये और वेदांतीके समान रहना चाहिये[2]। एकबार राजचन्द्रजीने वेदमत और जैनमतकी तुलना करते हुए निम्न शब्द कहे थे:--" जैन स्वमत अने वेद परमत एवुं अमारी दृष्टिमां नथी। जैनने संक्षेपीए तो ते जैनज छे। अने अमने तो कंई लांबो भेद जणातो नथी "--[3] अर्थात् जैन स्वमत है और वेद परमत है, यह हमारी दृष्टिमें नहीं है। जैनको संक्षिप्त करें तो वह वेदमत है, और वेदमतको विस्तृत करें तो वह जैनमत है। हमें तो दोनोंमें कोई बड़ा भेद मालूम नहीं होता। इन्हीं माध्यस्थ सम्प्रदायातीत विचारोंके कारण राजचन्द्रजीने सब संतोंके साथ मिलकर उच्च स्वरसे गाया था कि ' ऊँच नीचनो अंतर नथी समज्या ते पाम्या सद्गति '--अर्थात् सद्गति प्राप्त करनेमें--मोक्ष प्राप्त करनेमें--ऊँच-नीचका, गच्छ-मतका, तथा जाति और वेषका कोई भी अंतर नहीं;[4] वहाँ तो जो हरिको निष्काम-भावसे भजता है, वह हरिका हो जाता है। इसलिये राजचन्द्रजीने कहा भी है:--

[5] निर्दोष सुख निर्दोष आनंद ल्यो गमे त्यांथी मळे।
ए दिव्यशक्तिमान जेथी जंजिरेथी नीकळे ॥

--अर्थात् जहाँ कहींसे भी हो सके निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको प्राप्त करो। लक्ष्य केवल यही रक्खो जिससे यह दिव्यशक्तिमान आत्मा जंजीरोंसे--बंधनसे--निकल सके।

ईश्वरभक्ति सर्वोपरिमार्ग

यहाँ यह बात विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि राजचन्द्रजीकी विचारोत्क्रान्तिकी यहीं इतिश्री नहीं हो जाती। परन्तु वे इससे भी आगे बढ़ते हैं। और इस समय ' ईश्वरेच्छा, ' ' हरिकृपा, '

---

१ ५२-१६२-२१.

२ हरिभद्रसूरिने भी इसी तरहके मिलते जुलते विचार प्रकट किये हैं:--

श्रोतव्यो सौगतो धर्मः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्त्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

--अर्थात् बौद्धधर्मका श्रवण करना चाहिये, जैनधर्मका आचरण करना चाहिये, वैदिकधर्मको व्यवहारमें लाना चाहिये, और शैवधर्मका ध्यान करना चाहिये.

३ श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें एक मुमुक्षुके लिखे हुए राजचन्द्र-वृत्तांतके आधारसे। ये विचार राजचन्द्रजीने कुछ अजैन साधुओंके समक्ष प्रकट किये थे; ये साधु एकदम आकर जैनधर्मकी निन्दा करने लगे थे.

४ छोडी मत दर्शन तणो आग्रह तेम विकल्प। कह्यो मार्ग आ साधशे जन्म तेहना अल्प ॥
जातिवेषनो भेद नहीं कह्यो मार्ग जो कोय। साधे ते मुक्ति लहे एमां भेद न कोय ॥

आत्मसिद्धि १०५-७. पृ. ६१७.

५ ४-६७-१६.

'दीनबंधुका अनुग्रह' आदि शब्दोंका जगह जगह उल्लेख करते हैं; 'ईश्वरपर विश्वास रखनेको एक सुखदायक मार्ग' समझते हैं; तथा 'हरिदर्शन' के लिये अत्यंत आतुरता प्रकट करते हैं। वे अपने आपको हरिके लिये समर्पण कर देते है, और यहाँतक लिख डालते हैं कि "जबतक ईश्वरेच्छा न होगी तबतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तुच्छ तृणके दो टुकड़े करनेकी भी सत्ता हममें नहीं है।"[1] इस दशामें ईश्वरभक्तिको सर्वोपरिमार्ग बताते हुए राजचन्द्रजीने जो अपनी परम उल्लासयुक्त दशाका वर्णन किया है, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनियेः—"आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपसे उदित हुई है। श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को दहीकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिए निकलीं थीं। वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है वहीं सहस्रदल कमल है, और वही यह दहीकी मटकी है, और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो हाँ रे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करने योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं। इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकलीं हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं। कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमें रखकर बेचने निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं। दहीका केवल नाम मात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेव भगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका असली सूक्ष्म स्वरूप यही है। किन्तु उसको स्थूल बनाकर व्यासजीने उसे इस रूपसे वर्णन किया है, और उसके द्वारा अपनी अद्भुत भक्तिका परिचय दिया है। इस कथाका और समस्त भागवतका अक्षर अक्षर केवल इस एकको ही प्राप्त करनेके उद्देशसे भरा पड़ा है; और वह (हमें) बहुत समय पहले समझमें आ गया है। आज बहुत ही ज्यादा स्मरणमें है। क्योंकि साक्षात् अनुभवकी प्राप्ति हुई है, और इस कारण आजकी दशा परम अद्भुत है। ऐसी दशासे जीव उन्मत्त हुए बिना न रहेगा[2]। तथा वासुदेव हरि जान बूझकर कुछ समयके लिये अन्तर्धान भी हो जानेवाले लक्षणोंके धारक हैं, इसलिये हम असंगता चाहते हैं, और आपका सहवास भी असंगता ही है, इस कारण भी वह हमें विशेष प्रिय है।

यहाँ सत्संगकी कमी है, और विकट स्थानमें निवास है। हरि-इच्छापूर्वक ही घूमने फिरने-

---

१ १६–२४५–२४.

२ पराभक्तिका वर्णन सुंदरदासजीने इस तरह किया हैः—

श्रवण विनु धुनि सुने नयनु विनु रूप निहारै। रसना विनु उच्चरै प्रशंसा बहु विस्तारै॥
नृत्य चरन विनु करै हस्त विनु ताल बजावै। अंग विना मिलि संग बहुत आनंद बढावै॥
विनु सीस नवै जहाँ सेव्यको सेवकभाव लिये रहै। मिलि परमातमसौं आतमा पराभक्ति सुंदर कहै॥
—ज्ञानसमुद्र २–५१.

३ सुंदरदासजी इस दशाका वर्णन निम्न प्रकारसे किया हैः—

प्रेम लग्यौ परमेश्वरसौं तब, भूलि गयो सिगरो घर बारा।
ज्यों उनमत्त फिरै जितहीं तित, नेक रही न शरीर संभारा।
स्वास उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा विधि छाकि पर्यौ रस पी मतवारा॥ —ज्ञानसमुद्र २–३९.

की वृत्ति रक्खी है। इसके कारण यद्यपि कोई खेद तो नहीं, परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सकता, यही चिन्ता निरंतर रहा करती है।

अनेक अनेक प्रकारसे मनन करनेपर हमें यही दृढ़ निश्चय हुआ कि भक्ति ही सर्वोपरि मार्ग है; और वह ऐसी अनुपम वस्तु है कि यदि उसे सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहकर की जाय तो वह क्षणभरमें मोक्ष दे सकती है।" [१]

जगत्‌का अधिष्ठान हरि

राजचन्द्र यहींतक नहीं ठहरते। वे तीर्थंकरतकको नहीं छोड़ते, और जैनदर्शनके महान् उपासक होनेपर भी वे स्पष्ट लिखते हैं कि 'इस जगत्‌का कोई अधिष्ठान, अर्थात् ' जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई हो, जिसमें वह स्थिर रहे, और जिसमें वह लय पावे '—अवश्य होना चाहिये। यह रहा वह अप्रकट पत्रः— " जैनकी बाह्य शैली देखनेपर तो हम ' तीर्थंकरको सम्पूर्ण ज्ञान हो' यह कहते हुए भ्रांतिमें पड़ जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जैनकी अंतर्शैली दूसरी होनी चाहिये। कारण कि इस जगत्‌का ' अधिष्ठान ' के बिना वर्णन किया है, और वह वर्णन अनेक प्राणी—विचक्षण आचार्योंको भी भ्रांतिका कारण हुआ है। तथापि यदि हम अपने अभिप्रायके अनुसार विचार करते हैं तो ऐसा लगता है कि तीर्थंकरदेवकी आत्मा ज्ञानी होनी चाहिये। परन्तु तत्कालविषयक जगतके रूपका वर्णन किया है और लोग सर्व कालमें ऐसा मान बैठे हैं, जिससे भ्रांतिमें पड़ गये हैं। चाहे जो हो परन्तु इस कालमें जैनधर्ममें तीर्थंकरके मार्गको जाननेकी आकांक्षावाले प्राणियोंका होना दुर्लभ है। कारण कि एक तो चट्टानपर चढ़ा हुआ जहाज—और वह भी पुराना—यह भयंकर है। उसी तरह जैनदर्शनकी कथनी घिस जानेसे—' अधिष्ठान ' विषयक भ्रांतिरूप चट्टानपर वह जहाज चढ़ा है—जिससे वह सुखरूप नहीं हो सकता। यह हमारी बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे मालूम होगी। तीर्थंकरदेवके संबंधमें हमें बारंबार विचार रहा करता है कि उन्होंने इस जगत्‌का ' अधिष्ठान 'के बिना वर्णन किया है—उसका क्या कारण ? क्या उसे ' अधिष्ठान'का ज्ञान नहीं हुआ होगा ? अथवा ' अधिष्ठान ' होगा ही नहीं ? अथवा किसी उद्देशसे छिपाया होगा ? अथवा कथनभेदसे परंपरासे समझमें न आनेसे अधिष्ठानविषयक कथन लय हो गया होगा ? यह विचार हुआ करता है। यद्यपि तीर्थंकरको हम महान् पुरुष मानते हैं; उसे नमस्कार करते हैं; उसके अपूर्व गुणके ऊपर हमारी परम भक्ति है; और उससे हम समझते हैं कि अधिष्ठान तो उनका जाना हुआ था, परन्तु लोगोंने परंपरासे मार्गकी भूलसे लय कर डाला है। जगत्‌का कोई अधिष्ठान होना चाहिये—ऐसा बहुतसे महात्माओंका कथन है, और हम भी यही कहते हैं कि अधिष्ठान है—और वह अधिष्ठान हरि भगवान् हैं—जिसे फिर फिरसे हृदयदेशमें चाहते हैं।

तीर्थंकरदेवके लिये सख्त शब्द लिखे गये हैं, इसके लिये उसे नमस्कार।" [३]

---

१ १७४-२३२-२४.

२ अखाने भी ईश्वरको अधिष्ठान बताते हुए ' अखे गीता ' में लिखा हैः—

अधिष्ठान ते तमे स्वामी तेणे ए चाल्युं जाय।
अणछतो जीव हुं हुं करे पण भेद न प्रीछे प्राय ॥ कडवुं १९-९.

३ जैननी बाह्य शैली जोतां तो अमे तीर्थंकरने सम्पूर्ण ज्ञान होय एम कहेतां भ्रांतिमां पडीए छीए. आनो अर्थ एवो छे के जैननी अंतर्शैली बीजी जोइए. कारणके ' अधिष्ठान ' वगर आ जगत्‌ने वर्णव्युं छे; अने ते वर्णन अनेक प्राणीओ—विचक्षण आचार्योने पण भ्रांतिनुं कारण थयुं छे, तथापि अमे अमारा अभिप्रायप्रमाणे विचारीए छीए तो एम लागे छे के तीर्थंकरदेव तो ज्ञानी आत्मा होवा जोइए; परन्तु ते काळपरत्वे जगतनुं रूप वर्णव्युं छे, अने लोको सर्वकाळ एवुं मानी बेठा छे; जेथी भ्रांतिमां पड्या छे. गमे तेम हो पण आ काळमां जैनमां तीर्थंकरना मार्गने जाणवानी आकांक्षावाळो प्राणी थवो दुर्लभ संभवे छे; कारणके खराबे चढेलुं वहाण—अने ते पण जूनुं—ए भयंकर छे. तेमज जैननी कथनी घसाई जई—' अधिष्ठान ' विषयनी भ्रांतिरूप खरावे ते वहाण चढयुं छे—जेथी सुखरूप थवुं संभवे नहीं.

आत्मविकासकी उच्च दशा

राजचन्द्रजी इस समय ' अथाह ब्राह्मी वेदना ' का अनुभव करते हैं। तत्त्वज्ञानकी गुफाका दर्शन कर[1] वे अलखलय '—' ब्रह्मसमाधि ' में लीन हो जाते हैं। धर्मेच्छुक लोगोंका पत्र-व्यवहार उन्हें बंधनरूप हो उठता है; स्याद्वाद, गुणस्थान आदिकी ' सिर घुमा देनेवाली ' चर्चाओंसे उनका चित्त विरक्त हो जाता है; और तो और वे अपना निजका भान भूल बैठते हैं; अपना मिथ्यानामधारी, निमित्तमात्र, अव्यक्तदशा, सहजस्वरूप आदि शब्दोंसे उल्लेख करते हैं; और कभी तो उल्लासमें आकर अपने आपको ही नमस्कार[2] कर लेते हैं। आत्मदशामें राजचन्द्र इतने उन्मत्त हो जाते हैं कि वे सर्वगुणसम्पन्न भगवान्तकमें भी दोष[3] निकालते हैं; और तीर्थंकर बननेकी, केवलज्ञान पानेकी, और मोक्ष प्राप्त करनेतककी इच्छासे निस्पृह हो जाते हैं। कबीर आदि संतोंके शब्दोंमें राजचन्द्रकी यह ' अकथ कथा कहनेसे कही नहीं जाती और लिखनेसे लिखी नहीं जाती'। उनके चित्तकी दशा एकदम निरंकुश हो जाती है। इस अव्यक्त दशामें 'उन्हें सब कुछ अच्छा लगता है और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।' उन्हें किसी भी कामकी स्मृति अथवा खबर नहीं रहती, किसी काममें यथोचित उपयोग नहीं रहता, यहाँतक कि उन्हें अपने तनकी भी सुध-बुध नहीं रहती। कबीर साहबने इसी दशाका " हरिरस पीवा जानिये कबहुँ न जाय खुमार। मैंमन्ता घूमत फिरे नाहीं तनकी सार "—कहकर वर्णन किया है। राजचन्द्रजीकी यह दशा जरा उन्हींके शब्दोंमें सुनियेः—

" एक पुराण-पुरुष और पुराण-पुरुषकी प्रेम संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हमें किसी भी पदार्थमें बिलकुल भी रुचि नहीं रही; कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है, इसका भी भान नहीं; जगत् किस स्थितिमें है, इसकी भी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भी भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु और कौन मित्र है, इसकी भी खबर रक्खी नहीं जाती; हम देहधारी हैं या और कुछ, जब यह याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है, यह किसीकी भी

आ अमारी वात प्रत्यक्ष प्रमाणे देखाशे. तीर्थंकरदेवना संबंधमां अमने वारंवार विचार रह्या करे छे के तेमणे ' अधिष्ठान ' वगर आ जगत् वर्णव्युं छे—तेनुं शुं कारण ? शुं तेने ' अधिष्ठान ' नुं ज्ञान नहीं थयुं होय ? अथवा ' अधिष्ठान ' नहींज होय—अथवा कोई उद्देशे छुपाव्युं हशे ? अथवा कथनभेदे परंपराये नहीं समजायी ' अधिष्ठान ' विषेनुं कथन लय पाम्युं हशे ? आ विचार थया करे छे. जोके तीर्थंकरने अमे मोटा पुरुष मानीए छीए; तेने नमस्कार करीए छीए; तेनां अपूर्व गुण ऊपर अमारी परम भक्ति छे; अने तेथी अमे धारीए छीए के अधिष्ठान तो तेमणे जाणेलुं—पण लोकोए परंपराए मार्गनी भूलथी लय करी नाख्युं। जगतनुं कोई अधिष्ठान होवुं जोइए—एम घणा खरा महात्माओनुं कथन छे, अने अमे पण एमज कहीए छीए के अधिष्ठान छे—अने ते अधिष्ठान हरी भगवान् छे—जेने फरी फरी हृदयदेशमां जोइए छीए.

तीर्थंकरदेवने माटे सखत शब्दो लखाया छे, माटे तेने नमस्कार.

—यह पत्र, पत्रांक १९१ का ही अंश है। इस पत्रका यह भाग ' श्रीमद् राजचन्द्र 'के अबतक प्रकाशित किसी भी संस्करणमें नहीं छपा। यह मुझे एक सज्जन मुमुक्षुकी कृपासे प्राप्त हुआ है—इसके लिये लेखक उनका बहुत आभारी है। इस पत्रसे राजचन्द्रजीके विचारोंके संबंधमें बहुत कुछ स्पष्टीकरण होता है।

१ देखो ५६–१६४–२१; ९३–१९०–२३.

२ आनन्दघनजीने भी अपने आपको आनन्दघनचौबीसी (१६–१३) में एक जगह नमस्कार किया हैः—

अहो अहो हुं मुजने कहुं नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फळ दान दातारनी जेहनी भेट थई तुज रे॥

३ १४४–२१५–२३.

४ देखो १६१–२२६–२४; १८४–२३९–२४; २३९–२६७–२४.

समझमें आने जैसा नहीं है। हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे प्रवर्त्तते हैं, व्रत नियमका भी कोई नियम नहीं रक्खा; भेदभावका कोई भी प्रसंग नहीं; हमने अपनेसे विमुख जगत्में कुछ भी माना नहीं; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगीके न मिलनेसे खेद रहा करता है; संपत्ति भरपूर है, इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं, शब्द आदि अनुभव किये हुए विषय स्मृतिमें आ जानेके कारण—अथवा चाहे उसे ईश्वरेच्छा कहो—परन्तु उसकी भी अब इच्छा नहीं रही; अपनी इच्छासे ही थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरिकी इच्छाका क्रम जैसे चलाता है वैसे ही चलते चले जाते हैं। हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे ही प्रवृत्ति करती हैं; नय-प्रमाण वगैरह शास्त्र-भेद याद नहीं आते; कुछ भी बाँचनेमें चित्त नहीं लगता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, और बोलनेकी वृत्तियाँ सब अपनी अपनी इच्छानुसार होती हैं; तथा हम अपने स्वाधीन हैं या नहीं, इसका भी यथायोग्य भान नहीं रहा।

इस प्रकार सब तरहसे विचित्र उदासीनता आ जानेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति हो जाया करती है। एक प्रकारसे पूर्ण पागलपन है; एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं; और जितनी मात्रामें उसे छिपाकर रखते हैं, उतनी ही हानि है। योग्यरूपसे प्रवृत्ति हो रही है अथवा अयोग्यरूपसे, इसका कुछ भी हिसाब नहीं रक्खा। आदि-पुरुषमें एक अखंड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्ष आदि पदार्थोंकी भी आकांक्षाका नाश हो गया है। इतना सब होनेपर भी संतोषजनक उदासीनता नहीं आई, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमका प्रवाह तो नशेके प्रवाह जैसा प्रवाहित होना चाहिये। परन्तु वैसा प्रवाहित नहीं हो रहा, ऐसा हम जान रहे हैं; ऐसा करनेसे वह अखंड नशेका प्रवाह प्रवाहित होगा ऐसा निश्चयरूपसे समझते हैं। परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है। और इन सबका दोष हमपर है अथवा हरिपर, उसका ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं, लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, बाँचते हैं, निभाते जा रहे हैं, खेद पाते हैं, हँसते भी हैं, जिसका ठिकाना नहीं, ऐसी हमारी दशा है; और उसका कारण केवल यही है कि जबतक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तबतक खेद मिटनेवाला नहीं। यह बात समझमें आ रही है, समझ भी रहे हैं, और समझेंगे भी, परन्तु सर्वत्र हरि ही कारणरूप है।

हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सब कुछ हरि ही हरि है। और फिर भी हम इस प्रकार कारबारमें लगे हुए हैं। यह इसीकी इच्छाका कारण है।"[1]

इससे मालूम होता है कि राजचन्द्र एक पहुँचे हुए संत (Mystic) थे। उन्होंने कबीर, दादू, प्रीतम, आनन्दघन आदि संतोंकी तरह उस 'अवाङ्मानसगोचर' सहजानन्दकी उच्च दशाका अनुभव किया था, जिसका उपनिषद्के ऋषियों-मुनियोंसे लगाकर पूर्व और पश्चिमके अनेक संतों और विचारकोंने जगह जगह बखान किया है। स्वामी विवेकानन्दने इस दशाका निम्न प्रकारसे वर्णन किया है:—

There is no feeling of I, and yet the mind works, desireless, free from restlessness, objectless, bodiless. Then the truth shines in its full effulgence, and we know ourselves—for Samādhi lies potential in us all—for what we truly are, free, immortal omnipotent, loosed from the finite and its contrasts of good and evil altogether, and identical with the Atman or Universal Soul—अर्थात् उस दशामें अहंभावका विचार नहीं रहता, परन्तु मन इच्छारहित होकर, चंचलतारहित होकर, प्रयोजनरहित होकर और शरीररहित होकर काम करता है। उस समय सत्य अपने पूर्ण तेजसे दैदीप्यमान होता है, और हम अपने आपको जान लेते हैं। क्योंकि समाधि हम सबमें

---

१ २१७-२५४-२४; तुलना करो:—

हरिमय सर्वे देखे ते भक्त, ज्ञानी आपे छे अव्यक्त।
अहर्निश मन जो वेध्युं रहे, तो कोण नंदे ने कोने कहे ॥
वण पामे बकवादज करे गळे गर्जना अखा उतरे—अखाना छप्पा वेषविचार अंग ४५५.

अव्यक्तरूपसे मौजूद रहती है। क्योंकि हम वास्तवमें स्वाधीन हैं, अमर हैं, सर्वशक्तिमान हैं, परिमितसे पृथक् हैं, सत् और असत्के भेदसे पर हैं, तथा आत्मा और परमात्मासे अभिन्न हैं।[1] बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मोंके ग्रन्थकारोंने इस दशाका भिन्न भिन्न रूपमें वर्णन किया है।[2] निस्सन्देह राजचन्द्र आत्मविकासकी उच्च दशाको पहुँचे हुए थे; और जान पड़ता है इसी दशाको उन्होंने 'शुद्धसमकित' के नामसे उल्लेख किया है। वे लिखते हैं:—

ओगणीसें ने सुडतालीसे समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे।
श्रुत अनुभव वधती दशा निजस्वरूप अवभास्युं रे॥

इस पद्यमें उन्होंने संवत् १९४७ में, अपनी २४ वर्षकी अवस्थामें श्रुत-अनुभव, बढ़ती हुई दशा, और निजस्वरूपके भास होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है।

राजचन्द्रजीका लेखसंग्रह

श्रीमद् राजचन्द्रने अपने ३३ वर्षके छोटेसे जीवनमें बहुत कुछ बाँचा और बहुत ही कुछ लिखा। यद्यपि राजचन्द्रजीके लेखों, पत्रों आदिका बहुत कुछ संग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' नामक ग्रंथमें आ गया है। परन्तु यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अभी राजचन्द्रजीके पत्रों आदिका बहुतसा भाग और भी मौजूद है[3]। और इस भागमें कुछ भाग तो ऐसा है जिससे राजचन्द्रजीके विचारोंके संबंधमें बहुतसी नई बातोंपर प्रकाश पड़ता है, और तत्संबंधी बहुतसी गुत्थियाँ सुलझती हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंको सामान्यतया तीन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें राजचन्द्रजीके विविध पत्रोंका संग्रह आता है; जिन्हें राजचन्द्रजीने भिन्न भिन्न अवसरोंपर मुमुक्षुओंकी तत्त्वज्ञानकी पिपासा शान्त करनेके लिये लिखा था। इन पत्रोंमेंसे कुछ थोड़ेसे खास खास पत्र पहिले उद्धृत किये जा चुके हैं। राजचन्द्रजीके पत्रोंसे—खासकर जिसमें गांधीजीने राजचन्द्रजीसे सत्ताइस प्रश्नोंका उत्तर माँगा है—गांधीजीको बहुत शांति मिली थी, और वे हिन्दुधर्ममें स्थिर रह सके थे, यह बात बहुतसे लोग जानते हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंका दूसरा भाग निजसंबंधी है। इन पत्रोंके पढ़नेसे मालूम होता है कि राजचन्द्र अपना सतत आत्मनिरीक्षण (Self analysis) करनेमें कितने सतर्क रहते थे। कहीं कहीं तो उनका आत्मनिरीक्षण इतना स्पष्ट और सूक्ष्म होता था कि उसके पढ़नेसे सामान्य लोगोंको उनके विषयमें भ्रम हो जानेकी संभावना थी। इसी कारण राजचन्द्रजीको अपना अंतःकरण खोलकर रखनेके लिये कोई योग्य स्थल नहीं मिलता था। बहुत करके राजचन्द्रजीने इन पत्रोंको अपने महान् उपकारक सायला निवासी श्रीयुत सौभागभाईको ही लिखा था। इस प्रकारका साहित्य अपनी भाषाओंमें बहुत ही कम है। इसमें सन्देह नहीं ये समस्त पत्र अत्यंत उपयोगी हैं, और राजचन्द्रजीको समझनेके लिये पारदर्शकका काम करते हैं। अनेक स्थलोंपर राजचन्द्रजीने अपनी निजकी दशाका पद्यमें भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इस संबंधमें राजचन्द्रजीकी जो 'प्राइवेट डायरी' (नोंधपोथी) हैं—जिन्हें राजचन्द्रजी व्यावहारिक कामकाजसे अवकाश मिलते ही लिखने बैठ जाते थे—बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। राजचन्द्रजीको जो समय समयपर नाना तरहकी

---

१ विवेकानन्दः-राजयोग लन्डन १८९६.

२ देखो अमेरिकाके प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्सकी The Varieties of Religious Experiences नामक पुस्तकमें Mysticism नामक प्रकरण; तथा रिचर्ड मौरिस ब्युककी Cosmic Consciousness १९०५.

३ इस भागमेंसे दो महत्त्वपूर्ण पत्रोंके अंश पहिले उद्धृत किये जा चुके हैं। इन पत्रोंका कुछ भाग मुझे दो मुमुक्षुओंकी कृपासे पढ़नेको मिला। एक पत्रमें दस या बारह मुद्दोंमें राजचन्द्रजीने अपनी जैनतत्त्वज्ञानसंबंधी आलोचनाका निचोड़ लिखा है। मुझे इस पत्रसे राजचन्द्रजीका दृष्टिबिन्दु समझनेमें बहुत मदद मिली है। इसके लिये उक्त मुमुक्षुओंका मैं बहुत कृतज्ञ हूँ।

विचारधारायें उदित होती थीं, उन्हें वे अपनी डायरीमें नोट कर लेते थे। यद्यपि राजचन्द्रजीके पत्रोंकी तरह उनकी प्राइवेट डायरी भी अपूर्ण ही हैं, फिर भी जो कुछ हैं, वे बहुत महत्त्वकी हैं। राजचन्द्रजीके लेखोंका तीसरा भाग उनकी मौलिक अथवा अनुवादात्मक और विवेचनात्मक रचनायें हैं।

मौलिक रचनायें

स्त्रीनीतिबोध प्रथम भाग, राजचन्द्रजीकी १६ वर्षसे पहिलेकी रचनाओंमें प्रथम रचना गिनी जाती है। यह ग्रंथ पद्यात्मक है, और यह सं. १९४० में प्रकाशित हुआ है[1]। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथको तीन भागोंमें बनानेका विचार किया था। मालूम होता है राजचन्द्र शेष दो भागोंको लिख नहीं सके। ग्रंथके मुखपृष्ठके ऊपर स्त्रीशिक्षाकी आवश्यकताके विषयमें निम्न पद्य दिया गया है:—

थवा देश आबाद सौ हौंस धारो, भणावी गणावी वनिता सुधारो।
थती आर्यभूमि विषे जेह हानि, करो दूर तेने तमे हित मानी॥

राजचन्द्रजीने इस ग्रंथकी छोटीसी प्रस्तावना भी लिखी है। उसमें स्त्रीशिक्षाके ऊपर जो पुराने विचारके लोग आक्षेप करते हैं, उनका निराकरण किया है। तथा स्त्रियोंको सुधारनेके लिये बाललग्न, अनमेल विवाह आदि कुप्रथाओंको दूर करनेका लोगोंसे अनुरोध किया है। इस पुस्तकके राजचन्द्रजीने चार भाग किये हैं। प्रथम भागमें ईश्वरप्रार्थना, क्षणभंगुर देह, माताकी पुत्रीको शिक्षा, समयको व्यर्थ न खोना आदि; दूसरे भागमें शिक्षा, शिक्षाके लाभ, अनपढ स्त्रीको धिक्कार आदि; तीसरे भागमें सुधार, सद्गुण, सुनीति, सत्य, परपुरुष, आदि; तथा चौथे भागमें 'सद्गुणसज्जनी' और 'सद्बोधशतक' इस तरह सब मिलाकर चौबीस गरबी हैं।

राजचन्द्रजीका दूसरा ग्रंथ **काव्यमाला** है। 'स्त्रीनीतिबोध' के अन्तमें दिये हुए विज्ञापनमें राजचन्द्रजीने काव्यमाला नामक एक सुनीतिबोधक पुस्तक बनाकर तैय्यार करनेकी सूचना की है। इससे मालूम पड़ता है कि काव्यमाला कोई नीतिसंबंधी पुस्तक होनी चाहिये। इस पुस्तकमें एकसौ आठ काव्य हैं, जिनके चार भाग किये गये हैं। इस पुस्तकके विषयमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका।

राजचन्द्रजीकी तीसरी पुस्तक है **वचनसप्तशती**। राजचन्द्रजीने वचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरण रखनेको लिखा है। इस ग्रंथमें सातसौ वचन गूँथे गये है[2]। उनमेंसे कुछ वचन निम्न प्रकारसे हैं:—

सिर चला जाय पर प्रतिज्ञा भंग न करना (१९). किसी दर्शनकी निन्दा न करूँ (६७). अधिक व्याज न लूँ (३३५). दीर्घशंकामें अधिक समय न लगाऊँ (३९०). आजीविकाकी विद्याका सेवन न करूँ (४१५). फोटो न खिंचवाऊँ (४५३). क्षौरकर्मके समय मौन रहूँ (५१५). पुत्रीको पढ़ाये बिना न रहूँ (५४५). कुटुंम्बको स्वर्ग बनाऊँ (५६१).

राजचन्द्रजीकी १६ वर्षसे पूर्वकी चौथी रचना **पुष्पमाला** है। जिस तरह जापमालामें एकसौ आठ दाने होते हैं, उसी तरह राजचन्द्रजीने सुबह शाम निवृत्तिके समय पाठ करनेके लिए एकसौ आठ वचनोंमें पुष्पमालाकी रचना की है। इसमें राजा, वकील, श्रीमंत, बालक, युवा, वृद्ध, धर्माचार्य, कृपण, दुराचारी, कसाई आदि सभी तरहके लोगोंके लिये हितवचन लिखे गये हैं। सोलह वर्षसे कम अवस्थामें इतने गंभीर और मार्मिक वचनोंका लिखा जाना, सचमुच बहुत आश्चर्यकारक है! इनमेंसे कुछ वाक्य यहाँ दिये जाते हैं:—

यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो जो नीचे कहता हूँ उसे विचार जाना:—

१ छपा हुआ ग्रंथ मुझे देखनेको नहीं मिला। मैंने यह विवेचन श्रीयुत दामजी केशवजीके संग्रहमें हस्तलिखित स्त्रीनीतिबोधके ऊपरसे लिखा है।

२ श्रीयुत गोपालदास जीवाभाई पटेल 'श्रीमदनी जीवनयात्रा' में लिखते हैं कि राजचन्द्रजीने वचन सप्तशतीके अलावा 'महानीति' के सातसौ वचन अलग लिखे हैं। परन्तु एक सज्जनके कथनानुसार महानीतिके सातसौ वचन और वचनसप्तशती एक ही हैं, अलग अलग नहीं।

तू जिस स्थितिको भोगता है वह किस प्रमाणसे ? आगामी कालकी बात, तू क्यों नहीं जान सकता ? तू जिसकी इच्छा करता है वह क्यों नहीं मिलता ? चित्र-विचित्रताका क्या प्रयोजन है ? (९). मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समझ पवित्र धर्ममें प्रवर्त्तन करना (१४). तू किसी भी धर्मको मानता हो, उसका मुझे पक्षपात नहीं । मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारको तू सेवन करना (१५). यदि तू सत्तामें मस्त हो तो नैपोलियन बोनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर (३२). जिन्दगी छोटी है और लंबी जंजाल है । इसलिये जंजालको छोटी कर, तो सुखरूपसे जिन्दगी लम्बी मालूम होगी । (५१).

राजचन्द्रजीकी पाँचवी रचना मोक्षमाला है । यह बहुत प्रसिद्ध है । 'बालयुवकोंको अविवेकी विद्या प्राप्त कर आत्मसिद्धिसे भ्रष्ट होते देख, उन्हें स्वधर्ममें स्थित रखनेके लिये,' राजचन्द्रजीने मोक्षमाला बालावबोध नामक प्रथम भागकी रचना की है[1] । ग्रन्थके उद्देशके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं:— "भाषाज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पठन करनेकी नहीं, परन्तु मनन करनेकी है । इससे इस भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित होगा । जैनमार्गको समझानेका इसमें प्रयास किया है । इसमें जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा । जिससे वीतरागमार्गपर आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आवे, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है । इसमें जिनेश्वरके सुंदर मार्गसे बाहरका एक भी अधिक वचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया । जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा वैसे ही मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है ।" मोक्षमालामें जैनधर्मके सिद्धांतोंका सरल और नूतन शैलीसे १०८ पाठोंमें रोचक वर्णन किया गया है । और बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि राजचन्द्रजीने सोलह वर्ष पाँच महीनेकी अवस्थामें इसे कुल तीन दिनमें लिखा था ।

ग्रंथके विषयको सामान्यतः नीचे लिखे चार विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है:— कथाभाग, जैनधर्मविषयकसिद्धांत, सर्वमान्यसिद्धांत और काव्यभाग । मोक्षमालाका कथाभाग बहुत रोचक और श्रेष्ठ है । यद्यपि ये कथायें बहुत करके उत्तराध्ययन आदि जैनसूत्र, तथा कथाग्रन्थोंको अनुकरण करके लिखी गई हैं, परन्तु कथाओंके पढ़नेसे लगता है कि मानो ये कथायें मौलिक ही हैं । मोक्षमालाकी अनाथी मुनि, कपिल मुनि, भिखारीका खेद, सुखके विषयमें विचार आदि कथायें वैराग्यरससे खूब ही परिपूर्ण हैं, और ये कथायें इतनी आकर्षक और हृदयस्पर्शी हैं कि इन्हें जितनी बार भी पढ़ो उतनी ही बार ये नई और असरकारक मालूम होती हैं । हम तो समझते हैं कि मोक्षमालाकी बहुसंख्यक कथायें भारतीय कथा-साहित्यकी उच्च श्रेणीमें जरूर रक्खी जा सकती हैं ।

मोक्षमालाके दूसरे विभागमें सामायिक, प्रतिक्रमण, रात्रिभोजन, प्रत्याख्यान, जीवदया, नमस्कार-मंत्र, धर्मध्यान, नवतत्त्व, ईश्वरकर्त्तृत्व आदि जैनधर्मके मुख्य मुख्य प्राथमिक सिद्धांतोंका नूतन शैलीसे सरल और गंभीर विवेचन किया गया है । उदाहरणके लिये रात्रिभोजनके विषयमें लिखा है:-"रात्रिभोजनका पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिये त्याग किया है । फिर भी उनमें परंपराकी रूढ़िको लेकर रात्रिभोजन घुस गया है । शरीरके अन्दर दो प्रकारके कमल होते हैं । वे सूर्यके अस्तसे संकुचित हो जाते हैं । इस कारण रात्रिभोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेसे अहित होता है । यह महारोगका कारण है । ऐसा बहुतसे स्थलोंमें आयुर्वेदका भी मत है" (मोक्षमाला २८) । जो लोग प्रतिक्रमण आदिको, उसका अर्थ समझे बिना ही, कंठस्थ कर लेते हैं, ऐसे लोगोंके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं—"जिनके शास्त्रके शास्त्र कंठस्थ हों, ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं । परन्तु जिन्होंने थोड़े वचनोंपर प्रौढ़ और विवेकपूर्वक विचार कर शास्त्र जितना ज्ञान हृदयंगम किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं । तत्त्वको पहुँच जाना कोई छोटी बात नहीं, यह कूदकर समुद्रको उलाँघ जानेके समान हैं ।"

---

[1] राजचन्द्रजीने मोक्षमालाको बालावबोध, विवेचन और प्रज्ञावबोध इन तीन भागोंमें लिखनेका विचार किया था । वे केवल बालावबोध मोक्षमाला ही लिख सके, अन्तके दो भागोंको नहीं लिख सके । प्रज्ञावबोध मोक्षमालाकी वे केवल संकलनामात्र ही लिखवा सके । यह प्रस्तुत ग्रंथमें ८६४ (२)–७९८-३३ पर दी हुई है ।

" जो निर्ग्रन्थ प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको कंठस्थ करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं। परन्तु जिन्होंने उसका मर्म पाया है, उनको तो इससे सुख, आनंद, विवेक और अन्तमें महान् फलकी प्राप्ति होती है। अपढ़ पुरुष जितना सुंदर अक्षर और खेंची हुई मिथ्या लकीर इन दोनोंके भेदोंको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथोंके विचार और निर्ग्रंथ प्रवचनके भेदको समझता है। क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ वचनामृतको धारण नहीं किया, और उसपर यथार्थ विचार नहीं किया। यद्यपि तत्त्वविचार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी वह कुछ विचार ज़रूर कर सकता है। पत्थर पिघलता नहीं फिर भी पानीसे भीग तो जाता है। इसी तरह जिसने वचनामृत कंठस्थ किया हो, वह अर्थसहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है। नहीं तो तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने कि राम अनारको कहते हैं या अंगूरको " (मोक्षमाला पाठ २६)। इसके बाद लेखकने एक उपहासजनक कच्छी-वैश्योंका दृष्टांत लिखा है। ईश्वरकर्तृत्वके संबंधमें श्रीमद् राजचन्द्र लिखते हैं—" जिस मध्यवयके क्षत्रियपुत्रने जगत् अनादि है ऐसे बेधड़क कहकर कर्त्ताको उड़ाया होगा, उस पुरुषने क्या इसे कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा? तथा इनकी निर्दोषताके विषयमें जब आप पढ़ेंगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्त्ता न था और जगत् अनादि था तो उसने ऐसा कहा " (मोक्षमाला पाठ ९२)। "परमेश्वरको जगत् रचनेकी क्या आवश्यकता थी? परमेश्वरने जगत्को रचा तो सुख दुःख बनानेका क्या कारण था? सुख दुःखको रचकर फिर मौतको किसलिये बनाया? यह लीला उसे किसे बतानी थी? जगत्को रचा तो किस कर्मसे रचा? उससे पहिले रचनेकी इच्छा उसे क्यों न हुई? ईश्वर कौन है? जगत्के पदार्थ क्या हैं? और इच्छा क्या है? जगत्को रचा तो फिर इसमें एक ही धर्मकी प्रवृत्ति रखनी थी। इस प्रकार भ्रमणामें डालनेकी क्या ज़रूरत थी? कदाचित् यह मान लें कि यह उस बिचारेसे भूल हो गई! होगी! खैर, क्षमा करते हैं। परन्तु ऐसी आवश्यकतासे अधिक अक्लमन्दी उसे कहाँसे सूझी कि उसने अपनेको ही जड़मूलसे उखाड़नेवाले महावीर जैसे पुरुषोंको जन्म दिया? इनके कहे हुए दर्शनको जगत्में क्यों मौजूद रक्खा?" (मोक्षमाला पाठ ९७)।

मोक्षमालाका तीसरा भाग सर्वमान्य सिद्धांतविषयक है। इसमें कर्मका चमत्कार, मानवदेह, सत्संग, विनय, सामान्य नित्यनियम, जितेन्द्रियता आदि सर्वसामान्य बातोंपर सुंदर विवेचन किया गया है। मानवदेहके विषयमें लिखा है:—" मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, दो होठ और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेष रूपसे उसके पूँछ भी है, तो क्या उसे महामनुष्य कहना चाहिये? नहीं, नहीं। जो मानवपना समझता है वही मानव कहला सकता है" (मोक्षमाला पाठ ४)। सूअर और चक्रवर्तीका सादृश्य:—" भोगोंके भोगनेमें दोनों तुच्छ हैं। दोनोंके शरीर राद, माँस आदिके बने हैं, और असातासे पराधीन हैं। संसारकी यह सर्वोत्तम पदवी ऐसी है, उसमें ऐसा दुःख, ऐसी क्षणिकता, ऐसी तुच्छता और ऐसा अन्धापन है, तो फिर दूसरी जगह सुख कैसे माना जाय?" (मोक्षमाला पाठ ५२)। जितेन्द्रियताके विषयमें:—"जबतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जबतक नासिकाको सुगंध अच्छी लगती है, जबतक कान वारांगना आदिके गायन और वादित्र चाहता है, जबतक आँख वनोपवन देखनेका लक्ष रखती है, जबतक त्वचाको सुगंधि-लेपन अच्छा लगता है, तबतक मनुष्य निरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको वशमें करना सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सब इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत दुर्घट है। मन एक समयमें असंख्यातों योजन चलनेवाले अश्वके समान है। इसको थकाना बहुत कठिन है। इसकी गति चपल और पकड़में न आनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसको वशमें रखकर सबको जीत लिया है" (मोक्षमाला पाठ ६८)।

मोक्षमालाका चौथा भाग काव्यभाग है। इसमें सर्वसामान्य धर्म, भक्तिका उपदेश, ब्रह्मचर्य, सामान्य मनोरथ, तृष्णाकी विचित्रता, अमूल्य तत्त्वविचार, जिनेश्वरकी वाणी और पूर्णमालिका मंगलके ऊपर मनहर, हरिगीत, त्रोटक आदि विविध छन्दोंमें आठ कवितायें है। अपने सामान्य मनोरथके विषयमें कवि लिखते हैं:—

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना निरखुं नयने परनारी।
पत्थरतुल्य गणुं परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी।
द्वादशव्रत्त अने दीनता धरि, सात्त्विक थाऊं स्वरूप विचारी।
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी ॥ १ ॥
ते त्रिशलातनये मन चिंतवि, ज्ञान विवेक विचार वधारुं।
नित्य विशोध करी नवतत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं।
संशयबीज उगे नहीं अन्दर, जे जिननां कथनो अवधारुं।
राज्य! सदा मुज एज मनोरथ, धार थशे अपवर्ग उतारुं ॥ २ ॥

सोलह वर्षकी छोटीसी अवस्थामें कितनी उच्च भावनायें!

आगे चलकर 'तृष्णानी विचित्रता' नामक कवितामें कविने वृद्धावस्थाका कितना मार्मिक चित्रण किया है। वह पद्य यह है :—

करोचली पडी दाढी डांचातणो दाट वळ्यो, काळी केशपटी विषे श्वेतता छवाई गई।
सूंघवुं सांभळवुं ने देखवुं ते मांडी वळ्युं, तेम दांत आवली ते खरी के खवाई गई ॥
वळी केड वांकी हाड गयां, अंगरंग गयो उठवानी आय जतां लाकडी लेवाई गई।
अरे! राज्यचन्द्र एम युवानी हराई पण, मनथी न तोय रांड ममता मराई गई ॥ २ ॥

—अर्थात् मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गईं; गाल पिचक गये; काली केशकी पट्टियाँ सफेद पड़ गईं; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं; और दाँतोंकी पंक्तियाँ खिर गईं अथवा घिस गईं; कमर टेढ़ी हो गई; हाड़-माँस सूख गये; शरीरका रँग उड़ गया; उठने बैठनेकी शक्ति जाती रही; और चलनेमें लकड़ी लेनी पड़ गई। अरे राजचन्द्र! इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे। परन्तु फिर भी मनसे यह रॉड ममता नहीं मरी।

इसमें सन्देह नहीं कि मोक्षमाला राजचन्द्रजीकी एक अमर रचना है। इससे उनकी छोटीसी अवस्थाकी विचारशक्ति, लेखनकी मार्मिकता, तर्कपटुता और कवित्वकी प्रतिभाका आभास मिलता है। जैनधर्मके अन्तस्तलमें प्रवेश करनेके लिये यह एक भव्य द्वार है। जैनधर्मके खास खास प्रारंभिक समस्त सिद्धांतोंका इसमें समावेश हो जाता है। यह जैनमात्रके लिये बहुत उपयोगी है। विशेषकर जैन पाठशालाओं आदिमें इसका बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। जैनेतर लोग भी इससे जैनधर्मविषयक साधारण परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

---

१ इसमें अखाकी निम्न कविताकी छाया मालूम होती है:—

टूटो तन गात ममता मटी नहीं फुट फजीत पुरानोसो पिंजर।
जरजर अंग झुक्यो तन नीचो जैसे हीं वृद्ध भयो चले कुंजर।
फटेसे नेन दसन विन वेन ऐसो फबे जैसो उजर खंजर।
अज हीं सोनारा रामभजनकी भात नाही जोपे आई पोहोच्यो है मंजर ॥
यौवन गयो जरा टन्यो सिर सेत भयो बुध कारेकी कारी।
सब आपन्य घटी तन निरत घटी मनसा ज्युं रटी कुलटा जेसी नारी।
ज्ञान कथ्यो सो तो नीर मथ्यो आई अखा शून्यवादीकी गारी।
राम न जाने कलीमल साने भये ज्युं पुराने अविध्यां कुमारी ॥

संतप्रिया ६०–६२; अखानी वाणी पृ. ११६, बम्बई १८८४.

राजचन्द्रजीका छठा ग्रन्थ **भावनाबोध** है। भावनाबोधकी रचना राजचन्द्रजीने संवत् १९४२ में अठारह वर्षकी अवस्थामें की थी। जिस समय मोक्षमालाके छपनेमें विलंब था, उस समय ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये भावनाबोधकी रचना कर, यह ग्रंथ ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया गया था। भावनाबोधमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, संसार, आश्रव, संवर, निर्जरा और लोकस्वरूप इन दस भावनाओंका वर्णन किया गया है। प्रथम ही उपोद्घातके बाद, प्रथम दर्शनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम चित्रमें आदिकी पाँच भावनाओंका; और तत्पश्चात् अंतर्दर्शनमें षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम और दशम चित्रोंमें अन्तकी पाँच भावनाओंका विवेचन है। उपर्युक्त दस भावनाओंका वर्णन दस चित्रोंमें समाप्त होता है। मोक्षमालाकी तरह भावनाबोधकी कथायें भी अत्यंत रोचक और प्रभावोत्पादक हैं। तत्त्ववेत्ताओंके उपदेशका सार बताते हुए एक जगह राजचन्द्रजी लिखते हैं—" इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतंजलि, कपिल और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ आ जाता है:—

अहो प्राणियो ! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो ! उपयोग करो ! "

निस्सन्देह भावनाबोध वैराग्यरसकी एक सुन्दर रचना है, और बारह भावनाओंके चिन्तनके लिये यह बहुत उपयोगी है।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें राजचन्द्रजीने पुष्पमालाके ढंगका १२० वचनोंमें **वचनामृत** लिखा है। यह वचनामृत प्रस्तुत ग्रंथमें ६–१२१–१९ में दिया गया है। वचनामृतके वचनोंकी मार्मिकताका निम्न उद्धरणोंसे कुछ आभास मिल सकता है—

हज़ारों उपदेशोंके वचन सुननेकी अपेक्षा उनमेंसे थोड़े वचनोंका विचारना ही विशेष कल्याणकारी है (१०). वर्त्तावमें बालक बनो, सत्यमें युवा बनो, और ज्ञानमें वृद्ध बनो (१९). बच्चेको रुलाकर भी उसके हाथका संखिया ले लेना (३१). हे जीव ! अब भोगसे शांत हो शांत ! जरा विचार तो सही, इसमें कौनसा सुख है (३४). यदि इतना हो जाय तो मैं मोक्षकी इच्छा न करूँ:—समस्त सृष्टि सत्शीलकी सेवा करे, नियमित आयु, नीरोग शरीर, अचल प्रेम करनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ, आज्ञानुवर्ती अनुचर, कुलदीपक पुत्र, जीवनपर्यंत बाल्यावस्था, और आत्मतत्त्वका चिन्तवन (४०). किन्तु ऐसा तो कभी भी होनेवाला नहीं, इसलिये मैं तो मोक्षकी ही इच्छा करता हूँ (४१). स्याद्वाद-शैलीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता (८६)।

इसके बाद, इसी वर्ष राजचन्द्रजीने **जीवतत्त्वसंबंधी विचार** और **जीवाजीवविभक्ति** नामक प्रकरण भी लिखने आरंभ किये थे। मालूम होता है राजचन्द्रजी इन प्रकरणोंको उत्तराध्ययन सूत्र आदि ग्रंथोंके आधारसे लिखना चाहते थे। ये दोनों अपूर्ण प्रकरण क्रमसे १०–१२९–१९ और ११–१३०–१९ में प्रस्तुत ग्रंथमें दिये गये हैं।

बीसवें वर्षमें राजचन्द्रजीने प्रतिमाकी सिद्धिके ऊपर एक निबंध लिखा है। इसमें आगम, इतिहास, परंपरा, अनुभव और प्रमाण इन पाँच प्रमाणोंसे राजचन्द्रजीने प्रतिमापूजनकी सिद्धि करनेका उल्लेख किया है। इस लघुग्रन्थका केवल आदि और अन्तका भाग मिलता है, जो प्रस्तुत ग्रन्थमें २०–१३६,७,८,९–२० में अपूर्णरूपसे दिया है।

आत्मसिद्धिशास्त्र राजचन्द्रजीका प्रौढ़ अवस्थाका ग्रंथ है। राजचन्द्रजीने इसे २९ वें वर्षमें लिखा था। इसे राजचन्द्रजीने खास कर श्रीसोभाग, श्रीअचल आदि मुमुक्षु तथा अन्य भव्य जीवोंके हितके लिये नड़ियादमें रहकर बनाया था। कहते हैं एक दिन शामको राजचन्द्र बाहर घूमने गये और घूमनेसे वापिस आकर 'आत्मसिद्धि' लिखने बैठ गये। उस समय श्रीयुत अंबालालभाई उनके साथ थे। इतने राजचन्द्रजीने ग्रंथको लिखकर समाप्त किया, अंबालालभाई लालटेन लेकर खड़े रहे। बादमें इस ग्रंथकी चार नकलें कराकर तीन तो श्रीसोभागभाई, लल्लूजी और माणेकलाल घेलाभाईको भेज दीं, और एक स्वयं अंबालालभाईको दे दी।

आत्मसिद्धिमें १४२ पद्य हैं। पहिले ४२ पद्योंमें प्रास्ताविक विवेचनके पश्चात् शेष पद्योंमें 'आत्मा है, वह नित्य है, वह निज कर्मकी कर्त्ता है, वह भोक्ता है, मोक्ष है, और मोक्षका उपाय है'—इन 'छह पदोंकी'[1] सिद्धि की गई है। प्रास्ताविक विवेचनमें राजचन्द्रजीने शुष्कज्ञानी, क्रियाजड़, मतार्थी, आत्मार्थी, सद्गुरु, असद्गुरु आदिका विवेचन किया है। शुष्कज्ञानी और क्रियाजड़का लक्षण लिखते हुए राजचन्द्रजी कहते हैं—

वाह्यक्रियामां राचतां अंतर्भेद न कांइ। ज्ञानमार्ग निषेधतां तेह क्रियाजड आंहि ॥
बंध मोक्ष छे कल्पना भाखे वाणीमांहि। वर्त्ते मोहावेशमां शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥

—जो मात्र वाह्यक्रियामें रचे पचे पड़े हैं, जिनके अंतरमें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञानमार्गका निषेध करते हैं, उन्हें यहां क्रियाजड़ कहा है। बंध और मोक्ष केवल कल्पनामात्र है—इस निश्चय-वाक्यको जो केवल वाणीसे ही बोला करता है, और तथारूप दशा जिसकी हुई नहीं, और जो मोहके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्कज्ञानी कहा है।

सद्गुरुके विषयमें राजचन्द्र लिखते हैं—

आत्मज्ञान समदर्शीता विचरे उदय प्रयोग। अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

—आत्मज्ञानमें जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं; जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है; और जो षट्दर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार गुरु-शिष्यके शंका-समाधानरूपमें 'षट्पद'का कथन करते हैं। प्रथम ही शिष्य आत्माके अस्तित्वके विषयमें शंका करता है और कहता है कि "न आत्मा देखनेमें आती है, न उसका कोई रूप मालूम होता है, और स्पर्श आदि अनुभवसे भी उसका ज्ञान नहीं होता। यदि आत्मा कोई वस्तु होती तो घट, पट आदिकी तरह उसका ज्ञान अवश्य होना चाहिये था"? इस शंकाका उत्तर गुरु दस पद्योंमें देकर अन्तमें लिखते हैं—

आत्मानी शंका करे आत्मा पोते आप। शंकानो करनार ते अचरज एह अमाप ॥

—आत्मा स्वयं ही आत्माकी शंका करती है। परन्तु जो शंका करनेवाला है, वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है।

आगे चलकर आत्माके नित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मुक्ति और उसके साधनपर विवेचन किया गया है। आत्माके कर्तृत्वका विचार करते समय राजचन्द्रजीने ईश्वरकर्तृत्वके विषयमें अनेक विकल्प उठाकर उसका खंडन किया है। तत्पश्चात् मोक्षके उपायके संबंधमें शिष्य शंका करता है कि "संसारमें अनेक मत और दर्शन मौजूद हैं। ये सब मत और दर्शन भिन्न भिन्न प्रकारसे मोक्षके उपाय बताते हैं। इसलिये किस जातिसे और किस वेषसे मोक्ष हो सकता है, इस बातका निश्चय होना कठिन है। अतएव मोक्षका उपाय नहीं बन सकता"? इस शंकाका गुरुने नीचे लिखा समाधान किया है:—

छोडी मत दर्शनतणो आग्रह तेम विकल्प। कह्यो मार्ग आ साधशे जन्म तेहना अल्प ॥
जाति वेषनो भेद नहीं कह्यो मार्ग जो होय। साधे ते मुक्ति लहे एमां भेद न कोय ॥

—यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर जो उपर कहे हुए मार्गका साधन करेगा, उसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। तथा मोक्ष किसी भी जाति अथवा वेषसे

१ उपाध्याय यशोविजयजीने 'सम्यक्त्वनां षट्स्थान स्वरूपनी चौपाई'में इन छह पदोंका निम्न गाथामें उल्लेख किया है:—

अत्थि जीवो तहा णिच्चं कत्ता भुत्ता य पुण्णपावाणं।
अत्थि धुवं णिव्वाणं तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥

हो सकता है—इसमें कुछ भी भेद नहीं। मोक्षमें ऊँच नीचका कोई भी भेद नहीं; जो उसकी साधना करता है, वह उसे पाता है।

अन्तमें ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए लिखते हैं:—

आत्मभ्रांतिसम रोग नहीं सद्गुरु वैद्य सुजान। गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं औषध विचार ध्यान।
जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ। भवस्थिति आदि नाम लइ छेदो नहीं आत्मार्थ॥
गच्छमतनी जे कल्पना ते नहीं सद्व्यवहार। भान नहीं निजरूपनुं ते निश्चय नहीं सार।
आगळ ज्ञानी थई गया वर्त्तमानमां होय। थाशे काल भविष्यमां मार्गभेद नहीं कोय॥

—आत्माको जो अपने निजस्वरूपका भान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई भी सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं; सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चलनेके समान दूसरा कोई भी पथ्य नहीं; और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औषध नहीं। यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो। गच्छमतकी जो कल्पना है वह सद्व्यवहार नहीं। जीवको अपने स्वरूपका तो भान नहीं—जिस तरह देह अनुभवमें आती है, उस तरह आत्माका अनुभव तो हुआ नहीं—वल्कि देहाध्यास ही रहता है—और वह वैराग्य आदि साधनके प्राप्त किये बिना ही निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, किन्तु वह निश्चय सारभूत नहीं है। भूतकालमें जो ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, वर्त्तमानकालमें जो मौजूद हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे, उनका किसीका भी मार्ग भिन्न नहीं होता।

आत्मसिद्धिशास्त्रका नाम यथार्थ ही है। इससे राजचन्द्रजीके गंभीर और विशाल चिन्तनकी थाह मिलती है। सौभागभाईने आत्मसिद्धिके विषयमें एक जगह लिखा है:—"उस उत्तमोत्तम शास्त्रके विचार करनेसे मन, वचन और काययोग सहज आत्मविचारमें प्रवृत्ति करते थे। बाह्य प्रवृत्तिमें मेरी चित्तवृत्ति सहज ही रुक गई—आत्मविचारमें ही रहने लगी। बहुत परिश्रमसे मेरे मन, वचन, काय जो अपूर्व आत्मपदार्थमें परम प्रेमसे स्थिर न रह सके, सो इस शास्त्रके विचारसे सहज स्वभावमें, आत्मविचारमें तथा सद्गुरुचरणमें स्थिरभावसे रहने लगे।"

आत्मसिद्धिके अंग्रेजी, मराठी, संस्कृत और हिन्दी भाषान्तर भी हुए हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद स्वयं गांधीजीने दक्षिण अफ्रिकासे करके श्रीयुत मनसुखराम रवजीभाईके पास भेजा था, परन्तु असावधानीसे वह कहीं गुम गया।

इसके बाद, तीसवें वर्षमें राजचन्द्रजी **जैनमार्गविवेक, मोक्षसिद्धांत** और **द्रव्यप्रकाश** नामक निबंध भी लिखना चाहते थे। राजचन्द्रजीके ये तीनों लेख ६९४-६४७, ९-३० में अपूर्णरूपसे दिये गये हैं।

इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने सद्बोधसूचक प्रास्ताविक काव्य, स्वदेशीओने विनंति (सौराष्ट्रदर्पण अक्टोबर १८८५ में प्रकाशित), श्रीमंतजनोने शिखामण (सौराष्ट्रदर्पण अक्टोबर १८८५), हुन्नर कळा वधारवाविषे (नवम्बर १८८५), आर्यप्रजानी पडती (विज्ञानविलास अक्टोबर, नवम्बर, दिसम्बर १८८५), शूरवीरस्मरण (बुद्धिप्रकाश दिसम्बर १८८५), खरो श्रीमंत कोण (बुद्धिप्रकाश दिसम्बर १८८५), वीरस्मरण (बुद्धिप्रकाश),[1] तथा १६ वर्षसे पूर्व और अवधानमें रचे हुए आदि अनेक काव्योंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने हिन्दीमें भी काव्य लिखे हैं। इनके गुजराती और हिन्दी काव्य प्रस्तुत ग्रंथमें अमुक अमुक स्थलोंपर हिन्दी अनुवादसहित दिये गये हैं। इन काव्योंमें 'अपूर्व अवसर एवो क्योर आवशे' आदि काव्य गांधीजीकी आश्रम-भजनावलिमें भी लिया गया है। राजचन्द्रजीका 'निरखी ने नवयौवना' आदि काव्य भी गांधीजीको बहुत प्रिय है। 'नमिराज' नामका एक स्वतंत्र काव्य-ग्रंथ भी राजचन्द्रजीका बनाया हुआ कहा जाता है। इस काव्यमें पाँच हजार पद्य हैं, जिन्हें राजचन्द्रजीने कुल छह दिनमें लिखा था।

अनुवादात्मक रचनायें

राजचन्द्रजीके अनुवादात्मक ग्रंथोंमें कुन्दकुन्दका पंचास्तिकाय और दशवैकालिक सूत्रकी कुछ

१ ये सब काव्य मुझे श्रीयुत दामजी केशवजीकी कृपासे देखनेको मिले हैं।

गाथायें मुख्य हैं। ये दोनों प्रस्तुत ग्रंथमें क्रमसे ७००-६५७-३० और ३७-१४७-२१ में दिये गये हैं। इसके अलावा श्रीमद् राजचन्द्रने द्रव्यसंग्रह, बनारसीदासका समयसारनाटक, मणिरत्नमाला आदि बहुतसे ग्रंथोंके अंशोंका भाव अथवा शब्दशः अनुवाद अनेक स्थलोंपर दिया है। गुणभद्रसूरिके आत्मानुशासन और समंतभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारके कुछ अंशका अनुवाद भी राजचन्द्रजीने किया था।

विवेचनात्मक रचनायें

राजचन्द्रजीने अनेक ग्रन्थोंका विवेचन भी लिखा है। इनमें बनारसीदास, आनंदघन, चिदानन्द, यशोविजय आदि विद्वानोंके ग्रन्थोंके पद्य मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने बनारसीदासके समयसारनाटकका खूब मनन किया था। वे बनारसीदासके समयसारके पद्योंको पढ़कर आत्मानंदसे उन्मत्त हो जाते थे। समयसारके पद्योंको राजचन्द्रजीने जगह जगह उद्धृत किया है। कुछ पद्योंका राजचन्द्रजीने विवेचन भी लिखा है। बनारसीदासजीकी तरह आनन्दघनजीको भी राजचन्द्र बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। उनकी आनन्दघनचौबीसीका राजचन्द्रजीने विवेचन लिखना आरंभ किया था, परन्तु वे उसे पूर्ण न कर सके। यह अपूर्ण विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थमें ६९२-६३५-३० में दिया गया है। आनन्दघनचौबीसीके अन्य भी अनेक पद्य राजचन्द्रजीने उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने 'स्वरोदयज्ञान' का विवेचन लिखना भी शुरु किया था। यह विवेचन अपूर्णरूपसे ९-१२८,९-१९ में दिया गया है। यशोविजयजीकी आठ दृष्टिनी सज्झायके 'मन महिलानुं वहाला उपरे' आदि पद्यका भी राजचन्द्रजीने विवेचन लिखा है। इसके अतिरिक्त राजचन्द्रजीने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र, स्वामी समंतभद्रकी आप्तमीमांसा और हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मंगलाचरणका सामान्य अर्थ भी लिखा है।

उपसंहार

राजचन्द्र अलौकिक क्षयोपशमके धारक एक असाधारण पुरुष थे। त्याग और वैराग्यकी वे मूर्त्ति थे। अपनी वैराग्यधारामें वे अत्यंत मस्त रहते थे, यहाँतक कि उन्हें खाने, पीने, पहिनने, उठने, बैठने आदितककी भी सुध न रहती थी। हरिदर्शनकी उन्हें अतिशय लगन थी। मुक्तानन्दजीके शब्दोंमें उनकी यही रटन थीः—

> हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे।
> मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे ओधा जीवनदोरी अमारी रे॥

'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे'—आदि पद्यकी रचना भी राजचन्द्रजीने इसी अतिशय वैराग्य भावनासे प्रेरित होकर की थी। राजचन्द्रजीका वैराग्य सच्चा वैराग्य था। उनमें दंभ अथवा कपटका तो लेश भी न था। जो कुछ उनके अनुभवमें आता, उसे वे अत्यन्त स्पष्टता और निर्भयतापूर्वक दूसरोंके समक्ष रखनेमें सदा तैय्यार रहते थे। प्रतिमापूजन, क्षायिक समकित, केवलज्ञान आदि सैद्धांतिक प्रश्नोंके ऊपर अपने स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रकट करनेमें राजचन्द्रजीने कहीं जरा भी संकोच अथवा भय प्रदर्शित नहीं किया। अपनी स्वात्मदशाका वे सदा निरीक्षण करते रहते थे, और अपनी जैसीकी तैसी दशा पत्रोंद्वारा मुमुक्षुओंको लिख भेजते थे। 'निर्विकल्प समाधि पाना अभी बाकी है,' 'अपनी न्यूनताको पूर्णता कैसे कह दूँ,'[१] 'मैं अभी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा हूँ,' 'मैं यथायोग्य दशाका अभी मुमुक्षु हूँ' इत्यादि रूपमें वे अपनी अपूर्णताको मुमुक्षुओंको सदा लिखते ही रहते थे।[२]

---

१ श्रीमदनी जीवनयात्रा पृ. ८८.

२ राजचन्द्रजीने अपनी अपूर्ण अवस्थाका जगह जगह निम्न प्रकारसे प्रदर्शन किया है:— "अहो! अनंत भवके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको तुम चाहते हो और उससे धर्मकी इच्छा करते हो। परन्तु वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है! यदि वह

अहिंसा

जैनधर्मके अहिंसा तत्त्वको राजचन्द्रजीने ठीक ठीक समझा था; और इतना ही नहीं, उन्होंने इस तत्त्वको अपने जीवनमें उतारा था। उनकी दृढ़ मान्यता थी हरिदर्शनका मार्ग—आत्मचिंतनका मार्ग—शूरवीरोंका मार्ग है, इसमें कायर लोगोंका काम नहीं है। इस संबंधमें गांधीजीके २७ प्रश्नोंका उत्तर देते समय राजचन्द्रजीने जो उनके अन्तिम प्रश्नका उत्तर लिखा है, वह पढ़ने योग्य है:—

" प्रश्नः—यदि मुझे सर्प काटने आवे तो उस समय मुझे काटने देना चाहिये या उसे मार डालना चाहिये ? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

उत्तरः—सर्पको तुम्हें काटने देना चाहिये, यह काम बतानेके पहिले तो कुछ सोचना पड़ता है, फिर भी यदि तुमने यह जान लिया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इस असारभूत देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्रीति है, ऐसे सर्पको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है ? जिसे आत्म-हितकी चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् यदि किसीको आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये ? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिभ्रमण करना चाहिये; अर्थात् सर्पको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं ? यदि अनार्य-वृत्ति हो तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय; परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो यही इच्छा करना योग्य है।"

भले ही अहिंसाका यह स्वरूप वैयक्तिक कहा जा सकता हो, परन्तु कहना पड़ेगा कि राजचन्द्रजीके जीवनमें अहिंसाका बहुत उच्च स्थान था। इस संबंधमें 'क्या भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है ?' इस विषयपर जो राजचन्द्रजीका गुजरातके साक्षर महीपत रामरूपरामके साथ प्रश्नोत्तर हुआ है, वह भी ध्यानसे पढ़ने योग्य है।

सत्यशोधन

राजचन्द्रजीके जीवनमें सत्यशोधनके लिये—जीवनशोधनके लिये—आदिसे लगाकर अंततक अखंड मंथन चला है, जो उनके लेखोंसे जगह जगह स्पष्ट मालूम होता है। एक ओर तो गृहस्थाश्रममें रह-कर अपने कुटुम्बका पालन-पोषण और व्यापारकी महान् उपाधि, और दूसरी ओर आत्मसाक्षात्कारकी अत्यंत प्रबल भावना—इन दोनों बातोंका मेल करनेके लिये—समन्वय करनेके लिये—राजचन्द्रजीको आकाश-पाताल एक करना पड़ा है। पद पदपर व्यवहारोपाधि उनके मार्गमें आकर खड़ी हो जाती है—उन्हें आगे बढ़नेसे इन्कार करती है। पर राजचन्द्र तो अपने 'प्राणोंको हथेलीमें रखकर' निकले हैं, और वे 'उपाधिकी भीड़'को चीरकर आगे धँसते ही चले जाते हैं। जैन समाजके कतिपय गृहस्थ और साधुओंने उनका घोर विरोध किया; उनके साहित्यको न पढ़नेकी प्रतिज्ञा ली; जिस रास्तेसे वे जाते हों, उस ओर न देखने तकका प्रण किया; किसीने उन्हें दंभी कहा, किसीने उत्सूत्रभाषी, किसीने अहंकारी, और किसीने

निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी होता। अच्छा, तुम्हें उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है, उसका क्या कुछ मूल कारण मालूम हुआ है ? इसके ऊपर की हुई श्रद्धा, और उसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगता है न ? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी करना, और ऐसा करनेमें वह प्रसन्न है।" "अब अन्तकी निर्विकल्प समाधि पाना ही बाकी रही है, जो सुलभ है, और उसके पानेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृत-सागरका अवलोकन करते हुए थोड़ीसी भी मायाका आवरण बाधा न पहुँचा सके, अवलोकन सुखका किंचिन्मात्र भी विस्मरण न हो जाय; एक तू ही तूके बिना दूसरी रटन न रहे; और मायामय किसी भी भयका, मोहका, संकल्प और विकल्पका एक भी अंश बाकी न रह जाय।" "यथायोग्य दशाका अभी मैं मुमुक्षु हूँ। कितनी ही प्राप्ति है, परन्तु सर्वपूर्णता प्राप्त हुए बिना इस जीवको शांति मिले ऐसी दशा जान नहीं पड़ती।" "अभी हमारी प्रसन्नता अपने ऊपर नहीं है, क्योंकि जैसी चाहिये वैसी असंगदशासे वर्तन नहीं होता; और मिथ्या प्रबंधमें वास है।"

क्रियोत्थापक कहा, पर राजचन्द्र तो इन सब विरोधोंकी जरा भी परवाह न करके एकाग्रयोगसे निज लक्ष्यकी ओर अग्रेसर ही होते गये। आगे बढ़कर पीछे हटना तो उन्हें आता ही न था। राजचन्द्रजीमें धर्म और व्यवहारका बहुत सुन्दर मेल था—उन्होंने प्रवृत्ति-निवृत्तिका सुन्दर समन्वय किया था। वे एक बड़े भारी व्यापारी होकर भी सत्यतापूर्वक ही अपना व्यापार चलाते थे। व्यापारके उन्होंने अनेक नियम बाँधे थे। वे तदनुसार ही अपना कारोबार करते थे। निस्सन्देह इतनी बड़ी व्यापारोपाधिमें रहते हुए आत्मचिंतनकी इतनी उच्च दशाको प्राप्त साधक पुरुष इनेगिने ही निकलेंगे। राजचन्द्र शुष्कज्ञानकी तरह क्रियाजड़ताका भी निषेध करते थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य क्रियाओंको ही वे न मानते थे। उन्होंने ज्ञान और चारित्रका, धर्म और व्यवहारका अपने जीवनमें समुचित समन्वय किया था।

समाज-सुधार

राजचन्द्रजीकी दूसरी असाधारण बात यह थी कि तत्त्वज्ञानी होनेके साथ वे एक उग्र सुधारक भी थे। स्त्रीनीतिबोधककी अर्पणपत्रिकामें राजचन्द्रजीने एक पद्य निम्न प्रकारसे लिखा है:—

बहु हर्ष छे देश सुधारवामां बहु हर्ष छे सुनीति धारवामां।
घणा सद्गुणो जोईने मोह पामुं वधुं शुं वदुं हुं मुखेथी नकामुं।

इस परसे मालूम होता है कि राजचन्द्रजीको देशोन्नतिके कामोंमें भी बहुत रुचि थी, और इसी कारण उन्होंने स्त्रियोपयोगी, कलाकौशल आदिको प्रोत्साहित करनेसंबंधी, श्रीमंत लोगोंके कर्त्तव्यसंबंधी आदि देश और समाजोन्नतिविषयक अनेक काव्य आदिकी रचना की थी। वे स्वयं श्रीमंत और धीमंत लोगोंकी एक महान् समाजकी स्थापना करना चाहते थे। 'श्रीमंत जनोने शिखामण' नामक काव्यमें राजचन्द्रजीने श्रीमंतोंको शिक्षा देते हुए "पुनर्लग्न थवा करो ठामे ठाम प्रयत्न" लिखकर स्पष्टरूपसे पुनर्लग्नका भी समर्थन किया है। जैन साधु-संस्थाकी अधोगति देखकर तो उन्हें अत्यन्त दया आती थी। वे कहा करते थे कि 'सच्चा गुरु वही हो सकता है जिसका ग्रंथि-भेद हो गया है'। 'जो लोग मोहगर्भित अथवा दुःखगर्भित वैराग्यसे दीक्षा ले लेते हैं, ऐसे साधु पूजनीय नहीं हैं।' उन्होंने यहाँतक लिख दिया है कि 'आजकलके जैन साधुओंके मुँहसे सूत्र श्रवण करना भी योग्य नहीं। तथा हालमें जैनधर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिती नहीं समझना, उन्हें दान देनेमें हानि नहीं है, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते; वेष कल्याण नहीं करता। जो साधु केवल बाह्यक्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं। ज्ञान तो वह है जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं—संसारपरसे सच्ची प्रीति घट जाती है—जीव सच्चेको सच्चा समझने लगता है। जिससे आत्मामें गुण प्रकट हों वह ज्ञान।' इससे मालूम होता है कि राजचन्द्र आजकलकी साधुसंस्थामें भी क्रांति करना चाहते थे। वीरचंद राघवजी गांधीको चिकागोकी सर्व धर्मपरिषदमें न भेजनेके संबंधमें जब जैन समाजमें बड़ी भारी खलबली मची थी, उस समय भी राजचन्द्रजीने बहुत निर्भयतापूर्वक खूब जोरदार शब्दोंमें अपना अभिमत प्रकट किया था। उनके शब्द निम्न प्रकारसे हैं:—"धर्मका लौकिक बड़प्पन, मान-महत्त्वकी इच्छा, यह धर्मका द्रोहरूप है। धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्र आदि भेजनका निषेध करनेवाले—नगारा बजाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान-महत्व बड़प्पनका सवाल आता है, वहाँ इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसंबंधी मान आदिका सवाल ही मुख्य सवाल है—यह धर्मद्रोह ही है। वीरचंद गांधीको विलायत भेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है। जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोभाग्य!"

हरी वनस्पतिको सुखाकर खानेवाले और समझे बिना प्रतिक्रमण करनेवाले लोगोंका भी राजचन्द्रजीने खूब हास्ययुक्त चित्रण किया है, जो पहले आ चुका है, इसी तरह इनॉक्युलेशन (महामारीका टीका) आदि क्रूर प्रथाओंका भी राजचन्द्रजीने घोर विरोध करके अपनी समाज-सुधारक लोकोपकारक वृत्तिका परिचय दिया है।

आत्मज्ञान और पुरुषार्थ

राजचन्द्रजी कहते थे कि धर्म बहुत गुप्त वस्तु है; धर्म बहुत व्यापक है। वह किसी बाड़ेमें रहकर, अमुक वेष अथवा अमुक स्थितिमें रहकर नहीं मिलता—वह तो अंतर्शोधनसे ही प्राप्त होता है।[1] शास्त्रमें केवल मार्ग कहा है, मर्म नहीं। गुणठाणाओं आदिके भेद केवल समझनेके लिये हैं। निस्तारा तो अनुभवज्ञानसे ही होता है। जिससे आत्माको निजस्वरूपकी प्राप्ति हो, जो धर्म संसार-क्षय करनेमें बलवान हो, वही धर्म सबसे उत्तम धर्म है—वही आर्यधर्म है। सब शास्त्रों और सब विचारणाओंका उद्देश भी इसीकी प्राप्ति करना है। आत्मापेक्षासे कुनबी, मुसलमान बनिये आदिमें कुछ भी भेद नहीं है। जिसका यह भेद दूर हो गया है, वही शुद्ध है। भेद भासित होना यह अनादिकी भूल है। कुलाचारके अनुसार किसी बातको सच्चा मान लेना यही कषाय है। जिसे संतोष आया हो, जिसकी कषाय मंद पड़ गई हो, वही सच्चा श्रावक है, वही सच्चा जैन,[2] वही सच्चा ब्राह्मण और वही सच्चा वैष्णव है—इत्यादि विचारोंसे राजचन्द्रजीका वचनामृत यत्रतत्र भरा पड़ा है। राजचन्द्र कहा करते थे कि जीवने बाह्य वस्तुओंमें वृत्ति कर रक्खी है। अपने निजस्वरूपको समझे बिना जीव पर पदार्थोंको नहीं समझ सकता। श्रेयकारी निजस्वरूपका ज्ञान जबतक प्रकट नहीं होता तबतक परद्रव्यका चाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर लो, वह किसी भी कामका नहीं। इसलिये राजचन्द्रजी लिखते हैं कि 'आत्मा एक है अथवा अनेक, आदि छोटी छोटी शंकाओंके लिये, आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें अटक जाना ठीक नहीं है। एक-अनेक आदिका विचार बहुत दूर दशाके पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये।' महात्मा बुद्धकी तरह राजचन्द्रजी कहा करते थे कि 'जैसे रास्तेमें चलते हुए किसी आदमीके सिरकी पगड़ी काँटोंमे उलझ जाय, और उसकी मुसाफिरी अभी बाकी रही हो; तो पहिले तो जहाँतक बने उसे काँटोंको हटाना चाहिये; किन्तु यदि काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ ठहरकर; रातभर वहीं न बिता देना चाहिये, परन्तु पगड़ीको वहीं छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये। उसी तरह छोटी छोटी शंकाओंके लिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें जीवको रुके नहीं रहना चाहिये।' राजचन्द्रजीका कहना था कि लोग इस कालमें केवलज्ञान, क्षायिक समकित आदिका निषेध करते हैं; परन्तु उन बातोंके लिये प्रयत्नशील होते नहीं। यदि उनकी प्राप्तिके लिये जैसा चाहिये वैसा प्रयत्न किया जाय तो निश्चयसे वे गुण प्राप्त हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो कारीगरी तथा राज्य प्राप्त किया, और हिन्दुस्तानवालोंने उद्यम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे विद्या (ज्ञान) का व्यवच्छेद होना नहीं कहा जा सकता। भवस्थिति, पंचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शंकाओंसे जीवने बाह्यवृत्ति कर रक्खी है। परन्तु यदि ऐसे जीव पुरुषार्थ करें, और पंचमकाल मोक्ष होते समय हाथ पकड़ने आवे, तो उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नहीं, अथवा जाज्वल्यमान अग्नि नहीं। मुफ्तमें ही

---

१ चिदानन्दजीने भी एक जगह कहा है—

वस्तुस्वभाव धरम सुधी कहत अनुभवी जीव।
मूरख कुल आचारकूं जाणत धरम सदीव॥ स्वरोदयज्ञान ३७३.

२ जैन विद्वान् यशोविजयजीने सच्चे जैनका लक्षण इस तरह लिखा है:—

कहत कृपानिधि सम-जल झीले, कर्म-मैल जो धोवे।
बहुल पाप-मल अंग न धारे, शुद्ध रूप निज जोवे। परम०।
स्याद्वाद पूरन जो जाने नयगर्भित जस वाचा।
गुन पर्याय द्रव्य जो बूझे, सोई जैन है साचा॥

तुलना करो—न जटा हि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो—धम्मपद ब्राह्मणवग्गो ११.

—अर्थात् जटासे, गोत्रसे और जन्मसे ब्राह्मण नहीं कहा जाता। जिसमें सत्य और धर्म हो वही शुचि है और वही ब्राह्मण है।

जीवको भड़का रक्खा है। जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसको लेकर बहाना ढूँढना है। आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता? इसने बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं; और कैसे विचार कर उनको रेलवेके काममें लिया है। यह तो केवल बाहरका काम है, फिर भी विजय प्राप्त की है। आत्माका विचार करना, यह कुछ बाहरकी बात नहीं। दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाय—ऐसा कहा है। रेलवे इत्यादि चाहे जैसा भी पुरुषार्थ क्यों न करें, तो भी दो घड़ीमें तैय्यार नहीं होती, तो फिर केवलज्ञान कितना सरल है, इसका विचार तो करो!

अत्यंत त्वरासे प्रवास

ऊपर आ चुका है कि राजचन्द्र संसारके नाना मतमतांतरोंसे बहुत दुःखी थे। वे अनुभव करते थे कि 'समस्त जगत् मतमतांतरोंसे ग्रस्त है; जनसमुदायकी वृत्तियाँ विषय कषाय आदिसे विषम हो गई हैं; राजसी वृत्तिका अनुकरण लोगोंको प्रिय हो गया है; विवेकियोंकी और यथायोग्य उपशम-पात्रोंकी छायातक भी नहीं मिलती; निष्कपटीपना मनुष्योंमेंसे मानों चला ही गया है; सन्मार्गके अंशका शतांश भी कहीं भी दृष्टि नहीं पड़ता; और केवलज्ञानका मार्ग तो सर्वथा विसर्जित ही हो गया है'। यह सब देखकर राजचन्द्रजीको अत्यंत उद्वेग हो आता था, और उनकी आँखोंमें आँसू आ जाते थे। वे बहुत बार कहा करते थे कि "चारों ओरसे कोई बरछियाँ भोंक दे तो वह मैं सह सकता हूँ, परन्तु जगत्में जो झूठ, पाखंड और अत्याचार चल रहा है, धर्मके नामपर जो अधर्म चल रहा है, उसकी बरछी सहन नहीं हो सकती। उन्हें समस्त जगत् अपने सगेके समान था। अपने भाई अथवा बहनको मरते देखकर जो क्लेश अपनको होता है, उतना ही क्लेश उन्हें जगत्में दुःखको—मरणको—देखकर होता था[1]"।

इस तरह एक ओर तो राजचन्द्रजी संसार-तापसे संतप्त थे, और दूसरी ओर उन्हें व्यापारकी अत्यंत प्रबलता थी। इससे राजचन्द्रजीको अत्यंत शारीरिक और मानसिक श्रम उठाना पड़ा। उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता ही गया। स्वास्थ्य सुधारनेके लिये राजचन्द्रजीको धरमपुर, अहमदाबाद, वढ़वाण कैम्प और राजकोट रक्खा गया, उन्हें रोगमुक्त करनेके लिये विविध प्रकारके उपचार आदि किये गये, पर सब कुछ निष्फल हुआ। [2] कालको राजचन्द्र जैसे अमोल रत्नोंका जीवन प्रिय न हुआ, और उन्हें इस नश्वर देहको छोड़ना पड़ा। कहते हैं कि संवत् १९५६ में राजचन्द्रजीने व्यवहारोपाधिसे निवृत्ति लेकर स्त्री और लक्ष्मीका त्याग कर, अपनी माताजीकी आज्ञा मिलनेपर, संन्यास ग्रहण करनेकी तैय्यारी भी कर ली थी। पर "बहुत त्वरासे प्रवास पूरा करना था; बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत बोझा था, उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाय, उस तरह व्यवस्था करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान विश्राम ग्रहण किया।" राजचन्द्रजीकी आत्मा इस विनश्वर शरीरको छोड़कर कूच कर गई। मृत्युसमय राजचन्द्रजीका वजन १३२ पौंडसे घटकर कुल ४३—४४ पौंड रह गया था। उन्होंने मृत्युके कुछ दिन पहले जो काव्य रचा था, वह 'अंतिम संदेश' के नामसे प्रस्तुत ग्रंथमें पृष्ठ ८०२ पर दिया गया है।

श्रीमद्के लघुभ्राता श्रीयुत मनसुखभाईने राजचन्द्रजीकी अंतिम अवस्थाका वर्णन निम्न शब्दोंमें किया है—"देहत्यागके पहले दिन सायंकालको उन्होंने रेवाशंकर भाई, नरभेराम तथा मुझे कहा—'तुम निश्चिंत रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाली है। तुम शांत और समाधिभावसे वर्त्तन करना। जो रत्नमय ज्ञान-वाणी इस देहद्वारा कही जा सकती, उसके कहनेका

---

१ गांधीजीका संवत् १९७८ में अहमदाबादमें दिया हुआ व्याख्यान.

२ राजचन्द्रजीके देहोत्सर्गके विषयमें अहमदाबाद जयन्तीपर गांधीजीने जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं:—

रायचंदभाईनो देह एटली नानी उमरे पडी गयो तेनुं कारण मने एज लागे छे। तेमने दरद हतुं ए खरुं, पण जगतना तापनुं जे दरद तेमने हतुं ते असह्य हतुं। पेलुं शारीरिक दरद तो जो एकलुं होत तो जरूर तेओ तेने जीती शक्या होत। पण तेमने थयुं के आवा विषम काळमां आत्मदर्शन केम थई शके? दयाधर्मनी ए निशानी छे।

समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।' रातके अढाई बजे उन्हें अत्यंत सरदी हुई। उस समय उन्होंने कहा, 'निश्चिंत रहना। भाईकी समाधि मृत्यु है।' उपाय करनेपर सरदी दूर हो गई। सबेरे पौने आठ बजे उन्हें दूध दिया। उनके मन, वचन और काय बिलकुल सम्पूर्ण शुद्धिमें थे। पौने नौ बजे उन्होंने कहा—'मनसुख! दुःखी न होना। मांको ठीक रखना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ'। (उनके कहनेसे उन्हें दूसरे कोचपर लिटाया, वहाँ) वह पवित्र देह और आत्मा समाधिस्थ भावसे छूट गये। लेशमात्र भी आत्माके छूट जानेके चिह्न मालूम न हुए। लघुशंका, दीर्घशंका, मुँहमें पानी, आँखमें पानी अथवा पसीना कुछ भी न था।" इस तरह संवत् १९५७ में चैत्रवदी ५ मंगलवार दोपहरके दो बजे राजकोटमें राजचन्द्रजीने इस नाशमान शरीरका त्याग किया। उस समय राजचन्द्रजीका समस्त कुटुम्ब तथा गुजरात काठियावाड़के बहुतसे मुमुक्षु वहाँ उपस्थित थे।

राजचन्द्रजीकी सेवायें

यद्यपि राजचन्द्र इस समय अपनी देहसे मौजूद नहीं है, परन्तु वे परोक्षरूपसे बहुत कुछ छोड़ गये हैं। उनके पत्र-साहित्यमें उनका मूर्तिमानरूप जगह जगह दृष्टिगोचर होता है। गांधीजीके शब्दोंमें "उनके लेखोंमें सत् नितर रहा है। उन्होंने जो कुछ स्वयं अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये एक लाइन भी उन्होंने लिखी हो, यह मैंने नहीं देखा।" निम्नलिखित कुछ उद्धरण गांधीजीके उक्त वाक्योंकी साक्षी देनेके लिये पर्याप्त हैं:—

"हे जीव! तू भ्रममें मत पड़; तुझे हितकी बात कहता हूँ। सुख तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

अंतरमें सुख है। बाहर नहीं। तुझे सत्य कहता हूँ।
हे जीव! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।
सुख अंतरमें ही है, वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

हे जीव! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है। उसे न कर।

संतोषवाला जीव सदा सुखी, तृष्णावाला जीव सदा भिखारी।"

इत्यादि अन्तस्तलस्पर्शी हार्दिक उद्गारोंसे राजचन्द्रजीका वचनामृत भरा पड़ा है।

स्वयं महात्मा गांधीके जीवनपर जो राजचन्द्रजीकी छाप पड़ी है, उसे उन्होंने अनेक स्थलोंपर स्वीकार किया है। एक जगह गांधीजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—"इसके बाद कितने ही धर्माचार्योंके सम्पर्कमें मैं आया हूँ, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैंने प्रयत्न किया है, पर जो छाप मेरे दिलपर रायचंदभाईकी पड़ी है, वह किसीकी न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तलतक पहुँच जाती। उनकी बुद्धिको मैं आदरकी दृष्टिसे देखता था। उनकी प्रामाणिकतापर भी मेरा उतना ही आदरभाव था। और इससे मैं जानता था कि वे मुझे जान बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जावेंगे, एव मुझे वही बात कहेंगे जिसे वे अपने जीमें ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयोंमें उनका आश्रय लेता।" "मेरे जीवनपर तीन पुरुषोंने गहरी छाप डाली है। टाल्सटाय, रस्किन और रायचंदभाई। टाल्सटायकी उनकी अमुक पुस्तकद्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहारसे, रस्किनकी उनकी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने सर्वोदय रक्खा है—और रायचंदभाईकी उनके साथ गाढ़ परिचयसे। हिंदुधर्ममें जब मुझे शंका पैदा हुई तब उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचंदभाई थे।" राजचन्द्रजी गुजरात काठियावाड़में मुमुक्षु लोगोंका एक वर्ग भी तैय्यार कर गये हैं, जिसमें जैन सम्प्रदायके तीनों फिरकोंके लोग शामिल हैं। इन लोगोंमें जो कुछ भी विचारसहिष्णुता और मध्यस्थभाव देखनेमें आता है, उसे राजचन्द्रजीकी सत्कृपाका ही फल समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त राजचन्द्र अपनी मौजूदगीमें जैन ग्रंथोंके उद्धारके लिये परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी भी स्थापना कर गये हैं। यह मण्डल आजकल रेवाशंकर जगजीवनदास झवेरीके सुयोग्य पुत्र श्रीयुत सेठ

मणिलाल रेवाशंकर झवेरीकी देखरेखमें अपनी सेवा बजा रहा है। इस मण्डलने दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रोंके उद्धारके लिये जो प्रयत्न किया है, और वर्त्तमानमें कर रहा है, उससे जैन समाज काफी परिचित है। यह मण्डल भी श्रीमद् राजचन्द्रका अमुक अंशमें एक जीवंतरूप कहा जा सकता है।

तत्त्वज्ञानका रहस्य

प्रत्येक मनुष्यके जीवनकालमें उत्क्रांति हुआ करती है। बड़े बड़े महान् पुरुषोंके जीवन इसी तरह बनते हैं। राजचन्द्रजीके जीवनमें भी महान् उत्क्रांति हुई थी। पहले पहल हम उनका कृष्णभक्तके रूपमें दर्शन करते हैं। तत्पश्चात् वे जैनधर्मकी ओर आकर्षित होते हैं, और स्थानकवासी जैन सम्प्रदायकी मान्यताओंका पालन करते हैं। क्रमशः उनके दृष्टि-बिन्दुमें परिवर्त्तन होता है, और हम देखते हैं कि जो राजचन्द्र जैनधर्मके प्रति अपना एकान्त आग्रह बतलाते थे वे ही अब कहते है कि 'जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस बातको आत्मा बहुत समयसे भूल गई है; तथा जहाँ कहींसे भी वैराग्य और उपशम प्राप्त हो सके, वहींसे प्राप्त करना चाहिये'। इसके कुछ समय बीतनेके पश्चात् तो हम राजचन्द्रजीको और भी आगे बढ़े हुए देखते हैं। भागवतकी आख्यायिका पढ़कर वे आनन्दसे उन्मत्त हो जाते हैं, और हरि दर्शनके लिये अत्यंत आतुर दिखाई देते हैं—यहाँ तक कि इसके बिना उन्हें खाना, पीना, उठना, बैठना कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और वे अपना भी भान भूल जाते हैं। तात्पर्य यह है कि राजचन्द्रजीको जहाँ कहींसे भी जो उत्तम वस्तु मिली, उन्होंने उसे वहींसे ग्रहण किया—उनको अपने और परायेका जरा भी आग्रह न था। वस्तुतः राजचन्द्रजीके जीवनकी यह बड़ी विशेषता थी। संतकवि आनन्दघनजीके शब्दोंमें राजचन्द्रजीका कथन था:—

दरसन ज्ञान चरण थकी अलख स्वरूप अनेक रे।
निरविकल्प रस पीजिये शुद्ध निरंजन एक रे॥

राजचन्द्रजीने इस निर्विकल्प रसका पान किया था। उपनिषदोंके शब्दोंमें उनकी दृढ मान्यता थी:—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं।

—'जैसे भिन्न भिन्न नदियाँ अपना नामरूप छोड़कर अन्तमें जाकर एक समुद्रमें प्रविष्ट हो जाती हैं, उसी तरह विद्वान नामरूपसे मुक्त होकर दिव्य परमपुरुषको प्राप्त करता है'। अतएव जो संसारमें भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं, वे सब भिन्न भिन्न देश काल आदिके अनुसार लोगोंकी भिन्न भिन्न रुचिके कारण ही उत्पन्न हुए हैं। 'हजारों क्रियाओं और हजारों शास्त्रोंका उपदेश एक उसी आत्मतत्त्वको प्राप्त करनेका है, और यही सब धर्मोंका मूल है'। जिसको अनुभवज्ञान हो गया है, वह षट्दर्शनके वाद-विवादसे दूर ही रहता है। राजचन्द्रजी तो स्पष्ट लिख गये हैं:—

जे गायो ते सघळे एक सकल दर्शने एज विवेक।
समजाव्यानी शैली करी स्याद्वाद समजण पण खरी॥

—अर्थात् जो गाया गया है वह सबमें एक ही है, और समस्त दर्शनोंमें यही विवेक है। समस्त दर्शन समझानेकी भिन्न भिन्न शैलियाँ हैं। इनमें स्याद्वाद भी एक शैली है।

निस्सन्देह राजचन्द्र एक पहुँचे हुए उच्च कोटिके संत थे। वे किसी बाड़ेमें नहीं थे, और न वे बाड़ेमें कल्याण मानते थे। वस्तुतः वे जैनधर्मकी ही नहीं, वरन् भारतवर्षकी एक महान् विभूति थे।

जुबिलीबाग, तारदेव बम्बई }
१-१२-३७ }

जगदीशचंद्र

वहीं तीनों कालका ज्ञान होता है, और देहके रहनेपर भी वहीं निर्वाण है। यह दशा संसारकी अंतिम दशा है। इस दशामें आत्माराम स्वधाममें आकर विराजते हैं ॥ २ ॥

८६

बम्बई, फाल्गुन १९४६

हे जीव! तू भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

सुख तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर ढूँढ़नेसे नहीं मिलेगा।

वह अन्तरका सुख अन्तरंगकी सम-श्रेणीमें है; उसमें स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका विस्मरण कर; आश्चर्य भूल।

सम-श्रेणीमें रहना बहुत दुर्लभ है; क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिलते जाते हैं वैसे वैसे वृत्ति पुनः पुनः चलित होती जाती है; फिर भी उसके चलित न होनेके लिये अचल गंभीर उपयोग रख।

यदि यह क्रम यथायोग्यरूपसे चलता चला जाय तो तू जीवन त्याग कर रहा है, इससे घबड़ाना नहीं, तू इससे निर्भय हो जायगा।

भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

यह मेरा है, प्रायः ऐसे भावकी भावना न कर।

यह उसका है, ऐसा मत मान बैठ।

इसके लिये भविष्यमें ऐसा करना है, यह निर्णय करके न रख।

इसके लिये यदि ऐसा न हुआ होता तो अवश्य ही सुख होता, यह स्मरण न कर।

इतना इसी तरहसे हो जाय तो अच्छा हो, ऐसा आग्रह मत करके रख।

इसने मेरे लिये अनुचित किया, ऐसा स्मरण करना न सीख।

इसने मेरे लिये उचित किया, ऐसा स्मरण न रख।

यह मुझे अशुभ निमित्त है, ऐसा विकल्प न कर।

यह मुझे शुभ निमित्त है, ऐसी दृढ़ता न मान बैठ।

यह न होता तो मैं न फँसता, ऐसा निश्चय न कर।

पूर्वकर्म बलवान हैं, इसीलिये ये सब अवसर मिले हैं, ऐसा एकांत ग्रहण न कर।

यदि अपने पुरुषार्थको सफलता न हुई हो तो ऐसी निराशाका स्मरण न कर।

दूसरेके दोषसे अपनेको बंधन होता है, ऐसा न मान।

अपने निमित्तसे दूसरोंके प्रति दोष करना भूल जाओ।

तेरे दोषसे ही तुझे बंधन है, यह संतकी पहिली शिक्षा है।

दूसरेको अपना मान लेना, और स्वयं अपने आपको भूल जाना, बस इतना ही तेरा दोष है।

सर्व काळनुं छे त्यां ज्ञान, देह छतां त्यां छे निर्वाण;
भव छेवटनी छे ए दशा, राम धाम आवीने वस्या ॥ २ ॥

श्रीमद् राजचन्द्र

१६वें वर्षसे पहले

१

पुष्पमाला

ॐ सत्

१ रात्रि व्यतीत हुई, प्रभात हुआ, निद्रासे मुक्त हुए। भाव-निद्रा हटानेका प्रयत्न करना।

२ व्यतीत रात्रि और गई ज़िन्दगीपर दृष्टि डाल जाओ।

३ सफल हुए वक्तके लिये आनंद मानो, और आजका दिन भी सफल करो। निष्फल हुए दिनके लिये पश्चात्ताप करके निष्फलताको विस्मृत करो।

४ क्षण क्षण जाते हुए अनंतकाल व्यतीत हुआ तो भी सिद्धि नहीं हुई।

५ सफलताजनक एक भी काम तेरेसे यदि न बना हो तो फिर फिर शरमा।

६ अघटित कृत्य हुए हों तो शरमा कर मन, वचन और कायाके योगसे उन्हें न करनेकी प्रतिज्ञा ले।

७ यदि तू स्वतंत्र हो तो संसार-समागममें अपने आजके दिनके नीचे प्रमाणसे भाग बना।

१ पहर—भक्ति-कर्तव्य
१ पहर—धर्म-कर्तव्य
१ पहर—आहार-प्रयोजन
१ पहर—विद्या-प्रयोजन
२ पहर—निद्रा
२ पहर—संसार-प्रयोजन

८

८ यदि तू त्यागी हो तो त्वचाके बिना वनिताका स्वरूप विचारकर संसारकी ओर दृष्टि करना।

९ यदि तुझे धर्मका अस्तित्व अनुकूल न आता हो तो जो नीचे कहता हूँ उसे विचार जाना।

तू जिस स्थितिको भोगता है वह किस प्रमाणसे?

आगामी कालकी बात तू क्यों नहीं जान सकता?

तू जिसकी इच्छा करता है वह क्यों नहीं मिलता?

चित्र-विचित्रताका क्या प्रयोजन है?

१० यदि तुझे अस्तित्व प्रमाणभूत लगता हो और उसके मूलतत्त्वकी आशंका हो तो नीचे कहता हूँ।

११ सब्र प्राणियोंमें समदृष्टि,—

१२ अथवा किसी प्राणीको जीवितव्य रहित नहीं करना, शक्तिसे अधिक उनसे काम नहीं लेना।

१३ अथवा सत्पुरुष जिस रस्तेसे चले वह।

१४ मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं, मात्र दृष्टिमें भेद है, यह मानकर आशय समझ पवित्र धर्ममें प्रवर्त्तन करना।

१५ तू किसी भी धर्मको मानता हो, उसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारको तू सेवन करना।

१६ कितना भी परतंत्र हो तो भी मनसे पवित्रताको विस्मरण किये विना आजका दिन रमणीय करना।

१७ आज यदि तू दुष्कृतमें प्रेरित होता हो तो मरणको याद कर।

१८ अपने दुःख-सुखके प्रसंगोंकी सूची, आज किसीको दुःख देनेके लिये तत्पर हो तो स्मरण कर।

१९ राजा अथवा रंक कोई भी हो, परन्तु इस विचारका विचार कर सदाचारकी ओर आना कि इस कायाका पुद्गल थोड़े वक्तके लिये मात्र साढ़े तीन हाथ भूमि माँगनेवाला है।

२० तू राजा है तो फिकर नहीं, परन्तु प्रमाद न कर। कारण कि नीचसे नीच, अधमसे अधम, व्यभिचारका, गर्भपातका, निर्वंशका, चांडालका, कसाईका और वेश्या आदिका कण तू खाता है। तो फिर?

२१ प्रजाके दुख, अन्याय और कर इनकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन्! कालके घर आया हुआ पाहुना है।

२२ वकील हो तो इससे आधे विचारको मनन कर जाना।

२३ श्रीमंत हो तो पैसेके उपयोगको विचारना। उपार्जन करनेका कारण आज ढूँढ़कर कहना।

२४ धान्य आदिमें व्यापारसे होनेवाली असंख्य हिंसाको स्मरणकर न्यायसंपन्न व्यापारमें आज अपना चित्त खींच।

२५ यदि तू कसाई हो तो अपने जीवके सुखका विचार कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

२६ यदि तू समझदार बालक हो तो विद्याकी ओर और आज्ञाकी ओर दृष्टि कर।

२७ यदि तू युवा हो तो उद्यम और ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि कर।

२८ यदि तू वृद्ध हो तो मौतकी तरफ़ दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश कर।

२९ यदि तू स्त्री हो तो अपने पतिके ओरकी धर्मकरणीको याद कर, दोष हुए हों तो उनकी क्षमा माँग और कुटुम्बकी ओर दृष्टि कर।

३० यदि तू कवि हो तो असंभवित प्रशंसाको स्मरण कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३१ यदि तू कृपण हो तो,—(अपूर्ण)

३२ यदि तू सत्तामें मस्त हो तो नेपोलियन बोनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर।

३३ कल कोई कृत्य अपूर्ण रहा हो तो पूर्ण करनेका सुविचार कर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३४ आज किसी कृत्यके आरंभ करनेका विचार हो तो विवेकसे समय शक्ति और परिणामको विचार कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३५ पग रखनेमें पाप है, देखनेमें जहर है, और सिरपर मरण खड़ा है; यह विचारकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

३६ अघोर कर्म करनेमें आज तुझे पड़ना हो तो राजपुत्र हो, तो भी भिक्षाचरी मान्य कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३७ भाग्यशाली हो तो उसके आनंदमें दूसरोंको भाग्यशाली बनाना, परन्तु दुर्भाग्यशाली हो तो अन्यका बुरा करनेसे रुक कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

३८ धर्माचार्य हो तो अपने अनाचारकी ओर कटाक्ष दृष्टि करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

३९ अनुचर हो तो प्रियसे प्रिय शरीरके निभानेवाले अपने अधिराजकी नमकहलाली चाहकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४० दुराचारी हो तो अपनी आरोग्यता, भय, परतंत्रता, स्थिति और सुख इनको विचार कर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४१ दुखी हो तो आजीविका (आजकी) जितनी आशा रखकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

४२ धर्मकरणीका अवश्य वक्त निकालकर आजकी व्यवहार-सिद्धिमें तू प्रवेश करना।

४३ कदाचित् प्रथम प्रवेशमें अनुकूलता न हो तो भी रोज जाते हुए दिनका स्वरूप विचार कर आज कभी भी उस पवित्र वस्तुका मनन करना।

४४ आहार, विहार, निहारके संबंधमें अपनी प्रक्रिया जाँच करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४५ तू कारीगर हो तो आलस और शक्तिके दुरुपयोगका विचार करके आजके दिनमें प्रवेश करना।

४६ तू चाहे जो धंधा करता हो, परन्तु आजीविकाके लिये अन्यायसंपन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना।

४७ यह स्मरण किये बाद शौचक्रियायुक्त होकर भगवद्भक्तिमें लीन होकर क्षमा माँग।

४८ संसार-प्रयोजनमें यदि तू अपने हितके वास्ते किसी समुदायका अहित कर डालता हो तो अटकना।

४९ जुल्मीको, कामीको, अनाड़ीको उत्तेजन देते हो तो अटकना।

५० कमसे कम आधा पहर भी धर्म-कर्तव्य और विद्या-संपत्तिमें लगाना।

५१ जिन्दगी छोटी है और लंबी जंजाल है, इसलिये जंजालको छोटी कर, तो सुखरूपसे जिन्दगी लम्बी मालूम होगी।

५२ स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी इत्यादि सभी सुख तेरे घर हों तो भी इस सुखमें गौणतासे दुख है ऐसा समझकर आजके दिनमें प्रवेश कर।

५३ पवित्रताका मूल सदाचार है।

५४ मनके दुरंगी हो जानेको रोकनेके लिये,—(अपूर्ण)

५५ वचनोंके शांत मधुर, कोमल, सत्य और शौच बोलनेकी सामान्य प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें प्रवेश करना।

५६ काया मल-मूत्रका अस्तित्व है, इसलिये मैं यह क्या अयोग्य प्रयोजन करके आनंद मानता हूँ ? ऐसा आज विचारना।

५७ तेरे हाथसे आज किसीकी आजीविका टूटती हो तो,—(अपूर्ण)

५८ आहार-क्रियामें अब तूने प्रवेश किया। मिताहारी अकबर सर्वोत्तम बादशाह गिना गया।

५९ यदि आज दिनमें तेरा सोनेका मन हो तो उस समय ईश्वरभक्तिपरायण हो अथवा सत्-शास्त्रका लाभ ले लेना।

६० मैं समझता हूँ कि ऐसा होना दुर्घट है तो भी अभ्यास सबका उपाय है।

६१ चला आता हुआ वैर आज निर्मूल किया जाय तो उत्तम, नहीं तो उसकी सावधानी रखना।

६२ इसी तरह नया वैर नहीं बढ़ाना, कारण कि वैर करके कितने कालका सुख भोगना है? यह विचार तत्त्वज्ञानी करते हैं।

६३ महारंभी—हिंसायुक्त—व्यापारमें आज पड़ना पड़ता हो तो अटकना।

६४ बहुत लक्ष्मी मिलनेपर भी आज अन्यायसे किसीका जीव जाता हो तो अटकना।

६५ वक्त अमूल्य है, यह बात विचार कर आजके दिनकी २१६००० विपलोंका उपयोग करना।

६६ वास्तविक सुख मात्र विरागमें है, इसलिये जंजाल-मोहिनीसे आज अभ्यंतर-मोहिनी नहीं बढ़ाना।

६७ अवकाशका दिन हो तो पहले कही हुई स्वतंत्रतानुसार चलना।

६८ किसी प्रकारका निष्पाप विनोद अथवा अन्य कोई निष्पाप साधन आजकी आनंदनीयताके लिये ढूँढ़ना।

६९ सुयोजक कृत्य करनेमें प्रेरित होना हो तो विलंब करनेका आजका दिन नहीं, कारण कि आज जैसा मंगलदायक दिन दूसरा नहीं।

७० अधिकारी हो तो भी प्रजा-हित भूलना नहीं। कारण कि जिसका (राजाका) तू नमक खाता है, वह भी प्रजाका सन्मानित नौकर है।

७१ व्यवहारिक-प्रयोजनमें भी उपयोगपूर्वक विवेकी रहनेकी सत्प्रतिज्ञा लेकर आजके दिनमें लगना।

७२ सायंकाल होनेके पीछे विशेष शान्ति लेना।

७३ आजके दिनमें इतनी वस्तुओंको बाधा न आवे, तभी वास्तविक विचक्षणता गिनी जा सकती है—१ आरोग्यता २ महत्ता ३ पवित्रता ४ फरज।

७४ यदि आज तुझसे कोई महान् काम होता हो तो अपने सर्व सुखका बलिदान कर देना।

७५ करज नीच रज (क+रज) है, करज यमके हाथसे उत्पन्न हुई वस्तु है, (कर+ज) कर यह राक्षसी राजाका जुल्मी कर वसूल करने वाला है। यह हो तो आज उतारना और नया करज करते हुए अटकना।

७६ दिनके कृत्यका हिसाब अब देख जाना।

७७ सुबह स्मृति कराई है, तो भी कुछ अयोग्य हुआ हो तो पश्चात्ताप कर और शिक्षा ले।

७८ कोई परोपकार, दान, लाभ अथवा अन्यका हित करके आया हो तो आनंद मान कर निरभिमानी रह।

७९ जाने अजाने भी विपरीत हुआ हो तो अब उससे अटकना।

८० व्यवहारके नियम रखना और अवकाशमें संसारकी निवृत्ति खोज करना।

८१ आज जिस प्रकार उत्तम दिन भोगा, वैसे अपनी जिन्दगी भोगनेके लिये तू आनंदित हो तो ही यह० ।—(अपूर्ण)

८२ आज जिस पलमें तू मेरी कथा मनन करता है, उसीको अपनी आयुष्य समझकर सद्वृत्तिमें प्रेरित हो ।

८३ सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार आज ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके ।

८४ आजका दिन सुनहरी है, पवित्र है—कृतकृत्य होनेके योग्य है, यह सत्पुरुषोंने कहा है, इसलिये मान्य कर ।

८५ आजके दिनमें जैसे बने तैसे स्वपत्नीमें विषयासक्त भी कम रहना ।

८६ आत्मिक और शारीरिक शक्तिकी दिव्यताका वह मूल है, यह ज्ञानियोंका अनुभवसिद्ध वचन है।

८७ तमाखू सूँघने जैसा छोटा व्यसन भी हो तो आज पूर्ण कर ।—(०) नया व्यसन करनेसे अटक ।

८८ देश, काल, मित्र इन सबका विचार सब मनुष्योंको इस प्रभातमें स्वशक्ति समान करना उचित है ।

८९ आज कितने सत्पुरुषोंका समागम हुआ, आज वास्तविक आनंदस्वरूप क्या हुआ ? यह चिंतवन विरले पुरुष करते हैं ।

९० आज तू चाहे जैसे भयंकर परन्तु उत्तम कृत्यमें तत्पर हो तो नाहिम्मत नहीं होना ।

९१ शुद्ध, सच्चिदानन्द, करुणामय परमेश्वरकी भक्ति यह आजके तेरे सत्कृत्यका जीवन है ।

९२ तेरा, तेरे कुटुम्बका, मित्रका, पुत्रका, पत्नीका, माता पिताका, गुरुका, विद्वान्का, सत्पुरुषका यथाशक्ति हित, सन्मान, विनय और लाभका कर्तव्य हुआ हो तो आजके दिनकी वह सुगंध है।

९३ जिसके घर यह दिन क्लेश बिना, स्वच्छतासे, शौचतासे, ऐक्यसे, संतोषसे, सौम्यतासे, स्नेहसे, सभ्यतासे और सुखसे बीतेगा उसके घर पवित्रताका वास है ।

९४ कुशल और आज्ञाकारी पुत्र, आज्ञावलम्बी धर्मयुक्त अनुचर, सद्गुणी सुन्दरी, मेलवाला कुटुम्ब, सत्पुरुषके तुल्य अपनी दशा, जिस पुरुषकी होगी उसका आजका दिन हम सबको वंदनीय है ।

९५ इन सब लक्षणोंसे युक्त होनेके लिये जो पुरुष विचक्षणतासे प्रयत्न करता है, उसका दिन हमको माननीय है ।

९६ इससे उलटा वर्त्तन जहाँ मच रहा है, वह घर हमारी कटाक्ष दृष्टिकी रेखा है ।

९७ भले ही अपनी आजीविका जितना तू प्राप्त करता हो परन्तु निरुपाधिमय हो तो उपाधिमय राज-सुख चाहकर अपने आजके दिनको अपवित्र नहीं करना ।

९८ किसीने तुझे कडुआ वचन कहा हो तो उस वक्तमें सहनशीलता—निरुपयोगी भी, (अपूर्ण)

९९ दिनकी भूलके लिये रातमें हँसना, परन्तु वैसा हँसना फिरसे न हो यह लक्षमें रखना ।

१०० आज कुछ बुद्धि-प्रभाव बढ़ाया हो, आत्मिक शक्ति उज्ज्वल की हो, पवित्र कृत्यकी वृद्धि की हो तो वह,— (अपूर्ण)

१०१ अयोग्य रीतिसे आज अपनी किसी शक्तिका उपयोग नहीं करना,—मर्यादा-लोपनसे करना पड़े तो पापभीरु रहना ।

१०२ सरलता धर्मका बीजस्वरूप है। प्रज्ञासे सरलता सेवन की हो तो आजका दिन सर्वोत्तम है।

१०३ बहन, राजपत्नी हो अथवा दीनजनपत्नी हो, परन्तु मुझे उसकी कोई दरकार नहीं। मर्यादासे चलनेवालीकी मैं तो क्या किन्तु पवित्र ज्ञानियोंने भी प्रशंसा की है।

१०४ सद्गुणसे जो तुम्हारे ऊपर जगत्का प्रशस्त मोह होगा तो हे बहन, तुम्हें मैं वंदन करता हूँ।

१०५ बहुमान, नम्रभाव, विशुद्ध अंतःकरणसे परमात्माके गुणोंका चिंतवन–श्रवण–मनन, कीर्तन, पूजा-अर्चा इनकी ज्ञानी पुरुषोंने प्रशंसा की है, इसलिये आजका दिन शोभित करना।

१०६ सत्‌शीलवान सुखी है। दुराचारी दुखी है। यह बात यदि मान्य न हो तो अभीसे तुम लक्ष रखकर इस बातको विचार कर देखो।

१०७ इन सर्वोका सहज उपाय आज कह देता हूँ कि दोषको पहचान कर दोषको दूर करना।

१०८ लम्बी, छोटी अथवा क्रमानुक्रम किसी भी स्वरूपसे यह मेरी कही हुई पवित्रताके पुष्पोंसे गूँथी हुई माला प्रभातके वक्तमें, सायंकालमें अथवा अन्य अनुकूल निवृत्तिमें विचारनेसे मंगलदायक होगी। विशेष क्या कहूँ?

२

काल किसीको नहीं छोड़ता

जिनके गलेमें मोतियोंकी मूल्यवान मालायें शोभती थीं, जिनकी कंठ-कांति हीरेके शुभ हारसे अत्यन्त दैदीप्यमान थी, जो आभूषणोंसे शोभित होते थे, वे भी मरणको देखकर भाग गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ १ ॥

जो मणिमय मुकुट सिरपर धारण करके कानोंमें कुण्डल पहनते थे, और जो हाथोंमें सोनेके कड़े पहनकर शरीरको सजानेमें किसी भी प्रकारकी कमी नहीं रखते थे, ऐसे पृथ्वीपति भी अपना भान खोकर पल भरमें भूतलपर गिरे। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥२॥

जो दसों उँगलियोंमें माणिक्यजडित मांगलिक मुद्रा पहनते थे, जो बहुत शौकके साथ बारीक

काळ कोईने नहि मूके

हरिगीत.

मोती तणी माळा गळामां मूल्यवंती मलकती,
हीरा तणा शुभ हारथी बहु कंठकांति झळकती;
आभूषणोथी ओपता भाग्या मरणने जोइने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोइने ॥ १ ॥
मणिमय मुगट माथे धरीने कर्ण कुंडळ नाखता,
कांचन कडां करमां धरी कशीए कचास न राखता;
पळमां पड्या पृथ्वीपति ए भान भूतळ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काल मूके कोईने ॥ २ ॥
दश आंगळीमां मांगळिक मुद्रा जडित माणिक्यथी,
जे परम प्रेमे पे'रता पोंची कळा बारीकथी;

नक्शीवाली पोंची धारण करते थे, वे भी मुद्रा आदि सब कुछ छोड़कर मुँह धोकर चल दिये, हे मनुष्यो; जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ३ ॥

जो मूँछें बांकीकर अलबेला बनकर मूँछोंपर नींबू रखते थे, जिनके कटे हुए सुन्दर केश हर किसीके मनको हरते थे, वे भी संकटमें पड़कर सबको छोड़कर चले गये, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ४ ॥

जो अपने प्रतापसे छहों खंडका अधिराज बना हुआ था, और ब्रह्माण्डमें बलवान होकर बड़ा भारी राजा कहलाता था, ऐसा चतुर चक्रवर्ती भी यहाँसे इस तरह गया कि मानों उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ५ ॥

जो राजनीतिनिपुणतामें न्यायवाले थे, जिनके उलटे डाले हुए पासे भी सदा सीधे ही पड़ते थे, ऐसे भाग्यशाली पुरुष भी सब खटपटें छोड़कर भाग गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥

जो तलवार चलानेमें बहादुर थे, अपनी टेकपर मरनेवाले थे, सब प्रकारसे परिपूर्ण थे, जो हाथसे हाथीको मारकर केसरीके समान दिखाई देते थे, ऐसे सुभटवीर भी अंतमें रोते ही रह गये। हे मनुष्यो, जानो और मनमें समझो कि काल किसीको नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥

ए पेच वींटी सर्व छोडी चालिया मुख धोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ३ ॥

मुछ वांकडी करी फांकडा थई लींबु धरता ते परे,
कापेल राखी कातरा हरकोईनां हैयां हरे;
ए सांकडीमां आविया छटक्या तजी सहु सोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ४ ॥

छो खंडना अधिराज जे चंडे करीने नीपज्या,
ब्रह्मांडमां बळवान थईने भूप भारे ऊपज्या;
ए चतुर चक्री चालिया होता नहोता होईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ५ ॥

जे राजनीतिनिपुणतामां न्यायवंता नीवड्या,
अवळा कर्ये जेना बधा सवळा सदा पासा पड्या;
ए भाग्यशाळी भागिया ते खटपटो सौ खोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ६ ॥

तरवार बहादुर टेक धारी पूर्णतामां पेखिया,
हाथी हण्यां हाथे करी ए केसरी सम देखिया;
एवा भला भडवीर ते अंते रहेला रोईने,
जन जाणीए मन मानीए नव काळ मूके कोईने ॥ ७ ॥

३

धर्मविषयक

जिसप्रकार दिनकरके विना दिन, शशिके विना शर्वरी, प्रजापतिके विना पुरकी प्रजा, सुरसके विना कविता, सलिलके विना सरिता, भर्ताके विना भामिनी सारहीन दिखाई देते हैं, उसी तरह, रायचन्द्र वीर कहते हैं, कि सद्धर्मको धारण किये विना मनुष्य महान् कुकर्मी कहा जाता है ॥ १ ॥

धर्म विना धन, धाम और धान्यको धूलके समान समझो, धर्म विना धरणीमें मनुष्य तिरस्कारको प्राप्त होता है, धर्म विना धीमंतोंकी धारणायें धोखा खाती हैं, धर्म विना धारण किया हुआ धैर्य धुँवेके समान धुँधाता है, धर्म विना राजा लोग ठगाये जाते है (?), धर्म विना ध्यानीका ध्यान ढोंग समझा जाता है, इसलिये सुधर्मकी धवल धुरंधताको धारण करो धारण करो, प्रत्येक धाम धर्मसे धन्य धन्य माना जाता है ॥२॥

प्रेमपूर्वक अपने हाथसे मोह और मानके दूर करनेको, दुर्जनताके नाश करनेको और जालके फन्दको तोड़नेको; सकल सिद्धांतकी सहायतासे कुमतिके काटनेको, सुमतिके स्थापित करनेको और ममत्वके मापनेको; भली प्रकारसे महामोक्षके भोगनेको, जगदीशके जाननेको, और अजन्मताके प्राप्त करनेको; तथा अलौकिक, अनुपम सुखका अनुभव करनेको यथार्थ अध्यवसायसे धर्मको धारण करो ॥ ३ ॥

धर्म विषे.

कवित्त.

दिनकर विना जेवो, दिननो देखाव दीसे,
शशि विना जेवी रीते, शर्वरी सुहाय छे;
प्रजापति विना जेवी, प्रजा पुरतणी पेखो,
सुरस विनानी जेवी, कविता कहाय छे;
सलिल विहीन जेवी, सरीतानी शोभा अने,
भर्त्तार विहीन जेवी, भामिनी भळाय छे;
वदे रायचंद वीर, सद्धर्मने धार्या विना,
मानवी महान तेम, कुकर्मी कळाय छे ॥ १ ॥
धर्म विना धन धाम, धान्य धुळधाणी धारो,
धर्म विना धरणीमां, धिक्कता धराय छे;
धर्म विना धीमंतनी, धारणाओ धोखो धरे,
धर्म विना धर्युं धैर्य, धुम्र थै धमाय छे;
धर्म विना धराधर, धुताशे, न धामधुमे,
धर्म विना ध्यानी ध्यान, ढोंग ढंगे धाय छे;
धारो धारो धवळ, सुधर्मनी धुरंधरता,
धन्य धन्य धामे धामे, धर्मथी धराय छे ॥ २ ॥
मोह मान मोडवाने, फेलपणुं फोडवाने,
जाळफंद तोडवाने, हेते निज हाथथी;
कुमतिने कापवाने, सुमतिने स्थापवाने,
ममत्वने मापवाने, सकल सिद्धांतथी;
महा मोक्ष माणवाने, जगदीश जाणवाने,
अजन्मता आणवाने, वळी भली भातथी;
अलौकिक अनुपम, सुख अनुभववाने,
धर्म धारणाने धारो, खरेखरी खांतथी ॥ ३ ॥

धर्मके विना प्रीति नहीं, धर्मके विना रीति नहीं, धर्मके विना हित नहीं, यह मैं हितकी बात कहता हूँ; धर्मके विना टेक नहीं, धर्मके विना प्रामाणिकता नहीं, धर्मके विना ऐक्य नहीं, धर्म रामका धाम है; धर्मके विना ध्यान नहीं, धर्मके विना ज्ञान नहीं, धर्मके विना सच्चा भान नहीं, इसके विना जीना किस कामका है ? धर्मके विना तान नहीं, धर्मके विना प्रतिष्ठा नहीं, और धर्मके विना किसी भी वचनका गुणगान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

सुख देनेवाली सम्पत्ति हो, मानका मद हो, क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे वधाई मिलती हो, यह सब किसी कामका नहीं; जवानीका जोर हो, ऐशका उत्साह हो, दौलतका दौर हो, यह सब केवल नामका सुख है; वनिताका विलास हो, प्रौढ़ताका प्रकाश हो, दक्षके समान दास हों, धामका सुख हो, परन्तु रायचन्द्र कहते हैं कि सद्धर्मको विना धारण किये यह सब सुख दो ही कौड़ीका समझना चाहिये ॥५॥

जिसे चतुर लोग प्रीतिसे चाहकर चित्तमें चिन्तामणि रत्न मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंडित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि लोग कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु लोग शुभ क्षेमसे सुधाका सागर मानते हैं, ऐसे धर्मको, यदि उमंगसे आत्माका उद्धार चाहते हो, तो निर्मल होनेके लिये नीति नियमसे नमन करो। रायचन्द्र वीर कहते हैं कि इस प्रकार धर्मका रूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रक्खो और वहमसे लक्ष्यच्युत न होओ ॥ ६ ॥

धर्म विना प्रीत नहीं, धर्म विना रीत नहीं,
धर्म विना हित नहीं, कयुं जन कामनुं;
धर्म विना टेक नहीं, धर्म विना नेक नहीं,
धर्म विना ऐक्य नहीं, धर्म धाम रामनुं;
धर्म विना ध्यान नहीं, धर्म विना ज्ञान नहीं,
धर्म विना भान नहीं, जीव्युं कोना कामनुं ?
धर्म विना तान नहीं, धर्म विना सान नहीं,
धर्म विना गान नहीं, वचन तमामनुं ॥ ४ ॥

साहेबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं;
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दोलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं;
वनिता विलास होय, प्रौढता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं;
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख एतो, बेएज बदामनुं ! ॥ ५ ॥

चातुरो चोंपथी चाही चिंतामणी चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे पारसमणी प्रेमथी;
कवियो कल्याणकारी कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी;
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काज, नमो नीति नेमथी;
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
"धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वे'मथी" ॥ ६ ॥

ॐ

श्रीमोक्षमाला

"जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया"

(निर्ग्रंथप्रवचन)

१ वाचकको अनुरोध

वाचक! यह पुस्तक आज तुम्हारे हस्त-कमलमें आती है। इसे ध्यानपूर्वक बाँचना; इसमें कहे हुए विषयोंको विवेकसे विचारना, और परमार्थको हृदयमें धारण करना। ऐसा करोगे तो तुम नीति, विवेक, ध्यान, ज्ञान, सद्गुण और आत्म-शांति पा सकोगे।

तुम जानते होगे कि बहुतसे अज्ञान मनुष्य न पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़कर अपना अमूल्य समय वृथा खो देते हैं। इससे वे कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं, इस लोकमें अपकीर्ति पाते हैं, और परलोकमें नीच गतिमें जाते हैं।

भाषा-ज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पठन करनेकी नहीं, परन्तु मनन करनेकी है। इससे इस भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित होगा। भगवान्के कहे हुए वचनोंका इसमें उपदेश किया गया है।

तुम इस पुस्तकका विनय और विवेकसे उपयोग करना। विनय और विवेक ये धर्मके मूल हेतु हैं।

तुमसे दूसरा एक यह भी अनुरोध है कि जिनको पढ़ना न आता हो, और उनकी इच्छा हो, तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ़कर सुनाना।

तुम्हें इस पुस्तकमें जो कुछ समझमें न आवे, उसे सुविचक्षण पुरुषोंसे समझ लेना योग्य है।

तुम्हारी आत्माका इससे हित हो; तुम्हें ज्ञान, शांति और आनन्द मिले; तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो; अर्हत् भगवान्से यह शुभ याचना करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ।

२ सर्वमान्य धर्म

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूँछा है, उसे तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ। वह धर्म-तत्त्व सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य है, और सबको हितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्ने भाषणमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है। दोषोंको नष्ट करनेके लिये अभयदानके साथ प्राणियोंको संतोष प्रदान करो ॥ २ ॥

धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने तो संभळावुं स्नेहे तने;
जे सिद्धांत सकळनो सार सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणिने दळवा दोष ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होनेपर ही प्रमाण माने जाते हैं। जिसप्रकार सूर्यके विना किरणें दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार दयाके न होनेपर सत्य, शील और दानमेंसे एक भी गुण नहीं रहता ॥ ३ ॥

जहाँ पुष्पकी एक पँखडीको भी क्लेश होता है, वहाँ प्रवृत्ति करनेकी जिनवरकी आज्ञा नहीं। सब जीवोंके सुखकी इच्छा करना, यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

यह उपदेश सब दर्शनोंमें है। यह एकांत है, इसका कोई अपवाद नहीं है। सब प्रकारसे जिनभगवानका यही उपदेश है कि विरोध रहित दया ही निर्मल दया है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार करनेवाला सुंदर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके संसारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है, इसके विना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते हैं, वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। राजचन्द्र कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

३ कर्मका चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रतायें कहता हूँ। इनपर विचार करोगे तो तुमको परभवकी श्रद्धा दृढ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है और एकको फटीहुई गूदड़ी भी नहीं मिलती। एक भाँति भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पड़ते हैं। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिये घर घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुंदर वस्त्रालंकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमें फटा हुआ कपड़ा भी ओढ़नेको नहीं मिलता। कोई रोगी है और कोई प्रबल है। कोई बुद्धिशाली है और कोई जड़ है। कोई मनोहर नयनवाला है और कोई अंधा है। कोई लूला-लँगड़ा है और किसीके हाथ और पैर रमणीय हैं। कोई कीर्तिमान है और कोई अपयश भोगता है। कोई लाखों अनुचरोंपर हुकम चलाता है और कोई लाखोंके ताने सहन करता है। किसीको देखकर आनन्द होता है और किसीको देखकर वमन होता है। कोई सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला है और कोई अपूर्ण इन्द्रियोंवाला है। किसीको दीन-दुनियाका लेश भी भान नहीं और किसीके दुखका पार भी नहीं।

सत्य शीलने सघळां दान, दया होइने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय जिनवरनी त्यां नहीं आज्ञाय;
सर्व जीवनुं इच्छो सुख, महावीरकी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश; ए एकांत, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं यह शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥
तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचन्द्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

कोई गर्भाधानमें आते ही मरणको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्म लेते ही तुरत मर जाता है। कोई मरा हुआ पैदा होता है और कोई सौं वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति एकसी नहीं। मूर्ख राज्यगद्दीपर क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे बधाई दिया जाता है और समर्थ विद्वान् धक्का खाते हैं।

इस प्रकार समस्त जगत्की विचित्रता भिन्न भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो। क्या इसके ऊपरसे तुम्हें कोई विचार आता है? मैंने जो कहा है यदि उसके ऊपरसे तुम्हें विचार आता हो, तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे समस्त संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। परभव नहीं माननेवाले स्वयं इन विचारोंको किस कारणसे करते हैं, इसपर यथार्थ विचार करें, तो वे भी इस सिद्धांतको मान्य रक्खें।

४ मानवदेह

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, विद्वान् इस मानवदेहको दूसरी सब देहोंसे उत्तम कहते हैं। उत्तम कहनेके कुछ कारणोंको हम यहाँ कहेंगे।

यह संसार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। इसमेंसे ज्ञानी तैरकर पार पानेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे नहीं मिलती। देव, तिर्यंच और नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष नहीं; केवल मानवदेहसे ही मोक्ष है।

अब तुम कहोगे, कि सब मानवियोंको मोक्ष क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि जो मानवपना समझते हैं, वे संसार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई हो, और उससे सत्यासत्यके निर्णयको समझकर, जो परम तत्त्व-ज्ञान तथा उत्तम चारित्ररूप सद्धर्मका सेवन करके अनुपम मोक्षको पाते हैं, उनके देहधारीपनेको विद्वान् मानवपना कहते हैं। मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, दो होठ, और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें, तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ, पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है, तो क्या उसको महामनुष्य कहना चाहिये? नहीं, नहीं। जो मानवपना समझता है वही मानव कहला सकता है।

ज्ञानी लोग कहते हैं, कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है, इस लिये इससे शीघ्रतासे आत्मसिद्धि कर लेना चाहिये। अयमंतकुमार, गजसुकुमार जैसे छोटे बालकोंने भी मानवपनेको समझनेसे मोक्ष प्राप्त की। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है, उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है। इस शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वश कर ले, तो कितना कल्याण हो!

किसी भी अन्य देहमें पूर्ण सद्विवेकका उदय नहीं होता, और मोक्षके राज-मार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। इस लिये हमें मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है।

बहुतसे मूर्ख दुराचारमें, अज्ञानमें, विषयमें और अनेक प्रकारके मदमें इस मानव-देहको वृथा गुमाते हैं, अमूल्य कौस्तुभको खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, बाकीके तो वानररूप ही है।

मौतकी पलको, निश्चयसे हम नहीं जान सकते। इस लिये जैसे बने वैसे धर्ममें त्वरासे सावधान होना चाहिये।

५ अनाथी मुनि
(१)

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगध देशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीड़ाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष खड़े थे, नाना प्रकारकी कोमल वेलें घटाटोप फैली हुई थीं। नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे। संक्षेपमें, यह वन नंदनवन जैसा लगता था। इस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिवंत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। इसका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उसके उपमारहित रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगा। इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकाल रहा है! इसकी निर्लोभता कैसी दीखती है! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगसे कैसा विरक्त है! इस प्रकार चिंतवन करते करते, आनन्दित होते होते, स्तुति करते करते, धीरे धीरे चलते हुए, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन कर न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। बादमें दोनों हाथोंको जोड़ कर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं। भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है। संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं। ऋतु ऋतुके काम-भोग, जल संबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनके मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है, यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योग-क्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नहीं हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

६ अनाथी मुनि
(२)

श्रेणिक मुनिके भाषणसे स्मित हास्य करके बोला, "आप महाऋद्धिवंतका नाथ क्यों न होगा? यदि कोई आपका नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोगोंको भोगें। हे संयति! मित्र, ज्ञातिसे दुर्लभ इस अपने मनुष्य भवको सफल करें।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजा! परन्तु तू तो स्वयं अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सकता है? अबुध बुद्धि-दान कहाँसे कर सकता है? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सकता है? वंध्या संतान कहाँसे

दे सकती है ? जब तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ कैसे होगा ?" मुनिके वचनसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिस वचनका कभी भी श्रवण नहीं हुआ था, उस वचनके यतिके मुखसे श्रवण होनेसे वह शंकित हुआ और बोला—"मैं अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ; अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका स्वामी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है; नगर, ग्राम, अंतःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नहीं है; मनुष्य संबंधी सब प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये हैं; अनुचर मेरी आज्ञाको भली भांति पालते हैं। इस प्रकार राजाके योग्य सब प्रकारकी संपत्ति मेरे घर है और अनेक मनवांछित वस्तुयें मेरे समीप रहती हैं। इस तरह महान् होनेपर भी मैं अनाथ क्यों हूँ ? कहीं हे भगवन् ! आप मृषा न बोलते हों।" मुनिने कहा, "राजन् ! मेरे कहनेको तू न्यायपूर्वक नहीं समझा। अब मैं जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैंने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र और सावधान चित्तसे सुन। सुननेके बाद तू अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करना:—

"कौशांबी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरपूर एक सुंदर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धन संचय नामका मेरा पिता रहता था। हे महाराज ! यौवनके प्रथम भागमें मेरी आँखे अति वेदनासे घिर गई और समस्त शरीरमें अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण यह रोग वैरीकी तरह मेरे ऊपर कोपायमान हुआ। मेरा मस्तक इस आँखकी असह्य वेदनासे दुखने लगा। वज्रके प्रहार जैसी, दूसरोंको भी रौद्र भय उपजानेवाली इस दारुण वेदनासे मैं अत्यंत शोकमें था। वैद्यक-शास्त्रमें निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस वेदनाको दूर करनेके लिये आये, और उन्होंने अनेक औषध-उपचार किये, परन्तु सब वृथा गये। ये महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सब धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी वह वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त थी, परन्तु वह भी मुझे रोगसे न छुटा सकी। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटसे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाईयोंने अपनेसे बनता परिश्रम किया परन्तु मेरी वह वेदना दूर न हुई। हे राजन् ! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटसे जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोंसे भी मेरा वह दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मेरे ऊपर अनुरक्त और प्रेमवंती थी वह अपने आँसुओंसे मेरे हृदयको द्रवित करती थी, उसके अन्न पानी देनेपर भी और नानाप्रकारके उबटन, चुवा आदि सुगंधित पदार्थ, तथा अनेक प्रकारके फूल चंदन आदिके जाने अजाने विलेपन किये जानेपर भी, मैं उस विलेपनसे अपने रोगको शान्त नहीं कर सका। क्षणभर भी अलग न रहनेवाली स्त्री भी मेरे रोगको नहीं दूर कर सकी। हे महाराज ! यही मेरा अनाथपना था। इस तरह किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे और किसीके परिश्रमसे यह रोग शान्त न हुआ। इस समय पुनः पुनः मैं असह्य वेदना भोग रहा था। बादमें मुझे प्रपंची संसारसे खेद हुआ। एक बार यदि इस महा विडंबनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ, तो खँती, दँती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, ऐसा विचार करके मैं सो गया। जब रात व्यतीत हुई, उस समय हे महाराज ! मेरी वह

वेदना क्षय हो गई, और मैं निरोग हो गया । माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिको पूँछकर प्रभातमें मैंने महाक्षमावंत इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले, और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारपनेको धारण किया ।

७ अनाथी मुनि

(३)

हे श्रेणिक राजा ! तबसे मैं आत्मा-परात्माका नाथ हुआ । अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ । तुझे जो शंका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी । इस प्रकार समस्त जगत्—चक्रवर्ती पर्यंत—अशरण और अनाथ है । जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है । इस लिये जो मैं कहता हूँ उस कथनका तू मनन करना । निश्चय मानो कि अपनी आत्मा ही दुःखकी भरी हुई वैतरणीका कर्ता है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मलि वृक्षके दुःखका उपजाने वाला है; अपना आत्मा ही वांछित वस्तुरूपी दूधकी देनेवाला कामधेनु-सुखका उपजानेवाला है; अपना आत्मा ही नंदनवनके समान आनंदकारी है; अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है; अपना आत्मा ही उस कर्मका टालनेवाला है; अपना आत्मा ही दुःखोपार्जन और अपना आत्मा ही और सुखोपार्जन करनेवाला है; अपना आत्मा ही मित्र, और अपना आत्मा ही वैरी है; अपना आत्मा ही कनिष्ट आचारमें स्थित, और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है ।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्माके प्रकाश करनेवाले उपदेशको दिया । श्रेणिक राजाको बहुत संतोष हुआ । वह दोनों हाथोंको जोड़ कर इस प्रकार बोला—" हे भगवन् ! आपने मुझे भली भाँति उपदेश किया, आपने यथार्थ अनाथपना कह बताया । महर्षि ! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं । आप सब अनाथोंके नाथ हैं । हे पवित्र संयति ! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ । आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है । हे महाभाग्यवन्त ! धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोगोंके भोगनेका मैंने आपको जो आमंत्रण दिया, इस अपने अपराधकी मस्तक नमाकर मैं क्षमा माँगता हूँ । " इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया ।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावंत, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके श्रेणिक राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है, वह सचमुच अशरण भावना सिद्ध करता है । महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको अनंत आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है ! संसारमें अशरणता और अनंत अनाथता छाई हुई है । उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है । यही मुक्तिका कारण है । जैसे संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है । सनाथ होनेके लिये सदेव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना और पहचानना आवश्यक है ।

८ सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्वोंको हमें अवश्य जानना चाहिये । जब तक इन तत्त्वोंके संबंधमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्माका हित नहीं होता । ये तीन तत्त्व सदेव, सद्धर्म, और सद्गुरु हैं । इस पाठमें हम सदेवका स्वरूप संक्षेपमें कहेंगे ।

चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होनेपर भी जो संसारको एकांत अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं; जो पूर्ण दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्म-समृद्धिसे त्रिविध तापका लय करते हैं; जो महा उग्र तप और ध्यानके द्वारा आत्म-विशोधन करके कर्मोंके समूहको जला डालते हैं; जिन्हें चंद्र और शंखसे भी अत्यंत उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त होता है; जो सब प्रकारकी निद्राका क्षय करते हैं; जो संसारमें मुख्य गिने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित अपने स्वरूपसे विहार करते हैं; जो चार अघाति कर्मोंके रहने तक यथाख्यातचारित्ररूप उत्तम शीलका सेवन करते हैं; जो कर्म-ग्रीष्मसे अकुलाये हुए पामर प्राणियोंको परमशांति प्राप्त करानेके लिये शुद्ध सारभूत तत्त्वका निष्कारण करुणासे मेघधारा-वाणीसे उपदेश करते हैं; जिनके किसी भी समय किंचित् मात्र भी संसारी वैभव विलासका स्वप्नांश भी बाकी नहीं रहा; जो घनघाति कर्म क्षय करनेके पहले अपनी छद्मस्थता जानकर श्रीमुख-वाणीसे उपदेश नहीं करते; जो पाँच प्रकारका अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा, और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित हैं; जो सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान हैं; जिनके महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते हैं; जिनके जन्म, मरण और अनंत संसार नष्ट हो गया है; उनको निर्ग्रंथ आगममें सदेव कहा है। इन दोषोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेके कारण वे पूजनीय परमेश्वर कहे जाने योग्य हैं। ऊपर कहे हुए अठारह दोषोंमेंसे यदि एक भी दोष हो तो सदेवका स्वरूप नहीं घटता। इस परमतत्त्वको महान् पुरुषोंसे विशेषरूपसे जानना आवश्यक है।

९ सद्धर्मतत्त्व

अनादि कालसे कर्म-जालके बंधनसे यह आत्मा संसारमें भटका करता है। क्षण मात्र भी उसे सच्चा सुख नहीं मिलता। यह अधोगतिका सेवन किया करता है। अधोगतिमें पड़ती हुई आत्माको रोककर जो सद्गतिको देता है उसका नाम धर्म कहा जाता है, और यही सत्य सुखका उपाय है। इस धर्म तत्त्वके सर्वज्ञ भगवान्ने भिन्न भिन्न भेद कहे हैं। उनमें मुख्य भेद दो हैं:—व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म।

व्यवहारधर्ममें दया मुख्य है। सत्य आदि बाकीके चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिये हैं। दयाके आठ भेद हैं:—द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, स्वरूपदया, अनुबंधदया, व्यवहारदया, निश्चयदया।

प्रथम द्रव्यदया—प्रत्येक कामको यत्नपूर्वक जीवोंकी रक्षा करके करना 'द्रव्यदया' है।

दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते देखकर अनुकंपा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नहीं पाता, जिनाज्ञाको नहीं पाल सकता, इस प्रकार चिंतवन कर धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

चौथी परदया—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना 'परदया' है।

पाँचवी स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप विचार करना 'स्वरूपदया' है।

छट्ठी अनुबंधदया—सद्गुरु अथवा सुशिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनोंसे उपदेश देना, यद्यपि यह देखनेमें अयोग्य लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है—इसका नाम 'अनुबंधदया' है।

धर्मके विना प्रीति नहीं, धर्मके विना रीति नहीं, धर्मके विना हित नहीं, यह मैं हितकी बात कहता हूँ; धर्मके विना टेक नहीं, धर्मके विना प्रामाणिकता नहीं, धर्मके विना ऐक्य नहीं, धर्म रामका धाम है; धर्मके विना ध्यान नहीं, धर्मके विना ज्ञान नहीं, धर्मके विना सच्चा भान नहीं, इसके विना जीना किस कामका है ? धर्मके विना तान नहीं, धर्मके विना प्रतिष्ठा नहीं, और धर्मके विना किसी भी वचनका गुणगान नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

सुख देनेवाली सम्पत्ति हो, मानका मद हो, क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे वधाई मिलती हो, यह सब किसी कामका नहीं; जवानीका जोर हो, ऐशका उत्साह हो, दौलतका दौर हो, यह सब केवल नामका सुख है; वनिताका विलास हो, प्रौढ़ताका प्रकाश हो, दक्षके समान दास हों, धामका सुख हो, परन्तु रायचन्द्र कहते हैं कि सद्धर्मको विना धारण किये यह सब सुख दो ही कौड़ीका समझना चाहिये ॥५॥

जिसे चतुर लोग प्रीतिसे चाहकर चित्तमें चिन्तामणि रत्न मानते हैं, जिसे प्रेमसे पंडित लोग पारसमणि मानते हैं, जिसे कवि लोग कल्याणकारी कल्पतरु कहते हैं, जिसे साधु लोग शुभ क्षेमसे सुधाका सागर मानते हैं, ऐसे धर्मको, यदि उमंगसे आत्माका उद्धार चाहते हो, तो निर्मल होनेके लिये नीति नियमसे नमन करो। रायचन्द्र वीर कहते हैं कि इस प्रकार धर्मका रूप जानकर धर्मवृत्तिमें ध्यान रक्खो और वहमसे लक्षच्युत न होओ ॥ ६ ॥

धर्म विना प्रीत नहीं, धर्म विना रीत नहीं,
धर्म विना हित नहीं, कथुं जन कामनुं;
धर्म विना टेक नहीं, धर्म विना नेक नहीं,
धर्म विना ऐक्य नहीं, धर्म धाम रामनुं;
धर्म विना ध्यान नहीं, धर्म विना ज्ञान नहीं,
धर्म विना भान नहीं, जीव्युं कोना कामनुं ?
धर्म विना तान नहीं, धर्म विना सान नहीं,
धर्म विना गान नहीं, वचन तमामनुं ॥ ४ ॥

साहबी सुखद होय, मानतणो मद होय,
खमा खमा खुद होय, ते ते कशा कामनुं;
जुवानीनुं जोर होय, एशनो अंकोर होय,
दौलतनो दोर होय, ए ते सुख नामनुं;
वनिता विलास होय, प्रौढ़ता प्रकाश होय,
दक्ष जेवा दास होय, होय सुख धामनुं;
वदे रायचंद एम, सद्धर्मने धार्या विना,
जाणी लेजे सुख एतो, बेएज बदामनुं ! ॥ ५ ॥

चातुरो चोंपेथी चाही चिंतामणी चित्त गणे,
पंडितो प्रमाणे छे पारसमणी प्रेमथी;
कवियो कल्याणकारी कल्पतरु कथे जेने,
सुधानो सागर कथे, साधु शुभ क्षेमथी;
आत्मना उद्धारने उमंगथी अनुसरो जो,
निर्मळ थवाने काजे, नमो नीति नेमथी;
वदे रायचंद वीर, एवुं धर्मरूप जाणी,
" धर्मवृत्ति ध्यान धरो, विलखो न वेमथी " ॥ ६ ॥

ॐ

श्रीमोक्षमाला

" जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया "

(निर्ग्रंथप्रवचन)

१ वाचकको अनुरोध

वाचक ! यह पुस्तक आज तुम्हारे हस्त-कमलमें आती है । इसे ध्यानपूर्वक बाँचना; इसमें कहे हुए विषयोंको विवेकसे विचारना, और परमार्थको हृदयमें धारण करना । ऐसा करोगे तो तुम नीति, विवेक, ध्यान, ज्ञान, सद्गुण और आत्म-शांति पा सकोगे ।

तुम जानते होगे कि बहुतसे अज्ञान मनुष्य न पढ़ने योग्य पुस्तकें पढ़कर अपना अमूल्य समय वृथा खो देते हैं । इससे वे कुमार्ग पर चढ़ जाते हैं, इस लोकमें अपकीर्ति पाते हैं, और परलोकमें नीच गतिमें जाते हैं ।

भाषा-ज्ञानकी पुस्तकोंकी तरह यह पुस्तक पठन करनेकी नहीं, परन्तु मनन करनेकी है । इससे इस भव और परभव दोनोंमें तुम्हारा हित होगा । भगवान्‌के कहे हुए वचनोंका इसमें उपदेश किया गया है ।

तुम इस पुस्तकका विनय और विवेकसे उपयोग करना । विनय और विवेक ये धर्मके मूल हेतु हैं ।

तुमसे दूसरा एक यह भी अनुरोध है कि जिनको पढ़ना न आता हो, और उनकी इच्छा हो, तो यह पुस्तक अनुक्रमसे उन्हें पढ़कर सुनाना ।

तुम्हें इस पुस्तकमें जो कुछ समझमें न आवे, उसे सुविचक्षण पुरुषोंसे समझ लेना योग्य है ।

तुम्हारी आत्माका इससे हित हो; तुम्हें ज्ञान, शांति और आनन्द मिले; तुम परोपकारी, दयालु, क्षमावान, विवेकी और बुद्धिशाली बनो; अर्हत् भगवान्‌से यह शुभ याचना करके यह पाठ पूर्ण करता हूँ ।

२ सर्वमान्य धर्म

जो धर्मका तत्त्व मुझसे पूँछा है, उसे तुझे स्नेहपूर्वक सुनाता हूँ । वह धर्म-तत्त्व सकल सिद्धांतका सार है, सर्वमान्य है, और सबको हितकारी है ॥ १ ॥

भगवान्‌ने भाषणमें कहा है कि दयाके समान दूसरा धर्म नहीं है । दोषोंको नष्ट करनेके लिये अभयदानके साथ प्राणियोंको संतोष प्रदान करो ॥ २ ॥

धर्मतत्त्व जो पूछ्युं मने तो संभळावुं स्नेहे तने;
जे सिद्धांत सकळनो सार सर्वमान्य सहुने हितकार ॥ १ ॥
भाख्युं भाषणमां भगवान, धर्म न बीजो दया समान;
अभयदान साथे संतोष, द्यो प्राणिने दळवा दोष ॥ २ ॥

सत्य, शील और सब प्रकारके दान, दयाके होनेपर ही प्रमाण माने जाते हैं। जिसप्रकार सूर्यके बिना किरणें दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार दयाके न होनेपर सत्य, शील और दानमेंसे एक भी गुण नहीं रहता ॥ ३ ॥

जहाँ पुष्पकी एक पँखडीको भी क्लेश होता है, वहाँ प्रवृत्ति करनेकी जिनवरकी आज्ञा नहीं। सब जीवोंके सुखकी इच्छा करना, यही महावीरकी मुख्य शिक्षा है ॥ ४ ॥

यह उपदेश सब दर्शनोंमें है। यह एकांत है, इसका कोई अपवाद नहीं है। सब प्रकारसे जिनभगवानका यही उपदेश है कि विरोध रहित दया ही निर्मल दया है ॥ ५ ॥

यह संसारसे पार करनेवाला सुंदर मार्ग है, इसे उत्साहसे धारण करके संसारको पार करना चाहिये। यह सकल धर्मका शुभ मूल है, इसके बिना धर्म सदा प्रतिकूल रहता है ॥ ६ ॥

जो मनुष्य इसे तत्त्वरूपसे पहचानते हैं, वे शाश्वत सुखको प्राप्त करते हैं। **राजचन्द्र** कहते हैं कि **शान्तिनाथ** भगवान् करुणासे सिद्ध हुए हैं, यह प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

३ कर्मका चमत्कार

मैं तुम्हें बहुतसी सामान्य विचित्रतायें कहता हूँ। इनपर विचार करोगे तो तुमको परभवकी श्रद्धा दृढ़ होगी।

एक जीव सुंदर पलंगपर पुष्पशय्यामें शयन करता है और एकको फटीहुई गूदड़ी भी नहीं मिलती। एक भाँति भाँतिके भोजनोंसे तृप्त रहता है और एकको काली ज्वारके भी लाले पड़ते हैं। एक अगणित लक्ष्मीका उपभोग करता है और एक फूटी बादामके लिये घर घर भटकता फिरता है। एक मधुर वचनोंसे मनुष्यका मन हरता है और एक अवाचक जैसा होकर रहता है। एक सुंदर वस्त्रालंकारसे विभूषित होकर फिरता है और एकको प्रखर शीतकालमें फटा हुआ कपड़ा भी ओढ़नेको नहीं मिलता। कोई रोगी है और कोई प्रबल है। कोई बुद्धिशाली है और कोई जड़ है। कोई मनोहर नयनवाला है और कोई अंधा है। कोई लूला-लँगड़ा है और किसीके हाथ और पैर रमणीय हैं। कोई कीर्तिमान है और कोई अपयश भोगता है। कोई लाखों अनुचरोंपर हुक्म चलाता है और कोई लाखोंके ताने सहन करता है। किसीको देखकर आनन्द होता है और किसीको देखकर वमन होता है। कोई सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला है और कोई अपूर्ण इन्द्रियोंवाला है। किसीको दीन-दुनियाका लेश भी भान नहीं और किसीके दुखका पार भी नहीं।

सत्य शीलने सघळां दान, दया होइने रह्यां प्रमाण;
दया नहीं तो ए नहीं एक, विना सूर्य किरण नहीं देख ॥ ३ ॥
पुष्पपांखडी ज्यां दूभाय जिनवरनी त्यां नहीं आज्ञाय;
सर्व जीवनुं ईच्छो सुख, महावीरकी शिक्षा मुख्य ॥ ४ ॥
सर्व दर्शने ए उपदेश; ए एकांते, नहीं विशेष;
सर्व प्रकारे जिननो बोध, दया दया निर्मळ अविरोध ॥ ५ ॥
ए भवतारक सुंदर राह, धरिये तरिये करी उत्साह;
धर्म सकळनुं यह शुभ मूळ, ए वण धर्म सदा प्रतिकूळ ॥ ६ ॥
तत्त्वरूपथी ए ओळखे, ते जन पहोंचे शाश्वत सुखे;
शांतिनाथ भगवान प्रसिद्ध, राजचन्द्र करुणाए सिद्ध ॥ ७ ॥

कोई गर्भाधानमें आते ही मरणको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्म लेते ही तुरत मर जाता है। कोई मरा हुआ पैदा होता है और कोई सौ वर्षका वृद्ध होकर मरता है।

किसीका मुख, भाषा और स्थिति एकसी नहीं। मूर्ख राज्यगद्दीपर क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे बधाई दिया जाता है और समर्थ विद्वान् धक्का खाते हैं।

इस प्रकार समस्त जगत्की विचित्रता भिन्न भिन्न प्रकारसे तुम देखते हो। क्या इसके ऊपरसे तुम्हें कोई विचार आता है? मैंने जो कहा है यदि उसके ऊपरसे तुम्हें विचार आता हो, तो कहो कि यह विचित्रता किस कारणसे होती है?

अपने बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मसे। कर्मसे समस्त संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। परभव नहीं माननेवाले स्वयं इन विचारोंको किस कारणसे करते हैं, इसपर यथार्थ विचार करें, तो वे भी इस सिद्धांतको मान्य रक्खें।

४ मानवदेह

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, विद्वान् इस मानवदेहको दूसरी सब देहोंसे उत्तम कहते हैं। उत्तम कहनेके कुछ कारणोंको हम यहाँ कहेंगे।

यह संसार बहुत दुःखसे भरा हुआ है। इसमेंसे ज्ञानी तैरकर पार पानेका प्रयत्न करते हैं। मोक्षको साधकर वे अनंत सुखमें विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देहसे नहीं मिलती। देव, तिर्यंच और नरक इनमेंसे किसी भी गतिसे मोक्ष नहीं; केवल मानवदेहसे ही मोक्ष है।

अब तुम कहोगे, कि सब मानवियोंको मोक्ष क्यों नहीं होता? उसका उत्तर यह है कि जो मानवपना समझते हैं, वे संसार-शोकसे पार हो जाते हैं। जिनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई हो, और उससे सत्यासत्यके निर्णयको समझकर, जो परम तत्त्व-ज्ञान तथा उत्तम चारित्ररूप सद्धर्मका सेवन करके अनुपम मोक्षको पाते हैं, उनके देहधारीपनेको विद्वान् मानवपना कहते हैं। मनुष्यके शरीरकी बनावटके ऊपरसे विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेकके कारण उसे मनुष्य कहते हैं। जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुख, दो होठ, और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना, ऐसा हमें नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा समझें, तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिनना चाहिये। उसने भी इस तरह हाथ, पैर आदि सब कुछ प्राप्त किया है। विशेषरूपसे उसके एक पूँछ भी है, तो क्या उसको महामनुष्य कहना चाहिये? नहीं, नहीं। जो मानवपना समझता है वही मानव कहला सकता है।

ज्ञानी लोग कहते हैं, कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्यके प्रभावसे यह देह मिलती है, इस लिये इससे शीघ्रतासे आत्मसिद्धि कर लेना चाहिये। **अयमंतकुमार, गजसुकुमार** जैसे छोटे बालकोंने भी मानवपनेको समझनेसे मोक्ष प्राप्त की। मनुष्यमें जो विशेष शक्ति है, उस शक्तिसे वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणीको भी वशमें कर लेता है। इस शक्तिसे यदि वह अपने मनरूपी हाथीको वश कर ले, तो कितना कल्याण हो!

किसी भी अन्य देहमें पूर्ण सद्विवेकका उदय नहीं होता, और मोक्षके राज-मार्गमें प्रवेश नहीं हो सकता। इस लिये हमें मिले हुए इस बहुत दुर्लभ मानवदेहको सफल कर लेना आवश्यक है।

बहुतसे मूर्ख दुराचारमें, अज्ञानमें, विषयमें और अनेक प्रकारके मदमें इस मानव-देहको वृथा गुमाते हैं, अमूल्य कौस्तुभको खो बैठते हैं। ये नामके मानव गिने जा सकते हैं, बाकीके तो वानररूप ही है।

मौतकी पलको, निश्चयसे हम नहीं जान सकते। इस लिये जैसे बने वैसे धर्ममें त्वरासे सावधान होना चाहिये।

५ अनाथी मुनि

(१)

अनेक प्रकारकी ऋद्धिवाला मगध देशका श्रेणिक नामक राजा अश्वक्रीडाके लिये मंडिकुक्ष नामके वनमें निकल पड़ा। वनकी विचित्रता मनोहारिणी थी। वहाँ नाना प्रकारके वृक्ष खड़े थे, नाना प्रकारकी कोमल बेलें घटाटोप फैली हुई थीं। नाना प्रकारके पक्षी आनंदसे उनका सेवन कर रहे थे, नाना प्रकारके पक्षियोंके मधुर गान वहाँ सुनाई पड़ते थे, नाना प्रकारके फूलोंसे वह वन छाया हुआ था, नाना प्रकारके जलके झरने वहाँ बहते थे। संक्षेपमें, यह वन नंदनवन जैसा लगता था। इस वनमें एक वृक्षके नीचे महासमाधिवंत किन्तु सुकुमार और सुखोचित मुनिको उस श्रेणिकने बैठे हुए देखा। इसका रूप देखकर उस राजाको अत्यन्त आनन्द हुआ। उसके उपमारहित रूपसे विस्मित होकर वह मन ही मन उसकी प्रशंसा करने लगा। इस मुनिका कैसा अद्भुत वर्ण है! इसका कैसा मनोहर रूप है! इसकी कैसी अद्भुत सौम्यता है! यह कैसी विस्मयकारक क्षमाका धारक है! इसके अंगसे वैराग्यका कैसा उत्तम प्रकाश निकाल रहा है! इसकी निर्लोभता कैसी दीखती है! यह संयति कैसी निर्भय नम्रता धारण किये हुए है! यह भोगसे कैसा विरक्त है! इस प्रकार चिंतवन करते करते, आनन्दित होते होते, स्तुति करते करते, धीरे धीरे चलते हुए, प्रदक्षिणा देकर उस मुनिको वंदन कर न अति समीप और न अति दूर वह श्रेणिक बैठा। बादमें दोनों हाथोंको जोड़ कर विनयसे उसने उस मुनिसे पूछा, "हे आर्य! आप प्रशंसा करने योग्य तरुण हैं। भोगविलासके लिये आपकी वय अनुकूल है। संसारमें नाना प्रकारके सुख हैं। ऋतु ऋतुके काम-भोग, जल संबंधी विलास, तथा मनोहारिणी स्त्रियोंके मुख-वचनके मधुर श्रवण होनेपर भी इन सबका त्याग करके मुनित्वमें आप महाउद्यम कर रहे हैं, इसका क्या कारण है, यह मुझे अनुग्रह करके कहिये।" राजाके ऐसे वचन सुनकर मुनिने कहा—"हे राजन्! मैं अनाथ था। मुझे अपूर्व वस्तुका प्राप्त करानेवाला, योग-क्षेमका करनेवाला, मुझपर अनुकंपा लानेवाला, करुणासे परम-सुखको देनेवाला कोई मेरा मित्र नहीं हुआ। यह कारण मेरे अनाथीपनेका था।"

६ अनाथी मुनि

(२)

श्रेणिक मुनिके भाषणसे स्मित हास्य करके बोला, "आप महाऋद्धिवंतका नाथ क्यों न होगा? यदि कोई आपका नाथ नहीं है तो मैं होता हूँ। हे भयत्राण! आप भोगोंको भोगें। हे संयति! मित्र, ज्ञातिसे दुर्लभ इस अपने मनुष्य भवको सफल करें।" अनाथीने कहा—"अरे श्रेणिक राजा! परन्तु तू तो स्वयं अनाथ है, तो मेरा नाथ क्या होगा? निर्धन धनाढ्य कहाँसे बना सकता है? अबुध बुद्धि-दान कहाँसे कर सकता है? अज्ञ विद्वत्ता कहाँसे दे सकता है? वंध्या संतान कहाँसे

दे सकती है ? ज़ब तू स्वयं अनाथ है तो मेरा नाथ कैसे होगा ?" मुनिके वचनसे राजा अति आकुल और अति विस्मित हुआ। जिस वचनका कभी भी श्रवण नहीं हुआ था, उस वचनके यतिके मुखसे श्रवण होनेसें वह शंकित हुआ और बोला—"मैं अनेक प्रकारके अश्वोंका भोगी हूँ; अनेक प्रकारके मदोन्मत्त हाथियोंका स्वामी हूँ; अनेक प्रकारकी सेना मेरे आधीन है; नगर, ग्राम, अंतःपुर और चतुष्पादकी मेरे कोई न्यूनता नहीं है; मनुष्य संबंधी सब प्रकारके भोग मैंने प्राप्त किये हैं; अनुचर मेरी आज्ञाको भली भांति पालते हैं। इस प्रकार राजाके योग्य सब प्रकारकी संपत्ति मेरे घर है और अनेक मनवांछित वस्तुयें मेरे समीप रहती हैं। इस तरह महान् होनेपर भी मैं अनाथ क्यों हूँ ? कहीं हे भगवन्! आप मृषा न बोलते हों।" मुनिने कहा, "राजन्! मेरे कहनेको तू न्यायपूर्वक नहीं समझा। अब मैं जैसे अनाथ हुआ, और जैसे मैंने संसारका त्याग किया वह तुझे कहता हूँ। उसे एकाग्र और सावधान चित्तसे सुन। सुननेके बाद तू अपनी शंकाके सत्यासत्यका निर्णय करनाः—

"कौशांबी नामकी अति प्राचीन और विविध प्रकारकी भव्यतासे भरपूर एक सुंदर नगरी है। वहाँ ऋद्धिसे परिपूर्ण धन संचय नामका मेरा पिता रहता था। हे महाराज! यौवनके प्रथम भागमें मेरी आँखे अति वेदनासे घिर गईं और समस्त शरीरमें अग्नि जलने लगी। शस्त्रसे भी अतिशय तीक्ष्ण यह रोग वैरीकी तरह मेरे ऊपर कोपायमान हुआ। मेरा मस्तक इस आँखकी असह्य वेदनासे दुखने लगा। वज्रके प्रहार जैसी, दूसरोंको भी रौद्र भय उपजानेवाली इस दारुण वेदनासे मैं अत्यंत शोकमें था। वैद्यक-शास्त्रमें निपुण बहुतसे वैद्यराज मेरी इस वेदनाको दूर करनेके लिये आये, और उन्होंने अनेक औषध-उपचार किये, परन्तु सब वृथा गये। ये महानिपुण गिने जानेवाले वैद्यराज मुझे उस रोगसे मुक्त न कर सके। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी आँखकी वेदनाको दूर करनेके लिये मेरे पिता सब धन देने लगे, परन्तु उससे भी मेरी यह वेदना दूर नहीं हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। मेरी माता पुत्रके शोकसे अति दुःखार्त थी, परन्तु वह भी मुझे रोगसे न छुटा सकी। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटसे जन्मे हुए मेरे ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाईयोंने अपनेसे बनता परिश्रम किया परन्तु मेरी यह वेदना दूर न हुई। हे राजन्! यही मेरा अनाथपना था। एक पेटसे जन्मी हुई मेरी ज्येष्ठा और कनिष्ठा भगिनियोंसे भी मेरा वह दुःख दूर नहीं हुआ। हे महाराज! यही मेरा अनाथपना था। मेरी स्त्री जो पतिव्रता, मेरे ऊपर अनुरक्त और प्रेमवंती थी वह अपने आँसुओंसे मेरे हृदयको द्रवित करती थी, उसके अन्न पानी देनेपर भी और नाना-प्रकारके उबटन, चुवा आदि सुगंधित पदार्थ, तथा अनेक प्रकारके फूल चंदन आदिके जाने अजाने विलेपन किये जानेपर भी, मैं उस विलेपनसे अपने रोगको शान्त नहीं कर सका। क्षणभर भी अलग न रहनेवाली स्त्री भी मेरे रोगको नहीं दूर कर सकी। हे महाराज! यही मेरा अनाथपना था। इस तरह किसीके प्रेमसे, किसीकी औषधिसे, किसीके विलापसे और किसीके परिश्रमसे यह रोग शान्त न हुआ। इस समय पुनः पुनः मैं असह्य वेदना भोग रहा था। बादमें मुझे प्रपंची संसारसे खेद हुआ। एक बार यदि इस महा विडंबनामय वेदनासे मुक्त हो जाऊँ, तो खँती, दँती और निरारंभी प्रव्रज्याको धारण करूँ, ऐसा विचार करके मैं सो गया। जब रात व्यतीत हुई, उस समय हे महाराज! मेरी वह

वेदना क्षय हो गई, और मैं निरोग हो गया। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदिको पूँछकर प्रभातमें मैंने महाक्षमावंत इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले, और आरम्भोपाधिसे रहित अनगारपनेको धारण किया।

७ अनाथी मुनि

(३)

हे श्रेणिक राजा! तबसे मैं आत्मा-परात्माका नाथ हुआ। अब मैं सब प्रकारके जीवोंका नाथ हूँ। तुझे जो शंका हुई थी वह अब दूर हो गई होगी। इस प्रकार समस्त जगत्–चक्रवर्ती पर्यंत–अशरण और अनाथ है। जहाँ उपाधि है वहाँ अनाथता है। इस लिये जो मैं कहता हूँ उस कथनका तू मनन करना। निश्चय मानो कि अपनी आत्मा ही दुःखकी भरी हुई वैतरणीका कर्ता है; अपना आत्मा ही क्रूर शाल्मलि वृक्षके दुःखका उपजाने वाला है; अपना आत्मा ही वांछित वस्तुरूपी दूधकी देनेवाली कामधेनु-सुखका उपजानेवाला है; अपना आत्मा ही नंदनवनके समान आनंदकारी है; अपना आत्मा ही कर्मका करनेवाला है; अपना आत्मा ही उस कर्मका टालनेवाला है; अपना आत्मा ही दुखोपार्जन और अपना आत्मा ही और सुखोपार्जन करनेवाला है; अपना आत्मा ही मित्र, और अपना आत्मा ही वैरी है; अपना आत्मा ही कनिष्ट आचारमें स्थित, और अपना आत्मा ही निर्मल आचारमें स्थित रहता है।

इस प्रकार श्रेणिकको उस अनाथी मुनिने आत्माके प्रकाश करनेवाले उपदेशको दिया। श्रेणिक राजाको बहुत संतोष हुआ। वह दोनों हाथोंको जोड़ कर इस प्रकार बोला—" हे भगवन्! आपने मुझे भली भाँति उपदेश किया, आपने यथार्थ अनाथपना कह बताया। महर्षि! आप सनाथ, आप सबांधव और आप सधर्म हैं। आप सब अनाथोंके नाथ हैं। हे पवित्र संयति! मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आपकी ज्ञानपूर्ण शिक्षासे मुझे लाभ हुआ है। हे महाभाग्यवन्त! धर्मध्यानमें विघ्न करनेवाले भोगोंके भोगनेका मैंने आपको जो आमंत्रण दिया, इस अपने अपराधकी मस्तक नमाकर मैं क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकारसे स्तुति करके राजपुरुषकेसरी श्रेणिक विनयसे प्रदक्षिणा करके अपने स्थानको गया।

महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावंत, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगध देशके श्रेणिक राजाको अपने बीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया है, वह सचमुच अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीसे भोगी हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष वेदनाको अनंत आत्माओंको भोगते हुए हम देखते हैं, यह कैसा विचारणीय है! संसारमें अशरणता और अनंत अनाथता छाई हुई है। उसका त्याग उत्तम तत्त्वज्ञान और परम शीलके सेवन करनेसे ही होता है। यही मुक्तिका कारण है। जैसे संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुको जानना और पहचानना आवश्यक है।

८ सद्देवतत्त्व

तीन तत्त्वोंको हमें अवश्य जानना चाहिये। जब तक इन तत्त्वोंके संबंधमें अज्ञानता रहती है तब तक आत्माका हित नहीं होता। ये तीन तत्त्व सद्देव, सद्धर्म, और सद्गुरु हैं। इस पाठमें हम सद्देवका स्वरूप संक्षेपमें कहेंगे।

चक्रवर्ती राजाधिराज अथवा राजपुत्र होनेपर भी जो संसारको एकांत अनंत शोकका कारण मानकर उसका त्याग करते हैं; जो पूर्ण दया, शांति, क्षमा, वीतरागता और आत्म-समृद्धिसे त्रिविध तापका लय करते हैं; जो महा उग्र तप और ध्यानके द्वारा आत्म-विशोधन करके कर्मोंके समूहको जला डालते हैं; जिन्हें चंद्र और शंखसे भी अत्यंत उज्ज्वल शुक्लध्यान प्राप्त होता है; जो सब प्रकारकी निद्राका क्षय करते हैं; जो संसारमें मुख्य गिने जानेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार कर्मोंको भस्मीभूत करके केवलज्ञान और केवलदर्शन सहित अपने स्वरूपसे विहार करते हैं; जो चार अघाति कर्मोंके रहने तक यथाख्यातचारित्ररूप उत्तम शीलका सेवन करते है; जो कर्म-ग्रीष्मसे अकुलाये हुए पामर प्राणियोंको परमशांति प्राप्त करानेके लिये शुद्ध सारभूत तत्त्वका निष्कारण करुणासे मेघधारा-वाणीसे उपदेश करते हैं; जिनके किसी भी समय किंचित् मात्र भी संसारी वैभव विलासका स्वप्नांश भी बाकी नहीं रहा; जो घनघाति कर्म क्षय करनेके पहले अपनी छद्मस्थता जानकर श्रीमुख-वाणीसे उपदेश नहीं करते; जो पाँच प्रकारका अंतराय, हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, शोक, मिथ्यात्व, अज्ञान, अप्रत्याख्यान, राग, द्वेष, निद्रा, और काम इन अठारह दूषणोंसे रहित हैं; जो सच्चिदानन्द स्वरूपसे विराजमान हैं; जिनके महाउद्योतकर बारह गुण प्रगट होते हैं; जिनके जन्म, मरण और अनंत संसार नष्ट हो गया है; उनको निर्ग्रंथ आगममें सदेव कहा है। इन दोषोंसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेके कारण वे पूजनीय परमेश्वर कहे जाने योग्य हैं। ऊपर कहे हुए अठारह दोषोंमेंसे यदि एक भी दोष हो तो सदेवका स्वरूप नहीं घटता। इस परमतत्त्वको महान् पुरुषोंसे विशेषरूपसे जानना आवश्यक है।

९ सद्धर्मतत्त्व

अनादि कालसे कर्म-जालके बंधनसे यह आत्मा संसारमें भटका करता है। क्षण मात्र भी उसे सच्चा सुख नहीं मिलता। यह अधोगतिका सेवन किया करता है। अधोगतिमें पड़ती हुई आत्माको रोककर जो सद्गतिको देता है उसका नाम धर्म कहा जाता है, और यही सत्य सुखका उपाय है। इस धर्म तत्त्वके सर्वज्ञ भगवान्ने भिन्न भिन्न भेद कहे हैं। उनमें मुख्य भेद दो हैं:—व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म।

व्यवहारधर्ममें दया मुख्य है। सत्य आदि बाकीके चार महाव्रत भी दयाकी रक्षाके लिये हैं। दयाके आठ भेद हैं:—द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, स्वरूपदया, अनुबंधदया, व्यवहारदया, निश्चयदया।

प्रथम द्रव्यदया—प्रत्येक कामको यत्नपूर्वक जीवोंकी रक्षा करके करना 'द्रव्यदया' है।

दूसरी भावदया—दूसरे जीवको दुर्गतिमें जाते देखकर अनुकंपा बुद्धिसे उपदेश देना 'भावदया' है।

तीसरी स्वदया—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यात्वसे ग्रसित है, तत्त्वको नहीं पाता, जिनाज्ञाको नहीं पाल सकता, इस प्रकार चिंतवन कर धर्ममें प्रवेश करना 'स्वदया' है।

चौथी परदया—छह कायके जीवोंकी रक्षा करना 'परदया' है।

पाँचवी स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेकसे स्वरूप विचार करना 'स्वरूपदया' है।

छट्ठी अनुबंधदया—सद्गुरु अथवा सुशिक्षकका शिष्यको कड़वे वचनोंसे उपदेश देना, यद्यपि यह देखनेमें अयोग्य लगता है, परन्तु परिणाममें करुणाका कारण है—इसका नाम 'अनुबंधदया' है।

सातवीं व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालनेका नाम 'व्यवहारदया' है।

आठवीं निश्चयदया—शुद्ध साध्य उपयोगमें एकता भाव और अभेद उपयोगका होना 'निश्चयदया' है।

इस आठ प्रकारकी दयाको लेकर भगवान्‌ने व्यवहारधर्म कहा है। इसमें सब जीवोंके सुख, संतोष और अभयदान ये सब विचारपूर्वक देखनेसे आ जाते हैं।

दूसरा निश्चयधर्म—अपने स्वरूपकी भ्रमणा दूर करनी, आत्माको आत्मभावसे पहचानना, 'यह संसार मेरा नहीं, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध सदृश शुद्ध आत्मा हूँ' इस तरह आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति करना 'निश्चयधर्म' है।

जहाँ किसी प्राणीको दुःख, अहित अथवा असंतोष होता है, वहाँ दया नहीं; और जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। अर्हंत भगवान्‌के कहे हुए धर्मतत्त्वसे सब प्राणी भय रहित होते हैं।

१० सद्गुरुतत्त्व

(१)

पिता—पुत्र! तू जिस शालामें पढ़ने जाता है उस शालाका शिक्षक कौन है?

पुत्र—पिताजी! एक विद्वान् और समझदार ब्राह्मण है।

पिता—उसकी वाणी, चालचलन आदि कैसे हैं?

पुत्र—उसकी वाणी बहुत मधुर है। वह किसीको अविवेकसे नहीं बुलाता, और बहुत गंभीर है, जिस समय वह बोलता है, उस समय मानों उसके मुखसे फूल झरते हैं। वह किसीका अपमान नहीं करता; और जिससे हम योग्य नीतिको समझ सकें, ऐसी हमें शिक्षा देता है।

पिता—तू वहाँ किस कारणसे जाता है, सो मुझे कह।

पुत्र—आप ऐसा क्यों कहते हैं, पिताजी! मैं संसारमें विचक्षण होनेके लिये पद्धतियोंको समझूँ और व्यवहारनीतिको सीखूँ, इसलिये आप मुझे वहाँ भेजते हैं।

पिता—तेरा शिक्षक यदि दुराचारी अथवा ऐसा ही होता तो?

पुत्र—तब तो बहुत बुरा होता। हमें अविवेक और कुवचन बोलना आता। व्यवहारनीति तो फिर सिखलाता ही कौन?

पिता—देख पुत्र! इसके ऊपरसे मैं अब तुझे एक उत्तम शिक्षा कहता हूँ। जैसे संसारमें पड़नेके लिये व्यवहारनीति सीखनेकी आवश्यकता है, वैसे ही परभवके लिये धर्मतत्त्व और धर्मनीतिमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। जैसे यह व्यवहारनीति सदाचारी शिक्षकसे उत्तम प्रकारसे मिल सकती है, वैसे ही परभवमें श्रेयस्कर धर्मनीति उत्तम गुरुसे ही मिल सकती है। व्यवहारनीतिके शिक्षक और धर्मनीतिके शिक्षकमें बहुत भेद है। बिल्लौरके टुकड़ेके समान व्यवहार-शिक्षक है, और अमूल्य कौस्तुभके समान आत्मधर्म-शिक्षक है।

पुत्र—सिरछत्र! आपका कहना योग्य है। धर्मके शिक्षककी सम्पूर्ण आवश्यकता है। आपने बार बार संसारके अनंत दुःखोंके संबंधमें मुझसे कहा है। संसारसे पार पानेके लिये धर्म ही सहायभूत है। इसलिये धर्म कैसे गुरुसे प्राप्त करनेसे श्रेयस्कर हो सकता है, यह मुझसे कृपा करके कहिये।

११ सद्गुरुतत्त्व
(२)

पिता—पुत्र! गुरु तीन प्रकारके कहे जाते हैं:—काष्ठस्वरूप, कागज़स्वरूप और पत्थरस्वरूप। काष्ठस्वरूप गुरु सर्वोत्तम हैं। क्योंकि संसाररूपी समुद्रको काष्ठस्वरूप गुरु ही पार होते हैं, और दूसरोंको पार कर सकते हैं। कागज़स्वरूप गुरु मध्यम हैं। ये संसार-समुद्रको स्वयं नहीं पार कर सकते, परन्तु कुछ पुण्य उपार्जन कर सकते हैं। ये दूसरेको नहीं पार कर सकते। पत्थरस्वरूप गुरु स्वयं डूबते हैं, और दूसरोंको भी डुबाते हैं। काष्ठस्वरूप गुरु केवल जिनेश्वर भगवान्के ही शासनमें हैं। बाकी दोनों प्रकारके गुरु कर्मावरणकी वृद्धि करनेवाले हैं। हम सब उत्तम वस्तुको चाहते हैं, और उत्तमसे उत्तम वस्तुएं मिल भी सकती हैं। गुरु यदि उत्तम हो तो वह भव-समुद्रमें नाविकरूप होकर सद्धर्म-नावमें बैठाकर पार पहुँचा सकता है। तत्त्वज्ञानके भेद, स्वस्वरूपभेद, लोकालोक विचार, संसार-स्वरूप यह सब उत्तम गुरुके विना नहीं मिल सकता। अब तुम्हें प्रश्न करनेकी इच्छा होगी कि ऐसे गुरुके कौन कौनसे लक्षण हैं? सो कहता हूँ। जो जिनेश्वर भगवान्की कही हुई आज्ञाको जानें, उसको यथार्थरूपसे पालें, और दूसरेको उपदेश करें, कंचन और कामिनीके सर्वथा त्यागी हों, विशुद्ध आहार-जल लेते हों, बाईस प्रकारके परीषह सहन करते हों, क्षांत, दांत, निरारंभी और जितेन्द्रिय हों, सैद्धान्तिक-ज्ञानमें निमग्न रहते हों, केवल धर्मके लिये ही शरीरका निर्वाह करते हों, निर्ग्रंथ-पंथको पालते हुए कायर न होते हों, सींक तक भी विना दिये न लेते हों, सब प्रकारके रात्रि भोजनके त्यागी हों, समभावी हों, और वीतरागतासे सत्योपदेशक हों; संक्षेपमें, उन्हें काष्ठस्वरूप सद्गुरु जानना चाहिये। पुत्र! गुरुके आचार और ज्ञानके संबंधमें आगममें बहुत विवेकपूर्वक वर्णन किया गया है। ज्यों ज्यों तू आगे विचार करना सीखता जायगा, त्यों त्यों पीछे मैं तुझे इन विशेष तत्त्वोंका उपदेश करता जाऊँगा।

पुत्र—पिताजी, आपने मुझे संक्षेपमें ही बहुत उपयोगी और कल्याणमय उपदेश दिया है। मैं इसका निरन्तर मनन करता रहूँगा।

१२ उत्तम गृहस्थ

संसारमें रहने पर भी उत्तम श्रावक गृहस्थाश्रमके द्वारा आत्म-कल्याणका साधन करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम भी प्रशंसनीय है।

ये उत्तम पुरुष सामायिक, क्षमापना, चोविहार प्रत्याख्यान इत्यादि यम नियमोंका सेवन करते हैं।

पर-पत्नीको और मा-बहिनकी दृष्टि रखते हैं।

सत्पात्रको यथाशक्ति दान देते हैं।

शांत, मधुर और कोमल भाषा बोलते हैं।

सत् शास्त्रोंका मनन करते हैं।

यथाशक्ति जीविकामें भी माया-कपट इत्यादि नहीं करते।

स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मुनि और गुरु इन सबका यथायोग्य सन्मान करते हैं।

मा बापको धर्मका उपदेश देते हैं।

यत्नसे घरकी स्वच्छता, भोजन पकाना, शयन इत्यादि कराते हैं।

स्वयं विचक्षणतासे आचरण करते हुए स्त्री और पुत्रको विनयी और धर्मात्मा बनाते हैं।

कुटुम्बमें ऐक्यकी वृद्धि करते हैं।

आये हुए अतिथिका यथायोग्य सन्मान करते हैं।

याचकको क्षुधातुर नहीं रखते।

सत्पुरुषोंका समागम, और उनका उपदेश धारण करते हैं।

निरंतर मर्यादासे और संतोषयुक्त रहते हैं।

यथाशक्ति घरमें शास्त्र-संचय रखते हैं।

अल्प आरंभसे व्यवहार चलाते हैं।

ऐसा गृहस्थावास उत्तम गतिका कारण होता है, ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं।

१३ जिनेश्वरकी भक्ति

(१)

जिज्ञासु—विचक्षण सत्य ! कोई शंकरकी, कोई ब्रह्माकी, कोई विष्णुकी, कोई सूर्यकी, कोई अग्निकी, कोई भवानीकी, कोई पैगम्बरकी और कोई क्राइस्टकी भक्ति करता है। ये लोग इनकी भक्ति करके क्या आशा रखते होंगे ?

सत्य—प्रिय जिज्ञासु ! ये भक्त लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी परम आशासे इन देवोंको भजते हैं।

जिज्ञासु—तो कहिये, क्या आपका मत है कि इससे वे उत्तम गति पा सकेंगे ?

सत्य—इनकी भक्ति करनेसे वे मोक्ष पा सकेंगे, ऐसा मैं नहीं कह सकता। जिनको ये लोग परमेश्वर कहते हैं उन्होंने कोई मोक्षको नहीं पाया, तो ये फिर उपासकको मोक्ष कहाँसे दे सकते हैं ? शंकर वगैरह कर्मोंका क्षय नहीं कर सके, और वे दूषणोंसे युक्त हैं, इस कारण वे पूजने योग्य नहीं।

जिज्ञासु—ये दूषण कौन कौनसे हैं, यह कहिये।

सत्य—अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, अविरति, भय, शोक, जुगुप्सा, दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, काम, हास्य, रति और अरति इन अठारह दूषणोंमेंसे यदि एक भी दूषण हो तो भी वे अपूज्य हैं। एक समर्थ पंडितने भी कहा है कि 'मैं परमेश्वर हूँ' इस प्रकार मिथ्या रीतिसे मनानेवाले पुरुष स्वयं अपने आपको ठगते हैं। क्योंकि पासमें स्त्री होनेसे वे विषयी ठहरते हैं, शस्त्र धारण किये हुए होनेसे वे द्वेषी ठहरते हैं, जपमाला धारण करनेसे उनके चित्तका व्यग्रपना सूचित होता है, 'मेरी शरणमें आ, मैं सब पापोंको हर लूँगा' ऐसा कहनेवाला अभिमानी और नास्तिक ठहरता है। ऐसी दशामें फिर दूसरेको वे कैसे पार कर सकते हैं ? तथा बहुतसे अवतार लेनेके कारण परमेश्वर कहलाते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि उन्हें किसी कर्मका भोगना अभी बाकी है।

जिज्ञासु—भाई ! तो पूज्य कौन हैं, और किसकी भक्ति करनी चाहिये, जिससे आत्मा स्वशक्तिका प्रकाश करे ?

सत्य—शुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप, जीवन-सिद्ध भगवान्, तथा सर्वदूषण रहित, कर्ममल-हीन, मुक्त, वीतराग, सकलभयसे रहित, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे आत्मशक्ति प्रकट होती है।

जिज्ञासु—क्या यह मानना ठीक है कि इनकी भक्ति करनेसे हमें ये मोक्ष देते हैं ?

सत्य—भाई जिज्ञासु ! वे अनंत ज्ञानी भगवान् तो वीतरागी और निर्विकार हैं । उन्हें हमें स्तुति-निन्दाका कुछ भी फल देनेका प्रयोजन नहीं । हमारी आत्मा अज्ञानी और मोहांध होकर जिस कर्म-दलसे घिरी हुई है, उस कर्म-दलको दूर करनेके लिये अनुपम पुरुषार्थकी आवश्यकता है । सब कर्म-दलको क्षयकर अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र, अनंतवीर्य और स्वस्वरूपमय हुए जिनेश्वरका स्वरूप आत्माकी निश्चयनयसे ऋद्धि होनेसे उस भगवान्का स्मरण, चिंतवन, ध्यान, और भक्ति यह पुरुषार्थ प्रदान करता है; विकारसे आत्माको विरक्त करता है, तथा शाँति और निर्जरा देता हैं । जैसे तलवार हाथमें लेनेसे शौर्यवृत्ति और भाँग पीनेसे नशा उत्पन्न होता है, वैसे ही इनके गुणोंका चिंतवन करनेसे आत्मा स्वस्वरूपानंदकी श्रेणी चढ़ता जाता है । दर्पण देखनेसे जैसे मुखकी आकृतिका भान होता है, वैसे ही सिद्ध अथवा जिनेश्वरके स्वरूपके चिंतवनरूप दर्पणसे आत्म-स्वरूपका भान होता है ।

१४ जिनेश्वरकी भक्ति

(२)

जिज्ञासु—आर्य सत्य ! सिद्धस्वरूपको प्राप्त जिनेश्वर तो सभी पूज्य हैं, तो फिर नामसे भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता है ?

सत्य—हाँ, अवश्य है । अनंत सिद्धस्वरूपका ध्यान करते हुए शुद्धस्वरूपका विचार होना यह कार्य है । परन्तु उन्होंने जिसके द्वारा उस स्वरूपको प्राप्त किया वह कारण कौनसा है, इसका विचार करनेपर उनके उग्रतप, महान् वैराग्य, अनंत दया और महान् ध्यान इन सबका स्मरण होता है, तथा अपने अर्हत् तीर्थंकर-पदमें वे जिस नामसे विहार करते थे, उस नामसे उनके पवित्र आचार और पवित्र चरित्रका अंतःकरणमें उदय होता है । यह उदय परिणाममें महा लाभदायक है । उदाहरणके लिये, महावीरका पवित्र नाम स्मरण करनेसे वे कौन थे, कब हुए, उन्होंने किस प्रकारसे सिद्धि पायी इत्यादि चरित्रोंकी स्मृति होती है । इससे हमारे वैराग्य, विवेक इत्यादिका उदय होता है ।

जिज्ञासु—परन्तु 'लोगस्स' में तो चौबीस जिनेश्वरके नामोंका सूचन किया है, इसका क्या हेतु है, यह मुझे समझाइये ।

सत्य—इसका यही हेतु है, कि इस कालमें इस क्षेत्रमें होनेवाले चौबीस जिनेश्वरोंके नामोंके और उनके चारित्रोंके स्मरण करनेसे शुद्ध तत्त्वका लाभ होता है । वीतरागीका चरित्र वैराग्यका उपदेश करता है । अनंत चौबीसीके अनंतनाम सिद्धस्वरूपमें समग्र आ जाते हैं । वर्तमान कालके चौबीस तीर्थंकरोंके नाम इस कालमें लेनेसे कालकी स्थितिका बहुत सूक्ष्म ज्ञान भी स्मृतिमें आता है । जैसे इनके नाम इस कालमें लिये जाते हैं, वैसे ही चौबीसी चौबीसीका नाम काल और चौबीसी बदलनेपर लिये जाते हैं, इसलिये अमुक नाम लेनेमें कोई हेतु नहीं है । परन्तु उनके गुणोंके पुरुषार्थकी स्मृतिके लिये वर्तमान चौबीसीकी स्मृति करना यह तत्त्व है । उनका जन्म, विहार, उपदेश यह सब नाम निक्षेपसे जाना जा सकता है । इससे

हमारी आत्मा प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बांसरीके शब्दसे जागृत होता है, वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुननेसे मोह-निद्रासे जागृत होती है।

जिज्ञासु—मुझे आपने जिनेश्वरकी भक्ति करनेके संबंधमें बहुत उत्तम कारण बताया। जिनेश्वरकी भक्ति कुछ फलदायक नहीं, आधुनिक शिक्षासे मेरी जो यह आस्था हो गई थी, वह नाश हो गई। जिनेश्वर भगवान्की भक्ति अवश्य करना चाहिये, यह मैं मान्य रखता हूँ।

सत्य—जिनेश्वर भगवान्की भक्तिसे अनुपम लाभ है। इसके महान् कारण हैं। उनके परम उपकारके कारण भी उनकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये। तथा उनके पुरुषार्थका स्मरण होनेसे भी शुभ वृत्तियोंका उदय होता है। जैसे जैसे श्रीजिनके स्वरूपमें वृत्ति लय होती है, वैसे वैसे परम शांति प्रवाहित होती है। इस प्रकार जिनभक्तिके कारणोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है, उन्हें आत्मार्थियोंको विशेषरूपसे मनन करना चाहिये।

१५ भक्तिका उपदेश

जिसकी शुभ शीतलतामय छाया है, जिसमें मनवांछित फलोंकी पंक्ति लगी है, ऐसी कल्पवृक्ष-रूपी जिनभक्तिका आश्रय लो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ १ ॥

इससे आनन्दमय अपना आत्मस्वरूप प्रगट होता है, और मनका समस्त संताप मिट जाता है, तथा बिना दामोंके ही कर्मोंकी अत्यन्त निर्जरा होती है, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ २ ॥

इससे सदा समभावी परिणामोंकी प्राप्ति होगी, अत्यंत जड़ और अधोगतिमें लेजानेवाले जन्मका नाश होगा, तथा यह शुभ मंगलमय है, इसकी पूर्णरूपसे इच्छा करो, और भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ३ ॥

शुभ भावोंके द्वारा मनको शुद्ध करो, नवकार महामंत्रका स्मरण करो, इसके समान और दूसरी कोई वस्तु नहीं है, इसलिये भगवान्की भक्ति करके भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ४ ॥

इससे सम्पूर्णरूपसे राग-कथाका क्षय करोगे, और यथार्थ रूपसे शुभतत्त्वोंको धारण करोगे। राजचन्द्र कहते हैं कि भगवद्भक्तिसे अनंत प्रपंचको दहन करो, और भगवान्की भक्तिसे भवके अंतको प्राप्त करो ॥ ५ ॥

भक्तिनो उपदेश

तोटक छंद

शुभ शीतलतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फलपंक्ति कही;
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजिने भगवंत भवंत लहो ॥ १ ॥
निज आत्मस्वरूप मुदा प्रगटे, मन ताप उताप तमाम मटे;
अति निर्जरता वण दाम ग्रहो, भजिने भगवंत भवंत लहो ॥ २ ॥
समभावि सदा परिणाम थशे, जडमंद अधोगति जन्म जशे;
शुभ मंगल आ परिपूर्ण चहो, भजिने भगवंत भवंत लहो ॥ ३ ॥
शुभ भाववडे मन शुद्ध करो, नवकार महापदने समरो;
नहि एह समान सुमंत्र कहो, भजिने भगवंत भवंत लहो ॥ ४ ॥
करशो क्षय केवल राग-कथा धरशो शुभ तत्त्वस्वरूप यथा;
नृपचन्द्र प्रपंच अनंत दहो, भजिने भगवंत भवंत लहो ॥ ५ ॥

१६ वास्तविक महत्ता

बहुतसे लोग लक्ष्मीसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे महान् कुटुम्बसे महत्ता मानते हैं, बहुतसे पुत्रसे महत्ता मानते हैं, तथा बहुतसे अधिकारसे महत्ता मानते हैं। परन्तु यह उनका मानना विवेकसे विचार करनेपर मिथ्या सिद्ध होता है। ये लोग जिसमें महत्ता ठहराते हैं उसमें महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है। लक्ष्मीसे संसारमें खान, पान, मान, अनुचरोंपर आज्ञा और वैभव ये सब मिलते हैं, और यह महत्ता है, ऐसा तुम मानते होगे। परन्तु इतनेसे इसकी महत्ता नहीं माननी चाहिये। लक्ष्मी अनेक पापोंसे पैदा होती है। यह आनेपर पीछे अभिमान, बेहोशी, और मूढ़ता पैदा करती है। कुटुम्ब-समुदायकी महत्ता पानेके लिये उसका पालन-पोषण करना पड़ता है। उससे पाप और दुःख सहन करना पड़ता है। हमें उपाधिसे पाप करके इसका उदर भरना पड़ता है। पुत्रसे कोई शाश्वत नाम नहीं रहता। इसके लिये भी अनेक प्रकारके पाप और उपाधि सहनी पड़ती हैं। तो भी इससे अपना क्या मंगल होता है? अधिकारसे परतंत्रता और अमलमद आता है, और इससे जुल्म, अनीति, रिश्वत और अन्याय करने पड़ते है, अथवा होते हैं। फिर कहो इसमें क्या महत्ता है? केवल पापजन्य कर्मकी। पापी कर्मसे आत्माकी नीच गति होती है। जहाँ नीच गति है वहाँ महत्ता नहीं, परन्तु लघुता है।

आत्माकी महत्ता तो सत्य वचन, दया, क्षमा, परोपकार, और समतामें है। लक्ष्मी इत्यादि तो कर्म-महत्ता है। ऐसा होनेपर भी चतुर पुरुष लक्ष्मीका दान देते हैं, उत्तम विद्याशालायें स्थापित करके परदुःख-भंजन करते हैं। एक विवाहित स्त्रीमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको रोककर परस्त्रीकी तरफ पुत्री-भावसे देखते हैं। कुटुम्बके द्वारा किसी समुदायका हित करते हैं। पुत्र होनेसे उसको संसारका भार देकर स्वयं धर्म प्रवेश-मार्गमें करते हैं। अधिकारके द्वारा विचक्षणतासे आचरण कर राजा और प्रजा दोनोंका हित करके धर्मनीतिका प्रकाश करते हैं। ऐसा करनेसे बहुतसी महत्तायें प्राप्त होती हैं सही, तो भी ये महत्तायें निश्चित नहीं हैं। मरणका भय सिरपर खड़ा है, और धारणायें धरी रह जाती हैं। संसारका कुछ मोह ही ऐसा है कि जिससे किये हुए संकल्प अथवा विवेक हृदयमेंसे निकल जाते हैं। इससे हमें यह निःसंशय समझना चाहिये, कि सत्यवचन, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य और समता जैसी आत्ममहत्ता और कहींपर भी नहीं है। शुद्ध पाँच महाव्रतधारी भिक्षुकने जो ऋद्धि और महत्ता प्राप्त की है, वह ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्तीने भी लक्ष्मी, कुटुम्ब, पुत्र अथवा अधिकारसे नहीं प्राप्त की, ऐसी मेरी मान्यता है।

१७ बाहुबल

बाहुबल अर्थात् "अपनी भुजाका बल"—यह अर्थ यहाँ नहीं करना चाहिये। क्योंकि बाहुबल नामके महापुरुषका यह एक छोटासा अद्भुत चरित्र है।

सर्वसंगका परित्याग करके भगवान् ऋषभदेवजी भरत और बाहुबल नामके अपने दो पुत्रोंको राज्य सौंपकर विहार करते थे। उस समय भरतेश्वर चक्रवर्ती हुए। आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् प्रत्येक राज्यपर उन्होंने अपनी आम्नाय स्थापित की, और छह खंडकी प्रभुता प्राप्त की। अकेले बाहुबलने ही इस प्रभुताको स्वीकार नहीं की। इससे परिणाममें भरतेश्वर और बाहुबलमें युद्ध हुआ। बहुत समयतक भरतेश्वर और बाहुबल इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं हटा। तब क्रोधावेशमें आकर भरतेश्वरने बाहुबलपर चक्र छोड़ा। एक वीर्यसे उत्पन्न हुए भाईपर चक्र प्रभाव नहीं कर सकता।

इस नियमसे वह चक्र फिर कर पीछे भरतेश्वरके हाथमें आया। भरतके चक्र छोड़नेसे बाहुबलको बहुत क्रोध आया। उन्होंने महाबलवत्तर मुष्टि चलाई। तत्काल ही वहाँ उनकी भावनाका स्वरूप बदला। उन्होंने विचार किया कि मैं यह बहुत निंदनीय काम कर रहा हूँ, इसका परिणाम कितना दुःखदायक है! भले ही भरतेश्वर राज्य भोगें। व्यर्थ ही परस्परका नाश क्यों करना चाहिये? यह मुष्टि मारनी योग्य नहीं है, परन्तु उठाई तो अब पीछे हटाना भी योग्य नहीं। यह विचारकर उन्होंने पंचमुष्टि-केशलोंच किया, और वहाँसे मुनि-भावसे चल पड़े। उन्होंने जहाँ भगवान् आदीश्वर अठानवें दीक्षित पुत्रोंसे और आर्य, आर्या सहित विहार करते थे, वहां जानेकी इच्छा की। परन्तु मनमें मान आया कि यदि वहां मैं जाऊँगा तो अपनेसे छोटे अठानवें भाईयोंको वंदन करना पड़ेगा। इसलिये वहाँ तो जाना योग्य नहीं। इस प्रकार मानवृत्तिसे वनमें वे एकाग्र ध्यानमें अवस्थित हो गये। धीरे धीरे बारह मास बीत गये। महातपसे बाहु-बलकी काया अस्थिपंजरावशेष रह गई। वे सूखे हुए वृक्ष जैसे दीखने लगे, परन्तु जबतक मानका अंकुर उनके अंतःकरणसे नहीं हटा, तबतक उन्होंने सिद्धि नहीं पायी। ब्राह्मी और सुंदरीने आकर उनको उपदेश किया:—"आर्यवीर! अब मदोन्मत्त हाथीपरसे उतरो, इससे तो बहुत सहन करना पड़ा," उनके इन वचनोंसे बाहुबल विचारमें पड़े। विचारते विचारते उन्हें भान हुआ कि "सत्य है, मैं मानरूपी मदोन्मत्त हाथीपरसे अभी कहाँ उतरा हूँ? अब इसपरसे उतरना ही मंगलकारक है।" ऐसा विचारकर उन्होंने वंदन करनेके लिये पैर उठाया, कि उन्होंने अनुपम दिव्य कैवल्य कमलाको पाया।

वाचक! देखो, मान यह कैसी दुरित वस्तु है।

१८ चारगति

जीव सातावेदनीय और असातावेदनीयका वेदन करता हुआ शुभाशुभ कर्मका फल भोगनेके लिये इस संसार वनमें चार गतियोंमें भटका करता है। तो इन चार गतियोंको अवश्य जानना चाहिये।

१ नरकगति—महाआरंभ, मदिरापान, मांसभक्षण इत्यादि तीव्र हिंसाके करनेवाले जीव अघोर नरकमें पड़ते हैं। वहाँ लेश भी साता, विश्राम अथवा सुख नहीं। वहाँ महा अंधकार व्याप्त है, अंग-छेदन सहन करना पड़ता है, अग्निमें जलना पड़ता है, और छुरेकी धार जैसा जल पीना पड़ता है। वहाँ अनंत दुःखके द्वारा प्राणियोंको संक्लेश, असाता और बिलबिलाहट सहन करने पड़ते हैं। ऐसे दुःखोंको केवलज्ञानी भी नहीं कह सकते। अहो! इन दुःखोंको अनंत बार इस आत्माने भोगा है।

२ तिर्यंचगति—छल, झूठ, प्रपंच इत्यादिकके कारण जीव सिंह, बाघ, हाथी, मृग, गाय, भैंस, बैल इत्यादि तिर्यंचके शरीरको धारण करता है। इस तिर्यंच गतिमें भूख, प्यास, ताप, वध, बंधन, ताड़न, भारवहन इत्यादि दुःखोंको सहन करता है।

३ मनुष्यगति—खाद्य, अखाद्यके विषयमें विवेक रहित होता है, लज्जाहीन होकर माता और पुत्रीके साथ काम-गमन करनेमें जिसे पापापापका भान नहीं, जो निरंतर मांसभक्षण, चोरी, परस्त्री-गमन वगैरह महा पातक किया करता है, यह तो मानों अनार्य देशका अनार्य मनुष्य है। आर्य देशमें भी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि मतिहीन, दरिद्री, अज्ञान और रोगसे पीड़ित मनुष्य हैं और मान, अपमान इत्यादि अनेक प्रकारके दुःख भोग रहे हैं।

देवगति—परस्पर वैर, ईर्ष्या, क्लेश, शोक, मत्सर, काम, मद, क्षुधा, आदिसे देवलोग भी आयु व्यतीत कर रहे हैं। यह देवगति है।

इस प्रकार चारों गतियोंका स्वरूप सामान्य रूपसे कहा। इन चारों गतियोंमें मनुष्यगति सबसे श्रेष्ठ और दुर्लभ है, आत्माका परमहित—मोक्ष इस गतिसे प्राप्त होता है। इस मनुष्यगतिमें भी बहुतसे दुःख और आत्मकल्याण करनेमें अंतराय आते हैं।

एक तरुण सुकुमारको रोमरोममें अत्यंत तप्त लाल सूए चुभानेसे जो असह्य वेदना होती है उससे आठगुनी वेदना जीव गर्भस्थानमें रहते हुए प्राप्त करता है। यह जीव लगभग नव महीना मल, मूत्र, खून, पीप आदिमें दिनरात मूर्च्छागत स्थितिमें वेदना भोग भोगकर जन्म पाता है। गर्भस्थानकी वेदनासे अनंतगुनी वेदना जन्मके समय होती है। तत्पश्चात् बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यह अवस्था मल मूत्र, धूल और नग्नावस्थामें अनसमझीसे रो भटककर पूर्ण होती है। इसके बाद युवावस्था आती है। इस समय धन उपार्जन करनेके लिये नाना प्रकारके पापोंमें पड़ना पड़ता है। जहाँसे उत्पन्न हुआ है, वहींपर अर्थात् विषय-विकारमें वृत्ति जाती है। उन्माद, आलस्य, अभिमान, निंद्य-दृष्टि, संयोग, वियोग, इस प्रकार घटमालमें युवा वय चली जाती है। फिर वृद्धावस्था आ जाती है। शरीर काँपने लगता है, मुखसे लार बहने लगती है, त्वचापर सिकुड़न पड़ जाती है; सूँघने, सुनने, और देखनेकी शक्तियाँ बिलकुल मंद पड़ जाती हैं; केश धवल होकर खिरने लगते हैं; चलनेकी शक्ति नहीं रहती; हाथमें लकड़ी लेकर लड़खड़ाते हुए चलना पड़ता है; अथवा जीवन पर्यंत खाटपर ही पड़ा रहना पड़ता है; श्वास, खांसी, इत्यादि रोग आकर घेर लेते हैं; और थोड़े कालमें काल आकर कवलित कर जाता है। इस देहमेंसे जीव चल निकलता है। कायाका होना न होनेके समान हो जाता है। मरण समयमें भी कितनी अधिक वेदना होती है? चारों गतियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य देहमें भी कितने अधिक दुःख भरे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी ऊपर कहे अनुसार काल अनुक्रमसे आता हो यह बात भी नहीं। वह चाहे जब आकर ले जाता है। इसीलिये विचक्षण पुरुष प्रमादके बिना आत्मकल्याणकी आराधना करते हैं।

१९ संसारकी चार उपमायें

(१)

संसारको तत्त्वज्ञानी एक महासमुद्रकी भी उपमा देते हैं। संसार रूपी समुद्र अनंत और अपार है। अहो प्राणियों! इससे पार होनेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! इस प्रकार उनके अनेक स्थानोंपर वचन हैं। संसारको समुद्रकी उपमा उचित भी है। समुद्रमें जैसे लहरें उठा करती हैं, वैसे ही संसारमें विषयरूपी अनेक लहरें उठती हैं। जैसे जल ऊपरसे सपाट दिखाई देता है, वैसे ही संसार भी सरल दीख पड़ता है। जैसे समुद्र कहीं बहुत गहरा है, और कहीं भँवरोंमें डाल देता है, वैसे ही संसार काम विषय प्रपंच आदिमें बहुत गहरा है और वह मोहरूपी भँवरोंमें डाल देता है। जैसे थोड़ा जल रहते हुए भी समुद्रमें खड़े रहनेसे कीचड़में धँस जाते हैं, वैसे ही संसारके लेशभर प्रसंगमें भी वह तृष्णारूपी कीचड़में धँसा देता है। जैसे समुद्र नाना प्रकारकी चट्टानों और तूफानोंसे नाव अथवा जहाजको जोखम पहुँचाता है, वैसे ही संसार स्त्रीरूपी चट्टानें और कामरूपी तूफानसे आत्माको जोखम पहुँचाता है। जैसे समुद्रका अगाध जल शीतल दिखाई देनेपर भी उसमें बड़वानल अग्नि वास करती है, वैसे ही संसारमें माया-

रूपी अग्नि जला ही करती है। जैसे समुद्र चौमासेमें अधिक जल पाकर गहरा उतर जाता है, वैसे ही संसार पापरूपी जल पाकर गहरा हो जाता है, अर्थात् वह मजबूत जड़ जमाता जाता है।

२ संसारको दूसरी उपमा अग्निकी लागू होती है। जैसे अग्निसे महातापकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही संसारसे भी त्रिविध तापकी उत्पत्ति होती है। जैसे अग्निसे जला हुआ जीव महा विलबिलाहट करता है, वैसे ही संसारसे जला हुआ जीव अनंत दुःखरूप नरकसे असह्य विलबिलाहट करता है। जैसे अग्नि सब वस्तुओंको भक्षण कर जाती है, वैसे ही अपने मुखमें पड़े हुएको संसार भक्षण कर जाता है। जिस प्रकार अग्निमें ज्यों ज्यों घी और ईंधन होमे जाते हैं, त्यों त्यों वह वृद्धि पाती है; उसी प्रकार संसाररूप अग्निमें तीव्र मोहरूप घी और विषयरूप ईंधनके होम करनेसे वह वृद्धि पाती है।

३ संसारको तीसरी उपमा अंधकारकी लागू होती है। जैसे अंधकारमें रस्सी सर्पका भान कराती है, वैसे ही संसार सत्यको असत्यरूप बताता है। जैसे अंधकारमें प्राणी इधर उधर भटककर विपत्ति भोगते हैं, वैसे ही संसारमें बेसुध होकर अनंत आत्मायें चतुर्गतिमें इधर उधर भटकती फिरती हैं। जैसे अंधकारमें काँच और हीरेका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही संसाररूपी अंधकारमें विवेक और अविवेकका ज्ञान नहीं होता। जैसे अंधकारमें प्राणी आँखोंके होनेपर भी अंधे बन जाते हैं, वैसे ही शक्तिके होनेपर भी संसारमें प्राणी मोहांध बन जाते हैं। जैसे अंधकारमें उल्लू आदिका उपद्रव बढ़ जाता है, वैसे ही संसारमें लोभ, माया आदिका उपद्रव बढ़ जाता है। इस तरह अनेक प्रकारसे देखनेपर संसार अंधकार-रूप ही मालूम होता है।

२० संसारकी चार उपमायें

(२)

४ संसारको चौथी उपमा शकट-चक्र अर्थात् गाड़ीके पहियोंकी लागू होती है। जैसे चलता हुआ शकट-चक्र फिरता रहता है, वैसे ही प्रवेश होनेपर संसार फिरता रहता है। जैसे शकट-चक्र धुरेके बिना नहीं चल सकता, वैसे ही संसार मिथ्यात्वरूपी धुरेके बिना नहीं चल सकता। जैसे शकट-चक्र आरोंसे टिका रहता है, वैसे ही संसार-शकट प्रमाद आदि आरोंसे टिका हुआ है। इस तरह अनेक प्रकारसे शकट-चक्रकी उपमा भी संसारको दी जा सकती है।

इसप्रकार संसारको जितनी अधो उपमायें दी जा सकें उतनी ही थोड़ी हैं। मुख्य रूपसे ये चार उपमायें हमने जान लीं, अब इसमेंसे हमें तत्त्व लेना योग्य है:—

१ जैसे सागर मजबूत नाव और जानकार नाविकसे तैरकर पार किया जाता है, वैसे ही सद्धर्मरूपी नाव और सद्गुरुरूपी नाविकसे संसार-सागर पार किया जा सकता है। जैसे सागरमें विचक्षण पुरुषोंने निर्विघ्न रास्तेको ढूँढ़कर निकाला है, वैसे ही जिनेश्वर भगवान्‌ने तत्त्वज्ञानरूप निर्विघ्न उत्तम रास्ता बताया है।

२ जैसे अग्नि सबको भक्षण कर जाती है, परन्तु पानीसे बुझ जाती है, वैसे ही वैराग्य-जलसे संसार-अग्नि बुझ सकती है।

३ जैसे अंधकारमें दीपक ले जानेसे प्रकाश होनेसे हम पदार्थोंको देख सकते हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानरूपी न बुझनेवाला दीपक संसाररूपी अंधकारमें प्रकाश करके सत्य वस्तुको बताता है।

४ जैसे शकट-चक्र बैलके बिना नहीं चल सकता, वैसे ही संसार-चक्र राग और द्वेषके बिना नहीं चल सकता।

इस प्रकार इस संसार-रोगके निवारणके प्रतीकारको उपमाद्वारा अनुपान आदिके साथ कहा है। इसे आत्महितैषियोंको निरंतर मनन करना और दूसरोंको उपदेश देना चाहिये।

२१ बारह भावना

वैराग्य और ऐसे ही अन्य आत्म-हितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये तत्त्वज्ञानियोंने बारह भावनाओंका चिंतवन करनेके लिये कहा है।

१ शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुंब, परिवार आदि सब विनाशी हैं। जीवका मूलधर्म अविनाशी है, ऐसे चिंतवन करना पहली 'अनित्यभावना' है।

२ संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक शुभ धर्मकी शरण ही सत्य है, ऐसा चिंतवन करना दूसरी 'अशरणभावना' है।

३ "इस आत्माने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सम्पूर्ण भवोंको भोगा है। इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छूटूँगा। यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्षमयी हूँ," ऐसा चिंतवन करना तीसरी 'संसारभावना' है।

४ "यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायगा, और अपने किये हुए कर्मोंको अकेला ही भोगेगा," ऐसा चिंतवन करना चौथी 'एकत्वभावना' है।

५ इस संसारमें कोई किसीका नहीं, ऐसा चिंतवन करना पाँचवीं 'अन्यत्वभावना' है।

६ "यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्रकी खान है, रोग और जराके रहनेका धाम है, इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ," ऐसा चिंतवन करना छट्ठी 'अशुचिभावना' है।

७ राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आश्रवके कारण हैं, ऐसा चिंतवन करना सातवीं 'आश्रवभावना' है।

८ जीव, ज्ञान और ध्यानमें प्रवृत्त होकर नये कर्मोंको नहीं बाँधता, ऐसा चिंतवन करना आठवीं 'संवरभावना' है।

९ ज्ञानसहित क्रिया करना निर्जराका कारण है, ऐसा चिंतवन करना नौवीं 'निर्जराभावना' है।

१० लोकके स्वरूपकी उत्पत्ति, स्थिति, और विनाशका स्वरूप विचारना, वह दसवीं 'लोकस्वरूप भावना' है।

११ संसारमें भटकते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना दुर्लभ है; अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी हुआ तो चारित्र–सर्व विरतिपरिणामरूप धर्म–का पाना दुर्लभ है, ऐसा चिंतवन करना ग्यारहवीं 'बोधिदुर्लभभावना' है।

१२ धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु, और इनके उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिंतवन करना बारहवीं 'धर्मदुर्लभभावना' है।

इन बारह भावनाओंको मननपूर्वक निरंतर विचारनेसे सत्पुरुषोंने उत्तम पदको पाया है, पाते हैं, और पावेंगे।

२२ कामदेव श्रावक

महावीर भगवान्‌के समयमें बारह व्रतोंको विमल भावसे धारण करनेवाला, विवेकी और निर्ग्रंथवचनानुरक्त कामदेव नामका एक श्रावक, उनका शिष्य था। एक बार सुधर्माकी सभामें इंद्रने कामदेवकी धर्ममें अचलताकी प्रशंसा की। इतनेमें वहाँ जो एक तुच्छ बुद्धिवाला देव बैठा हुआ था, उसने कामदेवकी इस सुदृढ़ताके प्रति अविश्वास प्रगट किया, और कहा कि जबतक परीषह नहीं पड़ती, तभी तक सभी सहनशील और धर्ममें दृढ़ दीखते हैं। मैं अपनी इस बातको कामदेवको चलायमान करके सत्य करके दिखा सकता हूँ। धर्मदृढ़ कामदेव उस समय कायोत्सर्गमें लीन था। प्रथम ही देवताने विक्रियासे हाथीका रूप धारण किया, और कामदेवको खूब ही खूँदा, परन्तु कामदेव अचल रहा। अब देवताने मूसल जैसा अंग बना करके काले वर्णका सर्प होकर भयंकर फुँकार मारी, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे लेशमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। तत्पश्चात् देवताने अट्टहास्य करते हुए राक्षसका शरीर धारण करके अनेक प्रकारके उपसर्ग किये, तो भी कामदेव कायोत्सर्गसे न डिगा। उसने सिंह वगैरहके अनेक भयंकर रूप बनाये, तो भी कामदेवके कायोत्सर्गमें लेशभर भी हीनता नहीं आयी। इस प्रकार वह देवता रातके चारों पहर उपद्रव करता रहा, परन्तु वह अपनी धारणामें सफल नहीं हुआ। इसके बाद उस देवने अवधिज्ञानके उपयोगसे देखा, तो कामदेवको मेरुके शिखरकी तरह अडोल पाया। वह देवता कामदेवकी अद्भुत निश्चलता जानकर उसको विनय भावसे प्रणाम करके अपने दोषोंकी क्षमा माँगकर अपने स्थानको चला गया।

कामदेव श्रावककी धर्म-दृढ़ता यह शिक्षा देती है, कि सत्य धर्म और सत्य प्रतिज्ञामें परम दृढ़ रहना चाहिये, और कायोत्सर्ग आदिको जैसे बने तैसे एकाग्र चित्तसे और सुदृढ़तासे निर्दोष करना चाहिये। चल-विचल भावसे किया हुआ कायोत्सर्ग आदि बहुत दोष युक्त होता है। पाई जितने द्रव्यके लाभके लिये धर्मकी सौगंध खानेवालोंकी धर्ममें दृढ़ता कहाँसे रह सकती है? और रह सकती हो, तो कैसी रहेगी, यह विचारते हुए खेद होता है।

२३ सत्य

सामान्य रूपसे यह कहा भी जाता है, कि सत्य इस जगत्‌का आधार है, अथवा यह जगत् सत्यके आधारपर ठहरा हुआ है। इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है, कि धर्म, नीति, राज और व्यवहार ये सब सत्यके द्वारा चल रहे हैं, और यदि ये चारों न हों तो जगत्‌का रूप कितना भयंकर हो जाय? इसलिये सत्य जगतका आधार है, यह कहना कोई अतिशयोक्ति जैसा अथवा न मानने योग्य नहीं।

वसुराजाका एक शब्दका असत्य बोलना कितना दुःखदायक हुआ था, इस प्रसंगपर विचार करनेके लिये हम यहाँ कुछ कहेंगे।

राजा वसु, नारद और पर्वत इन तीनोंने एक गुरुके पास विद्या पढ़ी थी। पर्वत अध्यापकका पुत्र था। अध्यापकका मरण हुआ। इसलिये पर्वत अपनी माँ सहित वसु राजाके दरबारमें आकर रहने लगा। एक रातको पर्वतकी माँ पासमें बैठी थी, तथा पर्वत और नारद शास्त्राभ्यास कर रहे थे। उस समय पर्वतने "अजैर्यष्टव्यं" ऐसा एक वाक्य बोला। नारदने पर्वतसे पूछा, "अज किसे कहते हैं?"

पर्वतने कहा, "अज अर्थात् बकरा"। नारद बोला, "हम तीनों जने जिस समय तेरे पिताके पास पढ़ते थे, उस समय तेरे पिताने तो 'अज' का अर्थ तीन वर्षके 'व्रीहि' बताया था, अब तू विपरीत अर्थ क्यों करता है? इस प्रकार परस्पर वचनोंका विवाद बढ़ा। तब पर्वतने कहा, "जो हमें वसुराजा कह दे, वह ठीक है।" इस बातको नारदने स्वीकार की, और जो जीते, उसके लिये एक शर्त लगाई। पर्वतकी माँ जो पासमें ही बैठी थी, उसने यह सब सुना। 'अज' का अर्थ 'व्रीहि' उसे भी याद था। परन्तु शर्तमें उसका पुत्र हारेगा, इस भयसे पर्वतकी माँ रातमें राजाके पास गई और पूँछा,—"राजन्! 'अज' का क्या अर्थ है?" वसुराजाने संबंधपूर्वक कहा, "अजका अर्थ व्रीहि होता है"। तब पर्वतकी माँने राजासे कहा, "मेरे पुत्रने अजका अर्थ 'बकरा' कह दिया है, इस-लिये आपको उसका पक्ष लेना पड़ेगा। वे लोग आपसे पूँछनेके लिये आवेंगे।" वसुराजा बोला, "मैं असत्य कैसे कहूँगा, मुझसे यह न हो सकेगा।" पर्वतकी माँने कहा, "परन्तु यदि आप मेरे पुत्रका पक्ष न लेंगे, तो मैं आपको हत्याका पाप दूँगी।" राजा विचारमें पड़ गया, कि सत्यके कारण ही मैं मणिमय सिंहासनपर अधर बैठा हूँ, लोक-समुदायका न्याय करता हूँ, और लोग भी यही जानते हैं, कि राजा सत्य गुणसे सिंहासनपर अंतरीक्ष बैठता है। अब क्या करना चाहिये? यदि पर्वतका पक्ष न लूँ, तो ब्राह्मणी मरती है; और यह मेरे गुरुकी स्त्री है। अन्तमें लाचार होकर राजाने ब्राह्मणीसे कहा, "तुम बेखटके जाओ, मैं पर्वतका पक्ष लूँगा।" इस प्रकार निश्चय कराकर पर्वतकी माँ घर आयी। प्रभातमें नारद, पर्वत और उसकी माँ विवाद करते हुए राजाके पास आये। राजा अनजान होकर पूँछने लगा कि क्या बात है, पर्वत? पर्वतने कहा, "राजाधिराज! अजका क्या अर्थ है, सो कहिये।" राजाने नारदसे पूछा, "तुम इसका क्या अर्थ करते हो?" नारदने कहा, 'अज' का अर्थ तीन वर्षका 'व्रीहि' होता है। तुम्हें क्या याद नहीं आता? वसुराजा बोला, 'अज' का अर्थ 'बकरा' है 'व्रीहि' नहीं। इतना कहते ही देवताने सिंहासनसे उछालकर वसुको नीचे गिरा दिया। वसु काल-परिणाम पाकर नरकमें गया।

इसके ऊपरसे यह मुख्य शिक्षा मिलती है, कि सामान्य मनुष्योंको सत्य, और राजाको न्यायमें अपक्षपात और सत्य दोनों ग्रहण करने योग्य हैं।

भगवान्ने जो पाँच महाव्रत कहे हैं, उनमेंसे प्रथम महाव्रतकी रक्षाके लिये बाकीके चार व्रत बाड़रूप हैं, और उनमें भी पहली बाड़ सत्य महाव्रत है। इस सत्यके अनेक भेदोंको सिद्धांतसे श्रवण करना आवश्यक है।

२४ सत्संग

सत्संग सब सुखोंका मूल है। सत्संगका लाभ मिलते ही उसके प्रभावसे वांछित सिद्धि हो ही जाती है। अधिकसे अधिक भी पवित्र होनेके लिये सत्संग श्रेष्ठ साधन है। सत्संगकी एक घड़ी जितना लाभ देती है, उतना कुसंगके करोड़ों वर्षभी लाभ नहीं दे सकते। वे अधोगतिमय महापाप कराते हैं, और आत्माको मलिन करते हैं। सत्संगका सामान्य अर्थ उत्तम लोगोंका सहवास करना होता है। जैसे जहाँ अच्छी हवा नहीं आती, वहाँ रोगकी वृद्धि होती है, वैसे ही जहाँ सत्संग नहीं, वहाँ आत्म-रोग बढ़ता

है। जैसे दुर्गंधसे घबड़ाकर हम नाकमें वस्त्र लगा लेते हैं, वैसे ही कुसंगका सहवास बंद करना आवश्यक है। संसार भी एक प्रकारका संग है, और वह अनंत कुसंगरूप तथा दुःखदायक होनेसे त्यागने योग्य है। चाहे जिस तरहका सहवास हो परन्तु जिससे आत्म-सिद्धि न हो, वह सत्संग नहीं। जो आत्मापर सत्यका रंग चढ़ावे, वह सत्संग है, और जो मोक्षका मार्ग बतावे वह मैत्री है। उत्तम शास्त्रमें निरंतर एकाग्र रहना भी सत्संग है। सत्पुरुषोंका समागम भी सत्संग है। जैसे मलिन वस्त्र साबुन तथा जलसे साफ हो जाता है, वैसे ही शास्त्र-बोध और सत्पुरुषोंका समागम आत्माकी मलिनताको हटाकर शुद्धता प्रदान करते हैं। जिसके साथ हमेशा परिचय रहकर राग, रंग, गान, तान और स्वादिष्ट भोजन सेवन किये जाते हों, वह तुम्हें चाहे कितना भी प्रिय हो, तो भी निश्चय मानो कि वह सत्संग नहीं, परन्तु कुसंग है। सत्संगसे प्राप्त हुआ एक वचन भी अमूल्य लाभ देता है। तत्त्वज्ञानियोंका यह मुख्य उपदेश है, कि सर्व संगका परित्याग करके अंतरंगमें रहनेवाले सब विकारोंसे विरक्त रहकर एकांतका सेवन करो। उसमें सत्संगका माहात्म्य आ जाता है। सम्पूर्ण एकांत तो ध्यानमें रहना अथवा योगाभ्यासमें रहना है। परन्तु जिसमेंसे एक ही प्रकारकी वृत्तिका प्रवाह निकलता हो; ऐसा समस्वभावीका समागम, भावसे एक ही रूप होनेसे बहुत मनुष्योंके होने पर भी, और परस्परका सहवास होनेपर भी, एकान्तरूप ही है; और ऐसा एकान्त तो मात्र संत-समागममें ही है। कदाचित् कोई ऐसा सोचेगा, कि जहाँ विषयीमंडल एकत्रित होता है, वहाँ समभाव और एक सरखी वृत्ति होनेसे उसे भी एकांत क्यों नहीं कहना चाहिये? इसका समाधान तत्काल हो जाता है, कि ये लोग एक स्वभावके नहीं होते। उनमें परस्पर स्वार्थबुद्धि और मायाका अनुसंधान होता है; और जहाँ इन दो कारणोंसे समागम होता है, वहाँ एक-स्वभाव अथवा निर्दोषता नहीं होती। निर्दोष और समस्वभावीका समागम तो परस्पर शान्त मुनीश्वरोंका है, तथा वह धर्मध्यानमें प्रशस्त अल्पारंभी पुरुषोंका भी कुछ अंशमें है। जहाँ केवल स्वार्थ और माया-कपट ही रहता है, वहां समस्वभावता नहीं, और वह सत्संग भी नहीं। सत्संगसे जो सुख और आनन्द मिलता है, वह अत्यन्त स्तुतिपात्र है। जहाँ शास्त्रोंके सुंदर प्रश्नोत्तर हों, जहाँ उत्तम ज्ञान और ध्यानकी सुकथा हो, जहाँ सत्पुरुषोंके चरित्रोंपर विचार बनते हों, जहाँ तत्त्वज्ञानके तरंगकी लहरें छूटती हों, जहाँ सरल स्वभावसे सिद्धांत-विचारकी चर्चा होती हो, जहाँ मोक्ष विषयक कथनपर खूब विवेचन होता हो, ऐसा सत्संग मिलना महा दुर्लभ है। यदि कोई यह कहे, कि क्या सत्संग मंडलमें कोई मायावी नहीं होता? तो इसका समाधान यह है, कि जहाँ माया और स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग ही नहीं होता। राजहंसकी सभाका कौआ यदि ऊपरसे देखनेमें कदाचित् न पहचाना जाय, तो स्वरसे अवश्य पहचाना जायगा। यदि वह मौन रहे, तो मुखकी मुद्रासे पहचाना जायगा। परन्तु वह कभी छिपा न रहेगा। इसीप्रकार मायावी लोग सत्संगमें स्वार्थके लिये जाकर क्या करेंगे? वहाँ पेट भरनेकी बात तो होती नहीं। यदि वे दो घड़ी वहाँ जाकर विश्रांति लेते हों, तो खुशीसे लें जिससे रंग लगे, नहीं तो दूसरी बार उनका आगमन नहीं होता। जिस प्रकार जमीनपर नहीं तैरा जाता, उसी तरह सत्संगसे डूबा नहीं जाता। ऐसी सत्संगमें चमत्कृति है। निरंतर ऐसे निर्दोष समागममें मायाको लेकर आवे भी कौन? कोई ही दुर्भागी, और वह भी असंभव है।

सत्संग यह आत्माकी परम हितकारी औषध है।

२५ परिग्रहका मर्यादित करना

जिस प्राणीको परिग्रहकी मर्यादा नहीं, वह प्राणी सुखी नहीं। उसे जितना भी मिल जाय वह थोड़ा ही है। क्योंकि जितना उसे मिलता जाता है उतनेसे विशेष प्राप्त करनेकी उसकी इच्छा होती जाती है। परिग्रहकी प्रबलतामें जो कुछ मिला हो, उसका भी सुख नहीं भोगा जाता, परन्तु जो हो वह भी कदाचित् चला जाता है। परिग्रहसे निरंतर चल-विचल परिणाम और पाप-भावना रहती है। अकस्मात् ऐसी पाप-भावनामें यदि आयु पूर्ण हो, तो वह बहुधा अधोगतिका कारण हो जाता है। सम्पूर्ण परिग्रह तो मुनीश्वर ही त्याग सकते हैं। परन्तु गृहस्थ भी इसकी कुछ मर्यादा कर सकते हैं। मर्यादा होनेके उपरांत परिग्रहकी उत्पत्ति ही नहीं रहती। तथा इसके कारण विशेष भावना भी बहुधा नहीं होती, और जो मिला है, उसमें संतोष रखनेकी आदत पड़ जाती है। इससे काल सुखसे व्यतीत होता है। न जाने लक्ष्मी आदिमें कैसी विचित्रता है, कि जैसे जैसे उसका लाभ होता जाता है, वैसे वैसे लोभकी वृद्धि होती जाती है। धर्मसंबंधी कितना ही ज्ञान होनेपर और धर्मकी दृढ़ता होनेपर भी परिग्रहके पाशमें पड़े हुए पुरुष कोई विरले ही छूट सकते हैं। वृत्ति इसमें ही लटकी रहती है। परन्तु यह वृत्ति किसी कालमें सुखदायक अथवा आत्महितैषी नहीं हुई। जिसने इसकी मर्यादा थोड़ी नहीं की वह बहुत दुःखका भागी हुआ है।

छह खंडोंको जीतकर आज्ञा चलानेवाला राजाधिराज चक्रवर्ती कहलाता है। इन समर्थ चक्रवर्तियोंमें सुभूम नामक एक चक्रवर्ती हो गया है। यह छह खंडोंके जीतनेके कारण चक्रवर्ती माना गया। परन्तु इतनेसे उसकी मनोवांछा तृप्त न हुई, अब भी वह तरसता ही रहा। इसलिये इसने धातकी खंडके छह खंडोंको जीतनेका निश्चय किया। सब चक्रवर्ती छह खंडोंको जीतते हैं, और मैं भी इतने ही जीतूँ, उसमें क्या महत्ता है? बारह खंडोंके जीतनेसे मैं चिरकाल तक प्रसिद्ध रहूँगा, और समर्थ आज्ञा जीवनपर्यंत इन खंडोंपर चला सकूँगा। इस विचारसे उसने समुद्रमें चर्मरत्न छोड़ा। उसके ऊपर सब सैन्य आदिका आधार था। चर्मरत्नके एक हजार देवता सेवक होते हैं। उनमें प्रथम एकने विचारा, कि न जाने इसमेंसे कितने वर्षमें छुटकारा होगा, इसलिये अपनी देवांगनासे तो मिल आऊँ। ऐसा विचार कर वह चला गया। इसी विचारसे दूसरा देवता गया, फिर तीसरा गया। ऐसे करते करते हज़ारके हज़ार देवता चले गये। अब चर्मरत्न डूब गया। अश्व, गज और सब सेनाके साथ सुभूम चक्रवर्ती भी डूब गया। पाप और पाप भावनामें ही मरकर वह चक्रवर्ती अनंत दुखसे भरे हुए सातवें तमतमप्रभा नरकमें जाकर पड़ा। देखो! छह खंडका आधिपत्य तो भोगना एक ओर रहा, परन्तु अकस्मात् और भयंकर रीतिसे परिग्रहकी प्रीतिसे इस चक्रवर्तीकी मृत्यु हुई, तो फिर दूसरोंके लिये तो कहना ही क्या? परिग्रह यह पापका मूल है, पापका पिता है, और अन्य एकादश व्रतोंमें महादोष देना इसका स्वभाव है। इसलिये आत्महितैषियोंको जैसे बने वैसे इसका त्याग कर मर्यादापूर्वक आचरण करना चाहिये।

२६ तत्त्व समझना

जिनको शास्त्रके शास्त्र कंठस्थ हों, ऐसे पुरुष बहुत मिल सकते हैं। परन्तु जिन्होंने थोड़े वचनों-

पर प्रौढ और विवेकपूर्वक विचार कर शास्त्र जितना ज्ञान हृदयंगम किया हो, ऐसे पुरुष मिलने दुर्लभ हैं। तत्त्वको पहुँच जाना कोई छोटी बात नहीं, यह कूदकर समुद्रके उलाँघ जानेके समान है।

अर्थ शब्दके लक्ष्मी, तत्त्व, और शब्द, इस तरह बहुतसे अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ अर्थ अर्थात् 'तत्त्व' इस विषयपर कहना है। जो निर्ग्रंथ प्रवचनमें आये हुए पवित्र वचनोंको कंठस्थ करते हैं, वे अपने उत्साहके बलसे सत्फलका उपार्जन करते हैं। परन्तु जिन्होंने उसका मर्म पाया है, उनको तो इससे सुख, आनंद, विवेक और अन्तमें महान् फलकी प्राप्ति होती है। अपढ़ पुरुष जितना सुंदर अक्षर और खेंची हुई मिथ्या लकीर इन दोनोंके भेदको जानता है, उतना ही मुखपाठी अन्य ग्रंथोंके विचार और निर्ग्रंथ प्रवचनका भेदरूप मानता है। क्योंकि उसने अर्थपूर्वक निर्ग्रंथ वचनामृतको धारण नहीं किया, और उसपर यथार्थ तत्त्व-विचार नहीं किया। यद्यपि तत्त्व-विचार करनेमें समर्थ बुद्धि-प्रभावकी आवश्यकता है, तो भी कुछ विचार जरूर कर सकता है। पत्थर पिघलता नहीं, फिर भी पानीसे भीग जाता है। इसीतरह जिसने वचनामृत कंठस्थ किया हो, वह अर्थ सहित हो तो बहुत उपयोगी हो सकता है। नहीं तो तोतेवाला राम नाम। तोतेको कोई परिचयमें आकर राम नाम कहना भले ही सिखला दे, परन्तु तोतेकी बला जाने, कि राम अनारको कहते हैं, या अंगूरको। सामान्य अर्थके समझे बिना ऐसा होता है। कच्छी वैश्योंका एक दृष्टांत कहा जाता है। वह हास्ययुक्त कुछ अवश्य है, परन्तु इससे उत्तम शिक्षा मिल सकती है। इसलिये इसे यहाँ कहता हूँ। कच्छके किसी गाँवमें श्रावक-धर्मको पालते हुए रायशी, देवशी और खेतशी नामके तीन ओसवाल रहते थे। वे नियमित रीतिसे संध्याकाल और प्रभातमें प्रतिक्रमण करते थे। प्रभातमें रायशी और संध्याकालमें देवशी प्रतिक्रमण कराते थे। रात्रिका प्रतिक्रमण रायशी कराता था। रात्रिके संबंधसे 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' इस तरह उसे बुलवाना पड़ता था। इसी तरह देवशीको दिनका संबंध होनेसे 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह बुलवाना पड़ता था। योगानुयोगसे एक दिन बहुत लोगोंके आग्रहसे संध्याकालमें खेतशीको प्रतिक्रमण बुलवाने बैठाया। खेतशीने जहाँ 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' आया, वहाँ 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' यह वाक्य लगा दिया। यह सुनकर सब हँसने लगे और उन्होंने पूँछा, यह क्या? खेतशी बोला, क्यों? सबने कहा, कि तुम 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि, ऐसे क्यों बोलते हो? खेतशीने कहा, कि मैं गरीब हूँ इसलिये मेरा नाम आया तो वहाँ आप लोग तुरत ही तकरार कर बैठे। परन्तु रायशी और देवशीके लिये तो किसी दिन कोई बोलता भी नहीं। ये दोनों क्यों 'रायशी पडिक्कमणुं ठायंमि' और 'देवशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसा कहते हैं? तो फिर मैं 'खेतशी पडिक्कमणुं ठायंमि' ऐसे क्यों न कहूँ? इसकी भद्रताने सबको विनोद उत्पन्न किया। बादमें प्रतिक्रमणका कारण सहित अर्थ समझानेसे खेतशी अपने मुखसे पाठ किये हुए प्रतिक्रमणसे शरमाया।

यह तो एक सामान्य बात है, परन्तु अर्थकी खूबी न्यारी है। तत्त्वज्ञ लोग उसपर बहुत विचार कर सकते हैं। बाकी तो जैसे गुड़ मीठा ही लगता है, वैसे ही निर्ग्रन्थ वचनामृत भी श्रेष्ठ फलको ही देते हैं। अहो! परन्तु मर्म पानेकी बातकी तो बलिहारी ही है!

२७ यतना

जैसे विवेक धर्मका मूल तत्त्व है, वैसे ही यतना धर्मका उपतत्त्व है। विवेकसे धर्मतत्त्वका ग्रहण किया जाता है, तथा यतनासे वह तत्त्व शुद्ध रक्खा जा सकता है, और उसके अनुसार आचरण किया

जा सकता है। पाँच समितिरूप यतना तो बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु गृहस्थाश्रमीसे वह सर्वथारूपसे नहीं पल सकती। तो भी जितने अंशोंमें वह पाली जा सकती है, उतने अंशोंमें भी वे उसे सावधानीसे नहीं पाल सकते। जिनेश्वर भगवान्‌की उपदेश की हुई स्थूल और सूक्ष्म दयाके प्रति जहाँ बेदरकारी है, वहाँ वह बहुत दोषसे पाली जा सकती है। यह यतनाके रखनेकी न्यूनताके कारण है। जल्दी और वेगभरी चाल, पानी छानकर उसके बिनछन रखनेकी अपूर्ण विधि, काष्ठ आदि ईंधनका बिना झाड़े, बिना देखे उपयोग, अनाजमें रहनेवाले जंतुओंकी अपूर्ण शोध, बिना झाड़े बुहारे रक्खे हुए पात्र, अस्वच्छ रक्खे हुए कमरे, आँगनमें पानीका उड़ेलना, जूठनका रख छोड़ना, पटड़ेके बिना धधकती थालीका नीचे रखना; इनसे हमें इस लोकमें अस्वच्छता, प्रतिकूलता, असुविधा, अस्वस्थता इत्यादि फल मिलते हैं, और ये परलोकमें भी दुःखदायी महापापका कारण हो जाते हैं। इसलिये कहनेका तात्पर्य यह है, कि चलनेमें, बैठनेमें, उठनेमें, भोजन करनेमें और दूसरी हरेक क्रियामें यतनाका उपयोग करना चाहिये। इससे द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके लाभ हैं। चालको धीमी और गंभीर रखना, घरका स्वच्छ रखना, पानीका विधि सहित छानना, काष्ठ आदि ईंधनका झाड़कर उपयोग करना, ये कुछ हमें असुविधा देनेवाले काम नहीं, और इनमें विशेष समय भी नहीं जाता। ऐसे नियमोंका दाखिल करनेके पश्चात् पालना भी मुश्किल नहीं है। इससे बिचारे असंख्यात निरपराधी जंतुओंकी रक्षा हो जाती है।

प्रत्येक कामको यतनापूर्वक ही करना यह विवेकी श्रावकका कर्तव्य है।

२८ रात्रिभोजन

अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंकी तरह भगवान्‌ने रात्रिभोजनत्याग व्रत भी कहा है। रात्रिमें चार प्रकारका आहार अभक्ष्य है। जिस जातिके आहारका रंग होता है उस जातिके तमस्काय नामके जीव उस आहारमें उत्पन्न होते हैं। इसके सिवाय रात्रिभोजनमें और भी अनेक दोष हैं। रात्रिमें भोजन करनेवालेको रसोईके लिये अग्नि जलानी पड़ती है। उस समय समीपकी दिवालपर रहते हुए निरपराधी सूक्ष्म जंतु नाश पाते हैं। ईंधनके वास्ते लाये हुए काष्ठ आदिमें रहते हुए जंतु रात्रिमें न दीखनेसे नाश हो जाते हैं। रात्रिभोजनमें सर्पके ज़हरका, मकड़ीकी लारका और मच्छर आदि सूक्ष्म जंतुओंका भी भय रहता है। कभी कभी यह कुटुंब आदिके भयंकर रोगका भी कारण हो जाता है।

रात्रिभोजनका पुराण आदि मतोंमें भी सामान्य आचारके लिये त्याग किया है, फिर भी उनमें परंपराकी रूढ़िको लेकर रात्रिभोजन घुस गया है। परन्तु यह निषिद्ध तो है ही।

शरीरके अंदर दो प्रकारके कमल होते हैं। वे सूर्यके अस्तसे संकुचित हो जाते हैं। इसकारण रात्रिभोजनमें सूक्ष्म जीवोंका भक्षण होनेसे अहित होता है, यह महारोगका कारण है। ऐसा बहुतसे स्थलोंमें आयुर्वेदका भी मत है।

सत्पुरुष दो घड़ी दिनसे व्यालू करते हैं, और दो घड़ी दिन चढ़नेसे पहले किसी भी प्रकारका आहार नहीं करते। रात्रिभोजनके लिये विशेष विचारोंका मुनियोंके समागमसे अथवा शास्त्रोंसे जानना चाहिये। इस संबंधमें बहुत सूक्ष्म भेदका जानना आवश्यक है।

चार प्रकारके आहार रात्रिमें त्यागनेसे महान् फल है, यह जिनवचन है।

२९ जीवकी रक्षा

(१)

दयाके समान एक भी धर्म नहीं। दया ही धर्मका स्वरूप है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। पृथिवीतलमें ऐसे अनर्थकारक धर्ममत प्रचलित हैं, जो कहते हैं कि जीवका वध करनेमें लेश-मात्र भी पाप नहीं होता। बहुत करो तो मनुष्य देहकी रक्षा करो। ये धर्ममतवाले लोग धर्मोन्मादी और मदांध हैं, और ये दयाका लेशमात्र भी स्वरूप नहीं जानते। यदि ये लोग अपने हृदय-पटको प्रकाशमें रखकर विचार करें, तो उन्हें अवश्य माल्म होगा, कि एक सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुका भी वध करनेसे महापाप है। जैसे मुझे मेरी आत्मा प्रिय है, वैसे ही अन्य जीवोंको उनकी आत्मा प्रिय है। मैं अपने लेशभर व्यसनके लिये अथवा लाभके लिये ऐसे असंख्यातों जीवोंका बेधड़क वध करता हूँ, यह मुझे कितना अधिक अनंत दुःखका कारण होगा। इन लोगोंमें बुद्धिका बीज भी नहीं है, इसलिये वे लोग ऐसे सात्विक विचार नहीं कर सकते। ये पाप ही पापमें निशदिन मग्न रहते हैं। वेद और वैष्णव आदि पंथोंमें भी सूक्ष्म दयाका कोई विचार देखनेमें नहीं आता। तो भी ये दयाको बिलकुल ही नहीं समझनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। स्थूल जीवोंकी रक्षा करना ये लोक ठीक तरहसे समझे हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा हम कितने भाग्यशाली हैं, कि जहाँ एक पुष्पकी पँखड़ीको भी पीड़ा हो, वहाँ पाप है, इस वास्तविक तत्त्वको समझे, और यज्ञ याग आदिकी हिंसासे तो सर्वथा विरक्त रहे। हम यथाशक्ति जीवोंकी रक्षा करते हैं, तथा जान-बूझकर जीवोंका वध करनेकी हमारी लेशभर भी इच्छा नहीं। अनंतकाय अभक्ष्यसे बहुत करके हम विरक्त ही हैं। इस कालमें यह समस्त पुण्य-प्रताप सिद्धार्थ भूपालके पुत्र महावीरके कहे हुए परम तत्त्वके उपदेशके योग-बलसे बढ़ा है। मनुष्य ऋद्धि पाते हैं, सुंदर स्त्री पाते हैं, आज्ञानुवर्ती पुत्र पाते हैं, बहुत बड़ा कुटुम्ब परिवार पाते हैं, मान-प्रतिष्ठा और अधिकार पाते हैं और यह पाना कोई दुर्लभ भी नहीं। परन्तु वास्तविक धर्म-तत्त्व, उसकी श्रद्धा अथवा उसका थोड़ा अंश भी पाना महा दुर्लभ है। ये ऋद्धि इत्यादि अविवेकसे पापका कारण होकर अनंत दुःखमें ले जाती है, परन्तु यह थोड़ी श्रद्धा-भावना भी उत्तम पदवीमें पहुँचाती है। यह दयाका सत्परिणाम है। हमने धर्म-तत्त्व युक्त कुलमें जन्म पाया है, इसलिये अब जैसे बने विमल दयामय आचारमें आना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनी, इस बातको हमें सदैव लक्षमें रखना चाहिये। दूसरोंको भी ऐसी ही युक्ति प्रयुक्तियोंसे उपदेश देना चाहिये। सब जीवोंकी रक्षा करनेके लिये एक शिक्षाप्रद उत्तम युक्ति बुद्धिशाली अभयकुमारने की थी, उसे मैं आगेके पाठमें कहता हूँ। इसी प्रकार तत्त्वबोधके लिये युक्तियुक्त न्यायसे अनार्योंके समान धर्ममतवादियोंको हमें शिक्षा देनेका समय मिले, तो हम कितने भाग्यशाली हों ?

३० सब जीवोंकी रक्षा

(२)

मगध देशकी राजगृही नगरीका अधिराज श्रेणिक एक समय सभा भरकर बैठा हुआ था। प्रसंगवश बातचीतके प्रसंगमें माँस-लुब्ध सामंत बोले, कि आजकल माँस विशेष सस्ता है। यह बात अभयकुमारने सुनी। इसके ऊपरसे अभयकुमारने इन हिंसक सामंतोंको उपदेश देनेका निश्चय किया।

साँझको सभा विसर्जन हुई और राजा अन्तःपुरमें गया। तत्पश्चात् जिस जिसने क्रय-विक्रयके लिये माँसकी बात कही थी, अभयकुमार उन सबके घर गया। जिसके घर अभयकुमार गया, वहाँ सत्कार किये जानेके बाद सब सामंत पूँछने लगे, कि आपने हमारे घर पधारनेका कैसे कष्ट उठाया? अभयकुमारने कहा, "महाराज श्रेणिकको अकस्मात् महारोग उत्पन्न हो गया है। वैद्योंके इकट्ठे करनेपर उन्होंने कहा है, कि यदि कोमल मनुष्यके कलेजेका सवा पैसेभर माँस मिले तो यह रोग मिट सकता है। तुम लोग राजाके प्रिय-मान्य हो, इसलिये मैं तुम्हारे यहाँ इस माँसको लेने आया हूँ।" प्रत्येक सामंतने विचार किया कि कलेजेका माँस विना मरे किस प्रकार दिया सकता है? उन्होंने अभयकुमारसे कहा, महाराज, यह तो कैसे हो सकता है? यह कहनेके पश्चात् प्रत्येक सामंतने अभयकुमारको अपनी बातको राजाके आगे न खोलनेके लिये बहुतसा द्रव्य दिया। अभयकुमारने इस द्रव्यको ग्रहण किया। इस तरह अभयकुमार सब सामंतोंके घर फिर आया। कोई भी सामंत माँस न दे सका, और अपनी बातको छिपानेके लिये उन्होंने द्रव्य दिया। तत्पश्चात् दूसरे दिन जब सभा भरी, उस समय समस्त सामंत अपने अपने आसनपर आ आकर बैठे। राजा भी सिंहासनपर विराजमान था। सामंत लोग राजासे कलकी कुशल पूँछने लगे। राजा इस बातसे विस्मित हुआ। उसने अभयकुमारकी ओर देखा। अभयकुमार बोला, "महाराज! कल आपके सामंतोंने सभामें कहा था, कि आजकल माँस सस्ता मिलता है। इस कारण मैं उनके घर माँस लेने गया था। सबने मुझे बहुत द्रव्य दिया, परन्तु कलेजेका सवा पैसाभर माँस किसीने भी न दिया। तो इस माँसको सस्ता कहा जाय या महँगा?।" यह सुनकर सब सामंत शरमसे नीचे देखने लगे। कोई कुछ बोल न सका। तत्पश्चात् अभयकुमारने कहा, "यह मैंने कुछ आप लोगोंको दुःख देनेके लिये नहीं किया, परन्तु उपदेश देनेके लिये किया है। हमें अपने शरीरका माँस देना पड़े तो हमें अनंतभय होता है, कारण कि हमें अपनी देह प्रिय है। इसी तरह अन्य जीवोंका माँस उन जीवोंको भी प्यारा होगा। जैसे हम अमूल्य वस्तुओंको देकर भी अपनी देहकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वे विचारे पामर प्राणी भी अपनी देहकी रक्षा करते होंगे। हम समझदार और बोलते चालते प्राणी हैं, वे विचारे अवाचक और निराधार प्राणी हैं। उनको मृत्युरूप दुःख देना कितना प्रबल पापका कारण है? हमें इस वचनको निरंतर लक्षमें रखना चाहिये कि "सब प्राणियोंको अपना अपना जीव प्रिय है, और सब जीवोंकी रक्षा करने जैसा एक भी धर्म नहीं।" अभयकुमारके भाषणसे श्रेणिक महाराजको संतोष हुआ। सब सामंतोंने भी शिक्षा ग्रहण की। सामंतोंने उस दिनसे माँस न खानेकी प्रतिज्ञा की। कारण कि एक तो वह अभक्ष्य है, और दूसरे वह किसी जीवके मारे विना नहीं मिलता, बड़ा अधर्म है। अतएव प्रधानका कथन सुनकर उन्होंने अभयदानमें लक्ष दिया।

अभयदान आत्माके परम सुखका कारण है।

३१ प्रत्याख्यान

'पचखाण' शब्द अनेक बार तुम्हारे सुननेमें आया होगा। इसका मूल शब्द 'प्रत्याख्यान' है। यह (शब्द) किसी वस्तुकी तरफ चित्त न करना, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर हेतुपूर्वक नियम करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। प्रत्याख्यान करनेका हेतु महा उत्तम और सूक्ष्म है। प्रत्याख्यान नहीं

करनेसे चाहे किसी वस्तुको न खाओ, अथवा उसका भोग न करो, तो भी उससे संवरपना नहीं। कारण कि हमने तत्त्वरूपसे इच्छाका रोध नहीं किया। हम रात्रिमें भोजन न करते हों, परंतु उसका यदि प्रत्याख्यानरूपमें नियम नहीं किया, तो वह फल नहीं देता। क्योंकि अपनी इच्छा खुली रहती है। जैसे घरका दरवाजा खुला होनेसे कुत्ते आदि जानवर अथवा मनुष्य भीतर चले आते हैं, वैसे ही इच्छाका द्वार खुला हो तो उसमें कर्म प्रवेश करते हैं। इसलिये इस ओर अपने विचार सरलतासे चले जाते हैं। यह कर्म-बन्धनका कारण है। यदि प्रत्याख्यान हो, तो फिर इस ओर दृष्टि करनेकी इच्छा नहीं होती। जैसे हम जानते हैं कि पीठके मध्य भागको हम नहीं देख सकते, इसलिये उस ओर हम दृष्टि भी नहीं करते, उसी प्रकार प्रत्याख्यान करनेसे हम अमुक वस्तुको नहीं खा सकते, अथवा उसका भोग नहीं कर सकते, इस कारण उस ओर हमारा लक्ष स्वाभाविकरूपसे नहीं जाता। यह कर्मोंके आनेके लिये बीचमें दीवार हो जाता है। प्रत्याख्यान करनेके पश्चात् विस्मृति आदि कारणोंसे कोई दोष आ जाय तो उसका प्रायश्चित्तसे निवारण करनेकी आज्ञा भी महात्माओंने दी है।

प्रत्याख्यानसे एक दूसरा भी बड़ा लाभ है। वह यह कि प्रत्याख्यानसे कुछ वस्तुओंमें ही हमारा लक्ष रह जाता है, बाकी सब वस्तुओंका त्याग हो जाता है। जिस जिस वस्तुका हमारे त्याग है, उन उन वस्तुओंके संबंधमें फिर विशेष विचार, उनका ग्रहण करना, रखना अथवा ऐसी कोई अन्य उपाधि नहीं रहती। इससे मन बहुत विशालताको पाकर नियमरूपी सड़कपर चला जाता है। जैसे यदि अश्व लगाममें आ जाता है, तो फिर चाहे वह कितना ही प्रबल हो उसे अभीष्ट रास्तेसे ले जाया जा सकता है, वैसे ही मनके नियमरूपी लगाममें आनेके बादमें उसे चाहे जिस शुभ रास्तेसे ले जाया जा सकता है, और उसमें बारम्बार पर्यटन करानेसे वह एकाग्र, विचारशील, और विवेकी हो जाता है। मनका आनन्द शरीरको भी निरोगी करता है। अभक्ष्य, अनंतकाय, परस्त्री आदिका नियम करनेसे भी शरीर निरोगी रह सकता है। मादक पदार्थ मनको कुमार्गपर ले जाते हैं। परन्तु प्रत्याख्यानसे मन वहाँ जाता हुआ रुक जाता है। इस कारण वह विमल होता है।

प्रत्याख्यान यह कैसी उत्तम नियम पालनेकी प्रतिज्ञा है, यह बात इसके ऊपरसे तुम समझे होगे। इसको विशेष सद्गुरुके मुखसे और शास्त्रावलोकनसे समझनेका मैं उपदेश करता हूँ।

३२ विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है

राजगृही नगरीके राज्यासनपर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चंडाल रहता था। एक समय इस चंडालकी स्त्रीको गर्भ रहा। चंडालिनीको आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आमोंको लानेके लिये चंडालसे कहा। चंडालने कहा, यह आमोंका मौसम नहीं, इसलिये मैं निरुपाय हूँ। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँचे हों वहींसे उन्हें अपनी विद्याके बलसे तोड़कर तेरी इच्छा पूर्ण करता। चंडालिनीने कहा, राजाकी महारानीके बागमें एक असमयमें फल देनेवाला आम है। उसमें आजकल आम लगे होंगे। इसलिये आप वहाँ जाकर उन आमोंको लावें। अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेको चंडाल उस बागमें गया। चंडालने गुप्त रीतिसे आमके समीप जाकर मंत्र पढ़कर वृक्षको नमाया, और उसपरसे आम तोड़ लिये। बादमें दूसरे मंत्रके द्वारा उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमें चंडाल अपने घर आया। इस तरह अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके

लिये निरंतर वह चंडाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते फिरते मालीकी दृष्टि आमोंपर गई। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके आगे जाकर नम्रता-पूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिके द्वारा उस चंडालको ढूँढ़ निकाला। चंडालको अपने आगे बुलाकर अभयकुमारने पूछा, इतने मनुष्य बागमें रहते हैं, फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले जाता है, कि यह बात किसीके जाननेमें नहीं आती? चंडालने कहा, आप मेरा अपराध क्षमा करें। मैं सच सच कह देता हूँ कि मेरे पास एक विद्या है। उसके प्रभावसे मैं इन आमोंको तोड़ सका हूँ। अभयकुमारने कहा, मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता। परन्तु महाराज श्रेणिकको यदि तू इस विद्याको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस विद्याके लेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके बदलेमें मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूँ। चंडालने इस बातको स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमारने चंडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासनपर बैठे थे, वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चंडाल सामने खड़े रहकर थरथराते पगसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। झटसे खड़े होकर अभयकुमार बोले, महाराज! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी है तो आप सामने आकर खड़े रहें, और इसे सिंहासन दें। राजाने विद्या लेनेके वास्ते ऐसा किया, तो तत्काल ही विद्या सिद्ध हो गई।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके वास्ते है। एक चंडालकी भी विनय किये विना श्रेणिक जैसे राजाको विद्या सिद्ध न हुई, इसमेंसे यही सार ग्रहण करना चाहिये कि सद्विद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करना आवश्यक है। आत्म-विद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रंथ गुरुका विनय करें, तो कितना मंगलदायक हो!

विनय यह उत्तम वशीकरण है। उत्तराध्ययनमें भगवान्‌ने विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णन किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्‌का, माता-पिताका और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण है।

३३ सुदर्शन सेठ

प्राचीन कालमें शुद्ध एकपत्नीव्रतके पालनेवाले असंख्य पुरुष हो गये हैं, इनमें संकट सहकर प्रसिद्ध होनेवाले सुदर्शन नामका एक सत्पुरुष भी हो गया है। यह धनाढ्य, सुंदर मुखाकृतिवाला, कांति-मान और मध्यवयमें था। जिस नगरमें वह रहता था; एक बार किसी कामके प्रसंगमें उस नगरके राज-दरबारके सामनेसे उसे निकलना पड़ा। उस समय राजाकी अभया नामकी रानी अपने महलके झरोखेमें बैठी थी। वहाँसे उसकी दृष्टि सुदर्शनकी तरफ गई। सुदर्शनका उत्तम रूप और शरीर देखकर अभयाका मन ललच गया। अभयाने एक दासीको भेजकर कपट-भावसे निर्मल कारण बताकर सुदर्शनको ऊपर बुलाया। अनेक तरहकी बातचीत करनेके पश्चात् अभयाने सुदर्शनको भोगोंके भोगनेका आमंत्रण दिया। सुदर्शनने बहुत उपदेश दिया तो भी अभयाका मन शांत नहीं हुआ। अन्तमें थककर सुदर्शनने युक्तिपूर्वक कहा, बहिन, मैं पुरुषत्व हीन हूँ। तो भी रानीने अनेक प्रकारके हाव-भाव बताये। इन सब काम-चेष्टाओंसे सुदर्शन चलायमान नहीं हुआ। इससे हारकर रानीने उसको बिदा किया।

एक बार इस नगरमें कोई उत्सव था। नगरके बाहर नगर-जन आनंदसे इधर उधर घूम रहे थे, धूमधाम मच रही थी। सुदर्शन सेठके छह देवकुमार जैसे पुत्र भी वहाँ आये थे। अभया रानी भी कपिला नामकी दासीके साथ ठाठवाटसे वहाँ आई थी। सुदर्शनके देवपुतले जैसे छह पुत्र उसके देखनेमें आये। उसने कपिलासे पूँछा, ऐसे रम्य पुत्र किसके हैं? कपिलाने सुदर्शन सेठका नाम लिया। सुदर्शनका नाम सुनते ही रानीकी छातीमें मानों कटार लगी, उसको गहरा घाव लगा। सब धूमधाम बीत जानेके पश्चात् माया-कथन घड़कर अभया और उसकी दासीने मिलकर राजासे कहा, "तुम समझते होगे कि मेरे राज्यमें न्याय और नीति चलती है, मेरी प्रजा दुर्जनोंसे दुःखी नहीं, परन्तु यह सब मिथ्या है। अंतःपुरमें भी दुर्जन प्रवेश करते हैं, यहाँ तक तो अंधेर है! तो फिर दूसरे स्थानोंके लिये तो पूँछना ही क्या? तुम्हारे नगरके सुदर्शन सेठने मुझे भोगका आमंत्रण दिया, और नहीं कहने योग्य कथन मुझे सुनना पड़ा। परन्तु मैंने उसका तिरस्कार किया। इससे विशेष अंधेर और क्या कहा जाय?" बहुतसे राजा वैसे ही कानके कच्चे होते हैं, यह बात प्रायः सर्वमान्य जैसी है, उसमें फिर स्त्रीके मायावी मधुर वचन क्या असर नहीं करते? गरम तेलमें ठंडे जल डालनेके समान रानीके वचनोंसे राजा क्रोधित हुआ। उसने सुदर्शनको शूलीपर चढ़ा देनेकी तत्काल ही आज्ञा दी, और तदनुसार सब कुछ हो भी गया। केवल सुदर्शनके शूलीपर बैठनेकी ही देर थी।

कुछ भी हो, परन्तु सृष्टिके दिव्य भंडारमें उजाला है। सत्यका प्रभाव ढँका नहीं रहता। सुदर्शनको शूलीपर बैठाते ही शूली फटकर उसका झिलमिलाता हुआ सोनेका सिंहासन हो गया। देवोंने दुंदुभिका नाद किया, सर्वत्र आनन्द फैल गया। सुदर्शनका सत्यशील विश्व-मंडलमें झलक उठा। सत्यशीलकी सदा जय होती है।

सुदर्शनका शील और उत्तम दृढ़ता ये दोनों आत्माको पवित्र श्रेणीपर चढ़ाते हैं।

३४ ब्रह्मचर्यके विषयमें सुभाषित

जो नवयौवनाको देखकर लेशभर भी विषय विकारको प्राप्त नहीं होते, जो उसे काठकी पुतलीके समान गिनते हैं, वे पुरुष भगवान्‌के समान हैं॥ १॥

इस समस्त संसारकी नायकरूप रमणी सर्वथा शोकस्वरूप हैं, उनका जिन्होंने त्याग किया, उसने सब कुछ त्याग किया॥ २॥

जिस प्रकार एक राजाके जीत लेनेसे उसका सैन्य-दल, नगर और अधिकार जीत लिये जाते हैं, उसी तरह एक विषयको जीत लेने समस्त संसार जीत लिया जाता है॥ ३॥

जिस प्रकार थोड़ा भी मदिरापान करनेसे अज्ञान छा जाता है, उसी तरह विषयरूपी अंकुरसे ज्ञान और ध्यान नष्ट हो जाता है॥ ४॥

---

३४ ब्रह्मचर्यविषे सुभाषित

दोहरा

निरखीने नव यौवना, लेश न विषयनिदान; गणे काष्ठनी पूतळी, ते भगवानसमान॥ १॥
आ सघळा संसारनी, रमणी नायकरूप; ए त्यागी, त्याग्युं बधुं, केवळ शोकस्वरूप॥ २॥
एक विषयने जीततां, जीत्यो सौ संसार; नृपति जीतता जीतिये, दळ, पुर, ने अधिकार॥ ३॥
विषयरूप अंकूरथी, टळे ज्ञान ने ध्यान; लेश मदीरापानथी, छाके ज्यम अज्ञान॥ ४॥

जो विशुद्ध नव बाड़पूर्वक सुखदायक शीलको धारण करता है, उसका संसार-भ्रमण बहुत कम हो जाता है। हे भाई! यह तात्त्विक वचन है ॥ ५ ॥

सुंदर शीलरूपी कल्पवृक्षको मन, वचन, और कायसे जो नर नारी सेवन करेंगे, वे अनुपम फलको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

पात्रके विना कोई वस्तु नहीं रहती, पात्रमें ही आत्मज्ञान होता है, पात्र बननेके लिये, हे बुद्धिमान् लोगो, ब्रह्मचर्यका सदा सेवन करो ॥ ७ ॥

३५ नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

इन पवित्र वाक्योंको निर्ग्रंथप्रवचनमें नवकार (नमस्कार) मंत्र अथवा पंचपरमेष्ठीमंत्र कहते हैं अर्हंत भगवान्‌के बारह गुण, सिद्ध भगवान्‌के आठ गुण, आचार्यके छत्तीस गुण, उपाध्यायको पच्चीस गुण, और साधुके सत्ताईस गुण, ये सब मिलकर एक सौ आठ गुण होते हैं। अँगूठेके विना बाकीकी चार अँगुलियोंके बारह पोरवे होते हैं, और इनसे इन गुणोंके चिंतवन करनेकी व्यावस्था होनेसे बारहको नौसे गुणा करनेपर १०८ होते हैं। इसलिये नवकार कहनेसे यह आशय माळूम होता है कि हे भव्य! अपनी अँगुलियोंके पोरवोंसे (नवकार) मंत्र नौ बार गिन। कार शब्दका अर्थ करनेवाला भी होता है। बारहको नौसे गुणा करनेपर जितने हों, उतने गुणोंसे भरा हुआ मंत्र नवकारमंत्र है, ऐसा नवकारमंत्रका अर्थ होता है। पंचपरमेष्ठीका अर्थ इस सकल जगतमें परमोत्कृष्ट पाँच वस्तुयें होता है। वे कौन कौन हैं? तो जवाब देते हैं, कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनको नमस्कार करनेका मंत्र परमेष्ठीमंत्र है। पाँच परमेष्ठियोंको एक साथमें नमस्कार होनेसे 'पंचपरमेष्ठी-मंत्र' यह शब्द बना। यह मंत्र अनादिसिद्ध माना जाता है, कारण कि पंचपरमेष्ठी अनादिसिद्ध हैं। इसलिये ये पांचों पात्र आदि रूप नहीं, ये प्रवाहसे अनादि हैं, और उनका जपनेवाला भी अनादिसिद्ध है। इससे यह जाप भी अनादिसिद्ध ठहरती है।

प्रश्न—इस पंचपरमेष्ठीमंत्रके परिपूर्ण जाननेसे मनुष्य उत्तम गतिको पाते हैं, ऐसा सत्पुरुष कहते है। इस विषयमें आपका क्या मत है?

उत्तर—यह कहना न्यायपूर्वक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—इसे किस कारणसे न्यायपूर्वक कहा जा सकता है?

उत्तर—हाँ, यह तुम्हें मैं समझाता हूँ। मनके निग्रहके लिये यह सर्वोत्तम जगद्भूषणके सत्य गुणका चिंतवन है। तथा तत्त्वसे देखनेपर अर्हंतस्वरूप, सिद्धस्वरूप, आचार्यस्वरूप, उपाध्यायस्वरूप और साधुस्वरूप इनका विवेकसे विचार करनेका भी यह सूचक है। क्योंकि वे किस

जे नव वाड विशुद्धथी, धरे शियल सुखदाइ; भव तेनो लव पछी रहे, तत्त्ववचन ए भाइ ॥ ५ ॥
सुंदर शीयळसुरतरू, मन वाणी ने देह; जे नरनारी सेवशे, अनुपम फल ले तेह ॥ ६ ॥
पात्र विना वस्तु न रहे, पात्रे आत्मिक ज्ञान; पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान ॥ ७ ॥

कारणसे पूजने योग्य हैं, ऐसा विचारनेसे इनके स्वरूप, गुण इत्यादिका विचार करनेकी सत्पुरुषको तो सच्ची आवश्यकता है। अब कहो कि यह मंत्र कितना कल्याणकारक है!

प्रश्नकार—सत्पुरुष नमस्कारमंत्रको मोक्षका कारण कहते हैं, यह इस व्याख्यानसे मैं भी मान्य रखता हूँ।

अर्हंत भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका एक एक प्रथम अक्षर लेनेसे "असिआउसा" यह महान् वाक्य बनता है। जिसका ॐ ऐसा योगबिंदुका स्वरूप होता है। इस लिये हमें इस मंत्रकी विमल भावसे जाप करनी चाहिये।

३६ अनुपूर्वी

नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन अनुपूर्वियोंके विषयका यह पाठ नहीं है, परन्तु यह 'अनुपूर्वी' नामकी एक अवधान संबंधी लघु पुस्तकके मंत्र स्मरणके लिये है।

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

पिता—इस तरहकी कोष्ठकसे भरी हुई एक छोटीसी पुस्तक है, क्या उसे तूने देखी है?

पुत्र—हाँ, पिताजी।

पिता—इसमें उलटे सीधे अंक रक्खे हैं, उसका कुछ कारण तेरी समझमें आया है?

पुत्र—नहीं पिताजी! मेरी समझमें नहीं आया, इसलिये आप उस कारणको कहिये।

पिता—पुत्र! यह प्रत्यक्ष है कि मन एक बहुत चंचल चीज है। इसे एकाग्र करना बहुत ही अधिक विकट है। यह जब तक एकाग्र नहीं होता, तब तक आत्माकी मलिनता नहीं जाती, और पापके विचार कम नहीं होते। इस एकाग्रताके लिये भगवान्ने बारह प्रतिज्ञा आदि अनेक महान् साधनोंको कहा है। मनकी एकाग्रतासे महायोगकी श्रेणी चढ़नेके लिये और उसे बहुत प्रकारसे निर्मल करनेके लिये सत्पुरुषोंने यह एक साधनरूप कोष्ठक बनाई है। इसमें पहले पंचपरमेष्ठीमंत्रके पाँच अंकोंको रक्खा है, और पीछे लोम-विलोम स्वरूपसे इस मंत्रके इन पाँच अंकोंको लक्षबद्ध रखकर भिन्न भिन्न प्रकारसे कोष्ठकें बनाई हैं। ऐसे करनेका कारण भी यही है, कि जिससे मनकी एकाग्रता होकर निर्जरा हो सके।

पुत्र—पिताजी ! इन्हें अनुक्रमसे लेनेसे यह क्यों नहीं बन सकता ?

पिता—यदि ये लोम-विलोम हों तो इन्हें जोड़ते जाना पड़े, और नाम याद करने पड़ें। पाँचका अंक रखनेके बाद दोका अंक आवे तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के बादमें 'णमो अरिहंताणं' यह वाक्य छोड़कर 'णमो सिद्धाणं' वाक्य याद करना पड़े। इस प्रकार पुनः पुनः लक्षकी दृढ़ता रखनेसे मन एकाग्रता पर पहुँचता है। ये अंक अनुक्रम-बद्ध हों तो ऐसा नहीं हो सकता, कारण कि उस दशामें विचार नहीं करना पड़ता। इस सूक्ष्म समयमें मन परमेष्ठीमंत्रमेंसे निकलकर संसार-तंत्रकी खटपटमें जा पड़ता है, और कभी धर्मकी जगह मारधाड़ भी कर बैठता है। इससे सत्पुरुषोंने अनुपूर्वीकी योजना की है। यह बहुत सुंदर है और आत्म-शांतिको देनेवाली है।

३७ सामायिकविचार

(१)

आत्म-शक्तिका प्रकाश करनेवाला, सम्यग्दर्शनका उदय करनेवाला, शुद्ध समाधिभावमें प्रवेश करानेवाला, निर्जराका अमूल्य लाभ देनेवाला, राग-द्वेषसे मध्यस्थ बुद्धि करनेवाला सामायिक नामका शिक्षाव्रत है। सामायिक शब्दकी व्युत्पत्ति सम + आय + इक इन शब्दोंसे होती है। 'सम' का अर्थ राग-द्वेष रहित मध्यस्थ परिणाम, 'आय' का अर्थ उस समभावनासे उत्पन्न हुआ ज्ञान दर्शन चारित्ररूप मोक्ष-मार्गका लाभ, और 'इक' का अर्थ भाव होता है। अर्थात् जिसके द्वारा मोक्षके मार्गका लाभदायक भाव उत्पन्न हो, वह सामायिक है। आर्त और रौद्र इन दो प्रकारके ध्यानका त्याग करके मन, वचन और कायके पाप-भावोंको रोककर विवेकी मनुष्य सामायिक करते हैं।

मनके पुद्गल तरंगी हैं। सामायिकमें जब विशुद्ध परिणामसे रहना बताया गया है, उस समय भी यह मन आकाश पातालके घाट घड़ा करता है। इसी तरह भूल, विस्मृति, उन्माद इत्यादिसे वचन और कायमें भी दूषण आनेसे सामायिकमें दोष लगता है। मन, वचन और कायके मिलकर बत्तीस दोष उत्पन्न होते हैं। दस मनके, दस वचनके, और बारह कायके इस प्रकार बत्तीस दोषोंको जानना आवश्यक है, इनके जाननेसे मन सावधान रहता है।

मनके दस दोष कहता हूँ:—

१ अविवेकदोष—सामायिकका स्वरूप नहीं जाननेसे मनमें ऐसा विचार करना कि इससे क्या फल होना था ? इससे तो किसने पार पाया होगा, ऐसे विकल्पोंका नाम अविवेकदोष है।

२ यशोवांछादोष—हम स्वयं सामायिक करते हैं, ऐसा दूसरे मनुष्य जानें तो प्रशंसा करें, ऐसी इच्छासे सामायिक करना वह यशोवांछादोष है।

३ धनवांछादोष—धनकी इच्छासे सामायिक करना धनवांछादोष है।

४ गर्वदोष—मुझे लोग धर्मात्मा कहते हैं और मैं सामायिक भी वैसे ही करता हूँ ऐसा अध्यवसाय होना गर्वदोष है।

५ भयदोष—मैं श्रावक कुलमें जन्मा हूँ, मुझे लोग बड़ा मानकर मान देते हैं यदि मैं सामायिक न करूँ तो लोग कहेंगे कि इतनी क्रिया भी नहीं करता, ऐसी निंदाके भयसे सामायिक करना भयदोष है।

६ निदानदोष—सामायिक करके उसके फलसे धन, स्त्री, पुत्र आदि मिलनेकी इच्छा करना निदानदोष है।

७ संशयदोष—सामायिकका फल होगा अथवा नहीं होगा, ऐसा विकल्प करना संशयदोष है।

८ कषायदोष—क्रोध आदिसे सामायिक करने बैठ जाना, अथवा पीछेसे क्रोध, मान, माया, और लोभमें वृत्ति लगाना वह कषायदोष है।

९ अविनयदोष—विनय रहित होकर सामायिक करना अविनयदोष है।

१० अबहुमानदोष—भक्तिभाव और उमंगपूर्वक सामायिक न करना वह अबहुमानदोष है।

३८ सामायिकविचार

(२)

मनके दस दोष कहे, अब वचनके दस दोष कहता हूँ।

१ कुबोलदोष—सामायिकमें कुवचन बोलना वह कुबोलदोष है।

२ सहसात्कारदोष—सामायिकमें साहससे अविचारपूर्वक वाक्य बोलना वह सहसात्कारदोष है।

३ असदारोपणदोष—दूसरोंको खोटा उपदेश देना वह असदारोपणदोष है।

४ निरपेक्षदोष—सामायिकमें शास्त्रकी उपेक्षा करके वाक्य बोलना वह निरपेक्षदोष है।

५ संक्षेपदोष—सूत्रके पाठ इत्यादिको संक्षेपमें बोल जाना, यथार्थ नहीं बोलना वह संक्षेपदोष है।

६ क्लेशदोष—किसीसे झगड़ा करना वह क्लेशदोष है।

७ विकथादोष—चार प्रकारकी विकथा कर बैठना वह विकथादोष है।

८ हास्यदोष—सामायिकमें किसीकी हँसी, मस्खरी करना वह हास्यदोष है।

९ अशुद्धदोष—सामायिकमें सूत्रपाठको न्यूनाधिक और अशुद्ध बोलना वह अशुद्धदोष है।

१० मुणमुणदोष—गड़बड़ घोटालेसे सामायिकमें इस तरह पाठका बोलना जो अपने आप भी पूरा मुश्किलसे समझ सकें वह मुणमुणदोष है।

ये वचनके दस दोष कहे, अब कायके बारह दोष कहता हूँ।

१ अयोग्यआसनदोष—सामायिकमें पैरपर पैर चढ़ाकर बैठना, यह श्रीगुरु आदिके प्रति अविनय आसनसे बैठना पहला अयोग्यआसनदोष है।

२ चलासनदोष—डगमगाते हुए आसनपर बैठकर सामायिक करना, अथवा जहाँसे बार बार उठना पड़े ऐसे आसनपर बैठना चलासनदोष है।

३ चलदृष्टिदोष—कायोत्सर्गमें आँखोंका चंचल होना चलदृष्टिदोष है।

४ सावद्यक्रियादोष—सामायिकमें कोई पाप-क्रिया अथवा उसकी संज्ञा करना सावद्यक्रिया-दोष है।

५ आलंबनदोष—भींत आदिका सहारा लेकर बैठना जिससे वहाँ बैठे हुए जीव जंतुओं आदिका नाश हो अथवा उन्हें पीड़ा हो और अपनेको प्रमादकी प्रवृत्ति हो यह आलंबनदोष है।

६ आकुंचनप्रसारणदोष—हाथ पैरका सिकोड़ना, लंबा करना आदि आकुंचनप्रसारणदोष है।

७ आलसदोष—अंगका मोड़ना, उँगलियोंका चटकाना आदि आलसदोष है।

८ मोटनदोष—अँगुली वगैरहका टेढ़ी करना, उँगलियोंका चटकाना मोटनदोष है।

९ मलदोष—घसड़ घसड़कर सामायिकमें खुजाकर मैल निकालना मलदोष है।

१० विमासणदोष—गलेमें हाथ डालकर बैठना इत्यादि विमासणदोष है।

११ निद्रादोष—सामायिकमें नींद आना निद्रादोष है।

१२ वस्त्रसंकोचनदोष—सामायिकमें ठंड वगैरेके भयसे वस्त्रसे शरीरका सिकोड़ना वस्त्र-संकोचनदोष है।

इन बत्तीस दोषोंसे रहित सामायिक करनाचाहिये। सामायिकके पाँच अतीचारोंको हटाना चाहिये।

३९ सामायिकविचार
(३)

एकाग्रता और सावधानकि विना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञान-वेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ी बाँधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परमशांति देता है। बहुतसे लोगोंका जब यह दो घड़ीका काल नहीं बीतता तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काल बीत भी कैसे सकता है? आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करनेवाले बहुत ही थोड़े लोग हैं। जब सामायिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है, तब तो समय बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग प्रतिक्रमणको लक्षपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा इसमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता, वे बिचारे सामायिकमें बहुत घबड़ाते हैं। बहुतसे भारीकर्मी लोग इस अवसरपर व्यवहारके प्रपंच भी घड़ डालते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका विधिपूर्वक न होना इसे बहुत खेदकारक और कर्मकी बाहुल्यता समझना चाहिये। साठ घड़ीके दिनरात व्यर्थ चले जाते हैं। असंख्यात दिनोंसे परिपूर्ण अनंतों कालचक्र व्यतीत करने-पर भी जो सिद्ध नहीं होता, वह दो घड़ीके विशुद्ध सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। लक्षपूर्वक सामायिक करनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगस्ससे अधिक लोगस्सका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिये, और बादमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम श्लोकोंको पढ़ना चाहिये, पहिलेके अध्ययन किये हुएको स्मरण कर जाना चाहिये और नूतन अभ्यास हो सके तो करना चाहिये, तथा किसीको शास्त्रके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काल व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका समागम हो, तो आगमकी वाणी सुनना और उसका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शास्त्रोंका परिचय भी न हो, तो विचक्षण अभ्यासियोंके पास वैराग्य-बोधक उपदेश श्रवण करना चाहिये, अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिये। यदि ये सब अनकूलतायें न हों, तो कुछ भाग ध्यानपूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिये, और कुछ भाग महापुरुषोंकी चरित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये, परन्तु जैसे बने तैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकके कालको व्यतीत करना चाहिये। यदि कुछ साहित्य न हो, तो पंचपरमेष्ठीमंत्रकी जाप ही उत्साहपूर्वक करनी चाहिये। परन्तु कालको व्यर्थ

नहीं गँवाना चाहिये। धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये। जैसे बने तैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर समायिक तो सद्भावसे करो!

४० प्रतिक्रमणविचार

प्रतिक्रमणका अर्थ पीछे फिरना–फिरसे देख जाना–होता है। भावकी अपेक्षा जिस दिन और जिस वक्त प्रतिक्रमण करना हो, उस वक्तसे पहले अथवा उसी दिन जो जो दोष हुए हों उन्हें एकके बाद एक अंतरात्मासे देख जाना और उनका पश्चात्ताप करके उन दोषोंसे पीछे फिरना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

उत्तम मुनि और भाविक श्रावक दिनमें हुए दोषोंका संध्याकालमें और रात्रिमें हुए दोषोंका रात्रिके पिछले भागमें अनुक्रमसे पश्चात्ताप करते हैं अथवा उनकी क्षमा माँगते हैं, इसीका नाम यहाँ प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण हमें भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि यह आत्मा मन, वचन और कायके योगसे अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधती है। प्रतिक्रमण सूत्रमें इसका दोहन किया गया है। जिससे दिनरातमें हुए पापका पश्चात्ताप हो सकता है। शुद्ध भावसे पश्चात्ताप करनेसे इसके द्वारा लेशमात्र पाप भी होनेपर परलोक-भय और अनुकंपा प्रगट होती है, आत्मा कोमल होती है, और त्यागने योग्य वस्तुका विवेक आता जाता है। भगवान्की साक्षीसे अज्ञान आदि जिन जिन दोषोंका विस्मरण हुआ हो उनका भी पश्चात्ताप हो सकता है। इस प्रकार यह निर्जरा करनेका उत्तम साधन है।

प्रतिक्रमणका नाम आवश्यक भी है। अवश्य ही करने योग्यको आवश्यक कहते हैं; यह सत्य है। उसके द्वारा आत्माकी मलिनता दूर होती है, इसलिये इसे अवश्य करना चाहिये।

सायंकालमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसका नाम 'देवसीयपडिक्कमण' अर्थात् दिवस संबंधी पापोंका पश्चात्ताप है, और रात्रिके पिछले भागमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है, उसे 'राइयपडिक्कमण' कहते हैं। 'देवसीय' और 'राइय' ये प्राकृत भाषाके शब्द हैं। पक्षमें किये जानेवाले प्रतिक्रमणको पाक्षिक, और संवत्सरमें किये जानेवालेको सांवत्सरिक (छमछरी) प्रतिक्रमण कहते हैं। सत्पुरुषोंकी योजना द्वारा बाँधा हुआ यह सुंदर नियम है।

बहुतसे सामान्य बुद्धिके लोग ऐसा कहते हैं, कि दिन और रात्रिका इकट्ठा प्रायश्चित्तरूप प्रतिक्रमण सबेरे किया जाय तो कोई बुराई नहीं। परन्तु ऐसा कहना प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि यदि रात्रिमें अकस्मात् कोई कारण आ जाय, अथवा मृत्यु हो जाय, तो दिनका प्रतिक्रमण भी रह जाय।

प्रतिक्रमण-सूत्रकी योजना बहुत सुंदर है। इसका मूल तत्त्व बहुत उत्तम है। जैसे बने तैसे प्रतिक्रमण धीरजसे, समझमें आ सकनेवाली भाषासे, शांतिसे, मनकी एकाग्रतासे और यतनापूर्वक करना चाहिये।

४१ भिखारीका खेद

(१)

एक पामर भिखारी जंगलमें भटकता फिरता था। वहाँ उसे भूख लगी। वह बिचारा लड़खड़ाता हुआ एक नगरमें एक सामान्य मनुष्यके घर पहुँचा। वहाँ जाकर उसने अनेक प्रकारसे प्रार्थना

की। उसकी प्रार्थनापर करुणा करके उस गृहस्थकी स्त्रीने उसको घरमें जीमनेसे बचा हुआ मिष्टान्न ला कर दिया। भोजनके मिलनेसे भिखारी बहुत आनंदित होता हुआ नगरके बाहर आया, और एक वृक्षके नीचे बैठ गया। वहाँ ज़रा साफ़ करके उसने एक तरफ़ अत्यन्त पुराना अपना पानीका घड़ा रख दिया। एक तरफ अपनी फटी पुरानी मैली गूदड़ी रक्खी, और दूसरी तरफ वह स्वयं उस भोजनको लेकर बैठा। खुशी खुशीके साथ उसने उस भोजनको खाकर पूरा किया। तत्पश्चात् सिराने एक पत्थर रखकर वह सो गया। भोजनके मदसे ज़रा देरमें भिखारीकी आँखें मिंच गईं। वह निद्राके वश हुआ। इतनेमें उसे एक स्वप्न आया। उसे ऐसा लगा कि उसने मानों महा राजऋद्धिको प्राप्त कर लिया है, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये हैं, समस्त देशमें उसकी विजयका डंका बज गया है, समीपमें उसकी आज्ञा उठानेके लिये अनुचर लोग खड़े हुए हैं, आस-पासमें छड़ीदार क्षेम क्षेम पुकार रहे हैं। वह एक रमणीय महलमें सुन्दर पलंगपर लेटा हुआ है, देवांगना जैसी स्त्रियाँ उसके पैर दबा रही हैं, एक तरफसे पँखेकी मंद मंद पवन ढुल रही है। इस स्वप्नमें भिखारीकी आत्मा चढ़ गई। उस स्वप्नका भोग करते हुए वह रोमाँचित हो गया। इतनेमें मेघ महाराज चढ़ आये, बिजली चमकने लगी, सूर्य बादलोंसे ढँक गया, सब जगह अंधकार फैल गया। ऐसा माल्म हुआ कि मूसलाधार वर्षा होगी, और इतनेमें बिजलीकी गर्जनासे एक ज़ोरका कड़ाका हुआ। कड़ाकेकी आवाजसे भयभीत होकर वह पामर भिखारी जाग उठा।

४२ भिखारीका खेद

(२)

तो देखता क्या है कि जिस जगहपर पानीका फूटा हुआ घड़ा पड़ा था, उसी जगह वह पड़ा हुआ है; जहाँ फटी पुरानी गूदड़ी पड़ी थी वह वहीं पड़ी है; उसने जैसे मैले और फटे हुए कपड़े पहने थे, वैसेके वैसे ही वे वस्त्र उसके शरीरके ऊपर हैं। न तिलभर कुछ बढ़ा, और न जौंभर घटा; न वह देश, न वह नगरी; न वह महल, न वह पलंग; न वे चामर छत्र ढोरनेवाले और न वे छड़ीदार; न वे स्त्रियाँ और न वे वस्त्रालंकार; न वह पँखा और न वह पवन; न वे अनुचर और न वह आज्ञा; न वह सुखविलास और न वह मदोन्मत्तता। बिचारा वह तो स्वयं जैसा था वैसाका वैसा ही दिखाई दिया। इस कारण इस दृश्यको देखकर उसे खेद हुआ। स्वप्नमें मैंने मिथ्या आडंबर देखा और उससे आनंद माना, परन्तु उसमें का तो यहाँ कुछ भी नहीं। मैंने स्वप्नके भोगोंको भोगा नहीं, किन्तु उसके परिणामरूप खेदको मैं भोग रहा हूँ। इस प्रकार वह पामर जीव पश्चात्तापमें पड़ गया।

अहो भव्यो! भिखारीके स्वप्नकी तरह संसारका सुख अनित्य है। जैसे उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समूहको देखा और आनंद माना, इसी तरह पामर प्राणी संसार-स्वप्नके सुख-समूहमें आनंद मानते हैं। जैसे वह सुख जागनेपर मिथ्या माल्म हुआ, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होनेपर संसारके सुख मिथ्या माल्म होते हैं। स्वप्नके भोगोंको न भोगनेपर भी जैसे भिखारीको खेदकी प्राप्ति हुई, वैसे ही मोहांध प्राणी संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उसे भोगे हुएके समान गिनते हैं। परन्तु परिणाममें

वे खेद, दुर्गति और पश्चात्ताप ही प्राप्त करते हैं। भोगोंके चपल और विनाशीक होनेके कारण स्वप्नके खेदके समान उनका परिणाम होता है। इसके ऊपरसे बुद्धिमान् पुरुष आत्म-हितको खोजते हैं। संसारकी अनित्यताके ऊपर एक काव्य है:—

उपजाति

विद्युत् लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जळना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग ?

विशेषार्थः—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जैसे बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जैसे पतंगका रँग चार दिनकी चाँदनी है, वैसे ही अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथमेंसे जाता रहता है। आयु पानीकी लहरोंके समान है। जैसे पानीकी हिलोरें इधर आईं कि उधर निकल गईं, इसी तरह जन्म पाया, और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, कि इतने हीमें इसे दूसरी देहमें जाना पड़ता है। काम-भोग आकाशमें उत्पन्न हुए इन्द्र-धनुषके समान हैं। जैसे इंद्र-धनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षण-भरमें विलीन हो जाता है, उसी तरह यौवनमें कामके विकार फलीभूत होकर जरा-वयमें जाते रहते हैं। संक्षेपमें, हे जीव ! इन समस्त वस्तुओंका संबंध क्षणभरका है। इसमें प्रेम-बंधनकी साँकलसे बँधकर मग्न क्या होना ? तात्पर्य यह है, कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी वस्तुको प्राप्त कर, यही उपदेश यथार्थ है।

४३ अनुपम क्षमा

क्षमा अंतर्शत्रुको जीतनेमें खड्ग है; पवित्र आचारकी रक्षा करनेमें बख्तर है। शुद्ध भावसे असह्य दुःखमें सम परिणामसे क्षमा रखनेवाला मनुष्य भव-सागरसे पार हो जाता है।

कृष्ण वासुदेवका गजसुकुमार नामका छोटा भाई महास्वरूपवान और सुकुमार था। वह केवल बारह वर्षकी वयमें भगवान् नेमिनाथके पास संसार-त्यागी होकर स्मशानमें उग्र ध्यानमें अवस्थित था। उस समय उसने एक अद्भुत क्षमामय चरित्रसे महासिद्धि प्राप्त की उसे मैं यहाँ कहता हूँ।

सोमल नामके ब्राह्मणकी सुन्दरवर्णसंपन्न पुत्रीके साथ गजसुकुमारकी सगाई हुई थी। परन्तु विवाह होनेके पहले ही गजसुकुमार संसार त्याग कर चले गये। इस कारण अपनी पुत्रीके सुखके नाश होनेके द्वेषसे सोमल ब्राह्मणको भयंकर क्रोध उत्पन्न हुआ। वह गजसुकुमारकी खोज करते करते उस स्मशानमें आ पहुँचा, जहाँ महा मुनि गजसुकुमार एकाग्र विशुद्ध भावसे कायोत्सर्गमें लीन थे। सोमलने कोमल गजसुकुमारके सिरपर चिकनी मिट्टीकी बाड़ बना कर इसके भीतर धधकते हुए अंगारे भरे, और इसे ईंधनसे पूर दिया। इस कारण गजसुकुमारको महाताप उत्पन्न हुआ। जब गजसुकुमारकी कोमल देह जलने लगी, तब सोमल वहाँसे चल दिया। उस समयके गजसुकुमारके असह्य दुःखका वर्णन कैसे हो सकता है ! फिर भी गजसुकुमार समभाव परिणामसे रहे। उनके हृदयमें कुछ भी क्रोध अथवा द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ। उन्होंने अपनी आत्माको स्थितिस्थापक दशामें लाकर यह उपदेश दिया, कि देख यदि तूने इस ब्राह्मणकी पुत्रीके साथ विवाह किया होता तो यह कन्या-दानमें तुझे पगड़ी देता। यह पगड़ी थोड़े दिनोंमें फट जाती और अन्तमें दुःखदायक होती। किन्तु यह इसका बहुत बड़ा उपकार हुआ, कि इस पगड़ीके बदले इसने मोक्षकी पगड़ी बाँध दी। ऐसे विशुद्ध परिणामोंसे अडग रहकर समभावसे असह्य

वेदना सहकर गजसुकुमारने सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अनंतजीवन सुखको पाया। कैसी अनुपम क्षमा और कैसा उसका सुंदर परिणाम! तत्त्वज्ञानियोंका कथन है कि आत्माओंको केवल अपने सद्भावमें आना चाहिये, और आत्मा अपने सद्भावमें आयी कि मोक्ष हथेलीमें ही है। गजसुकुमारकी प्रसिद्ध क्षमा कैसी शिक्षा देती है!

४४ राग

श्रमण भगवान् महावीरके मुख्य गणधर गौतमका नाम तुमने बहुत बार सुना है। गौतमस्वामीके उपदेश किये हुए बहुतसे शिष्योंके केवलज्ञान पानेपर भी स्वयं गौतमको केवलज्ञान न हुआ; क्योंकि भगवान् महावीरके अंगोपांग, वर्ण, रूप इत्यादिके ऊपर अब भी गौतमको मोह था। निर्ग्रंथ प्रवचनका निष्पक्षपाती न्याय ऐसा है कि किसी भी वस्तुका राग दुःखदायक होता है। राग ही मोह है और मोह ही संसार है। गौतमके हृदयसे यह राग जबतक दूर न हुआ तबतक उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति न हुई। श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्रने जब अनुपमेय सिद्धि पाई उस समय गौतम नगरमेंसे आ रहे थे। भगवान्के निर्वाण समाचार सुनकर उन्हें खेद हुआ। विरहसे गौतमने ये अनुरागपूर्ण वचन कहे "हे महावीर! आपने मुझे साथ तो न रक्खा, परन्तु मुझे याद तक भी न किया। मेरी प्रीतिके सामने आपने दृष्टि भी नहीं की, ऐसा आपको उचित न था।" ऐसे विकल्प होते होते गौतमका लक्ष फिरा और वे निराग-श्रेणी चढ़े। "मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूँ। ये वीतराग, निर्विकारी और रागहीन हैं, वे मुझपर मोह कैसे रख सकते हैं? उनकी शत्रु और मित्रपर एक समान दृष्टि थी। मैं इन रागहीनका मिथ्या मोह रखता हूँ। मोह संसारका प्रबल कारण है।" ऐसे विचारते विचारते गौतम शोकको छोड़कर राग रहित हुए। तत्क्षण ही गौतमको अनंतज्ञान प्रकाशित हुआ और वे अंतमें निर्वाण पधारे।

गौतम मुनिका राग हमें बहुत सूक्ष्म उपदेश देता है। भगवान्के ऊपरका मोह गौतम जैसे गणधरको भी दुःखदायक हुआ तो फिर संसारका और उसमें भी पामर आत्माओंका मोह कैसा अनंत दुःख देता होगा! संसाररूपी गाड़ीके राग और द्वेष रूपी दो बैल हैं। यदि ये न हों, तो संसार अटक जाय। जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेष भी नहीं, यह माना हुआ सिद्धांत है। राग तीव्र कर्मबंधका कारण है और इसके क्षयसे आत्म-सिद्धि है।

४५ सामान्य मनोरथ

मोहिनीभावके विचारोंके अधीन होकर नयनोंसे परनारीको न देखूँ; निर्मल तात्त्विक लोभको पैदाकर दूसरेके वैभवको पत्थरके समान समझूँ। बारह व्रत और दीनता धारण करके स्वरूपको विचारकर सात्त्विक बनूँ। यह मेरा सदा क्षेम करनेवाला और भवका हरनेवाला नियम नित्य अखंड रहे॥ १॥

---

४५ सामान्य मनोरथ

सवैया

मोहिनीभाव विचार अधीन थई, ना निरखुं नयने परनारी;
पत्थरतुल्य गणुं परवैभव, निर्मळ तात्त्विक लोभ समारी!
द्वादशव्रत्त अने दीनता धरि, सात्त्विक थाऊं स्वरूप विचारी;
ए मुज नेम सदा शुभ क्षेमक, नित्य अखंड रहो भवहारी॥ १॥

उन त्रिशलातनयको मनसे चिंतवन करके, ज्ञान, विवेक और विचारको बढ़ाऊँ; नित्य नौ तत्त्वोंका विशोधन करके अनेक प्रकारके उत्तम उपदेशोंका मुखसे कथन करूँ; जिससे संशयरूपी बीजका मनके भीतर उदय न हो ऐसे जिन भगवान्के कथनका सदा अवधारण करूँ। हे रायचन्द्र, सदा मेरा यही मनोरथ है, इसे धारणकर, मोक्ष मिलेगा ॥ २ ॥

४६ कपिलमुनि

(१)

कौसांबी नामकी एक नगरी थी। वहाँके राजदरबारमें राज्यका आभूषणरूप काश्यप नामका एक शास्त्री रहता था। इसकी स्त्रीका नाम नाम श्रीदेवी था। उसके उदरसे कपिल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कपिल जब पन्द्रह वर्षका हुआ उस समय उसका पिता परलोक सिधारा। कपिल लाड़ प्यारमें पाले जानेके कारण कोई विशेष विद्वत्ता प्राप्त न कर सका, इसलिये इसके पिताकी जगह किसी दूसरे विद्वान्को मिली। काश्यप शास्त्री जो पूँजी कमाकर रख गया था, उसे कमानेमें अशक्त कपिलने खाकर पूरी कर डाली। श्रीदेवी एक दिन घरके द्वारपर खड़ी थी कि इतनेमें उसने दो चार नौकरों सहित अपने पतिकी शास्त्रीय पदवीपर नियुक्त विद्वान्को उधरसे जाता हुआ देखा। बड़े मानसे जाते हुए इस शास्त्रीको देखकर श्रीदेवीको अपनी पूर्वस्थितिका स्मरण हो आया। जिस समय मेरा पति इस पदवीपर था, उस समय मैं कैसा सुख भोगती थी! यह मेरा सुख गया सो गया, परन्तु मेरा पुत्र भी पूरा नहीं पढ़ा। ऐसे विचारमें घूमते घूमते उसकी आँखोंमेंसे पट पट आँसू गिरने लगे। इतनेमें फिरते फिरते वहाँ कपिल आ पहुँचा। श्रीदेवीको रोती हुई देखकर कपिलने रोनेका कारण पूँछा। कपिलके बहुत आग्रहसे श्रीदेवीने जो बात थी वह कह दी। फिर कपिलने कहा, "देख माँ! मैं बुद्धिशाली हूँ, परन्तु मेरी बुद्धिका उपयोग जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका। इसलिये विद्याके बिना मैंने यह पदवी नहीं प्राप्त की। अब तू जहाँ कहे मैं वहाँ जाकर अपनेसे बनती विद्याको सिद्ध करूँ।" श्रीदेवीने खेदसे कहा, "यह तुझसे नहीं हो सकता, अन्यथा आर्यावर्तकी सीमापर स्थित श्रावस्ति नगरीमें इन्द्रदत्त नामका तेरे पिताका मित्र रहता है, वह अनेक विद्यार्थियोंको विद्यादान देता है। यदि तू वहाँ जा सके तो इष्टकी सिद्धि अवश्य हो।" एक दो दिन रुककर सब तैयारी कर 'अस्तु' कहकर कपिलजीने रास्ता पकड़ा।

अवधि-बीतनेपर कपिल श्रावस्तीमें शास्त्रीजीके घर आ पहुँचे। उन्होंने प्रणाम करके शास्त्रीजीको अपना इतिहास कह सुनाया। शास्त्रीजीने अपने मित्रके पुत्रको विद्यादान देनेके लिये बहुत आनंद दिखाया; परन्तु कपिलके पास कोई पूँजी न थी, जिससे वह उसमेंसे खाता और अभ्यास कर सकता। इस कारण उसे नगरमें माँगनेके लिये जाना पड़ता था। माँगते माँगते उसे दुपहर हो जाता था, बादमें वह रसोई करता, और भोजन करनेतक साँझ होनेमें कुछ ही देर बाकी रह जाती थी। इस कारण वह

ते त्रिशलातनये मन चिंतवि, ज्ञान, विवेक, विचार वधारुं;
नित्य विशोध करी नव तत्त्वनो, उत्तम बोध अनेक उच्चारुं;
संशयबीज उगे नहीं अंदर; जे जिननां कथनो अवधारुं;
राज्य, सदा मुज एज मनोरथ, धार थशे अपवर्ग, उतारुं ॥२॥

कुछ अभ्यास नहीं कर सकता था। पंडितजीने अभ्यास न करनेका कारण पूँछा, तो कपिलने सब कह दिया। पंडितजी कपिलको एक गृहस्थके पास ले गये। उस गृहस्थने कपिलपर अनुकंपा करके एक विधवा ब्राह्मणीके घर इसे हमेशा भोजन मिलते रहनेकी व्यवस्था कर दी। उससे कपिलकी एक चिन्ता कम हुई।

४७ कपिलमुनि

(२)

जहाँ एक छोटी चिंता कम हुई, वहाँ दूसरी बड़ी जंजाल खड़ी हो गई। भोला कपिल अब युवा हो गया था, और जिस विधवाके घर वह भोजन करने जाता था वह विधवा बाई भी युवती थी। विधवाके साथ उसके घरमें दूसरा कोई आदमी न था। हमेशकी परस्परकी बातचीतसे दोनोंमें संबंध बढ़ा, और बढ़कर हास्य विनोदरूपमें परिणत हो गया। इस प्रकार होते होते दोनोंमें गाढ़ प्रीति बँधी। कपिल उसमें लुब्ध हो गया। एकांत बहुत अनिष्ट चीज है!

कपिल विद्या प्राप्त करना भूल गया। गृहस्थकी तरफसे मिलने वाले सीदेसे दोनोंका मुश्किलसे निर्वाह होता था; कपड़े लत्तेकी भी बाधा होने लगी। कपिल गृहस्थाश्रम जैसा बना बैठे थे। कुछ भी हो, फिर भी लघुकर्मी जीव होनेसे कपिलको संसारके विशेष प्रपंचकी खबर भी न थी। इसलिये पैसा कैसे पैदा करना इस बातको वह विचारा जानता भी न था। चंचल स्त्रीने उसे रास्ता बताया कि घबड़ानेसे कुछ न होगा, उपायसे सिद्धि होती है। इस गाँवके राजाका ऐसा नियम है, कि सबेरे सबसे पहले जाकर जो ब्राह्मण उसे आशीर्वाद दे, उसे दो माशे सोना मिलेगा। यदि तुम वहाँ जा सको और पहले आशीर्वाद दे सको तो यह दो मासा सोना मिल सकता है। कपिलने इस बातको स्वीकार की। कपिलने आठ दिनतक धक्के खाये परन्तु समय बीत जानेपर पहुँचनेसे उसे कुछ सफलता न मिलती थी। एक दिन उसने ऐसा निश्चय किया, कि यदि मैं चौकमें सोऊँ तो चिन्ताके कारण उठ बैठूँगा। वह चौकमें सोया। आधी रात बीतनेपर चन्द्रका उदय हुआ। कपिल प्रभात समीप जान मुट्ठी बाँधकर आशीर्वाद देनेके लिये दौड़ते हुए जाने लगा। रक्षपालने उसे चोर जानकर पकड़ लिया। लेनेके देने पड़ गये। प्रभात हुआ, रक्षपालने कपिलको ले जाकर राजाके समक्ष खड़ा किया। कपिल बेसुध जैसा खड़ा रहा। राजाको उसमें चोरके लक्षण दिखाई नहीं दिये। इसलिये राजाने सब वृत्तांत पूँछा। चंद्रके प्रकाशको सूर्यके समान गिननेवालेके भोलेपनपर राजाको दया आई। उसकी दरिद्रताको दूर करनेकी राजाकी इच्छा हुई इसलिये उसने कपिलसे कहा कि यदि आशीर्वादके कारण तुझे इतनी अधिक झंझट करनी पड़ी है तो अब तू अपनी इच्छानुसार माँग ले। मैं तुझे दूँगा। कपिल थोड़ी देर तक मूढ़ जैसा हो गया। इससे राजाने कहा, क्यों विप्र! माँगते क्यों नहीं? कपिलने उत्तर दिया, मेरा मन अभी स्थिर नहीं हुआ, इसलिये क्या माँगू यह नहीं सूझता। राजाने सामनेके बागमें जाकर वहाँ बैठकर स्वस्थतापूर्वक विचार करके कपिलको माँगनेके लिये कहा। कपिल बागमें जाकर विचार करने बैठा।

४८ कपिलमुनि

(३)

जिसे दो मासा सोना लेनेकी इच्छा थी वह कपिल अब तृष्णाकी तरंगोंमें बह गया। जब उसने पाँच मोहरें माँगनेकी इच्छा की तो उसे विचार आया कि पाँच मोहरोंसे कुछ पूरा नहीं होगा। इसलिये पच्चीस मोहरें माँगना ठीक है। यह विचार भी बदला। पच्चीस मोहरोंसे कुछ पूरा वर्ष नहीं कटेगा, इसलिये सौ मोहरें माँगना चाहिये। यह विचार भी बदला। सौ मोहरोंसे दो वर्ष तक वैभव भोगेंगे, फिर दुःखका दुःख ही है। अतएव एक हजार मोहरोंकी याचना करना ठीक है। परन्तु एक हजार मोहरें, बाल-बच्चोंके दो चार खर्च आये, कि खतम हो जायँगी, तो पूरा भी क्या पड़ेगा। इसलिये दस हजार मोहरें माँगना ठीक है, जिससे कि जिन्दगी भर भी चिंता न हो। यह भी इच्छा बदली। दस हजार मोहरें खा जानेके बाद फिर पूँजीके बिना रहना पड़ेगा। इसलिये एक लाख मोहरोंकी माँगनी करूँ कि जिसके व्याजमें समस्त वैभवको भोग सकूँ। परन्तु हे जीव! लक्षाधिपति तो बहुत हैं, इसमें मैं प्रसिद्ध कहाँसे हो सकता हूँ। अतएव करोड़ मोहरें माँगना ठीक है, कि जिससे मैं महान् श्रीमन्त कहा जाऊँ। फिर पीछे रंग बदला। महान् श्रीमंतपनेसे भी घरपर अमलदारी नहीं कही जा सकती। इसलिये राजाका आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु यदि मैं आधा राज्य माँगूगा तो राजा मेरे तुल्य गिना जावेगा और इसके सिवाय मैं उसका याचक भी गिना जाऊँगा। इसलिये माँगना तो फिर समस्त राज्य ही माँगना चाहिये। इस तरह कपिल तृष्णामें डूबा। परन्तु वह था तुच्छ संसारी, इससे फिरसे पीछे लौटा। भला जीव! ऐसी कृतघ्नता क्यों करनी चाहिये कि जो तेरी इच्छानुसार देनेके लिये तत्पर हो, उसका ही राज्य ले लूँ और उसे ही भ्रष्ट करूँ। वास्तवमें देखनेसे तो इसमें अपनी ही भ्रष्टता है। इसलिये आधा राज्य माँगना ठीक है। परन्तु इस उपाधिकी भी मुझे आवश्यकता नहीं। फिर रुपये पैसेकी उपाधि ही क्या है? इसलिये करोड़ लाख छोड़कर सौ दोसो मोहरें ही माँग लेना ठीक है। जीव! सौ दोसो मोहरें मिलेंगी तो फिर विषय वैभवमें ही समय चला जायगा, और विद्याभ्यास भी धरा रहेगा। इसलिये अब पाँच मोहरें ले लो, पीछेकी बात पीछे। अरे! पाँच मोहरोंकी भी अभी हालमें अब कोई आवश्यकता नहीं। तू केवल दो मासा सोना लेने आया था उसे ही माँग ले। जीव! यह तो तो बहुत हुई। तृष्णा-समुद्रमें तूने बहुत डुबकियाँ लगाईं। समस्त राज्य माँगनेसे भी जो तृष्णा नहीं बुझती थी उसे केवल संतोष और विवेकसे घटाया तो घटी। यह राजा यदि चक्रवर्ती होता, तो फिर मैं इससे विशेष क्या माँग सकता था और विशेष जबतक न मिलता तबतक मेरी तृष्णा भी शान्त न होती। जबतक तृष्णा शान्त न होती, तबतक मैं सुखी भी न होता। जब इतनेसे यह मेरी तृष्णा शान्त न हुई तो फिर दो मासे सोनेसे कैसे शान्त हो सकती है? कपिलकी आत्मा ठिकाने आई और वह बोला, अब मुझे इस दो मासे सोनेका भी कुछ काम नहीं। दो माससे बढ़कर मैं कितनेतक पहुँच गया! सुख तो संतोषमें ही है। तृष्णा संसार-वृक्षका बीज है। हे जीव! इसकी तुझे क्या आवश्यकता है? विद्या ग्रहण करता हुआ तू विषयमें पड़ गया; विषयमें पड़नेसे इस उपाधिमें पड़ गया; उपाधिके कारण तू अनन्त-तृष्णा समुद्रमें पड़ा। एक उपाधिमेंसे इस संसारमें ऐसी अनन्त उपाधियाँ सहन करनी पड़ती

देहत्याग करनेकी—दुःख-स्थितिकी अपेक्षा अधिक भयंकर स्थिति हो जाती है; परन्तु ऐसा बहुत समयतक नहीं रहता; और ऐसा जब रहेगा तो अवश्य ही इस देहका त्याग कर दूँगा। परन्तु मैं असमाधिसे प्रवृत्ति न करूँ, ऐसी अबतककी प्रतिज्ञा बराबर कायम चली आई है।

---

९४ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ९ गुरु. १९४६

हे परिचयी! तुम्हें मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने आपमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा।

तुम मेरे अनुयायी हुए हो, और उसमें जन्मांतरके योगसे मुझे प्रधानपद मिला है इस कारण तुमने मेरी आज्ञाका अवलंबन करके आचरण करना उचित माना है।

और मैं भी तुम्हारे साथ उचितरूपसे ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, किसी दूसरे प्रकारसे नहीं।

यदि तुम पहिले जीवन-स्थितिको पूर्ण करो, तो धर्मके लिए ही मेरी इच्छा करो। ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ; और यदि मैं करूँ तो धर्मपात्रके रूपमें मेरा स्मरण रहे, ऐसा होना चाहिये।

हम तुम दोनों ही धर्ममूर्ति होनेका प्रयत्न करें। बड़े हर्षसे प्रयत्न करें।

तुम्हारी गतिकी अपेक्षा मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान कर लिया है—" मतिमें "।

मैं तुम्हें उसका लाभ देना चाहता हूँ; क्योंकि तुम बहुत ही निकटके संबंधी हो।

यदि तुम उस लाभको उठानेकी इच्छा करते हो, तो दूसरी कलममें कहे अनुसार तुम जरूर करोगे, ऐसी मुझे आशा है।

तुम स्वच्छताको बहुत ही अधिक चाहना; वीतराग-भक्तिको बहुत ही अधिक चाहना; मेरी भक्तिको मामूली तौरसे चाहना। तुम जिस समय मेरी संगतिमें रहो, उस समय जिस तरह सब प्रकारसे मुझे आनंद हो उस तरहसे रहना।

विद्याभ्यासी होओ।

मुझसे विद्यायुक्त विनोदपूर्ण संभाषण करना।

मैं तुम्हें योग्य उपदेश दूँगा। तुम उससे रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसंपन्न होगे। बादमें इस दशाको देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा।

---

९५ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र. १९४६

सवेरके ६ बजेसे ८ बजे तकका समय समाधिमें बीता था। अखाजीके विचार बहुत स्वस्थ चित्तसे बाँचे, और मनन किये थे।

---

९६ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १२ शनि. १९४६

कल रेवाशंकरजी आनेवाले हैं, इसलिये तबसे निम्नलिखित क्रमको पार्श्वप्रभु रक्षित रक्खें:—

स्त्री अनेक प्रकारकी उपाधि मचा रहे हैं, दुःखदायी पुत्र और पुत्री खाऊँ खाऊँ कर रहे हैं। अरे रायचन्द्र ! तो भी यह जीव उधेड बुन किया ही करता है और इससे तृष्णाको छोड़कर जंजाल नहीं छोड़ी जाती ॥ ३ ॥

नाड़ी क्षीण पड़ गई, अवाचककी तरह पड़ रहा, और जीवन-दीपक निस्तेज पड़ गया। एक भाईने इसे अंतिम अवस्थामें पड़ा देखकर यह कहा, कि अब इस विचारेकी मिट्टी ठंडी हो जाय तो ठीक है। इतने पर उस बुड्ढेने खीजकर हाथको हिलाकर इशारेसे कहा, कि हे मूर्ख! चुप रह, तेरी चतुराईपर आग लगे। अरे रायचन्द्र ! देखो देखो, यह आशाका पाश कैसा है ! मरते मरते भी बुड्ढेकी ममता नहीं मरी ॥ ४ ॥

५० प्रमाद

धर्मका अनादर, उन्माद, आलस्य, और कषाय ये सब प्रमादके लक्षण हैं।

भगवान्ने उत्तराध्ययनसूत्रमें गौतमसे कहा है, कि हे गौतम ! मनुष्यकी आयु कुशकी नोकपर पड़ी हुई जलके बून्दके समान है। जैसे इस बून्दके गिर पड़नेमें देर नहीं लगती, उसी तरह इस मनुष्य-आयुके बीतनमें देर नहीं लगती। इस उपदेशकी गाथाकी चौथी कड़ी स्मरणमें अवश्य रखने योग्य है–'**समयं गोयम मा पमायए**'। इस पवित्र वाक्यके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह, कि हे गौतम ! समय अर्थात् अवसर पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिये; और दूसरा यह कि क्षण क्षणमें बीतते जाते हुए कालके असंख्यातवें भाग अर्थात् एक समयमात्रका भी प्रमाद न करना चाहिये, क्योंकि देह क्षणभंगुर है। काल-शिकारी सिरपर धनुष बाण चढ़ाकर खड़ा है। उसने शिकारको लिया अथवा लेगा बस यही दुविधा हो रही है। वहाँ प्रमाद करनेसे धर्म-कर्तव्य रह जायगा।

अति विचक्षण पुरुष संसारकी सर्वोपाधि त्याग कर दिन रात धर्ममें सावधान रहते हैं, और पलभर भी प्रमाद नहीं करते। विचक्षण पुरुष अहोरात्रके थोड़े भागको भी निरंतर धर्म-कर्तव्यमें बिताते हैं, और अवसर अवसरपर धर्म-कर्तव्य करते रहते हैं। परन्तु मूढ़ पुरुष निद्रा, आहार, मौज, शौक, विकथा तथा राग रंगमें आयु व्यतीत कर डालते हैं। वे इसके परिणाममें अधोगति पाते हैं।

जैसे बने तैसे यतना और उपयोगसे धर्मका साधन करना योग्य है। साठ घड़ीके अहोरात्रमें बीस घड़ी तो हम निद्रामें बिता देते हैं। बाकीकी चालीस घड़ी उपाधि, गप शप, और इधर उधर भटकनेमें बिता देते हैं। इसकी अपेक्षा इस साठ घड़ीके वक्तमेंसे दो चार घड़ी विशुद्ध धर्म-कर्तव्यके लिये उपयोगमें लगावें तो यह आसानीसे हो सकने जैसी बात है। इसका परिणाम भी कैसा सुंदर हो !

पल अमूल्य चीज है। चक्रवर्ती भी यदि एक पल पानेके लिये अपनी समस्त ऋद्धि दे दे तो

पितृ अने परणी ते, मचावे अनेक धंध, पुत्र, पुत्री भाखे खाउं खाउं दुःखदाईने,
अरे! राज्यचन्द्र तोय जीव झावा दावा करे, जंजाळ छंडाय नहीं तजी तृषनाईने ॥ ३ ॥

थई क्षीण नाड़ी अवाचक जेवो रह्यो पड़ी, जीवन दीपक पाम्यो केवळ झंखाईने;
छेल्ली इसे पञ्यो भाळी भाईए त्यां एम भाख्युं, हवे टाढी माटी थाय तो तो ठीक भाईने।
हाथने हलावी त्यां तो खीजी बुढे सूचव्युं ए, बोल्या विना बेश बाळ तारी चतुराईने !
अरे राज्यचन्द्र देखो देखो आशापाश केवो ! जतां गई नहीं डोशे ममता मराईने ! ॥ ४ ॥

भी वह उसे नहीं पा सकता। एक पलको व्यर्थ खोना एक भव हार जानेके समान है। यह तत्त्वकी दृष्टिसे सिद्ध है।

५१ विवेकका अर्थ

लघु शिष्य—भगवन्! आप हमें जगह जगह कहते आये हैं कि विवेक महान् श्रेयस्कर है। विवेक अन्धकारमें पड़ी हुई आत्माको पहचाननेके लिये दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं; तो विवेक किसे कहते हैं, यह हमें कहिये।

गुरु—आयुष्मानों! सत्यासत्यको उसके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य, और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तो महाराज! क्या इन लोगोंने धर्मके मूलको पा लिया, यह कहा जा सकता है?

गुरु—तुम लोग जो बात कहते हो उसका कोई दृष्टान्त दो।

लघु शिष्य—हम स्वयं कडुवेको कडुवा ही कहते हैं, मधुरको मधुर कहते हैं, ज़हरको ज़हर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मानों! ये समस्त द्रव्य पदार्थ हैं। परन्तु आत्मामें क्या कड़वास, क्या मिठास, क्या ज़हर और क्या अमृत है? इन भाव पदार्थोंकी क्या इससे परीक्षा हो सकती है?

लघु शिष्य—भगवन्! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नहीं।

गुरु—इसलिये यही समझना चाहिये कि ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्यभाव पदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुओंने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता आ गई है कि परीक्षा करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। संसारके सुखोंको आत्माके अनंत वार भोगनेपर भी उनमेंसे अभी भी आत्माका मोह नहीं छूटा, और आत्माने उन्हें अमृतके तुल्य गिना, यह अविवेक है। कारण कि संसार कडुवा है तथा यह कडुवे विपाकको देता है। इसी तरह आत्माने कडुवे विपाककी औषध रूप वैराग्यको कडुवा गिना यह भी अविवेक है। ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको अज्ञानदर्शनने घेरकर जो मिश्रता कर डाली है, उसे पहचानकर भाव-अमृतमें आनेका नाम विवेक है। अब कहो कि विवेक यह कैसी वस्तु सिद्ध हुई।

लघु शिष्य—अहो! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मका रक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्माके स्वरूपको विवेकके विना नहीं पहचान सकते, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व और तप ये सब विवेकके विना उदित नहीं होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नहीं, वह अज्ञानी और मंद है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमें लिपटा रहता है। आपकी विवेक-संबंधी शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे।

५२ ज्ञानियोंने वैराग्यका उपदेश क्यों दिया?

संसारके स्वरूपके संबंधमें पहले कुछ कहा है। वह तुम्हारे ध्यानमें होगा। ज्ञानियोंने इसे अनंत खेदमय, अनंत दुःखमय, अव्यवस्थित, अस्थिर और अनित्य कहा है। ये विशेषण लगानेके पहले उन्होंने संसारका सम्पूर्ण विचार किया माल्रम होता है। अनंत भवका पर्यटन, अनंत कालका अज्ञान, अनंत जीवनका व्याघात, अनंत मरण, और अनंत शोक सहित आत्मा संसार-चक्रमें भ्रमण किया करती है।

संसारकी दिखती हुई इन्द्रवारणाके समान सुंदर मोहिनीने आत्माको एकदम मोहित कर डाला है। इसके समान सुख आत्माको कहीं भी नहीं मालूम होता। मोहिनीके कारण सत्यसुख और उसका स्वरूप देखनेकी इसने आकांक्षा भी नहीं की। जिस प्रकार पतंगकी दीपकके प्रति मोहिनी है, उसी तरह आत्माकी संसारके प्रति मोहिनी है। ज्ञानी लोग इस संसारको क्षणभर भी सुखरूप नहीं कहते। इस संसारकी तिलभर जगह भी ज़हरके विना नहीं रही। एक सूअरसे लेकर चक्रवर्तीतक भावकी अपेक्षासे समानता है। अर्थात् चक्रवर्तीको संसारमें जितनी मोहिनी है, उतनी ही बल्कि उससे भी अधिक मोहिनी सूअरकी है। जिस प्रकार चक्रवर्ती समग्र प्रजापर अधिकारका भोग करता है, उसी तरह वह उसकी उपाधि भी भोगता है। सूअरको इसमेंसे कुछ भी भोगना नहीं पड़ता। अधिकारकी अपेक्षा उलटी उपाधि विशेष है। चक्रवर्तीको अपनी पत्नीके प्रति जितना प्रेम होता है, उतना ही अथवा उससे अधिक सूअरको अपनी सूअरनीके प्रति प्रेम रहता है। चक्रवर्ती भोगसे जितना रस लेता है उतना ही रस सूअर भी माने हुए है। चक्रवर्तीके जितनी वैभवकी बहुलता है, उतनी ही उपाधि भी है। सूअरको इसके वैभवके अनुसार ही उपाधि है। दोनों उत्पन्न हुए हैं और दोनोंको मरना है। इस प्रकार सूक्ष्म विचारसे देखनेपर क्षणिकतासे, रोगसे, जरा आदिसे दोनों ग्रसित हैं। द्रव्यसे चक्रवर्ती समर्थ है, महा पुण्यशाली है, मुख्यरूपसे सातावेदनीय भोगता है, और सूअर बिचारा असातावेदनीय भोग रहा है। दोनोंके असाता और साता दोनों हैं। परन्तु चक्रवर्ती महा समर्थ है। परन्तु यदि वह जीवनपर्यंत मोहांध रहे तो वह बिलकुल बाजी हार जानेके जैसा काम करता है। सूअरका भी यही हाल है। चक्रवर्तीके शलाकापुरुष होनेके कारण सूअरसे इस रूपमें इसकी बराबरी नहीं, परन्तु स्वरूपकी दृष्टिसे बराबरी है। भोगोंके भोगनेमें दोनों तुच्छ हैं, दोनोंके शरीर राद, माँस आदिके हैं, और असातासे पराधीन हैं। संसारकी यह सर्वोत्तम पदवी ऐसी है; उसमें ऐसा दुःख, ऐसी क्षणिकता, ऐसी तुच्छता, और ऐसा अंधपना है, तो फिर दूसरी जगह सुख कैसे माना जाय? यह सुख नहीं, फिर भी सुख गिनो तो जो सुख भययुक्त और क्षणिक है वह दुःख ही है। अनंत ताप, अनंत शोक, अनंत दुःख देखकर ज्ञानियोंने इस संसारको पीठ दिखाई है, यह सत्य है। इस ओर पीछे लौटकर देखना योग्य नहीं। वहाँ दुःख ही दुःख है। यह दुःखका समुद्र है।

वैराग्य ही अनंत सुखमें ले जाने वाला उत्कृष्ट मार्गदर्शक है।

५३ महावीरशासन

आजकल जो जिन भगवान्का शासन चल रहा है वह भगवान् महावीरका प्रणीत किया हुआ है। भगवान् महावीरको निर्वाण पधारे २४०० वर्षसे ऊपर हो गये। मगध देशके क्षत्रियकुंड नगरमें सिद्धार्थ राजाकी रानी त्रिशलादेवी क्षत्रियाणीकी कोखसे भगवान् महावीरने जन्म लिया था। महावीर भगवान्के बड़े भाईका नाम नन्दिवर्धमान था। उनकी स्त्रीका नाम यशोदा था। वे तीस वर्ष गृहस्थाश्रममें रहे। इन्होंने एकांत विहारमें साढ़े बारह वर्ष एक पक्ष तप आदि सम्यक् आचारसे सम्पूर्ण घनघाति कर्मोंको जलाकर भस्मीभूत किया; अनुपमेय केवलज्ञान और केवलदर्शनको ऋजुवालिका नदीके किनारे प्राप्त किया; कुल लगभग बहत्तर वर्षकी आयुको भोगकर सब कर्मोंको भस्मीभूत कर सिद्धस्वरूपको प्राप्त किया। वर्तमान चौबीसीके ये अन्तिम जिनेश्वर थे।

इनका यह धर्मतीर्थ चल रहा है। यह २१,००० वर्ष अर्थात् पंचमकालके पूर्ण होनेतक चलेगा, ऐसा भगवतीसूत्रमें कहा है।

इस कालके दस आश्चर्योंसे युक्त होनेके कारण इस श्रीधर्म-तीर्थके ऊपर अनेक विपत्तियाँ आई हैं, आती हैं, और आवेंगी।

जैन-समुदायमें परस्पर बहुत मतभेद पड़ गये हैं। ये मतभेद परस्पर निंदा-ग्रन्थोंके द्वारा जंजाल फैला बैठे हैं। मध्यस्थ पुरुष मत मतांतरमें न पड़कर विवेक विचारसे जिन भगवान्की शिक्षाके मूल तत्त्वपर आते हैं, उत्तम शीलवान मुनियोंपर भक्ति रखते हैं, और सत्य एकाग्रतासे अपनी आत्माका दमन करते हैं।

कालके प्रभावके कारण समय समयपर शासन कुछ न्यूनाधिक रूपमें प्रकाशमें आता है।

'**वक्कजडा य पच्छिमा**' यह उत्तराध्ययनसूत्रका वचन है। इसका भावार्थ यह है कि अंतिम तीर्थंकर (महावीरस्वामी) के शिष्य वक्र और जड़ होंगे। इस कथनकी सत्यताके विषयमें किसीको बोलनेकी गुंजायश नहीं है। हम तत्त्वका कहाँ विचार करते हैं? उत्तम शीलका कहाँ विचार करते हैं? नियमित वक्तको धर्ममें कहाँ व्यतीत करते हैं? धर्मतीर्थके उदयके लिये कहाँ लक्ष रखते हैं? लगनसे कहाँ धर्म-तत्त्वकी खोज करते हैं? श्रावक कुलमें जन्म लेनेके कारण ही श्रावक कहे जाते हैं, यह बात हमें भावकी दृष्टिसे मान्य नहीं करनी चाहिये। इसलिये आवश्यक आचार-ज्ञान-खोज अथवा इनमेंसे जिसके कोई विशेष लक्षण हों, उसे श्रावक मानें तो वह योग्य है। अनेक प्रकारकी द्रव्य आदि सामान्य दया श्रावकके घरमें पैदा होती है और वह इस दयाको पालता भी है, यह बात प्रशंसा करने योग्य है। परन्तु तत्त्वको कोई विरले ही जानते हैं। जाननेकी अपेक्षा बहुत शंका करनेवाले अर्धदग्ध भी हैं; जानकर अहंकार करनेवाले भी हैं। परन्तु जानकर तत्त्वके काँटेमें तोलनेवाले कोई विरले ही हैं। परम्पराकी आम्नायसे केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और परम अवधिज्ञान विच्छेद हो गये। दृष्टिवादका विच्छेद है, और सिद्धांतका बहुतसा भाग भी विच्छेद हो गया है। केवल थोड़ेसे बचे भागपर सामान्य बुद्धिसे शंका करना योग्य नहीं। जो शंका हो उसे विशेष जाननेवालेसे पूँछना चाहिये। वहाँसे संतोषजनक उत्तर न मिले तो भी जिनवचनकी श्रद्धामें चल-विचल करना योग्य नहीं, क्योंकि अनेकांत शैलीके स्वरूपको विरले ही जानते है।

भगवान्के कथनरूप मणिके घरमें बहुतसे पामर प्राणी दोषरूप छिद्रोंको खोजनेका मथनकर अधोगतिको ले जानेवाले कर्मोंको बाँधते हैं। हरी वनस्पतिके बदले उसे सुखाकर काममें लेना किसने और किस विचारसे ढूँढ़ निकाला होगा? यह विषय बहुत बड़ा है। यहाँ इस संबंधमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं। तात्पर्य यह है कि हमें अपनी आत्माको सार्थक करनेके लिये मतभेदमें नहीं पड़ना चाहिये।

उत्तम और शांत मुनियोंका समागम, विमल आचार, विवेक, दया, क्षमा आदिका सेवन करना चाहिये। महावीरके तीर्थके लिये हो सके तो विवेकपूर्ण उपदेश भी कारण सहित देना चाहिये। तुच्छ बुद्धिसे शंकित नहीं होना चाहिये। इसमें अपना परम मंगल है इसे नहीं भूलना चाहिये।

५४ अशुचि किसे कहते हैं ?

जिज्ञासु—मुझे जैन मुनियोंके आचारकी बात बहुत रुचिकर हुई है। इनके समान किसी भी दर्शनके संतोंका आचार नहीं। चाहे जैसी शीत ऋतुकी ठंड हो उसमें इन्हें अमुक वस्त्रसे ही निभाना पड़ता है, ग्रीष्ममें कितनी ही गरमी पड़नेपर भी ये पैरमें जूता और सिरपर छत्री नहीं लगा सकते। इन्हें गरम रेतीमें आतापना लेनी पड़ती है। ये जीवनपर्यंत गरम पानी पीते हैं। ये गृहस्थके घर नहीं बैठ सकते, शुद्ध ब्रह्मचर्य पालते हैं, फूटी कौड़ी भी पासमें नहीं रख सकते, अयोग्य वचन नहीं बोल सकते, और वाहन नहीं ले सकते। वास्तवमें ऐसे पवित्र आचार ही मोक्षदायक हैं। परन्तु नव बाड़में भगवान्‌ने स्नान करनेका निषेध क्यों किया है, यह बात यथार्थरूपसे मेरी समझमें नहीं बैठती।

सत्य—क्यों नहीं बैठती ?

जिज्ञासु—क्योंकि स्नान न करनेसे अशुचि बढ़ती है।

सत्य—कौनसी अशुचि बढ़ती है ?

जिज्ञासु—शरीर मलिन रहता है।

सत्य—भाई! शरीरकी मलिनताको अशुचि कहना, यह बात कुछ विचारपूर्ण नहीं। शरीर स्वयं किस चीज़का बना है, यह तो विचार करो। यह रक्त, पित्त, मल, मूत्र, श्लेष्मका भंडार है। उसपर केवल त्वचा ढँकी हुई है। फिर यह पवित्र कैसे हो सकता है ? फिर साधुओंने ऐसा कौनसा संसार-कर्तव्य किया है कि जिससे उन्हें स्नान करनेकी आवश्यकता हो ?

जिज्ञासु—परन्तु स्नान करनेसे उनकी हानि क्या है ?

सत्य—यह तो स्थूल बुद्धिका ही प्रश्न है। स्नान करनेसे कामाग्निकी प्रदीप्ति, व्रतका भंग, परिणामका बदलना असंख्यातों जंतुओंका विनाश, यह सब अशुचिता उत्पन्न होती है, और इससे आत्मा महा मलिन होती है, प्रथम इसका विचार करना चाहिये। जीव-हिंसासे युक्त शरीरकी जो मलिनता है वह अशुचि है। तत्त्व-विचारसे तो ऐसा समझना चाहिये कि दूसरी मलिनताओंसे तो आत्माकी उज्ज्वलता होती है, स्नान करनेसे व्रतभंग होकर आत्मा मलिन होती है, और आत्माकी मलिनता ही अशुचि है।

जिज्ञासु—मुझे आपने बहुत सुंदर कारण बताया। सूक्ष्म विचार करनेसे जिनेश्वरके कथनसे शिक्षा और अत्यानन्द प्राप्त होता है। अच्छा, गृहस्थाश्रमियोंको सांसारिक प्रवृत्तिसे अनिच्छित जीव-हिंसा आदिसे युक्त शरीरकी अपवित्रता दूर करनी चाहिये कि नहीं ?

सत्य—बुद्धिपूर्वक अशुचिको दूर करना ही चाहिये। जैन दर्शनके समान एक भी पवित्र दर्शन नहीं, वह यथार्थ पवित्रताका बोधक है। परन्तु शौचाशौचका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

५५ सामान्य नित्यनियम

प्रभातके पहले जागृत होकर नमस्कारमंत्रका स्मरणकर मनको शुद्ध करना चाहिये। पाप-व्यापारकी वृत्ति रोककर रात्रिमें हुए दोषोंका उपयोगपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये।

प्रतिक्रमण करनेके बाद यथावसर भगवान्‌की उपासना, स्तुति और स्वाध्यायसे मनको उज्ज्वल बनाना चाहिये।

माता पिताका विनय करके संसारी कामोंमें आत्म-हितका ध्यान न भूल सकें, इस तरह व्यवहारिक कार्योंमें प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वयं भोजन करनेसे पहले सत्पात्रको दान देनेकी परम आतुरता रखकर वैसा योग मिलनेपर यथोचित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

आहार विहार आदिमें नियम सहित प्रवृत्ति करनी चाहिये।

सत् शास्त्रके अभ्यासका नियमित समय रखना चाहिये।

सायंकालमें उपयोगपूर्वक संध्यावश्यक करना चाहिये।

निद्रा नियमितरूपसे लेना चाहिये।

सोनेके पहले अठारह पापस्थानक, बारह व्रतोंके दोष, और सब जीवोंको क्षमाकर, पंचपरमेष्ठी-मंत्रका स्मरणकर समाधिपूर्वक शयन करना चाहिये।

ये सामान्य नियम बहुत मंगलकारी हैं, इन्हें यहाँ संक्षेपमें कहा है। विशेष विचार करनेसे और तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे वे विशेष मंगलदायक और आनन्दकारक होंगे।

५६ क्षमापना

हे भगवन्! मैं बहुत भूला, मैंने आपके अमूल्य वचनोंको ध्यानमें नहीं रक्खा। मैंने आपके कहे हुए अनुपम तत्त्वका विचार नहीं किया। आपके द्वारा प्रणीत किये उत्तम शीलका सेवन नहीं किया। आपके कहे हुए दया, शांति, क्षमा और पवित्रताको मैंने नहीं पहचाना। हे भगवन्! मैं भूला, फिरा, भटका, और अनंत संसारकी विटम्बनामें पड़ा हूँ। मैं पापी हूँ। मैं बहुत मदोन्मत्त और कर्म-रजसे मलिन हूँ। हे परमात्मन्! आपके कहे हुए तत्त्वोंके बिना मेरी मोक्ष नहीं होगी। मैं निरंतर प्रंपचमें पड़ा हूँ। अज्ञानसे अंधा हो रहा हूँ; मुझमें विवेक-शक्ति नहीं। मैं मूढ़ हूँ; मैं निराश्रित हूँ; मैं अनाथ हूँ। हे वीतरागी परमात्मन्! अब मैं आपका आपके धर्मका और आपके मुनियोंका शरण लेता हूँ। अपने अपराध क्षय करके मैं उन सब पापोंसे मुक्त होऊँ यही मेरी अभिलाषा है। पहले किये हुए पापोंका मैं अब पश्चात्ताप करता हूँ। जैसे जैसे मैं सूक्ष्म विचारसे गहरा उतरता जाता हूँ, वैसे वैसे आपके तत्त्वके चमत्कार मेरे स्वरूपका प्रकाश करते हैं। आप वीतरागी, निर्विकारी, सच्चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी, और त्रैलोक्य-प्रकाशक हैं। मैं केवल अपने हितके लिये आपकी साक्षीसे क्षमा चाहता हूँ। एक पल भी आपके कहे हुए तत्त्वमें शंका न हो, आपके बताये हुए रास्तेमें मैं अहोरात्र रहूँ, यही मेरी आकांक्षा और वृत्ति होओ! हे सर्वज्ञ भगवन्! आपसे मैं विशेष क्या कहूँ? आपसे कुछ अज्ञात नहीं। पश्चात्तापसे मैं कर्मजन्य पापकी क्षमा चाहता हूँ— ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

५७ वैराग्य धर्मका स्वरूप है

खूनसे रँगा हुआ वस्त्र खूनसे धोये जानेपर उज्ज्वल नहीं हो सकता, परन्तु अधिक रँगा जाता है; यदि इस वस्त्रको पानीसे धोते हैं तो वह मलिनता दूर हो सकती है। इस दृष्टान्तको आत्मापर घटाते हैं। अनादि कालसे आत्मा संसाररूपी खूनसे मलिन है। मलिनता इसके प्रदेश प्रदेशमें व्याप्त हो रही है। इस मलिनताको हम विषय-श्रृंगारसे दूर करना चाहें तो यह दूर हो नहीं सकती। जिस

प्रकार खूनसे खून नहीं धोया जाता, उसी तरह श्रृंगारसे विषयजन्य आत्म-मलिनता दूर नहीं हो सकती। यह मानों निश्चयरूप है। इस जगत्में अनेक धर्ममत प्रचलित हैं। उनके संबंधमें निष्पक्षपात होकर विचार करनेपर पहलेसे इतना विचारना आवश्यक है कि जहाँ स्त्रियोंको भोग करनेका उपदेश किया हो, लक्ष्मी-लीलाकी शिक्षा दी हो, रँग, राग, गुलतान और एशो आराम करनेके तत्त्वका प्रतिपादन किया हो, वहाँ अपनी आत्माको सत् शांति नहीं। कारण कि इसे धर्ममत गिना जाय तो समस्त संसार धर्मयुक्त ही है। प्रत्येक गृहस्थका घर इसी योजनासे भरपूर है। बाल-बच्चे, स्त्री, रँग, राग, तानका वहाँ जमघट रहता है, और यदि उस घरको धर्म-मंदिर कहा जाय तो फिर अधर्म-स्थान किसे कहेंगे? और फिर जैसे हम बर्ताव करते हैं, उस तरहके बर्ताव करनेसे बुरा भी क्या है? यदि कोई यह कहे कि उस धर्म-मंदिरमें तो प्रभुकी भक्ति हो सकती है, तो उनके लिये खेदपूर्वक इतना ही उत्तर देना है कि वह परमात्म-तत्त्व और उसकी वैराग्यमय भक्तिको नहीं जानता। चाहे कुछ भी हो, परन्तु हमें अपने मूल विचारपर आना चाहिये। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे आत्मा संसारमें विषय आदिकी मलिनतासे पर्यटन करती है। इस मलिनताका क्षय विशुद्ध भावरूप जलसे होना चाहिये। अर्हतके तत्त्वरूप साबुन और वैराग्यरूपी जलसे उत्तम आचाररूप पत्थरपर आत्म-वस्त्रको धोनेवाले निर्ग्रंथ गुरु ही हैं।

इसमें यदि वैराग्य-जल न हो, तो दूसरी समस्त सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती। अतएव वैराग्यको धर्मका स्वरूप कहा जा सकता है। अर्हत-प्रणीत तत्त्व वैराग्यका ही उपदेश करता है, तो वही धर्मका स्वरूप है, ऐसा जानना चाहिये।

५८ धर्मके मतभेद

(१)

इस जगत्में अनेक प्रकारके धर्मके मत प्रचलित हैं। ऐसे मतभेद अनादिकालसे हैं, यह न्यायसिद्ध है। परन्तु ये मतभेद कुछ कुछ रूपांतर पाते जाते हैं। इस संबंधमें यहाँ कुछ विचार करते हैं।

बहुतसे मतभेद परस्पर मिलते हुए और बहुतसे मतभेद परस्पर विरुद्ध हैं। कितने ही मतभेद केवल नास्तिकोंके द्वारा फैलाये हुए हैं। बहुतसे मत सामान्य नीतिको धर्म कहते हैं, बहुतसे ज्ञानको ही धर्म बताते हैं, कितने ही अज्ञानको ही धर्ममत मानते हैं। कितने ही भक्तिको धर्म कहते हैं, कितने ही क्रियाको धर्म मानते हैं, कितने ही विनयको धर्म कहते हैं, और कितने ही शरीरके सँभालनेको ही धर्ममत मानते हैं।

इन धर्ममतोंके स्थापकोंने यह मानकर ऐसा उपदेश किया माल्म होता है कि हम जो कहते हैं, वह सर्वज्ञकी वाणीरूप है, अथवा सत्य है। बाकीके समस्त मत असत्य और कुतर्कवादी हैं; तथा उन मतवादियोंने एक दूसरेका योग्य अथवा अयोग्य खंडन भी किया है। वेदांतके उपदेशक यही उपदेश करते हैं; सांख्यका भी यही उपदेश है; बौद्धका भी यही उपदेश है। न्यायमतवालोंका भी यही उपदेश है; वैशेषिक लोगोंका भी यही उपदेश है; शक्ति-पंथके माननेवाले भी यही उपदेश करते

हैं; वैष्णव आदिका भी यही उपदेश है; इस्लामका भी यही उपदेश है; और इसी तरह क्राइस्टका भी यही उपदेश है कि हमारा कथन तुम्हें सब सिद्धियाँ देगा। तब हमें किस रीतिसे विचार करना चाहिये?

वादी और प्रतिवादी दोनों सच्चे नहीं होते, और दोनों झूठे भी नहीं होते। अधिक हुआ तो वादी कुछ अधिक सच्चा और प्रतिवादी कुछ थोड़ा झूँठा होता है; अथवा प्रतिवादी कुछ अधिक सच्चा, और वादी कुछ कम झूँठा होता है। हाँ, दोनोंकी बात सर्वथा झूँठी न होनी चाहिये। ऐसा विचार करनेसे तो एक धर्ममत सच्चा सिद्ध होता है, और शेष सब झूँठे ठहरते हैं।

जिज्ञासु—यह एक आश्चर्यकारक बात है। सबको असत्य अथवा सबको सत्य कैसे कहा जा सकता है? यदि सबको असत्य कहते हैं तो हम नास्तिक ठहरते हैं, तथा धर्मकी सचाई जाती रहती है। यह तो निश्चय है कि धर्मकी सचाई है, और यह सचाई जगत्में अवश्य है। यदि एक धर्ममतको सत्य और बाकीके सबको असत्य कहते हैं तो इस बातको सिद्ध करके बतानी चाहिये। सबको सत्य कहते हैं तो यह रेतकी भींत बनाने जैसी बात हुई क्योंकि फिर इतने सब मतभेद कैसे हो गये? यदि कुछ भी मतभेद न हो तो फिर जुदे जुदे उपदेशक अपने अपने मत स्थापित करनेके लिये क्यों कोशिश करें? इस प्रकार परस्परके विरोधसे थोड़ी देरके लिये रुक जाना पड़ता है।

फिर भी इस संबंधमें हम यहाँ कुछ समाधान करेंगे। यह समाधान सत्य और मध्यस्थ-भावनाकी दृष्टिसे किया है, एकांत अथवा एकमतकी दृष्टिसे नहीं किया। यह पक्षपाती अथवा अविवेकी नहीं, किन्तु उत्तम और विचारने योग्य है। देखनेमें यह सामान्य माॡम होगा परन्तु सूक्ष्म विचार करनेसे यह बहुत रहस्यपूर्ण लगेगा।

५९ धर्मके मतभेद
(२)

इतना तो तुम्हें स्पष्ट मानना चाहिये कि कोई भी एक धर्म इस संसारमें संपूर्ण सत्यतासे युक्त है। अब एक दर्शनको सत्य कहनेसे बाकीके धर्ममतोंको सर्वथा असत्य कहना पड़ेगा? परन्तु मैं ऐसा नहीं कह सकता। शुद्ध आत्मज्ञानदाता निश्चयनयसे तो ये असत्यरूप सिद्ध होते हैं, परन्तु व्यवहार-नयसे उन्हें असत्य नहीं कहा जा सकता। एक सत्य है, और बाकीके अपूर्ण और सदोष हैं, ऐसा मैं कहता हूँ। तथा कितने ही धर्ममत कुतर्कवादी और नास्तिक हैं, वे सर्वथा असत्य हैं। परन्तु जो परलोकका अथवा पापका कुछ भी उपदेश अथवा भय बताते हैं, इस प्रकारके धर्ममतोंको अपूर्ण और सदोष कह सकते हैं। एक दर्शन जिसे निर्दोष और पूर्ण कहा जा सकता है, उसके विषयकी बात अभी एक ओर रखते हैं।

अब तुम्हें शंका होगी कि सदोष और अपूर्ण कथनका इसके प्रवर्त्तकोंने किस कारणसे उपदेश दिया होगा? इसका समाधान होना चाहिये। इसका समाधान यह है कि उन धर्ममतवालोंने जहाँतक उनकी बुद्धिकी गति पहुँची वहाँतक ही विचार किया। अनुमान, तर्क और उपमान आदिके आधारसे उन्हें जो कथन सिद्ध माॡम हुआ, वह प्रत्यक्षरूपसे मानों सिद्ध है, ऐसा उन्होंने बताया।

उन्होंने जिस पक्षको लिया, उसमें मुख्य एकान्तवादको लिया। भक्ति, विश्वास, नीति, ज्ञान, क्रिया आदि एक पक्षको ही विशेषरूपसे लिया। इस कारण दूसरे मानने योग्य विषयोंको उन्होंने दूषित सिद्ध किये। फिर जिन विषयोंका उन्होंने वर्णन किया, उन विषयोंको उन्होंने कुछ सम्पूर्ण भावभेदसे जाना न था। परन्तु अपनी बुद्धिके अनुसार उन्होंने बहुत कुछ वर्णन किया। तार्किक सिद्धांत दृष्टांत आदिसे सामान्य बुद्धिवालोंके अथवा जड़ मनुष्योंके आगे उन्होंने सिद्ध कर दिखाया। कीर्ति, लोक-हित अथवा भगवान् मनवानेकी आकांक्षा इनमेंसे कोई एक भी इनके मनकी भ्रमणा होनेके कारण उन्होंने अत्युग्र उद्यम आदिसे विजय पायी। बहुतसोंने शृंगार और लोकप्रिय साधनोंसे मनुष्यके मनको हरण किया। दुनियाँ मोहमें तो वैसे ही डूबी पड़ी है, इसलिये इस इष्टदर्शनसे भेड़रूप होकर उन्होंने प्रसन्न होकर उनका कहना मान लिया। बहुतोंने नीति तथा कुछ वैराग्य आदि गुणोंको देखकर उस कथनको मान्य रक्खा। प्रवर्त्तककी बुद्धि उन लोगोंकी अपेक्षा विशेष होनेसे उनको पीछेसे भगवान्‌रूप ही मान लिया। बहुतोंने वैराग्यसे धर्ममत फैलाकर पीछेसे बहुतसे सुखशील साधनोंका उपदेश दाखिल कर अपने मतकी वृद्धि की। अपना मत स्थापन करनेकी महान् भ्रमणासे और अपनी अपूर्णता इत्यादि किसी भी कारणसे उन्हें दूसरेका कहा हुआ अच्छा नहीं लगा इसलिये उन्होंने एक जुदा ही मार्ग निकाला। इस प्रकार अनेक मतमतांतरोंकी जाल उत्पन्न होती गई। चार पाँच पीढ़ियोंतक किसीका एक धर्ममत रहा, पीछेसे वही कुल-धर्म हो गया। इस प्रकार जगह जगह होता गया।

६० धर्मके मतभेद

(३)

यदि एक दर्शन पूर्ण और सत्य न हो तो दूसरे धर्ममतको अपूर्ण और असत्य किसी प्रमाणसे नहीं कहा जा सकता। इस कारण जो एक दर्शन पूर्ण और सत्य है, उसके तत्त्व प्रमाणसे दूसरे मतोंकी अपूर्णता और एकान्तिकता देखनी चाहिये।

इन दूसरे धर्ममतोंमें तत्त्वज्ञानका यथार्थ सूक्ष्म विचार नहीं है। कितने ही जगत्कर्त्ताका उपदेश करते हैं, परन्तु जगत्कर्त्ता प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। बहुतसे ज्ञानसे मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं, वे एकांतिक हैं। इसी तरह क्रियासे मोक्ष होता है, ऐसा कहनेवाले भी एकांतिक हैं। ज्ञान और क्रिया इन दोनोंसे मोक्ष माननेवाले उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते और ये इन दोनोंके भेदको श्रेणीबद्ध नहीं कह सके इसीसे इनकी सर्वज्ञताकी कमी दिखाई दे जाती है। ये धर्ममतोंके स्थापक सद्देवतत्त्वमें कहे हुए अठारह दूषणोंसे रहित न थे, ऐसा इनके उपदेश किये हुए शास्त्र अथवा चरित्रोंपरसे भी तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर दिखाई देता है। कई एक मतोंमें हिंसा, अब्रह्मचर्य इत्यादि अपवित्र आचरणका उपदेश है, वे तो स्वभावतः अपूर्ण और सरागीद्वारा स्थापित किये हुए दिखाई देते हैं। इनमेंसे किसीने सर्वव्यापक मोक्ष, किसीने शून्यरूप मोक्ष, किसीने साकार मोक्ष और किसीने कुछ कालतक रहकर पतित होनेरूप मोक्ष माना है। परन्तु इसमेंसे कोई भी बात उनकी सप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकती। निस्पृही तत्त्ववेत्ताओंने इनके विचारोंका अपूर्णपना दिखाया है, उसे यथास्थित जानना उचित है।

वेदके सिवाय दूसरे मतोंके प्रवर्तकोंके चरित्र और विचार इत्यादिके जाननेसे वे मत अपूर्ण हैं, ऐसा माळूम हो जाता है। वर्तमानमें जो वेद मौजूद हैं वे बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, इससे इस मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है, परन्तु वे भी हिंसासे दूषित होनेके कारण अपूर्ण हैं, और सरागियोंके वाक्य हैं, यह स्पष्ट माळूम हो जाता है।

जिस पूर्ण दर्शनके विषयमें यहाँ कहना है, वह जैन अर्थात् वीतरागीद्वारा स्थापित किये हुए दर्शनके विषयमें है। इसके उपदेशक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। काल-भेदके होनेपर भी यह बात सिद्धांतपूर्ण माळूम होती है। दया, ब्रह्मचर्य, शील, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, क्रिया आदिको इनके समान पूर्ण किसीने भी वर्णन नहीं किया। इसके साथ शुद्ध आत्मज्ञान, उसकी कोटियाँ, जीवके पतन, जन्म, गति, विग्रहगति, योनिद्वार, प्रदेश, काल उनके स्वरूपके विषयमें ऐसा सूक्ष्म उपदेश दिया गया है कि जिससे उनकी सर्वज्ञतामें शंका नहीं रहती। काल-भेदसे परम्पराम्नायसे केवलज्ञान आदि ज्ञान देखनेमें नहीं आते, फिर भी जो जिनेश्वरके कहे हुए सैद्धांतिक वचन हैं, वे अखंड हैं। उनके कितने ही सिद्धांत इतनेमें सूक्ष्म हैं कि जिनमेंसे एक एकपर भी विचार करनेमें सारी जिन्दगी बीत जाय।

जिनेश्वरके कहे हुए धर्म-तत्त्वोंसे किसी भी प्राणीको लेशमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं होता। इसमें सब आत्माओंकी रक्षा और सर्वात्मशक्तिका प्रकाश सन्निहित है। इन भेदोंके पढ़नेसे, समझनेसे और उनपर अत्यन्त सूक्ष्म विचार करनेसे आत्म-शक्ति प्रकाश पाती है और वह जैन दर्शनको सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करती है। बहुत मननपूर्वक सब धर्ममतोंको जानकर पछिसे तुलना करनेवालेको यह कथन अवश्य सत्य माळूम होगा।

निर्दोष दर्शनके मूलतत्त्व और सदोष दर्शनके मूलतत्त्वोंके विषयमें यहाँ विशेष कहनेकी जगह नहीं है।

८१ सुखके विषयमें विचार

(१)

एक ब्राह्मण दरिद्रावस्थासे बहुत पीड़ित था। उसने तंग आकर अंतमें देवकी उपासना करके लक्ष्मी प्राप्त करनेका निश्चय किया। स्वयं विद्वान् होनेके कारण उसने उपासना करनेसे पहले यह विचार किया कि कदाचित् कोई देव तो संतुष्ट होगा ही, परन्तु उस समय उससे क्या सुख माँगना चाहिये? कल्पना करो कि तप करनेके बाद कुछ माँगनेके लिये न सूझ पड़े, अथवा न्यूनाधिक सूझे तो किया हुआ तप भी निरर्थक होगा। इसलिये एक बार समस्त देशमें प्रवास करना चाहिये। संसारके महान् पुरुषोंके धाम, वैभव और सुख देखने चाहिये। ऐसा निश्चयकर वह प्रवासके लिये निकल पड़ा। भारतके जो जो रमणीय, और ऋद्धिवाले शहर थे उन्हें उसने देखा; युक्ति-प्रयुक्तियोंसे राजाधिराजके अंतःपुर, सुख और वैभव देखे; श्रीमंतोंके महल, कारबार, बाग-बगीचे और कुटुम्ब परिवार देखे; परन्तु इससे किसी तरह उसका मन न माना। किसीको स्त्रीका दुःख, किसीको पतिका दुःख, किसीको अज्ञानसे दुःख, किसीको प्रियके वियोगका दुःख, किसीको निर्धनताका दुःख, किसीको लक्ष्मीकी उपाधिका दुःख, किसीको शरीरका दुःख, किसीको पुत्रका दुःख, किसीको शत्रुका दुःख, किसीको जड़ताका दुःख, किसीको माँ बापका दुःख, किसीको वैधव्यका दुःख, किसीको कुटुम्बका दुःख, किसीको

अपने नीच कुलका दुःख, किसीको प्रीतिका दुःख, किसीको ईर्ष्याका दुःख, किसीको हानिका दुःख, इस प्रकार एक दो अधिक अथवा सभी दुःख जगह जगह उस विप्रके देखनेमें आये। इस कारण इसका मन किसी भी स्थानमें नहीं माना। जहाँ देखे वहाँ दुःख तो था ही। किसी जगह भी सम्पूर्ण सुख उसके देखनेमें नहीं आया। तो फिर क्या माँगना चाहिये? ऐसा विचारते विचारते वह एक महाधनाढ्यकी प्रशंसा सुनकर द्वारिका आया। उसे द्वारिका महा ऋद्धिवान, वैभवयुक्त, बाग-बगीचोंसे सुशोभित और वस्तीसे भरपूर शहर लगा। सुंदर और भव्य महलोंको देखते हुए और पूँछते पूँछते वह उस महाधनाढ्यके घर गया। श्रीमन्त बैठकखानेमें बैठा था। उसने अतिथि जानकर ब्राह्मणका सन्मान किया, कुशलता पूँछी, और उसके लिये भोजनकी व्यवस्था कराई। थोड़ी देरके बाद धीरजसे शेठने ब्राह्मणसे पूँछा, आपके आगमनका कारण यदि मुझे कहने योग्य हो तो कहिये। ब्राह्मणने कहा, अभी आप क्षमा करें। पहले आपको अपने सब तरहके वैभव, धाम, बाग-बगीचे इत्यादि मुझे दिखाने पड़ेंगे। इनको देखनेके बाद मैं अपने आगमनका कारण कहूँगा। शेठने इसका कुछ मर्मरूप कारण जानकर कहा, आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छानुसार करें। भोजनके बाद ब्राह्मणने शेठको स्वयं साथमें चलकर धाम आदि बतानेकी प्रार्थना की। धनाढ्यने उसे स्वीकार की और स्वयं साथ जाकर बाग-बगीचा, धाम, वैभव सब दिखाये। वहाँ शेठकी स्त्री और पुत्रोंको भी ब्राह्मणने देखा। उन्होंने योग्यतापूर्वक उस ब्राह्मणका सत्कार किया। इनके रूप, विनय और स्वच्छता देखकर और उनकी मधुरवाणी सुनकर ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् उसने उसकी दुकानका कारबार देखा। वहाँ सौ-एक कारबारियोंको बैठे हुए देखा। उस ब्राह्मणने उन्हें भी सहृदय, विनयी और नम्र पाया। इससे वह बहुत संतुष्ट हुआ। इसके मनको यहाँ कुछ संतोष मिला। सुखी तो जगत्में यही मालूम होता है, ऐसा उसे मालूम हुआ।

६२ सुखके विषयमें विचार

(२)

कैसा सुन्दर इसका घर है! कैसी सुन्दर इसकी स्वच्छता और व्यवस्था है? कैसी चतुर और मनोज्ञा उसकी सुशील स्त्री है! कैसे कांतिमान और आज्ञाकारी उसके पुत्र हैं! कैसा प्रेमसे रहनेवाला उसका कुटुम्ब है! लक्ष्मीकी कृपा भी इसके घर कैसी है! समस्त भारतमें इसके समान दूसरा कोई सुखी नहीं। अब तप करके यदि मैं कुछ माँगू तो इस महाधनाढ्य जितना ही सब कुछ माँगूगा, दूसरी इच्छा नहीं करूँगा।

दिन बीत गया और रात्रि हुई। सोनेका समय हुआ। धनाढ्य और ब्राह्मण एकांतमें बैठे थे। धनाढ्यने विप्रसे अपने आगमनका कारण कहनेकी प्रार्थना की।

विप्र—मैं घरसे यह विचार करके निकला था कि जो सबसे अधिक सुखी हो उसे देखूँ, और तप करके फिर उसके समान सुख सम्पादन करूँ। मैंने समस्त भारत और उसके समस्त रमणीय स्थलोंको देखा, परन्तु किसी राजाधिराजके घर भी मुझे सम्पूर्ण सुख देखनेमें नहीं आया। जहाँ देखा वहाँ आधि, व्याधि, और उपाधि ही देखनेमें आई। आपकी ओर आते हुए मैंने आपकी प्रशंसा सुनी,

इसलिये मैं यहाँ आया, और मैंने संतोष भी पाया। आपके समान ऋद्धि, सत्पुत्र, कमाई, स्त्री, कुटुम्ब, घर आदि मेरे देखनेमें कहीं भी नहीं आये। आप स्वयं भी धर्मशील, सद्गुणी और जिनेश्वरके उत्तम उपासक हैं। इससे मैं यह मानता हूँ कि आपके समान सुख और कहीं भी नहीं है। भारतमें आप विशेष सुखी हैं। उपासना करके कभी देवसे याचना करूँगा तो आपके समान ही सुख-स्थितिकी याचना करूँगा।

धनाढ्य—पंडितजी! आप एक बहुत मर्मपूर्ण विचारसे निकले हैं, अतएव आपको अवश्य यथार्थ स्वानुभवकी बात कहता हूँ। फिर जैसी आपकी इच्छा हो वैसे करें। मेरे घर आपने जो सुख देखा वह सब सुख भारतमें कहीं भी नहीं, ऐसा आप कहते हैं तो ऐसा ही होगा। परन्तु वास्तवमें यह मुझे संभव नहीं मालूम होता। मेरा सिद्धांत ऐसा है कि जगत्में किसी स्थलमें भी वास्तविक सुख नहीं है। जगत् दुःखसे जल रहा है। आप मुझे सुखी देखते हैं परन्तु वास्तविक रीतिसे मैं सुखी नहीं।

विप्र—आपका यह कहना कुछ अनुभवसिद्ध और मार्मिक होगा। मैंने अनेक शास्त्र देखे हैं, परन्तु इस प्रकारके मर्मपूर्वक विचार ध्यानमें लेनेका परिश्रम ही नहीं उठाया। तथा मुझे ऐसा अनुभव सबके लिये नहीं हुआ। अब आपको क्या दुःख है, वह मुझसे कहिये।

धनाढ्य—पंडितजी! आपकी इच्छा है तो मैं कहता हूँ। वह ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है और इसपरसे कोई रास्ता ढूँढ़ा जा सकता है।

६३ सुखके विषयमें विचार

(३)

जैसे स्थिति आप मेरी इस समय देख रहे हैं वैसी स्थिति लक्ष्मी, कुटुम्ब और स्त्रीके संबंधमें मेरी पहले भी थी। जिस समयकी मैं बात कहता हूँ, उस समयको लगभग बीस बरस हो गये। व्यापार और वैभवकी बहुलता, यह सब कारबार उलटा होनेसे घटने लगा। करोड़पति कहानेवाला मैं एकके बाद एक हानियोंके भार-वहन करनेसे केवल तीन वर्षमें धनहीन हो गया। जहाँ निश्चयसे सीधा दाव समझकर लगाया था वहाँ उलटा दाव पडा। इतनेमें मेरी स्त्री भी गुजर गई। उस समय मेरे कोई संतान न थी। ज़बर्दस्त नुक़सानोंके मारे मुझे यहाँसे निकल जाना पड़ा। मेरे कुटुम्बियोंने यथाशक्ति रक्षा करी, परन्तु वह आकाश फटनेपर थेगरा लगाने जैसा था। अन्न और दाँतोंके वैर होनेकी स्थितिमें मैं बहुत आगे निकल पड़ा। जब मैं यहाँसे निकला तो मेरे कुटुम्बी लोग मुझे रोककर रखने लगे, और कहने लगे कि तूने गाँवका दरवाजा भी नहीं देखा, इसलिये हम तुझे नहीं जाने देंगे। तेरा कोमल शरीर कुछ भी नहीं कर सकता; और यदि तू वहाँ जाकर सुखी होगा तो फिर आवेगा भी नहीं, इसलिये इस विचारको तुझे छोड़ देना चाहिये। मैंने उन्हें बहुत तरहसे समझाया कि यदि मैं अच्छी स्थितिको प्राप्त करूँगा तो मैं अवश्य यहीं आऊँगा—ऐसा वचन देकर मै जावाबंदरकी यात्रा करने निकल पड़ा।

प्रारब्धके पीछे लौटनेकी तैय्यारी हुई। दैवयोगसे मेरे पास एक दमड़ी भी नहीं रह गई थी। एक दो महीने उदर-पोषण चलानेका साधन भी नहीं रहा था। फिर भी मैं जावामें गया। वहाँ मेरी बुद्धिने प्रारब्धको खिला दिया। जिस जहाजमें मैं बैठा था उस जहाजके नाविकने मेरी चंचलता और

नम्रता देखकर अपने शेठसे मेरे दुःखकी बात कही। उस शेठने मुझे बुलाकर एक काममें लगा दिया, जिससे मैं अपने पोषणसे चौगुना पैदा करता था। इस व्यापारमें मेरा चित्त जिस समय स्थिर हो गया उस समय भारतके साथ इस व्यापारके बढ़ानेका मैंने प्रयत्न किया, और उसमें सफलता मिली। दो वर्षोंमें पाँच लाखकी कमाई हुई। बादमें शेठसे राजी खुशीसे आज्ञा लेकर मैं कुछ माल खरीदकर द्वारिकाकी ओर चल दिया। थोड़े समय बाद मैं यहाँ आ पहुँचा। उस समय बहुत लोग मेरा सन्मान करनेके लिये आये। मैं अपने कुटुम्बियोंसे आनंदसे आ मिला। वे मेरे भाग्यकी प्रशंसा करने लगे। जावासे लिये हुए मालने मुझे एकके पाँच कराये। पंडितजी! वहाँ अनेक प्रकारसे मुझे पाप करने पड़ते थे। पूरा खाना भी मुझे नहीं मिलता था। परन्तु एकबार लक्ष्मी प्राप्त करनेकी जो प्रतिज्ञा की थी वह प्रारब्धसे पूर्ण हुई। जिस दुःखदायक स्थितिमें मैं था उस दुखमें क्या कमी थी? स्त्री पुत्र तो थे ही नहीं; माँ बाप पहलेसे परलोक सिधार गये थे। कुटुम्बियोंके वियोगसे और बिना दमड़ीके जिस समय मैं जावा गया, उस समयकी स्थिति अज्ञान-दृष्टिसे देखनेपर आँखमें आँसू ला देती है। इस समय भी मैंने धर्ममें ध्यान रक्खा था। दिनका कुछ हिस्सा उसमें लगाता था। वह लक्ष्मी अथवा लालचसे नहीं, परन्तु संसारके दुःखसे पार उतारनेवाला यह साधन है, तथा यह मानकर कि मौतका भय क्षण भी दूर नहीं है; इसलिये इस कर्तव्यको जैसे बने शीघ्रतासे कर लेना चाहिये, यह मेरी मुख्य नीति थी। दुराचारसे कोई सुख नहीं; मनकी तृप्ति नहीं; और आत्माकी मलिनता है—इस तत्त्वकी ओर मैंने अपना ध्यान लगाया था।

६४ सुखके विषयमें विचार
(४)

यहाँ आनेके बाद मैंने अच्छे घरकी कन्या प्राप्त की। वह भी सुलक्षणी और मर्यादाशील निकली। इससे मुझे तीन पुत्र हुए। कारबारके प्रबल होनेसे और पैसा पैसेको बढ़ाता है, इस नियमसे मैं दस वर्षमें महा करोड़पति हो गया। पुत्रोंकी नीति, विचार, और बुद्धिके उत्तम रहनेके लिये मैंने बहुत सुंदर साधन जुटाये, जिससे उन्होंने यह स्थिति प्राप्त की है। अपने कुटुम्बियोंको योग्य स्थानोंमें लगाकर उनकी स्थितिमें सुधार किया। दुकानके मैंने अमुक नियम बाँधे, तथा उत्तम मकान बनवानेका आरंभ भी कर दिया। यह केवल एक ममत्वके वास्ते किया। गया हुआ पीछे फिरसे प्राप्त किया, तथा कुल-परंपराकी प्रसिद्धि जाते हुए रोकी, यह कहलानेके लिये मैंने यह सब किया। इसे मैं सुख नहीं मानता। यद्यपि मैं दूसरोंकी अपेक्षा सुखी हूँ। फिर भी यह सातावेदनीय है, सत्सुख नहीं। जगत्में बहुत करके असातावेदनीय ही है। मैंने धर्ममें अपना समय यापन करनेका नियम रक्खा है। सत्शास्त्रोंका वाचन मनन, सत्पुरुषोंका समागम, यम-नियम, एक महीनेमें बारह दिन ब्रह्मचर्य, यथाशक्ति गुप्तदान, इत्यादि धर्मोंमें मैं अपना काल बिताता हूँ। सब व्यवहारकी उपाधियोंमेंसे बहुतसा भाग बहुत अंशमें मैंने छोड़ दिया है। पुत्रोंको व्यवहारमें यथायोग्य बनाकर मैं निर्ग्रंथ होनेकी इच्छा रखता हूँ। अभी निर्ग्रंथ नहीं हो सकता, इसमें संसार-मोहिनी अथवा ऐसा ही दूसरा कुछ कारण नहीं है, परन्तु वह भी धर्मसंबंधी ही कारण है। गृहस्थ-धर्मके आचरण बहुत कनिष्ट हो गये हैं, और मुनि लोग उन्हें नहीं सुधार सकते। गृहस्थ गृहस्थोंको विशेष उपदेश कर सकते हैं, आचरणसे भी असर पैदा कर

सकते हैं। इसलिये धर्मके संबंधमें गृहस्थवर्गको मैं प्रायः उपदेश देकर यम-नियममें लाता हूँ। प्रति सप्ताह हमारे यहाँ लगभग पाँचसौ सद्गृहस्थोंकी सभा भरती है। आठ दिनका नया अनुभव और शेष पहिलेका धर्मानुभव मैं इन लोगोंको दो तीन मुहूर्त तक उपदेश करता हूँ। मेरी स्त्री धर्मशास्त्रकी कुछ जानकार होनेसे वह भी स्त्रीवर्गको उत्तम यम-नियमका उपदेश करके साप्ताहिक सभा भरती है। मेरे पुत्र भी शास्त्रोंका यथाशक्य परिचय रखते हैं। विद्वानोंका सन्मान, अतिथियोंकी विनय, और सामान्य सत्यता—एक ही भाव—ये नियम बहुधा मेरे अनुचर भी पालते हैं। इस कारण ये सब साता भोग सकते हैं। लक्ष्मीके साथ साथ मेरी नीति, धर्म, सद्गुण और विनयने जन-समुदायपर बहुत अच्छा असर डाला है। इतना तक हो गया है कि राजातक भी मेरी नीतिकी बातको मानता है। यह सब मैं आत्म-प्रशंसाके लिये नहीं कह रहा, यह बात आप ध्यानमें रक्खें। केवल आपकी पूँछी हुई बातके स्पष्टीकरणके लिये संक्षेपमें यह सब कहा है।

६९ सुखके विषयमें विचार

(५)

इन सब बातोंसे मैं सुखी हूँ, ऐसा आपको मालूम हो सकेगा और सामान्य विचारसे आप मुझे बहुत सुखी मानें भी तो मान सकते हैं। धर्म, शील और नीतिसे तथा शास्त्रावधानसे मुझे जो आनंद मिलता है वह अवर्णनीय है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे मैं सुखी नहीं माना जा सकता। जबतक सब प्रकारसे बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहका मैंने त्याग नहीं किया तबतक रागद्वेषका भाव मौजूद है। यद्यपि वह बहुत अंशमें नहीं, परन्तु है अवश्य, इसलिये वहाँ उपाधि भी है। सर्व-संग-परित्याग करनेकी मेरी सम्पूर्ण आकांक्षा है, परन्तु जबतक ऐसा नहीं हुआ तबतक किसी प्रियजनका वियोग, व्यवहारमें हानि, कुटुम्बियोंका दुःख, ये थोड़े अंशमें भी उपाधि उत्पन्न कर सकते हैं। अपनी देहमें मौतके सिवाय अन्य नाना प्रकारके रोगोंका होना संभव है। इसलिये जबतक सम्पूर्ण निर्ग्रंथ, बाह्याभ्यंतर परिग्रहका त्याग, अल्पारंभका त्याग, यह सब नहीं हुआ, तबतक मैं अपनेको सर्वथा सुखी नहीं मानता। अब आपको तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करनेसे मालूम पड़ेगा कि लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र अथवा कुटुम्बसे सुख नहीं होता, और यदि इसको सुख गिनूँ तो जिस समय मेरी स्थिति हीन हो गई थी उस समय यह सुख कहाँ चला गया था? जिसका वियोग है, जो क्षणभंगुर है और जहाँ अव्याबाधपना नहीं है, वह सम्पूर्ण अथवा वास्तविक सुख नहीं है। इस कारण मैं अपने आपको सुखी नहीं कह सकता। मैं बहुत विचार विचारकर व्यापार और कारबार करता था, तो भी मुझे आरंभोपाधि, अनीति और लेशमात्र भी कपटका सेवन करना नहीं पड़ा, यह तो नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रकारके आरंभ और कपटका मुझे सेवन करना पड़ा था। आप यदि देवोपासनासे लक्ष्मी प्राप्त करनेका विचार करते हों तो वह यदि पुण्य न होगा तो कभी भी वह मिलनेवाली नहीं। पुण्यसे प्राप्त की हुई लक्ष्मीसे महारंभ, कपट और मान इत्यादिका बढ़ना यह महापापका कारण है। पाप नरकमें डालता है। पापसे आत्मा महान् मनुष्य-देहको व्यर्थ गुमा देती है। एक तो मानों पुण्यको खा जाना, और ऊपरसे पापका बंध करना। लक्ष्मीकी और उसके द्वारा समस्त संसारकी उपाधि भोगना, मैं समझता हूँ, कि यह विवेकी आत्माको मान्य नहीं हो

सकती। मैंने जिस कारणसे लक्ष्मी उपार्जन की थी, वह कारण मैंने पहले आपसे कह दिया है। अब आपकी जैसी इच्छा हो वैसा करें। आप विद्वान् हैं, मैं विद्वानोंको चाहता हूँ। आपकी अभिलाषा हो तो धर्मध्यानमें संलग्न होकर कुटुम्ब सहित आप यहीं खुशीसे रहें। आपकी आजीविकाकी सरल योजना जैसा आप कहें वैसी मैं आनन्दसे करा दूँ। आप यहाँ शास्त्र अध्ययन और सद्वस्तुका उपदेश करें। मिथ्यारंभोपाधिकी लोलुपतामें, मैं समझता हूँ, न पड़ें। आगे जैसी आपकी इच्छा।

पंडित—आपने अपने अनुभवकी बहुत मनन करने योग्य आख्यायिका कही। आप अवश्य ही कोई महात्मा हैं, पुण्यानुबंधी पुण्यवान् जीव हैं, विवेकी हैं, और आपकी विचार-शक्ति अद्भुत है। मैं दरिद्रतासे तंग आकर जो इच्छा करता था, वह इच्छा एकांतिक थी। ये सब प्रकारके विवेकपूर्ण विचार मैंने नहीं किये थे। मैं चाहे जैसा भी विद्वान् हूँ फिर भी ऐसा अनुभव, ऐसी विवेक-शक्ति मुझमें नहीं है, यह बात मैं ठीक ही कहता हूँ। आपने मेरे लिये जो योजना बताई है, उसके लिये मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ और उसे नम्रतापूर्वक स्वीकार करनेके लिये मैं हर्ष प्रगट करता हूँ। मैं उपाधि नहीं चाहता। लक्ष्मीका फंद उपाधि ही देता है। आपका अनुभवसिद्ध कथन मुझे बहुत अच्छा लगा है। संसार जल ही रहा है, इसमें सुख नहीं। आपने उपाधि रहित मुनि-सुखकी प्रशंसा की वह सत्य है। वह सन्मार्ग परिणाममें सर्वोपाधि, आधि व्याधि तथा अज्ञान भावसे रहित शाश्वत मोक्षका हेतु है।

६६ सुखके विषयमें विचार

(६)

धनाढ्य—आपको मेरी बात रुचिकर हुई इससे मुझे निरभिमानपूर्वक आनंद प्राप्त हुआ है। आपके लिये मैं योग्य योजना करूँगा। मैं अपने सामान्य विचारोंको कथानुरूप यहाँ कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

जो केवल लक्ष्मीके उपार्जन करनेमें कपट लोभ और मायामें फँसे पड़े हैं, वे बहुत दुःखी हैं। वे उसका पूरा अथवा अधूरा उपयोग नहीं कर सकते। वे केवल उपाधि ही भोगते हैं, वे असंख्यात पाप करते हैं, उन्हें काल अचानक उठा ले जाता है, ये जीव अधोगतिको प्राप्त होकर अनंत संसारकी वृद्धि करते हैं, मिले हुए मनुष्य-भवको निर्माल्य कर डालते हैं, जिससे वे निरन्तर दुःखी ही रहते हैं।

जिन्होंने अपनी आजीविका जितनें साधन मात्रको अल्पारंभसे रक्खा है, जो शुद्ध एकपत्नीव्रत, संतोष, परात्माकी रक्षा, यम, नियम, परोपकार अल्प राग, अल्प द्रव्यमाया, सत्य और शास्त्राध्ययन रखते हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करते हैं, जिन्होंने निर्ग्रन्थताका मनोरथ रक्खा है, जो बहुत प्रकारसे संसारसे त्यागीके समान रहते हैं, जिनका वैराग्य और विवेक उत्कृष्ट है, ऐसे पुरुष पवित्रतामें सुखपूर्वक काल व्यतीत करते हैं।

जो सब प्रकारके आरंभ और परिग्रहसे रहित हुए हैं; जो द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे अप्रतिबंधरूपसे विचरते हैं, जो शत्रु-मित्रके प्रति समान दृष्टि रखते हैं और जिनका काल शुद्ध आत्म-

ध्यानमें व्यतीत होता है, और जो स्वाध्याय एवं ध्यानमें लीन हैं, ऐसे जितेन्द्रिय और जितकषाय वे निर्ग्रंथ परम सुखी हैं।

जिन्होंने सब घनघाती कर्मोंका क्षय किया है, जिनके चार अघाती-कर्म कृश पड़ गये हैं, जो मुक्त हैं, जो अनंतज्ञानी और अनंतदर्शी हैं वे ही सम्पूर्ण सुखी हैं। वे मोक्षमें अनंत जीवनके अनंत सुखमें सर्व कर्मसे विरक्त होकर विराजते हैं।

इस प्रकार सत्पुरुषोंद्वारा कहा हुआ मत मुझे मान्य है। पहला तो मुझे त्याज्य है। दूसरा अभी मान्य है, और बहुत अंशमें इसे ग्रहण करनेका मेरा उपदेश है। तीसरा बहुत मान्य है, और चौथा तो सर्वमान्य और सच्चिदानन्द स्वरूप है।

इस प्रकार पंडितजी आपकी और मेरी सुखके संबंधमें बातचीत हुई। ज्यों ज्यों प्रसंग मिलते जायँगे त्यों त्यों इन बातोंपर चर्चा और विचार करते जायँगे। इन विचारोंके आपसे कहनेसे मुझे बहुत आनन्द हुआ है। आप ऐसे विचारोंके अनुकूल हुए हैं इससे और भी आनन्दमें वृद्धि हुई है। इस तरह परस्पर बातचीत करते करते वे हर्षके साथ समाधि-भावसे सो गये।

जो विवेकी इस सुखके विषयपर विचार करेंगे वे बहुत तत्त्व और आत्मश्रेणीकी उत्कृष्टताको प्राप्त करेंगे। इसमें कहे हुए अल्पारंभी, निरारंभी और सर्वमुक्तके लक्षण ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य हैं। जैसे बने तैसे अल्पारंभी होकर समभावसे जन-समुदायके हितकी ओर लगना; परोपकार, दया, शान्ति, क्षमा और पवित्रताका सेवन करना यह बहुत सुखदायक है। निर्ग्रंथताके विषयमें तो विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं। मुक्तात्मा अनंत सुखमय ही है।

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहुत पुण्यके पुंजसे इस शुभ मानव देहकी प्राप्ति हुई; तो भी अरे रे! भव-चक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होता जाता है, इसे ज़रा अपने ध्यानमें लो। अहो! इस क्षण क्षणमें होनेवाले भयंकर भाव-मरणमें तुम क्यों लवलीन हो रहे हो? ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया? क्या कुटुम्ब और परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो? हर्गिज़ ऐसा मत मानों; क्योंकि संसारका बढ़ना मानों मनुष्य देहको हार जाना है। अहो! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता? ॥२॥

---

६७ अमूल्य तत्त्वविचार

हरिगीत छंद

बहु पुण्यकेरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मळ्यो;
तोये अरे! भवचक्रनो आंटो नहिं एक्के टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो? ॥ १ ॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं, ए नय ग्रहो,
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहो हो! एक पळ तमने हवो!!! ॥ २ ॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहाँ कहींसे भी वह मिल सके वहाँसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्यशक्तिमान आत्मा जंजीरोंसे निकल सके। इस बातकी सदा मुझे दया है कि परवस्तुमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धांत है ॥ ३ ॥

मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, यह संबंध किस कारणसे हुआ है, उसे रक्खूँ या छोड़ दूँ? यदि इन बातोंका विवेकपूर्वक शांत भावसे विचार किया तो आत्मज्ञानके सब सिद्धांत-तत्त्व अनुभवमें आ गये ॥ ४ ॥

यह सब प्राप्त करनेके लिये किसके वचनको सम्पूर्ण सत्य मानना चाहिये? यह जिसने अनुभव किया है ऐसे निर्दोष पुरुषका कथन मानना चाहिये। अरे, आत्माका उद्धार करो, आत्माका उद्धार करो, इसे शीघ्र पहचानो, और सब आत्माओंमें समदृष्टि रक्खो, इस वचनको हृदयमें धारण करो ॥५॥

६८ जितेन्द्रियता

जबतक जीभ स्वादिष्ट भोजन चाहती है, जबतक नासिकाको सुगंध अच्छी लगती है, जबतक कान वारांगना आदिके गायन और वादित्र चाहता है, जबतक आँख वनोपवन देखनेका लक्ष रखती है, जबतक त्वचाको सुगंधि-लेपन अच्छा लगता है, तबतक मनुष्य निरागी, निर्ग्रंथ, निष्परिग्रही, निरारंभी, और ब्रह्मचारी नहीं हो सकता। मनको वशमें करना यह सर्वोत्तम है। इसके द्वारा सब इन्द्रियाँ वशमें की जा सकती हैं। मनको जीतना बहुत दुर्घट है। मन एक समयमें असंख्यातों योजन चलनेवाले अश्वके समान है। इसको थकाना बहुत कठिन है। इसकी गति चपल और पकड़में न आनेवाली है। महा ज्ञानियोंने ज्ञानरूपी लगामसे इसको वशमें रखकर सबको जीत लिया है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें नमिराज महर्षिने शक्रेन्द्रसे ऐसा कहा है कि दसलाख सुभटोंको जीतनेवाले बहुतसे पड़े हैं, परंतु अपनी आत्माको जीतनेवाले बहुत ही दुर्लभ हैं, और वे दसलाख सुभटोंको जीतनेवालोंकी अपेक्षा अत्युत्तम हैं।

मन ही सर्वोपाधिकी जन्मदाता भूमिका है। मन ही बंध और मोक्षका कारण है। मन ही सब संसारकी मोहिनीरूप है। इसको वश कर लेनेपर आत्म-स्वरूपको पा जाना लेशमात्र भी कठिन नहीं है।

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्यशक्तिमान जेथी जंजिरेथी नीकळे;
परवस्तुमां नहिं मुंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धांत के पश्चातदुख ते सुख नहीं ॥ ३ ॥

हुं कोण छुं? क्यांथी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणा छे? राखुं के ए परिहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिकज्ञानना सिद्धांततत्त्व अनुभव्यां ॥ ४ ॥

ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवळ मानवुं?
निर्दोष नरनुं कथन मानो तेह जेणे अनुभव्युं।
रे! आत्म तारो! आत्म तारो! शीघ्र एने ओळखो;
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥ ५ ॥

मनसे इन्द्रियोंकी लोलुपता है। भोजन, वादित्र, सुगंधी, स्त्रीका निरीक्षण, सुंदर विलेपन यह सब मन ही माँगता है। इस मोहिनीके कारण यह धर्मकी याद भी नहीं आने देता। याद आनेके पीछे सावधान नहीं होने देता। सावधान होनेके बाद पतित करनेमें प्रवृत्त होता है। इसमें जब सफल नहीं होता तब सावधानीमें कुछ न्यूनता पहुँचाता है। जो इस न्यूनताको भी न प्राप्त होकर अडग रहकर उस मनको जीतते हैं, वे सर्वथा सिद्धिको पाते हैं।

मनको कोई ही अकस्मात् जीत सकता है, नहीं तो यह गृहस्थाश्रममें अभ्यास करके जीता जाता है। यह अभ्यास निर्ग्रंथतामें बहुत हो सकता है। फिर भी यदि कोई सामान्य परिचय करना चाहे तो उसका मुख्य मार्ग यही है कि मन जो दुरिच्छा करे, उसे भूल जाना, और वैसा नहीं करना। जब मन शब्द, स्पर्श आदि विलासकी इच्छा करे तब उसे नहीं देना। संक्षेपमें हमें इससे प्रेरित न होना चाहिये परन्तु इसे प्रेरित करना चाहिये। मनको मोक्ष-मार्गके चिन्तनमें लगाना चाहिये। जितेन्द्रियता विना सब प्रकारकी उपाधियाँ खड़ी ही रहती हैं, त्याग अत्यागके समान हो जाता है; लोकलज्जासे उसे निबाहना पड़ता है। अतएव अभ्यास करके भी मनको स्वाधीनतामें लाकर अवश्य आत्महित करना चाहिये।

६९ ब्रह्मचर्यकी नौ बाड़ें

ज्ञानी लोगोंने थोड़े शब्दोंमें कैसे भेद और कैसा स्वरूप बताया है? इससे कितनी अधिक आत्मोन्नति होती है? ब्रह्मचर्य जैसे गंभीर विषयका स्वरूप संक्षेपमें अत्यन्त चमत्कारिक रीतिसे कह दिया है। ब्रह्मचर्यको एक सुंदर वृक्ष और उसकी रक्षा करनेवाली नव विधियोंको उसकी बाड़का रूप देकर जिससे आचार पालनेमें विशेष स्मृति रह सके ऐसी सरलता कर दी है। इन नौ बाड़ोंको यथार्थरूपसे यहाँ कहता हूँ।

१ वसति—ब्रह्मचारी साधुको स्त्री, पशु अथवा नपुंसकसे संयुक्त स्थानमें नहीं रहना चाहिये। स्त्रियाँ दो प्रकारकी हैं:—मनुष्यिणी और देवांगना। इनमें प्रत्येकके फिर दो दो भेद हैं। एक तो मूल, और दूसरा स्त्रीकी मूर्ति अथवा चित्र। इनमेंसे जहाँ किसी भी प्रकारकी स्त्री हो, वहाँ ब्रह्मचारी साधुको न रहना चाहिये, क्योंकि ये विकारके हेतु हैं। पशुका अर्थ तिर्यंचिणी होता है। जिस स्थानमें गाय, भैंस इत्यादि हों उस स्थानमें नहीं रहना चाहिये। तथा जहाँ पंडग अर्थात् नपुंसकका वास हो वहाँ भी नहीं रहना चाहिये। इस प्रकारका वास ब्रह्मचर्यकी हानि करता है। उनकी कामचेष्टा, हाव, भाव इत्यादि विकार मनको भ्रष्ट करते हैं।

२ कथा—केवल अकेली स्त्रियोंको ही अथवा एक ही स्त्रीको ब्रह्मचारीको धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये। कथा मोहकी उत्पत्ति रूप है। ब्रह्मचारीको स्त्रीके रूप, कामविलाससंबंधी ग्रन्थोंको नहीं पढ़ना चाहिये, तथा जिससे चित्त चलायमान हो ऐसी किसी भी तरहकी शृंगारसंबंधी बातचीत ब्रह्मचारीको नहीं करनी चाहिये।

३ आसन—स्त्रियोंके साथ एक आसनपर न बैठना चाहिये तथा जिस जगह स्त्री बैठ चुकी हो उस स्थानमें दो घड़ीतक ब्रह्मचारीको नहीं बैठना चाहिये। यह स्त्रियोंकी स्मृतिका कारण है। इससे विकारकी उत्पत्ति होती है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है।

४ इन्द्रियनिरीक्षण—ब्रह्मचारी साधुओंको स्त्रियोंके अंगोपांग ध्यानपूर्वक अथवा दृष्टि गड़ा-गड़ाकर न देखने चाहिये। इनके किसी अंगपर दृष्टि एकाग्र होनेसे विकारकी उत्पत्ति होती है।

५ कुड्यांतर—भींत, कनात या टाटका अंतरपट रखकर जहाँ स्त्री-पुरुष मैथुन करते हों वहाँ ब्रह्मचारीको नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शब्द, चेष्टा आदि विकारके कारण हैं।

६ पूर्वक्रीड़ा—स्वयं ब्रह्मचारी साधुने गृहस्थावासमें किसी भी प्रकारकी शृंगारपूर्ण विषय-क्रीड़ाकी हो तो उसकी स्मृति न करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ब्रह्मचर्य भंग होता है।

७ प्रणीत—दूध, दही, घृत आदि मधुर और सचिक्कण पदार्थोंका बहुधा आहार न करना चाहिये। इससे वीर्यकी वृद्धि और उन्माद पैदा होते हैं और उनसे कामकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ब्रह्मचारियोंको इनका सेवन नहीं करना चाहिये।

८ अतिमात्राहार—पेट भरकर मात्रासे अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। तथा जिससे अतिमात्राकी उत्पत्ति हो ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे भी विकार बढ़ता है।

९ विभूषण—ब्रह्मचारीको स्नान, विलेपन करना, तथा पुष्प आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये। इससे ब्रह्मचर्यकी हानि होती है।

इस प्रकार विशुद्ध ब्रह्मचर्यके लिये भगवान्‌ने नौ वाड़ें कही हैं। बहुत करके ये तुम्हारे सुननेमें आई होंगी। परन्तु गृहस्थावासमें अमुक अमुक दिन ब्रह्मचर्य धारण करनेमें अभ्यासियोंके लक्षमें रहनेके लिये यहाँ कुछ समझाकर कहा है।

७० सनत्कुमार

(१)

चक्रवर्तीके वैभवमें क्या कमी हो सकती है? सनत्कुमार चक्रवर्ती था। उसका वर्ण और रूप अत्युत्तम था। एक समय सुधर्माकी सभामें उसके रूपकी प्रशंसा हुई। किन्हीं दो देवोंको यह बात अच्छी न लगी। बादमें वे दोनों देव शंका-निवारण करनेके लिये विप्रके रूपमें सनत्कुमारके अंतः-पुरमें गये। सनत्कुमारके शरीरपर उस समय उबटन लगा हुआ था। उसके अंगमर्दन आदि पदार्थोंका सब जगह विलेपन हो रहा था। वह एक छोटासा पँचा पहने हुआ था और वह स्नान-मज्जन करनेको बैठा था। विप्रके रूपमें आये हुए देवताओंको उसका मनोहर मुख, कंचन वर्णकी काया, और चन्द्र जैसी कांति देखकर बहुत आनन्द हुआ और उन्होंने सिर हिलाया। यह देखकर चक्रवर्तीने पूछा, तुमने सिर क्यों हिलाया? देवोंने कहा हम आपके रूप और वर्णको देखनेके लिये बहुत अभिलाषी थे। हमने जगह जगह आपके रूप और वर्णकी प्रशंसा सुनी थी। आज हमने उसे प्रत्यक्ष देखा, जिससे हमें पूर्ण आनन्द हुआ। सिर हिलानेका कारण यह है कि जैसा लोकमें कहा जाता है वैसा ही आपका रूप है। इससे अधिक ही है परन्तु कम नहीं। सनत्कुमार अपने रूप और वर्णकी स्तुति सुनकर प्रभुत्वमें आकर बोला कि तुमने इस समय मेरा रूप देखा सो ठीक, परन्तु जिस समय मैं राजसभामें वस्त्रालंकार धारणकर सम्पूर्णरूपसे सज्ज होकर सिंहासनपर बैठता हूँ उस समय मेरा रूप और वर्ण और भी देखने योग्य होता है। अभी तो मैं शरीरमें उबटन लगाकर बैठा हूँ। यदि उस

समय तुम मेरा रूप और वर्ण देखोगे तो अद्भुत चमत्कार पाओगे और चकित हो जाओगे। देवोंने कहा, तो फिर हम राजसभामें आवेंगे। ऐसा कहकर वे वहाँसे चले गये। उसके बाद सनत्कुमारने उत्तम वस्त्रालंकार धारण किये। अनेक उपचारोंसे जिससे अपनी काया विशेष आश्चर्य उत्पन्न करे उस तरह सज्ज होकर वह राजसभामें आकर सिंहासनपर बैठा। दोनों ओर समर्थ मंत्री, सुभट, विद्वान् और अन्य सभासद लोग अपने अपने योग्य आसनपर बैठे थे। राजेश्वर चमर छत्रसे ढुलाया जाता हुआ और क्षेम क्षेमसे बधाई दिया जाता हुआ विशेष शोभित हो रहा था। वहाँ वे देवता विप्रके रूपमें आये। अद्भुत रूप-वर्णसे आनन्द पानेके बदले मानों उन्हें खेद हुआ है, ऐसे उन्होंने अपने सिरको हिलाया। चक्रवर्तीने पूँछा, अहो ब्राह्मणो! पहले समयकी अपेक्षा इस समय तुमने दूसरी तरह सिर हिलाया, इसका क्या कारण है, वह मुझे कहो। अवधिज्ञानके अनुसार विप्रोंने कहा कि हे महाराज! उस रूपमें और इस रूपमें ज़मीन आस्मानका फेर हो गया है। चक्रवर्तीने उन्हें इस बातको स्पष्ट समझानेको कहा। ब्राह्मणोंने कहा, अधिराज! आपकी काया पहले अमृततुल्य थी, इस समय ज़हरके तुल्य है। जब आपका अंग अमृततुल्य था तब आनन्द हुआ, और इस समय ज़हरके तुल्य है इसलिये खेद हुआ। जो हम कहते हैं यदि उस बातको सिद्ध करना हो तो आप तांबूलको थूँकें, अभी उसपर मक्खियाँ बैठेंगी और वे परलोक पहुँच जावेंगी।

७१ सनत्कुमार

(२)

सनत्कुमारने इसकी परीक्षा ली तो यह बात सत्य निकली। पूर्वकर्मके पापके भागमें इस कायाके मदकी मिलावट होनेसे इस चक्रवर्तीकी काया विषमय हो गई थी। विनाशीक और अशुचिमय कायाके ऐसे प्रपंचको देखकर सनत्कुमारके अंतःकरणमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। यह संसार केवल छोड़ने योग्य है। और ठीक ऐसी ही अपवित्रता स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके शरीरमें है। यह सब मोह, मान करने योग्य नहीं, ऐसा विचारकर वह छह खंडकी प्रभुता त्यागकर चल निकला। जिस समय वह साधुरूपमें विचरता था उस समय उसको कोई महारोग हो गया। उसके सत्यत्वकी परीक्षा लेनेको एक देव वहाँ वैद्यके रूपमें आया और उसने साधुसे कहा, मैं बहुत कुशल राजवैद्य हूँ। आपकी काया रोगका भोग बनी हुई है। यदि इच्छा हो तो तत्काल ही मैं इस रोगका निवारण कर दूँ। साधुने कहा हे वैद्य! कर्मरूपी रोग महा उन्मत्त है, इस रोगको दूर करनेकी यदि तुम्हारी सामर्थ्य हो तो खुशीसे मेरे इस रोगको दूर करो। यदि इस रोगको दूर करनेकी सामर्थ्य न हो तो यह रोग भले ही रहो। देवताने कहा, यह रोग दूर करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। साधुने अपनी लब्धिकी परिपूर्ण प्रबलतासे थूकवाली अंगुली करके उसे रोगपर फेरी कि तत्काल ही उस रोगका नाश हो गया, और काया जैसी थी वैसी हो गई। उस समय देवने अपने स्वरूपको प्रगट किया, और वह धन्यवाद देकर और वंदन करके अपने स्थानको चला गया।

कोढके समान सदैव खून पीपसे खदबदाते हुए महारोगकी उत्पत्ति जिस कायामें है, पलभरमें विनस जानेका जिसका स्वभाव है, जिसके प्रत्येक रोममें पौने दो दो रोग होनेसे जो रोगका भंडार है,

अन्न आदिकी न्यूनाधिकतासे जो रोग प्रत्येक कायामें प्रकट होते हैं, मलमूत्र, विष्ठा, हाड़, माँस, राद और श्लेष्मसे जिसका ढाँचा टिका हुआ है, केवल त्वचासे जिसकी मनोहरता है, उस कायाका मोह सचमुच विभ्रम ही है। सनत्कुमारने जिसका लेशमात्र भी मान किया, वह भी उससे सहन नहीं हुआ, उस कायामें अहो पामर! तू क्या मोह करता है? यह मोह मंगलदायक नहीं।

७२ बत्तीस योग

सत्पुरुषोंने नीचेके बत्तीस योगोंका संग्रहकर आत्माको उज्ज्वलको बनानेका उपदेश दिया है:—

१ मोक्षसाधक योगके लिये शिष्यको आचार्यके प्रति आलोचना करनी।
२ आचार्यको आलोचनाको दूसरेसे प्रगट नहीं करनी।
३ आपत्तिकालमें भी धर्मकी दृढ़ता नहीं छोड़नी।
४ इस लोक और परलोकके सुखके फलकी वांछा बिना तप करना।
५ शिक्षाके अनुसार यतनासे आचरण करना और नयी शिक्षाको विवेकसे ग्रहण करना।
६ ममत्वका त्याग करना।
७ गुप्त तप करना।
८ निर्लोभता रखनी।
९ परीषहके उपसर्गको जीतना।
१० सरल चित्त रखना।
११ आत्मसंयम शुद्ध पालना।
१२ सम्यक्त्व शुद्ध रखना।
१३ चित्तकी एकाग्र समाधि रखनी।
१४ कपट रहित आचारका पालना।
१५ विनय करने योग्य पुरुषोंकी यथायोग्य विनय करनी।
१६ संतोषके द्वारा तृष्णाकी मर्यादा कम करना।
१७ वैराग्य भावनामें निमग्न रहना।
१८ माया रहित व्यवहार करना।
१९ शुद्ध क्रियामें सावधान होना।
२० संवरको धारण करना और पापको रोकना।
२१ अपने दोषोंको समभावपूर्वक दूर करना।
२२ सब प्रकारके विषयोंसे विरक्त रहना।
२३ मूलगुणोंमें पाँच महाव्रतोंको विशुद्ध पालना।
२४ उत्तरगुणोंमें पाँच महाव्रतोंको विशुद्ध पालना।
२५ उत्साहपूर्वक कायोत्सर्ग करना।
२६ प्रमाद रहित ज्ञान ध्यानमें लगे रहना।

२७ हमेशा आत्मचरित्रमें सूक्ष्म उपयोगसे लगे रहना।

२८ जितेन्द्रियताके लिये एकाग्रतापूर्वक ध्यान करना।

२९ मृत्युके दुःखसे भी भयभीत नहीं होना।

३० स्त्रियों आदिके संगको छोड़ना।

३१ प्रायश्चित्तसे विशुद्धि करनी।

३२ मरणकालमें आराधना करनी।

ये एक एक योग अमूल्य हैं। इन सबका संग्रह करनेवाला अंतमें अनंत सुखको पाता है।

७३ मोक्षसुख

इस पृथिवीमंडलपर कुछ ऐसी वस्तुयें और मनकी इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें जाननेपर भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुयें कुछ संपूर्ण शाश्वत अथवा अनंत रहस्यपूर्ण नहीं हैं। जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनंत सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है? भगवान्से गौतमस्वामीने मोक्षके अनंत सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्में उत्तरमें कहा, गौतम! इस अनंत सुखको मैं जानता हूँ, परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं। जगत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं, ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक भीलका दृष्टांत दिया था।

किसी जंगलमें एक भोलाभाला भील अपने बाल-बच्चों सहित रहता था। शहर वगैरहकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेशभर भी भान न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। राजाने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जल पीकर राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफसे मिले हुए अमूल्य जल-दानका बदला चुकानेके लिये भीलको समझाकर राजाने उसे साथ लिया। नगरमें आनेके पश्चात् राजाने भीलको उसकी जिन्दगीमें नहीं देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा। सुंदर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र पलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगंधी विलेपनसे उसे आनंद आनंद कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा माणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंगबिरंगी अमूल्य चीजें निरंतर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, उसे बाग-बगीचोंमें घूमने फिरनेके लिये भेजा करता था, इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था। एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय भीलको अपने बाल-बच्चोंकी याद आई इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये करे बिना एकाएक निकल पड़ा, और जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबोंने मिलकर पूँछा कि तू कहाँ था? भीलने कहा, बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने लायक वस्तुयें देखीं।

कुटुम्बी—परन्तु वे कैसी थी, यह तो हमें कह।

भील—क्या कहूँ, यहाँ वैसी एक भी वस्तु ही नहीं।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है? ये शंख, सीप, कौड़े कैसे सुंदर पड़े हैं! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने लायक वस्तु थी?

भील—नहीं भाई, ऐसी चीज़ तो यहाँ एक भी नहीं। उनके सौवें अथवा हज़ारवें भागतककी भी मनोहर चीज़ यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तू चुपचाप बैठा रह। तुझे भ्रमणा हुई है। भला इससे अच्छा और क्या होगा?

हे गौतम! जैसे यह भील राज-वैभवके सुख भोगकर आया था; और उन्हें जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानंद स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुझे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण सत्सुखका विचार कहाँसे आ सकता है? कोई आत्मिक-ज्ञानहीन ऐसा भी कहते हैं कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें अनंत अव्यावाध सुख कह दिया है, इनका यह कथन विवेकयुक्त नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ जान अथवा देख नहीं सकते; और यदि कुछ जाननेमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वप्नोपाधि आती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्नरहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्थूल सब कुछ जान और देख सकते हों, और निरुपाधिसे शांत नींद ली जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टांत है, परन्तु बालविवेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

भीलका दृष्टांत समझानेके लिये भाषा-भेदके फेरफारसे तुम्हें कहा है।

७४ धर्मध्यान

(१)

भगवान्ने चार प्रकारके ध्यान बताये हैं—आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। पहले दो ध्यान त्यागने योग्य हैं। पीछेके दो ध्यान आत्मसार्थक हैं। श्रुतज्ञानके भेदोंको जाननेके लिये, शास्त्र-विचारमें कुशल होनेके लिये, निर्ग्रन्थ प्रवचनका तत्त्व पानेके लिये, सत्पुरुषोंद्वारा सेवा करने योग्य, विचारने योग्य और ग्रहण करने योग्य धर्मध्यानके मुख्य सोलह भेद हैं। पहले चार भेदोंको कहता हूँ—१ आणाविचय (आज्ञाविचय), २ आवायविचय (अपायविचय), ३ विवागविचय (विपाकविचय), ४ संठाणविचय (संस्थानविचय)। १ आज्ञाविचय—आज्ञा अर्थात् सर्वज्ञ भगवान्ने धर्म-तत्त्वसंबंधी जो कुछ भी कहा है वह सब सत्य है, उसमें शंका करना योग्य नहीं। कालकी हीनतासे, उत्तम ज्ञानके विच्छेद होनेसे, बुद्धिकी मंदतासे अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारणसे मेरी समझमें ये तत्त्व नहीं आते; परन्तु अर्हन्त भगवान्ने अंशमात्र भी मायायुक्त अथवा असत्य नहीं कहा, कारण कि वे वीतरागी, त्यागी और निस्पृही थे। इनको मृषा कहनेका कोई भी कारण न था। तथा सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होनेके कारण अज्ञानसे भी वे मृषा नहीं कहेंगे। जहाँ अज्ञान ही नहीं वहाँ तत्संबंधी मृषा कहाँसे हो सकता है? इस प्रकार चिंतन करना 'आज्ञाविचय' नामका प्रथम भेद है। २ अपायविचय—राग, द्वेष, काम, क्रोध इत्यादिसे जीवको जो दुःख उत्पन्न होता है, उसीसे इसे भवमें भटकना पड़ता है। इसका चिंतवन करना 'अपायविचय' नामका दूसरा भेद है। अपायका अर्थ दुःख है। ३ विपाक-

विचय—मैं क्षण क्षणमें जो जो दुःख सहन कर रहा हूँ, भवाटवीमें पर्यटन कर रहा हूँ, अज्ञान आदि प्राप्त कर रहा हूँ, वह सब कर्मोंके फलके उदयसे है—ऐसा चिंतवन करना धर्मध्यान नामका तीसरा कर्मविपाकचिंतन भेद है। ४ संस्थानविचय—तीन लोकका स्वरूप चिंतवन करना। लोकस्वरूप सुप्रतिष्ठितके आकारका है; जीव अजीवसे सर्वत्र भरपूर है; यह असंख्यात योजनकी कोटानुकोटिसे तिरछा लोक है। इसमें असंख्यातो द्वीपसमुद्र हैं। असंख्यातों ज्योतिषी, भवनवासी, व्यंतरों आदिका इसमें निवास है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विचित्रता इसमें लगी हुई है। अढ़ाई द्वीपमें जघन्य तीर्थंकर बीस और उत्कृष्ट एकसौ सत्तर होते हैं। जहाँ ये तथा केवली भगवान् और निर्ग्रंथ मुनिराज विचरते हैं, उन्हें " वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, समाणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि " करता हूँ। इसी तरह वहाँके रहनेवाले श्रावक-श्राविकाओंका गुणगान करता हूँ। उस तिरछे लोकसे असंख्यातगुना अधिक ऊर्ध्वलोक है। वहाँ अनेक प्रकारके देवताओंका निवास है। इसके ऊपर ईषत् प्राग्भारा है। उसके ऊपर मुक्तात्मायें विराजती हैं। उन्हें " वंदामि, यावत् पज्जुवासामि " करता हूँ। उस ऊर्ध्व-लोकसे भी कुछ विशेष अधोलोक है। उसमें अनंत दुःखोंसे भरा हुआ नरकावास और भुवनपतियोंके भुवन आदि हैं। इन तीन लोकके सब स्थानोंको इस आत्माने सम्यक्त्वरहित क्रियासे अनंतवार जन्म-मरणसे स्पर्श किया है—ऐसा चिंतवन करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यानका चौथा भेद है। इन चार भेदोंको विचारकर सम्यक्त्वसहित श्रुत और चारित्र धर्मकी आराधना करनी चाहिये जिससे यह अनंत जन्म-मरण दूर हो। धर्मध्यानके इन चार भेदोंको स्मरण रखना चाहिये।

७५ धर्मध्यान
(२)

धर्मध्यानके चार लक्षणोंको कहता हूँ। १ आज्ञारुचि—अर्थात् वीतराग भगवान्‌की आज्ञा अंगीकार करनेकी रुचि उत्पन्न होना। २ निसर्गरुचि—आत्माका अपने स्वाभाविक जातिस्मरण आदि ज्ञानसे श्रुतसहित चारित्र-धर्मको धारण करनेकी रुचि प्राप्त करना उसे निसर्गरुचि कहते हैं। ३ सूत्ररुचि—श्रुतज्ञान और अनंत तत्त्वके भेदोंके लिये कहे हुए भगवान्‌के पवित्र वचनोंका जिनमें गूँथन हुआ है, ऐसे सूत्रोंको श्रवण करने, मनन करने और भावसे पठन करनेकी रुचिका उत्पन्न होना सूत्ररुचि है। ४ उपदेशरुचि—अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंको हम ज्ञानसे खपावें, और ज्ञानसे नये कर्मोंको न बाँधें; मिथ्यात्वके द्वारा उपार्जित कर्मोंको सम्यक्‌भावसे खपावें और सम्यक्‌भावसे नये कर्मोंको न बाँधें; अवैराग्यसे उपार्जित कर्मोंको वैराग्यसे खपावें और वैराग्यसे नये कर्मोंको न बाँधें; कषायसे उपार्जित कर्मोंको कषायको दूर करके खपावें और क्षमा आदिसे नये कर्मोंको न बाँधें; अशुभ योगसे उपार्जित कर्मोंको शुभ योगसे खपावें और शुभ योगसे नये कर्मोंको न बाँधें; पाँच इन्द्रियोंके स्वादरूप आस्रवसे उपार्जित कर्मोंको संवरसे खपावें और तपरूप (इच्छारोध) संवरसे नये कर्मोंको न बाँधें—इसके लिये अज्ञान आदि आस्रव-मार्ग छोड़कर ज्ञान आदि संवर-मार्ग ग्रहण करनेके लिये तीर्थंकर भगवान्‌के उपदेशको सुननेकी रुचिके उत्पन्न होनेको उपदेशरुचि कहते हैं। धर्मध्यानके ये चार लक्षण कहे।

धर्मध्यानके चार आलंबन कहता हूँ—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परावर्त्तना, ४ धर्मकथा।

१ वाचना—विनय सहित निर्जरा तथा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सूत्र-सिद्धांतके मर्म जाननेवाले गुरु अथवा सत्पुरुषके समीप सूत्रतत्त्वके अभ्यास करनेको, वाचना आलंबन कहते हैं। २ पृच्छना—अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिनेश्वर भगवान्के मार्गको दिपाने तथा शंका-शल्यको निवारण करनेके लिये, तथा दूसरोंके तत्त्वोंकी मध्यस्थ परीक्षाके लिये यथायोग्य विनयसहित गुरु आदिसे प्रश्नोंके पूँछनेको पृच्छना कहते हैं। ३ परावर्त्तना—पूर्वमें जो जिनभाषित सूत्रार्थ पढ़े हों उन्हें स्मरणमें रखनेके लिये और निर्जराके लिये शुद्ध उपयोगसहित शुद्ध सूत्रार्थकी बारंबार सज्झाय करना परावर्त्तना आलंबन है। ४ धर्मकथा—वीतराग भगवान्ने जो भाव जैसा प्रणीत किया है, उस भावको उसी तरह समझकर, ग्रहणकर, विशेष रूपसे निश्चय करके, शंका कांखा वितिगिच्छारहित अपनी निर्जराके लिये सभामें उन भावोंको उसी तरह प्रणीत करना, जिससे सुननेवाले और श्रद्धा करनेवाले दोनों ही भगवान्की आज्ञाके आराधक हों, उसे धर्मकथा आलंबन कहते हैं। ये धर्मध्यानके चार आलंबन कहे। अब धर्मध्यानकी चार अनुप्रेक्षाएँ कहता हूँ—१ एकत्वानुप्रेक्षा, २ अनित्यानुप्रेक्षा, ३ अशरणानुप्रेक्षा, ४ संसारानुप्रेक्षा। इन चारोंका उपदेश बारह भावनाके पाठमें कहा जा चुका है। वह तुम्हें स्मरण होगा।

७६ धर्मध्यान

(३)

धर्मध्यानको पूर्व आचार्योंने और आधुनिक मुनीश्वरोंने भी विस्तारपूर्वक बहुत समझाया है। इस ध्यानसे आत्मा मुनित्वभावमें निरंतर प्रवेश करती जाती है।

जो जो नियम अर्थात् भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा कहे हैं, वे बहुत मनन करने योग्य हैं। अन्य मुनीश्वरोंके कहे अनुसार मैंने उन्हें सामान्य भाषामें तुम्हें कहा हैं। इसके साथ निरंतर ध्यान रखनेकी आवश्यकता यह है कि इनमेंसे हमने कौनसा भेद प्राप्त किया, अथवा कौनसे भेदकी ओर भावना रक्खी है? इन सोलह भेदोंमें हर कोई हितकारी और उपयोगी है, परन्तु जिस अनुक्रमसे उन्हें ग्रहण करना चाहिये उस अनुक्रमसे ग्रहण करनेसे वे विशेष आत्म-लाभके कारण होते हैं।

बहुतसे लोग सूत्र-सिद्धांतके अध्ययन कंठस्थ करते हैं। यदि वे उनके अर्थ, और उनमें कहे मूल-तत्त्वोंकी ओर ध्यान दें तो वे कुछ सूक्ष्म भेदको पा सकते हैं। जैसे केलेके एक पत्रमें दूसरे और दूसरेमें तीसरे पत्रकी चमत्कृति है, वैसे ही सूत्रार्थमें भी चमत्कृति है। इसके ऊपर विचार करनेसे निर्मल और केवल दयामय मार्गके वीतराग-प्रणीत तत्त्वबोधका बीज अंतःकरणमें अंकुरित होगा। वह अनेक प्रकारके शास्त्रावलोकनसे, प्रश्नोत्तरसे, विचारसे और सत्पुरुषोंके समागमसे पोषण पाकर वृद्धि होकर वृक्षरूप होगा। वह पीछे निर्जरा और आत्म-प्रकाशरूप फल देगा।

श्रवण, मनन और निदिध्यासनके प्रकार वेदांतियोंने भी बताये हैं। परन्तु जैसे इस धर्मध्यानके पृथक् पृथक् सोलह भेद यहाँ कहे गये हैं वैसे तत्त्वपूर्वक भेद अन्यत्र कहीं पर भी नहीं कहे गये, यह अपूर्व है। इनमेंसे शास्त्रोंका श्रवण करनेका, मनन करनेका, विचारनेका, अन्यको बोध करनेका, शंका कांखा दूर करनेका, धर्मकथा करनेका, एकत्व विचारनेका, अनित्यता विचारनेका, अशरणता विचारनेका,

वैराग्य पानेका, संसारके अनंत दुःख मनन करनेका और वीतराग भगवंतकी आज्ञासे समस्त लोका-लोकका विचार करनेका अपूर्व उत्साह मिलता है। भेद भेदसे इसके और अनेक भाव समझाये हैं।

इसमें कुछ भावोंके समझनेसे तप, शांति, क्षमा, दया, वैराग्य और ज्ञानका बहुत बहुत उदय होगा।

तुम कदाचित् इन सोलह भेदोंका पठन कर गये होगे तो भी फिर फिरसे उसका पुनरावर्तन करना।

७७ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(१)

जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप जाना जाय उसे ज्ञान कहते हैं; ज्ञान शब्दका यही अर्थ है। अब अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करना है कि क्या इस ज्ञानकी कुछ आवश्यकता है? यदि आवश्यकता है तो उसकी प्राप्तिके क्या साधन हैं? यदि साधन हैं तो क्या इन साधनोंके अनुकूल द्रव्य, देश, काल और भाव मौजूद हैं? यदि देश, काल आदि अनुकूल हैं तो वे कहाँ तक अनुकूल हैं? और विशेष विचार करें तो इस ज्ञानके कितने भेद हैं? जानने योग्य क्या है? इसके भी कितने भेद हैं? जाननेके कौन कौन साधन हैं? किस किस मार्गसे इन साधनोंको प्राप्त किया जाता है? इस ज्ञानका क्या उपयोग अथवा क्या परिणाम है? ये सब बातें जानना आवश्यक है।

१. ज्ञानकी क्या आवश्यकता है? पहले इस विषयपर विचार करते हैं। यह आत्मा इस चौदह राजू प्रमाण लोकमें चारों गतियोंमें अनादिकालसे कर्मसहित स्थितिमें पर्यटन करती है। जहाँ क्षणभर भी सुखका भाव नहीं ऐसे नरक, निगोद आदि स्थानोंको इस आत्माने बहुत बहुत कालतक बारम्बार सेवन किया है; असह्य दुःखोंको पुनः पुनः और कहो तो अनंतोंवार सहन किया है। इस संतापसे निरंतर संतप्त आत्मा केवल अपने ही कर्मोंके विपाकसे घूमा करती है। इस घूमनेका कारण अनंत दुःख देनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं; जिनके कारण आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकती, और विषय आदि मोहके बंधनको अपना स्वरूप मान रही है। इन सबका परिणाम केवल ऊपर कहे अनुसार ही होता है, अर्थात् आत्माको अनंत दुःख अनंत भावोंसे सहन करने पड़ते हैं। कितना ही अप्रिय, कितना ही खेददायक और कितना ही रौद्र होनेपर भी जो दुःख अनंत कालसे अनंतबार सहन करना पड़ा, उस दुःखको केवल अज्ञान आदि कर्मसे ही सहन किया, इसलिये अज्ञान आदिको दूर करनेके लिये ज्ञानकी अत्यन्त आवश्यकता है।

७८ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(२)

२. अब ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें कुछ विचार करें। अपूर्ण पर्याप्तिसे परिपूर्ण आत्म-ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इस कारण छह पर्याप्तियोंसे युक्त देह ही आत्म-ज्ञानकी सिद्धि कर सकती है। ऐसी देह एक मानव-देह ही है। यहाँ प्रश्न उठेगा कि जिन्होंने मानव-देहको प्राप्त किया है, ऐसी अनेक आत्मायें हैं, तो वे सब आत्म-ज्ञानको क्यों नहीं प्राप्त करतीं? इसके उत्तरमें हम यह मान सकते हैं कि जिन्होंने सम्पूर्ण आत्म-ज्ञानको प्राप्त किया है उनके पवित्र वचनामृतकी उन्हें श्रुति नहीं होती। श्रुतिके बिना संस्कार नहीं, और यदि संस्कार नहीं तो फिर श्रद्धा कहाँसे हो सकती है? और जहाँ इनमेंसे

एक भी नहीं वहाँ ज्ञान-प्राप्ति भी किसको हो ? इसलिये मानव-देहके साथ साथ सर्वज्ञके वचनामृतकी प्राप्ति और उसकी श्रद्धा भी साधनरूप हैं। सर्वज्ञके वचनामृत अकर्मभूमि अथवा केवल अनार्यभूमिमें नहीं मिलते, तो वहाँ मानव-देह किस कामका ? इसलिये कर्मभूमि और उसमें भी आर्यभूमि—यह भी साधनरूप है। तत्त्वकी श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये और ज्ञान होनेके लिये निर्ग्रन्थ गुरुकी आवश्यकता है। द्रव्यसे जो कुल मिथ्यात्वी है, उस कुलमें जन्म होना भी आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिमें हानिरूप ही होता है। क्योंकि धर्ममतभेद अत्यन्त दुःखदायक है। परंपरासे पूर्वजोंके द्वारा ग्रहण किये हुए दर्शन ही सत्य मालूम होने लगते हैं। इससे भी आत्म-ज्ञान रुकता है। इसलिये अच्छा कुल भी आवश्यक है। यह सब प्राप्त करने जितना भाग्यशाली होनेमें सत्पुण्य अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य इत्यादि उत्तम साधन हैं। यह दूसरा साधन भेद कहा।

३. यदि साधन हैं तो क्या उनके अनुकूल देश और काल है, इस तीसरे भेदका विचार करें। भरत, महाविदेह इत्यादि कर्मभूमि और उनमें भी आर्यभूमि देशरूपसे अनुकूल हैं। जिज्ञासु भव्य! तुम सब इस समय भरतमें हो, और भारत देश अनुकूल है। काल भावकी अपेक्षासे मति और श्रुतज्ञान प्राप्त कर सकनेकी अनुकूलता भी है। क्योंकि इस दुःषम पंचमकालमें परमावधि, मनःपर्यव, और केवल ये पवित्र ज्ञान परम्परा आम्नायके अनुसार विच्छेद हो गये हैं। सारांश यह है कि कालकी परिपूर्ण अनुकूलता नहीं।

४. देश, काल आदि यदि कुछ भी अनुकूल हैं तो वे कहाँतक हैं ? इसका उत्तर यह है कि अवशिष्ट सैद्धांतिक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, सामान्य मतसे ज्ञान, कालकी अपेक्षासे इक्कीस हज़ार वर्ष रहेगा; इनमेंसे अढ़ाई हज़ार वर्ष बीत गये, अब साढ़े अठारह हज़ार वर्ष बाकी हैं, अर्थात् पंचमकालकी पूर्णतातक कालकी अनुकूलता है। इस कारणसे देश और काल अनुकूल हैं।

७९ ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(३)

अब विशेष विचार करें।

१. आवश्यकता क्या है ? इस मुख्य विचारपर ज़रा और गंभीरतासे विचार करें तो मालूम होगा कि मुख्य आवश्यकता तो अपनी स्वरूप-स्थितिकी श्रेणी चढ़ना है। अनंत दुःखका नाश, और दुःखके नाशसे आत्माके श्रेयस्कर सुखकी सिद्धि यह हेतु है; क्योंकि आत्माको सुख निरन्तर ही प्रिय है। परन्तु यह सुख यदि स्वस्वरूपक सुख हो तभी प्रिय है। देश कालकी अपेक्षासे श्रद्धा ज्ञान इत्यादि उत्पन्न करनेकी आवश्यकता, और सम्यग् भावसहित उच्चगति, वहाँसे महाविदेहमें मानवदेहमें जन्म, वहाँ सम्यग् भावकी और भी उन्नति, तत्त्वज्ञानकी विशुद्धता और वृद्धि, अन्तमें परिपूर्ण आत्मसाधन, ज्ञान और उसका सत्य परिणाम, सम्पूर्णरूपसे सब दुःखोंका अभाव अर्थात् अखंड, अनुपम, अनंत शाश्वत, पवित्र मोक्षकी प्राप्ति—इन सबके लिये ज्ञानकी आवश्यकता है।

२. ज्ञानके कितने भेद हैं, तत्संबंधी विचार कहता हूँ। इस ज्ञानके अनंत भेद हैं; परन्तु सामान्य दृष्टिसे समझनेके लिये सर्वज्ञ भगवान्ने मुख्य पाँच भेद कहे हैं, उन्हें ज्यों का त्यों कहता

हूँ—पहला मति, दूसरा श्रुत, तीसरा अवधि, चौथा मनःपर्यव और पाँचवाँ सम्पूर्णस्वरूप केवल। इनके भी प्रतिभेद हैं और उनके भी अतीन्द्रिय स्वरूपसे अनन्त भंगजाल हैं।

३. जानने योग्य क्या है ? अब इसका विचार करें। वस्तुके स्वरूपको जाननेका नाम ज्ञान है; तब वस्तु तो अनंत हैं; इन्हें किस पंक्तिसे जानें ? सर्वज्ञ होनेपर वे सत्पुरुष सर्वदर्शितासे अनंत वस्तुओंके स्वरूपको सब भेदोंसे जानते और देखते हैं, परन्तु उन्होंने इस सर्वज्ञ पदवीको किन किन वस्तुओंके जाननेसे प्राप्त किया ? जबतक अनंत श्रेणियोंको नहीं जाना तबतक किस वस्तुको जानते जानते वे अनन्त वस्तुओंको अनन्तरूपसे जान पावेंगे ? इस शंकाका अब समाधान करते हैं। जो अनंत वस्तुयें मानी हैं वे अनंत भंगोंकी अपेक्षासे हैं। परन्तु मुख्य वस्तुत्वकी दृष्टिसे उसकी दो श्रेणियाँ हैं—जीव और अजीव। विशेष वस्तुत्व स्वरूपसे नौ तत्त्व अथवा छह द्रव्यकी श्रेणियाँ मानी जा सकती हैं। इस पंक्तिसे चढ़ते चढ़ते सर्व भावसे ज्ञात होकर लोकालोकके स्वरूपको हस्तामलककी तरह जान और देख सकते हैं। इसलिये जानने योग्य पदार्थ तो केवल जीव और अजीव हैं। इस तरह जाननेकी मुख्य दो श्रेणियाँ कहाईं।

८० ज्ञानके संबंधमें दो शब्द

(४)

४. इनके उपभेदोंको संक्षेपमें कहता हूँ। 'जीव' चैतन्य लक्षणसे एकरूप है। देहस्वरूपसे और द्रव्यरूपसे अनंतानंत है। देहस्वरूपमें उसके इन्द्रिय आदि जानने योग्य हैं; उसकी गति, विगति इत्यादि जानने योग्य हैं; उसकी संसर्ग ऋद्धि जानने योग्य है। इसी तरह 'अजीव' के रूपी अरूपी पुद्गल आकाश आदि विचित्रभाव कालचक्र इत्यादि जानने योग्य हैं। प्रकारांतरसे जीव, अजीवको जाननेके लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शीने नौ श्रेणिरूप नव तत्त्वको कहा है—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य और कुछ त्यागने योग्य हैं। ये सब तत्त्व जानने योग्य तो हैं ही।

५. जाननेके साधन। यद्यपि सामान्य विचारसे इन साधनोंको जान लिया है फिर भी कुछ विशेष विचार करते हैं। भगवान्‌की आज्ञा और उसके शुद्ध स्वरूपको यथार्थरूपसे जानना चाहिये। स्वयं तो कोई विरले ही जानते हैं, नहीं तो इसे निर्ग्रन्थज्ञानी गुरु बता सकते हैं। रागहीन ज्ञाता सर्वोत्तम हैं। इसलिये श्रद्धाका बीज रोपण करनेवाला अथवा उसे पोषण करनेवाला गुरु केवल साधनरूप है। इन साधन आदिके लिये संसारकी निवृत्ति अर्थात् शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि अन्य साधन हैं। इन्हें साधनोंको प्राप्त करनेका मार्ग कहा जाय तो भी ठीक है।

६. इस ज्ञानके उपयोग अथवा परिणामके उत्तरका आशय ऊपर आ गया है; परन्तु कालभेदसे कुछ कहना है, और वह इतना ही कि दिनमें दो घड़ीका वक्त भी नियमितरूपसे निकालकर जिनेश्वर भगवान्‌के कहे हुए तत्त्वोपदेशकी पर्यटना करो। वीतरागके एक सैद्धांतिक शब्दसे ज्ञानावरणीयका बहुत क्षयोपशम होगा ऐसा मैं विवेकसे कहता हूँ।

८१ पंचमकाल

कालचक्रके विचारोंको अवश्य जानना चाहिये। श्री जिनेश्वरने इस कालचक्रके दो मुख्य भेद कहे

हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। एक एक भेदके छह छह आरे हैं। आज कलका चालू आरा पंचमकाल कहलाता है, और वह अवसर्पिणी कालका पाँचवा आरा है। अवसर्पिणी उतरते हुए कालको कहते हैं। इस उतरते हुए कालके पाँचवें आरेमें इस भरतक्षेत्रमें कैसा आचरण होना चाहिये इसके लिये सत्पुरुषोंने कुछ विचार वताये हैं, उन्हें अवश्य जानना चाहिये।

इन्होंने पंचमकालके स्वरूपको मुख्यरूपसे इस प्रकारका वताया है। निर्ग्रंथ प्रवचनके ऊपरसे मनुष्योंकी श्रद्धा क्षीण होती जावेगी। धर्मके मूलतत्त्वोंमें मतमतांतरोंकी वृद्धि होगी। पाखंडी और प्रपंची मतोंका मंडन होगा। जन-समूहकी रुचि अधर्मकी ओर फिरेगी। सत्य और दया धीमे धीमे पराभवको प्राप्त होंगे। मोह आदि दोषोंकी वृद्धि होती जायगी। दंभी और पापिष्ठ गुरु पूज्य होंगे। दुष्टवृत्तिके मनुष्य अपने फंदमें सफल होंगे। मीठे किन्तु धूर्तवक्ता पवित्र माने जायँगे। शुद्ध ब्रह्मचर्य आदि शीलसे युक्त पुरुष मलिन कहलावेंगे। आत्म-ज्ञानके भेद नष्ट होने जायँगे। हेतुहीन क्रियाएँ वढ़ती जायँगी। अज्ञान क्रियाका वहुधा सेवन किया जायगा। व्याकुल करनेवाले विषयोंके साधन वढ़ते जायँगे। एकांतवादी पक्ष सत्ताधीश होंगे। श्रृंगारसे धर्म माना जावेगा।

सच्चे क्षत्रियोंके विना भूमि शोकसे पीड़ित होगी। निर्माल्य राजवंशी वेश्याके विलासमें मोहको प्राप्त होंगे; धर्म, कर्म और सच्ची राजनीति भूल जायँगे; अन्यायको जन्म देंगे; जैसे लूटा जावेगा वैसे प्रजाको लूटेंगे; स्वयं पापिष्ठ आचरणको सेवनकर प्रजासे उन आचरणोंका पालन करावेंगे। राजवंशके नामपर शून्यता आती जायगी। नीच मंत्रियोंकी महत्ता वढ़ती जायगी। ये लोग दीन प्रजाको चूसकर भंडार भरनेका राजाको उपदेश देंगे; शील-भंग करनेके धर्मको राजाको अंगीकार करायँगे; शौर्य आदि सद्गुणोंका नाश करायँगे; मृगया आदि पापोंमें अँधे वनावेंगे। राज्याधिकारी अपने अधिकारसे हजार गुना अहंकार रक्खेंगे। ब्राह्मण लालची और लोभी हो जायँगे; सद्विद्याको छुपा देंगे; संसारी साधनोंको धर्म ठहरावेंगे। वैश्य लोग मायावी, सर्वथा स्वार्थी और कठोर हृदयके होते जायँगे। समग्र मनुष्यवर्गकी सद्वृत्तियाँ घटती जायँगी। अकृत और भयंकर कृत्य करनेसे उनकी वृत्ति नहीं रुकेगी। विवेक, विनय, सरलता, इत्यादि सद्गुण घटते जायँगे। अनुकंपाका स्थान हीनता ले लेगी। माताकी अपेक्षा पत्नीमें प्रेम वढ़ेगा। पिताकी अपेक्षा पुत्रमें प्रेम वढ़ेगा। पातिव्रत्यको नियमसे पालनेवाली सुंदरियाँ घट जायँगी। स्नानसे पवित्रता मानी जायगी। धनसे उत्तम कुल गिना जायगा। शिष्य गुरुसे उलटा चलेंगे। भूमिका रस घट जायगा। संक्षेपमें कहनेका भावार्थ यह है कि उत्तम वस्तुओंकी क्षीणता और कनिष्ठ वस्तुका उदय होगा। पंचमकालका स्वरूप उक्त वातोंमेंका प्रत्यक्ष सूचन भी कितना अधिक करता है?

मनुष्य सद्धर्मतत्त्वमें परिपूर्ण श्रद्धावान नहीं हो सकता, सम्पूर्ण और तत्त्वज्ञान नहीं पा सकता। जम्बूस्वामीके निर्वाणके वाद दस निर्वाणी वस्तुएँ इस भरतक्षेत्रसे व्यवच्छेद हो गईं।

पंचमकालका ऐसा स्वरूप जानकर विवेकी पुरुष तत्त्वको ग्रहण करेंगे; कालानुसार धर्मतत्त्वकी श्रद्धा प्राप्त कर उच्चगति साधकर अन्तमें मोक्ष प्राप्त करेंगे। निर्ग्रन्थ प्रवचन, निर्ग्रन्थ गुरु इत्यादि धर्म-तत्त्वके पानेके साधन हैं। इनकी आराधनासे कर्मकी विराधना है।

८२ तत्त्वावबोध

१

दशवैकालिक सूत्रमें कथन है कि जिसने जीवाजीवके भावोंको नहीं जाना वह अबुध संयममें कैसे स्थिर रह सकता है ? इस वचनामृतका तत्पर्य यह है कि तुम आत्मा अनात्माके स्वरूपको जानो, इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

आत्मा अनात्माका सत्य स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचनमेंसे ही प्राप्त हो सकता है । अनेक अन्य मतोंमें इन दो तत्त्वोंके विषयमें विचार प्रगट किये गये हैं, परन्तु वे यथार्थ नहीं हैं । महाप्रज्ञावान आचार्यों-द्वारा किये गये विवेचन सहित प्रकारांतरसे कहे हुए मुख्य नौ तत्त्वोंको जो विवेक बुद्धिसे जानता है, वह सत्पुरुष आत्माके स्वरूपको पहचान सकता है ।

स्याद्वादकी शैली अनुपम और अनंत भाव-भेदोंसे भरी है । इस शैलीको परिपूर्णरूपसे तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही जान सकते हैं, फिर भी इनके वचनामृतके अनुसार आगमकी मददसे बुद्धिके अनुसार नौ तत्त्वका स्वरूप जानना आवश्यक है । इन नौ तत्त्वोंको प्रिय श्रद्धा भावसे जाननेसे परम विवेक-बुद्धि, शुद्ध सम्यक्त्व और प्रभाविक आत्म-ज्ञानका उदय होता है । नौ तत्त्वोंमें लोकालोकका सम्पूर्ण स्वरूप आ जाता है । जितनी जिसकी बुद्धिकी गति है, उतनी वे तत्त्वज्ञानकी ओर दृष्टि पहुँचाते हैं, और भावके अनुसार उनकी आत्माकी उज्ज्वलता होती है । इससे वे आत्म-ज्ञानके निर्मल रसका अनुभव करते हैं । जिनका तत्त्वज्ञान उत्तम और सूक्ष्म है, तथा जो सुशीलयुक्त तत्त्वज्ञानका सेवन करते हैं वे पुरुष महान् भाग्यशाली हैं ।

इन नौ तत्त्वोंके नाम पहिलेके शिक्षापाठमें मैं कह गया हूँ । इनका विशेष स्वरूप प्रज्ञावान् आचार्योंके महान् ग्रंथोंसे अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सिद्धांतमें जो जो कहा है उन सबके विशेष भेदोंसे समझनेमें प्रज्ञावान् आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ सहायभूत हैं । ये गुरुगम्य भी हैं । नय, निक्षेप और प्रमाणके भेद नवतत्त्वके ज्ञानमें आवश्यक हैं, और उनका यथार्थज्ञान इन प्रज्ञावंतोंने बताया है ।

८३ तत्त्वावबोध

(२)

सर्वज्ञ भगवान्ने लोकालोकके सम्पूर्ण भावोंको जाना और देखा और उनका उपदेश उन्होंने भव्य लोगोंको दिया । भगवान्ने अनंत ज्ञानके द्वारा लोकालोकके स्वरूपविषयक अनंत भेद जाने थे; परन्तु सामान्य मनुष्योंको उपदेशके द्वारा श्रेणी चढ़नेके लिए उन्होंने मुख्य नव पदार्थको बताया । इससे लोकालोकके सब भावोंका इसमें समावेश हो जाता है । निर्ग्रन्थ प्रवचनका जो जो सूक्ष्म उपदेश है वह तत्त्वकी दृष्टिसे नवतत्त्वमें समाविष्ट हो जाता है । तथा सम्पूर्ण धर्ममतोंका सूक्ष्म विचार इस नवतत्त्व-विज्ञानके एक देशमें आ जाता है । आत्माकी जो अनंत शक्तियाँ ढँकी हुई हैं उन्हें प्रकाशित करनेके लिये अर्हंत भगवान्का पवित्र उपदेश है । ये अनंत शक्तियाँ उस समय प्रफुल्लित हो सकती हैं जब कि नवतत्त्व-विज्ञानका पारावार ज्ञानी हो जाय ।

सूक्ष्म द्वादशांगी ज्ञान भी इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका सहायरूप है, यह भिन्न भिन्न प्रकारसे इस नवतत्त्व स्वरूप ज्ञानका उपदेश करता है। इस कारण यह निःशंकरूपसे मानना चाहिये कि जिसने अनंत भावभेदसे नवतत्त्वको जान लिया वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गया।

यह नवतत्त्व त्रिपदीकी अपेक्षासे घटाना चाहिये। हेय, ज्ञेय और उपादेय अर्थात् त्याग करने योग्य, जानने योग्य, और ग्रहण करने योग्य, ये तीन भेद नवतत्त्व स्वरूपके विचारमें अन्तर्हित हैं।

प्रश्न—जो त्यागने योग्य है उसे जानकर हम क्या करेंगे ? जिस गाँवमें जाना नहीं है उसका मार्ग पूँछनेसे क्या प्रयोजन ?

उत्तर—तुम्हारी इस शंकाका सहजमें ही समाधान हो सकता है। त्यागने योग्यको भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञ भी सब प्रकारके प्रपंचोंको जान रहे हैं। त्यागने योग्य वस्तुको जाननेका मूल तत्त्व यह है कि यदि उसे न जाना हो तो कभी अत्याज्य समझकर उस वस्तुका सेवन न हो जाय। एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचनेतक रास्तेमें जो जो गाँव आते हों उनका रास्ता भी पूँछना पड़ता है। नहीं तो इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकते। जैसे उस गाँवके पूँछनेपर भी उसमें ठहरते नहीं हैं, उसी तरह पाप आदि तत्त्वोंको जानना चाहिये किन्तु उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार रास्तेमें आनेवाले गाँवोंको छोड़ते जाते हैं, उसी तरह उनका भी त्याग करना आवश्यक है।

८४ तत्त्वावबोध

(३)

नवतत्त्वका कालभेदसे जो सत्पुरुष गुरुके पाससे श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे सत्पुरुष महापुण्यशाली और धन्यवादके पात्र हैं। प्रत्येक सुज्ञ पुरुषोंको मेरा विनयभाव-भूषित यही उपदेश है कि नवतत्त्वको अपनी बुद्धि-अनुसार यथार्थ जानना चाहिये।

महावीर भगवान्‌के शासनमें बहुतसे मतमतांतर पड़ गये हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि तत्त्वज्ञानकी ओरसे उपासक-वर्गका लक्ष फिर गया। वे लोग केवल क्रियाभावमें ही लगे रहे, जिसका परिणाम दृष्टिगोचर है। वर्तमान खोजमें आयी हुई पृथिवीकी आबादी लगभग डेढ़ अरबकी गिनी जाती है; उसमें सब गच्छोंको मिलाकर जैन लोग केवल बीस लाख हैं। ये लोग श्रमणोपासक हैं। इनमेंसे मैं अनुमान करता हूँ कि दो हजार पुरुष भी मुश्किलसे नवतत्त्वको पढ़ना जानते होंगे। मनन और विचारपूर्वक जाननेवाले पुरुष तो उँगलियोंपर गिनने लायक भी न होंगे। तत्त्वज्ञानकी जब ऐसी पतित स्थिति हो गई है, तभी मतमतांतर बढ़ गये हैं। एक कहावत है कि "सौ स्याने एक मत," इसी तरह अनेक तत्त्वविचारक पुरुषोंके मतमें बहुधा भिन्नता नहीं आती, इसलिये तत्त्वावबोध परम आवश्यक है।

इस नवतत्त्व-विचारके संबंधमें प्रत्येक मुनियोंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे विवेक और गुरुगम्यतासे इसके ज्ञानकी विशेषरूपसे वृद्धि करें, इससे उनके पवित्र पाँच महाव्रत दृढ़ होंगे; जिनेश्वरके वचनामृतके अनुपम आनन्दकी प्रसादी मिलेगी; मुनित्व-आचार पालनेमें सरल हो जायगा; ज्ञान और क्रियाके विशुद्ध रहनेसे सम्यक्त्वका उदय होगा; और परिणाममें संसारका अंत होगा।

८५ तत्त्वावबोध

(४)

जो श्रमणोपासक नवतत्त्वको पढ़ना भी नहीं जानते उन्हें उसे अवश्य जानना चाहिये। जाननेके बाद बहुत मनन करना चाहिये। जितना समझमें आ सके, उतने गंभीर आशयको गुरुगम्यतासे सद्भावसे समझना चाहिये। इससे आत्म-ज्ञानकी उज्ज्वलता होगी, और यमनियम आदिका बहुत पालन होगा।

नवतत्त्वका अभिप्राय नवतत्त्व नामकी किसी सामान्य लिखी हुई पुस्तकसे नहीं। परन्तु जिस जिस स्थल पर जिन जिन विचारोंको ज्ञानियोंने प्रणीत किया है, वे सब विचार नवतत्त्वमेंके किसी न किसी एक, दो अथवा विशेष तत्त्वोंके होते हैं। केवली भगवान्ने इन श्रेणियोंसे सकल जगतमंडल दिखा दिया है। इससे जैसे जैसे नय आदिके भेदसे इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होगी वैसे वैसे अपूर्व आनन्द और निर्मलताकी प्राप्ति होगी। केवल विवेक, गुरुगम्यता और अप्रमादकी आवश्यकता है। यह नव तत्त्वज्ञान मुझे बहुत प्रिय है। इसके रसानुभवी भी मुझे सदैव प्रिय हैं।

कालभेदसे इस समय सिर्फ़ मति और श्रुत ये दो ज्ञान भरतक्षेत्रमें विद्यमान हैं, बाकीके तीन ज्ञान व्यवच्छेद हो गये हैं; तो भी ज्यों ज्यों पूर्ण श्रद्धासहित भावसे हम इस नवतत्त्वज्ञानके विचारोंकी गुफामें उतरते जाते हैं त्यों त्यों उसके भीतर अद्भुत आत्मप्रकाश, आनंद, समर्थ तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा, उत्तम विनोद, गंभीर चमक और आश्चर्यचकित करनेवाले शुद्ध सम्यग्ज्ञानके विचारोंका बहुत अधिक उदय करते हैं। स्याद्वादवचनामृतके अनंत सुंदर आशयोंके समझनेकी शक्तिके इस कालमें इस क्षेत्रसे विच्छेद होनेपर भी उसके संबंधमें जो जो सुंदर आशय समझमें आते हैं, वे आशय अत्यन्त ही गंभीर तत्त्वोंसे भरे हुए हैं। यदि इन आशयोंको पुनः पुनः मनन किया जाय तो ये आशय चार्वाक-मतिके चंचल मनुष्योंको भी सद्धर्ममें स्थिर कर देनेवाले हैं। सारांश यह है कि संक्षेपमें, सब प्रकारकी सिद्धि, पवित्रता, महाशील, सूक्ष्म और गंभीर निर्मल विचार, स्वच्छ वैराग्यकी भेट, ये सब तत्त्वज्ञानसे मिलते हैं।

८६ तत्त्वावबोध

(५)

एकबार एक समर्थ विद्वान्के साथ निर्ग्रन्थ प्रवचनकी चमत्कृतिके संबंधमें बातचीत हुई। इस संबंधमें उस विद्वान्ने कहा कि इतना मैं मानता हूँ कि महावीर एक समर्थ तत्त्वज्ञानी पुरुष थे, उन्होंने जो उपदेश किया है उसे ग्रहण करके प्रज्ञावंत पुरुषोंने अंग उपांगकी योजना की है; उनके जो विचार हैं वे चमत्कृतिसे पूर्ण हैं, परन्तु इसके ऊपरसे इसमें लोकालोकका सब ज्ञान आ जाता है, यह मैं नहीं कह सकता। ऐसा होनेपर भी यदि आप इस संबंधमें कुछ प्रमाण देते हों तो मैं इस बातपर कुछ श्रद्धा कर सकता हूँ। इसके उत्तरमें मैंने यह कहा कि मैं कुछ जैनवचनामृतको यथार्थ तो क्या, परन्तु विशेष भेद सहित भी नहीं जानता; परन्तु जो कुछ सामान्यरूपसे जानता हूँ, इसके ऊपरसे भी प्रमाण अवश्य दे सकता हूँ। बादमें नव-तत्त्वविज्ञानके संबंधमें बातचीत चली। मैंने कहा

इसमें समस्त सृष्टिका ज्ञान आ जाता है, परन्तु उसे यथार्थ समझनेकी शक्ति चाहिये। उन्होंने इस कथनका प्रमाण माँगा। मैंने आठ कर्मोंके नाम लिये। इसके साथ ही यह सूचित किया कि इनके सिवाय इससे भिन्न भावको दिखानेवाला आप कोई नौंवा कर्म ढूँढ़ निकालें; पाप और पुण्य प्रकृतियोंके नाम लेकर मैंने कहा कि आप इनके सिवाय एक भी अधिक प्रकृति ढूँढ़ दें। यह कहनेपर अनुक्रमसे बात चली। सबसे पहले जीवके भेद कहकर मैंने पूँछा कि क्या इनमें आप कुछ न्यूनाधिक कहना चाहते हो? अजीव द्रव्यके भेद बताकर पूँछा कि क्या आप इससे कुछ विशेष कहते हो? इसी प्रकार जब नवतत्त्वके संबंधमें बातचीत हुई तो उन्होंने थोड़ी देर विचार करके कहा, यह तो महावीरकी कहनेकी अद्भुत चमत्कृति है कि जीवका एक भी नया भेद नहीं मिलता। इसी तरह पाप पुण्य आदिकी एक भी विशेष प्रकृति नहीं मिलती; तथा नौंवा कर्म भी नहीं मिलता। ऐसे ऐसे तत्त्वज्ञानके सिद्धांत जैन-दर्शनमें हैं, यह बात मेरे ध्यानमें न थी, इसमें समस्त सृष्टिका तत्त्वज्ञान कुछ अंशोंमें अवश्य आ सकता है।

८७ तत्त्वावबोध

(६)

इसका उत्तर इस ओरसे यह दिया गया कि अभी जो आप इतना कहते हैं वह तभीतक कहते हैं जब तक कि जैनधर्मके तत्त्व-विचार आपके हृदयमें नहीं आये, परन्तु मैं मध्यस्थतासे सत्य कहता हूँ कि इसमें जो विशुद्ध ज्ञान बताया गया है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है; और सर्व मतोंने जो ज्ञान बताया है वह महावीरके तत्त्वज्ञानके एक भागमें आ जाता है। इनका कथन स्याद्वाद है, एकपक्षीय नहीं।

आपने कहा कि कुछ अंशमें सृष्टिका तत्त्वज्ञान इसमें अवश्य आ सकता है, परन्तु यह मिश्र-वचन है। हमारे समझानेकी अल्पज्ञतासे ऐसा अवश्य हो सकता है परन्तु इससे इन तत्त्वोंमें कोई अपूर्णता है, ऐसी बात तो नहीं है। यह कोई पक्षपातयुक्त कथन नहीं। विचार करनेपर समस्त सृष्टिमेंसे इनके सिवाय कोई दसवाँ तत्त्व खोज करने पर कभी भी मिलनेवाला नहीं। इस संबंधमें प्रसंग आने-पर जब हम लोगोंमें बातचीत और मध्यस्थ चर्चा होगी तब समाधान होगा।

उत्तरमें उन्होंने कहा कि इसके ऊपरसे मुझे यह तो निस्सन्देह है कि जैनदर्शन एक अद्भुत दर्शन है। श्रेणीपूर्वक आपने मुझे नव तत्त्वोंके कुछ भाग कहे हैं इससे मैं यह बेधड़क कह सकता हूँ कि महावीर गुप्तभेदको पाये हुए पुरुष थे। इस प्रकार थोड़ीसी बातचीत करके "उप्पन्नेवा" "विगमे वा" "धुवेइ वा" यह लब्धिवाक्य उन्होंने मुझे कहा। यह कहनेके पश्चात् उन्होंने बताया कि इन शब्दोंके सामान्य अर्थमें तो कोई चमत्कृति दिखाई नहीं देती। उत्पन्न होना, नाश होना, और अचलता यही इन तीन शब्दोंका अर्थ है। परन्तु श्रीमान् गणधरोंने तो ऐसा उल्लेख किया है कि इन वचनोंके गुरुमुखसे श्रवण करनेपर पहलेके भाविक शिष्योंको द्वादशांगीका आशयपूर्ण ज्ञान हो जाता था। इसके लिये मैंने कुछ विचार करके देखा भी, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि ऐसा होना असंभव है; क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म माना हुआ सैद्धांतिक-ज्ञान इसमें कहाँसे समा सकता है? इस संबंधमें क्या आप कुछ लक्ष पहुँचा सकेंगे?

८८ तत्त्वावबोध

(७)

उत्तरमें मैंने कहा कि इस कालमें तीन महा ज्ञानोंका भारतसे विच्छेद हो गया है; ऐसा होनेपर मैं कोई सर्वज्ञ अथवा महा प्रज्ञावान् नहीं हूँ तो भी मेरा जितना सामान्य लक्ष पहुँच सकेगा उतना पहुँचाकर कुछ समाधान कर सकूँगा, यह मुझे संभव प्रतीत होता है। तब उन्होंने कहा कि यदि यह संभव हो तो यह त्रिपदी जीवपर "नास्ति" और "अस्ति" विचारसे घटाइये। वह इस तरह कि जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या व्ययरूप है? तो कि नहीं। जीव क्या ध्रौव्यरूप है? तो कि नहीं, इस तरह एक बार घटाइये; और दूसरी बार जीव क्या उत्पत्तिरूप है? तो कि हाँ। जीव क्या व्ययरूप है? तो कि हाँ। जीव क्या ध्रौव्यरूप है? तो कि हाँ, ऐसे घटाइये। ये विचार समस्त मंडलमें एकत्र करके योजित किये हैं। इसे यदि यथार्थ नहीं कह सकते तो अनेक प्रकारके दूषण आ सकते हैं। यदि वस्तु व्ययरूप हो तो वह ध्रुवरूप नहीं हो सकती—यह पहली शंका है। यदि उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता नहीं तो जीवको किन प्रमाणोंसे सिद्ध करोगे—यह दूसरी शंका है। व्यय और ध्रुवताका परस्पर विरोधाभास है—यह तीसरी शंका है। जीव केवल ध्रुव है तो उत्पत्तिमें अस्ति कहना असत्य हो जायगा—यह चौथा विरोध। उत्पन्न जीवको ध्रुवरूप कहो तो उसे उत्पन्न किसने किया—यह पाँचवीं शंका और विरोध। इससे उसका अनादिपना जाता रहता है—यह छठी शंका है। केवल ध्रुव व्ययरूप है ऐसा कहो तो यह चार्वाक-मिश्रवचन हुआ—यह सातवाँ दोष है। उत्पत्ति और व्ययरूप कहोगे तो केवल चार्वाकका सिद्धांत कहा जायेगा—यह आठवाँ दोष है। उत्पत्तिका अभाव, व्ययका अभाव और ध्रुवताका अभाव कहकर फिर तीनोंका अस्तित्व कहना—ये छह दोष। इस तरह मिलाकर सब चौदह दोष होते हैं। केवल ध्रुवता निकाल देनेपर तीर्थंकरोंके वचन खंडित हो जाते हैं—यह पन्द्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति ध्रुवता लेनेपर कर्त्ताकी सिद्धि होती है इससे सर्वज्ञके वचन खंडित हो जाते हैं—यह सोलहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्ययरूपसे पाप पुण्य आदिका अभाव मान लें तो धर्माधर्म सबका लोप हो जाता है—यह सत्रहवाँ दोष है। उत्पत्ति व्यय और सामान्य स्थितिसे (केवल अचल नहीं) त्रिगुणात्मक माया सिद्ध होती है—यह अठारहवाँ दोष है।

८९ तत्त्वावबोध

(८)

इन कथनोंके सिद्ध न होनेपर इतने दोष आते हैं। एक जैन मुनिने मुझे और मेरे मित्र-मंडलसे ऐसा कहा था कि जैन सप्तभंगीनय अपूर्व है और इससे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसमें नास्ति अस्तिका अगम्य भेद सन्निविष्ट है। यह कथन सुनकर हम सब घर आये, फिर योजना करते करते इस लब्धिवाक्यको जीवपर घटाया। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार नास्ति अस्तिके दोनों भाव जीवपर नहीं घट सकते। इससे लब्धिवाक्य भी क्लेशरूप हो जावेंगे। फिर भी इस ओर मेरी कोई तिरस्कारकी दृष्टि नहीं है।

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि आपने जो नास्ति और अस्ति नयोंको जीवपर घटानेका विचार

किया है वह सनिक्षेप शैलीसे नहीं, अर्थात् कभी इसमें एकांत पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। और फिर मैं कोई स्याद्वाद-शैलीका यथार्थ जानकर नहीं, मंदबुद्धिसे लेशमात्र जानता हूँ। नास्ति अस्ति नयको भी आपने यथार्थ शैलीपूर्वक नहीं घटाया। इसलिये मैं तर्कसे जो उत्तर दे सकता हूँ उसे आप सुनें।

उत्पत्तिमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "जीव अनादि अनंत है"। व्ययमें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "इसका किसी कालमें नाश नहीं होता"।

ध्रुवतामें "नास्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "एक देहमें वह सदैवके लिये रहनेवाला नहीं"।

९० तत्त्वावबोध

(९)

उत्पत्तिमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि जीवको मोक्ष होनेतक एक देहमेंसे च्युत होकर वह दूसरी देहमें उत्पन्न होता है"।

व्ययमें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि 'वह जिस देहमेंसे आया वहाँसे व्यय प्राप्त हुआ, अथवा प्रतिक्षण इसकी आत्मिक ऋद्धि विषय आदि मरणसे रुकी हुई है, इस प्रकार व्यय घटा सकते हैं।

ध्रुवतामें "अस्ति" की जो योजना की है वह इस तरह यथार्थ हो सकती है कि "द्रव्यकी अपेक्षासे जीव किसी कालमें नाश नहीं होता, वह त्रिकाल सिद्ध है।"

अब इससे अर्थात् इन अपेक्षाओंको ध्यानमें रखनेसे मुझे आशा है कि दिये हुए दोष दूर हो जायेंगे।

१ जीव व्ययरूपसे नहीं है इसलिये ध्रौव्य सिद्ध हुआ-यह पहला दोष दूर हुआ।

२ उत्पत्ति, व्यय और ध्रुवता ये भिन्न भिन्न न्यायसे सिद्ध हैं; अर्थात् जीवका सत्यत्व सिद्ध हुआ-यह दूसरे दोषका परिहार हुआ।

३ जीवकी सत्य स्वरूपसे ध्रुवता सिद्ध हुई इससे व्यय नष्ट हुआ—यह तीसरे दोषका परिहार हुआ।

४ द्रव्यभावसे जीवकी उत्पत्ति असिद्ध हुई—यह चौथा दोष दूर हुआ।

५ जीव अनादि सिद्ध हुआ इसलिये उत्पत्तिसंबंधी पाँचवाँ दोष दूर हुआ।

६ उत्पत्ति असिद्ध हुई इसलिये कर्त्तासंबंधी छट्ठे दोषका परिहार हुआ।

७ ध्रुवताके साथ व्यय लेनेसे बाधा नहीं आती, इसलिये चार्वाक-मिश्र-वचन नामक सातवें दोषका निराकरण हुआ।

८ उत्पत्ति और व्यय पृथक् पृथक् देहमें सिद्ध हुए इससे केवल चार्वाक सिद्धांत नामके आठवें दोषका परिहार हुआ।

१४ शंकाका परस्पर विरोधाभास निकल जानेसे चौदह तर्कके सब दोष दूर हुए।

१५ अनादि अनंतता सिद्ध होनेपर स्याद्वादका वचन सिद्ध हुआ यह पन्द्रहवें दोषका निराकरण हुआ।

१६ कर्त्ताके न सिद्ध होनेपर जिन-वचनकी सत्यता सिद्ध हुई इससे सोलहवें दोषका निराकरण हुआ।

१७ धर्माधर्म, देह आदिके पुनरावर्तन सिद्ध होनेसे सत्रहवें दोषका परिहार हुआ।

१८ ये सब बातें सिद्ध होनेपर त्रिगुणात्मक मायाके असिद्ध होनेसे अठारहवाँ दोष दूर हुआ।

९१ तत्त्वावबोध

(१०)

मुझे आशा है कि आपके द्वारा विचारकी हुई योजनाका इससे समाधान हुआ होगा। यह कुछ यथार्थ शैली नहीं घटाई, तो भी इसमें कुछ न कुछ विनोद अवश्य मिल सकता है। इसके ऊपर विशेष विवेचन करनेके लिए बहुत समयकी आवश्यकता है इसलिये अधिक नहीं कहता। परन्तु एक दो संक्षिप्त बात आपसे कहनी हैं, तो यदि यह समाधान ठीक ठीक हुआ हो तो उनको कहूँ। बादमें उनकी ओरसे संतोषजनक उत्तर मिला, और उन्होंने कहा कि एक दो बात जो आपको कहनी हों उन्हें सहर्ष कहो।

बादमें मैंने अपनी बातको संजीवित करके लब्धिके संबंधकी बात कही। यदि आप इस लब्धिके संबंधमें शंका करें अथवा इसे क्लेशरूप कहें तो इन वचनोंके प्रति अन्याय होता है। इसमें अत्यन्त उज्ज्वल आत्मिकशक्ति, गुरुगम्यता, और वैराग्यकी आवश्यकता है। जबतक यह नहीं तबतक लब्धिके विषयमें शंका रहना निश्चित है। परन्तु मुझे आशा है कि इस समय इस संबंधमें दो शब्द कहने निरर्थक नहीं होंगे। वे ये हैं कि जैसे इस योजनाको नास्ति अस्तिपर घटाकर देखी वैसे ही इसमें भी बहुत सूक्ष्म विचार करनेके हैं। देहमें देहकी पृथक् पृथक् उत्पत्ति, च्यवन, विश्राम, गर्भाधान, पर्याप्ति, इन्द्रिय, सत्ता, ज्ञान, संज्ञा, आयुष्य, विषय इत्यादि अनेक कर्मप्रकृतियोंको प्रत्येक भेदसे लेनेपर जो विचार इस लब्धिसे निकलते हैं वे अपूर्व हैं। जहाँतक जिसका ध्यान पहुँचता है वहाँतक सब विचार करते हैं, परन्तु द्रव्यार्थिक भावार्थिक नयसे समस्त सृष्टिका ज्ञान इन तीन शब्दोंमें आ जाता है, उसका विचार कोई ही करते हैं; यह जब सद्गुरुके मुखकी पवित्र लब्धिरूपसे प्राप्त हो सकता है तो फिर इससे द्वादशांगी ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? जगत्के कहते ही मनुष्यको एक घर, एक वास, एक गाँव, एक शहर, एक देश, एक खंड, एक पृथिवी यह सब छोड़कर असंख्यात द्वीप समुद्रादिसे भरपूर वस्तुओंका ज्ञान कैसे हो जाता है? इसका कारण केवल इतना ही है कि वह इस शब्दकी व्यापकताको समझे हुआ है, अथवा इसका लक्ष इसकी अमुक व्यापकतातक पहुँचा हुआ है, जिससे जगत् शब्दके कहते ही वह इतने बड़े मर्मको समझ जाता है। इसी तरह ऋजु और सरल सत्पात्र शिष्य निर्ग्रन्थ गुरुसे इन तीन शब्दोंकी गम्यता प्राप्तकर द्वादशांगी ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार वह लब्धि अल्पज्ञता होनेपर भी विवेकसे देखनेपर क्लेशरूप नहीं है।

९२ तत्त्वावबोध

(११)

यही नवतत्त्वके संबंधमें है। जिस मध्यवयके क्षत्रिय-पुत्रने जगत् अनादि है ऐसे बेधड़क कहकर कर्त्ताको उड़ाया होगा उस पुरुषने क्या इसे कुछ सर्वज्ञताके गुप्त भेदके बिना किया होगा? तथा इनकी निर्दोषताके विषयमें जब आप पढ़ेंगे तो निश्चयसे ऐसा विचार करेंगे कि ये परमेश्वर थे। कर्त्ता न था और जगत् अनादि था तो ऐसा उसने कहा। इनके निष्पक्ष और केवल तत्त्वमय विचारोंपर आपको अवश्य मनन करना योग्य है। जैनदर्शनके अवर्णवादी जैन दर्शनको नहीं जानते इससे वे इसके साथ अन्याय करते हैं, वे ममत्वसे अधोगतिको प्राप्त होंगे।

इसके बाद बहुतसी बातचीत हुई। प्रसंग पाकर इस तत्त्वपर विचार करनेका वचन लेकर मैं सहर्ष वहाँसे उठा।

तत्त्वावबोधके संबंधमें यह कथन कहा। अनन्त भेदोंसे भरे हुए ये तत्त्वविचार कालभेदसे जितने जाने जायें उतने जानने चाहिये; जितने ग्रहण किये जा सकें उतने ग्रहण करने चाहिये; और जितने त्याग दिखाई दें उतने त्यागने चाहिये।

इन तत्त्वोंको जो यथार्थ जानता है, वह अनन्त चतुष्टयसे विराजमान होता है, इसे सत्य समझना। इस नवतत्त्वके क्रमवार नाम रखनेमें जीवकी मोक्षसे निकटताका आधा अभिप्राय सूचित होता है।

९३ तत्त्वावबोध

(१२)

यह तो तुम्हारे ध्यानमें है कि जीव, अजीव इस क्रमसे अन्तमें मोक्षका नाम आता है। अब इसे एकके बाद एक रखते जायें तो जीव और मोक्ष क्रमसे आदि और अंतमें आवेंगे—

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष।

मैंने पहिले कहा था कि इन नामोंके रखनेमें जीव और मोक्षकी निकटता है, परन्तु यह निकटता तो न हुई, किन्तु जीव और अजीवकी निकटता हुई। वस्तुतः ऐसा नहीं है। अज्ञानसे ही तो इन दोनोंकी निकटता है; परन्तु ज्ञानसे जीव और मोक्षकी निकटता है, जैसे:—
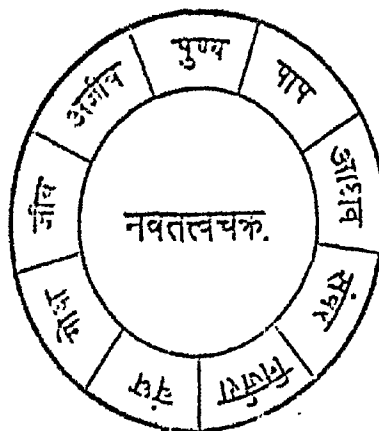
अब देखो, इन दोनोंमें कुछ निकटता है ? हाँ; निर्दिष्ट निकटता आ गई है। परन्तु यह निकटता तो द्रव्यरूपसे है। जब भावसे निकटता आवे तभी इष्टसिद्धि होगी। द्रव्य-निकटताका साधन सत्परमात्मतत्त्व, सद्गुरुतत्त्व, और सद्धर्मतत्त्वको पहचानकर श्रद्धान करना है। भाव-निकटता अर्थात् केवल एक ही रूप होनेके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन रूप हैं।

इस चक्रसे यह भी आशंका हो सकती है कि यदि दोनों निकट है तो क्या बाकी रहे हुओंको छोड़ दें ? उत्तरमें मैं कहता हूँ कि यदि सम्पूर्णरूपसे त्याग कर सकते हो तो त्याग दो, इससे मोक्षरूप ही हो जाओगे। नहीं तो हेय, ज्ञेय और उपादेयका उपदेश ग्रहण करो, इससे आत्म-सिद्धि प्राप्त होगी।

९४ तत्त्वावबोध

(१३)

जो कुछ मैं कह गया हूँ वह कुछ केवल जैनकुलमें जन्म पानेवालोंके लिये ही नहीं, किन्तु सबके लिये है। इसी तरह यह भी निःसंदेह मानना कि मैं जो कहता हूँ वह निष्पक्षपात और परमार्थ बुद्धिसे कहता हूँ।

मुझे तुमसे जो धर्मतत्त्व कहना है वह पक्षपात अथवा स्वार्थबुद्धिसे कहनेका मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। पक्षपात अथवा स्वार्थसे मैं तुम्हें अधर्मतत्त्वका उपदेश देकर अधोगतिकी सिद्धि क्यों करूँ ? बारम्बार तुम्हें मैं निर्ग्रन्थके वचनामृतके लिये कहता हूँ, उसका कारण यही है कि वे वचनामृत तत्त्वमें परिपूर्ण हैं। जिनेश्वरोंके ऐसा कोई भी कारण न था कि जिसके निमित्तसे वे मृषा अथवा पक्षपातयुक्त उपदेश देते, तथा वे अज्ञानी भी न थे कि जिससे उनसे मृषा उपदेश दिया जाता। यहाँ तुम शंका करोगे कि ये अज्ञानी नहीं थे यह किस प्रमाणसे मालूम हो सकता है ? तो इसके उत्तरमें मैं इनके पवित्र सिद्धांतोंके रहस्यको मनन करनेको कहता हूँ। और ऐसा जो करेगा वह पुनः लेश भी आशंका नहीं करेगा। जैनमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई राग बुद्धि नहीं है, कि जिससे पक्षपातवश मैं तुम्हें कुछ भी कह दूँ, इसी तरह अन्यमतके प्रवर्तकोंके प्रति मुझे कोई वैर बुद्धि नहीं कि मिथ्या ही इनका खंडन करूँ। दोनोंमें मैं तो मंदमति मध्यस्थरूप हूँ। बहुत बहुत मननसे और मेरी बुद्धि जहाँतक पहुँची वहाँतक विचार करनेसे मैं विनयपूर्वक कहता हूँ कि हे प्रिय भव्यो ! जैन दर्शनके समान एक भी पूर्ण और पवित्र दर्शन नहीं; वीतरागके समान एक भी देव नहीं; तैरकरके अनंत दुःखसे पार पाना हो तो इस सर्वज्ञ दर्शनरूप कल्पवृक्षका सेवन करो।

९५ तत्त्वावबोध

(१४)

जैन दर्शन इतनी अधिक सूक्ष्म विचार संकलनाओंसे भरा हुआ दर्शन है कि इसमें प्रवेश करनेमें भी बहुत समय चाहिये। ऊपर ऊपरसे अथवा किसी प्रतिपक्षीके कहनेसे अमुक वस्तुके संबंधमें अभिप्राय बना लेना अथवा अभिप्राय दे देना यह विवेकियोंका कर्तव्य नहीं। जैसे कोई तालाब लबालब भरा हो, उसका जल ऊपरसे समान मालूम होता है; परन्तु जैसे जैसे आगे बढ़ते जाते हैं वैसे वैसे अधिक अधिक गहरापन आता जाता है फिर भी ऊपर तो जल सपाट ही रहता है; इसी तरह जगत्के सब धर्ममत एक तालाबके समान हैं, उन्हें ऊपरसे सामान्य सपाट देखकर समान कह

देना उचित नहीं । ऐसे कहनेवालोंने तत्त्वको भी नहीं पाया । जैनदर्शनके एक एक पवित्र सिद्धांत ऐसे हैं कि उनपर विचार करनेमें आयु पूर्ण हो जाय तो भी पार न मिले । अन्य सब धर्ममतोंके विचार जिनप्रणीत वचनामृत-सिंधुके आगे एक बिंदुके समान भी नहीं । जिसने जैनमतको जाना और सेवन किया, वह केवल वीतरागी और सर्वज्ञ हो जाता है । इसके प्रवर्तक कैसे पवित्र पुरुष थे। इसके सिद्धांत कैसे अखंड, सम्पूर्ण और दयामय हैं ! इसमें दूषण तो कोई है ही नहीं ! सर्वथा निर्दोष तो केवल जैन दर्शन ही है ! ऐसा एक भी पारमार्थिक विषय नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो, और ऐसा एक भी तत्त्व नहीं कि जो जैनदर्शनमें न हो; एक विषयको अनंत भेदोंसे परिपूर्ण कहनेवाला जैनदर्शन ही है । इसके समान प्रयोजनभूत तत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। जैसे एक देहमें दो आत्माएँ नहीं होतीं उसी तरह समस्त सृष्टिमें दो जैन अर्थात् जैनके तुल्य दूसरा कोई दर्शन नहीं । ऐसा कहनेका कारण क्या ? केवल उसकी परिपूर्णता, वीतरागिता, सत्यता और जगद्हितैपिता ।

९६ तत्त्वावबोध

(१५)

न्यायपूर्वक इतना तो मुझे भी मानना चाहिये कि जब एक दर्शनको परिपूर्ण कहकर बात सिद्ध करनी हो तब प्रतिपक्षकी मध्यस्थबुद्धिसे अपूर्णता दिखलानी चाहिये । परन्तु इन दोनों बातोंपर विवेचन करनेकी यहाँ जगह नहीं; तो भी थोड़ा थोड़ा कहता आया हूँ । मुख्यरूपसे यही कहना है कि यह बात जिसे रुचिकर माल्म न होती हो अथवा असंभव लगती हो, उसे जैनतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको और अन्यतत्त्व-विज्ञानी शास्त्रोंको मध्यस्थबुद्धिसे मननकर न्यायके काँटेपर तोलना चाहिये। इसके ऊपरसे अवश्य इतना महा वाक्य निकलेगा कि जो पहले डँकेकी चोट कहा गया था वही सच्चा है ।

जगत् भेड़ियाधसान है । धर्मके मतभेदसंबंधी शिक्षापाठमें जैसा कहा जा चुका है कि अनेक धर्ममतोंके जाल फैल गये हैं । विशुद्ध आत्मा तो कोई ही होती है । विवेकसे तत्त्वकी खोज कोई ही करता है । इसलिये जैनतत्त्वोंको अन्य दार्शनिक लोग क्यों नहीं जानते, यह बात खेद अथवा आशंका करने योग्य नहीं ।

फिर भी मुझे बहुत आश्चर्य लगता है कि केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वको पाये हुए, सकलदूषणरहित, मृषा कहनेका जिनके कोई निमित्त नहीं ऐसे पुरुषके कहे हुए पवित्र दर्शनको स्वयं तो जाना नहीं, अपनी आत्माका हित तो किया नहीं, परन्तु अविवेकसे मतभेदमें पड़कर सर्वथा निर्दोष और पवित्र दर्शनको नास्तिक क्यों कहा ? परन्तु ऐसा कहनेवाले जैनदर्शनके तत्त्वको नहीं जानते थे । तथा इसके तत्त्वको जाननेसे अपनी श्रद्धा डिग जावेगी, तो फिर लोग अपने पहले कहे हुए मतको नहीं मानेंगे; जिस लौकिक मतके आधारपर अपनी आजीविका टिकी हुई है, ऐसे वेद आदिकी महत्ता घटानेसे अपनी ही महत्ता घट जायगी; अपना मिथ्या स्थापित किया हुआ परमेश्वरपद नहीं चलेगा । इसलिये जैनतत्त्वमें प्रवेश करनेकी रुचिको मूलसे ही बंद करनेके लिये इन्होंने लोगोंको ऐसी धोका-पट्टी दी है कि जैनदर्शन तो नास्तिक दर्शन है । लोग तो विचारे डरपोक भेड़के समान हैं; इसलिये वे विचार भी कहाँसे करें ? यह कहना कितना मृषा और अनर्थकारक है, इस बातको वे

संभव है, यह मार्ग संप्रदायकी रीतिद्वारा बहुतसे जीवोंको मिल भी जाय, किन्तु दर्शनकी रीतिसे तो वह विरले ही जीवोंको प्राप्त होता है।

यदि जिनभगवान्‌का अभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाय तो उसका संप्रदाय-भेदकी कोटिसे निरूपण होना बिलकुल असंभव है, क्योंकि उस मार्गकी रचनाको सांप्रदायिक स्वरूपमें लाना अत्यन्त कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी जीवका उपकारी होने जितना विरोध आता है।

(२) जो कोई महान् पुरुष हुए हैं वे पहिलेसे ही स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, भावी महान् कार्यके बीजको पहिलेसे ही अव्यक्तरूपमें वपन किये रखते थे—अथवा स्वाचरणको अविरोध जैसा रखते थे।

मुझमें वह दशा विशेष विरोधमें पड़ी हुई जैसी मालूम होती है। वह विरोध क्यों मालूम होता है, उसके कारणोंको भी यहाँ लिख देता हूँ:—

१. संसारीकी रीतिके समान विशेष व्यवहार रहनेसे।

२. ब्रह्मचर्यका धारण।

(३)

वीतराग दर्शन

(१) उद्देश प्रकरण.
सर्वज्ञ-मीमांसा.
षट्दर्शन अवलोकन.
वीतराग अभिप्राय विचार.
व्यवहार प्रकरण.
मुनिधर्म.
आगारधर्म.
मतमतांतर निराकरण.
उपसंहार.
(२) नवतत्त्वविवेचन.
गुणस्थानविवेचन.
कर्मप्रकृतिविवेचन.
विचारपद्धति.
श्रवणादिविवेचन.
बोधबीजसंपत्ति.
जीवाजीवविभक्ति.
शुद्धात्मपदभावना.

(३) अंग. उपांग. मूल. छेद.
आशय प्रकाशिता टीका.
व्यवहारहेतु.
परमार्थहेतु.
परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि.
व्यवहार विस्तारका पर्यवसान.
अनेकांतदृष्टि हेतु.
स्वगत मतांतर निवृत्तिप्रयत्न.
उपक्रम. उपसंहार. अविसंधि. लोकवर्णन
स्थूलत्व हेतु.
वर्तमानकालमें आत्मसाधन भूमिका.
वीतरागदर्शन व्याख्याका अनुक्रम.

ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं होती परन्तु आप इस बातका उत्तर दें कि जैनदर्शन वेदसे किस वस्तुमें उतरता हुआ है; इसका ज्ञान, इसका उपदेश, इसका रहस्य, और इसका सत्शील कैसा है उसे एक बार कहें तो सही। आपके वेदके विचार किस बाबतमें जैनदर्शनसे बढ़कर हैं? इस तरह जब वे मर्मस्थानपर आते हैं तो मौनके सिवाय उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं रहता। जिन सत्पुरुषोंके वचनामृत और योगके बलसे इस सृष्टिमें सत्य, दया, तत्त्वज्ञान और महाशील उदय होते हैं, उन पुरुषोंकी अपेक्षा जो पुरुष शृंगारमें रचे पचे पड़े हुए हैं, जो सामान्य तत्त्वज्ञानको भी नहीं जानते, और जिनका आचार भी पूर्ण नहीं, उन्हें बढ़कर कहना, परमेश्वरके नामसे स्थापित करना, और सत्यस्वरूपकी निंदा करनी, परमात्मस्वरूपको पाये हुओंको नास्तिक कहना,—ये सब बातें इनके कितने अधिक कर्मकी बहुलताको सूचित करती हैं? परन्तु जगत् मोहसे अंध है; जहाँ मतभेद है वहाँ अँधेरा है; जहाँ ममत्व अथवा राग है वहाँ सत्य तत्त्व नहीं। ये बातें हमें क्यों न विचारनी चाहिये?

मैं तुम्हें निर्ममत्व और न्यायकी एक मुख्य बात कहता हूँ। वह यह है कि तुम चाहे किसी भी दर्शनको मानो; फिर जो कुछ भी तुम्हारी दृष्टिमें आवे वैसा जैनदर्शनको कहो। सब दर्शनोंके शास्त्र-तत्त्वोंको देखो, तथा जैनतत्त्वोंको भी देखो। स्वतंत्र आत्म-शक्तिसे जो योग्य मालूम हो उसे अंगीकार करो। मेरे कहनेको अथवा अन्य किसी दूसरेके कहनेको भले ही एकदम तुम न मानो परन्तु तत्त्वको विचारो।

९९ समाजकी आवश्यकता

आंग्लदेशवासियोंने संसारके अनेक कलाकौशलोंमें किस कारणसे विजय प्राप्त की है? यह विचार करनेसे हमें तत्काल ही मालूम होगा कि उनका बहुत उत्साह और इस उत्साहमें अनेकोंका मिल जाना ही उनकी सफलताका कारण है। कलाकौशलके इस उत्साही काममें इन अनेक पुरुषोंके द्वारा स्थापित सभा अथवा समाजको क्या परिणाम मिला? तो उत्तरमें यही कहा जायगा कि लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार। इनके इस उदाहरणके ऊपरसे इस जातिके कलाकौशलकी खोज करनेका मैं यहाँ उपदेश नहीं देता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्का कहा हुआ गुप्त तत्त्व प्रमाद-स्थितिमें आ पड़ा है, उसे प्रकाशित करनेके लिये तथा पूर्वाचार्योंके गूँथे हुए महान् शास्त्रोंको एकत्र करनेके लिये, पड़े हुए गच्छोंके मतमतांतरको हटानेके लिये तथा धर्म-विद्याको प्रफुल्लित करनेके लिये सदाचरणी श्रीमान् और धीमान् दोनोंको मिलकर एक महान् समाजकी स्थापना करनेकी आवश्यकता है, यह कहना चाहता हूँ। पवित्र स्याद्वादमतके ढँके हुए तत्त्वोंको प्रसिद्धिमें लानेका जबतक प्रयत्न नहीं होता, तबतक शासनकी उन्नति भी नहीं होगी। संसारी कलाकौशलसे लक्ष्मी, कीर्ति और अधिकार मिलते हैं, परन्तु इस धर्म-कलाकौशलसे तो सर्व सिद्धि प्राप्त होगी। महान् समाजके अंतर्गत उपसमाजोंको स्थापित करना चाहिये। सम्प्रदायके बाड़ेमें बैठे रहनेकी अपेक्षा मतमतांतर छोड़कर ऐसा करना उचित है। मैं चाहता हूँ कि इस उद्देश्यकी सिद्धि होकर जैनोंके अंतर्गच्छ मतभेद दूर हों; सत्य वस्तुके ऊपर मनुष्य-समाजका लक्ष आवे; और ममत्व दूर हो।

१०० मनोनिग्रहके विघ्न

बारम्बार जो उपदेश किया गया है, उसमेंसे मुख्य तात्पर्य यही निकलता है कि आत्माका

उद्धार करो और उद्धार करनेके लिये तत्त्वज्ञानका प्रकाश करो; तथा सत्शीलका सेवन करो। इसे प्राप्त करनेके लिये जो जो मार्ग बताये गये हैं वे सब मनोनिग्रहताके आधीन हैं। मनोनिग्रहता होनेके लिये लक्षकी बहुलता करना जरूरी है। बहुलता करनेमें निम्नलिखित दोष विघ्नरूप होते हैं:—

१ आलस्य.
२ अनियमित निद्रा.
३ विशेष आहार.
४ उन्माद प्रकृति.
५ मायाप्रपंच.
६ अनियमित काम.
७ अकरणीय विलास.
८ मान.
९ मर्यादासे अधिक काम.
१० अपनी बड़ाई.
११ तुच्छ वस्तुसे आनन्द
१२ रसगारवलुब्धता.
१३ अतिभोग.
१४ दूसरेका अनिष्ट चाहना.
१५ कारण बिना संचय करना.
१६ बहुतोंका स्नेह.
१७ अयोग्य स्थलमें जाना.
१८ एक भी उत्तम नियमका नहीं पालना.

जबतक इन अठारह विघ्नोंसे मनका संबंध है तबतक अठारह पापके स्थान क्षय नहीं होंगे। इन अठारह दोषोंके नष्ट होनेसे मनोनिग्रहता और अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। जबतक इन दोषोंकी मनसे निकटता है तबतक कोई भी मनुष्य आत्म-सिद्धि नहीं कर सकता। अति भोगके बदलेमें केवल सामान्य भोग ही नहीं, परन्तु जिसने सर्वथा भोग-त्याग व्रतको धारण किया है, तथा जिसके हृदयमें इनमेंसे किसी भी दोषका मूल न हो वह सत्पुरुष महान् भाग्यशाली है।

१०१ स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१ नियम एक तरहसे इस जगत्का प्रवर्तक है।

२ जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रके रहस्यको पाता है वह परमेश्वर हो जाता है।

३ चंचल चित्त सब विषम दुःखोंका मूल है।

४ बहुतोंका मिलाप और थोड़ोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।

५ समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकांत कहते हैं।

६ इन्द्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख, आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

७ राग विना संसार नहीं और संसार विना राग नहीं।

८ युवावस्थाका सर्व संगका परित्याग परमपदको देता है।

९ उस वस्तुके विचारमें पहुँचो कि जो वस्तु अतीन्द्रियस्वरूप है।

१० गुणियोंके गुणोंमें अनुरक्त होओ।

१०२ विविध प्रश्न

(१)

आज तुम्हें मैं बहुतसे प्रश्नोंको निर्ग्रन्थ प्रवचनके अनुसार उत्तर देनेके लिये पूँछता हूँ।

प्र.—कहिये धर्मकी क्यों आवश्यकता है?

उ.—अनादि कालसे आत्माके कर्म-जाल दूर करनेके लिये।

प्र.—जीव पहला अथवा कर्म?

उ.—दोनों अनादि हैं। यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त चाहिये। यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके बिना कर्म किया किसने? इस न्यायसे दोनों अनादि हैं।

प्र.—जीव रूपी है अथवा अरूपी?

उ.—रूपी भी है और अरूपी भी है।

प्र.—रूपी किस न्यायसे और अरूपी किस न्यायसे, यह कहिये?

उ.—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपसे अरूपी है।

प्र.—देह निमित्त किस कारणसे है?

उ.—अपने कर्मोंके विपाकसे।

प्र.—कर्मोंकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं?

उ.—आठ।

प्र.—कौन कौन?

उ.—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय।

प्र.—इन आठों कर्मोंका सामान्यस्वरूप कहो।

उ.—आत्माकी ज्ञानसंबंधी अनंत शक्तिके आच्छादन हो जानेको ज्ञानावरणीय कहते हैं। आत्माकी अनंत दर्शन शक्तिके आच्छादन हो जानेको दर्शनावरणीय कहते हैं। देहके निमित्तसे साता, असाता दो प्रकारके वेदनीय कर्मोंसे अव्याबाध सुखरूप आत्माकी शक्तिके रुके रहनेको वेदनीय कहते हैं। आत्मचारित्ररूप शक्तिके रुके रहनेको मोहनीय कहते हैं। अक्षय स्थिति गुणके रुके रहनेको आयुकर्म कहते हैं। अमूर्तिरूप दिव्यशक्तिके रुके रहनेको नामकर्म कहते हैं। अटल अवगाहनारूप आत्मिक शक्तिके रुके रहनेको गोत्रकर्म कहते हैं। अनंत दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग शक्तिके रुके रहनेको अंतराय कहते हैं।

१०३ विविध प्रश्न

(२)

प्र.—इन कर्मोंके क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाती है?

उ.—अनंत और शाश्वत मोक्षमें।

प्र.—क्या इस आत्माकी कभी मोक्ष हुई है?

उ.—नहीं।

प्र.—क्यों?

उ.—मोक्ष-प्राप्त आत्मा कर्म-मलसे रहित है, इसलिये इसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्र.—केवलीके क्या लक्षण हैं?

उ.—चार घनघाती कर्मोंका क्षय करके और शेष चार कर्मोंको कृश करके जो पुरुष त्रयोदश गुणस्थानवर्ती होकर विहार करते हैं, वे केवली हैं।

प्र.—गुणस्थानक कितने हैं ?

उ.—चौदह ।

प्र.—उनके नाम कहिये ।

उ.—१ मिथ्यात्वगुणस्थानक । २ सास्वादन (सासादन) गुणस्थानक । ३ मिश्रगुणस्थानक । ४ अवरतिसम्यग्दृष्टिगुणस्थानक । ५ देशविरतिगुणस्थानक । ६ प्रमत्तसंयतगुणस्थानक । ७ अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानक । ८ अपूर्वकरणगुणस्थानक । ९ अनिवृत्तिबादरगुणस्थानक । १० सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानक । ११ उपशांतमोहगुणस्थानक । १२ क्षीणमोहगुणस्थानक । १३ सयोगकेवलीगुणस्थानक । १४ अयोग-केवलीगुणस्थानक ।

१०४ विविध प्रश्न

(३)

प्र.—केवली तथा तीर्थंकर इन दोनोंमें क्या अंतर है ?

उ.—केवली तथा तीर्थंकर शक्तिमें समान हैं, परन्तु तीर्थंकरने पहिले तीर्थंकर नामकर्मका बंध किया है, इसलिये वे विशेषरूपसे बारह गुण और अनेक अतिशयोंको प्राप्त करते हैं ।

प्र.—तीर्थंकर घूम-घूम कर उपदेश क्यों देते हैं ? वे तो वीतरागी हैं ।

उ.—पूर्वमें बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मके वेदन करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है ।

प्र.—आजकल प्रचलित शासन किसका है ?

उ.—श्रमण भगवान् महावीरका ।

प्र.—क्या महावीरसे पहले जैनदर्शन था ?

उ.—हाँ, था ।

प्र.—उसे किसने उत्पन्न किया था ?

उ.—उनके पहलेके तीर्थंकरोंने ।

प्र.—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

उ.—तत्त्वदृष्टिसे एक ही हैं । भिन्न भिन्न पात्रको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ कालभेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य माळूम होती है, परन्तु न्यायसे देखनेपर उसमें कोई भिन्नता नहीं है ।

प्र.—इनका मुख्य उपदेश क्या है ?

उ.—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्माकी अनंत शक्तियोंका प्रकाश करो और इसे कर्मरूप अनंत दुःखसे मुक्त करो ।

प्र.—इसके लिये उन्होंने कौनसे साधन बताये हैं ?

उ.—व्यवहार नयसे सद्देव, सद्धर्म और सद्गुरुका स्वरूप जानना; सद्देवका गुणगान करना; तीन प्रकारके धर्मका आचरण करना; और निर्ग्रन्थ गुरुसे धर्मका स्वरूप समझना ।

प्र.—तीन प्रकारका धर्म कौनसा है ?

उ.—सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यग्दर्शनरूप और सम्यक्चारित्ररूप ।

१०५ विविध प्रश्न

(४)

प्र.—ऐसा जैनदर्शन यदि सर्वोत्तम है तो सब जीव इसके उपदेशको क्यों नहीं मानते ?

उ.—कर्मकी बाहुल्यतासे, मिथ्यात्वके जमे हुए मलसे और सत्समागमके अभावसे ।

प्र.—जैनदर्शनके मुनियोंका मुख्य आचार क्या है ?

उ.—पाँच महाव्रत, दश प्रकारका यतिधर्म, सत्रह प्रकारका संयम, दस प्रकारका वैयावृत्य, नव प्रकारका ब्रह्मचर्य, बारह प्रकारका तप, क्रोध आदि चार प्रकारकी कषायोंका निग्रह; इनके सिवाय ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रका आराधन इत्यादि अनेक भेद हैं ।

प्र.—जैन मुनियोंके समान ही सन्यासियोंके पाँच याम हैं; बौद्धधर्मके पाँच महाशील हैं, इसलिये इस आचारमें तो जैनमुनि, सन्यासी तथा बौद्धमुनि एकसे हैं न ?

उ.— नहीं ।

प्र.—क्यों नहीं ?

उ.—इनके पंचयाम और पंच महाशील अपूर्ण हैं । जैनदर्शनमें महाव्रतके भेद प्रतिभेद अति सूक्ष्म हैं । पहले दोनोंके स्थूल हैं ।

प्र.—इसकी सूक्ष्मता दिखानेके लिये कोई दृष्टांत दीजिये ।

उ.—दृष्टांत स्पष्ट है । पंचयामी कंदमूल आदि अभक्ष्य खाते हैं; सुखशय्यामें सोते हैं; विविध प्रकारके वाहन और पुष्पोंका उपभोग करते हैं; केवल शीतल जलसे अपना व्यवहार चलाते हैं; रात्रिमें भोजन करते हैं । इसमें होनेवाला असंख्यातों जीवोंका नाश, ब्रह्मचर्यका भंग इत्यादिकी सूक्ष्मताको वे नहीं जानते । तथा बौद्धमुनि माँस आदि अभक्ष्य और सुखशील साधनोंसे युक्त हैं । जैन मुनि तो इनसे सर्वथा विरक्त हैं ।

१०६ विविध प्रश्न

(५)

प्र.—वेद और जैनदर्शनकी प्रतिपक्षता क्या वास्तविक है ?

उ.—जैनदर्शनकी इससे किसी विरोधी भावसे प्रतिपक्षता नहीं, परन्तु जैसे सत्यका असत्य प्रतिपक्षी गिना जाता है, उसी तरह जैनदर्शनके साथ वेदका संबंध है ।

प्र.—इन दोनोंमें आप किसे सत्य कहते हैं ?

उ.—पवित्र जैनदर्शनको ।

प्र.—वेद दर्शनवाले वेदको सत्य बताते हैं, उसके विषयमें आपका क्या कहना है ?

उ.—यह तो मतभेद और जैनदर्शनके तिरस्कार करनेके लिये है, परन्तु आप न्यायपूर्वक दोनोंके मूलतत्त्वोंको देखें ।

प्र.—इतना तो मुझे भी लगता है कि महावीर आदि जिनेश्वरका कथन न्यायके काँटेपर है; परन्तु वे जगत्के कर्त्ताका निषेध करते हैं, और जगत्को अनादि अनंत कहते हैं, इस विषयमें कुछ कुछ शंका होती है कि यह असंख्यात द्वीपसमुद्रसे युक्त जगत् विना बनाये कहाँसे आ गया ?

करना; उनके मन, वचन और कायकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका फिर फिरसे निदिध्यासन करना; और उनके द्वारा मान्य हुएको सर्वथा मान्य करना।

---

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, बुध. १९४७

निरंतर एक ही श्रेणी रहती है। पूर्ण हरि-कृपा है।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई तुम्हारी धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका संग रक्खो।

---

१५१ बम्बई, कार्तिक वदी ३ शनि. १९४७

यह दृढ़ विश्वासपूर्वक मानना कि यदि इसको उदयकालमें व्यवहारका बंधन न होता तो यह तुम्हें और दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता। जो कुछ प्रवृत्ति होती है, उसके कारणसे उसने कुछ विषमता नहीं मानी, परंतु यदि उसे निवृत्ति होती तो वह दूसरी आत्माओंके लिये मार्ग मिलनेका कारण हो जाता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है; इस भवमें मोक्ष जानेवाले मनुष्योंका संभव होना भी कम है; इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके लिये कुछ खेद नहीं।

---

१५२ बम्बई, कार्तिक वदी ५ सोम. १९४७

संतकी शरणमें जा

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं।

इन दो विषयोंका शास्त्र इत्यादिसे उनको उपदेश करते रहना। सत्संगकी वृद्धि करना।

---

१५३ बम्बई, नालुदा मोहल्ला, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको शीघ्रतासे प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर अलख 'लय' में लीन हो जानेकी इच्छा रहती है। यह आत्मा अलख 'लय' में पूरी पूरी समाविष्ट हो गई है। योगके द्वारा समावेश करना यही एक रटन लगी हुई है। परमार्थके मार्गको यदि बहुतसे मुमुक्षु पायें, अलख-समाधि पायें, तो बहुत अच्छा हो, और इसीके लिये कुछ मनन भी है। दीनबंधुकी जैसी इच्छा होगी वैसा हो रहेगा।

निरंतर ही अद्भुत दशा रहा करती है। हम अवधूत हुए हैं; और अवधूत करनेकी बहुतसे जीवोंके प्रति दृष्टि है।

महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दुःषम कहा, व्यासने कलियुग कहा, इस प्रकार

५

ॐ

भावनाबोध

उपोद्घात

सच्चा सुख किसमें है? चाहे जैसे तुच्छ विषयमें प्रवेश होनेपर भी उज्ज्वल आत्माओंकी स्वाभाविक अभिरुचि वैराग्यमें लग जानेकी ओर रहा करती है। बाह्य दृष्टिसे जबतक उज्ज्वल आत्मायें संसारके मायामय प्रपंचमें लगी हुई दिखाई देतीं हैं तबतक इस कथनका सिद्ध होना शायद कठिन है, तो भी सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करनेपर इस कथनका प्रमाण बहुत आसानीसे मिल जाता है, इसमें संदेह नहीं।

सूक्ष्मसे सूक्ष्म जंतुसे लेकर मदोन्मत्त हाथी तकके सब प्राणियों, मनुष्यों, और देव-दानवों आदि सबकी स्वाभाविक इच्छा सुख और आनंद प्राप्त करनेकी है, इस कारण वे इसकी प्राप्तिके उद्योगमें लगे रहते हैं; परन्तु उन्हें विवेक-बुद्धिके उदयके बिना उसमें भ्रम होता है। वे संसारमें नाना प्रकारके सुखका आरोप कर लेते हैं। गहरा अवलोकन करनेसे यह सिद्ध होता है कि यह आरोप वृथा है। इस आरोपको उड़ा देनेवाले विरले मनुष्य अपने विवेकके प्रकाशके द्वारा अद्भुत इनके अतिरिक्त अन्य विषयोंको प्राप्त करनेके लिये कहते आये हैं। जो सुख भयसे युक्त है, वह सुख सुख नहीं परन्तु दुःख है। जिस वस्तुके प्राप्त करनेमें महाताप है, जिस वस्तुके भोगनेमें इससे भी विशेष संताप सन्निविष्ट है, तथा परिणाममें महाताप, अनंत शोक, और अनंत भय छिपे हुए हैं, उस वस्तुका सुख केवल नामका सुख है; अथवा बिलकुल है ही नहीं। इस कारण विवेकी लोग उसमें अनुराग नहीं करते। संसारके प्रत्येक सुखसे संपन्न राजेश्वर होनेपर भी सत्य तत्त्वज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होनेके कारण उसका त्याग करके योगमें परमानंद मानकर भर्तृहरि सत्य मनोवीरतासे अन्य पामर आत्माओंको उपदेश देते हैं कि:—

> भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
> माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे तरुण्या भयं।
> शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतांताद्भयं
> सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ॥ १ ॥

भावार्थः—भोगमें रोगका भय है, कुलीनतामें च्युत होनेका भय है, लक्ष्मीमें राजाका भय है, मानमें दीनताका भय है, बलमें शत्रुताका भय है, रूपमें स्त्रीका भय है, शास्त्रमें वादका भय है, गुणमें खलका भय है, और कायामें कालका भय है; इस प्रकार सब वस्तुयें भयसे युक्त हैं; केवल एक वैराग्य ही भयरहित है!!!

महायोगी भर्तृहरिका यह कथन सृष्टिमान्य अर्थात् समस्त उज्ज्वल आत्माओंको सदैव मान्य रखने योग्य है। इसमें समस्त तत्त्वज्ञानका दोहन करनेके लिये इन्होंने सकल तत्त्ववेत्ताओंके सिद्धांतका रहस्य और संसार-शोकके स्वानुभवका जैसेका तैसा चित्र खींच दिया है। इन्होंने जिन जिन वस्तुओंपर भयकी छाया दिखाई है वे सब वस्तुयें संसारमें मुख्यरूपसे सुखरूप मानी गई हैं। संसारकी सर्वोत्तम विभूति जो भोग हैं, वे तो रोगोंके धाम ठहरे; मनुष्य ऊँचे कुलोंसे सुख माननेवाला है, वहाँ च्युत होनेका भय दिखाया; संसार-चक्रमें व्यवहारका ठाठ चलानेमें जो दंडस्वरूप लक्ष्मी, वह राजा इत्यादिके भयसे भरपूर है; किसी भी कृत्यद्वारा यशकीर्तिसे मान प्राप्त करना अथवा मानना ऐसी संसारके पामर जीवोंकी अभिलाषा रहा करती है, इसमें महादीनता और कंगालपनेका भय है; बल पराक्रमसे भी इसी प्रकारकी उत्कृष्टता प्राप्त करनेकी चाह रहा करती है, उसमें शत्रुका भय रहा हुआ है; रूप-कांति भोगीको मोहिनीरूप है, उसमें रूप-कांति धारण करनेवाली स्त्रियाँ निरंतर भयरूप हैं; अनेक प्रकारकी गुत्थियोंसे भरपूर शास्त्र-जालमें विवादका भय रहता है; किसी भी सांसारिक सुखके गुणको प्राप्त करनेसे जो आनंद माना जाता है, वह खल मनुष्योंकी निंदाके कारण भयान्वित है; जो अनंत प्यारी लगती है ऐसी यह काया भी कभी न कभी कालरूपी सिंहके मुखमें पड़नेके भयसे पूर्ण है। इस प्रकार संसारके मनोहर किन्तु चपल सुख-साधन भयसे भरे हुए हैं। विवेकसे विचार करनेपर जहाँ भय है वहाँ केवल शोक ही है। जहाँ शोक है वहाँ सुखका अभाव है, और जहाँ सुखका अभाव है वहाँ तिरस्कार करना उचित ही है।

अकेले योगीन्द्र भर्तृहरि ही ऐसा कह गये हैं, यह बात नहीं। कालके अनुसार सृष्टिके निर्माणके समयसे लेकर भर्तृहरिसे उत्तम, भर्तृहरिके समान और भर्तृहरिसे कनिष्ठ कोटिके असंख्य तत्त्वज्ञानी हो गये हैं। ऐसा कोई काल अथवा आर्यदेश नहीं जिसमें तत्त्वज्ञानियोंकी बिलकुल भी उत्पत्ति न हुई हो। इन तत्त्ववेत्ताओंने संसार-सुखकी हरेक सामग्रीको शोकरूप बताई हैं। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पातंजलि, कपिल, और युवराज शुद्धोदनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें कुछ कुछ आ जाता है:—

" अहो प्राणियों! संसाररूपी समुद्र अनंत और अपार है। इसका पार पानेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो! उपयोग करो! "

इस प्रकारका उपदेश देनेमें इनका हेतु समस्त प्राणियोंको शोकसे मुक्त करनेका था। इन सब ज्ञानियोंकी अपेक्षा परम मान्य रखने योग्य सर्वज्ञ महावीरका उपदेश सर्वत्र यही है कि संसार एकांत और अनंत शोकरूप तथा दुःखप्रद है। अहो! भव्य लोगो! इसमें मधुर मोहिनीको प्राप्त न होकर इससे निवृत्त होओ! निवृत्त होओ!!

महावीरका एक समयके लिये भी संसारका उपदेश नहीं है। इन्होंने अपने समस्त उपदेशोंमें यही बताया है और यही अपने आचरणद्वारा सिद्ध भी कर दिखाया है। कंचन वर्णकी काया, यशोमती जैसी रानी, अतुल साम्राज्यलक्ष्मी और महाप्रतापी स्वजन परिवारका समूह होनेपर भी उनका

मोह त्यागकर और ज्ञानदर्शन-योगमें परायण होकर इन्होंने जो अद्भुतता दिखलायी है, वह अनुपम है। इसी रहस्यका प्रकाश करते हुए पवित्र उत्तराध्ययनसूत्रके आठवें अध्ययनकी पहली गाथामें तत्त्वाभिलाषी कपिल केवलीके मुखकमलसे महावीरने कहलवाया है कि:—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम हुज्ज कम्मं जेणाहं दुग्गई न गच्छिज्जा ॥ १ ॥

"अध्रुव और अशाश्वत संसारमें अनेक प्रकारके दुःख हैं। मैं ऐसी कौनसी करणी करूँ कि जिस करणीसे दुर्गतिमें न जाऊँ?" इस गाथामें इस भावसे प्रश्न होनेपर कपिल मुनि फिर आगे उपदेश देते हैं।

"अधुवे असासयंमि"—प्रवृत्तिमुक्त योगीश्वरके ये महान् तत्त्वज्ञानके प्रसादीभूत वचन सतत ही वैराग्यमें ले जानेवाले हैं। अति बुद्धिशालीको संसार भी उत्तम रूपसे मानता है फिर भी वे बुद्धिशाली संसारका त्याग कर देते हैं। यह तत्त्वज्ञानका प्रशंसनीय चमत्कार है। ये अत्यन्त मेधावी अंतमें पुरुषार्थकी स्फुरणाकर महायोगका साधनकर आत्माके तिमिर-पटको दूर करते हैं। संसारको शोकाब्धि कहनेमें तत्त्वज्ञानियोंकी भ्रमणा नहीं है, परन्तु ये सभी तत्त्वज्ञानी कहीं तत्त्वज्ञान-चंद्रकी सोलह कलाओंसे पूर्ण नहीं हुआ करते; इसी कारणसे सर्वज्ञ महावीरके वचनोंसे तत्त्वज्ञानके लिये जो प्रमाण मिलता है वह महान्, अतुल, सर्वमान्य और सर्वथा मंगलमय है। महावीरके समान ऋषभदेव आदि जो जो और सर्वज्ञ तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने भी निस्पृहतासे उपदेश देकर जगद्हितैषीकी पदवी प्राप्त की है।

संसारमें जो केवल और अनंत भरपूर ताप हैं, वे ताप तीन प्रकारके हैं—आधि, व्याधि और उपाधि। इनसे मुक्त होनेका उपदेश प्रत्येक तत्त्वज्ञानी करते आये हैं। संसार-त्याग, शम, दम, दया, शांति, क्षमा, धृति, अप्रभुत्व, गुरुजनका विनय, विवेक, निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सम्यक्त्व और ज्ञान इनका सेवन करना; क्रोध, लोभ, मान, माया, अनुराग, अप्रीति, विषय, हिंसा, शोक, अज्ञान, मिथ्यात्व इन सबका त्याग करना; यह सब दर्शनोंका सामान्य रीतिसे सार है। नीचेके दो चरणोंमें इस सारका समावेश हो जाता है:—

प्रभु भजो नीति सजो, परठो परोपकार

अरे! यह उपदेश स्तुतिके योग्य है। यह उपदेश देनेमें किसीने किसी प्रकारकी और किसीने किसी प्रकारकी विचक्षणता दिखाई है। ये सब स्थूल दृष्टिसे तो समतुल्य दिखाई देते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर उपदेशकके रूपमें सिद्धार्थ राजाके पुत्र श्रमण भगवान् पहिले नम्बर आते हैं। निवृत्तिके लिये जिन जिन विषयोंको पहले कहा है उन उन विषयोंका वास्तविक स्वरूप समझकर संपूर्ण मंगलमय उपदेश करनेमें ये राजपुत्र सबसे आगे बढ़ गये हैं। इसके लिये वे अनंत धन्यवादके पात्र हैं।

इन सब विषयोंका अनुकरण करनेका क्या प्रयोजन और क्या परिणाम है? अब इसका निर्णय करें। सब उपदेशक यह कहते आये हैं कि इसका परिणाम मुक्ति प्राप्त करना है और इसका प्रयोजन दुःखकी निवृत्ति है। इसी कारण सब दर्शनोंमें सामान्यरूपसे मुक्तिको अनुपम श्रेष्ठ कहा है। सूत्रकृतांग नामक द्वितीय अंगके प्रथम श्रुतस्कंधके छट्ठे अध्ययनकी चौबीसवीं गाथाके तीसरे चरणमें कहा गया है कि:—

निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा

सब धर्मोंमें मुक्तिको श्रेष्ठ कहा है.

सारांश यह है कि मुक्ति उसे कहते हैं कि संसार-शोकसे मुक्त होना, और परिणाममें ज्ञान दर्शन आदि अनुपम वस्तुओंको प्राप्त करना। जिसमें परम सुख और परमानंदका अखंड निवास है, जन्म-मरणकी विडम्बनाका अभाव है, शोक और दुःखका क्षय है; ऐसे इस विज्ञानयुक्त विषयका विवेचन किसी अन्य प्रसंगपर करेंगे।

यह भी निर्विवाद मानना चाहिये कि उस अनंत शोक और अनंत दुःखकी निवृत्ति इन्हीं सांसारिक विषयोंसे नहीं होगी। जैसे रुधिरसे रुधिरका दाग नहीं जाता, परन्तु वह दाग जलसे दूर हो जाता है इसी तरह शृंगारसे अथवा शृंगारमिश्रित धर्मसे संसारकी निवृत्ति नहीं होती। इसके लिये तो वैराग्य-जलकी आवश्यकता निःसंशय सिद्ध होती है; और इसीलिये वीतरागके वचनोंमें अनुरक्त होना उचित है। कमसे कम इससे विषयरूपी विषका जन्म नहीं होता। अंतमें यही मुक्तिका कारण हो जाता है। हे मनुष्य! इन वीतराग सर्वज्ञके वचनोंको विवेक-बुद्धिसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके आत्माको उज्ज्वल कर!

प्रथम दर्शन

वैराग्यकी और आत्महितैषी विषयोंकी सुदृढ़ता होनेके लिये बारह भावनाओंका तत्त्वज्ञानियोंने उपदेश किया है:—

१ अनित्यभावना:—शरीर, वैभव, लक्ष्मी, कुटुम्ब परिवार आदि सब विनाशीक हैं। जीवका केवल मूलधर्म ही अविनाशी है, ऐसा चिंतवन करना पहली अनित्यभावना है।

२ अशरणभावना:—संसारमें मरणके समय जीवको शरण रखनेवाला कोई नहीं, केवल एक शुभ धर्मकी ही शरण सत्य है, ऐसा चिंतवन करना दूसरी अशरणभावना है।

३ संसारभावना:—इस आत्माने संसार-समुद्रमें पर्यटन करते हुए सब योनियोंमें जन्म लिया है, इस संसाररूपी जंजीरसे मैं कब छूटूँगा? यह संसार मेरा नहीं, मैं मोक्षमयी हूँ, इस प्रकार चिंतवन करना तीसरी संसारभावना है।

४ एकत्वभावना:—यह मेरी आत्मा अकेली है, यह अकेली ही आती है, और अकेली जायगी, और अपने किए हुए कर्मोंको अकेली ही भोगेगी, इस प्रकार अंतःकरणसे चिंतवन करना यह चौथी एकत्वभावना है।

५ अन्यत्वभावना:—इस संसारमें कोई किसीका नहीं, ऐसा विचार करना पाँचवीं अन्यत्वभावना है।

६ अशुचिभावना:—यह शरीर अपवित्र है, मलमूत्रकी खान है, रोग और जराका निवासस्थान है। इस शरीरसे मैं न्यारा हूँ, यह चिंतवन करना छठी अशुचिभावना है।

७ आश्रवभावना:—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व इत्यादि सब आश्रवके कारण हैं, इस प्रकार चिंतवन करना सातवीं आश्रवभावना है।

८ संवरभावना:—ज्ञान, ध्यानमें प्रवृत्त होकर जीव नये कर्म नहीं बाँधता, यह आठवीं संवरभावना है।

९ निर्जराभावना:—ज्ञानसहित क्रिया करनी निर्जराका कारण है, ऐसा चिंतवन करना नौवीं निर्जराभावना है।

१० लोकस्वरूपभावना:—चौदह राजू लोकके स्वरूपका विचार करना लोकस्वरूपभावना है।

११ बोधिदुर्लभभावना:—संसारमें भ्रमण करते हुए आत्माको सम्यग्ज्ञानकी प्रसादी प्राप्त होना अति कठिन है। और यदि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति भी हुई तो चारित्र–सर्वविरतिपरिणामरूप धर्म–का पाना तो अत्यंत ही कठिन है, ऐसा चिंतवन करना यह ग्यारहवीं बोधिदुर्लभभावना है।

१२ धर्मदुर्लभभावना:—धर्मके उपदेशक तथा शुद्ध शास्त्रके बोधक गुरु और इनके मुखसे उपदेशका श्रवण मिलना दुर्लभ है, ऐसा चिंतवन करना बारहवीं धर्मदुर्लभभावना है।

इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, उस वैराग्यको दृढ़ करनेवाली बारह भावनाओंमेंसे कुछ भावनाओंका इस दर्शनके अंतर्गत वर्णन करेंगे। कुछ भावनाओंको अमुक विषयमें बाँट दी हैं; और कुछ भावनाओंके लिये अन्य प्रसंगकी आवश्यकता है, इस कारण उनका यहाँ विस्तार नहीं किया।

प्रथम चित्र

अनित्यभावना

उपजाति

विद्युल्लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष्य ते तो जलना तरंग,
पुरंदरी चाप अनंगरंग, शुं राचिये त्यां क्षणनो प्रसंग !

विशेषार्थ:—लक्ष्मी बिजलीके समान है। जिस प्रकार बिजलीकी चमक उत्पन्न होकर तत्क्षण ही लय हो जाती है, उसी तरह लक्ष्मी आकर चली जाती है। अधिकार पतंगके रंगके समान है। जिस प्रकार पतंगका रंग चार दिनकी चाँदनी है, उसी तरह अधिकार केवल थोड़े काल तक रहकर हाथसे जाता रहता है। आयु पानीकी हिलोरके समान है। जैसे पानीकी हिलोरें इधर आईं और उधर निकल गईं, उसी तरह जन्म पाया और एक देहमें रहने पाया अथवा नहीं, इतनेमें ही दूसरी देहमें जाना पड़ता है। कामभोग आकाशके इन्द्रधनुषके समान हैं। जैसे इन्द्रधनुष वर्षाकालमें उत्पन्न होकर क्षणभरमें लय हो जाता है, उसी प्रकार यौवनमें कामनाके विकार फलीभूत होकर बुढ़ापेमें नष्ट हो जाते हैं। संक्षेपमें, हे जीव ! इन सब वस्तुओंका संबंध क्षणभरका है। इसमें प्रेम-बंधनकी साँकलसे बँधकर लवलीन क्या होना ? तात्पर्य यह है कि ये सब चपल और विनाशीक हैं, तू अखंड और अविनाशी है, इसलिये अपने जैसी नित्य वस्तुको प्राप्तकर।

भिखारीका खेद

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ ४३–४५, पाठ ४१–४२)

* * * *

प्रमाणशिक्षाः—जिस प्रकार उस भिखारीने स्वप्नमें सुख-समुदाय देखे, उनका भोग किया और उनमें आनंद माना उसी तरह पामर प्राणी संसारके स्वप्नके समान सुख-समुदायको महा आनंदरूप मान बैठे हैं। जिस प्रकार भिखारीको वे सुख-समुदाय जागनेपर मिथ्या मालूम हुए थे, उसी तरह तत्त्वज्ञानरूपी जागृतिसे संसारके सुख मिथ्या मालूम होते हैं। जिस प्रकार स्वप्नके भोगोंको न भोगनेपर भी उस भिखारीको शोककी प्राप्ति हुई उसी तरह पामर भव्य संसारमें सुख मान बैठते हैं, और उन्हें भोगे हुओंके समान गिनते हैं, परन्तु उस भिखारीकी तरह वे अंतमें खेद, पश्चात्ताप, और अधोगतिको पाते हैं। जैसे स्वप्नकी एक भी वस्तु सत्य नहीं उसी तरह संसारकी एक भी वस्तु सत्य नहीं। दोनों ही चपल और शोकमय हैं, ऐसा विचारकर बुद्धिमान् पुरुष आत्म-कल्याणकी खोज करते हैं।

द्वितीय चित्र

अशरणभावना

उपजाति

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध्य आराध्य प्रभाव आणी
अनाथ एकांत सनाथ थाशे, एना विना कोई न बांह्य स्हाशे।

विशेषार्थः—हे चेतन! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेवके द्वारा निस्पृहतासे उपदेश किये हुए धर्मको उत्तम शरणरूप जानकर मन, वचन और कायाके प्रभावसे उसका तू आराधन कर आराधना कर! तू केवल अनाथरूप है उससे सनाथ होगा। इसके विना भवाटवीके भ्रमण करनेमें तेरी बाँह पकड़नेवाला कोई नहीं।

जो आत्मायें संसारके मायामय सुखको अथवा अवदर्शनको शरणरूप मानतीं हैं, वे अधोगतिको पातीं हैं और सदैव अनाथ रहतीं हैं, ऐसा उपदेश करनेवाले भगवान् अनाथीमुनिके चरित्रको प्रारंभ करते हैं, इससे अशरण भावना सुदृढ़ होगी।

अनाथीमुनि

(देखो मोक्षमाला पृष्ठ १३–१५, पाठ ५–६–७)

* * * *

प्रमाणशिक्षाः—अहो भव्यो! महातपोधन, महामुनि, महाप्रज्ञावान्, महायशवंत, महानिर्ग्रंथ और महाश्रुत अनाथी मुनिने मगधदेशके राजाको अपने वीते हुए चरित्रसे जो उपदेश दिया वह सचमुच ही अशरण भावना सिद्ध करता है। महामुनि अनाथीके द्वारा सहन की हुई वेदनाके समान अथवा इससे भी अत्यन्त विशेष असह्य दुःखोंको अनंत आत्मायें सामान्य दृष्टिसे भोगतीं हुईं दीख पडतीं हैं, इनके संबंधमें तुम कुछ विचार करो। संसारमें छायी हुई अनंत अशरणताका त्यागकर सत्य शरणरूप उत्तम तत्त्वज्ञान और परम सुशीलका सेवन करो। अंतमें यही मुक्तिका कारण है। जिस प्रकार संसारमें रहता हुआ अनाथी अनाथ था उसी तरह प्रत्येक आत्मा तत्त्वज्ञानकी उत्तम प्राप्तिके विना सदैव अनाथ ही है। सनाथ होनेके लिये पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है।

तृतीय चित्र

एकत्वभावना

उपजाति

शरीरमें व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई ना शकाय;
ए भोगवे एक स्व आत्मा पोते, एकत्व एथी नय सुज्ञ गोते।

विशेषार्थः—शरीरमें प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले रोग आदि जो उपद्रव होते हैं उन्हें स्नेही, कुटुम्बी, स्त्री अथवा पुत्र कोई भी नहीं ले सकते। उन्हें केवल एक अपनी आत्मा ही स्वयं भोगती है। इसमें कोई भी भागीदार नहीं होता। तथा पाप, पुण्य आदि सब विपाकोंको अपनी आत्मा ही भोगती है। यह अकेली आती है और अकेली जाती है; इस तरह सिद्ध करके विवेकको भली भाँति जानने-वाले पुरुष एकत्वकी निरंतर खोज करते हैं।

नमिराजर्षि

महापुरुषके उस न्यायको अचल करनेवाले नमिराजर्षि और शक्रेन्द्रके वैराग्यके उपदेशक संवादको यहाँ देते हैं। नमिराजर्षि मिथिला नगरीके राजेश्वर थे। स्त्री, पुत्र आदिसे विशेष दुःखको प्राप्त न करने पर भी एकत्वके स्वरूपको परिपूर्णरूपसे पहिचाननेमें राजेश्वरने किंचित् भी विभ्रम नहीं किया। शक्रेन्द्र सबसे पहले जहाँ नमिराजर्षि निवृत्तिमें विराजते थे, वहाँ विप्रके रूपमें आकर परीक्षाके लिये अपने व्याख्यानको शुरु करता है:—

विप्र :—हे राजन्! मिथिला नगरीमें आज प्रबल कोलाहल व्याप्त हो रहा है। हृदय और मनको उद्वेग करनेवाले विलापके शब्दोंसे राजमंदिर और सब घर छाये हुए हैं। केवल तेरी एक दीक्षा ही इन सब दुःखोंका कारण है। अपने द्वारा दूसरेकी आत्माको जो दुःख पहुँचता है उस दुःखको संसारके परिभ्रमणका कारण मानकर तू वहाँ जा, भोला मत बन।

नमिराजः—(गौरव भरे वचनोंसे) हे विप्र! जो तू कहता है वह केवल अज्ञानरूप है। मिथिला नगरीमें एक बगीचा था, उसके बीचमें एक वृक्ष था, वह शीतल छायासे रमणीय था, वह पत्र, पुष्प और फलोंसे युक्त था और वह नाना प्रकारके पक्षियोंको लाभ देता था। इस वृक्षके वायुद्वारा कंपित होनेसे वृक्षमें रहनेवाले पक्षी दुःखार्त और शरणरहित होनेसे आक्रन्दन कर रहे हैं। ये पक्षी स्वयं वृक्षके लिये विलाप नहीं कर रहे किन्तु वे अपने सुखके नष्ट होनेके कारण ही शोकसे पीड़ित हो रहे हैं।

विप्र :—परन्तु यह देख! अग्नि और वायुके मिश्रणसे तेरा नगर, तेरा अंतःपुर, और मन्दिर जल रहे हैं, इसलिये वहाँ जा और इस अग्निको शांत कर।

नमिराजः—हे विप्र! मिथिला नगरीके उन अंतःपुर और उन मंदिरोंके जलनेसे मेरा कुछ भी नहीं जल रहा। मैं उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करता हूँ जिससे मुझे सुख हो। इन मंदिर आदिमें मेरा अल्प मात्र भी राग नहीं। मैंने पुत्र, स्त्री आदिके व्यवहारको छोड़ दिया है। मुझे इनमेंसे कुछ भी प्रिय नहीं, और कुछ भी अप्रिय नहीं।

विप्रः—परन्तु हे राजन्! अपनी नगरीका सघन किला बनवाकर, राजद्वार, अट्टालिकायें, फाटक, और मोहल्ले बनवाकर, खाई और शतघ्नी यंत्र बनवाकर बादमें जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र! मैं श्रद्धारूपी नगरी करके, सम्वर रूपी मोहल्ले करके क्षमारूपी शुभ किला बनाऊँगा; शुभ मनोयोग रूपी अट्टालिका बनाऊँगा; वचनयोगरूपी खाई खुदाऊँगा; काया योगरूपी शतघ्नी करूँगा; पराक्रमरूपी धनुप चढाऊँगा; ईर्यासमितिरूपी डोरी लगाऊँगा; धीरजरूपी कमान लगाऊँगा; धैर्यको मूठ बनाऊँगा; सत्यरूपी चापसे धनुपको बाँधूँगा; तपरूपी बाण लगाऊँगा; और कर्मरूपी वैरीकी सेनाका भेदन करूँगा; लौकिक संग्रामकी मुझे रुचि नहीं है, मैं केवल ऐसे भाव-संग्रामको चाहता हूँ।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे राजन्! शिखरबंद ऊँचे महल बनवाकर, मणि कांचनके झरोखे आदि लगवाकर, तालावमें क्रीड़ा करनेके मनोहर स्थान बनवाकर फिर जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) तूने जिस जिस प्रकारके महल गिनाये वे महल मुझे अस्थिर और अशाश्वत जान पड़ते हैं। वे मार्गमें बनी हुई सरायके समान मालूम होते हैं, अतएव जहाँ स्वधाम है, जहाँ शाश्वतता है और जहाँ स्थिरता है मैं वहीं निवास करना चाहता हूँ।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रियशिरोमणि! अनेक प्रकारके चोरोंके उपद्रवोंको दूरकर इसके द्वारा नगरीका कल्याण करके जाना।

नमिराजः—हे विप्र! अज्ञानी मनुष्य अनेक बार मिथ्या दंड देते हैं। चोरीके नहीं करनेवाले शरीर आदि पुद्गल लोकमें बाँधे जाते हैं; तथा चोरीके करनेवाले इन्द्रिय-विकारको कोई नहीं बाँध सकता फिर ऐसा करनेकी क्या आवश्यकता है?

विप्रः—हे क्षत्रिय! जो राजा तेरी आज्ञाका पालन नहीं करते और जो नराधिप स्वतंत्रतासे आचरण करते हैं तू उन्हें अपने वशमें करके पीछे जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) दसलाख सुभटोंको संग्राममें जीतना दुर्लभ गिना जाता है, फिर भी ऐसी विजय करनेवाले पुरुप अनेक मिल सकते हैं, परन्तु अपनी आत्माको जीतनेवाले एकका मिलना भी अनंत दुर्लभ हैं। दसलाख सुभटोंसे विजय पानेवालोंकी अपेक्षा अपनी स्वात्माको जीतनेवाला पुरुष परमोत्कृष्ट है। आत्माके साथ युद्ध करना उचित है। बाह्य युद्धका क्या प्रयोजन है? ज्ञानरूपी आत्मासे क्रोध आदि युक्त आत्माको जीतनेवाला स्तुतिका पात्र है। पाँच इन्द्रियोंको, क्रोधको, मानको, मायाको और लोभको जीतना दुष्कर है। जिसने मनोयोग आदिको जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रिय! समर्थ यज्ञोंको करके, श्रमण, तपस्वी, ब्राह्मण आदिको भोजन देकर, सुवर्ण आदिका दान देकर, मनोज्ञ भोगोंको भोगकर, तू फिर पीछेसे जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हर महीने यदि दस लाख गायोंका दान दे फिर भी जो दस लाख गायोंके दानकी अपेक्षा संयम ग्रहण करके संयमकी आराधना करता है वह उसकी अपेक्षा विशेष मंगलको प्राप्त करता है।

विप्रः—निर्वाह करनेके लिये भिक्षा माँगनेके कारण सुशील प्रव्रज्यामें असह्य परिश्रम सहना पड़ता है, इस कारण उस प्रव्रज्याको त्यागकर अन्य प्रव्रज्या धारण करने की रुचि हो जाती है। अतएव उस उपाधिको दूर करनेके लिये तू गृहस्थाश्रममें रहकर ही पौषध आदि व्रतोंमें तत्पर रह। हे मनुष्यके अधिपति! मैं ठीक कहता हूँ।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे विप्र! बाल अविवेकी चाहे जितना भी उग्र तप करे परन्तु वह सम्यक् श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्मके बराबर नहीं होता। एकाध कला सोलह कलाओंके समान कैसे मानी जा सकती है?

विप्रः—अहो क्षत्रिय! सुवर्ण, मणि, मुक्ताफल, वस्त्रालंकार और अश्व आदिकी वृद्धि करके फिर जाना।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) कदाचित् मेरु पर्वतके समान सोने चाँदीके असंख्यातों पर्वत हो जाँय उनसे भी लोभी मनुष्यकी तृष्णा नहीं बुझती, उसे किंचित्मात्र भी संतोष नहीं होता। तृष्णा आकाशके समान अनंत है। यदि धन, सुवर्ण, पशु इत्यादिसे सकल लोक भर जाय उन सबसे भी एक लोभी मनुष्यकी तृष्णा दूर नहीं हो सकती। लोभकी ऐसी कनिष्ठता है! अतएव विवेकी पुरुष संतोषनिवृत्तिरूपी तपका आचरण करते हैं।

विप्रः—(हेतु कारणसे प्रेरित) हे क्षत्रिय! मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है कि तू विद्यमान भोगोंको छोड़ रहा है! बादमें तू अविद्यमान काम-भोगके संकल्प-विकल्पोंके कारणसे खेदखिन्न होगा। अतएव इस मुनिपनेकी सब उपाधिको छोड़ दे।

नमिराजः—(हेतु कारणसे प्रेरित) काम-भोग शल्यके समान हैं; काम-भोग विषके समान हैं; काम-भोग सर्पके तुल्य हैं; इनकी वाँछा करनेसे जीव नरक आदि अधोगतिमें जाता है; इसी तरह क्रोध और मानके कारण दुर्गति होती है; मायासे सद्गतिका विनाश होता है; लोभसे इस लोक और परलोकका भय रहता है, इसलिये हे विप्र! इनका तू मुझे उपदेश न कर। मेरा हृदय कभी भी चलायमान होनेवाला नहीं, और इस मिथ्या मोहिनीमें अभिरुचि रखनेवाला नहीं। जानबूझकर विष कौन पियेगा? जानबूझकर दीपक लेकर कुँएमें कौन गिरेगा? जानबूझकर विभ्रममें कौन पड़ेगा? मैं अपने अमृतके समान वैराग्यके मधुर रसको अप्रिय करके इस ज़हरको प्रिय करनेके लिये मिथिलामें आनेवाला नहीं।

महर्षि नमिराजकी सुदृढ़ता देखकर शक्रेन्द्रको परमानंद हुआ। बादमें ब्राह्मणके रूपको छोड़कर उसने इन्द्रपनेकी विक्रिया धारण की। फिर वह वन्दन करके मधुर वचनोंसे राजर्षीश्वरकी स्तुति करने लगा कि हे महायशस्वि! बड़ा आश्चर्य है कि तूने क्रोध जीत लिया। आश्चर्य है कि तूने अहंकारको पराजित किया। आश्चर्य है कि तूने मायाको दूर किया। आश्चर्य है कि तूने लोभको वशमें किया। आश्चर्यकारी है तेरा सरलपना, आश्चर्यकारी है तेरा निर्ममत्व, आश्चर्यकारी है तेरी प्रधान क्षमा और आश्चर्यकारी है तेरी निर्लोभिता। हे पूज्य! तू इस भवमें उत्तम है और परभवमें उत्तम होगा। तू कर्मरहित

होकर सर्वोच्च सिद्धगतिको प्राप्त करेगा। इस तरह स्तुति करते करते, प्रदक्षिणा करते हुए श्रद्धा-भक्तिसे उसने उस ऋषिके चरणकमलोंको वन्दन किया। तत्पश्चात् वह सुंदर मुकुटवाला शक्रेन्द्र आकाश-मार्गसे चला गया।

प्रमाणशिक्षाः—विप्रके रूपमें नमिराजाके वैराग्यकी परीक्षा करनेमें इन्द्रने क्या न्यूनता की है? कुछ भी नहीं की। संसारकी जो लोलुपतायें मनुष्यको चलायमान करनेवाली हैं उन सब लोलुपताओंके विषयमें महागौरवपूर्ण प्रश्न करनेमें उस इन्द्रने निर्मल भावनासे प्रशंसायोग्य चातुर्य दिखाया है, तो भी देखनेकी बात तो यही है कि नमिराज अंततक केवल कंचनमय रहे हैं। शुद्ध और अखंड वैराग्यके वेगमें अपने प्रवाहित होनेको इन्होंने अपने उत्तरोंमें प्रदर्शित किया है। हे विप्र! तू जिन वस्तुओंको मेरी कहलवाता है वे वस्तुयें मेरी नहीं हैं। मैं अकेला ही हूँ, अकेला जानेवाला हूँ; और केवल प्रशंसनीय एकत्वको ही चाहता हूँ। इस प्रकारके रहस्यमें नमिराज अपने उत्तरको और वैराग्यको दृढ़ बनाते गये हैं। ऐसी परम प्रमाणशिक्षासे भरा हुआ उस महर्षिका चरित्र है। दोनों महात्माओंका परस्परका संवाद शुद्ध एकत्वको सिद्ध करनेके लिये तथा अन्य वस्तुओंके त्याग करनेके उपदेशके लिये यहाँ कहा गया है। इसे भी विशेष दृढ़ करनेके लिये नमिराजको एकत्वभाव किस तरह प्राप्त हुआ, इस विषयमें नमिराजके एकत्वसंबंधको संक्षेपमें यहाँ नीचे देते हैं:—

ये विदेह देश जैसे महान् राज्यके अधिपति थे। ये अनेक यौवनवंती मनोहारिणी स्त्रियोंके समुदायसे घिरे हुए थे। दर्शनमोहिनीके उदय न होनेपर भी वे संसार-लुब्ध जैसे दिखाई देते थे। एक बार इनके शरीरमें दाहज्वर रोगकी उत्पत्ति हुई। मानों समस्त शरीर जल रहा हो ऐसी जलन समस्त शरीरमें व्याप्त हो गई। रोम रोममें हज़ार बिच्छुओंके डँसने जैसी वेदनाके समान दुःख होने लगा। वैद्य-विद्यामें प्रवीण पुरुषोंके औषधोपचारका अनेक प्रकारसे सेवन किया; परन्तु वह सब वृथा हुआ। यह व्याधि लेशमात्र भी कम न होकर अधिक ही होती गई। सम्पूर्ण औषधियाँ दाह-ज्वरकी हितैषी ही होती गईं। कोई भी औषधि ऐसी न मिली कि जिसे दाहज्वरसे कुछ भी द्वेष हो। निपुण वैद्य हताश हो गये, और राजेश्वर भी इस महाव्याधिसे तंग आ गये। उसको दूर करने वाले पुरुषकी खोज चारों तरफ होने लगी। अंतमें एक महाकुशल वैद्य मिला, उसने मलयागिरि चंदनका लेप करना बताया। रूपवन्ती रानियाँ चंदन घिसनेमें लग गईं। चंदन घिसनेसे प्रत्येक रानीके हाथमें पहिने हुए कंकणोंके समुदायसे खलभलाहट होने लगा। मिथिलेशके अंगमें दाहज्वरकी एक असह्य वेदना तो थी ही और दूसरी वेदना इन कंकणोंके कोलाहलसे उत्पन्न हो गई। जब यह खलभलाहट उनसे सहन न हो सका तो उन्होंने रानियोंको आज्ञा की कि चंदन घिसना बन्द करो। तुम यह क्या शोर करती हो? मुझसे यह सहा नहीं जाता। मैं एक महाव्याधिसे तो ग्रसित हूँ ही, और दूसरी व्याधिके समान यह कोलाहल हो रहा है, यह असह्य है। सब रानियोंने केवल एक एक कंकणको मंगल-स्वरूप रखकर बाकी कंकणोंको निकाल डाला इससे होता हुआ खलभलाहट शांत हो गया। नमिराजने रानियोंसे पूँछा; क्या तुमने चंदन घिसना बन्द कर दिया? रानियोंने कहा कि नहीं, केवल कोलाहल शांत करनेके लिये हम एक एक कंकणको रखकर बाकी कंकणोंका परित्याग करके चंदन

घिस रही हैं। अब हमने कंकणोंको समूहको अपने हाथमें नहीं रक्खा इसलिये कोलाहल नहीं होता। रानियोंके इतने वचनोंको सुनते ही नमिराजके रोमरोममें एकत्व उदित हुआ—एकत्व व्याप्त हो गया, और उनका ममत्व दूर हो गया। सचमुच! बहुतोंके मिलनेसे बहुत उपाधि होती है। देखो! अब इस एक कंकणसे लेशमात्र भी खलभलाहट नहीं होता। कंकणोंके समूहसे सिरको घुमा देनेवाला खलभलाहट होता था। अहो चेतन! तू मान कि तेरी सिद्धि एकत्वमें ही है। अधिक मिलनेसे अधिक ही उपाधि बढ़ती है। संसारमें अनन्त आत्माओंके संबन्धसे तुझे उपाधि भोगनेकी क्या आवश्यकता है? उसका त्याग कर और एकत्वमें प्रवेश कर। देख! अब यह एक कंकण खलभलाहटके बिना कैसी उत्तम शान्तिमें रम रहा है। जब अनेक थे तब यह कैसी अशांतिका भोग कर रहा था इसी तरह तू भी कंकणरूप है। उस कंकणकी तरह तू भी जबतक स्नेही कुटुंबीरूपी कंकण-समुदायमें पड़ा रहेगा तबतक भवरूपी खलभलाहटका सेवन करना पड़ेगा। और यदि इस कंकणकी वर्तमान स्थितिकी तरह एकत्वकी आराधना करेगा तो सिद्धगतिरूपी महापवित्र शांतिको प्राप्त करेगा। इस प्रकार वैराग्यके उत्तरोत्तर प्रवेशमें ही उन नमिराजको पूर्वभवका स्मरण हो आया। वे प्रव्रज्या धारण करनेका निश्चय करके सो गये। प्रभातमें मंगलसूचक बाजों की ध्वनि हुई; नमिराज दाहज्वरसे मुक्त हुए। एकत्वका परिपूर्ण सेवन करनेवाले श्रीमान् नमिराज ऋषिको अभिवंदन हो!

शार्दूलविक्रीड़ित

राणी सर्व मळी सुचंदन घसी, ने चर्चवामां हती,
बूझ्यो त्यां ककळाट कंकणतणो, श्रोती नमिभूपति;
संवादे पण इन्द्रथी दृढ रह्यो, एकत्व साचुं कर्युं,
एवा ए मिथिलेशनुं चरित आ, सम्पूर्ण अत्रे थयुं ॥ १ ॥

विशेषार्थः—सब रानियाँ मिलकर चंदन घिसकर लेप करनेमें लगीं हुईं थीं। उस समय कंकणोंका कोलाहल सुनकर नमिराजको बोध प्राप्त हुआ। वे इंद्रके साथ संवादमें भी अचल रहे; और उन्होंने एकत्वको सिद्ध किया। ऐसे इस मुक्तिसाधक महावैरागी मिथिलेशका चरित्र भावनाबोध ग्रंथके तृतीय चित्रमें पूर्ण हुआ।

चतुर्थ चित्र

अन्यत्वभावना

शार्दूलविक्रीड़ित

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना;
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥ २ ॥

विशेषार्थः—यह शरीर मेरा नहीं, यह रूप मेरा नहीं, यह कांति मेरी नहीं, यह स्त्री मेरी नहीं, यह पुत्र मेरा नहीं, ये भाई मेरे नहीं, ये दास मेरे नहीं, ये स्नेही मेरे नहीं, ये संबंधी मेरे नहीं, यह गोत्र मेरा नहीं, यह ज्ञाति मेरी नहीं, यह लक्ष्मी मेरी नहीं, यह महल मेरा नहीं, यह यौवन मेरा नहीं, और यह भूमि मेरी नहीं, यह सब मोह केवल अज्ञानपनेका है। हे जीव! सिद्धगति पानेके लिये अन्यत्वका उपदेश देनेवाली अन्यत्वभावनाका विचार कर! विचार कर!

मिथ्या ममत्वकी भ्रमणा दूर करनेके लिये और वैराग्यकी वृद्धिके लिये भावपूर्वक मनन करने योग्य राजराजेश्वर भरतके चरित्रको यहाँ उद्धृत करते हैं:—

भरतेश्वर

जिसकी अश्वशालामें रमणीय, चतुर और अनेक प्रकारके तेजी अश्वोंका समूह शोभायमान होता था; जिसकी गजशालामें अनेक जातिके मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे; जिसके अंतःपुरमें नवयौवना, सुकुमारिका और मुग्धा स्त्रियाँ हजारोंकी संख्यामें शोभित हो रहीं थीं; जिसके खज़ानेमें विद्वानोंद्वारा चंचला उपमासे वर्णन की हुई समुद्रकी पुत्री लक्ष्मी स्थिर हो गई थी; जिसकी आज्ञाको देव-देवांगनायें आधीन होकर अपने मुकुट पर चढ़ा रहे थे; जिसके वास्ते भोजन करनेके लिये नाना प्रकारके षट्रस भोजन पल पलमें निर्मित होते थे; जिसके कोमल कर्णके विलासके लिये बारीक और मधुर स्वरसे गायन करनेवाली वारांगनायें तत्पर रहतीं थीं; जिसके निरीक्षण करनेके लिये अनेक प्रकारके नाटक तमाशे किये जाते थे; जिसकी यशःकीर्ति वायु रूपसे फैलकर आकाशके समान व्याप्त हो गई थी; जिसके शत्रुओंको सुखसे शयन करनेका समय न आया था; अथवा जिसके वैरियोंकी वनिताओंके नयनोंमेंसे सदा आँसू ही टपकते रहते थे; जिससे कोई शत्रुता दिखानेको तो समर्थ था ही नहीं, परन्तु जिसके सामने निर्दोषतासे उँगली दिखानेमें भी कोई समर्थ न था; जिसके समक्ष अनेक मंत्रियोंका समुदाय उसकी कृपाकी याचना करता था; जिसका रूप, कांति और सौंदर्य मनोहारक थे; जिसके अंगमें महान् बल, वीर्य, शक्ति और उग्र पराक्रम उछल रहे थे; जिसके क्रीड़ा करनेके लिये महासुगंधिमय बाग-बगीचे और वन उपवन बने हुए थे; जिसके यहाँ मुख्य कुलदीपक पुत्रोंका समुदाय था; जिसकी सेवामें लाखों अनुचर सज्ज होकर खड़े रहा करते थे; वह पुरुष जहाँ जहाँ जाता था वहाँ वहाँ क्षेम क्षेमके उद्गारोंसे, कंचनके फूल और मोतियोंके थालसे वधाई दिया जाता था; जिसके कुंकमवर्णके चरणकमलोंका स्पर्श करनेके लिये इन्द्र जैसे भी तरसते रहते थे; जिसकी आयुधशालामें महायशोमान दिव्य चक्रकी उत्पत्ति हुई थी; जिसके यहाँ साम्राज्यका अखंड दीपक प्रकाशमान था; जिसके सिरपर महान् छह खंडकी प्रभुताका तेजस्वी और प्रकाशमान मुकुट सुशोभित था; कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधन-सामग्रीका, जिसके दलका, जिसके नगर, पुर और पट्टनका, जिसके वैभवका, और जिसके विलासका संसारमें किसी भी प्रकारसे न्यूनभाव न था; ऐसा वह श्रीमान् राजराजेश्वर भरत अपने सुंदर आदर्श-भुवनमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर मनोहर सिंहासन पर बैठा था। चारों तरफके द्वार खुले थे; नाना प्रकारकी धूपोंका धूम्र सूक्ष्म रीतिसे फैल रहा था; नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थ ज़ोरसे महँक रहे थे; नाना प्रकारके सुन्दर स्वरयुक्त वादित्र यांत्रिक-कलासे स्वर खींच रहे थे; शीतल, मंद और सुगंधित वायुकी लहरें छूट रहीं थीं। आभूषण आदि पदार्थोंका निरीक्षण करते हुए वे श्रीमान् राजराजेश्वर भरत उस भुवनमें अनुपम जैसे दिखाई देते थे।

इनके हाथकी एक उँगलीमेंसे अँगूठी निकल पड़ी। भरतका ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और उन्हें अपनी उँगली बिलकुल शोभाहीन माळूम होने लगी। नौ उँगलियें अँगूठियोंद्वारा जिस मनोहरताको धारण करतीं थीं उस मनोहरतासे रहित इस उँगलीको देखकर इसके ऊपरसे भरतेश्वरको अद्भुत गंभीर

विचारकी स्फुरणा हुई। किस कारणसे यह उँगली ऐसी लगती है? यह विचार करनेपर उसे मालूम हुआ कि इसका कारण केवल उँगलीमेंसे अँगूठीका निकल जाना ही है। इस बातको विशेषरूपसे प्रमाणित करनेके लिये उसने दूसरी उँगलीकी अँगूठी भी निकाल ली। जैसे ही दूसरी उँगलीमेंसे अँगूठी निकाली, वैसे ही वह उँगली भी शोभाहीन दिखाई देने लगी। फिर इस बातको सिद्ध करनेके लिये उसने तीसरी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, इससे यह बात और भी प्रमाणित हुई। फिर चौथी उँगलीमेंसे भी अँगूठी निकाल ली, यह भी इसी तरह शोभाहीन दिखाई दी। इस तरह भरतने क्रमसे दसों उँगलियाँ खाली कर डालीं। खाली हो जानेसे ये सबकी सब उँगलियाँ शोभाहीन दिखाई देने लगी। इनके शोभाहीन मालूम होनेसे राजराजेश्वर अन्यत्वभावनामें गद्गद होकर इस तरह बोले:—

अहो हो! कैसी विचित्रता है कि भूमिसे उत्पन्न हुई वस्तुको कूटकर कुशलतापूर्वक घड़नेसे मुद्रिका बनी; इस मुद्रिकासे मेरी उँगली सुंदर दिखाई दी; इस उँगलीमेंसे इस मुद्रिकाके निकल पड़नेसे इससे विपरीत ही दृश्य दिखाई दिया। विपरीत दृश्यसे उँगलीकी शोभाहीनता और नंगापन खेदका कारण हो गया। शोभाहीन मालूम होनेका कारण केवल अँगूठीका न होना ही ठहरा न? यदि अँगूठी होती तो मैं ऐसी अशोभा न देखता। इस मुद्रिकासे मेरी यह उँगली शोभाको प्राप्त हुई; इस उँगलीसे यह हाथ शोभित होता है; इस हाथसे यह शरीर शोभित होता है; फिर इसमें मैं किसकी शोभा मानूँ? बडे आश्चर्यकी बात है! मेरी इस मानी जाती हुई मनोहर कांतिको और भी विशेष दीप्त करनेवाले ये मणि माणिक्य आदिके अलंकार और रंगबिरंगे वस्त्र ही सिद्ध हुए; यह कांति मेरी त्वचाकी शोभा सिद्ध हुई; यह त्वचा शरीरकी गुप्तताको ढँककर सुंदरता दिखाती है; अहो हो! यह कैसी उलटी बात है! जिस शरीरको मैं अपना मानता हूँ वह शरीर केवल त्वचासे, वह त्वचा कांतिसे, और वह कांति वस्त्रालंकारसे शोभित होती है; तो क्या फिर मेरे शरीरकी कुछ शोभा ही नहीं? क्या यह केवल रुधिर, मांस और हाड़ोंका ही पंजर है? और इस पंजरको ही मैं सर्वथा अपना मान रहा हूँ! कैसी भूल! कैसी भ्रमणा! और कैसी विचित्रता है! मैं केवल परपुद्गलकी शोभासे ही शोभित हो रहा हूँ। किसी और चीज़से रमणीयता धारण करनेवाले शरीरको मैं अपना कैसे मानूँ? और कदाचित् ऐसा मानकर यदि मैं इसमें ममत्व भाव रक्खूँ तो वह भी केवल दुःखप्रद और वृथा है। इस मेरी आत्माका इस शरीरसे कभी न कभी वियोग होनेवाला है। जब आत्मा दूसरी देहको धारण करने चली जायगी तब इस देहके यहीं पड़े रहनेमें कोई भी शंका नहीं है। यह काया न तो मेरी हुई और न होगी, फिर मैं इसे अपनी मानता हूँ अथवा मानूँ यह केवल मूर्खता ही है। जिसका कभी न कभी वियोग होनेवाला है और जो केवल अन्यत्वभावको ही धारण किये हुए है उसमें ममत्व क्यों रखना चाहिये? जब यह मेरी नहीं होती तो फिर क्या मुझे इसका होना उचित है? नहीं, नहीं। जब यह मेरी नहीं तो मैं भी इसका नहीं, ऐसा विचारूँ, दृढ़ करूँ और आचरण करूँ यही विवेक-बुद्धिका अर्थ है। यह समस्त सृष्टि अनंत वस्तुओंसे और अनंत पदार्थोंसे भरी हुई है, उन सब पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके समान मुझे एक भी वस्तु प्रिय नहीं वह वस्तु भी जब मेरी न हुई, तो फिर दूसरी कोई वस्तु मेरी कैसे हो

सकती है ? अहो ! मैं बहुत भूल गया। मिथ्या मोहमें फँस गया। वे नवयौवनायें, वे माने हुए कुल-दीपक पुत्र, वह अतुल लक्ष्मी, वह छह खंडका महान् राज्य—मेरा नहीं। इसमेंका लेशमात्र भी मेरा नहीं। इसमें मेरा कुछ भी भाग नहीं। जिस कायासे मैं इन सब वस्तुओंका उपभोग करता हूँ, जब वह भोग्य वस्तु ही मेरी न हुई तो मेरी दूसरी मानी हुई वस्तुयें—स्नेही, कुटुंबी इत्यादि—फिर क्या मेरे हो सकते हैं ? नहीं, कुछ भी नहीं। इस ममत्वभावकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं ! यह पुत्र, यह मित्र, यह कलत्र, यह वैभव और इस लक्ष्मीको मुझे अपना मानना ही नहीं ! मैं इनका नहीं; और ये मेरे नहीं ! पुण्य आदिको साधकर मैंने जो जो वस्तुएँ प्राप्त कीं वे वे वस्तुयें मेरी न हुई, इसके समान संसारमें दूसरी और क्या खेदकी बात है ? मेरे उग्र पुण्यत्वका क्या यही परिणाम है ? अन्तमें इन सबका वियोग ही होनेवाला है न ? पुण्यत्वके इस फलको पाकर इसकी वृद्धिके लिये मैंने जो जो पाप किये उन सबको मेरी आत्माको ही भोगना है न ? और वह भी क्या अकेले ही ? क्या इसमें कोई भी साथी न होगा ? नहीं नहीं। ऐसा अन्यत्वभाववाला होकर भी मैं ममत्वभाव बताकर आत्माका अहितैषी होऊँ और इसको रौद्र नरकका भोक्ता बनाऊँ, इसके समान दूसरा और क्या अज्ञान है ? ऐसी कौनसी भ्रमणा है ? ऐसा कौनसा अविवेक है ? त्रेसठ शलाका पुरुषोंमेंसे मैं भी एक गिना जाता हूँ, फिर भी मैं ऐसे कृत्यको दूर न कर सकूँ और प्राप्त की हुई प्रभुताको भी खो बैठूँ, यह सर्वथा अनुचित है। इन पुत्रोंका, इन प्रमदाओंका, इस राज-वैभवका, और इन वाहन आदिके सुखका मुझे कुछ भी अनुराग नहीं ! ममत्व नहीं !

राजराजेश्वर भरतके अंतःकरणमें वैराग्यका ऐसा प्रकाश पड़ा कि उनका तिमिर-पट दूर हो गया। उन्हें शुक्लध्यान प्राप्त हुआ, जिससे समस्त कर्म जलकर भस्मीभूत हो गये !! महादिव्य और सहस्र-किरणोंसे भी अनुपम कांतिमान केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसी समय इन्होंने पंचमुष्टि केशलोंच किया। शासनदेवीने इन्हें साधुके उपकरण प्रदान किये; और वे महावीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर चतुर्गति, चौबीस दंडक, तथा आधि, व्याधि और उपाधिसे विरक्त हुए, चपल संसारके सम्पूर्ण सुख विलासोंसे इन्होंने निवृत्ति प्राप्त की; प्रिय अप्रियका भेद दूर हुआ, और वे निरन्तर स्तवन करने योग्य परमात्मा हो गये।

प्रमाणशिक्षाः—इस प्रकार छह खंडके प्रभु, देवोंके देवके समान, अतुल साम्राज्य लक्ष्मीके भोक्ता, महाआयुके धनी, अनेक रत्नोंके धारक राजराजेश्वर भरत आदर्श-भुवनमें केवल अन्यत्वभावनाके उत्पन्न होनेसे शुद्ध वैराग्यवान् हुए !

भरतेश्वरका वस्तुतः मनन करने योग्य चरित्र संसारकी शोकार्तता और उदासीनताका पूरा पूरा भाव, उपदेश और प्रमाण उपस्थित करता है। कहो ! इनके घर किस बातकी कमी थी ? न इनके घर नवयौवना स्त्रियोंकी कमी थी, न राज-ऋद्धिकी कमी थी, न पुत्रोंको समुदायकी कमी थी, न कुटुंब-परिवारकी कमी थी, न विजय-सिद्धिकी कमी थी, न नवनिधिकी कमी थी, न रूपकांति-की कमी थी और न यशःकीर्ति की ही कमी थी।

इस तरह पहले कही हुई उनकी ऋद्धिका पुनः स्मरण कराकर प्रमाणके द्वारा हम शिक्षा-प्रसादी यही देना चाहते हैं कि भरतेश्वरने विवेकसे अन्यत्वके स्वरूपको देखा, जाना, और सर्प—कंचुकवत् संसारका

परित्याग करके उसके ममत्वको मिथ्या सिद्ध कर बताया। महावैराग्यकी अचलता, निर्ममत्व, और आत्मशक्तिकी प्रफुल्लता ये सब इन महायोगीश्वरके चरित्रमें गर्भित हैं।

एक ही पिताके सौ पुत्रोंमेंसे निन्यानवें पुत्र पहलेसे ही आत्मकल्याणका साधन करते थे। सौवें इन भरतेश्वरने आत्मसिद्धि की। पिताने भी इसी कल्याणका साधन किया। उत्तरोत्तर होनेवाले भरतेश्वरके राज्यासनका भोग करनेवाले भी इसी आदर्श-भुवनमें इसी सिद्धिको पाये हुए कहे जाते हैं। यह सकल सिद्धिसाधक मंडल अन्यत्वको ही सिद्ध करके एकत्वमें प्रवेश कराता है। उन परमात्माओंको अभिवन्दन हो!

शार्दूलविक्रीडित

देखी आंगलि आप एक अडवी, वैराग्य वेगे गया,
छांडी राजसमाजने भरतजी, कैवल्यज्ञानी थया;
चोथुं चित्र पवित्र एज चरिते, पाम्युं अहीं पूर्णता;
ज्ञानीनां मन तेज रंजन करो, वैराग्य भावे यथा ॥ १ ॥

विशेषार्थः—अपनी एक उंगली शोभारहित देखकर जिसने वैराग्यके प्रवाहमें प्रवेश किया, जिसने राज-समाजको छोड़कर केवलज्ञानको प्राप्त किया, ऐसे उस भरतेश्वरके चरित्रको बतानेवाला यह चौथा चित्र पूर्ण हुआ। वह यथायोग्यरूपसे वैराग्यभाव प्रदर्शन करके ज्ञानी पुरुषके मनको रंजन करनेवाला होओ!

पंचम चित्र

अशुचिभावना

गीतीवृत्त

खाण मूत्र ने मळनी, रोग जरानुं निवासनुं धाम;
काया एवी गणि ने, मान त्यजीने कर सार्थक आम ॥ १ ॥

विशेषार्थः—हे चैतन्य! इस कायाको मल और मूत्रकी खान, रोग और वृद्धताके रहनेका धाम मानकर उसका मिथ्याभिमान त्याग करके सनत्कुमारकी तरह उसे सफल कर!

इन भगवान् सनत्कुमारका चरित्र यहाँ अशुचिभावनाकी सत्यता बतानेके लिये आरंभ किया जाता है।

सनत्कुमार

(देखो पृष्ठ ६९–७१; पाठ ७०–७१)

* * * *

ऐसा होनेपर भी आगे चलकर मनुष्य देहको सब देहोंमें उत्तम कहना पड़ेगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि इससे सिद्धगतिकी सिद्धि होती है। तत्संबंधी सब शंकाओंको दूर करनेके लिये यहाँ नाममात्र व्याख्यान किया गया है।

जब आत्माके शुभकर्मका उदय आया तब यह मनुष्य देह मिली। मनुष्य अर्थात् दो हाथ, दो पैर, दो आँख, दो कान, एक मुँह, दो ओष्ठ और एक नाकवाले देहका स्वामी नहीं, परन्तु इसका मर्म

कुछ जुदा ही है। यदि हम इस प्रकार अविवेक दिखावें तो फिर बंदरको भी मनुष्य गिननेमें क्या दोष है? इस विचारेको तो एक पूँछ और भी अधिक प्राप्त हुई है। परन्तु नहीं, मनुष्यत्वका मर्म यह है कि जिसके मनमें विवेक-बुद्धि उदय हुई है वही मनुष्य है, बाकी इसके सिवाय तो सभी दो पैरवाले पशु ही हैं। मेधावी पुरुष निरंतर इस मानवपनेका मर्म इसी तरह प्रकाशित करते हैं। विवेक-बुद्धिके उदयसे मुक्तिके राजमार्गमें प्रवेश किया जाता है, और इस मार्गमें प्रवेश करना ही मानवदेहकी उत्तमता है। फिर भी यह बात सदैव ध्यानमें रखनी उचित है कि वह देह तो सर्वथा अशुचिमय और अशुचिमय ही है। इसके स्वभावमें इसके सिवाय और कुछ नहीं।

भावनाबोध ग्रंथमें अशुचिभावनाके उपदेशके लिये प्रथम दर्शनके पाँचवें चित्रमें सनत्कुमारका दृष्टान्त और प्रमाणशिक्षा पूर्ण हुए।

अंतर्दर्शन

षष्ठ चित्र

निवृत्ति-बोध

हरिगीत छंद

अनंत सौख्य नाम दुःख त्यां रही न मित्रता!
अनंत दुःख नाम सौख्य प्रेम त्यां, विचित्रता!!
उघाड न्याय नेत्रने निहाळरे! निहाळ तुं!
निवृत्ति शीघ्रमेव धारि ते प्रवृत्ति बाळ तुं॥ १ ॥

विशेषार्थः—जिसमें एकांत और अनंत सुखकी तरंगें उछल रहीं हैं ऐसे शील-ज्ञानको केवल नाममात्रके दुःखसे तंग आकर उन्हें मित्ररूप नहीं मानता, और उनको एकदम भुला डालता है; और केवल अनंत दुःखमय ऐसे संसारके नाममात्र सुखमें तेरा परिपूर्ण प्रेम है, यह कैसी विचित्रता है! अहो चेतन! अब तू अपने न्यायरूपी नेत्रोंको खोलकर देख! रे देख!! देखकर शीघ्र ही निवृत्ति अर्थात् महावैराग्यको धारण कर और मिथ्या काम-भोगकी प्रवृत्तिको जला दे!

ऐसी पवित्र महानिवृत्तिको दृढ़ करनेके लिये उच्च वैराग्यवान् युवराज मृगापुत्रका मनन करने योग्य चरित्र यहाँ उद्धृत किया है। तू कैसे दुःखको सुख मान बैठा है? और कैसे सुखको दुःख मान बैठा है? इसे युवराजके मुख-वचन ही याथातथ्य सिद्ध करेंगे।

मृगापुत्र

नाना प्रकारके मनोहर वृक्षोंसे भरे हुए उद्यानोंसे सुशोभित सुग्रीव नामका एक नगर था। उस नगरमें बलभद्र नामका एक राजा राज्य करता था। उसकी मिष्टभाषिणी पटरानीका नाम मृगा था। इस दंपतिके बलश्री नामक एक कुमार उत्पन्न हुआ; किन्तु सब लोग इसे मृगापुत्र कहकर ही पुकारा करते थे। वह अपने माता पिताको अत्यन्त प्रिय था। इस युवराजने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयतिके गुणोंको प्राप्त किया था। इस कारण यह दमीश्वर अर्थात् यतियोंमें अग्रेसर गिने जाने योग्य था। वह मृगापुत्र शिखरबंद आनन्दकारी प्रासादमें अपनी प्राणप्रियाके साथ दोगंदुक देवके समान विलास किया करता था। वह निरंतर प्रमोदसहित मनसे रहता था। उसके प्रासादका फ़र्श चंद्रकांत आदि मणि

और विविध रत्नोंसे जड़ा हुआ था। एक दिन वह कुमार अपने झरोखेमें बैठा हुआ था। वहाँसे नगरका परिपूर्णरूपसे निरीक्षण होता था। इतनेमें मृगापुत्रकी दृष्टि चार राजमार्ग मिलनेवाले चौरायेके उस संगम-स्थानपर पड़ी जहाँ तीन राजमार्ग मिलते थे। उसने वहाँ महातप, महानियम, महासंयम, महाशील और महागुणोंके धामरूप एक शांत तपस्वी साधुको देखा। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों उस मुनिको वह मृगापुत्र निरख निरखकर देख रहा था।

ऐसा निरीक्षण करनेसे वह इस तरह बोल उठा—जान पड़ता है कि मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है, और ऐसा बोलते बोलते उस कुमारको शुभ परिणामोंकी प्राप्ति हुई, उसका मोहका पड़दा हट गया, और उसके भावोंकी उपशमता होनेसे उसे तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान उदित हुआ। पूर्वजातिका स्मरण उत्पन्न होनेसे महाऋद्धिके भोक्ता उस मृगापुत्रको पूर्वके चारित्रका भी स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही उस विषयसे विरक्त हुआ, और संयमकी ओर आकृष्ट हुआ। उसी समय वह माता पिताके समीप आकर बोला कि मैंने पूर्वभवमें पाँच महाव्रतोंके विषयमें सुना था; नरकके अनंत दुःखोंको सुना था, और तिर्यचगतिके भी अनंत दुःखोंको सुना था। इन अनंत दुःखोंसे दुःखित होकर मैं उनसे निवृत्त होनेका अभिलाषी हुआ हूँ। हे गुरुजनो! संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये मुझे उन पाँच महाव्रतोंको धारण करनेकी आज्ञा दो।

कुमारके निवृत्तिपूर्ण वचनोंको सुनकर उसके माता पिताने उसे भोगोंको भोगनेका आमंत्रण दिया। आमंत्रणके वचनोंसे खेदखिन्न होकर मृगापुत्र ऐसे कहने लगा, कि हे माता पिता! जिन भोगोंको भोगनेका आप मुझे आमंत्रण कर रहे हैं उन भोगोंको मैंने खूब भोग लिया है। वे भोग विषफल—किंपाक वृक्षके फलके समान हैं; वे भोगनेके बाद कड़वे विपाकको देते हैं; और सदैव दुःखोत्पत्तिके कारण हैं। यह शरीर अनित्य और सर्वथा अशुचिमय है; अशुचिसे उत्पन्न हुआ है; यह जीवका अशाश्वत वास है, और अनंत दुःखका हेतु है। यह शरीर रोग, जरा और क्लेश आदिका भाजन है। इस शरीरमें मैं रति कैसे करूँ? इस बातका कोई नियम नहीं कि इस शरीरको बालकपनेमें छोड़ देना पड़ेगा अथवा वृद्धपनेमें? यह शरीर पानीके फेनके बुलबुलेके समान है। ऐसे शरीरमें स्नेह करना कैसे योग्य हो सकता है? मनुष्यत्वमें इस शरीरको पाकर यह शरीर कोढ़, ज्वर वगैरे व्याधिसे और जरा मरणसे ग्रस्त रहता है, उसमें मैं क्यों प्रेम करूँ?

जन्मका दुःख, जराका दुःख, रोगका दुःख, मरणका दुःख—इस तरह इस संसारमें केवल दुःख ही दुःख है। भूमि—क्षेत्र, घर, कंचन, कुटुंब, पुत्र, प्रमदा, बांधव इन सबको छोड़कर केवल क्लेश पाकर इस शरीरको छोड़कर अवश्य ही जाना पड़ेगा। जिस प्रकार किंपाक वृक्षके फलका परिणाम सुखदायक नहीं होता वैसे ही भोगका परिणाम भी सुखदायक नहीं होता। जैसे कोई पुरुष महाप्रवास शुरू करे किन्तु साथमें अन्न-जल न ले, तो आगे जाकर जैसे वह क्षुधा-तृषासे दुःखी होता है, वैसे ही धर्मके आचरण न करनेसे परभवमें जाता हुआ पुरुष दुःखी होता है; और जन्म, जरा आदिसे पीड़ित होता है। जिस प्रकार महाप्रवासमें जानेवाला पुरुष अन्न-जल आदि साथमें लेनेसे क्षुधा-तृषासे रहित होकर सुखको प्राप्त करता है वैसे ही धर्मका आचरण करनेवाला पुरुष परभवमें जाता हुआ सुखको पाता है; अल्प कर्मरहित होता है; और असातावेदनीयसे रहित होता है। हे गुरुजनो! जैसे जिस समय किसी गृहस्थका घर जलने लगता है, उस समय उस घरका मालिक केवल अमूल्य वस्त्र आदिको ही लेकर बाकीके जीर्ण वस्त्र आदिको छोड़ देता है, वैसे ही लोकको जलता देखकर जीर्ण वस्त्ररूप जरा मरणको छोड़कर उस दाहसे (आप आज्ञा दें तो मैं) अमूल्य आत्माको उबार लूँ।

मृगापुत्रके ऐसे वचनोंको सुनकर मृगापुत्रके माता पिता शोकार्त होकर बोले, हे पुत्र ! यह तू क्या कहता है ? चारित्रका पालना बहुत कठिन है । उसमें यतियोंको क्षमा आदि गुणोंको धारण करना पड़ता है, उन्हें निबाहना पड़ता है, और उनकी यत्नसे रक्षा करनी पड़ती है । संयतिको मित्र और शत्रुमें समभाव रखना पड़ता है । संयतिको अपनी और दूसरोंकी आत्माके ऊपर समबुद्धि रखनी पड़ती है, अथवा सम्पूर्ण जगत्के ही ऊपर समानभाव रखना पड़ता है—ऐसे पालनेमें दुर्लभ प्राणातिपातविरति नामके प्रथम व्रतको जीवनपर्यन्त पालना पड़ता है। संयतिको सदैव अप्रमादपनेसे मृषा वचनका त्यागना, हितकारी वचनका बोलना—ऐसे पालनेमें दुष्कर दूसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । संयतिको दंत-शोधनके लिये एक सींकतक भी विना दिये हुए न लेना, निर्वद्य और दोषरहित भिक्षाका ग्रहण करना—ऐसे पालनेमें दुष्कर तीसरे व्रतको धारण करना पड़ता है । काम-भोगके स्वादको जानने और अब्रह्मचर्य धारण करनेका त्याग करके संयतिको ब्रह्मचर्यरूप चौथे व्रतको धारण करना पड़ता है, जिसका पालन करना बहुत कठिन है । धन, धान्य, दासका समुदाय, परिग्रह ममत्वका त्याग, सब प्रकारके आरंभका त्याग, इस तरह सर्वथा निर्ममत्वसे यह पाँचवा महाव्रत धारण करना संयतिको अत्यन्त ही विकट है । रात्रिभोजनका त्याग, और घृत आदि पदार्थोंके वासी रखनेका त्याग, यह भी अति दुष्कर है।

हे पुत्र ! तू चारित्र चारित्र क्या रटता है ? क्या चारित्र जैसी दूसरी कोई भी दुःखप्रद वस्तु है ? हे पुत्र ! क्षुधाका परिषह सहन करना, तृषाका परिषह सहन करना, ठंडका परिषह सहन करना, उष्ण-तापका परिषह सहन करना, डाँस मच्छरका परिषह सहन करना, आक्रोश परिषह सहन करना, उपाश्रयका परिषह सहन करना, तृण आदि स्पर्शका परिषह सहन करना, मलका परिषह सहन करना; निश्चय मान कि ऐसा चारित्र कैसे पाला जा सकता है ? वधका परिषह, और बंधके परिषह कैसे विकट हैं ? भिक्षाचरी कैसी दुर्लभ है ? याचना करना कैसा दुर्लभ है ? याचना करनेपर भी वस्तुका न मिलना यह अलाभ परिषह कितना कठिन है ? कायर पुरुषोंके हृदयको भेद डालनेवाला केशलोंच कैसा विकट है ? तू विचार कर, कर्म-वैरीके लिये रौद्ररूप ब्रह्मचर्य व्रतका पालना कैसा दुर्लभ है ? सचमुच, अधीर आत्माको यह सब अति अति विकट है ।

प्रिय पुत्र ! तु सुख भोगनेके योग्य है । तेरा सुकुमार शरीर अति रमणीय रीतिसे निर्मल स्नान करनेके तो सर्वथा योग्य है । प्रिय पुत्र ! निश्चय ही तू चारित्रको पालनेमें समर्थ नहीं है । चारित्रमें यावज्जीवन भी विश्राम नहीं । संयतिके गुणोंका महासमुदाय लोहेकी तरह बहुत भारी है । संयमके भारका वहन करना अत्यन्त ही विकट है । जैसे आकाश-गंगाके प्रवाहके सामने जाना दुष्कर है, वैसे ही यौवन वयमें संयमका पालना महादुष्कर है । जैसे स्रोतके विरुद्ध जाना कठिन है, वैसे ही यौवन अवस्थामें संयमका पालना महाकठिन है । जैसे भुजाओंसे समुद्रका पार करना दुष्कर है, वैसे ही युवा वयमें संयमगुण-समुद्रका पार करना महादुष्कर है । जैसे रेतका कौर नीरस है, वैसे ही संयम भी नीरस है । जैसे खड्गकी धारके ऊपर चलना विकट है वैसे ही तपका आचरण करना महाविकट है । जैसे सर्प एकांत अर्थात् सीधी दृष्टिसे चलता है, वैसे ही चारित्रमें ईर्यासमितिके कारण एकान्तरूपसे चलना महादुष्कर है । हे प्रिय पुत्र ! जैसे लोहेके चनोंको चबाना कठिन है वैसे ही संयमका पालना भी कठिन है । जैसे अग्निकी शिखाका पान करना दुष्कर है वैसे ही यौवनमें यतिपना अंगीकार करना महादुष्कर है । जैसे अत्यंत मंद संहननके धारक कायर पुरुषका यतिपनेको धारण करना और पालना दुष्कर है; जैसे तराजूसे मेरु पर्वतका तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चलपनेसे,

शंकारहित दश प्रकारके यतिधर्मका पालना दुष्कर है। जैसे भुजाओंसे स्वयंभूरमण समुद्रका पार करना दुष्कर है वैसे ही उपशमहीन मनुष्योंका उपशमरूपी समुद्रको पार कर जाना दुष्कर है।

हे पुत्र ! शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इन पाँच प्रकारके मनुष्यसंबंधी भोगोंको भोगकर भुक्तभोगी होकर तू वृद्ध अवस्थामें धर्मका आचरण करना। माता पिताके भोगसंबंधी उपदेश सुन-कर वह मृगापुत्र माता पितासे इस तरह बोला:—

जिसके विषयकी ओर रुचि ही नहीं उसे संयमका पालना कुछ भी दुष्कर नहीं। इस आत्माने शारी-रिक और मानसिक वेदनाको असातारूपसे अनंत बार सहन की है—भोगी है। इस आत्माने महादुःखसे पूर्ण भयको उत्पन्न करनेवाली अति रौद्र वेदनाएँ भोगीं हैं। जन्म, जरा और मरण ये भयके धाम हैं। चतुर्गतिरूपी संसार-अटवीमें भटकते हुए मैंने अति रौद्र दुःख भोगें हैं। हे गुरुजनो! मनुष्य लोकमें अग्नि जो अतिशय उष्ण मानी गई है, इस अग्निसे भी अनंतगुनी उष्ण ताप-वेदना इस आत्माने नरकमें भोगी है। मनुष्यलोकमें ठंड जो अति शीतल मानी गई है, इस ठंडसे भी अनंतगुनी ठंडको असातापूर्वक इस आत्माने नरकमें भोगी है। लोहेके भाजनमें ऊपर पैर बाँधकर और नीचे मस्तक करके देवताओंद्वारा विक्रियासे बनाई हुई धधकती हुई अग्निमें आक्रंदन करते हुए इस आत्माने अत्यन्त उग्र दुःख भोगा है। महादवकी अग्नि जैसी मरुदेशकी वज्रमय बालूके समान कदंब नामकी नदीकी बालू है, पूर्वकालमें ऐसी उष्ण बालूमें मेरी यह आत्मा अनंतबार जलाई गई है।

आक्रंदन करते हुए मुझे भोजन पकानेके बरतनमें पकानेके लिये अनंतबार पटका गया है। नरकमें महारौद्र परमाधार्मिकोंने मुझे मेरे कड़वे विपाकके लिये अनंतोंबार ऊँचे वृक्षकी शाखासे बाँधा है; बांधवरहित मुझे लम्बी लम्बी आरियोंसे चीरा है; अति तीक्ष्ण कंटकोंसे व्याप्त ऊँचे शाल्मलि वृक्षसे बाँधकर मुझे महान् खेद पहुँचाया है; पाशमें बाँधकर आगे पीछे खींचकर मुझे अत्यन्त दुःखी किया है; महा असह्य कोल्हूमें ईखकी तरह अति रौद्रतासे आक्रन्दन करता हुआ मैं पेला गया हूँ। यह सब जो भोगना पड़ा वह केवल अपने अशुभ कर्मके अनंतोंबारके उदयसे ही भोगना पड़ा। साम नामके परमाधार्मिकोंने मुझे कुत्ता बनाया; शबल नामके परमाधार्मिकोंने उस कुत्तेके रूपमें मुझे जमीनपर गिराया; जीर्ण वस्त्रकी तरह फाड़ा; वृक्षकी तरह काटा; इस समय मैं अत्यन्त छटपटाता था।

विकराल खड्गसे, भालेसे तथा दूसरे शस्त्रोंसे उन प्रचंडोंने मेरे टुकड़े टुकड़े किये। नरकमें पापकर्मसे जन्म लेकर महान्से महान् दुःखोंके भोगनेमें तिलभर भी कमी न रही थी। परतंत्र मुझको अत्यंत प्रज्वलित रथमें रोजकी तरह जबर्दस्ती जोता गया था। मैं देवताओंकी वैक्रियक अग्निमें महिषकी तरह जलाया गया था। मैं भाड़में भूना जाकर असातासे अत्युग्र वेदना भोगता था। मैं ढंक और गिद्ध नामके विकराल पक्षियोंकी सणसीके समान चोंचोंसे चूँथा जाकर अनंत वेदनासे कायर होकर विलाप करता था। तृषाके कारण जल पीनेकी आतुरतामें वेगसे दौड़ते हुए मैं छुरेकी धारके समान अनंत दुःख देनेवाले वैतरणीके पानीको पाता था। वहाँ मैं तीव्र खड्गकी धारके समान पत्तोंवाले और महातापसे संतप्त ऐसे असिपत्र वनमें जाता था। वहाँपर पूर्वकालमें मुझे अनंत बार छेदा गया था। मुद्गरसे, तीव्र शस्त्रसे, त्रिशूलसे, मूसलसे और गदासे मेरा शरीर भग्न किया गया था। शरण-रूप सुखके बिना मैं अशरणरूप अनंत दुःखको पाता था। मुझे वस्त्रके समान छुरेकी तीक्ष्ण धारसे, छुरीसे और कैंचीसे काटा गया था। मेरे खंड खंड टुकड़े किये गये थे। मुझे आड़ा आरपार काटा गया था। चररर शब्द करती हुई मेरी त्वचा उतारी गई थी। इस प्रकार मैंने अनंत दुःख पाये थे।

मैं परवशतासे मृगकी तरह अनंतबार पाशमें पकड़ा गया था। परमाधार्मिकोंने मुझे मगर मच्छके रूपमें जाल डालकर अनंतबार दुःख दिया था। मुझे बाजके रूपमें पक्षीकी तरह जालमें फँसाकर अनंतबार मारा था। फरसा इत्यादि शस्त्रोंसे मुझे अनंतोंबार वृक्षकी तरह काटकर मेरे छोटे छोटे टुकड़े किये थे। जैसे लुहार हथोड़ों आदिके प्रहारसे लोहेको पीटता है वैसे ही मुझे भी पूर्वकालमें परमाधार्मिकोंने अनंतोंबार कूटा था। तांबा, लोहा और सीसेको अग्निमें गालकर उनका कलकल शब्द करता हुआ रस मुझे अनंतबार पिलाया था। अति रौद्रतासे वे परमाधार्मिक मुझे ऐसा कहते जाते थे कि पूर्वभवमें तुझे माँस प्रिय था, अब ले यह माँस। इस तरह मैंने अपने ही शरीरके खंड खंड टुकड़े अनंतबार गटके थे। मद्यकी प्रियताके कारण भी मुझे इससे कुछ कम दुःख नहीं सहने पड़े। इस तरह मैंने महाभयसे, महात्राससे और महादुःखसे थरथर कांपते हुए अनंत वेदना भोगी थी। जो वेदनायें सहनेमें अति तीव्र, रौद्र और उत्कृष्ट काल स्थितिकी हैं, और जो सुननेमें भी अति भयंकर हैं ऐसी वेदनायें उस नरकमें मैंने अनंतबार भोगीं थीं। जैसी वेदना मनुष्यलोकमें दिखाई देती है उससे भी अनंतगुनी अधिक असातावेदनीय नरकमें थी। मैंने सर्व भवोंमें असातावेदनीय भोगी है। वहाँ क्षणमात्र भी सुख न था।

इस प्रकार मृगापुत्रने वैराग्यभावसे संसारके परिभ्रमणके दुःखको कहा। इसके उत्तरमें उसके माता पिता इस तरह बोले, कि हे पुत्र! यदि तेरी इच्छा दीक्षा लेनेकी है तो तू दीक्षा ग्रहण कर, परंतु चारित्रमें रोगोत्पत्तिके समय तेरी दवाई कौन करेगा? दुःखनिवृत्ति कौन करेगा? इसके बिना बड़ी कठिनता होगी? मृगापुत्रने कहा यह ठीक है, परन्तु आप विचार करें कि वनमें मृग और पक्षी अकेले ही रहते हैं, जब उन्हें रोग उत्पन्न होता है तो उनकी चिकित्सा कौन करता है? जैसे वनमें मृग अकेले ही विहार करते हैं वैसे ही मैं भी चारित्र-वनमें विहार करूँगा, और सत्रह प्रकारके शुद्ध संयममें अनुरागी होऊँगा, बारह प्रकारके तपका आचरण करूँगा, तथा मृगचर्यासे विचरूँगा। जब मृगको वनमें रोगका उपद्रव होता है, तो वहाँ उसकी चिकित्सा कौन करता है? ऐसा कहकर वह पुनः बोला, कि उस मृगको कौन औषधि देता है? उस मृगके आनन्द, शांति और सुखको कौन पूँछता है? उस मृगको आहार जल कौन लाकर देता है? जैसे वह मृग उपद्रवरहित होनेके बाद गहन वनमें जहाँ सरोवर होता है, वहाँ जाता है, और घास पानी आदिका सेवन करके फिर यथेच्छ रूपसे विचरता है वैसे ही मैं भी विचरूँगा। सारांश यह है कि मैं इस प्रकारकी मृगचर्याका आचरण करूँगा। इस तरह मैं भी मृगके समान संयमवान होऊँगा। अनेक स्थलोंमें विचरता हुआ यति मृगके समान अप्रतिबद्ध रहे; यतिको चाहिये वह मृगके समान विचरकर मृगचर्याका सेवन करके, सावद्य दूर करके विचरे। जैसे मृग, तृण जल आदिकी गोचरी करता है वैसे ही यति भी गोचरी करके संयम-भारका निर्वाह करे। वह दुराहारके लिये गृहस्थका तिरस्कार अथवा उसकी निंदा न करे, मैं ऐसे ही संयमका आचरण करूँगा।

'**एवं पुत्तो जहासुखं**'—हे पुत्र! जैसे तुझे सुख हो वैसे कर! इस प्रकार माता पिताने आज्ञा दे दी। आज्ञा मिलते ही जैसे महानाग कांचली त्यागकर चला जाता है, वैसे ही वह मृगापुत्र ममत्वभावको नष्ट करके संसारको त्यागकर संयम-धर्ममें सावधान हुआ और कंचन, कामिनी, मित्र, पुत्र, ज्ञाति और सगे संबंधियोंका परित्यागी हुआ। जैसे वस्त्रको झटककर धूलको झाड़ डालते हैं वैसे ही वह भी समस्त प्रपंचको त्यागकर दीक्षा लेनेके लिये निकल पड़ा। वह पवित्र पाँच महाव्रतोंसे युक्त

हुआ; पाँच समितियोंसे सुशोभित हुआ; त्रिगुप्तियोंसे गुप्त हुआ; बाह्य और अभ्यंतर द्वादश तपसे संयुक्त हुआ; ममत्वरहित हुआ; निरहंकारी हुआ; स्त्रियों आदिके संगसे रहित हुआ; और इसका समस्त प्राणियोंमें समभाव हुआ। आहार जल प्राप्त हो अथवा न हो, सुख हो या दुःख हो, जीवन हो या मरण हो, कोई स्तुति करो अथवा कोई निंदा करो, कोई मान करो अथवा अपमान करो, वह उन सबपर समभावी हुआ। वह ऋद्धि, रस और सुख इन तीन गर्वोंके अहंपदसे विरक्त हुआ; मनदंड, वचनदंड और कायदंडसे निवृत्त हुआ; चार कषायोंसे मुक्त हुआ; वह मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य इन तीन शल्योंसे विरक्त हुआ; सात महाभयोंसे भयरहित हुआ; हास्य और शोकसे निवृत्त हुआ, निदानरहित हुआ; राग द्वेषरूपी बंधनसे छूट गया; वाँछारहित हुआ; सब प्रकारके विलाससे रहित हुआ; और कोई तलवारसे काटे या कोई चंदनका विलेप करे उसपर समभावी हुआ। उसने पापके आनेके सब द्वारोंको बंद कर दिया; वह शुद्ध अंतःकरण सहित धर्मध्यान आदि व्यापारमें प्रशस्त हुआ; जिनेन्द्र-शासनके तत्त्वोंमें परायण हुआ; वह ज्ञानसे, आत्मचारित्रसे, सम्यक्त्वसे, तपसे और प्रत्येक महाव्रतकी पाँच पाँच भावनाओंसे अर्थात् पाँचों महाव्रतोंकी पच्चीस भावनाओंसे, और निर्मलतासे अनुपम-रूपसे विभूषित हुआ। अंतमें वह महाज्ञानी युवराज मृगापुत्र सम्यक् प्रकारसे बहुत वर्षतक आत्म-चारित्रकी सेवा करके एक मासका अनशन करके सर्वोत्तम मोक्षगतिमें गया।

प्रमाणशिक्षा:—तत्त्वज्ञानियोंद्वारा सप्रमाण सिद्धकी हुई द्वादश भावनाओंमें की संसारभावनाको दृढ़ करनेके लिये यहाँ मृगापुत्रके चरित्रका वर्णन किया गया है। संसार-अटवीमें परिभ्रमण करनेमें अनंत दुःख है यह विवेक-सिद्ध है; और इसमें भी जिसमें निमेषमात्र भी सुख नहीं ऐसी नरक अधोगतिके अनंत दुःखोंको युवक ज्ञानी योगीन्द्र मृगापुत्रने अपने माता पिताके सामने वर्णन किया है। वह केवल संसारसे मुक्त होनेका वीतरागी उपदेश देता है। आत्म-चारित्रके धारण करनेपर तप, परिषह आदिके बाह्य दुःखको दुःख मानना और महा अधोगतिके भ्रमणरूप अनंत दुःखको बहिर्भाव मोहिनीसे सुख मानना, यह देखो कैसी भ्रमविचित्रता है! आत्म-चारित्रका दुःख दुःख नहीं, परन्तु वह परम सुख है, और अन्तमें वह अनंतसुख-तरंगकी प्राप्तिका कारण है। इसी तरह भोगविलास आदिका सुख भी क्षणिक और बहिर्दृश्य सुख केवल दुःख ही है, वह अन्तमें अनंत दुःखका कारण है; यह बात सप्रमाण सिद्ध करनेके लिये महाज्ञानी मृगापुत्रके वैराग्यको यहाँ दिखाया है। इस महाप्रभाववान, महा-यशोमान मृगापुत्रकी तरह जो साधु तप आदि और आत्म-चारित्र आदिका शुद्धाचरण करता है, वह उत्तम साधु त्रिलोकमें प्रसिद्ध और सर्वोच्च परमसिद्धिदायक सिद्धगतिको पाता है। तत्त्वज्ञानी संसारके ममत्वको दुःखवृद्धिरूप मानकर इस मृगापुत्रकी तरह परम सुख और परमानंदके कारण ज्ञान, दर्शन चारित्ररूप दिव्य चिंतामणिकी आराधना करते हैं।

महर्षि मृगापुत्रका सर्वोत्तम चरित्र (संसारभावनाके रूपसे) संसार-परिभ्रमणकी निवृत्तिका और उसके साथ अनेक प्रकारकी निवृत्तियोंका उपदेश करता है। इसके ऊपरसे अंतर्दर्शनका नाम निवृत्ति-बोध रखकर आत्म-चारित्रकी उत्तमताका वर्णन करते हुए मृगापुत्रका यह चरित्र यहाँ पूर्ण होता है। तत्त्व-ज्ञानी सदा ही संसार-परिभ्रमणकी निवृत्ति और सावद्य उपकरणकी निवृत्तिका पवित्र विचार करते रहते हैं।

इस प्रकार अंतर्दर्शनके संसारभावनारूप छठे चित्रमें मृगापुत्र चरित्र समाप्त हुआ।

सप्तम चित्र

आश्रवभावना

बारह अविरति, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पाँच मिथ्यात्व और पन्द्रह योग ये सब मिलकर सत्तावन आश्रव-द्वार अर्थात् पापके प्रवेश होनेकी प्रनालिकायें हैं।

कुंडरीक

महाविदेहमें विशाल पुंडरिकिणी नगरीके राज्यसिंहासनपर पुण्डरीक और कुण्डरीक नामके दो भाई राज करते थे। एक समय वहाँ तत्त्वविज्ञानी मुनिराज विहार करते हुए आये। मुनिके वैराग्य-वचनामृतसे कुंडरीक दीक्षामें अनुरक्त हो गया, और उसने घर आनेके पश्चात् पुंडरीकको राज्य सौंपकर चारित्रको अंगीकार किया। रूखा सूखा आहार करनेके कारण वह थोड़े समयमें ही रोगग्रस्त हो गया, इस कारण अंतमें उसका चारित्र भंग हो गया। उसने पुंडरीकिणी महानगरीकी अशोकवाटिकामें आकर ओघा और मुखपत्ती वृक्षपर लटका दिये; और वह इस बातका निरंतर सोच करने लगा कि अब पुंडरीक मुझे राज देगा या नहीं? वनरक्षकने कुंडरीकको पहचान लिया। उसने जाकर पुंडरीकसे कहा कि बहुत व्याकुल अवस्थामें आपके भाई अशोक बागमें ठहरे हुए हैं। पुंडरीकने वहाँ आकर कुंडरीकके मनोगत भावोंको जान लिया, और उसे चारित्रसे डगमगाते देखकर बहुतसा उपदेश दिया, और अन्तमें राज सौंपकर घर चला आया।

कुंडरीककी आज्ञाको सामंत अथवा मंत्री लोग कोई भी न मानते थे, और वह हजार वर्षतक प्रवज्याका पालन करके पतित हो गया है, इस कारण सब कोई उसे धिक्कारते थे। कुंडरीकने राज होनेके बाद अति आहार कर लिया, इस कारण उसे रात्रिमें बहुत पीड़ा हुई और वमन हुआ उसपर अप्रीति होनेके कारण उसके पास कोई भी न आया, इससे कुण्डरीकके मनमें प्रचंड क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने निश्चय किया कि यदि इस रोगसे मुझे शांति मिले तो फिर मैं सुबह होते ही इन सबको देख लूँगा। ऐसे महादुर्ध्यानसे मरकर वह सातवें नरकमें अपयठांण पाथड़ेमें तैंतीस सागरकी आयुके साथ अनंत दुःखमें जाकर उत्पन्न हुआ। कैसा विपरीत आश्रव-द्वार!!!

इस प्रकार सप्तम चित्रमें आश्रवभावना समाप्त हुई।

अष्टम चित्र

संवरभावना

सम्वर भावना—जो ऊपर कहा है वह आश्रव-द्वार है। और पाप-प्रनालिकाको सर्व प्रकारसे रोकना (आते हुए कर्म-समूहको रोकना) वह संवरभाव है।

पुंडरीक

(कुंडरीककी कथा अनुसंधान) कुंडरीकके मुखपत्ती इत्यादि उपकरणोंको ग्रहणकर पुंडरीकने निश्चय किया कि मुझे पहिले महर्षि गुरुके पास जाना चाहिये, और उसके बाद ही अन्न जल ग्रहण करना चाहिये।

नंगे पैरोंसे चलनेके कारण उसके पैरोंमें कंकरों और काँटोंके चुभनेसे खूनकी धारायें निकलने लगीं तो भी वह उत्तम ध्यानमें समताभावसे अवस्थित रहा। इस कारण यह महानुभाव पुंडरीक मरकर समर्थ सर्वार्थसिद्धि विमानमें तैंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुसहित देव हुआ। आश्रवसे कुंडरीककी कैसी दुःखदशा हुई और संवरसे पुण्डरीकको कैसी सुखदशा मिली!

संवरभावना-द्वितीय दृष्टांत

श्रीवज्रस्वामी

श्रीवज्रस्वामी कंचन-कामिनीके द्रव्य-भावसे सम्पूर्णतया परित्यागी थे। किसी श्रीमंतकी रुक्मिणी नामकी मनोहारिणी पुत्री वज्रस्वामीके उत्तम उपदेशको श्रवण करके उनपर मोहित हो गई। उसने घर आकर माता पितासे कहा कि यदि मैं इस देहसे किसीको पति बनाऊँ तो केवल वज्रस्वामीको ही बनाऊँगी? किसी दूसरेके साथ संलग्न न होनेकी मेरी प्रतिज्ञा है। रुक्मिणीको उसके माता पिताने बहुत कुछ समझाया, और कहा कि पगली! विचार तो सही कि कहीं मुनिराज भी विवाह करते हैं? इन्होंने तो आश्रव-द्वारकी सत्य प्रतिज्ञा ग्रहण की है, तो भी रुक्मिणीने न माना। निरुपाय होकर धनावा सेठने बहुतसा द्रव्य और सुरूपा रुक्मिणीको साथमें लिया, और जहाँ वज्रस्वामी विराजते थे, वहाँ आकर उनसे कहा कि इस लक्ष्मीका आप यथारुचि उपयोग करें, इसे वैभव-विलासमें काममें लें; और इस मेरी महासुकोमला रुक्मिणी पुत्रीसे पाणिग्रहण करें। ऐसा कहकर वह अपने घर चला आया।

यौवन-सागरमें तैरती हुई रूपकी राशि रुक्मिणीने वज्रस्वामीको अनेक प्रकारसे भोगोंका उपदेश दिया; अनेक प्रकारसे भोगके सुखोंका वर्णन किया; मनमोहक हावभाव तथा अनेक प्रकारके चलायमान करनेवाले बहुतसे उपाय किये; परन्तु वे सब वृथा गये। महासुंदरी रुक्मिणी अपने मोह-कटाक्षमें निष्फल हुई। उग्रचरित्र विजयमान वज्रस्वामी मेरुकी तरह अचल और अडोल रहे। रुक्मिणीके मन, वचन और तनके सब उपदेशों और हावभावसे वे लेशमात्र भी नहीं पिघले। ऐसी महाविशाल दृढ़ता देखकर रुक्मिणी समझ गई, और उसने निश्चय किया कि ये समर्थ जितेन्द्रिय महात्मा कभी भी चलायमान होनेवाले नहीं। लोहे और पत्थरका पिघलाना सुलभ है, परन्तु इस महापवित्र साधु वज्रस्वामीको पिघलानेकी आशा निरर्थक ही है, और वह अधोगतिका कारण है। ऐसे विचार कर उस रुक्मिणीने अपने पिताकी दी हुई लक्ष्मीको शुभ क्षेत्रमें लगाकर चारित्रको ग्रहण किया; मन, वचन और कायाको अनेक प्रकारसे दमन करके आत्म-कल्याणकी साधना की, इसे तत्त्वज्ञानी सम्वरभावना कहते हैं।

इस प्रकार अष्टम चित्रमें संवरभावना समाप्त हुई।

नवम चित्र

निर्जराभावना

बारह प्रकारके तपसे कर्मोंके समूहको जलाकर भस्मीभूत कर डालनेका नाम निर्जराभावना है। बारह प्रकारके तपमें छह प्रकारका बाह्य और छह प्रकारका अभ्यंतर तप है। अनशन, ऊणोदरी वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावच्च, शास्त्रपठन, ध्यान, और कायोत्सर्ग ये छह अभ्यंतर तप हैं। निर्जरा दो प्रकारकी है—एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा। निर्जराभावनापर हम एक विप्र-पुत्रका दृष्टांत कहते हैं।

दृढप्रहारी

किसी ब्राह्मणने अपने पुत्रको सप्तव्यसनका भक्त जानकर अपने घरसे निकाल दिया। वह वहाँसे निकल पड़ा, और जाकर चोरोंकी मंडलीमें जा मिला। उस मंडलीके अगुआने उसे अपने काममें पराक्रमी देखकर उसे अपना पुत्र बनाकर रक्खा। यह विप्रपुत्र दुष्टोंके दमन करनेमें दृढप्रहारी सिद्ध हुआ, इसके ऊपरसे इसका उपनाम दृढप्रहारी पड़ा। यह दृढप्रहारी चोरोंका अगुआ हो गया, और नगर और ग्रामोंके नाश करनेमें प्रबल छातीवाला सिद्ध हुआ। उसने बहुतसे प्राणियोंके

प्राण लिये। एक समय अपने साथी डाकुओंको लेकर उसने एक महानगरको लूटा। दृढप्रहारी एक विप्रके घर बैठा था। उस विप्रके यहाँ बहुत प्रेमभावसे क्षीर-भोजन बनाया गया था। उस क्षीर-भोजनके भाजनसे उस विप्रके लोलुपी बालक चिपट रहे थे। दृढप्रहारी उस भोजनको छूने लगा। ब्राह्मणीने कहा, हे मूर्खराज! इसे क्यों छूता है? यह फिर हमारे काममें नहीं आवेगा, तू इतना भी नहीं समझता। दृढप्रहारीको इन वचनोंसे प्रचंड क्रोध आ गया, और उसने उस दीन स्त्रीको मार डाला। नहाते नहाते ब्राह्मण सहायताके लिये दौड़ा आया, उसने उसे भी परभवको पहुँचाया। इतनेमें घरमेंसे एक दौड़ती हुई गाय आयी और वह अपने सींगोंसे दृढप्रहारीको मारने लगी। उस महादुष्टने उसे भी कालके सुपुर्द की। उसी समय इस गायके पेटमेंसे एक बछड़ा निकलकर नीचे पड़ा। उसे तड़फता देख दृढप्रहारीके मनमें बहुत बड़ा पश्चात्ताप हुआ। मुझे धिक्कार है कि मैंने महाघोर हिंसाएँ कर डालीं! अपने इस पापसे मेरा कब छुटकारा होगा! सचमुच आत्म-कल्याणके साधन करनेमें ही श्रेय है।

ऐसी उत्तम भावनासे उसने पंचमुष्टि केशलोंच किया। वह नगरीके किसी मुहल्लेमें आकर उग्र कायोत्सर्गसे अवस्थित हो गया। दृढप्रहारी पहिले इस समस्त नगरको संतापका कारण हुआ था, इस कारण लोगोंने इसे अनेक तरहसे संताप देना आरंभ किया। आते जाते हुए लोगोंके धूल-मिट्टी और ईंट पत्थरके फेंकनेसे और तलवारकी मूठसे मारनेसे उसे अत्यन्त संताप हुआ। वहाँ लोगोंने डेढ़ महिनेतक उसका अपमान किया। बादमें जब लोग थक गये तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। दृढप्रहारी वहाँसे कायोत्सर्गका पालनकर दूसरे मुहल्लेमें ऐसे ही उग्र कायोत्सर्गमें अवस्थित हो गया। उस दिशाके लोगोंने भी उसका इसी तरह अपमान किया। उन्होंने भी उसे डेढ़ महीने तंग करके छोड़ दिया। वहाँसे कायोत्सर्गका पालनकर दृढप्रहारी तीसरे मुहल्लेमें गया। वहाँके लोगोंने भी उसका इसी तरह महाअपमान किया। वहाँसे डेढ़ महीने बाद वह चौथे मुहल्लेमें डेढ़ मासतक रहा। वहाँ अनेक प्रकारके परिषहोंको सहनकर वह क्षमामें लीन रहा। छट्ठे मासमें अनंत कर्म-समुदायको जलाकर अत्यन्त शुद्ध होते होते वह कर्मरहित हो गया। उसने सब प्रकारके ममत्वका त्याग किया। वह अनुपम कैवल्यज्ञान पाकर मुक्तिके अनंत सुखानंदसे युक्त हुआ। यह निर्जराभावना दृढ़ हुई। अब—

दशमचित्र

लोकस्वरूपभावना

लोकस्वरूपभावनाः—इस भावनाका स्वरूप यहाँ संक्षेपमें कहना है। यदि पुरुष दो हाथ कमरपर रखकर पैरोंको चौड़े करके खड़ा हो तो वैसा ही लोकनाल अथवा लोकका स्वरूप जानना चाहिये। वह लोक स्वरूप तिरछे थालके आकारका है, अथवा खड़े मृदंगके समान है। लोकके नीचे भुवनपति, व्यंतर, और सात नरक हैं; मध्य भागमें, अढ़ाई द्वीप हैं; ऊपर बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान और उनके ऊपर अनंत सुखमय पवित्र सिद्धगतिकी पड़ोसी सिद्धशिला है। यह लोकालोक प्रकाशक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और निरुपम केवलज्ञानियोंने कहा है। संक्षेपमें लोकस्वरूप भावनाको कहा।

इस दर्शनमें पाप-प्रनालिकाको रोकनेके लिये आश्रवभावना और संवरभावना, तप महाफलके लिये निर्जराभावना, और लोकस्वरूपके कुछ तत्त्वोंके जाननेके लिये लोकस्वरूपभावनायें इन चार चित्रोंमें पूर्ण हुईं।

दशम चित्र समाप्त.

श्रीमद् राजचंद्र.

वर्ष १९ मुं. वि. सं. १९४३.

Lakshmi Art, Bombay 8.

विविध पत्र आदि संग्रह
१९वाँ वर्ष

६

ॐ   वि. सं. १९४२

हे वादियो ! मुझे तुम्हारे लिये एकांतवाद ही ज्ञानकी अपूर्णताकी निशानी दिखाई देती है। क्योंकि जैसे नवसिखे कवि लोग काव्यमें जैसे तैसे दोषको छिपानेके लिये 'ही' शब्दका उपयोग करते हैं, वैसे ही तुम भी नवसिखे ज्ञानसे 'ही' अर्थात् निश्चयपनेको कहते हो।

हमारा महावीर इस तरह कभी भी नहीं कहेगा। यही इसकी सत्कवि जैसी चमत्कृति है।

७

वचनामृत   वि. सं. १९४३ कार्तिक

१ यह तो अखंड सिद्धांत मानो कि संयोग, वियोग, सुख, दुःख, खेद, आनंद, अप्रीति, अनुराग इत्यादि योग किसी व्यवस्थित कारणको लेकर ही होते हैं।

२ एकांतभावी अथवा एकांत न्यायदोषको न मान बैठना।

३ किसीका भी समागम करना योग्य नहीं। जबतक ऐसी दशा न हो तबतक अवश्य ही सत्पुरुषोंके समागमका सेवन करना उचित है।

४ जिस कृत्यके अन्तमें दुःख है उसका सन्मान करते हुए प्रथम विचार करो।

५ पहिले तो किसीको अन्तःकरण नहीं देना; यदि दो तो फिर उससे भिन्नता नहीं रखना; यदि अंतःकरण देकर भी भिन्नता रक्खो तो अंतःकरणका देना न देनेके ही समान है।

६ एक भोगको भोगते हुए भी कर्मकी वृद्धि नहीं करता, और एक भोगको नहीं भोगते हुए भी कर्मकी वृद्धि करता है; यह आश्चर्यकारक किन्तु समझने योग्य कथन है।

७ योगानुयोगसे बना हुआ कृत्य बहुत सिद्धि देता है।

८ हमने जिससे भेद-भावको पाया हो उसको सर्वस्व अर्पण करते हुए नहीं रुकना।

९ तब ही लोकापवाद सहन करना जब कि वे ही लोग स्वयं किये हुए अपवादका पुनः पश्चात्ताप करें।

१० हजारों उपदेशोंके वचन सुननेकी अपेक्षा उनमेंसे थोड़े वचनोंको विचारना ही विशेष कल्याणकारी है।

११ नियमपूर्वक किया हुआ काम शीघ्रतासे होता है, अभीष्ट सिद्धि देता है, और आनन्दका कारण होता है।

१५५ बम्बई, कार्तिक वदी १४ गुरु. १९४७

अंतरकी परमार्थ वृत्तियोंको थोडे समयतक प्रगट करनेकी इच्छा नहीं होती। धर्मकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके पत्र, प्रश्न आदिको तो इस समय बंधनरूप माना है; क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी हालमें प्रगट करनेकी इच्छा नहीं, उनके कुछ अंश विवश होकर इनके कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं।

नित्य नियममें तुम्हें तथा अन्य सब भाइयोंको इस समय तो मैं इतना ही कहता हूँ कि जिस किसी भी मार्गसे अनंतकालसे प्रमित आग्रहका, अपनेपनका, और असत्संगका नाश हो उसी मार्गमें वृत्ति लगानी चाहिये; यही चिंतवन रखनेसे और परभवका दृढ विश्वास रखनेसे कुछ अंशोंमें जय प्राप्त हो सकेगी।

---

१५६ बम्बई, कार्तिक वदी १४ शुक्र. १९४७

अभी हालमें तो मैं किसीको भी स्पष्टरूपसे धर्मोपदेश देनेके योग्य नहीं, अथवा ऐसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है। इच्छा न होनेका कारण उदयमें रहनेवाले कर्म ही हैं। मैं तो यही चाहता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्त महापुरुषसे ही धर्मको प्राप्त करे, तथापि मैं जिस वर्तमानकालमें हूँ वह काल ऐसा नहीं है।

सबसे पहिले मनुष्यमें यथायोग्य जिज्ञासुपना आना चाहिये; पूर्वके आग्रहों और असत्संगको हटाना चाहिये; और जिससे धर्म प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह स्वयं भी उसे पाया हुआ है कि नहीं, इस बातकी पूर्ण जाँच करनी चाहिये; यह संतकी समझने जैसी बात है।

---

१५७ बम्बई, मंगसिर सुदी ४ सोम. १९४७

नीचे एक वाक्यपर सामान्यतः स्याद्वाद घटाया है:—

" इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता।"

" *इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।* "

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सर्वथा मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।"

अब इसके ऊपर सामान्य विचार करते हैं। पहिले एक आदमीने कहा कि इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता। ज्योंही यह वाक्य निकला त्योंही शंका हुई कि क्या इस कालमें महाविदेहसे भी मोक्ष नहीं जाते? वहाँसे तो जा सकते हैं, इसलिये फिरसे वाक्य बोलो। अब उसने दूसरी बार कहा:—इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता। तब फिर प्रश्न हुआ कि जंबू, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे मोक्ष चले गये? वह भी तो यही काल था; इसलिये फिर वह सामनेवाला पुरुष विचार करके बोला:—'इस कालमें, कोई भी इस कालमें जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।' फिर प्रश्न

३३ जहाँ 'मैं' मान रहा है वहाँ 'तू' नहीं है, और जहाँ 'तू' मान रहा है वहाँ 'तू' नहीं है।

३४ हे जीव! अब भोगसे शांत हो, शांत! ज़रा विचार तो सही कि इसमें कौनसा सुख है?

३५ बहुत दुखियाजानेपर संसारमें नहीं रहना।

३६ सज्ञान और सत्शीलको साथ साथ बढ़ाना।

३७ किसी एक वस्तुसे मैत्री नहीं करना, यदि करना ही हो तो समस्त जगत्से करना।

३८ महासौंदर्यसे पूर्ण देवांगनाके क्रीड़ा-विलास निरीक्षण करनेपर भी जिसके अंतःकरणमें कामसे अधिकाधिक वैराग्य प्रस्फुरित होता हो उसे धन्य है; उसे त्रिकाल नमस्कार है।

३९ भोगके समयमें योगका स्मरण होना यह लघुकर्मीका लक्षण है।

४० यदि इतना हो जाय तो मैं मोक्षकी इच्छा न करूँ—समस्त सृष्टि सत्शीलकी सेवा करे, नियमित आयु, नीरोग शरीर, अचल प्रेम करनेवाली सुन्दर स्त्रियाँ, आज्ञानुवर्ती अनुचर, कुल-दीपक पुत्र, जीवनपर्यंत बाल्यावस्था, और आत्म-तत्त्वका चिंतवन।

४१ किन्तु ऐसा तो कभी भी होनेवाला नहीं, इसलिये मैं तो मोक्षकी ही इच्छा करता हूँ।

४२ सृष्टि क्या सर्व अपेक्षासे अमर होगी?

४३ शुक्ल निर्जनावस्थाको मैं बहुत मानता हूँ।

४४ सृष्टि-लीलामें शांतभावसे तपश्चर्या करना यह भी उत्तम है।

४५ एकांतिक कथन करनेवाला ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

४६ शुक्ल अंतःकरणके बिना मेरे कथनका कौन इन्साफ़ करेगा?

४७ ज्ञातपुत्र भगवान्के कथनकी ही बलिहारी है।

४८ देव देवीकी प्रसन्नताको हम क्या करेंगे? जगत्की प्रसन्नताको हम क्या करेंगे? प्रसन्नताकी इच्छा करो तो सत्पुरुषकी करो।

४९ मैं सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ।

५० यदि तुम्हें अपनी आत्माके हितके लिये प्रवृत्ति करनेकी अभिलाषा रखनेपर भी इससे निराशा हुई हो तो उसे भी अपना आत्म-हित ही समझो।

५१ यदि अपने शुभ विचारमें सफल न हो, तो स्थिर चित्तसे सफल हुए हो ऐसा समझो।

५२ ज्ञानीजन अंतरंग खेद और हर्षसे रहित होते हैं।

५३ जहाँतक उस तत्त्वकी प्राप्ति न हो वहाँतक मोक्षका सार नहीं मिला।

५४ नियम पालनेकी दृढ़ता करनेपर भी वह नहीं पलता, यह पूर्वकर्मका ही दोष है, ऐसा ज्ञानियोंका कहना है।

५५ संसाररूपी कुटुंबके घर अपनी आत्मा पाहुनेके समान है।

५६ भाग्यशाली वही है जो दुर्भाग्यशालीपर दया करता है।

५७ महर्षि शुभ द्रव्यको शुभ भावका निमित्त कहते हैं।

लोक-लज्जाकी उपेक्षा करके सत्संगका परिचय करना ही श्रेयस्कर है। किसी भी बड़े कारणकी सिद्धिमें लोक-लज्जाका तो सब प्रकारसे त्याग करना ही पड़ता है। सामान्यतः सत्संगका लोक-समुदायमें तिरस्कार नहीं है, जिससे लोक-लज्जा दुःखदायक नहीं होती; केवल चित्तमें सत्संगके लाभका विचार करके निरंतर अभ्यास करते रहें तो परमार्थविषयक दृढ़ता होती है।

१९६

बम्बई, चैत्र सुदी ५ सोम. १९४७

एक पत्र मिला, जिसमें कि 'बहुतसे जीवोंमें योग्यता तो है परन्तु मार्ग बतानेवाला कोई नहीं,' इत्यादि बात लिखी है। इस विषयमें पहिले आपको बहुत करके खुलासा किया था, यद्यपि वह कुछ गूढ़ ही था; तथापि आपमें अत्यधिक परमार्थकी उत्सुकता है, इस कारण वह खुलासा आपको विस्मरण हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

फिर भी आपको स्मरण रहनेके लिये इतना लिखता हूँ कि जबतक ईश्वरेच्छा न होगी तबतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तुच्छ तृणके दो टुकड़े करनेकी भी सत्ता हममें नहीं है। अधिक क्या कहें?

आप तो करुणामय हैं। फिर भी आप हमारी करुणाके संबंधमें क्यों लक्ष नहीं देते, और ईश्वरको क्यों नहीं समझाते?

१९७

बम्बई, चैत्र सुदी ७ बुध. १९४७.

महात्मा कबीरजी तथा नरसी मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत, और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निस्पृह थी। ऐसी दुखी स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये—व्यवहारके लिये परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरेच्छानुसार व्यवहार चलता गया है, तथापि उनकी दरिद्रावस्था आजतक जगत्प्रसिद्ध ही है; और यही उनका सबल माहात्म्य है। परमात्माने इनका 'परचा' पूरा किया है, और वह भी इन भक्तोंकी इच्छाके विरुद्ध जाकर किया है; क्योंकि वैसी भक्तोंकी इच्छा ही नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें भक्तिके रहस्यकी प्राप्ति भी न हो। आप भले ही हजारों बातें लिखें परन्तु जबतक आप निस्पृही नहीं हैं (अथवा न हों) तबतक सब विडंबना ही है।

१९८

बम्बई, चैत्र सुदी ९ शुक्र. १९४७

परेच्छानुचारीके शब्दभेद नहीं होता

(१) मायाका प्रपंच प्रतिक्षण बाधा करता है। उस प्रपंचके तापकी निवृत्ति मानों किसी कल्पद्रुमकी छायासे होती है, अथवा तो केवल-दशासे होती है। इन दोनोंमें भी कल्पद्रुमकी छाया प्रशस्त है; इसके सिवाय तापकी निवृत्ति नहीं होती; और इस कल्पद्रुमको वास्तविकरूपसे पहिचान-

८३ स्त्रीका कोई अंग लेशमात्र भी सुखदायक नहीं तो भी उसे मेरी देह भोगती है।

८४ देह और देहके लिये ममत्व यह मिथ्यात्वका लक्षण है।

८५ अभिनिवेशके उदयमें प्ररूपणा न हो, उसको मैं ज्ञानियोंके कहनेसे महाभाग्य कहता हूँ।

८६ स्याद्वादशैलीसे देखनेपर कोई भी मत असत्य नहीं ठहरता।

८७ ज्ञानीजन स्वादके त्यागको आहारका सच्चा त्याग कहते हैं।

८८ अभिनिवेशके समान एक भी पाखंड नहीं है।

८९ इस कालमें ये बातें बढ़ी हैं:—बहुतसे मत, बहुतसे तत्त्वज्ञानी, बहुतसी माया, और बहुतसा परिग्रह।

९० यदि तत्त्वाभिलाषासे मुझसे पूँछो तो मैं तुम्हें अवश्य रागरहित धर्मका उपदेश दे सकता हूँ।

९१ जिसने समस्त जगत्के शिष्य होनेरूप दृष्टिको नहीं जाना वह सद्गुरु होने योग्य नहीं।

९२ कोई भी शुद्धाशुद्ध धर्म-क्रिया करता हो तो उसको करने दो।

९३ आत्माका धर्म आत्मामें ही है।

९४ मुझपर सब सरलभावसे आज्ञा चलावें तो मैं खुशी हूँ।

९५ मैं संसारमें लेशमात्र भी रागयुक्त नहीं तो भी उसीको भोगता हूँ; मैंने कुछ त्याग नहीं किया।

९६ निर्विकारी दशापूर्वक मुझे अकेला रहने दो।

९७ महावीरने जिस ज्ञानसे जगत्को देखा है वह ज्ञान सब आत्माओंमें है, परन्तु उसका आविर्भाव करना चाहिये।

९८ बहुत ऊब जाओ तो भी महावीरकी आज्ञाका भंग नहीं करना। चाहे जैसी शंका हो तो भी मेरी तरफसे वीरको संदेहरहित मानना।

९९ पार्श्वनाथस्वामीका ध्यान योगियोंको अवश्य स्मरण करना चाहिये। निश्चयसे नागकी छत्र-छायाके समयका वह पार्श्वनाथ कुछ और ही था!

१०० गजसुकुमारकी क्षमा, और राजीमती जो रहनेमीको बोध देती है वह बोध मुझे प्राप्त होओ।

१०१ भोग भोगनेतक (जहाँतक उस कर्मका उदय है वहाँतक) मुझे योग ही प्राप्त रहो!

१०२ मुझे सब शास्त्रोंमें एक ही तत्त्व मिला है, यदि मैं ऐसा कहूँ तो यह मेरा अहंकार नहीं है।

१०३ न्याय मुझे बहुत प्रिय है। वीरकी शैली यही न्याय है, किन्तु इसे समझना दुर्लभ है।

१०४ पवित्र पुरुषोंकी कृपादृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।

१०५ भर्तृहरिका कहा हुआ भाव विशुद्ध-बुद्धिसे विचारनेसे ज्ञानकी बहुत उर्ध्व-दशा होनेतक रहता है।

१०६ मैं किसी भी धर्मसे विरुद्ध नहीं, मैं सब धर्मोंको पालता हूँ; और तुम सब धर्मोंसे विरुद्ध हो ऐसा कहनेमें मेरा आशय उत्तम है।

मात्र केवल प्रारब्ध हो, और दूसरी कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है। परन्तु वह केवल प्रारब्ध उसी समय कहा जा सकता है जब प्राणोंके अंततक भी निष्ठाभेद-दृष्टि न हो, और तुझे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, इस प्रकार जबतक सम्पूर्ण निश्चय न हो तबतक यही श्रेयस्कर है कि उसमें त्याग बुद्धि करनी चाहिये। इस बातका विचार करके, हे जीव! अब तू अल्प कालमें ही निवृत्त हो, निवृत्त!

४४२

हे जीव! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा!

यदि सर्वथा संग-निवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश देखनेमें आये तो एकदेश संग-निवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर!

जिस ज्ञान-दशामें त्याग-अत्याग कुछ भी संभव नहीं, उस ज्ञान-दशाकी जिसमें सिद्धि है, ऐसा तू सर्वसंग त्याग दशाका यदि अल्प कालमें ही वेदन करेगा, तो यदि तू सम्पूर्ण जगत्के समागममें रहे तो भी तुझे वह बाधारूप न हो, इस प्रकारसे आचरण करनेपर भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है, क्योंकि ऋषभ आदि सब परम पुरुषोंने अंतमें ऐसा ही किया है।

४४३

बम्बई, भाद्र. सुदी १० रवि. १९५०

यह आत्मभाव है और यह अन्यभाव है, इस प्रकार बोध-बीजके आत्मामें परिणमित होनेसे अन्यभावमें स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उस अन्यभावसे सर्वथा मुक्त करती है। इसके पश्चात् जिसने निज और परके भावको जान लिया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषको पर-भावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है, उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी उससे उस ज्ञानीका संबंध छूटा ही करता है, उसमें हित-बुद्धि होकर प्रतिबंध नहीं होता।

प्रतिबंध नहीं होता, यह बात एकांत नहीं है। क्योंकि जहाँ ज्ञानका विशेष प्राबल्य न हो, वहाँ पर-भावके विशेष परिचयका उस प्रतिबंधरूप हो जाना भी संभव होता है; और इस कारण भी श्रीजिन-भगवान्‌ने ज्ञानी-पुरुषके लिये भी निज ज्ञानसे संबंध रखनेवाले पुरुषार्थका बखान किया है। उसे भी प्रमाद करना योग्य नहीं, अथवा पर-भावका परिचय करना योग्य नहीं, क्योंकि वह भी किसी अंशसे आत्म-धाराको प्रतिबंधरूप कहे जाने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमाद बुद्धि संभव नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्यरूपसे श्रीजिन आदि महात्माओंने कहा है, तो भी उस पदको चौथे गुणस्थानसे संभव नहीं माना, उसे आगे जाकर ही संभवित माना है। जिससे विचारवान जीवको तो अवश्य ही जैसे बने तैसे पर-भावके परिचित कार्यसे दूर रहना—निवृत्त होना ही योग्य है।

प्रायः करके विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है। फिर भी किसी प्रारब्धके वशसे यदि

गया हो तो 'चरणकरणानुयोग' का विचारना योग्य है; कषायी हो गया हो तो 'धर्मकथानुयोग' का विचारना योग्य है; और जड़ हो गया तो 'गणितानुयोग' का विचार करना योग्य है।

९ कोई भी काम हो उस कामकी निराशाकी इच्छा करना; फिर अन्तमें जितनी सिद्धि हो उतना ही लाभ हुआ समझो; ऐसे करनेसे संतोषी रह सकते हैं।

१० यदि पृथ्वीसंबंधी क्लेश हो तो ऐसा समझना कि वह साथमें आनेवाली नहीं; उलटा मैं ही उसे अपनी देहको देकर चला जाऊँगा; तथा वह कुछ मूल्यवान भी नहीं है। यदि स्त्रीसंबंधी क्लेश, शंका, और भाव हो तो यह समझकर अन्य भोक्ताओंके प्रति हँसना कि अरे! तू मल-मूत्रकी खानमें मोहित हो गया (जिस वस्तुका हम नित्य त्याग करते हैं उसमें)! यदि धनसंबंधी निराशा अथवा क्लेश हो तो धनको भी ऊँचे प्रकारकी एक कँकर समझकर संतोष रखना; तो तू क्रमसे निस्पृही हो सकेगा।

११ तू उस बोधको पा कि जिससे तुझे समाधिमरणकी प्राप्ति हो।

१२ यदि एक बार समाधिमरण हो गया तो सर्व कालका असमाधिमरण दूर हो जायगा।

१३ सर्वोत्तम पद सर्वत्यागीका ही है।

९

स्वरोदयज्ञान

बम्बई, कार्तिक १९४२

यह 'स्वरोदयज्ञान' ग्रंथ पढ़नेवालेके करकमलोंमें रखते हुए इस विषयमें कुछ प्रस्तावना लिखनेकी ज़रूरत है, ऐसा समझकर मैं यह प्रवृत्ति कर रहा हूँ।

हम देख सकते हैं कि स्वरोदयज्ञानकी भाषा आधी हिन्दी और आधी गुजराती है। उसके कर्त्ता एक आत्मानुभवी मनुष्य थे; परन्तु उन्होंने गुजराती और हिन्दी इन दोनोंमें से किसी भी भाषाको नियमपूर्वक पढ़ा हो, ऐसा कुछ भी मालूम नहीं होता। इससे इनकी आत्मशक्ति अथवा योगदशामें कोई बाधा नहीं आती; और इनकी भाषाशास्त्री होनेकी भी कोई इच्छा न थी, इसलिये इन्हें अपने आपको जो कुछ अनुभवगम्य हुआ, उसमेंका लोगोंको मर्यादापूर्वक कुछ उपदेश देनेकी जिज्ञासासे ही इस ग्रंथकी उत्पत्ति हुई है, और ऐसा होनेके कारण ही इस ग्रंथमें भाषा अथवा छंदकी टीपटाप अथवा युक्ति-प्रयुक्तिका आधिक्य देखनेमें नहीं आता।

जगत् जब अनादि अनंत है, तो फिर उसकी विचित्रताकी ओर क्या विस्मय करें? आज कदाचित् जड़वादके लिये जो संशोधन चल रहा है वह आत्मवादको उड़ा देनेका प्रयत्न है, परन्तु ऐसे भी अनंतकाल आये हैं जब कि आत्मवादका प्राधान्य था, इसी तरह कभी जड़वादका भी प्राधान्य था। तत्त्वज्ञानी लोग इसके कारण किसी विचारमें पड़ नहीं जाते, क्योंकि जगत्की ऐसी ही स्थिति है; फिर विकल्पोंद्वारा आत्माको क्यों दुखाना? परन्तु सब वासनाओंका त्याग करनेके बाद जिस वस्तुका अनुभव हुआ, वह क्या वस्तु है, अर्थात् अपना और पराया क्या है? यदि इस प्रश्नके उत्तरमें इस बातका निर्णय किया कि अपना अपना ही है और पराया पराया ही है तो इसके बाद तो भेदवृत्ति रही नहीं। फल यह हुआ कि

दर्शनकी सम्यक्तासे उनकी यही मान्यता रही कि मोहाधीन आत्मा अपने आपको भूलकर जड़पना स्वीकार कर लेती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। फिर उसका स्वीकार करना शब्दकी तकरारमें ———

९

(२)

वर्तमान शताब्दिमें और फिर उसके भी कुछ वर्ष व्यतीत होने तक चिदानन्दजी आत्मज्ञ मौजूद थे। बहुत ही समीपका समय होनेके कारण जिनको उनका दर्शन, समागम, और उनकी दशाका अनुभव हुआ है ऐसे प्रतीतिवाले कुछ मनुष्योंसे उनके विषयमें कुछ मालूम हो सका है। इस विषयमें अब भी उन मनुष्योंसे कुछ जाना जा सकता है।

उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें जान पड़ा कि वे अब क्रमपूर्वक द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावसे यम-नियमोंका पालन न कर सकेंगे। तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता है कि जिस पदार्थकी प्राप्तिके लिये यम-नियमका क्रमपूर्वक पालन किया जाता है उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस श्रेणीसे प्रवृत्ति करना अथवा न करना दोनों समान हैं। जिसको निर्ग्रंथ-प्रवचनमें अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि माना है, उसमेंकी सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु केवल उनके वचनोंका मेरे अनुभव-ज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अप्रमत्तदशामें थे। फिर उस दशामें यम-नियमका पालन करना गौणतासे आ जाता है, इसलिये आधिक अत्मानन्दके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की। इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योंका मिलना भी बड़ा कठिन है। उस अवस्थामें अप्रमत्तताविषयक बातकी असंभावना आसानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनियतपनेसे और गुप्तरूपसे बिताया। यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उलटी ही छाप पड़ती। ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने इस दशाको स्वीकार की। ———

९

(३)

ॐ

जैसे कंचुक त्यागसें विनसत नहीं भुजंग,
देह त्यागसें जीव पुनि तैसे रहत अभंग—श्रीचिदानन्द

जैसे काँचलीका त्याग करनेसे सर्पका नाश नहीं होता वैसे ही देहका त्याग करनेसे जीवका भी नाश नहीं होता, अर्थात् वह तो अभंग ही रहता है।

इस कथनद्वारा जीवको देहसे भिन्न सिद्ध किया है। बहुतसे लोग ऐसा मानते हैं और कहते हैं कि देह और जीवकी भिन्नता नहीं है, और देहका नाश होनेसे जीवका भी नाश हो जाता है, उनका यह कथन केवल विकल्परूप है, प्रमाणभूत नहीं; कारण कि वे काँचलीके नाशसे सर्पका भी नाश होना समझते हैं। और यह बात तो प्रत्यक्ष ही है कि काँचलीके त्यागसे सर्पका नाश नहीं होता। यही बात जीवके लिये भी समझनी चाहिये।

देह-जीवकी काँचलीमात्र है। जबतक काँचली सर्पके साथ लगी हुई है, तबतक जैसे जैसे सर्प

चलता है, वैसे वैसे काँचली भी साथ साथ चलती है, उसके साथ साथ ही मुड़ती है, अर्थात् काँचलीकी सब क्रियायें सर्पकी क्रियाके आधीन रहती हैं। ज्योंही सर्पने काँचलीका त्याग किया कि उसके बाद काँचली उनमेंकी एक भी क्रिया नहीं कर सकती। पहिले वह जो जो क्रिया करती थी वे सब क्रियायें केवल सर्पकी ही थीं, इसमें काँचली केवल संबंधरूप ही थी। इसी तरह जैसे जीव कर्मानुसार क्रिया करता है वैसा ही वर्ताव यह देह भी करती है; यह चलती है, बैठती है, उठती है, यह सब जीवकी प्रेरणासे ही होता है। उसका वियोग होते ही इनमेंसे कुछ भी नहीं रहता।

९

(४)

अहनिंश अधिको प्रेम लगावे, जोगानल घटमांहि जगावे,

अल्पाहार आसन दृढ़ धरे, नयनथकी निद्रा परहरे।

रात दिन ध्यान-विषयमें बहुत प्रेम लगानेसे योगरूपी अग्नि (कर्मको जला देनेवाली) घटमें जगावे। (यह मानों ध्यानका जीवन हुआ।) अब इसके अतिरिक्त उसके दूसरे साधन बताते हैं।

थोड़ा आहार और आसनकी दृढ़ता करे। यहाँपर आसनसे पद्मासन, वीरासन, सिद्धासन अथवा चाहे जो आसन हो, जिससे मनोगति बारंबार इधर उधर न जाय, ऐसा आसन समझना चाहिये। इस तरह आसनका जय करके निद्राका परित्याग करे। यहाँ परित्यागसे एकदेश परित्यागका आशय है। योगमें जिस निद्रासे बाधा पहुँचती है उस निद्राका अर्थात् प्रमत्तभावके कारण दर्शनावरणीयकी वृद्धि इत्यादिसे उत्पन्न हुई निद्राका अथवा अकालिक निद्राका त्याग करे।

१०

जीवतत्त्वके संबंधमें विचार

१. जीव तत्त्वको एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार प्रकारसे, पाँच प्रकारसे और छह प्रकारसे समझ सकते हैं।

अ—सब जीवोंके कमसे कम श्रुतज्ञानका अनंतवाँ भाग प्रकाशित रहता है इसलिये सब जीव चैतन्य लक्षणसे एक ही प्रकारके हैं।

जो गरमीमेंसे छायामें आयें, छायामेंसे गरमीमें जाँय, जिनमें चलने फिरनेकी शक्ति हो, जो भयवाली वस्तु देखकर डरते हों, ऐसे जीवोंकी जातिको त्रस कहते हैं। तथा इनके सिवायके जो जीव एक ही जगहमें स्थित रहते हों, ऐसे जीवोंकी जातिको स्थावर कहते हैं। इस तरह सब जीव दो प्रकारोंमें आ जाते हैं।

यदि सब जीवोंको वेदकी दृष्टिसे देखते हैं तो स्त्री, पुरुष, और नपुंसकवेदमें सबका समावेश हो जाता है। कोई जीव स्त्रीवेदमें, कोई पुरुषवेदमें, और कोई नपुंसकवेदमें रहते हैं। इनके सिवाय कोई चौथा वेद नहीं है इसलिये वेददृष्टिसे सब जीव तीन प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

बहुतसे जीव नरकगतिमें रहते हैं, बहुतसे तिर्यंचगतिमें रहते हैं, बहुतसे मनुष्यगतिमें रहते हैं, और बहुतसे देवगतिमें रहते हैं। इसके सिवाय कोई पाँचवीं संसारी गति नहीं है इसलिये जीव चार प्रकारसे समझे जा सकते हैं।

११

जीवाजीव-विभक्ति

वि. सं. १९४३

जीव और अजीवके विचारको एकाग्र मनसे श्रवण करो। जिसके जाननेसे भिक्षु लोग सम्यक् प्रकारसे संयममें यत्न करें।

जहाँ जीव और अजीव पाये जाते हैं उसे लोक ००० कहा है, और अजीवके केवल आकाश-वाले भागको अलोक कहा है।

जीव और अजीवका ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे हो सकता है।

रूपी और अरूपीके भेदसे अजीवके दो भेद होते हैं। अरूपीके दस भेद, तथा रूपीके चार भेद कहे गये हैं।

धर्मास्तिकाय, उसका देश, और उसके प्रदेश; अधर्मास्तिकाय, उसका देश और उसके प्रदेश; आकाश, उसका देश, और उसके प्रदेश; तथा अर्द्धसमयकाल; इस तरह अरूपीके दस भेद होते हैं।

धर्म और अधर्म इन दोनोंको लोक प्रमाण कहा है।

आकाश लोकालोक प्रमाण, और अर्द्धसमय मनुष्यक्षेत्र-प्रमाण है। धर्म, अधर्म और आकाश ये अनादि अनंत हैं।

निरंतरकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे समय भी अनादि अनंत है। संतति अर्थात् एक कार्यकी अपेक्षासे वह सादि सांत है।

स्कंध, स्कंध देश, उसके प्रदेश, और परमाणु इस प्रकार रूपी अजीव चार प्रकारके हैं।

परमाणुओंके एकत्र होनेसे, और जिनसे वे पृथक् होते हैं उनको स्कंध कहते हैं; उसके विभागको देश, और उसके अंतिम अभिन्न अंशको प्रदेश कहते हैं।

स्कंध लोकके एकदेशमें व्याप्त है। इसके कालके विभागसे चार प्रकार कहे जाते हैं।

ये सब निरंतर उत्पत्तिकी अपेक्षासे अनादि अनंत हैं; और एक क्षेत्रकी स्थितिकी अपेक्षासे सादि सांत हैं।———————————

१२

बम्बई, १९४३ पौष वदी १० बुधवार

विवाहके संबंधमें उन्होंने जो मिति निश्चित की है, यदि इसके विषयमें उनका आग्रह है तो वह मिति भले ही निश्चित रहो।

लक्ष्मीपर प्रीति न होनेपर भी वह किसी परोपकारके काममें बहुत उपयोगी हो सकती है, ऐसा माल्म होनेसे मौन धारण करके मैं यहाँ उसके संबंधमें उसकी सद्व्यवस्था करनेमें लगा हुआ था। इस व्यवस्थाका अभीष्ट परिणाम आनेमें बहुत समय न था; परन्तु इनकी तरफका एक ममत्वभाव शीघ्रता कराता है जिससे सब कुछ पड़ा हुआ छोड़कर वदी १३ या १४ (पौषकी) के रोज यहाँसे रवाना होता हूँ।

परोपकार करते हुए भी यदि कदाचित् लक्ष्मी अंधापन, बहरापन, गूँगापन प्रदान कर दे तो उसकी भी परवा नहीं !

अपना जो परस्परका संबंध है वह कुछ रिश्तेदारीका नहीं, परन्तु हृदय-सम्मिलनका है। यद्यपि ऐसा प्रकट ही है कि उनमें परस्पर लोहे और चुम्बकका सा गुण प्राप्त हुआ है, तो भी मैं इससे भी भिन्नरूपसे आपको हृदयरूप करना चाहता हूँ। सब प्रकारके संबंधीपनेको और संसार-योजनाको दूर करके ये विचार मुझे तत्त्वविज्ञानरूपसे बताने हैं, और उन्हें आपको स्वयं अनुकरण करना है। इतनी बात बहुत सुखप्रद होनेपर मार्मिकरूपसे आत्मस्वरूपके विचारपूर्वक यहाँ लिखता हूँ।

क्या उनके हृदयमें ऐसी सुन्दर योजना है कि वे शुभ प्रसंगमें सद्विवेकी और रूढ़ीसे प्रतिकूल रह सकते हैं जिससे परस्पर कुटुम्बरूपसे स्नेह उत्पन्न हो सके? क्या आप ऐसी योजनाको करेंगे? क्या कोई दूसरा ऐसा करेगा? यह विचार पुनः पुनः हृदयमें आया करता है। इसीलिये साधारण विवेकी जिस विचारको हवाई समझते हैं, तथा जिस वस्तु और जिस पदकी प्राप्ति आज राज्यश्री चक्रवर्ती विक्टोरियाको भी दुर्लभ और सर्वथा असंभव है, उन विचारोंकी, उस वस्तुकी और उस पदकी ओर सम्पूर्ण इच्छा होनेके कारण यह लिखा है। यदि इससे कुछ लेशमात्र भी प्रतिकूल हो तो उस पदाभिलाषी पुरुषके चरित्रको बड़ा कलंक लगता है। इन सब (इस समय लगनेवाले) हवाई विचारोंको मैं केवल आपसे ही कहता हूँ।

अंतःकरण शुद्ध अद्भुत विचारोंसे भरपूर है। परन्तु आप वहाँ रहे या मैं यहाँ रहूँ, एक ही बात है!

२०वाँ वर्ष

१३ ववाणीया, १९४४ प्र. चैत्र सुदी ११॥ रवि.

क्षणभंगुर दुनियामें सत्पुरुषका समागम होना, यही अमूल्य और अनुपम लाभ है।

---

१४ ववाणीया, आषाढ़ वदी ३ बुध. १९४४

यह एक अद्भुत बात है कि—

चार पाँच दिन हुए बाँई आँखमें, एक छोटा चक्र जैसा बिजलीकी तरहका प्रकाश हुआ करता है, जो आँखसे जरा दूर जाकर अदृश्य हो जाता है। यह लगभग पाँच मिनिटतक होता रहता है, अथवा पाँच मिनिटतक दिखाई देता है। यह मेरी दृष्टिमें वारम्बार देखनेमें आता है। इस संबंधमें किसी प्रकारकी भी भ्रमणा नहीं। इसका कोई निमित्तकारण भी माॡम नहीं होता। इससे बहुत आश्चर्य पैदा होता है। आँखमें दूसरा किसी भी प्रकारका विकार नहीं है किन्तु प्रकाश और दिव्यता विशेष रूपसे रहा करती है। माॡम होता है कि लगभग चार दिन पहिले दुपहरके २–२० मिनिटपर एक आश्चर्यपूर्ण स्वप्न आनेके बाद यह शुरू हुआ है। अंतःकरणमें बहुत प्रकाश रहा करता है। शक्ति बहुत तीव्र रहा करती है। ध्यान समाधिस्थ रहता है। कोई कारण समझमें नहीं आता। यह बात गुप्त रखनेके लिये ही प्रगट करता हूँ। अब इस संबंधमें विशेष फिर लिखूँगा।

---

१५ ववाणीया, १९४४ श्रावण वदी १३ सोम.

बाई आँख संबंधी चमत्कारसे आत्मशक्तिमें थोड़ा फेरफार हुआ है।

---

१६ ववाणीया, १९४४ आषाढ़ वदी ४ शुक्र.

आप अर्थकी बेदरकारी न रक्खें। शरीर और आत्मिक-सुखकी इच्छा करके व्ययका कुछ संकोच करेंगे तो मैं समझूँगा कि मेरे ऊपर उपकार हुआ।

भवितव्यताका भाव होगा तो मैं अनुकूल समय मिलनेपर आपके सत्संगका लाभ उठा सकूँगा।

---

१७ ववाणीया, १९४४ श्रावण वदी १४ अमावस्या

उपाधि कम है यह आनंदकी बात है। धर्म क्रियाके लिये कुछ वक्त मिलता होगा।

धर्म क्रियाका थोड़ा समय मिलता है। आत्म-सिद्धिका भी थोड़ा समय मिलता है। शास्त्र-पठन और अन्य वाँचनका भी थोड़ा समय मिलता है। थोड़ा समय लेखन क्रियामें जाता है। थोड़ा

समय आहार-विहार क्रियामें जाता है। थोड़ा समय शौच क्रियामें जाता है। छह घंटे निद्रामें जाते हैं। थोड़ा समय मनोराज रोकते हैं। फिर भी छह घंटे बच जाते हैं। सत्संगका लेशमात्र भी न मिलनेसे यह विचारी आत्मा विवेक प्राप्तिके लिये छटपटाया करती है।

१८

वि. सं. १९४४

जब आत्मा सहज स्वभावसे मुक्त, अत्यंत प्रत्यक्ष और अनुभवस्वरूप है, तो फिर ज्ञानी पुरुषोंको आत्मा है, आत्मा नित्य है, बंध है, मोक्ष है, इत्यादि अनेक प्रकारसे निरूपण करना योग्य न था।

यदि आत्मा अगम अगोचर है तो फिर वह किसीके द्वारा नहीं जानी जा सकती, और यदि वह सुगम सुगोचर है तो फिर उसको जाननेका प्रयत्न करना ही योग्य नहीं।

१९

वि. सं. १९४४

नेत्रोंकी श्यामतामें जो पुतलियाँ हैं, वे सब रूपको देखती हैं और साक्षीभूत हैं, किन्तु वे इस अंतरको क्यों नहीं देखतीं? जो त्वचाको स्पर्श करती है, शीत उष्णादिकको जानती है, ऐसी वह सर्व अंगोंमें व्याप्त होकर अनुभव करती है—जैसे तिलोंमें तेल व्यापक रहता है—उसका अनुभव कोई भी नहीं करता। जो शब्द-श्रवण-इंद्रियके भेदोंको ग्रहण करती है, उस शब्दशक्तिको जाननेवाली कोई न कोई सत्ता अवश्य है, जिसमें शब्दशक्तिका विचार होता है, जिसके कारण रोम खड़े हो आते हैं, वह सत्ता दूर कैसे हो सकती है? जो अपनी जिह्वाके अग्रमें रसस्वादको ग्रहण करती है, उस रसका अनुभव करनेवाली कोई न कोई अलेप सत्ता अवश्य है, वह सामने आये विना कैसे रह सकती है? वेद, वेदांत, सप्त सिद्धांत, पुराण, गीताद्वारा जो ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य आत्मा है उसको ही जब जान लिया तब विश्राम कैसे न हो?

२०

(१) बम्बई, वि. सं. १९४४

जिस आत्मामें विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इतने गुण हों, वह आत्मा तत्त्व पानेके लिये उत्तम पात्र है।

अनंतबार जन्ममरण कर चुकी हुई इस आत्माकी करुणा ऐसे ही उत्तम पात्रको उत्पन्न होती है, और ऐसा वह पात्र ही कर्म-मुक्त होनेका अभिलाषी कहा जा सकता है। वही पुरुष यथार्थ पदार्थको यथार्थ स्वरूपसे समझकर मुक्त होनेके पुरुषार्थमें लगता है।

जो आत्माएँ मुक्त हुई हैं वे आत्माएँ कुछ स्वच्छंद आचरणसे मुक्त नहीं हुईं, परन्तु वे आप्तपुरुषके उपदेश किये हुये मार्गके प्रबल अवलंबनसे ही मुक्त हुई हैं।

अनादि कालके महाशत्रुरूपी राग, द्वेष और मोहके बंधनमें वह अपने संबंधमें विचार नहीं कर-

सकी। मनुष्यत्व, आर्यदेश, उत्तम कुल, शारीरिक संपत्ति ये अपेक्षित साधन हैं, और अंतरंग साधन केवल मुक्त होनेकी सच्ची अभिलाषा ही है।

यदि आत्मामें इस प्रकारकी सुलभ–बोध प्राप्त करनेकी योग्यता आ गई हो, तो जो पुरुष मुक्त हुए हैं, अथवा वर्तमानमें मुक्तपनेसे अथवा आत्मज्ञान दशासे विचरते हैं उनके उपदेश किये हुए मार्गमें किसी भी प्रकारके संदेहसे रहित होकर श्रद्धाशील हो सकते हैं।

जिसमें राग, द्वेष, और मोह नहीं वही पुरुष तीनों दोषोंसे रहित मार्गका उपदेश कर सकता है, अथवा तो उसी पद्धतिसे निशंकित होकर आचरण करनेवाले सत्पुरुष उस मार्गका उपदेश दे सकते हैं।

सब दर्शनोंकी शैलीका विचार करनेसे राग, द्वेष और मोहरहित पुरुषका उपदेश किया हुआ निर्ग्रन्थ दर्शन ही विशेषरूपसे मानने योग्य है।

इन तीन दोषोंसे रहित, महा अतिशयसे प्रतापशाली तीर्थंकरदेवने मोक्षके कारणरूप जिस धर्मका उपदेश किया है, उस धर्मको चाहे जो मनुष्य स्वीकार करते हों, परन्तु वह एक पद्धतिसे होना चाहिये, यह बात शंकारहित है।

उस धर्मका अनेक मनुष्य अनेक पद्धतियोंसे प्रतिपादन करते हों और उससे मनुष्योंमें परस्पर मतभेदका कोई कारण होता हो, तो उसमें तीर्थंकरदेवकी एक पद्धतिका दोष नहीं है, परन्तु उसमें उन मनुष्योंकी समझ शक्तिका ही दोष गिना जा सकता है।

इस रीतिसे हम निर्ग्रंथ मतके प्रवर्तक हैं, इस प्रकार भिन्न भिन्न मनुष्य कहते हैं, परन्तु उनमेंसे वे मनुष्य ही प्रमाणभूत गिने जा सकते है जो वीतरागदेवकी आज्ञाके सत्भावसे प्ररूपक एवं प्रवर्तक हों।

यह काल दुःषम नामसे प्रख्यात है। दुःषमकाल उसे कहते हैं कि जिस कालमें मनुष्य महा-दुःखसे आयु पूर्ण करते हों, तथा जिसमें धर्माराधनारूप पदार्थोंके प्राप्त करनेमें दुःषमता अर्थात् महाविघ्न आते हों।

इस समय वीतरागदेवके नामसे जैनदर्शनमें इतने अधिक मत प्रचलित हो गये हैं कि वे मत केवल मतरूप ही रह गये हैं; परन्तु जबतक वे वीतरागदेवकी आज्ञाका अवलंबन करके प्रवृत्ति न करते हों तबतक वे सत्रूप नहीं कहे जा सकते।

इन मतोंके प्रचलित होनेमें मुझे इतने मुख्य कारण माल्रम होते हैं:–(१) अपनी शिथिलताके कारण बहुतसे पुरुषोंद्वारा निर्ग्रंथदशाके प्राधान्यको घटा देना। (२) परस्पर दो आचार्योंका वादविवाद। (३) मोहनीयकर्मका उदय और तदनुरूप आचरणका हो जाना। (४) एक बार अमुक मत ग्रहण हो जानेके बाद उस मतसे छूटनेका यदि मार्ग मिल भी रहा हो तो भी उसे बोधिदुर्लभताके कारण ग्रहण न करना। (५) मतिकी न्यूनता। (६) जिसपर राग हो उसकी आज्ञामें चलनेवाले अनेक मनुष्य। (७) दुःषमकाल, और (८) शास्त्र-ज्ञानका घट जाना।

यदि इन सब मतोंके संबंधमें समाधान हो जाय और सब निःशंकताके साथ वीतरागकी आज्ञानुरूप मार्गपर चलें तो महाकल्याण हो, परन्तु ऐसा होनेकी संभावना कम है। जिसे मोक्षकी

अभिलाषा है, उसकी प्रवृत्ति तो उसी मार्गमें होती है; परन्तु लोक अथवा लोकदृष्टिसे चलनेवाले पुरुष, तथा पूर्वके दुर्घट कर्मके उदयके कारण मतकी श्रद्धामें पड़े हुए मनुष्य, उस मार्गका विचार कर सकें अथवा उसका ज्ञान प्राप्त कर सकें, और ऐसा उनके कुछ बोधिदुर्लभ गुरु करने दें, तथा मतभेद दूर करके परमात्माकी आज्ञाका सम्यक्रूपसे आराधन करते हुए हम उन मतवादियोंको देखें, यह बिलकुल असंभव जैसी बात है। सबको समान बुद्धि उत्पन्न होकर, संशोधन होकर, वीतरागकी आज्ञारूप मार्गका प्रतिपादन हो, यद्यपि यह बात सर्वथारूपसे होने जैसी दीखती नहीं, परन्तु फिर भी यदि सुलभ-बोधि आत्मायें उसके लिये आवश्यक प्रयत्न करती रहें तो परिणाम अवश्य ही श्रेष्ठ आवेगा, यह बात मुझे संभव माद्धम होती है।

दुःषमकालके प्रतापसे, जो लोग विद्याका ज्ञान प्राप्त कर सके हैं उनको धर्मतत्त्वपर मूलसे ही श्रद्धा नहीं होती; तथा सरलताके कारण जिनको कुछ श्रद्धा होती भी है, उन्हें उस विषयका कुछ ज्ञान नहीं होता; यदि कोई ज्ञानवाला भी निकले तो वह ज्ञान उसको धनकी वृद्धिमें विघ्न करनेवाला ही होता है, किन्तु सहायक नहीं होता, ऐसी ही आजकलकी हालत है। इस तरह शिक्षा पाये हुए लोगोंके लिये धर्मप्राप्ति होना अत्यंत कठिन हो गया है।

शिक्षारहित लोगोंमें स्वाभाविकरूपसे एक यह गुण रहता है कि जिस धर्मको हमारे बाप दादा मानते चले आये हैं, उसी धर्मके ऊपर हमें भी चलना चाहिये, और वही मत सत्य भी होना चाहिये। तथा हमें अपने गुरुके वचनोंपर ही विश्वास रखना चाहिये; फिर चाहे वह गुरु शास्त्रके नामतक भी न जानता हो, परन्तु वही महाज्ञानी है ऐसा मानकर चलना चाहिये। इसी तरह जो हम कुछ मानते हैं वही वीतरागका उपदेश किया हुआ धर्म है, बाकी तो केवल जैनमतके नामसे प्रचलित मत हैं और वे सब असत् मत हैं। इस तरह उनकी समझ होनेसे वे बिचारे उसी मतमें संलग्न रहते हैं। अपेक्षा दृष्टिसे देखनेमें इनको भी दोष नहीं दे सकते।

जैनधर्मके अन्तर्गत जो जो मत प्रचलित हैं उनमें बहुत करके जैनसंबंधी ही क्रियायें होगी, यह मानी हुई बात है। इस तरहकी समान प्रवृत्ति देखकर जो लोग जिस मतमें वे दीक्षित हुए हों, उसी मतमें ही वे दीक्षित पुरुष संलग्न रहा करते हैं। दीक्षितोंकी दीक्षा भी या तो भद्रिकताके कारण, या भीख माँगने जैसी स्थितिसे घबड़ा जानेके कारण, अथवा स्मशान-वैराग्यसे ली हुई दीक्षा जैसी होती है। वास्तविक शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणासे दीक्षा लेनेवाले पुरुष तुम विरले ही देखोगे। और यदि देखोगे भी तो वे उस मतसे तंग आकर केवल वीतरागदेवकी आज्ञामें संलग्न होनेके लिये ही अधिक तत्पर होंगे।

जिसको शिक्षाकी सापेक्ष स्फुरणा हुई है, उसके सिवाय दूसरे जितने दीक्षित अथवा गृहस्थ मनुष्य हैं वे सब स्वयं जिस मतमें पड़े रहते हैं उसीमें रागी होते हैं। उनको विचारोंकी प्रेरणा करने-वाला कोई नहीं मिलता। गुरु लोग अपने मतसंबंधी नाना प्रकारके योजना करके रक्खे हुए विकल्पोंको, चाहे उसमें फिर कोई यथार्थ प्रमाण हो अथवा न हो, समझाकर उनको अपने पंजेमें रखकर उन्हें . . . .

चला रहे हैं।

इसी तरह त्यागी गुरुओंके सिवाय ज़बर्दस्तीसे बन बैठे हुए महावीरदेवके मार्गरक्षकरूपसे गिने जानेवाले यतियोंकी मार्ग चलानेकी शैलीके लिये तो कुछ बोलना ही बाकी नहीं रहता। कारण कि गृहस्थके तो अणुव्रत भी होते हैं, परन्तु ये तो तीर्थंकरदेवकी तरह कल्पातीत पुरुष बन बैठे हैं।

संशोधक पुरुष बहुत कम हैं। मुक्त होनेकी अंतःकरणमें अभिलाषा रखनेवाले और पुरुषार्थ करनेवाले बहुत कम हैं। उन्हें सद्गुरु, सत्संग अथवा सत्शास्त्र जैसी सामग्रीका मिलना दुर्लभ हो गया है। जहाँ कहीं भी पूँछने जाओ वहाँ सब अपनी अपनी ही गाते हैं। फिर सच्ची और झूँठीका कोई भाव ही नहीं पूँछता। भाव पूँछनेवालेके आगे मिथ्या प्रश्नोत्तर करके वे स्वयं अपनी संसार-स्थिति बढ़ाते हैं और दूसरेको भी संसारकी स्थिति बढ़ानेका निमित्त होते हैं।

रही सहीमें पूरी बात यह है कि यदि कोई एक कोई संशोधक आत्मा हैं भी तो वे भी अप्रयोजनभूत पृथिवी इत्यादि विषयोंमें शंकाके कारण रुक गई हैं। उन्हें भी अनुभव-धर्मपर आना बहुत ही कठिन हो गया है।

इसपरसे मेरा कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि आजकल कोई भी जैनदर्शनका आराधक नहीं। हैं अवश्य, परन्तु बहुत ही कम, बहुत ही कम। और जो हैं भी उनमें मुक्त होनेके सिवाय दूसरी कोई भी अभिलाषा न हो, और उन्होंने वीतरागकी आज्ञामें ही अपनी आत्मा समर्पण कर दी हो तो ऐसे लोग तो उँगलीपर गिनने लायक ही निकलेंगे, नहीं तो दर्शनकी दशा देखकर करुणा उत्पन्न हो आती है। यदि स्थिर चित्तसे विचार करके देखोगे तो तुम्हें यह मेरा कथन सप्रमाण ही सिद्ध होगा।

इन सब मतोंमें कुछ मतोंके विषयमें तो कुछ सामान्य ही विवाद है। किन्तु मुख्य विवाद तो इस विषयका है कि एक प्रतिमाकी सिद्धि करता है, और दूसरा उसका सर्वथा खंडन करता है।

दूसरे पक्षमें पहिले मैं भी गिना जाता था। मेरी अभिलाषा तो केवल वीतरागदेवकी आज्ञाके आराधन करनेकी ही ओर है। अपनी स्थिति सत्य सत्य स्पष्ट करके यह मैं बता देना चाहता हूँ कि प्रथम पक्ष सत्य है, अर्थात् जिनप्रतिमा और उसका पूजन शास्त्रोक्त, प्रमाणोक्त, अनुभवोक्त और अनुभवमें लेने योग्य है। मुझे उन पदार्थोंका जिस रूपसे ज्ञान हुआ है और उस संबंधमें मुझे जो कुछ अल्प शंका थी वह भी दूर हो गई है। उस वस्तुका कुछ थोड़ासा प्रतिपादन करनेसे उस संबंधमें कोई भी आत्मा विचार कर सकेगी, और उस वस्तुकी सिद्धि हो जाय तो इस संबंधमें उसका मतभेद दूर होनेसे वह सुलभबोध पानेका भी एक कार्य होगा; यह समझकर संक्षेपमें प्रतिमाकी सिद्धिके लिये कुछ विचारोंको यहाँ कहता हूँ:—

मेरी प्रतिमामें श्रद्धा है, इसलिये तुम सब भी श्रद्धा करो इसलिये मैं यह नहीं कह रहा हूँ, परन्तु यदि उससे वीर भगवान्‌की आज्ञाका आराधन होता दिखाई दे तो वैसा करो, परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि—

आगमके कुछ प्रमाणोंकी सिद्धि होनेके लिये परंपराके अनुभव इत्यादिकी आवश्यकता है। यदि तुम कहो तो मैं कुतर्कसे समस्त जैनदर्शनका भी खंडन कर दिखा दूँ; परन्तु उसमें कल्याण नहीं।

जहाँ प्रमाणसे और अनुभवसे वस्तु सत्य सिद्ध हुई वहाँ जिज्ञासु पुरुष अपने चाहे कैसे भी हठको छोड़ देते हैं।

यदि यह महान् विवाद इस कालमें न पड़ा होता तो लोगोंको धर्मकी प्राप्ति बहुत सुलभ हो जाती। संक्षेपमें मैं इस बातको पाँच प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध करता हूँ:—

१ आगम प्रमाण, २ इतिहास प्रमाण, ३ परंपरा प्रमाण, ४ अनुभव प्रमाण, और ५ प्रमाण प्रमाण।

१ आगम प्रमाण—

आगम किसे कहते हैं? पहले इसकी व्याख्या होनेकी जरूरत है। जिसका प्रतिपादक मूल पुरुष आप्त हो और जिसमें उस आप्तपुरुषके वचन सन्निविष्ट हों, वह आगम है। गणधरोंने वीतराग-देवके उपदेश किये हुए अर्थकी योजना करके संक्षेपमें मुख्य मुख्य वचनोंको लेकर लिपिबद्ध किया, और वे ही आगम अथवा सूत्रके नामसे कहे जाते हैं। आगमका दूसरा नाम सिद्धांत अथवा शास्त्र भी है।

गणधरदेवोंने तीर्थंकरदेवसे उपदेशकी हुई पुस्तकोंकी योजनाको द्वादशांगीरूपसे की है। इन बारह अंगोंके नाम कहता हूँ:—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक, और दृष्टिवाद।

१. जिससे वीतरागकी किसी भी आज्ञाका पालन होता हो वैसा आचरण करना, यही मुख्य उद्देश है।

२. मैं पहिले प्रतिमाको नहीं मानता था और अब मानने लगा हूँ, इसमें कुछ पक्षपातका कारण नहीं है; परन्तु मुझे उसकी सिद्धि मालूम हुई इसलिये मानता हूँ। उसकी सिद्धि होनेपर भी इसे न माननेसे पहिलेकी मान्यताकी भी सिद्धि नहीं रहती, और ऐसा होनेसे आराधकता भी नहीं रहती।

३. मुझे इस मत अथवा उस मतकी कोई मान्यता नहीं, परन्तु राग-द्वेषरहित होनेकी परमाकांक्षा है; और इसके लिये जो जो साधन हों उन सबकी मनसे इच्छा करना, उन्हें कायसे करना, ऐसी मेरी मान्यता है, और इसके लिये महावीरके वचनोंपर मुझे पूर्ण विश्वास है।

४. अब केवल इतनी प्रस्तावना करके प्रतिमाके संबंधमें जो मुझे अनेक प्रकारसे प्रमाण मिले हैं उन्हें कहता हूँ। इन प्रमाणोंपर मनन करनेसे पहले वाचक लोग कृपा करके नीचेके विचारोंको ध्यानमें रक्खें:—

(अ) तुम भी पार पानेके इच्छुक हो, और मैं भी हूँ; दोनों ही महावीरके उपदेश—आत्म-हितैषी उपदेशकी इच्छा करते हैं और वही न्याययुक्त भी है। इसलिये जहाँ सत्यता हो वहाँ हम दोनोंको ही निष्पक्षपात होकर सत्यता स्वीकार करनी चाहिये।

(आ) जबतक कोई भी बात योग्य रीतिसे समझमें न आवे तबतक उसे समझते जाना और उस संबंधमें अंतिम बात कहते हुए मौन रखना।

(इ) अमुक बात सिद्ध हो तो ही ठीक है, ऐसी इच्छा न करना, परन्तु सत्य ही सत्य सिद्ध

हो यही इच्छा करना। प्रतिमाके पूजनेसे ही मोक्ष है, अथवा उसे न माननेसे ही मोक्ष है, इन दोनों विचारोंके प्रगट करनेसे इस पुस्तकको योग्य प्रकारसे मनन करनेतक मौन रहना।

(ई) शास्त्रकी शैलीसे विरुद्ध अथवा अपने मानकी रक्षाके लिये कदाग्रही होकर कोई भी बात न कहना।

(उ) जबतक एक बातको असत्य और दूसरीको सत्य माननेमें निर्दोष कारण न दिया जा सके तबतक अपनी बातको मध्यस्थवृत्तिमें रोककर रखना।

(ऊ) किसी भी शास्त्रकारका ऐसा कहना नहीं है कि किसी अमुक धर्मको माननेवाला समस्त समुदाय ही मोक्ष चला जावेगा, परन्तु जिनकी आत्मा धर्मत्वको धारण करेगी वे सभी सिद्धिको प्राप्त करेंगे, इसलिये पहिले स्वात्माको धर्म-बोधकी प्राप्ति करानी चाहिये। उसका यह भी एक साधन है। उसका परोक्ष किंवा प्रत्यक्ष अनुभव किये विना मूर्तिपूजाका खंडन कर डालना योग्य नहीं।

(ए) यदि तुम प्रतिमाको माननेवाले हो तो उससे जिस हेतुको सफल करनेकी परमात्माकी आज्ञा है उसे सफल कर लो, और यदि तुम प्रतिमाका खंडन करते हो तो इन प्रमाणोंको योग्य रीतिसे विचार कर देखो। मुझे दोनोंको ही शत्रु अथवा मित्रमें से कुछ भी नहीं मानना चाहिये। इनकी भी एक राय है, ऐसा समझकर उन्हें इस ग्रंथको पढ़ जाना चाहिये।

(ऐ) इतना ही ठीक है, अथवा इतनेमें से ही प्रतिमाकी सिद्धि हो तो ही हम मानेंगे इस तरहका आग्रह न रखना, परन्तु वीरके उपदेश किये हुए शास्त्रोंसे इसकी सिद्धि हो, ऐसी इच्छा करना।

(ओ) इसीलिये सबसे पहिले विचार करना पड़ेगा कि किन किन शास्त्रोंको वीरके उपदेश किये हुए शास्त्र कह सकते हैं अथवा मान सकते हैं, इसलिये मैं सबसे पहिले इसी संबंधमें कहूँगा।

(औ) मुझे संस्कृत, मागधी अथवा अन्य किसी भाषाका भी मेरी योग्यतानुसार परिचय नहीं, ऐसा मानकर यदि आप मुझे अप्रामाणिक ठहराओगे तो यह बात न्यायके विरुद्ध होगी, इसलिये मेरे कथनकी शास्त्र और आत्म-मध्यस्थतासे जाँच करना।

(अं) यदि मेरे कोई विचार ठीक न लगें, तो उन्हें सहर्ष मुझसे पूँछना, परन्तु उसके पहिले ही उस विषयमें अपनी कल्पनाद्वारा शंका बनाकर मत बैठना।

(अः) संक्षेपमें यही कहना है कि जैसे कल्याण हो वैसे आचरण करनेके संबंधमें यदि मेरा कहना अयोग्य लगता हो तो उसके लिये यथार्थ विचार करके फिर जो ठीक हो उसीको मान्य करना।

शास्त्र-सूत्र कितने हैं ?

१. एक पक्ष ऐसा कहता है कि आजकल पैंतालीस अथवा पैंतालीससे भी अधिक सूत्र हैं; और उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका इन सबको भी मानना चाहिये। दूसरा पक्ष कहता है कि कुल सूत्र बत्तीस ही हैं, और वे बत्तीस ही भगवान्‌के उपदेश किये हुए हैं। बाकीमें कुछ न कुछ मिलावट हो गई है; तथा निर्युक्ति इत्यादि भी मिश्रित ही हैं, इसलिये कुल सूत्र बत्तीस ही मानने चाहिये। इस मान्यताके संबंधमें पहिले मैं अपनी समझमें आये हुए विचारोंको कहता हूँ।

दूसरे पक्षकी उत्पत्ति हुए आज लगभग चारसौ वर्ष हुए हैं। वे लोग जिन बत्तीस सूत्रोंको मानते हैं वे सूत्र इस प्रकार हैं—११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक।

(२)

अन्तिम अनुरोध

अब इस विषयको मैंने संक्षेपमें पूर्ण किया। केवल प्रतिमासे ही धर्म है, ऐसा कहनेके लिये अथवा प्रतिमाके पूजनकी सिद्धिके लिये मैंने इस लघु ग्रंथमें कलम नहीं चलाई। प्रतिमा-पूजनके लिये मुझे जो जो प्रमाण माल्म हुए थे मैंने उन्हें संक्षेपमें कह दिया है। उसमें उचित और अनुचित देखनेका काम शास्त्र-विचक्षण और न्यायसंपन्न पुरुषोंका है। और बादमें जो प्रामाणिक माल्म हो उस तरह स्वयं चलना और दूसरोंको भी उसी तरह प्ररूपण करना यह उनकी आत्माके ऊपर आधार रखता है। इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध नहीं करता; क्योंकि जिस मनुष्यने एक बार प्रतिमा-पूजनका विरोध किया हो, फिर यदि वही मनुष्य उसका समर्थन करे, तो इससे प्रथम पक्षवालोंके लिये बहुत खेद होता है और यह कटाक्षका कारण होता है। मैं समझता हूँ कि आप भी मेरे प्रति थोड़े समय पहिले ऐसी ही स्थितिमें आ गये थे। यदि उस समय इस पुस्तकको मैं प्रसिद्ध करता तो आपका अंतःकरण अधिक दुखता और उसके दुखानेका निमित्त मैं ही होता, इसलिये मैंने ऐसा नहीं किया। कुछ समय बीतनेके बाद मेरे अंतःकरणमें एक ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि तेरे लिये उन भाईयोंके मनमें संक्लेश विचार आते रहेंगे; तथा तूने जिस प्रमाणसे इसे माना है, वह भी केवल एक तेरे ही हृदयमें रह जायगा, इसलिये उसकी सत्यतापूर्वक प्रसिद्धि अवश्य करनी चाहिये। इस विचारको मैंने मान लिया। तब उसमेंसे बहुत ही निर्मल जिस विचारकी प्रेरणा हुई, उसे संक्षेपमें कह देता हूँ। प्रतिमाको मानो, इस आग्रहके लिये यह पुस्तक बनानेका कोई कारण नहीं है, तथा उन लोगोंके प्रतिमाको माननेसे मैं कुछ धनवान् तो हो ही नहीं जाऊँगा। इस संबंधमें मेरे जो जो विचार थे—

२१वाँ वर्ष

२१ भडौंच, मंगसिर सुदी ३ गुरु. १९४५

पत्रसे सब समाचार विदित हुए। अपराध नहीं, परन्तु परतंत्रता है। निरन्तर सत्पुरुषकी कृपा-दृष्टिकी इच्छा करो और शोकरहित रहो, यह मेरा परम अनुरोध है, उसे स्वीकार करना। विशेष न लिखो तो भी इस आत्माको उस बातका ध्यान है। बड़ोंको खुशीमें रक्खो। सच्चा धीरज धरो।

(पूर्ण खुशीमें हूँ।)

---

२२ भडौंच, मंगसिर सुदी १२, १९४५

जगत्में रागहीनता विनय और सत्पुरुषकी आज्ञा ये न मिलनेसे यह आत्मा अनादिकालसे भटकती रही, परन्तु क्या करें लाचारी थी। जो हुआ सो हुआ। अब हमें पुरुषार्थ करना उचित है। जय होओ!

---

२३ बम्बई, मंगसिर वदी ७ भौम. १९४५

जिनाय नमः

मेरी ओर मोह-दशा न रक्खो। मैं तो एक अल्पशक्तिवाला पामर मनुष्य हूँ। सृष्टिमें अनेक सत्पुरुष छिपे पड़े, हैं और विदितरूपसे भी हैं, उनके गुणका स्मरण करो, उनका पवित्र समागम करो और आत्मिक लाभसे मनुष्य भवको सार्थक करो, यही मेरी निरंतर प्रार्थना है।

---

२४ बम्बई, मंगसिर वदी १२ शनि. १९४५

मैं समयानुसार आनंदमें हूँ। आपका आत्मानंद चाहता हूँ। एक बड़ा निवेदन यह करना है कि जिससे हमेशा शोककी न्यूनता और पुरुषार्थकी अधिकता प्राप्त हो, इस तरह पत्र लिखनेका प्रयत्न करते रहें।

---

२५ वि. सं. १९४५ मंगसिर

तुम्हारा प्रशस्तभाव-भूषित पत्र मिला। जिस मार्गसे आत्मत्व प्राप्त हो उस मार्गकी खोज करो। तुम मुझपर प्रशस्तभाव लाओ ऐसा मैं पात्र नहीं, तो भी यदि इस तरहसे तुमको आत्म-शांति मिलती हो तो करो।

२६ ववाणीआ, माघ सुदी १४ बुध. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

अनंतानुबंधी क्रोध, अनंतानुबंधी मान, अनंतानुबंधी माया, और अनंतानुबंधी लोभ ये चार, तथा मिथ्यात्वमोहिनी, मिश्रमोहिनी, सम्यक्त्वमोहिनी ये तीन इस तरह जबतक सात प्रकृतियोंका क्षयोपक्षम, उपशम अथवा क्षय नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं। ये सात प्रकृतियाँ जैसे जैसे मंद होती जातीं हैं वैसे वैसे सम्यक्त्वका उदय होता जाता है। इन प्रकृतियोंकी ग्रंथीको छेदना बड़ा ही कठिन है। जिसकी यह ग्रंथी नष्ट हो गई उसको आत्माका हस्तगत होना सुलभ है। तत्त्वज्ञानियोंने इसी ग्रंथीको भेदन करनेका बार बार उपदेश दिया है। जो आत्मा अप्रमादपनेसे उसके भेदन करनेकी ओर दृष्टि करेगी वह आत्मा आत्मत्वको अवश्य पायेगी, इसमें सन्देह नहीं।

सद्‌गुरुके उपदेशके बिना और जीवकी सत्पात्रताके बिना ऐसा होना रुका हुआ है। उसकी प्राप्ति करके संसार-तापसे अत्यंत तप्त आत्माको शीतल करना यही कृतकृत्यता है।

" धर्म " यह बहुत गुप्त वस्तु है। वह बाहर ढूँढ़नेसे नहीं मिलती। वह तो अपूर्व अंतर्संशोधनसे ही प्राप्त होती है। यह अंतर्संशोधन किसी एक महाभाग्य सद्गुरुके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

सत्पुरुष एक भवके थोड़ेसे सुखके लिये अनंत भवका अनंत दुःख बढ़ानेका प्रयत्न नहीं करते।

शायद यह बात भी मान्य है कि जो बात होनेवाली है वह होकर ही रहेगी, और जो बात होनेवाली नहीं है वह कभी होगी नहीं; तो फिर धर्म-सिद्धिके प्रयत्न करने और आत्म-हित साध्य करनेमें अन्य उपाधियोंके आधीन होकर प्रमाद क्यों करना चाहिये? ऐसा है तो भी देश, काल, पात्र और भाव देखने चाहिये।

सत्पुरुषोंका योगबल जगत्का कल्याण करो।

रागहीन श्रेणी-समुच्चयको प्रणाम.

---

२७ ववाणीआ, माघ १९४५

जिज्ञासु—

आपके प्रश्नको उद्धृत करके अपनी योग्यताके अनुसार आपके प्रश्नका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्नः—" व्यवहारशुद्धि कैसे हो सकती है? "

उत्तरः—व्यवहारशुद्धिकी आवश्यकता आपके लक्षमें होगी, तो भी विषयको प्रारंभ करनेके लिये आवश्यक समझकर इतना कहना योग्य है कि जिस संसार प्रवृत्तिसे इस लोकमें और परलोकमें सुख मिले उसका नाम व्यवहारशुद्धि है। सुखके इच्छुक सब हैं। जब व्यवहारशुद्धिसे सुख मिलता है तो उसकी आवश्यकता भी निस्सन्देह है।

१. जिसे धर्मका कुछ भी बोध हुआ है, और जिसे संचय करनेकी जरूर नहीं, उसे उपाधि करके कमानेका प्रयत्न न करना चाहिये।

२. जिसे धर्मका बोध हुआ है, उसे फिर भी अपनी हालतका दुःख हो तो उसे यथाशक्य उपाधि करके कमानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

(जिसकी सर्व-संग-परित्यागी होनेकी अभिलाषा है उसे इन नियमोंसे संबंध नहीं।)

३. जिससे जीवन सुखसे बीत सके इतनी यथेष्ट लक्ष्मीके होनेपर भी जिसका मन लक्ष्मीके लिये बहुत तड़फता रहता हो उसे सबसे पहिले अपने आपसे लक्ष्मीकी वृद्धि करनेका कारण पूँछना चाहिये। यदि इसके उत्तरमें परोपकारके सिवाय कुछ दूसरा उत्तर आता हो, अथवा पारिणामिक लाभको हानि पहुँचनेके अतिरिक्त दूसरा कुछ उत्तर आता हो तो मनको समझा लेना चाहिये। ऐसा होनेपर भी यदि मनको समझाया न जा सके तो अमुक मर्यादा बाँधनी चाहिये। वह मर्यादा ऐसी होनी चाहिये जो सुखका कारण हो।

४. अन्तमें आर्त्तध्यान करनेकी जरूरत पड़े, ऐसी परिस्थिति खड़ी कर लेनेकी अपेक्षा अर्थ-संग्रह करना कहीं अच्छा है।

५. जिसका जीवन-निर्वाह ठीक प्रकारसे चल रहा हो, उसे किसी भी प्रकारके अनाचारसे लक्ष्मी प्राप्त न करनी चाहिये। जिस कामसे मनको सुख नहीं होता, उससे कायाको और वचनको भी सुख नहीं होता। अनाचारसे मन सुखी नहीं होता, यह एक ऐसी बात है जो सब किसीके अनुभवमें आ सकती है।

नीचेके दोष नहीं लगने देने चाहियेः—

१. किसीके साथ महा विश्वासघात.
२. मित्रके साथ विश्वासघात.
३. किसीकी धरोहर खा जाना.
४. व्यसनका सेवन करना.
५. मिथ्या दोषारोपण.
६. झूँठा दस्तावेज़ लिखाना.
७. हिसाबमें चूकना.
८. अत्याचारपूर्ण भाव कहना.
९. निर्दोषीको अल्प मायासे भी ठग लेना.
१०. न्यूनाधिक तोल देना.
११. एकके बदले दूसरा अथवा मिश्रण करके दे देना.
१२. हिंसायुक्त धंधा.
१३. रिश्वत अथवा अदत्तादान.

इन मार्गोंसे कुछ भी कमाना नहीं।

यह मानों जीवन-निर्वाहसंबंधी सामान्य व्यवहारशुद्धि कही।

---

२८ ववाणीआ, माघ बदी ७ शुक्र. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

आत्माको इस दशाको जैसे बने वैसे रोककर योग्यताके आधीन होकर उन सबोंके मनका समाधान करके, इस संगतिकी इच्छा करो, और यह संगति अथवा यह पुरुष उस परमात्म-तत्त्वमें लीन रहे, यही आशीर्वाद देते रहा करो। तन-मन-वचन और आत्म-स्थितिको सँभालना। धर्मध्यान करते रहनेका मेरा अनुरोध है।

---

२१ ववाणीआ, माघ वदी ७ शुक्र. १९४५

ॐ

सत्पुरुषोंको नमस्कार

सुज्ञ,—आप वैराग्यविषयक मेरी आत्म-प्रवृत्तिके विषयमें पूँछते हैं, इस प्रश्नका उत्तर किन शब्दोंमें लिखूँ ? और उसके लिये आपको प्रमाण भी क्या दे सकूँगा ? तो भी संक्षेपमें यदि ज्ञानीके माने हुए इस (तत्त्व ?) को मान लें कि उदयमें आये हुए पूर्व कर्मोंको भोग लेना और नूतन कर्म न बँधने देना, तो इसमें ही अपना आत्म-हित है। इस श्रेणीमें रहनेकी मेरी पूर्ण आकांक्षा है; परन्तु वह ज्ञानीगम्य है इसलिये अभी उसका एक अंश भी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अंतरंग प्रवृत्ति चाहे कितनी भी रागरहित श्रेणीकी ओर जाती हो परन्तु अभी बाह्य प्रवृत्तिके आधीन बहुत रहना पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है। बोलते, चलते, बैठते, उठते और कोई भी काम करते हुए लौकिक श्रेणीको ही अनुसरण करके चलना पड़ता है। यदि ऐसा न हो सके तो लोग तरह तरहके कुतर्क करने लग जायँगे, ऐसी मुझे संभावना माल्म होती है।

तो भी कुछ प्रवृत्ति फेरफारकी रक्खी है। तुम सबको मेरी (वैराग्यमयी) प्रवृत्तिविषयक मान्यता कुछ बाधासे पूर्ण लगती है, तथा मेरी उस श्रेणीके लिये किसी किसीका मानना शंकासे पूर्ण भी हो सकता है, इसलिये तुम सब मुझे वैराग्यमें जाते हुए रोकनेका प्रयत्न करो, और शंका करनेवाले उस वैराग्यसे उपेक्षित होकर माने नहीं, इससे खेद पाकर संसारकी वृद्धि करनी पड़े, इसी कारण मेरी यह मान्यता है कि इस पृथिवी मण्डलपर सत्य अंतःकरणके दिखानेकी प्रायः बहुत ही थोड़ी जगह संभव है।

जैसे बने वैसे आत्मा आत्मामें लगकर यदि जीवनपर्यंत समाधिभावसे युक्त रहे, तो फिर उसे संसारसंबंधी खेदमें पड़ना ही न पड़े।

अभी तो तुम जैसा देखते हो मैं वैसा ही हूँ। जो संसारी प्रवृत्ति होती है, वह करता हूँ। धर्मसंबंधी मेरी जो प्रवृत्ति उस सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानमें झलकती हो वह ठीक है। उसके विषयमें पूँछना योग्य न था। वह पूँछनेसे कही भी नहीं जा सकती। जो सामान्य उत्तर देना योग्य था वही दिया है। क्या होता है ? और पात्रता कहाँ है ? यह देख रहा हूँ। उदय आये हुए कर्मोंको भोग रहा हूँ, वास्तविक स्थितिमें अभी एकाध अंशमें भी आया होऊँ, ऐसा कहनेमें आत्मप्रशंसा जैसी बात हो जानेकी संभावना है।

यथाशक्ति प्रभुभक्ति, सत्संग, और सत्य व्यवहारके साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करते रहो। जिस प्रयत्नसे आत्मा ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो वैसा करो।

समय समयमें क्षणिक जीवन व्यतीत होता जाता है, उसमें भी प्रमाद करते हैं, यही महामोहनीयका बल है।

वि. रायचंदका सत्पुरुषोंको नमस्कार सहित प्रणाम.

३० ववाणीआ, माघ वदी ७, १९४५

रागहीन पुरुषोंको नमस्कार

सत्पुरुषोंका यह महान् उपदेश है कि उदय आये हुए कर्मोंको भोगते हुए नये कर्मोंका बंध न हो, इससे आत्माको सचेत रखना।

यदि वहाँ तुम्हें समय मिलता हो तो जिन-भक्तिमें अधिकाधिक उत्साहकी वृद्धि करते रहना, और एक घड़ीभर भी सत्संग अथवा सत्कथाका मनन करते रहना।

(किसी समय) शुभाशुभ कर्मके उदयके समय हर्ष शोकमें न पड़कर भोगनेसे ही छुटकारा है, और यह वस्तु मेरी नहीं, ऐसा मानकर समभावकी श्रेणिको बढ़ाते रहना।

---

३१ ववाणीआ, माघ वदी १० सोम. १९४५

रागहीन पुरुषोंको नमस्कार

निर्ग्रंथ भगवान्के प्रणीत किये हुए पवित्र धर्मके लिये जो कुछ भी उपमायें दी जाये वे सब न्यून ही हैं। आत्मा अनंतकाल भटकी, वह केवल अपने निरुपम धर्मके अभावके ही कारण। जिसके एक रोममें भी किंचित् भी अज्ञान, मोह अथवा असमाधि नहीं रही उस सत्पुरुषके वचन और बोधके लिये हम कुछ भी नहीं कह सकते, उन्हींके वचनमें प्रशस्तभावसे पुनः पुनः अनुरक्त होना इसीमें अपना सर्वोत्तम श्रेय है।

कैसी इनकी शैली है! जहाँ आत्माके विकारमय होनेका अनंतवाँ अंश भी बाकी नहीं रहा ऐसी शुद्ध स्फटिक, फेन और चन्द्रसे भी उज्ज्वल शुक्लध्यानकी श्रेणीसे प्रवाहरूपमें निकले हुए उस निर्ग्रंथके पवित्र वचनोंकी मुझे और तुम्हें त्रिकाल श्रद्धा रहे। यही परमात्माके योगबलके आगे परम याचना है।

---

३२ ववाणीआ, फाल्गुन सुदी ९ रवि. १९४५

निर्ग्रन्थ महात्माओंको नमस्कार

मोक्षके मार्ग दो नहीं हैं। भूतकालमें जिन जिन पुरुषोंने मोक्षरूप परम शांति पाई है, उन सब सत्पुरुषोंने इसे एक ही मार्गसे पाई है, वर्तमानकालमें भी उसीसे पाते हैं, और भविष्यकालमें भी उसीसे पावेंगे। उस मार्गमें मतभेद नहीं है, असरलता नहीं है, उन्मत्तता नहीं है, भेदाभेद नहीं है, और मान्यामान्यता नहीं है। वह सरल मार्ग है, वह समाधि मार्ग है, तथा वह स्थिर मार्ग है; और वह स्वाभाविक शांतिस्वरूप है। उस मार्गका सब कालमें अस्तित्व है। इस मार्गके मर्मको पाये बिना किसीने भी भूतकालमें मोक्ष नहीं पाई, वर्तमानकालमें कोई नहीं पा रहा, और भविष्यकालमें कोई पायेगा नहीं।

श्रीजिन भगवान्ने इस एक ही मार्गके बतानेके लिये हजारों क्रियाएँ और हजारों उपदेश

उसके बाद इस पृथ्वीपर ही ईषत् प्राग्भारा अर्थात् सिद्धि है, यह बात सर्वशास्त्रोंको मान्य है। (मनन करना।) यह कथन त्रिकालसिद्ध है।

३४

मोरवी, चैत्र वदी ९, १९४५

कर्मगति विचित्र है। निरंतर मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा भावना रखना।

मैत्री अर्थात् सब जगत्से निर्वैर बुद्धि; प्रमोद अर्थात् किसी भी आत्माका गुण देखकर हर्षित होना; करुणा अर्थात् संसार-तापसे दुखित आत्माके ऊपर दुःखसे अनुकंपा करना; और उपेक्षा अर्थात निस्पृह भावसे जगत्के प्रतिबंधको भूलकर आत्म-हितमें लगना। ये भावनायें कल्याणमय और पात्रताकी देनेवाली हैं।

३५

मोरवी, चैत्र वदी १०, १९४५

चि०—

तुम्हारे दोनोंके पत्र मिले। स्याद्वाददर्शनका स्वरूप जाननेके लिये तुम्हारी परम जिज्ञासासे मुझे संतोष हुआ है। परन्तु यह एक बात अवश्य स्मरणमें रखना कि शास्त्रमें मार्ग कहा है, मर्म नहीं कहा। मर्म तो सत्पुरुषकी अंतरात्मामें ही है, इसलिये मिलनेपर ही विशेष चर्चा की जा सकेगी।

धर्मका रास्ता सरल, स्वच्छ और सहज है, परन्तु उसे विरली आत्माओंने ही पाया है, पाती हैं और पावेंगी।

जिस काव्यके लिये तुमने लिखा है उस काव्यको प्रसंग पाकर भेजूँगा। दोहोंके अर्थके लिये भी ऐसा ही समझो। हालमें तो इन चार भावनाओंका ध्यान करनाः—

मैत्री—सर्व जगत्के ऊपर निर्वैर बुद्धि.

अनुकंपा—उनके दुःखके ऊपर करुणा.

प्रमोद—आत्म-गुण देखकर आनंद.

उपेक्षा—निस्पृह बुद्धि.

इससे पात्रता आयगी।

३६

ववाणीआ, वैशाख सुदी १, १९४५

तुम्हारी शरीरसंबंधी शोचनीय स्थिति जानकर व्यवहारकी अपेक्षा खेद होता है। मेरे ऊपर अतिशय भावना रखकर चलनेकी तुम्हारी इच्छाको मैं रोक नहीं सकता, परन्तु ऐसी भावना रखनेके कारण यदि तुम्हारे शरीरको थोड़ीसी भी हानि हो तो ऐसा न करो। तुम्हारा मेरे ऊपर राग रहता है, इस कारण तुम्हारे ऊपर राग रखनेकी मेरी इच्छा नहीं है; परन्तु तुम एक धर्मपात्र जीव हो और मुझे धर्मपात्रोंके ऊपर कुछ विशेष अनुराग उत्पन्न करनेकी परम इच्छा है, इस कारण किसी भी रीतिसे तुम्हारे ऊपर कुछ थोड़ीसी इच्छा है।

(२)

निरंतर समाधिभावमें रहो। मैं तुम्हारे समीप ही बैठा हूँ, ऐसा समझो। अब देह-दर्शनका ध्यान हटाकर आत्म-दर्शनमें स्थिर रहो। मैं समीप ही हूँ, ऐसा मानकर शोक कम करो—जरूर कम करो, आरोग्यता बढ़ेगी। जिन्दगीकी सँभाल रखो। अभी हालमें देह-त्यागका भय न समझो। यदि ऐसा समय होगा भी तो और वह ज्ञानीगम्य होगा तो जरूर पहलेसे कोई कह देगा अथवा उसका उपाय बता देगा। अभी हालमें तो ऐसा है नहीं।

उस पुरुषको प्रत्येक छोटेसे छोटे कामके आरंभमें भी स्मरण करो; वह समीप ही है। यदि ज्ञानीदृष्ट होगा तो थोड़े समय वियोग रहकर फिरसे संयोग होगा और सब अच्छा ही होगा।

द्रव्यसंग्रहिक सिद्धांतको आजकल पुनः मनन कर रहा हूँ। अपूर्व बात है।

यदि पद्मासन लगाकर अथवा स्थिर आसनसे बैठा जा सके (अथवा लेटा जा सके तो भी ठीक है, परन्तु स्थिरता होनी चाहिये), देह डगमग न करती हो, तो आँख मींचकर नाभिके भागपर दृष्टि पहुँचाओ, फिर उस दृष्टिको छातीके मध्यमें लाकर ठेठ कपालके मध्यभागमें ले जाओ, और सब जगतको शून्याभासरूप चिंतन करके, अपनी देहमें सब स्थलोंमें एक ही तेज व्याप्त हो रहा है, ऐसा ध्यान रखकर, जिस रूपमें पार्श्वनाथ आदि अर्हत्‌की प्रतिमा स्थिर और धवल दिखाई देती है, छातीके मध्यभागमें वैसा ही ध्यान करो। यदि इनमेंसे कुछ भी न हो सकता हो तो सवेरेके चार या पाँच बजे जागकर रजाईको तानकर एकाग्रता लानेका प्रयत्न करना, और हो सके तो अर्हत् स्वरूपका चिंतवन करना, नहीं तो कुछ भी चिंतवन न करते हुए समाधि अथवा बोधि इन शब्दोंका ही चिंतवन करना। इस समय बस इतना ही। परमकल्याणकी यह एक श्रेणी होगी। इसकी कमसे कम स्थिति बारह पल और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्तकी रखनी।

वि. सं. १९४५ वैशाख

३७

संयति मुनिधर्म

१. अयत्नपूर्वक चलनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है। (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कडुवा फल प्राप्त होता है।

२. अयत्नपूर्वक खड़े रहनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है। (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कडुवा फल प्राप्त होता है।

३. अयत्नपूर्वक शयन करनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है। (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कडुवा फल प्राप्त होता है।

४. अयत्नपूर्वक आहार लेनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है। (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कडुवा फल प्राप्त होता है।

५. अयत्नपूर्वक बोलनेसे प्राणियोंकी हिंसा होती है। (उससे) पापकर्म बँधता है; उससे कडुवा फल प्राप्त होता है।

सच्चे आत्मभावसे जो माहात्म्य बुद्धि करना योग्य है, उस माहात्म्य बुद्धिका न होना; और अपनी आत्माको अज्ञानता ही रहती चली आई है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता—लघुता विचारकर अमाहात्म्य बुद्धि नहीं करना। उसका (माहात्म्यबुद्धि आदिका) सत्संग-सद्गुरु आदिमें आराधन नहीं करना भी वंचना-बुद्धि है। यदि जीव यहाँ भी लघुता धारण न करे तो जीव प्रत्यक्षरूपसे भव-भ्रमणसे भयभीत नहीं होता, यही विचार करने योग्य है। जीवको यदि प्रथम इस बातका अधिक लक्ष हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहज ही सिद्ध होना संभव है।

---

४४५ बम्बई, आसोज सुदी ११ बुध. १९५०

जिसे स्वप्नमें भी संसार-सुखकी इच्छा नहीं रही, और जिसे संसारका सम्पूर्ण स्वरूप निस्सारभूत भासित हुआ है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष भी बारंबार आत्मावस्थाका बारम्बार स्मरण कर करके जो प्रारब्धका उदय हो उसका वेदन करता है, परन्तु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देता। प्रमादके अवकाश-योगमें ज्ञानीको भी किसी अंशमें संसारसे जो व्यामोहका संभव होना कहा है, उस संसारमें साधारण जीवको रहते हुए, लौकिक भावसे उसके व्यवसायको करते हुए आत्म-हितकी इच्छा करना, यह न होने जैसा ही कार्य है। क्योंकि लौकिक भावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ दूसरी तरहसे हित-विचार होना संभव नहीं। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना संभव है। अहितके हेतुभूत संसारसंबंधी प्रसंग, लौकिक-भाव, लोक-चेष्टा, इन सबकी सँभालको जैसे बने तैसे दूर करके—उसे कम करके—आत्म-हितको अवकाश देना योग्य है।

आत्म-हितके लिये सत्संगके समान दूसरा कोई बलवान् निमित्त मालूम नहीं होता। फिर भी उस सत्संगमें भी जो जीव लौकिक भावसे अवकाश नहीं लेता, उसे प्रायः वह निष्फल ही होता है, और यदि सहज सत्संग फलवान हुआ हो तो भी यदि विशेष—अति विशेष लोकावेश रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती। तथा स्त्री, पुत्र, आरंभ, परिग्रहके प्रसंगमेंसे यदि निज-बुद्धिको हटानेका प्रयास न किया जाय तो सत्संगका फलवान होना भी कैसे संभव हो सकता है ! जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरुष भी सँभल सँभलकर चलते हैं, उसमें फिर इस जीवको तो अत्यंत अत्यंत सँभालपूर्वक—न्यूनतापूर्वक चलना चाहिये, यह बात कभी भी भूलने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके, प्रत्येक प्रसंगमें, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक परिणाममें उसका लक्ष रखकर जिससे उससे छुटकारा हो जाय उसी तरह करते रहना, यह हमने श्रीवर्धमानस्वामीकी छद्मस्थ मुनिचर्याके दृष्टांतसे कहा था।

---

४४६ बम्बई, आसोज वदी ३ बुध. १९५०

(१)

'भगवत् भगवत्की सँभाल करेगा, पर उसी समय करेगा जब जीव अपना अहंभाव छोड़ देगा,' इस प्रकार जो भद्रजनोंका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है।

२२. तत्त्वज्ञानको पाये हुए मनुष्य केवल छह कायके जीवोंके रक्षणके लिये केवल उतने ही परिग्रहको रखते हैं, वैसे तो वे अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते। (यह देह मेरी नहीं, इस उपयोगमें ही रहते हैं।)

२३. आश्चर्य! जो निरंतर तपश्चर्यारूप है! और जिसका सब सर्वज्ञोंने विधान किया है ऐसे संयमके अविरोधरूप और जीवनको टिकाये रखनेके लिये ही एक बार आहार ले।

२४. रात्रिमें त्रस और स्थावर—स्थूल और सूक्ष्म—जातिके जीव दिखाई नहीं देते इसलिये वह उस समय आहार कैसे कर सकता है?

२५. जहाँ पानी और बीजके आश्रित प्राणी पृथ्वीपर फैले पड़े हों उनके ऊपरसे जब दिनमें भी चलनेका निषेध किया गया है तो फिर संयमी रात्रिमें तो भिक्षाके लिये कहाँसे जा सकता है?

२६. इन हिंसा आदि दोषोंको देखकर ज्ञातपुत्र भगवान्‌ने ऐसा उपदेश किया है कि निर्ग्रंथ साधु रात्रिमें किसी भी प्रकारका आहार ग्रहण न करे।

२७. श्रेष्ठ समाधियुक्त साधु मनसे, वचनसे और कायसे स्वयं पृथ्वीकायकी हिंसा न करे; दूसरोंसे न करावे, और करते हुएका अनुमोदन न करे।

२८. पृथ्वीकायकी हिंसा करते हुए उस पृथिवीके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य विविध त्रस प्राणियोंका घात होता है—

२९. इसलिये, ऐसा जानकर दुर्गतिको बढ़ानेवाले पृथ्विकायके समारंभरूप दोषका आयु-पर्यंतका त्याग करे।

३०. सुसमाधियुक्त साधु मन, वचन और कायसे स्वयं जलकायकी हिंसा न करे, दूसरोंसे न करावे, और करनेवालेका अनुमोदन न करे।

३१. जलकायकी हिंसा करते हुए जलके आश्रयमें रहनेवाले चक्षुगम्य और अचक्षुगम्य त्रस जातिके विविध प्राणियोंकी हिंसा होती है—

३२. इसलिये, ऐसा जानकर कि जलकायका समारंभ दुर्गतिको बढ़ानेवाला दोष है, इसका आयुपर्यंतके लिये त्याग कर दे।

३३. मुनि अग्निकायकी इच्छा न करे; यह जीवके घात करनेमें सबसे भयंकर और तीक्ष्ण शस्त्र है।

३४. अग्नि पूर्व, पश्चिम, ऊर्ध्व, कोणमें, नीचे, दक्षिण और उत्तर इन सब दिशाओंमें रहते हुए जीवोंको भस्म कर डालती है।

३५. यह अग्नि प्राणियोंका घात करनेवाली है, ऐसा संदेह रहित माने, और इस कारण उसे संयति दीपकके अथवा तापनेके लिये भी न जलावे।

३६. इस कारण मुनि दुर्गतिके दोषको बढ़ानेवाले इस अग्निकायके समारंभको आयुपर्यंत न करे।

३७. पहिले ज्ञान और पीछे दया (ऐसा अनुभव करके) सब संयमी साधु रहें। अज्ञानी (संयममें) क्या करेगा, क्योंकि वह तो कल्याण अथवा पापको ही नहीं जानता।

३८. श्रवण करके कल्याणको जानना चाहिये, और पापको जानना चाहिये। दोनोंका श्रवण कर उन्हें जाननेके बाद जो श्रेयस्कर हो उसको आचरण करना चाहिये।

३९. जो साधु जीव अर्थात् चैतन्यका स्वरूप नहीं जानता; जो अजीव अर्थात् जड़का स्वरूप नहीं जानता; अथवा इन दोनोंके तत्वको नहीं जानता, वह साधु संयमकी बात कहाँसे जान सकता है?

४०. जो साधु चैतन्यका स्वरूप जानता है, जो जड़का स्वरूप जानता है, तथा जो इन दोनोंका स्वरूप जानता है; वह साधु संयमका स्वरूप भी जान सकता है।

४१. जब वह जीव और अजीव इन दोनोंको जान लेता है तब वह अनेक प्रकारसे सब जीवोंकी गति-अगतिको जान सकता है।

४२. जब वह सब जीवोंकी बहुत प्रकारसे गति-अगतिको जान जाता है तभी वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान सकता है।

४३. जब वह पुण्य, पाप, बंध और मोक्षको जान जाता है, तभी वह मनुष्य और देवसंबंधी भोगोंकी इच्छासे निवृत्त हो सकता है।

४४. जब वह देव और मनुष्यसंबंधी भोगोंसे निवृत्त होता है तभी सर्व प्रकारके बाह्य और अभ्यंतर संयोगका त्याग हो सकता है।

४५. जब वह बाह्याभ्यंतर संयोगका त्याग करता है तभी वह द्रव्य-भावसे मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा लेता है।

४६. जब वह मुंडित होकर मुनिकी दीक्षा ले लेता है तभी वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है, और उत्तम धर्मका अनुभव करता है।

४७. जब वह उत्कृष्ट संवरकी प्राप्ति करता है और उत्तम धर्मयुक्त होता है तभी वह जीवको मलीन करनेवाली और मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न होनेवाली कर्मरजको दूर करता है।

४८. जब वह मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुई कर्मरजको दूर कर देता है तभी वह सर्वज्ञानी और सम्यक्‌दर्शन युक्त हो जाता है।

४९. जब सर्वज्ञान और सर्वदर्शनकी प्राप्ति हो जाती है तभी वह केवली रागरहित होकर लोकालोकका स्वरूप जानता है।

५०. जब रागहीन होकर वह केवली लोकालोकका स्वरूप जान जाता है तभी वह फिर मन, वचन और कायके योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होता है।

५१. जब वह योगको रोककर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तभी वह सब कर्मोंका क्षयकर निरंजन होकर सिद्धगति प्राप्त करता है।

---

३८ ववाणीआ, वैशाख सुदी ६ सोम. १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

मुझे यहाँ आपका दर्शन लगभग सवा-मास पहले हुआ था। धर्मके संबंधमें जो थोड़ीसी

मौखिक-चर्चा हुई थी वह आपको स्मरण होगी, ऐसा समझकर इस चर्चाके संबंधमें कुछ विशेष कहनेकी आज्ञा नहीं लेता।

धर्मके संबंधमें माध्यस्थ, उच्च और दंभरहित विचारोंके कारण आपके ऊपर मेरा कुछ विशेष प्रशस्त अनुराग हो गया है इसलिये मैं कभी कभी आध्यात्मिक शैलीसंबंधी प्रश्न आपके समीप रखनेकी आज्ञा लेनेका आपको कष्ट दिया करता हूँ। यदि योग्य माल्म हो तो आप अनुकूल हों।

मैं अर्थ अथवा वयकी दृष्टिसे तो वृद्धस्थितिवाला नहीं हूँ; फिर भी कुछ ज्ञान-वृद्धता प्राप्त करनेके वास्ते आप जैसोंके सत्संगका, आप जैसोंके विचारोंका और सत्पुरुषकी चरण-रजके सेवन करनेका अभिलाषी हूँ। मेरी यह बाल्यवय विशेषतः इसी अभिलाषामें बीती है; और उससे मैं जो कुछ भी समझ सका हूँ उसे समयानुसार दो शब्दोंमें आप जैसोंके समीप रखकर विशेष आत्म-हित कर सकूँ; यही इस पत्रके द्वारा याचना करता हूँ।

इस कालमें आत्मा किसके द्वारा, किस प्रकार और किस श्रेणीमें पुनर्जन्मका निश्चय कर सकती है, इस संबंधमें जो कुछ मेरी समझमें आया है उसे यदि आपकी आज्ञा होगी तो आपके समीप रक्खूँगा।

वि. आपके माध्यस्थ विचारोंका अभिलाषी—
रायचंद रवजीभाईका पंचांगी प्रशस्तभावसे प्रणाम.

---

३९ ववाणीआ, वैशाख सुदी १२, १९४५

सत्पुरुषोंको नमस्कार

परमात्माका ध्यान करनेसे परमात्मा हो जाते हैं। परन्तु उस ध्यानको सत्पुरुषके चरणकमलकी विनयोपासना विना आत्मा प्राप्त नहीं कर सकती, यह निर्ग्रंथ भगवान्का सर्वोत्कृष्ट वचनामृत है।

तुम्हें मैंने चार भावनाओंके विषयमें पहिले कुछ सूचित किया था। उस सूचनाको यहाँ कुछ विशेषतासे लिखता हूँ। आत्माको अनंत भ्रमणासे स्वरूपमय पवित्र श्रेणीमें लाना यह कैसा निरुपम सुख है? यह कहते हुए कहा नहीं जाता, लिखते हुए लिखा नहीं जाता, और मनमें विचार करनेपर उसका विचार भी नहीं होता।

इस कालमें शुक्लध्यानका पूरापूरा अनुभव भारतमें असंभव है। हाँ उस ध्यानकी परोक्ष कथारूप अमृत-रस कुछ पुरुष प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु मोक्षके मार्गकी अनुकूलताका सबसे पहला राजमार्ग धर्मध्यान ही है। इस कालमें रूपातीततकके धर्मध्यानकी प्राप्ति कुछ सत्पुरुषोंको स्वभावसे, कुछको सद्गुरुरूप निरुपम निमित्तसे, और कुछको सत्संग आदि अनेक साधनोंसे हो सकती है; परन्तु ऐसे पुरुष निर्ग्रंथमतके माननेवाले लाखोंमें भी कोई विरले ही निकल सकते हैं। बहुत करके वे सत्पुरुष त्यागी होकर एकांत भूमिमें ही वास करते हैं। बहुतसे बाह्य अत्यागके कारण संसारमें रहनेपर भी संसारीपना ही दिखलाते हैं। पहिले पुरुषका ज्ञान प्रायः मुख्योत्कृष्ट और दूसरेका गौणोत्कृष्ट गिना जा सकता है।

चौथे गुणस्थानको प्राप्त पुरुषको पात्रताका प्राप्त होना माना जा सकता है। वहाँ धर्मध्यानकी गौणता है। पाँचवेंमें मध्यम गौणता है। छट्ठेमें मुख्यता तो है परन्तु वह मध्यम है। और सातवेंमें उसकी मुख्यता है।

हम गृहस्थाश्रममें सामान्य विधिसे अधिकसे अधिक पाँचवें गुणस्थानमें तो आ सकते हैं। इसके सिवाय भावकी अपेक्षा तो कुछ और ही बात है!

इस धर्मध्यानमें चार भावनाओंसे भूपित होना संभवित है—

१ मैत्री—सब जगत्के जीवोंकी ओर निर्वैर बुद्धि।

२ प्रमोद—किसीके अंशमात्र गुणको भी देखकर रोमांचित होकर उल्लसित होना।

३ करुणा—जगत्के जीवोंके दुःख देकर अनुकंपा करना।

४ माध्यस्थ अथवा उपेक्षा—शुद्ध समदृष्टिके बलवीर्यके योग्य होना।

इसके चार आलंबन हैं। इसकी चार रुचि हैं। इसके चार पाये हैं। इस प्रकार धर्मध्यान अनेक भेदोंमें विभक्त है।

जो पवन (श्वास) का जय करता है, वह मनका जय करता है। जो मनका जय करता है वह आत्म-लीनता प्राप्त करता है—ऐसा जो कहा जाता है वह तो व्यवहारमात्र है। निश्चयसे निश्चय अर्थकी अपूर्व योजना तो सत्पुरुषका मन ही जानता है, क्योंकि श्वासका जय करते हुए भी सत्पुरुषकी आज्ञाका भंग होनेकी संभावना रहती है, इसलिये ऐसा श्वास-जय परिणाममें संसारको ही बढ़ाता है।

श्वासका जय वही है कि जहाँ वासनाका जय है। उसके दो साधन हैं—सद्गुरु और सत्संग। उसकी दो श्रेणियाँ हैं—पर्युपासना और पात्रता। उसकी दो प्रकारसे वृद्धि होती है—परिचय और पुण्यानुबंधी पुण्यता। सबका मूल एक आत्माकी सत्पात्रता ही है। हालमें तो इस विषयमें इतना ही लिखता हूँ।

* * * *

प्रवीणसागर समझपूर्वक पढ़ा जाय तो यह दक्षता देनेवाला ग्रंथ है; नहीं तो यह अप्रशस्त राग-रंगोंको बढ़ानेवाला ग्रंथ है।

---

४० ववाणीआ, वि. १९४५ ज्येष्ठ सुदी ४ रवि.

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

—श्रीहरिभद्राचार्य

आपका वैशाख वदी ६ का धर्म-पत्र मिला। उस पत्रपर विचार करनेके लिये विशेष अवकाश लेनेसे यह उत्तर लिखनेमें मुझसे इतना विलम्ब हुआ है, इसलिये इस विलम्बके लिये क्षमा करें।

उस पत्रमें आप लिखते हैं कि किसी भी मार्गसे आध्यात्मिक ज्ञानका संपादन करना, यह ज्ञानियोंका उपदेश है, यह वचन मुझे भी मान्य है। प्रत्येक दर्शनमें आत्माका ही उपदेश किया

गया है, और सबका प्रयत्न मोक्षके लिये ही है। तो भी इतना तो आप भी मानेंगे कि जिस मार्गसे आत्माको आत्मत्व, सम्यग्ज्ञान, और यथार्थ दृष्टि मिले वही मार्ग सत्पुरुषकी आज्ञानुसार मान्य करना चाहिये। यहाँ किसी भी दर्शनका नामोल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि जिस पुरुषका वचन पूर्वापर अखंडित है, उसके द्वारा उपदेश किया हुआ दर्शन ही पूर्वापर हितकारी है। जहाँसे आत्मा 'यथार्थ दृष्टि' अथवा 'वस्तुधर्म' प्राप्त करे वहींसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, यह सर्वमान्य बात है।

आत्मत्व पानेके लिये क्या हेय है, क्या उपादेय है, और क्या ज्ञेय है, इस विषयमें प्रसंग पाकर सत्पुरुषकी आज्ञानुसार आपको थोड़ा थोड़ा लिखता रहूँगा। यदि ज्ञेय, हेय, और उपादेयरूपसे कोई पदार्थ—एक परमाणु भी नहीं जाना तो वहाँ आत्मा भी नहीं जानी। महावीरके उपदेश किये हुए आचारांग नामके सैद्धांतिक शास्त्रमें कहा है कि—**जे एगं जाणई से सव्वं जाणई, जे सव्वं जाणई से एगं जाणई**—अर्थात् जिसने एकको जाना उसने सब जाना, जिसने सब जाना उसने एकको जाना। यह वचनामृत ऐसा उपदेश करता है कि जब कोई भी एक आत्माको जाननेके लिये प्रयत्न करेगा, उस समय उसे सब जाननेका प्रयत्न करना होगा; और सब जाननेका प्रयत्न केवल एक आत्माके ही जाननेके लिये है। फिर भी जिसने विचित्र जगत्‌का स्वरूप नहीं जाना वह आत्माको नहीं जानता—यह उपदेश अयथार्थ नहीं ठहरता।

जिसे यह ज्ञान नहीं हुआ कि आत्मा किस कारणसे, कैसे, और किस प्रकारसे बँध गई है, उसे इस बातका भी ज्ञान नहीं हो सकता कि वह किस कारणसे, कैसे, और किस प्रकार मुक्त हो सकती है। और यह ज्ञान न हुआ तो यह वचनामृत ही प्रमाणभूत ठहरता है। महावीरके उपदेशकी मुख्य नींव ऊपरके वचनामृतसे शुरु होती हैं; और उन्होंने उसका स्वरूप सर्वोत्तमरूपसे समझाया है। इसके विषयमें यदि आपको अनुकूलता होगी तो आगे कहूँगा।

यहाँ आपको एक यह भी निवेदन कर देना योग्य है कि महावीर अथवा किसी भी दूसरे उपदेशकके पक्षपातके कारण मेरा कोई भी कथन अथवा मेरी कोई मान्यता नहीं है। परन्तु आत्मत्व पानेके लिये जिसका उपदेश अनुकूल है उसीके लिये मुझे पक्षपात (!)—दृष्टिराग—और प्रशस्तराग है, अथवा उसीके लिये मेरी मान्यता है, और उसीके आधारसे मेरी प्रवृत्ति भी है; इसलिये यदि मेरा कोई भी कथन आत्मत्वको, बाधा पहुँचानेवाला हो तो उसे बताकर उपकार करते रहिये। प्रत्यक्ष सत्संगकी तो बलिहारी ही है, और वह पुण्यानुबंधी पुण्यका ही फल है; तो भी जबतक ज्ञानी-दृष्टिके अनुसार परोक्ष सत्संग मिलता रहेगा तबतक उसे मैं अपना सद्भाग्य ही समझूँगा।

२. निर्ग्रंथ शासन ज्ञानवृद्धको सर्वोत्तम वृद्ध मानता है। जातिवृद्धता, पर्यायवृद्धता इत्यादि वृद्धताके अनेक भेद हैं; परन्तु ज्ञानवृद्धताके बिना ये सब वृद्धतायें केवल नामकी वृद्धतायें अथवा शून्य वृद्धतायें ही हैं।

३. पुनर्जन्मके संबंधमें अपने विचार प्रगट करनेके लिये आपने सूचन किया था, उसके संबंधमें यहाँ केवल प्रसंग जितना मात्र संक्षेपसे लिखता हूँ:—

अ. कई एक निर्णयोंके ऊपरसे मैं यह मानने लगा हूँ कि इस कालमें भी कोई कोई महात्मा पहले भवको जातिस्मरण ज्ञानसे जान सकते हैं; और यह जानना कल्पित नहीं परन्तु सम्यक् होता है। उत्कृष्ट संवेग, ज्ञान-योग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है—अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है।

जबतक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तबतक आत्मा भविष्यकालके लिये शंकितभावसे धर्म-प्रयत्न किया करती है, और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।

आ. 'पुनर्जन्म है' इस विषयमें जिस पुरुषको परोक्ष अथवा प्रत्यक्षसे निःशंकता नहीं हुई उस पुरुषको आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा शास्त्र-शैली नहीं कहती। पुनर्जन्मकी सिद्धिके संबंधमें श्रुत-ज्ञानसे प्राप्त हुआ जो आशय मुझे अनुभवगम्य हुआ है उसे थोड़ासा यहाँ कहता हूँ:—

(१) 'चैतन्य' और 'जड़' इन दोनोंको पहिचाननेके लिये उन दोनोंमें जो भिन्न भिन्न गुण हैं उन्हें पहिचाननेकी पहिली आवश्यकता है। तथा उन भिन्न भिन्न गुणोंमें भी जो सबसे मुख्य भिन्नता दिखाई देती है वह यह है कि 'चैतन्य' में 'उपयोग' (अर्थात् जिससे किसी वस्तुका बोध होता है वह गुण) रहता है, और 'जड़'में वह नहीं रहता। यहाँ शायद कोई यह शंका करे कि 'जड़' में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध शक्तियाँ होतीं हैं, और चैतन्यमें ये शक्तियाँ नहीं पायी जातीं, परन्तु यह भिन्नता आकाशकी अपेक्षा लेनेसे समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि निरंजन, निराकार, अरूपी इत्यादि कई एक गुण ऐसे हैं जो आकाशकी तरह आत्मामें भी रहते हैं, इसलिये आकाशको आत्माके सदृश गिना जा सकता है, क्योंकि फिर इन दोनोंमें कोई भिन्न धर्म न रहा। इसका समाधान यह है कि इन दोनोंमें अन्तर है, और वह अन्तर आत्मामें पहिले कहा हुआ 'उपयोग' नामक गुण बताता है, क्योंकि वह गुण आकाशमें नहीं है। अब जड़ और चैतन्यका स्वरूप समझना सुगम हो जाता है।

(२) जीवका मुख्य गुण अथवा लक्षण 'उपयोग' (किसी भी वस्तुसंबंधी भावना; बोध; ज्ञान) है। जिस जीवात्मामें अशुद्ध और अपूर्ण उपयोग रहता है वह जीवात्मा ('व्यवहारनयकी अपेक्षासे'—क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने शुद्ध नयसे तो परमात्मा ही है, परन्तु जहाँतक वह अपने स्वरूपको यथार्थ नहीं समझी वहाँतक जीवात्मा छद्मस्थ रहता है)—परमात्मदशामें नहीं आया। जिसमें शुद्ध और सम्पूर्ण यथार्थ उपयोग रहता है वह परमात्मदशाको प्राप्त हुई आत्मा मानी जाती है। अशुद्ध उपयोगी होनेसे ही आत्मा कल्पित ज्ञान (अज्ञान) को सम्यग्ज्ञान मान रही है; और उसे सम्यग्ज्ञानके बिना कुछ भी पुनर्जन्मका यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। अशुद्ध उपयोग होनेका कुछ भी निमित्त होना चाहिये। यह निमित्त अनुपूर्वीसे चले आते हुए बाह्यभावसे ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गल हैं। (इस कर्मका यथार्थ स्वरूप सूक्ष्मतासे समझने योग्य है, क्योंकि आत्माको ऐसी दशामें किसी भी निमित्तसे ही होनी चाहिये। और वह निमित्त जबतक यथार्थ रीतिसे समझमें न आवे तबतक जिस रास्तेसे जाना है उस रास्तेपर आना ही हो नहीं सकता।) जिसका परिणाम विपर्यय हो उसका प्रारंभ अशुद्ध उपयोगके बिना नहीं होता, और अशुद्ध उपयोग भूतकालके किसी भी संबंधके बिना नहीं होता। हम यदि वर्तमानकालमेंसे एक एक पलको निकालते जायँ और उसपर ध्यान देते रहें, तो

प्रत्येक पल भिन्न भिन्न स्वरूपसे बीता हुआ मालूम होगा (उसके भिन्न भिन्न होनेका कारण कुछ तो होगा ही)। एक मनुष्यने ऐसा दृढ़ संकल्प किया कि मैं जीवनपर्यंत स्त्रीका चिंतवनतक भी न करूँगा परन्तु पाँच पल भी न बीत पाये और उसका चिंतवन हो गया, तो फिर उसका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। मुझे जो शास्त्रका अल्पज्ञान हुआ है उससे मैं यह कह सकता हूँ कि वह पूर्वकर्मके किसी भी अंशका उदय होना चाहिये। कैसे कर्मका? तो कहूँगा कि मोहनीय कर्मका। उसकी किस प्रकृतिका? तो कहूँगा कि पुरुषवेदका? (पुरुषवेदकी पन्द्रह प्रकृतियाँ हैं।) पुरुषवेदका उदय दृढ़ संकल्पसे रोकनेपर भी हो गया, उसका कारण अब कह सकते हैं कि वह कोई भूतकालीन कारण होना चाहिये; और अनुपूर्वीसे उसका स्वरूप विचार करनेसे वह कारण पुनर्जन्म ही सिद्ध होगा। इस बातको बहुतसे दृष्टांतोंद्वारा कहनेकी मेरी इच्छा थी, परन्तु जितना सोचा था उससे अधिक कथन बढ़ गया है; और आत्माको जो बोध हुआ है उसे मन यथार्थ नहीं जान सकता, और मनके बोधको वचन यथार्थ नहीं कह सकते, और वचनके कथन-बोधको कलम लिख नहीं सकती; ऐसा होनेके कारण, और इस विषयके ऊहापोहमें बहुतसे रूढ़ शब्दोंके उपयोगकी आवश्यकता होनेके कारण अभी हाल तो इस विषयको अपूर्ण छोड़े देता हूँ। यह अनुमान प्रमाण हुआ। प्रत्यक्ष प्रमाणके संबंधमें वह ज्ञानीगम्य होगा तो उसे फिर, अथवा भेंट होनेका अवसर मिला तो उस समय कुछ कह सकूँगा। आपके उपयोगमें ही रम रहा हूँ, तो भी आपकी प्रसन्नताके लिये एक-दो वचनोंको यहाँ लिखता हूँ:—

१. सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है।

२. धर्म-विषय, गति, आगति निश्चयसे हैं।

३. ज्यों ज्यों उपयोगकी शुद्धता होती जाती है त्यों त्यों आत्मज्ञान प्राप्त होता जाता है।

४. इसके लिये निर्विकार दृष्टिकी आवश्यकता है।

५. 'पुनर्जन्म है' यह योगसे, शास्त्रसे और स्वभावसे अनेक पुरुषोंको सिद्ध हुआ है।

इस कालमें इस विषयमें अनेक पुरुषोंको निःशंका नहीं होती, उसका कारण केवल सात्विकताकी न्यूनता, त्रिविध तापकी मूर्च्छा, श्रीगोकुलचरित्रमें आपकी बताई हुई निर्जनावस्थाकी कमी, सत्संगका न मिलना, स्वमान और अयथार्थ दृष्टि ही हैं।

आपको अनुकूलता होगी तो इस विषयमें विशेष फिर कहूँगा। इससे मुझे आत्मोज्ज्वलताका परमलाभ है, इस कारण आपको अनुकूलता होगी ही। यदि समय हो तो दो चार बार इस पत्रके मनन करनेसे कहा हुआ अल्प आशय भी आपको बहुत दृष्टिगोचर हो जायगा। शैलीके कारण विस्तारसे कुछ लिखा है, तो भी मैं समझता हूँ कि जैसा चाहिये वैसा नहीं समझाया जा सका; परन्तु मैं समझता हूँ कि इस विषयको धीरे धीरे आपके पास सरलरूपमें रख सकूँगा।

* * * *

बुद्धभगवान्का जीवनचरित्र मेरे पास नहीं आया। अनुकूलता हो तो भिजवानेकी सूचना करें। सत्पुरुषोंका चरित्र दर्पणरूप है। बुद्ध और जैनधर्मके उपदेशमें महान् अन्तर है।

सब दोषोंकी क्षमा माँगकर यह पत्र पूरा (अपूर्ण स्थितिसे) करता हूँ। यदि आपकी आज्ञा होगी तो ऐसा समय निकाला जा सकेगा कि जिससे आत्मत्व दृढ हो।

सुगमता न होनेके कारण लेखमें दोप आना संभव है, परन्तु कुछ लाचारी थी; अथवा सरलताका उपयोग करनेसे आत्मत्वकी विशेष वृद्धि हो सकती है।

वि. धर्मजीवनका इच्छुक
रायचन्द्र रवजीभाईका विनयप्रभावसे प्रशस्त प्रणाम.

---

४१ अहमदाबाद, वि. सं. १९४५ ज्येष्ठ सुदी १२ भौम.

मैंने आपको ववाणीआ बंदरसे पुनर्जन्मके संबंधमें परोक्ष ज्ञानकी अपेक्षासे एक-दो विचार लिखे थे। इस विषयमें अवकाश पाकर कुछ बतानेके बाद, उस विषयका प्रत्यक्ष अनुभवगम्य ज्ञानसे जो कुछ निश्चय मेरी समझमें आया है, वह यहाँ कहना चाहता हूँ।

वह पत्र आपको ज्येष्ठ सुदी ५ को मिला होगा। अवकाश मिलनेपर यदि कुछ उत्तर देना योग्य माल्म हो तो उत्तर देकर, नहीं तो केवल पहुँच लिखकर शान्ति पहुँचावें, यही निवेदन है।

निर्ग्रंथद्वारा उपदेश किये हुए शास्त्रोंकी खोजके लिये करीब सात दिनसे मेरा यहाँ आना हुआ है।

धर्मोपजीवनके इच्छुक रायचन्द्र रवजीभाईका यथाविधि प्रणाम.

---

४२ वजाणा (काठियावाड़), वि.सं. १९४५ आसाढ़ सुदी १५ शुक्र.

आपका आषाढ़ सुदी ७ का लिखा हुआ पत्र मुझे वढ़वाण केम्पमें मिला। उसके बाद मेरा यहाँ आना हुआ, इस कारण पहुँच लिखनेमें विलंब हुआ।

पुनर्जन्मसंबंधी मेरे विचार आपको अनुकूल हुए इस कारण इस विषयमें मुझे आपका सहारा मिल गया।

आपने जो अंतःकरणीय—आत्मभावजन्य—अभिलाषा प्रगट की है, वैसी आशा सत्पुरुष निरंतर रखते आये हैं। उन्होंने ऐसी दशाको मन, वचन, काया और आत्मासे प्राप्त की है और उस दशाके प्रकाशसे दिव्य हुई आत्मासे वाणीद्वारा सर्वोत्तम आध्यात्मिक वचनामृतोंको प्रदर्शित किया है; जिनकी आप जैसे सत्पात्र मनुष्य निरंतर सेवा करते हैं; और यही अनंतभवके आत्मिक दुःखको दूर करनेकी परम औषधि है।

सब दर्शन पारिणामिक भावसे मुक्तिका उपदेश करते हैं, यह निःसंशय है, परन्तु यथार्थ दृष्टि हुए बिना सब दर्शनोंका तात्पर्यज्ञान हृदयगत नहीं होता। यह होनेके लिये सत्पुरुषोंकी प्रशस्तभक्ति, उनके पादपंकज और उनके उपदेशका अवलम्बन, निर्विकार ज्ञानयोग इत्यादि जो साधन हैं वे शुद्ध उपयोगसे मान्य होने चाहिये।

पुनर्जन्मका प्रत्यक्ष निश्चय तथा अन्य आध्यात्मिक विचारोंको फिर कभी प्रसंगानुकूल कहनेकी आज्ञा चाहता हूँ।

बुद्धभगवान्का चरित्र मनन करने योग्य है; यह कथन पक्षपातरहित है।

अब मैं कुछ आध्यात्मिक तत्त्वोंसे युक्त वचनामृत लिख सकूँगा।

धर्मोपजीवनके इच्छुक रायचन्द्रका विनययुक्त प्रणाम.

---

४३ ववाणीआ, आषाढ़ वदी १२ बुध. १९४५

महासतीजी मोक्षमाला श्रवण करती हैं, यह बहुत सुख और लाभ दायक है। उनको मेरी तरफसे विनति करना कि वे इस पुस्तकको यथार्थ श्रवण करें और उसका मनन करें। इसमें जिनेश्वरके सुंदर मार्गसे बाहरका एक भी अधिक वचन रखनेका प्रयत्न नहीं किया गया। जैसा अनुभवमें आया और कालभेद देखा वैसे ही मध्यस्थतासे यह पुस्तक लिखी है। मुझे आशा है कि महासतीजी इस पुस्तकको एकाग्रभावसे श्रवण करके आत्म-कल्याणमें वृद्धि करेंगी।

---

४४ भड़ौंच, वि. सं. १९४५ श्रावण सुदी ३ बुध.

बजाणा नामके गाँवसे लिखा हुआ मेरा एक विनय-पत्र आपको मिला होगा।

मैं अपनी निवासभूमिसे लगभग दो माससे सत्योग और सत्संगकी वृद्धि करनेके लिये प्रवासरूपसे कुछ स्थलोंमें विहार कर रहा हूँ। लगभग एक सप्ताहमें आपके दर्शन और समागमकी प्राप्तिके लिये मेरा वहाँ आगमन होना संभव है।

सब शास्त्रोंको जाननेका, क्रियाका, ज्ञानका, योगका और भक्तिका प्रयोजन अपने स्वरूपकी प्राप्ति करना ही है; और यदि ये सम्यक् श्रेणियाँ आत्मगत हो जाँय तो ऐसा होना प्रत्यक्ष संभव है; परन्तु इन वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिये सर्व-संग-परित्यागकी आवश्यकता है। केवल निर्जनावस्था और योगभूमिमें वास करनेसे सहज समाधिकी प्राप्ति नहीं होती, वह तो नियमसे सर्व-संग-परित्यागमें ही रहती है। देश (एकदेश) संग-परित्यागमें केवल उसकी भजना ही संभव है। जबतक पूर्वकर्मके बलसे गृहवास भोगना बाकी है, तबतक धर्म, अर्थ और कामको उल्लसित-उदासीन भावसे सेवन करना योग्य है। बाह्यभावसे गृहस्थ-श्रेणी होनेपर अंतरंग निर्ग्रंथ-श्रेणीकी आवश्यकता है, और जहाँ यह हुई वहाँ सर्वसिद्धि है। इस श्रेणीमें मेरी आत्माभिलाषा बहुत महिनोंसे रहा करती है। कई एक व्यवहारोपाधिके कारण धर्मोप-जीवनकी पूर्ण अभिलाषा सफल नहीं हो सकती; किन्तु उससे प्रत्यक्ष ही आत्माको सत्पदकी सिद्धि होती है; यह बात सर्वमान्य ही है, और इसमें किसी खास वय अथवा वेषकी अपेक्षा नहीं है।

निर्ग्रंथके उपदेशको अचलभावसे और विशेषरूपसे मान्य करते हुए अन्य दर्शनोंके उपदेशमें मध्यस्थता रखना ही योग्य है। चाहे किसी भी रास्तेसे और किसी दर्शनसे कल्याण होता हो तो फिर मतांतरकी कोई अपेक्षा ढूँढ़ना योग्य नहीं। जिस अनुप्रेक्षासे, जिस दर्शनसे, जिस ज्ञानसे आत्मत्व प्राप्त होता हो वही अनुप्रेक्षा, वही दर्शन और वही ज्ञान सर्वोपरि है; तथा जितनी आत्मायें पार हुई हैं, वर्तमानमें पार हो रहीं हैं, और भविष्यमें पार होंगी वे सब इस एक ही भावको पाकर हुई हैं। हम इस भावको सब तरहसे प्राप्त करें यही इस मिले हुए श्रेष्ठ जन्मकी सफलता है।

कई एक ज्ञान-विचार लिखते समय उदासीनताकी वृद्धि हो जानेसे अभीष्टरूपमें रखनेमें नहीं आ पाते; और न उसे आप जैसोंको बताया ही जा सकता है। यह किसी का कारण।

क्रमरहित किसी भी रूपमें नाना प्रकारके विचार यदि आपके पास रक्खूँ तो उन्हें योग्यतापूर्वक आत्मगत करते हुए दोपके लिये—भविष्यके लिये भी क्षमाभाव ही रक्खें।

इस समय लघुत्वभावसे एक प्रश्न करनेकी आज्ञा चाहता हूँ। आपके लक्षमें होगा कि प्रत्येक पदार्थकी प्रज्ञापनीयता चार प्रकारसे होती है:—द्रव्य (उसका वस्तुस्वभाव) से, क्षेत्र (उसकी औपचारिक अथवा अनौपचारिक व्यापकता) से, कालसे और भाव (उसके गुणादिक भाव) से। हम इनके बिना आत्माकी व्याख्या भी नहीं कर सकते। आप यदि अवकाश मिलनेपर इन प्रज्ञापनीयता-ओंसे इस आत्माकी व्याख्या लिखेंगे तो इससे मुझे बहुत संतोष होगा। इसमेंसे एक अद्भुत व्याख्या निकल सकती है; परन्तु आपके विचार पहिलेसे कुछ सहायक हो सकेंगे, ऐसा समझकर यह याचना की है।

धर्मोपजीवन प्राप्त करनेमें आपकी सहायताकी प्रायः आवश्यकता पड़ेगी, परन्तु सामान्यतः वृत्तिभावसंबंधी आपके विचार जान लेनेके बाद ही उस बातको जन्म देना, ऐसी इच्छा है।

शास्त्र, यह परोक्षमार्ग है; और.........प्रत्यक्षमार्ग है। इस समय तो इतना ही लिखकर यह पत्र विनय-भावपूर्वक समाप्त करता हूँ।

वि. आ. रायचंद रवजीभाईका प्रणाम.

यह भूमि श्रेष्ठ योग-भूमि है। यहाँ मुझे एक सत्मुनि इत्यादिका साथ रहता है।

---

४५ भड़ौंच, श्रावण सुदी १०, १९४५

जगत्में बाह्यभावसे व्यवहार करो, और अंतरंगमें एकांत शीतलीभूत अर्थात् निर्लेप रहो, यही मान्यता और उपदेश है।

---

४६ बम्बई, भाद्रपद वदी ४, शुक्र. १९४५

मेरे ऊपर समभावसे शुद्ध राग रक्खो, इससे अधिक और कुछ न करो। धर्मध्यान और व्यवहार इन दोनोंकी सँभाल रक्खो। लोभी गुरु, गुरु–शिष्य दोनोंकी अधोगतिका कारण है। मैं एक संसारी हूँ, मुझे अल्पज्ञान है। तुम्हें शुद्ध गुरुकी ज़रूरत है।

---

४७ बम्बई, भाद्रपद वदी १२ शनि. १९४५

(वंदामि पादे प्रभुवर्द्धमान)

प्रतिमासंबंधी विचारोंके कारण यहाँके समागममें आनेवाले लोग बिलकुल प्रतिकूल रहते हैं। इन्हीं मतभेदोंके कारण आत्माने अनंत कालमें और अनंत जन्ममें भी आत्म-धर्म नहीं पाया, यही कारण है कि सत्पुरुष उसको पसंद नहीं करते, परन्तु स्वरूप श्रेणीकी ही इच्छा करते हैं।

पार्श्वनाथ परमात्माको नमस्कार

४८ बम्बई, आसोज वदी २ गुरु. १९४५

जगत्को सुंदर बतानेकी अनंतबार कोशिश की, परन्तु उससे वह सुन्दर नहीं हुआ; क्योंकि अबतक परिभ्रमण और परिभ्रमणके हेतु मौजूद रहते हैं। यदि आत्माका एक भी भव सुन्दर हो जाय, सुन्दरतापूर्वक बीत जाय, तो अनंत भवकी कसर निकल जाय; ऐसा मैं लघुत्वभावसे समझा हूँ, और यही करनेमें मेरी प्रवृत्ति है। इस महाबंधनसे रहित होनेमें जो जो साधन और पदार्थ श्रेष्ठ लगें उन्हें ग्रहण करना, यही मान्यता है। तो फिर उसके लिये जगत्की अनुकूलता-प्रतिकूलताको क्या देखना! वह चाहे जैसे बोले, परन्तु आत्मा यदि बंधनरहित होती हो, समाधिमय दशा प्राप्त करती हो तो कर लेना। ऐसा करनेसे सदाके लिये कीर्ति-अपकीर्तिसे छूट जा सकेंगे।

इस समय इनके और इनके पक्षके लोगोंके मेरे विषयमें जो विचार हैं वे मेरे ध्यानमें हैं; परन्तु उनको भूल जाना ही श्रेयस्कर है। तुम निर्भय रहना; मेरे विषयमें कोई कुछ कहे तो उसे सुनकर चुप रहना; उसके लिये कुछ भी शोक-हर्ष मत करना। जिस पुरुषपर तुम्हारा प्रशस्त राग है, उसके इष्टदेव परमात्मा जिन महायोगीन्द्र पार्श्वनाथ आदिका स्मरण रखना, और जैसे बने वैसे निर्मोही होकर मुक्त दशाकी इच्छा करना। जीनेके संबंधमें अथवा जीवनकी पूर्णताके संबंधमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं करना।

उपयोगको शुद्ध करनेके लिये जगत्के संकल्प-विकल्पोंको भूल जाना; पार्श्वनाथ आदि योगीश्वरकी दशाकी स्मृति करना; और वही अभिलाषा रक्खे रहना, यही तुम्हें पुनः पुनः आशीर्वादपूर्वक मेरी शिक्षा है। यह अल्पज्ञ आत्मा भी उसी पदकी अभिलाषिणी और उसी पुरुषके चरणकमलमें तल्लीन हुई दीन शिष्य है, और तुम्हें भी ऐसी ही श्रद्धा करनेकी शिक्षा देती है। वीरस्वामीका उपदेश किया हुआ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे सर्व-स्वरूप यथातथ्य है, यह मत भूलना। उसकी शिक्षाकी यदि किसी भी प्रकारसे विराधना हुई हो तो उसके लिये पश्चात्ताप करना। इस कालकी अपेक्षासे मन, वचन, कायको आत्मभावसे उसकी गोदमें अर्पण करो, यही मोक्षका मार्ग है। जगत्के सम्पूर्ण दर्शनोंकी—मतोंकी श्रद्धाको भूल जाना, जैनसंबन्धी सब विचार भूलकर केवल उन सत्पुरुषोंके अद्भुत, योगस्फुरित चरित्रमें ही अपना उपयोग लगाना।

इस अपने माने हुए "सम्मान्य पुरुष" के लिये किसी भी प्रकारसे हर्ष-शोक नहीं करना। उसकी इच्छा केवल संकल्प-विकल्पसे रहित होनेकी ही है। उसको इस विचित्र जगत्से कुछ भी संबंध अथवा लेना देना नहीं है; इसलिये उसमेंसे उसके लिये कुछ भी विचार बँधे अथवा बोले जाँय, तो भी अब उनकी ओर जानेकी इच्छा नहीं है। जगत्मेंसे जो परमाणु पूर्वकालमें इकट्ठे किये हैं, उन्हें धीमे धीमे उसे देकर ऋणमुक्त हो जाना; यही उसकी निरंतर उपयोगपूर्ण, प्रिय, श्रेष्ठ और परम अभिलाषा है—इसके सिवाय उसे कुछ भी आता जाता नहीं, और न उसे दूसरी कुछ चाहना ही है; उसका जो कुछ विचरना है वह उसके पूर्वकर्मोंके कारण ही है, ऐसा समझकर परम संतोष रखना। यह बात गुप्त रखना। हम क्या मानते हैं, और हम कैसे वर्ताव करते हैं, इस बातको जगत्को दिखानेकी जरूरत नहीं। परन्तु आत्मासे इतना ही पूँछनेकी जरूरत है कि यदि तू मुक्तिकी इच्छा करती

है तो संकल्प-विकल्प, राग-द्वेषको छोड़ दे, और उसके छोड़नेमें यदि तुझे कोई बाधा मालूम हो तो उसे कह। वह उसे स्वयं मान जायगी; और उसे अपने आप छोड़ देगी। जहाँ कहींसे भी रागद्वेषरहित होना मेरा धर्म है, और उसका तुम्हें भी अत्र उपदेश करता हूँ। परस्पर मिलनेपर यदि तुम्हें कुछ आत्मत्व-साधना बतानी होगी तो बताऊँगा। बाकी तो जो मैंने ऊपर कहा है वही धर्म है; और उसीका उपयोग रखना। उपयोग ही साधना है। इतना तो और कह देना चाहता हूँ कि विशेष साधना तो केवल सत्पुरुषोंके चरणकमल ही हैं।

आत्मभावमें सब कुछ रखना। धर्मध्यानमें उपयोग रखना। जगत्के किसी भी पदार्थका, सगे संबंधीका, कुटुंबी और मित्रका कुछ भी हर्ष-शोक करना योग्य नहीं है। हम परमशांति पदकी इच्छा करें यही हमारा सर्वमान्य धर्म है, और यह इच्छा करते करते ही वह मिल जायगा, इसके लिये निश्चित रहो। मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ, यह मत भूलना।

जिसका देह धर्मोपयोगके लिये ही है ऐसी देहको रखनेका जो प्रयत्न करता है वह भी धर्म ही है।

वि. रायचंद.

---

४९ मोहमयी, आसोज वदी १० शनि. १९४५

दूसरी किसी बातकी खोज न कर, केवल एक सत्पुरुषको खोजकर उसके चरणकमलमें सर्वभाव अर्पण करके प्रवृत्ति करता रह। फिर यदि तुझे मोक्ष न मिले तो मुझसे लेना।

सत्पुरुष वही है जो निशदिन अपनी आत्माके उपयोगमें लीन रहता है;—और जिसका कथन ऐसा है कि जो शास्त्रमें नहीं मिलता, और जो सुननेमें नहीं आया, तो भी जिसका अनुभव किया जा सकता है; और जिसमें अंतरंग स्पृहा नहीं, ऐसा जिसका गुप्त आचार है; बाकीका तो ऐसा विलक्षण है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

और इस प्रकार किये बिना तेरा त्रिकालमें भी छुटकारा होनेवाला नहीं। यह अनुभवपूर्ण वचन है, इसे तू सर्वथा सत्य मान।

एक सत्पुरुषको प्रसन्न करनेमें, उसकी सब इच्छाओंकी प्रशंसा करनेमें, उसे ही सत्य माननेमें यदि सारी जिन्दगी भी निकल गई तो अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें तू अवश्य मोक्ष जायगा।

---

५० वि. सं. १९४५

सुखकी सहेली है अकेली उदासीनता;
अध्यात्मनी जननी ते उदासीनता।

मुझे छोटीसी उमरसे ही तत्त्वज्ञानका बोध होना पुनर्जन्मकी सिद्धि करता है, फिर जीवके गमन और आगमनके खोज करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ १ ॥

५०

लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध;
एज सूचने एम के, गति आगति कां शोध? ॥ १ ॥

जो संस्कार अत्यन्त अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे सब मुझे बिना किसी परिश्रमके ही सिद्ध हो गये, तो फिर अब पुनर्भवकी क्या शंका है? ॥ २ ॥

ज्यों ज्यों बुद्धिकी अल्पता होती जाती है और मोह बढ़ता जाता है, त्यों त्यों संसार-भ्रमण भी बढ़ता जाता है और अंतर्ज्योति मलीन हो जाती है ॥ ३ ॥

अनेक तरहके नास्तिरूप विचारोंपर मनन करनेपर यही निर्णय दृढ़ होता है कि अस्तिरूप विचार ही उत्तम हैं ॥ ४ ॥

पुनर्जन्मकी सिद्धिके लिये यही एक बड़ा अनुकूल तर्क है कि यह भव दूसरे भवके बिना नहीं हो सकता। इसको विचारनेसे आत्मधर्मका मूल प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

५१

वि. सं. १९४५

स्त्रीसंबंधी मेरे विचार

बहुत बहुत शान्त विचार करनेपर यह सिद्ध हुआ है कि निराबाध सुखका आधार शुद्ध ज्ञान है; और वही परम समाधि भी है। केवल बाह्य आवरणकी दृष्टिसे स्त्री संसारका सर्वोत्तम सुख मान ली गई है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। विवेक दृष्टिसे देखनेपर स्त्रीके साथ संयोगजन्य सुखके भोगनेका जो चिन्ह है वह वमन करने योग्य स्थान भी नहीं ठहरता। जिन जिन पदार्थोंपर हमें घृणा आती है वे सब पदार्थ स्त्रीके शरीरमें मौजूद हैं, और उनकी वह जन्मभूमि है। फिर यह सुख क्षणिक, खेद रूप, और खुजलीके रोगके समानही है। उस समयका दृश्य हृदयमें अंकितकर यदि उसपर विचार करें तो हँसी आती है कि यह कैसी भूल है? संक्षेपमें कहनेका अभिप्राय यह है कि उसमें कुछ भी सुख नहीं। और यदि उसमें सुख हो तो उसकी चर्मरहित दशाका वर्णन तो कर देखो! तब उससे यही माल्म होगा कि यह मान्यता केवल मोहदशाके कारण हुई है। यहाँ मैं स्त्रीके भिन्न भिन्न अवयव आदिके भागोंका विवेचन करने नहीं बैठा हूँ, परन्तु उस ओर फिर कभी आत्मा न चली जाय, यह जो विवेक हुआ है, उसका सामान्य सूचन किया है। स्त्रीमें कोई दोष नहीं है, परन्तु दोष तो अपनी आत्मामें हैं। और इन दोषोंके निकल जानेसे आत्मा जो कुछ देखती है वह अद्भुत आनंदस्वरूप ही है; इसलिये इस दोषसे रहित होना, यही परम अभिलाषा है।

जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय;
बिना परिश्रम ते थयो; भवशंका शी त्यांय? ॥ २ ॥

जेम जेम मति अल्पता, अने मोह उद्योत;
तेम तेम भवशंकना, अपात्र अंतर् ज्योत ॥ ३ ॥

करी कल्पना दृढ करे, नाना नास्ति-विचार;
पण 'अस्ति' ते सूचवे, एज खरो निर्धार ॥ ४ ॥

आ भव वण भव छे नहीं, एज तर्क अनुकूळ;
विचारतां पामी गया, आत्मधर्मनुं मूळ ॥ ५ ॥

यदि शुद्ध उपयोगकी प्राप्ति हो गई तो फिर वह प्रतिसमय पूर्वोपार्जित मोहनीयको भस्मीभूत कर सकेगी; यह अनुभवगम्य वचन है।

परन्तु जबतक मुझसे पूर्वोपार्जित कर्मका संबंध है तबतक मेरी किस तरहसे शांति हो? यह विचारनेसे मुझे निम्न लिखित समाधान हुआ है।

५२

वि. सं. १९४५

जगत्‌में जो भिन्न भिन्न मत और दर्शन देखनेमें आते हैं वे सब दृष्टिके भेद मात्र हैं।

भिन्न भिन्न जो मत दिखाई दे रहे हैं वह केवल एक दृष्टिका ही भेद है; वे सब मानों एक ही तत्त्वके मूलसे पैदा हुए हैं ॥ १ ॥

उस तत्त्वरूप वृक्षका मूल आत्मधर्म है; जो धर्म आत्मधर्मकी सिद्धि करता है, वही उपादेय धर्म है ॥ २ ॥

सबसे पहिले आत्माकी सिद्धि करनेके लिये ज्ञानका विचार करो; उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अनुभवी गुरुकी सेवा करनी चाहिये, यही पण्डित लोगोंने निर्णय किया है ॥ ३ ॥

जिसकी आत्मामेंसे क्षण क्षणमें होनेवाली अस्थिरता और वैभाविक मोह दूर हो गया है, वही अनुभवी गुरु है ॥ ४ ॥

जिसके बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहकी ग्रन्थियाँ नहीं रही हैं उसे ही सरल दृष्टिसे परम पुरुष मानो ॥ ५ ॥

५३

वि. सं. १९४५

१. जिसकी मनोवृत्ति निराबाधरूपसे बहा करती है, जिसके संकल्प-विकल्प मंद पड़ गये हैं, जिसके पाँच विषयोंसे विरक्त बुद्धिके अंकुर प्रस्फुटित हुए हैं, जिसने क्लेशके कारण निर्मूल कर दिये हैं, जो अनेकांत-दृष्टियुक्त एकांत-दृष्टिका सेवन किया करता है; जिसकी केवल यही शुद्धवृत्ति है, वह प्रतापी पुरुष जयवान होओ।

२. हमें ऐसा बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

५२

भिन्न भिन्न मत देखिये, भेददृष्टिनो एह;
एक तत्त्वना मूळमां, व्याप्या मानो तेह ॥ १ ॥
तेह तत्त्वरूपवृक्षनुं, आत्मधर्म छे मूळ;
स्वभावनी सिद्धि करे, धर्म ते ज अनुकूळ ॥ २ ॥
प्रथम आत्मसिद्धि थवा, करिए ज्ञान विचार;
अनुभवि गुरुने सेवियें, बुधजननो निर्धार ॥ ३ ॥
क्षण क्षण जे अस्थिरता, अने विभाविकमोह;
ते जेनामांथी गया, ते अनुभवि गुरु जोय ॥ ४ ॥
बाह्य तेम अभ्यन्तरे, ग्रंथ ग्रन्थि नहिं होय;
परम पुरुष तेने कहो, सरळ दृष्टिथी जोय ॥ ५ ॥

५४

वि. सं. १९४५

अहो हो ! कर्मकी कैसी विचित्र बंध-स्थिति है ? जिसकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं होती और जिसके लिये परम शोक होता है, उसी गंभीरतारहित दशासे चलना पड़ता है !

वे जिन—वर्द्धमान आदि सत्पुरुष कैसे महान् मनोविजयी थे । उन्हें मौन रहना, अमौन रहना दोनों ही सुलभ थे; उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल सभी दिन समान थे; उन्हें लाभ-हानि दोनों समान थी; उनका क्रम केवल आत्म-समताके लिये ही था । कैसे आश्चर्यकी बात है कि जिस एक कल्पनाका एक कल्पकालमें भी जय होना दुर्लभ है, ऐसी अनंत कल्पनाओंको उन्होंने कल्पके अनंतवें भागमें ही शान्त कर दिया ।

५५

वि. सं. १९४५

यदि दुखिया मनुष्योंका प्रदर्शन किया जाय तो निश्चयसे मैं उनके सबसे अग्र भागमें आ सकता हूँ ।

मेरे इन वचनोंको पढ़कर कोई विचारमें पड़कर भिन्न भिन्न कल्पनायें न करने लग जाय, अथवा इसे मेरा भ्रम न मान बैठे इसलिये इसका समाधान यहीं संक्षेपमें लिखे देता हूँ:—

तुम मुझे स्त्रीसंबंधी दुःख नहीं मानना, लक्ष्मीसंबंधी दुःख नहीं मानना, पुत्रसंबंधी दुःख नहीं मानना, कीर्तिसंबंधी दुःख नहीं मानना, भयसंबंधी दुःख नहीं मानना, शरीरसंबंधी दुःख नहीं मानना. अथवा अन्य सर्ववस्तुसंबंधी दुःख नहीं मानना; मुझे किसी दूसरी ही तरहका दुःख है । वह दुःख वातका नहीं, कफका नहीं, पित्तका नहीं; शरीरका नहीं, वचनका नहीं, मनका नहीं, अथवा गिनो तो इन सभीका है, और न गिनो तो एकका भी नहीं; परन्तु मेरी विज्ञप्ति उस दुःखको न गिननेके लिये ही है; क्योंकि इसमें कुछ और ही मर्म अन्तर्हित है ।

इतना तो तुम जरूर मानना कि मैं बिना दिवानापनेके यह कलम चला रहा हूँ । मैं **राजचन्द्र** नामसे कहा जानेवाला ववाणीआ नामके एक छोटेसे गाँवका रहनेवाला, लक्ष्मीमें साधारण होनेपर भी आर्यरूपसे माना जानेवाला दशाश्रीमाली वैश्यका पुत्र गिना जाता हूँ । मैंने इस देहमें मुख्यरूपसे दो भव किये हैं, गौणका कुछ हिसाब नहीं ।

छुटपनकी छोटी समझमें कौन जाने कहाँसे ये बड़ी बड़ी कल्पनायें आया करती थीं । सुखकी अभिलाषा भी कुछ कम न थी; और सुखमें भी महल, बाग, बगीचे, स्त्री तथा राग-रंगोंके भी कुछ कुछ ही मनोरथ थे, किंतु सबसे बड़ी कल्पना इस बातकी थी कि यह सब क्या है ? इस कल्पनाका एक बार तो ऐसा फल निकला कि न पुनर्जन्म है, न पाप है, और न पुण्य है; सुखसे रहना, और संसारका भोग करना, बस यही कृतकृत्यता है । इसमेंसे दूसरी झंझटोंमें न पड़कर धर्मकी वासनायें भी निकाल डालीं । किसी भी धर्मके लिये थोड़ा बहुत भी मान अथवा श्रद्धाभाव न रहा, किन्तु थोड़ा समय बीतनेके बाद इसमेंसे कुछ और ही हो गया ।

जैसा होनेकी मैंने कल्पना भी न की थी, तथा जिसके लिये मेरे विचारमें आनेवाला मेरा कोई प्रयत्न भी न था, तो भी अचानक फेरफार हुआ; कुछ दूसरा ही अनुभव हुआ; और यह अनुभव ऐसा था जो प्रायः न शास्त्रोंमें ही लिखा था, और न जड़वादियोंकी कल्पनामें ही था। यह अनुभव क्रमसे बढ़ा और बढ़कर अब एक 'तू ही, तू ही' का जाप करता है।

अब यहाँ समाधान हो जायगा। यह बात अवश्य आपकी समझमें आ जायगी कि मुझे भूतकालमें न भोगे हुए अथवा भविष्यकालीन भय आदिके दुःखमेंसे एक भी दुःख नहीं है। स्त्रीके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ खास करके मुझे नहीं रोक सकता। दूसरा ऐसा कोई भी संसारी पदार्थ नहीं है जिसमें मेरी प्रीति हो, और मैं किसी भी भयसे अधिक मात्रामें घिरा हुआ भी नहीं हूँ। स्त्रीके संबन्धमें मेरी अभिलाषा कुछ और है और आचरण कुछ और है। यद्यपि एक पक्षमें उसका कुछ कालतक सेवन करना योग्य कहा गया है, फिर भी मेरी तो वहाँ सामान्य प्रीति-अप्रीति है, परन्तु दुःख यही है कि अभिलाषा न होनेपर भी पूर्वकर्म मुझे क्यों घेरे हुए हैं? इतनेसे ही इसका अन्त नहीं होता, परन्तु इसके कारण अच्छे न लगनेवाले पदार्थोंको देखना, सूँघना और स्पर्श करना पड़ता है, और इसी कारणसे प्रायः उपाधिमें रहना पड़ता है।

महारंभ, महापरिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा ऐसी ही अन्य बातें जगत्में कुछ भी नहीं, इस प्रकारका इनको भुला देनेका ध्यान करनेसे परमानंद रहता है।

उसको उपरोक्त कारणोंसे देखना पड़ता है, यही महाखेदकी बात है। अंतरंगचर्या भी कहीं प्रगट नहीं की जा सकती; ऐसे पात्रोंकी मुझे दुर्लभता हो गई है, यही बस मेरा महादुःखीपना कहा जा सकता है।

५६

वि. सं. १९४५

यहाँ कुशलता है। आपकी कुशलता चाहता हूँ। आज आपका जिज्ञासु-पत्र मिला। इस जिज्ञासु-पत्रके उत्तरके बदलेमें जो पत्र भेजना चाहिये वह पत्र यह है:—

इस पत्रमें गृहस्थाश्रमके संबंधमें अपने कुछ विचार आपके समीप रखता हूँ। इनके रखनेका हेतु केवल इतना ही है कि जिससे अपना जीवन किसी भी प्रकारके उत्तम क्रममें व्यतीत हो; और जबसे उस क्रमका आरंभ होना चाहिये वह काल अभी आपके द्वारा आरंभ हुआ है, अर्थात् आपको उस क्रमके बतानेका यह उचित समय है। इस तरह बताये हुए क्रमके विचार बहुत ही संस्कारपूर्ण हैं इसलिये इस पत्रद्वारा प्रकट हुए हैं। वे आपको तथा किसी भी आत्मोन्नति अथवा प्रशस्त क्रमकी इच्छा रखनेवालेको अवश्य ही बहुत उपयोगी होंगे, ऐसी मेरी मान्यता है।

तत्त्वज्ञानकी गहरी गुफाका यदि दर्शन करने जाँय तो वहाँ नेपथ्यमेंसे यही ध्वनि निकलेगी कि तुम कौन हो? कहांसे आये हो? क्यों आये हो? तुम्हारे पास यह सब क्या है? क्या तुम्हें अपनी प्रतीति है? क्या तुम विनाशी, अविनाशी अथवा कोई तीसरी ही राशि हो? इस तरहके अनेक प्रश्न उस ध्वनिसे हृदयमें प्रवेश करेंगे; और जब आत्मा इन प्रश्नोंसे घिर गई तो फिर दूसरे विचारोंको बहुत ही थोड़ा अवकाश रहेगा। यद्यपि इन्हीं विचारोंसे ही अंतमें सिद्धि है; इन्हीं विचारोंके विवेकसे जिस अव्याबाध

सुखकी इच्छा है उसकी प्राप्ति होती है; और इन्हीं विचारोंके मननसे अनंत कालका मोह दूर होता है; तथापि वे सबके लिये नहीं हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखनेपर जो उसे अन्ततक पा सकें ऐसे पात्र बहुत ही कम हैं; काल बदल गया है। इन वस्तुओंके अंतको जल्दबाजी अथवा अशौचतासे लेने जानेपर जहर निकलता है, और वह भाग्यहीन अपात्र इन दोनों प्रकारके लोकोंसे भ्रष्ट होता है। इसलिये कुछ संतोंको अपवादरूप मानकर बाकीको उस क्रममें आनेके लिये उस गुफाका दर्शन करनेके लिये बहुत समयतक अभ्यासकी जरूरत है। कदाचित् यदि उस गुफाका दर्शन करनेकी उसकी इच्छा न हो तो भी अपने इस भवके सुखके लिये—पैदा होने और मरनेके बीचके भागको किसी तरह बितानेके लिये भी इस अभ्यासकी निश्चयसे जरूरत है; यह कथन अनुभवगम्य है, वह बहुतोंके अनुभवमें आया है, और बहुतसे आर्य-संतपुरुष उसके लिये विचार कर गये हैं। उन्होंने उसपर अधिकाधिक मनन किया है। उन्होंने आत्माको खोजकर उसके अपार मार्गमेंसे जो प्राप्ति हुई है उसकेद्वारा बहुतोंको भाग्यशाली बनानेके लिये अनेक क्रम बाँधे हैं। वे महात्मा जयवन्त हों! और उन्हें त्रिकाल नमस्कार हो!

हम थोड़ी देरके लिये तत्त्वज्ञानकी गुफाको विस्मरण करके जब आर्योंद्वारा उपदेश किये हुए अनेक क्रमोंपर आनेके लिये तैयार होते हैं, उस समयमें यह बता देना योग्य ही है कि हमें जो पूर्ण आल्हादकर लगता है, और जिसे हमने परमसुखकर, हितकर, और हृदयरूप माना है,—वह सब कुछ उसीमें है; वह अनुभवगम्य है, और यही तो इस गुफाका निवास है, और मुझे निरंतर इसीकी अभिलाषा रहा करती है। यद्यपि अभी हालमें उस अभिलाषाके पूर्ण होनेके कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते, तो भी क्रम-क्रमसे इसमें इस लेखकको जय ही मिलेगी, ऐसी उसे निश्चयसे शुभाकांक्षा है, और यह अनुभवगम्य भी है। अभीसे ही यदि योग्य रीतिसे उस क्रमकी प्राप्ति हो जाय तो इस पत्रके लिखने जितनी ढील करनेकी भी इच्छा नहीं; परन्तु कालकी कठिनता है; भाग्यकी मंदता है; संतोंकी कृपादृष्टि दृष्टिगोचर नहीं है; और सत्संगकी कमी है। वहाँ कुछ ही—

तो भी हृदयमें उस क्रमका बीजारोपण अवश्य हो गया है, और यही सुखकर हुआ है। सृष्टिके राज्यसे भी जिस सुखके मिलनेकी आशा नहीं थी, तथा जो अनंत शांति किसी भी रीतिसे, किसी भी औषधिसे, साधनसे, स्त्रीसे, पुत्रसे, मित्रसे अथवा दूसरे अनेक उपचारोंसे नहीं होनेवाली थी वह अब हो गई है। अब सदाके लिये भविष्यकालकी भीति चली गई है, और एक साधारण जीवनमें आचरण करता हुआ यह तुम्हारा मित्र इसीके कारण जी रहा है, नहीं तो जीनेमें निश्चयसे शंका ही थी। विशेष क्या कहें? यह भ्रम नहीं है, वहम नहीं है, बिल्कुल सत्य ही है।

जो त्रिकालमें एकतम परमप्रिय और जीवन वस्तु है उसकी प्राप्तिका बीजारोपण कैसे और किस प्रकारसे हुआ? इस बातका विस्तारपूर्ण विवेचन करनेका यहाँ अवसर नहीं है, परन्तु यही मुझे निश्चयसे त्रिकालमान्य है, इतना ही मैं यहाँ कहना चाहता हूँ, क्योंकि लेखन-समय बहुत थोड़ा है।

इस प्रिय जीवनको सब कोई पा जाँय, सब कोई इसके लिये पात्र बनें, यह सबको प्रिय लगे, सबको इसमें रुचि हो, ऐसा भूतकालमें कभी हुआ नहीं, वर्तमानकालमें होनेवाला नहीं, और भविष्यकालमें कभी होगा नहीं, और यही कारण है कि त्रिकालमें यह जगत् विचित्र बना रहता है।

जब हम मनुष्यके सिवाय दूसरे प्राणियोंकी जाति देखते हैं, तो उसमें इस वस्तुका विवेक नहीं मालूम होता; अब जो मनुष्य रहे उन सब मनुष्योंमें भी यह बात नहीं देख सकेंगे।——

२२वाँ वर्ष

५७

बम्बई, वि. सं. १९४६

भाई! इतना तो तुझे अवश्य करना चाहिये:—

१. इस देहमें जो विचार करनेवाला बैठा है वह देहसे भिन्न है? वह सुखी है या दुःखी? यह याद कर ले।

२. तुझे दुःख तो होता ही होगा, और दुःखके कारण भी तुझे दृष्टिगोचर ही होते होंगे, फिर भी यदि कदाचित् न होते हों तो मेरे० किसी भागको पढ़ जाना, इससे सिद्धि हो जायगी। इसे दूर करनेका जो उपाय है वह केवल इतना ही है कि उससे बाह्याभ्यंतरकी आसक्तिरहित रहना।

३. उस आसक्तिसे रहित होनेके बाद कुछ और ही दशाका अनुभव होता है, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ।

४. उस साधनके लिये सर्वसंग-परित्यागी होनेकी आवश्यकता है। निर्ग्रंथ सद्गुरुके चरणमें जाकर पड़ना योग्य है।

५. जिस भावसे चढ़ा जाय उस भावसे सदाकाल रहनेका सबसे पहिले निश्चय कर। यदि तुझे पूर्वकर्म बलवान लगते हों तो अत्यागी अथवा देशत्यागी ही रह, किन्तु उस वस्तुको भूलना मत।

६. सबसे पहिले जैसे बने तैसे तू अपने जीवनको जान। जाननेकी ज़रूरत इसलिये है जिससे तुझे भविष्य-समाधि हो सके। इस समय अप्रमादी होकर रहना।

७. इस आयुके मानसिक आत्मोपयोगको केवल वैराग्यमें रख।

८. जीवन बहुत छोटा है, उपाधि बहुत है, और उसका त्याग न हो सकता हो तो नीचेकी बातें पुनः पुनः लक्षमें रख:—

१ उसी वस्तुकी अभिलाषा रख।
२ संसारको बंधन मान।
३ पूर्वकर्म नहीं हैं, ऐसा मानकर प्रत्येक धर्मका सेवन करता जा; फिर भी यदि पूर्वकर्म दुःख दें तो शोक नहीं करना।
४ जितनी देहकी चिंता रखता है उतनी नहीं, किन्तु उससे अनंतगुनी अधिक आत्माकी चिंता रख, क्योंकि एक भवमें अनंतभव दूर करने हैं।
५ यदि तुझसे कुछ धारण न किया जा सके तो सुननेका अभ्यासी बन।
६ जिसमेंसे जितना कर सके उतना कर।
७ परिणामिक विचारवाला बन।
८ अनुत्तरवासी होकर रह।
९ प्रतिसमय अंतिम उद्देश्यको मत भूल जाना; यही अनुरोध है, और यही धर्म है।

५८

बम्बई, कार्तिक वि. सं. १९४६

समझपूर्वक अल्पभाषी होनेवालेको पश्चात्ताप करनेके बहुत ही थोड़े अवसर आनेकी संभावना है।

हे नाथ! यदि सातवें तमतमप्रभा नामक नरककी वेदना मिली होती तो कदाचित् उसे स्वीकार कर लेता, परन्तु जगत्की मोहिनी स्वीकारी नहीं जाती।

यदि पूर्वके अशुभ कर्मका उदय होनेपर उसका वेदन करते हुए शोक करते हो तो अब इसका भी ध्यान रक्खो कि नये कर्मोंका बंध करते हुए वैसा दुःखद परिणाम देनेवाले कर्मोंका तो बंध नहीं कर रहे?

यदि आत्माको पहिचानना हो तो आत्माका परिचयी, और परवस्तुका त्यागी होना चाहिये।

जो कोई अपनी जितनी पौद्गलिक बड़ाई चाहता है उसकी उतनी ही आत्मिक अधोगति हो जानेकी संभावना है।

प्रशस्त पुरुषकी भक्ति करो, उसका स्मरण करो, उसका गुणचिंतन करो।

५९

बम्बई, वि. सं. १९४६

प्रत्येक पदार्थका अत्यंत विवेक करके इस जीवको उससे अलिप्त रक्खे, ऐसा निर्ग्रंथ कहते हैं।

जैसे शुद्ध स्फटिकमें अन्य रंगका प्रतिभास होनेसे उसका मूल स्वरूप लक्षमें नहीं आता वैसे ही शुद्ध निर्मल यह चेतन अन्य संयोगके तदनुरूप अध्याससे अपने स्वरूपके लक्षको नहीं पाता। इसी बातको थोड़े बहुत फेरफारके साथ जैन, वेदांत, सांख्य, योग आदिने भी कहा है।

६०

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहज

जो पुरुष ग्रंथमें 'सहज' लिख रहा है वह पुरुष अपने आपको ही लक्ष्य करके यह सब कुछ लिख रहा है।

उसकी अब अंतरंगमें ऐसी दशा है कि बिना किसी अपवादके उसने सभी संसारी इच्छाओंको भी विस्मृत कर दिया है।

वह कुछ पा भी चुका है, और वह पूर्णका परम मुमुक्षु भी है, वह अन्तिम मार्गका निःशंक अभिलाषी है।

अभी हालमें जो आवरण उसके उदय आये हैं, उन आवरणोंसे इसे खेद नहीं, परन्तु वस्तुभावमें होनेवाली मंदताका उसे खेद है। वह धर्मकी विधि, अर्थकी विधि, और उसके आधारसे मोक्षकी विधिको प्रकाशित कर सकता है। इस कालमें बहुत ही कम पुरुषोंको प्राप्त हुआ होगा, ऐसे क्षयोपशमभावका धारक वह पुरुष है।

उसे अपनी स्मृतिके लिये गर्व नहीं है, तर्कके लिये गर्व नहीं है, तथा उसके लिये उसका

पक्षपात भी नहीं है, ऐसा होनेपर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनको उसे बाह्याचारमें करना पड़ता है, इसके लिये उसे खेद है।

उसका अब एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयमें ठिकाना नहीं। यद्यपि वह पुरुष तीक्ष्ण उपयोगवाला है, तथापि उस तीक्ष्ण उपयोगको दूसरे किसी भी विषयमें लगानेका वह इच्छुक नहीं है।

६१

बम्बई, वि. सं. १९४६

एक बार वह स्वभुवनमें बैठा था। जगत्‌में कौन सुखी है, उसे जरा देखूँ तो सही। फिर अपने लिये अपना विचार करूँ। इसकी इस अभिलाषाकी पूर्ति करनेके लिये अथवा स्वयं उस संग्रह-स्थानको देखनेके लिये बहुतसे पुरुष (आत्मायें), और बहुतसे पदार्थ उसके पास आये।

" इनमें कोई जड़ पदार्थ न था। " " कोई अकेली आत्मा भी देखनेमें न आई। "

सिर्फ़ कुछ देहधारी ही थे। उस पुरुषको शंका हुई कि ये मेरी निवृत्तिके लिये आये हैं।

वायु, अग्नि, पानी और भूमि इनमेंसे कोई क्यों नहीं आया?

(नेपथ्य) वे सुखका विचार तक भी नहीं कर सकते। वे बिचारे दुःखसे पराधीन हैं।

द्वि-इन्द्रिय जीव क्यों नहीं आये?

(नेपथ्य) इसका भी यही कारण है। ज़रा आँख उठाकर देखो तो सही। उन बिचारोंको कितना अधिक दुःख है।

उनका कंपन, उनकी थरथराहट, पराधीनता इत्यादि देखे नहीं जाते। वे बहुत ही अधिक दुःखी हैं!

(नेपथ्य) इसी आँखसे अब तुम समस्त जगत् देख लो। फिर दूसरी बात करो।

अच्छी बात है। दर्शन हुआ, आनंद पाया, परन्तु पीछेसे खेद उत्पन्न हुआ।

(नेपथ्य) अब खेद क्यों करते हो?

मुझे जो कुछ दिखाई दिया क्या वह ठीक था?

" हाँ "

यदि ठीक था तो फिर चक्रवर्ती आदि दुःखी क्यों दिखाई देते हैं?

" जो दुःखी होते हैं वे दुःखी, और जो सुखी होते हैं वे सुखी दिखाई देते हैं। "

तो क्या चक्रवर्ती दुःखी नहीं है?

" जैसा देखो वैसा मानो। यदि विशेष देखना हो तो चलो मेरे साथ। "

चक्रवर्तीके अंतःकरणमें प्रवेश किया।

अंतःकरण देखते ही मुझे मालूम हुआ कि मैंने पहिले जो देखा था वही ठीक था। उसका अंतः-करण बहुत दुःखी था। वह अनंत प्रकारके भयोंसे थरथर काँप रहा था। काल आयुष्यकी डोरीको निगल रहा था। हाड़-माँसमें उसकी वृत्ति थी। कँकरोंमें उसकी प्रीति थी। क्रोध और मानका वह उपासक था। बहुत दुःख।

अच्छा, तो क्या देवोंकी दशाको ठीक समझें ?

" निश्चय करनेके लिये चलो इन्द्रके अन्तःकरणमें प्रवेश करें ।"

तो चलो—

(उस इन्द्रकी भव्यताने भूलमें डाल दिया ।) वह भी परम दुःखी था । विचारेको च्युत होकर किसी बीभत्स स्थलमें जन्म लेना था, इसलिये वह खेद कर रहा था । उसमें सम्यग्दृष्टि नामकी देवी रहती थी । वह उसको उस खेदमें सांत्वना दे रही थी । इस महादुःखके सिवाय उसे और भी बहुतसे अव्यक्त दुःख थे ।

परन्तु (नेपथ्य) क्या संसारमें अकेला जड़ और अकेली आत्मा नहीं है ? उन्होंने मेरे इस आमंत्रणको स्वीकार ही नहीं किया ।

" जड़के ज्ञान नहीं है इसलिये वह विचारा तुम्हारे इस आमंत्रणको कैसे स्वीकार कर सकता है ? सिद्ध (एकात्मभावी) भी तुम्हारे आमंत्रणको स्वीकार नहीं कर सकते । उसकी उन्हें कुछ भी परवा नहीं ।"

अरे ! इतनी अधिक बेपरवाही ? उन्हें आमंत्रण तो स्वीकार करना ही चाहिये; तुम क्या कहते हो ?

" परन्तु इन्हें आमंत्रण—अनामंत्रणसे कोई संबंध ही नहीं । वे परिपूर्ण स्वरूप-सुखमें विराजमान हैं "।

इन्हें मुझे बताओ । एकदम—बहुत जल्दीसे ।

" उनका दर्शन बहुत दुर्लभ है । लो इस अंजनको आँज लो, घुसते ही उनके दर्शन हो जाँयगे ।"

अहो ! ये बहुत सुखी हैं । इन्हें भय भी नहीं, शोक भी नहीं, हास्य भी नहीं, वृद्धता भी नहीं, रोग भी नहीं, आधि भी नहीं, व्याधि भी नहीं, उपाधि भी नहीं, इत्यादि कुछ भी नहीं ।

परन्तु . . . . वे अनंतानंत सच्चिदानंद सिद्धिसे पूर्ण हैं । हम भी ऐसा ही होना चाहते हैं ।

" क्रम क्रमसे हो सकोगे " ।

वह क्रम क्रम हमें नहीं चाहिये, हमें तो तुरन्त ही वह पद चाहिये ।

" जरा शांत होओ; समता रक्खो; और क्रमको अंगीकार करो, नहीं तो उस पदपर पहुँचनेकी संभावना नहीं है " ।

" एँ, वहाँ पहुँचना संभव नहीं " तुम अपने इस वचनको वापिस लो ।

वह क्रम शीघ्र बताओ और उस पदमें अभी तुरत ही भेजो ।

" बहुतसे मनुष्य आये हैं । उन्हें यहाँ बुलाओ । उनमेंसे तुम्हें क्रम मिल सकेगा "

इच्छा की ही थी कि इतनेमें वे आ गये—

आप मेरे आमंत्रणको स्वीकारकर यहाँ चले आये इसके लिये मैं आप लोगोंका उपकार मानता हूँ । आप लोग सुखी हैं, क्या यह बात ठीक है ? क्या आपका पद सुखयुक्त गिना जाता है ?

एक वृद्ध पुरुषने कहाः—" तुम्हारे आमंत्रणको स्वीकार करना अथवा न करना ऐसा हमें कुछ भी बंधन नहीं है । हम सुखी हैं या दुःखी, यह बतानेके लिये भी हम यहाँ नहीं आये हैं । अपने

पदकी व्याख्या करनेके लिये भी हमारा यहाँ आना नहीं हुआ। हमारा आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये हुआ है। "

कृपा करके शीघ्र कहें कि आप मेरा क्या कल्याण करेंगे ? इन आगन्तुक पुरुषोंका परिचय तो कराइये।

उसने इस प्रकार उनका परिचय देना शुरू किया:—

" इस वर्गमें ४-५-६-७-८-९-१०-१२ नंबरवाले मुख्यतः मनुष्य ही हैं। और वे सब उसी पदके आराधक योगी हैं जिस पदको तुमने प्रिय माना है "

" नंबर चौथेसे लेकर वह पद सुखरूप है; और बाकीकी जगत्-व्यवस्था जैसे हम मानते हैं उसी तरह वे भी मानते हैं। उस पदके प्राप्त करनेकी उनकी हार्दिक अभिलाषा है परन्तु वे प्रयत्न नहीं कर सकते; क्योंकि थोड़े समयतक उन्हें अंतराय है। "

अंतराय क्या ? करनेके लिये तत्पर हुए कि वह हुआ ही समझना चाहिये।

वृद्धः—तुम जल्दी न करो। उसका समाधान तुम्हें अभी होनेवाला है, और हो ही जायगा।

ठीक, आपकी इस बातको मैं मान लेता हूँ।

वृद्धः—नंबर "५" वाला कुछ प्रयत्न भी करता है, और सब बातोंमें वह नं. "४" के ही अनुसार है।

नंबर "६" वाला सब प्रकारसे प्रयत्न करता है, परन्तु प्रमत्तदशासे उसके प्रयत्नमें मंदता आ जाती है।

नंबर "७" वाला सब प्रकारसे अप्रमत्तदशासे प्रयत्न करता है।

नंबर "८-९-१०" वाले उसकी अपेक्षा क्रमसे उज्ज्वल हैं, किन्तु उसी जातिके हैं। नंबर "११" वाला पतित हो जाता है इसलिये उसका यहाँ आना नहीं हो सका। दर्शन होनेके लिये मैं बारहवेंमें ही (हाल हीमें उस पदको सम्पूर्ण देखने वाला हूँ) परिपूर्णता पानेवाला हूँ। आयु-स्थितिके पूरी होनेपर अपने देखे हुए पदमेंसे एक पदपर तुम मुझे भी देखोगे।

पिताजीः—आप महाभाग्यशाली हैं।

ऐसे नंबर कितने हैं ?

वृद्धः—प्रथमके तीन नंबर तुम्हें अनुकूल नहीं आयेंगे। ग्यारहवाँ नंबर भी अनुकूल नहीं होगा। नंबर "१३-१४" वाले तुम्हारे पास आवें ऐसा उनको कोई निमित्त नहीं रहा है। नंबर "१३" शायद आ जाय, परन्तु वैसा तुम्हारा पूर्व कर्म हो तो ही उसका आगमन हो सकता है, अन्यथा नहीं। चौदहवेंके आनेके कारण जाननेकी इच्छा भी मत करना। उसका कारण कुछ है ही नहीं।

(नेपथ्य) "तुम इन सबोंके अंतरमें प्रवेश करो। मैं सहायक होता हूँ। "

चलो। नंबर ४ से लेकर ११+१२ तकमें क्रम क्रमसे सुखकी उत्तरोत्तर चढ़ती हुई लहर उमड़ रहीं थीं

अधिक क्या कहें ? मुझे वह बहुत प्रिय लगा। और यही मुझे अपना लगा।

वृद्धने मेरे मनोगत भावको जानकर कहाः—बस, यही तुम्हारा कल्याण मार्ग है। इसपरसे होकर जाना चाहो तो अच्छी बात है; और अभी आना हो तो ये तुम्हारे साथी रहे।

मैं उठकर उनमें मिल गया। (स्वविचार भुवन, द्वार प्रथम)

६२

बम्बई, कार्तिक सुदी ७ गुरु. १९४६

इस पत्रके साथ अष्टक और योगविन्दु नामकी दो पुस्तकें आपकी दृष्टिसे निकल जानेके लिये भेज रहा हूँ। योगविन्दुका दूसरा पृष्ठ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिल सका; तो भी बाकीका भाग समझमें आ सकने जैसा है, इसलिये यह पुस्तक भेजी है।

योगदृष्टिसमुच्चय बादमें भेजूँगा।

परम गूढ़ तत्त्वको सामान्य ज्ञानमें उतार देनेकी हरिभद्राचार्यकी चमत्कृति प्रशंसनीय है। किसी स्थलपर सापेक्ष खंडन मंडनका भाग होगा, उसकी ओर आपकी दृष्टि नहीं है, इससे मुझे आनंद है।

यदि समय मिलनेपर 'अथ' से लेकर 'इति' तक अवलोकन कर जायँगे तो मेरे ऊपर कृपा होगी। (जैनदर्शन मोक्षका अखंड उपदेश करनेवाला और वास्तविक तत्त्वमें ही श्रद्धा रखनेवाला दर्शन है फिर भी कुछ लोग उसे 'नास्तिक' कहकर पहिले उसका खंडन कर गये हैं, वह खंडन ठीक नहीं हुआ; इस पुस्तकके पढ़ जानेपर यह बात आपकी दृष्टिमें प्रायः आ जायगी)।

मैं आपको जैनधर्मसंबंधी अपना कुछ भी आग्रह नहीं बताता। और आत्माका जो स्वरूप है वह स्वरूप उसे किसी भी उपायद्वारा मिल जाय, इसके सिवाय दूसरी मेरी कोई आंतरिक अभिलाषा नहीं है; इसे किसी भी तरहसे कहकर यह कहनेकी आज्ञा माँगता हूँ कि जैनदर्शन भी एक पवित्र दर्शन है। यह केवल यही समझकर कह रहा हूँ कि जो वस्तु जिस रूपसे स्वानुभवमें आई हो, उसे उसी रूपसे कहना चाहिये।

सब सत्पुरुष केवल एक ही मार्गसे पार हुए हैं, और वह मार्ग वास्तविक आत्मज्ञान और उसकी अनुचारिणी देहकी स्थितिपर्यंत सत्क्रिया अथवा रागद्वेष और मोहरहित दशामें रहना है; ऐसी दशा रहनेसे ही वह तत्त्व उनको प्राप्त हुआ है, ऐसा मेरा स्वकीय मत है।

आत्मामें इस प्रकार लिखनेकी अभिलाषा थी इसलिये यह लिखा है। इसमें यदि कुछ न्यूनाधिक हो गया हो तो उसे क्षमा करें।

६३

बम्बई, वि. सं. १९४६ कार्तिक

(१) यह पूरा कागज़ है, वह मानों सर्वव्यापक चेतन है।

उसके कितने भागमें माया समझें? जहाँ जहाँ वह माया हो वहाँ वहाँ चेतनको बँध समझें या नहीं? उसमें जुदे जुदे जीवोंको किस तरह मानें? और उस जीवको बंध होना किस तरह मानें? उस बंधकी निवृत्ति किस प्रकार मानें? उस बंधकी निवृत्ति होनेपर चेतनके कौनसे भागको माया-रहित हुआ समझें? जिस भागमेंसे पहिले मुक्त हुए हों क्या उस भागको निरावरण समझें या और

कुछ ? और एक जगह निरावरणपना, दूसरी जगह आवरण, और तीसरी जगह निरावरण ऐसा कैसे बन सकता है ? इसका चित्र बनाकर विचार करो।

सर्वव्यापक आत्मा:—
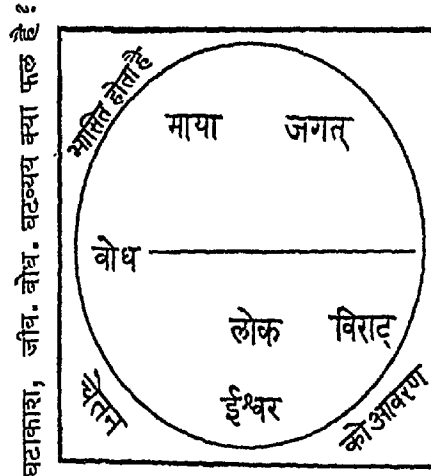
इस तरह तो यह ठीक ठीक नहीं बैठता।

(२) प्रकाशस्वरूप धाम है।

उसमें अनंत अप्रकाशसे भरे हुए अंतःकरण हैं। उससे फल क्या होता है ?

फल यह होता है कि जहाँ जहाँ वे अन्तःकरण व्याप्त हो जाते हैं वहाँ वहाँ माया भासमान होने लगती है, आत्मा संगरहित होनेपर भी संगसहित मालूम होने लगती है, अकर्त्ता होनेपर भी कर्त्ता मालूम होने लगती है, इत्यादि अनेक प्रकारकी विपरीतताएँ दिखाई देने लगती हैं।

तो उससे होता क्या है ?

आत्माको बंधकी कल्पना हो तो उसका क्या करें ?

अन्तःकरणका सम्बन्ध दूर करनेके लिये उसे उससे भिन्न समझें।

भिन्न समझनेसे क्या होता है ?

आत्मा निजस्वरूप दशामें रहती है।

फिर चाहे एकदेश निरावरण हो अथवा सर्वदेश निरावरण हो ?

२३वाँ वर्ष

६४ बम्बई, १९४६ कार्तिक सुदी १५

संवत् १९२४ में कार्तिक सुदी १५ को रविवारके दिन मेरा जन्म हुआ था। इससे सामान्य गणनासे आज मुझे बाईस वर्ष पूरे हो गये हैं। इस बाईस वर्षकी अल्पवयमें मैंने आत्मासंबंधी, मनसंबंधी, वचनसंबंधी, तनसंबंधी, और धनसंबंधी अनेक रंग देखे हैं। नाना प्रकारकी सृष्टिरचना, नाना प्रकारकी सांसारिक लहरें और अनंत दुःखके मूलकारण इन सबके अनेक प्रकारसे मुझे अनुभव हुए हैं। समर्थ तत्त्वज्ञानियोंने और समर्थ नास्तिकोंने जो जो विचार किये हैं, उसी तरहके अनेक विचार मैंने इसी अल्पवयमें किये हैं। महान् चक्रवर्तीद्वारा किये गये तृष्णापूर्ण विचार और एक निस्पृही आत्माद्वारा किये हुए निस्पृहापूर्ण विचार भी मैंने किये हैं। अमरत्वकी सिद्धि और क्षणिकत्वकी सिद्धिपर मैंने खूब मनन किया है। अल्पवयमें ही मैंने महान् विचार कर डाले हैं; और महान् विचित्रताकी प्राप्ति हुई है। जब इन सब बातोंको बहुत गंभीरभावसे आज मैं ध्यानपूर्वक देख जाता हूँ तब पहिलेकी उगती हुई मेरी विचारश्रेणी और आत्म-दशा तथा आजकी विचारश्रेणी और आत्म-दशामें आकाश पातालका अंतर दिखाई देता है। वह अंतर इतना बड़ा है कि मानों उसका और इसका अन्त कभी भी मिलाया नहीं मिलेगा। परन्तु तुम सोचोगे कि इतनी सब विचित्रताओंका किसी स्थलपर कुछ लेखन अथवा चित्रण कर रक्खा है या नहीं? तो उसका इतना ही उत्तर दे सकता हूँ कि यह सब लेखन-चित्रण स्मृतिके चित्रपटपर ही अंकित है, अन्यथा लेखनीको उठाकर उन्हें जगत्‌में बतानेका प्रयत्न कभी नहीं किया। यद्यपि मैं यह समझ सकता हूँ कि वह वय-चर्या जनसमूहको बहुत उपयोगी, पुनः पुनः मनन करने योग्य, और परिणाममें उनकी तरफसे मुझे श्रेयकी प्राप्ति करानेवाली है, परन्तु मेरी स्मृतिने वैसा परिश्रम उठानेकी मुझे सर्वथा मना की थी, इसलिये लाचार होकर क्षमा माँगे लेता हूँ। पारिणामिक विचारसे उस स्मृतिकी इच्छाको दबाकर उसी स्मृतिको समझाकर यदि हो सका तो उस वय-चर्याको धीरे धीरे अवश्य धवल पत्रपर लिखूँगा।

तो भी समुच्चयवय-चर्याको सुना जाता हूँ:—

१. सात वर्षतक नितांत बालवय खेल-कूदमें बीती थी। उस समयका केवल इतना मुझे याद पड़ता है कि मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनायें (कल्पनाके स्वरूप अथवा हेतुको समझे बिना ही) हुआ करती थीं। खेल-कूदमें भी विजय पानेकी और राजराजेश्वर जैसी ऊँची पदवी प्राप्त करनेकी मेरी परम अभिलाषा रहा करती थी। वस्त्र पहिननेकी, स्वच्छ रहनेकी, खाने पीनेकी, सोने बैठनेकी मेरी सभी दशायें विदेही थीं; फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी मुझे बहुत याद आती है। यदि आजका विवेकयुक्त ज्ञान मुझे उस अवस्थामें होता तो मुझे मोक्षके लिये बहुत अधिक अभिलाषा न रह जाती। ऐसी निरपराध दशा होनेसे वह दशा मुझे पुनः पुनः याद आती है।

२. सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका मेरा समय शिक्षा प्राप्त करनेमें बीता था। आज मेरी स्मृतिकी जितनी प्रसिद्धि है उस प्रसिद्धिके कारण वह कुछ हीन जैसी अवश्य मालूम होती है, परन्तु

उस समयकी स्मृति विशुद्ध होनेसे केवल एकबार ही पाठका अवलोकन करना पड़ता था, फिर भी कैसी भी ख्याति पानेका हेतु न था इसलिये उपाधि बहुत कम थी। स्मृति इतनी अधिक प्रबल थी कि वैसी स्मृति इस कालमें इस क्षेत्रमें बहुत ही थोड़े मनुष्योंकी होगी। मैं अभ्यास करनेमें बहुत प्रमादी था, बात बनानेमें होशियार, खिलाड़ी और बहुत आनंदी जीव था। जिस समय पाठको शिक्षक पढ़ाता था उसी समय पढ़कर मैं उसका भावार्थ कह जाया करता था; बस इतनेसे ही इस तरफसे छुट्टी मिल जाती थी। उस समय मुझमें प्रीति और सरल वात्सल्य बहुत था; मैं सबसे मित्रता पैदा करना चाहता था; सबमें भ्रातृभाव हो तो ही सुख है, यह विश्वास मेरे मनमें स्वाभाविकरूपसे रहा करता था। लोगोंमें किसी भी प्रकारका जुदाईका अंकुर देखते ही मेरा अंतःकरण रो पड़ता था। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी; जो पीछेसे ज़ाँच करनेपर छंदशास्त्रके नियमानुकूल ठीक निकली।

अभ्यास मैंने इतनी शीघ्रतासे किया था कि जिस आदमीने मुझे पहिली पुस्तक सिखानी शुरु की थी, उसीको मैंने गुजराती भाषाका शिक्षण ठीक तरहसे प्राप्त करके, उसी पुस्तकको पढ़ाया था। उस समय मैंने कई एक काव्य-ग्रंथ पढ़ लिये थे, तथा अनेक प्रकारके छोटे मोटे, उलटे सीधे ज्ञान-ग्रंथ देख गया था, जो प्रायः अब भी स्मृतिमें हैं। उस समयतक मैंने स्वाभाविकरूपसे भद्रिकताका ही सेवन किया था। मैं मनुष्यजातिका बहुत विश्वासु था। स्वाभाविक सृष्टि-रचनापर मुझे बहुत ही प्रीति थी।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति किया करते थे। उस वयमें मैंने उनके द्वारा कृष्ण-कीर्तनके पदोंको, तथा जुदे जुदे अवतारसंबंधी चमत्कारोंको सुना था। जिससे मुझे उन अवतारोंमें भक्तिके साथ साथ प्रीति भी उत्पन्न हो गई थी; और रामदासजी नामके साधुसे मैंने बाल-लीलामें कंठी भी बँधवाई थी। मैं नित्य ही कृष्णके दर्शन करने जाता था। मैं उनकी बहुत बार कथायें सुनता था; जिससे अवतारोंके चमत्कारोंपर बारबार मुग्ध हो जाया करता था, और उन्हें परमात्मा मानता था। इस कारण उनके रहनेका स्थल देखनेकी मुझे परम उत्कंठा थी। मैं उनके सम्प्रदायका महंत अथवा त्यागी होऊँ तो कितना आनंद मिले, बस यही कल्पना हुआ करती थी। तथा जब कभी किसी धन-वैभवकी विभूति देखता तो समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा हुआ करती थी। उसी बीचमें प्रवीणसागर नामक ग्रंथ भी मैं पढ़ गया था। यद्यपि उसे अधिक समझा तो न था, फिर भी स्त्रीसंबंधी सुखमें लीन होऊँ और निरुपाधि होकर कथायें श्रवण करते होऊँ तो कैसी आनन्द-दशा हो? यही मेरी तृष्णा रहा करती थी।

गुजराती भाषाकी पाठमालामें कई एक जगहमें जगत्कर्त्ताके संबंधमें उपदेश किया गया है, यह उपदेश मुझे दृढ़ हो गया था। इस कारण जैन लोगोंसे मुझे बहुत घृणा रहा करती थी। कोई भी पदार्थ बिना बनाये कभी नहीं बन सकता, इसलिये जैन लोग मूर्ख हैं, उन्हें कुछ भी खबर नहीं। उस समय प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रिया भी मुझे वैसी ही दिखाई देती थी; इसलिये उन क्रियाओंके मलीन लगनेके कारण उनसे मैं बहुत डरता था, अर्थात् वे क्रियायें मुझे प्रिय नहीं लगतीं थीं।

मेरी जन्मभूमिमें जितने वणिक् लोग रहते थे उन सबकी कुल-श्रद्धा यद्यपि भिन्न भिन्न थी फिर भी वह थोड़ी बहुत प्रतिमा-पूजनके अश्रद्धालुके ही समान थी; इस कारण उन लोगोंको ही मुझे सुधारना था। लोग मुझे पहिलेसे ही समर्थ शक्तिवाला और गाँवका प्रसिद्ध विद्यार्थी गिनते थे, इसलिये मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर ऐसे मंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति दिखानेका प्रयत्न किया करता था। वे लोग कंठी बाँधनेके कारण बारबार मेरी हास्यपूर्वक टीका करते, तो भी मैं उनसे वाद-विवाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न किया करता था। परन्तु धीरे धीरे मुझे उन लोगोंके प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। उनमें बहुत विनयपूर्वक जगत्के समस्त जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई थी, इससे मेरी प्रीति उनमें भी उत्पन्न हो गई और पहिलेमें भी रही। धीमे धीमे यह समागम बढ़ता गया; फिर भी स्वच्छ रहनेके और दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोंके ही प्रिय थे, तथा जगत्कर्त्ताकी भी श्रद्धा थी। इतनेमें कंठी टूट गई, और इसे दुबारा मैंने नहीं बाँधी। उस समय बाँधने न बाँधनेका कोई कारण मैंने नहीं ढूँढा था। यह मेरी तेरह वर्षकी वय-चर्या है। इसके बाद मैं अपने पिताकी दूकानपर बैठने लगा था, अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ दरबारके महलमें लिखनेके लिये जब जब बुलाया जाता था तब तब वहाँ जाता था। दूकानपर रहते हुए मैंने नाना प्रकारकी मौज मजायें की हैं, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम आदिके चरित्रोंपर कवितायें रची हैं, सांसारिक तृष्णायें की हैं, तो भी किसीको मैंने कम अधिक भाव नहीं कहा, अथवा किसीको कम ज्यादा तोलकर नहीं दिया; यह मुझे बराबर याद आ रहा है।

६५

(१) बम्बई, कार्तिक १९४६

दो भेदोंमें विभक्त धर्मको तीर्थंकरने दो प्रकारका बताया है:—

१ सर्वसंगपरित्यागी. २ देशपरित्यागी.

सर्वपरित्यागी—

भाव और द्रव्य

उसके अधिकारी—

पात्र, क्षेत्र, काल, भाव

पात्र—वैराग्य आदि लक्षण, त्यागका कारण, और पारिणामिक भावकी ओर देखना।

क्षेत्र—उस पुरुषकी जन्मभूमि और त्यागभूमि ये दोनों।

काल—अधिकारीकी अवस्था, मुख्य चालू काल।

भाव—विनय आदि; उसकी योग्यता शक्ति; गुरु उसको सबसे पहिले क्या उपदेश करे; दशवैकालिक आचारांग इत्यादिसंबंधी विचार; उसके नवदीक्षित होनेके कारणसे उसे स्वतंत्र विहार करने देनेकी आज्ञा इत्यादि।

नित्यचर्या

वर्षकल्प

अन्तिम अवस्था

—ये बातें परम आवश्यक हैं.

देशत्यागी—

अवश्यक्रिया	नित्यकल्प
भक्ति	अणुव्रत

दान, शील, तप, भावका स्वरूप, ज्ञानके लिये उसका अधिकार।

—ये बातें परम आवश्यक हैं.

(२)

ज्ञानका उद्धार—

श्रुतज्ञानका उदय करना चाहिये।

योगसंबंधी ग्रंथ	त्यागसंबंधी ग्रंथ
प्रक्रियासंबंधी ग्रंथ	अध्यात्मसंबंधी ग्रंथ
धर्मसंबंधी ग्रंथ	उपदेश ग्रंथ
आख्यान ग्रंथ	द्रव्यानुयोगी ग्रंथ

—इत्यादि विभाग करने चाहिये.

—उनका क्रम और उदय करना चाहिये.

निर्ग्रंथ धर्म	गच्छ
आचार्य	प्रवचन
उपाध्याय	द्रव्यलिंगी
मुनि	अन्य दर्शनसंबंधी
गृहस्थ	

—इन सबकी योजना करनी चाहिये.

मतमतांतर	मार्गकी शैली
उसका स्वरूप	जीवनका बिताना
उसको समझाना	उद्योत

—यह विचार।

---

६६ बम्बई, कार्तिक वदी १ शुक्र. १९४६

नाना प्रकारके मोहके कृश होनेसे आत्माकी दृष्टि अपने स्वाभाविक गुणसे उत्पन्न सुखकी प्राप्तिकी ओर जाती है, और बादमें उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करती है, यही दृष्टि उसे उसकी सिद्धि प्रदान करती है।

६७ बम्बई, कार्तिक वदी ३ रवि. १९४६

हम आयुके प्रमाणको नहीं जानते। बाल्यावस्था तो नासमझीमें व्यतीत हो गई। कल्पना करो कि ४६ वर्षकी आयु है, अथवा इतनी आयु है कि वृद्धावस्थाका दर्शन कर सकें, परन्तु उसमें शिथिल दशाके सिवाय हम दूसरी कुछ भी बात न देख सकेंगे। अब केवल एक युवावस्था बाकी बची, उसमें भी यदि मोहनीयकी प्रबलता न घटी तो सुखकी निद्रा न आयगी, निरोगी नहीं रहा जायगा, मिथ्या संकल्प-विकल्प दूर न होंगे, और जगह जगह भटकना पड़ेगा—और यह भी जब होगा जब कि ऋद्धि होगी, नहीं तो प्रथम उसके प्राप्त करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा। उसका इच्छानुसार मिलना न मिलना तो एक ओर रहा, परन्तु शायद पेटभर अन्न मिलना भी दुर्लभ हो जाय। उसीकी चिंतामें, उसीके विकल्पमें, और उसको प्राप्त करके सुख भोगेंगे इसी संकल्पमें, केवल दुःखके सिवाय दूसरा कुछ भी न देख सकेंगे। इस अवस्थामें किसी कार्यमें प्रवृत्ति करनेसे सफल हो गये तो आँख एकदम तिरछी हो जाँयगी। यदि सफल न हुए तो लोकका तिरस्कार और अपना निष्फल खेद बहुत दुःख देगा।

प्रत्येक समय मृत्युका भयवाला, रोगका भयवाला, आजीविकाका भयवाला, यदि यश हुआ तो उसकी रक्षा करनेका भयवाला, यदि अपयश हुआ तो उसे दूर करनेका भयवाला, यदि अपना लेना हुआ तो उसे लेनेका भयवाला, यदि कर्ज़ हुआ तो उसकी हायतोबाका भयवाला, यदि स्त्री हुई तो उसके ......का भयवाला, यदि न हुई तो उसे पानेका विचारवाला, यदि पुत्र पौत्रादिक हुए तो उनकी चिन्ताका भयवाला, यदि न हुए तो उन्हें प्राप्त करनेका विचारवाला, यदि कम ऋद्धि हुई तो उसे बढ़ानेके विचारवाला, यदि अधिक हुई तो उसे गोदीमें भर लेनेका विचारवाला, इत्यादि रूपसे दूसरे समस्त साधनोंके लिये भी अनुभव होगा। क्रमसे कहो अथवा अक्रमसे, किन्तु संक्षेपमें कहनेका तात्पर्य यही है कि सुखका समय कौनसा कहा जाय—बाल्यावस्था? युवावस्था? जरावस्था? निरोगावस्था? रोगावस्था? धनावस्था? निर्धनावस्था? गृहस्थावस्था? या अगृहस्थावस्था?

इस सब प्रकारके बाह्य परिश्रमके बिना अंतरंगके श्रेष्ठ विचारसे जो विवेक हुआ है वही हमें दूसरी दृष्टि कराकर सर्वकालके लिये सुखी बनाता है। इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यही है कि अधिक जियें तो भी सुखी, कम जियें तो भी सुखी, फिर जन्म लेना पड़े तो भी सुखी, और जन्म न हो तो भी सुखी।

---

६८ बम्बई, कार्तिक १९४६

ऐसा पवित्र दर्शन हो जानेके बाद फिर चाहे जैसा भी आचरण क्यों न हो परन्तु उसे तीव्र बंधन नहीं रहता, अनंत संसार नहीं रहता, सोलह भव नहीं रहते, अभ्यंतर दुःख नहीं रहता, शंकाका निमित्त नहीं रहता और अंतरंग-मोहिनी भी नहीं रहती। उससे सत् सत् निरुपम, सर्वोत्तम, शुक्ल, शीतल, अमृतमय दर्शनज्ञान, सम्यक् ज्योतिर्मय, चिरकाल आनंदकी प्राप्ति हो जाती है। उस अद्भुत सत्स्वरूप-दर्शनकी बलिहारी है!——————

जहाँ मतभेद नहीं, जहाँ शंका, कंखा, वितिगिच्छा, मूढ़दृष्टि, इनमेंसे कुछ भी नहीं; जो कुछ

है उसे कलम लिख नहीं सकती, वचनद्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता, और उसे मन भी नहीं मनन कर सकता—

ऐसा है वह ।

६९

बम्बई, कार्तिक १९४६

सब दर्शनोंसे उच्च गति हो सकती है, परन्तु मोक्षके मार्गको ज्ञानियोंने उन शब्दोंमें स्पष्ट रूपसे नहीं कहा, गौणतासे रक्खा है। उसे गौण क्यों रक्खा, इसका सर्वोत्तम कारण यही माल्म होता है: जिस समय निश्चय श्रद्धान, निर्ग्रंथ ज्ञानी गुरुकी प्राप्ति, उसकी आज्ञाका आराधन, उसके समीप सदैव रहना, अथवा सत्संगकी प्राप्ति, ये बातें हो जाँयगी उसी समय आत्म-दर्शन प्राप्त होगा ।

७०

बम्बई, कार्तिक १९४६

नवपद-ध्यानियोंकी वृद्धि करनेकी मेरी आकांक्षा है ।

७१

बम्बई, मंगसिर सुदी १-२ रवि. १९४६

हे गौतम ! उस कालमें और उस समयमें मैं छद्मस्थ अवस्थामें एकादश वर्षकी पर्यायसे, छट्ठम अट्ठमसे, सावधानीके साथ निरंतर तपश्चर्या और संयमपूर्वक आत्मत्वकी भावना भाते हुए पूर्वानुपूर्वीसे चलते हुए, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाते हुए, सुसुमारपुर नामक नगरके अशोकवनखंड बागके अशोकवर वृक्षके नीचे पृथ्वीशिलापट्टपर आया । वहाँ आकर अशोकवर वृक्षके नीचे, पृथ्वीशिला-पट्टके ऊपर, अष्टम भक्त ग्रहण करके, दोनों पैरोंको संकुचित करके, हाथोंको लंबा करके, एक पुद्गलमें दृष्टिको स्थिर करके, निमेषरहित नयनोंसे ज़रा नीचे मुख रखकर, योगकी समाधिपूर्वक, सब इन्द्रियोंको गुप्त करके एक रात्रिकी महाप्रतिमा धारण करके विचरता था । (चमर)

७२

बम्बई, मंगसिर सुदी ९ रवि. १९४६

तुमने मेरे विषयमें जो जो प्रशंसा लिखी उसपर मैंने बहुत मनन किया है । जिस तरह वैसे गुण मुझमें प्रकाशित हों, उस तरहका आचरण करनेकी मेरी अभिलाषा है, परन्तु वैसे गुण कहीं मुझमें प्रकाशित हो गये हैं, ऐसा मुझे तो माल्म नहीं होता। अधिकसे अधिक यह मान सकते हैं कि मात्र उनकी रुचि मुझमें उत्पन्न हुई है । हम सब जैसे बने तैसे एक ही पदके इच्छुक होकर प्रयत्नशील होते हैं, और वह प्रयत्न यह है कि "बँधे हुओंको छुड़ा लेना" । यह सर्वमान्य बात है कि जिस तरह यह बंधन छूट सके उस तरह छुड़ा लेना ।

७३

बम्बई, पौष सुदी ३ बुध. १९४६

नीचेके नियमोंपर बहुत लक्ष दिया जाना चाहिये—

१. एक बात करते हुए उसके बीचमें ही आवश्यकता बिना दूसरी बात न करनी चाहिये।

२. कही हुई बातको पूरी तरहसे सुनना चाहिये।

३. स्वयं धीरजके साथ उसका उत्तम उत्तर देना चाहिये।

४. जिसमें आत्म-बाधा अथवा आत्म-हानि न हो वह बात कहनी चाहिये।

५. धर्मके संबंधमें हालमें बहुत ही कम बात करना।

६. लोगोंसे धर्म-व्यवहारमें न पड़ना।

७४

बम्बई, पौष १९४६

मुझे तेरा समागम इस प्रकारसे क्यों हुआ? क्या कहीं तू गुप्त पड़ा हुआ था?

सर्वगुणांश ही सम्यक्त्व है।

७५

बम्बई, पौष सुदी ३ बुध. १९४६

बहुतसे उत्कृष्ट साधनोंसे यदि कोई ऐसा योजक पुरुष (होनेकी इच्छा करे तो) धर्म, अर्थ और कामकी एकत्रता प्रायः एक ही पद्धतिमें—एक ही समुदायमें—साधारण श्रेणीमें लानेका प्रयत्न करे, और वह प्रयत्न निराशभावसे———————————————

१. धर्मका प्रथम साधन.

२. फिर अर्थका साधन.

३. फिर कामका साधन.

४. अन्तमें मोक्षका साधन.

७६

बम्बई, पौष सुदी ३, १९४६

सत्पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। ये चार पुरुषार्थ निम्न दो प्रकारसे समझमें आये हैं:—

१. वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं।

२. जड़ और चैतन्यसंबंधी विचारोंको अर्थ कहते हैं।

३. चित्त-निरोधको काम कहते हैं।

४. सब बंधनोंसे मुक्त होनेको मोक्ष कहते हैं।

—ये चार प्रकार सर्वसंग-परित्यागीकी अपेक्षासे ठीक ठीक बैठते हैं।

सामान्य रीतिसे निम्नरूपसे—

धर्म—जो संसारमें अधोगतिमें गिरनेसे रोककर पकड़कर रखता है वह धर्म है।

अर्थ—जीवनमें सहायभूत वैभव, लक्ष्मी आदि सांसारिक साधन अर्थ है।

काम—नियमित रूपसे स्त्रीका सहवास करना काम है।

मोक्ष—सब बंधनोंसे मुक्ति हो जाना मोक्ष है।

धर्मको सबसे पहिले रखनेका कारण इतना ही है कि 'अर्थ' और 'काम' ऐसे होने चाहिये जिनका मूल 'धर्म' हो।

इसीलिये अर्थ और कामको बादमें रक्खा गया है।

गृहस्थाश्रमी सर्वथा संपूर्ण धर्म-साधन करना चाहे तो यह उससे नहीं बन सकता। उस त्यागके लिये तो सर्वसंग-परित्याग ही आवश्यक है। गृहस्थके लिये भिक्षा आदि कृत्य भी योग्य नहीं हैं।

और यदि *गृहस्थाश्रम*———

७७

बम्बई, पौष १९४६

जिस कालमें आर्य-ग्रंथकर्ताओंद्वारा उपदेश किये हुए चार आश्रम देशके आभूषणके रूपसे वर्तमान थे, उस कालको धन्य है।

चारों आश्रमोंमें क्रमसे पहिला ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरा गृहस्थाश्रम, तीसरा वानप्रस्थाश्रम, और चौथा सन्यासाश्रम है।

परन्तु आश्चर्यके साथ यह कहना पड़ता है कि यदि जीवनका ऐसा अनुक्रम हो तो इनका भोग किया जा सकता है। यदि कोई कुल सौ वर्षकी आयुवाला मनुष्य इन आश्रमोंके अनुसार चलता जाय तो वह मनुष्य इन सब आश्रमोंका उपभोग कर सकता है। इस आश्रमके नियमोंसे मालूम होता है कि प्राचीनकालमें अकाल मौतें कम होती होंगी।———

७८

बम्बई, पौष १९४६

प्राचीनकालमें आर्यभूमिमें चार आश्रम प्रचलित थे, अर्थात् ये आश्रम-धर्म मुख्यरूपसे फैले हुए थे। परमर्षि नाभिपुत्रने भारतमें निर्ग्रंथ धर्मको जन्म देनेके पहिले उस कालके लोगोंको इसी आशयसे व्यवहारधर्मका उपदेश दिया था। कल्पवृक्षसे मनोवांछित पदार्थोंकी प्राप्ति होनेका उस समयके लोगोंका व्यवहार अब घटता जा रहा था। अपूर्वज्ञानी ऋषभदेवजीने देख लिया कि भद्रता और व्यवहारकी अज्ञानता होनेके कारण उन लोगोंको कल्पवृक्षोंका सर्वथा ह्रास हो जाना बहुत दुःखदायक होगा; इस कारण प्रभुने उनपर परम करुणाभाव लाकर उनके व्यवहारका क्रम नियत कर दिया।

जब भगवान् तीर्थंकररूपसे विहार कर रहे थे उस समय उनके पुत्र भरतने व्यवहारशुद्धिके लिये उनके उपदेशका अनुसरणकर तत्कालीन विद्वानोंद्वारा चार वेदोंकी योजना कराई। उनमें चार आश्रमोंके भिन्न भिन्न धर्मों तथा उन चारों वर्णोंकी नीति-रीतिका समावेश किया। भगवान्ने जो परमकरुणासे लोगोंको भविष्यमें धर्मप्राप्ति होनेके लिये व्यवहार-शिक्षा और व्यवहार-मार्ग बताया था, उसमें भरतजीके इस कार्यसे परम सुगमता हो गई।

इसके ऊपरसे चार वेद, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थोंके संबंधमें यहाँ कुछ विचार करनेकी इच्छा है; उसमें भी मुख्यरूपसे चार आश्रम और चार पुरुषार्थोंके संबंधमें विचार करेंगे; और अन्तमें हेयोपादेयके विचारके द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपर विचार करेंगे।

जिन चार वेदोंमें आर्य-गृहधर्मका मुख्यरूपसे उपदेश दिया गया था, वे वेद निम्नरूपसे थे—

७९

बम्बई, पौष १९४६

प्रयोजन

"जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको प्राप्त कर सकनेकी इच्छा करते हों उनके विचारोंमें सहायक होना—"

इस वाक्यमें इस पत्रको लिखनेका सब प्रकारका प्रयोजन दिखा दिया है, उसे कुछ न कुछ स्फुरणा देना योग्य है।

इस जगत्में भिन्न भिन्न प्रकारके देहधारी जीव हैं; तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें मनुष्यरूपमें विद्यमान देहधारी आत्मायें इन चारों वर्गोंको सिद्ध कर सकनेमें विशेष सक्षम हैं।

मनुष्य जातिमें जितनी आत्मायें हैं वे सब कहीं समान वृत्तिकी, समान विचारकी, समान अभिलाषाकी और समान इच्छावाली नहीं हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देती है। उनमेंसे हर किसीको सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उनमें वृत्ति, विचार, अभिलाषा और इच्छाओंकी इतनी अधिक विचित्रता माऌम होती है कि बड़ा आश्चर्य होता है। इस आश्चर्य होनेका बहुत प्रकारसे विचार करनेपर यही कारण दिखाई देता है कि किसी भी अपवादके बिना सब प्राणियोंको सुख प्राप्त करनेकी इच्छा रहा करती है, और उसकी प्राप्ति बहुत कुछ अंशोंमें मनुष्य देहमें ही सिद्ध हो सकती है। ऐसा होनेपर भी वे प्राणी सुखके बदले दुःखको ही ले रहे हैं, उनकी यह दशा केवल मोहदृष्टिसे ही हुई है।

८०

बम्बई, पौष १९४६

महावीरके उपदेशका पात्र कौन है?

१. सत्पुरुषके चरणोंका इच्छुक,
२. सदैव सूक्ष्म बोधकी अभिलाषा रखनेवाला,
३. गुणोंपर प्रेमभाव रखनेवाला,
४. ब्रह्मवृत्तिमें प्रीति रखनेवाला,
५. अपने दोषोंको देखते ही उन्हें दूर करनेका उपयोग रखनेवाला,
६. प्रत्येक पलको भी उपयोगपूर्वक बितानेवाला,
७. एकांतवासकी प्रशंसा करनेवाला,

८. तीर्थादि प्रवास करनेकी उमंग रखनेवाला,

९. आहार, विहार, और निहारका नियम रखनेवाला,

१०. अपनी गुरुताको छिपानेवाला,

—इन गुणोंसे युक्त कोई भी पुरुष महावीरके उपदेशका पात्र है— सम्यक्दशाका पात्र है। फिर भी पहिलेके समान एक भी नहीं है।

८१

बम्बई, पौष १९४६

प्रकाश भुवन

निश्चयसे वह सत्य है। ऐसी ही स्थिति है। तुम इस ओर फिरो—उन्होंने रूपकसे इसे कहा है। उससे भिन्न भिन्न प्रकारसे ज्ञान हुआ है और होता है, परन्तु वह विभंगरूप है।

यह बोध सम्यक् है; तो भी यह बहुत ही सूक्ष्म है, और मोहके दूर होनेपर ही ग्राह्य हो पाता है।

सम्यक् बोध भी सम्पूर्ण स्थितिमें नहीं रहा है, फिर भी जो कुछ बचा है वह योग्य ही है।

ऐसा समझकर अब योग्य मार्ग ग्रहण करो।

कारण मत ढूँढो, मना मत करो, तर्क-वितर्क न करो। यह तो ऐसा ही है।
यह पुरुष यथार्थ वक्ता था। उनको अयथार्थ कहनेका कुछ भी कारण न था।

८२

बम्बई, माघ १९४६

कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकांतवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका सौवाँ भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है; और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है। वह प्रत्येक अंतर गुफामें जाज्वल्यमान है। संभव है कि उसका सुधार करनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति हो जाय, इसलिये वहाँ अल्पभाषी होना, अल्पहासी होना, अल्पपरिचयी होना, अल्पप्रेमभाव दिखाना, अल्पभावना दिखानी, अल्पसहचारी होना, अल्पगुरु होना, और परिणामका विचार करना, यही श्रेयस्कर है।

८३

बम्बई, माघ वदी २ शुक्र. सं. १९४६

जिनभगवान्के कहे हुए पदार्थ यथार्थ ही हैं। यही इस समय अनुरोध है।

८४

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ गुरु. १९४६

व्यवहारोपाधि चालू है। रचनाकी विचित्रता सम्यग्ज्ञानका उपदेश करनेवाली है। तुम, वे लोग

और दूसरे तुम्हारे समान मंडलके लोग धर्मकी इच्छा करते हो; यदि यह सबकी अंतरात्माकी इच्छा है तब तो परम कल्याणरूप है। मुझे तुम्हारी धर्म-अभिलाषाकी यथार्थता देखकर संतोष होता है।

जनसमूहके भाग्यकी अपेक्षासे यह काल बहुत ही निकृष्ट है। अधिक क्या कहूँ? इस बातका एक अंतरात्मा ज्ञानी ही साक्षी है।

८५

लोक-अलोक रहस्य प्रकाश

(१) बम्बई, फाल्गुन बदी १, १९४६

लोकको पुरुषके आकारका वर्णन किया है, क्या तुमने इसके रहस्यको कुछ समझा है? क्या तुमने इसके कारणको कुछ समझा है, क्या तुम इसके समझानेकी चतुराईको समझे हो? ॥ १ ॥

यह उपदेश शरीरको लक्ष्य करके दिया गया है, और इसे ज्ञान और दर्शनकी प्राप्तिके उद्देशसे कहा है। इसपर मैं जो कहता हूँ वह सुनो, नहीं तो क्षेम-कुशलका लेना देना ही ठीक है ॥ २ ॥

(२)

क्या करनेसे हम सुखी होते हैं, और क्या करनेसे हम दुःखी होते हैं? हम स्वयं क्या हैं, और कहाँसे आये हैं? इसका शीघ्र ही अपने आपसे जवाब पूँछो ॥ १ ॥

(३)

जहाँ शंका है वहाँ संताप है; और जहाँ ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रह सकती। जहाँ प्रभुकी भक्ति है वहाँ उत्तम ज्ञान है, और गुरु भगवान्‌द्वारा ही प्रभुकी प्राप्ति की जा सकती है ॥ १ ॥

गुरुको पहिचाननेके लिये अंतरंगमें वैराग्यकी आवश्यकता है, और यह वैराग्य पूर्वभाग्यके उदयसे ही प्राप्त हो सकता है। यदि पूर्वकालीन भाग्यका उदय न हो तो वह सत्संगद्वारा मिल सकता है, और यदि सत्संगकी प्राप्ति न हुई तो फिर यह किसी दुःखके पड़नेपर प्राप्त होता है ॥ २ ॥

८५

लोक अलोक रहस्यप्रकाश

(१)

लोक पुरुष संस्थाने कह्यो, एनो भेद तमे कंई लह्यो?
एनुं कारण समज्या कांई, के समज्यान्यानी चतुराई? ॥ १ ॥
शरीरपरथी ए उपदेश, ज्ञान दर्शने के उद्देश,
जेम जणावो शुणिये तेम, कांतो लईए दईए क्षेम ॥ २ ॥

(२)

शुं करवाथी पोते सुखी? शुं करवाथी पोते दुःखी?
पोते शुं? क्यांथी छे आप? एनो मागो शीघ्र जवाप ॥ १ ॥

(३)

ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहां शंका नहिं स्थाप;
प्रभुभक्ति त्यां उत्तम ज्ञान, प्रभु मेळववा गुरु भगवान ॥ १ ॥
गुरु ओळखवा घट वैराग्य, ते उपजवा पूर्वित भाग्य;
तेम नहीं तो कंई सत्संग, तेम नहीं तो कंई दुःखरंग ॥ २ ॥

(४)

सब धर्मोंमें जो कुछ तत्त्वज्ञान कहा गया है वह सब एक ही है, और सम्पूर्ण दर्शनोंमें यही विवेक है। ये समझानेकी शैलियाँ हैं, इनमें स्याद्वादशैली भी सत्य है॥ १ ॥

यदि तुम मुझे मूल-स्थितिके विषयमें पूँछो तो मैं तुम्हें योगीको सौंपे देता हूँ। वह आदिमें, मध्यमें और अंतमें एकरूप है, जैसा कि अलोकमें लोक है॥ २ ॥

उसमें जीव-अजीवके स्वरूपको समझनेसे आसक्तिका भाव दूर हो गया और शंका दूर हो गई। स्थिति ऐसी ही है। क्या इसको समझानेका कोई उपाय नहीं है? "उपाय क्यों नहीं है"? जिससे शंका न रहे।॥ ३ ॥

यह एक महान् आश्चर्य है। इस रहस्यको कोई विरला ही जानता है। जब आत्म-ज्ञान प्रगट हो जाता है तभी यह ज्ञान पैदा होता है; उसी समय यह जीव बंध और मुक्तिके रहस्यको समझता है, और ऐसा समझनेपर ही वह सदाकालीन शोक एवं दुःखको दूर करता है॥ ४ ॥

जो जीव बंधयुक्त है वह कर्मोंसे सहित है, और ये कर्म निश्चयसे पुद्गलकी ही रचना है। पहिले पुद्गलको जान ले, उसके पश्चात् ही मनुष्य-देहमें ध्यानकी प्राप्ति होती है॥ ५ ॥

यद्यपि यह देह पुद्गलकी ही बनी हुई है, परन्तु वास्तविक स्थिति कुछ दूसरी ही है। जब तेरा चित्त स्थिर हो जायगा उसके बाद दूसरा ज्ञान कहूँगा॥ ६ ॥

(५)

जहाँ राग और द्वेष हैं वहाँ सदा ही क्लेश मानो। जहाँ उदासीनताका वास है वहीं सब दुःखोंका नाश है॥ १ ॥

---

(४)

जे गायो ते सघळे एक, सकळ दर्शने ए ज विवेक;
समजाव्यानी शैली करी, स्याद्वादसमजण पण खरी॥ १ ॥
मूळ स्थिति जो पूछो मने, तो सोंपी दउं योगी कने;
प्रथम अंतने मध्ये एक, लोकरूप अलोके देख॥ २ ॥

जीवाजीव स्थितिने जोई, टळ्यो ओरतो शंका खोई;
एम ज स्थिति त्यां नहीं उपाय, "उपाय कां नहिं?" शंका जाय॥ ३ ॥
ए आश्चर्य जाणे ते जाण, जाणे ज्यारे प्रगटे भाण;
समजे बंधमुक्तियुत जीव, निरखी टाळे शोक सदीव॥ ४ ॥

बंधयुक्त जीव कर्म सहित, पुद्गलरचना कर्म खचित;
पुद्गलज्ञान प्रथम ले जाण, नरदेहे पछी पामें ध्यान॥ ५ ॥
जो के पुद्गलनो ए देह, तो पण ओर स्थिति त्यां छेह;
समजण बीजी पछी कहीश, ज्यारे चित्ते स्थिर थईश॥ ६ ॥

(५)

जहां राग अने वळी द्वेष, तहां सर्वदा मानो क्लेश;
उदासीनतानो ज्यां वास, सकळ दुःखनो छे त्यां नाश॥ १ ॥

जहाँ सर्व-कालका ज्ञान होता है, और देहके रहनेपर भी वहीं निर्वाण है। यह दशा संसारकी अंतिम दशा है। इस दशामें आत्माराम स्वधाममें आकर विराजते हैं ॥ २ ॥

८६

बम्बई, फाल्गुन १९४६

हे जीव! तू भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

सुख तो तेरे अन्तरमें ही है, वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

वह अन्तरका सुख अन्तरकी सम-श्रेणीमें है; उसमें स्थिति होनेके लिये बाह्य पदार्थोंका विस्मरण कर; आश्चर्य भूल।

सम-श्रेणीमें रहना बहुत दुर्लभ है; क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिलते जाते हैं वैसे वैसे वृत्ति पुनः पुनः चलित होती जाती है; फिर भी उसके चलित न होनेके लिये अचल गंभीर उपयोग रख।

यदि यह क्रम यथायोग्यरूपसे चलता चला आय तो तू जीवन त्याग कर रहा है, इससे घबड़ाना नहीं, तू इससे निर्भय हो जायगा।

भ्रममें मत पड़, तुझे हितकी बात कहता हूँ।

यह मेरा है, प्रायः ऐसे भावकी भावना न कर।

यह उसका है, ऐसा मत मान बैठ।

इसके लिये भविष्यमें ऐसा करना है, यह निर्णय करके न रख।

इसके लिये यदि ऐसा न हुआ होता तो अवश्य ही सुख होता, यह स्मरण न कर।

इतना इसी तरहसे हो जाय तो अच्छा हो, ऐसा आग्रह मत करके रख।

इसने मेरे प्रति अनुचित किया, ऐसा स्मरण करना न सीख।

इसने मेरे प्रति उचित किया, ऐसा स्मरण न रख।

यह मुझे अशुभ निमित्त है, ऐसा विकल्प न कर।

यह मुझे शुभ निमित्त है, ऐसी दृढ़ता न मान बैठ।

यह न होता तो मैं न फँसता, ऐसा निश्चय न कर।

पूर्वकर्म बलवान हैं, इसलिये ये सब प्रसंग मिले हैं, ऐसा एकांत ग्रहण न कर।

यदि अपने पुरुषार्थकी सफलता न हुई हो तो ऐसी निराशाका स्मरण न कर।

दूसरेके दोषसे अपनेको बंधन होता है, ऐसा न मान।

अपने निमित्तसे दूसरेके प्रति दोष करना भूल जाओ।

तेरे दोषसे ही तुझे बंधन है, यह संतकी पहिली शिक्षा है।

दूसरेको अपना मान लेना, और स्वयं अपने आपको भूल जाना, बस इतना ही तेरा दोष है।

सर्व कालनुं छे त्यां ज्ञान, देह छतां त्यां छे निर्वाण;
भव छेवटनी छे ए दशा, राम धाम आवीने वस्या ॥ २ ॥

इन सबमें तेरे प्रति कोई प्रेमभाव नहीं है, फिर भी भिन्न भिन्न स्थलोंमें तू सुख मान बैठा है। हे मूढ़! ऐसा न कर।

यह तुझे तेरा हित कहा। तेरे अन्तरमें सुख है।

जगत्में कोई ऐसी पुस्तक, ऐसा कोई लेख अथवा कोई ऐसी साक्षी नहीं है जो दुःखी तुमको यह बता सके कि अमुक ही सुखका मार्ग है, अथवा तुम्हें अमुक प्रकारसे ही चलना चाहिये, अथवा सभी अमुक क्रमसे ही चलेंगे; यही इस बातको सूचित करता है कि इन सबकी गतिके पीछे कोई न कोई प्रबल कारण अन्तर्हित है।

१. एक भोगी होनेका उपदेश करता है।
२. एक योगी होनेका उपदेश करता है।
३. इन दोनोंमेंसे हम किसको मानें?
४. दोनों किसलिये उपदेश करते हैं?
५. दोनों किसको उपदेश करते हैं?
६. किसकी प्रेरणासे उपदेश करते हैं?
७. किसीको किसीका, और किसीको किसीका उपदेश क्यों अच्छा लगता है?
८. इसके क्या कारण हैं?
९. उसकी कौन साक्षी है?
१०. तुम क्या चाहते हो?
११. वह कहाँसे मिलेगा, अथवा वह किसमें है?
१२. उसे कौन प्राप्त करेगा?
१३. उसे कहाँ होकर लाओगे?
१४. लाना कौन सिखावेगा?
१५. अथवा स्वयं ही सीखे हुए हो?
१६. यदि सीखे हुए हो तो कहाँसे सीखे हो?
१७. जीवन क्या है?
१८. जीव क्या है?
१९. तुम क्या हो?
२०. सब कुछ तुम्हारी इच्छानुसार क्यों नहीं होता?
२१. उसे कैसे कर सकोगे?
२२. तुम्हें बाधा प्रिय है अथवा निराबाधता?
२३. वह कहाँ कहाँ और किस किस तरह है?

इसका निर्णय करो।

अंतरमें सुख है। बाहर नहीं। सत्य कहता हूँ

हे जीव! भूल मत, तुझे सत्य कहता हूँ।

सुख अंतरमें ही है; वह बाहर ढूँढनेसे नहीं मिलेगा।

आंतरिक सुख अंतरकी स्थितिमें है; उस सुखकी स्थिति होनेके लिये तू बाह्य पदार्थसंबंधी आश्चर्योंको भूल जा।

उस सुखकी स्थिति रहनी बहुत ही कठिन है, क्योंकि जैसे जैसे निमित्त मिलते जाते हैं, वैसे वैसे बारबार वृत्ति भी चलित हो जाया करती है; इसलिये वृत्तिका उपयोग दृढ़ रखना चाहिये।

यदि इस क्रमको तू यथायोग्य निवाहता चलेगा तो तुझे कभी हताश नहीं होने पड़ेगा। तू निर्भय हो जायगा।

हे जीव! तू भूल मत। कभी कभी उपयोग चूककर किसीके रंजन करनेमें, किसीके द्वारा रंजित होनेमें, अथवा मनकी निर्बलताके कारण दूसरेके पास जो तू मंद हो जाता है, यह तेरी भूल है। उसे न कर।

८७

बम्बई, फाल्गुन १९४६

परम सत्य है।
परम सत्य है। } त्रिकालमें ऐसा ही है।
परम सत्य है।

व्यवहारके प्रसंगको सावधानीसे, मंद उपयोगसे, और समताभावसे निभाते आना।

दूसरे तेरा कहा क्यों नहीं मानते, यह प्रश्न तेरे अंतरमें कभी पैदा न हो।

दूसरे तेरा कहा मानते हैं, और यह बहुत ठीक है, तुझे ऐसा स्मरण कभी न हो।

तू सब तरहसे अपनेमें ही प्रवृत्ति कर।

जीवन-अजीवन पर समवृत्ति हो।

जीवन हो तो इसी वृत्तिसे पूर्ण हो।

जबतक गृहवास रहे तबतक व्यवहारका प्रसंग होनेपर भी सत्यको सत्य कहो।

गृहवासमें भी उसीमें ही लक्ष रहे।

गृहवासमें अपने कुटुम्बियोंको उचित वृत्ति रखना सिखा; सबको समान ही मान।

उस समयतकका तेरा काल बहुत ही उचित व्यतीत होओः—

अमुक व्यवहारके प्रसंगका काल,
उसके सिवाय तत्संबंधी कार्यकाल,
पूर्वकर्मोदय काल,
निद्राकाल।

यदि तेरी स्वतंत्रता और तेरे क्रमसे तुझे तेरे उपजीवन अर्थात् व्यवहारसंबंधी संतोष हो तो उचित प्रकारसे अपना व्यवहार चलाना।

यदि उसकी इसके सिवाय दूसरे किसी भी कारणसे संतोषवृत्ति न रहती हो तो तुझे उसके कहे अनुसार प्रवृत्ति करके उस प्रसंगको पूरा करना चाहिये, अर्थात् प्रसंगकी पूर्णाहुतितक ऐसा करनेमें तुझे खेदखिन्न न होना चाहिये।

तेरे व्यवहारसे वे संतुष्ट रहें तो उदासीन वृत्तिसे निराग्रहभावसे उनका भला हो, तुझे ऐसा करनेकी सावधानी रखनी चाहिये।

८८

बम्बई, चैत्र १९४६

मोहाच्छादित दशासे विवेक नहीं होता, यह ठीक बात है, अन्यथा वस्तुरूपसे यह विवेक यथार्थ है। बहुत ही सूक्ष्म अवलोकन रक्खो।

१. सत्यको तो सत्य ही रहने दो।

२. जितना कर सको उतना ही कहो। अशक्यता न छिपाओ।

३. एकनिष्ठ रहो।

एकनिष्ठ रहो।

किसी भी प्रशस्त क्रममें एकनिष्ठ रहो।

वीतरागने यथार्थ ही कहा है।

हे आत्मन्! स्थितिस्थापक दशा प्राप्त कर।

इस दुःखको किससे कहें? और कैसे इसे दूर करें?

अपने आप अपने आपका वैरी है, यह कैसी सच्ची बात है?

८९

बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

आज मुझे अनुपम उल्लास हो रहा है; जान पड़ता है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया है। वस्तु क्या है, उसका विवेक क्या है, उसका विवेचक कौन है, इस क्रमके स्पष्ट जाननेसे मुझे सच्चा मार्ग मालूम हो गया है॥ १॥

९०

बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

होत आसवा परिसवा, नहिं इनमें सन्देह;
मात्र दृष्टिकी भूल है, भूल गये गत एहि॥ १॥
रचना जिन-उपदेशकी, परमोत्तम तिनु काल;
इनमें सब मत रहत हैं, करतें निज संभाल॥ २॥

८९

आज मने उछरंग अनुपम, जन्मकृतार्थ जोग जणायो;
वास्तव्य वस्तु, विवेक विवेचक ते क्रम स्पष्ट सुमार्ग गणायो॥ १॥

जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म;
कर्म कटे सो जिनवचन, तत्त्वज्ञानिको मर्म ॥ ३ ॥
जब जान्यो निजरूपको, तब जान्यो सब लोक ।
नहिं जान्यो निजरूपको, सब जान्यो सो फोक ॥ ४ ॥
एहि दिशाकी मूढ़ता, है नहिं जिनपें भाव;
जिनसें भाव बिनु कबू, नहिं छूटत दुखदाव ॥ ५ ॥
व्यवहारसें देव जिन, निहचेसें है आप;
एहि बचनसें समज ले, जिनप्रवचनकी छाप ॥ ६ ॥
एहि नहीं है कल्पना, एही नहीं विभंग;
जब जागेंगे आतमा, तब लागेंगे रंग ॥ ७ ॥

९१

बम्बई, वैशाख वदी ४ गुरु. १९४६

मारग साचा मिल गया, छूट गये सन्देह;
होता सो तो जल गया, भिन्न किया निज देह ॥ १ ॥
समज पिछें सब सरल है, बिनू समज मुशकील;
ये मुशकीली क्या कहूँ ? ॥ २ ॥
खोज पिंड ब्रह्माण्डका, पत्ता तो लग जाय;
येहि ब्रह्माण्डि वासना, जब जावे तब.... ॥ ३ ॥
आप आपकुं भुल गया, इनसें क्या अंधेर ?
समर समर अब हसत हैं, नहिं भुलेंगे फेर ॥ ४ ॥
जहाँ कलपना जलपना, तहाँ मानुं दुख छांई;
मिटे कलपना जलपना, तब वस्तू तिन पाई ॥ ५ ॥
हे[१] जीव ! क्या इच्छत हवे, हैं इच्छा दुखमूल;
जब इच्छाका नाश तब, मिटे अनादी भूल ॥ ६ ॥
ऐसी कहाँसि मति भई, आप आप हैं नाहिं ।
आपनकुं जब भुल गये, अवर कहाँसे लाई,
आप आप ए शोधसें, आप आप मिल जाय;
आप मिलन नय बापको; ॥ ७ ॥

९२

बम्बई वैशाख वदी ५ शुक्र. १९४६

इच्छारहित कोई भी प्राणी नहीं है । उसमें भी मनुष्य प्राणी तो विविध आशाओंसे घिरा हुआ

---

१ 'क्या इच्छित ? खोवत सबे' ऐसा भी पाठ है । अनुवादक ।

है। जबतक इच्छा और आशा अतृप्त रहतीं हैं, तबतक वह प्राणी अधोवृत्ति मनुष्य जैसा है। इच्छाको जय करनेवाला प्राणी ऊर्ध्वगामी मनुष्य जैसा है।

९३

बम्बई, वैशाख वदी १२, १९४६

आज आपका एक पत्र मिला। यहाँ समय अनुकूल है। आपके यहाँकी समय-कुशलता चाहता हूँ।

आपको जो पत्र भेजनेकी मेरी इच्छा थी, उसे अधिक विस्तारसे लिखनेकी आवश्यकता होनेसे— तथा ऐसा करनेसे उसकी उपयोगिता भी अधिक सिद्ध होनेसे—उसे विस्तारसे लिखनेकी इच्छा थी, और अब भी है। तथापि कार्योपाधिकी ऐसी प्रबलता है कि इतना शांत अवकाश भी नहीं मिलता, नहीं मिल सका, और अभी थोड़े समयतक मिलना भी संभव नहीं। आपको इस समयके बीचमें यह पत्र मिल गया होता तो बहुत ही अधिक उपयोगी होता, तो भी इसके बाद भी इसकी उपयोगिताको तो आप अधिक ही समझ सकेंगे। आपकी जिज्ञासाको कुछ शान्त करनेके लिये उस पत्रका संक्षिप्त सार दिया है।

यह आप जानते ही हैं कि इस जन्ममें आपसे पहिले मैं लगभग दो वर्षसे कुछ अधिक समय हुआ तबसे गृहस्थाश्रमी हुआ हूँ। जिसके कारण गृहस्थाश्रमी कहे जा सकते हैं उस वस्तुका और मेरा उस समयमें कुछ अधिक परिचय नहीं हुआ था; तो भी उससे तत्संबंधी कायिक, वाचिक और मानसिक वृत्ति मुझे यथाशक्य बहुत कुछ समझमें आई है; और इस कारणसे उसका और मेरा संबंध असंतोष-जनक नहीं हुआ। यह बतानेका कारण यही है कि साधारण तौरपर भी गृहस्थाश्रमका व्याख्यान देते हुए उस संबंधमें जितना अधिक अनुभव हो उतना अधिक ही उपयोगी होता है। मैं कुछ सांस्कारिक अनु-भवके उदित होनेके ऊपरसे यह कह सकता हूँ कि मेरा गृहस्थाश्रम अबतक जिस प्रकार असंतोषजनक नहीं है, उसी तरह वह उचित संतोषजनक भी नहीं है। वह केवल मध्यम है; और उसके मध्यम होनेमें मेरी कुछ उदासीनवृत्ति भी सहायक है।

तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करनेपर अधिकतर गृहस्थाश्रमसे विरक्त होनेकी बात ही सूझा करती है; और अवश्य ही उस तत्त्वज्ञानका विवेक भी इसे प्रगट हुआ था। कालकी प्रबल अनिष्टताके कारण उसको यथायोग्य समाधि-संगकी प्राप्ति न होनेसे उस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा; और सचमुच ! यदि ऐसा न हो सका होता तो उसके जीवनका ही अंत आ जाता। (उसके अर्थात् इस पत्रके लेखकका)।

जिस विवेकको महाखेदके साथ गौण करना पड़ा है, उस विवेकमें ही चित्तवृत्ति प्रसन्न रहा करती है; उसकी बाह्य प्रधानता नहीं रक्खी जा सकती इसके लिये अकथनीय खेद होता है। तथापि जहाँ कोई उपाय नहीं है वहाँ सहनशीलता ही सुखदायक है, ऐसी मान्यता होनेसे चुप हो बैठा हूँ।

कभी कभी संगी और साथी भी तुच्छ निमित्त होने लगते हैं। उस समय उस विवेकपर किसी तरहका आवरण आता है, तो आत्मा बहुत ही घबड़ाती है। उस समय जीवन रहित हो जानेकी—

देहत्याग करनेको—दुःख-स्थितिकी अपेक्षा अधिक भयंकर स्थिति हो जाती है; परन्तु ऐसा बहुत समयतक नहीं रहता; और ऐसा जब रहेगा तो अवश्य ही इस देहका त्याग कर दूँगा। परन्तु मैं असमाधिसे प्रवृत्ति न करूँ, ऐसी अबतककी प्रतिज्ञा बराबर कायम चली आई है।

---

९४ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ४ गुरु. १९४६

हे परिचयी ! तुझे मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपने आपमें योग्य होनेकी इच्छा उत्पन्न करो। मैं उस इच्छाको पूर्ण करनेमें सहायक होऊँगा।

तुम मेरे अनुयायी हुए हो, और उसमें जन्मांतरके योगसे मुझे प्रधानपद मिला है इस कारण तुम्हें मेरी आज्ञाका अवलंबन करके आचरण करना उचित माना है।

और मैं भी तुम्हारे साथ उचितरूपसे ही व्यवहार करनेकी इच्छा करता हूँ, किसी दूसरे प्रकारसे नहीं।

यदि तुम पहिले जीवन-स्थितिको पूर्ण करो, तो धर्मके लिए ही मेरी इच्छा करो। ऐसा करना मैं उचित समझता हूँ; और यदि मैं करूँ तो धर्मपात्रके रूपमें मेरा स्मरण रहे, ऐसा होना चाहिये।

हम तुम दोनों ही धर्ममूर्ति होनेका प्रयत्न करें। बड़े हर्षसे प्रयत्न करें।

तुम्हारी गतिकी अपेक्षा मेरी गति श्रेष्ठ होगी, ऐसा अनुमान कर लिया है—"मतिमें"।

मैं तुम्हें उसका लाभ देना चाहता हूँ; क्योंकि तुम बहुत ही निकटके संबंधी हो।

यदि तुम उस लाभको उठानेकी इच्छा करते हो, तो दूसरी कलममें कहे अनुसार तुम जरूर करोगे, ऐसी मुझे आशा है।

तुम स्वच्छताको बहुत ही अधिक चाहना; वीतराग-भक्तिको बहुत ही अधिक चाहना; मेरी भक्तिको मामूली तौरसे चाहना। तुम जिस समय मेरी संगतिमें रहो, उस समय जिस तरह सब प्रकारसे मुझे आनन्द हो उस तरहसे रहना।

विद्याभ्यासी होओ।

मुझसे विद्यायुक्त विनोदपूर्ण संभाषण करना।

मैं तुम्हें योग्य उपदेश दूँगा। तुम उससे रूपसंपन्न, गुणसंपन्न और ऋद्धि तथा बुद्धिसंपन्न होगी।

बादमें इस दशाको देखकर मैं परम प्रसन्न होऊँगा।

---

९५ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र. १९४६

सबेरेके ६ बजेसे ८ बजे तकका समय समाधिमें बीता था। अम्बाजीके विचार बहुत स्वस्थ मनसे बाँचे, और मनन किये थे।

---

९६ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १२ शनि. १९४६

कल रेवाशंकरजी आनेवाले हैं, इसलिये तबसे निम्नलिखित क्रमको पार्श्वप्रभु रक्षित रक्खें:—

१. कार्यप्रवृत्ति.

२. सकारण साधारण भाषण.

३. दोनोंके अंतःकरणकी निर्मल प्रीति.

४. धर्मानुष्ठान.

५. वैराग्यकी तीव्रता.

---

९७ बम्बई, ज्येष्ठ वदी ११ शुक्र. १९४६

तुझे अपना अस्तित्व माननेमें कौनसी शंका है? यदि कोई शंका है तो वह ठीक नहीं।

---

९८ बम्बई, ज्येष्ठ वदी १२ शनि. १९४६

कल रातमें एक अद्भुत स्वप्न आया, जिसमें एक-दो पुरुषोंको इस जगत्की रचनाके स्वरूपका वर्णन किया; पहिले सब कुछ भुलाकर बादमें जगत्का दर्शन कराया। स्वप्नमें महावीरदेवकी शिक्षा प्रामाणिक सिद्ध हुई। इस स्वप्नका वर्णन बहुत सुन्दर और चमत्कारपूर्ण था इससे परमानंद हुआ। अब उसके संबंधमें अधिक फिर लिखूँगा।

---

९९ बम्बई, आषाढ़ सुदी ४ शनि. १९४६

कलिकालने मनुष्यको स्वार्थपरायण और मोहके वश कर लिया है।

जिसका हृदय शुद्ध और संतोंके बताये हुए मार्गसे चलता है वह धन्य है।

सत्संगके बिना चढ़ी हुई आत्म-श्रेणी अधिकतर पतित हो जाती है।

---

१०० बम्बई, आषाढ़ सुदी ५ रवि. १९४६

जब यह व्यवहारोपाधि ग्रहण की थी उस समय इसके ग्रहण करनेका हेतु यह था:—"भविष्य-कालमें जो उपाधि अधिक समय लेगी, वह उपाधि यदि अधिक दुःखदायक भी होगी, तो भी उसे थोड़े समयमें भोग लेना, यही अधिक श्रेयस्कर है।"

ऐसा माना था कि यह उपाधि निम्नलिखित हेतुओंसे समाधिरूप होगी।

"इस कालमें गृहस्थावासके विषयमें धर्मसंबंधी अधिक बातचीत न हो तो अच्छा।"

भले ही तुझे मुश्किल लगता हो, परन्तु इसी क्रमसे चल। निश्चय ही इसी क्रमसे चल। दुःखको सहन करके, क्रमको सँभालनेकी परिषह सहन करके, अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गको सहन करके तू अचल रह। आजकल यह कदाचित् अधिकतर कठिन माल्म होगा, परन्तु अन्तमें वह कठिनता सरल हो जायगी। फंदेमें फँसना मत। बारबार कहता हूँ कि फँसना मत। नाहक दुःखी होगा, और पश्चात्ताप करेगा। इसकी अपेक्षा अभीसे इन वचनोंको हृदयमें उतार—प्रीतिपूर्वक उतार।

१. किसीके भी दोष न देख। जो कुछ होता है वह सब तेरे अपने ही दोषसे होता है, ऐसा मान।

२. तू अपनी (आत्म) प्रशंसा नहीं करना; और यदि करेगा तो मैं समझता हूँ कि तू ही हल्का है।

३. जिस तरह दूसरेको प्रिय लगे, उस तरहका अपना आचरण रखनेका प्रयत्न करना। यदि उसमें तुझे एकदम सिद्धि न मिले, अथवा विघ्न आवें, तो भी दृढ़ आग्रहसे धीमे धीमे उस क्रमपर अपनी निष्ठा लगाये रखना।

४. तू जिसके साथ व्यवहारमें सम्बद्ध हुआ हो, उसके साथ अमुक प्रकारसे वर्ताव करनेका निर्णय करके उससे कह दे। यदि उसे अनुकूल आवे तो ठीक है; अन्यथा वह जिस तरह कहे उस तरहका तू वर्ताव रखना। साथ ही यह भी कह देना कि मैं आपके कार्यमें (जो मुझे सौंपा गया है उसमें) किसी तरह भी अपनी निष्ठाके द्वारा आपको हानि नहीं पहुँचाऊँगा। आप मेरे विषयमें दूसरी कोई भी शंका न करना; मुझे इस व्यवहारके विषयमें अन्य किसी भी प्रकारका भाव नहीं है। मैं भी आपके द्वारा इस तरहका वर्ताव नहीं चाहता। इतना ही नहीं, परन्तु कुछ यदि मन, वचन और कायासे विपरीत आचरण हुआ हो तो उसके लिये मैं पश्चात्ताप करूँगा। वैसा न करनेके लिये मैं पहिलेसे ही बहुत सावधानी रक्खूँगा। आपका सौंपा हुआ काम करते हुए मैं निरभिमानी होकर रहूँगा। मेरी भूलके लिये यदि आप मुझे उपालंभ देंगे, तो मैं उसे सहन करूँगा। जहाँतक मेरा बस चलेगा, वहाँतक मैं स्वप्नमें भी आपके साथ द्वेष अथवा आपके विषयमें किसी भी तरहकी अयोग्य कल्पना नहीं करूँगा। यदि आपको किसी तरहकी भी शंका हो तो आप मुझे कहें, मैं आपका उपकार मानूँगा, और उसका सच्चा खुलासा करूँगा। यदि खुलासा न होगा, तो मैं चुप रहूँगा, परन्तु असत्य न बोलूँगा। केवल आपसे इतना ही चाहता हूँ कि किसी भी प्रकारसे आप मेरे निमित्तसे अशुभ योगमें प्रवृत्ति न करें। आप अपनी इच्छानुसार वर्ताव करें, इसमें मुझे कुछ भी अधिक कहनेकी ज़रूरत नहीं। मुझे केवल अपनी निवृत्तिश्रेणीमें प्रवृत्ति करने देवें, और इस कारण किसी प्रकारसे अपने अंतःकरणको छोटा न करें; और यदि छोटा करनेकी आपकी इच्छा ही हो तो मुझे अवश्य ही पहिलेसे कह दें। उस श्रेणीको निभानेकी मेरी इच्छा है इसलिये वैसा करनेके लिये जो कुछ करना होगा वह मैं कर दूँगा। जहाँतक बनेगा वहाँतक मैं आपको कभी कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा, और अन्तमें यदि यह निवृत्तिश्रेणी भी आपको अप्रिय होगी तो जैसे बनेगा वैसे सावधानीसे, आपके पाससे—आपको किसी भी तरहकी हानि पहुँचाये बिना यथाशक्ति लाभ पहुँचाकर, और इसके बाद भी हमेशाके लिये ऐसी इच्छा रखता हुआ—मैं चल दूँगा।

१०१

बम्बई, वैशाख सुदी ३, १९४६

(१)

इस उपाधिमें पड़नेके बाद यदि मेरा लिंगदेहजन्य ज्ञान-दर्शन वैसा ही रहा हो—यथार्थ ही रहा हो—तो जूठाभाई आषाढ़ सुदी ९ के दिन गुरुवारकी रातमें समाधिशील होकर इस क्षणिक जीवनका त्याग करके चले जायेंगे, ऐसा वह ज्ञान सूचित करता है।

(२) बम्बई, आषाढ़ सुदी १०, १९४६

उपाधिके कारण लिंगदेहजन्य ज्ञानमें थोड़ा बहुत फेरफार हुआ माळूम दिया। पवित्रात्मा जूठाभाईके उपरोक्त तिथिमें परन्तु दिनमें स्वर्गवासी होनेकी आज खबर मिली है।

इस पावन आत्माके गुणोंका क्या स्मरण करें? जहाँ विस्मृतिको अवकाश नहीं, वहाँ स्मृतिका होना कैसे माना जाय?

(३)

देहधारी होनेके कारण इसका लौकिक नाम ही सत्य था; यह आत्म-दशारूपसे सच्चा वैराग्य ही था।

उसकी मिथ्या वासना बहुत क्षीण हो गई थी; वह वीतरागका परम रागी था, संसारसे परम जुगुप्सित था; भक्तिकी प्रधानता उसके अंतरंगमें सदा ही प्रकाशित रहा करती थी; सम्यक्-भावपूर्वक वेदनीयकर्मके अनुभव करनेकी उसकी अद्भुत समता थी; मोहनीयकर्मकी प्रबलता उसके अंतरमें बहुत शून्य हो गई थी; मुमुक्षुता उसमें उत्तम प्रकारसे देदीप्यमान हो उठी थी; ऐसे इस जूठाभाईकी पवित्रात्मा आज जगत्के इस भागका त्याग करके चली गई है। वह सहचारियोंसे मुक्त हो गई है। धर्मके पूर्ण आल्हादमें उसकी अचानक ही आयु पूर्ण हो गई।

(४)

अरेरे! इस कालमें ऐसे धर्मात्माका जीवन छोटासा होना, यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं। ऐसे पवित्रात्माकी स्थिति इस कालमें कहाँसे हो सकती है? दूसरे साथियोंके ऐसे भाग्य कहाँ कि उन्हें ऐसे पवित्रात्माके दर्शनका लाभ अधिक कालतक मिलता रहे? जिसके अंतरमें मोक्षमार्गको देनेवाला सम्यक्त्व प्रकाशित हुआ था, ऐसे पवित्रात्मा जूठाभाईको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

---

१०२ बम्बई, आषाढ़ सुदी ११, १९४६

(१) उपाधिकी विशेष प्रबलता रहती है। यदि जीवन-कालमें ऐसे किसी योगके आनेकी संभावना हो तो मौनसे—उदासीनभावसे—प्रवृत्ति कर लेना ही श्रेयस्कर है।

(२) भगवतीके पाठके विषयमें संक्षिप्त खुलासा नीचे दिया जाता है:—

सुह जोगं पडुच्चं अणारंभी; असुह जोगं पडुच्चं आयारंभी परारंभी तदुभयारंभी।

आत्मा शुभ योगकी अपेक्षासे अनारंभी; तथा अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारंभी, परारंभी, और तदुभयारंभी (आत्मारंभी और अनारंभी) होती है।

यहाँ शुभका अर्थ पारिणामिक शुभ लेना चाहिये, ऐसी मेरी दृष्टि है। पारिणामिक अर्थात् जिस परिणामसे शुभ अथवा जैसा चाहिये वैसा रहना।

यहाँ योगका अर्थ मन, वचन और काया है। (मेरी दृष्टिसे।)

शास्त्रकारका यह व्याख्यान करनेका मुख्य हेतु यथार्थ वस्तु दिखाने और शुभ योगमें प्रवृत्ति करनेका रहा होगा, ऐसा मैं समझता हूँ। पाठमें बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया गया है।

(३) तुम मेरे मिलापकी इच्छा करते हो, परन्तु यह किसी अनुचित कालका उदय आया है, इसलिये अपने मिलापसे भी मैं तुमको श्रेयस्कर हो सकूँगा ऐसी वहुत ही कम आशा है।

जिन्होंने यथार्थ उपदेश किया है ऐसे वीतरागके उपदेशमें तत्पर रहो, यह मेरा विनयपूर्वक तुम दोनों भाइयोंसे और दूसरोंसे अनुरोध है।

मोहाधीन मेरी आत्मा वाह्योपाधिसे कितनी तरहसे घिरी हुई है, यह सब तुम जानते ही हो, इसलिये अधिक क्या लिखूँ?

अभी हालमें तो तुम अपनेसे ही धर्म-शिक्षा लो, योग्य पात्र वनो, मैं भी योग्य पात्र वनूँ, अधिक फिर देखेंगे।

---

१०३ वम्बई, आषाढ़ सुदी १५ वुध. १९४६

(१) यद्यपि चि. सत्यपरायणके स्वर्गवाससूचक शब्द भयंकर हैं किन्तु ऐसे रत्नोंके जीवनका लंवा होना कालको सह्य नहीं होता। धर्म-इच्छुकके ऐसे अनन्य सहायकका रहने देना, मायादेवीको योग्य न लगा। कालकी प्रवल दृष्टिने इस आत्माके—इस जीवनके—रहस्यमय विश्रामको खींच लिया। ज्ञानदृष्टिसे शोकका कोई कारण नहीं दीखता; तथापि उनके उत्तमोत्तम गुण शोक करनेको वाध्य करते हैं। उनका वहुत अधिक स्मरण होता है; अधिक लिख नहीं सकता।

सत्यपरायणके स्मरणार्थ यदि हो सका तो एक शिक्षा-ग्रंथ लिखनेका विचार कर रहा हूँ।

(२) "आहार, विहार और निहारसे नियमित" इस वाक्यका संक्षेप अर्थ यह है:—

जिसमें योगदशा आती है; उसमें द्रव्य आहार, विहार और निहार (शरीरकी मलके त्याग करनेकी क्रिया), ये नियमित अर्थात् जैसी चाहिये वैसी—आत्माको किसी प्रकारकी वाधा न पहुँचानेवाली—क्रियासे प्रवृत्ति करनेवाला।

धर्ममें संलग्न रहो यही वारवार अनुरोध है। यदि हम सत्यपरायणके मार्गका सेवन करेंगे तो अवश्यमेव सुखी होंगे और पार पायेंगे, ऐसी मुझे आशा है।

उपाधिग्रस्त रायचंदका यथायोग्य.

---

१०४ वम्बई, आषाढ़ वदी ४ रवि. १९४६

विश्वाससे प्रवृत्ति करके अन्यथा वर्ताव करनेवाला आज पश्चात्ताप करता है।

---

१०५ वम्बई, आषाढ़ वदी ७ भौम. १९४६

निरंतर निर्भयपनेसे रहित ऐसे इस भ्रांतिरूप संसारमें वीतरागता ही अभ्यास करने योग्य है; निरंतर निर्भयपनेसे विचरना ही श्रेयस्कर है, तथापि कालकी और कर्मकी विचित्रतासे पराधीन होकर यह.......करते हैं।

जिसका माहात्म्य अपार है, ऐसी तीर्थंकरदेवकी वाणीकी भक्ति करो ।

---

१०६ बम्बई, आषाढ़ वदी ११ शनि. १९४६

(१) जिसका कोई अस्तित्व विद्यमान नहीं है, ऐसे बिना माँगेके इस जगत्‌को तो देखो ।

बम्बई, आषाढ़ वदी १२ रवि. १९४६

(२) दृष्टि ऐसी स्वच्छ करो कि जिसमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म दोष भी दिखाई दे सकें, और उन्हें देखते ही वे क्षय किये जा सकें ।

---

१०७ बम्बई (नागदेवी), आषाढ़ वदी १२ रवि. १९४६

इसके साथ आपकी **योग**वासिष्ठ पुस्तक भेज रहा हूँ । उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह शीतल चंदन है; इसके पढ़ते हुए आधि-व्याधिका आगमन संभव नहीं । इसके लिये मैं आपका उपकार मानता हूँ ।

आपके पास कभी कभी आनेमें भी एक इसी विषयकी ही जिज्ञासा है । बहुत वर्षोंसे आपके अंतःकरणमें वास करती हुई ब्रह्मविद्याका आपके ही मुखसे श्रवण मिले, तो अपूर्व शांति हो। किसी भी मार्गसे कल्पित वासनाओंका नाश करके यथायोग्य स्थितिकी प्राप्तिके सिवाय दूसरी कोई भी इच्छा नहीं है; परन्तु व्यवहारके संबंधमें बहुतसी उपाधियाँ रहती हैं, इसलिये सत्समागमका जितना अवकाश चाहिये उतना नहीं मिलता । तथा मैं समझता हूँ कि आप भी बहुतसे कारणोंसे उतना समय देनेमें असमर्थ हैं, और इसी कारणसे बारबार अंतःकरणकी अंतिम वृत्ति आपको नहीं बता सकता; तथा इस संबंधमें अधिक बातचीत भी नहीं हो सकती । यह एक पुण्यकी न्यूनता ही है, दूसरा क्या ?

व्यवहारिक संबंधमें आपके संबंधसे किसी तरहका भी लाभ उठानेकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं की; तथा आपके समान दूसरोंसे भी इसकी इच्छा नहीं की । एक ही जन्म, और वह भी थोड़े ही कालका, उसे प्रारब्धानुसार बिता देनेमें दीनता करना उचित नहीं; यह निश्चयसे प्रिय है । सहज-भावसे आचरण करनेकी अभ्यास-प्रणालिका कुछ (थोड़ेसे) वर्षोंसे आरंभ कर रक्खी है, और इससे निवृत्तिकी वृद्धि हो रही है । इस बातको यहाँ बतानेका इतना ही हेतु है कि आप शंकारहित हों; तथापि पूर्वापरसे भी शंकारहित रहनेके लिये जिस हेतुसे मैं आपकी ओर देखता हूँ, उसे कह दिया है; और यह सन्देहहीनता संसारसे उदासीनभावको प्राप्त दशाकी सहायक होगी, ऐसा मान्य होनेसे (कहा है) ।

योगवासिष्ठके संबंधमें (प्रसंग मिलनेपर) आपसे कुछ कहना चाहता हूँ ।

जैनधर्मके आग्रहसे ही मोक्ष है, इस मान्यताको आत्मा बहुत समयसे भूल चुकी है । मुक्त-भावमें (!) ही मोक्ष है, ऐसी मेरी धारणा है; इसलिये निवेदन है कि बातचीतके समय आप कुछ अधिक कहते हुए न रुकें ।

१०८

बम्बई, १९४६ आषाढ़

जिस पुस्तकके पढ़नेसे उदासीनता, वैराग्य अथवा चित्तकी स्वस्थता होती हो, ऐसी कोई भी पुस्तक पढ़ना; ऐसी पुस्तक पढ़नेका विशेष परिचय रखना जिससे उसमें योग्यता प्राप्त हो।

धर्म-कथा लिखनेके विषयमें जो लिखा, तो वह धार्मिक-कथा मुख्यरूपसे तो सत्संगमें ही आ जाती है। दुःषमकालके होनेसे इस कालमें सत्संगका माहात्म्य भी जीवके ध्यानमें नहीं आता; तो फिर कल्याण-मार्गके साधन कहाँसे हो सकते हैं? इस बातकी तो बहुत बहुतसी क्रियाएँ आदि करनेवाले जीवको भी खबर हो, ऐसा माॡम नहीं होता।

त्यागने योग्य स्वच्छंदाचार आदि कारणोंमें तो जीव रुचिपूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है; और जिसका आराधन करना योग्य है, ऐसे आत्मस्वरूप सत्पुरुषोंके प्रति यह जीव मानो विमुखताका अथवा अविश्वासीपनेका आचरण कर रहा है। और ऐसे असत्संगियोंके सहवासमें किसी किसी मुमुक्षुको भी रहना पड़ता है। उन दुःखियाओंमें तुम और मुनि आदि भी किसी किसी अंशसे गिने जा सकते हैं। असत्संग और स्वेच्छासे आचरण न हो अथवा उनका अनुसरण न हो, ऐसे आचरणसे अंतर्वृत्ति रखनेका विचार रक्खे रहना ही इसका सुगम साधन है।

१०९

बम्बई, १९४६ आषाढ़

पूर्वकर्मका उदय बहुत विचित्र है। अब जहाँसे जागे वहींसे प्रभात हुआ समझना चाहिये।

तीव्र रससे और मंद रससे कर्मका बंध होता है। उसमें मुख्य हेतु राग-द्वेष ही हैं। उससे परिणाममें अधिक पश्चात्ताप होता है।

शुद्ध योगमें लगी हुई आत्मा अनारंभी है, अशुद्ध योगमें लगी हुई आत्मा आरंभी है; यह वाक्य वीरकी भगवतीका है; इसपर मनन करना।

परस्पर ऐसे होनेसे धर्मको भूली हुई आत्माको स्मृतिमें योगपदका स्मरण होता है। कर्मकी बहुलताके योगसे एक तो पंचमकालमें उत्पन्न हुए, परन्तु किसी एक शुभ उदयसे जो योग मिला है वैसे मर्मबोधका योग बहुत ही थोड़ी आत्माओंको मिलता है; और वह रुचिकर होना बहुत ही कठिन है। ऐसा योग केवल सत्पुरुषोंकी कृपादृष्टिमें है; यदि अल्पकर्मका योग होगा तो ही यह मिल सकेगा। इसमें संशय नहीं कि जिस पुरुषको साधन मिले हों और उस पुरुषको शुभोदय भी हो तो यह निश्चयसे मिल सकता है; यदि फिर भी न मिले तो इसमें बहुल कर्मका ही दोष समझना चाहिये!

११०

बम्बई, १९४६ आषाढ़

धर्मध्यान लक्षपूर्वक हो, यही आत्म-हितका रास्ता है। चित्तका संकल्प-विकल्पोंसे रहित होना, यह महावीरका मार्ग है। अलिप्तभावमें रहना, यह विवेकीका कर्त्तव्य है।

---

१११ ववाणीआ, श्रा. वदी ५ भौम. १९४६

(जं) णं (जं) णं दिसं इच्छइ (तं) णं (तं) णं दिसं अपडिवद्धे

जो जिस जिस दिशाकी ओर जानेकी इच्छा करता है, उसके लिये वह वह दिशा अप्रतिबद्ध अर्थात् खुली हुई है। (उस रोक नहीं सकती।)

जबतक ऐसी दशाका अभ्यास न हो, तबतक यथार्थ त्यागकी उत्पत्ति होना कैसे संभव हो सकता है ? पौद्गलिक रचनासे आत्माको स्तंभित करना उचित नहीं।

११२ ववाणीआ, श्रावण वदी १३ बुध. १९४६

आज मतांतरसे उत्पन्न हुआ पहिला पर्यूषण आरंभ हुआ। अगले मासमें दूसरा पर्यूषण आरंभ होगा। सम्यक्-दृष्टिसे मतांतर दूर करके देखनेसे यही मतांतर दुगुने लाभका कारण है, क्योंकि इससे दुगुना धर्म-सम्पादन किया जा सकेगा।

चित्त गुफाके योग्य हो गया है। कर्म-रचना विचित्र है।

११३ ववाणीआ, प्र. भाद्र. सुदी ३ सोम. १९४६

(१) आपके दर्शनोंका लाभ मिले हुए लगभग एक माससे कुछ ऊपर हो गया है। बम्बई छोड़े एक पक्ष हुआ।

बम्बईका एक वर्षका निवास उपाधि-ग्राह्य रहा। समाधिरूप तो एक आपका समागम ही था, और उसका भी जैसा चाहिये वैसा लाभ प्राप्त न हुआ।

सचमुच ही ज्ञानियोंद्वारा कल्पना किया हुआ यह कलिकाल ही है। जनसमुदायकी वृत्तियाँ विषय-कषाय आदिसे विषमताको प्राप्त हो गईं हैं। इसकी प्रबलता प्रत्यक्ष है। उन्हें राजसी वृत्तिका अनुकरण प्रिय हो गया है। तात्पर्य-विवेकियोंकी और योग्य उपशम-पात्रोंकी तो छाया तक भी नहीं मिलती। ऐसे विषमकालमें जन्मी हुई यह देहधारी आत्मा अनादिकालके परिभ्रमणकी थकावटको उतारने विश्रांति लेनेके लिये आई थी, किन्तु उल्टी अविश्रांतिमें फँस गई है। मानसिक चिन्ता कहीं भी कही नहीं जा सकती। जिनसे इसे कह सकें ऐसे पात्रोंकी भी कमी है। वहाँ अब क्या करें ?

यद्यपि यथायोग्य उपशमभावको प्राप्त आत्मा संसार और मोक्षपर समवृत्ति रखती है, अर्थात् वह अप्रतिबद्धरूपसे विचर सकती है; परन्तु इस आत्माको तो अभी वह दशा प्राप्त नहीं हुई। हाँ, उसका अभ्यास है; तो फिरउसके पास यह प्रवृत्ति क्यों खड़ी होगी ?

जिसको प्राप्त करनेमें लाचारी है उसको सहन कर जाना ही सुखदायक है, और इसी तरहका आचरण कर भी रक्खा है; परन्तु जीवन पूर्ण होनेके पहिले यथायोग्य रीतिसे नीचेकी दशा आनी चाहियेः—

१. मन, वचन और कायसे आत्माका मुक्त-भाव।

२. मनकी उदासीनरूपसे प्रवृत्ति।

३. वचनका स्याद्वादपना (निराग्रहपना)।

४. कायाकी वृक्ष-दशा (आहार विहारकी नियमितता)।

अथवा सब संदेहोंकी निवृत्ति; सर्व भयका छूटना; और सर्व अज्ञानका नाश।

संतोंने अनेक प्रकारसे शास्त्रोंमें उसका मार्ग बताया है; साधन बताये हैं; और योगादिसे उत्पन्न हुआ अपना अनुभव कहा है; फिर भी उससे यथायोग्य उपशमभाव आना दुर्लभ है। वह तो मार्ग है, परन्तु उसके प्राप्त करनेके लिये उपादानकी स्थिति बलवान होनी चाहिये। उपादानकी बलवान स्थिति होनेके लिये निरंतर सत्संग चाहिये, और वह नहीं है।

(२) शिशुवयमेंसे ही इस वृत्तिके उदय होनेसे किसी भी प्रकारका परभाषाका अभ्यास नहीं हो सका। अमुक संप्रदायके कारण शास्त्राभ्यास न हो सका। संसारके बंधनसे ऊहापोहाभ्यास भी न हो सका; और यह नहीं हो सका इसके लिये कैसा भी खेद या चिन्ता नहीं है, क्योंकि इनसे आत्मा और भी अधिक विकल्पमें पड़ जाती (इस विकल्पकी बातको मैं सबके लिये नहीं कह रहा, परन्तु मैं केवल अपनी अपेक्षासे ही कहता हूँ); और विकल्प आदि क्लेशका तो नाश ही करनेकी इच्छा की थी, इसलिये जो हुआ वह कल्याणकारक ही हुआ; परन्तु अब जिस प्रकार महानुभाव वसिष्ठभगवान्ने श्रीरामको इसी दोषका विस्मरण कराया था, वैसा अब कौन करावे? अर्थात् भाषाके अभ्यासके बिना भी शास्त्रका बहुत कुछ परिचय हुआ है, धर्मके व्यवहारिक ज्ञाताओंका भी परिचय हुआ है, तथापि इससे इस आत्माका आनंदावरण दूर हो सके, यह बात नहीं है; एक सत्संगके सिवाय और योग-समाधिके सिवाय उसका कोई उपाय नहीं? अब क्या करें?

इतनी बात भी कहनेका कोई सत्पात्र स्थल न था। भाग्यके उदयसे आप मिले, जिनके रोम रोममें यही रुचिकर है।

(३) कायाकी नियमितता।

वचनका स्याद्वादपना।

मनकी उदासीनता।

आत्माकी मुक्तता।

—यही अन्तिम समझ है।

---

११४ ववाणीआ, प्रथम भाद्र. सुदी ४, १९४६

आजके पत्रमें, मतांतरसे दुगुना लाभ होता है, ऐसा इस पर्यूषण पर्वको सम्यक्दृष्टिसे देखनेपर मालूम हुआ। यह बात अच्छी लगी, तथापि यह दृष्टि कल्याणके लिये ही उपयोगी है। समुदायके कल्याणकी दृष्टिसे देखनेसे दो पर्यूषणोंका होना दुःखदायक है। प्रत्येक समुदायमें मतांतर बढ़ने न चाहिये, किन्तु घटने ही चाहिये।

---

११५ ववाणीआ, प्रथम भाद्रपद सुदी ६, १९४६

प्रथम संवत्सरीसे लेकर आजके दिनतक यदि किसी भी प्रकारसे मेरे मन, वचन और कायाके किसी भी योगाध्यवसायसे तुम्हारी अविनय, आसातना और असमाधि हुई हो, तो उसके लिये मैं पुनः पुनः आपसे क्षमा माँगता हूँ।

अंतर्ज्ञानसे स्मरण करनेपर ऐसा कोई भी काल माल्म नहीं होता, अथवा याद नहीं पड़ता कि जिस कालमें, जिस समयमें इस जीवने परिभ्रमण न किया हो, संकल्प-विकल्पका रटन न किया हो, और इससे 'समाधि' को न भूल गया हो; निरंतर यही स्मरण रहा करता है, और यही महा-वैराग्यको पैदा करता है।

फिर स्मरण होता है कि इस परिभ्रमणको केवल स्वच्छंदतासे करते हुए इस जीवको उदासीनता क्यों न आई? दूसरे जीवोंके प्रति क्रोध करते हुए, मान करते हुए, माया करते हुए, लोभ करते हुए अथवा अन्यथा प्रकारसे वर्ताव करते हुए, वह सब अनिष्ट है, इसे योग्य रीतिसे क्यों न जाना? अर्थात् इस तरह जानना योग्य था तो भी न जाना, यह भी परिभ्रमण करनेका वैराग्य पैदा करता है।

फिर स्मरण होता है कि जिसके बिना मैं एक पलभर भी नहीं जी सकता, ऐसे बहुतसे पदार्थों (स्त्री आदि) को अनंतबार छोड़ते हुए, उनका वियोग होते हुए अनंत काल हो गया; तथापि उनके बिना जीता रहा, यह कुछ कम आश्चर्यकी बात नहीं। अर्थात् जब जब वैसा प्रीतिभाव किया था तब तब वह केवल कल्पित ही था; ऐसा प्रीतिभाव क्यों हुआ? यह विचार फिर फिरसे वैराग्य पैदा करता है।

फिर जिसका मुख कभी भी न देखूँ; जिसे मैं कभी भी ग्रहण न करूँ; उसीके घर पुत्ररूपमें, स्त्रीरूपमें, दासरूपमें, दासीरूपमें, नाना जंतुरूपमें मैं क्यों जन्मा? अर्थात् ऐसे द्वेषसे ऐसे रूपोंमें मुझे जन्म लेना पड़ा! और ऐसा करनेकी तो बिलकुल भी इच्छा नहीं थी! तो कहो कि ऐसा स्मरण होनेपर क्या इस क्लेशित आत्मापर जुगुप्सा नहीं आती? जरूर आती है।

अधिक क्या कहें? पूर्वके जिन जिन भवांतरोंमें भ्रांतिपनेसे भ्रमण किया, उनका स्मरण होनेसे अब कैसे जियें, यह चिंता खड़ी हो गई है। फिर कभी भी जन्म न लेना पड़े और फिर इस तरह न करना पड़े, आत्मामें ऐसी दृढ़ता पैदा होती है, परन्तु बहुत कुछ लाचारी है, वहाँ क्या करें?

जो कुछ दृढ़ता है उसे पूर्ण करना—अवश्य पूर्ण करना, बस यही रटन लगी हुई है; परन्तु जो कुछ विघ्न आता है उसे एक ओर हटाना पड़ता है, अर्थात् उसे दूर करना पड़ता है, और उसमें ही सब काल चला जाता है; सब जीवन चला जाता है; जबतक यथायोग्य जय न हो उस समय-तक इसे न जाने देना, ऐसी दृढ़ता है। उसके लिये अब क्या करें?

यदि कदाचित् किसी रीतिसे उसमेंका कुछ करते भी हैं तो ऐसा स्थान कहाँ है कि जहाँ जाकर रहें? अर्थात् संत कहाँ हैं कि जहाँ जाकर इस दशामें बैठकर उसकी पुष्टता प्राप्त करें? तो अब क्या करें?

"कुछ भी हो, कितने ही दुःख क्यों न पड़ें, कितनी भी परिषह क्यों न सहन करनी पड़ें, कितने ही उपसर्ग क्यों न सहन करने पड़ें, कितनी ही व्याधियाँ क्यों न सहन करनी पड़ें, कितनी ही उपाधियाँ क्यों न आ पड़ें, कितनी ही आधियाँ क्यों न आ पड़ें, चाहे जीवन-काल केवल एक समयका ही क्यों न हो, और कितने ही दुर्निमित्त क्यों न हों, परन्तु ऐसा ही करना।

हे जीव! ऐसा किये बिना छुटकारा नहीं"—

इस तरह नेपथ्यमेंसे उत्तर मिलता है, और वह योग्य ही माऌम होता है।

क्षण क्षणमें पलटनेवाली स्वभाववृत्तिकी आवश्यकता नहीं; अमुक कालतक शून्यके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक संतोंके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो अमुक कालतक सत्संगके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो आर्याचरणके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो जिनभक्तिमें अति शुद्धभावसे लीन हो जानेके सिवाय किसीकी भी आवश्यकता नहीं; यदि वह भी न हो तो फिर माँगनेकी भी इच्छा नहीं। (आर्याचरण=आर्य पुरुषोंद्वारा किये हुए आचरण)।

समझे बिना आगम अनर्थकारक हो जाते हैं।

सत्संगके बिना ध्यान तरंगरूप हो जाता है।

संतके बिना अंतिम बातका अंत नहीं मिलता।

लोक-संज्ञासे लोकके अग्रमें नहीं जा सकते।

लोक-त्यागके बिना वैराग्यकी यथायोग्य स्थिति पाना दुर्लभ है।

---

११६ ववाणीआ, प्र. भाद्र. सुदी ७ शुक्र. सं. १९४६

बंबई इत्यादि स्थलोंमें सहनकी हुई उपाधिके कारण, तथा यहाँ आनेके बाद एकांत आदिके अभाव (न होना), और दुष्टताकी अप्रियताके कारण जैसे बनेगा वैसे उस तरफ शीघ्र ही आऊँगा।

---

११७ ववाणीआ, प्र. भाद्रपद सुदी ११ भौम. १९४६

कुछ वर्ष हुए अंतःकरणमें एक महान् इच्छा रहा करती है; जिसे किसी भी स्थलपर नहीं कहा, जो नहीं कही जा सकी, नहीं कही जा सकती; और उसको कहनेकी आवश्यकता भी नहीं है। अत्यंत महान् परिश्रमसे ही उसमें सफलता मिल सकती है, तथापि उसके लिए जितना चाहिये उतना परिश्रम नहीं होता, यह एक आश्चर्य और प्रमादीपना है।

यह इच्छा स्वाभाविक ही उत्पन्न हुई थी। जबतक वह योग्य रीतिसे पूर्ण न हो तबतक आत्मा समाधिस्थ होना नहीं चाहती, अथवा समाधिस्थ न हो सकेगी। यदि कभी अवसर आयेगा तो उस इच्छाकी छाया बतानेका प्रयत्न करूँगा।

इस इच्छाके कारण जीव प्रायः विडंबना-दशामें ही जीवन व्यतीत करता रहता है। यद्यपि वह विडंबना-दशा भी कल्याणकारक ही है; तथापि दूसरोंके प्रति उतनी ही कल्याणकारक होनेमें वह कुछ कमीवाली है।

अंतःकरणसे उदय हुई अनेक उर्मियोंको बहुतबार समागममें मैंने तुम्हें बताई हैं; और उन्हें सुनकर उनको कुछ अंशोंमें धारण करनेकी तुम्हारी इच्छा देखनेमें आई है। मैं फिर अनुरोध करता हूँ कि जिन जिन स्थलोंपर उन उर्मियोंको बताया हो, उन उन स्थलोंमें जानेपर फिर फिर उनका अधिक स्मरण अवश्य करना।

आत्मा है।
वह बँधी हुई है।
वह कर्मकी कर्त्ता है।
वह कर्मकी भोक्ता है।
मोक्षका उपाय है।
आत्मा उसे सिद्ध कर सकती है।
—ये छह महाप्रवचन हैं, इनका निरंतर मनन करना।

प्रायः ऐसा ही होता है कि दूसरेकी विडंबनाका अनुग्रह नहीं करते हुए अपने अनुग्रहकी ही इच्छा करनेवाला जय नहीं पाता; इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुमने जो स्वात्माके अनुग्रहमें दृष्टि लगाई है उसकी वृद्धि करते रहो; और इससे परका अनुग्रह भी कर सकोगे।

धर्म ही जिसकी अस्थि और धर्म ही जिसकी मज्जा है, धर्म ही जिसका रुधिर है, धर्म ही जिसका आमिष है, धर्म ही जिसकी त्वचा है, धर्म ही जिसकी इन्द्रियाँ है, धर्म ही जिसका कर्म है, धर्म ही जिसका चलना है, धर्म ही जिसका बैठना है, धर्म ही जिसका खड़ा रहना है, धर्म ही जिसका शयन है, धर्म ही जिसकी जागृति है, धर्म ही जिसका आहार है, धर्म ही जिसका विहार है, धर्म ही जिसका निहार (?) है, धर्म ही जिसका विकल्प है, धर्म ही जिसका संकल्प है, धर्म ही जिसका सर्वस्व है; ऐसे पुरुषकी प्राप्ति होना दुर्लभ है; और वह मनुष्य-देहमें ही परमात्मा है। इस दशाकी क्या हम इच्छा नहीं करते ? इच्छा करते हैं, तो भी प्रमाद और असत्संगके कारण उसमें दृष्टि नहीं देते।

आत्म-भावकी वृद्धि करना, और देह-भावको घटाना।

---

११८ (मोरबी) जेतपर, प्र. भाद्र. वदी ५ बुध. १९४६

भगवतीसूत्रके पाठके संबंधमें मुझे तो दोनोंके ही अर्थ ठीक लगते हैं। बाल-जीवोंकी अपेक्षासे टब्बाके लेखकका अर्थ हितकारक है; और मुमुक्षुओंके लिये तुम्हारा कल्पना किया हुआ अर्थ हितकारक है; तथा संतोंके लिये दोनों ही हितकारक हैं। जिससे मनुष्य ज्ञानके लिये प्रयत्न करे, इसके लिये ही इस स्थलपर प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा गया है। यदि ज्ञानकी प्राप्ति जैसी चाहिये वैसी न हुई हो तो जो प्रत्याख्यान किया है, वह देव आदि गति देकर संसारका ही कारण होता है, इसलिये इसे दुष्प्रत्याख्यान कहा; परन्तु इस जगह ज्ञानके बिना प्रत्याख्यान बिलकुल भी करना ही नहीं, ऐसा कहनेका तीर्थंकरदेवका अभिप्राय नहीं है।

प्रत्याख्यान आदि क्रियाओंसे ही मनुष्यत्व मिलता है; उच्च गोत्र और आर्यदेशमें जन्म मिलता है, और उसके बाद ज्ञानकी प्राप्ति होती है, इसलिये ऐसी क्रियाको भी ज्ञानकी साधनभूत समझनी चाहिये।

---

११९ ववाणीआ, प्र. भाद्र. वदी १२ शुक्र. १९४६

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका

सत्पुरुषोंका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्रको पार करनेमें नौकारूप होता है—यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है; और वह यथार्थ ही मालूम होता है। अंतःकरणमें निरंतर ऐसा ही आया करता है कि परमार्थरूप होना, और अनेकोंको परमार्थके साध्य करनेमें सहायक होना, यही कर्तव्य है; तो भी अभी ऐसे योगका समागम नहीं है।

---

१२० ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी २ भौम. १९४६

यहाँ जो उपाधि है, वह एक अमुक कामसे उत्पन्न हुई है; और उस उपाधिके लिये क्या होगा, ऐसी कोई कल्पना भी नहीं होती, अर्थात् उस उपाधिके संबंधमें कोई चिंता करनेकी वृत्ति नहीं है। यह उपाधि कलिकालके प्रसंगसे एक पहिलेकी संगतिसे उत्पन्न हुई है, और उसके लिये जैसा होना होगा, वह थोड़े कालमें हो रहेगा। ऐसी उपाधिका इस संसारमें आना, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

ईश्वरपर विश्वास रखना यह एक सुखदायक मार्ग है। जिसका दृढ़ विश्वास होता है, वह दुःखी नहीं होता, अथवा दुःखी हो भी तो वह उस दुःखका अनुभव नहीं करता, उसे दुःख उलटा सुखरूप हो जाता है। आत्मेच्छा ऐसी ही रहती है कि संसारमें प्रारब्धके अनुसार चाहे किसी भी तरहका शुभ अशुभ कर्मका उदय हो, परन्तु उसमें प्रीति अप्रीति करनेका हमें संकल्पमात्र भी न करना चाहिये।

रात दिन एक परमार्थ विषयका ही मनन रहा करता है। आहार भी यही है, निद्रा भी यही है, शयन भी यही है, स्वप्न भी यही है, भय भी यही है, भोग भी यही है, परिग्रह भी यही है, चलना भी यही है, और आसन भी यही है; अधिक क्या कहा जाय? हाड, मांस और उसकी मज्जाको एक इसी रँगमें रँग दिया है। रोम रोम भी मानों इसीका विचार करता है, और उसके कारण न कुछ देखना अच्छा लगता है, न कुछ सूँघना अच्छा लगता है, न कुछ सुनना अच्छा लगता है, न कुछ चखना अच्छा लगता है, न कुछ छूना अच्छा लगता है, न कुछ बोलना अच्छा लगता है, न मौन रहना अच्छा लगता है, न बैठना अच्छा लगता है, न उठना अच्छा लगता है, न सोना अच्छा लगता है, न जागना अच्छा लगता है, न खाना अच्छा लगता है, न भूखे रहना अच्छा लगता है, न असंग अच्छा लगता है, न संग अच्छा लगता है, न लक्ष्मी अच्छी लगती है, और न अलक्ष्मी ही अच्छी लगती है; ऐसी दशा हो गई है; तो भी उसके प्रति आशा या निराशा कुछ भी उदय होती हुई नहीं मालूम होती; वह हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक; यह कुछ दुःखका कारण नहीं है। दुःखकी

कारण केवल एक विषम आत्मा ही है, और वह यदि सम है, तो सब सुख ही है। इस वृत्तिके कारण समाधि रहती है; तो भी बाहरसे गृहस्थपनेकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, देह-भाव दिखाना नहीं सहा जाता, आत्म-भावसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और बाह्यभावसे प्रवृत्ति करनेमें बहुतसे अंतराय हैं; तो फिर अब क्या करें? क्या पर्वतकी गुफामें चले जाँय, और अदृश्य हो जाँय? यही रटन रहा करती है; तो भी बाह्यरूपसे कुछ संसारी प्रवृत्ति करनी पड़ती है; उसके लिये शोक तो नहीं है, तो भी उसे सहन करनेके लिये जीव इच्छा नहीं करता। परमानन्द त्यागी इसकी इच्छा करें भी कैसे? और इसी कारणसे ज्योतिष आदिकी ओर हालमें चित्त नहीं है; किसी भी तरहके भविष्यज्ञान अथवा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं है; तथा उनके उपयोग करनेमें भी उदासीनता रहती है; उसमें भी हालमें तो और भी अधिक रहती है। इसलिये इस ज्ञानसंबंधी पूँछे हुए प्रश्नोंके विषयमें चित्तकी स्वस्थता होनेपर विचार करके फिर लिखूँगा, अथवा समागम होनेपर कहूँगा।

जो प्राणी इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर पानेसे आनन्द मानते हैं, वे मोहके अधीन हैं, और उनका परमार्थका पात्र होना भी दुर्लभ है, ऐसी मान्यता है; इसलिये ऐसे प्रसंगमें आना भी अच्छा नहीं लगता, परन्तु परमार्थके कारण प्रवृत्ति करनी पड़ेगी, तो कुछ करूँगा; इच्छा तो नहीं होती।

---

१२१ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी ८ रवि. १९४६

देहधारीको विडंबना हो यह तो एक धर्म है; फिर उसमें खेद करके आत्माका विस्मरण क्यों करना?

धर्म और भक्तिसे युक्त ऐसे तुमसे ऐसी याचना करनेका योग केवल पूर्वकर्मने ही दिया है। आत्मेच्छा तो इससे कंपित है। निरुपायताके सामने सहनशीलता ही सुखदायक है।

इस क्षेत्रमें इस कालमें इस देहधारीका जन्म होना योग्य न था। यद्यपि सब क्षेत्रोंमें जन्म लेनेकी इच्छाको उसने रोक ही दी है, तथापि प्राप्त हुए जन्मके लिये शोक प्रदर्शन करनेके लिये ऐसा........लिखा है। किसी भी प्रकारसे विदेही-दशाके बिना, यथायोग्य जीवनमुक्त-दशाके बिना, यथायोग्य निर्ग्रंथ-दशाके बिना एक क्षणभरका भी जीवन देखना जीवको रुचिकर नहीं लगता, तो फिर बाकी रही हुई शेष आयु कैसे बीतेगी? यह आत्मेच्छाकी विडंबना है।

यथायोग्य दशाका अब भी मैं मुमुक्षु हूँ; कुछ तो प्राप्ति हो गई है; तो भी सम्पूर्णता प्राप्त हुए बिना यह जीव शांतिको प्राप्त करे, ऐसी दशा मालूम नहीं होती। एकके ऊपर राग और दूसरेके ऊपर द्वेष, ऐसी स्थिति उसे एक रोममें भी प्रिय नहीं। अधिक क्या कहा जाय? दूसरेका परमार्थ करनेके सिवाय देह भी तो अच्छी नहीं लगती?

आत्म-कल्याणमें प्रवृत्ति करना।

---

१२२ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. सुदी १४ रवि. १९४६

मुमुक्षुताके अंशोंसे ग्रहण किया हुआ तुम्हारा हृदय परम संतोष देता है। अनादिकालका

परिभ्रमण अब समाप्त हो, बस यही अभिलापा है, यह भी एक कल्याण ही है। जब कोई ऐसा योग्य समय आ पहुँचेगा, तब इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जायगी। वृत्तियोंको निरन्तर लिखते रहना; जिज्ञासाको उत्तेजन देते रहना; तथा निम्नलिखित धर्म-कथाको तुमने श्रवण किया होगा तो भी फिर फिरसे उसका स्मरण करना।

सम्यक्दशाके पाँच लक्षण हैं—

शम
संवेग
निर्वेद } अनुकंपा
आस्था

क्रोध आदि कषायोंका शान्त हो जाना, उदय आई हुई कषायोंमें मंदता होना, केन्द्रीभूत की जा सके ऐसी आत्म-दशाका हो जाना, अथवा अनादिकालकी वृत्तियोंका शान्त हो जाना ही शम है।

मुक्त होनेके सिवाय दूसरी किसी भी प्रकारकी इच्छा और अभिलापाका न होना ही संवेग है।

जबसे ऐसा समझमें आया है कि केवल भ्रांतिसे ही परिभ्रमण किया, तबसे अब बहुत हुआ! अरे जीव! अब तो ठहर, ऐसा भाव होना यह निर्वेद है।

परम माहात्म्यवाले निस्पृही पुरुषोंके वचनमें ही तल्लीन रहना यही श्रद्धा—आस्था है।

इन सबके द्वारा यावन्मात्र जीवोंमें अपनी आत्माके समान बुद्धि होना यह अनुकंपा है।

ये लक्षण अवश्य मनन करने योग्य हैं, स्मरण करने योग्य हैं, इच्छा करने योग्य हैं, और अनुभव करने योग्य हैं।

---

१२३ ववाणीआ, द्वितीय भाद्रपद सुदी १४ रवि. १९४६

आपका संवेगपूर्ण पत्र मिला। पत्रोंसे अधिक क्या बताऊँ। जबतक आत्मा आत्म-भावसे अन्यथारूपसे अर्थात् देह-भावसे आचरण करेगी, 'मैं करता हूँ,' ऐसी बुद्धि करेगी, 'मैं ऋद्धि आदिमें अधिक हूँ,' ऐसे मानेगी, शास्त्रोंको जालरूप समझेगी, मर्मके लिये मिथ्यामोह करेगी, उस समयतक उसको शांति मिलना दुर्लभ है। इस पत्रसे यही कहता हूँ। इसमें ही बहुत कुछ समाया हुआ है। बहुत जगह बाँचा हो, सुना हो तो भी इसपर अधिक लक्ष रखना।

---

१२४ मोरबी, द्वितीय भाद्रपद वदी ४ गुरु. १९४६

पत्र मिला। शांतिप्रकाश नहीं मिला।

आत्मशांतिमें प्रवृत्ति करना। योग्यता प्राप्त करना, इसी तरहसे वह मिलेगी। पात्रताकी प्राप्तिका अधिक प्रयास करो।

---

१२५ मोरबी, द्वितीय भाद्रपद वदी ७ रवि. १९४६

(१) आठ रुचक प्रदेशोंके विषयमें तुम्हारा प्रथम प्रश्न है।

उत्तराध्ययनसिद्धांतमें जो सब प्रदेशोंसे कर्म-संबंध बताया है, उसका हेतु यह समझमें आता है कि ऐसा कहना केवल उपदेशके लिये है। 'सब प्रदेशोंसे' कहनेसे शास्त्रकर्त्ता यह निषेध करते हों कि आठ रुचक प्रदेश कर्मोंसे रहित नहीं हैं, यह नहीं समझना चाहिये। परन्तु बात यह है कि जब असंख्यात प्रदेशी आत्मामें केवल आठ ही प्रदेश कर्मरहित हैं, तब असंख्यात प्रदेशोंके सामने वे कौनसी गिनतीमें हैं? असंख्यातके सामने उनका इतना अधिक लघुत्व है कि शास्त्रकारने उपदेशकी अधिकताके लिये इस बातको अंतःकरणमें रखकर बाहरसे इस प्रकार उपदेश किया है; और सभी शास्त्रकारोंकी यही शैली है। उदाहरणके लिये अंतर्मुहूर्तका साधारण अर्थ दो घड़ीके भीतरका कोई भी समय होता है; परन्तु शास्त्रकारकी शैलीके अनुसार इसका यह अर्थ करना पड़ता है कि आठ समयके बाद और दो घड़ीके भीतरका समय ही अंतर्मुहूर्त है। परन्तु रूढ़ीमें तो जैसे पहले कहा है, इसका अर्थ दो घड़ीके भीतरका कोई भी समय समझा जाता है; तो भी शास्त्रकारकी शैली ही मान्य की जाती है। जिस प्रकार यहाँ आठ समयकी बात बहुत लघु होनेसे शास्त्रमें स्थल स्थलपर उसका उल्लेख नहीं किया गया, इसी तरह आठ रुचक प्रदेशोंकी बात भी है, ऐसा मैं समझता हूँ, और इस बातकी भगवती, प्रज्ञापना, ठाणांग आदि सिद्धांत पुष्टि करते हैं।

इसके सिवाय मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यदि शास्त्रकारने समस्त शास्त्रोंमें न होनेवाली भी किसी बातका उल्लेख शास्त्रमें किया हो तो यह भी कुछ चिंताकी बात नहीं है; उसके साथ ऐसा समझना चाहिये कि सब शास्त्रोंकी रचना करते हुए उस एक शास्त्रमें कही हुई बात शास्त्रकारके लक्षमें थी। और समस्त शास्त्रोंकी अपेक्षा कोई विचित्र बात किसी शास्त्रमें कही हो तो इसे अधिक मानने योग्य समझना चाहिये; कारण कि यह बात किसी विरले मनुष्यके लिए ही कही हुई होती है; बाकी कथन तो साधारण मनुष्योंके लिये ही होता है। ठीक यही बात आठ रुचक प्रदेशोंको लागू पड़ती है, इसलिये आठ रुचक प्रदेश बंधनरहित हैं, इस बातका निषेध नहीं किया गया है, यह मेरी समझ है। बाकीके चार अस्तिकायोंके प्रदेशोंके स्थलपर इन रुचक प्रदेशोंको छोड़कर जो केवलीके समुद्घात करनेका वर्णन है वह बहुतसी अपेक्षाओंसे जीवका मूल कर्मभाव नहीं, ऐसा समझानेके लिये कहा है। इस बातकी प्रसंग पाकर समागम होनेपर चर्चा करो तो ठीक होगा।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि ज्ञानमें कुछ ही न्यून चौदह पूर्वधारी तो अनंतनिगोदमें जाते हैं, और जघन्य ज्ञानवाले अधिकसे अधिक पन्द्रह भवोंमें मोक्ष जाते हैं; इस बातका समाधान आप कैसे करते हो?

इसका उत्तर जो मेरे हृदयमें है, उसे ही कह देता हूँ, कि यह जघन्य ज्ञान दूसरा है, और यह प्रसंग दूसरा है। जघन्य ज्ञान अर्थात् सामान्यरूपसे भी मूलवस्तुका ज्ञान, अतिशय न्यून होनेपर भी मोक्षका बीजरूप है, इसीलिये ऐसा कहा है। तथा 'एकदेश कम' ऐसा चौदह पूर्वधारीका ज्ञान एक मूल-वस्तुके ज्ञानके सिवाय दूसरी सब वस्तुओंका जाननेवाला तो हो गया, परन्तु वह देह-मंदिरमें रहनेवाले शाश्वत पदार्थको नहीं जान सका; और यदि यह शाश्वत पदार्थको ही न जान सका तो फिर, जिस तरह लक्षके बिना फेंका हुआ तीर लक्ष्यार्थकी सिद्धि नहीं करता, उसी तरह यह भी व्यर्थ जैसा हो गया। जिस वस्तुके प्राप्त करनेके लिये जिनभगवान्ने चौदह पूर्वके ज्ञानका उपदेश किया है, यदि वह

वस्तु ही न मिली, तो फिर चौदह पूर्वका ज्ञान अज्ञानरूप ही हुआ—यहाँ 'एकदेश कम' चौदह पूर्वका ज्ञान समझना चाहिये। यहाँ 'एकदेश कम' कहनेसे अपनी साधारण बुद्धिमें तो यही समझमें आता है पढ़ते पढ़ते चौदह पूर्वके अन्ततक पहुँचनेमें जो कोई एकाध अध्ययन बाकी रह गया हो, तो उसके कारण भटक पड़े; परन्तु वस्तुतः इसका ऐसा मतलब नहीं है। इतने अधिक ज्ञानका अभ्यासी भी यदि केवल एक अल्पभागके कारण ही अभ्यासमें पराभव प्राप्त करे, यह बात मानने जैसी नहीं है; अर्थात् शास्त्रकी भाषा अथवा अर्थ कोई ऐसा कठिन नहीं है जो उन्हें स्मरणमें रखना कठिन पड़े, किन्तु वास्तविक कारण यही है कि उन्हें उस मूलवस्तुका ही ज्ञान नहीं हो सका, और यही सबसे बड़ी कमी है, और इसीने चौदह पूर्वके समस्त ज्ञानको निष्फल बना दिया। एक नयसे ऐसा विचार भी हो सकता है कि यदि तत्त्व ही प्राप्त न हुआ तो शास्त्र—लिखे हुए पत्र—का बोझा ढोना और पढ़ना इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं; क्योंकि दोनोंने ही बोझको उठाया है। जिसने पत्रोंका बोझा ढोया उसने शरीरसे बोझा उठाया, और जो पढ़ गया उसने मनसे बोझा उठाया; परन्तु वास्तविक लक्ष्यार्थ बिना उनकी निरुपयोगिता ही सिद्ध होती है, ऐसा समझमें आता है। जिसके घर समस्त लवणसमुद्र है, वह तृषातुरकी तृषा मिटानेमें समर्थ नहीं; परन्तु जिसके घर मीठे पानीकी कुँइया भी है वह अपनी और दूसरे बहुतोंकी तृषा मिटानेमें समर्थ है, और ज्ञानदृष्टिसे देखनेसे महत्त्व भी उसीका है।

तो भी अब दूसरे नयपर दृष्टि करनी पड़ती है; और वह यह कि यदि किसी तरह भी शास्त्राभ्यास होगा तो कुछ न कुछ पात्र होनेकी अभिलाषा होगी, और काल आनेपर पात्रता भी मिलेगी ही, और वह दूसरोंको भी पात्रता प्रदान करेगा; इसलिये यहाँ शास्त्राभ्यासके निषेध करनेका अभिप्राय नहीं, परन्तु मूलवस्तुसे दूर ले जानेवाले शास्त्राभ्यासका निषेध करें, तो हम एकांतवादी नहीं कहे जाँयगे।

इस तरह इन दो प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर लिख रहा हूँ। लिखनेकी अपेक्षा वचनसे अधिक समझाया जा सकता है; तो भी आशा है कि इससे समाधान होगा, और वह पात्रताके कुछ न कुछ अंशोंकी वृद्धि करेगा और एकांत-दृष्टिको घटायेगा, ऐसी मान्यता है।

अहो! अनंत भवके पर्यटनमें किसी सत्पुरुषके प्रतापसे इस दशाको प्राप्त इस देहधारीको तुम चाहते हो और उससे धर्मकी इच्छा करते हो, परन्तु वह तो अभी किसी आश्चर्यकारक उपाधिमें पड़ा है! यदि वह निवृत्त होता तो बहुत उपयोगी होता। अच्छा, तुम्हें उसके लिये जो इतनी अधिक श्रद्धा रहती है, उसका क्या कुछ मूलकारण मालूम हुआ है? इसके ऊपर की हुई श्रद्धा, और इसका कहा हुआ धर्म अनुभव करनेपर अनर्थकारक तो नहीं लगता है न? अर्थात् अभी उसकी पूर्ण कसौटी करना, और ऐसे करनेमें वह प्रसन्न है; उसके साथ ही साथ तुम्हें योग्यताकी प्राप्ति होगी; और कदाचित् पूर्वापर भी शंकारहित श्रद्धा ही रही तो उसको तो वैसी ही रखनेमें कल्याण है, ऐसा स्पष्ट कहना योग्य मालूम होता था, इसलिये आज कह दिया है।

आजके पत्रकी भाषा बहुत ही ग्रामीण लिखी है, परन्तु उसका उद्देश केवल परमार्थ ही है। आगमके उल्लासकी वृद्धि करना—जरूर।

अनामजीका प्रणाम.

---

१२६ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १२ शुक्र. १९४६

व्यासभगवान् कहते हैं कि—

इच्छाद्वेषविहीनेन, सर्वत्र समचेतसा।
भगवद्भक्तियुक्तेन, प्राप्ता भागवती गतिः॥

इच्छा और द्वेषके बिना सब जगह समदृष्टिसे देखनेवाले पुरुषोंने भगवान्की भक्तिसे युक्त होकर भागवती गतिको अर्थात् निर्वाणको प्राप्त किया है—

आप देखें, इस वचनमें उन्होंने कितना अधिक परमार्थ भर दिया है? प्रसंगवश इस वाक्यका स्मरण होनेसे इसे लिखा है।

निरंतर साथ रहने देनेमें भगवान्का क्या नुकसान होता होगा?

आज्ञांकित—

---

१२७ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १३ शनि. १९४६

नीचेकी बातोंका अभ्यास करते ही रहना:—

१. किसी भी प्रकारसे उदय आई हुई और उदयमें आनेवाली कषायोंको शान्त करना।

२. सब प्रकारकी अभिलाषाकी निवृत्ति करते रहना।

३. इतने कालतक जो किया उस सबसे निवृत्त होओ, उसे करनेसे अब रुको।

४. तुम परिपूर्ण सुखी हो, ऐसा मानो, और दूसरे प्राणियोंपर अनुकंपा करते रहो।

५. किसी एक सत्पुरुषको ढूँढ़ लो, और उसके कैसे भी वचन हों उनमें श्रद्धा रखो।

ये पाँचों प्रकारके अभ्यास अवश्य ही योग्यता प्रदान करते हैं। पाँचवेंमें फिर चारों समावेश हो जाते हैं, ऐसा अवश्य मानो।

अधिक क्या कहूँ? किसी भी समय इस पाँचवेंको प्राप्त किये बिना इस परिभ्रमणका अन्त नहीं आयगा।

बाकीके चार इस पाँचवेको प्राप्त करनेमें सहायक हैं।

पाँचवे अभ्यासके सिवाय—उसकी प्राप्तिके सिवाय—मुझे दूसरा कोई निर्वाणका मार्ग नहीं सूझता, और सभी महात्माओंको भी ऐसा ही सूझा होगा (सूझा है)।

अब तुम्हें जैसा योग्य मालूम हो वैसा करो। यह तुम सबकी इच्छा है, फिर भी अधिक इच्छा करो; जल्दी न करो। जितनी जल्दी उतनी ही कचाई, और जितनी कचाई उतनी ही खटाई, इस आपेक्षिक कथनको ध्यानमें रखना।

प्रारब्धसे जीवित रायचन्दंका यथायोग्य.

---

१२८ ववाणीआ, द्वितीय भाद्र. वदी १३, १९४६

तुम तथा और जो जो दूसरे भाई मुझसे कुछ आत्म-लाभकी इच्छा करते हो, वे सब आत्म-लाभको पाओ, यही मेरी अंतःकरणसे इच्छा है; तो भी उस लाभके प्रदान करनेकी यथायोग्य पात्रतामें मुझे अभी कुछ आवरण है; और उस लाभको लेनेकी इच्छा करनेवालोंकी योग्यताकी भी मुझे अनेक तरहसे न्यूनता मालूम हुआ करती है; इसलिये जबतक ये दोनों योग परिपक्व न हो जाँय, तबतक इस सिद्धिमें विलम्ब है, ऐसी मेरी मान्यता है। बार बार अनुकंपा आ जाती है, परन्तु निरुपायताके सामने क्या करूँ ? अपनी किसी न्यूनताको पूर्णता कैसे कह दूँ ?

इसके ऊपरसे मेरी ऐसी इच्छा रहा करती है कि हालमें अब तो जिस तरह तुम सब योग्यतामें आ सको उस तरहका कुछ निवेदन करता रहूँ, और जो कोई खुलासा पूँछो उसे बुद्धि-अनुसार स्पष्ट करता रहूँ, अन्यथा योग्यता प्राप्त करते रहो, इसी बातको बार बार सूचित करता रहूँ।

---

१२९ ववाणीआ, द्वि. भाद्रपद वदी १३ सोम. १९४६

चैतन्यका निरंतर अविच्छिन्न अनुभव प्रिय है; यही चाहिये भी, इसके सिवाय दूसरी कुछ भी इच्छा नहीं रहती; यदि रहती हो तो भी उसे रखनेकी इच्छा नहीं। बस एक 'तू ही तू' यही एक अस्खलित प्रवाह निरन्तर चाहिये। अधिक क्या कहा जाय ? यह लिखनेसे लिखा नहीं जाता, और कहनेसे कहा नहीं जाता; यह केवल ज्ञानके गम्य है; अथवा यह श्रेणी श्रेणीसे समझमें आ सकता है। बाकी तो सब कुछ अव्यक्त ही है।

इसलिये जिस निस्पृह दशाका ही रटन है, उसके मिलनेपर—इस कल्पितको भूल जानेपर ही—छुटकारा है।

---

१३० ववाणीआ, आसोज सुदी ५ शनि. १९४६

ऊंच नीचनो अंतर नथी, समज्या ते पाम्या सद्गती

तीर्थंकरदेवने राग करनेका निषेध किया है, अर्थात् जबतक राग रहता है तबतक मोक्ष नहीं होती; तो फिर मुझ संबंधी राग तुम सबको हितकारक कैसे होगा ?

लिखनेवाला अव्यक्तदशा.

---

१३१ ववाणीआ, आसोज सुदी ६ रवि. १९४६

आज्ञामें ही तन्मय हुए बिना परमार्थके मार्गकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है; इसके लिये तुम क्या उपाय करोगे, अथवा तुमने क्या उपाय सोचा है ?

अधिक क्या ? इस समय इतना ही बहुत है।

---

१३२ ववाणीआ, आसोज सुदी १० गुरु. १९४६

(१)

बीजज्ञान
खोज करे तो केवलज्ञान

भगवान् महावीरदेव.

यह कुछ कहे जाने योग्य स्वरूप नहीं।

ज्ञानी रत्नाकर

१ ३

॰

२ ४

ये सब नियतियाँ किसने कहीं ?

हमने ज्ञानसे देखकर जैसा योग्य मालूम हुआ वैसी व्याख्या की।

भगवान् महावीरदेव

१०, ९, ८, ७, ६, ४, ३, २, १.

(२)

करीब पाँच दिन पहले पत्र मिला था (वह पत्र जिस पत्रमें लक्ष्मी आदिकी विचित्र दशाका वर्णन किया है)।

जब आत्मा ऐसे अनेक प्रकारके परित्यागी विचारोंको पलट पलटकर एकत्व बुद्धिको पाकर महात्माके संगकी आराधना करेगी, अथवा स्वयं किसी पूर्वके स्मरणको प्राप्त करेगी तो वह इष्ट सिद्धिको पायेगी, इसमें संशय नहीं है।

(३)

धर्मध्यान, विद्याभ्यास इत्यादिकी वृद्धि करना।

---

१३३ ववाणीआ, वि. सं. १९४६ आसोज

यह मैं तुझे मौतकी औषधि देता हूँ।

उपयोग करनेमें भूल नहीं करना।

तुझे कौन प्रिय है ? मुझे पहिचाननेवाला।

ऐसा क्यों करते हो ? अभी देर है।

क्या होनेवाला है वह ?

हे कर्म ! तुझे निश्चित आज्ञा करता हूँ कि नीति और नेकीके ऊपर मेरा पैर नहीं रखवाना।

---

१३४ वि. सं. १९४६ आसोज

तीन प्रकारका वीर्य कहा है:—

(१) महावीर्य (२) मध्यवीर्य (३) अल्पवीर्य

तीन प्रकारका महावीर्य कहा है:—

(१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक

तीन प्रकारका सात्विक शुक्ल महावीर्य कहा है:—

(१) सात्विक शुक्ल (२) सात्विक धर्म (३) सात्विक मिश्र

तीन प्रकारका सात्विक शुक्ल महावीर्य कहा है:—

(१) शुक्लज्ञान (२) शुक्लदर्शन (३) शुक्लचारित्र (शील)

सात्विक धर्म दो प्रकारका कहा है:—

(१) प्रशस्त (२) प्रसिद्ध प्रशस्त

इसे भी दो प्रकारका कहा है:—

(१) पन्नंतसे (२) अपन्नंतसे ।

सामान्य केवली

तीर्थंकर

यह अर्थ समर्थ है ।

---

१३५ ववाणीआ, आसोज सुदी ११ शुक्र. १९४६

(१)

यह बँधा हुआ ही मोक्ष पाता है, ऐसा क्यों नहीं कह देते ?

ऐसी किसकी इच्छा है कि वैसा होने देता है ?

जिनभगवान्के वचनकी रचना अद्भुत है; इसकी तो नाहीं कर ही नहीं सकते ।

परन्तु पाये हुए पदार्थका स्वरूप उसके शास्त्रोंमें क्यों नहीं ?

क्या उसको आश्चर्य नहीं मालूम हुआ होगा, क्यों छिपाया होगा ?

(२)

एक वार वह अपने भुवनमें बैठा था......प्रकाश था, किन्तु झाँखा था ।

मंत्रीने आकर उससे कहा, आप किस विचारका कष्ट उठा रहे हैं ? यदि वह योग्य हो तो उसे इस दीनसे कहकर उपकृत करें ।

---

१३६ ववाणीआ, आसोज सुदी ११ शुक्र. १९४६

(१)

पद मिला । सर्वार्थसिद्धकी ही बात है ।

जैनसिद्धांतमें ऐसा कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध महाविमानकी ध्वजासे बारह योजन दूरपर मुक्तिशिला है । कबीर भी ध्वजाके नामसे आनंद आनंदमें आ गये हैं ।

वह पद बाँचकर परमानन्द हुआ । प्रभातमें जल्दी उठा, उसी समयसे कोई अपूर्व ही आनन्द

रहा करता था। इतनेमें पद मिला; और मूलपदका अतिशय स्मरण हुआ; एकतान हो गया। एकाकारवृत्तिका वर्णन शब्दसे कैसे किया जा सकता है? यह दशा दिनके बारह बजेतक रही। अपूर्व आनन्द तो अब भी वैसाका वैसा ही है, परन्तु उसके बादका काल दूसरी बातें (ज्ञानकी) करनेमें चला गया।

" केवलज्ञान हवे पामशुं, पामशुं, पामशुं रे के० " ऐसा एक पद बनाया।

हृदय बहुत आनन्दमें है।

(२)

जीवके अस्तित्वका तो किसी भी कालमें संशय न हो।

जीवके नित्यपनेका—त्रिकालमें होनेका—किसी भी समय संशय न हो।

जीवके चैतन्यपनेका—त्रिकाल अस्तित्वका—किसी भी समय संशय न हो।

उसको किसी भी प्रकारसे बंधदशा रहती है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

उस बंधकी निवृत्ति किसी भी प्रकारसे निस्सन्देह योग्य है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

मोक्षपद है, इस बातका किसी भी समय संशय न हो।

---

१३७ ववाणीआ, आसोज सुदी १२ शनि. १९४६

संसारमें रहना और मोक्ष होनी कहना, यह बनना कठिन है।

उदासीनता अध्यात्मकी जननी है।

---

१३८ मोरबी, आसोज १९४६

दूसरे बहुत प्रकारके साधन जुटाये, और स्वयं अपने आप बहुतसी कल्पनायें कीं, परन्तु असत् गुरुके कारण उलटा संताप ही बढ़ता गया ॥ १ ॥······

जिस समय पूर्वपुण्यके उदयसे सद्गुरुका योग मिला, उस समय वचनरूपी अमृतके कानोंमें पड़नेसे हृदयमेंसे सब प्रकारका शोक दूर हो गया ॥ २ ॥

इससे मुझे निश्चय हो गया कि यहींपर संताप नष्ट होगा। बस फिर मैं एक लक्षसे नित्य ही उस सद्गुरुका सत्संग करने लगा ॥ ३ ॥

१३८

बीजां साधन बहु कर्यां, करी कल्पना आप। अथवा असद्गुरु थकी, उलटो वध्यो उताप ॥ १ ॥
पूर्व पुण्यना उदयथी, मळ्यो सद्गुरु योग। वचन-सुधा श्रवणे जतां, थयुं हृदय गतशोग ॥ २ ॥
निश्चय एथी आवियो, टळशे अहीं उताप। नित्य कर्यो सत्संग मैं, एक लक्षथी आप ॥ ३ ॥

१३९

मोरबी, आसोज १९४६

जहाँ उपयोग है वहाँ धर्म है ।

महावीरदेवको नमस्कार.

१. अन्तिम निर्णय होना चाहिए ।

२. सब प्रकारका निर्णय तत्त्वज्ञानमें है ।

३. आहार, विहार और निहारकी नियमितता ।

४. अर्थकी सिद्धि ।

आर्यजीवन

उत्तम पुरुषोंने आचरण किया है ।

१४०

बम्बई, वि. सं. १९४६

नित्यस्मृति

१. जिस महाकार्यके लिये तू पैदा हुआ है उस महाकार्यका बारंबार चिन्तवन कर ।

२. ध्यान धर ले; समाविस्थ हो जा ।

३. व्यवहार-कार्यको विचार जा । उसमें जिस कार्यका प्रमाद हुआ है, अब उसके लिये प्रमाद न हो, ऐसा कर । जिस कार्यमें साहस हुआ हो, अब उसमें वैसा न हो ऐसा उपदेश ले ।

४. तुम दृढ योगी हो, वैसे ही रहो ।

५. कोई भी छोटीसे छोटी भूल तेरी स्मृतिमेंसे नहीं जाती, यह महाकल्याणकी बात है ।

६. किसमें भी लिप्त न होना ।

७. महागंभीर बन ।

८. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको विचार जा ।

९. यथार्थ कर ।

१०. कार्य-सिद्धि करता हुआ चला जा ।

१४१

बम्बई, वि. सं. १९४६

सहजप्रकृति

१. पर-हितको ही निज-हित समझना, और परदुःखको ही अपना दुःख समझना ।

२. सुख-दुःख ये दोनों ही मनकी मात्र कल्पनायें हैं ।

३. क्षमा ही मोक्षका भव्यद्वार है ।

४. सबके साथ नम्रभावसे रहना ही सच्चा भूषण है ।

५. शांत स्वभाव ही सज्जनताका यथार्थ मूल है ।

६. सच्चे स्नेहीकी चाह ही सज्जनताका खास लक्षण है।
७. दुर्जनका कम सहवास करो।
८. सब कुछ विवेक-बुद्धिसे आचरण करो।
९. द्वेषका अभाव करो। इस (द्वेष) वस्तुको विषरूप मानो।
१०. धर्म कर्ममें वृत्ति रक्खो।
११. नीतिकी सीमापर पैर नहीं रक्खो।
१२. जितेन्द्रिय बनो।
१३. ज्ञान-चर्चा, विद्या-विलासमें तथा शास्त्राध्ययनमें गुँथे रहो।
१४. गंभीरता रक्खो।
१५. संसारमें रहनेपर भी और नीतिपूर्वक भोग करनेपर भी विदेही-दशा रक्खो।
१६. परमात्माकी भक्तिमें गुँथे रहो।
१७. परनिन्दाको ही सबल पाप मानो।
१८. दुर्जनतासे सफल होना ही हारना है, ऐसा मानो।
१९. आत्मज्ञान और सज्जनोंकी संगति रक्खो।

१४२

बम्बई, वि.सं.१९४६

बहुतसी बातें ऐसी हैं जो केवल आत्मगम्य हैं, और मन, वचन और कायासे पर हैं; तथा बहुतसी बातें ऐसी हैं जो वचन और कायासे पर हैं, परन्तु उनका अस्तित्व है।

श्रीभगवान्[1]।
श्रीमघशाप।
श्रीबखलाध।

१४३

बम्बई, वि.सं.१९४६

महावीरदेवने प्रथम तीनों कालोंको मुट्ठीमें कर लिया, अर्थात् जगत्को इस प्रकार देखाः—
उसमें अनन्त चैतन्य आत्माओंको मुक्त देखा।
अनन्त चैतन्य आत्माओंको बद्ध देखा।
अनन्त चैतन्य आत्माओंको मोक्षका पात्र देखा।
अनन्त चैतन्य आत्माओंको मोक्षका अपात्र देखा।
अनन्त चैतन्य आत्माओंको अधोगतिमें देखा।
अनन्त चैतन्य आत्माओंको ऊर्ध्वगतिमें देखा।

---

१. 'भगवान्' शब्दके भ, ग, व और न इन अक्षरोंके आगेका एक एक अक्षर लेनेसे मघशाप, और इन अक्षरोंके पीछेका एक एक अक्षर लेनेसे बखलाध शब्द बनते हैं। अनुवादक।

उनको पुरुषके रूपमें देखा।

उनको जड़-चैतन्यात्मक स्वरूपमें देखा।

---

१४४ बम्बई, कार्तिक सुदी ५ सोम. १९४७

भगवान् परिपूर्ण—सर्वगुणसंपन्न—कहे जाते हैं; तो भी इनमें भी दोष कोई कम नहीं है! चित्र-विचित्र करना ही इनकी लीला है! अधिक क्या कहें?

समस्त समर्थ पुरुष अपने आपको प्राप्त हुए ज्ञानको ही कह गये हैं। इस ज्ञानकी दिन प्रतिदिन इस आत्माको भी विशेषता होती जा रही है। मैं समझता हूँ कि केवलज्ञान प्राप्त करनेतककी मेहनत करना व्यर्थ तो नहीं जायगा। मोक्षकी हमें कोई आवश्यकता नहीं। निःशंकपनेकी, निर्भयपनेकी, निर्मोहपनेकी, और निस्पृहपनेकी जरूरत थी, वह बहुत कुछ प्राप्त हुई माछूम होती है; और उसे पूर्ण अंशमें प्राप्त करनेकी गुप्त रहे हुए करुणासागरकी कृपा होगी, ऐसी आशा रहती है। फिर भी इससे भी अधिक अलौकिक दशाकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रहा करती है। वहाँ विशेष क्या कहें?

आंतर-ध्वनिमें कमी नहीं; परन्तु गाड़ी घोड़ेकी उपाधि श्रवणका थोड़ा ही सुख देती है। यहाँ निवृत्तिके सिवाय दूसरा सभी कुछ माछूम होता है। जगत्को और जगत्की लीलाको बैठे बैठे मुफ्तमें ही देख रहे हैं।

---

१४५ बम्बई, कार्तिक सुदी ५ सोम. १९४७

सत्पुरुषके एक एक वाक्यमें, एक एक शब्दमें, अनंत आगम भरे हुए हैं, यह बात कैसे होगी?

नीचेके वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे प्रत्येक मुमुक्षुओंके लिये मंगलरूप माने हैं—मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं।

१. चाहे कभी ही क्यों न हो किन्तु मायामय सुखकी सब प्रकारकी वाँछाको छोड़े बिना कभी भी छुटकारा होनेवाला नहीं, इसलिये जबसे यह वाक्य सुना है उसी समयसे उस क्रमका अभ्यास करना ही योग्य है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी खोज करना; खोज करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पण-बुद्धि रखना; उसीकी आज्ञाका सब प्रकारसे शंकारहित होकर आराधन करना; और तो ही सब मायामय वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझना।

३. अनादिकालके परिभ्रमणमें अनन्तवार शास्त्र-श्रवण, अनन्तवार विद्याभ्यास, अनन्तबार जिन-दीक्षा, अनन्तवार आचार्यपना प्राप्त हुआ है, केवल एक सत् ही नहीं मिला; सत् ही नहीं सुना, सत्का ही श्रद्धान नहीं किया; और इसके मिलनेपर, इसके सुननेपर, तथा इसकी श्रद्धा करनेपर ही आत्मामेंसे छूटनेकी बातका भणकार होगा।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, किन्तु आत्मामें है।

१४६ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम. १९४७

१. जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको संसारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मैं जिस समय हँसते-खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओधाकवि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२. ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, और अधिकसे अधिक पन्द्रह भव करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमें प्रकृतियोंका उपशमभाव होनेसे मन, वचन और कायाका योग प्रबल शुभभावमें रहता है, इससे साताका बंध होता है, और यह साता बहुत करके पाँच अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामेरे, तेनुं मन न चढे बीजे भामेरे;
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगरे, तेने न गमे संसारनो संगरे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुंरे, मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुंरे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारीरे, ओधा जीवनदोरी अमारीरे ॥ २ ॥

श्रीमद् राजचंद्र.

वर्ष २४ मुं. वि. सं. १९४७.

Lakshmi Art, Bombay, 8

२४वाँ वर्ष

१४७ बम्बई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

(१)

आत्माने ज्ञान पा लिया, यह तो निःसंशय है; ग्रंथी-भेद हो गया, यह तीनों कालोंमें सत्य बात है; सब ज्ञानियोंने भी यह बात स्वीकार की है। अब अन्तकी निर्विकल्पसमाधि पाना ही बाकी रही है, जो सुलभ है, और उसके पानेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृत-सागरका अवलोकन करते हुए थोड़ीसी भी मायाका आवरण बाधा न पहुँचा सके; अवलोकन-सुखका किंचित्मात्र भी विस्मरण न हो जाय; एक 'तू ही तू' के विना दूसरी रटन न रहे; और मायामय किसी भी भयका, मोहका, संकल्प और विकल्पका एक भी अंश बाकी न रह जाय।

यदि यह एकबार भी योग्य रीतिसे प्राप्त हो जाय तो फिर चाहे जैसे आचरण किया जाय, चाहे जैसे बोला जाय, चाहे जैसे आहार-विहार किया जाय, तो भी उसे किसी भी तरहकी बाधा नहीं, उसे परमात्मा भी पूँछ नहीं सकते, और उसका किया हुआ सभी कुछ ठीक है। ऐसी दशा पानेसे परमार्थके लिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है; और ऐसी दशा हुए बिना प्रगट-मार्गके प्रकाशन करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है, ऐसा मुझे माल्म होता है; इसलिये इस दशाको पानेके बाद ही प्रगट-मार्गको कहने और परमार्थका प्रकाश करनेका दृढ़ निश्चय किया है, तबतक नहीं; और इस दशाको पानेमें अब कुछ अधिक समय भी नहीं है। रुपयेमेंसे पन्द्रह आनेतक तो इसे पा गया हूँ, निर्विकल्पता तो है ही; परन्तु निवृत्ति नहीं है। यदि निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थके लिये क्या करना चाहिये, उसका विचार किया जा सके। उसके बाद त्यागकी आवश्यकता है, और उसके बाद ही दूसरोंके द्वारा त्याग करानेकी आवश्यकता है।

महान् पुरुषोंने कैसी दशा पाकर मार्गका उपदेश किया है, क्या क्या करके मार्गका उपदेश किया है, इस बातका आत्माको अच्छी तरह स्मरण रहा करता है, और यही बात इस बातका चिह्न माल्म होती है कि प्रगट-मार्गका उपदेश करने देनेकी ईश्वरीय इच्छा है। इसके लिये अभी हालमें तो सम्पूर्ण गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें बात करनेकी इच्छा नहीं होती। आपकी इच्छाकी रक्षा करनेके लिये कुछ कुछ प्रवृत्ति रहती है, अथवा बहुत परिचयमें आये हुए योगपुरुषकी इच्छाके लिये कुछ कहना अथवा लिखना पड़ता है; इसके सिवाय अन्य सब प्रकारसे गुप्तता ही रक्खी है। अज्ञानी होकर बास करनेकी इच्छा रोक रक्खी है; जिससे कि अपूर्वकालमें ज्ञानके प्रकाश होनेपर बाधा न आये।

इतने कारणोंसे........के लिये कुछ नहीं लिखता। गुणठाणा इत्यादिका उत्तर नहीं लिखता। सूत्रको छूतातक भी नहीं हूँ। केवल व्यवहारकी रक्षाके लिये थोड़ीसी पुस्तकोंके पन्ने उलटता हूँ। बाकी तो सभी कुछ पत्थरपर पानीके चित्र जैसा रख छोड़ा है। तन्मय आत्म-योगमें प्रवेश है; वहीं उल्लास है,

और वहीं याचना भी है; और योग (मन, वचन और काय) बाह्यरूपमें पूर्वकर्मको भोग रहा है। वेदोदयका नाश होनेतक गृहस्थावासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान बूझकर वेदोदय रखता है; कारण कि पंचमकालमें परमार्थकी वर्षा ऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा माॡम होती है।

तीर्थंकरने जो जो समझा अथवा जो जो प्राप्त किया है उसे......इस कालमें न समझ सकें अथवा न पा सकें, ऐसी कोई भी बात नहीं है; यह निर्णय बहुत समयसे कर रक्खा है। यद्यपि तीर्थंकर होनेकी इच्छा नहीं है, परन्तु तीर्थंकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गई है; उसके शमन करनेकी शक्ति भी आ गई है, परन्तु जान बूझकर ही शमन करनेकी इच्छा नहीं की।

आपसे विज्ञप्ति है कि वृद्धसे युवा बनें, और इस अलख-वार्ताके अग्रणीके भी अग्रणी बनें। थोड़े लिखेको बहुत समझना।

गुणठाणाओंके भेद केवल समझनेके लिये किये हैं। उपशम और क्षपक ये दो तरहकी श्रेणियाँ हैं। उपशममें प्रत्यक्ष-दर्शनकी संभावना नहीं होती, किन्तु क्षपकमें होती है। प्रत्यक्ष-दर्शनकी संभवताके अभावमें यह जीव ग्यारहवें गुणस्थानतक जाकर वहाँसे पीछे लौटता है। उपशमश्रेणी दो प्रकारकी है—एक आज्ञारूप; और दूसरी मार्गको जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप। आज्ञारूप उपशम-श्रेणीवाला आज्ञाका आराधन होनेतक पतित नहीं होता, किन्तु पिछला तो एकदम ठेठ पहुँच जानेके बाद भी मार्ग न जाननेके कारण पतित हो जाता है। यह आँखसे देखी हुई, और आत्मासे अनुभव की हुई बात है। संभव है, यह किसी शास्त्रमें मिल भी जाय, और न मिले तो कोई हर्ज नहीं। यह बात तीर्थंकरके हृदयमें थी, यह हमने जान लिया है।

दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमें आपने जो लिखा है वह ठीक है। इसने तो बहुत ही अधिक कहा था; परन्तु उसमेंसे थोड़ा ही बाकी बचा है; और प्रकाशक पुरुष गृहस्थावासमें है, बाकीके गुफामें हैं। कोई कोई जानते भी हैं, परन्तु उनमें इतना योगबल नहीं।

आधुनिक कहे जानेवाले मुनियोंका सूत्रार्थ सुननेतकके भी योग्य नहीं। सूत्र लेकर उपदेश करनेकी कुछ दिनों पीछे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके कोने कोने सब कुछ जाने हुए हैं।

(२)

(१) जिनसे मार्ग चला है, ऐसे महान् पुरुषोंके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी महान् ही थे।

एक राज्यके प्राप्त करनेमें जितने पराक्रमकी आवश्यकता है उससे भी कहीं अधिक पराक्रमकी आवश्यकता अपूर्व अभिप्रायसहित धर्म-संततिके चलानेके लिये चाहिए।

थोड़े समय पहिले मुझमें वैसी तथारूप शक्ति माॡम होती थी, अभी उसमें विकलता देखनेमें आती है, उसका हेतु क्या होना चाहिये, यह विचार करने योग्य है।

संभव है, यह मार्ग संप्रदायकी रीतिद्वारा बहुतसे जीवोंको मिल भी जाय, किन्तु दर्शनकी रीतिसे तो वह विरले ही जीवोंको प्राप्त होता है।

यदि जिनभगवान्का अभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाय तो उसका संप्रदाय-भेदकी कोटिसे निरूपण होना बिलकुल असंभव है, क्योंकि उस मार्गकी रचनाको सांप्रदायिक स्वरूपमें लाना अत्यन्त कठिन है।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी जीवका उपकार होने जितना विरोध आता है।

(२) जो कोई महान् पुरुष हुए हैं वे पहिलेसे ही स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, भावी महत्कार्यके बीजको पहिलेसे ही अव्यक्तरूपमें वपन किये रखते थे—अथवा स्वाचरणको अविरोध जैसा रखते थे।

मुझमें यह दशा विशेष विक्षेपमें पड़ी हुई जैसी मालूम होती है। यह विरोध क्यों मालूम होता है, उसके कारणोंको भी यहाँ लिख देता हूँ:—

१. संसारीकी भाँतिके समान विशेष व्यवहार रहनेसे।

२. ब्रह्मचर्यका धारण।

(३)

वीतराग दर्शन

(१) उद्देश प्रकरण.
सर्वज्ञ-मीमांसा.
षड्दर्शन अवलोकन.
वीतराग अभिप्राय विचार.
व्यवहार प्रकरण.
मुनिधर्म.
आगारधर्म.
मतमतांतर निराकरण.
उपसंहार.

(२) नवतत्त्वविवेचन.
गुणस्थानविवेचन.
कर्मप्रकृतिविवेचन.
विचारपद्धति.
श्रवणादिविवेचन.
बोधबीजसंपत्ति.
जीवाजीवविभक्ति.
शुद्धात्मपदभावना.

(३) अंग. उपांग. मूल. छेद.
आशय प्रकाशिता टीका.
व्यवहारहेतु.
परमार्थहेतु.
परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि.
व्यवहार विस्तारका पर्यवसान.
अनेकांतदृष्टि हेतु.
स्वगत मतांतर निवृत्तिप्रयत्न.
उपक्रम. उपसंहार. अविसंधि. लोकवर्णन स्थूलत्व हेतु.
वर्तमानकालमें आत्मसाधन भूमिका.
वीतरागदर्शन व्याख्याका अनुक्रम.

(४) मूल.

लोकसंस्थान ?

धर्म अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य ?

स्वाभाविक अभव्यत्व ?

अनादि अनंत सिद्धि ?

अनादि अनंतका ज्ञान किस तरह हो ?

आत्माका संकोच-विस्तार ?

सिद्ध ऊर्ध्वगमन—चेतन, खंडकी तरह क्यों नहीं है ?

केवलज्ञानमें लोकालोकका ज्ञान कैसा होता है ?

लोकस्थिति मर्यादाका हेतु ?

शाश्वत वस्तु लक्षण ?

उत्तर.

उन उन स्थानोंमें रहनेवाली सूर्य चन्द्र आदि वस्तु.

अथवा नियमित गति हेतु ?

दुःषम सुषम आदि काल ?

मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण ?

अग्निकाय आदिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न हो जाना ?

एक सिद्धमें अनंत सिद्धोंकी अवगाहना ?

१४८

बम्बई, कार्तिक १९४७

(१)

उपशमभाव

सोलह भावनाओंसे भूषित होनेपर भी जहाँ स्वयं सर्वोत्कृष्ट माना गया है, वहाँ दूसरोंकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो, और कोई मत्सरभाव आकर चला जाय तो वह उसको उपशमभाव था, क्षायिक नहीं था; यह नियम है ।

(२)

वह दशा क्यों घट गई ? और वह दशा बढ़ी क्यों नहीं ? लोकके संबंधसे; मानेच्छासे, अजागृतपनेसे, और स्त्री आदि परिषहोंकी जय न करनेसे ।

जिस क्रियामें जीवको रँग लगता है, उसकी वहीं स्थिति होती है, ऐसा जो जिनभगवान्‌का अभिप्राय है वह सत्य है ।

श्रीतीर्थंकरने महामोहनीयके जो तीस स्थान कहे हैं, वे सत्य हैं ।

अनंतज्ञानी पुरुषोंने जिसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं कहा और जिसके त्यागकी ही एकान्त आज्ञा दी है, ऐसे कामसे जो व्याकुल नहीं हुआ, वही परमात्मा है ।

१४९

बम्बई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

अनन्तकालसे आत्माको आत्मविषयक जो भ्रान्ति हो रही है, यह एक अवाच्य अद्भुत विचार करने जैसी बात है । जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कैसे हो सकती है ?

निरन्तर उदासीनताके क्रमका सेवन करना; सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना; सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना; सत्पुरुषोंके लक्षणोंका चिन्तवन करना; सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन

करना; उनके मन, वचन और कायकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका फिर फिरसे निदिध्यासन करना; और उनके द्वारा माने हुएको सर्वथा मान्य करना।

---

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, बुध. १९४७

निरंतर एक ही श्रेणी रहती है। पूर्ण हरि-कृपा है।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई मुमुक्षु धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका संग रक्खो।

---

१५१ बम्बई, कार्तिक वदी ३ शनि. १९४७

यह दृढ़ विचारपूर्वक मानना कि यदि इसको उदयकालमें व्यवहारका बंधन न होता तो यह तुझे और दूसरे बहुतसे मनुष्योंको अपूर्व हितको देनेवाला होता। जो कुछ प्रवृत्ति होती है, उसके कारणसे इसमें कुछ भिन्नता नहीं मानी, परंतु यदि इसे निवृत्ति होती तो वह दूसरी आत्माओंके लिये मार्ग मिलनेका कारण हो जाता। अभी उसे विलंब होगा। पंचमकालकी भी प्रवृत्ति है; इस भवमें मोक्ष जानेवाले मनुष्योंका संभव होना भी कम है; इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके लिये कुछ खेद नहीं।

---

१५२ बम्बई, कार्तिक वदी ५ सोम. १९४७

संतकी शरणमें जा

सत्संग यह बड़ेसे बड़ा साधन है।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं।

इन दो विषयोंका शास्त्र इत्यादिसे उनको उपदेश करते रहना। सत्संगकी वृद्धि करना।

---

१५३ बम्बई, नागुदा मोहल्ला, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको शीघ्रतासे प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर अलख 'लय' में लीन हो जानेकी इच्छा रहती है। यह आत्मा अलख 'लय' में पूरी पूरी समाविष्ट हो गई है। योगके द्वारा समावेश करना यही एक रटन लगी हुई है। परमार्थके मार्गको यदि बहुतसे मुमुक्षु पायें, अलख-समाधि पायें, तो बहुत अच्छा हो, और इसीके लिये कुछ मनन भी है। दीनबंधुकी जैसी इच्छा होगी वैसा ही रहेगा।

निरंतर ही अद्भुत दशा रहा करती है। हम अवधूत हुए हैं; और अवधूत करनेकी बहुतसे जीवोंके प्रति दृष्टि है।

महावीरदेवने इस कालको पंचमकाल कहकर दुःषम कहा, व्यासने कलियुग कहा, इस प्रकार

अनेक महापुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है; यह बात निस्सन्देह सत्य है; क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेश चले गये हैं, अर्थात् संप्रदायमें नहीं रहे, और इनके मिले बिना जीवका छुटकारा नहीं। इस कालमें इनका मिलना दुःषम हो गया है, इसीलिये इस कालको दुःपम कहा है, यह बात योग्य ही है। दुःषमके विषयमें कमसे कम लिखनेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने अथवा बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टाके ऊपरसे ही समझमें आ जाया करे ऐसी निश्चल इच्छा है।

ॐ श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

१५४ बम्बई, कार्तिक वदी ९ शुक्र. १९४७

मुनि........के संबंधमें आपका लिखना यथार्थ है। भव-स्थितिकी परिपक्वता हुए बिना, दीन-बंधुकी कृपा बिना, और संत-चरणकी सेवा बिना तीनों कालमें भी मार्गका मिलना कठिन ही है।

जीवके संसार-परिभ्रमणके जो जो कारण हैं, उनमें मुख्य सबसे बड़े कारण ये हैं कि स्वयं जिस ज्ञानके विषयमें शंकित हैं, उसी ज्ञानका उपदेश करना; प्रगटरूपमें उसी मार्गकी रक्षा करनी; तथा उसके लिये हृदयमें चल-विचल भाव होनेपर भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथार्थ होनेका उपदेश देना। इसी तरह यदि आप उस मुनिके संबंधमें विचार करेंगे तो यह बात ठीक ठीक लागू होगी।

जिसका जीव स्वयं ही शंकामें डुबकियाँ खाता हो, फिर भी यदि वह निःशंक मार्गके उपदेश करनेका दंभ रखकर समस्त जीवन बिता दे, तो यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके संबंधमें यहाँ-पर कुछ कठोर भाषामें लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है; फिर भी यहाँ वैसा अभिप्राय बिलकुल भी नहीं है। जैसा है वैसाका वैसा ही करुणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी तरहसे दूसरे अनंत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं, और भविष्यकालमें भी भटकेंगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है, वह बंधनमें नहीं आता, यह वाक्य निःसंदेह अनुभवपूर्ण है। बंधनका त्याग करनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बंधनकी वृद्धि करते रहना, उसीमें अपना महत्त्व स्थापित करना, और पूज्यताका प्रतिपादन करना; यह जीवको बहुत ही अधिक भटकानेवाला है। यह बुद्धि संसार-सीमाके निकट आये हुए जीवको ही होती है; और समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ़ होनेपर भी उसका त्याग करके कर-पात्रमें भिक्षा माँगकर जीने-वाले ऐसे जीव संतके चरणोंको अनंत अनन्त प्रेमभावसे पूजते हैं, और वे जरूर ही छूट जाते हैं।

दीनबंधुकी ऐसी दृष्टि है कि छूटनेके इच्छुकको बाँधना नहीं, और बँधनेके इच्छुकको छोड़ना नहीं। यहाँ किसी शंकाशील जीवको ऐसी शंका हो सकती है कि जीवको तो बँधना कभी भी अच्छा नहीं लगता, सबको छूटनेकी ही इच्छा रहती है, तो फिर जीव क्यों बँध जाता है ? इस शंकाका इतना ही समाधान है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ़ इच्छा होती है, उसको बंधनकी शंका ही मिट जाती है; और इस कथनका साक्षी यह सत् है।

१५५ बम्बई, कार्तिक वदी १४ गुरु. १९४७

अंतरकी परमार्थ वृत्तियोंको थोड़े समयतक प्रगट करनेकी इच्छा नहीं होती। धर्मकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके पत्र, प्रश्न आदिको तो इस समय बंधनरूप माना है; क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी शान्तमें प्रगट करनेकी इच्छा नहीं, उनके कुछ अंश विवश होकर इनके कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं।

नित्य नियममें तुम्हें तथा अन्य सब भाइयोंको इस समय तो मैं इतना ही कहता हूँ कि जिस किसी भी मार्गसे अनंतकालसे संचित आग्रहका, अपनेपनका, और असत्संगका नाश हो उसी मार्गमें वृत्ति लगानी चाहिये; यही चिंतवन रखनेसे और परभवका दृढ़ विश्वास रखनेसे कुछ अंशोंमें जय प्राप्त हो सकेगी।

---

१५६ बम्बई, कार्तिक वदी १४ शुक्र. १९४७

अभी कालमें तो मैं किसीको भी स्पष्टरूपसे धर्मोपदेश देनेके योग्य नहीं, अथवा ऐसा करनेकी मेरी इच्छा नहीं है। इच्छा न होनेका कारण उदयमें रहनेवाले कर्म ही हैं। मैं तो यही चाहता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्त महापुरुषसे ही धर्मको प्राप्त करे, तथापि मैं जिस वर्तमानकालमें हूँ वह काल ऐसा नहीं है।

सबसे पहिले मनुष्यमें यथायोग्य जिज्ञासुपना आना चाहिये; पूर्वके आग्रहों और असत्संगको हटाना चाहिये; और जिससे धर्म प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह स्वयं भी उसे पाया हुआ है कि नहीं, इस बातकी पूर्ण जाँच करनी चाहिये; यह संतकी समझने जैसी बात है।

---

१५७ बम्बई, मंगसिर सुदी ४ सोम. १९४७

नीचे एक वाक्यपर सामान्यतः स्याद्वाद घटाया है:—

" इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सर्वथा मोक्ष नहीं जाता।"

" इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता।"

अब इसके ऊपर सामान्य विचार करते हैं। पहिले एक आदमीने कहा कि इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता। ज्योंही यह वाक्य निकला त्योंही शंका हुई कि क्या इस कालमें महाविदेहसे भी मोक्ष नहीं जाते? वहाँसे तो जा सकते हैं, इसलिये फिरसे वाक्य बोलो। अब उसने दूसरी बार कहा:—इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता। तब फिर प्रश्न हुआ कि जंबू, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे मोक्ष चले गये? वह भी तो यही काल था; इसलिये फिर वह सामनेवाला पुरुष विचार करके बोला:—'इस कालमें, कोई भी इस कालमें जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता।' फिर प्रश्न

हुआ कि किसीका मिथ्यात्व तो नाश होगा या नहीं ? उत्तर मिला कि हाँ, होता है । तो फिर शंका-कारने पूँछा कि यदि मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है तो मिथ्यात्वसे मोक्ष हुआ कहा जायगा या नहीं ? फिर सामनेवालेने जवाब दिया कि हाँ, ऐसा तो हो सकता है । अन्तमें शंकाकार बोला कि ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा होगा कि ' इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता । '

इसमें भी अनेक भेद हैं । परन्तु यहाँतक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनशास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ जैसा गिना जायगा । वेदान्त आदि तो इस कालमें भी सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अभी और भी आगे जाना पडेगा; उसके बाद कहीं जाकर वाक्यकी सिद्धि हो पावे । इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित कहा जा सकता है; परन्तु ज्ञानके उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाका स्मृत रहना संभव नहीं; अथवा हो सकता है तो वह सत्पुरुषकी कृपासे ही सिद्ध हो सकता है ।

इस समय बस यही । थोड़े लिखेको बहुत समझना । ऊपर लिखी हुई सिर घुमादेनेवाली बातें लिखना मुझे पसंद नहीं । शक्करके श्रीफलका सभीने बखान किया है; परन्तु यहाँ तो छालसहित अमृतका नारियल है, इसलिये यह कैसे पसंद आ सकता है, परन्तु साथ ही इसे नापसंद भी नहीं किया जा सकता ।

अन्तमें आज, कल और हमेशके लिये यही कहना है कि इसका संग होनेके बाद सब प्रकारसे निर्भय रहना सीखना । आपको यह वाक्य कैसा लगता है ?

---

१५८ बम्बई, मंगसिर सुदी ९ शनि. १९४७

ॐ, सत्स्वरूप

यहाँ तो तीनों ही काल समान हैं । चालू व्यवहारके प्रति विषमता नहीं है, और उसको त्यागनेकी इच्छा रक्खी है, परन्तु पूर्व प्रकृतियोंके हटाये बिना कोई छुटकारा नहीं ।

कालकी दुःषमता........से यह प्रवृत्ति मार्ग बहुतसे जीवोंको सत्का दर्शन करनेसे रोकता है।

तुम सबसे यही अनुरोध है कि इस आत्माके संबंधमें दूसरोंसे कोई बातचीत मत करना ।

---

१५९ बम्बई, मंगसिर सुदी १३ बुध. १९४७

आप हृदयके जो जो उद्गार लिखते हैं, उन्हें पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है, और फिर फिरसे सतयुगका स्मरण हो आता है ।

आप भी जानते ही हैं कि इस कालमें मनुष्योंके मन मायामय संपत्तिकी इच्छायुक्त हो गये हैं । किन्हीं विरले मनुष्योंका ही निर्वाण-मार्गकी दृढ़ इच्छायुक्त रहना संभव है; अथवा वह इच्छा किन्हीं विरलोंको ही सत्पुरुषके चरणोंके सेवन करनेसे प्राप्त होती है । इसमें संदेह नहीं कि महा अंधकारवाले इस कालमें अपना जन्म किसी कारणसे तो हुआ ही है, परन्तु क्या उपाय किया जाय, इसको तो सम्पूर्णतासे जब वह सुझावेगा तभी कुछ उपाय बन सकेगा ।

---

१६० बम्बई, मंगसिर सुदी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूपको अभेदभावसे तीनों काल नमस्कार करता हूँ

जो जो इच्छायें उसमें कही हैं, वे कल्याणकारक ही हैं; परन्तु इस इच्छाकी सब प्रकारकी स्फुरणाएँ तो सच्चे पुरुषके चरणकमलकी सेवामें ही अन्तर्भूत हैं (यह सब अनन्तज्ञानियोंका माना हुआ निःशंक वाक्य आपको लिखा है); और वह बहुधा सत्संगमें ही अन्तर्भूत है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनादिकालसे अबतक अपूर्वको नहीं पाया; जो पाया है वह सब पूर्वानुपूर्व ही है। इन सबकी वासनाका त्याग करनेका अभ्यास करना। दृढ़ प्रेमसे और परम उल्लाससे यह अभ्यास जयवंत होगा, और वह कालकी अनुकूलता मिलनेपर महापुरुषके योगसे अपूर्वकी प्राप्ति करायेगा।

सब प्रकारकी क्रियाका, योगका, तपका, और इसके सिवाय अन्य प्रकारका ऐसा लक्ष रखना कि आत्माको छुड़ानेके लिये ही सब कुछ है; बंधनके लिये नहीं; जिससे बंधन हो उन सबका (सामान्य क्रियासे लेकर सब योग आदि पर्यंत) त्यागना ही योग्य है।

मिथ्या नामधारीका यथायोग्य.

---

१६१ बम्बई, मंगसिर वदी १४, १९४७

प्राप्त हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व समाधिमें स्मरण करता हूँ

अन्तिम स्वरूपके समझनेमें और अनुभव करनेमें थोड़ीसी भी कमी नहीं रही है; वह जैसे है वैसे ही सब प्रकारसे समझमें आ गया है। सब प्रकारोंका केवल एकदेश छोड़कर शेष सब कुछ अनुभवमें आ चुका है। एकदेश भी ऐसा नहीं रहा जो समझमें न आया हो; परन्तु योग (मन, वचन, काय) पूर्वक संगहीन होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है; और ऐसा होनेपर ही वह एकदेश भी अनुभवमें आ जायगा, अर्थात् उसीमें रहा जायगा; परिपूर्ण लोकालोक-ज्ञान उत्पन्न होगा; किन्तु इसे उत्पन्न करनेकी (वैसी) आकांक्षा नहीं रही है, तो फिर वह उत्पन्न भी कैसे होगा? यह भी आश्चर्यकारक है! परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हो चुका ही है; और इस समाधिमेंसे निकलकर लोकालोक-दर्शनके प्रति जाना कैसे होगा? यह भी केवल एक मुझे ही नहीं, परन्तु पत्र लिखनेवालेको भी एक शंका होती है।

कुनबी और कोली जैसी जातिमें भी थोड़े ही वर्षोंमें मार्गको पाये हुए कई एक पुरुष हो गये हैं। जन-समुदायको उन महात्माओंकी पहिचान न होनेके कारण उनसे कोई विरले लोग ही स्वार्थकी सिद्धि कर सके हैं; जीवको उन महात्माओंके प्रति मोह ही उत्पन्न न हुआ, यह कैसा अद्भुत ईश्वरीय विधान है!

इन सबने कोई अंतिम ज्ञानको पाया न था; परन्तु उसका मिलना उनके बहुत ही समीपमें था। ऐसे बहुतसे पुरुषोंके पद वगैरे यहाँ देखे हैं। ऐसे पुरुषोंके प्रति बहुत रोमांच उल्लसित होता है; और मानों निरंतर उनकी चरणोंकी ही सेवा करते रहें, यही एक आकांक्षा रहा करती है। ज्ञानियोंकी अपेक्षा ऐसे मुमुक्षुको देखकर अतिशय उल्लास होता है; उसका कारण यही है कि वे ज्ञानीके चरणोंका

निरन्तर सेवन किया करते हैं; और इनके इस दासत्वके प्रति हमारा दासत्व होनेका भी यही कारण है। भोजा भगत, निरांत कोली इत्यादि पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे।

निरंजनपदको समझनेवाले निरंजन कैसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचारनेपर उनकी अतीन्द्रिय गतिपर गंभीर समाधिपूर्ण हँसी आती है!

अब हम अपनी दशा किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकते; फिर लिख तो कहाँसे सकेंगे? आपका दर्शन होनेपर ही जो कुछ वाणी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी तो लाचारी है। हमें कुछ मुक्ति तो चाहिये नहीं, और जिस पुरुषको जैनदर्शनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको परमेश्वर अब कौनसा पद देगा, क्या यह कुछ आपके विचारमें आता है? यदि आता हो तो आश्चर्य करना; अन्यथा यहाँसे किसी रीतिसे कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी संभावना दिखाई नहीं देती।

आप बारम्बार लिखते हैं कि दर्शनके लिये बहुत आतुरता है, परन्तु महावीरदेवने इसे पंचमकाल कहा है, और व्यासभगवान्‌ने कलियुग कहा है; वह कहाँसे साथ रहने दे सकता है? और यदि रहने दे तो आपको उपाधिमुक्त क्यों न रक्खे?

---

१६२ बम्बई, मंगसिर बदी १४, १९४७

यह भूमि (बम्बई) उपाधिका शोभा-स्थान है।

........आदिको यदि एकबार भी आपका सत्संग हो जाय तो जहाँ एक लक्ष करना चाहिये वहाँ लक्ष हो सकता है, अन्यथा होना दुर्लभ है, क्योंकि हालमें हमारी बाह्यवृत्ति बहुत कम है।

---

१६३ बम्बई, पौष सुदी ५ गुरु. १९४७

अलख नाम धुनी लगी गगनमें, मगन भया मन मेराजी।
आसन मारी सुरत दृढ़धारी, दिया अगम-घर डेराजी।
दरश्या अलख देदाराजी।

---

१६४ बम्बई, पौष सुदी १० सोम. १९४७

प्रश्नव्याकरणमें सत्यका माहात्म्य पढ़ा है, उसपर मनन भी किया था।

हालमें हरिजनकी संगतिके अभावसे काल कठिनतासे व्यतीत होता है। हरिजनकी संगतिमें भी उसके प्रति भक्ति करना यह बहुत प्रिय लगता है।

आपकी परमार्थविषयक जो परम आकांक्षा है, वह ईश्वरेच्छा हुई तो किसी अपूर्व मार्गसे सफल हो जायगी। जिनको भ्रांतिके कारण परमार्थका लक्ष मिलना दुर्लभ हो गया है, ऐसे भारतक्षेत्रवासी मनुष्योंके प्रति वह परम कृपालु परमकृपा करेगा; परन्तु अभी हालमें कुछ समयतक उसकी इच्छा हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

१६५

बम्बई पौष सुदी १४ शुक्र. १९४७

करना फकीरी क्या दिलगीरी; सदा मगन मन रहनाजी

मुमुक्षुओंको इस वृत्तिको अधिकाधिक बढ़ाना उचित है। परमार्थकी चिंताका होना यह एक जुदा विषय है। अंतरंगमेंसे व्यवहारकी चिंताका वेदन कम करना यह मार्ग पानेका एक साधन है।

हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह एक निष्कारण परमार्थ ही है; और इस विषयमें आप भी वारम्बार जान ही चुके हैं; तथापि कुछ समवाय कारणकी न्यूनताके कारण अभी हालमें तो वैसा कुछ अधिक नहीं किया जा सकता; इसलिये अनुरोध है कि ऐसा कथन प्रगट न करना कि हालमें हम कोई परमार्थ-ज्ञानी हैं, अथवा समर्थ हैं, क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल जैसा है।

तुममेंसे जो कोई मार्गको समझे हैं, वे उसे साध्य करनेके लिये निरन्तर सत्पुरुषके चरित्रका मनन करना चालू रक्खें; उस विषयमें प्रसंग आनेपर हमसे पूँछे, तथा सत्शास्त्रका, सत्कथाका और सद्व्रतका सेवन करें।

वि. निमित्तमात्र

१६६

बम्बई, पौष वदी २ सोम. १९४७

हमको प्रत्येक मुमुक्षुओंका दासत्व प्रिय है; इस कारण उन्होंने जो कुछ भी उपदेश किया है, उसे हमने पढ़ा है। यथायोग्य अवसर प्राप्त होनेपर इस विषयमें उत्तर लिखा जा सकेगा; तथा अभी हम जिस आश्रम (जिस स्थितिमें रहना है वह स्थिति) में हैं उसे छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तुमने हमारे समागमकी जो आवश्यकता बताई वह अवश्य हितैषी है; तथापि अभी इस दशाको पानेका योग नहीं आ सकता। यहाँ तो निरन्तर ही आनन्द है। वहाँ सबको धर्मयोगकी वृद्धि करनेके लिये विनति है।

१६७

बम्बई, पौष १९४७

" जीवको मार्ग नहीं मिला, इसका क्या कारण है "? इस बातपर वारम्बार विचार करके यदि योग्य लगे तो साथका (नीचेका) पत्र पढ़ना। हमें तो माळूम होता है कि मार्ग सरल है, सुलभ है, परन्तु प्राप्तिका योग मिलना ही दुर्लभ है।

सत्स्वरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे नमोनमः

जो निरन्तर अप्रतिबद्धभावसे विचरते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञाकी सम्यक् प्रतीतिके हुये बिना, तथा उसमें अचल स्नेह हुए बिना सत्स्वरूपके विचारकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, और वैसी दशा आनेसे जिसने उनके चरणारविन्दका सेवन किया है, वह पुरुष वैसी दशाको क्रम क्रमसे पा जाता है। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादिकालसे परिभ्रमण किया है। जहाँतक जीवको स्वच्छंदरूपी अंधापन मौजूद है, वहाँतक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। यह अंधापन हटानेके लिये जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये; दृढ मोक्षेच्छा करनी चाहिये; और इस विचारमें

अप्रमत्त रहना चाहिये, तभी मार्गकी प्राप्ति होकर अंधापन हट सकता है। अनादिकालसे जीव उलटे मार्गपर चल रहा है; यद्यपि उसने जप, तप, शास्त्राध्ययन वगैरे अनन्तवार किये हैं, तथापि जो कुछ करना आवश्यक था वह उसने नहीं किया, जो कि हमने पहिले ही कह दिया है।

सूयगडांगसूत्रमें जहाँ भगवान् ऋषभदेवजीने अपने अट्ठानवें पुत्रोंको उपदेश किया है, और उन्हें मोक्ष-मार्गपर चढ़ाया है, वहाँ इस तरहका उपदेश दिया है:—हे आयुष्मानों! इस जीवने एक बात छोड़कर सब कुछ किया है; तो बताओ कि वह एक बात क्या है? तो निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सत्पुरुषका कहा हुआ वचन—उसका उपदेश; इसे इस जीवने नहीं सुना, और ठीक रीतिसे नहीं धारण किया; और हमने उसीको मुनियोंका सामायिक (आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति) कहा है।

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश देते हैं कि, जिसने समस्त जगत्का दर्शन किया है, ऐसे महावीरभगवान्ने हमें इस तरह कहा है:—गुरुके आधीन होकर आचरण करनेवाले ऐसे अनन्त पुरुषोंने मार्ग पाकर मोक्ष प्राप्त किया है।

एक इसी जगह नहीं परन्तु सब जगह और सब शास्त्रोंमें यही बात कहनेका उद्देश है।

आणाए धम्मो आणाए तवो

आज्ञाका आराधन ही धर्म है; आज्ञाका आराधन ही तप है—

यह आशय जीवको समझमें नहीं आया, इसके कारणोंमेंसे प्रधान कारण स्वच्छंद है।

१६८

बम्बई, पौष १९४७

सत्स्वरूपको अभेदरूपसे अनन्य भक्तिसे नमस्कार

जिसको मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्पोंको छोड़कर केवल यही एक विकल्प फिर फिरसे स्मरण करना आवश्यक है:—

“ अनंतकालसे जीव परिभ्रमण कर रहा है, फिर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह निवृत्ति क्या करनेसे हो सकती है?

इस वाक्यमें अनन्त अर्थ समाविष्ट हैं; तथा इस वाक्यमें उपरोक्त चिंतवन किये बिना और उसके लिये दृढ़ होकर तन्मय हुए बिना मार्गकी दिशाका किंचित् भी भान नहीं होता, पूर्वमें नहीं हुआ, और भविष्यकालमें भी नहीं होगा। हमने तो ऐसे ही जाना है, इसलिये तुम सबको भी इसीकी खोज करना है; फिर उसके बाद ही, दूसरा क्या जाननेकी जरूरत है, उस बातका पता चलता है।

१६९

बम्बई, माघ सुदी ७ रवि. १९४७

जिसे मु– पनेसे रहना पड़ता है ऐसे जिज्ञासु!

जीवके दो बड़े बंधन हैं—एक स्वच्छंद और दूसरा प्रतिबंध। जिसकी स्वच्छंदता हटानेकी इच्छा है, उसे ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये; तथा जिसकी प्रतिबंध हटानेकी इच्छा है, उसे सर्व-संगका त्यागी होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो बंधनका नाश न होगा। जिसका स्वच्छंद नष्ट हो

गया है, उसका प्रतिबंध भी अवसरके प्राप्त होनेपर नाश होता है; इतनी शिक्षा स्मरण करने योग्य है।

यदि व्याख्यान करना पड़े तो करना, परन्तु व्याख्यान करनेकी योग्यता अभीतक मुझमें नहीं है; और यही मुझे प्रतिबंध है—ऐसा समझते हुए उदासीन भावसे व्याख्यान करना। व्याख्यान न करना पड़े इसके लिये यथाशक्य श्रोतृवर्गको जितने रुचिकर प्रयत्न हो सकें उतने सब करना; किन्तु यदि वैसा करनेपर भी व्याख्यान करना ही पड़े तो उपरिनिर्दिष्ट उदासीन भावसे ही करना।

---

१७० बम्बई, माघ सुदी ९ भौम. १९४७

ज्ञान परोक्ष है किंवा अपरोक्ष, इस विषयको पत्रमें नहीं लिखा जा सकता; परन्तु सुधाकी धाराके पीछेका कुछ दर्शन हुआ है; और यदि कभी असंगताके साथ आपका सत्संग मिला तो वह अंतिम परिपूर्ण प्रकाश कर सकता है, क्योंकि उसे प्राय: सब प्रकारसे जान लिया है; और वही उसके दर्शनका मार्ग है। इस उपाधियोगमें भगवान् इस दर्शनको नहीं होने देंगे, इस प्रकार वे मुझे प्रेरित किया करते हैं; अतएव जिस समय एकांतवासी हो सकेंगे उस समय जान बूझकर भगवान्का रक्खा हुआ पड़दा थोड़े ही प्रयत्नसे हट जायगा।

---

१७१ बम्बई, माघ सुदी ११. गुरु १९४७

सत्को अभेदभावसे नमोनम:

दूसरी सब प्रवृत्तियोंकी अपेक्षा जीवको योग्यता प्राप्त हो, ऐसा विचार करना योग्य है; और उसका मुख्य साधन सब प्रकारके काम-भोगसे वैराग्यसहित सत्संग है।

सत्संग (समान वयवाले पुरुषोंका—समगुणी पुरुषोंका योग) में जिसको सत्का साक्षात्कार हो गया है ऐसे पुरुषके वचनोंका अनुशीलन करना चाहिये, और उसमेंसे योग्य काल आनेपर सत्की प्राप्ति होती है।

जीव अपनी कल्पनासे किसी भी प्रकारसे सत्को प्राप्त नहीं कर सकता। सजीवन मूर्त्ति प्राप्त होनेपर ही सत् प्राप्त होता है, सत् समझमें आता है, सत्का मार्ग मिलता है, और सत्पर लक्ष आता है; सजीवन मूर्तिके लक्षके बिना जो भी कुछ किया जाता है, वह सब जीवको बंधन ही है, यही हमारा हार्दिक अभिमत है।

यह काल सुलभबोधित्व प्राप्त होनेमें विघ्नरूप है, फिर भी दूसरे कालोंकी अपेक्षा अभी उसका विषमपना बहुत कुछ कम है; ऐसे समयमें जिससे वक्रपना और जड़पना प्राप्त होता है ऐसे मायारूप व्यवहारमें उदासीन होना ही श्रेयस्कर है........सत्का मार्ग तो कहीं भी दिखाई नहीं देता।

तुम सबको आजकल जो कोई जैनदर्शनकी पुस्तकें पढ़नेका परिचय रहता हो, उसमेंसे जिस भागमें जगत्का विशेष वर्णन किया हो उस भागके पढ़नेका लक्ष कम करना; तथा जीवने क्या नहीं किया, और उसे अब क्या करना चाहिये, इस भागके पढ़नेका और विचारनेका विशेष लक्ष रखना।

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहवासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी सफलताके लिये ही मिथ्या धर्म-वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबंधका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना; और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्संग महान् विघ्न है।

---

१७२ बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-वाचन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परन्तु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अवकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रक्खे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याण-कारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका बंधन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है; इस महालक्षको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएं किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चालू रखना।

---

१७३ बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

वचनावली

१. जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२. ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा सन्देह-रहित मानना।

३. उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये; यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है; तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनंतानुबंधी कषायका मूल है।

४. जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

५. जबतक प्रत्यक्ष-ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् उसकी आज्ञानुसार नहीं चला जाय, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति होना संभव नहीं।

६. ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वही कर सकता है जो एकनिष्ठासे तन, मन, धनकी आसक्तिका त्याग करके उसकी भक्तिमें लगे।

७. यद्यपि ज्ञानी लोग भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु उसको किये बिना मोक्षाभिलाषीको उपदेश नहीं लगता, तथा वह उपदेश मनन और निदिध्यासन आदिका हेतु नहीं होता, इसलिये मुमुक्षुओंको ज्ञानीकी भक्ति अवश्य करना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है।

८. ऋषभदेवजीने अपने अट्ठानवें पुत्रोंको शीघ्रसे शीघ्र मोक्ष जानेका यही मार्ग बताया था।

९. परीक्षित राजाको शुकदेवजीने यही उपदेश किया है।

१०. यदि जीव अनन्त कालतक भी अपनी इच्छानुसार चलकर परिश्रम करता रहे तो भी वह अपने आपसे ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अन्तर्मुहूर्तमें भी केवलज्ञान पा सकता है।

११. शास्त्रमें कही हुई आज्ञायें परोक्ष हैं, और वे जीवको अधिकारी होनेके लिये ही कही गई हैं; मोक्षप्राप्तिके लिये तो ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन होना चाहिये।

(२)

चाहे जैसे विकट मार्गसे भी यदि परमात्मामें परमस्नेह होता हो तो भी उसे करना ही योग्य है। सरल मार्ग मिलनेपर उपाधिके कारणसे तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकसरीखा स्नेह नहीं उभराता; इस कारण खेद रहा करता है, और बारम्बार वनवासकी इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा है कि प्रायः घर और वनमें आत्माको कोई भी भेद नहीं लगता, परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी बारम्बार जरूरत रहा करती है, जिससे कि उस समय परम स्नेहपर आवरण लाना पड़ता है, और ऐसे परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्तिके आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती।

यदि कदाचित् सब आत्माओंकी ऐसी ही इच्छा हो तो कैसी भी दीनतासे उस इच्छाको निवृत्त करना, किन्तु प्रेमभक्तिकी पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकता, और बारम्बार यही रटन रहनेसे हमेशा यही मन रहता है कि 'वनमें जाँय' 'वनमें जाँय'। यदि आपका निरंतर सत्संग रहा करे तो हमें घर भी वनवास ही है।

श्रीमद्भागवतमें गोपांगनाकी सुंदर आख्यायिका दी हुई है, और उनकी प्रेमभक्तिका वर्णन किया है। ऐसी प्रेमभक्ति इस कलिकालमें प्राप्त होना कठिन है, यद्यपि यह सामान्य कथन है, तथापि कलिकालमें निश्चय मतिसे यही रटन लगी रहे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र ही यह भक्ति प्रदान करता है। यह दशा बारम्बार याद आती है; और ऐसा उन्मत्तपना परमात्माको पानेका परमद्वार है; यही दशा विदेही थी।

भरतजीको हरिणके संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी, और उससे वे जड़भरतके भवमें असंग होकर

रहे थे। इसी कारणसे मुझे भी असंगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि असंगताके बिना परम दुःख होता है। अनंतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगता उससे भी अधिक हमें संग दुःखदायक लगता है। ऐसी बहुतसी अंतर्वृत्तियाँ हैं जो एक ही प्रवाहकी हैं, जो लिखी भी नहीं जातीं, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता; और आपका वियोग सदा खलता रहता है; कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं। भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं। अधिक क्या कहें? ईश्वरकी इच्छा ऐसी ही है, और उसे प्रसन्न रक्खे बिना छुटकारा नहीं; नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनमाना करें। परम..........के कारण प्रेमभक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रबल है।

---

१७४ बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस बातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है। असंगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है। जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे; हम तो आपकी चरण-रज हैं; और तीनों कालमें निरंजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे।

आज प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है। श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियाँ भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकलीं थीं; वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, वही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है; और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। सत्पुरुषकी चित्तवृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओंसे कहती है कि 'कोई माधव लो, हाँरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और बस यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं; इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषको प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकलीं हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देतीं हैं; कोई ग्राहक बनो, अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकलनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल-कमलमें वासुदेव-भगवान् मिल गये हैं। मक्खनका केवल नाममात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मथकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका असली सूक्ष्म स्वरूप

यही है, किन्तु उसको स्थूल बनाकर, व्यासजीने उसें इस रूपसे वर्णन किया है, और उसके द्वारा अपनी अद्भुत भक्तिका परिचय दिया है। इस कथाका और समस्त भागवतका अक्षर अक्षर केवल इस एकको ही प्राप्त करनेके उद्देशसे भरा पड़ा है; और वह (हमें) बहुत समय पहले समझमें आ गया है। आज बहुत ही ज्यादा स्मरणमें है, क्योंकि साक्षात् अनुभवकी प्राप्ति हुई है, और इस कारण आजकी दशा परम अद्भुत है। ऐसी दशासे जीव उन्मत्त हुए बिना न रहेगा। तथा वासुदेवहरि जान बूझकर कुछ समयके लिये अन्तर्धान भी हो जानेवाले लक्षणोंके धारक हैं; इसीलिये हम असंगता चाहते हैं; और आपका सहवास भी असंगता ही है, इस कारण भी वह हमें विशेष प्रिय है।

यहाँ सत्संगकी कमी है, और विकट स्थानमें निवास है। हरि-इच्छापूर्वक ही घूमने फिरनेकी वृत्ति रक्खी है, इसके कारण यद्यपि कोई खेद तो नहीं; परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सकता; यही चिंता निरन्तर रहा करती है।

अनेक अनेक प्रकारसे मनन करनेपर हमें यही दृढ़ निश्चय हुआ है कि भक्ति ही सर्वोपरि मार्ग है; और वह ऐसी अनुपम वस्तु है कि यदि उसे सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहकर की जाय तो वह क्षणभरमें मोक्ष दे सकती है।

विशेष कुछ लिखा नहीं जाता; परमानन्द है, परन्तु असत्संग है, अर्थात् सत्संग नहीं है।

(२)

किसी ब्रह्मरसके भोक्ताको कोई विरला योगी ही जानता है।

१७५

बम्बई, माघ वदी ३, १९४७

भेजी हुई वचनावलीमें आपकी प्रसन्नता होनेसे हमारी प्रसन्नताको उत्तेजना मिली। इसमें संतका अद्भुत मार्ग प्रकाशित किया गया है। यदि वह एक ही वृत्तिसे इन वाक्योंका आराधन करेगा, और उसी पुरुषकी आज्ञामें लीन रहेगा तो अनन्तकालसे प्राप्त हुआ परिभ्रमण मिट जायगा।

उसे मायाका विशेष मोह है, और वही मार्गके मिलनेमें महान् प्रतिबंध माना गया है, इसलिये मेरी उससे ऐसी वृत्तियोंको धीरे धीरे कम करनेकी प्रार्थना है।

१७६

बम्बई, माघ वदी ११ शुक्र. १९४७

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

जो सर्वत्र एकत्व (परमात्मस्वरूप) को ही देखता है, उसे मोह क्या और शोक क्या ?

यदि वास्तविक सुख जगत्की दृष्टिमें आया होता तो ज्ञानी पुरुषोंसे नियत किया हुआ मोक्ष-स्थान ऊर्ध्वलोकमें नहीं होता; परन्तु यह जगत् ही मोक्ष-स्थान होता।

यद्यपि यह बात सत्य ही है कि ज्ञानीको तो सर्वत्र ही मोक्ष है; फिर भी उस ज्ञानीको यह

---

(२)

कोई ब्रह्मरसना भोगी, कोई ब्रह्मरसना भोगी।
जाणे कोई वीरला योगी, कोई ब्रह्मरसना भोगी।

जगत् भी, जहाँ मायापूर्वक ही परमात्माका दर्शन है, कुछ विचारकर पग रखने जैसा लगता है; इसीलिये हम असंगताकी इच्छा करते हैं, अथवा आपके संगकी इच्छा करते हैं, यह योग्य ही है।

---

१७७ बम्बई, माघ वदी १३ रवि. १९४७

गाढ़ परिचयके लिये आपने कुछ नहीं लिखा, सो लिखें।

पारमार्थिक विषयमें हालमें मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जबतक हम असंग न होंगे, और उसके बाद उसकी इच्छा न होगी, तबतक हम प्रगट रीतिसे मार्गोपदेश न करेंगे; और सब महात्माओंका ऐसा ही रिवाज है; हम तो केवल दीन हैं। भागवतवाली बात हमने आत्मज्ञानसे जानी है।

---

१७८ बम्बई, माघ वदी १३ रवि. १९४७

आपको मेरे प्रति परम उल्लास होता है, और उस विषयमें आप बारम्बार प्रसन्नता प्रगट करते हैं; परन्तु हमारी प्रसन्नता अभीतक अपने ऊपर नहीं होती; क्योंकि जैसी चाहिये वैसी असंगदशासे नहीं रहा जाता; और मिथ्या प्रतिबंधमें वास रहता है। यद्यपि परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु अभी उसमें जबतक ईश्वरेच्छाकी सम्मति नहीं हुई तबतक मेरे विषयमें मन ही मनमें समझ रखना; और चाहे जैसे दूसरे मुमुक्षुओंको भी मेरा नाम लेकर कुछ न कहना। अभी हालमें हमें ऐसी दशासे ही रहना प्रिय है।

---

१७९ बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

यद्यपि किसी भी क्रियाका भंग नहीं किया जाता तो भी उनको वैसा लगता है, इसका कोई कारण होना चाहिये; उस कारणको दूर करना यह कल्याणरूप है।

परिणाममें 'सत्' को प्राप्त करानेवाली और प्रारंभमें 'सत्' की हेतुभूत ऐसी उनकी रुचिको प्रसन्नता देनेवाली वैराग्य-कथाका प्रसंग पाकर उनके साथ परिचय करोगे, तो उनके समागमसे भी कल्याण ही वृद्धिंगत होगा, और पहिला कारण भी दूर हो जायगा।

जिसमें पृथिवी आदिका विस्तारसे विचार किया है, ऐसे वचनोंकी अपेक्षा 'वैतालिक' अध्ययन जैसे वचन वैराग्यकी वृद्धि करते हैं, और उसमें दूसरे मतवाले प्राणीको भी अरुचि नहीं होती।

जो साधु तुम्हारा अनुकरण करते हों, उन्हें समय समयपर कहते रहना कि "धर्म उसीको कहा जा सकता है जो धर्म होकर परिणमे; ज्ञान उसीको कहा जा सकता है कि जो ज्ञान होकर परिणमे; यदि तुम मेरे कहनेका यह हेतु न समझो कि हम जो सब क्रियायें और वाचन इत्यादि करते हैं, वे मिथ्या हैं, तो मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ"। इस प्रकार कहकर उन्हें यह कहना चाहिये कि यह जो कुछ हम करते हैं, उसमें कोई ऐसी बात बाकी रह जाती है कि जिससे 'धर्म और ज्ञान' हमें अपने अपने रूपमें नहीं परिणमाते, तथा कषाय और

मिथ्यात्व (संदेह) मंद नहीं होते; इसलिये हमें जीवके कल्याणका पुनः पुनः विचार करना चाहिये; और उसका विचार करनेपर हम कुछ न कुछ फल पाये बिना न रहेंगे। हम लोग सब कुछ जाननेका तो प्रयत्न करते हैं, परन्तु हमारा 'संदेह' कैसे दूर हो, यह जाननेका प्रयत्न नहीं करते। और जबतक ऐसा न करेंगे तबतक सन्देह कैसे जा सकता है; और जबतक सन्देह है, तबतक ज्ञान भी नहीं हो सकता; इसलिये सन्देह हटानेका प्रयत्न करना चाहिये। वह संदेह यह है कि जीव भव्य है या अभव्य? मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि? आसानीसे बोध पानेवाला है या कठिनतासे बोध पानेवाला? निकट संसारी है या अधिक संसारी? जिससे हमें ये सब बातें मालूम हो सकें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारकी ज्ञान-कथाका उनसे प्रसंग रखना योग्य है।

परमार्थके ऊपर प्रीति होनेमें सत्संग ही सर्वोत्कृष्ट और अनुपम साधन है; परन्तु इस कालमें ऐसा संयोग मिलना बहुत ही कठिन है; इसलिये जीवको इस विकटतामें रहकर पार पानेमें विकट पुरुषार्थ करना योग्य है; और वह यह कि "अनादिकालसे जितना जाना है उतना सबका सब अज्ञान ही है; उस सबका विस्मरण करना चाहिये।"

'सत्' सत् ही है, सरल है, और सुगम है, उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु 'सत्को' बतानेवाला कोई 'सत्' चाहिये।

नय अनंत हैं। प्रत्येक पदार्थमें अनन्त गुण-धर्म-हैं; उनमें अनंत नय परिणमते हैं; इसलिये एक अथवा दो चार नयोंद्वारा वस्तुका सम्पूर्ण वर्णन कर देना संभव नहीं है; इसलिये नय आदिमें समतावान ही रहना चाहिये। ज्ञानियोंकी वाणी 'नय' में उदासीन रहती है; उस वाणीको नमस्कार हो!

---

१८० बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

(१)

नय अनन्त हैं; प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणोंसे, और अनन्त धर्मोंसे युक्त है। एक एक गुण और एक एक धर्ममें अनंत नयोंका परिणमन होता रहता है; इसलिये इस मार्गसे पदार्थका निर्णय करना चाहें तो नहीं हो सकता, इसका कोई दूसरा ही मार्ग होना चाहिये; बहुत करके इस बातको ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं; और वे नय आदि मार्गके प्रति उदासीन रहते हैं; इससे किसी नयका एकांत खंडन भी नहीं होता, और न किसी नयका एकान्त मण्डन ही होता है। जितनी जिसकी योग्यता है उस नयकी उतनी सत्ता ज्ञानी पुरुषोंको मान्य होती है। जिन्हें मार्ग प्राप्त नहीं हुआ ऐसे मनुष्य 'नय' का आग्रह करते हैं; और उससे विषम फलकी प्राप्ति होती है। जहाँ किसी भी नयका विरोध नहीं होता ऐसे ज्ञानियोंके वचनोंको हम नमस्कार करते हैं। जिसको ज्ञानीके मार्गकी इच्छा हो ऐसे प्राणीको तो नय आदिमें उदासीन रहनेका ही अभ्यास करना चाहिये; किसी भी नयमें आग्रह नहीं करना चाहिये; और किसी भी प्राणीको इस मार्गसे कष्ट न देना चाहिये; और जिसका यह आग्रह दूर हो गया है, वह किसी भी तरहसे प्राणियोंको क्लेश पहुँचानेकी इच्छा नहीं करता।

(२)

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भंगजाल, और नाना प्रकारके अनुयोग ये सब लक्षणारूप ही हैं; लक्ष तो केवल एक सच्चिदानन्द है।

---

१८१ बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

'सत्' कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है; और यही जीवका मोह है। 'सत्' जो कुछ है, वह 'सत् ही' है, वह सरल है, सुगम है; और उसकी सर्वत्र प्राप्ति हो सकती है; परन्तु जिसको भ्रांतिरूप आवरण-तम छाया हुआ है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? अंधकारके चाहे कितने भी भेद क्यों न करें किन्तु उनमें कोई ऐसा भेद नहीं आ सकता जो उजाला हो। जिसे आवरण-तिमिर व्याप्त है ऐसे प्राणीकी कल्पनामेंकी कोई भी कल्पना 'सत्' माल्म नहीं होती; और वह प्राणी 'सत्' के पासतक भी आ सके यह संभव नहीं है। जो 'सत्' है वह भ्रांति नहीं है, वह भ्रांतिसे सर्वथा व्यतिरिक्त (जुदा) है; कल्पनासे 'पर' (दूर) है; इसलिये जिसने उसको प्राप्त करनेका दृढ़ निश्चय किया है, उसे 'वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता,' ऐसा पहिले दृढ़ निश्चय-युक्त विचार करना चाहिये, और बादमें 'सत्' की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमें जाना चाहिये; ऐसा करनेसे अवश्य ही मार्गकी प्राप्ति होती है।

ये जो वचन लिखे हैं, वे सब मुमुक्षुओंको परमबन्धुके समान हैं, परमरक्षकके समान हैं, और उन्हें सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले हैं। इनमें निर्ग्रन्थ प्रवचनकी समस्त द्वादशांगी, षट्दर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व, और ज्ञानीके उपदेशका बीज संक्षेपसे कह दिया है; इसलिये फिर फिरसे उनकी सँभाल करना, विचारना, समझना, समझनेका प्रयत्न करना; इनको बाधा पहुँचानेवाले दूसरे प्रकारोंसे उदासीन रहना; और इन्हींमें ही वृत्तिका लय करना; तुम्हें और अन्य किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतिसे कहनेका हमारा यही एक मंत्र है। इसमें 'सत्' ही कहा है, यह समझनेके लिये अधिकसे अधिक समय अवश्य लगाना।

---

१८२ बम्बई, माघ वदी १३, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदभावसे नमोनमः

क्या लिखें? वह तो कुछ सूझता भी नहीं; क्योंकि दशा कुछ जुदी ही रहती है; फिर भी प्रसंग पाकर कोई सद्वृत्ति देनेवाली पुस्तक होगी तो भेजूँगा।

हमारे ऊपर तुम्हारी चाहे जैसी भी भक्ति क्यों न हो, तो भी बाकीके सब जीवोंके और विशेष करके धर्म-जीवोंके तो हम तीनों कालमें दास ही हैं। हालमें तो सबको इतना ही करना चाहिये कि पुराना छोड़े बिना तो छुटकारा ही नहीं; और यह छोड़ने योग्य ही है, यह भावना दृढ़ करना। मार्ग सरल है; पर प्राप्ति दुर्लभ है।

१८३

बम्बई, माघ वदी १९४७

सतको नमोनमः

'काम' शब्द वांछा अर्थात् इच्छा, और पंचेन्द्रियोंके विषयोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

'अनन्य' अर्थात् जिसके समान कोई दूसरा न हो अर्थात् सर्वोत्कृष्ट। 'अनन्यभक्तिभाव' अर्थात् जिसके समान कोई दूसरा नहीं ऐसा भक्तिपूर्वक उत्कृष्टभाव।

जिसके वचन-बलसे जीव निर्वाण-मार्गको पाता है, ऐसी सजीवन मूर्तिका योग यद्यपि जीवको पूर्वकालमें अनेक बार हो चुका है, परन्तु उसकी पहिचान नहीं हुई। जीवने पहिचान करनेका प्रयत्न शायद किया भी होगा, तथापि जीवको दृढ़ पकड़े रखनेवाली सिद्धि-योग आदि, ऋद्धि-योग आदि एवं इसी तरहकी दूसरी कामनाओंसे उसकी खुदकी दृष्टि मलिन थी; और यदि दृष्टि मलिन हो तो उससे सतमूर्तिके प्रति लक्ष न लगकर वह लक्ष अन्य वस्तुओंमें ही रहता है, जिससे पहिचान नहीं हो पाती; और जब पहिचान होती है तब जीवको कोई अपूर्व ही स्नेह पैदा हो जाता है, और वह ऐसा कि उस मूर्तिके वियोगमें उसे एक घड़ीभर आयु भोगना भी विडम्बना मालूम होती है, अर्थात उसके वियोगमें वह उदासीन भावसे उसीमें वृत्ति रखकर जीता है; और इसे दूसरे पदार्थोंका संयोग और मृत्यु ये दोनों समान ही हो जाते हैं। जब ऐसी दशा आ जाती है, तब जीव मार्गके बहुत ही निकट आ जाता है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसी दशा आनेमें मायाकी संगति बहुत ही विघ्नरूप है; परंतु इसी दशाको लानेका जिसका दृढ़ निश्चय है उसे प्रायः करके थोड़े ही समयमें वह दशा प्राप्त हो जाती है।

तुम सब लोग हालमें तो हमें एक प्रकारका बंधन करने लगे हो, उसके लिये हम क्या करें; यह कुछ भी नहीं सूझता। 'सजीवन मूर्ति' से मार्ग मिल सकता है, ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वयं अपने आपको ही बंधनमें डाल लिया है, और इस उपदेशका अर्थ तुमने हमारे ऊपर ही लगाना शुरू कर दिया। हम तो सजीवन मूर्तिके केवल दास हैं, उनकी मात्र चरण-रज हैं। हमारी ऐसी अलौकिक दशा भी कहाँ है कि जिस दशामें केवल असंगता ही रहती हो? हमारा उपाधियोग तो जैसा तुम प्रत्यक्ष देखते वैसा ही है।

ये दो अन्तकी बातें मैंने तुम सबोंके लिये लिखीं हैं। जिससे हमको अब कम बंधन हो, ऐसा करनेकी सबसे प्रार्थना है। दूसरी बात एक यह भी कहनी है कि तुम लोग हमारे विषयमें अब किसीसे कुछ भी न कहना। उदयकाल तुम जानते ही हो।

मुमुक्षु वै० योगमार्गके अच्छे परिचयी हैं, इतना ही जानता हूँ; योग्य जीव हैं। जिस 'पद' के साक्षात्कारके विषयमें तुमने पूँछा है वह उन्हें अभीतक साक्षात्कार नहीं हुआ है।

कुछ दिन पहिले उत्तर दिशामें विचरनेकी बात उनके मुखसे सुनी थी, किन्तु इस विषयमें इस समय कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। यद्यपि मैं तुम्हें इतना विश्वास दिला सकता हूँ कि उन्होंने तुम्हें मिथ्या नहीं कहा है।

१८४ बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ शनि. १९४७

पुराणपुरुषको नमोनमः

यह लोक त्रिविध तापसे आकुल व्याकुल है, और ऐसा दीन है कि मृगतृष्णाके जलको लेनेके लिये दौड़ दौड़ करके उससे अपनी तृषा बुझानेकी इच्छा करता है। वह अज्ञानके कारण अपने स्वरूपको भूल बैठा है, और इसके कारण उसे भयंकर परिभ्रमण प्राप्त हुआ है। समय समयपर वह अतुल खेद, ज्वर आदि रोग, मरण आदि भय, और वियोग आदि दुःखोंका अनुभव करता रहता है। ऐसी अशरणतावाले इस जगत्को एक सत्पुरुष ही शरण है; सत्पुरुषकी वाणीके बिना दूसरा कोई भी इस ताप और तृषाको शान्त नहीं कर सकता, ऐसा निश्चय है; अतएव फिर फिरसे हम उस सत्पुरुषके चरणोंका ध्यान करते हैं।

संसार सर्वथा असातामय है। यदि किसी प्राणीको जो अल्प भी साता दीख पड़ती है तो वह भी सत्पुरुषका ही अनुग्रह है। किसी भी प्रकारके पुण्यके बिना साताकी प्राप्ति नहीं होती; और उस पुण्यको भी सत्पुरुषके उपदेशके बिना कोई नहीं जान पाया। बहुत काल पूर्व उपदेश किया हुआ वह पुण्य आज अमुक थोड़ीसी रूढ़ियोंमें मान लिया गया है; इस कारण ऐसा माल्म होता है कि मानों वह ग्रंथ आदि द्वारा प्राप्त हुआ है, परन्तु वस्तुतः इसका मूल एक सत्पुरुष ही है; अतएव हम तो यही जानते हैं कि साताके एक अंशसे लेकर संपूर्ण आनन्दतककी सब समाधियोंका मूल एक सत्पुरुष ही है। इतनी अधिक सामर्थ्य होनेपर भी जिसको कोई भी स्पृहा नहीं, उन्मत्तता नहीं, अपनापन नहीं, गर्व नहीं, गौरव नहीं, ऐसे आश्चर्यकी प्रतिमारूप सत्पुरुषके नामको हम फिर फिरसे स्मरण करते हैं।

त्रिलोकके नाथ वशमें होनेपर भी वे किसी ऐसी ही अटपटी दशासे रहते हैं कि जिसकी सामान्य मनुष्यको पहिचान भी होना दुर्लभ है; ऐसे सत्पुरुषका हम फिर फिरसे स्तवन करते हैं।

एक समयके लिये भी सर्वथा असंगपनेसे रहना, यह त्रिलोकको वश करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक कठिन कार्य है; जो त्रिकालमें ऐसे असंगपनेसे रहता है, ऐसे सत्पुरुषके अंतःकरणको देखकर हम उसे परम आश्चर्यसे नमन करते हैं।

हे परमात्मन्! हम तो ऐसा ही मानते हैं कि इस कालमें भी जीवको मोक्ष हो सकता है; फिर भी जैसा कि जैन ग्रंथोंमें कहीं कहीं प्रतिपादन किया गया है कि इस कालमें मोक्ष नहीं होता, तो इस प्रतिपादनको इस क्षेत्रमें तू अपने पास ही रख, और हमें मोक्ष देनेकी अपेक्षा, हम सत्पुरुषके ही चरणका ध्यान करें, और उसीके समीपमें रहें, ऐसा योग प्रदान कर।

हे पुरुषपुराण! हम तुझमें और सत्पुरुषमें कोई भी भेद नहीं समझते; तेरी अपेक्षा हमें तो सत्पुरुष ही विशेष माल्म होता है; क्योंकि तू भी उसीके आधीन रहता है; और हम सत्पुरुषको पहिचाने बिना तुझे नहीं पहिचान सके; तेरी यही दुर्घटता हमें सत्पुरुषके प्रति प्रेम उत्पन्न करती है; क्योंकि तुझे वश करनेपर भी वे उन्मत्त नहीं होते; और वे तुझसे भी अधिक सरल हैं, इसलिये अब तू जैसा कहे वैसा करें।

हे नाथ! तू बुरा न मानना कि हम तुझसे भी सत्पुरुषका ही अधिक स्तवन करते हैं; समस्त

जगत् तेरा ही स्तवन करता है; तो फिर हम भी तेरे ही सामने बैठे रहेंगे, फिर तुझे स्तवनकी कहाँ चाहना है, और उसमें तेरा अपमान भी कहाँ हुआ ?

(२) ज्ञानी पुरुष त्रिकालकी बात जाननेपर भी उसे प्रगट नहीं करते, ऐसा जो आपने पूँछा है, इसके संबंधमें ऐसा मालूम होता है कि ईश्वरीय इच्छा ही ऐसी है कि किसी भी पारमार्थिक बातके सिवाय ज्ञानी लोग त्रिकालसंबंधी दूसरी बात प्रसिद्ध न करें; तथा ज्ञानीकी आंतरिक इच्छा भी ऐसी ही मालूम होती है। जिसको किसी भी प्रकारकी आकांक्षा नहीं है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा, इसलिये जो कुछ भी उदयमें आता है उतना ही वे करते हैं। हमें तो कहीं वैसा ज्ञान है नहीं, जिससे तीनों काल सब प्रकारसे जाने जा सकें; और हमें ऐसे ज्ञानका कोई विशेष लक्ष भी नहीं है। हमें तो ऐसा जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी भक्ति और असंगता प्रिय है, यही निवेदन है।

१८५

बम्बई, फाल्गुन सुदी ५ रवि. १९४७

अभेद दशाके आये बिना जो प्राणी इस जगत्की रचना देखना चाहते हैं, वे इसमें फँस जाते हैं। ऐसी दशा प्राप्त करनेके लिये उस प्राणीको इस रचनाके कारणमें प्रीति करनी चाहिये; और अपनी अहंरूप भ्रांतिका परित्याग करना चाहिये। सब प्रकारसे इस रचनाके उपभोगकी इच्छा त्यागनी ही योग्य है; और ऐसा होनेके लिये सत्पुरुषके शरण जैसी एक भी औषधि नहीं। इस निश्चय वार्ताको बिचारे मोहांध प्राणी नहीं जानते, इस कारण तीनों तापसे उन्हें जलते देखकर परमकरुणा आती है, और बरबस यह उद्गार मुँहसे निकल पड़ता है कि हे नाथ! तू अनुग्रह करके इन्हें अपनी गतिमें भक्ति प्रदान कर।

उदयकालके अनुसार चलते हैं। यदि कदाचित् मनोयोगके कारण इच्छा उत्पन्न हो जाय तो यह दूसरी बात है, परन्तु हमें तो ऐसा मालूम होता है कि इस जगत्के प्रति हमारा परम उदासीन भाव रहता है; यदि यह सब सोनेका भी हो जाय तो भी हम तो इसे तृणवत् ही मानते हैं; और परमात्माकी विभूतिमें ही हमारी भक्ति केन्द्रित है।

आज्ञांकित.

१८६

बम्बई, फाल्गुन सुदी ८ १९४७

ये प्रश्न ऐसे पारमार्थिक हैं कि मुमुक्षु पुरुषको उनका परिचय करना चाहिये। हजारों पुस्तकोंके पाठीको भी ऐसे प्रश्न नहीं उठते, ऐसा हम समझते हैं। उनमें भी प्रथम नंबरके प्रश्न (जगत्के स्वरूपमें मतमतांतर क्यों है ?) को तो ज्ञानी पुरुष अथवा उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले पुरुष ही उदित कर सकते हैं। यहाँ संतोषजनक निवृत्ति नहीं रहती, इसलिये ऐसी ज्ञानवार्ता लिखनेमें जरा विलम्ब करनेकी जरूरत होती है। अन्तिम प्रश्न आपने हमारे वनवासके विषयमें पूँछा है; यह प्रश्न भी ऐसा है जो ज्ञानीकी अंतर्वृत्ति जाननेवाले पुरुषके सिवाय शायद ही किसी दूसरेके द्वारा पूँछा जा सके।

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं। कलिकालमें यदि परमात्माको किसी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं। हमें इस कालमें आपका सहारा मिला, और उसीसे हम जीवित हैं।

---

१८७ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

'सत्' सत् है, सरल है, सुगम है; उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है।

'सत्' है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह वाणीसे अकथ्य है; उसकी प्राप्ति होती है; और उसकी प्राप्तिका उपाय है।

सभी सम्प्रदायों एवं दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक 'सत्' ही है। वाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है; जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मालूम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।

सब कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता; वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है; उसके अनेक नये नये रूप होते हैं; अनेक स्थितियाँ पैदा होती हैं; और अनेक लय होती जाती हैं; एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मालूम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं। महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीपर अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है; परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप 'सत्' नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपसे वर्णन करके उस समय भ्रांति दूर की गई है; और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है; ऐसा समझमें आता है। बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रांतिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे विविधतापूर्ण कथनसे तंग आकर 'सत्' की तरफ झुकता है। बहुत करके सब मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है। इस जगत्के बारम्बार भ्रांतिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्रांति पाते हैं कि और वस्तुका स्वरूप क्या है? इस तरह जो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ? और मुझे कल्याणकारक क्या है?' ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रांतिका ही विषय मानकर, 'जहाँसे 'सत्' की प्राप्ति होती है ऐसे संतकी शरण बिना छुटकारा नहीं,' ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर 'सत्' पाते हैं और स्वयं सत्रूप हो जाते हैं।

जनक विदेही संसारमें रहनेपर भी विदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है; तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है; चाहे जैसा कर्मका उदय क्यों न आ जाय फिर भी उसको तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती। जिनको देहतकका भी अहंपना दूर हो गया है, ऐसे उस महाभाग्यकी देह भी मानों आत्मभावसे ही रहती थी, तो फिर उनकी दशा भेदवाली कैसे हो सकती है?

श्रीकृष्ण महात्मा थे। वे ज्ञानी होनेपर भी उदयभावसे संसारमें रहे थे, इतना तो जैन ग्रंथोंसे

भी जाना जा सकता है, और वह यथार्थ ही है; तथापि उनकी गतिके संबंधमें जो भेद बताया गया है, उसका कुछ जुदा ही कारण है।

स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योग-मार्ग है। उसमें भी जिनको दूरंदेशी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। यह प्रतीति सर्वकालमें प्राणियोंको दुर्लभ ही रहती है। ज्ञान-मार्गमें इस विशेष बातका उल्लेख नहीं किया, परन्तु ये सब हैं जरूर।

जितने स्थानमें मोक्ष बताई गई है वह सत्य है। कर्मसे, भ्रांतिसे, अथवा मायासे छूटनेका नाम ही मोक्ष है; यही मोक्ष शब्दकी व्याख्या है।

जीव एक भी है, और अनेक भी है।

१८८

बम्बई, फाल्गुन वदी १ गुरु. १९४७

"एक देखिये जानिये" इस दोहेके विषयमें आपने लिखा है। इस दोहेको हमने आपको निःशंकताकी दृढ़ता होनेके लिये नहीं लिखा था; परन्तु यह दोहा स्वाभाविक तौरसे हमें प्रशस्त लगा इसलिये इसे आपको लिख भेजा था। ऐसी छौं तो गोपांगनाओंमें थी। श्रीमद्भागवतमें महात्मा व्यासने वासुदेव भगवान्‌के प्रति गोपियोंकी प्रेम-भक्तिका वर्णन किया है, वह परम आल्हादक और आश्चर्यकारक है।

नारद-भक्तिसूत्र नामका एक छोटासा शिक्षाशास्त्र महर्षि नारदजीका रचा हुआ है। उसमें प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है।

१८९

बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध. १९४७

श्रीमद्भागवत परमभक्तिरूप ही है। इसमें जो जो वर्णन किया गया है, वह सब केवल लक्षको सूचित करनेके लिये है।

यदि मुनिसे सर्वव्यापक अधिष्ठान—आत्माके विषयमें पूँछा जाय तो उनसे लक्षरूप कुछ भी उत्तर नहीं मिल सकता; और कल्पित उत्तरसे कार्य-सिद्धि नहीं होती। आपको ज्योतिष आदिकी भी हालमें इच्छा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह कल्पित है; और कल्पितपर हमारा कुछ भी लक्ष नहीं है।

१९०

बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध. १९४७

परमात्माकी कृपासे परस्पर समागम लाभ हो, ऐसी मेरी इच्छा है।

यहाँ उपाधियोग विशेष रहता है, तथापि समाधिमें योगकी अप्रियता कभी न हो, ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा मालूम होता है।

१९१

बम्बई, फाल्गुन वदी १० शनि. १९४७

आज जन्मकुंडलीके साथ आपका पत्र मिला। जन्मकुंडलीके संबंधमें अभी उत्तर नहीं मिल

सकता। भक्तिविषयक प्रश्नोंका उत्तर प्रसंग पाकर लिखूँगा। हमने आपको जिस विस्तारपूर्ण पत्रमें "अधिष्ठान" के संबंधमें लिखा था, वह आपसे भेंट होनेपर ही समझमें आ सकता है।

"अधिष्ठान" अर्थात् जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई हो, जिसमें वह स्थिर रहे, और जिसमें वह लय पावे। "जगत्का अधिष्ठान" का अर्थ इसी व्याख्याके अनुसार ही समझना।

जैनदर्शनमें चैतन्यको सर्वव्यापक नहीं कहा है। इस विषयमें आपके जो कुछ भी लक्षमें हो उसे लिखें।

---

१९२ बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि. १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका यही हेतु है कि यह विषय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है; और पारमार्थिक ही सत्य है, और उसीकी ही रटन लगी हुई है।

हालमें ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझा विशेष रख रक्खा है; ऐसे करनेमें उसकी इच्छाको सुखरूप ही मानता हूँ। जैनग्रंथ इस कालको पंचमकालके नामसे कहते हैं, और पुराणग्रंथ इसे कलिकालके नामसे कहते हैं; इस तरह इस कालको कठिन ही काल कहा गया है। उसका यही हेतु है कि इस कालमें जीवको 'सत्संग और सत्शास्त्र' का संयोग मिलना अति कठिन है, और इसीलिये इस कालको ऐसा उपनाम दिया गया है। हमें भी पंचमकाल अथवा कलियुग हालमें तो अनुभव दे रहा है। हमारा चित्त अतिशय निस्पृह है, और हम जगत्में सस्पृह होकर रह रहे हैं; यह सब कलियुगकी ही कृपा है।

---

१९३ बम्बई, फाल्गुन वदी १४ बुध. १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः॥

'मैं कर्त्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,' इत्यादि रूपसे रहनेवाला जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, और जिसने सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जान लिया है, उसका मन जहाँ कहीं भी जाता है, वहाँ वहाँ उसको समाधि ही है।

कई बार आपके विस्तृत पत्र मिलते हैं, और ये पत्र पढ़कर पहिले तो आपके समागममें ही रहनेकी इच्छा होती है; तथापि····कारणसे उस इच्छाका किसी भी तरहसे विस्मरण करना पड़ता है; तथा पत्रका सविस्तर उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, तो वह इच्छा भी बहुत करके शायद ही पूर्ण हो पाती है। इसके दो कारण हैं:—एक तो यह है कि इस विषयमें अधिक लिखने योग्य दशा नहीं रही; और दूसरा कारण उपाधियोग है। उपाधियोगकी अपेक्षा विद्यमान दशावाला कारण अधिक बलवान है। यह दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण मन अन्य विषयमें प्रवेश नहीं करता, और उसमें भी परमार्थके विषयमें लिखनेके लिये तो केवल शून्य जैसा हो जाया करता है; इस विषयमें लेखन-

शक्ति तो बहुत ही अधिक शून्य हो गई है। हाँ, वाणी प्रसंग पाकर अब भी कुछ कार्य कर सकती है, और उससे आशा रहती है कि समागम होनेपर ज़रूर ईश्वर कृपा करेंगे।

वाणी भी जैसी पहिले क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अब नहीं माल्म होती। लेखन-शक्तिके शून्यता पाने जैसी हो जानेका एक कारण यह भी है कि चित्तमें उदित हुई बात बहुत नयोंसे युक्त होती है, और वे सब नय लिखनेमें नहीं आ सकते; जिससे चित्त विरक्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके विषयमें प्रश्न किया था। इस संबंधमें अधिक बात तो समागम होनेपर ही हो सकती है; और बहुत करके सब बातोंके लिये समागम ही ठीक माल्म होता है, तो भी बहुत ही संक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एक रूप हो जाना (!) यह पराभक्तिकी अन्तिम हद है। एक ऐसी ही तल्लीनताका रहना ही पराभक्ति है। परम महात्मा गोपांगनायें महात्मा वासुदेवकी भक्तिमें इसी प्रकारसे लीन रही थीं। परमात्माको निरंजन और निर्देहरूपसे चितवन करनेपर जीवको ऐसी तल्लीनता प्राप्त करना अति कठिन है, इसलिये जिसको परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस पराभक्तिका एकतम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष होनेसे उसके हृदयमें विराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही पराभक्ति है। ज्ञानी पुरुष और परमात्मामें बिल्कुल भी अन्तर नहीं है; और जो कोई अन्तर मानता है, उसे मार्गकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहिचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये सब प्रकारसे भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्यमूर्ति—ज्ञानीरूप परमात्माकी—को नमस्कार आदि भक्तिसे लगाकर पराभक्तिके अंततक एक तल्लीनतासे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका लक्ष है। परमात्मा ही इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है, ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उदित होती है, और वह भक्ति क्रम क्रमसे पराभक्तिरूप हो जाती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें, भगवद्गीतामें बहुतसे भेद बता करके इसी लक्षकी प्रशंसा की है; अधिक क्या कहें? ज्ञानी—तीर्थंकरदेवमें लक्ष होनेके लिये जैनधर्ममें भी पंचपरमेष्ठी मंत्रमें "नमो अरिहंताणं" पदके बाद ही सिद्धको नमस्कार किया है; यही भक्तिके बारेमें यह सूचित करता है कि प्रथम ज्ञानी पुरुषकी भक्ति करो; यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

दूसरा एक प्रश्न (एकसे अधिक बार) आपने ऐसे लिखा था कि व्यवहारमें व्यापार आदिके संबंधमें इस वर्ष जैसा चाहिये वैसा लाभ नहीं दीखता; और कठिनाई रहा करती है। जिसको परमात्माकी भक्ति ही प्रिय है ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनाई न हो तो फिर उसे सच्चे परमात्माकी ही भक्ति नहीं है, ऐसा समझना चाहिये; अथवा जान बूझकर परमात्माकी इच्छारूप मायाने ऐसी कठि-नाईयोंको भेजनेके कार्यका विस्मरण किया समझना चाहिये। जनक विदेही और महात्मा कृष्णके विषयमें मायाका विस्मरण हुआ माल्म होता है; तथापि ऐसा नहीं है। जनक विदेहीकी कठिनाईके संबंधमें यहाँ कहनेका मौका नहीं है, क्योंकि वह कठिनाई अप्रगट कठिनाई है, और महात्मा कृष्णकी संकटरूप कठिनाई प्रगट ही है। इसी तरह उनकी अष्टसिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही हैं; तथापि कठिनाई तो थी ही और होनी भी चाहिये। यह कठिनाई मायाकी है, और

परमात्माके लक्षकी दृष्टिसे तो यह सरलता ही है; और ऐसा ही हो। ऋभु राजाने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया; परमात्माने उसे देहधारीके रूपमें दर्शन दिया, और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर ऋभु राजाने वर माँगा कि हे भगवन्! आपने जो ऐसी राज्यलक्ष्मी मुझे दी है, वह बिल्कुल भी ठीक नहीं; यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मीका फिरसे मुझे स्वप्न भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कह कर स्वधामको पधार गये।

कहनेका आशय यह है कि ऐसा ही योग्य है; कठिनता और सरलता, साता और असाता ये भगवान्के भक्तको सब समान ही हैं। और सच पूँछो तो कठिनाई और असाता तो उसके लिये विशेष अनुकूल हैं, क्योंकि वहाँ मायाका प्रतिबंध दृष्टिगत नहीं होता।

आप तो यह बात जानते ही हैं; तथा कुटुम्ब आदिके विषयमें कठिनता होना ही ठीक नहीं है, यदि ऐसा लगता हो तो उसका कारण यही है कि परमात्मा ऐसा कहते हैं कि 'तुम अपने कुटुम्बके प्रति स्नेह रहित होओ, और उसके प्रति समभावी होकर प्रतिबंध रहित बनो, वह तुम्हारा है ऐसा न मानो, और प्रारब्ध योगके कारण ऐसा माना जाता है; उसके हटानेके लिये ही मैंने यह कठिनाई भेजी है'। अधिक क्या कहें? यह ऐसा ही है।

१९४

बम्बई, फाल्गुन १९४७

सत्स्वरूपको अभेद भक्तिसे नमस्कार

वासनाके उपशम करनेके लिये उनकी सूचना है; और उसका सर्वोत्तम उपाय तो ज्ञानी पुरुषका योग मिलना ही है। दृढ़ मुमुक्षुता हो और कुछ कालतक वैसा योग मिला हो तो जीवका कल्याण हो जाय।

तुम सब सत्संग, सत्शास्त्र आदिके विषयमें अभी कैसे (योगसे) रहते हो, यह लिखना। इस योगके लिये प्रमादभाव करना बिलकुल भी योग्य नहीं है। हाँ, यदि पूर्वका कोई गाढ़ प्रतिबंध हो तो आत्मा इस विषयमें अप्रमत्त हो सकती है। तुम्हारी इच्छापूर्तिके लिये कुछ भी लिखना चाहिये, इस कारण प्रसंग मिलनेपर लिखता हूँ। बाकी तो अभी हालमें सत्कथा लिखी जा सके, ऐसी दशा (इच्छा?) नहीं है।

१९५

बम्बई, फाल्गुन १९४७

अनंतकालसे जीवको असत् वासनाका अभ्यास है। उसमें सत्का संस्कार एकदम स्थित नहीं होता। जैसे मलिन दर्पणमें जैसा चाहिये वैसा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, वैसे ही असत् वासनायुक्त चित्तमें भी सत्का संस्कार योग्य प्रकारसे प्रतिबिम्बित नहीं होता; कुछ अंशसे ही होता है। वहाँ जीव फिर अपने अनंतकालके मिथ्या अभ्यासके विकल्पमें पड़ जाता है, और इस कारण उन सत्के अंशोंपर भी कचित् आवरण छा जाता है। सत्संबंधी संस्कारोंकी दृढ़ताके लिये सब प्रकारकी

लोक-लज्जाकी उपेक्षा करके सत्संगका परिचय करना ही श्रेयस्कर है। किसी भी बड़े कारणकी सिद्धिमें लोक-लज्जाका तो सब प्रकारसे त्याग करना ही पड़ता है। सामान्यतः सत्संगका लोक-समुदायमें तिरस्कार नहीं है, जिससे लोक-लज्जा दुःखदायक नहीं होती; केवल चित्तमें सत्संगके लाभका विचार करके निरंतर अभ्यास करते रहें तो परमार्थविषयक दृढ़ता होती है।

---

१९६ बम्बई, चैत्र सुदी ५ सोम. १९४७

एक पत्र मिला, जिसमें कि 'बहुतसे जीवोंमें योग्यता तो है परन्तु मार्ग बतानेवाला कोई नहीं,' इत्यादि बात लिखी है। इस विषयमें पहिले आपको बहुत करके खुलासा किया था, यद्यपि वह कुछ मंद ही था; तथापि आपमें अत्यधिक परमार्थकी उत्सुकता है, इस कारण वह खुलासा आपको विस्मरण हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

फिर भी आपको स्मरण करनेके लिये इतना लिखता हूँ कि जबतक ईश्वरेच्छा न होगी तबतक हमसे कुछ भी न हो सकेगा। एक तुच्छ तृणके दो टुकड़े करनेकी भी सत्ता हममें नहीं है। अधिक क्या कहें!

आप तो करुणामय हैं। फिर भी आप हमारी करुणाके संबंधमें क्यों लक्ष नहीं देते, और ईश्वरको क्यों नहीं समझाते!

---

१९७ बम्बई, चैत्र सुदी ७ बुध. १९४७.

महात्मा कबीरजी तथा नरसी मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत, और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निस्पृह थी। ऐसी दुःखी स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये—व्यवहारके लिये परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरेच्छानुसार व्यवहार चलता गया है, तथापि उनकी दरिद्रावस्था आजतक जगत्प्रसिद्ध ही है; और यही उनका सबल माहात्म्य है। परमात्माने इनका 'परचा' पूरा किया है, और वह भी इन भक्तोंकी इच्छाके विरुद्ध जाकर किया है; क्योंकि वैसी भक्तोंकी इच्छा ही नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें भक्तिके रहस्यकी प्राप्ति भी न हो। आप भले ही हजारों बातें लिखें परन्तु जबतक आप निस्पृही नहीं हैं (अथवा न हों) तबतक सब विडंबना ही है।

---

१९८ बम्बई, चैत्र सुदी ९ शुक्र. १९४७

परेच्छानुचारीके शब्दभेद नहीं होता

(१) मायाका प्रपंच प्रतिक्षण बाधा करता है। उस प्रपंचके तापकी निवृत्ति मानों किसी कल्पद्रुमकी छायासे होती है, अथवा तो केवल-दशासे होती है। इन दोनोंमें भी कल्पद्रुमकी छाया प्रधान है; इसके सिवाय तापकी निवृत्ति नहीं होती; और इस कल्पद्रुमको वास्तविकरूपसे पहिचान-

नेके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधा करनेवाला यह मायाप्रपंच है, जिसका परिचय ज्यों ज्यों कम हो वैसा आचरण किये बिना योग्यताका आवरण भंग नहीं होता। पग पगपर भयपूर्ण अज्ञान-भूमिमें जीव बिना विचारे ही करोड़ों योजन तक चलता चला जाता है; वहाँ योग्यताका अवकाश कहाँसे मिल सकता है? ऐसा न होनेके लिए, किये हुए कार्यके उपद्रवको जैसे बने वैसे शान्त करके (इस विषयकी) सर्व प्रकारसे निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें आनेका प्रयत्न करना ही उचित है। यदि सर्वथा लाचारी हो तो व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यवहारको प्रारब्धका उदय समझकर केवल निस्पृह-बुद्धिसे करना चाहिये। ऐसे व्यवहारको ही योग्य व्यवहार मानना। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

(२) कार्यरूपी जालमें आ फँसनेके बाद प्रायः प्रत्येक जीवको पश्चात्ताप होता है; कार्यके जन्म होनेके पहिले ही विचार हो जाय और वह दृढ़ रहे, ऐसा होना बहुत ही कठिन है—ऐसा जो विचक्षण मनुष्य कहते हैं वह यथार्थ ही है। पश्चात्ताप करनेसे कार्यका आया हुआ परिणाम अन्यथा नहीं होता, किन्तु किसी ऐसे ही दूसरे प्रसंगमें उससे उपदेश अवश्य मिल सकता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और केवल मायाकी प्रबलताका विचार करना यही उत्तम है। मायाका स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें 'सत्' प्राप्त ज्ञानी पुरुषको भी रहना मुश्किल है, तो फिर जिसमें अभी मुमुक्षुताके अंशोंकी भी मलिनता है, ऐसे पुरुषको उसके स्वरूपमें स्थिर रहना अत्यन्त कठिन, संभ्रममें डालनेवाला एवं चलायमान करनेवाला हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है—ऐसा जरूर मानना।

---

१९९ बम्बई, चैत्र सुदी ९ शुक्र. १९४७.

जम्बूस्वामीका दृष्टान्त प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्दकारक लिखा गया है।

लुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी, चोरोंद्वारा अपहरण हो जानेके कारण जम्बूका त्याग है, ऐसी लोक-प्रवाहकी मान्यता परमार्थके लिये कलंकरूप है, ऐसा जो महात्मा जंबूका आशय था वह सत्य था।

इस प्रकार यहाँ इस बातका अन्त करके अब आपको प्रश्न होगा कि चित्तकी मायाके प्रसंगोंमें आकुल-व्याकुलता हो, और उसमें आत्मा चिंतित रहा करे, क्या यह ईश्वर-प्रसन्नताका मार्ग है? तथा अपनी बुद्धिसे नहीं, किन्तु लोक-प्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकयुक्त होना, क्या यह वास्तविक मार्ग है? क्या हम आकुल होकर कुछ कर सकते है? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास रखनेका क्या फल हुआ?

निस्पृह पुरुष क्या ज्योतिष जैसे कल्पित विषयको सांसारिक प्रसंगमें लक्ष करते होंगे? हालमें तो हमारी यही इच्छा है कि आप, हम ज्योतिष जानते हैं अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न मानें तो ठीक हो।

---

२०० बम्बई, चैत्र सुदी १० शनि. १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

वह दशा जिसमें अपना और पराया कुछ भी भेदभाव नहीं रहता—उसकी प्राप्ति अब समीप ही है, (इस देहमें है); और उसके कारण परेच्छासे रहते हैं। पूर्वमें जिस जिस विद्या, बोध, ज्ञान, और क्रियाकी प्राप्ति हो गई है, उन सबको इस जन्ममें ही विस्मरण करके निर्विकल्प हुए बिना छुटकारा नहीं; और इसी कारण इस तरहसे रहते हैं; तथापि आपकी अत्यधिक आकुलता देखकर यत्किंचित् आपको उत्तर देना पड़ा है; और वह भी स्वेच्छासे नहीं दिया है। ऐसा होनेसे आपसे प्रार्थना है कि इन सब मायायुक्त विद्या अथवा मायायुक्त मार्गके संबंधमें आपकी तरफसे मेरी दूसरी दशा होनेतक स्मरण न दिलाया जाय, यही उत्तम है।

---

२०१ बम्बई, चैत्र सुदी १४ गुरु. १९४७

ज्ञानीकी परिपक्व अवस्था (दशा) होनेपर राग-द्वेषकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, ऐसी हमारी मान्यता है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसे होने देना, यह भक्तिमानके लिये सुख देनेवाली बात है।

---

२०२ बम्बई, चैत्र सुदी १५ गुरु. १९४७

परमार्थमें नीचेकी बातें विशेष उपयोगी हैं:—

१. पार होनेके लिये जीवको पहिले क्या जानना चाहिये ?

२. जीवके परिभ्रमण करनेमें मुख्य कारण क्या है ?

३. वह कारण किस तरह दूर हो सकता है ?

४. उसके लिये सुगमसे सुगम अर्थात् अल्पकालमें ही फल देनेवाला उपाय कौनसा है ?

५. क्या ऐसा कोई पुरुष है कि जिससे इस विषयका निर्णय हो सके ? क्या तुम मानते हो इस कालमें कोई ऐसा पुरुष होगा ? और मानते हो तो किन कारणोंसे ? ऐसे पुरुषके कौनसे लक्षण हो सकते हैं ? वर्तमानमें ऐसा पुरुष तुम्हें किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

६. क्या यह हो सकता है कि सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीवको मार्ग न मिले ? ऐसा हो तो उसका क्या कारण है ? यदि इसमें जीवकी अयोग्यता जान पड़े तो वह योग्यता किस विषयकी है ?

७............के संगसे योग्यता आनेपर क्या उसके पाससे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है ?

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता बहुत बलवान कारण है। ईश्वरेच्छा बलवान है और सुखकारक है। बारम्बार यही शंका मनमें उठा करती है कि क्या बंधनहीन कभी बंधनमें फँस सकता है ? आपकी इस विषयमें क्या राय है ?

२०३

बम्बई, चैत्र वदी ३ रवि. १९४७

उस पूर्णपदकी ज्ञानी लोग परम प्रेमसे उपासना करते हैं

लगभग चार दिन पहले आपका पत्र मिला। परमस्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। सद्वृत्तियाँ रखनेकी आपकी इच्छा रहती है—यह पढ़कर बारम्बार आनन्द होता है। चित्तकी सरलताका वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होना परम दुर्लभ है; और उसकी प्राप्तिमें परम कारण-रूप 'सत्संग' का प्राप्त होना तो और भी परम दुर्लभ है। महान् पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवको 'सत्संग' का योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे ही कालको भी कठिन कहा है। चौदह राजू लोक मायामय अग्निसे प्रज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि रच-पच रही है, और उससे जीव भी उस त्रिविध तापरूपी अग्निसे जला करता है; उसके लिये परमकारुण्य मूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है; तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो गई है।

परन्तु इसी वस्तुका चिंतवन रखना। 'सत्' में प्रीति, साक्षात् 'सत्' रूप संतमें प्रीति, और उसके मार्गकी अभिलाषा—यही निरन्तर स्मरण रखने योग्य है; और इनके स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि चरित्रवाली पुस्तकें, वैराग्ययुक्त सरल चित्तवाले मनुष्योंका संग और अपनी चित्त-शुद्धि—ये सुन्दर कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

२०४

बम्बई, चैत्र वदी ७ गुरु. १९४७

आप्युं सौने ते अक्षरधामरे

यद्यपि काल बहुत उपाधि संयुक्त जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार चलना श्रेयस्कर और योग्य है, इसलिये जैसे चल रहा है, वैसे चाहे उपाधि हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक; हमें तो दोनों समान ही हैं।

ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर ही वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेदरूप 'सत्' सर्वत्र है।

२०५

बम्बई, चैत्र वदी १४ गुरु १९४७

जिसे लगी है, उसीको ही लगी है, और उसीने उसे जानी है, और वही "पी पी" पुकारता फिरता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय? जहाँ कि वाणीका भी प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहें? जिसे लगी है उसीको ही लगी है। उसीके चरणकी शरण संगसे मिलती है; और जब मिल जाती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं; तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बड़ा बलवान है!

२०६

बम्बई, चैत्र १९४७

सुदृढ़ स्वभावसे आत्मार्थका प्रयत्न करना। आत्म-कल्याण प्राप्त करनेमें प्रायः प्रबल परिषहोंके बारम्बार आनेकी संभावना है, परन्तु यदि उन परिषहोंको शांत चित्तसे सह लिया जाय तो दीर्घकाल-में हो सकने योग्य कल्याण बहुत अल्पकालमें ही सिद्ध हो जाता है।

तुम सब ऐसे शुद्ध आचरणसे रहना कि जिससे तुमको काल बीतनेपर, विषम दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योंमेंसे बहुतोंको, अपनी उस दृष्टिपर पश्चात्ताप करनेका समय आये।

धैर्य रखकर आत्म-कल्याणमें निर्भय रहना। निराश न होना। आत्मार्थमें प्रयत्न करते रहना।

२०७

बम्बई, वैशाख सुदी ७ शुक्र. १९४७

परब्रह्म आनंदमूर्त्ति हैं; हम उसका तीनों कालोंमें अनुग्रह चाहते हैं

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है। परब्रह्म-विचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है। कभी कभी तो उसके लिये आनन्दकी किरणें बहुत बहुत स्फुरित होने लगती हैं और कुछकी कुछ (अभेद) बात समझमें आती हैं; परन्तु वह ऐसी है जो किसीसे कही नहीं जा सकती; हमारी यह वेदना अथाह है। वेदनाके समय कोई न कोई साता पूँछनेवाला चाहिये, ऐसा व्यावहारिक मार्ग है; परन्तु हमें इस परमार्थ-मार्गमें साता पूँछनेवाला कोई नहीं मिलता; और जो है भी उसका वियोग रहता है।

२०८

बम्बई, वैशाख वदी ३, १९४७

विरहको भी सुखदायक मानना।

जैसे हरिके प्रति विरहाग्निको जलानेसे उसकी साक्षात् प्राप्ति होती है, वैसे ही संतके विरहानु-भवसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है। ईश्वरेच्छासे अपने संबंधमें भी ऐसा ही समझना।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है; उसमें जिसकी निरन्तर लौ लगी रहती है, ऐसे पुरुषोंसे भारत क्षेत्र प्रायः शून्य जैसा हो गया है; माया-मोह ही सर्वत्र दिखाई देता है; मुमुक्षु क्वचित् ही दिखाई देते हैं; और उसमें भी मतांतर आदिके कारणोंसे ऐसे मुमुक्षुओंको भी योगका मिलना अति कठिन हो गया है। आप जो हमें बारम्बार प्रेरित करते हो; उसके लिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योग्यता नहीं है; और जबतक हरिने साक्षात् दर्शन देकर उस बातकी प्रेरणा नहीं की, तबतक उस विषयमें मेरी कोई इच्छा नहीं होती, और होगी भी नहीं।

२०९

बम्बई, वैशाख वदी ८ रवि. १९४७

हरिके प्रतापसे जब हरिका स्वरूप मिलेगा तब समझाऊँगा

चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; इस कारण हमारे व्यवहारके सब काम प्रायः अव्य-वस्थासे ही होते हैं। हरि-इच्छाको सुखदायक मानते हैं, इसलिये जो उपाधि-योग रहता है उसे भी हम समाधि-योग मानते हैं।

चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमें हो सकनेवाले कार्यके विचार विचारमें ही पन्द्रह दिन निकल जाते हैं और कभी तो उस कार्यके बिना किये ही रह जाना पड़ता है। सभी प्रसंगोंमें यदि ऐसा ही होता रहे तो भी हानि नहीं मानी; परन्तु आपको कुछ कुछ ज्ञान-वार्ता कही जाय तो विशेष आनन्द रहता है; और इस संबंधमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है; फिर भी उस स्थितिमें अभी हाल हीमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, ऐसी चित्तकी निरंकुश दशा हो रही है; और उस निरंकुशताकी प्राप्तिमें हरिकी परम कृपा ही कारणीभूत है, ऐसा हम मानते हैं; और उस निरंकुशताको पूर्ण किये बिना चित्त यथोचित्त समाधियुक्त नहीं होता, ऐसा लगता है। इस समय तो सब-कुछ अच्छा लगता है, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति हो रही है। जब सब-कुछ मात्र अच्छा ही लगा करेगा तभी निरंकुशताकी पूर्णता होगी। इसीका अपर नाम पूर्ण कामना है—जहाँ सर्वत्र हरि ही हरि स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस समय वे कुछ अस्पष्ट जैसे दीखते हैं, परन्तु वे हैं स्पष्ट, ऐसा अनुभव है।

जो रस जगत्का जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिके प्रति अतिशय लौ लगी है; और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि हम जहाँ जिस रूपमें हरि-दर्शन करनेकी इच्छा करेंगे, उसी रूपमें हरि दर्शन देंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अंतरंग विचारको लिख सकनेमें अतिशय अशक्त हो गये हैं; इस कारण समागमकी इच्छा करते हैं; परन्तु ईश्वरेच्छा अभी ऐसा करनेमें असहमत मालूम होती है, इसलिये वियोगमें ही रहते हैं।

उस पूर्णस्वरूप हरिमें जिसकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष हालमें दिखाई नहीं देता, इसका क्या कारण है? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता भी किसीमें दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण होना चाहिये? यदि कहीं तीव्र मुमुक्षुता दिखाई भी देती होगी तो वहाँ अनन्तगुण-गंभीर ज्ञानावतार पुरुषका लक्ष क्यों नहीं देखनेमें आता, इसके कारणके संबंधमें जो आपको लगे सो लिखना।

दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जैसोंको सम्यग्ज्ञानके बीजकी—पराभक्तिके मूलकी—प्राप्ति होनेपर भी उसके बादका भेद क्यों नहीं प्राप्त होता? तथा हरिविषयक अखंड लयरूप वैराग्य जितना चाहिये उतना क्यों वृद्धिगत नहीं होता? इसका जो कुछ भी कारण आपके ध्यानमें आता हो सो लिखना।

हमारे चित्तकी ऐसी अव्यवस्था हो जानेके कारण किसी भी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा खबर ही नहीं रहती; उसके लिये क्या करें? क्या करें इससे हमारा आशय यह है कि व्यवहारमें रहनेपर भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप न हो, ऐसा हम क्या करें? अभी तो हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी कभी उनसे किसीको दुःख पहुँच जाता है।

हम दूसरे किसीको भी आनन्दरूप लगें, इसकी हरिको चिन्ता रहती है; इसलिये वे इसे करेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको भी संतापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है; हम तो सबके दास हैं, तो फिर हमें दुःखरूप कौन मानेगा?

तथापि यदि व्यवहार-प्रसंगमें हरिकी माया हमको नहीं तो सामनेवालेको भी एकके बदले दूसरा भाव पैदा कर दे तो लाचारी है; परन्तु इसके लिये भी हमें तो शोक ही होगा। हम तो हरिको सर्व-शक्तिमान मानते हैं, और उन्हींको सब कुछ सौंप रक्खा है।

अधिक क्या लिखें? परमानन्द हरिको एक क्षणभर भी न भूलना, यही हमारी सर्वकृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।

२१०

बम्बई, वैशाख वदी ८ रवि. १९४७

ॐ नमः

प्रबोधशतक भेजा है, वह पहुँचा होगा। इस शतकका तुम सबोंको श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन करना चाहिये। सुननेवालेको सबसे पहिले यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस पुस्तकको हमने वेदान्तकी श्रद्धा करनेके लिये नहीं भेजी; इसे किसी दूसरे ही कारणसे भेजी है, और वह कारण बहुत करके विशेष विचार करनेपर तुम जान सकोगे।

हालमें तुम्हारे पास कोई ऐसा बोध करनेवाला साधन न होनेके कारण यह शतक ठीक साधन है, ऐसा समझकर इसे भेजा है। इसमेंसे तुम्हें क्या जानना चाहिये, इसका विचार तुम स्वयं कर लेना।

किसीको यह सुनकर हमारे विषयमें ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि इस पुस्तकमें जो कुछ मत बताया गया है, वही हमारा भी मत है। केवल चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके विचार बहुत उपयोगी हैं और इसीलिये इसे भेजा है, ऐसा समझना।

२११

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ७ शनि. १९४७

ॐ नमः

कराल काल होनेसे जीवको जहाँ अपनी वृत्ति लगानी चाहिये वहाँ वह नहीं लगा सकता।

इस कालमें प्रायः सत्धर्मका तो लोप ही रहता है, इसीलिये इस कालको कलियुग कहा गया है।

सत्धर्मका योग सत्पुरुषके बिना नहीं होता, क्योंकि असत्में सत् नहीं होता।

प्रायः सत्पुरुषके दर्शनकी और योगकी इस कालमें अप्राप्ति ही दिखाई देती है। जब यह दशा है तो सत्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो सकती है? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तो मुमुक्षुता भी कैसे रह सकती है? प्रायः ऐसा होता है कि जीव जैसे परिचयमें रहता है, उसी परिचयरूप अपनेको मानने लगता है। इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है कि अनार्य कुलमें परिचय रखनेवाला जीव अनार्यतामें ही अपनी दृढ़ता रखता है; और आर्यत्वमें मति नहीं करता।

इसलिये महान् पुरुषोंने और उनके आधारसे हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके लिये सत्संग ही मोक्षका परम साधन है।

जैसी अपनी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके संगको ही सत्संग कहते हैं। अपनेसे बड़े पुरुषके संगके निवासको हम परम सत्संग कहते हैं; क्योंकि इसके समान कोई हितकारक साधन इस जगत्‌में हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्ववर्ती महान् पुरुषोंका चिंतवन करना यद्यपि कल्याणकारक है, तथापि वह स्वरूप-स्थितिका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीवको क्या करना चाहिये—यह बात उनके स्मरण करने मात्रसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष संयोग होनेपर विना समझाये भी स्वरूप-स्थिति होनी हमें संभव लगती है, और उससे यही निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिंतवनका फल मोक्ष होता है; क्योंकि सत् पुरुष ही मूर्तिमान मोक्ष है।

मोक्षगत (अर्हंत आदि) पुरुषका चिंतवन बहुत कालसे भावानुसार मोक्ष आदि फलका देनेवाला होता है।

सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर और योग्यताके कारणसे जीव सम्यक्त्व पाता है।

---

२१२ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ रवि. १९४७.

ॐ

जीव भक्तिकी पूर्णता पानेके योग्य तभी होता है जब कि वह एक तृण मात्र भी हरिसे नहीं माँगता, और सब दशाओंमें भक्तिमय ही रहता है।

व्यवहार-चिन्ताओंसे अरुचि होनेपर सत्संगके अभावमें किसी भी प्रकारसे शान्ति नहीं होती, ऐसा जो आपने लिखा सो ठीक ही है; तो भी व्यावहारिक चिन्ताओंकी अरुचि करना उचित नहीं है।

सर्वत्र हरि इच्छा बलवान है; यह बतानेके लिये ही हरिने ऐसा किया है, ऐसा निस्सन्देह समझना; इसलिये जो कुछ भी हो उसे देखे जाओ; और फिर यदि उससे अरुचि पैदा हो तो देख लेंगे। अब जब कभी समागम होगा तब इस विषयमें हम बातचीत करेंगे। अरुचि मत करना। हम तो इसी मार्गसे पार हुए हैं।

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। उनके पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है। 'साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति' इसी शब्दको मैं प्रायः 'प्रत्यक्षदर्शन' लिखता हूँ।

---

२१३ बम्बई, ज्येष्ठ वदी ६ शनि. १९४७.

हरि-इच्छासे जीना है, और पर इच्छासे चलना है। अधिक क्या कहें?

आज्ञांकित.

---

२१४ बम्बई, ज्येष्ठ १९४७

हालमें छोटमकृत पद-संग्रह वगैरह पुस्तकें बाँचनेका परिचय रखना। वगैरह शब्दसे ऐसी पुस्तकें समझना जिनमें सत्संग, भक्ति, और वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

जिनमें सत्संग आदिके माहात्म्यका वर्णन किया हो ऐसी जो पुस्तकें, पद या काव्य हों, उन्हें वारम्वार मनन करना और उन्हें स्मृतिमें रखना उचित समझना।

अभी हालमें यदि जैनसूत्रोंके पढ़नेकी इच्छा हो तो उसे निवृत्त करना ही ठीक है, क्योंकि उनके (जैनसूत्रोंके) पढ़ने और समझनेमें अधिक योग्यता होनी चाहिये; उसके विना यथार्थ फलकी प्राप्ति नहीं होती; तथापि यदि दूसरी पुस्तकें न हों तो "उत्तराध्ययन" अथवा "सूयगडं" के दूसरे अध्ययनको पढ़ना और विचारना।

---

२१५ वम्बई, आषाढ़ सुदी १ सोम. १९४७.

जबतक गुरुके द्वारा भक्तिका परम स्वरूप समझा नहीं गया, और उसकी प्राप्ति नहीं हुई, तबतक भक्तिमें प्रवृत्ति करनेसे अकाल और अशुचि दोष होता है। अकाल और अशुचिका महान् विस्तार है, तो भी संक्षेपमें लिखा है। 'एकांतमें' प्रभातका प्रथम पहर यह सेव्य-भक्तिके लिये योग्य काल है। स्वरूप-चिंतवन भक्ति तो सभी कालोंमें सेव्य है। सर्व प्रकारकी शुचियोंका कारण एक केवल व्यवस्थित मन है। वाह्य मल आदिसे रहित तन और शुद्ध स्पष्ट वाणी, इसीका नाम शुचि है।

---

२१६ वम्बई, आषाढ़ सुदी ८ भौम. १९४७.

(१)

निःशंकतासे निर्भयता उत्पन्न होती है; और उससे निःसंगता प्राप्त होती है

प्रकृतिके विस्तारकी दृष्टिसे जीवके कर्म अनंत प्रकारकी विचित्रता लिये हुए हैं; और इस कारण दोषोंके प्रकार भी अनन्त ही भासित होते हैं; परन्तु सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जिसके कारण 'तीव्र मुमुक्षुता' उत्पन्न नहीं होती, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं होती।

प्रायः करके मनुष्यात्मा किसी न किसी धर्म-मतमें होती ही है, और इस कारण उसे उसी धर्म-मतके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये—ऐसा वह मानती है; परन्तु इसका नाम मुमुक्षुता नहीं है।

मुमुक्षुता तो उसका नाम है कि सब प्रकारकी मोहासक्ति छोड़कर केवल एक मोक्षके लिये ही यत्न करना; और तीव्र मुमुक्षुता उसे कहते हैं कि अनन्य प्रेमपूर्वक प्रतिक्षण मोक्षके मार्गमें प्रवृत्ति करना।

तीव्र मुमुक्षुताके विषयमें यहाँ कुछ कहना नहीं है; परन्तु मुमुक्षुताके विषयमें ही कहना है। अपने दोष देखनेमें निष्पक्षपात होना, यही मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेका लक्षण है, और इसके कारण स्वच्छंदका नाश होता है। जहाँ स्वच्छंदकी थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी ही बोध-बीजके योग्य भूमिका तैयार होती है। जहाँ स्वच्छन्द प्रायः दब जाता है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोक रखनेवाले केवल तीन कारण ही मुख्यरूपसे होते हैं, ऐसा हम समझते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, परम विनयकी न्यूनता, और पदार्थका अनिर्णय, इन सब कारणोंके दूर करनेके बीजको फिर कभी कहेंगे। उसके पहिले उन्हीं कारणोंको विस्तारसे कहते हैं।

इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा, यह बात बहुत करके तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेके पहिले

हुआ करती है। उसके होनेके कारण ये हैं कि "वह 'सत्' है" इस प्रकारकी निःशंकपनेसे दृढ़ता नहीं हुई, अथवा "वह परमानंदरूप ही है" ऐसा निश्चय नहीं हुआ; अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कुछ आनन्दका अनुभव होता है, इससे बाह्य साताके कारण भी कई बार प्रिय लगते हैं, और इस कारण इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक हो जाती है।

याथातथ्य परिचय होनेपर सद्गुरुमें परमेश्वर-बुद्धि रखकर उनकी आज्ञानुसार चलना, इसे परम विनय कहा है। उससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। जबतक यह परम विनय नहीं आती, तबतक जीवको योग्यता नहीं आती।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त भी हुए हों, तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी कमीके कारण पदार्थ-निर्णय न हुआ हो, तो चित्त व्याकुल रहता है, मिथ्या समता आती है, और कल्पित पदार्थमें 'सत्' की मान्यता होने लगती है; जिससे बहुत काल व्यतीत हो जानेपर भी उस अपूर्व पदार्थसंबंधी परम प्रेम उत्पन्न नहीं होता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण, हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। केवल दूसरे कारणकी यत्किंचित् न्यूनता किसी किसीमें देखी है। और यदि उनमें सब प्रकारसे परम विनयकी कमीकी पूर्ति होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो, ऐसा हम मानते हैं। परम विनय इन तीनोंमें बलवान साधन है। अधिक क्या कहें? अनन्त कालमें केवल यही एक मार्ग है।

पहिला और तीसरा कारण दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करनी और परम विनयमें रहना योग्य है।

यह कलियुग है, इसलिये क्षणभर भी वस्तुके विचार बिना न रहना ऐसी महात्माओंकी शिक्षा है।

(२)

मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहिचान लेते हैं।

---

२१७ बम्बई, आषाढ़ सुदी १३, १९४७

ॐ

सुखना सिंधु श्रीसहजानन्दजी, जगजीवनके जगवंदजी;
शरणागतना सदा सुखकंदजी, परमस्नेही छो परमानन्दजी।

हालमें हमारी दशा कैसी है, यह जाननेकी आपकी इच्छा है, परन्तु वह जैसे विस्तारसे चाहिये वैसे विस्तारसे नहीं लिखी जा सकती, इसलिये इसे पुनः पुनः नहीं लिखी। यहाँ संक्षेपमें लिखते हैं।

एक पुराण-पुरुष और पुराण-पुरुषकी प्रेम-संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; हमें किसी भी पदार्थमें बिलकुल भी रुचि नहीं रही; कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती; व्यवहार कैसे चलता है, इसका भी भान नहीं; जगत् किस स्थितिमें है, इसकी भी स्मृति नहीं रहती; शत्रु-मित्रमें कोई भी भेदभाव नहीं रहा; कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसकी भी खबर रक्खी नहीं जाती; हम देहधारी हैं या और कुछ, जब यह याद करते हैं तब मुश्किलसे जान पाते हैं; हमें क्या करना है; यह किसीकी भी समझमें आने जैसा नहीं है; हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे

प्रवर्तते हैं; व्रत नियमका भी कोई नियम नहीं रक्खा; भेदभावका कोई भी प्रसंग नहीं; हमने अपनेसे विमुख जगत्में कुछ भी माना नहीं; हमारे सन्मुख ऐसे सत्संगीके न मिलनेसे खेद रहा करता है; संपत्ति भरपूर है, इसलिये संपत्तिकी इच्छा नहीं; शब्द आदि अनुभव किये हुए विषय स्मृतिमें आ जानेके कारण—अथवा चाहे उसे ईश्वरेच्छा कहो—परन्तु उसकी भी अब इच्छा नहीं रही; अपनी इच्छासे ही थोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है; हरिकी इच्छाका क्रम जैसे चलाता है वैसे ही चलते चले जाते हैं। हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है; पाँचों इन्द्रियाँ शून्यरूपसे ही प्रवृत्ति करती हैं; नय-प्रमाण वगैरह शास्त्र-भेद याद नहीं आते; कुछ भी बाँचनेमें चित्त नहीं लगता; खानेकी, पीनेकी, बैठनेकी, सोनेकी, चलनेकी, और बोलनेकी वृत्तियाँ सब अपनी अपनी इच्छानुसार होती रहती हैं; तथा हम अपने स्वाधीन हैं या नहीं, इसका भी यथायोग्य भान नहीं रहा है।

इस प्रकार सब तरहसे विचित्र उदासीनता आ जानेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति हो जाया करती है। एक प्रकारसे पूर्ण पागलपन है; एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ छिपाकर रखते हैं; और जितनी मात्रामें उसे छिपाकर रखते हैं उतनी ही हानि है। योग्यरूपसे प्रवृत्ति हो रही है अथवा अयोग्य रूपसे, इसका कुछ भी हिसाब नहीं रक्खा। आदि-पुरुषमें एक अखंड प्रेमके सिवाय दूसरे मोक्ष आदि पदार्थोंकी भी आकांक्षाका नाश हो गया है; इतना सब होनेपर भी संतोषजनक उदासीनता नहीं आई, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमका प्रवाह तो नशेके प्रवाह जैसा प्रवाहित होना चाहिये, परन्तु वैसा प्रवाहित नहीं हो रहा, ऐसा हम जान रहे हैं; ऐसा करनेसे वह अखंड नशेका प्रवाह प्रवाहित होगा, ऐसा निश्चयरूपसे समझते हैं। परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है; और इन सबका दोष हमपर है अथवा हरिपर, उसका ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं; लेते हैं, देते हैं, लिखते हैं; बाँचते हैं; निभाते जा रहे हैं; खेद पाते हैं; और हँसते भी हैं; जिसका ठिकाना नहीं—ऐसी हमारी दशा है; और उसका कारण केवल यही है कि जबतक हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तबतक खेद मिटनेवाला नहीं; यह बात समझमें आ रही है, समझ भी रहे हैं, और समझेंगे भी, परन्तु सर्वत्र हरि ही कारणरूप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते हो, वह हालमें योग्य है या नहीं, सो हम नहीं जानते; क्योंकि हमारी दशा हालमें मंद-योग्यको लाभ करनेवाली नहीं; हम ऐसी जंजालको हालमें नहीं चाहते; इसे रक्खी ही नहीं; और उन सबका कारबार कैसा चलता है, इसका स्मरण भी नहीं है।

ऐसा होनेपर भी हमें इन सबकी अनुकंपा आया करती है। उनसे अथवा किसी भी प्राणीसे हमने मनसे मित्रभाव नहीं रक्खा, और रक्खा जा सकेगा भी नहीं।

भक्तिवाली पुस्तकें कभी कभी बाँचते हैं; परन्तु जो सब कुछ करते हैं वह बिना ठिकानेकी दशासे ही करते हैं।

प्रभुकी परम कृपा है; हमें किसीसे भी मित्रभाव नहीं रहा है; किसीके भी प्रति दोष-बुद्धि नहीं आती; मुनिके विषयमें हमें कोई हलका विचार नहीं; परन्तु वे ऐसी प्रवृत्तिमें पड़े हैं, जिसमें हरिकी प्राप्ति उन्हें न हो। अकेला बीज-ज्ञान ही उनका कल्याण कर सके, ऐसी इनकी और दूसरे

बहुतसे मुमुक्षुओंकी दशा नहीं है; सिद्धांत-ज्ञान भी साथमें होना चाहिये। यह सिद्धांत-ज्ञान हमारे हृदयमें आवरितरूपसे पड़ा हुआ है। यदि हरिकी इच्छा प्रगट होने देनेकी होगी तो वह प्रगट होगा।

हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है, रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सब कुछ हरि ही हरि है, और फिर भी हम इस प्रकार कारबारमें लगे हुए हैं, यह इसीकी इच्छाका कारण है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

२१८

बम्बई, आषाढ़ वदी ४ शनि. १९४७

जीव स्वभावसे ही दूषित है, तो फिर उसके दोपकी ओर देखना, यह अनुकम्पाका त्याग करने जैसी बात है, और बड़े पुरुष इस तरहकी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करते। कलियुगमें असत्संग एवं नासमझीके कारण भूलसे भरे हुए रास्तेपर न चला जाय, ऐसा होना बहुत ही कठिन है।

२१९

बम्बई, आषाढ़ १९४७

(१)

श्रीसद्गुरु कृपा माहात्म्य

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात्॥ १॥
बुझी चहत जो प्यासको, है बुझनकी रीत;
पावे नहीं गुरुगम बिना, एही अनादि स्थित॥ २॥
एही नहीं है कल्पना, एहि नहीं विभंग;
कयि नर पंचमकालमें, देखी वस्तु अभंग॥ ३॥
नहिं दे तुं उपदेशकुं, प्रथम लेहि उपदेश;
सबसे न्यारा अगम है, वो ज्ञानीका देश॥ ४॥
जप, तप, और व्रतादि सब, तहां लगी भ्रमरूप;
जहाँ लगी नहीं संतकी, पाई कृपा अनूप॥ ५॥
पायाकी ए बात है, निज छंदनको छोड़;
पिछे लाग सत्पुरुषके, तो सब बंधन तोड़॥ ६॥

(२)

तृषातुरको पिलानेकी मेहनत करना। जो तृषातुर नहीं, उसे तृषातुर करनेकी अभिलाषा पैदा करना। जिसे वह अभिलाषा पैदा न हो, उसके प्रति उदासीन रहना।

उपाधि इतनी लगी हुई है कि यह काम भी नहीं हो पाता। परमेश्वरको अनुकूल नहीं आता तो क्या करें?

---

२२० बम्बई, श्रावण सुदी १ बुध. १९४७

सर्वशक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है; और जिसे भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त हुए हैं ऐसे पुरुषको तो जरूर यही निश्चय करना योग्य है कि "हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है"। आपका वियोग रहनेमें भी हरिकी ऐसी ही इच्छा है, और वह इच्छा क्या होगी, यह हमें किसी तरहसे माल्म हुआ है; जिसे समागम होनेपर कहेंगे।

हम आपसे "ज्ञानधारा" संबंधी थोड़ा भी मूल-मार्ग इस बारके समागममें कहेंगे; और वह मार्ग पूरी तरहसे इसी जन्ममें आपसे कहेंगे, ऐसी हमें हरिकी प्रेरणा है, ऐसा माल्म होता है।

ऐसा माल्म होता है कि आपने हमारे लिये ही जन्म धारण किया होगा। आप हमारे अत्यन्त उपकारी हैं, आपने हमें हमारी इच्छानुसार सुख दिया, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें!

परन्तु हमें ऐसा माल्म होता है कि हरि हमारे हाथसे आपको पराभक्ति दिलायेगा; हरिके स्वरूपका ज्ञान करायेगा; और इसे ही हम अपना महान् भाग्योदय समझेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत ही अधिक हरिमय रहा करता है, परन्तु संग सर्वत्र कलियुगका ही रहता है। रात दिन मायाके प्रसंगमें ही रहना होता है; इसलिये चित्तका पूर्ण हरिमय रह सकना बहुत ही कठिन होता है; और तबतक हमारे चित्तका उद्वेग भी नहीं मिटेगा।

ईश्वरार्पण.

---

२२१ बम्बई, श्रावण सुदी ९ गुरु. १९४७.

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका लक्षण नहीं है।

सर्वोत्तम योगी तो वही है कि जो सब प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमें केवल अनन्य निष्ठासे सब प्रकारसे सत्का ही आचरण करता है, और जिसको जगत् विस्मृत हो गया है। हम यही चाहते हैं।

---

२२२ बम्बई, श्रावण सुदी ९ गुरु. १९४७

खंभातसे पाँच-सात कोसपर क्या कोई ऐसा गाँव है कि जहाँ अज्ञातरूपसे रहें तो अनुकूल हो? यदि ऐसा कोई स्थल ध्यानमें आये कि जहाँ जल, वनस्पति और सृष्टि-रचना ठीक हो तो लिखना। पर्यूषणसे पहले और श्रावण वदी १ के बाद यहाँसे थोड़े समयके लिये निवृत्त होनेकी इच्छा है। जहाँ हमें लोग धर्मके संबंधसे भी पहिचानते हों, ऐसे गाँवमें भी हालमें तो प्रवृत्ति ही मानी है; इसलिये हालमें खंभात आनेका विचार संभव नहीं है।

हालमें थोड़े समयके लिये यह निवृत्ति लेना चाहता हूँ। जबतक सर्वकालके लिये (आयुपर्यंत) निवृत्ति पानेका प्रसंग न आया हो तबतक धर्म-संबंधसे भी प्रगटमें आनेकी इच्छा नहीं है। जहाँ मात्र निर्विकारपनेसे रहा जा सके ऐसी व्यवस्था करना।

समाधि.

२२३

बम्बई, श्रावण सुदी १९४७

इस जगत्‌में, चतुर्थकाल जैसे कालमें भी सत्संगकी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो फिर इस दुःषमकालमें तो उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है; ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे सत्संगका वियोग रहनेपर भी आत्मामें गुणोत्पत्ति हो सके, उस उस प्रकारसे आचरण करनेका पुरुषार्थ बारम्बार, जब कभी भी और प्रसंग प्रसंगपर करना चाहिये; तथा निरन्तर सत्संगकी इच्छा—असत्संगमें उदासीनता—रहनेमें उसका मुख्य कारण पुरुषार्थ ही है, ऐसा समझकर निवृत्तिके जो कोई कारण हों उन उन कारणोंका बारम्बार विचार करना योग्य है।

हमको इस तरह लिखते हुए यह स्मरण आ रहा है कि "क्या करें" अथवा "किसी भी प्रकारसे नहीं होता" ऐसा विचार तुम्हारे चित्तमें बारम्बार आता रहता होगा; तथापि ऐसा योग्य माळूम होता है कि जो पुरुष दूसरे सब प्रकारके विचारको अकर्तव्यरूप समझकर आत्म-कल्याणमें ही उद्यमी होता है, उसको कुछ न जाननेपर भी उसी विचारके परिणाममें रहना योग्य है, और 'किसी भी प्रकारसे नहीं होता' इस तरह माळूम होनेके प्रगट होनेका कारण या तो जीवको उत्पन्न हो जाता है, अथवा कृतकृत्यताका स्वरूप उत्पन्न हो जाता है।

ज्ञानी पुरुषने दोषपूर्ण स्थितिमें इस जगत्‌के जीवोंको तीन प्रकारसे देखा हैः—(१) जीव किसी भी प्रकारसे दोष अथवा कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा विचार करनेकी स्थितिमें वह बेसुध है—ऐसे जीवोंका यह प्रथम प्रकार है। (२) जीव अज्ञानतासे असत्संगके अभ्याससे भासमान होनेवाले बोधसे दोष करता है, और उस क्रियाको कल्याण-स्वरूप मानता है—ऐसे जीवोंका यह दूसरा प्रकार है। (३) जिसकी स्थिति मात्र उदयके आधीन रहती है, और सब प्रकारके पर-स्वरूपका साक्षी ऐसा बोध-स्वरूप जीव केवल उदासीनतासे कर्त्ता दिखाई देता है—ऐसे जीवोंका यह तीसरा प्रकार है।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषने तीन प्रकारके जीवोंके समूहको देखा है। प्रायः करके प्रथम प्रकारमें स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमें तद्रूप परिणामीके समान माळूम होनेवाले जीवोंका समावेश होता है। दूसरे प्रकारमें जुदा जुदा धर्मोंकी नाम-क्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छंद परिणामी, जो अपने आपको परमार्थ-मार्गपर चलनेवाला मानते हैं, ऐसी बुद्धिसे गृहीत जीवोंका समावेश होता है। तीसरे प्रकारमें ऐसे जीवोंका समावेश होता है कि जिन्हें स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति आदिके भावमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, अथवा वैराग्य हुआ करता है; जिनके स्वच्छंद परिणाम नष्ट हो गये हैं, और जो निरन्तर ही ऐसे भावके विचारमें रहते हैं। अपना विचार तो ऐसा है कि जिससे तीसरा प्रकार सिद्ध हो जाय। जो विचारवान हैं उन्हें यथाबुद्धिपूर्वक, सद्‌ग्रंथसे और सत्संगसे यह विचार प्राप्त होता है, और उनमें अनुक्रमसे दोषरहित वैसा स्वरूप उत्पन्न होता है। यह बात फिर फिरसे सोते हुए, जागते हुए, और दूसरी तरहसे भी विचारने और मनन करने योग्य है।

२२४

राळज, भाद्र. सुदी ८, १९४७

ॐ

श्रीसद्गुरुभक्ति रहस्य

हे प्रभु ! हे प्रभु ! हे दीनानाथ दयाल ! हे करुणेश ! क्या कहूँ; मैं तो अनंत दोषोंका पात्र हूँ ॥ १ ॥

मुझमें शुद्ध-भाव नहीं है, और न मुझमें तेरा पूरा रूप ही है, न मुझमें लघुता है और न दीनता है, तो फिर मैं परम-स्वरूपकी तो बात ही क्या कहूँ ? ॥ २ ॥

न मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको हृदयमें अचल किया है, न मुझमें आपके प्रति दृढ़ विश्वास ही है, और न परम आदर ही है ॥ ३ ॥

न मुझे सत्संगका योग है, न सत्सेवाका योग है, न सम्पूर्णरूपसे अपनेको अर्पण करनेका भाव है, और न मुझे अनुयोगका आश्रय ही है ॥ ४ ॥

मैं पामर क्या कर सकता हूँ ? मुझे ऐसा विवेक नहीं है । मरण समयतक मुझे आपकी चरण-शरणका धीरज भी तो नहीं है ॥ ५ ॥

तेरे अचिन्त्य माहात्म्यका मुझमें प्रफुल्लित भाव नहीं है, न मुझमें स्नेहका एक भी अंश ही है, और न किसी प्रकारका परम प्रभाव ही मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

मुझमें न तो अचल आसक्ति है और न विरहका ताप ही है, न तेरे प्रेमकी अलभ्य कथा है, और न उसका कुछ परिताप ही है ॥ ७ ॥

न मेरा भक्ति-मार्गमें प्रवेश है, न भजनमें दृढ़ता है, न अपने धर्मकी समझ है, और न शुभ देशमें मेरा वास ही है ॥ ८ ॥

कलिकालसे काल-दोष हो गया है, इसमें मर्यादा और धर्म नहीं रहे, तो भी मुझे आकुलता नहीं है । हे प्रभु ! मेरे कर्म तो देखो ॥ ९ ॥

२२५

ॐ

श्रीसद्गुरुभक्ति रहस्य

हे प्रभु हे प्रभु शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ; हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ ॥ १ ॥
शुद्धभाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप; नथी लघुताके दीनता, शुं कहुं परमस्वरूप ? ॥ २ ॥
नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहि; आपतणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहिं ॥ ३ ॥
जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग; केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग ॥ ४ ॥
हुं पामर शुं करी शकुं ? एवो नथी विवेक; चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक ॥ ५ ॥
अचिन्त्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव; अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव ॥ ६ ॥
अचळरूप आसक्ति नहिं, नहिं विरहनो ताप; कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहिं तेनो परिताप ॥ ७ ॥
भक्तिमार्ग प्रवेश नहिं नहिं भजन दृढ भान; समज नहिं निज धर्मनी, नहिं शुभ देशे स्थान ॥ ८ ॥
काळदोष कळिथी थयो, नहिं मर्यादा धर्म; तोये नहिं व्याकुळता ! जुओ प्रभु मुज कर्म ॥ ९ ॥

जो सेवाके प्रतिकूल बंधन है, उसका मैंने त्याग नहीं किया है; देह और इन्द्रियाँ मानती नहीं हैं, और बाह्य वस्तुपर राग किया करतीं हैं ॥ १० ॥

तेरा वियोग स्फुरित नहीं होता, वचन और नयनका कोई यम-नियम नहीं, तथा न भोगे हुए पदार्थोंसे और घर आदिसे उदासीन भाव नहीं है ॥ ११ ॥

न मैं अहंभावसे रहित हूँ, न मैंने अपने धर्मका ही संचय किया है, और न मुझमें निर्मल-भावसे अन्य धर्मोंके प्रति कोई निवृत्ति ही है ॥ १२ ॥

इस प्रकार मैं अनंत प्रकारसे साधनोंसे रहित हूँ । मुझमें एक भी तो सद्गुण नहीं; मैं अपना मुँह कैसे बताऊँ ॥ १३ ॥

हे दीनबंधु दीनानाथ ! आप केवल करुणाकी मूर्ति हो, और मैं परम पापी अनाथ हूँ । हे प्रभुजी ! मेरा हाथ पकड़ो ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं बिना ज्ञानके अनंत कालसे भटका फिरा; मैंने संतगुरुकी सेवा नहीं की; और अभिमानका त्याग नहीं किया ॥ १५ ॥

संतके चरणोंके आश्रयके बिना मैंने अनेक साधन जुटाये, परन्तु उनसे पार नहीं पाई, और विवेकका अंश मात्र भी उनसे उदित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

जितने भर साधन थे सब बंधन हो उठे, और कोई उपाय नहीं रहा । जब सत् साधन ही नहीं समझा, तो फिर बंधन कैसे दूर हो सकता है ? ॥ १७ ॥

न प्रभु प्रभुकी लौ ही लगी, और न सद्गुरुके पैरोंमें ही पड़े; जब अपने दोष ही नहीं देखे तो फिर किस उपायसे पार पा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

मैं संपूर्ण जगत्‌में अधमसे अधम और पतितसे पतित हूँ, इस निश्चयपर पहुँचे बिना साधन भी क्या करेंगे ? ॥ १९ ॥

हे भगवन् ! मैं फिर फिरसे तेरे चरण-कमलोंमें पड़ पड़कर यही माँगता हूँ कि तू ही सद्गुरु संत है, ऐसी मुझमें दृढ़ता उत्पन्न कर ॥ २० ॥

सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग; देहेन्द्रिय माने नहिं, करे बाह्यपर राग ॥ १० ॥
तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहिं; नहिं उदास अनभक्त थी, तेम गृहादिक मांहि ॥ ११ ॥
अहंभावथी रहित नहिं, स्वधर्मसंचय नाहिं; नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई ॥ १२ ॥
एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुंय; नहिं एक सद्गुण पण, मुख बताडुं शुंय ॥ १३ ॥
केवल करुणामूर्ति छो, दीनबंधु दीननाथ; पापी परम अनाथ छउं, ग्रहो प्रभुजी हाथ ॥ १४ ॥
अनंत काळथी आथड्यो, विना भान भगवान; सेव्या नहिं गुरु संतने, मूक्युं नहिं अभिमान ॥ १५ ॥
संतचरण-आश्रयविना, साधन कर्यां अनेक; पार न तेथी पामियो, उग्यो न अंश विवेक ॥ १६ ॥
सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय; सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ? ॥ १७ ॥
प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय; दीठा नहिं निज दोष तो, तरिये कोण उपाय ? ॥ १८ ॥
अधमाधम अधिको पतित, सकळ जगत्‌मां हुंय; ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ? ॥ १९ ॥
पडी पडी तुज पद पंकजे, फरिफरी मागुं एज; सद्गुरु संत स्वरूप तुज, ए दृढता करि देज ॥ २० ॥

२२५

राळज, भाद्र. सुदी ८, १९४७

ॐ सत्

शुं साधन बाकी रह्युं ? कैवल्य बीज शुं ?

यम नियम संजम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥ १ ॥
मनपौननिरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सुतार भयो;
जपभेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सबपें ॥ २ ॥
सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥ ३ ॥
अब क्यौं न विचारत हैं मनसें, कछु और रहा उन साधनसें ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे, मुख आगळ है कह बात कहे ? ॥ ४ ॥
करुना हम पावत हैं तुमकी; वह बात रही सुगुरु गमकी;
पलमें प्रगटे मुख आगळसें, जब सद्गुरुचर्नसु प्रेम बसे ॥ ५ ॥
तनसें, मनसें, धनसें, सबसें, गुरुदेवकि आन स्वआत्म बसे;
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेमघनो ॥ ६ ॥
वह सत्य सुधा दरसावहिंगे, चतुरांगुल हैं द्रगसे मिल हैं;
रसदेव निरंजनको पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जिवही ॥ ७ ॥
पर प्रेम प्रवाह बढे प्रभुसें, आगमभेद सुऊर बसे;
वह केवलको बिज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाइ दिये ॥ ८ ॥

२२६

राळज, भाद्र. सुदी ८, १९४७

(१) जड़का जड़रूप ही परिणमन होता है, और चेतनका चेतनरूपसे ही परिणमन होता है। दोनोंमेंसे कोई भी अपने स्वभावको छोड़कर परिणमन नहीं करता ॥ १ ॥

जो जड़ है वह तीनों कालमें जड़ ही रहता है, इसी तरह जो चेतन है, वह तीनों कालमें चेतन ही रहता है; यह बात प्रगटरूपसे अनुभवमें आई है, इसमें संशय क्यों करना चाहिये ? ॥२॥

यदि किसी भी कालमें जड़ चेतन हो जाय और चेतन जड़ हो जाय, तो बंध और मोक्ष नहीं बन सकते, और निवृत्ति-प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती ॥ ३ ॥

२२६

(१) जडभावे जड परिणमे, चेतन चेतन भाव; कोई कोई पलटे नहीं, छोडी आप स्वभाव ॥ १ ॥
जड ते जड त्रण काळमां, चेतन चेतन तेम; प्रगट अनुभवरूप छे, संशय तेमां केम ? ॥ २ ॥
जो जड त्रण काळमां, चेतन चेतन होय; बंध मोक्ष तो नहीं घटे, निवृत्ति प्रवृत्ति न्होय ॥ ३ ॥

आत्मा जबतक बंध और मोक्षके संबंधसे अज्ञात रहती है, तबतक अपने स्वभावका त्याग ही रहता है, यह जिनभगवान्‌ने कहा है ॥ ४ ॥

आत्मा अपने पदकी अज्ञानतासे बंधके प्रसंगमें प्रवृत्ति करती है, परन्तु इससे आत्मा स्वयं जड़ नहीं हो जाती, यह सिद्धांत प्रमाण है ॥ ५ ॥

अरूपी रूपीको पकड़ लेता है, यह बहुत आश्चर्यकी बात है; जीव बंधनको जानता ही नहीं, यह कैसा अनुपम जिनभगवान्‌का सिद्धांत है ॥ ६ ॥

पहले देह-दृष्टि थी इससे देह ही देह दिखाई देती थी, परन्तु अब आत्मामें दृष्टि हो गई है, इसलिये देहसे स्नेह दूर हो गया है ॥ ७ ॥

जड़ और चेतनका यह संयोग अनादि अनंत है; उसका कोई भी कर्त्ता नहीं है, यह जिन-भगवान्‌ने कहा है ॥ ८ ॥

मूलद्रव्य न तो उत्पन्न ही हुआ था, और न कभी उसका नाश ही होगा, यह अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ९ ॥

जो वस्तु मौजूद है उसका नाश नहीं होता, और जिस वस्तुका सर्वथा अभाव है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; पदार्थोंकी अवस्था देखो, जो बात एक समयके लिये है वह हमेशाके लिये है ॥१०॥

(२) परम पुरुष, सद्गुरु, परम ज्ञान और सुखके धाम जिस प्रभुने निजका ज्ञान दिया, उसे सदा प्रणाम है ॥ १ ॥

(३) जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतवन किया हो, वह उसी उसी प्रकारसे प्रतिभा-सित होती है ।

विषयार्त्तपनेसे मूढ़ताको प्राप्त विचार-शक्तिवाले जीवको आत्माकी नित्यता नहीं भासित होती, ऐसा प्रायः दिखाई देता है, और ऐसा होता है; यह बात यथार्थ ही है; क्योंकि अनित्य विषयमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण उसे अपनी भी अनित्यता ही भासित होती है ।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती है । शून्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा शून्य लगती है, अनित्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है; और नित्यतासे चिंतवन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती है ।

बंध मोक्ष संयोगथी, ज्यांलग आत्म अभान; पण त्याग स्वभावनो, भाखे जिनभगवान ॥ ४ ॥
वर्त्ते बंधप्रसंगमां, ते निजपद अज्ञान; पण जडता नहिं आत्मने, ए सिद्धांत प्रमाण ॥ ५ ॥
ग्रहे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी वात, जीव बंधन जाणे नहीं, केवो जिनसिद्धांत ॥ ६ ॥
प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह; हवे दृष्टि थई आत्ममां, गयो देहथी नेह ॥ ७ ॥
जड चेतन संयोग आ, खाण अनादि अनंत; कोई न कर्त्ता तेहनो, भाखे जिनभगवंत ॥ ८ ॥
मूळ द्रव्य उत्पन्न नहिं, नहिं नाश पण तेम; अनुभवथी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥ ९ ॥
होय तेहनो नाश नहिं, नहिं तेह नहिं होय; एक समय ते सौ समय, भेद अवस्था जोय ॥ १० ॥
(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुख धाम; जेणे आप्युं भान निज, तेने सदा प्रणाम ॥ १ ॥

२२७

राळज, भाद्रपद १९४७.

(१)

हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है—

जिसने नव-पूर्वोको भी पढ़ लिया, परन्तु यदि उसने जीवको नहीं पहिचाना, तो यह सब अज्ञान ही कहा गया है; इसमें आगम साक्षी है। ये समस्त पूर्व जीवको विशेपरूपसे निर्मल बनानेके लिये कहे गये हैं। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानको किसी ग्रंथमें नहीं बताया; कविकी चतुराईको भी ज्ञान नहीं कहा; मंत्र-तंत्रोंको भी ज्ञान नहीं बताया; ज्ञान कोई भाषा भी नहीं है; ज्ञानको किसी दूसरे स्थानमें नहीं कहा—ज्ञानको ज्ञानीमें ही देखो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ २ ॥

जबतक 'यह जीव है' और 'यह देह है' इस प्रकारका भेद माल्म नहीं पड़ा, तबतक पच्चक्खाण करनेपर भी उसे मोक्षका हेतु नहीं कहा। यह सर्वथा निर्मल उपदेश पाँचवें अंगमें कहा गया है। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ३ ॥

न केवल ब्रह्मचर्यसे, और न केवल संयमसे ही ज्ञान पहिचाना जाता है; परन्तु ज्ञानको केवल ज्ञानसे ही पहिचानो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ४ ॥

विशेष शास्त्रोंको जाने या न जाने, किन्तु उसके साथ अपने स्वरूपका ज्ञान करना अथवा वैसा विश्वास करना, इसे ही ज्ञान कहा गया है। इसके लिये सन्मति आदि ग्रन्थ देखो। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानीके परमार्थसे आठ समितियोंको जान लिया, तो ही उसे मोक्षार्थका कारण होनेसे ज्ञान कहा गया है; केवल अपनी कल्पनाके बलसे करोड़ों शास्त्र रच देना, यह केवल मनका अहंकार ही है। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ६ ॥

२२७

जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो—

जो होय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं, तो सर्व ते अज्ञान भाख्युं, साक्षी छे आगम अहीं;
ए पूर्व सर्व कह्या विशेष, जीव करवा निर्मळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ १ ॥
नहिं ग्रंथ मांहि ज्ञान भाख्युं, ज्ञान नहिं कवि-चातुरी, नहिं मंत्र तंत्रो ज्ञान दाख्यां, ज्ञान नहिं भाषा ठरी;
नहिं अन्य स्थाने ज्ञान भाख्युं, ज्ञान ज्ञानीमां कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ २ ॥
आ जीव अने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं, पच्चखाण कीधां त्यां सुधी, मोक्षार्थ ते भाख्यां नहीं;
ए पांचमे अंगे कह्यो, उपदेश केवळ निर्मळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ३ ॥
केवळ नहिं ब्रह्मचर्यथी,
केवळ नहिं संयमथकी, पण ज्ञान केवळथी कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ४ ॥
शास्त्रो विशेष सहित पण जो, जाणियुं निजरूपने, कां तेहवो आश्रय, करजो, भावथी सांचा मने;
तो ज्ञान तेने भाखियुं, जो सम्मति आदि स्थळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ५ ॥
आठ समिति जाणीए जो, ज्ञानीना परमार्थथी; तो ज्ञान भाख्युं तेहने, अनुसार ते मोक्षार्थथी;
निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो ॥ ६ ॥

चार वेद तथा पुराण आदि शास्त्र सब मिथ्या शास्त्र हैं, यह बात, जहाँ सिद्धांतके भेदोंका वर्णन किया है, वहाँ नंदिसूत्रमें कही है। ज्ञान तो ज्ञानीको ही होता है, और यही ठीक बैठता भी है। हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ७ ॥

न कोई व्रत किया, न कोई पच्चक्खाण किया, और न किसी वस्तुका त्याग ही किया; परन्तु ठाणांगसूत्र देख लो, श्रेणिक आगे जाकर महापद्मतीर्थंकर होगा। उसने अनंत भवोंको छेद दिया ॥ ८ ॥

(२)

दृष्टि-विष नष्ट होनेके बाद चाहे जो शास्त्र हो, चाहे जो कथन हो, चाहे जो वचन हो, और चाहे जो स्थल हो, वह प्रायः अहितका कारण नहीं होता।

२२८

राळज, भाद्रपद १९४७

ॐ

(प्रश्न)	(उत्तर)
फैळदय झीश खांदी ईंश्रो ?	आइल नायदी (प्लीयथ् फुलुसोध्ययांदी).
आंथे झीश झषे ख्रां ?	झषे ख्रां.
थेपे फयार खेय ?	हध्घुळ्दी.
प्रथम जीव क्यांथी आव्यो ?	अक्षरधामथी (श्रीमत् पुरुषोत्तममांथी).
अंते जीव जशे क्यां ?	जशे त्यां.
तेने पमाय केम ?	सद्गुरुथी.

२२९

ववाणीआ, भाद्र. वदी ४ भौम. १९४७

ॐ "सत्"

ज्ञान वही है कि जहाँ एक ही अभिप्राय हो; प्रकाश थोड़ा हो अथवा ज्यादा, परन्तु प्रकाश एक ही है।

शास्त्र आदिके ज्ञानसे निस्तारा नहीं, परन्तु निस्तारा अनुभव-ज्ञानसे है।

चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वना, श्रीनंदिसूत्रे भाखियां छे, भेद ज्यां सिद्धांतना;
पण ज्ञानीने ते ज्ञान भाख्यां, एज ठेकाणे ठरो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभळो ॥ ७ ॥
व्रत नहिं पच्चक्खाण नहिं, नहिं त्याग वस्तु कोईनो, महापद्मतीर्थंङ्कर थशे, श्रेणिक ठाणंग जोई ल्यो;
छेद्यो अनंता ॥ ८ ॥

---

१ यहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों लिखे हैं। पहला शब्द 'फ़ळदय' है। इस शब्दका मूल 'प्रथम' शब्द है। इस प्रथम शब्दसे ही फ़ळदय बना है। इसका क्रम यह है कि मूल अक्षरके आगेका एक एक अक्षर लेना चाहिये। जैसे प के आगे फ, र के आगे ल, थ के आगे द, म के आगे य लेना चाहिये। इस क्रमसे अक्षरोंके लेनेसे 'प्रथम'से 'फ़ळदय' बनता है। इसी तरह दूसरे शब्दोंके लिये भी समझना चाहिये। अनुवादक.

२ पहले जीव कहाँसे आया ?	अक्षरधामसे (श्रीमत् पुरुषोत्तममेंसे).
अंतमें जीव कहाँ जायगा ?	वहीं जायगा.
उसे कैसे पाया जाय ?	सद्गुरुसे.

२३०

ववाणीआ, भाद्र. वदी ४ भौम. १९४७

ऐसे एक ही पदार्थका परिचय करना योग्य है कि जिससे अनन्त प्रकारका परिचय निवृत्त हो जाय; वह पदार्थ कौनसा और किस प्रकारसे है, इसका मुमुक्षु लोग विचार किया करते हैं।

सत्‌में अभेद.

२३१

ववाणीआ, भाद्र. वदी ४ भौम. १९४७

जिस महान् पुरुषका चाहे जैसा भी आचरण वंदनके योग्य ही हो, ऐसे महात्माके प्राप्त होनेपर, निस्सन्देहरूपसे जिस तरह कभी भी आचरण न करना चाहिये, यदि वह उसी तरहका आचरण करता हो, तो मुमुक्षुको कैसी दृष्टि रखनी, यह बात समझने जैसी है। अप्रगट सत्.

२३२

ववाणीआ, भाद्र. वदी ५ बुध. १९४७

कलियुगमें अपार कष्टसे सत्पुरुषकी पहिचान होती है; फिर भी उसमें कंचन और कामिनीका मोह उत्कृष्ट प्रेमको उत्पन्न नहीं होने देता। जीवकी वृत्ति ऐसी है कि वह पहिचान होनेपर भी उसमें निश्चलतासे नहीं रह सकता; और यह फिर कलियुग है; जो इसमें मोहित नहीं होता उसे नमस्कार है।

२३३

ववाणीआ, भाद्र. वदी ५ बुध. १९४७

हालमें तो 'सत्' केवल अप्रगट रहा हुआ माल्म देता है। वह हालमें जुदी जुदी चेष्टाओंसे प्रगट जैसा माननेमें आता है (योग आदि साधन, आत्माका ध्यान, अध्यात्म-चिंतवन, शुष्क वेदान्त वगैरहसे), परन्तु वह ऐसा नहीं है।

जिनभगवान्‌का सिद्धान्त है कि जड़ किसी कालमें भी जीव नहीं हो सकता; और जीव किसी कालमें भी जड़ नहीं हो सकता; इसी तरह किसी कालमें 'सत्' भी सत्‌के सिवाय दूसरे किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं हो सकता; फिर भी आश्चर्य है कि इस प्रकार स्पष्ट समझमें आनेवाली बातमें जीव मोहित होकर अपनी कल्पनासे 'सत्' करनेका दावा करता है; उसे 'सत्' प्ररूपित करता है, और 'सत्' का उपदेश करता है।

जगत्‌में सुन्दर दिखानेके लिये मुमुक्षु जीव कुछ भी आचरण न करे, परन्तु जो सुन्दर हो उसका ही आचरण करे।

२३४

ववाणीआ, भाद्र. वदी ५ बुध. १९४७

आज आपका एक पत्र मिला। उसे पढ़कर सर्वात्माका चिंतवन अधिक याद आया है। हमें सत्संगका बारम्बार वियोग रखना, ऐसी हरिकी इच्छाको सुखदायक कैसे माना जाय? फिर भी माननी पड़ती है।

.......को दासत्वभावसे वंदन करता हूँ। इनकी "सत्" प्राप्त करनेके लिये यदि तीव्र इच्छा रहती हो तो भी सत्संगके बिना उस तीव्रताका फलदायक होना कठिन है। हमें तो कुछ भी

स्वार्थ नहीं है; इसलिये कह देना योग्य है कि वे प्रायः केवल 'सत्' से विमुख मार्गमें ही प्रवृत्ति करते हैं। जो उस तरह आचरण नहीं करता, वह हालमें तो अप्रगट रहनेकी ही इच्छा करता है। आश्चर्यकी बात तो यह कि कलिकालने थोड़े समयमें परमार्थको घेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

---

२३५ ववाणीआ, भाद्रपद वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है; कुछ भी अच्छा नहीं लगता; और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही अधिक नज़र पड़ता है; वही सुनाई देता है; तो अब क्या करें? मन किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है; कुछ भी वाँचन, लेखन अथवा जन-परिचयमें रुचि नहीं होती। प्रचलित मतके भेदोंकी बात कानमें पड़नेसे हृदयमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है। या तो तुम इस स्थितिको जानते हो, या जिसे इस स्थितिका अनुभव हुआ है वह जानता है, अथवा हरि जानते हैं।

---

२३६ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १० रवि. १९४७

"जो आत्मामें रमण कर रहे हैं ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि भी निष्कारण ही भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि भगवान्‌के गुण ऐसे ही हैं"—श्रीमद्भागवत।

---

२३७ ववाणीआ, भाद्रपद वदी ११ सोम. १९४७

जबतक जीवको संतका संयोग न हो तबतक मतमतांतरमें मध्यस्थ रहना ही योग्य है।

---

२३८ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १२ भौम. १९४७

बताने योग्य तो मन है कि जो सत्स्वरूपमें अखंड स्थिर हो गया है (जैसे नाग बाँसुरीके ऊपर); तथापि उस दशाके वर्णन करनेकी सत्ता सर्वाधार हरिने वाणीमें पूर्णरूपसे नहीं दी; और लेखमें तो उस वाणीका अनंतवाँ भाग भी मुश्किलसे आ सकता है। यह परिस्थिति रखनेका एकतम कारण यही है कि पुरुषोत्तमके स्वरूपमें हमारी और तुम्हारी अनन्य प्रेम-भक्ति अखण्ड रहे; वह प्रेम-भक्ति परिपूर्ण प्राप्त होओ, यही याचना करते हुए—अब अधिक नहीं लिखता। ईश्वरेच्छा.

---

२३९ ववाणीआ, भाद्रपद वदी १४ गुरु. १९४७

ॐ सत्

परम विश्राम सुभाग्य!

जैसे महात्मा व्यासजीको हुआ था, वैसा ही अब हमारा भी हाल है। आत्म-दर्शन पाने पर भी व्यासजी आनन्द-सम्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि उन्होंने हरिरस अखंडरूपसे नहीं गाया था। हमारा भी

यही हाल है। परम प्रेमसे अखंड हरिरसका अखंडपनेसे अनुभव करना अभी कहाँसे आ सकता है? और जबतक ऐसा न हो तबतक हमें जगत्में की एक वस्तुका एक अणु भी अच्छा लगनेवाला नहीं।

जिस युगमें भगवान् व्यासजी थे वह युग दूसरा था; यह कलियुग है; इसमें हरिस्वरूप, हरिनाम, और हरिजन देखनेमें नहीं आते, सुनने तकमें भी नहीं आते; इन तीनोंमेंसे किसीकी भी स्मृति हो, ऐसी कोई भी चीज़ देखनेमें नहीं आती। सब साधन कलियुगसे घिर गये हैं। प्रायः सभी जीव उन्मार्गमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, अथवा सन्मार्गके सन्मुख चलनेवाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। कहीं कोई मुमुक्षु हैं भी, परन्तु उन्हें अभी मार्गकी सन्निकटता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कपटीपना भी मनुष्योंमेंसे चला हीसा गया है; सन्मार्गका एक भी अंश और उसका सौवाँ अंश भी किसीमें नज़र नहीं पड़ता; केवलज्ञानका मार्ग तो सर्वथा विसर्जन ही हो गया है। कौन जाने हरिकी क्या इच्छा है? ऐसा कठिन काल तो अभी ही देखा है। सर्वथा मंद पुण्यवाले प्राणियोंको देखकर परम अनुकंपा उत्पन्न होती है; और सत्संगकी न्यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

बहुत बार थोड़ा थोड़ा करके कहा गया है, तो भी ठीक ठीक शब्दोंमें कहनेसे अधिक स्मरणमें रहेगा, इसलिये कहते हैं कि बहुत समयसे किसीके साथ अर्थ-संबंध और काम-संबंध बिलकुल ही अच्छा नहीं लगता। अब तो धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध भी अच्छा नहीं लगता। धर्म-संबंध और मोक्ष-संबंध तो प्रायः योगियोंको भी अच्छा लगता है; और हम तो उससे भी विरक्त ही रहना चाहते हैं। हालमें तो हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा लगता भी है उसका अत्यन्त वियोग है। अधिक क्या लिखें? सहन करना ही सुगम है।

---

२४० ववाणीआ, आसोज सुदी ६ गुरु. १९४७

१. 'परसमय' के जाने बिना 'स्वसमय' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

२. 'परद्रव्य' के जाने बिना 'स्वद्रव्य' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।

३. सन्मतिसूत्रमें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने कहा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

४. अक्षयभगत कविने कहा है:—

> कर्त्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म।
> जो तुं जीव तो कर्त्ता हरी, जो तुं शिव तो वस्तु खरी।
> तुं छो जीव ने तुं छो नाथ, एम कही अखे झटक्या हाथ।

यदि कर्त्तापनेका भाव मिट जाय तो कर्म छूट जाता है, यह महा भजनका मर्म है। यदि तू जीव है तो हरि कर्त्ता है; यदि तू शिव है तो वस्तु भी सत्य है। तू ही जीव है और तू ही नाथ है, ऐसा कहकर 'अक्षय' ने हाथ झटक लिया।

२४१ ववाणीआ, आसोज सुदी ७ शुक्र. १९४७

ॐ

(१)

अपनेसे अपने आपको अपूर्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है; जिससे यह प्राप्त होता है उसके स्वरूपकी पहिचान होना दुर्लभ है, और जीवकी भूल भी यही है.

इस पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंका संक्षेपमें नीचे उत्तर लिखा है:—

१-२-३ ये तीनों प्रश्न स्मृतिमें होंगे। इनमें यह कहा गया है :—

" १. ठाणांगमें जो आठ वादी कहे गये हैं, उनमें आप और हम कौनसे वादमें गर्भित होते हैं ?

२. इन आठ वादोंके अतिरिक्त कोई जुदा मार्ग ग्रहण करने योग्य हो तो उसे जाननेकी पूर्ण आकांक्षा है।

३. अथवा आठों वादियोंका एकीकरण करना, यही मार्ग है, या कोई दूसरा ? अथवा क्या उन आठों वादियोंके एकीकरणमें कुछ न्यूनाधिकता करके मार्ग ग्रहण करना योग्य है ? और है तो वह क्या है ? "—

इस संबंधमें यह जानना चाहिये कि इन आठ वादियोंके अतिरिक्त दूसरे दर्शनों—संप्रदायोंमें मार्ग कुछ (अन्वय) संबंधित रहता है, नहीं तो प्रायः (व्यतिरिक्त) जुदा ही रहता है। वे वादी, दर्शन, और सम्प्रदाय—ये सब किसी रीतिसे उसकी प्राप्तिमें कारणरूप होते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानीके बिना दूसरे जीवोंको तो वे बंधन भी होते हैं। जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे इन सबोंके साधारण ज्ञानको बाँचना और विचारना चाहिये; और बाकीमें मध्यस्थ रहना ही योग्य है। यहाँ 'साधरण ज्ञान' का अर्थ ऐसा ज्ञान करना चाहिये कि जिस ज्ञानके सभी शास्त्रोंमें वर्णन किये जानेपर भी जिसमें अधिक भिन्नता न आई हो।

" जिस समय तीर्थंकर आकर गर्भमें उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेते हैं, उस समय अथवा उस समयके पश्चात् क्या देवता लोग जान लेते हैं कि ये तीर्थंकर हैं ? और यदि जान लेते हैं तो किस तरह जानते हैं ? "—इसका उत्तर इस तरह है कि जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे देव अवधिज्ञानद्वारा तीर्थंकरको जानते हैं; सब नहीं जानते। जिन प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे जन्मसे तीर्थंकर अवधिज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्रकृतियोंके उनमें दिखाई न देनेसे वे सम्यग्ज्ञानी देव तीर्थंकरको पहिचान सकते हैं।

(२)

मुमुक्षुताके सन्मुख होनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको यथायोग्य प्रणाम करता हूँ।

हालमें अधिकतर परमार्थ-मौनसे प्रवृत्ति करनेका कर्म उदयमें रहता है, और इस कारण उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें काल व्यतीत होता है, और इसी कारणसे आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें ही उत्तर दिया है।

शांतमूर्ति सौभाग्य हालमें मोरबी है।

२४२　　ववाणीआ, आसोज सुदी १९४७

ॐ सत्.

हम परदेशी पंखी साधु, और देशके नांहि रे.

एक प्रश्नके सिवाय बाकीके प्रश्नोंका उत्तर जान-बूझकर नहीं लिख सका। "काल क्या खाता है?" इसका उत्तर तीन प्रकारसे लिखता हूँ।

सामान्य उपदेशमें काल क्या खाता है, इसका उत्तर यह है कि वह प्राणी मात्रकी आयु खाता है। व्यवहारनयसे काल 'पुराना' खाता है। निश्चयनयसे काल पदार्थ मात्रका रूपान्तर करता है—पर्यायान्तर करता है।

अन्तके दो उत्तर अधिक विचार करनेसे ठीक बैठ सकेंगे। 'व्यवहारनयसे काल पुराना खाता है?' ऐसा जो लिखा है, उसे नीचे विशेष स्पष्ट किया है:—

"काल पुराना खाता है"—पुराना किसे कहते हैं? जिस चीज़को उत्पन्न हुए एक समय हो गया, वही दूसरे समयमें पुरानी कही जाती है। (ज्ञानीकी अपेक्षासे) उस चीज़को तीसरे समय, चौथे समय, इस तरह संख्यात समय, असंख्यात समय, अनंत समय काल बदला ही करता है। वह दूसरे समयमें जैसी होती है वैसी तीसरे समयमें नहीं होती; अर्थात् दूसरे समयमें पदार्थका जो स्वरूप था, उसे खाकर तीसरे समयमें कालने पदार्थको कुछ दूसरा ही रूप प्रदान कर दिया; अर्थात् वह पुरानेको खा गया। पदार्थ पहिले समयमें उत्पन्न हुआ, और उसी समय काल उसको खा जाय, ऐसा व्यवहारनयसे बनना संभव नहीं है। पहिले समयमें पदार्थका नयापन गिना जायगा, परन्तु उस समय काल उसे खा नहीं जाता, किन्तु दूसरे समयमें बदल देता है, इसलिये ऐसा कहा है कि वह पुरानेको खाता है।

निश्चयनयसे यावन्मात्र पदार्थ रूपान्तरित होते ही हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी कालमें कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, ऐसा सिद्धांत है; और यदि पदार्थ सर्वथा नाश हो जाया करता तो आज कुछ भी न रहता; इसीलिये ऐसा कहा है कि काल खाता नहीं, परन्तु रूपान्तर करता है। इन तीन प्रकारके उत्तरोंमें पहिला उत्तर ऐसा है जो आसानीसे सबको समझमें आ सकता है।

यहाँ भी दशाके प्रमाणमें बाह्य उपाधि विशेष है। आपने इस बार कुछ थोड़ेसे व्यावहारिक (यद्यपि शास्त्रसंबंधी) प्रश्न लिखे थे, परन्तु हालमें ऐसे बाँचनमें भी चित्त पूरी तरह नहीं रहता, फिर उनका उत्तर कैसे लिखा जा सके?

२४३　　ववाणीआ, आसोज बदी १ रवि. १९४७

ॐ

यह तो आप जानते ही हो कि पूर्वापर अविरुद्ध भगवत्संबंधी ज्ञानके प्रगट करनेके लिये जबतक उसकी इच्छा नहीं, तबतक किसीका अधिक समागम नहीं किया जाता।

जबतक हम अभिन्नरूप हरिपदको अपनेमें न मानें तबतक हम प्रगट-मार्ग नहीं कहेंगे।

तुम लोग भी, जो हमें जानते हैं उन लोगोंके सिवाय अधिक लोगोंको, हमें नाम, स्थान और गाँवसे बताना नहीं।

एकसे अनंत है; जो अनन्त है वह एक है।

२४४

ववाणीआ, आसोज वदी ५, १९४७

आदि-पुरुष खेल लगाकर बैठा है

एक आत्म-वृत्तिके सिवाय नया-पुराना तो हमारे है कहाँ? और उसके लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है? नहीं तो सभी कुछ नया ही है, और सभी कुछ पुराना है।

२४५

ववाणीआ, आसोज वदी १० सोम. १९४७

ॐ

(१) परमार्थ-विषयमें मनुष्योंका पत्र-व्यवहार अधिक चलता है; और हमें वह अनुकूल नहीं आता। इस कारण बहुतसे उत्तर तो लिखे ही नहीं जाते; ऐसी हरि इच्छा है; और हमें यह बात प्रिय भी है।

(२) एक दशासे प्रवृत्ति है; और यह दशा अभी बहुत समयतक रहेगी। उस समयतक उदयानुसार प्रवृत्ति करना योग्य समझा है; इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्र आदिकी पहुँच मिलनेमें यदि विलम्ब हो जाय अथवा पहुँच न दी जाय, अथवा कुछ उत्तर न दिया जाय, तो उसके लिये खेद करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय करके ही हमसे पत्र-व्यवहार रखना।

२४६

ववाणीआ, आसोज वदी १९४७

(१) यही स्थिति—यही भाव और यही स्वरूप है। भले ही आप कल्पना करके दूसरी राह ले लें किन्तु यदि यथार्थ चाहते हो तो यह....लो।

विभंग ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है। इसमें मुख्य प्रवर्त्तकोंने जिस धर्म-मार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्यात् मुद्राकी आवश्यकता है।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है। श्रुतज्ञानकी अपेक्षा स्वरूपस्थित आत्मासे कही हुई शिक्षा है।

(२) पुनर्जन्म है—ज़रूर है—इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ।

(३) इस कालमें मेरा जन्म लेना, मानूँ तो दुःखदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है।

(४) अब ऐसा कोई बाँचन नहीं रहा कि जिसे बाँचनेकी जरूरत हो। जिसके संगमें आकर तद्रूपकी प्राप्ति हो जाया करती थी, ऐसे संगकी इस कालमें न्यूनता हो गई है।

विकराल काल!...........विकराल कर्म!...........विकराल आत्मा!............

... .जैसे................परंतु इस तरह................

अब ध्यान रक्खो। यही कल्याण है।

(५) यदि इतनी ही खोज कर सको तो सब कुछ पा जाओगे; निश्चयसे इसीमें है। मुझे अनुभव है। सत्य कहता हूँ। यथार्थ कहता हूँ। निःशंक मानो।

इस स्वरूपके संबंधमें कुछ कुछ किसी स्थलपर लिख डाला है।

---

२४७ ववाणीआ, आसोज वदी १२ गुरु. १९४७

ॐ पूर्णकामचित्तको नमो नमः

आत्मा ब्रह्म-समाधिमें है; मन वनमें है; एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है। इस स्थितिमें तुम दोनोंके पत्रोंका विस्तारपूर्वक और संतोषरूप उत्तर कैसे लिखा जाय, यह तुम्हीं कहो ?

जिनका धर्ममें ही निवास है, ऐसे इन मुमुक्षुओंकी दशा और रीति तुमको स्मरणमें रखनी योग्य है, और अनुकरण करने योग्य है।

जिससे एक समयके लिये भी विरह न हो; इस तरहसे सत्संगमें ही रहनेकी इच्छा है; परन्तु वह तो हरि इच्छाके आधीन है।

कलियुगमें सत्संगकी परम हानि हो गई है; अंधकार छाया हुआ है; इस कारण सत्संगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता।

तुम सब परमार्थ विषयमें कैसी प्रवृत्तिमें रहते हो, यह लिखना।

किसी एक नहीं कहे हुए प्रसंगके विषयमें विस्तारसे पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पड़ा है। वह प्रसंग गंभीर होनेके कारण उसको इतने वर्षोंतक हृदयमें ही रक्खा है। अब समझते हैं कि कहें, परन्तु तुम्हारी सत्संगतिके मिलने पर कहें तो कहें।

---

२४८ ववाणीआ, आसोज वदी १३ शुक्र. १९४७

श्री...स्वमूर्त्तिरूप श्री....विरहकी वेदना हमें अधिक रहती है; क्योंकि वीतरागता विशेष है; अन्य संगमें बहुत उदासीनता है। परन्तु हरि इच्छाका अनुसरण करके प्रसंग पाकर विरहमें रहना पड़ता है, और उस इच्छाको सुखदायक मानते हैं, ऐसा नहीं है। भक्ति और सत्संगमें विरह रखनेकी इच्छा सुखदायक माननेमें हमारा विचार नहीं रहता। श्रीहरिकी अपेक्षा इस विषयमें हम अधिक स्वतंत्र हैं।

---

२४९ बम्बई, १९४७

आर्त्तध्यानका ध्यान करनेकी अपेक्षा धर्मध्यानमें वृत्ति लाना, यही श्रेयस्कर है; और जिसके लिये आर्त्तध्यानका ध्यान करना पड़ता हो, वहाँसे या तो मनको उठा लेना चाहिये, अथवा उस कृत्यको कर डालना चाहिये कि जिससे विरक्त हुआ जा सके।

स्वच्छंद जीवके लिये बहुत बड़ा दोष है। यह जिसका दूर हो गया है, उसे मार्गका क्रम पाना बहुत सुलभ है।

---

२५० बम्बई, १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमें यदि सत्पुरुषोंके गुणोंका चिन्तवन, उनके वचनोंका मनन, उनके चारित्रका कथन, कीर्त्तन, और प्रत्येक चेष्टाका फिर फिरसे निदिध्यासन हो सकता हो, तो इससे मनका निग्रह अवश्य हो सकता है; और मनको जीतनेकी सचमुच यही कसौटी है।

ऐसा होनेसे ध्यान क्या है, यह समझमें आ जायगा; परन्तु उदासीनभावसे चित्त-स्थिरताके समयमें उसकी खूबी मालूम पड़ेगी।

---

२५१ बम्बई, १९४७

१. उदयको अबंध परिणामसे भोगा जाय, तो ही उत्तम है।

२. "दोके अंतमें रहनेवाली वस्तुको कितना भी क्यों न छेदें, फिर भी छेदी नहीं जाती, और भेदनेसे भेदी नहीं जाती"—श्रीआचारांग।

---

२५२ बम्बई, १९४७

आत्माके लिये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है; परन्तु जिसकी विचार-मार्गकी सामर्थ्य नहीं उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं, इत्यादि जो लिखा वह ठीक ही है।

श्री....स्वामीने केवलदर्शनसंबंधी कही हुई जो शंका लिखी उसे बाँची है। दूसरी बहुतसी बातें समझ लेनेके बाद ही उस प्रकारकी शंकाका समाधान हो सकता है, अथवा प्रायः उस प्रकारको समझनेकी योग्यता आती है।

हालमें ऐसी शंकाको संक्षिप्त करके अथवा शान्त करके विशेष निकट आत्मार्थका विचार ही योग्य है।

---

२५३ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ४ गुरु., १९४८

काल विषम आ गया है। सत्संका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी साता नहीं, अर्थात् मन कहीं भी विश्रांति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडंबना तो हमें नहीं है, तथापि निरन्तर सत्संग नहीं, यही बड़ी भारी विडम्बना है। लोक-संग अच्छा नहीं लगता।

---

२५४ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ७ रवि. १९४८

चाहे जो क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्र-वाचन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, और वह यह है कि जगत्को विस्मृत कर देना, और सत्के चरणमें रहना।

और इस एक ही लक्षके ऊपर प्रवृत्ति करनेसे जीवको उसे क्या करना योग्य है, और क्या करना अयोग्य है, यह बात समझमें आ जाती है, अथवा समझमें आने लगती है।

इस लक्षके सन्मुख हुए विना जप, तप, ध्यान अथवा दान किसीकी भी यथायोग्य सिद्धि नहीं है, और जबतक यह नहीं तबतक ध्यान आदि कुछ भी कामके नहीं हैं।

इसलिये इनमेंसे जो जो साधन हो सकते हों उन सबको, एकलक्षकी—जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—प्राप्ति होनेके लिये, करना चाहिये। जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नहीं; तथापि ये सब एकलक्षकी प्राप्तिके लिये ही हैं, और इस लक्षके विना जीवको सम्यक्त्व-सिद्धि नहीं होती।

अधिक क्या कहें? जितना ऊपर कहा है उतना ही समझनेके लिये समस्त शास्त्र रचे गये हैं।

---

२५५ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ८, १९४८

ॐ

किसी भी प्रकारका दर्शन हो, उसे महान् पुरुषोंने सम्यग्ज्ञान माना है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। पदार्थके यथार्थ-बोध प्राप्त होनेको ही सम्यग्ज्ञान माना गया है।

जिनका एक धर्म ही निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये। दर्शन आदिकी अपेक्षा यथार्थ-बोध श्रेष्ठ पदार्थ है। इस बातके कहनेका यहाँ अभिप्राय है कि किसी भी तरहकी कल्पनासे तुम कोई भी निर्णय करते हुए निवृत्त होओ।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है वह इस अर्थमें है कि "हमारे तुम्हें उस समागमकी सम्मति देनेसे समागमी लोग वस्तु-ज्ञानके संबंधमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा बोध करते हैं, वैसी ही हमारी भी मान्यता है; अर्थात् जिसे हम सत् कहते हैं, उसे भी हम हालमें मौन रहनेके कारण उनके समागमसे उस ज्ञानका बोध तुम्हें प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं।"

---

२५६ ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी ८ सोम. १९४८

यदि जगत् आत्मरूप माननेमें आये; और जो कुछ हुआ करे वह ठीक ही माननेमें आये; दूसरेके दोष देखनेमें न आयें; अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये; तो ही इस संसारमें रहना योग्य है; अन्य प्रकारसे नहीं।

वर्ष २५वाँ

२५७

ववाणीआ, कार्त्तिक सुदी १९४८

ॐ

यथायोग्य वंदन स्वीकार करना ।

समागम होनेपर दो-चार कारण मन खोलकर आपसे बात नहीं करने देते । अनंतकालकी वृत्ति, समागमी लोगोंकी वृत्ति और लोक-लज्जा ही प्रायः इस कारणका मूल होता है । ऐसी दशा प्रायः मेरी नहीं रहती कि ऐसे कारणोंसे किसी भी प्राणीके ऊपर कटाक्ष आये; परन्तु हालमें मेरी दशा कोई भी लोकोत्तर बात करते हुए रुक जाती है; अर्थात् मनका कुछ पता नहीं चलता ।

' परमार्थ-मौन ' नामका कर्म हालमें भी उदयमें है, इससे अनेक प्रकारका मौन भी अंगीकार कर रक्खा है; अर्थात् अधिकतर परमार्थसंबंधी बातचीत नहीं करते । ऐसा ही उदय-काल है । क्वचित् साधारण मार्गसंबंधी बातचीत करते हैं; अन्यथा इस विषयमें वाणीद्वारा, तथा परिचयद्वारा मौन और शून्यता ही ग्रहण कर रक्खी है । जबतक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषका स्वरूप नहीं जानता, तबतक ऊपर कहे हुए तीन कारण सर्वथा दूर नहीं होते, और तबतक ' सत् ' का यथार्थ कारण भी प्राप्त नहीं होता ।

ऐसी परिस्थिति होनेका कारण, तुम्हें मेरा समागम होनेपर भी बहुत व्यावहारिक और लोक-लज्जा-युक्त बात करनेका प्रसंग रहेगा; और उससे मुझे बहुत अरुचि है; आप किसीके भी साथ मेरा समागम होनेके पश्चात् इस प्रकारकी बातोंमें गुँथ जाँय, इसे मैंने योग्य नहीं समझा ।

२५८

आनन्द, मंगसिर सुदी गुरु. १९४८

ॐ

(ऐसा जो) परमसत्य उसका हम ध्यान करते हैं

भगवान्को सब कुछ समर्पण किये विना इस कालमें जीवका देहाभिमान मिटना संभव नहीं है, इसलिये हम सनातनधर्मरूप परमसत्यका निरन्तर ही ध्यान करते हैं । जो सत्यका ध्यान करता है, वह सत्य हो जाता है ।

२५९

बम्बई, मंगसिर सुदी १४ भौम. १९४८

ॐ सत्

श्रीसहजसमाधि

यहाँ समाधि है; स्मृति रहती है; तथापि निरुपायता है । असंग-वृत्ति होनेसे अणुमात्र भी उपाधि सहन हो सके, ऐसी दशा नहीं है, तो भी सहन करते हैं ।

विचार करके वस्तुको फिर फिरसे समझना; मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय नहीं मानना ।

ज्ञानीद्वारा किये हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें ही कल्याण है—फिर तो जैसी होनहार। सुधाके विषयमें हमें सन्देह नहीं है। तुम उसका स्वरूप समझो, और तब ही फल मिलेगा।

२६०

बम्बई, मंगसिर वदी १४ गुरु. १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
संयमश्रेणी फूलडेजी, पूजूं पद निष्पाव रे।

(आत्माकी अभेद चिंतनारूप) संयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभव करके क्षायिकभाव (जड़ परिणतिका त्याग) को प्राप्त जो श्रीसिद्धार्थके पुत्र, उनके निर्मल चरण-कमलको संयम-श्रेणीरूप फूलोंसे पूजता हूँ।

ऊपरके वचन अतिशय गंभीर हैं। यथार्थबोध स्वरूपका यथायोग्य.

२६१

बम्बई, पौष सुदी ३ रवि. १९४८

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
संयमश्रेणी फूलडेजी, पूजूं पद निष्पाव रे।[1]

दर्शन सकलना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे,
हितकरी जनने संजीवनी, चारो तेह चरावे रे।[2]

दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे,
दृष्टि थिरादिक तेहमां, समकित दृष्टिने हेरे रे।[3]

योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे,
भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे।[4]

२६२

बम्बई, पौष सुदी ५, १९४८

क्षायिक चरित्रको स्मरण करते हैं

जनक विदेहीकी बात लक्षमें है। करसनदासका पत्र लक्षमें है।

बोधस्वरूपका यथायोग्य.

---

१ इस पदके अर्थके लिये देखो ऊपर नं. २६०. अनुवादक.

२ समस्त दर्शनोंको नयरूपसे समझे, और स्वयं निजभावमें लीन रहे। तथा मनुष्योंको हितकर संजीवनीका चारा चरावे।

३ जो हमें भिन्न भिन्न दर्शन दिखाई पड़ते हैं, वे केवल ओघ-दृष्टिके फेरसे ही दिखाई देते हैं। स्थिरा आदि दृष्टिका भेद समकित-दृष्टिसे होता है।

४ इस दृष्टिमें योगका बीज ग्रहण करे, तथा जिनवरको शुद्ध प्रणाम करे; भावाचार्यकी सेवा और संसारसे उद्वेग हो, यही मोक्षकी प्राप्तिका मार्ग है।

२६३ वम्बई, पौष सुदी ७ गुरु. १९४८

ज्ञानीकी आत्माका अवलोकन करते हैं; और वैसे ही हो जाते हैं.

आपकी स्थिति लक्षमें है। अपनी इच्छा भी लक्षमें है। गुरु-अनुग्रहवाली जो बात लिखी है, वह भी सत्य है। कर्मका उदय भोगना पड़ता है, यह भी सत्य ही है। आपको पुनः पुनः अतिशय खेद होता है, यह भी जानते हैं। आपको वियोगका असह्य ताप रहता है, यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे सत्संगमें रहना योग्य है, ऐसा मानते हैं, तथापि हालमें तो ऐसा ही सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देश-कालमें यथायोग्य रहना—यथायोग्य रहनेकी ही इच्छा करना—यही उपदेश है। तुम अपने मनकी कितनी भी चिन्ता क्यों न लिखो तो भी हमें तुम्हारे ऊपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करता, अन्यथा करना उसे सूझता भी नहीं; फिर दूसरे उपायकी इच्छा भी नहीं करना, ऐसा निवेदन है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागता होनेपर भी व्यापारसंबंधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा दूसरी खाने-पीनेकी प्रवृत्ति मुश्किलसे कर सकते हैं। मनको कहीं भी विश्राम नहीं मिलता; प्रायः करके वह यहाँ किसीके समागमकी इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अधिक परमार्थ-वाक्य बोलनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके पूँछे हुए प्रश्नोंके उत्तर जाननेपर भी लिख नहीं सकते; चित्तका भी अधिक संग नहीं है; आत्मा आत्म-भावसे रहती है।

प्रति समयमें अनंत गुणविशिष्ट आत्मभाव वढ़ता जाता हो, ऐसी दशा है। जो प्रायः समझनेमें नहीं आती अथवा इसे जान सकें ऐसे पुरुषका समागम नहीं है।

श्रीवर्धमानकी आत्माको स्वाभाविक स्मरणपूर्वक प्राप्त हुआ ज्ञान था, ऐसा माल्म होता है। पूर्ण वीतरागका-सा बोध हमें स्वाभाविक ही स्मरण हो आता है, इसीलिये ००० हमने ०००० लिखा था कि तुम ' पदार्थ ' को समझो। ऐसा लिखनेमें और कोई दूसरा अभिप्राय न था।

---

२६४ वम्बई, पौष सुदी ११ सोम. १९४८

(१)

स्वरूप स्वभावमें है। ज्ञानीके चरण-सेवनके विना अनन्तकालतक भी प्राप्त न हो सके, ऐसा वह दुर्लभ भी है। आत्म-संयमका स्मरण करते रहते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णताकी इच्छा करते हैं।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे वियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निबंधनका कोई वड़ा प्रबंध उदयमें होनेके ही कारणसे हुआ माल्म होता है।

(२)

हम कभी कोई काव्य, पद अथवा चरण लिखकर भेजें और यदि आपने उन्हें कहीं अन्यत्र वाँचा अथवा सुना भी हो, तो भी उन्हें अपूर्व ही समझें। हम स्वयं तो हालमें यथाशक्य ऐसा कुछ करनेकी इच्छा करने जैसी दशामें नहीं हैं।

श्रीबोधस्वरूपका यथायोग्य.

२६५ बम्बई, पौष वदी ३ रवि. १९४८

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है;
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है;
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है,
जड़ परिनामनिकौ करता है पुदगल;
चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है। (समयसार-नाटक)

---

२६६ बम्बई, पौष वदी ९ रवि. १९४८.

एक परिनामके न करता दरव दोइ

(१) वस्तु अपने स्वरूपमें ही परिणमती है, ऐसा नियम है। जीव जीवरूप परिणमा करता है, और जड़ जड़रूप परिणमा करता है। जीवका मुख्य परिणमन चेतन (ज्ञान) स्वरूप है; और जड़का मुख्य परिणमन जड़त्व स्वरूप है। जीवका जो चेतन परिणाम है वह किसी भी प्रकारसे जड़ होकर नहीं परिणमता, और जड़का जो जड़त्व परिणाम है वह कभी चेतन परिणामसे नहीं परिणमता; ऐसी वस्तुकी मर्यादा है; और चेतन, अचेतन ये दो प्रकारके परिणाम तो अनुभवसिद्ध हैं। उनमेंसे एक परिणामको दो द्रव्य मिलकर नहीं कर सकते; अर्थात् जीव और जड़ मिलकर केवल चेतन परिणामसे परिणम नहीं सकते, अथवा केवल अचेतन परिणामसे नहीं परिणम सकते। जीव चेतन परिणामसे परिणमता है और जड़ अचेतन परिणामसे परिणमता है; ऐसी वस्तुस्थिति है; इसलिये जिनभगवान् कहते हैं कि एक परिणामको दो द्रव्य नहीं कर सकते। जो जो द्रव्य है, वह सब अपनी स्थितिमें ही होता है, और अपने स्वभावमें ही परिणमता है।

दोय परिनाम एक दर्व न धरतु है

इसी तरह एक द्रव्य दो परिणामोंमें भी नहीं परिणम सकता, ऐसी वस्तुस्थिति है। एक जीव द्रव्य चेतन और अचेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अथवा एक पुद्गल द्रव्य अचेतन और चेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता; केवल स्वयं अपने ही परिणाममें परिणम सकता है। अचेतन पदार्थमें चेतन परिणाम नहीं होता, और चेतन पदार्थमें अचेतन परिणाम नहीं होता; इसलिये एक द्रव्य दो प्रकारके परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अर्थात् दो परिणामोंको धारण नहीं कर सकता।

एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै

इसलिये दो द्रव्य एक क्रियाको कभी भी नहीं करते। दो द्रव्योंका सर्वथा मिल जाना योग्य नहीं है, क्योंकि यदि दो द्रव्योंके मिलनेसे एक द्रव्य उत्पन्न होने लगे तो वस्तु अपने स्वरूपका त्याग

कर दे; और ऐसा तो कभी भी हो नहीं सकता कि वस्तु अपने स्वरूपका ही सर्वथा त्याग कर दे। जब ऐसा नहीं होता तो दो द्रव्य सर्वथा एक परिणामको प्राप्त हुए बिना एक भी क्रिया कहाँसे कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं कर सकते।

दोइ करतूति एक दर्व न करतु है

इसी तरह एक द्रव्य दो क्रियाओंको भी धारण नहीं करता; क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते, इसलिये—

जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ

जीव और पुद्गलने कदाचित् एक क्षेत्रको रोक रक्खा हो तो भी—

अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है

कोई अपने अपने स्वरूपके सिवाय दूसरे परिणामको प्राप्त नहीं होता, और इसी कारण ऐसा कहा गया है कि—

जड़ परिनामनिकौ करता है पुदगल

देह आदिसे जो परिणाम होते हैं, उनका कर्त्ता पुद्गल है; क्योंकि वे देह आदि जड़ हैं; और जड़ परिणाम तो पुद्गलमें ही होता है। जब ऐसा ही है तो फिर जीव भी जीव-स्वरूपमें ही रहता है, इसमें अब किसी दूसरे प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं; ऐसा मानकर कहते हैं कि—

चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है

काव्यकर्त्ताके कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि तुम इस तरह वस्तुस्थितिको समझो तो ही जड़संबंधी निज-स्वरूपभाव मिट सकता है, और तो ही अपने स्वरूपका तिरोभाव प्रगट हो सकता है। विचार करो, स्थिति भी ऐसी ही है।

बहुत गहन बातको यहाँ संक्षेपमें लिखा है। (यद्यपि) जिसको यथार्थ बोध है उसे तो यह आसानीसे ही समझमें आ जायगी।

इस बातपर कईबार मनन करनेसे बहुत कुछ बोध हो सकेगा।

(२) चित्त प्रायः करके वनमें रहता है, आत्मा तो प्रायः मुक्तस्वरूप जैसी लगती है। वीतरागता विशेष है; बेगारकी तरह प्रवृत्ति करते हैं; दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं। जगत्से बहुत उदास हो गये हैं; वस्तीसे तंग आ गये हैं; दशा किसीसे भी कह नहीं सकते; कहें भी तो वैसा सत्संग नहीं है; मनको जैसा चाहें वैसा फिरा सकते हैं; इसीलिये प्रवृत्तिमें रह सके हैं। किसी प्रकारसे रागपूर्वक प्रवृत्ति न हो सकने जैसी दशा है, और ऐसी ही बनी रहती है। लोक-परिचय अच्छा नहीं लगता; जगत्में साता नहीं है, तथापि किये हुए कर्मोंकी निर्जरा करनी है इसलिये निरुपाय हैं।

यथार्थ बोधस्वरूपका यथायोग्य.

---

२६७ बम्बई, पौष वदी १४ गुरु. १९४८

जैसे बने वैसे सद्विचारका परिचय करनेके लिये (उपाधिमें लगे रहनेसे) जिससे योग्य रीतिसे प्रवृत्ति न होती हो, उस बातको ज्ञानियोंने लक्षमें रखने योग्य बताई है।

दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यत्वभावनासे वर्ताव करनेका अभ्यास रखना योग्य है। वैराग्यभावनासे भूषित शान्तसुधारस आदि ग्रन्थ निरन्तर चिंतन करने योग्य हैं। प्रमादमें वैराग्यकी तीव्रता—मुमुक्षुता—को मंद करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय रखना योग्य है। श्रीबोधस्वरूप.

---

२६८ बम्बई, माघ सुदी ५ बुध. १९४८

अनंतकालसे अपने स्वरूपका विस्मरण होनेसे जीवको अन्यभावका अभ्यास हो गया है। दीर्घ-कालतक सत्संगमें रहकर बोध-भूमिकाका सेवन होनेसे वह विस्मरण और अन्यभावका अभ्यास दूर होता है, अर्थात् अन्यभावसे उदासीनता प्राप्त होती है। इस कालके विषम होनेसे अपने रूपमें तन्मयता रहनी कठिन है, तथापि सत्संगका दीर्घकालीन सेवन तन्मयता प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं होता।

जिन्दगी अल्प है, और जंजाल अनन्त है; संख्यात धन है, और तृष्णा अनन्त है; वहाँ स्वरूप-स्मृति संभव नहीं हो सकती; परन्तु जहाँ जंजाल अल्प है, और जिन्दगी अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है, अथवा है ही नहीं, और सर्वसिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरूप-स्थिति होनी संभव है। अमूल्य ऐसा यह ज्ञान जीवन-प्रपंचसे आवृत होकर बहा चला जा रहा है। उदय बलवान है।

---

२६९ बम्बई, माघ सुदी १३ बुध. १९४८

(राग—प्रभाती)

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा, पुग्गलाधार नहीं तास रंगी,
पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्मे कदा न परसंगी।

(श्रीसुमतिनाथनुं स्तवन—देवचन्द्रजी)

---

२७० बम्बई, माघ वदी २ रवि. १९४८

(१)

अत्यन्त उदास परिणामसे रहनेवाले चैतन्यको, ज्ञानी लोग प्रवृत्तिमें होनेपर भी वैसा ही रखते हैं; फिर भी ऐसा कहा गया है:—

माया दुस्तर है, दुरंत है, क्षणभर भी—एक समयके लिये भी—इसको आत्मामें स्थान देना योग्य नहीं; ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यन्त उदास परिणाम उत्पन्न होता है; और ऐसे उदास परिणामकी प्रवृत्ति (गृहस्थपनेसे युक्त) अबंध-परिणामी कहे जाने योग्य है। जो बोध-स्वरूपमें स्थित है, वह मुश्किलसे इस तरहकी प्रवृत्ति कर सकता है, क्योंकि उसको तो परम वैराग्य है।

विदेहीपनेसे जो राजा जनककी प्रवृत्ति थी, वह अत्यन्त उदास परिणामके कारण ही थी; प्रायः

---

१ इस पदके अर्थके लिये देखो पत्र नं. २७० (२). अनुवादक.

उन्हें वह स्वभावतः आत्मामेंसे हुई थी, तथापि मायाके किसी दुरंत प्रसंगमें जैसे समुद्रमें नाव यत्किंचित् डोलायमान होती है, वैसे ही परिणामोंका डोलायमान होना संभव होनेसे, प्रत्येक मायाके प्रसंगमें जिसकी सर्वथा उदास अवस्था थी, ऐसे निजगुरु अष्टावक्रकी शरण स्वीकार करनेके कारण, वे मायाको आसानीसे पार कर सकने योग्य हो सके थे; क्योंकि महात्माके आलम्बनका ऐसा ही प्राबल्य है।

(२)

(१) यदि तुम और हम ही लौकिक दृष्टिसे प्रवृत्ति करेंगे तो फिर अलौकिक दृष्टिसे प्रवृत्ति कौन करेगा ?

आत्मा एक है अथवा अनेक; कर्त्ता है या अकर्त्ता; जगत्का कोई कर्त्ता है अथवा जगत् स्वतः ही उत्पन्न हुआ है; इत्यादि बातें क्रमपूर्वक सत्संग होनेपर ही समझने योग्य हैं; ऐसा समझकर इस विषयमें हालमें पत्रद्वारा नहीं लिखा।

सम्यक् प्रकारसे ज्ञानीमें अखंड विश्वास रखनेका फल निश्चयसे मुक्ति है।

संसारसंबंधी तुम्हें जो जो चिंतायें हैं, उन चिंताओंको प्रायः हम जानते हैं; और इस विषयमें तुम्हें जो अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं, उन्हें भी हम जानते हैं। इसी तरह सत्संगके वियोगके कारण तुम्हें परमार्थ-चिंता भी रहा करती है, उसे भी हम जानते हैं; दोनों ही प्रकारके विकल्प होनेसे तुम्हें आकुलता-व्याकुलता रहा करती है, इसमें भी आश्चर्य नहीं माळूम होता, अथवा असंभवता नहीं माळूम होती। अब इन दोनों ही प्रकारोंके विषयमें जो कुछ मेरे मनमें है; उसे खुले शब्दोंमें नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है।

संसारसंबंधी जो तुम्हें चिंता है, उसे ज्यों ज्यों वह उदयमें आये, त्यों त्यों उसे वेदन करना—सहन करना—चाहिये। इस चिंताके होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करनेके लिये ज्ञानी पुरुषको प्रवृत्ति करते हुए बाधा न आये। जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तभीसे किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगसे अथवा विद्याके योगसे निजसंबंधी अथवा परसंबंधी सांसारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा ले रक्खी है; और यह याद नहीं पड़ता कि इस प्रतिज्ञामें अबतक एक पलभरके लिये भी मंदता आई हो। तुम्हारी चिंता हम जानते हैं, और हम उस चिंताके किसी भी भागको जितना बन सके उतना वेदन करना चाहते हैं; परन्तु ऐसा तो कभी हुआ नहीं, वह अब कैसे हो ? हमें भी उदयकाल ऐसा ही रहता है कि हालमें ऋद्धि-योग हाथमें नहीं है।

प्राणीमात्र प्रायः आहार-पानी पा जाते हैं, तो फिर तुम जैसे प्राणीको कुटुम्बके लिये इससे विरुद्ध परिणाम आये, ऐसा सोचना कदापि योग्य ही नहीं है। कुटुम्बकी लाज बारम्बार बीचमें आकर जो आकुलता पैदा करती है, उसे चाहे तो रक्खो अथवा न रक्खो, तुम्हारे लिये दोनों ही समान हैं; क्योंकि जिसमें अपनी लाचारी है, उसमें तो जो हो सके उसे ही योग्य मानना, यही दृष्टि सम्यक् है।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है, वह तो आत्माकी स्वरूप-परिणति रहनेके कारण ही है। आत्माके स्वरूपके संबंधमें तो हममें प्रायः करके निर्विकल्पता ही रहना संभव है, क्योंकि अन्य भावमें मुख्यतः हमारी बिलकुल भी प्रवृत्ति नहीं है।

जिस दर्शनमें बंध, मोक्षकी यथार्थ व्यवस्था यथार्थरूपसे कही गई है, वह दर्शन निकट मुक्तिका कारण है; और इस यथार्थ व्यवस्थाको कहने योग्य हम यदि किसीको विशेषरूपसे मानते हैं तो वह श्रीतीर्थंकरदेव ही हैं।

और इन तीर्थंकरदेवका जो अंतर आशय है, वह प्रायः मुख्यरूपसे यदि आजकल किसीमें, इस क्षेत्रमें हो, तो वह हम ही होंगे, ऐसा हमें दृढ़रूपसे भासता है।

क्योंकि हमारा जो अनुभव-ज्ञान है उसका फल वीतरागता है, और वीतरागका कहा हुआ जो श्रुतज्ञान है, वह भी उसी परिणामका कारण माट्टम होता है; इस कारण हम उसके सच्चे वास्तविक अनुयायी हैं—सच्चे अनुयायी हैं।

किसी भी प्रकारसे वन और घर ये दोनों ही हमारे लिये तो समान हैं, तथापि पूर्ण वीतराग-भावके लिये वनमें हमें रहना अधिक रुचिकर लगता है; सुखकी इच्छा नहीं है, परन्तु वीतरागताकी इच्छा है।

जगत्‌के कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेके विषयमें लिखा, तो उस पुरुषार्थके करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चलनेका इस आत्माका स्वभाव जैसा हो गया है, और वैसा उदय-काल हालमें समीपमें माट्टम नहीं होता; फिर उसकी उदीर्णा करके वैसा काल ले आने जैसी हमारी दशा नहीं है।

" भिक्षा माँगकर गुजर चला लेंगे, परन्तु खेदखिन्न न होंगे; ज्ञानके अनन्त आनन्दके सामने यह दुःख तृणमात्र है "—इस आशयका जो वचन लिखा है, उस वचनको हमारा नमस्कार हो! ऐसा वचन वास्तविक योग्यताके बिना निकलना संभव नहीं है।

(२) " जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहीं है, और उसका पुद्गल आधार नहीं है, और वह पुद्गलके रंगवाला भी नहीं है; अपनी स्वरूप-सत्ताके सिवाय जो कुछ अन्य है, उसका वह स्वामी नहीं है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्व-रूपमें नहीं होता; वस्तुत्वकी दृष्टिसे देखनेपर वह कभी भी परसंगी भी नहीं है "—इस तरह " जीव नवी पुग्गली " आदि पदका सामान्य अर्थ है।

सुखदुखरूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे,
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे।[1]

(वासुपूज्यस्तवन—आनंदघन)

(३)

यहाँ समाधि है। पूर्णज्ञानसे युक्त समाधि बारंबार याद आया करती है।

' परमसत् ' का ध्यान करते हैं। उदासी रहती है।

२७१

बम्बई, माघ वदी ४, बुध. १९४८

जहाँ चारों ओर उपाधिकी ज्वाला प्रज्वलित हो रही हो, ऐसे प्रसंगमें समाधि रहनी परम दुष्कर है; और यह बात तो परमज्ञानी बिना होनी अत्यन्त ही कठिन है। हमें भी आश्चर्य होता है, तथापि प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा अनुभव है।

---

१ दुःख और सुख ये दोनों कर्मके फलरूप जानो। निश्चयसे तो एक आनन्द ही है। जिनेश्वरभगवान् कहते हैं कि आत्मा कभी भी चेतन-भावको नहीं छोड़ती।

जिसे यथार्थ आत्मभाव समझमें आया है, और वह उसे निश्चल रहता है, उसे ही यह समाधि प्राप्त होती है।

हम सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण वीतरागताको मानते हैं; और ऐसा ही अनुभव है।

२७२

बम्बई, माघ वदी ९ सोम. १९४८

जबहीतैं चेतन विभावसौं उलटि आपु,
समै पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है;
तबहीतैं जो जो लेन जोग सो सो सब लीनौ है,
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांड़ि दीनौ है।
लैवेकौ न रही ठौर, त्यागिविकौं नाहीं और,
बाकी कहा उवर्यौ जु, कारजु नवीनौ है;
संग त्यागि, अंग त्यागि, वचन तरंग त्यागि,
मन त्यागि, बुद्धि त्यागि, आपा सुद्ध कीनौ है।

कैसी अद्भुत दशा है ?

२७३

बम्बई, माघ वदी १० भौम. १९४८

जिस समय आत्मरूपसे केवल जागृत अवस्था रहती है, अर्थात् आत्मा अपने स्वरूपमें सर्वथा जागृत हो जाती है, उस समय उसे 'केवलज्ञान' होता है, ऐसा कहना योग्य है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका आशय है।

जिस पदार्थको तीर्थंकरने "आत्मा" कहा है, उसी पदार्थकी उसी स्वरूपसे प्रतीति हो—उसी परिणामसे आत्मा साक्षात् भासित हो—तब उसे 'परमार्थ सम्यक्त्व' है, ऐसा श्रीतीर्थंकरका अभिप्राय है।

जिसे ऐसा स्वरूप भासित हुआ है, ऐसे पुरुषोंमें जिसे निष्काम श्रद्धा है, उस पुरुषको 'बीजरुचि सम्यक्त्व' है।

जिस जीवमें ऐसे गुण हों कि जिससे ऐसे पुरुषकी बाधारहित निष्काम भक्ति प्राप्त हो, वह जीव 'मार्गानुसारी' है, ऐसा जिनभगवान् कहते हैं।

हमारा देहके प्रति यदि कुछ भी अभिप्राय है तो वह मात्र एक आत्मार्थके लिये ही है, दूसरे प्रयोजनके लिये नहीं। यदि दूसरे किसी भी पदार्थके लिये अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पदार्थके लिये नहीं, परन्तु आत्मार्थके लिये ही है। वह आत्मार्थ उस पदार्थकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हो, ऐसा हमें मालूम नहीं होता। "आत्मत्व" इस ध्वनिके सिवाय कोई दूसरी ध्वनि किसी भी पदार्थके ग्रहण अथवा त्याग करनेमें स्मरण करने योग्य नहीं। निरन्तर आत्मत्व जाने बिना—उस स्थितिके बिना—अन्य सब कुछ क्लेशरूप ही है।

२७४

बम्बई, माघ वदी ११ बुध. १९४८

सुद्धता विचारै ध्यावै, सुद्धतामें केलि करै,
सुद्धतामें थिर व्है अमृतधारा बरसै। (समयसार-नाटक)

२७५

बम्बई, माघ वदी १४ शनि. १९४८

अद्भुत दशाके काव्यका जो अर्थ लिखकर भेजा है वह यथार्थ है। अनुभवकी ज्यों ज्यों सामर्थ्य उत्पन्न होती जाती है त्यों त्यों ऐसे काव्य, शब्द, वाक्य याथातथ्यरूपसे परिणमते जाते हैं; इसमें आश्चर्यकारक दशाका वर्णन है।

जीवको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती और उसके प्रति भी अपने जैसी व्यावहारिक कल्पना रहती है। जीवकी यह कल्पना किस उपायसे दूर हो, सो लिखना। उपाधिका प्रसंग बहुत रहता है। सत्संगके बिना जी रहे हैं।

२७६

बम्बई, माघ वदी १४ रवि. १९४८

लैवेकौं न रही ठौर, त्यागिवेकौं नाहीं और,
बाकी कहा उबर्यौ जु, कारज नवीनौ है।

स्वरूपका भान होनेसे पूर्णकामता प्राप्त हुई; इसलिये अब किसी भी जगहमें कुछ भी लेनेके लिये नहीं रहा। मूर्ख भी अपने रूपका तो कभी भी त्याग करनेकी इच्छा नहीं करता; और जहाँ केवल स्वरूप-स्थिति है वहाँ तो फिर दूसरा कुछ रहा ही नहीं; इसलिये त्यागकी भी जरूरत नहीं रही। इस तरह जब कि लेना, देना ये दोनों ही निवृत्त हो गये तो दूसरा कोई नवीन कार्य करनेके लिये फिर बचा ही क्या? अर्थात् जैसा होना चाहिये वैसा हो गया तो फिर दूसरी लेने-देनेकी जंजाल कहाँसे हो सकती है? इसीलिये ऐसा कहा गया है कि यहाँ पूर्णकामता प्राप्त हुई है।

२७७

बम्बई, माघ वदी १९४८

ॐ

एक क्षणके लिये भी कोई अप्रिय करना नहीं चाहता, तथापि वह करना पड़ता है, यह बात ऐसा सूचित करती है कि पूर्वकर्मका कोई निबंधन अवश्य है।

अविकल्प समाधिका ध्यान क्षणभरके लिये भी नहीं मिटता; तथापि अनेक वर्ष हुए विकल्प-रूप उपाधिकी आराधना करते जाते हैं।

जबतक संसार है तबतक किसी तरहकी उपाधि होना तो संभव है; तथापि अविकल्प समाधिमें स्थित ज्ञानीको तो वह उपाधि भी कोई बाधा नहीं करती, अर्थात् उसे तो समाधि ही है।

इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान् श्रीमंतता नहीं भोगी, शब्द आदि विषयोंका पूरा वैभव प्राप्त नहीं हुआ, कोई विशेष राज्याधिकार सहित दिन नहीं बिताये, अपने निजके गिने जानेवाले ऐसे किसी धाम-आरामका सेवन नहीं किया, और अभी हालमें तो युवावस्थाका पहिला भाग ही चालू है, तथापि इनमेंसे किसीकी हमें आत्मभावसे कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति—अप्राप्ति दोनों समान जानकर बहुत प्रकारसे अविकल्प समाधिका ही अनुभव करते हैं।

ऐसा होनेपर भी बारम्बार वनवासकी याद आया करती है; किसी भी प्रकारका लोक-परिचय रुचिकर नहीं लगता; सत्संगकी ही निरंतर कामना रहा करती है; और हम अव्यवस्थित दशासे उपाधि-योगमें रहते हैं।

एक अविकल्प समाधिके सिवाय दूसरा कुछ वास्तविक रीतिसे स्मरण नहीं रहता, चिंतन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, अथवा कोई भी काम नहीं किया जाता।

ज्योतिष आदि विद्या अथवा अणिमा आदि सिद्धिको मायिक पदार्थ जानकर आत्माको इनका कचित् ही स्मरण होता है। इनके द्वारा कोई बात जानना अथवा सिद्ध करना कभी भी योग्य मालूम नहीं होता, और इस बातमें किसी प्रकारसे हालमें चित्तका प्रवेश भी नहीं रहा।

पूर्वनिबंधन जिस जिस प्रकारसे उदय आये, उस उस प्रकारसे ००० अनुक्रमसे वेदन करते जाना, ऐसा करना ही योग्य लगा है।

तुम भी, ऐसे अनुक्रममें भले ही थोड़ेसे थोड़े अंशमें ही प्रवृत्त क्यों न हुआ जाय, तो भी प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना; और किसी भी कामके प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़ जानेका अभ्यास कम करना; ऐसा करना अथवा होना यही ज्ञानीकी अवस्थामें प्रवेश करनेका द्वार है।

तुम किसी भी प्रकारका उपाधिका प्रसंग लिखते हो, वह यद्यपि बाँचनेमें तो आता ही है, तथापि उस विषयका चित्तमें जरा भी आभास न पड़नेके कारण प्रायः उत्तर लिखना भी नहीं बनता; इसे आप चाहे दोष कहो या गुण, परन्तु वह क्षमा करने योग्य है।

हमें भी सांसारिक उपाधि कोई कम नहीं है; तथापि उसमें निजपना नहीं रह जानेके कारण उससे घबराहट पैदा नहीं होती। उस उपाधिके उदय-कालके कारण हालमें समाधिका अस्तित्व गौणसा हो रहा है; और उसके लिये शोक रहा करता है। वीतरागभावका यथायोग्य.

२७८

बम्बई, माघ. १९४८

दीर्घकालतक यथार्थ-बोधका परिचय होनेसे बोध-बीजकी प्राप्ति होती है; और यह बोध-बीज प्रायः निश्चय सम्यक्त्व ही होता है।

जिनभगवान्‌ने जो बाईस प्रकारके परिषह कहे हैं उनमें 'दर्शन' परिषह नामका भी एक परिषह कहा गया है। इन दोनों परिषहोंका विचार करना योग्य है। यह विचार करनेकी

तुम्हारी भूमिका है; अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक) के विचारनेसे किसी प्रकारसे तुम्हें यथार्थ धीरज प्राप्त होना संभव है।

यदि किसी भी प्रकारसे अपने आप मनमें कुछ ऐसा संकल्प कर लें, कि ऐसी दशामें आ जाँय; अथवा इस प्रकारका ध्यान करें तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जायगी; तो वह संकल्प करना प्रायः (ज्ञानीका स्वरूप समझनेपर) मिथ्या है, ऐसा मालूम होता है।

यथार्थ-बोध किसे कहते हैं, इसका विचार करके—अनेक बार विचार करके—ज्ञानियोंने अपनी कल्पना निवृत्त करनेका ही विधान किया है।

अध्यात्मसारका बाँचन, श्रवण चालू है—यह अच्छा है। ग्रन्थके अनेक बार बाँचनेकी चिन्ता नहीं, परन्तु जिससे किसी प्रकार उसका दीर्घकालतक अनुप्रेक्षण रहा करे, ऐसा करना योग्य है।

परमार्थ प्राप्त होनेके लिये किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता रखनेको 'दर्शन' परिषह कहते हैं। यह परिषह उत्पन्न हो तो सुखकारक है; परन्तु यदि उसको धीरजसे वेदन किया जाय तो उसमेंसे दर्शनकी उत्पत्ति होना संभव है।

तुम्हें किसी भी प्रकारसे दर्शनपरिषह है, ऐसा यदि तुम्हें लगता हो तो उसका धीरजसे वेदन करना ही योग्य है; ऐसा उपदेश है। हम जानते हैं कि तुम्हें प्रायः दर्शनपरिषह है।

हालमें तो किसी भी प्रकारकी आकुलताके बिना वैराग्य-भावनासे—वीतराग-भावसे—ज्ञानीमें परम भक्तिभावसे—सत्शास्त्र आदि और सत्संगका परिचय करना ही योग्य है।

परमार्थके संबंधमें मनसे किये हुए संकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्य-तेजयुक्त पदार्थ इत्यादि दिखाई देने आदिकी इच्छा, मनःकल्पित ध्यान आदि, इन सब संकल्पोंकी जैसे बने तैसे निवृत्ति करना चाहिये।

शांतसुधारसमें कही हुई भावना, और अध्यात्मसारमें कहा हुआ आत्मनिश्चयाधिकार फिर फिरसे मनन करने योग्य हैं। इन दोनोंमें विशेषता मानना।

आत्मा है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; आत्मा नित्य है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; आत्मा कर्त्ता है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; आत्मा भोक्ता है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; मोक्ष है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय; और उसका उपाय है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय—वह बात बारम्बार विचारने योग्य है। अध्यात्मसार अथवा दूसरे किसी भी ग्रन्थमें यह बात हो तो विचारनेमें बाधा नहीं है। कल्पनाका त्याग करके ही विचारना योग्य है।

जनकविदेहीकी बात हालमें जाननेसे तुम्हें कोई फल न होगा।

बम्बई, माघ १९४८

२७१

ॐ

भ्रांतिके कारण सुखरूप भासित होनेवाले इन संसारी प्रसंगों और प्रकारोंमें जबतक जीवको प्रेम रहता है, तबतक जीवको अपने स्वरूपका भासित होना असंभव है; और सत्संगका माहात्म्य भी याथातथ्यरूपसे भासित होना असंभव है। जबतक यह संसारगत प्रेम असंसारगत प्रेमरूप

नहीं हो जाता तबतक निश्चयसे अप्रमत्तपनेसे बारम्बार पुरुषार्थका स्वीकार करना ही योग्य है; यह बात तीनों कालमें संदेहरहित है, ऐसा जानकर निष्कामरूपसे लिखी है।

---

२८० बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ बुध. १९४८

(१)

आरंभ और परिग्रहका ज्यों ज्यों मोह दूर होता जाता है, ज्यों ज्यों उनसे अपनेपनका अभिमान मंद पड़ता जाता है, त्यों त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है। अनंतकालसे जिससे परिचय चला आ रहा है ऐसा यह अभिमान प्रायः एकदम निवृत्त नहीं हो जाता; इस कारण तन, मन, धन आदि जिनमें अपनापन आ गया है, उन सबको ज्ञानीके प्रति अर्पण किया जाता है; ज्ञानी प्रायः उन्हें कुछ ग्रहण नहीं करते, परन्तु उनमेंसे अपनेपनके दूर करनेका उपदेश देते हैं; और करने योग्य भी यही है कि आरंभ, परिग्रहको बारम्बारके प्रसंगमें विचार विचारकर अपना होते हुए रोकना; तभी मुमुक्षुता निर्मल होती है।

(२)

" जीवको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती; उसके प्रति भी अपने समान ही व्यावहारिक कल्पना रहा करती है—जीवकी यह दशा किस उपायसे दूर हो ? " इस प्रश्नका उत्तर यथार्थ ही लिखा है। यह उत्तर वैसा है जिसे ज्ञानी अथवा ज्ञानीके आश्रयमें रहनेवाला ही जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है। मार्ग कैसा होना चाहिये, यह जिसे बोध नहीं है, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष, उसका यथार्थ उत्तर न दे सकें, यह भी यथार्थ ही है। " शुद्धता विचारे ध्यावे " इस पदके विषयमें फिर कभी लिखेंगे।

अंबारामजीकी पुस्तकके संबंधमें आपने विशेष बाँचन करके जो अभिप्राय लिखा है, उसके विषयमें बातचीत होनेपर फिर कभी कहेंगे। हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है, परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्त-ज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मालूम होती। और ऐसा ही है; तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं। जिसे हमने सैद्धान्तिक अथवा यथार्थ ज्ञान माना है, वह तो अत्यन्त ही सूक्ष्म है, और वह प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान है। विशेष फिर।

---

२८१ बम्बई, फाल्गुन सुदी १० बुध. १९४८

'फिर कभी लिखेंगे, फिर कभी लिखेंगे' ऐसा बहुतबार लिखकर भी लिखा नहीं जा सका, यह क्षमा-करने योग्य है; क्योंकि चित्तकी स्थिति प्रायः करके विदेही जैसी रहती है; इसलिये कार्यमें अव्यवस्था हो जाती है। हालमें जैसी चित-स्थिति है वैसी अमुक समयतक रक्खे बिना छुटकारा नहीं है।

ज्ञानी पुरुष बहुत बहुत हो गये हैं, परन्तु उनमें हमारे जैसे उपाधि-प्रसंग और उदासीन—अत्यन्त उदासीन–चित्तस्थितिवाले प्रायः थोड़े ही हुए हैं। उपाधिके प्रसंगके कारण आत्मासंबंधी जो

विचार है वे अखंडरूपसे नहीं हो सकते, अथवा गौणतासे हुआ करते हैं, ऐसा होनेके कारण बहुत कालतक प्रपंचमें रहना पड़ता है; और उसमें तो अत्यन्त उदास परिणाम हो जानेके कारण क्षणभरके लिये भी चित्त नहीं टिक सकता; इस कारण ज्ञानी सर्वसंग-परित्याग करके अप्रतिबद्धरूपसे विचरते हैं। सर्वसंग शब्दका लक्ष्यार्थ यह है कि ऐसा संग जो अखंडरूपसे आत्मध्यान अथवा बोधको मुख्यतासे न रहने दे। यह हमने संक्षेपमें ही लिखा है; और इसी क्रमको बाहरसे और अंतरसे भजा करते हैं।

देह होनेपर भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है, ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है; क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारी आत्मा अखंडरूपसे कहती है; और ऐसा ही है—अवश्य ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरण-रज मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यन्त कठिन वीतरागता अत्यंत आश्चर्यकारक है; तथापि वह स्थिति प्राप्त हो सकती है, इसी देहमें प्राप्त हो सकती है, यह निश्चय है। उसे प्राप्त करनेके लिये हम पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है; इसी देहमें ऐसा हुए बिना हमारी उदासीनता मिट जायगी, ऐसा माल्म नहीं होता, और ऐसा होना संभव है—अवश्य ऐसा ही है।

प्रायः करके प्रश्नोंका उत्तर लिखना न बन सकेगा, क्योंकि चित्त-स्थिति जैसी कही है वैसी ही रहा करती है। हालमें वहाँ कुछ बाँचना, विचारना चालू है या नहीं, यह प्रसंग पाकर लिखना। त्यागकी इच्छा करते हैं, परन्तु होता नहीं; वह त्याग कदाचित् तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही करें, तथापि उतना भी हालमें तो बनना संभव नहीं है। अभिन्न बोधमयका प्रणाम पहुँचे.

---

२८२ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ बुध. १९४८

(१)

उदास परिणाम आत्माको भजा करता है। निरुपायताका उपाय काल है। समझनेके लिये जो विगत लिखी है, वह ठीक है। ये बातें जबतक जीवके समझनेमें नहीं आतीं, तबतक यथार्थ उदासीन परिणति भी होना कठिन लगती है।

"सत्पुरुष पहिचाननेमें नहीं आते" इत्यादि प्रश्नोंको उत्तर सहित लिख भेजनेका विचार तो होता है, परन्तु लिखनेमें जैसा चाहिये वैसा चित्त नहीं रहता, और वह भी अल्पकालके लिये ही रहता है, इसलिये मनकी बात लिखनेमें नहीं आ पाती। आत्माको उदास परिणाम अत्यन्त भजा करता है। एक-आर्य जिज्ञासा-वृत्तिवाले पुरुषको करीब आठ दिन पहिले एक पत्र भेजनेके लिये लिखा था। बादमें अमुक कारणसे चित्तके रुक जानेपर वह पत्र ज्यों का त्यों छोड़ दिया, जो कि आपको पढ़नेके लिये भेजा है।

जो वास्तविक ज्ञानीको पहिचानते हैं, वे ध्यान आदिकी इच्छा नहीं करते, ऐसा हमारा अंतरंग अभिप्राय रहा करता है। जो ज्ञानीकी ही इच्छा करता है, उसे ही पहिचानता है और भजता है, वह वैसा ही हो जाता है, और उसे ही उत्तम मुमुक्षु जानना चाहिये।

(२)

विशेष करके वैराग्य प्रकरणमें, श्रीरामको जो अपने वैराग्यके कारण माछ्म हुए, वे बताये हैं, वे फिर फिरसे विचार करने जैसे हैं।

२८३

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११॥ गुरु. १९४८

चि. चंदुके स्वर्गवासकी खबर पढ़कर खेद हुआ। जो जो प्राणी देह धारण करते हैं, वे सब देहका त्याग करते हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखाई देती है; ऐसा होनेपर भी अपना चित्त इस देहकी अनित्यता विचारकर नित्य पदार्थके मार्गमें नहीं चलता, इस शोचनीय बातका बारम्बार विचार करना योग्य है।

मनको धीरज देकर उदासी छोड़े बिना काम नहीं चलेगा। दिलगीरी न करते हुए धीरजसे उस दुःखको सहन करना, यही अपना धर्म है।

इस देहको भी कभी न कभी इसी तरह त्याग देना है, यह बात स्मरणमें आया करती है, और संसारके प्रति विशेष वैराग्य रहा करता है।

पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुख-दुःख प्राप्त हो उसे समानभावसे वेदन करना, यह ज्ञानीकी शिक्षा याद आ जाती है, सो लिखी है। मायाकी रचना गहन है।

२८४

बम्बई, फाल्गुन सुदी १३ शुक्र. १९४८

परिणाममें अत्यंत उदासीनता रहा करती है। ज्यों ज्यों ऐसा होता है त्यों त्यों प्रवृत्ति-प्रसंग भी बढ़ा करता है। जिस प्रवृत्तिका प्रसंग होगा, ऐसी कल्पना भी न की थी, वह प्रसंग भी प्राप्त हो जाया करता है; और इस कारण ऐसा मानते हैं कि पूर्वमें बाँधे हुए कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्रतासे उदयमें आ रहे हैं।

२८५

बम्बई, फा. सुदी १४ शुक्र. १९४८

किसीका दोष नहीं; हमने कर्म बाँधे हैं इसलिये हमारा ही दोष है.

ज्योतिषकी आम्नायसंबंधी जो थोड़ीसी बातें लिखीं, वे पढ़ीं हैं। उसका बहुतसा भाग जानते हैं, तथापि उसमें चित्त जरा भी प्रवेश नहीं करता; और उस विषयका पढ़ना अथवा सुनना कदाचित् चमत्कारिक भी हो तो भी भाररूप ही माछ्म होता है; उसमें जरासी भी रुचि नहीं रही है।

हमें तो केवल एक अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रुचि रहती है; दूसरा जो कुछ भी करनेमें अथवा अनुकरण करनेमें आता है, वह सब आसपासके बंधनके कारण ही करते हैं।

हालमें जो कुछ व्यवहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाह्य उपयोगमें चलाना पड़ता है, इससे अत्यंत आकुलता आ जाती है।

जो कुछ पूर्वमें बंधन किया गया है, उन कर्मोंके निवृत्त होनेके लिये—भोग लेनेके लिये—

थोड़े ही कालमें भोग लेनेके लिये—इस व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन कर रहे हैं।

इस कामकी प्रवृत्ति करते समय जितनी हमारी उदासीन दशा थी, उससे भी आज विशेष है।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे, और व्यावहारिक संगमें प्रीति रक्खे, और परमार्थ प्राप्त हो जाय, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। पूर्वकर्म देखते हुए तो इस कामकी निवृत्ति हालमें ही हो जाय, ऐसा दिखाई नहीं देता।

इस कामके पीछे 'त्याग' ऐसा हमने ज्ञानमें देखा था; और हालमें भी ऐसा ही स्वरूप दिखाई देता है, इतनी आश्चर्यकी बात है। हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अवकाश नहीं है, ऐसा होनेपर भी बहुत कुछ समय इस काममें बिताते हैं।

---

२८६ बम्बई, फाल्गुन सुदी १५ रवि. १९४८

जिस ज्ञानसे भवका अन्त होता है, उस ज्ञानका प्राप्त होना जीवको बहुत दुर्लभ है; तथापि वह ज्ञान, स्वरूपसे तो अत्यन्त ही सुगम है, ऐसा हम मानते हैं। उस ज्ञानके सुगमतासे प्राप्त होनेमें जिस दशाकी आवश्यकता है, वह दशा प्राप्त होनी भी बहुत बहुत कठिन है, और इसके प्राप्त होनेके जो कारण हैं उनके मिले बिना जीवको अनंतकालसे भटकना पड़ा है। इन दो कारणोंके मिलनेपर मोक्ष होता है।

---

२८७ बम्बई, फाल्गुन वदी ४ गुरु. १९४८

चित्तमें अविक्षेपरूपसे रहना—समाधि रखना। उस बातको चित्तमें निवृत्ति करनेके लिये आपको लिखी है, और इसमें उस जीवकी अनुकंपाके सिवाय और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। हमें तो चाहे जो कुछ भी हो, तो भी समाधि ही रखनेकी दृढ़ता रहती है। अपने ऊपर यदि कोई आपत्ति, विडम्बना, घबराहट अथवा ऐसा ही कुछ आ पड़े, तो उसके लिये किसीपर दोषका आरोपण करनेकी हमारी इच्छा नहीं होती। तथा उसे परमार्थ-दृष्टिसे देखनेसे तो वह जीवका ही दोष है; व्यावहारिक-दृष्टिसे देखनेपर नहीं देखने जैसा है, और जहाँतक जीवकी व्यावहारिक-दृष्टि होती है वहाँतक पारमार्थिक दोषका ख्याल आना बहुत दुष्कर है।

मोक्षके दो मुख्य कारण जैसे आपने लिखे हैं वे वैसे ही हैं। विशेष फिर लिखूँगा।

---

२८८ बम्बई, फाल्गुन वदी ६ शनि. १९४८

यहाँ भाव-समाधि तो है; द्रव्य-समाधि लानेके लिये पूर्वकर्मको निवृत्त होने देना योग्य है।

दुःषमकालका बड़ेसे बड़ा चिह्न क्या है? अथवा दुःषमकाल किसे कहते हैं? अथवा उसे कौनसे मुख्य लक्षणसे पहिचान सकते हैं? यही विज्ञप्ति। बोधबीज.

---

२८९ बम्बई, फाल्गुन वदी १० बुध. १९४८

(१)

ॐ

उपाधि उदयरूपसे है। जिससे पूर्वकर्म तुरत ही निवृत्त हों, ऐसा करते हैं।

(२)

किसी भी प्रकारसे सत्संगका योग बने तो उसे किये रहना यही कर्त्तव्य है, और जिस प्रकारसे जीवको अपनापन विशेष हुआ करता हो अथवा वह बढ़ा करता हो, तो उस पकारसे जैसे बने तैसे संकोच करते रहना, यह भी सत्संगमें फल देनेवाली भावना है।

---

२९० बम्बई, सोमवती अमावस्या फा. वदी सोम. १९४८

ॐ

हम जानते हैं कि जो परिणाम बहुत समयमें प्राप्त होनेवाला है, वह उससे थोड़े समयमें प्राप्त होनेके लिये ही यह उपाधि-योग विशेषरूपसे रहता है।

हालमें हम यहाँ व्यावहारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरहसे देते हैं; तो भी वह मन व्यवहारमें लगता नहीं है; अपने ही विषयमें रहता है; इसलिये व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है। समस्त लोक तीनों कालमें दुःखसे पीड़ित माना गया है, और उसमें भी यह काल रहता है, यह तो महादुःषम काल है; और सर्वथा विश्रांतिका कारण कर्त्तव्यरूप जो 'श्रीसत्संग' है, वह तो सर्वकालमें प्राप्त होना दुर्लभ ही है; फिर वह इस कालमें प्राप्त होना बहुत बहुत ही दुर्लभ हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। हमारा मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे अथवा शब्द आदि विषयोंसे अप्रतिबंध जैसा है; कुटुम्बसे, धनसे, पुत्रसे, वैभवसे, स्त्रीसे, अथवा देहसे मुक्त जैसा है; उस मनका भी सत्संगमें बंधन रखना बहुत बहुत रहा करता है।

---

२९१ बम्बई, चैत्र सुदी २ बुध. १९४८

यह लोक-स्थिति ही ऐसी है कि उसमें सत्यकी भावना करना परम कठिन है। समस्त रचना असत्यके आग्रहकी भावना करानेवाली है।

लोक-स्थिति आश्चर्यकारक है।

ज्ञानीको सर्वसंग-परित्याग करनेका हेतु क्या होगा ?

---

२९२ बम्बई, चैत्र सुदी ९ बुध. १९४८

किन्हीं किन्हीं दुःखके प्रसंगोंमें ग्लानि हो आती है और उसके कारण वैराग्य भी रहा करता है, परन्तु जीवका सच्चा कल्याण और सुख तो ऐसा समझनेमें मालूम होता है कि इस सब ग्लानिका कारण अपना

उपार्जन किया हुआ प्रारब्ध हैं, जिसे भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, और उसे समतासे भोगना ही योग्य हैं; इसलिये मनकी ग्लानिको जैसे बने तैसे शान्त करना और जो कर्म उपार्जित नहीं किये वे भोगनेमें नहीं आते, ऐसा समझकर दूसरे किसीके प्रति दोष-दृष्टि करनेकी वृत्तिको जैसे बने तैसे शान्त करके समतासे प्रवृत्ति करना, यह योग्य मालूम होता है, और यही जीवका कर्त्तव्य है।

२९३

बम्बई, चैत्र सुदी १३ शुक्र. १९४८

ॐ

(१)

एक समयके लिये भी अप्रमत्तधाराको विस्मरण नहीं करनेवाला ऐसा आत्माकार मन वर्त्तमान समयमें उदयानुसार प्रवृत्ति करता हैं; और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति होती है उसका कारण पूर्वमें बंध करनेमें आया हुआ उदय ही है; उस उदयमें प्रीति भी नहीं और अप्रीति भी नहीं; समता है; और करने योग्य भी यही हैं।

(२)

समकितकी स्पर्शना कब हुई समझनी चाहिये? उस समय कैसी दशा रहती है? इस विषयका अनुभव करके लिखना।

सांसारिक उपाधिका जो कुछ भी होता हो उसे होने देना; यही कर्त्तव्य है, और यही अभिप्राय रहा करता हैं। धीरजसे उदयका वेदन करना ही योग्य है।

(३)

प्रतिबंधपना दुःखदायक है।

स्वरूपस्थ यथायोग्य.

२९४

बम्बई, चैत्र वदी १ बुध. १९४८

आत्म-समाधिपूर्वक योग-उपाधि रहा करती है; इस प्रतिबंधके कारण हालमें तो कुछ भी इच्छित काम नहीं किया जा सकता।

इसी हेतुके कारण श्रीऋषभ आदि ज्ञानियोंने शरीर आदिके प्रवृत्ति करनेके भानका भी त्याग किया था।

समस्थित भाव.

२९५

बम्बई, चैत्र वदी ५ रवि. १९४८

सत्संग होनेके समागमकी इच्छा करते हैं, परन्तु उपाधि-योगके उदयका भी वेदन किये बिना उपाय नहीं। जगत्में कोई दूसरे पदार्थ तो हमें किसी भी रुचिके कारण नहीं रहे। जो कुछ रुचि रही है वह केवल एक सत्यका ध्यान करनेवाले 'संत' के प्रति, जिसमें आत्माका वर्णन है ऐसे

'सत् शास्त्र' के प्रति, और परेच्छासे परमार्थके निमित्त कारण 'दान आदि' के प्रति रही है। आत्मा तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है।

---

२९६ बम्बई, चैत्र वदी ५ रवि. १९४८

जगत्के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीके अभिप्रायको देखकर नहीं प्राप्त किया। जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाता है, उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है.

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं। एक उपदेश प्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग। विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारने योग्य ग्रंथ है। जब हम जैन शास्त्रोंको बाँचनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते; जब वेदांत शास्त्र बाँचनेके लिये कहते हैं तो वेदांती होनेके लिये नहीं कहते; इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बाँचनेके लिये जो कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं। हालमें जैन और वेदांती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसी नहीं है।

---

२९७ बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९४८

जहाँ पूर्ण-कामता है, वहाँ सर्वज्ञता है.

जिसे बोध-बीजकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वरूप-सुखसे परितृप्ति रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उसी जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है।

यदि जीवको परितृप्ति न रहा करती हो तो उसे अखंड आत्म-बोध हुआ नहीं समझना।

---

२९८ बम्बई, वैशाख सुदी ३ शुक्र. १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

भाव-समाधि है; बाह्य उपाधि है; जो भावको गौण कर सके ऐसी वह स्थितिवाली है; तथापि समाधि रहती है।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके विषयमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकाश होता जाता है, उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंसे निस्पृहता आती जाती है; आत्म-सुखके कारण परितृप्ति रहती है। अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उसे मृत्युसे भी निर्भयता रहती है। जिसे ऐसा हो जाय उसे फिर अनित्यता रही है, ऐसा न कहें, तो यह बात सत्य ही है।

जिसे सच्चा आत्म-भान हो जाता है उसको 'मैं अन्य-भावका अकर्त्ता हूँ' ऐसा बोध उत्पन्न होनेकी जो अहंप्रत्यय-बुद्धि है, उसका विलय हो जाता है।

ऐसा ही समुज्ज्वल आत्म-भान बारम्बार रहा करता है, तथापि जैसेकी इच्छा करते हैं वैसा तो नहीं। समाधिरूप.

---

२९९ बम्बई, वैशाख सुदी ५ रवि. १९४८

हालमें तो अनुक्रमसे उपाधि-योग विशेष रहा करता है।

अनंतकाल व्यवहार करनेमें व्यतीत किया है, तो फिर उसकी जंजालमें, जिससे परमार्थका विसर्जन न किया जाय उसी तरह बर्ताव करना, ऐसा जिसका निश्चय हो गया है, उसे वैसे ही होता है, ऐसा हम मानते हैं।

वनमें उदासीनतासे स्थित योगीजन और तीर्थंकर आदिके आत्मत्वकी याद आती है।

---

३०० बम्बई, वैशाख सुदी १२ रवि. १९४८

१. मनमें बारम्बार विचारसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिरकर अन्य-भावमें अपनापन नहीं होता; और अखण्ड आत्म-ध्यान रहा करता है, ऐसी दशामें विकट उपाधि-योगका उदय आश्चर्यकारक है। हालमें तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति भी मुश्किलसे ही रहती है; और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त है नहीं, और हालमें ऐसी प्रवृत्ति करना यही कर्त्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

२. निरूपम आत्म-ध्यान जो तीर्थंकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। उस कालमें भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहा जाय? 'वनकी मारी कोयल' की कहावतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम पड़े हैं।

---

३०१ बम्बई, वैशाख वदी ६ भौम. १९४८

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी वाँछा रक्खी जाती है, तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है। ज्ञानी तो प्रायः इस तरह ही प्रवृत्ति करता है कि जिससे अपनेसे किसीको ऐसा प्रतिबंध न हो।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका—भी पूर्वकर्मके अनुसार ही करता है; जिससे ज्ञानमें प्रति-बद्धता आये इस तरहकी आजीविका नहीं करता, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगकी इच्छा नहीं करता, ऐसा मानते हैं।

जिसे ज्ञानीके प्रति सर्वथा निस्पृह भक्ति है; उससे अपनी इच्छा पूर्ण होती हुई न देखकर भी

जिसे दोष देना नहीं आता, ऐसे जीवकी ज्ञानीके आश्रयसे धीरजपूर्वक चलनेसे आपत्तिका नाश होता है; अथवा आपत्ति बहुत मंद पड़ जाती है, ऐसा मानते हैं; तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहना बहुत ही कठिन है, और इस कारण जैसा कि ऊपर कहा है, बहुतबार ऐसा परिणाम आनेसे रुक जाता है।

हमें तो ऐसी जंजालमें उदासीनता रहती है; हमारे भीतर विद्यमान परम वैराग्य व्यवहार-विषयमें मनको कभी भी नहीं लगने देता, और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिन ही रखना पड़ता है। हालमें तो ऐसा उदय चल रहा है। इससे माल्रम होता है कि वह भी सुखका ही हेतु है।

आज पाँच मास हुए तबसे हम जगत्, ईश्वर और अन्यभाव—इन सबसे उदासीनरूपसे रहते हैं, तथापि यह बात गंभीर होनेके कारण तुम्हें नहीं लिखी। तुम जिस प्रकारसे ईश्वर आदिके विषयमें श्रद्धाशील हो, तुम्हारे लिये उसी तरह प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है। हमें तो किसी भी तरहका भेदभाव उत्पन्न न होनेके कारण सब कुछ जंजालरूप ही है; अर्थात् ईश्वर आदि तकमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढ़कर तुम्हें किसी प्रकारसे संदेहमें पड़ना योग्य नहीं।

हालमें तो हम 'अबरूप' से रहते हैं, इस कारण किसी प्रकारकी ज्ञान-वार्त्ता भी नहीं लिख सकते; परन्तु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे ही है; यह बात तो शंकारहित है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी दूसरे स्थलपर प्रतिबद्ध होता ही नहीं; क्षणभरके लिये भी अन्य-भावमें स्थिर नहीं रहता—स्वरूपमें ही स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है, वह हालमें तो कैसे भी कहा नहीं जाता। बहुत महिने बीत जानेके कारण तुम्हें लिखकर ही संतोष माने लेते हैं। नमस्कार बाँचना। हम भेदरहित हैं।

---

३०२ बम्बई, वैशाख वदी १३ भौम. १९४८

जिसे निरंतर ही अभेद-ध्यान रहा करता है, ऐसे श्रीबोध-पुरुषका यथायोग्य बाँचना। यहाँ भावविषयक तो समाधि ही रहती ही है, और बाह्यविषयक उपाधि-योग रहता है; तुम्हारे आये हुए तीनों पत्र प्राप्त हुए हैं, और इसी कारण प्रत्युत्तर नहीं लिखा।

इस कालकी ऐसी विषमता है कि जिसको बहुत समयतक सत्संगका सेवन हुआ हो, तो ही जीव-विषयक लोक-भावना कम हो सकती है, अथवा लयको प्राप्त हो सकती है। लोक-भावनाके आवरणके कारण ही जीवको परमार्थ भावनाके प्रति उल्लास-परिणति नहीं होती, और जबतक यह नहीं होती तबतक लोक-सहवास भवरूप ही होता है।

जो निरन्तर सत्संगके सेवन करनेकी इच्छा करता है ऐसे मुमुक्षु जीवको, जबतक उस योगका विरह रहता है, तबतक दृढ़ भावसे उस भावनाकी इच्छासहित प्रत्येक कार्य करते हुए विचारपूर्वक प्रवृत्ति करके अपनेको लघु मानकर, अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाह करके, सरलतासे वर्त्ताव करते रहना योग्य है; और जिस कार्यके द्वारा उस भावनाकी उन्नति हो, ऐसी ज्ञान-वार्ता अथवा ज्ञान-लेख अथवा ग्रन्थका कुछ कुछ विचार करते रहना योग्य है।

जो बात ऊपर कही है, उसमें तुम लोगोंको बाधा करनेवाले अनेक प्रसंग आया करते हैं; यह हम जानते हैं; तथापि उन सब बाधा पहुँचानेवाले प्रसंगोंमें जैसे बने वैसे सदुपयोगसे विचार-पूर्वक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करना, यह क्रम क्रमसे ही होने जैसी बात है। किसी भी प्रकारसे मनमें संताप करना योग्य नहीं; जो कुछ पुरुषार्थ हो उसे करनेकी दृढ़ इच्छा रखनी ही योग्य है; और जिसे परमबोध स्वरूपकी पहिचान है ऐसे पुरुषको तो निरन्तर ही पुरुषार्थके विषयमें वैसी प्रवृत्ति करते रहनेमें घबड़ाना योग्य नहीं है।

अनंतकालमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी प्राप्तिके लिये यदि अमुक काल व्यतीत हो जाय तो भी कोई हानि नहीं है। हानि केवल इसीमें है कि अनंतकालमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसके विषयमें भ्रान्ति हो—भूल हो। यदि परम ज्ञानीका स्वरूप भासमान हो गया है तो फिर उसके मार्गमें भी अनुक्रमसे जीवका प्रवेश हो सकता है, यह आसानीसे समझमें आ सकने जैसी बात है।

जिस तरह मन ठीक रीतिसे चले, इस तरहसे वर्ताव करो। वियोग है तो उसमें कल्याणका भी वियोग है, यह बात सत्य है; तथापि यदि ज्ञानीके वियोगमें भी उसी विषयमें चित्त रहता है तो कल्याण है। धीरजका त्याग करना योग्य नहीं। श्रीस्वरूपका यथायोग्य.

---

३०३ बम्बई, वैशाख वदी १४ बुध. १९४८

(१)

मोहमयीसे जिसकी अमोहरूप स्थिति है, ऐसे श्री....का यथायोग्य.

"मनके कारण ही यह सब कुछ है," ऐसा जो अबतकका किया हुआ निर्णय लिखा वह सामान्यरूपसे तो याथातथ्य है; तथापि 'मन', 'उसके कारण ही', 'यह सब कुछ', और 'उसका निर्णय', ये जो इस वाक्यके चार भाग होते हैं, यह बहुत समयके ज्ञानसे यथार्थरूपसे समझमें आता है, ऐसा मानते हैं। जिसकी समझमें यह आ जाता है, उसके वशमें मन रहता है, यह बात निश्चयरूप है; तथापि यदि न रहता है तो भी वह आत्मस्वरूपमें ही रहता है। मनके वशमें होनेका यह उत्तर ऊपर लिखा है, यही सबसे मुख्य है। जो वाक्य लिखा गया है वह बहुत प्रकारसे विचारने योग्य है।

महात्माकी देह दो कारणोंसे विद्यमान रहती है:—प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिये, और जीवोंके कल्याणके लिये; तथापि वह महात्मा इन दोनोंमें उदासरूपसे उदय आई हुई प्रवृत्तिसे रहता है; ऐसा मानते हैं।

ध्यान, जप, तप, और यदि इन क्रियाओंके द्वारा ही हमारे द्वारा कहे हुए वाक्यको परम फलका कारण समझते हो और यदि उसे निश्चयसे समझते हो तो—पीछेसे बुद्धि लोक-संज्ञा, शास्त्र-संज्ञापर न जाती हो तो—और चली गई हो तो वह भ्रांतिपूर्वक चली गई है, ऐसा समझते हो तो—और उस वाक्यको अनेक प्रकारके धीरजसे विचारनेकी इच्छा हो तो ही लिखनेकी इच्छा होती है।

अभी इससे विशेषरूपसे निश्चयविषयक धारणा करनेके लिये लिखना आवश्यक जैसा मालूम होता है, तथापि चित्त अवकाशरूपसे नहीं रहता, इसलिये जो लिखा है उसको मुख्यरूपसे मानना।

(२)

सब प्रकारसे उपाधि-योगको तो निवृत्त करना ही योग्य है; तथापि यदि उस उपाधि-योगकी सत्संग आदिके लिये ही इच्छा की जाती हो, तथा पिछली चित्त-स्थिति समभावसे रहती हो तो उस उपाधि-योगमें प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है। अप्रतिबद्ध प्रणाम.

---

३०४ बम्बई, वैशाख १९४८

चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न पड़ें, तथापि ज्ञानीद्वारा सांसारिक फलकी इच्छा करनी योग्य नहीं.

उदय आये हुए अंतरायको सम-परिणामसे वेदन करना योग्य है, विषम-परिणामसे वेदन करना योग्य नहीं।

तुम्हारी आजीविकासंबंधी स्थिति बहुत समयसे मालूम है; यह पूर्वकर्मका योग है।

जिसे यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता; इसलिये तुमने जो आकुलताके कारण इच्छा प्रगट की है, उसे निवृत्त करना ही योग्य है।

यदि ज्ञानीके पास सांसारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षुको उसकी किसी भी प्रकारसे इच्छा करना योग्य नहीं है। प्रायः करके यदि ज्ञानीके पास ऐसा वैभव होता है तो वह मुमुक्षुकी विपत्ति दूर करनेके लिये उपयोगी होता है। पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी, मुमुक्षुको सांसारिक फल देनेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि ज्ञानी अकर्त्तव्य नहीं करते।

हम जानते हैं कि तुम्हारी इस प्रकारकी स्थिति है कि जिसमें धीरज रहना कठिन है; ऐसा होनेपर भी धीरजमें एक अंशकी भी न्यूनता न होने देना, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है; और यही यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है।

हालमें तो हमारे पास ऐसा कोई सांसारिक साधन नहीं है कि हम उस मार्गसे तुम्हारे लिये धीरजके कारण हो सकें, परन्तु ऐसा प्रसंग लक्षमें रक्खेंगे; बाकीके दूसरे प्रयत्न करने योग्य ही नहीं हैं।

किसी भी प्रकारका भविष्यका सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय करना ही तुम्हें योग्य है; भविष्यमें जो होना होगा, वह होगा, वह तो अनिवार्य है, ऐसा मानकर परम पुरुषार्थकी ओर सन्मुख होना ही योग्य है।

किसी प्रकारसे भी लोकलज्जारूपी इस भयके स्थान ऐसे भविष्यको विसमरण करना ही योग्य है। उसकी चिंतासे परमार्थका विस्मरण होता है; और ऐसा होना महा आपत्तिरूप है; इसलिये इतना ही वारम्बार विचारना योग्य है कि जिससे वह आपत्ति न आये। बहुत समयसे आजीविका और लोक-लज्जाका खेद तुम्हारे अंतरमें इकट्ठा हो रहा है, इस विषयमें अब तो निर्भयपना ही अंगीकार करना योग्य है। फिरसे कहते हैं कि यही कर्त्तव्य है। यथार्थ बोधका यही मुख्य मार्ग है। इस स्थलमें भूल खाना योग्य नहीं है।

लज्जा और आजीविका मिथ्या हैं। कुटुम्ब आदिका ममत्व रक्खोगे तो भी जो होना होगा

वह तो होगा ही। उसमें समता रक्खोगे तो भी जो होना होगा वह होगा; इसलिये निःशंकतासे निरभिमानी होना ही योग्य है—सम परिणामसे रहना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है।

यह जबतक नहीं होता तबतक यथार्थ बोध भी नहीं होता।

३०५

बम्बई, वैशाख १९४८

जिनागम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषोंने उसका उपशमके लिये प्ररूपण किया है—उपदेश किया है। यह उपशम आत्मार्थके लिये है, दूसरे किसी भी प्रयोजनके लिये नहीं। आत्मार्थके लिये यदि उसका आराधन नहीं किया गया, तो उस जिनागमका श्रवण और बाँचन निष्फल जैसा है; यह बात हमें तो निस्संदेह यथार्थ माछ्म होती है।

दुःखकी निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं, और इस दुःखकी निवृत्ति, जिससे दुःख उत्पन्न होता है, ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषकी निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं है। उस राग आदिकी निवृत्ति एक आत्म-ज्ञानको छोड़कर दूसरे किसी भी प्रकारसे भूतकालमें हुई नहीं, वर्त्तमानकालमें होती नहीं, और भविष्यकालमें हो नहीं सकेगी; ऐसा सब ज्ञानी पुरुषोंको भासित हुआ है। अतएव जीवके लिये प्रयोजनरूप जो आत्म-ज्ञान है, उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुके वचनका श्रवण करना अथवा सत्शास्त्रका विचारना ही है। जो कोई जीव दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करता हो—उसे दुःखसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करनी हो—तो उसे एक इसी मार्गकी आराधना करनेके सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये जीवको सब प्रकारके मतमतांतरका, कुल-धर्मका, लोक-संज्ञारूप धर्मका, ओघसंज्ञा-रूप धर्मका उदास भावसे सेवन करके, एक आत्म-विचार कर्त्तव्यरूप धर्मका सेवन करना ही योग्य है।

एक बड़ी निश्चयकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करनी योग्य है कि सत्संगके समान कल्याण-का अन्य कोई बलवान कारण नहीं है; और उस सत्संगमें निरंतर प्रति समय निवास करनेकी इच्छा करना, असत्संगका प्रत्येक क्षणमें अन्यथाभाव विचारना, यही श्रेयरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुभवमें लाने जैसी है।

प्रारब्धके अनुसार स्थिति है, इसलिये बलवान उपाधि-योगसे विषमता नहीं आती; अत्यंत अरुचि हो जानेपर भी, उपशम—समाधि—यथारूप रहती है; तथापि निरंतर ही चित्तमें सत्संगकी भावना रहा करती है। सत्संगका अत्यंत माहात्म्य जो पूर्वभवमें वेदन किया है, वह फिर फिरसे स्मृतिमें आ जाता है; और निरंतर अभंगरूपसे वह भावना स्फुरित रहा करती है।

जबतक इस उपाधि-योगका उदय है, तबतक समवस्थापूर्वक उसे निवाहना, ऐसा प्रारब्ध है; तथापि जो काल व्यतीत होता है वह प्रायः उसके त्यागके भावमें ही व्यतीत होता है।

निवृत्ति जैसे क्षेत्रमें चित्तकी स्थिरतापूर्वक यदि हालमें सूत्रकृतांगसूत्रके श्रवण करनेकी इच्छा हो तो श्रवण करनेमें कोई बाधा नहीं। वह केवल जीवके उपशमके लिये ही करना योग्य है। किस मतकी विशेषता है, और किस मतकी न्यूनता है, ऐसे परार्थमें पड़नेके लिये उसका श्रवण करना योग्य नहीं है।

ऐसा हमारा निश्चय है कि जिन पुरुषोंने इस सूत्रकृतांगकी रचनाकी है वे आत्मस्वरूप पुरुप थे।

'जीवको यह कर्मरूपी जो क्लेश प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो?' इस प्रश्नको मुमुक्षु शिष्यके हृदयमें उद्भूत करके, वह 'बोध प्राप्त करनेसे दूर हो सकता है' यह सूत्रकृतांगका प्रथम वाक्य है। फिर शिष्यको दूसरा प्रश्न होता है कि 'वह बंधन क्या है, और वह क्या जाननेसे दूर हो सकता है; तथा उस बंधनको वीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है?' इस प्रकारके वाक्यद्वारा यह प्रश्न रक्खा गया है; अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें यह वाक्य रखकर ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि हम तुम्हें आत्मस्वरूप ऐसे श्रीवीरस्वामीका कहा हुआ आत्मस्वरूप कहेंगे; क्योंकि आत्मस्वरूपके लिये आत्मस्वरूप पुरुप ही अत्यंत प्रतीतिके योग्य है। इसके पश्चात् ग्रन्थकार जो उस बंधनका स्वरूप कहते हैं, वह फिर फिरसे विचार करने योग्य है। तत्पश्चात् इसपर विशेष विचार करनेसे ग्रन्थकारको याद आया कि यह समाधि-मार्ग आत्माके निश्चयके बिना प्राप्त नहीं होता; तथा जगत्वासी जीव अज्ञानी उपदेशकोंसे जीवका अन्यथा स्वरूप जानकर—कल्याणका अन्यथा स्वरूप जानकर—अन्यथाको ही सत्य मान बैठे हैं; उस निश्चयका भंग हुए बिना—उस निश्चयमें सन्देह पड़े बिना—जो समाधि-मार्ग हमने अनुभव किया है, वह उन्हें किस प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा—ऐसा जानकर ग्रंन्थकार कहते हैं कि 'ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञातपनेसे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहते हैं।' इस अन्यथा प्रकारके कथनके पश्चात् ग्रन्थकार निवेदन करते हैं कि कोई पंचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते हैं, और इन्हींसे आत्माका उत्पन्न होना भी मानते हैं; जो ठीक नहीं बैठता; ऐसा कहकर ग्रन्थकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं। जिस जीवने अपनी नित्यता ही नहीं जानी, तो फिर वह निर्वाणका यत्न किस प्रयोजनसे करेगा? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखलाई गई है। इसके पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय दिखाकर यथार्थ अभिप्रायका उपदेश करके यथार्थ मार्गके बिना छुटकारा नहीं, गर्भ दूर नहीं होता, जन्म दूर नहीं होता, मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होती; और जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ऐसे सबके सब मतवादी ऐसे ही विषयोंमें निमग्न हैं कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता—इस प्रकार विशेष उपदेशरूप आग्रहपूर्वक प्रथम अध्ययन समाप्त किया है। उसके पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे आत्मार्थके लिये उपशम-कल्याणका उपदेश दिया है। इसे लक्षपूर्वक पढ़ना और श्रवण करना योग्य है। कुल-धर्मके लिये सूत्रकृतांगका पढ़ना और श्रवण करना निष्फल है।

३०६

बम्बई, वैशाख वदी १९४८

श्रीस्तंभतीर्थवासी जिज्ञासुको श्री७०० मोहमयीसे अमोहस्वरूप श्री०००० का आत्म-समान-भावकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य बाँचना।

हालमें यहाँ बाह्य प्रवृत्तिका संयोग विशेषरूपसे रहता है। ज्ञानीका देह उपार्जन किये हुए पूर्वकर्मके निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकंपाके लिये होता है।

जिस भावसे संसारकी उत्पत्ति होती है, वह भाव जिसमेंसे निवृत्त हो गया है, ऐसा ज्ञानी भी बाह्य प्रवृत्तिकी निवृत्ति और सत्समागमके निवासकी इच्छा करता है। जहाँतक इस योगका उदय प्राप्त नहीं होता, वहाँतक जो प्राप्त-स्थितिमें अविषमतासे रहते हैं, ऐसे ज्ञानीके चरणारविन्दकी फिर फिरसे स्मृति आ जानेसे हम उनको परम विशिष्टभावसे नमस्कार करते हैं।

हालमें जिस प्रवृत्ति-योगमें रहते हैं वह बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्म-दशाकी अखंडतामें इस प्रवृत्ति-योगसे कोई बाधा नहीं आती; इसलिये उदय आये हुए योगकी ही आराधना करते हैं।

हमारा प्रवृत्ति-योग जिज्ञासुके प्रति कल्याण प्राप्त होनेके संबंधमें किसी प्रकार वियोग-रूपसे रहता है।

जिसमें सत्स्वरूप रहता है, ऐसे ज्ञानीमें लोक-स्पृहा आदिका त्याग करके जो भावपूर्वक भी आश्रितरूपसे रहता है, वह निकटरूपसे कल्याणको प्राप्त करता है; ऐसा मानते हैं।

निवृत्तिके समागमकी हम बहुत प्रकारसे इच्छा करते हैं, क्योंकि इस प्रकारके अपने रागको हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया।

कालका कलिस्वरूप चल रहा है। उसमें अविषमतासे मार्गकी जिज्ञासापूर्वक, बाकी दूसरे अन्य जाननेके उपायोंमें उदासीनतासे बर्ताव करते हुए भी जो ज्ञानीके समागममें रहता है, वह अत्यंत निकटरूपसे कल्याण पाता है, ऐसा मानते हैं।

जगत्, ईश्वर आदि संबंधी प्रश्न हमारे बहुत विशेष समागममें समझने चाहिये।

इस प्रकारके विचार (कभी कभी) करनेमें हानि नहीं है। कदाचित् उसका यथार्थ उत्तर अमुक कालतक न मिले, तो इस कारण धीरजका त्याग करनेको उद्यत होती हुई मतिको रोक लेना योग्य है।

जहाँ अविषमतासे आत्म-ध्यान रहता है, ऐसे 'श्रीरायचन्द्र' के प्रति फिर फिरसे नमस्कार करके यह पत्र इस समय हम पूर्ण करते हैं।

३०७

बम्बई, वैशाख १९४८

जो आत्मामें ही रहते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष सहज-प्राप्त प्रारब्धके अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं। वास्तवमें तो बात यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ, उसी कालमें ज्ञानी मुक्त हो जाता है। देह आदिमें अप्रतिबद्ध ज्ञानीको कोई भी आश्रय अथवा आलम्बन नहीं है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे "ईश्वरेच्छा आदि" भावनाका होना योग्य नहीं है। भक्तिवंतको जो कुछ प्राप्त होता है उसमें किसी प्रकारके क्लेशको देखकर, तटस्थ धीरज रहनेके लिये यह भावना किसी प्रकारसे योग्य है। ज्ञानीको तो प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा आदि सभी बातोंमें एक ही भाव—समान ही भाव है। उसे साता-असातामें कुछ भी किसी प्रकारसे राग-द्वेष आदि कारण नहीं होते; वह तो दोनोंमें ही उदासीन है। जो उदासीन है, वह मूलस्वरूपमें निरालंबन है और निरालम्बनरूप उसकी उदासीनताको हम ईश्वरेच्छासे भी बलवान मानते हैं।

ईश्वरेच्छा शब्दको भी अर्थान्तरसे समझना योग्य है। ईश्वरेच्छारूप आलंबन, यह आश्रयरूप ऐसी भक्तिको ही योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी कुछ समान है। अथवा ज्ञानी सहज-परिणामी है; सहज-स्वरूपी है; सहज-स्वभावसे स्थित है; सहज-स्वभावसे प्राप्त उदयको भोगता है; सहज-स्वभावसे जो होता है सो होता है, जो नहीं होता सो नहीं होता; वह कर्त्तव्यरहित है; कर्त्तव्यभाव उसीमें लय हो जाता है; इसलिए तुम्हें ऐसा जानना चाहिये कि उस ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी सहज-प्राप्ति अधिक योग्य है। जिसने ईश्वरेच्छाके विषयमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित की है, उसे इच्छावान कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित है या इच्छासहित, ऐसा कहना भी नहीं बनता, वह तो केवल सहज-स्वरूप है।

---

३०८ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रवि. १९४८

ईश्वर आदिके संबंधमें जो निश्चय है, उस विषयमें हालमें विचारका त्याग करके सामान्यरूपसे समयसारका पढ़ना योग्य है; अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे हालमें धीरज रहता है, वह धीरज उसके विकल्पमें पड़ जानेसे रहना कठिन है।

निश्चयसे अकर्त्ता, और व्यवहारसे कर्त्ता इत्यादि व्याख्यान जो समयसारमें है, वह विचारने योग्य है, परन्तु यह व्याख्यान ऐसे ज्ञानीसे समझना चाहिये कि जिसके बोधसंबंधी दोप निवृत्त हो गये हैं।

जो है वह........स्वरूप, समझने तो योग्य ऐसे ज्ञानीसे है कि जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो गई है; उसीके आश्रयसे जीवके दोष नष्ट होकर उसकी प्राप्ति होती है, और वह समझमें आता है।

छह मास संपूर्ण हुए तबसे, जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री..........को नमस्कार है।

---

३०९ बम्बई ज्येष्ठ वदी १० शुक्र. १९४८

जिसकी प्राप्तिके पश्चात् अनंतकालकी याचकता दूर होकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई भी हो तो उसे हम तरण-तारण मानते हैं—उसीको भजो.

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है अथवा होता है, परन्तु उस मुक्तिका दान करनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है; अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

संसारसे अरुचि प्राप्त किये हुए तो बहुत काल हो गया है; तथापि अभी संसारका प्रसंग विश्रान्तिको प्राप्त नहीं होता, यह एक प्रकारका महान् क्लेश रहा रहता है।

हालमें तो निर्बल होकर अपनेको श्रीहरिके हाथमें सौंपे देते हैं।

हमें तो कुछ भी करनेके लिये मन नहीं होता, और लिखनेके लिये भी मन नहीं होता, कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसमें भी मन नहीं होता? केवल आत्मरूप मौन और तत्संबंधी प्रसंगमें ही मन रहता है; और संग तो इससे भिन्न प्रकारका ही रहता है।

ऐसी ही ईश्वरेच्छा होगी! ऐसा मानकर जैसी स्थिति प्राप्त होती है वैसे ही योग्य समझकर रहते हैं।

मन तो मोक्षके संबंधमें भी स्पृहायुक्त नहीं है, परन्तु प्रसंग यह रहता है। इस प्रसंगमें 'वनकी मारी कोयल' ऐसी एक गुजरात देशकी कहावत योग्य ही है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

३१०

बम्बई, ज्येष्ठ १९४८

(१)

प्रभु-भक्तिमें जैसे बने तैसे तत्पर रहना, यह मुझे तो मोक्षका धुरंधर मार्ग लगा है; चाहे तो मनसे भी स्थिरतापूर्वक बैठकर प्रभु-भक्ति अवश्य करना योग्य है।

इस समय तो मनकी स्थिरता होनेका मुख्य उपाय तो प्रभु-भक्ति ही समझो। आगे भी वही और वैसा ही है, तो भी इसे स्थूलतासे लिखकर बताना अधिक योग्य लगता है।

उत्तराध्ययनसूत्रमें दूसरा इच्छित अध्ययन पढ़ना। बत्तीसवें अध्ययनकी प्रारम्भकी चौबीस गाथायें मनन करना।

शम, संवेग, निर्वेद, आस्था, और अनुकंपा इत्यादि सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करनी चाहिये; और किसी समय तो महात्माके संयोगसे धर्म मिल ही जायगा। सत्संग, सत्शास्त्र और सद्वृत्त, ये उत्तम साधन हैं।

(२)

यदि सूयगडंसूत्रकी प्राप्तिका साधन हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उदकपेढालवाला अध्ययन पढ़नेका परिचय रखना। तथा उत्तराध्ययनके बहुतसे वैराग्य आदि चरित्रवाले अध्ययन पढ़ते रहना। और प्रभातमें जल्दी उठनेका परिचय रखना। एकांतमें स्थिर होकर बैठनेका परिचय रखना। माया अर्थात् जगत्—लोक—का जिसमें अधिक वर्णन किया गया है, ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेकी अपेक्षा, जिनमें सत्पुरुषके चरित्र अथवा वैराग्य-कथा विशेषरूपसे हों, ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेकी भावना रखना।

(३)

जिसके द्वारा वैराग्यकी वृद्धि हो ऐसा वाँचन विशेषरूपसे रखना; मतमतांतरका त्याग करना; और जिससे मतमतांतरकी वृद्धि हो ऐसी पुस्तकें नहीं पढ़ना। असत्संग आदिमें उत्पन्न होती हुई रुचिको हटानेका विचार बारम्बार करना योग्य है।

३११

बम्बई, ज्येष्ठ १९४८

जो विचारवान पुरुषको सर्वथा क्लेशरूप भासित होता है, ऐसे इस संसारमें फिरसे आत्मभावसे जन्म न लेनेकी निश्चल प्रतिज्ञा है। तीनों कालमें अब इसके पश्चात् इस संसारका स्वरूप अन्यथारूपसे भासमान होना योग्य नहीं है, और यह भासमान हो—ऐसा तीनों कालमें होना संभव नहीं।

यहाँ आत्मभावसे समाधि है। उदय-भावके प्रति उपाधि रहती है। श्रीतीर्थंकरने तेरहवें गुण स्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निम्नलिखित स्वरूप कहा है:—

आत्मभावके लिये जिसने सर्व संसार संवृत कर दिया है—अर्थात् जिसके सब संसारकी आती हुई इच्छा निरुद्ध हो गई है, ऐसे निर्ग्रन्थको—सत्पुरुषको—तेरहवें गुणस्थानकमें समझना चाहिये।

मनसमितिसे युक्त, वचनसमितिसे युक्त, कायसमितिसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण और त्याग करते हुए समितिसे युक्त, दीर्घ शंका आदिका त्याग करते हुए समितिसे युक्त, मनका संकोच करनेवाला, वचनका संकोच करनेवाला, कायाका संकोच करनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके संकोचपनेसे ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा होनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोग-पूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला, उपयोगपूर्वक श्वासो-च्छ्वास लेनेवाला, आँखके एक निमेषमात्र भी उपयोगरहित आचरण न करनेवाला, अथवा जिसकी उपयोगरहित एक भी क्रिया नहीं है, ऐसे निर्ग्रन्थको एक समयमें क्रियाका बँध होता है, दूसरे समयमें उसका वेदन होता है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित हो जाता है, अर्थात् चौथे समयमें उसकी क्रिया-संबंधी सर्व चेष्टायें निवृत्त हो जाती हैं।

श्रीतीर्थंकर जैसेको कैसा अत्यन्त निश्चल——————— ———————

(अपूर्ण)

---

३१२ बम्बई, आषाढ़ सुदी ९ रवि. १९४८

जिनका चित्त शब्द आदि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल रहा करता है, ऐसे जीव जहाँ विशेषरूपसे दिखाई देते हैं, ऐसा दुःषमकाल कलियुग नामका काल है। उसमें भी जिसे परमार्थके संबंधमें विह्वलता नहीं हुई, जिसके चित्तको विक्षेप नहीं हुआ, जिसे संगद्वारा प्रवृत्ति-भेद नहीं हुआ, जिसका चित्त दूसरी प्रीतिके संबंधसे आवृत नहीं हुआ, जिसका विश्वास दूसरे कारणोंमें नहीं रहा—ऐसा जो कोई भी हो तो वह इस कालमें 'दूसरा श्रीराम' ही है।

फिर भी देखकर खेदपूर्वक आश्चर्य होता है कि इन गुणोंसे किसी अंशमें भी संपन्न अल्प जीव भी दृष्टिगोचर नहीं होते।

निद्राके सिवाय बाकीके समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन, वचन और कायासे उपाधिके योगमें रहता है। कोई उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे संवेदन करना ही योग्य है।

महान् आश्चर्यको प्राप्त करानेवाले ऐसे जल, वायु, चन्द्र सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते, और अपने छोटेसे घरमें अथवा और भी दूसरी किन्हीं चीजोंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंभाव रहता है, यह देखकर ऐसा होता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टि-भ्रम दूर नहीं हुआ। जिससे यह दूर हो ऐसे उपायमें जीवका अल्प ज्ञान भी नहीं रहता, और उसकी पहिचान होनेपर भी स्वेच्छासे बर्ताव करनेकी बुद्धि बारम्बार उदित होती रहती है; ऐसे बहुतसे जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझो कि यह लोक अभी अनंतकालतक रहनेवाला है।

३१३

बम्बई आषाढ १९४८

सूर्य उदय-अस्त रहित है। वह केवल लोगोंको जिस समय चक्षुकी मर्यादासे बाहर चला जाता है उस समय अस्त, और जिस समय चक्षुकी मर्यादाके भीतर रहता है उस समय उदित माळूम होता है; परन्तु वास्तवमें सूर्यमें तो उदय-अस्त कुछ भी नहीं हैं। ज्ञानी भी इसी तरह है; वह समस्त प्रसंगोंमें जैसा है वैसा ही हैं, परन्तु बात यह है कि केवल समागमकी मर्यादाको छोड़कर लोगोंको उसका ज्ञान ही नहीं रहता, इसलिये जिस प्रसंगमें जैसी अपनी दशा हो सकती है वैसी ही दशा लोग ज्ञानीकी भी कल्पना कर लेते हैं; तथा यह कल्पना जीवको ज्ञानीके परम आत्मभाव, परितोषभाव, और मुक्तभावको माळूम नहीं होने देती, ऐसा जानना चाहिये।

हालमें तो जिस प्रकारसे प्रारब्धके कर्मका उदय हो उसी तरह प्रवृत्ति करते हैं; और इस तरह प्रवृत्ति करना किसी प्रकारसे तो सुगम ही माळूम होता है।

यद्यपि हमारा चित्त नेत्रके समान है—नेत्रमें दूसरे अवयवोंके समान एक रज-कण भी सहन नहीं हो सकता। दूसरे अवयवोंरूप अन्य चित्त है। जिस चित्तसे हम रहते हैं वह चित्त नेत्ररूप है; उसमें वाणीका उठना, समझाना, यह करना अथवा यह न करना, ऐसा विचार होना यह बहुत मुश्किलसे बन पाता है। बहुतसी क्रियायें तो शून्यताकी तरह होती हैं; ऐसी स्थिति होनेपर भी उपाधि-योगका तो बलपूर्वक आराधन कर रहे हैं। इसका वेदन करना कम कठिन नहीं माळूम होता, क्योंकि यह आँखके द्वारा जमीनकी रेतको उठाने जैसा कार्य होता है; जिस तरह यह कार्य दुःखसे—अत्यन्त दुःखसे—होना कठिन है, वैसे ही चित्तको उपाधि परिणामरूप होना कठिन है। सुगमतासे चित्तके स्थित होनेसे वह सम्यक्प्रकारसे वेदनाका अनुभव करता है—अखंड समाधि-रूपसे अनुभव करता है। इस बातके लिखनेका आशय तो यह है कि ऐसे उत्कृष्ट वैराग्यमें ऐसे उपाधि-योगके अनुभव करनेके प्रसंगको कैसा गिना जाय? और यह सब किसके लिये किया जाता है? जानते हुए भी उसे क्यों छोड़ नहीं दिया जाता? यह सब विचार करने योग्य है।

ईश्वरेच्छा जैसी होगी वैसा हो जायगा। विकल्प करनेसे खेद होता है; और वह तो जबतक उसकी इच्छा होगी तबतक उसी प्रकार प्रवृत्ति करेगा। सम रहना ही योग्य है।

दूसरी तो कुछ भी स्पृहा नहीं; कोई प्रारब्धरूप स्पृहा भी नहीं। सत्तारूप पूर्वमें उपर्जित की हुई किसी उपाधिरूप स्पृहाको तो अनुक्रमसे संवेदन करनी ही योग्य है। एक सत्संग—तुम्हारे सत्संगकी स्पृहा रहा करती है; और तो रुचिमात्रका समाधान हो गया है। इस आश्चर्यरूप बातको कहाँ कहनी चाहिये? आश्चर्य होता है। यह जो देह मिली है यदि वह पहिले कभी भी नहीं मिली हो तो भविष्यकालमें भी वह प्राप्त होनेवाली नहीं। धन्यरूप—कृतार्थरूप ऐसे हममें उपाधि-योग देखकर सभी लोग भूल करें, इसमें आश्चर्य नहीं; तथा पूर्वमें जो सत्पुरुषकी पहिचान नहीं हुई, तो वह ऐसे ही योगके कारणसे नहीं हुई। अधिक लिखना नहीं सूझता। नमस्कार पहुँचे।

समस्वरूप श्रीरायचंद्रका यथायोग्य.

१. प्रश्नः—आत्मा क्या है ? क्या वह कुछ करती है ? और उसे कर्म दुःख देता है या नहीं ?

उत्तरः—(१) जैसे घट पट आदि जड़ वस्तुयें हैं, उसी तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घट पट आदि अनित्य हैं—त्रिकालमें एक ही स्वरूपसे स्थिरतापूर्वक रह सकनेवाले नहीं हैं। आत्मा एक स्वरूपसे त्रिकालमें स्थिर रह सकनेवाली नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोगसे उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मालूम नहीं होता। क्योंकि जड़के चाहे कितने भी संयोग क्यों न करो तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, उस प्रकारके बहुतसे पदार्थोंके इकट्ठे करनेसे भी उसमें जो धर्म नहीं है, वह धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा सबको अनुभव हो सकता है। जो घट, पट आदि पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप देखनेमें नहीं आता। उस प्रकारके पदार्थोंका यदि परिणामांतर पूर्वक संयोग किया हो अथवा संयोग हुआ हो, तो भी वह उसी तरहकी जातिका होता है, अर्थात् वह जड़स्वरूप ही होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर उस तरहके पदार्थके संयोग होनेपर आत्मा अथवा जिसे ज्ञानी-पुरुष मुख्य 'ज्ञानस्वरूप लक्षणयुक्त' कहते हैं, उस प्रकारके (घट पट आदि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं। 'ज्ञानस्वरूपत्व', यह आत्माका मुख्य लक्षण है, और जड़का मुख्य लक्षण 'उसके अभावरूप' है। उन दोनोंका अनादि सहज स्वभाव है। ये, तथा इसी तरहके दूसरे हजारों प्रमाण आत्माको 'नित्य' प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आती है। इस कारण सुख-दुःख आदि भोगनेवाले, उससे निवृत्त होनेवाले, विचार करनेवाले, प्रेरणा करनेवाले इत्यादि भाव जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते हैं, ऐसी वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) लक्षणसे युक्त है। और उस भावसे (स्थितिसे) वह सब कालमें रह सकनेवाली 'नित्य पदार्थ' है। ऐसा माननेमें कोई भी दोष अथवा बाधा मालूम नहीं होती, बल्कि इससे सत्यके स्वीकार करनेरूप गुणकी ही प्राप्ति होती है।

यह प्रश्न तथा तुम्हारे दूसरे बहुतसे प्रश्न इस तरहके हैं कि जिनमें विशेष लिखने, कहने और समझानेकी आवश्यकता है। उन प्रश्नोंका उस प्रकारसे उत्तर लिखा जाना हालमें कठिन होनेसे प्रथम तुम्हें षट्दर्शनसमुच्चय ग्रंथ भेजा था, जिसके बाँचने और विचार करनेसे तुम्हें किसी भी अंशमें समाधान हो; और इस पत्रसे भी कुछ विशेष अंशमें समाधान हो सकना संभव है। क्योंकि इस संबंधमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, जिनके फिर फिरसे समाधान होनेसे, विचार करनेसे समाधान होगा।

(२) ज्ञान दशामें—अपने स्वरूपमें यथार्थ बोधसे उत्पन्न हुई दशामें—वह आत्मा निज भावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निश्चय) और सहज-समाधि परिणामका कर्त्ता है; अज्ञान दशामें क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि प्रकृतियोंका कर्त्ता है; और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगवश घट पट आदि पदार्थोंका निमित्तरूपसे कर्त्ता है। अर्थात् घट पट आदि पदार्थोंका मूल द्रव्योंका वह कर्त्ता नहीं, परन्तु उसे किसी आकारमें लानेरूप क्रियाका ही कर्त्ता है। यह जो पीछे दशा कही है, जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है, वेदान्तदर्शन उसे 'भ्रांति' कहता है, और दूसरे

३१८ बम्बई, श्रावण सुदी १० बुध. १९४८

(१)

ॐ नमः

निष्काम यथायोग्य.

जिन उपार्जित कर्मोंको भोगते हुए भविष्यमें बहुत समय व्यतीत होगा, वे कर्म यदि तीव्रतासे उदयमें रहकर क्षयको प्राप्त होते हों तो वैसा होने देना योग्य है, ऐसा बहुत वर्षोंका संकल्प है।

जिससे व्यावहारिक प्रसंगसंबंधी चारों तरफसे चिंता उत्पन्न हो, ऐसे कारणोंको देखकर भी निर्भयताके आश्रित रहना ही योग्य है। मार्ग इसी तरह है।

हालमें हम कुछ विशेष नहीं लिख सकते, इसके लिये क्षमा माँगते हैं।

नागरसुख पामर नव जाणे, वल्लभसुख न कुमारी रे,
अनुभवविण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नर नारी रे ?[१]।

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे।

(२)

'सत्' एक प्रदेशभर भी दूर नहीं है, परन्तु उसके प्राप्त करनेमें अनंत अंतराय रहा करते हैं और एक एक अंतराय लोकके बराबर हैं। जीवका कर्त्तव्य यही है कि उस सत्का अप्रमत्ततासे श्रवण, मनन, और निदिध्यासन करनेका अखंड निश्चय रक्खे।

(३)

हे राम! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसीमें संतोषपूर्वक रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है—ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

---

३१९ बम्बई, श्रावण सुदी १० बुध. १९४८

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे,
तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे ज्ञानाक्षेपकवंत रे।

जिस पत्रमें मनकी व्याख्याके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें पपिलके पत्तेका दृष्टान्त लिखा है, जिस पत्रमें "यम नियम संयम आप कियो" इत्यादि काव्य आदिके विषयमें लिखा है, जिस पत्रमें मन आदिके निरोध करनेसे शरीर आदि व्यथा उत्पन्न होनेके विषयमें सूचना की है, और इसके बादका एक सामान्य पत्र—ये सब पत्र मिले हैं। इस विषयमें मुख्य भक्तिसंबंधी इच्छा और मूर्त्तिका प्रत्यक्ष होना, इस बातके संबंधमें प्रधान वाक्य बाँचा है; वह लक्षमें है।

इस प्रश्नके सिवाय बाकीके पत्रोंका उत्तर लिखनेका अनुक्रमसे विचार होते हुए भी हालमें हम उसे समागममें पूँछना ही योग्य समझते हैं, अर्थात् यह बता देना हालमें योग्य माल्हम होता है।

---

१ जिस प्रकार नागरिक लोगोंके सुखको पामर लोग नहीं जान सकते, और कुमारी पतिजन्य सुखको नहीं जान सकती, इसी तरह अनुभवके बिना कोई भी नर या नारी ध्यानका सुख नहीं जान सकते।

दुविधाके द्वारा किसी कर्मकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं तो वह नहीं होती, और आर्त्तध्यान होकर ज्ञानीके मार्गपर पग रक्खा जाता है।

---

४६४ बम्बई, मंगसिर सुदी २ शुक्र. १९५१

प्रश्नः—उसका मध्य नहीं, अर्ध नहीं, और वह अछेद्य तथा अभेद्य है, इत्यादि रूपसे श्रीजिन-भगवान्‌ने परमाणुकी व्याख्या कही है; तो इसमें अनन्त पर्यायें किस तरह घट सकती हैं? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका ही दूसरा नाम है या और कुछ? इस प्रश्नसूचक पत्र मिला था। उसका समाधान इस प्रकार है:—

उत्तरः—प्रत्येक पदार्थकी अनन्त पर्यायें (अवस्थाएँ) होती हैं। अनन्त पर्यायरहित कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता—ऐसा श्रीजिनभगवान्‌का अभिमत है, और वह यथार्थ ही माल्म होता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थान्तरको प्राप्त करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जिस तरह आत्मामें प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प परिणतियोंके कारण अवस्थान्तर हुआ करती हैं, उसी तरह परमाणुमें भी वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं। ऐसी अवस्थान्तरोंकी प्राप्ति होनेसे उस परमाणुके अनन्त भाग हुए, ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि वह परमाणु अपने एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहित्वको छोड़े बिना ही उन अवस्थान्तरोंको प्राप्त होता है। एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहित्वके अनन्त भाग हो नहीं सकते। एक ही समुद्रमें जिस तरह तरंगें उठती रहती हैं और वे तरंगें उसीमें समा जाती हैं; जुदी तरंगोंके कारण उस समुद्रकी जुदी जुदी अवस्थाएँ होनेपर भी जिस तरह समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रको नहीं छोड़ता, और न कहीं उस समुद्रके अनन्त भिन्न भिन्न हिस्से ही होते हैं, मात्र अपने ही स्वरूपमें वह क्रीड़ा करता है; तरंगित होना यह समुद्रकी एक परिणति है; यदि जल शान्त हो तो शान्तता उसकी एक परिणति है—कोई न कोई परिणति उसमें होनी ज़रूर चाहिए। उसी तरह वर्ण, गंधादि परिणाम परमाणुमें बदलते रहते हैं, किन्तु उस परमाणुके कहीं टुकड़े हो जानेका प्रसंग नहीं आता; वे मात्र अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं। जैसे सोना कुंडलाकारको छोड़कर मुकुटाकार होता है, उसी तरह परमाणुकी भी एक समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी अवस्थामें कुछ अन्तर हुआ करता है। जैसे सोना दोनों पर्यायोंको धारण करनेपर भी सोना ही है, वैसे ही परमाणु भी परमाणु ही रहता है। एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर जवान होता है, जवानी छोड़कर वृद्ध होता है, किन्तु पुरुष वही रहता है; इसी तरह परमाणु भी पर्यायोंको प्राप्त होता है।

आकाश भी अनन्त पर्यायी है, और सिद्ध भी अनन्त पर्यायी हैं—ऐसा जिनभगवान्‌का अभिप्राय है। इसमें विरोध नहीं माल्म होता। वह बहुत कुछ मेरी समझमें आया है, किन्तु विशेषरूपमें नहीं लिखे जा सकनेके कारण, जिससे तुमको वह बात विचार करनेमें कारण हो, इस तरह ऊपर ऊपर से लिखी है।

आँखमें मेष-उन्मेष जो अवस्थायें हैं, वे उसकी पर्यायें हैं। दीपककी हलन चलन स्थिति उसकी पर्याय है। आत्माकी संकल्प-विकल्प दशा अथवा ज्ञान-परिणति यह उसकी पर्याय है। उसी तरहसे वर्ण गंध परिणमनको प्राप्त हों, यह परमाणुकी पर्याय है। यदि इस तरहका परिणमन न हो तो यह

ऐसे अर्थसे भरपूर ये दो पद हैं। पहिला पद भक्तिप्रधान है; परन्तु यदि इस प्रकारसे गूढ़ आशयसे जीवका निदिध्यासन न हो, तो फिर दूसरा पद ज्ञानप्रधान जैसा भासित होता है, और तुम्हें भी भासित होगा, ऐसा समझकर उस दूसरे पदका उस प्रकारका भास—बोध—होनेके लिये फिरसे पत्रके अंतमें केवल प्रथमका एक ही पद लिखकर प्रधानरूपसे भक्तिको प्रदर्शित किया है।

भक्तिप्रधान दशासे आचरण करनेसे जीवके स्वच्छंद आदि दोष सुगमतासे नष्ट हो जाते हैं; ऐसा ज्ञानी पुरुषोंका प्रधान आशय है।

उस भक्तिमें जिस जीवको अल्प भी निष्काम भक्ति उत्पन्न हो गई हो, तो वह बहुतसे दोषोंसे दूर करनेके लिये योग्य होती है। अल्पज्ञान, अथवा ज्ञानप्रधान-दशा, ये असुगम मार्गकी ओर, स्वच्छंद आदि दोषकी ओर, अथवा पदार्थसंबंधी भ्रांतिकी ओर ले जाते हैं, प्रायः करके ऐसा ही होता है; उसमें भी इस कालमें तो बहुत कालतक जीवनपर्यंत भी जीवको भक्तिप्रधान-दशाका ही आराधन करना योग्य है। ज्ञानियोंने ऐसा ही निश्चय किया माळूम होता है (हमें ऐसा माळूम होता है, और ऐसा ही है)।

तुम्हारे हृदयमें जो मूर्त्तिके दर्शन करनेकी इच्छा है, (तुम्हें) उसका प्रतिबंध करनेवाली तुम्हारी प्रारब्ध-स्थिति है; और उस स्थितिके परिपक्व होनेमें अभी देरी है; फिर उस मूर्त्तिको प्रत्यक्ष-रूपमें तो हालमें गृहस्थाश्रम है, और चित्रपटमें सन्यस्त-आश्रम है; यह ध्यानका एक दूसरा मुख्य प्रतिबंध है। उस मूर्त्तिसे उस आत्मस्वरूप पुरुषकी दशा फिर फिरसे उसके वाक्य आदिके अनुसंधानसे विचार करना योग्य है; और यह उसके हृदय-दर्शनसे भी महान् फल है। इस बातको यहाँ संक्षिप्त करनी पड़ती है।

भृंगी ईलीकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे.

यह वाक्य परम्परागत है। ऐसा होना किसी तरह संभव है, तथापि उस प्रोफेसरकी गवेषणाके अनुसार यदि मान लें कि ऐसा नहीं होता, तो भी इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि जब दृष्टान्त वैसा प्रभाव उत्पन्न कर सकता है, तो फिर सिद्धांतका ही अनुभव अथवा विचार करना चाहिये। प्रायः करके इस दृष्टान्तके संबंधमें किसीको ही शंका होगी, इसलिये यह दृष्टान्त मान्य है, ऐसा माळूम होता है। यह लोक-दृष्टिसे भी अनुभवगम्य है, इसलिये सिद्धांतमें उसकी प्रबलता समझकर महान् पुरुष उस दृष्टान्तको देते आये हैं, और किसी तरह ऐसा होना हम संभव भी मानते हैं। कदाचित् थोड़ी देरके लिये वह दृष्टांत सिद्ध न हो ऐसा प्रमाणित हो भी जाय, तो भी तीनों कालमें निराबाध—अखंड-सिद्ध बात उसके सिद्धांत-पदकी तो है ही।

जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे.

आनन्दघनजी तथा दूसरे सब ज्ञानीपुरुष ऐसा ही कहते हैं। और फिर जिनभगवान् और ही प्रकारसे कहते हैं कि अनन्तबार जिनभगवान्की भक्ति करनेपर भी जीवका कल्याण नहीं हुआ। जिन-भगवान्के मार्गमें चलनेवाले स्त्री-पुरुष ऐसा कहते हैं कि वे जिनभगवान्की आराधना करते हैं, और उन्हींकी आराधना करते जाते हैं, अथवा उनकी आराधना करनेका उपाय करते हैं, फिर भी ऐसा माळूम नहीं होता कि वे जिनवर हो गये हैं; तीनों कालमें अखंडरूप सिद्धांत तो यहीं खंडित हो जाता है, तो फिर यह बात शंका करने योग्य क्यों नहीं है?

प्रथम भूमिका ही कठिन होती है, तो फिर अनंतकालसे अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सहजात्मस्वरूपसे प्रणाम।

---

५५३ मोहमयी, आसोज वदी ११, १९५१

'समज्या ते शमाई रह्या' तथा 'समज्या ते शमाई गया'—इन वाक्योंका क्या कुछ भिन्न अर्थ होता है? तथा दोनोंमें कौनसा वाक्य विशेषार्थका वाचक मालूम होता है, तथा समझने योग्य क्या है? और शान्त किसे करना चाहिये? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है? वह विचार करने योग्य है—विशेषरूपसे विचार करने योग्य है। और जो विचारमें आवे तथा विचार करनेसे उन वाक्योंका विशेष परमार्थ लक्षमें आया हो तो उसे लिखना बने तो लिखना।

५५४

जो सुखकी इच्छा न करता हो वह या तो नास्तिक है या सिद्ध है अथवा जड़ है।

५५५

दुःखके नाश करनेकी सब जीव इच्छा करते हैं।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो? उसे न बतानेसे दुःख उत्पन्न होना संभव है। उस मार्गको दुःखसे छुड़ानेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण यह मुख्यरूपसे दुःख है। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज राग-द्वेष है। अथवा उसके निम्न पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।

पहिले कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अन्तमें पाँचवें कारणका अभाव होता है, यह अभाव होनेका क्रम है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है। अविरति गौण मोह है।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अंतर्भाव हो सकता है। योग सहचारीपनेसे उत्पन्न होता है। चारोंके नाश हो जानेके बाद भी पूर्व हेतुसे योग हो सकता है।

---

५५६ बम्बई, आसोज १९५१

सब जीवोंको अप्रिय होनेपर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिये। इस भूमिकासे मुख्यतया विचारवानकी विचारश्रेणी उदित होती है, और उसीपरसे क्रमसे आत्मा, कर्म परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा मालूम होता है।

वर्तमानमें जो अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिये, और भविष्यमें भी वैसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आश्रय मुमुक्षु जीवको करना

३२२

बम्बई, श्रावण वदी १९४८

ॐ

निरन्तर ही आत्मस्वरूप रहा करता है; जिसमें प्रारब्धोदयके सिवाय दूसरे किसी भी अवकाशका योग नहीं है।

इस उदयमें कभी परमार्थ-भाषा कहनेका योग उदय आता है, कभी परमार्थ-भाषा लिखनेका योग उदय आता है, और कभी परमार्थ-भाषा समझानेका योग उदय आता है। हालमें तो वैश्य-दशाका योग विशेषतासे रहा करता है; और जो कुछ उदयमें नहीं आता उसे हालमें तो कर सकनेकी असमर्थता ही है। जीवितव्यको केवल उदयाधीन करनेसे—हो जानेसे—विषमता दूर हो गई है। तुम्हारे प्रति, अपने प्रति और दूसरोंके प्रति किसी भी तरहका वैभाविक भाव प्रायः उदित नहीं होता, और इसी कारण पत्र आदि कार्य करनेरूप परमार्थ-भाषा-योगसे अवकाश प्राप्त नहीं है, ऐसा लिखा है; यह ऐसा ही है।

पूर्वोपार्जित स्वाभाविक उदयके अनुसार देहकी स्थिति है; आत्मभावसे उसका अवकाश अत्यंत अभावरूप है।

उस पुरुषके स्वरूपको जानकर उसकी भक्तिके सत्संगका महान् फल होता है, जो केवल चित्रपटके ध्यानसे नहीं मिलता।

जो उस पुरुषके स्वरूपको जानता है, उसे स्वाभाविक अत्यंत शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। इसके प्रगट होनेके कारणभूत उस पुरुषको जानकर सब प्रकारकी असंसार–संसार-कामना परित्यागरूप करके–परित्याग करके–शुद्ध भक्तिसे उस पुरुष-स्वरूपका विचार करना योग्य है।

जैसा ऊपर कहा है, चित्रपटकी प्रतिमाके हृदय-दर्शनसे महान् फल होता है—यह वाक्य विसंवादरहित समझकर लिखा है।

मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे.

इस पदके विस्तृत अर्थको आत्म-परिणामरूप करके उस प्रेम-भक्तिको सत्पुरुषमें अत्यंतरूपसे करना योग्य है, ऐसा सब तीर्थंकरोंने कहा है, वर्तमानमें कहते हैं, और भविष्यमें भी ऐसा ही कहेंगे।

उस पुरुषसे प्राप्त उसकी आत्मपद्धति-सूचक भाषामें, जिसका विचार-ज्ञान विक्षेपरहित हो गया है, ऐसा पुरुष, उस पुरुषको आत्मकल्याणके लिये जानकर, वह श्रुत (श्रवण) धर्ममें मन (आत्मा) को धारण करता है—उस रूपसे परिणाम करता है। वह परिणाम किस तरह करना योग्य है, इस बातको 'मन महिलानुं वहाला उपरे, बीजां काम करंत रे' यह दृष्टांत देकर समर्थन किया है।

ठीक तो इस तरह घटता है कि यद्यपि पुरुषके प्रति स्त्रीका काम्य-प्रेम संसारके अन्य भावोंकी अपेक्षा शिरोमणि है, फिर भी उस प्रेमसे अनंत गुणविशिष्ट प्रेम, सत्पुरुषसे प्राप्त आत्मरूप श्रुतधर्ममें ही करना योग्य है, परन्तु इस प्रेमका स्वरूप जहाँ दृष्टांतको उल्लंघन कर जाता है, वहाँ ज्ञानका अवकाश नहीं है, ऐसा समझकर ही, परिसीमाभूत श्रुतधर्मके लिये भर्तारके प्रति स्त्रीके काम्य-प्रेमका दृष्टांत दिया है। यहाँ दृष्टांत सिद्धांतकी चरम सीमातक नहीं पहुँचता; इसके आगे वाणी पीछेके ही परिणामको पाकर रह जाती है, और आत्म-व्यक्तिसे ऐसा माल्रम होता है।

३२३ बम्बई, श्रावण वदी ११ गुरु. १९४८

शुभेच्छा संपन्न भाई ०००० स्तंभतीर्थ.

जिसकी आत्मस्वरूपमें स्थिति है ऐसा जो....उसका निष्काम स्मरणपूर्वक यथायोग्य बाँचना। उस तरफसे "आजकल क्षायिक समकित नहीं होता" इत्यादि संबंधी व्याख्यानकी चर्चाविषयक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ है। जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं—उपदेश करते हैं, और उस संबंधमें जीवोंको विशेषरूपसे प्रेरणा करते हैं, वे जीव यदि उतनी प्रेरणा—गवेषणा—जीवके कल्याणके विषयमें करेंगे तो इस प्रश्नके समाधान होनेका उन्हें कभी न कभी अवश्य अवसर मिलेगा। उन जीवोंके प्रति दोष-दृष्टि करना योग्य नहीं है, केवल निष्काम करुणासे ही उन जीवोंको देखना योग्य है। इस संबंधमें किसी प्रकारका चित्तमें खेद लाना योग्य नहीं, उस उस प्रसंगपर जीवको उनके प्रति क्रोध आदि करना योग्य नहीं। कदाचित् उन जीवोंको उपदेश देकर समझानेकी तुम्हें चिंता होती हो तो भी उसके लिये तुम वर्तमान दशाको देखते हुए तो लाचार ही हो, इसलिये अनुकंपा-बुद्धि और समता-बुद्धि-पूर्वक उन जीवोंके प्रति सरल परिणामसे देखना, तथा ऐसी ही इच्छा करना चाहिये; और यही परमार्थ-मार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है।

हालमें उन्हें जो कर्मसंबंधी आवरण है, उसे भंग करनेके लिये यदि उन्हें स्वयं ही चिंता उत्पन्न हो तो फिर तुमसे अथवा तुम जैसे दूसरे सत्संगीके मुखसे, उन्हें कुछ भी वारम्वार श्रवण करनेकी उल्लास-वृत्ति उत्पन्न हो; तथा किसी आत्मस्वरूप सत्पुरुषके संयोगसे मार्गकी प्राप्ति हो; परन्तु ऐसी चिंता उत्पन्न होनेका यदि उनके पास साधन भी हो तो हालमें वे ऐसी चेष्टापूर्वक आचरण न करें। और जबतक उस उस प्रकारकी जीवकी चेष्टा रहती है तबतक तीर्थंकर जैसे ज्ञानी-पुरुषका वाक्य भी उसके लिये निष्फल होता है; तो फिर तुम लोगोंके वाक्य निष्फल हों और उन्हें यह क्लेशरूप मालूम पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित की हुई अंतरंग भावनासे उनके प्रति बर्ताव करना, और किसी प्रकारसे भी जिससे उन्हें तुम्हारेसे क्लेशका कम कारण उपस्थित हो ऐसा विचार करना, यह मार्गमें योग्य गिना गया है।

फिर, एक दूसरा अनुरोध कर देना भी स्पष्टरूपसे लिखने योग्य मालूम होता है, इसलिये लिखे देते हैं। वह यह है कि हमने पहिले तुम लोगोंसे कहा था कि जैसे बने वैसे हमारे संबंधमें दूसरे जीवोंसे कम ही बात करना। इस अनुक्रममें चलनेका लक्ष यदि विस्मृत हो गया हो तो अब फिरसे स्मरण रखना। हमारे संबंधमें और हमारेद्वारा कहे गये अथवा लिखे गये वाक्योंके संबंधमें ऐसा करना योग्य है; और हालमें इसके कारणोंको तुम्हें स्पष्ट बता देना योग्य नहीं। परन्तु यदि यह लक्ष अनुक्रमसे अनुसरण करनेमें विस्मृत होता है, तो यह दूसरे जीवोंको क्लेश आदिका कारण होता है, यह भी अब "क्षायिककी चर्चा" इत्यादिके संबंधसे तुम्हारे अनुभवमें आ गया है। इसका परिणाम यह होता है कि जो कारण जीवको प्राप्त होनेसे कल्याणके कारण हों, उन जीवोंको उन कारणोंकी प्राप्ति इस भवमें होती हुई रुक जाती है; क्योंकि वे तो अपनी अज्ञानतासे, जिसकी पहिचान नहीं हुई ऐसे सत्पुरुषके संबंधमें तुम लोगोंसे जानी हुई बातसे, उस सत्पुरुषके प्रति विमुख होते हैं, उसके विषयमें आग्रहपूर्वक

दूसरी-दूसरी चेष्टायें कल्पित कर लेते हैं, और फिरसे ऐसा संयोग मिलनेपर वैसी विमुखता प्रायः करके और बलवान हो जाती है। ऐसा न होने देनेके लिये, और इस भवमें यदि उन्हें ऐसा संयोग अज्ञानपनेसे मिल भी जाय तो वे कदाचित् श्रेयको प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अंतरंगमें ऐसे सत्पुरुषको प्रगट रखकर बाह्यरूपसे गुप्त रखना ही अधिक योग्य है। वह गुप्तपना कुछ माया-कपट नहीं है, क्योंकि इस तरह वर्ताव करना माया-कपटका हेतु नहीं है; वह भविष्य-कल्याणका ही हेतु है। यदि ऐसा हो तो वह माया-कपट नहीं होता, ऐसा मानते हैं।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमें बलवानरूपसे है, ऐसे जीवको अपनेद्वारा किसी प्रकार सत्पुरुष आदिके विषयमें अवज्ञापूर्वक बोलनेका अवसर प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर चलना, यह उसका और उपयोग रखनेवाले दोनोंके कल्याणका कारण है।

ज्ञानी पुरुषके विषयमें अवज्ञापूर्वक बोलना, तथा इस प्रकारके प्रसंगमें उत्साही होना, यह जीवके अनंत संसारके बढ़नेका कारण है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं। उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उत्साही होना, और उसकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिपूर्वक रहना, इसे तीर्थंकर अनंत संसारका नाश करनेवाला कहते हैं; और ये वाक्य जिनागममें हैं। बहुतसे जीव इन वाक्योंको श्रवण करते होंगे, फिर भी जिन्होंने प्रथम वाक्यको निष्फल और दूसरे वाक्यको सफल किया हो, ऐसे जीव तो क्वचित् ही देखनेमें आते हैं। जीवने अनंतवार प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको निष्फल किया है। उस तरहके परिणाममें आनेमें उसे बिलकुल भी समय नहीं लगता, क्योंकि अनादि कालसे उसकी आत्मामें मोह नामकी मदिरा व्याप्त हो रही है; इसलिये वारम्वार विचारकर वैसे वैसे प्रसंगमें यथाशक्ति, यथाबल और वीर्यपूर्वक ऊपर कहे अनुसार आचरण करना योग्य है।

कदाचित् ऐसा मान लो कि 'इस कालमें क्षायिक समकित नहीं होता,' ऐसा जिन आगममें स्पष्ट लिखा है। अब उस जीवको विचार करना योग्य है कि 'क्षायिक समकितका क्या अर्थ होता है?' जिसके एक नवकारमंत्र जितना भी व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भवमें और नहीं तो उसी भवमें परम पदको प्राप्त करता है, ऐसी महान् आश्चर्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है; फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय? 'यदि तीर्थंकर भगवान्की दृढ़ श्रद्धा' का नाम क्षायक समकित मानें तो उस श्रद्धाको कैसी समझनी चाहिये? और जो श्रद्धा हम समझते हैं वह तो निश्चयसे इस कालमें होती ही नहीं। यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक श्रद्धाको क्षायिक समकित कहा है, तो फिर हम कहते हैं कि जिनागमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं। अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पीछेके कालके विसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं, तो जिस जीवने इस विषयमें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो, वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सखेद करुणापूर्वक विचारना योग्य है।

हालमें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें 'क्षायिक समकित नहीं है' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतसे ग्रन्थोंमें यह बात चली आती है, ऐसा हमने

पढ़ा है, और सुना भी है; और यह वाक्य मिथ्या है अथवा मृषा है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है; तथा वह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकांत अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा भी हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकांतरूपसे ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुल होना योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयपूर्वक नहीं जाना तो फिर ये व्याख्यायें ही सफल नहीं हैं। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, जिनागममें लिखा हो कि चौथे कालकी तरह पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका श्रवण करना कोई तुम्हारे और हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस दशामें वह मोक्ष-प्राप्ति कही है, उसी दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है, और कल्याणकारी है। श्रवण करना तो एक बात मात्र है, इसी तरह इससे प्रतिकूल वाक्य भी मात्र एक बात ही है। ये दोनों ही बातें लिखीं हों, अथवा कोई एक ही लिखी हो, अथवा दोनोंमेंसे एक भी बात न लिखकर कोई भी व्यवस्था न बताई गई हो, तो भी वह बंध अथवा मोक्षका कारण नहीं है।

केवल बंध दशा ही बंध है, और मोक्ष दशा ही मोक्ष है, क्षायिक दशा ही क्षायिक है, अन्य दशा ही अन्य है, जो श्रवण है वह श्रवण है, जो मनन है वह मनन है, जो परिणाम है वह परिणाम है, जो प्राप्ति है वह प्राप्ति है—ऐसा सत्पुरुषका निश्चय है। जो बंध है वह मोक्ष नहीं है, जो मोक्ष है वह बंध नहीं है, जो जो है वह वही है, जो जिस स्थितिमें है वह उसी स्थितिमें है। जिस प्रकार बंध-बुद्धि दूर हुए बिना मोक्ष—जीवन्मुक्ति—मानना कार्यकारी नहीं है, उसी तरह अक्षायिक दशासे क्षायिक मानना भी कार्यकारी नहीं है। केवल माननेका फल नहीं, फल केवल दशाका ही है।

जब यह बात है तो फिर अब अपनी आत्मा हालमें कौनसी दशामें है, और उस क्षायिक समकिती जीवकी दशाका विचार करने योग्य है या नहीं; अथवा उससे उतरती हुई अथवा उससे चढ़ती हुई दशाके विचारको जीव यथार्थरूपसे कर सकता है अथवा नहीं ? इसीका विचार करना जीवको श्रेयस्कर है। परन्तु अनंतकाल बीत गया, फिर भी जीवने ऐसा विचार नहीं किया। उसे ऐसा विचार करना योग्य है, ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ; और यह जीव अनंतबार निष्फलतासे सिद्ध-पदतकका उपदेश कर चुका है; ऊपर कहे हुए उस क्रमको उसने बिना विचारे ही किया है—विचारपूर्वक यथार्थ विचारसे नहीं किया। जिस प्रकार जीवने पूर्वमें यथार्थ विचारके बिना ही ऐसा किया है, उसी तरह वह उस दशा (यथार्थ विचारदशा) के बिना वर्तमानमें ऐसा करता है, और जबतक जीवको अपने ज्ञानके बलका भान नहीं होगा, तबतक वह भविष्यमें भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। जीवके किसी भी महापुण्यके योगका त्याग करनेसे, तथा वैसे मिथ्या उपदेशपर चलनेसे जीवका बोध-बल आवरणको प्राप्त हो गया है, ऐसा जानकर इस विषयमें सावधान होकर यदि वह निरावरण होनेका विचार करेगा तो वह वैसा उपदेश करनेसे, दूसरेको प्रेरणा करनेसे और आग्रहपूर्वक बोलनेसे रुक जायगा। अधिक क्या कहें ? एक अक्षर बोलते हुए भी अतिशय अतिशय प्रेरणासे भी वाणी मौनको ही प्राप्त होगी। और उस मौनको प्राप्त होनेके पहिले ही जीवसे एक अक्षरका सत्य बोला जाना भी अशक्य है; यह बात किसी भी प्रकारसे तीनों कालमें संदेह करने योग्य नहीं है।

तीर्थंकरने भी ऐसा ही कहा है; और वह हालमें उसके आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् यदि ऐसे कहा हुआ अर्थ आगममें नहीं भी हो, तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं—जिनागम ही हैं। ये शब्द राग, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित, प्रगटरूपसे लिखे गये हैं, इसलिये सेवनीय हैं।

थोड़ेसे वाक्योंमें ही लिख डालनेके लिये विचार किया हुआ यह पत्र विस्तृत हो गया है, और यद्यपि यह बहुत ही संक्षेपमें लिखा है, फिर भी बहुत प्रकारसे अपूर्ण स्थितिसे यह पत्र अब समाप्त करना पड़ता है।

तुम्हें तथा तुम्हारे जैसे दूसरे जिन जिन भाईयोंका तुम्हें समागम है उन्हें, उस प्रकारके प्रसंगमें इस पत्रके प्रथम भागको विशेषरूपसे स्मरणमें रखना योग्य है; और बाकीका दूसरा भाग तुम्हें और दूसरे अन्य मुमुक्षु जीवोंको बारम्बार विचारना योग्य है। यहाँ समाधि है। "प्रारब्धदेही."

---

३२४ बम्बई, श्रावण वदी १४ रवि. १९४८

ॐ

स्वस्ति श्रीसायला ग्राम शुभस्थाने स्थित, परमार्थके अखंड निश्चयी, निष्कामस्वरूप (.......) के बारम्बार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरुषोंसे अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सरल, और शान्तमूर्ति ऐसे श्री "सुभाग्य" के प्रति श्री "मोहमयी" स्थानसे निष्कामस्वरूप ऐसे स्मरणरूप सत्पुरुषका विनयपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

जिसमें प्रेम-भक्ति प्रधान निष्कामरूपसे लिखी है ऐसे तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए हैं। आत्माकार-स्थिति और उपाधि-योगरूप कारणसे केवल इन पत्रोंकी पहुँच मात्र लिख सका हूँ।

यहाँ भाई रेवाशंकरकी शारीरिक स्थिति यथायोग्य न रहनेसे, और व्यवहारसंबंधी काम-काजके बढ़ जानेसे उपाधि-योग भी विशेष रहता आया है, और रहा करता है; इस कारण इस चौमासेमें बाहर निकलना अशक्य हो गया है; और इसके कारण तुम्हारा निष्काम समागम प्राप्त नहीं हो सका, और फिर दिवालीके पहिले उस प्रकारका संयोग प्राप्त होना संभव भी नहीं है।

तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्रोंमें जीव आदि स्वभाव और परभावके बहुतसे प्रश्न लिखे हुए आते थे, इसी कारणसे उनका भी प्रत्युत्तर नहीं लिखा जा सका। इस बीचमें दूसरे भी जिज्ञासुओंके बहुतसे पत्र मिले हैं, प्रायः करके इसी कारणसे ही उनका भी उत्तर नहीं लिखा जा सका।

हालमें जो उपाधि-योग रहता है, यदि उस योगके प्रतिबंधके त्यागनेका विचार करें तो त्याग हो सकता है; तथापि उस उपाधि-योगके सहन करनेसे जिस प्रारब्धकी निवृत्ति होती है, उसे उसी प्रकारसे सहन करनेके सिवाय दूसरी इच्छा नहीं होती; इसलिये इसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और ऐसी ही स्थिति है।

शास्त्रोंमें इस कालको क्रम क्रमसे क्षीण होनेके योग्य कहा है; और इस प्रकारसे क्रम क्रमसे हुआ भी करता है। मुख्यरूपसे यह क्षीणता परमार्थसंबंधी क्षीणता ही कही है। जिस कालमें अत्यन्त कठिनतासे परमार्थकी प्राप्ति हो, उस कालको दुःषम काल कहना चाहिये। यद्यपि जिससे सर्वकालमें

परमार्थकी प्राप्ति होती है ऐसे पुरुषोंका संयोग दुर्लभ ही है, परन्तु ऐसे कालमें तो यह अत्यंत ही दुर्लभ हो रहा है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण होती जा रही है, इस कारण उसके प्रति ज्ञानी पुरुषोंके उपदेशका बल कम होता जाता है, और इससे परम्परासे वह उपदेश भी क्षीण होता जा रहा है—अर्थात् अब क्रम क्रमसे परमार्थ-मार्गके व्यवच्छेद होनेका काल आ रहा है।

इस कालमें, और उसमें भी आजकल लगभग सौ वर्षोंसे मनुष्योंकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीण हो गई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। सहजानंदस्वामीके समयतक मनुष्योंमें जो सरल वृत्ति थी, उसमें और आजकी सरल वृत्तिमें महान् अन्तर हो गया है। उस समयतक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ आज्ञाकारित्व, परमार्थकी इच्छा, और तत्संबंधी निश्चयमें दृढ़ता—ये बातें जैसी थीं वैसी आज नहीं रही हैं; इस कारण आज तो बहुत ही क्षीणता आ गई है। यद्यपि अभी इस कालमें परमार्थवृत्तिका सर्वथा व्यवच्छेद नहीं हुआ, तथा भूमि भी सत्पुरुषोंसे रहित नहीं हुई है, तो भी यह काल उस-कालकी अपेक्षा अधिक विषम है—बहुत विषम है—ऐसा मानते हैं।

इस प्रकारका कालका स्वरूप देखकर हृदयमें अंखडरूपसे महान् अनुकंपा रहा करती है। किसी भी प्रकारसे जीवोंकी अत्यंत दुःखकी निवृत्तिका उपाय जो सर्वोत्तम परमार्थ, यदि उस परमार्थसंबंधी वृत्ति कुछ बढ़ती जाती हो, तो ही उसे सत्पुरुषकी पहिचान होती है, नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति फिरसे जीवित हो, और किन्हीं भी जीवोंको—बहुतसे जीवोंको—परमार्थसंबंधी मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा अखंडरूपसे रहा करती है; तो भी ऐसा होना हम बहुत दुर्लभ मानते हैं, और उसके कारण भी ऊपर बता दिये हैं।

जिस पुरुषका चौथे कालमें मिलना दुर्लभ था, ऐसे पुरुषका संयोग इस कालमें हुआ है, परन्तु जीवोंकी परमार्थसंबंधी चिंता अत्यंत क्षीण हो गयी है; अर्थात् उस पुरुषकी पहिचान होना अत्यंत कठिन है। उसमें भी गृहवास आदिके प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति देखकर तो जीवको प्रतीति आना और भी दुर्लभ है—अत्यंत ही दुर्लभ है; और यदि कदाचित् प्रतीति आ भी गई तो हालमें जो उसका प्रारब्धका क्रम रहता है, उसे देखकर उसका निश्चय रहना दुर्लभ है; और यदि कदाचित् उसका निश्चय भी हो जाय तो भी उसका सत्संग रहना दुर्लभ है; और परमार्थका जो मुख्य कारण है वह तो यही है; उसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंको अधिक बलवानरूपसे देखते हैं, और यह बात देखकर फिर फिरसे अनुकंपा उत्पन्न हो आती है।

ईश्वरेच्छासे जिस किसी जीवका भी कल्याण वर्तमानमें होना होगा, वह तो उसी तरह होगा, और हम इस विषयमें ऐसा भी मानते हैं कि वह दूसरेसे नहीं परन्तु हमसे ही होगा। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि जैसी हमारी अनुकंपायुक्त इच्छा है, जिससे जीवोंको वैसा परमार्थ-विचार और परमार्थ-प्राप्ति हो सके, वैसा संयोग हमें किसी प्रकारसे कम ही हुआ है। हम ऐसा मानते हैं कि यदि यह देह गंगा यमुना आदिके प्रदेशमें अथवा गुजरात देशमें उत्पन्न हुई होती—वहाँ वृद्धिंगत हुई होती तो यह एक बलवान कारण होता। तथा हम ऐसा मानते हैं कि यदि प्रारब्धमें गृहवास बाकी न होता और ब्रह्मचर्य या वनवास होता तो यह भी एक दूसरा बलवान कारण होता। कदाचित् गृहवास बाकी होता और उपाधि-

योगरूप प्रारब्ध न होता, तो वह परमार्थका तीसरा बलवान कारण होता, ऐसा मानते हैं। पहिले कहे हुए दो कारण तो हो चुके हैं, इसलिये अब उनका निवारण नहीं हो सकता, फिर भी अभी ऐसा होना बाकी है कि तीसरा उपाधि-योगरूप प्रारब्ध शीघ्रतासे निवृत्त हो—उसका निष्काम करुणा-पूर्वक वेदन हो। किन्तु यह विचार भी अभी योग्य स्थितिमें है; अर्थात् ऐसी ही इच्छा रहती है कि उस प्रारब्धका सहजमें ही प्रतीकार हो जाय, अथवा उस प्रकारका उदय विशेष उदयमें आकर थोड़े ही कालमें समाप्त हो जाय, तो ही वैसी निष्काम करुणा रह सकती है। और इन दो प्रकारोंमें तो हालमें उदासीनतासे अर्थात् सामान्यरूपसे ही रहना है, ऐसी आत्म-भावना है; और इस संबंधमें वारम्वार महान् विचार रहा करता है।

जबतक उपाधि-योग समाप्त नहीं होता तबतक किस प्रकारके सम्प्रदायपूर्वक परमार्थ कहना, यह मौनरूपसे और अविचार अथवा निर्विचारमें ही रक्खा है—अर्थात् हालमें यह विचार करनेके विषयमें उदास भाव रहता है।

आत्माकार स्थिति हो जानेसे प्रायः करके चित्त एक अंश भी उपाधि-योगका वेदन करने योग्य नहीं है, फिर भी वह तो जिस प्रकारसे सहन करनेको मिले उसी प्रकारसे सहन करना है, इसलिये उसमें समाधि है। परन्तु किन्हीं जीवोंसे परमार्थसंबंधी प्रसंग पड़ता है, तो उन्हें उस उपाधि-योगके कारण हमारी अनुकंपाके अनुसार लाभ नहीं मिलता; और तुम्हारी लिखी हुई जो कुछ परमार्थसंबंधी बात आती है वह भी चित्तमें मुश्किलसे ही प्रवेश हो पाती है, क्योंकि हालमें उसका उदय नहीं है। इस कारण पत्र आदिके प्रसंगसे भी तुम्हारे सिवाय दूसरे मुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकंपासे परमार्थवृत्ति नहीं दी जा सकती, यह बात भी चित्तको बहुत बार लगा करती है।

चित्तके बंधनयुक्त न हो सकनेके कारण, जो जीव संसारके संबंधमें स्त्री आदिरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन जीवोंकी इच्छाको भी क्लेशित करनेकी नहीं होती, अर्थात् उसे भी अनुकंपासे, और माँ बाप आदिके उपकार आदि कारणोंसे उपाधि-योगका बलवान रीतिसे सहन करते हैं। और जिस जिसकी जो कामना है, उस उस प्रारब्धके उदयमें जिस प्रकारसे वह कामना प्राप्त होनी है, जबतक वह उस प्रकारसे न हो, तबतक निवृत्ति ग्रहण करते हुए भी जीव उदासीन ही रहता है। इसमें किसी प्रकारकी हमारी कामना नहीं है, हम तो इस सबमें निष्काम ही हैं, फिर भी उस प्रकारके बंधन रखनेरूप प्रारब्ध उदयमें रहता है; इसे भी दूसरे मुमुक्षुकी परमार्थवृत्ति उत्पन्न करनेमें हम विघ्नरूप समझते हैं।

जबसे तुम हमें मिले हो तभीसे यह बात—जो ऊपर अनुक्रमसे लिखी है—कहनेकी इच्छा थी, परन्तु उस उस प्रकारसे उसका उदय नहीं था, इसलिये ऐसा नहीं बना; अब वह उदय बताने योग्य था इसलिये इसे संक्षेपमें कह दिया है, इसे तुम्हें बारम्बार विचारनेके लिये लिखा है। इसमें बहुत विचार करके सूक्ष्मरूपसे हृदयमें धारण करने योग्य बात लिखी है। तुम और गोशालीआके सिवाय इस पत्रके समाचार जानने योग्य दूसरे जीव हालमें तुम्हारे पास नहीं हैं, इतनी बात स्मरण रखनेके लिये ही लिखी है। किसी बातमें, शब्दोंके संक्षिप्त होनेके कारण, यदि कुछ ऐसा मालूम दे कि अभी हमें किसी प्रकारकी संसार-सुख-वृत्ति बाकी है, तो उस अर्थको फिरसे विचारना योग्य है। यह निश्चय

है कि तीनों कालमें हमारे संबंधमें यह मालूम होना कल्पित ही समझना चाहिये, अर्थात् संसार-सुख-वृत्तिसे हमें निरन्तर उदास भाव ही रहता है। ये वाक्य यह समझकर नहीं लिखे कि तुम्हारा हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है, अथवा यदि होगा तो वह निवृत्त हो जायगा; इन्हें किसी दूसरे ही हेतुसे लिखा है।

जगत्में किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति भेद-दृष्टि नहीं, ऐसे श्री....निष्काम आत्मस्वरूपका नमस्कार पहुँचे।

" उदासीन " शब्दका अर्थ सम भाव है।

३२५

बम्बई, श्रावण १९४८

मुमुक्षुजन यदि सत्संगमें हों तो वे निरन्तर उल्लासित परिणाममें रहकर अल्प कालमें ही आत्म-साधन कर सकते हैं, यह बात यथार्थ है। तथा सत्संगके अभावमें सम परिणति रहना कठिन है; फिर भी ऐसे करनेमें ही आत्म-साधन रहता है, इसलिये चाहे जैसे मिथ्या निमित्तमें भी जिस प्रकारसे सम परिणति आ सके, उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यदि ज्ञानीके आश्रयमें ही निरन्तर वास हो तो थोड़े ही साधनसे भी सम परिणति आती है, इसमें तो कोई भी विवाद नहीं। परन्तु जब पूर्वकर्मके बंधनसे अनुकूल न आनेवाले निमित्तमें रहना होता है, उस समय चाहे किसी भी तरह, जिससे उसके प्रति द्वेषरहित परिणाम रहे, ऐसे प्रवृत्ति करना ही हमारी वृत्ति है, और यही शिक्षा भी है।

वे जिस तरह सत्पुरुषके दोषका उच्चारण भी न कर सकें, उस तरह यदि तुमसे प्रवृत्ति करना बन सकता हो तो कष्ट सहकर भी उस तरह आचरण करना योग्य है। हालमें हमारी तुम्हें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि जिससे तुम्हें उनसे बहुत तरहसे प्रतिकूल चलना पड़े। यदि किसी बाबतमें वे तुम्हें बहुत प्रतिकूल समझते हों तो वह जीवका अनादिका अभ्यास है, ऐसा जानकर धीरज रखना ही अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनेसे जीव भव-मुक्त हो जाता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर दोषभावसे प्रवृत्ति करना, यह जीवको महा दुःखका देनेवाला है, ऐसा मानते हैं; और जब वैसे प्रकारमें जीव आकर फँस जाते हैं तो हम समझते हैं कि जीवको कोई ऐसा ही पूर्वकर्मका बंधन होना चाहिये। हमें तो इस विषयमें द्वेषरहित परिणाम ही रहता है; और उनके प्रति करुणा ही आती है। तुम भी इस गुणका अनुकरण करो; और जिस तरह उन लोगोंको गुणगान करनेके योग्य सत्पुरुषके अवर्णवाद बोलनेका अवसर उपस्थित न हो, ऐसा योग्य मार्ग ग्रहण करो, यही अनुरोध है।

हम स्वयं उपाधि-प्रसंगमें रहते आये हैं और रह रहे हैं, इसके ऊपरसे हम स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सम्पूर्ण आत्मभावसे प्रवृत्ति करना दुर्लभ है; इसलिये निरुपाधिपूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सेवन करना आवश्यक है। ऐसा जानते हुए भी हालमें तो हम ऐसा ही कहते हैं कि जिससे उस उपाधिका वहन करते हुए निरुपाधिका विसर्जन न हो जाय, ऐसा ही करते रहो।

जब हम जैसे भी सत्संगका सेवन करते हैं, तो फिर वह तुम्हें कैसे असेवनीय हो सकता है, यह जानते हैं; परन्तु हालमें तो हम पूर्वकर्मको ही भज रहे हैं, इसलिये तुम्हें दूसरा मार्ग हम कैसे बतावें, यह तुम ही विचारो।

एक क्षणभरके लिये भी इस संसर्गमें रहना अच्छा नहीं लगता; ऐसा होनेपर भी बहुत समयसे इसे सेवन किये चले आते हैं; और अभी अमुक कालतक सेवन करनेका विचार रखना पड़ा है; और तुम्हें भी यही अनुरोध कर देना योग्य समझा है। जैसे बने तैसे विनय आदि साधनसे संपन्न होकर सत्संग, सत्शास्त्राभ्यास, और आत्मविचारमें प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

एक समयके लिये भी प्रमाद करनेकी तीर्थंकरदेवकी आज्ञा नहीं है।

---

३२६ बम्बई, श्रावण वदी १९४८

जिस पुरुषको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती, वह पुरुष नमन करने योग्य है, कीर्तन करने योग्य है, परम प्रेमपूर्वक गुणगान करने योग्य है, और फिर फिरसे विशिष्ट आत्मपरिणामसे ध्यान करने योग्य है।

आपके बहुतसे पत्र मिले हैं। उपाधि संयोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र लिखने योग्य अवकाश नहीं रहता, अथवा उस उपाधिको उदयरूप समझकर मुख्यरूपसे आराधना करते हुए, तुम जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नहीं लिखा; इसके लिये क्षमा करें।

जबसे चित्तमें इस उपाधि-योगकी आराधना कर रहे हैं, उस समयसे जैसा मुक्तभाव रहता है, वैसा मुक्तभाव अनुपाधि-प्रसंगमें भी नहीं रहता था, ऐसी निश्चल दशा मंगसिर सुदी ६ से एकधारासे चली आ रही है।

---

३२७ बम्बई, भाद्रपद सुदी १ भौम. १९४८

ॐ सत्

तुम्हारा वैराग्य आदि विचारोंसे पूर्ण एक सविस्तर पत्र करीब तीन दिन पहले मिला था। जीवको वैराग्य उत्पन्न होना, इसे हम एक महान् गुण मानते हैं। और इसके साथ शम, दम, विवेक आदि साधनोंका अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग मिले तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है, ऐसा मानते हैं। (ऊपरकी लाइनमें जो योग शब्द लिखा है उसका अर्थ प्रसंग अथवा सत्संग करना चाहिये)।

अनंत कालसे जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनंत तप, जप, वैराग्य आदि साधन किये मालूम होते हैं, फिर भी जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो, ऐसा मालूम नहीं होता। ऐसे तप, जप, अथवा वैराग्य, अथवा दूसरे साधन केवल संसाररूप ही हुए हैं; ऐसा जो हुआ है वह किस कारणसे हुआ ? यह बात फिर फिरसे विचारने योग्य है। (यहाँपर किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन सब निष्फल हैं, ऐसा कहनेका अभिप्राय नहीं है, परन्तु ये जो निष्फल हुए हैं, उसका क्या हेतु होगा, यह विचार करनेके लिये यह लिखा गया है। जिसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसे जीवको वैराग्य आदि साधन तो निश्चयसे होते ही हैं)।

निरंतर हमारे सत्संगमें रहनेके संबंधमें जो तुम्हारी इच्छा है, उस विषयमें हालमें कुछ लिख सकना असंभव है। तुम्हें माल्रम हुआ होगा कि हमारा जो यहाँ रहना होता है वह उपाधिपूर्वक ही होता है, और वह उपाधि इस प्रकारसे है कि ऐसे प्रसंगमें श्रीतीर्थंकर जैसे पुरुषके विषयमें भी कुछ निर्णय करना हो तो भी कठिन हो जाय, क्योंकि अनादि कालसे जीवको केवल बाह्य प्रवृत्तिकी अथवा बाह्य निवृत्तिकी ही पहिचान हो रही है; और इसीके आधारसे ही वह सत्पुरुषको असत्पुरुष कल्पना करता आया है। कदाचित् किसी सत्संगके योगसे यदि जीवको ऐसा जाननेमें आया भी कि "यह सत्पुरुष है", तो भी फिर निरंतर उनके बाह्य प्रवृत्तिरूप योगको देखकर जैसा चाहिये वैसा निश्चय नहीं रहता, अथवा निरंतर वृद्धिंगत होता हुआ भक्तिभाव नहीं रहता, और कभी तो जीव संदेहको प्राप्त होकर वैसे सत्पुरुषके योगको त्यागकर, जिसकी केवल बाह्य निवृत्ति ही माल्रम होती है, ऐसे असत्पुरुषका दृढ़ाग्रहपूर्वक सेवन करने लगता है। इसलिये जिस कालमें सत्पुरुषको निवृत्ति-प्रसंग रहता हो, वैसे प्रसंगमें उसके समीप रहना, यह जीवको हम विशेष हितकर समझते हैं—इस बातका इस समय इससे अधिक लिखा जाना असम्भव है। यदि किसी प्रसंगपर हमारा समागम हो तो उस समय तुम इस विषयमें पूँछना, और उस समय यदि कुछ विशेष कहने योग्य प्रसंग होगा तो उसे कह सकना संभव है।

यदि दीक्षा लेनेकी बारम्बार इच्छा होती हो तो भी हालमें उस प्रवृत्तिको शान्त ही करना चाहिये। तथा कल्याण क्या है, और वह किस तरह हो सकता है, इसका बारम्बार विचार और गवेषणा करनी चाहिए। इस क्रममें अनंत कालसे भूल होती आती है, इसलिये अत्यंत विचारपूर्वक ही पैर उठाना योग्य है।

---

३२८ बम्बई, भाद्रपद सुदी ७ सोम. १९४८

उदय देखकर उदास नहीं होना.

संसारका सेवन करनेके आरंभ कालसे लगाकर आजतक तुम्हारे प्रति जो कुछ अविनय, अभक्ति, और अपराध आदि दोष उपयोगपूर्वक अथवा अनुपयोगसे हुए हों, उन सबकी अत्यंत नम्रतासे क्षमा चाहता हूँ।

श्रीतीर्थंकरने जिसे धर्म-पर्व गिनने योग्य माना है, ऐसी इस वर्षकी संवत्सरी व्यतीत हुई। किसी भी जीवके प्रति किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अत्यंत अल्प दोष भी करना योग्य नहीं, ऐसी बात जिसकेद्वारा परमोत्कृष्टरूपसे निश्चित हुई है, ऐसे इस चित्तको नमस्कार करते हैं; और इस वाक्यको एक मात्र स्मरण करने योग्य ऐसे तुम्हें ही लिखा है; इस वाक्यको तुम निःशंकरूपसे जानते हो।

"तुम्हें रविवारको पत्र लिखूँगा" ऐसा लिखा था परन्तु नहीं लिख सका, यह क्षमा करने योग्य है। तुमने व्यवहार-प्रसंगके विवेचनाके संबंधमें जो पत्र लिखा था, उस विवेचनाको चित्तमें उतारने और विचारनेकी इच्छा थी, परन्तु वह इच्छा चित्तके आत्माकार हो जानेसे निष्फल हो गई है; और इस समय कुछ लिखना बन सके, ऐसा माल्रम नहीं होता; इसके लिये अत्यंत नम्रतापूर्वक क्षमा माँगकर इस पत्रको समाप्त करता हूँ।

सहजस्वरूप.

---

३२९ बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

जिस जिस प्रकारसे आत्मा आत्म-भावको प्राप्त करे, वे सब धर्मके ही भेद हैं। जिस प्रकारसे आत्मा अन्य भावको प्राप्त करे वह भेद अन्यरूप ही है, धर्मरूप नहीं। तुमने हालमें जो वचन सुननेके पश्चात् निष्ठा अंगीकार की है, वह निष्ठा श्रेयस्कर है। वह निष्ठा आदि मुमुक्षुको दृढ़ सत्संग मिलनेपर अनुक्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर आत्मस्थितिरूप होती है।

जीवको, धर्मको केवल अपनी ही कल्पनासे अथवा कल्पना-प्राप्त किसी अन्य पुरुषसे श्रवण करना, मनन करना अथवा आराधना करना योग्य नहीं है। जो केवल आत्म-स्थितिसे ही रहता है, ऐसे सत्पुरुषसे ही आत्मा अथवा आत्मधर्मका श्रवण करना योग्य है—यावज्जीवन आराधना करना योग्य है।

---

३३० बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

संसार-कालसे लगाकर इस क्षणतक तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारकी अविनय, अभक्ति, असत्कार अथवा ऐसा ही अन्य दूसरे प्रकारका कोई भी अपराध मन, वचन और कायाके परिणामसे हुआ हो, उस सबको अत्यंत नम्रतासे, उन सब अपराधोंके अत्यंत लय परिणामरूप आत्मस्थितिपूर्वक, मैं सब प्रकारसे क्षमा माँगता हूँ; और इसे क्षमा करानेके मैं योग्य हूँ। तुम्हें किसी भी प्रकारसे उस अपराध आदिका अनुपयोग हो तो भी अत्यंतरूपसे, हमारी किसी भी प्रकारसे वैसी पूर्वकालसंबंधी भावना समझकर, इस क्षणमें अत्यंतरूपसे क्षमा करने योग्य आत्मस्थिति करनेके लिये लघुतासे प्रार्थना है।

---

३३१ बम्बई, भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९४८

इस क्षणपर्यंत तुम्हारे प्रति किसी भी प्रकारसे पूर्व आदि कालमें मन वचन और कायाके योगसे जो जो कुछ अपराध आदि हुए हों, उन सबको अत्यंत आत्मभावसे विस्मरण करके क्षमा चाहता हूँ। इसके बाद किसी भी कालमें तुम्हारे प्रति उस प्रकारके अपराधका होना असंभव समझता हूँ, ऐसा होनेपर भी किसी अनुपयोग भावसे देहपर्यंत, यदि वह अपराध कभी हो भी जाय तो उस विषयमें भी यहाँ अत्यंत नम्र परिणामसे क्षमा चाहता हूँ; और उस क्षमाभावरूप इस पत्रको विचारते हुए वारम्वार चिन्तवन करके तुम भी हमारे पूर्वकालके उस सर्व प्रकारके अपराधको भूल जाने योग्य हो।

---

३३२ बम्बई, भाद्रपद सुदी १२ रवि. १९४८

परमार्थ शीघ्र प्रकाशित होनेके विषयमें तुम दोनोंका आग्रहपूर्ण वचन प्राप्त हुआ; तथा तुमने जो व्यवहार-चिंताके विषयमें लिखा, और उसमें भी सकामभाव निवेदन किया, वह भी आग्रहपूर्वक प्राप्त हुआ है।

हालमें तो इस सबके विसर्जन कर देनेरूप उदासीनता ही रहती है, और उस सबको ईश्वरेच्छाके आधीन ही सौंप देना योग्य है। हालमें ये दोनों बातें जबतक हम फिरसे न लिखें तबतक विस्मरण ही करने योग्य हैं।

---

३३३ बम्बई, भाद्रपद वदी ३ शुक्र. १९४८

यहाँसे लिखे हुए पत्रके तुम्हें मिलनेसे होनेवाले आनंदको निवेदन करते हुए, तुमने हालमें दीक्षासंबंधी वृत्तिके क्षोभ प्राप्त करनेके विषयमें जो लिखा, सो वह क्षोभ हालमें योग्य ही है।

क्रोध आदि अनेक प्रकारके दोषोंके क्षय हो जानेपर ही संसार-त्यागरूप दीक्षा लेना योग्य है, अथवा किसी महान् पुरुषके संयोगसे कोई योग्य प्रसंग आनेपर ऐसा करना योग्य है। इसके सिवाय किसी दूसरी प्रकारसे दीक्षाका धारण करना कार्यकारी नहीं होता; और जीव वैसी दूसरी प्रकारकी दीक्षारूप भ्रान्तिसे ग्रस्त होकर अपूर्व कल्याणको चूकता है; अथवा जिससे विशेष अन्तराय उपस्थित हो ऐसे योगका उपार्जन करता है; इसलिये हालमें तो तुम्हारे क्षोभको हम योग्य ही समझते हैं।

यह हम जानते हैं कि तुम्हारी यहाँ समागममें आनेकी विशेष इच्छा है; फिर भी हालमें तो उस संयोगकी इच्छाका निरोध करना ही योग्य है; अर्थात् वह संयोग बनना असंभव है; और इस बातका खुलासा जो प्रथमके पत्रमें लिखा है, उसे तुमने पढ़ा ही होगा। इस तरफ आनेकी इच्छामें तुम्हारे बड़ों आदिका जो निरोध है, हालमें उस निरोधको उल्लंघन करनेकी इच्छा करना योग्य नहीं।

मताग्रहमें बुद्धिका उदासीन करना ही योग्य है; और हालमें तो गृहस्थ धर्मको अनुसरण करना भी योग्य है। अपना हितरूप जानकर अथवा समझकर आरंभ-परिग्रहका सेवन करना योग्य नहीं। और इस परमार्थको बारम्बार विचार करके सद्ग्रंथका बाँचन, श्रवण, और मनन आदि करना योग्य है।

निष्काम यथायोग्य.

---

३३४ बम्बई, भाद्रपद वदी ८ बुध. १९४८

ॐ नमस्कार

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदय आये उस सबको सहन करते जाना, यही ज्ञानी पुरुषोंका सनातन आचरण है, और यही आचरण हमें उदय रहा करता है; अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय रहता है, और उस उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। उदयके इस क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होता; और हम ऐसा मानते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंका भी वही सनातन आचरण है; फिर भी जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हो गई है, अथवा निवृत्त होने आई है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं रही, इस कारण आत्मामें निवृत्ति ही रहा करती है। ऐसा होनेपर भी जिससे उसके अनेक प्रकारके संग-प्रसंगमें प्रवृत्ति करना पड़े, ऐसे पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे हम सम परिणामसे सहन करते हैं, परन्तु अभी भी कुछ समयतक वह उदयमें है, ऐसा जानकर कभी कभी खेद होता है, कभी कभी विशेष खेद होता है। और उस खेदका कारण विचारकर देखनेसे तो वह परानुकंपारूप ही मालूम होता है। हालमें तो उस प्रारब्धको स्वाभाविक उदयके अनुसार वेदन किये बिना अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें हम दूसरे किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ और अलाभके कारणरूपसे मालूम होते हैं; इस मालूम होनेमें लोक-प्रसंगकी विचित्र भ्रांति देखकर खेद होता है। जिस संसारमें साक्षी कर्त्ताके रूपसे माना

जाता है, उस संसारमें उस साक्षीसे साक्षीरूप रहना, और कर्त्तारूपसे भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके समान है।

ऐसा होनेपर भी यदि वह साक्षी-पुरुष भ्रांतियुक्त लोगोंको, किसीको खेद, दुःख और अलाभका कारण मालूम न पड़े, तो उस प्रसंगमें उस साक्षी-पुरुषको अत्यंत कठिनाई नहीं है। हमें तो अत्यंत कठिनाईके प्रसंगका उदय रहता है।

इसमें भी उदासीनभाव ही ज्ञानीका सनातन धर्म है (यहाँ धर्म शब्द आचरणके अर्थमें है)।

एक बार जब एक तुच्छ तिनकेके दो भाग करनेकी क्रियाके कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, उस समय जो ईश्वरेच्छा होगी वही होगा।

अचिंत्यदशास्वरूप.

३३५

बम्बई, आसोज सुदी १ बुध. १९४८

जीवके कर्तृत्व-अकर्तृत्वको समागममें श्रवण करके निदिध्यासन करना योग्य है।

वनस्पति आदिके संयोगसे पारेका बँधकर चाँदी वगैरह रूप हो जाना संभव नहीं होता, यह बात नहीं है। योग-सिद्धिके भेदसे किसी तरह ऐसा हो सकता है, और जिसे उस योगके आठ अंगोंमेंसे पाँच अंग प्राप्त हो गये हैं, उसे सिद्धि-योग होता है। इसके सिवाय कोई दूसरी कल्पना करना केवल कालक्षेपरूप ही है। यदि उसका विचार भी उत्पन्न हो तो वह भी एक कौतुकरूप ही है, और कौतुक आत्म-परिणामके लिये योग्य नहीं है। पारेका स्वाभाविकरूप पारापन ही है।

३३६

बम्बई, आसोज सुदी ७ भौम. १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे सेवन करने योग्य है।

वास्तविक बात तो ऐसी है कि किये हुए कर्म बिना भोगे निवृत्त होते नहीं, और नहीं किये हुए किसी कर्मका फल मिलता नहीं। किसी किसी समय अकस्मात् किसीको वर अथवा शाप देनेसे जो शुभ अथवा अशुभ फल मिलता हुआ देखनेमें आता है, वह किसी नहीं किये हुए कर्मका फल नहीं है—वह भी किसी प्रकारसे किये हुए कर्मका ही फल है।

एकेन्द्रियका एकावतारीपना अपेक्षासे समझने योग्य है।

३३७

बम्बई, आसोज सुदी १०, १९४८

ॐ

(१)

भगवती आदि सिद्धांतोंमें जो किन्हीं किन्हीं जीवोंके भवांतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ संशय होने जैसी बात नहीं। तीर्थंकर तो भला पूर्ण आत्मस्वरूप हैं; परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्यासके बलसे रहते हों, उन पुरुषोंमेंके भी बहुतसे पुरुष भवांतरको जान सकते हैं; और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है। जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, उसे भवांतरका ज्ञान होना योग्य है—होता है। क्वचित् ज्ञानके तारतम्य-क्षयोपशम-भेदसे वैसा कभी

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भवांतरको जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारोंके अत्यंत-रूपसे दृढ़ होनेके लिये शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भवांतरका स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता; परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भवांतर भी स्पष्ट माल्म होता है। अपने तथा परके भव जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका विसं-वाद नहीं है।

तीर्थंकरको भिक्षाके लिये जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके कह-नेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोक-भाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा'; जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, परन्तु वह शब्दके भावार्थसे ही यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थंकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावके बलसे यह होना अत्यंत संभवित है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना संभव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, वहाँ सर्व-महत्-प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक बात है—निःसन्देह अंगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व-महत्-प्रभाव-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कौनसी जगह रहे? यह विचारने योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना संभव नहीं, तो फिर सर्व-महत्-प्रभाव-योगका अभाव ही होगा। परन्तु जब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी अभावरूप नहीं है, तो फिर महत् प्रभाव-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है, किन्तु महत् प्रभाव-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, तो यह कहना एक विसंवाद पैदा करनेके सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह कहने-वाला शुद्ध आत्मस्वरूपके महत्पनेसे अत्यंत हीन ऐसे प्रभाव-योगको महान् समझता है—अंगीकार करता है; और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वक्ता आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो। इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं परन्तु इस प्रभाव-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है, यह बात तो अवश्य है; और यदि उसे उस प्रभाव-योगमें कोई कर्त्तव्य माल्म होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यंत अज्ञानमें ही रहता है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थंकरमें सब प्रकारका प्रभाव-योग होना योग्य है—होता है; परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किसी स्वाभाविक पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असंभव नहीं, और वह तीर्थंकरपदको बाधाकारक भी नहीं है। जो तीर्थंकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिवाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थंकर कहे जाने योग्य नहीं; ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।

जो जिनभगवान्‌के कहे हुए शास्त्र माने जाते हैं, उनमें कुछ बोलोंके विच्छिन्न हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञान आदि दस बोल मुख्य हैं; और उन दस बोलोंके विच्छिन्न हुए दिखानेका आशय यही बतानेका है कि इस कालमें 'सर्वथा मुक्ति नहीं होती'। ये दस बोल जिसे प्राप्त हो गये हों, अथवा जिसे इनमेंका एक भी बोल प्राप्त हो गया हो तो उसे चरम-शरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर इस बातको विच्छेदरूप माना है। फिर भी एकांतसे ऐसा ही कहना योग्य नहीं—ऐसा हमें मालूम होता है, और ऐसा ही है। क्योंकि इन बोलोंमें क्षायिक समकितका भी निषेध है, और वह चरम-शरीरीके ही हो, ऐसा तो ठीक नहीं, अथवा ऐसा एकांत भी नहीं है। महाभाग्य श्रेणिकके क्षायिक समकित होनेपर भी वे चरम-शरीरी नहीं थे, इस प्रकार उन्हीं जिनभगवान्‌के शास्त्रोंमें कथन है। तथा जिनकल्पी साधुके विहारका व्यवच्छेद कहना श्वेताम्बरोंका ही कथन है, दिगम्बरोंका कथन नहीं। 'सर्वथा मोक्ष होना' इस कालमें संभव नहीं है, ऐसा दोनोंका ही अभिप्राय है; और वह भी अत्यंत एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। हम मानते हैं कि इस कालमें चरम-शरीरीपना नहीं है, परन्तु यदि अशरीरी-भावरूपसे आत्म-स्थिति है, तो वह भावनयसे चरम-शरीरीपना ही नहीं किन्तु सिद्धपना भी है। और वह अशरीरी-भाव इस कालमें नहीं है—यदि यहाँ ऐसा कहें तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं हैं। विशेष क्या कहें? यह सर्वथा एकांत नहीं है। कदाचित् यह एकांत हो भी तो वह, जिसने आगमको कहा है, उसी आशयी सत्पुरुषद्वारा समझने योग्य है, और यही आत्मस्थितिका उपाय है।

(२)

पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे 'हाँ' कहनेमें अचल हूँ।

(३)

परम प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शून्य ही है। जो अटका है वह केवल योग्यताकी कमीके ही कारण अटका हुआ है।

ज्ञानीके पाससे ज्ञानकी इच्छा करनेकी अपेक्षा बोध-स्वरूप समझकर भक्तिकी इच्छा करना, यह परम फलदायक है। जिसपर ईश्वर कृपा करे उसे कलियुगमें उस पदार्थकी प्राप्ति हो। यह महाकठिन है।

---

३३८ बम्बई, आसोज वदी ६, १९४८

ॐ

(१) यहाँ आत्माकारता रहती है। आत्माके आत्म-स्वरूपभावसे परिणामके होनेको आत्माकारता कहते हैं।

(२) जो कुछ होता है उसे होने देना। न उदासीन होना। न अनुद्यमी होना। न परमात्मासे ही इच्छा करनी, और न व्याकुल होना। यदि अहंभाव रुकावट डालता हो तो जितना बने उसको रोकना; और ऐसा होनेपर भी यदि वह दूर न होता हो तो उसे ईश्वरके लिये अर्पण कर देना। परन्तु दीनता न आने देना। आगे क्या होगा, इसका विचार नहीं करना, और जो हो उसे करते रहना। अधिक उधेड़-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अल्प भी भय नहीं रखना। जो कुछ करनेका अभ्यास हो गया है उसे विस्मरण किये रहना—तो ही ईश्वर प्रसन्न होगा—तो ही परमभक्ति पानेका फल मिलेगा—तो ही हमारा और तुम्हारा संयोग हुआ योग्य है।

और उपाधिमें क्या होता है, यह आगे चलकर देख लेंगे। देख लेंगे—इसका अर्थ बहुत गंभीर है। सर्वात्मा हरि समर्थ है। महंत पुरुषोंकी कृपासे निर्बल मति कम ही रहती है। यद्यपि आपके उपाधि-योगमें लक्ष रहा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह सब सर्वात्माके ही हाथ है। और वह सत्ता निश्चयसे आकांक्षारहित ऐसे ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जबतक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसे हो, वैसे ज्ञानीको भी चलना, यह आज्ञांकित धर्म है।

ऊपर जो उपाधिमेंसे अहंभावके छोड़नेके वचन लिखे हैं, उनके ऊपर आप थोड़े समय विचार करें। आपकी उसीमें उस प्रकारकी दशा हो जाय ऐसी आपकी मनोवृत्ति है। फिरसे निवेदन है कि उपाधिमें जैसे बने तैसे निःशंक रहकर उद्यम करना। आगे क्या होगा, यह विचार छोड़ देना।

---

३३९ बम्बई, आसोज वदी ८, १९४८

लोक-व्यापक अंधकारमें अपनेद्वारा प्रकाशित ज्ञानी पुरुष ही याथातथ्य देखते हैं। लोककी शब्द आदि कामनाओंके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसे ज्ञानीको हम नमस्कार करते हैं, और इस समय इतना ही लिखकर ज्ञानसे स्फुरित आत्मभावको तटस्थ करते हैं।

---

३४० बम्बई, आसोज १९४८

ॐ

(१) जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ निज-भावके कारण करनेमें नहीं आती—उस प्रकारसे नहीं की जाती। वह जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमें आये उसका अविसंवाद परिणामसे वेदन करना, इस प्रकार जो ज्ञानीका बोध है, वह हममें निश्चल रहता है—अर्थात् हम उसी प्रकारसे वेदन करते हैं। परन्तु इच्छा तो ऐसी रहती है कि अल्प कालमें ही—एक समयमें ही—यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जाँय—आत्मामें इतनी स्वतंत्रता रहा करती है। फिर भी निद्रा-काल, भोजन-काल तथा अमुक अवकाश-कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रहा करता है; और कुछ भिन्नरूप नहीं होता, तो भी किसी भी प्रसंगपर आत्मोपयोग अप्रधानभावका सेवन करते हुए देखा जाता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे भी अधिक शोक होता है, यह बात निस्सन्देह है।

ऐसा होनेके कारण, और जबतक गृहस्थ-प्रत्ययी प्रारब्ध उदयमें रहे, तबतक सर्वथा अयाचक भावके सेवन करनेमें चित्त रहनेमें ही ज्ञानी पुरुषोंका मार्ग रहता है, इस कारण इस उपाधिका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी हम ज्ञानीका विरोध नहीं करते, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उसकी उपेक्षा करें तो गृहस्थ अवस्था भी वनवासरूपसे सेवन होने लग जाय, ऐसा तीव्र वैराग्य रहा करता है।

सर्व प्रकारके कर्त्तव्यमें उदासीनरूप ऐसे हमसे यदि कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता

है कि पूर्वोपार्जित कर्मका समता भावसे वेदन करना; और जो कुछ किया जाता है वह उसीके आधारसे किया जाता है, ऐसी दशा रहती है।

(२) हमें ऐसा हो आता है कि हम यद्यपि अप्रतिबद्धतासे रह सकते हैं तो भी हमें संसारके बाह्य प्रसंगकी, अंतर प्रसंगकी, और कुटुम्ब आदिके स्नेहके सेवन करनेकी इच्छा नहीं होती, तो फिर तुम जैसे मार्गेच्छावानको—जिसे प्रतिबद्धतारूप भयंकर यमका साहचर्य रहता है—उसके दिन-रात सेवन करनेका अत्यंत भय क्यों नहीं छूटता?

ज्ञानी पुरुषसे सहमत होकर जो संसारका सेवन करता है, उसे तीर्थंकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं।

कदाचित् जो ज्ञानी पुरुषसे सहमत होकर संसारका सेवन करते हैं, यदि वे सब तीर्थंकरके मार्गसे बाहर ही कहे जाने योग्य हों, तो फिर श्रेणिक आदिको मिथ्यात्वका होना संभव होता है, और तीर्थंकरके वचनमें विसंवाद आता है। यदि तीर्थंकरका वचन विसंवादयुक्त हो तो उन्हें फिर तीर्थंकर कहना ही योग्य नहीं।

तीर्थंकरके कहनेका आशय यह है कि जो ज्ञानी-पुरुषसे सहमत होकर आत्मभावसे, स्वच्छंदतासे, कामनासे, अनुरागसे, ज्ञानीके वचनकी उपेक्षा करके, अनुपयोग परिणामी होकर संसारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थंकरके मार्गसे बाहर है।

३४१

बम्बई, असोज १९४८

हम किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक-बंधनके कारण संसारमें नहीं रह रहे हैं। जो स्त्री है उससे पूर्वमें बाँधे हुए भोग और कर्मको निवृत्त करना है, और जो कुटुम्ब है उसका पूर्वमें लिया हुआ कर्ज वापिस देकर निवृत्त होनेके लिये उसमें रह रहे हैं। तनके लिये, धनके लिये, भोगके लिये, सुखके लिये, स्वार्थके लिये अथवा अन्य किसी तरहके आत्मिक-बंधनके कारण हम संसारमें नहीं रह रहे हैं। जिस जीवको मोक्ष निकटतासे न रहता हो, वह जीव ऐसे अंतरंग भेदको कैसे समझ सकता है?

किसी दुःखके भयसे हमने संसारमें रहना स्वीकार किया है, यह बात भी नहीं है। मान-अपमानका तो जो कुछ भेद है वह सब निवृत्त ही हो गया है।

३४२

बम्बई, आसोज १९४८

(१)

(१) जिस प्रकारसे यहाँ कहा गया था, यहाँ उससे भी सुगमरूपसे ध्यानका स्वरूप लिखा है।

१. किसी निर्मल पदार्थमें दृष्टिके स्थापित करनेका अभ्यास करके प्रथम उसे चंचलतारहित स्थितिमें लाना।

२. इस तरह कुछ स्थिरता प्राप्त हो जानेके बाद दाहिनी आँखमें सूर्य और बाँईमें चन्द्र स्थित है, इस प्रकारकी भावना करना।

३. इस भावनाको तबतक सुदृढ़ बनाना, जबतक कि यह भावना उस पदार्थके आकार आदिके दर्शनको उत्पन्न न कर दे।

'प्रारब्ध है', ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मालूम नहीं होता। परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखाई देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्षका नित्य सेवन करता है।

---

५७६ बंबई, पौष वदी ९ गुरु. १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो.

ज्ञानी-पुरुषोंने बारम्बार *आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता* कही है, और फिर फिरसे उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अवश्य ही उसकी अल्पता करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

कौन कौनसे प्रतिबंधसे जीव आरम्भ-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, और वह प्रतिबंध किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग होना किस प्रकारसे कहा जाय, इसका पहले विचार कर, पीछेसे उपरोक्त विचार-अंकुरको मुमुक्षु जीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है।

---

५७७ बम्बई, पौष वदी १३ रवि. १९५२

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं, उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे यदि उनका वास उसमें हुआ भी तो उन्होंने अमूर्च्छित-रूपसे उदासीनभावसे उसे प्रारब्धोदय समझकर ही आचरण किया है, और त्याग करनेका ही लक्ष रक्खा है।

५७८

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग, और मृत्यु इन चारोंको, एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सब उपायोंसे अजेय समझकर, उनकी उत्पत्तिके हेतुभूत संसारको छोड़ कर चले जाते हुए। श्रीऋषभ आदि अनंत ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायकी उपासना की है, और सब जीवोंको उस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्लभ देखकर, निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अशरणको निश्चल शरणरूप और सुगम है।

जीवको अनंतकालमें बहुत बार हो चुका है, परन्तु 'यह पुरुष ज्ञानी है, इसलिये अब उसका आश्रय ग्रहण करना ही कर्त्तव्य है' ऐसा ज्ञान इस जीवको नहीं हुआ, और इसी कारण जीवको परिभ्रमण करना पड़ा है, हमें तो ऐसा दृढ़तापूर्वक माळूम होता है।

(३) ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान न होनेमें प्रायः करके जीवके हम तीन महान् दोष मानते हैं:—

(१) एक तो 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', इस प्रकारसे जीवको मान रहता है, वह मान।

(२) दूसरे, ज्ञानी पुरुषके ऊपर राग करनेकी अपेक्षा परिग्रह आदिमें विशेष राग होना।

(३) तीसरे, लोक-भयके कारण, अपकीर्त्ति-भयके कारण, और अपमान-भयके कारण ज्ञानीसे विमुख रहना—उसके प्रति जिस प्रकार विनयान्वित होना चाहिये उस प्रकार न होना।

ये तीन कारण जीवको ज्ञानीसे अज्ञात ही रखते हैं। जीवकी ज्ञानीमें भी अपने समान ही कल्पना रहा करती है; अपनी कल्पनाके अनुसार ही ज्ञानीके विचारका और शास्त्रका भी माप किया जाता है; ग्रंथोंके पठन आदिसे थोड़ा भी ज्ञान प्राप्त हो जानेसे, जीवको उसे अनेक प्रकारसे दिखानेकी इच्छा रहा करती है—इत्यादि दोष ऊपर बताये हुए तीन दोषोंमें ही गर्भित हो जाते हैं; और इन तीनों दोषोंका उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नामका महादोष ही है; और उसका निमित्त कारण असत्संग है।

जिसको तुम्हारे प्रति 'तुम्हें किसी प्रकार कुछ भी परमार्थकी प्राप्ति हो' इस प्रयोजनके सिवाय दूसरी कोई भी स्पृहा नहीं, ऐसा मैं इस बातको यहाँ स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि तुम्हें अभी ऊपर बताये हुए दोषोंके प्रति प्रेम रहता है। 'मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ', यह दोष अनेकबार प्रवृत्तिमें रहा करता है; असार परिग्रह आदिमें भी महत्ताकी इच्छा रहती है—इत्यादि जो दोष हैं, वे ध्यान और ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानी पुरुष और उसकी आज्ञाका अनुसरण करनेमें बाधा डालते हैं। इसलिये ऐसा मानते हैं कि जैसे बने तैसे आत्मामें वृत्ति करके उनके कम करनेका प्रयत्न करना, और अलौकिक भावनाके प्रतिबंधसे उदास होना यही कल्याणकारक है।

(२)

शरीरमें यदि पहिले आत्मभावना होती हो तो उसे होने देना, क्रमसे फिर प्राणमें आत्मभावना करना, फिर इन्द्रियोंमें आत्मभावना करना, फिर संकल्प-विकल्परूप परिणाममें आत्मभावना करना, और फिर स्थिर ज्ञानमें आत्मभावना करना—वहीं सब प्रकारकी अन्य आलंबनोंसे रहित स्थिति करना चाहिये।

(३)

प्राण,	सोहं	
वाणी,		उसका ध्यान करना।
रस.	अनहद	

३४३

आसोज वि. सं. १९४८

हे परमकृपालु देव! जन्म, जरा, मरण आदि सब दुःखोंके अत्यन्त क्षय करनेवाले ऐसे

वीतराग पुरुषका मूलमार्ग, आप श्रीमद्ने अनंत कृपा करके मुझे प्रदान किया। इस अनंत उपकारके प्रत्युपकारका बदला चुकानेके लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। फिर आप श्रीमत् कुछ भी लेनेके लिये सर्वथा निस्पृह हैं; इससे मैं मन, वचन और कायाकी एकाग्रतासे आपके चरणारविन्दमें नमस्कार करता हूँ। आपकी परमभक्ति और वीतराग पुरुषके मूल धर्मकी उपासना मेरे हृदयमें भवपर्यंत अखंडरूपसे जागृत रहा करे, इतना ही चाहता हूँ, यह सफल होओ ! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

३४४

विक्रम संवत् १९४८

भववासी मूढ़दशा.

(१) रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलीकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है;
कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेकै चलत मानो काठसौ कटतु है;
एते परि मूरख न खोजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है;
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है ॥ १ ॥

---

(२) जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावंत मृषाजल कारन अटतु है;
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है;
आगेको धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ;
जैसैं नैन हीन नर जेवरी बटतु है,
तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हँसत फल खोवत खटतु है ॥ २ ॥

(समयसार—नाटक)

३४५

बम्बई, १९४८

संसारमें ऐसा क्या सुख है कि जिसके प्रतिबंधमें जीव रहनेकी इच्छा करता है ?

३४६

बम्बई, १९४८

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहुं विलिज्जंति,
तह तह पयट्टिअव्वं, एसा आणा जिणिंदाणम् ।

कितना कहें, जिस जिस तरह इस राग-द्वेषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस तरह आचरण करना, यही जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है।

३४७

बम्बई, आसोज १९४८

(१)

जिस पदार्थमेंसे नित्य ही विशेष व्यय होता हो और आय कम हो, तो वह पदार्थ क्रमसे अपनेपनका त्याग कर देता है, अर्थात् नाश हो जाता है—ऐसा विचार रखकर ही इस व्यवसायका प्रसंग रखना चाहिये।

पूर्वमें उपर्जित किया हुआ जो कुछ प्रारब्ध है, उसके वेदन करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और योग्य भी इसी रीतिसे है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदयमें आता है, उसे सम परिणामसे वेदन करना ही योग्य है, और इसी कारणसे यह व्यवसाय-प्रसंग योग्य है।

चित्तमें किसी रीतिसे उस व्यवसायका कर्त्तव्य नहीं मालूम होनेपर भी, वह व्यवसाय केवल खेदका ही हेतु है, इस प्रकार परमार्थका निश्चय होनेपर भी, प्रारब्धरूप होनेसे सत्संग आदि योगका अप्रधानभावसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा कुछ भी नहीं है, परन्तु आत्माको इस निष्फल प्रवृत्तिके संबंधको देखकर खेद होता है, और इस विषयमें बारम्बार विचार रहा करता है।

(२)

इन्द्रियके विषयरूपी क्षेत्रकी जमीनके जीतनेमें तो आत्मा असमर्थता बताती है, और समस्त पृथ्वीके जीत लेनेमें समर्थताका विचार करती है, यह कैसा आश्चर्यकारक है?

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकती, ऐसा कहना केवल एक बहाना मात्र है। यदि थोड़े समयके लिये भी प्रवृत्ति छोड़कर आत्मा प्रमादरहित होकर हमेशा निवृत्तिका ही विचार किया करे, तो उसका बल प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि हरेक वस्तुका अपने कम-ज्यादा बलके अनुसार ही अपना अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मादक पदार्थ दूसरी खुराकके साथ मिलनेसे अपने असली स्वभावके परिणमन करनेको नहीं भूल जाता, उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नहीं भूलता। इसलिये हरेक जीवको प्रमाद रहित होकर, योग्य कालमें निवृत्तिके मार्गका ही निरंतर विचार करना चाहिये।

(३)

व्रतके संबंधमें

यदि किसी जीवको व्रत लेना हो तो स्पष्टभावसे दूसरेकी साक्षीसे ही लेना चाहिये, उसमें फिर स्वेच्छासे प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। व्रतमें रह सकनेवाली यदि कोई छूट रक्खी हो और किसी कारणविशेषसे यदि उस वस्तुका उपयोग करना पड़ जाय तो वैसा करनेके स्वयं अधिकारी न बनना चाहिये। ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार ही आचरण करना चाहिये; नहीं तो उसमें शिथिलता आ जाती है, और व्रतका भंग हो जाता है।

(४)

मोह-कषाय

हरेक जीवकी अपेक्षासे ज्ञानीने क्रोध, मान, माया और लोभ—यह क्रम रक्खा है। यह क्रम इन कषायोंके क्षय होनेकी अपेक्षासे रक्खा है।

पहिली कषायके क्षय होनेसे क्रमसे दूसरी कषायोंका क्षय होता है। तथा अमुक अमुक जीवोंकी अपेक्षासे मान, माया, लोभ और क्रोध ऐसा जो क्रम रक्खा गया है वह देश, काल और क्षेत्रको देखकर ही रक्खा गया है। पहिले जीवको अपने आपको दूसरेसे ऊँचा समझनेसे मान उत्पन्न होता है; फिर उसके लिये वह छल-कपट करता है, और उससे पैसा पैदा करता है; और वैसा करनेमें विघ्न करनेवालेके ऊपर क्रोध करता है। इस तरहसे कषायकी प्रकृतियाँ अनुक्रमसे बँधती हैं; जिसमें लोभकी तो इतनी प्रबल मिठास है कि जीव उसमें अपने भानतकको भी भूल जाता है, और उसकी परवाहतक भी नहीं करता; इसलिये मानरूपी कषायके कम करनेसे अनुक्रमसे दूसरी कषाय भी इसके साथ साथ कम हो जातीं हैं।

(५)

आस्था और श्रद्धा

हरेक जीवको जीवके अस्तित्वसे लगाकर मोक्षतककी पूर्णरूपसे श्रद्धा रखनी चाहिये। इसमें जरा भी शंका नहीं रखनी चाहिये। इस जगह अश्रद्धा रखना, यह जीवके पतित होनेका कारण है, और यह इस प्रकारका स्थानक है कि वहाँसे नीचे गिर जानेसे फिर कोई भी स्थिति नहीं रह जाती।

एक अंतर्मुहूर्तमें सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति बँधती है; जिसके कारण जीवको असंख्यातों भवोंमें भ्रमण करना पड़ता है।

चारित्रमोहसे गिरा हुआ तो ठिकाने लग भी जाता है, पर दर्शनमोहसे गिरा हुआ ठिकाने नहीं लगता। कारण यह है कि समझमें फेर होनेसे करनेमें भी फेर हो जाता है। वीतरागरूप ज्ञानीके वचनमें अन्यथाभाव होना संभव नहीं है। उसके अवलंबनमें रहकर मानों अमृत ही निकाला हो, इस रीतिसे श्रद्धाको जरा भी न्यून नहीं करना चाहिये। जब जब शंकाके उपस्थित होनेका प्रसंग उपस्थित हो, तब तब जीवको विचारना चाहिये कि उसमें अपनी ही भूल होती है। जिस मतिसे वीतराग पुरुषोंने ज्ञानको कहा है, वह मति इस जीवमें है ही नहीं; और इस जीवकी मति तो यदि शाकमें नमक कम पड़ा हो तो इतने मात्रमें ही रुक जाती है; तो फिर वीतरागके ज्ञानकी मतिका मुकाबला तो वह कहाँसे कर सकता है? इस कारण बारहवें गुणस्थानकके अंततक भी जीवको ज्ञानीका अवलंबन लेना चाहिये, ऐसा कहा है।

अधिकारी न होनेपर भी जो ऊँचे ज्ञानका उपदेश दिया जाता है, वह केवल इस जीवको अपनेको ज्ञानी और चतुर मान लेनेके कारण—उसके मान नष्ट करनेके कारण—ही दिया जाता है; और जो नीचेके स्थानकोंसे बात कही जाती है, वह केवल इसलिये कही जाती है कि वैसा प्रसंग प्राप्त होनेपर भी जीव नीचेका नीचे ही रहे।

३४८

बम्बई, कार्तिक सुदी १९४९

जिनागममें इस कालकी जो 'दुःषम' संज्ञा कही है, वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है; क्योंकि जो 'दुःखसे प्राप्त होने योग्य हो' उसे दुःषम कहते हैं। उस दुःखसे प्राप्त होने योग्य तो मुख्यरूपसे एक परमार्थ-मार्ग कहा जा सकता है और उस प्रकारकी स्थिति प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। यद्यपि परमार्थ-मार्गकी दुर्लभता सर्व कालमें है, परन्तु इस कालमें तो काल भी विशेषरूपसे दुर्लभताका कारणभूत है।

यहाँ कहनेका यह प्रयोजन है कि प्रायः करके इस क्षेत्रमें वर्तमान कालमें पूर्वमें जिसने परमार्थ-मार्गका आराधान किया है, वह देह-धारण नहीं करता। और यह सत्य है, क्योंकि यदि उस प्रकारके जीवोंका समूह इस क्षेत्रमें देहधारीरूपसे रहता होता, तो उन्हें और उनके समागममें आनेवाले अनेक जीवोंको परमार्थ-मार्गकी प्राप्ति सुखपूर्वक हो सकी होती; और इससे फिर इस कालको दुःषम काल कहनेका कोई कारण न रह जाता। इस प्रकार पूर्वाराधक जीवोंकी अल्पता इत्यादि होनेपर भी वर्तमान कालमें यदि कोई भी जीव परमार्थ-मार्गका आराधन करना चाहे तो वह अवश्य ही आराधन कर सकता है, क्योंकि दुःखपूर्वक भी इस कालमें परमार्थ-मार्ग प्राप्त तो हो सकता है, ऐसा पूर्वज्ञानियोंका कथन है।

वर्तमान कालमें सब जीवोंको मार्ग दुःखसे ही प्राप्त हो, ऐसा एकान्त अभिप्राय नहीं समझना चाहिये; परन्तु प्रायः करके मार्ग दुःखसे प्राप्त होता है ऐसा अभिप्राय समझने योग्य है। उसके बहुतसे कारण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं:—

(१) प्रथम कारण यह है जैसा ऊपर बताया है कि प्रायः करके जीवकी पूर्वकी आराधकता नहीं है।

(२) दूसरा कारण यह है कि उस प्रकारकी आराधकता न होनेके कारण वर्तमान देहमें उस आराधक-मार्गकी रीति भी पहिले न समझनेसे, अनाराधक-मार्गको ही आराधक-मार्ग मानकर जीवकी प्रवृत्ति होती है।

(३) तीसरा कारण यह है कि प्रायः करके कहीं ही सत्समागम अथवा सद्गुरुका योग होता है, और वह भी क्वचित् ही होता है।

(४) चौथा कारण यह है कि असत्संग आदि कारणोंसे जीवको सद्गुरु आदिकी पहिचान होना भी दुष्कर होता है, और प्रायः करके असद्गुरु आदिमें ही सत्य प्रतीति मानकर जीव वहीं रुक जाता है।

(५) पाँचवा कारण यह है कि क्वचित् समागमका संयोग बने तो भी बल-वीर्य आदिकी इस प्रकारकी शिथिलता रहती है कि जीव तथारूप मार्गको ग्रहण नहीं कर सकता, अथवा उसे समझ नहीं सकता, अथवा असत्समागम आदिसे या अपनी कल्पनासे मिथ्यामें सत्यरूपसे प्रतीति कर बैठता है।

प्रायः करके वर्तमानमें जीवने या तो शुष्क-क्रियाकी प्रधानतामें मोक्षमार्गकी कल्पना की है, अथवा बाह्य-क्रिया और शुद्ध व्यवहार-क्रियाके उत्थापन करनेमें मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है, अथवा

अपनी बुद्धिकी कल्पनासे अध्यात्मके ग्रंथोंको पढ़कर कथनमात्र अध्यात्म पाकर मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है। ऐसे कल्पना कर लेनेसे जीवको सत्समागम आदि हेतुमें उस मान्यताका आग्रह बाधा उपस्थित करके परमार्थकी प्राप्तिमें स्तंभरूप होता है।

जो जीव शुष्क-क्रियाकी प्रधानतामें ही मोक्ष-मार्गकी कल्पना करते हैं, उन जीवोंको तथारूप उपदेशका आधार भी रहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस तरह चार तरहसे मोक्ष-मार्गके कहे जानेपर भी पहिलेके दो पद तो उनके विस्मृततुल्य ही होते हैं; और चारित्र शब्दका अर्थ वेष तथा केवल बाह्य-विरतिमें ही समझे हुएके समान होता है। तथा तप शब्दका अर्थ केवल उपवास आदि व्रतका करना भी केवल बाह्य-संज्ञामें ही समझे हुएके समान रहता है। तथा यदि कभी ज्ञान-दर्शन पद कहने भी पड़ जाँय तो वहाँ लौकिक-कथनके समान भावोंके कथनको ज्ञान, और उसकी प्रतीति अथवा उस कहनेवालेकी प्रतीतिमें ही दर्शन शब्दका अर्थ समझे हुएके समान रहता है।

जो जीव बाह्य-क्रिया (दान आदि) और शुद्ध व्यवहार-क्रियाके उत्थापन करनेको ही मोक्ष-मार्ग समझते हैं, वे जीव शास्त्रोंके किसी एक वचनको नासमझीसे ही ग्रहण करके समझते हैं। यदि दान आदि क्रिया किसी अहंकार आदिसे, निदान बुद्धिसे, अथवा जहाँ उस प्रकारकी क्रिया संभव न हो ऐसे छठे गुणस्थान आदि स्थानमें की जाय, तो वह संसारका ही हेतु है, ऐसा शास्त्रोंका मूल आशय है। परन्तु दान आदि क्रियाओंके मूलसे ही उत्थापन कर डालनेका शास्त्रोंका अभिप्राय नहीं है; इसे जीव केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही निषेध करता है। तथा व्यवहार दो प्रकारका है:—एक परमार्थहेतुमूल व्यवहार और दूसरा व्यवहाररूप व्यवहार। पूर्वमें इस जीवके अनंतोंवार आत्मार्थ करनेपर भी आत्मार्थ नहीं हुआ, ऐसे शास्त्रोंमें वाक्य हैं। उन वाक्योंको पढ़कर जीव अपने आपको व्यवहारका बिलकुल ही उत्थापन करनेवाला समझा हुआ मान लेता है; परन्तु शास्त्रकारने तो ऐसा कुछ भी नहीं कहा। जो व्यवहार परमार्थहेतुमूल व्यवहार नहीं, और केवल व्यवहारहेतु व्यवहार है, शास्त्रकारने उसीके दुराग्रहका निषेध किया है। जिस व्यवहारका फल चतुर्गति होता है, वह व्यवहार व्यवहार-हेतु कहा जा सकता है, अथवा जिस व्यवहारसे आत्माकी विभाव-दशा दूर होने योग्य न हो, उस व्यवहारको व्यवहारहेतु व्यवहार कहा जा सकता है; इसका शास्त्रकारने निषेध किया है, और वह भी एकांतसे नहीं किया। केवल दुराग्रहसे अथवा उसीमें मोक्ष-मार्ग माननेवालेको उसे सच्चे व्यवहारके ऊपर लानेके लिये इसका निषेध किया है। और परमार्थहेतुमूल व्यवहार—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्था, अथवा सद्गुरु, सत्शास्त्र और मन वचन आदि समिति, तथा गुप्ति—का निषेध नहीं किया। और यदि उसका निषेध करने योग्य होता तो फिर शास्त्रोंका उपदेश करके बाकी क्या समझाने जैसा रह जाता था, अथवा फिर किन साधनोंको करानेका उपदेश करना बाकी रह जाता था, जिससे शास्त्रोंका उपदेश किया? अर्थात् उस प्रकारके व्यवहारसे परमार्थ प्राप्त किया जाता है, और जीवको उस प्रकारका व्यवहार अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये, जिससे वह परमार्थ प्राप्त करे, ऐसा शास्त्रोंका आशय है। शुष्क-अध्यात्मी अथवा उसके समागमी इस आशयके समझे बिना ही उस व्यवहारका उत्थापन करके अपने और दूसरेको बोधि-दुर्लभता करते हैं।

शम, संवेग आदि गुणोंके उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष, निष्पक्षता होनेपर, कषाय आदिके कृश होनेपर अथवा किसी भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्गुरुके पाससे समझने योग्य अध्यात्म ग्रंथोंको—जो वहाँतक प्रायः करके शस्त्र जैसे हैं—अपनी कल्पनासे जैसे तैसे पढ़कर निश्चय करके, उस प्रकारके अंतर्भेदके उत्पन्न हुए बिना ही अथवा दशाके बदले बिना ही, विभावके दूर हुए बिना ही, अपने आपमें ज्ञानकी कल्पना कर लेता है, तथा क्रिया और शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है—यह शुष्क-अध्यात्मीका तीसरा भेद है। जीवको जगह जगह इस प्रकारका संयोग मिलता आया है, अथवा ज्ञानरहित गुरु या परिग्रह आदिके इच्छुक गुरु, केवल अपने मान पूजा आदिकी कामनासे फिरनेवाले जीवोंको, अनेक प्रकारसे कुमार्गपर चढ़ा देते हैं; और प्रायः करके कोई ही ऐसी जगह होती है, जहाँ ऐसा नहीं होता। इससे ऐसा मालूम होता है कि कालकी दुःषमता है।

यह जो दुःषमता लिखी है वह कुछ जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नहीं लिखी, परन्तु पुरुषार्थकी जागृतिके लिये ही लिखी है।

अनुकूल संयोगमें तो जीवको कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो, परन्तु जहाँ इस प्रकारका प्रतिकूल योग रहता हो वहाँ मुमुक्षुको अवश्य ही अधिक जागृत रहना चाहिये, जिससे तथारूप पराभव न हो, और वह उस प्रकारके किसी प्रवाहमें प्रवाहित न हो जाय।

यद्यपि वर्तमान कालको दुःषम काल कहा है, फिर भी यह ऐसा भी है कि इसमें अनंत भवको छेदकर केवल एक भव बाकी रखनेवाला एकावतारीपना भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये विचारवान जीवको इस लक्षको रखकर, ऊपर कहे हुए प्रवाहोंमें न पड़ते हुए, यथाशक्ति वैराग्य आदिका अवश्य ही आराधन करके, सद्गुरुका योग प्राप्त करके, कषाय आदि दोषको नष्ट करनेवाले और अज्ञानसे रहित होनेके सत्य मार्गको प्राप्त करना चाहिये। मुमुक्षु जीवमें जो शम आदि गुण कहे हैं, वे गुण अवश्य संभव होते हैं; अथवा उन गुणोंके बिना मुमुक्षुता ही नहीं कही जा सकती।

नित्य ही उस प्रकारका परिचय रखते हुए, उस उस बातको श्रवण करते हुए, विचारते हुए, फिर फिरसे पुरुषार्थ करते हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। उस मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थ-मार्ग अवश्य समझमें आता है।

---

३४९ बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९४९

प्रमादके कम होनेका उपयोग, इस जीवको मार्गके विचारमें स्थिति कराता है, और विचार-मार्गमें स्थिति कराता है। इस बातको फिर फिरसे विचार करके उस प्रयत्नको वहाँ किसी भी तरह दूर करना योग्य है। यह बात भूलने योग्य नहीं है।

---

३५० बम्बई, कार्तिक वदी १२ बुध. १९४९

"पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ," यह वाक्य पूर्वभवके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसको पुनर्जन्म आदि भावरूप किया है उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर ही यह वाक्य लिखा गया है।

---

३५१ बम्बई, मंगसिर वदी ९ सोम. १९४९

(१) उपाधिके सहन करनेके लिये जितनी चाहिये उतनी कठिनाई मेरेमें नहीं है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्ति पानेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उदयरूप जानकर वह यथाशक्ति सहन होती है।

परमार्थका दुःख मिटनेपर भी संसारका प्रासंगिक दुःख तो रहा ही करता है; और वह दुःख अपनी इच्छा आदिके कारण नहीं, परन्तु दूसरेकी अनुकम्पा तथा उपकार आदिके कारण ही रहता है; और उस विडंबनामें चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है।

इतने लेखके ऊपरसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता; कुछ अंशमें तुम्हें समझमें आयेगा। इस उद्वेगके सिवाय हमें दूसरा कोई भी संसारके प्रसंगका दुःख नहीं माल्म होता। जितने प्रकारके संसारके पदार्थ हैं, यदि उन सबमें निस्पृहता हो और उद्वेग रहता हो, तो वह अन्यकी अनुकंपा अथवा उपकार अथवा इसी प्रकारके किसी कारणसे रहता है, ऐसा मुझे निश्चयरूपसे माल्म होता है।

इस उद्वेगके कारण कभी तो आँखोंमें आँसु आ जाते हैं; और उन सब कारणोंके प्रति प्रवृत्ति करनेका मार्ग अमुक अंशमें परतंत्र ही दिखाई देता है, इसलिये समान उदासीनता आ जाती है।

ज्ञानीके मार्गका विचार करनेपर माल्म होता है कि यह देह किसी भी प्रकारसे मूर्च्छा करनेके योग्य नहीं है; उसके दुःखसे इस आत्माको शोक करना योग्य नहीं। आत्माको आत्म-अज्ञानसे शोक करनेके सिवाय उसे दूसरा कोई शोक करना योग्य नहीं है। प्रगटरूपसे यमको समीपमें देखनेपर भी जिसकी देहमें मूर्च्छा नहीं आती, उस पुरुषको नमस्कार है। इसी बातका चिंतवन रखना, यह हमें तुम्हें और सबको योग्य है।

देह आत्मा नहीं है। आत्मा देह नहीं है। जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न है, इसी तरह देहको देखनेवाली, जाननेवाली आत्मा देहसे भिन्न है, अर्थात् वह देह नहीं है।

विचार करनेसे यह बात प्रगट अनुभवसे सिद्ध होती है, तो फिर इससे भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय-वृद्धिरूप आदि परिणामको देखकर हर्ष-शोक युक्त होना किसी भी प्रकारसे योग्य नहीं है; और तुम्हें और हमें उसका निर्धारण करना—रखना—योग्य है, और यही ज्ञानीके मार्गकी मुख्य ध्वनि है।

(२) व्यापारमें यदि कोई यांत्रिक व्यापार सूझ पड़े तो आजकल कुछ लाभ होना संभव है।

---

३५२ बम्बई, मंगसिर वदी १३ शनि. १९४९

भावसार खुशालरायजीने मंदवाड़में केवल पाँच मिनिटके भीतर देहको त्याग दिया है। संसारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।

---

३५३ बम्बई, माघ सुदी ९ गुरु. १९४९

तुम सब मुमुक्षुओंके प्रति नम्रतासे यथायोग्य पहुँचे। हम निरन्तर ज्ञानी पुरुषकी सेवाकी इच्छा

करते हैं, परन्तु इस दुःषम कालमें तो उसकी प्राप्ति परम दुःषम देखते हैं, और इससे ज्ञानी पुरुषके आश्रयमें जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे मुमुक्षुजनमें सत्संगपूर्वक भक्तिभावसे रहनेकी प्राप्तिको महाभाग्य-रूप मानते हैं; फिर भी हालमें तो उससे विपर्यय ही प्रारब्धोदय रहता है। हमारा सत्संगका लक्ष आत्मामें ही रहता है, फिर भी उदयाधीन स्थिति है; और वह हालमें इस प्रकारके परिणामसे रहती है कि तुम मुमुक्षुजनोंके पत्रकी पहुँचमात्र भी विलंबसे दी जाती है। परन्तु किसी भी स्थितिमें हमारे अपराध-योग्य परिणाम नहीं हैं।

---

३५४ बम्बई, माघ वदी ७ बुध. १९४९

यदि कोई मनुष्य हमारे विषयमें कुछ कहे तो उसे जहाँतक बने गंभीर मनसे सुन रखना, इतना ही मुख्य कार्य है। वह बात ठीक है या नहीं, यह जाननेके पहिले कोई हर्ष-विषाद जैसा नहीं होता।

मेरी चित्त-वृत्तिके विषयमें जो कभी कभी लिखा जाता है, उसका अर्थ परमार्थके ऊपर लेना चाहिये; और इस लिखनेका अर्थ व्यवहारमें कुछ मिथ्या परिणामवाला दिखाना योग्य नहीं है।

पड़े हुए संस्कारोंका मिटना दुर्लभ होता है। कुछ कल्याणका कार्य हो अथवा चिंतवन हो, यही साधनका मुख्य कारण है, बाकी ऐसा कोई भी विषय नहीं कि जिसके पीछे उपाधि-तापसे दीन-तापूर्वक तपना योग्य हो, अथवा इस प्रकारका कोई भय रखना योग्य नहीं कि जो अपनेको केवल लोक-संज्ञासे ही रहता हो।

---

३५५ बम्बई, माघ वदी ११ रवि. १९४९

ॐ

यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है।

प्रभावके विषयमें जो आपके विचार रहते हैं वे करुणाभावके कारण रहा करते हैं, ऐसा हम मानते हैं। कोई भी जीव परमार्थके प्रति केवल एक अंशसे भी प्राप्त होनेके कारणको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंने भी किया है। क्योंकि सत्पुरुषोंके सम्प्रदायकी ऐसी ही सनातन करुणावस्था होती है कि समयमात्रके अनवकाशसे समस्त लोक आत्मावस्थाके प्रति सन्मुख हो, आत्मस्वरूपके प्रति सन्मुख हो, आत्मसमाधिके प्रति सन्मुख हो; और अन्य अवस्थाके प्रति सन्मुख न हो, अन्य स्वरूपके प्रति सन्मुख न हो, अन्य आधिके प्रति सन्मुख न हो; जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सब जीवोंको प्रगट हो, अनवकाशरूपसे सब जीव उस ज्ञानके प्रति रुचिसम्पन्न हों—इसी प्रकारका जिसका करुणाशील स्वभाव है, वह सनातन पुरुषोंका सम्प्रदाय है।

आपके अंतःकरणमें इसी प्रकारकी करुणा-वृत्तिसे प्रभावके विषयमें बारम्बार विचार आया करता है। और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो, अथवा उस फलके प्राप्त होनेका एक अंशमात्र भी कारण उत्पन्न हो, तो इस पंचम कालमें तीर्थंकरका मार्ग बहुत अंशोंसे प्रगट होनेके बराबर है; परन्तु

ऐसा होना संभव नहीं, और यह इस मार्गसे होना योग्य नहीं, ऐसा हमें लगता है। जिससे यह संभव होना योग्य है, अथवा इसका जो मार्ग है, वह हालमें तो प्रवृत्तिके उदयमें हैं; और जबतक वह कारण उनके लक्षमें न आ जाय, तबतक कोई दूसरा उपाय प्रतिबंधरूप ही हैं—निःसंशय प्रतिबंधरूप ही है। जीव यदि अज्ञान-परिणामी हो तो जिस तरह उस अज्ञानको नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नहीं है, उसी तरह मोहरूप मार्ग अथवा इस प्रकारका जो इस लोकसंबंधी मार्ग है, वह मात्र संसार ही है। उसे फिर चाहे जिस आकारमें रक्खो तो भी वह संसार ही है। उस संसार-परिणामसे रहित करनेके लिये जब असंसारगत वाणीका अस्वच्छंद परिणामसे आधार प्राप्त होता है, उस समय उस संसारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरा प्रतिबंध किया करते हैं, तथा अपनी उस दृष्टिसे यदि वे ज्ञानीके वचनकी भी आराधना करें तो कल्याण होना योग्य माल्म नहीं होता।

इसलिये तुम उन्हें ऐसा लिखो कि यदि तुम किसी कल्याणके कारणके नज़दीक होनेके उपायकी इच्छा करते हो, तो उसके प्रतिबंधका कम होनेका उपाय करो; और नहीं तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करो। शायद तुम ऐसा समझते हो कि जैसे तुम स्वयं आचरण करते हो वैसे ही कल्याण है, मात्र जो अव्यवस्था हो गई है, वही एक अकल्याण है। परन्तु यदि ऐसा समझते हो तो वह यथार्थ नहीं है। वास्तवमें जो तुम्हारा आचरण है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जब जब जिस जिस जीवको उस उस प्रकारका भवस्थिति आदि योग समीपमें हो, तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। समस्त समूहमें ही कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो तो उसका फल संसारार्थ ही है; क्योंकि पूर्वमें इसीसे जीव संसारी रहता आया है; इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा तब आयेगा। हालमें तुम अपनी रुचिके अनुसार अथवा जो तुम्हें भास होता है, उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हो, इस विषयमें सहज ही, किसी प्रकारकी मानकी इच्छाके बिना हीं, स्वार्थकी इच्छाके बिना ही, तुम्हें क्लेश उत्पन्न करनेकी इच्छाके बिना ही, मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, उसे कह देता हूँ।

जिस मार्गसे कल्याण होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो यह कि जिस सम्प्रदायमें आत्मार्थके लिये ही सम्पूर्ण असंगतायुक्त क्रियायें हों—दूसरे किसी भी प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और निरंतर ही ज्ञान-दशाके ऊपर जीवोंका चित्त रहता हो, उसमें अवश्य ही कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो योगका मिलना संभव नहीं है। यहाँ तो लोक-संज्ञासे, ओघ-संज्ञासे, मानके लिये, पूजाके लिये, पदके महत्त्वके लिये, श्रावक आदिके अपनेपनके लिये, अथवा इसी तरहके किसी दूसरे कारणोंसे जप, तप आदि व्याख्यान आदिके करनेकी प्रवृत्ति चल पड़ी है; परन्तु वह किसी भी तरह आत्मार्थके लिये नहीं है—आत्मार्थके प्रतिबंधरूप ही है। इसलिये यदि तुम कुछ इच्छा करते हो तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते हैं, उसके असंगतासे साध्य होनेपर किसी समय भी कल्याण होना संभव है।

असंगता अर्थात् आत्मार्थके सिवाय संग-प्रसंगमें नहीं पड़ना—शिष्य आदि बनानेके कारण संसारके साथियोंके संगमें बातचीत करनेका प्रसंग नहीं रखना, शिष्य आदि बनानेके लिये गृहवासी

वेषवालेको साथमें नहीं घुमाना। 'दीक्षा ले ले तो तेरा कल्याण होगा', इस प्रकारके वाक्य तीर्थंकरदेव भी नहीं कहते थे। उसका हेतु एक यह भी था कि ऐसा कहना भी—उसका दीक्षा लेनेका विचार होनेके पहिले ही उसको दीक्षा देना—कल्याणकारक नहीं है। जिसमें तीर्थंकरदेवने भी इस प्रकारके विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमें हम छह छह मास दीक्षा लेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते हैं, यह केवल शिष्यके लिये ही है, आत्मार्थके लिये नहीं। इसी तरह यदि पुस्तकको ज्ञानकी आराधनाके लिये, सब प्रकारके अपने ममत्वभावसे रहित होकर रक्खा जाय तो ही आत्मार्थ है, नहीं तो वह भी एक महान् प्रतिबंध है; यह भी विचारने योग्य है।

यह क्षेत्र अपना है, और उस क्षेत्रकी रक्षाके लिये चातुर्मासमें वहाँ रहनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्र-प्रतिबंध है। तीर्थंकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चार प्रतिबंधोंसे यदि आत्मार्थ होता हो, अथवा निर्ग्रंथ हुआ जाता हो, तो वह तीर्थंकरके मार्गमें नहीं है, परन्तु संसारके ही मार्गमें है।

---

३५६ बम्बई, फाल्गुन सुदी ७ गुरु. १९४९

आत्माको विभावसे अवकाशयुक्त करनेके लिये और स्वभावमें अनवकाशरूपसे रहनेके लिये यदि कोई भी मुख्य उपाय हो तो वह आत्माराम जैसे ज्ञानी-पुरुषका निष्काम बुद्धिसे भक्ति-योगरूप संग ही है। उसे सफल बनानेके लिये निवृत्ति-क्षेत्रमें उस प्रकारका संयोग मिलना, यह किसी महान् पुण्यका योग है, और उस प्रकारका पुण्य-योग प्रायः इस जगत्में अनेक अंतरायोंसे युक्त दिखाई देता है। इसलिये हम समीपमें ही हैं ऐसा बारम्बार याद करके जिसमें इस संसारकी उदासीनता कही हो, उसे हालमें बाँचो और उसका विचार करो। आत्मा केवल आत्मरूपसे ही रहे ऐसा चिंतवन रखना, यही लक्ष है और शास्त्रका परमार्थरूप है।

इस आत्माको पूर्वमें अनंतकाल व्यतीत करनेपर भी नहीं जाना, इसपरसे ऐसा मालूम होता है कि उसके जाननेका कार्य सबसे कठिन है; अथवा जाननेका तथारूप योग मिलना परम दुर्लभ है। जीव अनंतकालसे ऐसा ही समझा करता है कि मैं अमुकको जानता हूँ, अमुकको नहीं जानता, परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा होनेपर भी जिस रूपसे वह स्वयं है उस रूपका तो निरन्तर ही विस्मरण चला आता है—यह अधिकाधिक प्रकारसे विचार करने योग्य है, और उसका उपाय भी बहुत प्रकारसे विचार करने योग्य है।

---

३५७ बम्बई, फाल्गुन सुदी १४, १९४९

(१)

जिस कालमें परमार्थ-धर्मकी प्राप्तिके कारण, प्राप्त होनेमें अत्यंत दुःषम हों, उस कालको तीर्थंकरदेवने दुःषम काल कहा है; और इस कालमें यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। सुगमसे सुगम ऐसा जो कल्याणका उपाय है, वह भी जीवको इस कालमें प्राप्त होना अत्यंत ही कठिन है। मुमुक्षुता, सरलता,

निवृत्ति, सत्संग आदि साधनोंको इस कालमें परम दुर्लभ जानकर, पूर्वके पुरुषोंने इस कालको ' हुंडा अवसर्पिणी ' काल कहा है; और यह बात स्पष्ट भी है। प्रथमके तीन साधनोंका संयोग तो कहीं भी दूसरे किसी कालमें प्राप्त हो जाना सुगम था, परन्तु सत्संग तो सभी कालमें दुर्लभ ही माल्म होता है; तो फिर इस कालमें तो वह सत्संग कहाँसे सुलभ हो सकता है? प्रथमके तीन साधनोंको भी किसी रीतिसे जीव इस कालमें पा जाय, तो भी धन्य है। कालसंबंधी तीर्थंकरकी वाणीको सत्य करनेके लिये हमें इस प्रकारका उदय रहता है, और वह समाधिरूपसे सहन करने योग्य है। आत्मस्वरूप.

(२) बम्बई, फाल्गुन वदी १४, १९४९

इसके साथ मणिरत्नमाला तथा योगकल्पद्रुम पढ़नेके लिये भेजे हैं। जो कुछ बाँधे हुए कर्म हैं, उनको भोगे बिना कोई उपाय नहीं है। चिंतारहित परिणामसे जो कुछ उदयमें आये, उसे सहन करना, इस प्रकारका श्रीतीर्थंकर आदि ज्ञानियोंका उपदेश है।

३५८

बम्बई, चैत्र सुदी १, १९४९

ॐ

(१)

समता रमता उरधता, ज्ञायकता सुखभास;
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।

जिस तीर्थंकरदेवने स्वरूपस्थ आत्मस्वरूप होकर, वक्तव्यरूपसे—जिस प्रकारसे वह आत्मा कही जा सकती है उस प्रकारसे—उसे अत्यंत यथायोग्य कहा है, उस तीर्थंकरको दूसरी सब प्रकारकी अपेक्षाओंका त्याग करके हम नमस्कार करते हैं।

पूर्वमें बहुतसे शास्त्रोंका विचार करनेसे, उस विचारके फलमें सत्पुरुषमें जिसके वचनसे भक्ति उत्पन्न हुई है, उस तीर्थंकरके वचनको हम नमस्कार करते हैं।

बहुत प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव आत्मरूप पुरुषके बिना जाना जाय, यह संभव नहीं, इस प्रकारकी निश्चल श्रद्धा उत्पन्न करके उस तीर्थंकरके मार्ग-बोधको हम नमस्कार करते हैं।

भिन्न भिन्न प्रकारसे उस जीवका विचार करनेके लिये—उस जीवके प्राप्त होनेके लिये—योग आदि अनेक साधनोंके प्रबल परिश्रम करनेपर भी जिसकी प्राप्ति न हुई, ऐसा वह जीव, जिसके द्वारा सहज ही प्राप्त हो जाता है—वही कहनेका जिसका उद्देश है—उस तीर्थंकरके उपदेश-वचनको हम नमस्कार करते हैं——————————————————— (अपूर्ण)

(२)

इस जगत्में जिसमें वाणीसहित विचार-शक्ति मौजूद है, ऐसा मनुष्य-प्राणी कल्याणका विचार करनेके लिये सबसे अधिक योग्य है। फिर भी प्रायः जीवको अनंतबार मनुष्यता प्राप्त होनेपर भी वह कल्याण सिद्ध नहीं हुआ, जिससे अबतक जन्म-मरणके मार्गका आराधन करना पड़ा है। अनादि इस लोकमें जीवोंकी संख्या अनंत-कोटी है। उन जीवोंकी प्रति समय अनंत प्रकारकी जन्म, मरण

आदि स्थिति होती रहती है; इस प्रकारका अनंतकाल पूर्वमें भी व्यतीत हुआ है। इन अनंत-कोटी जीवोंमें जिसने आत्म-कल्याणकी आराधना की है, अथवा जिसे आत्म-कल्याण प्राप्त हुआ है—ऐसे जीव अत्यंत ही थोड़े हैं। वर्तमानमें भी ऐसा ही है, और भविष्यमें भी ऐसी ही स्थिति होना संभव है—ऐसा ही है। अर्थात् जीवको तीनों कालमें कल्याणकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है—इस प्रकारका जो श्रीतीर्थं-कर आदि ज्ञानीका उपदेश है वह सत्य है।

इस प्रकारकी जीव-समुदायकी भ्रांति अनादि संयोगसे चली आ रही है—ऐसा ठीक है—ऐसा ही है। वह भ्रांति जिस कारणसे होती है, उस कारणके मुख्य दो भेद माल्म होते हैं:—एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक। और दोनों भेदोंका एकत्र जो अभिप्राय है वह यही है कि इस जीवको सच्ची मुमुक्षुता नहीं आई; जीवमें एक भी सत्य अक्षरका परिणमन नहीं हुआ; जीवको सत्पुरुषके दर्शनके लिये रुचि नहीं हुई; उस उस प्रकारके योगके मिलनेसे समर्थ अंतरायसे जीवको वह प्रतिबंध रहता आया है; और उसका सबसे महान् कारण असत्संगकी वासनासे जन्म पानेवाला निज-इच्छाभाव और असद्दर्शनमें सत्दर्शनरूप भ्रांति है।

किसीका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं है। कोई दर्शनवाले ऐसा मानते हैं कि आत्मा नामक पदार्थ केवल सांयोगिक ही है। दूसरे दर्शनवालोंका कथन है कि देहके रहते हुए ही आत्मा रहती है, देहके नाश होनेपर नहीं रहती। आत्मा अणु है, आत्मा सर्वव्यापक है, आत्मा शून्य है, आत्मा साकार है, आत्मा प्रकाशरूप है, आत्मा स्वतंत्र नहीं है, आत्मा कर्त्ता नहीं है, आत्मा कर्त्ता है भोक्ता नहीं है, आत्मा कर्त्ता नहीं है भोक्ता है, आत्मा कर्त्ता भी नहीं भोक्ता भी नहीं, आत्मा जड़ है, आत्मा कृत्रिम है, इत्यादि जिसके अनंत नय हो सकते हैं, इस प्रकारके अभिप्रायकी भ्रांतिके कारण असतदर्शनके आराधन करनेसे, पूर्वमें इस जीवने अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं जाना। उस सबको ऊपर कहे अनुसार एकांत—अयथार्थरूपसे जानकर आत्मामें अथवा आत्माके नामपर ईश्वर आदिमें पूर्वमें जीवने आग्रह किया है। इस प्रकारका जो असत्संग, निज-इच्छाभाव, और मिथ्यादर्शनका परि-णाम है वह जबतक नहीं मिटता, तबतक यह जीव क्लेशरहित शुद्ध असंख्य-प्रदेशात्मक मुक्त होनेके योग्य नहीं है, और उस असत्संग आदिकी निवृत्ति करनेके लिये सत्संग, ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यंत अंगीकार करना, और परमार्थस्वरूप जो आत्मभाव है उसे जानना योग्य है।

पूर्वमें होनेवाले तीर्थंकर आदि ज्ञानी-पुरुषोंने ऊपर कही हुई भ्रांतिका अत्यंत विचार करके, अत्यंत एकाग्रतासे—तन्मयतासे—जीवका स्वरूप विचार करके जीवके स्वरूपमें शुद्ध स्थिति की है। उस आत्मा और दूसरे सब पदार्थोंको सब प्रकारकी भ्रांतिरहित जाननेके लिये श्रीतीर्थंकर आदिने अत्यंत दुष्कर पुरुषार्थका आराधन किया है। आत्माको एक भी अणुके आहार-परिणामसे अनन्य भिन्न करके उन्होंने इस देहमें स्पष्ट ऐसी 'अणाहारी आत्मा'को स्वरूपसे जीवित रहनेवाला देखा है। उसे देखनेवाले तीर्थंकर आदि ज्ञानी स्वयं ही शुद्धात्मा हैं, तो फिर उनका भिन्नरूपसे जो देखना कहा है, वह यद्यपि योग्य नहीं है, फिर भी वाणी-धर्मसे ऐसा कहा है।

इस तरह अनंत प्रकारसे विचारनेके बाद भी जानने योग्य 'चैतन्यघन जीव'को तीर्थंकरने दो

प्रकारसे कहा है, जिसे सत्पुरुषसे जानकर, विचारकर, सत्कार करके जीव अपने स्वरूपमें स्थिति करे। तीर्थंकर आदि ज्ञानीने प्रत्येक पदार्थको वक्तव्य और अवक्तव्य इस तरह दो प्रकारके व्यवहार-धर्मयुक्त माना है। जो अवक्तव्यरूपसे है वह यहाँ अवक्तव्य ही है। जो वक्तव्यरूपसे जीवका धर्म है, उसे तीर्थंकर आदि सब प्रकारसे कहनेके लिये समर्थ हैं, और वह जीवके विशुद्ध परिणामसे अथवा सत्पुरुषसे जानने योग्य केवल जीवका धर्म ही है; और वही धर्म उस लक्षणसे अमुक मुख्य प्रकारसे इस दोहेमें कहा गया हैं। वह व्याख्या परमार्थके अत्यंत अभ्याससे अत्यंत स्पष्टरूपसे समझमें आती है, और उसके समझ लेनेपर अत्यंत आत्मस्वरूप भी प्रगट होता है, तो भी यथावकाश यहाँ उसका अर्थ लिखा है।

(३)

समता रमता उरधता, ज्ञायकता सुखभास;
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास।

श्रीतीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि इस जगत्‌में इस जीव नामके पदार्थको चाहे जिस प्रकारसे कहा हो, परन्तु यदि वह प्रकार उसकी स्थितिके विषयमें हो, तो उसमें हमारी उदासीनता है। जिस प्रकार निराबाध-रूपसे उस जीव नामके पदार्थको हमने जाना है, उस प्रकारसे उसे हमने प्रगटरूपसे कहा है। जिस लक्षणसे उसे हमने कहा है, वह सब प्रकारसे निर्बाध ही कहा है। हमने उस आत्माको इस प्रकार जाना है, देखा है, स्पष्ट अनुभव किया है, और प्रगटरूपसे हम वही आत्मा हैं। वह आत्मा 'समता' लक्षणसे युक्त है। वर्तमान समयमें जो उस आत्माकी असंख्य-प्रदेशात्मक चैतन्यस्थिति है, वह सब पहिलेके एक, दो, तीन, चार, दस, संख्यात, असंख्यात और अनंत समयमें थी; वर्तमानमें है; और भविष्यमें भी उसकी स्थिति उसी प्रकारसे होगी। उसके असंख्य-प्रदेशात्मकता, चैतन्यता, अरूपित्व इत्यादि समस्त स्वभाव कभी भी छूटने योग्य नहीं हैं। जिसमें ऐसा 'समपना—समता' है वह जीव है।

पशु, पक्षी, मनुष्य आदिकी देहमें और वृक्ष आदिमें जो कुछ रमणीयता दिखाई देती है, अथवा जिससे वह सब प्रगट स्फूर्तियुक्त मालूम होता है—प्रगट सुंदरतायुक्त मालूम होता है—वह 'रमणीयपना—रमता' जिसका लक्षण है, वह जीव नामक पदार्थ है। जिसकी मौजूदगीके बिना समस्त जगत् शून्यवत् मालूम होता है, जिसमें ऐसी रम्यता है—वह लक्षण जिसमें घटता है—वह जीव है।

कोई भी जाननेवाला, कभी भी, किसी भी पदार्थको अपनी गैरमौजूदगीसे जान ले, यह बात होने योग्य नहीं है। पहिले अपनी मौजूदगी होनी चाहिये, और किसी भी पदार्थके ग्रहण, त्याग आदि अथवा उदासीन ज्ञान होनेमें अपनी मौजूदगी ही कारण है। दूसरे पदार्थके अंगीकार करनेमें, उसके अल्पमात्र भी ज्ञानमें, यदि पहिले अपनी मौजूदगी हो, तो ही वह ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार सबसे पहिले रहनेवाला जो पदार्थ है वह जीव है। उसे गौण करके अर्थात् उसके बिना ही यदि कोई कुछ भी जानना चाहे तो यह संभव नहीं है। केवल वही मुख्य हो, तो ही दूसरा कुछ जाना जा सकता है। इस प्रकार जिसमें प्रगट 'उर्ध्वता-धर्म' है, उस पदार्थको श्रीतीर्थंकर जीव कहते हैं।

प्रगट जड़ पदार्थ और जीव ये दोनों जिस कारणसे परस्पर भिन्न पड़ते हैं, जीवका वह लक्षण 'ज्ञायकता' नामका गुण है। किसी भी समय ज्ञायकरहित भावसे यह जीव-पदार्थ किसीका भी अनु-

भव नहीं कर सकता, और इस जीव नामक पदार्थके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थमें ज्ञायकता संभव नहीं हो सकती। इस प्रकार अत्यंत अनुभवका कारण जिसमें 'ज्ञायकता' लक्षण है, उस पदार्थको तीर्थंकरने जीव कहा है।

शब्द आदि पाँच विषयसंबंधी अथवा समाधि आदि योगसंबंधी जिस स्थितिमें सुख होना संभव है, उसे भिन्न भिन्नरूपसे देखनेसे अन्तमें केवल उन सबमें सुखका कारण एक जीव पदार्थ ही संभवित है। इसलिये तीर्थंकरने जीवका 'सुखभास' नामका लक्षण कहा है; और व्यवहार दृष्टांतसे निद्राद्वारा वह प्रगट माल्म होता है। जिस निद्रामें दूसरे सब पदार्थोंसे रहितपना है, वहाँ भी 'मैं सुखी हूँ' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह बाकी बचे हुए जीव पदार्थका ही है; दूसरा और कोई वहाँ विद्यमान नहीं है, और निद्रामें सुखका आभास होना तो अत्यंत स्पष्ट है। वह जिससे भासित होता है, वह लक्षण जीव नामके पदार्थके सिवाय दूसरी किसी भी जगह नहीं देखा जाता।

यह स्वादरहित है, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह खारा है, मैं इस स्थितिमें हूँ, मैं ठंडमें ठिर रहा हूँ, गरमी पड़ रही हैं, मैं दुःखी हूँ, मैं दुःखका अनुभव करता हूँ—इस प्रकारका जो स्पष्टज्ञान—वेदनज्ञान—अनुभवज्ञान—अनुभवपना यदि किसीमें भी हो तो वह जीव-पदमें ही है, अथवा वह जिसका लक्षण हो वह पदार्थ जीव ही होता है, यही तीर्थंकर आदिका अनुभव है।

स्पष्ट प्रकाशपना—अनंतानंत-कोटी तेजस्वी दीपक, मणि, चन्द्र, सूर्य आदिकी कांति—जिसके प्रकाशके बिना प्रगट होनेके लिये समर्थ नहीं है; अर्थात् वे सब अपने आपको बताने अथवा जाननेके योग्य नहीं हैं; जिस पदार्थके प्रकाशमें चैतन्यस्वरूपसे वे पदार्थ जाने जाते हैं—स्पष्ट भासित होते हैं—वे पदार्थ प्रकाशित होते हैं—वह पदार्थ जो कोई है तो वह एक जीव ही है। अर्थात् उस जीवका वह लक्षण—प्रगटरूपसे स्पष्ट प्रकाशमान अचल निराबाध प्रकाशमान चैतन्य—उस जीवके प्रति उपयोग लगानेसे प्रगट—प्रगटरूपसे दिखाई देता है।

ये जो लक्षण कहे हैं, इन्हें फिर फिरसे विचार करनेसे जीव निराबाधरूपसे जाना जाता है। जिसके जाननेसे जीव जाना गया है, उन लक्षणोंको तीर्थंकर आदिने इस प्रकारसे कहा है।

३५१

बम्बई, चैत्र सुदी ६ गुरु. १९४९

ॐ

उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा होती जाती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखाई पड़ता है। चारों तरफसे उपाधिकी ही भीड़ है। कोई ऐसी दिशा इस समय माल्म नहीं होती कि जहाँ इसी समय इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसीके अपराधी न गिने जाँय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके मुख्य अपराधमें पकड़ा जाना स्पष्ट संभव दिखाई देता है; और यह वर्तमान अवस्था उपाधि-रहितपनेके अत्यंत योग्य है। प्रारब्धकी व्यवस्थाका इसी प्रकार प्रबंध किया गया होगा।

३६०

बम्बई, चैत्र सुदी ९, १९४९

(१)

आरंभ, परिग्रह, असत्संग आदि कल्याणमें प्रतिबंध करनेवाले कारणोंका, जैसे बने तैसे कम ही परिचय हो, और उनमें उदासीनता प्राप्त हो—यही विचार हालमें मुख्यरूपसे रखना योग्य है।

(२)

हालमें उस तरफ श्रावकों आदिके होनेवाले समागमके संबंधमें समाचार पढ़े हैं। उस प्रसंगमें जीवको रुचि अथवा अरुचि उत्पन्न नहीं हुई, इसे श्रेयका कारण जानकर, उसका अनुसरण करके, निरंतर प्रवृत्ति करनेका परिचय करना योग्य है। और उस असत्संगका परिचय, जैसे कम हो वैसे, उसकी अनुकंपाकी इच्छा करके रहना योग्य है। जैसे बने वैसे सत्संगके संयोगकी इच्छा करना और अपने दोषको देखना योग्य है।

३६१

बम्बई, चैत्र वदी १ रवि. १९४९

धार तरवारनी सोहली दोहली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा;
धारपर नाचता देख बाजीगरा, सेवना-धारपर रहे न देवा।

(आनंदघन—अनंतजिन-स्तवन).

इस प्रकारके मार्गको किस कारणसे अत्यंत कठिन कहा है, यह विचारने योग्य है।

३६२

बम्बई, चैत्र वदी ९ रवि. १९४९

जिसे संसारसंबंधी कारणके पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभतासे निरन्तर हुआ करे, और कोई बंधन न हो, यदि ऐसा कोई पुरुष है, तो उसे हम तीर्थंकरतुल्य मानते हैं। परन्तु प्रायः इस प्रकारकी सुलभ-प्राप्तिके योगसे जीवको अल्प कालमें संसारसे अत्यंत वैराग्य नहीं आता, और स्पष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता—ऐसा जानकर जो कुछ उस सुलभ-प्राप्तिको हानि करनेवाला संयोग मिलता है, उसे उपकारका कारण जानकर, सुखपूर्वक रहना ही योग्य है।

३६३

बम्बई, चैत्र वदी ९ रवि. १९४९

संसारी-वेशसे रहते हुए कौनसी स्थितिसे व्यवहार करें तो ठीक हो, ऐसा कदाचित् भासित हो तो भी उस व्यवहारका करना तो प्रारब्धके ही आधीन है। किसी प्रकारके किसी राग, द्वेष अथवा अज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय ही मालूम होता है।

जलमें स्वाभाविक शीतलता है, परन्तु सूर्य आदिके तापके संबंधसे वह उष्ण होता हुआ दिखाई

---

१ तलवारकी धारपर चलना तो सहज है, परन्तु चौदहवें तीर्थंकरके चरणोंकी सेवा करना कठिन है। बाजीगर लोग तलवारकी धारपर नाचते हुए देखे जाते हैं, परन्तु प्रभुके चरणोंकी सेवारूप धारपर तो देवता लोग भी नहीं ठहर सकते।

देता है; उस तापका संबंध दूर हो जानेपर वही जल फिर शीतल हो जाता है। बीचमें जो जल शीतलतासे रहित माल्रम होता था, वह केवल तापके संयोगसे ही माल्रम होता था। ऐसे ही हमें भी प्रवृत्तिका संयोग है, परन्तु हालमें तो उस प्रवृत्तिके वेदन किये बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है।

३६४

बम्बई, चैत्र वदी ९, १९४९

जो मु. यहाँ चातुर्मासके लिये आना चाहते हैं, यदि उनकी आत्मा दुःखित न हो तो उनसे कहना कि उन्हें इस क्षेत्रमें आना निवृत्तिरूप नहीं है। कदाचित् यहाँ उन्होंने सत्संगकी इच्छासे आनेका विचार किया हो तो वह संयोग बनना बहुत कठिन है, क्योंकि वहाँ हमारा आना-जाना बने, यह संभव नहीं है। यहाँ ऐसी परिस्थिति है कि यहाँ उन्हें प्रवृत्तिके बलवान कारणोंकी ही प्राप्ति हो, ऐसा समझकर यदि उन्हें कोई दूसरा विचार करना सुगम हो तो करना योग्य है। हालमें तुम्हारी वहाँ कैसी दशा रहती है ? वहाँ विशेषरूपसे सत्संगका समागम करना योग्य है। आत्मस्थित.

३६५

बम्बई, वैशाख वदी ६ रवि. १९४९

(१) प्रत्येक प्रदेशसे जीवके उपयोगको आकर्षित करनेवाले संसारमें, एक समयके लिये भी अवकाश लेनेकी ज्ञानी पुरुषोंने हाँ नहीं कही—इस विषयका सर्वथा निषेध ही किया है। उस आकर्षणसे यदि उपयोग अवकाश प्राप्त करे तो वह उसी समय आत्मरूप हो जाता है—उसी समय आत्मामें वह उपयोग अनन्य हो जाता है।

इत्यादि अनुभव-वार्त्ता जीवको सत्संगके दृढ़ निश्चयके बिना प्राप्त होनी अत्यंत कठिन है। उस सत्संगको जिसने निश्चयरूपसे जान लिया है, इस प्रकारके पुरुषको भी इस दुःषम कालमें उस सत्संगका संयोग रहना अत्यंत कठिन है।

(२) जिस चिंताके उपद्रवसे तुम घबड़ाते हो, उस चिंताका उपद्रव कोई शत्रु नहीं है।

प्रेम-भक्तिसे नमस्कार।

३६६

बम्बई, वैशाख वदी ८ भौम. १९४९

जहाँ कोई उपाय नहीं, वहाँ खेद करना योग्य नहीं है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसमें समता रखना ही योग्य है; और उसके उपायका यदि कोई विचार सूझ पड़े तो उसे करते रहना, मात्र इतना ही अपना उपाय है।

कचित् संसारके प्रसंगोंमें जबतक अपनेको अनुकूलता रहा करती है, तबतक उस संसारका स्वरूप विचारकर त्याग करना योग्य है, प्रायः इस प्रकारका विचार हृदयमें आना कठिन है। उस संसारमें जब अधिकाधिक प्रतिकूल प्रसंगोंकी प्राप्ति होती है, तो कदाचित् जीवको पहिले वे रुचिकर न होकर पीछेसे वैराग्य आता है; उसके बाद आत्म-साधनकी सूझ पड़ती है। और परमात्मा

श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षु जीवको वे सब प्रसंग, जिन प्रसंगोंके कारण आत्म-साधन सूझता है, सुखदायक ही मानने योग्य हैं।

अमुक समयतक अनुकूल प्रसंगयुक्त संसारमें कदाचित् यदि सत्संगका संयोग हुआ हो, तो भी इस कालमें उससे वैराग्यका जैसा चाहिये वैसा वेदन होना कठिन है। परन्तु उसके बाद यदि कोई कोई प्रसंग प्रतिकूल ही प्रतिकूल बनता चला जाय तो उसके विचारसे—उसके पश्चात्तापसे—सत्संग हितकारक हो जाता है, यह जानकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसंगकी प्राप्ति हो, उसे आत्म-साधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जागृत रहना चाहिये।

कल्पितभावमें किसी प्रकारसे भूले हुएके समान नहीं है।

३६७ बम्बई, वैशाख वदी ९, १९४९

श्रीमहावीरदेवसे गौतम आदि मुनिजन पूँछते थे कि हे पूज्य! माहण श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रंथ इन शब्दोंका क्या अर्थ है, सो हमें कहिये। उसके उत्तरमें श्रीतीर्थंकर इस अर्थको विस्तारसे कहते थे। वे अनुक्रमसे इन चारोंकी बहुत प्रकारकी वीतराग अवस्थाओंको विशेष–अति विशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह शिष्य उस शब्दके अर्थको धारण करते थे।

निर्ग्रंथकी अनेक दशाओंको कहते समय निर्ग्रन्थके तीर्थंकर 'आत्मवादप्राप्त' इस प्रकारका एक शब्द कहते थे। टीकाकार शीलांकाचार्य उस 'आत्मवादप्राप्त' शब्दका अर्थ इस प्रकार कहते हैं— "उपयोग जिसका लक्षण है, असंख्य-प्रदेशी, संकोच-विकासका भाजन, अपने किये हुए कर्मोंका भोक्ता, व्यवस्थासे द्रव्य-पर्यायरूप, नित्य-अनित्य आदि अनंत धर्मात्मक ऐसी आत्माको जाननेवाला आत्मवादप्राप्त" है।

---

३६८ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र. १९४९

सब परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग–सत्पुरुषके चरणके समीप निवास–है। सब कालमें उसकी कठिनता है; और इस प्रकारके विषम कालमें तो ज्ञानी पुरुषोंने उसकी अत्यंत ही कठिनता मानी है।

ज्ञानी-पुरुषोंकी प्रवृत्ति, प्रवृत्ति जैसी नहीं होती। जैसे गरम पानीमें अग्निका मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे ही ज्ञानीकी प्रवृत्ति है; फिर भी ज्ञानी-पुरुष भी किसी प्रकारसे निवृत्तिकी ही इच्छा करता है। पूर्वकालमें आराधन किये हुए निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संग आदि ज्ञानी-पुरुषको प्रवृत्तिमें होनेपर भी बारम्बार याद आ जाते हैं; फिर भी ज्ञानी उदय-प्राप्त प्रारब्धका ही अनुसरण करते हैं। सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष रहता है, परन्तु वह समय यहाँ नियमित नहीं है।

कल्याणविषयक जो जो प्रतिबंधरूप कारण हैं, उनका जीवको बारम्बार विचार करना योग्य है। उन सब कारणोंको बारम्बार विचार करके दूर करना योग्य है, और इस मार्गके अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। मल, विक्षेप, और अज्ञान ये जीवके अनादिके तीन दोष हैं। ज्ञानी पुरुषोंके वचनकी प्राप्ति होनेपर, उसका यथायोग्य विचार करनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस

अज्ञानकी संतति बलवान होनेसे, उसका निरोध करनेके लिये और ज्ञानी-पुरुषके वचनोंका यथायोग्य विचार करनेके लिये, मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है। सरलता, क्षमा, स्व-दोषका निरीक्षण, अल्पारंभ, परिग्रह इत्यादि ये मल दूर करनेके साधन हैं। ज्ञानी-पुरुषकी अत्यंत भक्ति यह विक्षेप दूर करनेका साधन है।

यदि ज्ञानी-पुरुषके समागमका अंतराय रहता हो तो उस उस प्रसंगमें बारम्बार उस ज्ञानी-पुरुषकी दशा, चेष्टा, और उसके वचनोंका सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करना, उनका याद करना और विचार करना योग्य है। और उस समागमके अंतरायमें—प्रवृत्तिके प्रसंगोंमें—अत्यंत सावधानी रखना योग्य है; क्योंकि एक तो समागमका ही बल नहीं, और दूसरी अनादि अभ्यासवाली सहजाकार प्रवृत्ति रहती है, जिससे जीवपर आवरण आ जाता है। घरका, जातिका, अथवा दूसरे उस तरहके कामोंका कारण उपस्थित होनेपर उदासीनभावसे उन्हें प्रतिबंधरूप जानकर, प्रवृत्ति करना ही योग्य है; उन कारणोंको मुख्य मानकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं; और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिसे अवकाश नहीं मिलता।

भिन्न भिन्न प्रकारकी कल्पनाओंसे आत्माका विचार करनेमें, लोक-संज्ञा, ओघ-संज्ञा और असत्संग ये जो कारण हैं, इन कारणोंमें उदासीन हुए बिना निःसत्व ऐसी लोकसंबंधी जप, तप आदि क्रियाओंमें साक्षात् मोक्ष नहीं है—परंपरा भी मोक्ष नहीं है। ऐसा माने बिना निःसत्व असत्शास्त्र और असद्गुरुको—जो आत्मस्वरूपके आवरणके मुख्य कारण हैं—साक्षात् आत्म-घातक जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत कठिन है—अत्यंत कठिन है। ज्ञानी-पुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोंके सबबसे ही जीवके स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते।

अब यह निश्चय करना योग्य है कि जिसको आत्मस्वरूप प्राप्त है—प्रगट है—उस पुरुषके बिना दूसरा कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नहीं है; और उस पुरुषसे आत्माके जाने बिना दूसरा कोई कल्याणका उपाय नहीं है। उस पुरुषसे आत्माके बिना जाने ही आत्माको जान लिया है, इस प्रकारकी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग ही करना योग्य है। उस आत्मरूप पुरुषके सत्संगकी निरंतर कामना रखते हुए जिससे उदासीनभावसे लोक-धर्मसंबंधसे और कर्मसंबंधसे छूट सकें, इस प्रकारसे व्यवहार करना चाहिये। जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी महत्ता आदिकी इच्छा उत्पन्न हो, उस व्यवहारका करना योग्य नहीं है।

हालमें अपने समागमका अंतराय जानकर निराशभावको प्राप्त होते हैं, फिर भी वैसा करनेमें ईश्वरेच्छा जानकर, समागमकी कामना रखकर, जितना मुमुक्षु भाईयोंका परस्पर समागम बने उतना करना चाहिये; जितना बने उतना प्रवृत्तिमें विरक्तभाव रखना चाहिये; सत्पुरुषके चरित्र और मार्गानुसारी (सुंदरदास, प्रीतम, अखा, कबीर आदि) जीवोंके वचन, और जिनका मुख्य उद्देश्य आत्म-विषयक कथन करना ही है ऐसे (विचारसागर, सुंदरदासके ग्रन्थ, आनन्दघनजी, बनारसीदास, अखा आदिके ग्रन्थ) ग्रन्थोंका परिचय रखना; और इन सब साधनोंमें मुख्य साधन श्रीसत्पुरुषके समागमको ही मानना चाहिये।

हमारे समागमका अंतराय जानकर चित्तको प्रमादका अवकाश देना योग्य नहीं, परस्पर मुमुक्षु भाईयोंके समागमको अव्यवस्थित होने देना योग्य नहीं, निवृत्तिके क्षेत्रके प्रसंगको न्यून होने देना योग्य नहीं, कामनापूर्वक प्रवृत्ति करना उचित नहीं—ऐसा विचारकर जैसे बने तैसे अप्रमत्तताका, परस्परके समागमका, निवृत्तिके क्षेत्रका और प्रवृत्तिकी उदासीनताका आराधन करना चाहिये।

जो प्रवृत्ति यहाँ उदयमें है, वह इस प्रकारकी है कि उसे दूसरे किसी मार्गसे चलनेपर भी छोड़ी नहीं जा सकती—वह सहन ही करने योग्य है। इसलिये उसका अनुसरण करते हैं, फिर भी स्वस्थता तो अव्याबाध स्थितिमें जैसीकी तैसी ही है।

आज यह हम आठवाँ पत्र लिखते हैं। इसे तुम सब जिज्ञासु भाईयोंके वारम्वार विचार करनेके लिये लिखा है। चित्त इस प्रकारके उदयवाला कभी कभी ही रहता है। आज उस प्रकारका अनुक्रमसे उदय होनेसे उस उदयके अनुसार लिखा है। जब हम भी सत्संगकी तथा निवृत्तिकी कामना रखते हैं, तो फिर यह तुम सबको रखनी योग्य हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब हम भी व्यवहारमें रहते हुए अल्पारंभको और अल्प परिग्रहको, प्रारब्ध-निवृत्तिरूपसे चाहते हैं, तो फिर तुम्हें उस तरह बर्ताव करना योग्य हो, इसमें कोई संशय करना योग्य नहीं। इस समय ऐसा नहीं सूझता कि समागम होनेके संयोगका नियमित समय लिखा जा सके।

---

३६९ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ भौम. १९४९

जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे;
जीव तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे।

'पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, उन ज्ञानियोंमें बहुतसे ज्ञानी-पुरुष सिद्धि-योगवाले भी हो गये हैं, यह जो लौकिक-कथन है वह सच्चा है या झूठा'? यह आपका प्रश्न है; और 'यह सच्चा मालूम होता है', ऐसा आपका अभिप्राय है; तथा 'यह साक्षात् देखनेमें नहीं आता', यह आपकी जिज्ञासा है।

कितने ही मार्गानुसारी पुरुष और अज्ञान-योगी पुरुषोंमें भी सिद्धि-योग होता है। प्रायः करके वह सिद्धि-योग उनके चित्तकी अत्यंत सरलतासे अथवा सिद्धि-योग आदिको अज्ञान-योगसे स्फुरणा प्रदान करनेसे प्रवृत्ति करता है।

सम्यक्दृष्टि पुरुष—जिनके चौथा गुणस्थान होता है—जैसे ज्ञानी-पुरुषोंके क्वचित् सिद्धि होती है, और क्वचित् सिद्धि नहीं होती। जिनके होती है, उनको उसके प्रगट करनेकी प्रायः इच्छा नहीं होती; और प्रायः करके जब इच्छा होती है तब उस समय होती है, जब जीव प्रमादके वश होता है; और यदि उस प्रकारकी इच्छा हुई तो वह सम्यक्त्वसे गिर जाता है। प्रायः पाँचवें और छठे गुणस्थानमें भी उत्तरोत्तर सिद्धि-योग विशेष संभव होता जाता है; और वहाँ भी यदि प्रमाद आदिके योगसे जीव सिद्धिमें प्रवृत्ति करे तो उसका प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

सातवें, आठवें, नवमें और दशवें गुणस्थानमें, प्रायः करके प्रमादका अवकाश कम होता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें सिद्धि-योगका लोभ संभव होनेके कारण, वहाँसे प्रथम गुणस्थानमें आ जाना संभव है।

वाकी जितने सम्यक्त्वके स्थानक हैं, और जहाँतक आत्मा सम्यक्-परिणामी है, वहाँतक उस एक भी योगमें त्रिकालमें भी जीवकी प्रवृत्ति होना संभव नहीं है।

सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंसे लोगोंने जो सिद्धि-योगके चमत्कार जाने हैं, वे सब ज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए संभव नहीं माल्रम होते, वे सिद्धि-योग स्वभावसे ही प्रगटित हुए रहते हैं। दूसरे किसी कारणसे ज्ञानी-पुरुषमें वह योग नहीं कहा जाता।

मार्गानुसारी अथवा सम्यग्दृष्टि पुरुषके अत्यंत सरल परिणामसे वहुतसी वार उनके कहे हुए वचनके अनुसार वात हो जाती है। जिसका योग अज्ञानपूर्वक है, उसके उस आवरणके उदय होनेपर, अज्ञान प्रगट होकर, वह सिद्धि-योग अल्प कालमें ही फल दे देता है। किन्तु ज्ञानी पुरुषसे तो वह केवल स्वाभाविकरूपसे प्रगट होनेपर ही फल देता है, किसी दूसरी तरहसे नहीं।

जिस ज्ञानीद्वारा स्वाभाविक सिद्धि-योग प्रगट होता है, वह ज्ञानी पुरुष, जो हम कहते हैं उस तरहके, तथा उसी प्रकारके दूसरे अनेक तरहके चारित्रके प्रतिबंधक कारणोंसे मुक्त होता है; जिन कारणोंसे आत्माका ऐश्वर्य विशेष स्फुरित होकर मन आदि योगमें सिद्धिके स्वाभाविक परिणामको प्राप्त करता है। कहीं ऐसा भी मानते हैं कि किसी प्रसंगसे ज्ञानी-पुरुषद्वारा भी सिद्धि-योग प्रगट किया जाता है, परन्तु वह कारण अत्यंत वलवान होता है। और वह भी सम्पूर्ण ज्ञान-दशाका कार्य नहीं है। हमने जो यह लिखा है, वह वहुत विचार करनेपर समझमें आयेगा।

हमारी वावत मार्गानुसारीपना कहना योग्य नहीं है। अज्ञान-योगीपना तो जवसे इस देहको धारण किया तभीसे नहीं है, ऐसा माल्रम होता है। सम्यक्दृष्टिपना तो अवश्य संभव है। किसी भी प्रकारके सिद्धि-योगको सिद्ध करनेका हमने कभी भी समस्त जीवनमें अल्प भी विचार किया हो, ऐसा याद नहीं आता; अर्थात् साधनसे उस प्रकारका योग प्रगट हुआ हो, यह माल्रम नहीं होता। हाँ, आत्माकी विशुद्धताके कारण यदि कोई उस प्रकारका ऐश्वर्य हो तो उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। वह ऐश्वर्य कुछ अंशमें संभव है। फिर भी यह पत्र लिखते समय इस ऐश्वर्यकी स्मृति हुई है, नहीं तो वहुत कालसे यह वात स्मरणमें ही नहीं; तो फिर उसे प्रगट करनेके लिये कभी भी इच्छा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता, यह स्पष्ट वात है।

तुम और हम कुछ दुःखी नहीं है। जो दुःख है वह तो रामके चौदह वर्षोंके दुःखका एक दिन भी नहीं, पांडवोंके तेरह वर्षोंके दुःखकी एक घड़ी भी नहीं, और गजसुकुमारके ध्यानकी एक पल भी नहीं; तो फिर हमको इस अत्यंत कारणको कभी भी वताना योग्य नहीं। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। जो हो मात्र उसे देखते रहो—इस प्रकार निश्चय रखनेका विचार करो; उपयोग करो और सावधानीसे रहो। यही उपदेश है।

---

३७० वम्बई, प्रथम आषाढ़ वदी ३ रवि. १९४९

गतवर्ष मंगासिर महीनेमें जवसे यहाँ आना हुआ, उस समयसे उपाधि-योग उत्तरोत्तर विशेषाकार ही होता आया है, और प्रायः करके वह उपाधि-योग विशेष प्रकारके उपयोगसे सहन करना पड़ा है।

इस कालको तीर्थंकर आदिने स्वभावसे ही दुःषम काल कहा है। उसमें भी विशेष करके व्यवहारमें अनार्यताके योग्यभूत ऐसे इस क्षेत्रमें तो वह काल और भी बलवानरूपसे रहता है। लोगोंकी आत्म-प्रत्ययके योग्य-बुद्धि अत्यंत नाश होने योग्य हो गई है। इस प्रकारके सब तरहके दुःषम योगमें व्यव-हार करते हुए परमार्थका भूल जाना अत्यंत सुलभ है, और परमार्थकी स्मृति होना अत्यंत अत्यंत दुर्लभ है। इस क्षेत्रकी दुःषमताकी इतनी विशेषता है जितनी कि आनन्दघनजीने चौदहवें जिन भगवान्के स्तवनमें कही है; और आनन्दघनजीके कालकी अपेक्षा तो वर्तमान काल और भी विशेष दुःषम-परिणामी है। उसमें यदि आत्म-प्रत्ययी पुरुषके बचने योग्य कोई उपाय हो तो केवल एक निरंतर अविच्छिन्न धारासे सत्संगकी उपासना करना ही माल्म होता है।

जिसे प्रायः सब कामनाओंके प्रति उदासीनभाव है, ऐसे हमें भी यह सब व्यवहार और काल आदि, गोते खाते खाते संसार-समुद्रसे मुश्किलसे ही पार होने देता है। फिर भी प्रति समय उस परिश्रमका अत्यंत खेद उत्पन्न हुआ करता है; और संताप उत्पन्न होकर सत्संगरूप जलकी अत्यंतरूपसे तृषा रहा करती है; और यही एक दुःख माल्म हुआ करता है।

ऐसा होनेपर भी इस प्रकार व्यवहारको सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेष-परिणाम करना योग्य नहीं है—इस प्रकार जो सर्व ज्ञानी-पुरुषोंका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्रायः समताभावसे कराता है। ऐसा लगा करता है कि आत्मा उस विषयमें मानों कुछ करती ही नहीं।

विचार करनेसे ऐसा भी नहीं लगता कि यह जो उपाधि उदयमें है, वह सब प्रकारसे कष्टरूप ही है। जिससे पूर्वोपार्जित प्रारब्ध शान्त होता है, उस उपाधि-परिणामको आत्म-प्रत्ययी कहना चाहिये।

मनमें हमें ऐसा रहा करता है कि अल्प कालमें ही यह उपाधि-योग दूर होकर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रंथता प्राप्त हो तो अधिक योग्य है, परन्तु यह बात अल्प कालमें हो सके, ऐसा नहीं सूझता; और जबतक ऐसा न हो तबतक उस चिंताका दूर होना संभव नहीं है।

यदि वर्तमानमें ही दूसरा समस्त व्यवहार छोड़ दिया हो, तो यह बन सकता है। दो-तीन उदयके व्यवहार इस प्रकारके रहते हैं कि जो भोगनेसे ही निवृत्त हो सकते हैं; और वे इस प्रकारके हैं कि कष्टमें भी उस विशेष कालकी स्थितिमेंसे अल्प कालमें उनका वेदन नहीं किया जा सकता; और इस कारण हम मूर्खकी तरह ही इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें, किसी कालमें और किसी भावमें स्थिति हो जाय, ऐसा प्रसंग मानों कहीं भी दिखाई नहीं देता। उसमेंसे केवल सब प्रकारका अप्रतिबद्धभाव होना ही योग्य है, फिर भी निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-काल, सत्संग और आत्म-विचारमें हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है।

वह योग किसी प्रकारसे भी जैसे बने तैसे थोड़े ही कालमें हो जाय—इसी चिंतवनमें रात-दिन रहा करते हैं।

---

३७१ बम्बई, प्र. आषाढ़ वदी४ सोम.१९४९

ॐ

जिसे प्रीतिसे संसारके सेवन करनेकी स्पष्ट इच्छा होती हो, तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचनोंको ही नहीं सुना है, अथवा उसने ज्ञानी-पुरुषका दर्शन भी नहीं किया, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

जिसकी कमर टूट गई है उसका प्रायः समस्त बल क्षीण हो जाता है। जिसे ज्ञानी-पुरुषके वचनरूप लकड़ीका प्रहार हुआ है, उस पुरुषमें उस प्रकारका संसारसंबंधी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

ज्ञानी-पुरुषको देखनेके बाद भी यदि स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता हो, तो ऐसा समझो कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको सुननेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर जीवनरहित रूपसे भासित हुए बिना न रहे, और धन आदि संपत्ति वास्तवमें पृथ्वीके विकाररूपसे भासमान हुए बिना न रहे।

ज्ञानी-पुरुषके सिवाय उसकी आत्मा दूसरी किसी भी जगह क्षणभर भी ठहरनेके लिये इच्छा नहीं करती।

इत्यादि वचनोंका पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष मार्गानुसारी पुरुषको बोध देते थे; जिसे जानकर—सुनकर सरल जीव उसे आत्मामें धारण करते थे। तथा प्राणत्याग जैसे प्रसंग आनेपर भी वे उन वचनोंको अप्रधान न करने योग्य मानते थे, और वैसा ही आचरण करते थे।

सबसे अधिक स्मरण करने योग्य बातें तो बहुतसी हैं, फिर भी संसारमें एकदम उदासीनता होना, दूसरोंके अल्प गुणोंमें भी प्रीति होना, अपने अल्प गुणोंमें भी अत्यंत क्लेश होना, दोषके नाश करनेमें अत्यंत वीर्यका स्फुरित होना—ये बातें सत्संगमें अखंड एक शरणागतरूपसे ध्यानमें रखने योग्य हैं। जैसे बने वैसे निवृत्ति-काल, निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-द्रव्य और निवृत्ति-भावका सेवन करना। तीर्थंकर, गौतम जैसे ज्ञानी-पुरुषको भी संबोधन करते थे कि 'हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है'।

---

३७२ बम्बई,प्र.आषाढ़ वदी१३भौम.१९४९

अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारणमें कोई विषमता नहीं है। सत्संगके इच्छा करनेवाले पुरुषको यह क्षेत्र विषमतुल्य है। किसी किसी उपाधि-योगका अनुक्रम हमें भी रहा करता है। इन दो कारणोंकी विस्मृति करते हुए भी जो घरमें रहना है, उसमें कितनी ही प्रतिकूलतायें हैं, इसलिये हालमें तुम सब भाईयोंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (जैसा) है।

---

३७३ बम्बई, प्र. आषाढ़ वदी१४ बुध. १९४९

प्रायः करके प्राणी आशासे ही जीते हैं। जैसे जैसे संज्ञा विशेष होती जाती है, वैसे वैसे विशेष आशाके बलसे जीवित रहना होता है। जहाँ मात्र एक आत्मविचार और आत्मज्ञानका उद्भव

होता है, वहीं सब प्रकारकी आशाकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जीवित रहा जाता है। जिस वस्तुकी कोई भी मनुष्य इच्छा करता है, वह उसकी प्राप्तिकी भविष्यमें ही इच्छा करता है; और इस प्राप्तिकी इच्छारूप आशासे ही उसकी कल्पना जीवित रहती है; और वह कल्पना प्रायः करके कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको वह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो, तो उसकी दुःखकारक भयंकर स्थितिका अकथनीय हो जाना संभव है।

सब प्रकारकी आशा–और उसमें भी आत्माके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोंकी आशामें, समाधि किस प्रकारसे प्राप्त हो, यह कहो ?

---

३७४ बम्बई, द्वितीय आषाढ़ सुदी ६ बुध. १९४९

रक्खा हुआ कुछ रहता नहीं, और छोड़ा हुआ कुछ जाता नहीं—इस प्रकार परमार्थ विचार करके किसीके प्रति दीनता करना अथवा विशेषता दिखाना योग्य नहीं है। समागममें दीनभाव नहीं आना चाहिये।

---

३७५ बम्बई, द्वितीय आषाढ़ वदी ६, १९४९

श्रीकृष्ण आदिकी क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय, उसे उसी समय सब प्रकारकी सांसारिक क्रियायें न रहें, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेके बाद सांसारिक क्रियाओंका रसरहित हो जाना संभव है। प्रायः करके ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नहीं होती जिससे परमार्थमें भ्रांति उत्पन्न हो; और जबतक परमार्थमें भ्रांति न हो, तबतक दूसरी क्रियाओंसे सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। इस जगत्के लोग सर्पको पूजते हैं, परन्तु वे वास्तविक पूज्य-बुद्धिसे उसे नहीं पूजते, किन्तु भयसे पूजते हैं—भावसे नहीं पूजते; और इष्टदेवको लोग अत्यंत भावसे पूजते हैं। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव इस संसारका जो सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वमें बाँधे हुए प्रारब्ध-कर्मसे ही दिखाई देता है—वास्तविक दृष्टिसे भावपूर्वक उस संसारमें उसे कोई भी प्रतिबंध नहीं होता, वह केवल पूर्वकर्मके उदयरूप भयसे ही है होता। जितने अंशसे भाव-प्रतिबंध न हो, उतने अंशसे ही उस जीवके सम्यक्दृष्टिपना होता है।

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभका सम्यक्त्वके सिवाय नाश होना संभव नहीं है, ऐसा जो कहा जाता है वह यथार्थ है। संसारी पदार्थोंमें जीवको तीव्र स्नेहके बिना क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं होते, जिससे जीवको संसारका अनंत अनुबंध हो। जिस जीवको संसारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेह रहता हो, उसे किसी प्रसंगमें भी अनंतानुबंधी चतुष्कमेंसे किसीका भी उदय होना संभव है; और जबतक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो, तबतक जीव अवश्य ही परमार्थ-मार्गवाला नहीं होता। परमार्थ-मार्ग उसे कहते हैं कि जिसमें अपरमार्थका सेवन करता हुआ जीव सब प्रकारसे, सुखमें अथवा दुःखमें कायर हुआ करे। दुःखमें कायरता होना तो कदाचित् दूसरे जीवोंको भी संभव है, परन्तु संसार-सुखकी प्राप्तिमें भी कायरता होना—उस सुखका अच्छा नहीं लगना—उसमें नीरसता होना—यह परमार्थ-मार्गी पुरुषके ही होता है।

जीवको उस प्रकारकी नीरसता परमार्थ-ज्ञानसे अथवा परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयसे होना संभव है, दूसरे प्रकारसे होना संभव नहीं। अपरमार्थरूप संसारको परमार्थ-ज्ञानसे जानकर फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया अथवा लोभ कौन करे अथवा वह कहाँसे हो ? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे दूर हो गया है, फिर उस वस्तुके लिये अत्यंत क्लेश नहीं रहता। संसारमें भ्रांतिरूपसे जाना हुआ सुख, परमार्थ-ज्ञानसे भ्रांति ही भासित होता है, और जिसे भ्रांति भासित हुई है, फिर उसे वस्तुका क्या माहात्म्य माल्म होगा ? इस प्रकारकी माहात्म्य-दृष्टि परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चययुक्त जीवको ही होती है, और इसका कारण भी यही है। कदाचित् किसी ज्ञानके आवरणके कारण जीवको व्यवच्छेदक ज्ञान न हो, तो भी उसे ज्ञानी-पुरुषकी श्रद्धारूप सामान्य ज्ञान तो होता है। यह ज्ञान वड़के बीजकी तरह परमार्थ-वड़का बीज है।

तीव्र परिणामसे और संसार-भयसे रहित भावसे ज्ञानी-पुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया अथवा लोभ नहीं होता। जो संसारके लिये अनुबंध करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे भ्रांतिगत परिणामसे, जो असद्गुरु, देव और धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः करके अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होता है; क्योंकि दूसरी संसारकी क्रियायें प्रायः करके अनंत अनुबंध करनेवाली नहीं हैं। केवल अपरमार्थको परमार्थ जानकर जीव आग्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके प्रति, देवके प्रति और धर्मके प्रति निरादर है—ऐसा कहना प्रायः यथार्थ है। वह सद्गुरु, देव और धर्मके प्रति, असद्गुरु आदिके आग्रहसे, मिथ्या-बोधसे, आसातनासे, उपेक्षापूर्वक प्रवृत्ति करे, यह संभव है। तथा उस मिथ्या संगसे उसकी संसार-वासनाके परिच्छिन्न न होनेपर भी उसे परिच्छेदरूप मानकर वह परमार्थके प्रति उपेक्षक ही रहता है, यही अनंत क्रोध, मान, माया और लोभका चिह्न है।

३७६

बम्बई, द्वि. आषाढ़ वदी १० सोम. १९४९

शारीरिक वेदनाको, देहका धर्म जानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल समझकर सम्यक्प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदनाका विशेष बल रहता है, उस समय जैसे ऊपर कहा है, उस तरह सम्यक्प्रकारसे श्रेष्ठ जीवोंको भी स्थिर रहना कठिन हो जाता है। फिर भी हृदयमें बारम्बार उस बातका विचार करते हुए, और आत्माकी नित्य अछेद्य, अभेद्य, और जरा, मरण आदि धर्मसे रहित भावना करते हुए—विचार करते हुए—कितनी ही तरहसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। बड़े पुरुषोंद्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिषहके प्रसंगोंकी जीवमें स्मृति उत्पन्न करके, उसमें उनके रहनेवाले अखंड निश्चयको फिर फिरसे हृदयमें स्थिर करने योग्य जाननेसे, जीवका वह सम्यक्-परिणाम फलीभूत होता है; और फिर वेदना—वेदनाके क्षय-कालके निवृत्त होनेपर—वह वेदना किसी भी कर्मका कारण नहीं होती। जिस समय शरीर व्याधिरहित हो उस समय जीवने यदि उससे अपनी भिन्नता समझकर, उसका अनित्य आदि स्वरूप जानकर, उससे मोह ममत्व आदिका त्याग किया हो, तो यह महान् श्रेय है। फिर भी यदि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधिके उत्पन्न

होनेपर, उस प्रकारकी भावना करते हुए जीवको प्रायः निष्फल कर्मबंधन नहीं होता; और महाव्याधिकी उत्पत्तिके समय तो जीव देहके ममत्वका ज़रूर त्याग करके, ज्ञानी-पुरुषके मार्गका विचारपूर्वक आचरण करे, यह श्रेष्ठ उपाय है। यद्यपि देहका उस प्रकारका ममत्व त्याग करना अथवा उसका कम करना, यह महाकठिन बात है, फिर भी जिसका वैसा करनेका निश्चय है, वह जल्दी या देरमें कभी न कभी अवश्य सफल होता है।

जबतक देह आदिसे जीवको आत्मकल्याणका साधन करना बाकी रहा है, तबतक उस देहमें अपरिणामिक ममताका सेवन करना ही योग्य है; अर्थात् यदि इस देहका कोई उपचार करना पड़े, तो वह उपचार देहमें ममत्व करनेकी इच्छासे नहीं करना चाहिये, परन्तु जिससे उस देहसे ज्ञानी-पुरुषके मार्गका आराधन हो सके, इस प्रकार किसी तरह उसमें रहनेवाले लाभके लिये, और उसी प्रकारकी बुद्धिसे, उस देहकी व्याधिके उपचारमें प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है। जो कुछ ममता है वह अपरिणामिक ममता है, अर्थात् परिणाममें समता स्वरूप है; परन्तु उस देहकी प्रियताके लिये, सांसारिक साधनोंमें जो यह प्रधान भोगका हेतु है, उसका त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार आर्त्तध्यानसे किसी प्रकारसे भी उस देहमें बुद्धि न करना, यह ज्ञानी-पुरुषोंके मार्गकी शिक्षा जानकर, आत्मकल्याणके उस प्रकारके प्रसंगमें लक्ष रखना योग्य है।

श्रीतीर्थंकर जैसोंने सब प्रकारसे ज्ञानीकी शरणमें बुद्धि रखकर निर्भयता और खेदरहित भावके सेवन करनेकी शिक्षा की है, और हम भी यही कहते हैं। किसी भी कारणसे इस संसारमें क्लेशित होना योग्य नहीं। अविचार और अज्ञान, यह सब क्लेशोंका, मोहका और कुगतिका कारण है। सद्विचार और आत्मज्ञान आत्मगतिका कारण है। उसका प्रथम साक्षात् उपाय, ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाका विचार करना ही मालूम होता है।

---

३७७ बम्बई, श्रावण सुदी ४ भौम. १९४९

जब किसी सामान्य मुमुक्षु जीवका भी इस संसारके प्रसंगमें प्रवृत्तिसंबंधी वीर्य मंद पड़ जाता है तो हमें तत्संबंधी अधिक मंदता हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता। फिर भी किसी पूर्व-कालमें प्रारब्धके उपार्जन करनेका इसी प्रकारका क्रम रहा होगा, जिससे कि उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करना रहा करे, परन्तु वह किस प्रकार रहा करता है? वह क्रम इस प्रकार रहा करता है कि जो कोई खास संसार-सुखकी इच्छायुक्त हो उसे भी उस तरह करना अनुकूल न आये। यद्यपि यह बात खेद करने योग्य नहीं, और हम उदासीनताका ही सेवन करते हैं, फिर भी उस कारणसे एक दूसरा खेद उत्पन्न होता है। वह यह कि सत्संग और निवृत्तिकी अप्रधानता रहा करती है; और जिसमें परम रुचि है, इस प्रकारके आत्मज्ञान और आत्मवार्ताको किसी भी प्रकारकी इच्छाके बिना क्वचित् त्याग जैसा ही रखना पड़ता है। आत्मज्ञानके वेदक होनेसे व्यग्रता नहीं होती परन्तु आत्म-वार्ताका वियोग व्यग्रता पैदा करता है। संसारकी ज्वाला देखकर चिंता नहीं करना। यदि चिंतामें समता रहे तो वह आत्मचिंतन जैसी ही है।

३७८

बम्बई, श्रावण सुदी ५, १९४९

(१) जौहरी लोग ऐसा मानते हैं कि यदि एक साधारण सुपारी जैसे उत्तम रंगका, पानीदार और घाटदार माणिक (प्रत्यक्ष) दोषरहित हो, तो उसकी करोड़ों रुपये भी कीमत गिनें तो भी वह कीमत थोड़ी है। यदि विचार करें तो इसमें केवल आँखके ठहरने और मनकी इच्छाकी कल्पित मान्यताके सिवाय दूसरी और कोई भी बात नहीं है। फिर भी इसमें एक आँखके ठहरनेकी खूबीके लिये और उसकी प्राप्तिके दुर्लभ होनेके कारण लोग उसका अद्भुत माहात्म्य बताते हैं; और जिसमें आत्मा स्थिर रहती है, ऐसे अनादि दुर्लभ सत्संगरूप साधनमें लोगोंकी कुछ भी आग्रहपूर्वक रुचि नहीं है, यह आश्चर्यकी बात विचार करने योग्य है।

(२) असत्संगमें उदासीन रहनेके लिये जब जीवका अप्रमादरूपसे निश्चय हो जाता है, तभी सज्ञान समझा जाता है। उसके पहिले प्राप्त होनेवाले बोधमें बहुत प्रकारका अंतराय रहा करता है।

३७९

बम्बई, श्रावण सुदी १५ रवि. १९४९

प्रायः करके आत्मामें ऐसा ही रहा करता है कि जबतक इस व्यापार-प्रसंगमें काम-काज करना रहा करे, तबतक धर्म-कथा आदिके प्रसंगमें और धर्मके जानकारके रूपमें किसी प्रकारसे प्रगटरूपमें न आया जाय, यही क्रम यथायोग्य है। व्यापार-प्रसंगके रहनेपर भी जिसके प्रति भक्तिभाव रहा करता है, उसका समागम भी इसी क्रमसे करना योग्य है कि जिसमें आत्मामें जो ऊपर कहा हुआ क्रम रहा करता है, उस क्रममें कोई बाधा न हो।

जिनभगवान्‌के कहे हुए मेरु आदिके संबंधमें और अंग्रेज़ोंकी कही हुई पृथिवी आदिके संबंधमें समागम होनेपर बातचीत करना।

हमारा मन बहुत उदासीन रहता है, और प्रतिबंध इस प्रकारका रहा करता है कि जहाँ वह उदासभाव सम्पूर्ण गुप्त जैसा करके सहन न किया जाय, इस प्रकारके व्यापार आदि प्रसंगमें उपाधि-योग सहन करना पड़ता है; यद्यपि वास्तविकरूपसे तो आत्मा समाधि-प्रत्ययी है।

३८०

बम्बई, श्रावण वदी ५, १९४९

गतवर्ष मंगसिर सुदी ६ को यहाँ आना हुआ था, तबसे लगाकर आजतक अनेक प्रकारका उपाधि-योग सहन किया है, और यदि भगवत्कृपा न हो तो इस कालमें उस प्रकारके उपाधि-योगमें धड़के ऊपर सिरका रहना भी कठिन हो जाय, ऐसा होते हुए बहुत बार देखा है; और जिसने आत्म-स्वरूप जान लिया है ऐसे पुरुषका और इस संसारका मेल भी न खाय, यही अधिक निश्चय हुआ है।

ज्ञानी-पुरुष भी अत्यंत निश्चय उपयोगसे वर्ताव करते करते भी क्वचित् मंद परिणामी हो जाय, ऐसी इस संसारकी रचना है। यद्यपि आत्मस्वरूपसंबंधी बोधका नाश तो नहीं होता, फिर भी आत्मस्वरूपके बोधके विशेष परिणामके प्रति एक प्रकारका आवरण होनेरूप उपाधि-योग होता है। हम तो उस उपाधि-योगसे अभी त्रास ही पाया करते हैं; और उस उस योगसे हृदयमें और मुखमें मध्यम वाणीसे प्रभुका नाम रखकर मुश्किलसे ही कुछ प्रवृत्ति करके स्थिर रह सकते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व अर्थात्

बोधविषयक भ्रांति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखाई देता है। और उससे आत्मा अनेकबार व्याकुल होकर त्यागका सेवन करती थी; फिर भी उपार्जित कर्मकी स्थितिको सम परिणामसे, अदीनतासे, अव्याकुलतासे सहना करना, यही ज्ञानी-पुरुषोंका मार्ग है, और हमें भी उसका ही सेवन करना है—ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती है; अर्थात् आकुलता आदि भावकी होती हुई विशेष घबराहट समाप्त होती थी।

जबतक सारे दिन निवृत्तिके ही योगमें काल न व्यतीत हो तवतक सुख न मिले—इस प्रकारकी हमारी स्थिति है। 'आत्मा आत्मा', 'उसका विचार', 'ज्ञानी पुरुषकी स्मृति', 'उसके माहात्म्यकी कथा-वार्त्ता', 'उसके प्रति अत्यंत भक्ति', 'उनके अनवकाश आत्म-चारित्रके प्रति मोह'—यह हमको अभी आकर्षित किया ही करता है, और उस कालका सेवन करते हैं।

पूर्वकालमें जो जो काल ज्ञानी-पुरुषके समागममें व्यतीत हुआ है, वह काल धन्य है; वह क्षेत्र अत्यंत अत्यंत धन्य है; उस श्रवणको, श्रवणके कर्त्ताको और उसमें भक्तिभावयुक्त जीवोंको त्रिकाल दंडवत् हो। उस आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिंतन, आत्म-व्याख्यावाली ज्ञानी-पुरुषकी वाणी, अथवा ज्ञानीके शास्त्र अथवा मार्गानुसारी ज्ञानी-पुरुषके सिद्धांतकी अपूर्वताको हम अति भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं।

अखंड आत्म-धुनकी एकतार उस बातको हमें अभी प्रवाहपूर्वक सेवन करनेकी अत्यंत आतुरता रहा करती है; और दूसरी ओरसे इस प्रकारका क्षेत्र, इस प्रकारका लोक-प्रवाह, इस प्रकारका उपाधि-योग और दूसरी उस उस तरहकी बातोंको देखकर विचार मूर्च्छाकी तरह हो जाता है। ईश्वरेच्छा!

---

३८१ पेटलाद, भाद्रपद वदी ६, १९४९

ॐ

१. जिसके पाससे धर्म माँगना, उस प्राप्त किये हुएकी पूर्ण चौकसी करनी—इस वाक्यका स्थिर चित्तसे विचार करना चाहिये।

२. जिसके पाससे धर्म माँगना, यदि उस पूर्ण ज्ञानीकी पहिचान जीवको हुई हो तो उस प्रकारके ज्ञानियोंका सत्संग करना, और यदि सत्संग हो जाय तो उसे पूर्ण पुण्यका उदय समझना। उस सत्संगमें उस परम ज्ञानीके उपदेश किये हुए शिक्षा-बोधको ग्रहण करना—जिससे कदाग्रह, मतमतांतर, विश्वासघात, और असत्वचन इत्यादिका तिरस्कार हो—अर्थात् उन्हें ग्रहण नहीं करना, मतका आग्रह छोड़ देना। आत्माका धर्म आत्मामें ही है। आत्मत्व-प्राप्त पुरुषका उपदेश किया हुआ धर्म आत्म-मार्गरूप होता है; बाकीके मार्गके मतमें नहीं पड़ना।

३. इतना होनेके बाद सत्संग होनेपर भी यदि जीवसे कदाग्रह, मतमतांतर आदि दोष न छोड़े जा सकें, तो फिर उनसे छूटनेकी आशा भी न करनी चाहिये। हम स्वयं किसीको आदेश-बात अर्थात् 'ऐसा करो', यह नहीं कहते। बारम्बार पूँछो तो भी वह बात स्मृतिमें रहती है। हमारे संगमें आये हुए किन्हीं जीवोंको अभीतक भी हमने ऐसा नहीं कहा कि इस प्रकार चलो या यह करो। यदि कुछ कहा होगा तो वह केवल शिक्षा-बोधके रूपमें ही कहा होगा।

४. हमारा उदय इस प्रकार रहता है कि इस तरहकी उपदेशकी बात करते हुए वाणी पीछे खिंच जाती है। हाँ, कोई साधारण प्रश्न पूँछे तो उसमें वाणी प्रकाश करती है; और उपदेशकी वातमें तो वाणी पीछे ही खिंच जाती है; इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि अभी उस प्रकारका उदय नहीं है।

५. पूर्ववर्ती अनंतज्ञानी यद्यपि महाज्ञानी हो गये हैं, परन्तु उससे जीवका कोई दोष दूर नहीं होता। अर्थात् यदि इस समय जीवमें मान हो तो उसे पूर्ववर्ती ज्ञानी कहनेके लिये नहीं आते; परन्तु हालमें जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विराजमान हों, वे ही दोषको वताकर दूर करा सकते हैं। उदाहरणके लिये दूरके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तृषातुरकी तृषा शान्त नहीं हो सकती, परन्तु वह यहाँके एक मीठे पानीके कलशेसे ही शान्त हो सकती है।

६. जीव अपनी कल्पनासे कल्पना कर लेता है कि ध्यानसे कल्याण होगा, समाधिसे कल्याण होगा, योगसे कल्याण होगा, अथवा इस इस प्रकारसे कल्याण होगा; परन्तु उससे जीवका कोई कल्याण नहीं हो सकता। जीवका कल्याण तो ज्ञानी पुरुषके लक्षमें रहता है, और वह परम सत्संगसे ही समझमें आ सकता है। इसलिये वैसे विकल्पोंका करना छोड़ देना चाहिये।

७. जीवको सबसे मुख्य वात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यदि सत्संग हुआ हो तो सत्संगमें श्रवण किये हुए शिक्षा-बोधके निष्पन्न होनेसे, सहजमें ही जीवके उत्पन्न हुए कदाग्रह आदि दोष तो छूट ही जाने चाहिये, जिससे दूसरे जीवोंको सत्संगके अवर्णवादके बोलनेका प्रसंग उपस्थित न हो।

८. ज्ञानी-पुरुषने कुछ कहना वाकी नहीं रक्खा है, परन्तु जीवने करना बाकी रक्खा है। इस प्रकारका योगानुयोग किसी समय ही उदयमें आता है। उस प्रकारकी वाँछासे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही होती है; परन्तु किसी समय महात्माके प्रति यदि उस प्रकारकी वाँछा हुई और उस प्रकारकी प्रवृत्ति हो चुकी हो, तो भी वही वाँछा यदि असत्पुरुषके प्रति की हो, और उससे जो फल होता है, उसकी अपेक्षा इसका फल जुदा ही होना संभव है। यदि सत्पुरुषके प्रति उस कालमें निःशंकता रही हो तो काल आनेपर उनके पाससे सन्मार्गकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमें अपने आप इसके लिये बहुत शोक रहता था, परन्तु उसके कल्याणका विचार करके शोकको विस्मरण कर दिया है।

९. मन वचन और कायाके योगसे जिसका केवलीस्वरूप भाव होकर अहंभाव दूर हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषके परम उपशमरूप चरणारविंदको नमस्कार करके, वारम्वार उसका चिंतवन करके, तुम उसी मार्गमें प्रवृत्तिकी इच्छा करते रहो—यह उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

विपरीत कालमें अकेले होनेके कारण उदास !!!

३८२

खंभात, भाद्रपद १९४९

ॐ

अनादिकालसे विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानी-पुरुषकी बहुतसी चेष्टायें अज्ञानी-पुरुष जैसी ही दिखाई देनेसे ज्ञानी-पुरुषमें विभ्रम बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, अथवा जीवको ज्ञानी-पुरुषके प्रति उस उस चेष्टाका विकल्प आया करता है। यदि ज्ञानी-पुरुषका दूसरी दृष्टियोंसे यथार्थ निश्चय हुआ हो

तो यदि किसी विकल्पको उत्पन्न करनेवाली ज्ञानीकी उन्मत्त आदि भावयुक्त चेष्टा प्रत्यक्ष देखनेमें आये, तो भी दूसरी दृष्टिके निश्चयके बलके कारण वह चेष्टा अविकल्परूप ही होती है। अथवा ज्ञानी पुरुषकी चेष्टाका कोई अगम्यपना ही इस प्रकारका है कि वह अधूरी अवस्थासे अथवा अधूरे निश्चयसे जीवको विभ्रम और विकल्पका कारण होता है। परन्तु वास्तविकरूपमें तथा पूर्ण निश्चय होनेपर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं है, इसलिये इस जीवको जो ज्ञानी-पुरुषके प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीवका दोष है।

ज्ञानी-पुरुष सम्पूर्ण रीतिसे अज्ञानी-पुरुषसे चेष्टारूपसे समान नहीं होता, और यदि हो तो फिर वह ज्ञानी ही नहीं है, इस प्रकारका निश्चय करना, वह ज्ञानी-पुरुषके निश्चय करनेका यथार्थ कारण है। फिर भी ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें किसी इस प्रकारसे विलक्षण कारणोंका भेद है कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानीका किसी प्रकारसे एकरूप नहीं होता। अज्ञानी होनेपर भी जो जीव ज्ञानीका स्वरूप मनवाता हो, उसका विलक्षणतासे निश्चय किया जाता है; इसलिये प्रथम ज्ञानी-पुरुषकी विलक्षणताका ही निश्चय करना योग्य है। और यदि उस विलक्षण कारणका स्वरूप जानकर ज्ञानीका निश्चय होता है, तो फिर कचित् अज्ञानीके समान जो जो ज्ञानी-पुरुषकी चेष्टा देखनेमें आती है, उस विषयमें निर्विकल्पता होती है; और नहीं तो ज्ञानी-पुरुषकी वह चेष्टा उसे विशेष भक्ति और स्नेहका कारण होती है।

प्रत्येक जीव अर्थात् यदि ज्ञानी-अज्ञानी समस्त अवस्थाओंमें समान ही हों तो फिर ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नाममात्रका भेद रह जाता है; परन्तु वैसा होना योग्य नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषमें अवश्य ही विलक्षणता होनी चाहिये। जिस विलक्षणताके यथार्थ निश्चय होनेपर जीवको ज्ञानी-पुरुष समझमें आता है, जिसका थोड़ासा स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है। मुमुक्षु जीवको ज्ञानी और अज्ञानी-पुरुषकी विलक्षणता, उनकी अर्थात् ज्ञानी-अज्ञानी पुरुषकी दशाद्वारा ही समझमें आती है। उस दशाकी विलक्षणता जिस प्रकारसे होती है, उसे बता देना योग्य है। जीवकी दशाके दो भाग हो सकते हैं:—एक मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा।

३८३

वम्बई, भाद्रपद १९४९

यदि अज्ञान-दशा रहती हो और जीवने भ्रम आदि कारणसे उसे ज्ञान-दशा मान ली हो, तो देहको उस उस प्रकारके दुःख पड़नेके प्रसंगोंमें अथवा उस तरहके दूसरे कारणोंमें जीव देहकी साताको सेवन करनेकी इच्छा करता है, और वैसे ही वर्ताव करता है। यदि सच्ची ज्ञान-दशा हो तो उसे देहके दुःख-प्राप्तिके कारणोंमें विषमता नहीं होती, और उस दुःखको दूर करनेकी इतनी अधिक चिंता भी नहीं होती।

३८४

वम्बई, भाद्रपद वदी १९४९

जिस प्रकार इस आत्माके प्रति दृष्टि है, उस प्रकारकी दृष्टि जगत्की सर्व आत्माओंके प्रति है। जिस प्रकारका स्नेह इस आत्माके प्रति है, उस प्रकारका स्नेह सर्व आत्माओंके प्रति है। जिस-

प्रकारकी इस आत्माकी सहजानंद स्थिति चाहते हैं, उसी प्रकार सर्व आत्माओंकी चाहते हैं। जो कुछ इस आत्माके लिये चाहते हैं, वह सब, सब आत्माओंके लिये चाहते हैं। जिस प्रकार इस देहके प्रति भाव रखते हैं, उसी प्रकार सर्व देहोंके प्रति रखते हैं। जिस प्रकार सब देहोंके प्रति वर्ताव करनेका क्रम रखते हैं, उसी प्रकार इस देहके प्रति क्रम रहता है। इस देहमें विशेष-बुद्धि और दूसरी देहोंमें विषम-बुद्धि प्रायः करके कभी भी नहीं हो सकती। जिन स्त्रियों आदिका निजरूपसे संबंध गिना जाता है, उन स्त्रियों आदिके प्रति जो कुछ स्नेह आदि है अथवा समता है, उसी प्रकार प्रायः सबके लिये रहता है। केवल आत्मस्वरूपके कार्यमें प्रवृत्ति होनेसे जगत्के सब पदार्थोंके प्रति जिस प्रकारकी उदासीनता रहती है, उसी प्रकार निजरूपसे गिने जानेवाले स्त्रियाँ आदि पदार्थोंके लिये रहती है।

प्रारब्धके योगसे स्त्रियों आदिके प्रति जो कोई उदय हो, उससे विशेष प्रवृत्ति प्रायः करके आत्मासे नहीं होती। कदाचित् करुणासे कुछ उस प्रकारकी प्रवृत्ति होती हो तो उस प्रकारकी प्रवृत्ति उसी क्षणमें उन उदय-प्रतिबद्ध आत्माओंके प्रति रहती है, अथवा समस्त जगत्के प्रति रहती है। किसीके प्रति कुछ विशेष नहीं करना, अथवा कुछ न्यून नहीं करना; और यदि करना हो तो फिर उस प्रकार एक ही धाराकी प्रवृत्ति समस्त जगत्के प्रति करना—यह ज्ञान आत्माको बहुत समयसे दृढ़ है—निश्चयस्वरूप है। किसी स्थलमें न्यूनता, विशेषता, अथवा ऐसी कोई सम-विषम चेष्टापूर्वक प्रवृत्ति देखी जाती हो तो वह अवश्य ही आत्मस्थितिसे—आत्मबुद्धिसे नहीं होती, ऐसा माल्रम होता है। पूर्वमें बँधे हुए प्रारब्धके योगसे उस प्रकार कुछ उदयभावरूपसे होता हो तो उसमें भी समता ही है। किसीके प्रति न्यूनता या अधिकता आत्माको कुछ भी अच्छा नहीं लगता; वहाँ फिर दूसरी अवस्थाका विकल्प होना योग्य नहीं है।

सबमें अभिन्न भावना है। जिसकी जितनी योग्यता है, उसके प्रति उतनी ही अभिन्न भावकी स्फूर्ति होती है। क्वचित् करुणा-बुद्धिसे विशेष स्फूर्ति होती है। परन्तु विषमतासे अथवा विषय परिग्रह आदि कारण-प्रत्ययसे उसके प्रति प्रवृत्ति करनेका आत्मामें कोई संकल्प माल्रम नहीं होता अविकल्प-रूप स्थिति है। विशेष क्या कहें ! हमारे कुछ हमारा नहीं है, अथवा दूसरेका नहीं है, अथवा दूसरा नहीं है। जैसा है वैसा ही है। जैसी आत्माकी स्थिति है वैसी ही है। सब प्रकारकी प्रवृत्ति निष्कपटभावसे उदयमें है। सम-विषमता नहीं है। सहजानंद स्थिति है। जहाँ वैसा हो वहाँ दूसरे पदार्थमें आसक्त-बुद्धि योग्य नहीं—होती नहीं।

---

३८५ बम्बई, आसोज सुदी १ भौम. १९४९

"ज्ञानी पुरुषके प्रति अभिन्न बुद्धि हो, यह कल्याणका महान् निश्चय है"—इस प्रकार सब महात्मा पुरुषोंका अभिप्राय माल्रम होता है। तुम तथा वे—जिनका देह हालमें अन्य वेदसे रहता है—दोनों ही जिस तरह ज्ञानी-पुरुषके प्रति विशेष निर्मलभावसे अभिन्नता हो, उस तरहकी प्रसंगोपात्त बात करो; यह योग्य है। और परस्पर अर्थात् उनके और तुम्हारे बीचमें जिससे निर्मल प्रेम रहे, वैसे प्रवृत्ति करनेमें बाधा नहीं है, परन्तु वह प्रेम आत्यंतर होना चाहिये। वह प्रेम इस तरहका न होना चाहिये जैसा स्त्री-पुरुषका काम आदि कारणोंसे प्रेम होता है। परन्तु ज्ञानी-पुरुषके प्रति दोनोंका

भक्ति-राग है, इस तरह दोनों ही अपनेको एक गुरुके शिष्य समझकर, और निरन्तर दोनोंका सत्संग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे यदि उस प्रकारसे प्रेमपूर्वक रहा जाय तो वह बात विशेष योग्य है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति भिन्नभावको सर्वथा दूर करना योग्य है।

---

३८६ बम्बई, आसोज सुदी ५ शनि. १९४९

आत्माको समाधिस्थ होनेके लिये—आत्मस्वरूपमें स्थिति होनेके लिये—जिस मुखमें सुधारस बरसता है, वह एक अपूर्व आधार है; इसलिये किसी प्रकारसे उसे बीज-ज्ञान भी कहो तो कोई हानि नहीं। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुष जो उससे आगे है, यह जाननेवाला होना चाहिये कि वह ज्ञान आत्मा है।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिलता, यह जाननेवालेका कोई कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह किस समय? वह उसी समय जब कि स्वद्रव्यको द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे यथावस्थित समझ लेनेपर, स्वद्रव्य स्वरूप-परिणामसे परिणमित होकर, अन्य द्रव्यके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होनेपर, कुछ कर्त्तव्य नहीं रहता; ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

---

३८७ बम्बई, आसोज सुदी ९ बुध. १९४९

(१)

खुले पत्रमें सुधारसके विषयमें प्रायः स्पष्ट ही लिखा था, उसे जान-बूझकर लिखा था। ऐसा लिखनेसे उलटा परिणाम आनेवाला नहीं, यह जानकर ही लिखा था। इस बातकी कुछ कुछ चर्चा करनेवाले जीवको यदि वह बात पढ़नेमें आवे तो वह बात उससे सर्वथा निर्धारित हो जाय, यह नहीं हो सकता। परन्तु यह हो सकता है कि 'जिस पुरुषने ये वाक्य लिखे हैं, वह पुरुष किसी अपूर्व मार्गका ज्ञाता है, और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतासे संभव है,' यह जानकर उसकी उस पुरुषके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न हो। कदाचित् ऐसा मान लें कि उसे उस पुरुषविषयक कुछ कुछ ज्ञान हो गया हो, और इस स्पष्ट लेखके पढ़नेसे उसे विशेष ज्ञान होकर, स्वयं अपने आप ही वह निश्चयपर पहुँच जाय, परन्तु वह निश्चय इस तरह नहीं होता। उसके यथार्थ स्थलका जान लेना उससे नहीं हो सकता, और उस कारणसे यदि जीवको विक्षेपकी उत्पत्ति हो कि यह बात किसी प्रकारसे जान ली जाय तो अच्छा है; तो उस प्रकारसे भी, जिस पुरुषने लिखा है उसके प्रति उसकी भावनाकी उत्पत्ति होना संभव है।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना चाहिये कि 'यदि सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टरूपसे भी लिखी गई हो तो भी जिसे उसका परमार्थ—सत्पुरुषका सत्संग—आज्ञांकितरूपसे नहीं हुआ, उसे समझाना कठिन होता है,' इस प्रकार उस पढ़नेवालेको कभी भी स्पष्ट ज्ञान होना संभव है। यद्यपि हमने तो अति स्पष्ट नहीं लिखा था, तो भी उन्हें इस प्रकार कुछ संभव मालूम होता है। परन्तु हम तो ऐसा समझते हैं कि यदि अति स्पष्ट लिखा हो तो भी प्रायः करके समझमें नहीं आता, अथवा विपरीत ही समझमें

आता है, और अन्तमें फिर उसे विक्षेप उत्पन्न होकर सन्मार्गमें भावना होना संभव होता है। इस पत्रमें हमने इच्छापूर्वक ही स्पष्ट लिखा था।

सहज स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थके संबंधमें नहीं लिखा जाता, अथवा नहीं बोला जाता, जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे।

(२)

उस ज्ञानके विषयमें हमारा लिखनेका जो दूसरा आशय है, उसे यहाँ विशेषतासे लिखा है।

(१) जिस ज्ञानी-पुरुषको स्पष्ट आत्माका किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव हुआ है, और जिसकी आत्मा तद्रूप हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषने यदि उस सुधारसका ज्ञान दिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है।

(२) और जो पुरुष उस सुधारसको ही आत्मा जानता है, यदि उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है।

(३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ-परमार्थस्वरूप ज्ञानीने न दिया हो, परन्तु उस ज्ञानी-पुरुषने जीवको इस प्रकार उपदेश किया हो, जिससे वह सन्मार्गके सन्मुख आकर्षित हो, और यदि वह जीवको रुचिकर हुआ हो तो उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहारस्वरूप है।

(४) तथा इसके सिवाय शास्त्र आदिका ज्ञाता जो सामान्यप्रकारसे मार्गानुसारी जैसी उपदेशकी बात करे, उसकी श्रद्धा करना, यह व्यवहार-व्यवहार स्वरूप है। इस तरह सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं।

परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निकट उपाय है। इसके बाद परमार्थ-व्यवहारस्वरूप परंपरा संबंधसे मोक्षका उपाय है। व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत कालमें किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनके कारणभूत होनेका उपाय है। व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका फल आत्मप्रत्ययी होना संभव नहीं। इस बातको फिर किसी प्रसंगपर विशेषरूपसे लिखेंगे, इससे वह विशेषरूपसे समझमें आयेगी। परन्तु यदि इतने संक्षेपसे विशेष समझमें न आवे तो व्याकुल नहीं होना।

जिसे लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप माछ्म हुआ है, उसे ध्यानका यह एकतम उपाय है, जिससे आत्म-प्रदेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। जिसने लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप नहीं जाना, ऐसे मुमुक्षुको यदि ज्ञानी-पुरुषका बताया हुआ ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षण आदिका बोध सुगमतासे होता है। मुखरस और उसका उत्पत्ति-क्षेत्र यह कोई अपूर्व-कारणरूप है, यह तुम निश्चयसे समझना। उसके बादका ज्ञानी-पुरुषका मार्ग जिसे क्लेशरूप न हो, इस प्रकार तुम्हें ज्ञानी-पुरुषका समागम हुआ है, इससे उस प्रकारका निश्चय रखनेके लिये कहा है। यदि उसके बादका मार्ग क्लेशरूप होता हो, और यदि उसमें किसीको अपूर्व-कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयको पीछे हटाना ही उपायरूप है, इस प्रकार हमारी आत्मामें लक्ष रहा करता है।

कोई अज्ञानभावसे पवनकी स्थिरता करता है, परन्तु श्वासोच्छ्वासका निरोध करना उसे कल्याणका हेतु नहीं होता। और कोई ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, तो उसे उस

कारणसे जो स्थिरता आती है, वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। श्वासोच्छ्वासकी स्थिरता होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय एकतार मुखरस करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परन्तु वह सुधारस-स्थिरता अज्ञानभावसे फलीभूत नहीं होती, अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती; तथा उस बीज-ज्ञानका ध्यान भी अज्ञानभावसे कल्याणरूप नहीं होता इतना हमें विशेष निश्चय भासित हुआ करता है। जिसने वेदनरूपसे आत्माको जान लिया है, उस ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और वह आत्माके प्रगट होनेका अत्यंत सुगम उपाय है।

यहाँ एक दूसरी भी अपूर्व बात लिखना सूझती है। आत्मा एक चंदन वृक्षके समान है। उसके पास जो जो वस्तुयें विशेपतासे रहती हैं, वे सब वस्तुयें उसकी सुगंधका विशेप बोध करती हैं। जो वृक्ष चंदनके पासमें होता है, उस वृक्षमें चन्दनकी गंध विशेपरूपसे स्फुरित होती है। जैसे जैसे वृक्ष दूर होता जाता है, वैसे वैसे सुगंध मंद होती जाती है; और अमुक मर्यादाके पश्चात् असुगंधरूप वृक्षोंका वन आरंभ हो जाता है, अर्थात् उनमें चंदनकी सुगंध नहीं रहती। इसी तरह जबतक यह आत्मा विभाव-परिणामका सेवन करती है, तबतक उसे चंदन-वृक्ष कहते हैं, और उसका सबके साथ अमुक अमुक सूक्ष्म वस्तुका संबंध है, उसमें उसकी छायारूप सुगंध विशेप पड़ती है; जिसका ज्ञानीकी आज्ञासे ध्यान होनेसे आत्मा प्रगट होती है।

पवनकी अपेक्षा भी सुधारसमें आत्मा विशेप समीप रहती है, इसलिये उस आत्माकी विशेप छाया-सुगंधका ध्यान करना योग्य उपाय है। यह भी विशेषरूपसे समझने योग्य है।

३८८

बम्बई, आसोज वदी ३, १९४९

ॐ

प्रायः व्याकुलताके समय चित्त व्याकुलताको दूर करनेकी शीघ्रतामें योग्य होता है या नहीं, इस बातकी सहज सावधानी, कदाचित् मुमुक्षु जनको भी कम हो जाती है; परन्तु यह बात योग्य तो इस तरह है कि उस प्रकारके प्रसंगमें कुछ थोड़े समयके लिये चाहे जैसे काम-काजमें उसे मौनके समान—निर्विकल्पकी तरह—कर डालना। व्याकुलताको बहुत लम्बे समयतक कायम रहनेवाली समझ बैठना योग्य नहीं है। और यदि वह व्याकुलता बिना धीरजके सहन की जाती है तो वह अल्पकालीन होनेपर भी अधिक कालतक रहनेवाली हो जाती है; इसलिये इश्वरेच्छा और "यथायोग्य" समझकर मौन रहना ही योग्य है। मौनका अर्थ यह करना चाहिये कि अंतरमें विकल्प और संताप न किया करना।

३८९

बम्बई, आसोज वदी १९४९

ॐ

आतमभावना भावतां, जीव लहे केवलज्ञान रे।

३९०

बम्बई, आसोज वदी १३ रवि. १९४९

आपके समयसारके कवित्तसहित दो पत्र मिले हैं। निराकार-साकार चेतनाविषयक कवित्तका ऐसा अर्थ नहीं है कि उसका सुखरससे कोई संबंध किया जा सके। उसे हम फिर लिखेंगे।

सुद्धता विचारै ध्यावै, सुद्धतामें केलि करै,
सुद्धतामें थिर व्है, अमृतधारा वरसै।

इस कवितामें सुधारसका जो माहात्म्य कहा है, वह केवल एक विस्रसा (सब प्रकारके अन्य परिणामसे रहित असंख्यात-प्रदेशी आत्मद्रव्य) परिणामसे स्वरूपस्थ और अमृतरूप आत्माका वर्णन है।

उसका परमार्थ यथार्थरूपसे हृदयगत है, जो अनुक्रमसे समझमें आयेगा।

३९१

बम्बई, आसोज १९४९

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होई सव्वसो ॥ १ ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥ २ ॥

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफल' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक माल्रम होता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफल' ठीक माल्रम होता है; इसलिये क्या इसमें लेख-दोष रह गया है, या ये गाथायें ठीक हैं? इस प्रश्नका समाधान यह है कि यहाँ लेख-दोष नहीं है। जहाँ सफल शब्द है वहाँ सफल ठीक है, और जहाँ अफल शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफल है—फलसहित है—अर्थात् उसे पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफल है—फलरहित है—उसे फल नहीं भोगना है—अर्थात् उसकी निर्जरा है। एककी (मिथ्यादृष्टिकी) क्रियाका संसारहेतुक सफलपना है, और दूसरेकी (सम्यग्दृष्टिकी) क्रियाका संसारहेतुक अफलपना है—ऐसा परमार्थ समझना चाहिये।

३९२

बम्बई, आसोज १९४९

(१) स्वरूप स्वभावमें है। वह ज्ञानीकी चरण-सेवाके बिना अनंत कालतक प्राप्त न हो, ऐसा कठिन भी है।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे तो वियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निबंधनके किसी महान् प्रतिबंधके उदयमें होने योग्य कारण है।

(२) हे राम! जिस अवसरपर जो प्राप्त हो जाय उसमें संतोषसे रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है, ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

(३) जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा। मनुष्यका काम केवल प्रयत्न करना ही है; और उसीसे जो अपने प्रारब्धमें होगा वह मिल जायगा; इसलिये मनमें संकल्प-विकल्प नहीं करना चाहिये।

निष्काम यथायोग्य.

२७वाँ वर्ष

३९३

वम्बई, कार्त्तिक सु.९ शुक्र. १९५०

" सिरपर राजा है " इतने वाक्यके ऊहापोह (विचार) से गर्भ-श्रीमंत श्रीशालिभद्र, उसी समयसे स्त्री आदिके परिचयके त्याग करनेका प्रारंभ करते हुए।

यह देखकर श्रीधनाभद्रके मुखसे वैराग्यके स्वाभाविक वचन उद्भव होते हुए कि " नित्य प्रति एक एक स्त्रीका त्याग करके अनुक्रमसे वह शालिभद्र वत्तीसों स्त्रियोंका त्याग करना चाहता है। इस प्रकार शालिभद्र वत्तीस दिनतक काल-शिकारीका विश्वास करता है, यह महान् आश्चर्य है। "

यह सुनकर शालिभद्रकी बहिन और धनाभद्रकी पत्नी धनाभद्रके प्रति इस प्रकार सहज वचन कहती हुई कि " आप जो ऐसा कहते हो, यद्यपि वह हमें मान्य है, परन्तु आपको भी उस प्रकारसे त्याग करना कठिन है। " यह सुनकर चित्तमें किसी प्रकारसे क्लेशित हुए विना ही श्रीधनाभद्र उस ही समय त्यागकी शरण लेते हुए, और श्रीशालिभद्रसे कहते हुए कि तुम किस विचारसे कालका विश्वास करते हो? यह सुनकर, जिसका चित्त आत्मरूप हो गया है ऐसा वह श्रीशालिभद्र और धनाभद्र इस प्रकारसे गृह आदिको छोड़कर संसारका त्याग करते हुए कि " मानों किसी दिन उन्होंने अपना कुछ किया ही नहीं। "

इस प्रकारके सत्पुरुषके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव वहुत वर्षोंके आग्रहसे कालका विश्वास कर रहा है, वह कौनसे वलसे करता होगा—यह विचारकर देखना योग्य है।

३९४

वम्बई, मंगसिर सुदी ३, १९५०

वाणीका संयम करना श्रेयरूप है, परन्तु व्यवहारका संवंध इस तरहका रहता है कि यदि सर्वथारूपसे उस प्रकारका संयम रक्खें तो समागममें आनेवाले जीवोंको वह क्लेशका हेतु हो, इसलिये वहुत करके यदि प्रयोजनके सिवाय भी संयम रक्खा जाय, तो उसका परिणाम किसी तरह श्रेयरूप आना संभव है।

जीवके मूढ़भावका फिर फिरसे, प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक समागममें विचार करनेमें यदि सावधानी न रखनेमें आई तो इस प्रकार जो संयोग वना है, वह भी वृथा ही है।

३९५

वम्बई, पौष वदी १४ रवि. १९५०

हालमें विशेषरूपसे नहीं लिखा जाता। उसमें उपाधिकी अपेक्षा चित्तका संक्षेपभाव विशेष कारणरूप है। (चित्तकी इच्छारूपमें किसी प्रवृत्तिका संक्षिप्त हो जाना—न्यून हो जाना—उसे यहाँ संक्षेपभाव लिखा है।)

हमने ऐसा अनुभव किया है कि जहाँ कहीं भी प्रमत्त-दशा हो वहाँ आत्मामें जगत्-प्रत्ययी कामका

अवकाश होना योग्य है। जहाँ सर्वथा अप्रमत्तता है, वहाँ आत्माके सिवाय दूसरे किसी भी भावका अवकाश नहीं रहता। यद्यपि तीर्थंकर आदि सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद किसी तरहकी देह-क्रिया सहित दिखाई देते हैं, परन्तु यदि आत्मा इस क्रियाका अवकाश प्राप्त करे तो ही वह उस क्रियाको कर सकती है। ज्ञान होनेके पश्चात् इस प्रकारकी कोई क्रिया नहीं हो सकती; और तो ही वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान होना योग्य है; यह ज्ञानी पुरुषोंका सन्देहरहित निश्चय है—ऐसा हमें लगता है। जैसे ज्वर आदि रोगमें चित्तको कोई स्नेह नहीं होता, उसी तरह इन भावोंमें भी स्नेह नहीं रहता—लगभग स्पष्ट रूपसे नहीं रहता; और उस प्रकारके प्रतिबंधके रहितपनेका विचार हुआ करता है।

---

३९६ मोहमयी, माघ वदी ४ शुक्र १९५०

तुम्हारा पत्र मिला है। उसके साथ जो प्रश्नोंकी सूची उतारकर भेजी है वह भी मिली है।

उन प्रश्नोंमें जो विचार प्रगट किये हैं, वे पहिले विचार-भूमिकामें विचारने योग्य हैं। जिस पुरुषने वह ग्रंथ बनाया है, उसने वेदांत आदि शास्त्रके अमुक ग्रंथके अवलोकनके ऊपरसे ही वे प्रश्न लिखे हैं। इसमें कोई अत्यन्त आश्चर्यकी बात नहीं लिखी है। इन प्रश्नोंका तथा इस तरहके विचारोंका बहुत समय पहिले विचार किया था, और इस प्रकारके विचारोंका विचार करनेके लिये तुम्हें तथा····को कहा था। तथा दूसरे उस प्रकारके मुमुक्षुको भी इस प्रकारके विचारोंके अवलोकन करनेके विषयमें कहा था, अथवा अब भी कहते हैं, जिन विचारोंके करनेसे अनुक्रमसे सत्-असत्का पूरा विवेक हो सके।

हालमें सात-आठ दिनसे शरीर ज्वरसे ग्रस्त था, अब दो दिनसे ठीक है।

जो कविता भेजी वह मिली है। उसमें आलापिकारूपमें तुम्हारा नाम बताया है, और कविता करनेमें जो कुछ विचक्षणता चाहिये, उसे दिखानेका विचार रक्खा है। कविता ठीक है।

कविताका कवितार्थके लिये आराधन करना योग्य नहीं—संसारार्थके लिये आराधन करना योग्य नहीं। यदि उसका प्रयोजन भगवान्‌के भजनके लिये—आत्मकल्याणके लिये—हो तो जीवको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है। जिस विद्यासे उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ—विवेक नहीं आया, अथवा समाधि नहीं हुई, उस विद्याके विषयमें श्रेष्ठ जीवको आग्रह करना योग्य नहीं है।

हालमें अब प्रायः करके मोतीकी खरीद बंद ही रक्खी है। जो विलायतमें हैं उनको भी क्रम क्रमसे बेच डालनेका विचार कर रक्खा है। यदि यह प्रसंग न होता तो उस प्रसंगमें उत्पन्न होनेवाली जंजाल और उसका उपशमन न होता। अब वह स्वसंवेदनरूपसे अनुभवमें आया है। वह भी एक प्रकारकी प्रारब्धकी निवृत्तिरूप है।

---

३९७ मोहमयी, माघ वदी ९ गुरु. १९५०

यहाँके उपाधि-प्रसंगमें कुछ विशेष सहनशीलतासे रहना पड़े, इस प्रकारकी मौसम होनेके

कारण आत्मामें गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्रायः करके अबसे यदि बने तो नियमितरूपसे कोई सत्संगकी बात लिखना।

---

३९८ बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ रवि. १९५०

बारंबार अरुचि हो जाती है, फिर भी प्रारब्ध-योगसे उपाधिसे दूर नहीं हुआ जा सकता।

(२)

हालमें डेढ़-दो महिने हुए उपाधिके प्रसंगमें विशेष विशेषरूपसे संसारके स्वरूपका वेदन हुआ है। यद्यपि इस प्रकारके अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, फिर भी प्रायः ज्ञानपूर्वक वेदन नहीं किया। इस देहमें और उस पहिलेकी बोध-बीज हेतुवाली देहमें किया हुआ वेदन मोक्ष-कार्यमें उपयोगी है।

---

३९९ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५०

" तीर्थंकरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे विपरीत अर्थात् अकर्मरूप आत्म-स्वरूप कहते हैं। इस प्रकारके भेदसे अज्ञानी और ज्ञानीका स्वरूप है (कहा है) "—सूयगडंसूत्र-वीर्य-अध्ययन।

"जिस कुलमें जन्म हुआ है, और जीव जिसके सहवासमें रहता है, उसमें यह अज्ञानी जीव ममता करता है, और उसीमें निमग्न रहा करता है "—(सूयगडं—प्रथमाध्ययन).

" जो ज्ञानी-पुरुष भूतकालमें हो गये हैं, और जो ज्ञानी-पुरुष भविष्यकालमें होंगे, उन सब पुरुषोंने " शांति " (समस्त विभाव परिणामसे थक जाना—निवृत्त हो जाना) को सब धर्मोंका आधार कहा है। जैसे भूतमात्रको पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् जैसे प्राणीमात्र पृथ्वीके ही आधारसे रहते हैं—प्रथम उनको उसका आधार होना योग्य है—वैसे ही पृथ्वीकी तरह, ज्ञानी-पुरुषोंने सब प्रकारके कल्याणका आधार " शांति " ही कहा है "—(सूयगडं)

---

४०० बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५०

ॐ

(१)

बुधवारको एक पत्र लिखेंगे, नहीं तो रविवारको विस्तारसहित पत्र लिखेंगे, ऐसा लिखा था; उसे लिखते समय चित्तमें यह आया था कि तुम मुमुक्षुओंको कोई नियम जैसी स्थिरता होनी चाहिये, और उस विषयमें कुछ लिखना सूझे तो लिखना चाहिये। लिखते समय ऐसा हुआ कि जो कुछ लिखा जाता है, उसे सत्संगके समागममें विस्तारसे कहना योग्य है, और वह कुछ फलस्वरूप होने योग्य है।

(२)

इतनी बातका निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानी-पुरुष भी प्रारब्ध कर्मके भोगे बिना निवृत्त नहीं होता, और बिना भोगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कोई इच्छा भी नहीं होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे

जीवोंको भी इस तरहके बहुतसे कर्म हैं, जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं—अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। परन्तु दोनोंमें इतना भेद है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति तो मात्र पूर्वोपार्जित कारणसे होती है, और दूसरोंकी प्रवृत्तिका उद्देश भविष्य-संसार है; इसलिये ज्ञानीका प्रारब्ध जुदा ही पड़ता है।

इस प्रारब्धका यह निश्चय नहीं कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदय आये। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण आदि ज्ञानी-पुरुषके प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध होनेपर भी उनकी ज्ञान-दशा थी, जैसे गृहस्थावस्थामें श्रीतीर्थंकर की थी। इस प्रारब्धका निवृत्त होना केवल भोगनेसे ही संभव होता है। ज्ञानी-पुरुषकी प्रारब्ध-स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि जो उसका स्वरूप जाननेके लिये जीवोंको संदेहका हेतु हो, और उसके लिये ज्ञानी-पुरुष प्रायः करके जड़—मौन-दशा रखकर अपने ज्ञानीपनेको अस्पष्ट रखता है। फिर भी प्रारब्धके वशसे यदि वह दशा किसीके स्पष्ट जाननेमें आ जाय, तो फिर उसे उस ज्ञानी-पुरुषका विचित्र प्रारब्ध संदेहका कारण नहीं होता।

---

४०१ बम्बई, फाल्गुन वदी १० शनि. १९५०

श्रीशिक्षापत्र ग्रंथ बाँचने-विचारनेमें हालमें कोई बाधा नहीं है। जहाँ कोई शंकाका हेतु उपस्थित हो वहाँ विचार करना, अथवा कोई प्रश्न पूँछने योग्य हो तो पूँछनेमें कोई प्रतिबंध नहीं है।

सुदर्शन सेठ पुरुषत्वमें था, फिर भी वह रानीके समागममें व्याकुलतासे रहित था। अत्यंत आत्म-बलसे कामके उपशम करनेसे कामेन्द्रियमें अजागृतपना ही संभव होता है। और यदि उस समय रानीने कदाचित् उसकी देहका सहवास करनेकी इच्छा भी की होती, तो भी श्रीसुदर्शनमें कामकी जागृति देखनेमें न आती—ऐसा हमें लगता है।

---

४०२ बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि. १९५०

शिक्षापत्र ग्रंथमें मुख्य भक्तिका प्रयोजन है। भक्तिके आधाररूप विवेक, धैर्य और आश्रय इन तीन गुणोंकी उसमें विशेष पुष्टि की है; उसमें धैर्य और आश्रयका विशेष सम्यक्प्रकारसे प्रतिपादन किया है, जिनका विचार करके मुमुक्षु जीवको उन्हें अपना गुण बनाना चाहिये।

इसमें श्रीकृष्ण आदिके जो जो प्रसंग आते हैं, वे इस प्रकारके हैं कि वे शायद संदेहके हेतु हों, फिर भी उनमें श्रीकृष्णके स्वरूपको समझनेका फेर समझकर उपेक्षित रहना ही योग्य है। मुमुक्षुका प्रयोजन केवल हित-बुद्धिसे बाँचने-विचारनेका ही होता है।

---

४०३ बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि. १९५०

उपाधि दूर करनेके लिये दो प्रकारसे पुरुषार्थ हो सकता है:—एक तो किसी भी व्यापार आदि कार्यसे, और दूसरे विद्या, मंत्र आदि साधनसे। यद्यपि इन दोनोंमें पहिले जीवको अंतरायके दूर होनेकी शक्यता होनी चाहिये। यदि पहिला बताया हुआ पुरुषार्थ किसी तरह बने तो उसे करनेमें

हमें हालमें प्रतिबंध नहीं है, परन्तु दूसरे पुरुपार्थके विषयमें तो सर्वथा उदासीनता ही है; और इसके स्मरणमें आ जानेसे भी चित्तमें खेद हो आता है; इस तरह उस पुरुपार्थके प्रति अनिच्छा ही है।

जितनी आकुलता है उतना ही मार्गका विरोध है, ऐसा ज्ञानी-पुरुप कह गये हैं।

बम्बई, फाल्गुन १९५०

४०४

ॐ

तीर्थंकर बारम्बार नीचे कहा हुआ उपदेश करते थेः—

हे जीव! तुम समझो! सम्यक्प्रकारसे समझो! मनुष्यता मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतियाँ भयसे व्याप्त हैं, ऐसा जानो। अज्ञानसे सद्विवेकका पाना कठिन है, ऐसा समझो। समस्त लोक एकांत दुःखसे जल रहा है, ऐसा मानो। और सब जीव अपने अपने कर्मोंसे विपर्यास भावका अनुभव करते हैं, उसका विचार करो। (सूयगडं अध्ययन ७–१२)

जिसका सर्व दुःखसे मुक्त होनेका विचार हुआ हो, उस पुरुपको आत्माकी गवेपणा करनी चाहिये, और यदि आत्माकी गवेषणा करना हो तो यम, नियम आदि सब साधनोंके आग्रहको अप्रधान करके सत्संगकी गवेषणा एवं उपासना करनी चाहिये। जिसे सत्संगकी उपासना करना हो उसे संसारकी उपासना करनेके आत्मभावका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अपने समस्त अभिप्रायका त्याग करके अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्संगकी आज्ञाकी उपासना करनी चाहिये। तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अवश्य ही सत्संगकी उपासना करता है। इस प्रकार जो सत्संगकी उपासना करता है वह अवश्य ही आत्माकी उपासना करता है, और आत्माकी उपासना करनेवाला सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है। (द्वादशांगीका अखंडसूत्र)।

ऊपर जो उपदेश लिखा है, वह गाथा सूयगडंमें निम्नरूपसे हैः—

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परिया सुवेइ॥

सब प्रकारकी उपाधि, आधि और व्याधिसे यदि मुक्तभावसे रहते हों, तो भी सत्संगमें सन्निविष्ट भक्ति, हमें दूर होना कठिन मालूम होती है। सत्संगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें दिन-रात रहा करती है, फिर भी उदय-योग प्रारब्धसे उस प्रकारका अंतराय रहा करता है। प्रायः करके हमारी आत्मामें किसी बातका खेद उत्पन्न नहीं होता, फिर भी प्रायः करके सत्संगके अंतरायका खेद तो दिन-रात रहा करता है। सर्व भूमि, सब मनुष्य, सब काम, सब बात-चीत आदिके प्रसंग, स्वाभाविकरूपसे अज्ञात जैसे, सर्वथा परके, उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित भासित होते हैं। केवल ज्ञानी-पुरुष, मुमुक्षु पुरुष अथवा मार्गानुसारी पुरुषोंका सत्संग ही ज्ञात, निजका, प्रीतिकर, सुंदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है। इस कारण हमारा मन प्रायः करके अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते तुम जैसे मार्गेच्छावान पुरुषोंमें प्रतिबद्धता प्राप्त करता है।

४०५

बम्बई, फाल्गुन १९५०

ॐ

मुमुक्षु जीवको इस कालमें संसारकी प्रतिकूल दशाओंका प्राप्त होना, वह उसे संसारसे पार होनेके बराबर है। अनंतकालसे अभ्यसित इस संसारके स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल समागममें अधिक होता है, यह बात निश्चय करनी योग्य है।

यदि प्रतिकूल समागम समतापूर्वक सहन किया जाय तो वह जीवको निर्वाणकी समीपताका साधन है।

व्यावहारिक प्रसंगोंकी नित्य चित्र-विचित्रता है। उसकी ऐसी स्थिति है कि उसमें केवल कल्पनासे ही सुख और कल्पनासे ही दुःख है। अनुकूल कल्पनासे वह अनुकूल भासित होता है, प्रतिकूल कल्पनासे वह प्रतिकूल भासित होता है; और ज्ञानी-पुरुषोंने ये दोनों ही कल्पनायें करनेकी मना की है। विचारवानको शोक करना ठीक नहीं—ऐसा श्रीतीर्थंकर कहते थे।

४०६

बम्बई, फाल्गुन १९५०

(१)

अनन्य शरणके देनेवाले श्रीसद्गुरुदेवको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो.

जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वरूपको पा लिया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषोंने नीचे कहे हुए छह पदोंको सम्यग्दर्शनके निवासका सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है:—

प्रथम पद:—'आत्मा है'। जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं वैसे ही आत्मा भी है। अमुक गुणोंके होनेके कारण जैसे घट, पट आदिके होनेका प्रमाण मिलता है, वैसे ही जिसमें स्व-पर-प्रकाशक चैतन्य सत्ताका प्रत्यक्ष गुण मौजूद है, ऐसी आत्माके होनेका भी प्रमाण मिलता है।

दूसरा पद:—'आत्मा नित्य है'। घट, पट आदि पदार्थ अमुक कालमें ही रहते हैं। आत्मा त्रिकालवर्त्ती है। घट, पट आदि संयोगजन्य पदार्थ हैं। आत्मा स्वाभाविक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिये कोई भी संयोग अनुभवमें नहीं आता। किसी भी संयोगी द्रव्यसे चेतन-सत्ता प्रगट होने योग्य नहीं है, इसलिये वह अनुत्पन्न है। वह असंयोगी होनेसे अविनाशी है, क्योंकि जिसकी किसी संयोगसे उत्पत्ति नहीं होती, उसका किसीमें नाश भी नहीं होता।

तीसरा पद:—'आत्मा कर्त्ता है'। सब पदार्थ अर्थ-क्रियासे संपन्न हैं। सभी पदार्थोंमें कुछ न कुछ क्रियासहित परिणाम देखनेमें आता है। आत्मा भी क्रिया-संपन्न है। क्रिया-संपन्न होनेके कारण वह कर्त्ता है। श्रीजिनभगवान्‌ने इस कर्त्तापनेका तीन प्रकारसे विवेचन किया है:—परमार्थसे आत्मा स्वभाव-परिणतिसे निजस्वरूपका कर्त्ता है। अनुपचरित (अनुभवमें आने योग्य—विशेष संबंधसहित) व्यवहारसे आत्मा द्रव्य-कर्मका कर्त्ता है। उपचारसे आत्मा घर नगर आदिका कर्त्ता है।

चौथा पद:—'आत्मा भोक्ता है'। जो जो कुछ क्रियायें होती हैं, वे सब किसी प्रयोजनपूर्वक

ही होती हैं—निरर्थक नहीं होती । जो कुछ भी किया जाता है उसका फल अवश्य भोगनेमें आता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है । जिस तरह विष खानेसे विषका फल, मिश्री खानेसे मिश्रीका फल, अग्निके स्पर्श करनेसे अग्नि-स्पर्शका फल, हिमके स्पर्श करनेसे हिम-स्पर्शका फल मिले विना नहीं रहता, उसी तरह कषाय आदि अथवा अकषाय आदि जिस किसी परिणामसे भी आत्मा प्रवृत्ति करती है, उसका फल भी मिलना योग्य ही है, और वह मिलता है । उस क्रियाका कर्त्ता होनेसे आत्मा भोक्ता है ।

पाँचवाँ पदः—' मोक्षपद है ' । जिस अनुपचरित-व्यवहारसे जीवके कर्मका कर्तृत्व निरूपण किया और कर्तृत्व होनेसे भोक्तृत्व निरूपण किया, वह कर्म दूर भी अवश्य होता है; क्योंकि प्रत्यक्ष कषाय आदिकी तीव्रता होनेपर भी उसके अनभ्याससे—अपरिचयसे—उसके उपशम करनेसे—उसकी मंदता दिखाई देती है—वह क्षीण होने योग्य मालूम होता है—क्षीण हो सकता है । उस सब बंध-भावके क्षीण हो सकने योग्य होनेसे उससे रहित जो शुद्ध आत्मभाव है, उसरूप मोक्षपद है ।

छट्ठा पदः—' उस मोक्षका उपाय है ' । यदि कचित् ऐसा हो कि हमेशा कर्मोंका बंध ही बंध हुआ करे, तो उसकी निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती । परन्तु कर्मबंधसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं; जिस साधनके बलसे कर्म-बंध शिथिल होता है—उपशम होता है—क्षीण होता है; इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्ष-पदके उपाय हैं ।

—

श्रीज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्यग्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है । समीप-मुक्तिगामी जीवको स्वाभाविक विचारमें ये पद प्रामाणिक होने योग्य हैं—परम निश्चयरूप जानने योग्य हैं, उसकी आत्मामें उनका सम्पूर्णरूपसे विस्तारसहित विवेक होना योग्य है । ये छह पद संदेहरहित हैं, ऐसा परम पुरुषने निरूपण किया है । इन छह पदोंका विवेक जीवको निजस्वरूप समझनेके लिये कहा है । अनादि स्वप्न-दशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके अहंभाव-ममत्वभावको दूर करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने इन छह पदोंकी देशना प्रकाशित की है । एक केवल अपना ही स्वरूप उस स्वप्नदशासे रहित है, यदि जीव ऐसा विचार करे तो वह सहजमात्रमें जागृत होकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हो; सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर निज स्वभावरूप मोक्षको प्राप्त करे । उसे किसी विनाशी, अशुद्ध और अन्यभावमें हर्ष, शोक और संयोग उत्पन्न न हो, उस विचारसे निज स्वरूपमें ही निरन्तर शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशीपना, अत्यंत आनन्दपना उसके अनुभवमें आता है । समस्त विभाव पर्यायोंमें केवल अपने ही अध्याससे एकता हुई है, उससे अपनी सर्वथा भिन्नता ही है, यह उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रत्यक्ष—अपरोक्ष अनुभव होता है । विनाशी अथवा अन्य पदार्थके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्ट-भाव प्राप्त नहीं होता । जन्म, जरा, मरण, रोग आदिकी बाधारहित, सम्पूर्ण माहात्म्यके स्थान ऐसे निज-स्वरूपको जानकर—अनुभव करके—वह कृतार्थ होता है । जिन जिन पुरुषोंको इन छह पदोंके प्रमाणभूत ऐसे परम पुरुषके वचनसे आत्माका निश्चय हुआ है, उन सब पुरुषोंने सर्व स्वरूपको पा लिया है वे आधि, व्याधि, उपाधि और सर्वसंगसे रहित हो गये हैं, होते हैं, और भविष्यमें भी वैसे ही होंगे ।

जिन सत्पुरुषोंने जन्म, जरा, और मरणका नाश करनेवाला, निज स्वरूपमें सहज-अवस्थान होनेका उपदेश दिया है, उन सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है । उनकी निष्कारण करुणासे

नित्य प्रति निरंतर स्तवन करनेसे भी आत्म-स्वभाव प्रगटित होता है। ऐसे सब सत्पुरुष और उनके चरणारविंद सदा ही हृदयमें स्थापित रहो!

जिसके वचन अंगीकार करनेपर, छह पदोंसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमें ही प्रगटित होता है, जिस आत्म-स्वरूपके प्रगट होनेसे सर्वकालमें जीव संपूर्ण आनंदको प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उस वचनके कहनेवाले ऐसे सत्पुरुषके गुणोंकी व्याख्या करनेकी हममें असामर्थ्य ही है। क्योंकि जिसका कोई भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ऐसे परमात्मभावको, उसने किसी भी इच्छाके बिना, केवल निष्कारण करुणासे ही प्रदान किया है। तथा ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको 'यह मेरा शिष्य है, अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है' इस तरह कभी भी नहीं देखा—ऐसे सत्पुरुषको अत्यंत भक्तिसे फिर फिरसे नमस्कार हो!

जिन सत्पुरुषोंने जो सद्गुरुकी भक्ति निरूपण की है, वह भक्ति केवल शिष्यके कल्याणके लिये ही कही है। जिस भक्तिके प्राप्त होनेसे सद्गुरुकी आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्ण गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छंद दूर हो, और सहजमें आत्म-बोध मिले, यह समझकर जिसने भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको और उन सत्पुरुषोंको फिर फिरसे त्रिकाल नमस्कार हो!

यद्यपि कभी प्रगटरूपसे वर्त्तमानमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचनके विचार-योगसे केवलज्ञान शक्तिरूपसे मौजूद है, यह स्पष्ट जान लिया है—इस प्रकार श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है—विचार-दशासे केवलज्ञान हुआ है—इच्छा-दशासे केवलज्ञान हुआ है—मुख्य नयके हेतुसे केवल-ज्ञान रहता है, जिसके संयोगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको, सहज-मात्रमें पानेके योग्य हुआ है, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो! नमस्कार हो!

(२)

सम्यग्दर्शनस्वरूप श्रीजिनके उपदेश किये हुए निम्न लिखित छह पदोंका आत्मार्थी जीवको अति-शयरूपसे विचार करना योग्य है।

आत्मा है, क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध है—यह अस्तिपद।

आत्मा नित्य है—यह नित्यपद। आत्माके स्वरूपका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना और विनाश होना संभव नहीं।

आत्मा कर्मका कर्त्ता है—यह कर्त्तापद।

आत्मा कर्मका भोक्ता है।

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे साधन निश्चित हैं।

४०७

बम्बई, चैत्र सुदी १९५०

ॐ

हालमें यहाँ बाह्य उपाधि कुछ कम रहती है। तुम्हारे पत्रमें जो प्रश्न लिखे हैं, उनका समाधान नीचे लिखा है, विचार करना।

पूर्वकर्म दो प्रकारके हैं। अथवा जीवसे जो जो कर्म किये जाते हैं, वे दो प्रकारसे किये जाते हैं। एक कर्म इस तरहके हैं कि उनकी काल आदिकी जिस तरह स्थिति है, वह उसी प्रकारसे भोगी जा सके। दूसरे कर्म इस प्रकारके हैं कि जो कर्म ज्ञानसे—विचारसे—निवृत्त हो सकते हों। ज्ञानके होनेपर भी जिस तरहके कर्मोंको अवश्य भोगना चाहिये, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे हैं; और जो ज्ञानसे दूर हो सकते हैं, वे दूसरे प्रकारके कर्म हैं।

केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है। उस देहका रहना कोई केवलज्ञानीकी इच्छासे नहीं, परन्तु प्रारब्धसे होता है। इतना सम्पूर्ण ज्ञान-बल होनेपर भी उस देहकी स्थितिके वेदन किये बिना केवलज्ञानी भी नहीं छूट सकता, ऐसी स्थिति है। यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानी-पुरुष इच्छा नहीं करता, परन्तु यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी-पुरुषको भी वह कर्म भोगना योग्य है। तथा अंतराय आदि अमुक कर्मकी इस प्रकारकी व्यवस्था है कि वह ज्ञानी-पुरुषको भी भोगनी योग्य है; अर्थात् ज्ञानी-पुरुष भी उस कर्मको भोगे बिना निवृत्त नहीं कर सकता। सब प्रकारके कर्म इसी तरहके हैं कि वे फलरहित नहीं जाते; केवल उनकी निवृत्तिके क्रममें ही फेर होता है।

एक कर्म तो जिस प्रकारसे स्थिति वगैरहका बंध किया है, उसी प्रकारसे भोगने योग्य होता है। दूसरा कर्म ऐसा होता है, जो जीवके ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होता है। ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मकी निवृत्ति ज्ञानी-पुरुष भी करते हैं; परन्तु भोगने योग्य कर्मको ज्ञानी-पुरुष सिद्धि आदि प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा न करे, यह संभव है।

कर्मको यथायोग्यरूपसे भोगनेमें ज्ञानी-पुरुषको संकोच नहीं होता। कोई अज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा समझनेवाला जीव कदाचित् भोगने योग्य कर्मको भोगना न चाहे, तो भी छुटकारा तो भोगनेपर ही होता है, ऐसा नियम है। तथा यदि जीवका किया हुआ कृत्य बिना भोगे ही फलरहित चला जाता हो, तो फिर बंध-मोक्षकी व्यवस्था भी कहाँसे बन सकती है ?

जो वेदनीय आदि कर्म हों तो उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि कदाचित् अनिच्छा होती हो तो चित्तमें खेद हो कि जीवको देहाभिमान है; उससे उपार्जित कर्म भोगते हुए खेद होता है, और उससे अनिच्छा होती है।

मंत्र आदिसे, सिद्धिसे और दूसरे उस तरहके अमुक कारणोंसे अमुक चमत्कारका हो सकना असंभव नहीं है। फिर भी जैसे हमने ऊपर बताया है वैसे भोगने योग्य जो 'निकाचित कर्म' हैं वे किसी भी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते। कचित् अमुक 'शिथिल कर्म' की निवृत्ति होती है, परन्तु ऐसा नहीं है कि वह कुछ उपार्जित करनेवालेके वेदन किये बिना निवृत्त हो जाता है; आकृतिके फेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक इस प्रकारका 'शिथिल कर्म' होता है कि जिसमें अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाय। उस तरहके कर्मका उन मंत्र आदिमें स्थिरताके संबंधसे निवृत्त होना संभव है। अथवा किसीके किसी पूर्वलाभका कोई इस प्रकारका बंध होता है जो केवल उसकी थोड़ीसी ही कृपासे फलीभूत हो जाय—यह भी एक सिद्धि जैसा है। तथा यदि कोई अमुक मंत्र आदिके प्रयत्नमें हो, और अमुक पूर्वांतरायके नष्ट होनेका प्रसंग समीपमें हो, तो भी मंत्र आदिसे कार्यकी सिद्धिका होना माना

जा सकता है; परन्तु इस बातमें कुछ थोड़ा भी चित्त होनेका कारण नहीं। यह निष्फल बात है। इसमें आत्माके कल्याणका कोई मुख्य प्रसंग नहीं है। ऐसी कथा मुख्य प्रसंगकी विस्मृतिका ही कारण होती है, इसलिये उस प्रकारके विचारके अथवा खोजके निर्णय करनेकी इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका त्याग करना ही उत्तम है; और उसके त्याग होनेपर उसका सहजमें निश्चय हो जाता है।

जिससे आत्मामें विशेष आकुलता न हो वैसे रहना। जो होने योग्य होगा वह तो होकर रहेगा, और आकुलता करनेसे भी जो होने योग्य होगा वह तो अवश्य होगा, उसके साथ आत्मा भी अपराधी बनेगी।

---

४०८ बम्बई, चैत्र वदी ११ भौम. १९५०

जिस कारणके विषयमें लिखा था, चित्त अभी उस कारणके विचारमें है; और अभीतक उस विचारके चित्तके समाधानरूप अर्थात् पूर्ण न हो सकनेसे तुम्हें पत्र नहीं लिखा। तथा कोई प्रमाद-दोष जैसा कोई प्रसंग-दोष रहा करता है, जिसके कारण कुछ भी परमार्थकी बात लिखनेके संबंधमें चित्त घबड़ाकर लिखते हुए एकदम रुक जाता है। तथा जिस कार्यकी प्रवृत्ति रहती है, उस कार्यकी प्रवृत्तिमें और अपरमार्थके प्रसंगमें मानों मेरेसे यथायोग्य उदासीन बल नहीं होता। ऐसा लगनेसे, अपने दोषके विचारमें पड़ जानेसे पत्र लिखना रुक जाता है; और प्रायः करके उस विचारका समाधान नहीं हुआ, ऐसा जो ऊपर लिखा है, उसका यही कारण है।

यदि किसी भी प्रकारसे बने तो इस कष्टरूप संसारमें अधिक व्यवसाय न करना—सत्संग करना ही योग्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि जीवको मूलरूपसे देखते हुए यदि मुमुक्षुता आई हो तो नित्य प्रति उसका संसार-बल घटता ही जाय। संसारमें धन आदि संपत्तिका घटना या न घटना तो अनियत है, किन्तु संसारके प्रति जीवकी जो भावना है वह यदि मंद होती चली जाय, तो वह अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो। इस कालमें प्रायः करके यह बात देखनेमें नहीं आती। किसी भिन्न स्वरूपमें मुमुक्षुको और किसी भिन्न ही स्वरूपमें मुनि वगैरहको देखकर विचार आता है कि इस प्रकारके संगसे जीवकी ऊर्ध्व-दशा होना योग्य नहीं, किन्तु अधोदशा होना ही योग्य है। फिर जिसे सत्संगका कुछ समागम हुआ है, काल-दोषसे ऐसे जीवकी व्यवस्थाको भी पलटनेमें देर नहीं लगती। इस प्रकार स्पष्ट देखकर चित्तमें खेद होता है; और अपने चित्तकी व्यवस्था देखकर मुझे भी ऐसा होता है कि मुझे किसी भी प्रकारसे यह व्यवसाय करना योग्य नहीं—अवश्य योग्य नहीं। जरूर—अत्यंत जरूर—इस जीवका कुछ प्रमाद है; नहीं तो जिसे प्रगटरूपसे जान लिया है, ऐसे जहरको पीनेमें जीवकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? अथवा यदि ऐसा न हो तो फिर उसमें उदासीन प्रवृत्ति ही हो। तो भी उस प्रवृत्तिकी अब यदि किसी प्रकारसे भी समाप्ति हो तो यह होने योग्य है, नहीं तो जरूर किसी भी प्रकारसे जीवका ही दोष है। अधिक नहीं लिखा जा सकता, इससे चित्तमें खेद होता है। अथवा तो प्रगटरूपसे किसी मुमुक्षुको, इस जीवका दोष भी जितनी प्रकारसे बने उतनी प्रकारसे प्रकट करके, जीवका उतना तो खेद दूर करना चाहिये, और उस प्रकट दोषकी परिसमाप्तिके लिये उसके संगरूप उपकारकी इच्छा करना चाहिये।

ग्रह जाननमें आया भी हो, तो जिससे उस पहिचानमें भ्रांति हो, वैसा व्यवहार जो उस सत्पुरुषमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उस भ्रांतिके निवृत्त होनेके लिये मुमुक्षु जीवको उस पुरुषको किस प्रकारसे पहिचानना चाहिये, जिससे उस उस तरहके व्यवहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञान-स्वरूपता उसके लक्षमें रहे ?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि संयोगके प्रति उदासीन भाव रहता है, अर्थात् जिसे तथारूप संयोगोंमें अहंता-ममताभाव नहीं होता, अथवा वह भाव जिसका परिक्षीण हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको 'अनंतानुबंधी प्रकृतिसे रहित मात्र प्रारब्धके उदयसे ही जो व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको संदेहका कारण होकर उसके उपकारभूत होनेमें निरोधरूप होता हो, उसे वह ज्ञानी-पुरुष जानता है, और उसके लिये भी परिग्रह संयोग आदि प्रारब्धोदय व्यवहारकी क्षीणताकी ही इच्छा करता है; वैसा होनेतक उस पुरुषने किस प्रकारसे वर्ताव किया हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुके उपकार होनेमें हानि न हो ?

५९४

ववाणीआ, वैशाख वदी ६ रवि. १९५२

आर्य श्रीमाणेकचंद आदिके प्रति, श्रीस्तंभतीर्थ.

श्रीसुंदरलालके वैशाख वदी १ को देह छोड़ देनेकी जो खबर लिखी है, वह बाँची है। अधिक समयकी माँदगीके बिना ही युवावस्थामें अकस्मात् देह छोड़ देनेके कारण, उसे सामान्यरूपसे पहिचाननेवाले लोगोंको भी उस बातसे खेद हुए बिना न रहे, तो फिर जिसने कुटुम्ब आदि सम्बन्धके स्नेहसे उसमें मूर्च्छा की हो, जो उसके सहवासमें रहा हो, जिसने उसके प्रति आश्रय-भावना रक्खी हो, उसे खेद हुए बिना कैसे रह सकता है ? इस संसारमें मनुष्य-प्राणीको जो खेदके अकथनीय प्रसंग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अकथनीय प्रसंगोंमेंका यह एक महान् खेदकारक प्रसंग है। उस प्रसंगमें यथार्थ विचारवान पुरुषोंके सिवाय सभी प्राणी विशेष खेदको प्राप्त होते हैं; और यथार्थ विचारवान पुरुषोंको विशेष वैराग्य होता है—उन्हें संसारकी अशरणता, अनित्यता और असारता विशेष दृढ़ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभावसे खेद करना, वह मात्र कर्म-बंधका हेतु भासित होता है; और वैराग्यरूप खेदसे कर्म-संगकी निवृत्ति भासित होती है, और वह सत्य है। मूर्च्छा-भावसे खेद करनेसे भी जिस संबंधीका वियोग हो गया है उसकी फिरसे प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचार दशाका फल है, ऐसा विचारकर विचारवान पुरुष उस मूर्च्छाभावप्रत्ययी खेदको शान्त करते हैं, अथवा प्रायः करके वैसा खेद उन्हें नहीं होता। किसी भी तरह उस खेदका हितकारी-पना देखनेमें नहीं आता, और आकस्मिक घटना खेदका निमित्त होती है, इसलिये वैसे अवसरपर विचारवान पुरुषोंको, जीवको हितकारी खेद ही उत्पन्न होता है। सर्व संगकी अशरणता, अबंधुता, अनित्यता, और तुच्छता तथा अन्यत्वपना देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि 'हे जीव ! तुझमें कुछ भी इस संसारविषयक उदय आदि भावसे मूर्च्छा रहती हो तो उसे त्याग कर‥‥‥त्याग कर, उस मूर्च्छाका कुछ भी फल नहीं है। उस संसारमें कभी भी शरणत्व आदि भाव प्राप्त होनेवाला नहीं, और अविचारभावके बिना उस संसारमें मोह होना योग्य नहीं; जो मोह अनंत जन्म मरण और प्रत्यक्ष खेदका हेतु है, दुःख और क्लेशका बीज है, उसे शांत कर—उसको क्षय कर। हे जीव ! इसके

यह निश्चय केवल सत्पुरुषको ठगनेके ही बराबर है। यद्यपि सत्पुरुष तो आकांक्षारहित हैं, अर्थात् उसका ठगा जाना संभव नहीं, परन्तु इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले जीव अवश्य अपराधी होते हैं।

इस बातपर बारम्बार तुम्हारे तथा तुम्हारे समागमकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओंको लक्ष रखना चाहिये।

यह बात कठिन है इसलिये नहीं हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षुओंको अहितकारी है और त्याज्य है।

---

४१० बम्बई, चैत्र वदी १४ शुक्र. १९५०

उपदेशकी आकांक्षा रहा करती है। उस प्रकारकी आकांक्षा मुमुक्षु जीवको हितकारी है—जागृतिका विशेष हेतु है। ज्यों ज्यों जीवमें त्याग, वैराग्य और आश्रय-भक्तिका बल बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सत्पुरुषके वचनका अपूर्व और अद्भुत स्वरूप भासित होता है; और बंध-निवृत्तिके उपाय सहजमें ही सिद्ध हो जाते हैं। यदि प्रत्यक्ष सत्पुरुषके चरणारविंदका संयोग कुछ समयतक रहे तो फिर उसके वियोगमें भी त्याग, वैराग्य और आश्रय-भक्तिकी बलवान धारा रहती है; नहीं तो मिथ्या देश, काल, संग आदिके संयोगसे सामान्य वृत्तिके जीव, त्याग, वैराग्य आदिके बलमें नहीं बढ़ सकते, अथवा मंद पड़ जाते हैं, अथवा उसका सर्वथा नाश ही कर देते हैं।

---

४११ बम्बई, वैशाख सुदी १ रवि. १९५०

योगवासिष्ठके पढ़नेमें हानि नहीं है। आत्माको संसारका स्वरूप कारागृहकी तरह बारम्बार प्रतिक्षण भासित हुआ करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। योगवासिष्ठ आदि जो जो ग्रंथ उस कारणके पोषक हैं, उनके विचार करनेमें हानि नहीं है। मूल बात तो यह है कि जीवको वैराग्य आनेपर भी जो उसकी अत्यंत शिथिलता है—ढीलापन है, उसे दूर करना, उसे अत्यंत कठिन मालूम होता है; और चाहे जिस तरहसे भी हो, प्रथम इसे ही दूर करना योग्य है।

---

४१२ बम्बई, वैशाख सुदी ९ रवि. १९५०

जिस व्यवसायसे जीवकी भाव-निद्रा न घटती हो, उस व्यवसायको यदि किसी प्रारब्धके योगसे करना पड़ता हो तो उसे फिर फिर पीछे हटकर, 'मैं महान् भयंकर हिंसायुक्त हुए कामको ही क्रिया करता हूँ', इस प्रकारसे फिर फिरसे विचारकर और 'जीवमें ढीलेपनसे ही प्रायः करके मुझे यह प्रतिबंध है', यह फिर फिरसे निश्चय करके, जितना बने उतना व्यवसायको कम करते हुए प्रवृत्ति हो, तो बोधका सफल होना संभव है।

---

४१३ बम्बई, वैशाख सुदी ९ रवि. १९५०

यहाँ उपाधिरूप व्यवहार रहता है। प्रायः आत्म-समाधिकी स्थिति रहती है; तो भी व्यवहारके प्रतिबंधसे छूटनेकी बात बारम्बार स्मृतिमें आया करती है। उस प्रारब्धकी निवृत्ति होनेतक तो व्यवहारका प्रतिबंध रहना योग्य है, इसलिये समचित्तपूर्वक स्थिति रहती है।

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथका बाँचन होता हो तो वह हितकारी है। जिनागममें 'भिन्न भिन्न' आत्मा मानकर परिणाममें 'अनंत आत्मायें' कहीं हैं; और वेदांतमें उसे 'भिन्न भिन्न' कहकर 'जो सर्वत्र चेतन-सत्ता दिखाई देती है वह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है' ऐसा प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही बातें मुमुक्षु पुरुषको जरूर विचार करने योग्य हैं, और यथाशक्ति इन्हें विचारकर निश्चय करना योग्य है, यह बात निःसन्देह है। परन्तु जबतक प्रथम वैराग्य और उपशमका बल जीवमें दृढ़रूपसे न आया हो, तबतक उस विचारसे चित्तका समाधान होनेके बदले उलटी चंचलता ही होती है, और उस विचारका निर्णय नहीं होता। तथा चित्त विक्षिप्त होकर बादमें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको धारण नहीं कर सकता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जो इस प्रश्नका समाधान किया है कि उसे समझनेके लिये इस जीवमें वैराग्य-उपशम और सत्संगके बलको हालमें तो बढ़ाना ही योग्य है—इस प्रकार विचार करके जीवमें वैराग्य आदि बल बढ़ानेके साधनोंका आराधन करनेके लिये नित्य प्रति विशेष पुरुषार्थ करना योग्य है।

विचारकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् वर्धमानस्वामी जैसे महात्मा पुरुषने भी फिर फिरसे विचार किया कि इस जीवके अनादि कालसे चारों गतियोंमें अनंतानंतवार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-मरण आदि स्थिति क्षीण नहीं होती। उसका अब किस प्रकारसे क्षय करना चाहिये? और ऐसी कौनसी भूल इस जीवकी रहती आई है कि जिस भूलका अबतक परिणमन होता रहा है? इस प्रकारसे फिर फिर अत्यंत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवान्‌ने देखी है, वह जिनागममें जगह जगह कही है; जिस भूलको समझकर मुमुक्षु जीव उससे रहित हो सके। जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनंत विशेष लगती है, परन्तु सबसे पहिले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, जिस भूलके विचार करनेसे सब भूलोंका विचार होता है, और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं। कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे, तो भी वह करना योग्य है, और उस प्रकारकी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छाका मूल ही भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।

शास्त्रमें जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकारसे विचार करने योग्य है:—एक उपदेश-ज्ञान और दूसरा सिद्धांत-ज्ञान। 'जन्म-मरण आदि क्लेशयुक्त इस संसारका त्याग करना ही योग्य है; अनित्य पदार्थोंमें विवेकी पुरुषको रुचि नहीं करनी चाहिये; माता, पिता, स्वजन आदि सबका स्वार्थरूप संबंध होनेपर भी, यह जीव उस जंजालका ही आश्रय लिया करता है, यही उसका अविवेक है; प्रत्यक्षरूपसे इस संसारके त्रिविध तापरूप मालूम होते हुए भी मूर्ख जीव उसीमें विश्रांति चाहता है; परिग्रह, आरंभ और संग—ये सब अनर्थोंके हेतु हैं', इत्यादि शिक्षा उपदेश-ज्ञान है। 'आत्माका अस्तित्व, नित्यता, एकत्व अथवा अनेकत्व, बंध आदि भाव, मोक्ष, आत्माकी सब प्रकारकी अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्था' इत्यादि बातोंको जिस प्रकारसे दृष्टांतोंसे सिद्ध किया जाता है, वह सिद्धांत-ज्ञान है।

मुमुक्षु जीवको प्रथम तो वेदांत और जिनागम इन सबका अवलोकन उपदेशकी ज्ञान-प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये; क्योंकि 'सिद्धांत-ज्ञान' जिनागम और वेदांतमें भिन्न भिन्न दिखाई देता है; और उस भिन्नताको देखकर मुमुक्षु जीव अंदेशा—शंका करता है; और यह शंका चित्तमें असमाधि

पैदा करती है। इस प्रकार प्रायः होना योग्य ही है; क्योंकि 'सिद्धांत-ज्ञान' तो जीवके किसी अत्यंत उज्वल क्षयोपशम होनेपर और सद्गुरुके वचनकी आराधनासे उद्भूत होता है। 'सिद्धांत-ज्ञान'का कारण 'उपदेश-ज्ञान' है। पहिले सद्गुरु अथवा सत्शास्त्रसे जीवमें इस उपदेश-ज्ञानका दृढ़ होना योग्य है, जिस उपदेश-ज्ञानका फल वैराग्य और उपशम है। वैराग्य और उपशमका बल बढ़नेसे जीवमें स्वाभाविक क्षयोपशमकी निर्मलता होती है; और यह सहज हीमें सिद्धांत-ज्ञान होनेका कारण होता है। यदि जीवमें. असंग-दशा आ जाय तो आत्मस्वरूपका समझना सर्वथा सुलभ हो जाता है; और उस असंग-दशाका हेतु वैराग्य-उपशम है; जो फिर फिरसे जिनागममें तथा वेदांत आदि बहुतसे शास्त्रोंमें कहा गया है—विस्तारसे गया है। इसलिये निःसंशयरूपसे वैराग्य-उपशमके कारण योगवासिष्ट आदि सद्ग्रंथ विचारने चाहिये।

हमारे पास आनेमें किसी किसी प्रकारसे तुम्हारे परिचयी श्री····का मन रुकता था, और उस तरहकी रुकावट होना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रारब्धके वशसे हमें ऐसा व्यवहारका उदय रहता है कि हमारे विषयमें सहज ही शंका उत्पन्न हो जाय; और उस प्रकारके व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने धर्मसंबंधी संगमें लौकिक—लोकोत्तर प्रकारसे परिचय नहीं किया, जिससे लोगोंको हमारे इस व्यंव-हारके समागमका विचार करनेका कम अवसर उपस्थित हो। तुमसे अथवा श्री····से अथवा किसी दूसरे मुमुक्षुसे यदि हमने कोई भी परमार्थकी बात की हो तो उसमें परमार्थके सिवाय कोई दूसरा कारण नहीं है। इस संसारके विषम और भयंकर स्वरूपको देखकर हमें उसकी निवृत्तिके विषयमें बोध हुआ है, जिस बोधसे जीवमें शांति आकर समाधि-दशा हुई है; वह बोध इस जगत्में किसी अनंत पुण्यके योगसे ही जीवको प्राप्त होता है—ऐसा महात्मा पुरुष फिर फिरसे कह गये हैं। इस दुःषमकालमें अंधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आवरण-प्राप्त होने जैसा हो गया है। उस कालमें हमें देह-योग मिला, इससे किसी तरह खेद होता है; फिर भी परमार्थसे उस खेदका समाधान किया है। परन्तु उस देह-योगमें कभी कभी किसी मुमुक्षुके प्रति लोक-मार्गके प्रतीकारको फिर फिरसे कहनेका मन होता है; जिसका संयोग तुम्हारे और श्री·······के संबंधमें सहज ही हो गया है। परन्तु उससे तुम हमारे कथनको मान्य करो, इस आग्रहके लिये कुछ भी कहना नहीं होता। केवल हितकारी जानकर ही उस बातका आग्रह हुआ करता है, अथवा होता है—यदि इतना लक्ष रहे तो किसी तरह संगका फल मिलना संभव है।

जैसे बने तैसे जीवको अपने दोषके प्रति लक्ष करके दूसरे जीवोंके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करना, और जिससे वैराग्योपशमका आराधन हो वैसा करना, यह स्मरण करने योग्य पहिली बात है।

(२)

एक चैतन्यमें यह सब किस तरह घटता है?

---

४१४ बम्बई, वैशाख वदी ७, रवि. १९५०

प्रायः जिनागममें 'सर्वविरति' साधुको पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वैसी सर्वविरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार आदि लिखना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधारणतया शास्त्रका उपदेश है, और वह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मालूम होता है; फिर भी जिनागमकी रचना पूर्वापर अविरुद्ध मालूम होती है, और उस अविरोधकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदिके लिखनेकी आज्ञा भी किसी प्रकारसे जिनागममें है। उसे तुम्हारे चित्तके समाधान होनेके लिये यहाँ संक्षेपसे लिखता हूँ।

जिनभगवान्‌की जो जो आज्ञायें हैं वे सब आज्ञायें, जिस तरह सर्व प्राणी अर्थात् जिनकी आत्माके कल्याणके लिये कुछ इच्छा है उन सबको, वह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण वृद्धिंगत हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई है। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके संयोगसे न पल सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतीर्थंकरने दूसरी आज्ञा की है।

जिसने सर्वविरति की है ऐसे मुनिको सर्वविरति करनेके समयके अवसरपर "सव्वाई पाणाईवायं पच्चक्खामि, सव्वाई मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वाई अदत्तादाणाई पच्चक्खामि, सव्वाई मेहुणाई पच्चक्खामि, सव्वाई परिग्गहाई पच्चक्खामि" इस उद्देश्यके वचनोंको बोलनेके लिये कहा है। अर्थात् 'सर्व प्राणातिपातसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मृषावादसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके अदत्तादानसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्व प्रकारके मैथुनसे मैं निवृत्त होता हूँ,' और 'सर्व प्रकारके परिग्रहसे मैं निवृत्त होता हूँ,' (सब प्रकारके रात्रि-भोजनसे तथा दूसरे उस उस तरहके कारणोंसे मैं निवृत्त होता हूँ—इस प्रकार उसके साथ और भी बहुतसे त्यागके कारण समझने चाहिये), ऐसे जो वचन कहे हैं, वे सर्वविरतिकी भूमिकाके लक्षण कहे हैं। फिर भी उन पाँच महाव्रतोंमें—मैथुन-त्यागको छोड़कर—चार महाव्रतोंमें पीछेसे भगवान्‌ने दूसरी आज्ञा की है, जो आज्ञा यद्यपि प्रत्यक्ष-रूपसे तो महाव्रतको कदाचित् बाधक मालूम हो, परन्तु ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो वह पोषक ही है।

उदाहरणके लिये 'मैं सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ,' इस तरह पच्चक्खाण होनेपर भी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस आज्ञाका, यदि लोकसमुदायका विशेष समागम करके, साधु आराधन करेगा, तो पंच महाव्रतोंके निर्मूल होनेका समय आयगा—यह जानकर, भगवान्‌ने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतकी रक्षाका अमूल्य हेतु होनेसे, प्राणातिपातकी निवृत्तिरूप ही है; क्योंकि पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतुरूप जो कारण है वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर भी नदीके पार करनेकी अप्राणातिपातरूप आज्ञा होती है, फिर भी 'सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस वाक्यको एक बार क्षति पहुँचती है। परन्तु यह क्षति फिरसे विचार करनेपर तो उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ही मालूम होती है। इसी तरह दूसरे व्रतोंके लिये भी है।

'मैं परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ,' इस प्रकारका व्रत होनेपर भी वस्त्र, पात्र और पुस्तकका संबंध देखा जाता है—इन्हें अंगीकार किया ही जाता है। उसका, परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे ही विधान किया है; और उससे परिणाममें अपरिग्रह ही होता है। मूर्च्छा-रहित भावसे नित्य आत्म-दशाकी वृद्धि होनेके लिये ही पुस्तकका अंगीकार करना बताया है। तथा इस कालमें शरीरके संहननकी हीनता देखकर पहिले चित्तकी स्थितिके समभाव रहनेके लिये ही वस्त्र, पात्र आदिका ग्रहण करना बताया है; अर्थात् जब आत्म-हित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी है। यद्यपि क्रियाकी प्रवृत्तिको प्राणातिपात कहा है, परन्तु भावकी दृष्टिसे इसमें अन्तर है। परिग्रह बुद्धिसे अथवा प्राणातिपात बुद्धिसे इसमेंका कुछ भी करनेके लिये कभी भगवान्ने आज्ञा नहीं दी। भगवान्ने जहाँ सर्वथा निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतोंका उपदेश दिया है, वहाँ भी दूसरे जीवोंके हितके लिये ही उनका उपदेश दिया है; और उसमें उसके त्यागके समान दिखाई देनेवाले अपवादको भी आत्म-हितके लिये ही कहा है—अर्थात् एक परिणाम होनेसे जिसका त्याग कहा है, उसी क्रियाका ग्रहण कराया है।

मैथुन-त्यागमें जो अपवाद नहीं है, उसका कारण यह है कि उसका राग-द्वेषके बिना भंग नहीं हो सकता; और राग-द्वेष आत्माको अहितकारी है; इससे भगवान्ने उसमें कोई अपवाद नहीं बताया। नदीका पार करना राग-द्वेषके बिना हो सकता है; पुस्तकका ग्रहण करना भी राग-द्वेषके बिना होना संभव है; परन्तु मैथुनका सेवन राग-द्वेषके बिना नहीं हो सकता; इसलिये भगवान्ने इस व्रतको अपवादरहित कहा है; और दूसरे व्रतोंमें आत्माके हितके लिये ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस तरह जीवका—संयमका—रक्षण हो उसी तरह कहनेके लिये जिनागमकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि कहनेका जो निषेध किया है, उसका भी यही हेतु है। जिससे लोक-समागमकी वृद्धि न हो, प्रीति-अप्रीतिके कारणकी वृद्धि न हो, स्त्रियों आदिके परिचयमें आनेका प्रयोजन न हो, संयम शिथिल न हो जाय, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण ही स्वीकृत न हो जाय—इस प्रकारके सम्मिलित अनंत कारणोंको देखकर पत्र आदिका निषेध किया है, परन्तु वह भी अपवादसहित है। जैसे बृहत्कल्पमें अनार्य-भूमिमें विचरनेकी मना की है, और वहाँ क्षेत्रकी मर्यादा बाँधी है; परन्तु ज्ञान, दर्शन, और संयमके कारण वहाँ भी विचरनेका विधान किया गया है। इसी अर्थके ऊपरसे यह माल्रम होता है कि यदि कोई ज्ञानी-पुरुष दूर रहता हो—उनका समागम होना मुश्किल हो, और यदि पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो तो फिर आत्म-हितके सिवाय दूसरी सब प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके उस प्रकारके ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे अथवा किसी मुमुक्षु—सत्संगीकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नहीं होता, ऐसा माल्रम होता है। इसका कारण यह है कि जहाँ पत्र-समाचारके लिखनेसे आत्म-हितका नाश होता हो वहीं उसका निषेध किया गया है। तथा जहाँ पत्र-समाचार न होनेसे आत्म-हितका नाश होता हो, वहाँ पत्र-समाचारका निषेध किया हो, यह जिनागमसे बन सकता है या नहीं, वह अब विचार करने योग्य है।

इस प्रकार विचार करनेसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और संयमकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदि व्यवहारके भी स्वीकार करनेका समावेश होता है। परन्तु किसी कालके लिये, किसी महान्

प्रयोजनके लिये, महात्मा पुरुषोंकी आज्ञासे अथवा केवल जीवके कल्याणके उद्देश्यसे ही, उसका किसी पात्रके लिये उपयोग बताया है, ऐसा समझना चाहिये। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमें पत्र-समाचार आदि व्यवहार करना योग्य नहीं है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति उसकी आज्ञासे ही नित्यप्रति पत्र आदि व्यवहार करना ठीक है, परन्तु दूसरे लौकिक जीवके प्रयोजनके लिये तो वह सर्वथा निषिद्ध ही माल्म होता है। फिर काल ऐसा आ गया है कि जिसमें इस तरह कहनेसे भी विषम परिणाम आना संभव है। लोक-मार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु वगैरहके मनमें यह व्यवहार-मार्गका नाश करनेवाला भासमान होना संभव है। तथा इस मार्गके प्रतिपादन करनेसे अनुक्रमसे बिना कारण ही पत्र-समाचार आदिका चालू होना संभव है, जिससे साधारण द्रव्य-त्यागकी भी हिंसा होने लगे।

यह जानकर इस व्यवहारको प्रायः श्री.......से भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेसे भी व्यवसायका बढ़ना ही संभव है। यदि तुम्हें सर्व पच्चक्खाण हो, तो फिर जो पत्र न लिखनेका साधुने पच्चक्खाण दिया है, वह नहीं दिया जा सकता; परन्तु यदि दिया हो तो भी हानि नहीं समझनी चाहिये। वह पच्चक्खाण भी यदि ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे रूपांतरित हुआ होता तो हानि न थी, परन्तु वह जो साधारणरूपसे रूपांतरित हुआ है, वह योग्य नहीं हुआ। यहाँ मूल—स्वाभाविक—पच्चक्खाण-की व्याख्या करनेका अवसर नहीं है; लोक-पच्चक्खाणकी वातका ही अवसर है; परन्तु उसे भी साधारण-तया अपनी इच्छासे तोड़ डालना योग्य नहीं—इस समय तो इस प्रकारसे ही दृढ़ विचार रखना चाहिये। जब गुणोंके प्रगट होनेके साधनमें विरोध होता हो, तब उस पच्चक्खाणको ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे अथवा मुमुक्षु जीवके समागमसे सहज स्वरूपमें फेरफार करके रास्तेपर लाना चाहिये; क्योंकि बिना कारणके लोगोंमें शंका पैदा होने देनेकी कोई बात करना योग्य नहीं है। वह पामर जीव दूसरे जीवको बिना कारण ही अहितकर होता है—इत्यादि बहुतसे कारण समझकर जहाँतक बने पत्र आदि व्यवहारका कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कदाचित् वैसा व्यवहार करना तुम्हें हितकर है, इसलिये करना योग्य माल्म हो तो उस पत्रको भी श्री........जैसे किसी सत्संगीसे बँचवाकर ही भेजना, जिससे 'ज्ञान-चर्चाके सिवाय इसमें कोई दूसरी बात नहीं,' यह उनकी साक्षी तुम्हारी आत्माको दूसरी प्रकारके पत्र-व्यवहारको करनेसे रोकनेके लिये संभव हो। मेरे विचारके अनुसार इस बातमें श्री........विरोध न समझें। कदाचित् उन्हें विरोध माल्म होता हो तो किसी प्रसंगपर हम उनकी इस शंकाको निवृत्त कर देंगे, फिर भी तुम्हें प्रायः विशेष पत्र-व्यवहार करना योग्य नहीं। इस लक्षको न चूकना।

प्रायः शब्दका अर्थ केवल इतना ही है, जिससे हितकारी प्रसंगमें पत्रका जो कारण बताया गया है, उसमें बाधा न आये। विशेष पत्र-व्यवहार करनेसे यदि वह ज्ञानरूप चर्चा होगी तो भी लोक-व्यवहारमें बहुत संदेहका कारण होगी। केवल जिस तरह प्रसंग प्रसंगपर जो आत्म-हितार्थके लिये हो उसका विचारना और उसकी ही चिंता करनी योग्य है। हमारे प्रति किसी ज्ञान-प्रश्नके लिये पत्र लिखनेकी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो वह श्री..........से पूँछकर ही लिखना, जिससे तुम्हें गुण उत्पन्न होनेमें कम बाधा उपस्थित हो।

तुम्हारे श्री····· ·· को पत्र लिखनेके विषयमें चर्चा हुई, वह यद्यपि योग्य नहीं हुआ; फिर भी वे यदि तुम्हें कोई प्रायश्चित्त दें तो उसे ले लेना, परन्तु किसी ज्ञान-वार्त्ताके स्वयं लिखनेके बदले तुम्हें उसे लिखानेमें आगापीछा न करना चाहिये, ऐसा साथमें यथायोग्य निर्मल अंतःकरणसे कहना योग्य है—जो बात केवल जीवका हित करनेके लिये ही है। पर्यूषण आदिमें साधु दूसरेसे लिखाकर पत्र-व्यवहार करते हैं, जिसमें आत्म-हित जैसा तो यद्यपि थोड़ा ही होता है, परन्तु वह रूढ़ी चल जानेके कारण लोग उसका निषेध नहीं करते। तुम उसी तरह उस रूढीके अनुसार आचरण रक्खोगे, तो भी हानि नहीं हैं—जिससे तुम्हें पत्र लिखानेमें अड़चन न हो और लोगोंको भी संदेह न हो।

हमें उपमाकी कोई सार्थकता नहीं। केवल तुम्हारी चित्तकी समाधिके लिये ही तुम्हें लिखनेका प्रतिबंध नहीं किया।

४१५

बम्बई, वैशाख वदी ९, १९५०

सूरतसे मुनिश्री······· का पहिले एक पत्र आया था। उसके प्रत्युत्तरमें यहाँसे एक पत्र लिखा था। उसके पश्चात् पाँच छह दिन पहिले उनका एक पत्र मिला था, जिसमें तुम्हारे प्रति जो पत्र आदि लिखना हुआ, उसके संबंधमें होनेवाली लोक-चर्चा विषयक बहुतसी बातें थी। इस पत्रका उत्तर भी यहाँसे लिख दिया है। वह संक्षेपमें इस तरह है:—

"प्राणातिपात आदि महाव्रत सर्वत्यागके लिये हैं, अर्थात् सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होना, सब प्रकारके मृषावादसे निवृत्त होना—इस तरह साधुके पाँच महाव्रत होते हैं। और जब साधु इस आज्ञाके अनुसार चले, तब वह मुनिके सम्प्रदायमें रहता है, ऐसा भगवान्‌ने कहा है। इस प्रकारसे पाँच महाव्रतोंके उपदेश करनेपर भी जिसमें प्राणातिपात कारण है, ऐसी नदीके पार वगैरह करनेकी आज्ञा भी जिनभगवान्‌ने दी है। वह इसलिये कि जीवको नदी पार करनेसे जो बंध होगा, उसकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें निवास करनेसे बलवान बंध होगा, और परंपरासे पाँच महाव्रतोंकी हानिका अवसर उपस्थित होगा—यह देखकर—जिसमें उस प्रकारका द्रव्य-प्राणातिपात है, ऐसी नदीके पार करनेकी आज्ञा श्रीजिनभगवान्‌ने दी है। इसी तरह वस्त्र पुस्तक रखनेसे यद्यपि सर्वपरिग्रह-विरमण व्रत नहीं रह सकता, फिर भी देहकी साताके लिये त्याग कराकर आत्मार्थकी साधना करनेके लिये देहको साधनरूप समझकर, उसमेंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा दूर होनेतक जिनभगवान्‌ने वस्त्रके निस्पृह संबंधका और विचार-बलकी वृद्धि होने-तक पुस्तकके रखनेका उपदेश किया है। अर्थात् सर्वत्यागमें प्राणातिपात तथा परिग्रहका सब प्रकारसे अंगीकार करनेका निषेध होनेपर भी, इस प्रकारसे जिनभगवान्‌ने अंगीकार करनेकी आज्ञा दी है। वह सामान्य दृष्टिसे देखनेपर कदाचित् विषम माळूम होगा, परन्तु जिनभगवान्‌ने तो सम ही कहा है। दोनों ही बात जीवके कल्याणके लिये ही कही गई हैं। जिस तरह सामान्य जीवका कल्याण हो वैसे विचार-पूर्वक ही कहा है। परन्तु इस प्रकारसे मैथुन-त्याग व्रतमें अपवाद नहीं कहा, क्योंकि मैथुनका सेवन राग-द्वेषके बिना नहीं हो सकता, यह जिनभगवान्‌का अभिमत है। अर्थात् राग-द्वेषको अपरमार्थरूप जानकर बिना अपवादके ही मैथुन-त्यागका सेवन बताया है। इसी तरह बृहत्कल्पसूत्रमें जहाँ साधुके विचरण

अपेक्षा जिनभगवान्‌की कही हुई बंध-मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी सम्पूर्ण प्रतिभासित होती है, उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रतिभासित नहीं होती, और जो सम्पूर्ण शिक्षा है वही प्रमाणसे सिद्ध है।

शंकाः—यदि तुम ऐसा समझते हो तो किसी तरह भी निर्णयका समय नहीं आ सकता, क्योंकि सब दर्शनोंमें, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है, उस उस दर्शनके लिये सम्पूर्णता मानी है।

उत्तरः—यदि ऐसा हो तो उससे सम्पूर्णता सिद्ध नहीं होती; जिसकी प्रमाणद्वारा सम्पूर्णता हो वही सम्पूर्ण सिद्ध होता है।

प्रश्नः—जिस प्रमाणके द्वारा तुम जिनभगवान्‌की शिक्षाको सम्पूर्ण मानते हो, उस प्रकारको तुम कहो; और जिस प्रकारसे वेदांत आदिकी सम्पूर्णता तुम्हें संभव माळूम होती है, उसे भी कहो।

६०५

प्रत्यक्षसे अनेक प्रकारके दुःखोंको देखकर, दुःखी प्राणियोंको देखकर तथा जगत्‌की विचित्र रचनाको देखकर, वैसे होनेका हेतु क्या है? उस दुःखका मूलस्वरूप क्या है? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तथा जगत्‌की विचित्र रचनाका अंतर्स्वरूप क्या है? इत्यादि भेदमें जिसे विचार-दशा उत्पन्न हुई है ऐसे मुमुक्षु पुरुषने, पूर्व पुरुषोंद्वारा ऊपर कहे हुए विचारोंसंबंधी जो कुछ अपना समाधान किया था अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की। उस आलोचनाके करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अभिप्रायसंबंधी यथा-शक्ति विशेष विचार किया। तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि सम्प्रदायोंका विचार किया। तथा वेदान्त आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामें अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मंथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मंथनकी योग्यताको प्राप्त ऐसे जैनदर्शनके संबंधमें अनेक प्रकारसे जो मंथन हुआ, उस मंथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिये, जो पूर्वापर विरोध जैसे माळूम होते हैं, ऐसे नीचे लिखे कारण दिखाई दिये।

६०६

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके अरूपी होनेपर भी ये रूपी पदार्थको सामर्थ्य प्रदान करते हैं, और इन तीन द्रव्योंको स्वभावसे परिणामी कहा है, तो ये अरूपी होनेपर भी रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं?

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एक क्षेत्र-अवगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें गतिशील वस्तुके प्रति स्थिति-सहायतारूपसे, और स्थितिशील वस्तुके प्रति गति-सहा-यतारूपसे विरोध क्यों नहीं आता?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा—ये तीनों असंख्यात प्रदेशी हैं, इसका क्या कोई दूसरा ही रहस्य है?

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है—ऐसा होनेमें क्या कुछ रहस्य है?

प्रकारसे सहन करना ही श्रेष्ठ है। ऐसा न बने तो सहज कारणमें ही उल्टा क्लेशरूप ही परिणाम आना संभव है। जहाँतक बने यदि प्रायश्चित्तका कारण न बने तो न करना, नहीं तो फिर थोड़ा प्रायश्चित्त लेनेमें भी बाधा नहीं है। वे यदि प्रायश्चित्त बिना दिये ही कदाचित् इस बातकी उपेक्षा कर दें तो भी तुम्हारे अर्थात् साधु···को चित्तमें इस बातका इतना पश्चात्ताप करना तो योग्य है कि इस तरह करना ही योग्य न था। अब इसके बाद·······साधु जैसेकी समक्षतापूर्वक श्रावकके पाससे यदि कोई लिखनेवाला हो तो पत्र लिखवानेमें बाधा नहीं—इतनी व्यवस्था उस सम्प्रदायमें चला करती है, इससे प्रायः लोग विरोध नहीं करेंगे। और उसमें भी यदि विरोध जैसा मालूम हो तो हालमें उस बातके लिये भी धीरज ग्रहण करना ही हितकारी है। लोक-समुदायमें क्लेश उत्पन्न न हो—हालमें इस लक्षको चूकना योग्य नहीं है; क्योंकि उस प्रकारका कोई बलवान प्रयोजन नहीं है।

श्री·······का पत्र बाँचकर सात्त्विक हर्ष हुआ है। जिस तरह जिज्ञासाका बल बढ़े उस तरह प्रयत्न करना यह प्रथम भूमि है। वैराग्य और उपशमके हेतु योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंके पढ़नेमें बाधा नहीं है। अनाथदासजीका बनाया हुआ विचारमाला नामका ग्रंथ सटीक अवलोकन करने योग्य है। हमारा चित्त नित्य सत्संगकी ही इच्छा करता है, परन्तु स्थिति प्रारब्धके आधीन है। तुम्हारे समागमी भाईयोंसे जितना बने उतना सद्ग्रन्थोंका अवलोकन हो, वह अप्रमादपूर्वक करने योग्य है। और जिससे एक दूसरेका नियमित परिचय किया जाय उतना लक्ष रखना योग्य है।

प्रमाद सब कर्मोंका हेतु है।

४१६

बम्बई, वैशाख १९५०

मनका, वचनका तथा कायाका व्यवसाय, जितना समझते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है; और इसी कारण तुम्हें पत्र आदि लिखना नहीं हो सकता। व्यवसायकी प्रियताकी इच्छा नहीं होती, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है, और ऐसा मालूम होता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे वेदन करने योग्य है, जिसके वेदनसे फिरसे उसकी उत्पत्तिका संबंध दूर होगा—वह निवृत्त होगा। यदि कदाचित् प्रबलरूपसे उसका निरोध किया जाय तो भी उस निरोधरूप क्लेशके कारण, आत्मा आत्मरूपसे विलसा परिणामकी तरह परिणमन नहीं कर सकती, ऐसा लगता है। इसलिये उस व्यवसायकी जिस प्रकारसे अनिच्छारूपसे प्राप्ति हो, उसे वेदन करना, यह किसी तरह विशेष सम्यक् मालूम होता है।

किसी प्रगट कारणका अवलंबन लेकर—विचारकर—परोक्षरूपसे चले आते हुए सर्वज्ञ पुरुषको केवल सम्यग्दृष्टिपनेसे भी पहिचान लिया जाय तो उसका महान् फल है; और यदि वैसे न हो तो सर्वज्ञको सर्वज्ञ कहनेका कोई आत्मसंबंधी फल नहीं, ऐसा अनुभवमें आता है।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञ पुरुषको भी यदि किसी कारणसे—विचारसे—अवलंबनसे—सम्यग्दृष्टि-स्वरूपसे भी न जाना हो तो उसका आत्म-प्रत्ययी फल नहीं है। परमार्थसे उसकी सेवा-असेवासे जीवको कोई जाति (   )—भेद नहीं होता; इसलिये उसे कुछ सफल कारणरूपसे ज्ञानी-पुरुषने स्वीकार नहीं किया, ऐसा मालूम होता है।

बहुतसे प्रत्यक्ष वर्तमानोंके ऊपरसे ऐसा प्रगट माल्म होता है कि यह काल विषम अथवा दुःषम अथवा कलियुग है। काल-चक्रके परावर्तनमें दुःषमकाल पूर्वमें अनंतबार आ चुका है, फिर भी ऐसा दुःषमकाल कभी कभी ही आता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकारकी परंपरागत बात चली आती है कि 'असंयती-पूजा' नामसे आश्चर्ययुक्त 'हुंड'—ढीठ—इस प्रकारके इस पंचमकालको तीर्थंकर आदिने अनंतकालमें आश्चर्यस्वरूप माना है, यह बात हमें बहुत करके अनुभवमें आती है—साक्षात् मानों ऐसी ही माल्म होती है।

काल ऐसा है। क्षेत्र प्रायः अनार्य जैसा है। उसमें स्थिति है। प्रसंग, द्रव्य काल आदि कारणसे सरल होनेपर भी लोक-संज्ञारूपसे ही गिनने योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावके अवलंबन बिना निराधाररूपसे जिस तरह आत्मभाव सेवन किया जाय उस तरह यह आत्मा सेवन करती है, दूसरा उपाय ही क्या है?

४१७

वैशाख १९५०

नित्यनियम

ॐ श्रीमत्परमगुरुभ्यो नमः

सवेरे उठकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके रात-दिनमें जो कुछ पापके अठारह स्थानकोंमें प्रवृत्ति हुई हो; सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्रसंबंधी जो कुछ अपराध हुआ हो; किसी भी जीवके प्रति किंचिन्मात्र भी अपराध किया हो; वह जानकर हुआ हो अथवा अनजानमें हुआ हो, उस सबके क्षमा करानेके लिये, उसकी निंदा करनेके लिये—विशेष निंदा करनेके लिये, आत्मामेंसे उस अपराधका विसर्जन करके निःशल्य होना चाहिये (रात्रिमें शयन करते समय भी इसी तरह करना चाहिये)।

श्रीसत्पुरुषके दर्शन करके चार घड़ीके लिये सर्वसावद्य व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठना चाहिये। उस समयमें "परमगुरु" शब्दकी पाँच मालायें गिनकर सत्शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये। उसके पश्चात् एक घड़ी कायोत्सर्ग करके श्रीसत्पुरुषोंके वचनोंको कायोत्सर्गमें जप करके सद्वृत्तिका ध्यान करना चाहिये। उसके बाद आधी घड़ीमें भक्तिकी वृत्तिको जागृत करनेवाले पदों (आज्ञानुसार) को बोलना चाहिये। आधी घड़ीमें "परमगुरु" शब्दको कायोत्सर्गरूपसे जपना चाहिये और "सर्वज्ञदेव" नामकी पाँच मालायें फेरनी चाहिये।

[**हालमें अध्ययन करने योग्य शास्त्रः**—वैराग्यशतक, इन्द्रियपराजयशतक, शांतसुधारस, अध्यात्मकल्पद्रुम, योगदृष्टिसमुच्चय, नवतत्त्व, मूलपद्धति कर्मग्रन्थ, धर्मबिन्दु, आत्मानुशासन, भावनाबोध, मोक्षमार्गप्रकाश, मोक्षमाला, उपमितिभवप्रपंचकथा, अध्यात्मसार, श्रीआनंदघनजीकी चौबीसीमेंसे नीचेके स्तवनः—१, ३, ५, ७, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १९, २२]

सात व्यसन (जूआ, माँस, मदिरा, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, परस्त्री) का त्याग।

जूवा आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी;
एई सात विसन दुखदाई, दुरित मूल दुरगतिके भाई।

रात्रिभोजनका त्याग। कुछको छोड़कर सर्व वनस्पतिका त्याग। कुछ तिथियोंमें बिना त्यागी हुई वनस्पतिका प्रतिबंध। अमुक रसका त्याग। अब्रह्मचर्यका त्याग। परिग्रह-परिमाण। [शरीरमें विशेष रोग आदिके उपद्रवसे, बेसुधिसे, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताये हुए नियमोंमें प्रवृत्ति करनेके लिये यदि समर्थ न हुआ जाय तो उसके लिये पश्चात्तापका स्थान समझना चाहिये। उस नियममें स्वेच्छापूर्वक न्यूनाधिकता कुछ भी करनेकी प्रतिज्ञा करना। सत्पुरुषकी आज्ञासे नियममें फेरफार करनेसे नियम भंग नहीं होता]।

४१८

बम्बई, वैशाख १९५०

श्रीतीर्थंकर आदि महात्माओंने ऐसा कहा है कि जिसे विपर्यास दूर होकर देह आदिमें होनेवाली आत्म-बुद्धि और आत्म-भावमें होनेवाली देह-बुद्धि दूर हो गई है—अर्थात् जो आत्म-परिणामी हो गया है—ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी जबतक प्रारब्धका व्यवसाय है, तबतक जागृतिमें रहना ही योग्य है; क्योंकि अवकाश प्राप्त होनेपर हमें वहाँ भी अनादि विपर्यास भयका हेतु मालूम हुआ है। जहाँ चार घनघाती कर्म छिन्न हो गये हैं, ऐसे सहजस्वरूप परमात्मामें तो सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण जागृतिरूप तुर्यावस्था ही रहती है—अर्थात् वहाँ अनादि विपर्यासके निर्बीजपनेको प्राप्त हो जानेसे वह विपर्यास किसी भी प्रकारसे उद्भव हो ही नहीं सकता, परन्तु उससे न्यून ऐसे विरति आदि गुणस्थानकमें रहनेवाले ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक क्षणमें आत्म-जागृति होना ही योग्य है। प्रमादके कारण जिसने चौदह पूर्वोका कुछ अंशसे भी न्यून ज्ञान प्राप्त किया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी अनंतकाल परिभ्रमण हुआ है, इसलिये जिसकी व्यवहारमें अनासक्त बुद्धि हुई है, उस पुरुषको भी यदि उस प्रकारके प्रारब्धका उदय हो तो उसकी क्षण क्षणमें निवृत्तिका चिंतवन करना, और निज भावकी जागृति रखनी चाहिये।

इस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषको भी महाज्ञानी श्रीतीर्थंकर आदिने अनुरोध किया है, तो फिर जिसका मार्गानुसारी अवस्थामें भी अभी प्रवेश नहीं हुआ, ऐसे जीवको तो इस सब व्यवसायसे विशेष विशेष निवृत्त भाव रखना और विचार-जागृति रखना योग्य है—ऐसा बताने जैसा भी नहीं रहता, क्योंकि वह तो सहजमें ही समझमें आ सकता है।

ज्ञानी पुरुषोंने दो प्रकारका बोध बताया है:—एक सिद्धांत-बोध, और दूसरा उस सिद्धांत-बोधके होनेमें कारणभूत उपदेश-बोध। यदि उपदेश-बोध जीवके अंतःकरणमें स्थिर न हुआ तो उसे केवल सिद्धांत-बोधका भले ही श्रवण हो, परन्तु इसका कुछ फल नहीं हो सकता। पदार्थके सिद्धभूत स्वरूपको सिद्धांत-बोध कहते हैं। ज्ञानी पुरुषोंने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकारसे अन्तमें पदार्थको जाना है—वह जिस प्रकारसे वाणीद्वारा कहा जा सके उस तरह बताया है—इस प्रकारका जो बोध है, उसे सिद्धांत-बोध कहते हैं। परन्तु पदार्थके निर्णय करनेके लिये जीवको अंतरायरूप उसकी अनादि विपर्यास भावको प्राप्त बुद्धि, व्यक्तरूपसे अथवा अव्यक्तरूपसे विपर्यास भावसे पदार्थके स्वरूपका निश्चय कर लेती है; उस विपर्यास बुद्धिका बल घटनेके लिये, यथावत् वस्तुस्वरूप जाननेके विषयमें प्रवेश होनेके लिये, जीवको वैराग्य और उपशम नामके साधन कहे हैं; और इस प्रकारके

जो जो साधन जीवको संसारका भय दृढ़ कराते हैं उन उन साधनसंबंधी जो उपदेश कहा है, वह उपदेश-बोध है।

यहाँ यह विचार होना संभव है कि उपदेश-बोधकी अपेक्षा सिद्धांत-बोधकी मुख्यता माळूम होती है, क्योंकि उपदेश-बोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धांत-बोधका ही पहिलेसे अवगाहन किया हो तो वह जीवको पहिलेसे ही उन्नतिका हेतु है। परन्तु यह विचार होना मिथ्या है; क्योंकि उपदेश-बोधसे ही सिद्धांत-बोधका जन्म होता है। जिसे वैराग्य-उपशम संबंधी उपदेश-बोध नहीं हुआ, उसे बुद्धिका विपर्यास भाव रहा करता है; और जबतक बुद्धिका विपर्यास भाव रहे तबतक सिद्धांतका विचार करना भी विपर्यास भावसे ही संभव होता है। जैसे चक्षुमें जितनी मलिनता रहती है, वह उतना ही पदार्थको मलिन देखती है; और यदि उसका पटल अत्यंत बलवान हो तो उसे मूल पदार्थ ही दिखाई नहीं देता; तथा जिसको चक्षुका यथावत् संपूर्ण तेज विद्यमान है, वह पदार्थको यथायोग्य देखता है। इसी प्रकार जिस जीवको गाढ़ विपर्यास बुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धांत-बोध विचारमें नहीं आ सकता। परन्तु जिसकी विपर्यास बुद्धि मंद हो गई है उसे उस प्रमाणमें सिद्धांतका अवगाहन होता है; और जिसने विपर्यास बुद्धिका विशेषरूपसे क्षय किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धांतका अवगाहन होता है।

गृह-कुटुम्ब परिग्रह आदि भावमें जो अहंता—ममता—है और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रसंगमें जो राग-द्वेष कषाय है, वही विपर्यास-बुद्धि है। और जहाँ वैराग्य-उपशम उद्भूत होता है, वहाँ अहंता—ममता तथा कषाय मंद पड़ जाते हैं—वे अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो जाते हैं। गृह-कुटुम्ब आदि भावविषयक अनासक्त बुद्धि होना वैराग्य है; और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कषाय-क्लेशका मंद होना उपशम है। अर्थात् ये दो गुण विपर्यास बुद्धिको पर्यायांतर करके सद्बुद्धि पैदा करते हैं, और वह सद्बुद्धि जीव अजीव आदि पदार्थकी व्यवस्था जैसी माळूम होती है—इस प्रकार सिद्धांतका विचार करना योग्य है। जैसे चक्षु पटल आदि अंतरायके दूर होनेसे वह पदार्थको यथावत् देखती है, उसी तरह अहंता आदि पटलकी मंदता होनेसे जीवको ज्ञानी-पुरुषके कहे हुए सिद्धांत-भाव—आत्मभाव—विचार-चक्षुसे दिखाई देते हैं। जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ प्रबलतासे विवेक होता है। जहाँ वैराग्य-उपशम बलवान न हो वहाँ विवेक बलवान नहीं होता, अथवा यथावत् विवेक नहीं होता। जो सहज आत्मस्वरूप है ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्मके क्षयके बाद ही प्रगट होता है, और इस बातसे जो ऊपर सिद्धांत बताया है, वह स्पष्ट समझमें आ जायगा।

फिर ज्ञानी-पुरुषोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका बोध करनेवाली देखनेमें आती है। जिन-भगवान्के आगमपर दृष्टि डालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी। सिद्धांत-बोध अर्थात् जिस आगममें जीव अजीव पदार्थका विशेषरूपसे जितना कथन किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे अति विशेषरूपसे वैराग्य और उपशमका कथन किया है, क्योंकि उसकी सिद्धि हो जानेके पश्चात् सहजमें ही विचारकी निर्मलता होती है, और विचारकी निर्मलता सिद्धांतरूप कथनको सहज ही में अथवा थोड़े ही परिश्रमसे अंगीकार कर सकती है—अर्थात् उसकी भी सहज ही सिद्धि होती है; और

वैसा होनेके कारण जगह जगह इसी अधिकारका व्याख्यान किया गया है। यदि जीवको आरंभ-परिग्रहकी विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, और वैराग्य और उपशम हो, तो उसका भी नष्ट हो जाना संभव है, क्योंकि आरंभ-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशमका मूल है, वैराग्य और उपशमका काल है।

श्रीठाणांगसूत्रमें इस आरंभ और परिग्रहके बलको बतानेके पश्चात् उससे निवृत्त होना योग्य है, यह उपदेश करनेके लिये इस भावसे द्विभंगी कही है:—

१. जीवको मतिज्ञानावरणीय कबतक होता है? जबतक आरंभ और परिग्रह हो तबतक।

२. जीवको श्रुतज्ञानावरणीय कबतक होता है? जबतक आरंभ और परिग्रह हो तबतक।

३. जीवको अवधिज्ञानावरणीय कबतक होता है? जबतक आरंभ और परिग्रह हो तबतक।

४. जीवको मनःपर्यवज्ञानावरणीय कबतक होता है? जबतक आरंभ और परिग्रह हो तबतक।

५. जीवको केवलज्ञानावरणीय कबतक होता है? जबतक आरंभ और परिग्रह हो तबतक।

ऐसा कहकर दर्शन आदिके भेद बताकर उस बातको सत्रहवार बताई है कि वे आवरण तबतक रहते हैं जबतक आरंभ और परिग्रह होता है। इस प्रकार आरंभ-परिग्रहका बल बताकर फिर अर्थापत्तिरूपसे फिरसे उसका यहींपर कथन किया है।

१. जीवको मतिज्ञान कब होता है? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

२. जीवको श्रुतज्ञान कब होता है? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

३. जीवको अवधिज्ञान कब होता है? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

४. जीवको मनःपर्यवज्ञान कब होता है? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

५. जीवको केवलज्ञान कब होता है? आरंभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर।

इस प्रकार सत्रह भेदोंको फिरसे कहकर, आरंभ-परिग्रहकी निवृत्तिका फल, जहाँ अन्तमें केवलज्ञान है, वहाँतक लिया है। और प्रवृत्तिके फलको केवलज्ञानतकके आवरणका हेतुरूप कहकर, उसका अत्यंत बलवानपना बताकर, जीवको उससे निवृत्त होनेका ही उपदेश किया है। फिरफिरसे ज्ञानी-पुरुषोंके वचन जीवको इस उपदेशका ही निश्चय करनेके लिये प्रेरणा करनेकी इच्छा करते हैं; फिर भी अनादि असत्संगसे उत्पन्न हुई दुष्ट इच्छा आदि भावमें मूढ़ हुआ यह जीव बोध नहीं प्राप्त करता; और उन भावोंकी निवृत्ति किये बिना अथवा निवृत्तिका प्रयत्न किये बिना ही श्रेयकी इच्छा करता है; जो कभी भी संभव नहीं हुआ, वर्तमानमें होता नहीं, और भविष्यमें होगा नहीं।

४१९

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १४ रवि. १९५०

ॐ

(१)

चित्तमें उपाधिके प्रसंगके लिये बारम्बार खेद होता है। यदि इस प्रकारका उदय इस देहमें बहुत समयतक रहा करे तो समाधि-दशापूर्वक जो लक्ष है, वह लक्ष ऐसेका ऐसा ही अप्रधानरूपसे रखना पड़े, और जिसमें अत्यंत अप्रमाद-योग रखना योग्य है, उसमें प्रमाद-योग हो जाय।

कदाचित् वैसा न हो तो भी 'इस संसारमें किसी प्रकार रुचि-योग माऌम नहीं होता—वह प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। उसमें कभी भी सद्विचारवान जीवको अल्प भी रुचि नहीं होती,' यह निश्चय रहा करता है। बारम्बार संसार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण माऌम नहीं होता। इसका हेतु केवल यही है कि इसमें शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, उससे महान् कष्ट रहता है; और नित्य छुटकारा पानेका लक्ष रहा करता है। फिर भी अभी तो अंतराय रहता है, और प्रतिबंध भी रहा करता है। तथा उसी तरहके दूसरे अनेक विकल्पोंसे खारे लगनेवाले इस संसारमें हम बड़ी कठिनाईसे रह रहे हैं।

(२)

आत्म-परिणामकी विशेष स्थिरता होनेके लिये उपयोगपूर्वक वाणी और कायाका संयम करना योग्य है।

---

४२० मोहमयी, आषाढ़ सुदी ६ रवि. १९५०

(१)

जीव और काया पदार्थरूपसे जुदे जुदे हैं। परन्तु जबतक उस देहसे जीव कर्म भोगता है, तबतक ये दोनों संबंधरूपसे सहचारी हैं। श्रीजिनभगवान्ने जीव और कर्मका संबंध क्षीर-नीरके संबंधकी तरह बताया है। उसका हेतु भी यही है कि यद्यपि क्षीर और नीर एकत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु परमार्थसे वे जुदे जुदे हैं—पदार्थरूपसे वे भिन्न हैं; अग्निका प्रयोग करनेपर वे फिर स्पष्ट जुदे जुदे हो जाते हैं। उसी तरह जीव और कर्मका संबंध है। कर्मका मुख्य स्वरूप किसी प्रकारकी देह ही है, और जीवको इन्द्रिय आदि द्वारा क्रिया करता हुआ देखकर यह जीव है, ऐसा सामान्यरूपसे कहा जाता है। परन्तु ज्ञान-दशा आये विना जीव और कायाकी जो स्पष्ट भिन्नता है, वह भिन्नता जीवके जाननेमें नहीं आती; परन्तु यह भिन्नता क्षीर-नीरकी तरह ही है। ज्ञानके संस्कारसे वह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अत्र यहाँ ऐसा प्रश्न किया गया है कि 'यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जान लिया है, तो फिर वेदनाका सहन करना या मानना किस कारणसे होता है? यह फिर न होना चाहिये'। इस प्रश्नका समाधान निम्न प्रकारसे है:—

जैसे सूर्यसे तपा हुआ पत्थर सूर्यके अस्त होनेके बाद भी अमुक समयतक तप्त रहता है, और पीछेसे अपने स्वरूपमें आता है; उसी तरह पूर्वके अज्ञान-संस्कारसे उपार्जित किये हुए वेदना आदि तापका इस जीवसे संबंध है। यदि ज्ञान-प्राप्तिका कोई कारण मिल जाय तो फिर अज्ञानका नाश हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला भावी कर्म नाश होता है, परन्तु उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए वेदनीय कर्मका—उस अज्ञानके सूर्यकी तरह, उसके अस्त होनेके पश्चात्—पत्थररूपी जीवके साथ संबंध रहता है, जो आयु कर्मके नाश होनेसे ही नाश होता है। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुषको कायामें आत्म-बुद्धि नहीं होती, और आत्मामें काय-बुद्धि नहीं होती—उसके ज्ञानमें दोनों ही स्पष्टरूपसे भिन्न भिन्न माऌम पड़ते हैं। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका संबंध रहता है, उसी तरह पूर्वसंबंधके

रहनेसे वेदनीय कर्म आयु पूर्ण होनेतक अविषमभावसे सहन किया जाता है। परन्तु उस वेदनाको सहन करते हुए जीवके स्वरूप-ज्ञानका भंग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवके उस प्रकारका स्वरूप-ज्ञान ही संभव नहीं होता। आत्म-ज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश हो ही जाय, ऐसा कोई नियम नहीं है। वह अपनी स्थितिपूर्वक ही नाश होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आवरण करनेवाला नहीं है—अव्याबाधभावको ही आवरणरूप है। अथवा तबतक संपूर्ण अव्याबाधपना प्रगट नहीं होता; परन्तु पूर्ण-ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञानीको आत्मा अव्याबाध है, इस प्रकार निजरूपसे अनुभव है; फिर भी संबंधसे देखते हुए उसका अव्याबाधपना वेदनीय कर्मसे अमुक भावसे रुका हुआ है। यद्यपि उस कर्ममें ज्ञानीको आत्म-बुद्धि न होनेके कारण अव्याबाध गुणको भी मात्र संबंधका ही आवरण है—साक्षात् आवरण नहीं है।

वेदना सहन करते हुए जीवको थोड़ा भी विषमभावका होना, यह अज्ञानका लक्षण है; परन्तु जो वेदना है वह अज्ञानका लक्षण नहीं है—वह पूर्वोपार्जित अज्ञानका ही फल है। वर्तमानमें वह केवल प्रारब्धरूप है; उसको सहन करते हुए ज्ञानीको अविषमभाव रहता है—अर्थात् जीव और काया भिन्न भिन्न हैं, ऐसा जो ज्ञान-योग है वह ज्ञानी-पुरुषको निर्बाध ही रहता है। मात्र जितना विषमभावसे रहितपना है वह ज्ञानको बाधक नहीं है; जो विषमभाव है वही ज्ञानको बाधाकारक है। जिसकी देहमें देह-बुद्धि और आत्मामें आत्म-बुद्धि है, जिसे देहसे उदासीनता है और आत्मामें जिसकी स्थिति है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको वेदनाका उदय प्रारब्धके सहन करनेरूप ही है, वह नये कर्मोंका हेतु नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'परमात्मस्वरूप सब जगह एकसा है; सिद्ध और संसारी जीव एकसे हैं, फिर सिद्धकी स्तुति करनेसे क्या कुछ बाधा आती है?'

पहिले परमात्मस्वरूपका विचार करना योग्य है। व्यापकरूपसे परमात्मस्वरूप सर्वत्र है या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

सिद्ध और संसारी जीव समान सत्तायुक्त स्वरूपसे मौजूद हैं, यह ज्ञानी-पुरुषोंने जो निश्चय किया है, वह यथार्थ है। परन्तु दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धोंमें वह सत्ता प्रगटरूपसे है, और संसारी जीवोंमें वह सत्ता केवल सत्तारूपसे है। जैसे दीपकमें अग्नि प्रगटरूपसे है, और चकमक पत्थरमें वह सत्तारूपसे है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे दीपकमें और चकमक पत्थरमें जो अग्नि है, वह अग्निरूपसे समान है—व्यक्तिरूप (प्रगटरूप) से और शक्तिरूप (सत्तारूप) से भिन्न है, परन्तु उसमें वस्तुकी जातिरूपसे भेद नहीं है; उसी तरह सिद्धके जीवमें जो चेतन-सत्ता है, वही सत्ता सब संसारी जीवोंमें है, भेद केवल प्रगट-अप्रगटपनेका ही है। जिसे वह चेतन-सत्ता प्रगट नहीं हुई ऐसे संसारी जीवको, उस सत्ताके प्रगट होनेके हेतुरूप, प्रगट-सत्तायुक्त ऐसे सिद्धभगवान्का स्वरूप विचार करने योग्य है—ध्यान करने योग्य है—स्तुति करने योग्य है; क्योंकि उससे आत्माको निज-स्वरूपका विचार—ध्यान—स्तुति करनेका भेद प्राप्त होता है; जो अवश्य करने योग्य है। आत्मस्वरूप सिद्धस्वरूपके समान है, यह विचारकर और वर्तमानमें इस आत्मामें उसकी अप्रगटता है, उसका अभाव करनेके लिये उस सिद्ध-स्वरूपका विचार—ध्यान—स्तुति करना योग्य है। यह भेद समझकर सिद्धकी स्तुति करनेमें कोई बाधा नहीं मालूम होती।

'आत्मस्वरूपमें जगत् नहीं है,' यह बात वेदांतमें कही है, अथवा ऐसा योग्य है। परन्तु 'बाह्य जगत् नहीं है,' यह अर्थ केवल जीवको उपशम होनेके लिये ही मानने योग्य गिना जा सकता है।

इस प्रकार इन तीन प्रश्नोंका संक्षिप्त समाधान लिखा है, इसका विशेषरूपसे विचार करना। कुछ विशेष समाधान करनेकी इच्छा हो तो लिखना।

जिस तरह वैराग्य-उपशमकी वृद्धि हो, हालमें तो उसी तरह करना चाहिये।

(२)

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे व्यापकता कहता है।

---

४२१ बम्बई, आषाढ़ सुदी ६ रवि. १९५०

बंध-वृत्तियोंका उपशम करनेके लिये और निवृत्ति करनेके लिये जीवको अभ्यास—सतत अभ्यास–करना चाहिये; क्योंकि बिना विचारके, बिना प्रयासके, उन वृत्तियोंका उपशम अथवा निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? कारणके बिना कोई कार्य होना संभव नहीं है; तो फिर यदि इस जीवने उन वृत्तियोंके उपशम अथवा निवृत्ति करनेका कोई उपाय न किया हो, अर्थात् उसका अभाव न हो तो यह बात स्पष्टरूपसे संभव है। बहुत बार पूर्वकालमें वृत्तियोंके उपशमका तथा निवृत्तिका जीवने अभिमान किया है, परन्तु उस प्रकारका कोई साधन नहीं किया, और अबतक भी उस क्रममें जीव अपना कोई ठिकाना नहीं करता—अर्थात् अभी भी उसे उस अभ्यासमें कोई रस दिखाई नहीं देता। तथा कड़वास माल्म होनेपर भी उस कड़वासके ऊपर पैर रखकर, यह जीव उपशम-निवृत्तिमें प्रवेश नहीं करता। इस बातका इस दुष्ट-परिणामी जीवको बारम्बार विचार करना चाहिये—यह बात किसी भी तरह विस्मरण करने योग्य नहीं।

जिस प्रकारसे पुत्र आदि संपत्तिमें इस जीवको मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निंदनीय है। यदि जीव जरा भी विचार करे तो स्पष्ट मालूम हो जाय कि इस जीवने किसीमें पुत्र-पनेकी भावना करके अपने अहित करनेमें कमी नहीं रक्खी, और किसीमें पिताभाव मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभीतक तो पिता-पुत्र हो सका हो, यह देखा नहीं गया। सब कहते ही कहते आते हैं कि यह इसका पुत्र है, यह इसका पिता है, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट माल्म होता है कि यह बात किसी भी कालमें संभव नहीं। अनुत्पन्न इस जीवको पुत्ररूपसे मानना, अथवा उसे मनवानेकी इच्छा रहना, यह सब जीवकी मूढ़ता है; और वह मूढ़ता किसी भी प्रकारसे सत्संगकी इच्छावाले जीवको करना योग्य नहीं है।

जो तुमने मोह आदिके भेदके विषयमें लिखा, वह दोनोंको भ्रमणका हेतु है—अत्यंत विडम्बनाका हेतु है। ज्ञानी-पुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे तो वह ज्ञानके ऊपर पाँव रखने जैसा है, और वह सब प्रकारसे अज्ञान-निद्राका ही हेतु है। इस भेदका विचार करके दोनोंको सरल भाव करना चाहिये। यह बात अल्पकालमें ही जागृत करने योग्य है।

जितना बने उतना तुम अथवा दूसरे तुम्हारे सत्संगियोंको निवृत्तिका अवकाश लेना चाहिये, वही जीवको हितकारी है।

---

४२२ मोहमयी, आषाढ़ सुदी ६ रवि. १९५०

ॐ

(१)

इस जीवने पूर्वकालमें जो जो साधन किये हैं, वे सब साधन ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे किये हुए माछ्म नहीं होते—यह बात शंकारहित माछ्म होती है। यदि ऐसा हुआ हो तो जीवको संसार-परिभ्रमण ही न हो। ज्ञानी-पुरुषकी जो आज्ञा है वह संसारमें परिभ्रमण करनेके लिये मार्ग-प्रतिबंधके समान है; क्योंकि जिसे आत्मार्थके सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं और आत्मार्थ सिद्ध करके भी जिसकी देह केवल प्रारब्धके वशसे ही मौजूद रहती है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञा सन्मुख जीवको केवल आत्मार्थमें ही प्रेरित करती है; और इस जीवने तो पूर्वकालमें कोई आत्मार्थ जाना ही नहीं—बल्कि उल्टा आत्मार्थ विस्मरणरूपसे ही चला आता है। यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे आत्मार्थ साधन करे, तो उससे आत्मार्थ नहीं होता, बल्कि उल्टा 'आत्मार्थका साधन करता हूँ' इस प्रकार दुरभिमान उत्पन्न होता है, जो जीवको संसारका मुख्य हेतु है। जो बात स्वप्नमें भी नहीं आती, उसे जीव यदि निरर्थक कल्पनासे साक्षात्कार सरीखी मान ले तो उससे कल्याण नहीं हो सकता। तथा इस जीवके पूर्वकालसे अंध रहते हुए भी यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे ही आत्मार्थ मान भी ले तो उसमें सफलता न मिले, यह बात ऐसी है जो बिल्कुल समझमें आ सकती है।

इससे इतना तो माछ्म होता है कि जीवके पूर्वकालीन समस्त मिथ्या साधन—कल्पित साधन दूर करनेके लिये अपूर्व ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और उसका अपूर्व विचारके बिना उत्पन्न होना संभव नहीं है, और वह अपूर्व विचार अपूर्व पुरुषकी आराधना किये बिना दूसरी किस तरह जीवको प्राप्त हो, यह विचार करते हुए अंतमें यही सिद्ध होता है कि ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाका आराधन, यह सिद्धि-पदका सर्वश्रेष्ठ उपाय है; और जबसे इस बातको जीव मानने लगता है, तभीसे दूसरे दोषोंका उपशम होना—निवृत्त होना शुरू हो जाता है।

श्रीजिनभगवान्ने इस जीवके अज्ञानकी जो जो व्याख्या की है, उसमें प्रतिसमय उसे अनंत कर्मका व्यवसायी कहा है, और वह अनादि कालसे अनंत कर्मका बंध करता चला आया है, ऐसा कहा है। यह बात यथार्थ है। परन्तु यहाँ आपको एक शंका हुई है कि तो फिर उस तरहके अनंत कर्मोंके निवृत्त करनेके लिये चाहे जैसा बलवान साधन होनेपर भी अनंत काल बीतनेपर भी उसमें सफलता नहीं मिल सकती!

इसका उत्तर यह है कि यदि सर्वथा ऐसा ही हो तो जैसा तुमने लिखा है वैसा संभव है। परन्तु जिनभगवान्ने प्रवाहसे जीवको अनंत कर्मका कर्त्ता कहा है—वह अनंतकालसे कर्मका कर्त्ता चला आता है, ऐसा कहा है। परन्तु यह नहीं कहा कि वह प्रतिसमय, जो अनंत कालतक भोगना पड़े ऐसे कर्मको आगामी कालके लिये उपार्जन करता है। किसी जीवकी अपेक्षासे इस बातको दूर रखकर, विचार करते हुए ऐसा कहा है कि सब कर्मोंका मूलभूत जो अज्ञान-मोह परिणाम है, वह अभी जीवमें ऐसाका ऐसा ही चला आता है, जिस परिणामसे उसे अनंत कालतक परिभ्रमण हुआ है; और यदि यह परिणाम अभी भी रहा

करे तो अभी भी उस ही तरह अनंत कालतक परिभ्रमण चलता चला जाय। अग्निके एक स्फुलिंगमें इतनी सामर्थ्य है कि वह समस्त लोकको जला सकता है, परन्तु उसे जैसा जैसा संयोग मिलता है, वैसे वैसे उसका गुण फलयुक्त होता है। उसी तरह अज्ञान-परिणाममें जीव अनादि कालसे भटकता रहा है; तथा संभव है कि अभी अनंत कालतक भी चौदह राजू लोकमें प्रत्येक प्रदेशमें उस परिणामसे अनंत जन्म-मरण होना संभव हो। फिर भी जिस तरह स्फुलिंगकी अग्नि संयोगके आधीन है, उसी तरह अज्ञानके कर्म परिणामकी भी कोई प्रकृति होती है। उत्कृष्टसे उत्कृष्ट यदि एक जीवको मोहनीय कर्मका बंध हो तो सत्तर कोड़ाकोड़ीतक हो सकता है, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है। उसका हेतु स्पष्ट है कि यदि जीवको अनंत कालका बंधन होता हो तो फिर जीवको मोक्ष ही न हो। यह बंध यदि अभी निवृत्त न हुआ हो, परन्तु लगभग निवृत्त होनेके लिये आया हो, तो कदाचित् उस प्रकारकी दूसरी स्थितिका बंध होना संभव है, परन्तु इस प्रकारके मोहनीय कर्मको—जिसकी काल-स्थिति ऊपर कही है—एक समयमें अधिक बाँधना संभव नहीं होता। अनुक्रमसे अभीतक उस कर्मसे निवृत्त होनेके पहिले दूसरा उसी स्थितिका कर्म बाँधे, तथा दूसरेके निवृत्त होनेके पहिले तीसरा कर्म बाँधे; परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा इस तरह सबके सब कर्म एक मोहनीय कर्मके संबंधसे उसी स्थितिको बाँधते रहें, ऐसा नहीं होता। क्योंकि जीवको इतना अवकाश नहीं है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी स्थिति है। तथा आयु कर्मकी स्थिति श्रीजिनभगवान्ने इस तरह कही है कि एक जीव एक देहमें रहते हुए, उस देहकी जितनी आयु है, उसके तीन भागोंमेंसे दो भाग व्यतीत हो जानेपर आगामी भवकी आयु बाँधता है, उससे पहिले नहीं बाँधता। तथा एक भवमें आगामी कालके दो भवोंकी आयु नहीं बाँधता, ऐसी स्थिति है। अर्थात् जीवको अज्ञान-भावसे कर्म-संबंध चला आ रहा है; फिर भी उन उन कर्मोंकी स्थितिके कितनी भी विडंबनारूप होनेपर, अनंत दुःख और भवका हेतु होनेपर भी, जिस जिसमें जीव उससे निवृत्त हो, उतने अमुक प्रकारको निकाल देनेपर सब अवकाश ही अवकाश है। इस बातको जिनभगवान्ने बहुत सूक्ष्मरूपसे कहा है, उसका विचार करना योग्य है; जिसमें जीवको मोक्षका अवकाश कहकर कर्मबंध कहा है। यह बात आपको संक्षेपमें लिखी है। उसे फिर फिरसे विचार करनेसे कुछ समाधान होगा, और क्रमसे अथवा समागमसे उसका एकदम समाधान हो जायगा।

जो सत्संग है वह कामके जलानेका प्रबल उपाय है। सब ज्ञानी-पुरुषोंने कामके जीतनेको अत्यंत कठिन कहा है, यह सर्वथा सिद्ध है; और ज्यों ज्यों ज्ञानीके वचनका अवगाहन होता है त्यों त्यों कुछ कुछ करके पीछे हटनेसे अनुक्रमसे जीवका वीर्य प्रबल होकर जीवसे कामकी सामर्थ्यको नाश कराता है। जीवने ज्ञानी-पुरुषके वचन सुनकर कामका स्वरूप ही नहीं जाना; और यदि जाना होता तो उसकी उस विषयमें सर्वथा नीरसता हो गई होती।

(२)

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिसकी प्रत्यक्ष दशा ही बोधरूप है, उस महान् पुरुषको धन्य है।

जिस मतभेदसे यह जीव ग्रस्त हो रहा है, वही मतभेद ही उसके स्वरूपका मुख्य आवरण है।

वीतराग पुरुषके समागम बिना, उपासना बिना इस जीवको मुमुक्षुता कैसे उत्पन्न हो? सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो? सम्यग्दर्शन कहाँसे हो? सम्यक्‌चारित्र कहाँसे हो? क्योंकि ये तीनों वस्तुएँ अन्य स्थानमें नहीं होतीं।

हे मुमुक्षु! वीतराग पुरुषके अभावके समान यह वर्त्तमान काल है।

वीतराग-पद बारंबार विचार करने योग्य है, उपासना करने योग्य है, और ध्यान करने योग्य है।

---

४२३ मोहमयी, आषाढ़ सुदी १५ भौम. १९५०

ॐ

प्रश्नः—भगवान्‌ने ऐसा प्रतिपादन किया है कि चौदह राजू लोकमें काजलके कुएँकी तरह सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव भरे हुए हैं। ये जीव इस तरहके कहे गये हैं जो जलानेसे जलते नहीं, छेदनेसे छिदते नहीं और मारनेसे मरते नहीं। उन जीवोंके औदारिक शरीर नहीं होता, क्या इस कारण उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता? अथवा औदारिक शरीर होनेपर भी क्या उसका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता? तथा यदि औदारिक शरीर हो तो फिर उस शरीरका अग्नि आदिसे क्यों व्याघात नहीं होता?

इस प्रश्नको पढ़ा है। विचारके लिये उसका यहाँ संक्षेपमें समाधान लिखा है।

उत्तरः—एक देहको त्यागकर दूसरी देह धारण करते समय जब कोई जीव रास्तेमें रहता है, उस समय अथवा अपर्याप्त अवस्थामें उसे केवल तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं; बाकीकी सब अवस्थाओंमें अर्थात् कर्मसहित स्थितिमें सब जीवोंको श्रीजिनभगवान्‌ने कार्मण तैजस, तथा औदारिक अथवा वैक्रियक इन दो शरीरोंमेंसे किसी एक शरीरकी संभावना बताई है। केवल मार्गमें रहनेवाले जीवको ही कार्मण और तैजस ये दो शरीर होते हैं; अथवा जबतक जीवकी अपर्याप्त स्थिति है, तबतक उसका कार्मण और तैजस शरीरसे निर्वाह हो सकता है, परन्तु पर्याप्त स्थितिमें उसके नियमसे तीसरा शरीर होना संभव है। आहार आदिके ग्रहण करनेरूप ठीक ठीक सामर्थ्यका होना, यह पर्याप्त स्थितिका लक्षण है; और इस आहार आदिका जो कुछ भी ग्रहण करना है, वह तीसरे शरीरका प्रारंभ है; अर्थात् वहींसे तीसरा शरीर शुरू हुआ समझना चाहिये। भगवान्‌ने जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कहे हैं, उनका अग्नि आदिसे व्याघात नहीं होता। उन जीवोंके पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय होनेसे यद्यपि उनके तीन शरीर होते हैं, परन्तु उनके जो तीसरा औदारिक शरीर है, वह इतनी सूक्ष्म अवगाहनायुक्त है कि उसे शस्त्र आदिका स्पर्श नहीं हो सकता। अग्नि आदिका जो स्थूलत्व है, और एकेन्द्रिय शरीरका जो सूक्ष्मत्व है, वह इस प्रकारका है कि जिसे एक दूसरेका संबंध नहीं हो सकता। अर्थात् यदि ऐसा कहें कि यदि उनका साधारण संबंध हो, तो भी अग्नि शस्त्र आदिमें जो अवकाश है, उस अवकाशमेंसे उन एकेन्द्रिय जीवोंका सुगमतासे गमनागमन हो सकनेके कारण, उन जीवोंका नाश हो सके, अथवा उनका व्याघात हो, अथवा उस प्रकारका उन्हें अग्नि

शस्त्र आदिका संबंध हो, यह नहीं होता। यदि उन जीवोंकी स्थूल अवगाहना हो, अथवा अग्नि आदिका अत्यंत सूक्ष्मपना हो, जिससे उनकी भी एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाय, तो वे एकेन्द्रिय जीवका व्याघात करनेमें समर्थ गिने जाँय, परन्तु वैसा तो है नहीं। यहाँ तो जीवोंका अत्यंत सूक्ष्मत्व है, और अग्नि शस्त्र आदिका अत्यन्त स्थूलत्व है, इस कारण उनमें व्याघात करने योग्य संबंध नहीं होता, ऐसा भगवान्ने कहा है। परन्तु इस कारण औदारिक शरीरको अविनाशी कहा है, यह बात नहीं है; उसके स्वभावसे अन्यथारूप होनेसे अथवा उपार्जित किये हुए उन जीवोंके पूर्वकर्मके परिणामसे औदारिक शरीरका नाश होता है। वह शरीर कुछ दूसरेसे नाश किया जाय तो ही उसका नाश हो, यह भी नियम नहीं है।

यहाँ हालमें व्यापारसंबंधी प्रयोजन रहता है, इस कारण तुरत ही थोड़े समयके लिये भी निकल सकना कठिन है, क्योंकि प्रसंग इस प्रकारका है कि जिसमें समागमके लोग मेरी मौजूदगीको आवश्यक समझते हैं। उनके मनको चोट न पहुँच सके, अथवा उनके काममें यहाँसे मेरे दूर चले जानेसे कोई प्रबल हानि न हो सके, ऐसा व्यवसाय हो तो वैसा करके थोड़े समयके लिये इस प्रवृत्तिसे अवकाश लेनेका चित्त है। परन्तु तुम्हारी तरफ आनेसे लोगोंके परिचयमें आना जरूर ही संभव होगा, इसलिये उस तरफ आनेका चित्त होना कठिन है। इस प्रकारका प्रसंग रहनेपर भी यदि लोगोंके परिचयमें धर्मके प्रसंगसे आना पड़े, तो उसे विशेष शंका योग्य समझकर जैसे बने तैसे उस परिचयसे धर्म-प्रसंगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका ही चित्त रहा करता है।

जिससे वैराग्य-उपशमके बलकी वृद्धि हो, उस प्रकारके सत्संग–सत्शास्त्रका परिचय करना, यह जीवको परम हितकारी है। दूसरे परिचयको जैसे बने तैसे निवृत्त करना ही योग्य है।

---

४२४ बम्बई, श्रावण सुदी ११ रवि. १९५०

ॐ

योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंके बाँचने-विचारनेमें कोई दूसरी बाधा नहीं। हमने पहिले लिखा था कि उपदेश-ग्रंथ समझकर इस प्रकारके ग्रंथोंके विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः वैसे ग्रंथ वैराग्य और उपशमके लिये हैं। सत्पुरुषसे जानने योग्य सिद्धांत-ज्ञानको जानकर जीवमें सरलता, निरभिमानता आदि गुणोंके उद्भव होनेके लिये योगवासिष्ठ, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग आदिके विचारनेमें कोई बाधा नहीं, इतना स्मरण रखना।

वेदांत और जिन-सिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है।

वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्व स्थितिको कहता है, जिनागममें उससे भिन्न ही रूप कहा गया है। समयसार पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। 'एक ब्रह्मरूप' के विचार करनेमें बाधा नहीं, अथवा 'अनेक आत्मा' के विचार

करनेमें भी बाधा नहीं। तुम्हें तथा दूसरे किसी मुमुक्षुको मात्र अपने स्वरूपका जानना ही मुख्य कर्त्तव्य है; और उसके जाननेके शम, संतोष, विचार और सत्संग ये साधन हैं। उन साधनोंके सिद्ध हो जानेपर और वैराग्य-उपशमके परिणामकी वृद्धि होनेपर ही, 'आत्मा एक' है अथवा 'आत्मा अनेक हैं,' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है।

---

४२५ बम्बई, श्रावण सुदी १४, १९५०

निःसारताको अत्यंतरूपसे जाननेपर भी व्यवसायका प्रसंग आत्म-वीर्यकी कुछ भी मंदताका ही कारण होता है; वह होनेपर भी उस व्यवसायको करते हैं। जो आत्मासे सहन करने योग्य नहीं, उसे सहन करते हैं। यही विनती है।

---

४२६ बम्बई, श्रावण सुदी १४, १९५०

जिस तरह आत्म-बल अप्रमादी हो, उस तरह सत्संग—सद्वाचनका समागम नित्यप्रति करना योग्य है। उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं—अवश्य ऐसा करना योग्य नहीं।

---

४२७ बम्बई, श्रावण वदी १, १९५०

जैसे पानीके स्वभावसे शीतल होनेपर भी उसे यदि किसी बरतनमें रखकर नीचे अग्नि जलती हुई रख दी जाय, तो उसकी इच्छा न होनेपर भी वह पानी उष्ण हो जाता है; उसी तरह यह व्यवसाय भी समाधिसे शीतल ऐसे पुरुषके प्रति उष्णताका कारण होता है, यह बात हमें तो स्पष्ट लगती है।

वर्धमानस्वामीने गृहवासमें ही यह सर्व व्यवसाय असार है—कर्त्तव्यरूप नहीं है—ऐसा जान लिया था, तथापि उन्होंने उस गृहवासको त्यागकर मुनि-चर्या ग्रहण की थी। उस मुनित्वमें भी आत्म-बलसे समर्थ होनेपर भी, उस बलकी अपेक्षा भी अत्यंत अधिक बलकी जरूरत है; ऐसा जानकर उन्होंने मौन और अनिद्राका लगभग साढ़े बारह वर्षतक सेवन किया है, जिससे व्यवसायरूप अग्नि तो प्रायः पैदा न हो सके।

जो वर्धमानस्वामी गृहवासमें होनेपर भी अभोगी जैसे थे—अव्यवसायी जैसे थे—निस्पृह थे—और सहज स्वभावसे मुनि जैसे थे—आत्मस्वरूप परिणामयुक्त थे, वे वर्धमानस्वामी सर्व व्यवसायमें असारता जानकर—नीरसता जानकर भी दूर रहे, उस व्यवसायको करते हुए दूसरे जीवने उसमें किस प्रकारसे समाधि रखनेका विचार किया है, यह विचार करने योग्य है। उसे विचारकर फिर फिरसे उस चर्याको प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक प्रवृत्तिमें, स्मरण करके व्यवसायके प्रसंगमें रहती हुई इस रुचिका नाश करना ही योग्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो प्रायः करके ऐसा लगता है कि अभी इस जीवकी मुमुक्षु-पदमें यथायोग्य अभिलाषा नहीं हुई, अथवा यह जीव मात्र लोक-संज्ञासे ही कल्याण हो जाय, इस प्रकारकी भावना करना चाहता है। परन्तु उसे कल्याण करनेकी अभिलाषा करना योग्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही जीवोंके एकसे परिणाम हों, और एकको बंध हो, दूसरेको बंध न हो, ऐसा त्रिकालमें भी होना योग्य नहीं।

४२८

श्रीमान् महावीरस्वामी जैसोंने भी अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासरूपका वेदन किया; गृहवाससे निवृत्त होनेपर भी साढ़े बारह (वरस) जैसे दीर्घ कालतक मौन रक्खा; निद्रा छोड़कर विषम परीषह सहन किये, इसका क्या हेतु है ? और यह जीव इस प्रकार वर्ताव करता है, तथा इस प्रकार कहता है, इसका क्या हेतु है ?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके बिना केवल अपनी कल्पनासे ही आत्म-स्वरूपका निश्चय करे, वह केवल अपने स्वच्छंदके उदयका वेदन करता है—ऐसा विचार करना योग्य है ।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके ही आश्रयसे चले, वह जीव सहजमात्रमें भव-वृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अमर होनेके लिये ज़हर पीता है ।

४२९

बम्बई, श्रावण वदी ७, १९५०

तुम्हारी और दूसरे मुमुक्षु लोगोंकी चित्तकी दशा माल्म की है। ज्ञानी-पुरुषोंने अप्रतिबद्धताको ही प्रधान मार्ग कहा है; और सबसे अप्रतिबद्ध दशाका लक्ष रखकर ही प्रवृत्ति रहती है, तो भी सत्संग आदिमें अभी हमें भी प्रतिबद्ध बुद्धि रखनेका ही चित्त रहता है । हालमें हमारे समागमका प्रसंग नहीं है, ऐसा जानकर तुम सब भाईयोंको, जिस प्रकारसे जीवको शांत दांतभाव उद्भूत हो, उस प्रकारसे बाँचन आदिका समागम करना योग्य है—यह बात दृढ़ करने योग्य है ।

४३०

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि. १९५०

जीवमें जिस तरह त्याग वैराग्य और उपशम गुण प्रगट हों–उदित हों, उस क्रमको लक्षमें रखनेकी जिस पत्रमें सूचना लिखी थी, वह पत्र प्राप्त हुआ है ।

जबतक ये गुण जीवमें स्थिर नहीं होते तबतक जीवसे यथार्थरूपसे आत्मस्वरूपका विशेष विचार होना कठिन है । 'आत्मा रूपी है या अरूपी है ?' इत्यादि विकल्पोंका जो उससे पहिले ही विचार किया जाता है, वह केवल कल्पना जैसा है । जीव कुछ भी गुण प्राप्त करके यदि शीतल हो जाय, तो फिर उसे विशेष विचार करना चाहिये । आत्म-दर्शन आदि प्रसंग, तीव्र मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेके पहिले प्रायः करके कल्पितरूपसे ही समझमें आते हैं; जिससे हालमें इस विषयकी शंकाका शान्त करना ही योग्य है।

४३१

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि. १९५०

(१) प्रारब्ध-वशसे प्रसंगकी चारों दिशाओंके दबावसे कुछ व्यवसाययुक्त कार्य होते हैं; परन्तु चित्तके परिणामके साधारण प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए विशेष संकुचित रहनेके कारण, इस प्रकारका पत्र आदि लिखना वगैरह नहीं हो सकता; जिससे अधिक नहीं लिखा, इसलिये दोनों जने क्षमा करें ।

(२) इस समय किसी भी परिणामकी ओर ध्यान नहीं ।

---

४३२ बम्बई, श्रावण वदी १५ गुरु. १९५०

तुम्हें कुछ ज्ञान-वार्त्ताके प्रसंगमें उपकारक प्रश्न उठते हैं, उन्हें तुम हमें लिखकर सूचित करते हो, और उनके समाधानकी तुम्हारी विशेष इच्छा रहती है। इससे किसी भी प्रकारसे यदि तुम्हें उन प्रश्नोंका समाधान लिखा जाय तो ठीक हो, यह विचार चित्तमें रहते हुए भी उदय-योगसे वैसा नहीं बनता। पत्र लिखनेमें चित्तकी स्थिरता बहुत ही कम रहती है; अथवा चित्त उस कार्यमें अल्पमात्र छाया जैसा ही प्रवेश कर सकता है। जिससे तुम्हें विशेष विस्तारसे पत्र नहीं लिखा जाता। चित्तकी स्थितिके कारण एक एक पत्र लिखते हुए दस-दस पाँच-पाँच बार, दो-दो चार-चार लाइन लिखकर उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। क्रियामें रुचि नहीं है, तथा हालमें उस क्रियामें प्रारब्ध-बलके भी विशेष उदययुक्त न होनेसे तुम्हें तथा दूसरे मुमुक्षुओंको विशेषरूपसे कुछ ज्ञान-चर्चा नहीं लिखी जा सकती। इसके लिये चित्तमें खेद रहा करता है; परन्तु हालमें तो उसका उपशम करनेका ही चित्त रहता है। हालमें इसी तरहकी कोई आत्म-दशाकी स्थिति रहती है। प्रायः जान-बूझकरके कुछ करनेमें नहीं आता, अर्थात् प्रमाद आदि दोषके कारण वह क्रिया नहीं होती, ऐसा नहीं माल्म होता।

समयसार ग्रंथकी कविता आदिका तुम जो मुखरससंबंधी ज्ञानविषयक अर्थ समझते हो वह वैसा ही है; ऐसा सब जगह है, ऐसा कहना योग्य नहीं। बनारसीदासने समयसार ग्रंथको हिन्दी भाषामें करते हुए बहुतसे कवित्त, सवैया वगैरहमें उस प्रकारकी ही बात कही है; और वह किसी तरह बीज-ज्ञानसे मिलती हुई माल्म होती है; फिर भी कहीं कहीं उस प्रकारके शब्द उपमारूपसे भी आते हैं। बनारसीदासने जो समयसार बनाया है, उसमें जहाँ जहाँ वे शब्द आये हैं वहाँ वहाँ सब जगह वे उपमारूपसे ही हैं, ऐसा माल्म नहीं होता; परन्तु बहुतसी जगह वे शब्द वस्तुरूपसे कहे हैं, ऐसा मालूम होता है। यद्यपि यह बात कुछ आगे चलनेपर मिल सकती है, अर्थात् तुम जिसे बीज-ज्ञानमें कारण मानते हो, उससे कुछ आगे बढ़ती हुई बात अथवा वही बात, उसमें विशेष ज्ञानसे अंगीकार की हुई माल्म होती है।

उनकी समयसार ग्रंथकी रचनाके ऊपरसे माल्म होता है कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका संयोग बना होगा। मूल समयसारमें बीज-ज्ञानके विषयमें इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई नहीं माल्म होती, और बनारसीदासने तो बहुत जगह वस्तुरूपसे और उपमारूपसे वह बात कही है। जिसके ऊपरसे ऐसा माल्म होता है कि बनारसीदासको, साथमें अपनी आत्माके विषयमें जो कुछ अनुभव हुआ है, उन्होंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है, जिससे वह बात किसी विचक्षण जीवके अनुभवको आधारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो।

ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षण आदिके भेदसे जीवका विशेष निश्चय किया था, और उस उस लक्षण आदिके सतत मनन होते रहनेसे, उनके अनुभवमें आत्म-स्वरूप कुछ तीक्ष्णरूपसे आया है; और उनको अव्यक्तरूपसे आत्म-द्रव्यका भी लक्ष हुआ है; और उस 'अव्यक्त लक्ष'से उन्होंने उस बीज-ज्ञानको गाया है। 'अव्यक्त लक्ष'का अर्थ यहाँ यह है कि चित्त-वृत्तिके विशेषरूपसे आत्म-विचारमें लगे रहनेसे, बनारसीदासको जिस अंशमें परिणामकी निर्मल धारा प्रगट हुई

६२१ बम्बई, आषाढ़ वदी ८ रवि. १९५२

भुजाके द्वारा जो स्वयंभूरमण समुद्रको तिर गये हैं, तैरते हैं और तैरेंगे, उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार हो.

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धके सहन करते हुए, कुछ एक परमार्थ-व्यवहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, और उन कारणोंसे पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। चित्तको जो सहज ही अवलंबन है, उसे खींच लेनेसे आर्तभाव होगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे इस पत्रको लिखा है।

सूक्ष्मसंगरूप और बाह्यसंगरूप दुस्तर स्वयंभूरमण समुद्रको जो वर्धमान आदि पुरुष भुजासे तिर गये हैं, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो! च्युत होनेके भयंकर स्थानकमें सावधान रहकर, तथारूप सामर्थ्य विस्तृत करके जिसने सिद्धिको साधा है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमांचित, अनंत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

६२२

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबंध रहता है, उसमें कुछ लिखना अथवा कहना कृत्रिम जैसा ही मालूम होता है, और उससे हालमें पत्र आदिकी पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। बहुतसे पत्रोंके लिये वैसा ही हुआ है, इस कारण चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है। आत्माको जो मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले, ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है; और किसी किसी कठिन अवसरपर कभी तो वह आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देनेतककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा समझकर, उससे डरकर ही आचरण करना योग्य है। यह विचारकर पत्र आदिकी पहुँच नहीं लिखी; उसे क्षमा करनेकी नम्रता-सहित प्रार्थना है।

अहो! ज्ञानी-पुरुषका आशय, गंभीरता, धीरज और उपशम। अहो! अहो! बारम्बार अहो! ॐ.

---

६२३ बम्बई, आषाढ़ वदी १५ सोम. १९५२

तुम्हें तथा दूसरे किसी सत्समागमकी निष्ठावाले भाईयोंको हमारे समागमकी अभिलाषा रहा करती है, वह बात जाननेमें है, परन्तु उस विषयके अमुक कारणोंका विचार करते हुए प्रवृत्ति नहीं होती। प्रायः चित्तमें ऐसा रहा करता है कि हालमें अधिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नहीं है। प्रथमसे ही इस प्रकारका विचार रहा करता था, और जो विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था। किन्तु उदयवशसे बहुतसे भाईयोंको समागम होनेका प्रसंग हुआ; जिसे एक प्रकारसे प्रतिबंध होने जैसा समझा था, और हालमें कुछ भी वैसा हुआ मालूम होता है। वर्तमान आत्म-दशा देखते हुए उतना प्रतिबंध होने देने योग्य सत्ता मुझे संभवित नहीं है। यहाँ प्रसंगसे कुछ कुछ स्पष्ट अर्थ कह देना उचित है।

मानमें प्रायः करके चित्त उदासीन जैसा है, अथवा उस क्रममें चित्तको विशेष उदासीन किया हो, तो हो सकना संभव है।

शब्द आदि विषयोंके प्रति कोई भी बलवान कारण अवरोधक हो, ऐसा भी माळूम नहीं होता। यद्यपि यह कहनेका प्रयोजन नहीं है कि उन विषयोंका सर्वथा क्षायिक भाव ही है, फिर भी उसमें अनेक रूपसे नीरसता भासित हो रही है। उदयसे भी कभी मंदरुचि उत्पन्न होती हो, तो वह भी विशेष अवस्था पानेके पहिले ही नाश हो जाती है, और उस मंद रुचिका वेदन करते हुए भी आत्मामें खेद ही रहता है; अर्थात् उस रुचिके आधारहीन होती जानेसे वह भी बलवान कारणरूप नहीं है।

दूसरे और भी अनेक प्रभावक पुरुष हुए हैं, उनकी अपेक्षा किसी रीतिसे हममें विचार-दशा आदिका प्राबल्य ही होगा। ऐसा लगता है कि उस प्रकारके प्रभावक पुरुष आज माळूम नहीं होते; और मात्र उपदेशकरूपसे नाम जैसी प्रभावनासे प्रवर्तन करते हुए कोई कोई ही देखनेमें—सुननेमें आते हैं। उनकी विद्यमानताके कारण हमें कोई अवरोधकता हो, ऐसा भी माळूम नहीं होता।

---

४३३ बम्बई, भाद्र. सुदी ३ रवि. १९५०

जीवको ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान होनेपर, तथाप्रकारसे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभका शिथिल होना योग्य है, जिसके होनेपर अनुक्रमसे उसका क्षय होता है। ज्यों ज्यों जीवको सत्पुरुषकी पहिचान होती है, त्यों त्यों मताभिग्रह, दुराग्रह आदि भाव शिथिल पड़ने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त फिर जाता है, विकथा आदि भावमें नीरसता लगने लगती है, अथवा जुगुप्सा उत्पन्न होती है। जीवको अनित्य आदि भावनाके चिंतन करनेके प्रति, बल-वीर्यके स्फुरित होनेमें जिस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषके पास उपदेश सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पंच-विषय आदिमें अनित्य आदि भावको दृढ करता है।

अर्थात् सत्पुरुषके मिलनेपर, यह सत्पुरुष है, इतना जानकर, सत्पुरुषके जाननेके पहिले जिस तरह आत्मा पंचविषय आदिमें आसक्त थी, उस तरह उसके पश्चात् आसक्त नहीं रहती, और अनुक्रमसे जिससे वह आसक्ति-भाव शिथिल पड़े, इस प्रकारके वैराग्यमें जीव प्रवेश करता है। अथवा सत्पुरुषका संयोग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं है, फिर भी सत्पुरुषमें—उसके वचनमें—उस वचनके आशयमें, जबतक प्रीति-भक्ति न हो तबतक जीवमें आत्म-विचार भी प्रगट होना योग्य नहीं; और सत्पुरुषका जीवको संयोग हुआ है, इस प्रकार ठीक ठीक जीवको भासित हुआ है, ऐसा कहना भी कठिन है।

जीवको सत्पुरुषका संयोग मिलनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अबतक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके लिये थे, वे सब निष्फल थे—लक्षके बिना छोड़े हुए बाणकी तरह थे, परन्तु अब सत्पुरुषका अपूर्व संयोग मिला है, तो वह मेरे सब साधनोंके सफल होनेका हेतु है। लोक-प्रसंगमें रह-कर अबतक जो निष्फल—लक्षरहित साधन किये हैं, अब उस प्रकारसे सत्पुरुषके संयोगमें न करते हुए, जरूर अंतर-आत्मामें विचारकर दृढ परिणाम रखकर, जीवको इस संयोगमें—वचनमें जागृत होना योग्य

है—जागृत रहना योग्य है; और उस उस प्रकारसे भावना करके जीवको दृढ़ करना चाहिये, जिससे उसको प्राप्त हुआ संयोग निष्फल न चला जाय, और सब प्रकारसे आत्मामें यही बल बढ़ाना चाहिये कि इस संयोगसे जीवको अपूर्व फलका होना योग्य है। उसमें अंतराय करनेवाले—

" 'मैं जानता हूँ' यह मेरा अभिमान,

कुल-धर्म, और जिसे करते हुए चले आते हैं उस क्रियाका कैसे त्याग किया जा सकता है, ऐसा लोक-भय,

सत्पुरुषकी भक्ति आदिमें भी लौकिक भाव,

और कदाचित् किसी पंचविषयाकार कर्मको ज्ञानीके उदयमें देखकर उस तरहके भावका स्वयं आराधन करना "—इत्यादि जो भेद हैं, वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ है। इस भेदको विशेषरूपसे समझना चाहिये। फिर भी इस समय जितना लिखा जा सका उतना लिखा है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्वके लिये संक्षेपमें जो व्याख्या कही थी, उससे मिलती हुई व्याख्या·······के स्मरणमें है।

जहाँ जहाँ इस जीवने जन्म लिया है—भवके रूप धारण किये हैं, वहाँ वहाँ तथाप्रकारके अभिमानसे ही इस जीवने आचरण किया है—जिस अभिमानको निवृत्त किये बिना ही इस जीवने उस उस देहका और देहके संबंधमें आनेवाले पदार्थोंका त्याग किया है; अर्थात् अभीतक उस भावको उस ज्ञान-विचारके द्वारा नष्ट नहीं किया, और वे वे पूर्व संज्ञायें इस जीवके अभिमानमें अभी वैसीकी वैसी ही रहती चली आतीं हैं—यही इसे समस्त लोककी अधिकरण क्रियाका हेतु कहा है।

---

४३४ बम्बई, भाद्र. सुदी ४ सोम. १९५०

कबीर साहबके दो पद और चारित्रसागरके एक पदको उन्होंने निर्भयतासे कहा है, यह जो लिखा है उसे पढ़ा है। श्रीचारित्रसागरके उस प्रकारके बहुतसे पद पहिले भी पढ़नेमें आये हैं। वैसी निर्भय वाणी मुमुक्षु जीवको प्रायः धर्म-पुरुषार्थमें बलवान बनाती है। हमारे द्वारा उस प्रकारके पद अथवा काव्य रचे हुए देखनेकी जो तुम्हारी इच्छा है, उसे हालमें उपशान्त करना ही योग्य है। क्योंकि हालमें वैसे पद बाँचने-विचारने अथवा बनानेमें उपयोगका प्रवेश नहीं हो सकता—छायाके समान भी प्रवेश नहीं हो सकता।

---

४३५ बम्बई, भाद्र. सुदी ४ सोम. १९५०

(१)

तुम्हारी विद्यमानतामें प्रभावके हेतुकी तुम्हें जो विशेष जिज्ञासा है, और यदि वह हेतु उत्पन्न हो तो तुम्हें जो अतीव हर्ष उत्पन्न होगा, उस विशेष जिज्ञासा और असीम हर्षसंबंधी तुम्हारी चित्तवृत्तिको हम समझते हैं।

अनेक जीवोंकी अज्ञान दशा देखकर—तथा वे जीव अपना कल्याण करते हैं अथवा अपना कल्याण होगा, इस प्रकारकी भावनासे अथवा इच्छासे, उन्हें अज्ञान-मार्ग प्राप्त करते हुए देखकर—उसके लिये अत्यंत करुणा होती है, और किसी भी प्रकारसे इसे दूर करना ही योग्य है, ऐसा हो आता है। अथवा उस प्रकारका भाव चित्तमें वैसाका वैसा ही रहा करता है, फिर भी वह जिस प्रकार होने योग्य होगा उस प्रकारसे होगा, और जिस समय वह बात होने योग्य होगी उस समय होगी—यह बात भी चित्तमें रहा करती है। क्योंकि उस करुणाभावका चिंतवन करते करते आत्मा बाह्य माहात्म्यका सेवन करे, ऐसा होने देना योग्य नहीं; और अभी कुछ उस प्रकारका भय रखना योग्य लगता है। हालमें तो प्रायः दोनों ही बातें नित्य विचारनेमें आतीं हैं, फिर भी बहुत समीपमें उसका परिणाम आना संभव नहीं माळूम होता, इसलिये जहाँतक बना वहाँतक तुम्हें नहीं लिखा अथवा कहा नहीं है। तुम्हारी इच्छा होनेसे वर्तमानमें जो स्थिति है, उसे इस संबंधमें संक्षेपसे लिखी है; और उससे तुम्हें किसी भी प्रकारसे उदास होना योग्य नहीं, क्योंकि हमें वर्तमानमें उस प्रकारका उदय नहीं है, परन्तु हमारा आत्म-परिणाम उस उदयको अल्प-कालमें ही दूर करनेकी ओर है। अर्थात् उस उदयकी काल-स्थिति किसी प्रकारसे अधिक दृढ़तासे वेदन करनेसे घटती हो तो उसे घटानेमें ही रहती है। बाह्य माहात्म्यकी इच्छा आत्माको बहुत समयसे नहीं जैसी ही हो गई है। अर्थात् बुद्धि बाह्य माहात्म्यको प्रायः इच्छा करती हुई नहीं माळूम होती, फिर भी बाह्य माहात्म्यके कारण, जीव जिससे थोड़ा भी परिणाम-भेद प्राप्त न करे, ऐसी स्वस्थतामें कुछ न्यूनता कहनी योग्य है; और उससे जो कुछ भय रहता है, वह तो रहता ही है; जिस भयसे तुरत ही मुक्ति होगी, ऐसा माळूम होता है।

(२)

प्रश्नः—यद्यपि सोनेकी आकृतियाँ जुदी जुदी होती हैं, परन्तु यदि उन आकृतियोंको आगमें डाल दिया जाय तो वे सब आकृतियाँ मिटकर एक केवल सोना ही अवशेष रह जाता है, अर्थात् सब आकृतियाँ जुदे जुदे द्रव्यत्वका त्याग कर देती हैं, और सब आकृतियोंकी जातिकी सजातीयता होनेसे वे मात्र एक सोनेरूप द्रव्यत्वको प्राप्त होती हैं। इस तरह दृष्टांत लिखकर आत्माकी मुक्ति और द्रव्यके सिद्धांतके ऊपर जो प्रश्न किया है, उस संबंधमें संक्षेपमें निम्न प्रकारसे कहना योग्य है।

उत्तरः—सोना औपचारिक द्रव्य है, यह जिनभगवान्का अभिप्राय है; और जब वह अनंत परमाणुओंके समुदायरूपसे रहता है, तब चक्षुगोचर होता है। उसके जो जुदा जुदा आकार बन सकते हैं, वे सब संयोगसे होनेवाले हैं, और उनका जो पीछेसे एकरूप किया जा सकता है वह भी उसी संयोगजन्य है। परन्तु यदि सोनेके मूल स्वरूपका विचार करते हैं तो वह अनंत परमाणुओंका समुदाय है। जो प्रत्येक अलग अलग परमाणु हैं, वे सब अपने अपने स्वरूपमें ही रहते हैं। कोई भी परमाणु अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरे परमाणुरूपसे किसी भी तरह परिणमन करने योग्य नहीं, मात्र उन सबके सजातीय होनेके कारण और उनमें स्पर्श गुण होनेके कारण उस स्पर्शके सम-विषम संयोगमें उनका मिलना हो सकता है, परन्तु वह मिलना कोई इस प्रकारका नहीं कि जिसमें किसी भी परमाणुने

अपने स्वरूपका त्याग कर दिया हो। करोड़ों प्रकारसे उन अनंत परमाणुरूप सोनेके आकारोंको यदि एक रसरूप करो, तो भी वे सब परमाणु अपने ही स्वरूपमें रहते हैं; अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको नहीं छोड़ते, क्योंकि यह होना किसी भी तरहसे अनुभवमें नहीं आ सकता।

उस सोनेके अनंत परमाणुओंकी तरह सिद्धोंकी अनंतकी अवगाहना गिनो तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु उससे कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवकी साथ केवल एकत्वरूपसे मिल गया है, यह बात नहीं है। सब अपने अपने भावमें स्थितिपूर्वक ही रह सकते हैं। जीवरूपसे जीवकी एक जाति हो, इस कारण कोई एक जीव अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोंके समुदायमें मिलकर स्वरूपका त्याग कर दे, इसका क्या हेतु है? उनके निजके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्मबंध और मुक्तावस्था, ये अनादिसे भिन्न हैं, और यदि फिर जीव मुक्तावस्थामें, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका त्याग कर दे तो फिर उसका अपना स्वरूप ही क्या रहा? उसका अनुभव ही क्या रहा? और अपने स्वरूपके नष्ट हो जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अथवा अपने स्वरूपसे ही मुक्ति हो गई? इस भेदका विचार करना चाहिये। इत्यादि प्रकारसे जिनभगवान्ने सर्वथा एकत्वका निषेध किया है।

४३६

तीर्थंकरने सर्वसंगको महाश्रवरूप कहा है, वह सत्य है।

इस प्रकारकी मिश्र गुणस्थान जैसी स्थिति कबतक रखनी चाहिये? जो बात चित्तमें नहीं है उसे करना, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना, यह व्यवहार किस तरह हो सकता है?

वैश्य-वेषसे और निर्ग्रंथभावसे रहते हुए कोटाकोटी विचार हुआ करते हैं।

वेष और उस वेषसंबंधी व्यवहारको देखकर लोकदृष्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्ग्रंथभावसे रहनेवाला चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके, यह भी सत्य है; इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक वर्ताव नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्ग्रंथभावसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्ग्रंथ-भावसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है। यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्ग्रंथभावकी हानि हुए बिना न रहे।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना, अथवा अत्यंत अल्प किये बिना यथार्थ निर्ग्रंथता नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता।

इस सब विभाव-योगके दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे संतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता।

वह विभाव-योग दो प्रकारका है;—एक पूर्वमें निष्पन्न किया हुआ उदयस्वरूप, और दूसरा आत्मबुद्धिपूर्वक रागसहित किया जाता हुआ भावस्वरूप।

आत्मभावपूर्वक विभावसंबंधी योगकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर मालूम होती है। उसका नित्य ही विचार किया जाता है। उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत कुछ परिक्षीण कर दिया है, और अभी भी वही परिणति रहा करती है।

उस सम्पूर्ण विभाव-योगके निवृत्त किये विना चित्त विश्रांति प्राप्त करे, ऐसा नहीं मालूम होता; और हालमें तो उस कारणसे विशेष क्लेश ही सहन करना पड़ता है। क्योंकि उदय तो विभाव-क्रियाका है, और इच्छा आत्मभावमें स्थिति करनेकी है।

फिर भी ऐसा रहा करता है कि यदि उदयकी विशेष कालतक प्रवृत्ति रहे तो आत्मभाव विशेष चंचल परिणामको प्राप्त होगा। क्योंकि आत्मभावके विशेष अनुसंधान करनेका अवकाश उदयकी प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नहीं हो सकता, और उससे वह आत्मभाव कुछ शिथिलताको प्राप्त होता है।

जो आत्मभाव उत्पन्न हुआ है, उस आत्मभावपर यदि विशेष लक्ष किया जाय तो अल्प कालमें ही उसकी विशेष वृद्धि हो, और विशेष जागृत अवस्था उत्पन्न हो, और थोड़े ही कालमें हितकारी उच्च आत्म-दशा प्रगट हो; और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार ही उदय-कालके रहने देनेका विचार किया जाय तो अब आत्म-शिथिलता होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा लगता है। क्योंकि दीर्घ कालका आत्मभाव होनेसे इस समयतक चाहे जैसा उदय-बल होनेपर भी वह आत्मभाव नष्ट नहीं हुआ, परन्तु कुछ कुछ उसकी अजागृत अवस्था हो जानेका समय आया है। ऐसा होनेपर भी यदि अब केवल उदयपर ही ध्यान दिया जायगा तो शिथिलभाव उत्पन्न होगा।

ज्ञानी-पुरुष उदयके वश होकर देहादि धर्मकी निवृत्ति करते हैं। यदि इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आत्मभाव नष्ट न होना चाहिये। इसलिये उस बातको लक्षमें रखकर उदयका वेदन करना योग्य है, ऐसा विचार करना भी अब योग्य नहीं। क्योंकि ज्ञानके तारतम्यकी अपेक्षा यदि उदय-बल बढ़ता हुआ देखनेमें आये तो वहाँ ज्ञानीको भी जरूर जागृत दशा करनी योग्य है, ऐसा श्रीसर्वज्ञने कहा है।

यह अत्यंत दुःषम काल है इस कारण, और हत-पुण्य लोगोंने इस भरत-क्षेत्रको घेर रक्खा है इस कारण, परम सत्संग, सत्संग अथवा सरल परिणामी जीवोंका समागम मिलना भी दुर्लभ है, ऐसा मानकर जैसे अल्प कालमें सावधान हुआ जाय, वैसे करना योग्य है।

४३७

क्या मौनदशा धारण करनी चाहिये?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि जिस तरह वह धारण की हुई दशा लोगोंको कषायका निमित्त हो, वैसे व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती।

तब क्या उस व्यवहारको छोड़ देना चाहिये?

यह भी विचार करनेसे कठिन मालूम देता है। क्योंकि उस तरहकी कुछ स्थितिके वेदन करनेका चित्त रहा करता है, फिर वह चाहे शिथिलतासे हो, उदयसे हो, परेच्छासे हो अथवा जैसा सर्वज्ञने देखा है उससे हो। ऐसा होनेपर भी अल्प कालमें व्यवहारके घटानेमें ही चित्त है।

वह व्यवहार किस प्रकारसे घटाया जा सकेगा?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है। व्यापारस्वरूपसे, कुटुम्ब-प्रतिबंधसे, युवावस्था-प्रतिबंधसे, दयास्वरूपसे, विकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे—इत्यादि कारणोंसे वह व्यवहार विस्ताररूप मालूम होता है।

छोड़कर सत्पुरुषोंके वचनोंको आत्मामें परिणमन करे, तो सब दोष दूर हो जाँय। जीवको अपनापन आना ही न चाहिये। बड़ाई और महत्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्यक्त्वके मार्गका परिणाम होना कठिन है।

वेदांतशास्त्र वर्तमानमें स्वच्छंदतासे पढ़नेमें आते हैं, और उससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगड़ा नहीं, परन्तु आत्माको केवल मुक्त-दृष्टिसे देखनेपर तीर्थंकरने ऊंचा विचार किया है। मूल लक्ष होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा माळ्म होगा।

आत्माको कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा राग-द्वेष परिणाम न हो, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। षट्दर्शनवालोंने जो विचार किया है, उससे आत्माका उन्हें भान होता है—तारतम्य भावमें भेद पड़ता है। षड्दर्शनको अपनी समझसे बैठावें तो कभी भी बैठे नहीं। उसका बैठना सत्पुरुषके आश्रयसे ही होता है। जिसने आत्माका असंग निष्क्रिय विचार किया हो, उसे भ्रान्ति होती नहीं—संशय होता नहीं, आत्माके अस्तित्वके संबंधमें शंका रहती नहीं।

प्रश्नः—सम्यक्त्व कैसे माळ्म होता है ?

उत्तरः—जब भीतरसे दशा बदले, तब सम्यक्त्वकी खबर स्वयं ही पड़ती है। सद्देव अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान जिसके क्षय हो गये हैं। सद्गुरु कौन कहा जाता है ? मिथ्यात्वकी ग्रन्थि जिसकी छिन्न हो गई है। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा बोध किया हुआ धर्म। इन तीनों तत्त्वोंको यथार्थ रीतिसे जाननेपर सम्यक्त्व हुआ समझा जाना चाहिये।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण (साधन) बताये हैं। ज्ञानका स्वरूप जिस समय जान ले उस समय मोक्ष हो जाय।

परम वैद्यरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामें लगे तो रोग दूर हो। परन्तु उस दवाको जीव यदि अन्तरमें न उतारे, तो उसका रोग कभी भी दूर होता नहीं। जीव सच्चे सच्चे साधनोंको करता नहीं। जैसे समस्त कुटुम्बको पहिचानना हो तो पहिले एक आदमीको जाननेसे सबकी पहिचान हो जाती है, उसी तरह पहिले सम्यक्त्वकी पहिचान हो तो आत्माके समस्त गुणोंरूपी कुटुम्बकी पहिचान हो जाती है। सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है। बाह्य वृत्तियोंको कम करके जीव अंतर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग आवे। चलते चलते ही गाँव आता है, बिना चले गाँव नहीं आ जाता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषोंकी प्रतीति हुई नहीं।

बहिरात्मामेंसे अन्तरात्मा होनेके पश्चात् परमात्मभाव प्राप्त होना चाहिये। जैसे दूध और पानी जुदा जुदा हैं, उसी तरह सत्पुरुषके आश्रयसे—प्रतीतिसे—देह और आत्मा जुदा जुदा हैं, ऐसा भान होता है। अन्तरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी जुदे जुदे होते हैं, उसी तरह देह और आत्मा जब भिन्न माळ्म हों, उस समय परमात्मभाव प्राप्त होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है—सतत निरंतर ध्यान है, जिसे आत्मा स्वप्नमें भी जुदा ही भासित होती है, जिसे किसी भी समय आत्माकी भ्रान्ति होती ही नहीं, उसे ही परमात्मभाव होता है।

अन्तरात्मा निरन्तर कषाय आदि दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करती है। चौदहवें गुणस्थानतक यह विचाररूपी क्रिया रहती है। जिसे वैराग्य-उपशम रहता हो, उसे ही विचारवान कहते हैं। आत्मायें मुक्त

मात्र केवल प्रारब्ध हो, और दूसरी कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है। परन्तु वह केवल प्रारब्ध उसी समय कहा जा सकता है जब प्राणोंके अंततक भी निष्ठाभेद-दृष्टि न हो, और तुझे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, इस प्रकार जबतक सम्पूर्ण निश्चय न हो तबतक यही श्रेयस्कर है कि उसमें त्याग बुद्धि करनी चाहिये। इस बातका विचार करके, हे जीव! अब तू अल्प कालमें ही निवृत्त हो, निवृत्त!

४४२

हे जीव! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा!

यदि सर्वथा संग-निवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश देखनेमें आये तो एकदेश संग-निवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर!

जिस ज्ञान-दशामें त्याग-अत्याग कुछ भी संभव नहीं, उस ज्ञान-दशाकी जिसमें सिद्धि है, ऐसा तू सर्वसंग त्याग दशाका यदि अल्प कालमें ही वेदन करेगा, तो यदि तू सम्पूर्ण जगत्‌के समागममें रहे तो भी तुझे वह बाधारूप न हो, इस प्रकारसे आचरण करनेपर भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है, क्योंकि ऋषभ आदि सब परम पुरुषोंने अंतमें ऐसा ही किया है।

४४३

बम्बई, भाद्र. सुदी १० रवि. १९५०

यह आत्मभाव है और यह अन्यभाव है, इस प्रकार बोध-बीजके आत्मामें परिणमित होनेसे अन्यभावमें स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उस अन्यभावसे सर्वथा मुक्त करती है। इसके पश्चात् जिसने निज और परके भावको जान लिया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषको पर-भावके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है, उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी उससे उस ज्ञानीका संबंध छूटा ही करता है, उसमें हित-बुद्धि होकर प्रतिबंध नहीं होता।

प्रतिबंध नहीं होता, यह बात एकांत नहीं है। क्योंकि जहाँ ज्ञानका विशेष प्राबल्य न हो, वहाँ पर-भावके विशेष परिचयका उस प्रतिबंधरूप हो जाना भी संभव होता है; और इस कारण भी श्रीजिन-भगवान्‌ने ज्ञानी-पुरुषके लिये भी निज ज्ञानसे संबंध रखनेवाले पुरुषार्थका बखान किया है। उसे भी प्रमाद करना योग्य नहीं, अथवा पर-भावका परिचय करना योग्य नहीं, क्योंकि वह भी किसी अंशसे आत्म-धाराको प्रतिबंधरूप कहे जाने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमाद बुद्धि संभव नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्यरूपसे श्रीजिन आदि महात्माओंने कहा है, तो भी उस पदको चौथे गुणस्थानसे संभव नहीं माना, उसे आगे जाकर ही संभवित माना है। जिससे विचारवान जीवको तो अवश्य ही जैसे बने तैसे पर-भावके परिचित कार्यसे दूर रहना—निवृत्त होना ही योग्य है।

प्रायः करके विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है। फिर भी किसी प्रारब्धके वशसे यदि

पर-भावका परिचय बलवानरूपसे उदयमें हो तो निज-पद बुद्धिमें स्थिर रहना कठिन है, ऐसा मानकर नित्य ही निवृत्त होनेकी बुद्धिकी विशेष भावना करनी चाहिये, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है।

अल्प कालमें अव्याबाध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरुषार्थ करके जीवको पर-परिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है। धीमे धीमे निवृत्त होनेके कारणोंके ऊपर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकारसे शीघ्रतासे निवृत्ति हो जाय, उस विचारको करना चाहिये। और वैसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्ति-योगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी पर-परिचयसे शीघ्रतासे दूर होनेका मार्ग ग्रहण करना चाहिये—यह बात भूल जाने योग्य नहीं।

ज्ञानकी बलवान तारतम्यता होनेपर तो जीवको पर-परिचयमें कभी भी स्वात्मबुद्धि होना संभव नहीं, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञान-बलसे उसे एकांतरूपसे ही विहार करना योग्य है। परन्तु जिसकी उससे निम्न दशा है, ऐसे जीवको तो अवश्य ही पर-परिचयका छेदन करके सत्संग करना चाहिये; जिस सत्संगसे सहज ही अव्याबाध स्थितिका अनुभव होता है।

ज्ञानी-पुरुष—जिसे एकांतमें विचरते हुए भी प्रतिबंध संभव नहीं—भी सत्संगकी निरन्तर इच्छा रखता है। क्योंकि जीवको यदि अव्याबाध समाधिकी इच्छा हो तो सत्संगके समान अन्य कोई भी सरल उपाय नहीं है।

इस कारण दिन प्रतिदिन प्रत्येक प्रसंगमें बहुत बार प्रत्येक क्षणमें सत्संगके आराधन करनेकी ही इच्छा वृद्धिंगत हुआ करती है।

---

४४४ बम्बई, भाद्र. वदी ५ गुरु. १९५०

ॐ

योगवासिष्ठ आदि जो जो श्रेष्ठ पुरुषोंके वचन हैं, वे सब अहंवृत्तिका प्रतीकार करनेके लिये ही हैं। जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्रांति कल्पित की गई है, उस उस प्रकारसे उस भ्रांतिको समझकर तत्संबंधी अभिमानको निवृत्त करना, यही सब तीर्थंकर महात्माओंका कथन है; और उसी वाक्यके ऊपर जीवको विशेषरूपसे स्थिर होना है—विशेष विचार करना है; और उसी वाक्यको मुख्यरूपसे अनुप्रेक्षण करना योग्य है—उसी कार्यकी सिद्धिके लिये ही सब साधन कहे हैं। अहंवृत्ति आदिके बढ़नेके लिये, बाह्य क्रिया अथवा मतके आग्रहके लिये, सम्प्रदाय चलानेके लिये, अथवा पूजा-श्लाघा प्राप्त करनेके लिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नहीं है, और उसी कार्यको करनेकी ज्ञानी पुरुषकी सर्वथा आज्ञा है। अपनी आत्मामें प्रादुर्भूत प्रशंसनीय गुणोंसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं, परन्तु अपने अल्प दोषको भी देखकर फिर फिरसे पश्चात्ताप करना ही योग्य है, और अप्रमाद भावसे उससे पीछे फिरना ही उचित है, यह उपदेश ज्ञानी-पुरुषके वचनमें सर्वत्र सन्निविष्ट है। और उस भावके प्राप्त होनेके लिये सत्संग सद्गुरु और सत्शास्त्र आदि जो साधन कहे हैं, वे अपूर्व निमित्त हैं।

जीवको उस साधनकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके कारणरूप ही है, परन्तु जीव यदि वहाँ भी वंचना-बुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी भी कल्याण न हो। वंचना-बुद्धि अर्थात् सत्संग सद्गुरु आदिमें

उसे आत्मभावसे जो माहात्म्य बुद्धि करना योग्य है, उस माहात्म्य बुद्धिका न होना; और अपनी आत्माको अज्ञानता ही रहती चली आई है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता—लघुता विचारकर अमाहात्म्य बुद्धि नहीं करना। उसका (माहात्म्यबुद्धि आदिका) सत्संग-सद्गुरु आदिमें आराधन नहीं करना भी वंचना-बुद्धि है। यदि जीव यहाँ भी लघुता धारण न करे तो जीव प्रत्यक्षरूपसे भव-भ्रमणसे भयभीत नहीं होता, यही विचार करने योग्य है। जीवको यदि प्रथम इस बातका अधिक लक्ष हो तो सब शास्त्रार्थ और आत्मार्थका सहज ही सिद्ध होना संभव है।

---

४४५ बम्बई, आसोज सुदी ११ बुध. १९५०

जिसे स्वप्नमें भी संसार-सुखकी इच्छा नहीं रही, और जिसे संसारका सम्पूर्ण स्वरूप निस्सारभूत भासित हुआ है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष भी बारंबार आत्मावस्थाका बारम्बार स्मरण कर करके जो प्रारब्धका उदय हो उसका वेदन करता है, परन्तु आत्मावस्थामें प्रमाद नहीं होने देता। प्रमादके अवकाश-योगमें ज्ञानीको भी किसी अंशमें संसारसे जो व्यामोहका संभव होना कहा है, उस संसारमें साधारण जीवको रहते हुए, लौकिक भावसे उसके व्यवसायको करते हुए आत्म-हितकी इच्छा करना, यह न होने जैसा ही कार्य है। क्योंकि लौकिक भावके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ दूसरी तरहसे हित-विचार होना संभव नहीं। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना संभव है। अहितके हेतुभूत संसारसंबंधी प्रसंग, लौकिक-भाव, लोक-चेष्टा, इन सबकी सँभालको जैसे बने तैसे दूर करके—उसे कम करके—आत्म-हितको अवकाश देना योग्य है।

आत्म-हितके लिये सत्संगके समान दूसरा कोई बलवान् निमित्त मालूम नहीं होता। फिर भी उस सत्संगमें भी जो जीव लौकिक भावसे अवकाश नहीं लेता, उसे प्रायः वह निष्फल ही होता है, और यदि सहज सत्संग फलवान हुआ हो तो भी यदि विशेष—अति विशेष लोकावेश रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती। तथा स्त्री, पुत्र, आरंभ, परिग्रहके प्रसंगमेंसे यदि निज-बुद्धिको हटानेका प्रयास न किया जाय तो सत्संगका फलवान होना भी कैसे संभव हो सकता है! जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरुष भी सँभल सँभलकर चलते हैं, उसमें फिर इस जीवको तो अत्यंत अत्यंत सँभालपूर्वक—न्यूनतापूर्वक चलना चाहिये, यह बात कभी भी भूलने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके, प्रत्येक प्रसंगमें, प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक परिणाममें उसका लक्ष रखकर जिससे उससे छुटकारा हो जाय उसी तरह करते रहना, यह हमने श्रीवर्धमानस्वामीकी छद्मस्थ मुनिचर्याके दृष्टांतसे कहा था।

---

४४६ बम्बई, आसोज वदी ३ बुध. १९५०

(१)

'भगवत् भगवत्की सँभाल करेगा, पर उसी समय करेगा जब जीव अपना अहंभाव छोड़ देगा,' इस प्रकार जो भद्रजनोंका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है।

(२)

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है, वह स्वरूप हमारे स्मरण करनेके, ध्यान करनेके और पानेके योग्य स्थान है।

(३)

सर्वज्ञ-पदका ध्यान करो।

---

४४७ बम्बई, आसोज वदी ६ शनि. १९५०

ॐ

सत्पुरुषको नमस्कार

आत्मार्थी, गुणग्राही, सत्संग-योग्य भाई श्रीमोहनलालके प्रति श्री डरबन, श्री बम्बईसे लिखित जीवन्मुक्तदशाके इच्छुक रायचन्द्रका आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

तुम्हारे लिखे हुए पत्रमें जो आत्मा आदिके विषयमें प्रश्न हैं, और जिन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी तुम्हारे चित्तमें विशेष आतुरता है, उन दोनोंके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है। परन्तु जिस समय तुम्हारा वह पत्र मुझे मिला उस समय मेरी चित्तकी स्थिति उसका उत्तर लिख सकने जैसी न थी, और प्रायः वैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसंगमें बाह्योपाधिके प्रति विशेष वैराग्य परिणाम प्राप्त हो रहा था। इस कारण उस पत्रका उत्तर लिखने जैसे कार्योंमें भी प्रवृत्ति हो सकना संभव न था। थोड़े समयके पश्चात् उस वैराग्यमेंसे अवकाश लेकर भी तुम्हारे पत्रका उत्तर लिखूँगा, ऐसा विचार किया था। परन्तु पीछेसे वैसा होना भी असंभव हो गया। तुम्हारे पत्रकी पहुँच भी मैंने न लिखी थी, और इस प्रकार उत्तर लिख भेजनेमें जो विलम्ब हुआ, इससे मेरे मनमें खेद हुआ था, और इसमेंका अमुक भाव अबतक भी रहा करता है। जिस अवसरपर विशेष करके यह खेद हुआ, उस अवसरपर यह सुननेमें आया कि तुम्हारा विचार तुरत ही इस देशमें आनेका है। इस कारण कुछ चित्तमें ऐसा आया कि तुम्हें उत्तर लिखनेमें जो विलम्ब हुआ है वह भी तुम्हारे समागम होनेसे विशेष लाभकारक होगा। क्योंकि लेखद्वारा बहुतसे उत्तरोंका समझाना कठिन था; और तुम्हें पत्रके तुरत ही न मिल सकनेके कारण तुम्हारे चित्तमें जो आतुरता उत्पन्न हुई, वह समागम होनेपर उत्तरको तुरत ही समझ सकनेके लिये एक श्रेष्ठ कारण मानने योग्य था। अब प्रारब्धके उदयसे जब समागम हो तब कुछ भी उस प्रकारकी ज्ञान-वार्ता होनेका प्रसंग आवे, यह आकांक्षा रखकर संक्षेपमें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर लिखता हूँ। इन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरंतर तत्संबंधी विचाररूप अभ्यासकी आवश्यकता है। वह उत्तर संक्षेपमें लिखा गया है, इस कारण बहुतसे संदेहोंकी निवृत्ति होना तो कदाचित् कठिन होगी तो भी मेरे चित्तमें ऐसा रहता है कि मेरे वचनोंमें तुम्हें कुछ भी विशेष विश्वास है, इससे तुम्हें धीरज रह सकेगा, और वह प्रश्नोंके यथायोग्य समाधान होनेका अनुक्रमसे कारणभूत होगा, ऐसा मुझे लगता है। तुम्हारे पत्रमें २७ प्रश्न हैं, उनका उत्तर संक्षेपमें नीचे लिखता हूँ:—

१. प्रश्नः—आत्मा क्या है ? क्या वह कुछ करती है ? और उसे कर्म दुःख देता है या नहीं ?

उत्तरः—(१) जैसे घट पट आदि जड़ वस्तुयें हैं, उसी तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घट पट आदि अनित्य हैं—त्रिकालमें एक ही स्वरूपसे स्थिरतापूर्वक रह सकनेवाले नहीं हैं। आत्मा एक स्वरूपसे त्रिकालमें स्थिर रह सकनेवाली नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोगसे उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मालूम नहीं होता। क्योंकि जड़के चाहे जितने भी संयोग क्यों न करो तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, उस प्रकारके बहुतसे पदार्थोंके इकट्ठे करनेसे भी उसमें जो धर्म नहीं है, वह धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा सबको अनुभव हो सकता है। जो घट, पट आदि पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप देखनेमें नहीं आता। उस प्रकारके पदार्थोंका यदि परिणामांतर पूर्वक संयोग किया हो अथवा संयोग हुआ हो, तो भी वह उसी तरहकी जातिका होता है, अर्थात् वह जड़स्वरूप ही होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर उस तरहके पदार्थके संयोग होनेपर आत्मा अथवा जिसे ज्ञानी-पुरुष मुख्य 'ज्ञानस्वरूप लक्षणयुक्त' कहते हैं, उस प्रकारके (घट पट आदि, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) पदार्थसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं। 'ज्ञानस्वरूपत्व', यह आत्माका मुख्य लक्षण है, और जड़का मुख्य लक्षण 'उसके अभावरूप' है। उन दोनोंका अनादि सहज स्वभाव है। ये, तथा इसी तरहके दूसरे हजारों प्रमाण आत्माको 'नित्य' प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आती है। इस कारण सुख-दुःख आदि भोगनेवाले, उससे निवृत्त होनेवाले, विचार करनेवाले, प्रेरणा करनेवाले इत्यादि भाव जिसकी विद्यमानतासे अनुभवमें आते हैं, ऐसी वह आत्मा मुख्य चेतन (ज्ञान) लक्षणसे युक्त है। और उस भावसे (स्थितिसे) वह सब कालमें रह सकनेवाली 'नित्य पदार्थ' है। ऐसा माननेमें कोई भी दोष अथवा बाधा मालूम नहीं होती, बल्कि इससे सत्यके स्वीकार करनेरूप गुणकी ही प्राप्ति होती है।

यह प्रश्न तथा तुम्हारे दूसरे बहुतसे प्रश्न इस तरहके हैं कि जिनमें विशेष लिखने, कहने और समझानेकी आवश्यकता है। उन प्रश्नोंका उस प्रकारसे उत्तर लिखा जाना हालमें कठिन होनेसे प्रथम तुम्हें षट्दर्शनसमुच्चय ग्रंथ भेजा था, जिसके बाँचने और विचार करनेसे तुम्हें किसी भी अंशमें समाधान हो; और इस पत्रसे भी कुछ विशेष अंशमें समाधान हो सकना संभव है। क्योंकि इस संबंधमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, जिनके फिर फिरसे समाधान होनेसे, विचार करनेसे समाधान होगा।

(२) ज्ञान दशामें—अपने स्वरूपमें यथार्थ बोधसे उत्पन्न हुई दशामें—वह आत्मा निज भावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निश्चय) और सहज-समाधि परिणामका कर्त्ता है; अज्ञान दशामें क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि प्रकृतियोंका कर्त्ता है; और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगवश घट पट आदि पदार्थोंका निमित्तरूपसे कर्त्ता है। अर्थात् घट पट आदि पदार्थोंका मूल द्रव्योंका वह कर्त्ता नहीं, परन्तु उसे किसी आकारमें लानेरूप क्रियाका ही कर्त्ता है। यह जो पीछे दशा कही है, जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है, वेदान्तदर्शन उसे 'भ्रांति' कहता है, और दूसरे

दर्शन भी इसीसे मिलते जुलते इसी प्रकारके शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घट पट आदिका तथा क्रोध आदिका कर्त्ता नहीं हो सकती, वह केवल निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही कर्त्ता है—ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(३) अज्ञानभावसे किए हुए कर्म प्रारंभ कालसे बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरूप वृक्षके परिणामसे परिणमते हैं; अर्थात् उन कर्मोंको आत्माको भोगना पड़ता है। जैसे अग्निके स्पर्शसे उष्णताका संबंध होता है और वह उसका स्वाभाविक वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे ही आत्माको क्रोध आदि भावके कर्त्तापनेसे जन्म, जरा, मरण आदि वेदनारूप परिणाम होता है। इस बातका तुम विशेषरूपसे विचार करना और उस संबंधमें यदि कोई प्रश्न हो तो लिखना। क्योंकि इस बातको समझकर उससे निवृत्त होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्ष दशा प्राप्त होती है।

२. प्रश्नः—ईश्वर क्या है? वह जगत्का कर्त्ता है, क्या यह सच है?

उत्तरः—(१) हम तुम कर्म-बंधनमें फँसे रहनेवाले जीव हैं। उस जीवका सहजस्वरूप अर्थात् कर्म रहितपना—मात्र एक आत्मस्वरूप—जो स्वरूप है, वही ईश्वरपना है। जिसमें ज्ञान आदि ऐश्वर्य हैं वह ईश्वर कहे जाने योग्य है और वह ईश्वरपना आत्माका सहज स्वरूप है। जो स्वरूप कर्मके कारण माल्रम नहीं होता, परन्तु उस कारणको अन्य स्वरूप जानकर जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अनुक्रमसे सर्वज्ञता आदि ऐश्वर्य उसी आत्मामें माल्रम होता है। और इससे विशेष ऐश्वर्ययुक्त कोई पदार्थ—कोई भी पदार्थ—देखनेपर भी अनुभवमें नहीं आ सकता। इस कारण ईश्वर आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है; इससे विशेष सत्तायुक्त कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है। इस प्रकार निश्चयसे मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगत्का कर्त्ता नहीं; अर्थात् परमाणु आकाश आदि पदार्थ नित्य ही होने संभव हैं, वे किसी भी वस्तुमेंसे बनने संभव नहीं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं तो यह बात भी योग्य नहीं माल्रम होती। क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन मानें तो फिर उससे परमाणु, आकाश वगैरह कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? क्योंकि चेतनसे जड़की उत्पत्ति कभी संभव ही नहीं होती। यदि ईश्वरको जड़ माना जाय तो वह सहज ही अनैश्वर्यवान ठहरता है। तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। यदि ईश्वरको जड़ और चेतन उभयरूप मानें तो फिर जगत् भी जड़-चेतन उभयरूप होना चाहिये। फिर तो यह उसका ही दूसरा नाम ईश्वर रखकर संतोष रखने जैसा होता है। तथा जगत्का नाम ईश्वर रखकर संतोष रख लेनेकी अपेक्षा जगत्को जगत् कहना ही विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्म आदिके फल देनेवाला मानें, तो भी यह बात सिद्ध होती हुई नहीं माल्रम होती। इस विषयपर षट्दर्शनसमुच्चयमें श्रेष्ठ प्रमाण दिये हैं।

३. प्रश्नः—मोक्ष क्या है?

उत्तरः—जिस क्रोध आदि अज्ञानभावमें देह आदिमें आत्माको प्रतिबंध है, उससे सर्वथा निवृत्ति होना—मुक्ति होना—उसे ज्ञानियोंने मोक्ष-पद कहा है। उसका थोड़ासा विचार करनेसे वह प्रमाणभूत माल्रम होता है।

४. प्रश्नः—मोक्ष मिलेगा या नहीं? क्या यह इसी देहमें निश्चितरूपसे जाना जा सकता है?

उत्तरः—जैसे यदि एक रस्सीके बहुतसे बंधनोंसे हाथ बाँध दिया गया हो, और उसमेंसे क्रम क्रमसे ज्यों ज्यों बंधन खुलते जाते हैं त्यों त्यों उस बंधनकी निवृत्तिका अनुभव होता है, और वह रस्सी बलहीन होकर स्वतंत्रभावको प्राप्त होती है, ऐसा माळूम होता है—अनुभवमें आता है; उसी तरह आत्माको अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप बंधनका समागम लगा हुआ है, वह बंधन ज्यों ज्यों छूटता जाता है, त्यों त्यों मोक्षका अनुभव होता है। और जब उसकी अत्यन्त अल्पता हो जाती है तब सहज ही आत्मामें निजभाव प्रकाशित होकर अज्ञानभावरूप बंधनसे छूट सकनेका अवसर आता है, इस प्रकार स्पष्ट अनुभव होता है। तथा सम्पूर्ण आत्मभाव समस्त अज्ञान आदि भावसे निवृत्त होकर इसी देहमें रहनेपर भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्व संबंधसे केवल अपनी भिन्नता ही अनुभवमें आती है, अर्थात् मोक्ष-पद इस देहमें भी अनुभवमें आने योग्य है।

५. प्रश्नः—ऐसा पढ़नेमें आया है कि मनुष्य, देह छोड़नेके बाद कर्मके अनुसार जानवरोंमें जन्म लेता है; वह पत्थर और वृक्ष भी हो सकता है, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—देह छोड़नेके बाद उपार्जित कर्मके अनुसार ही जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यंच (जानवर) भी होता है, और पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीरूप शरीर भी धारण करता है, और बाकीकी दूसरी चार इन्द्रियोंके बिना भी जीवको कर्मके भोगनेका प्रसंग आता है, परन्तु वह सर्वथा पत्थर अथवा पृथिवी ही हो जाता है, यह बात नहीं है। वह पत्थररूप काया धारण करता है, और उसमें भी अव्यक्त भावसे जीव जीवरूपसे ही रहता है। वहाँ दूसरी चार इन्द्रियोंका अव्यक्त (अप्रगट)-पना होनेसे वह पृथ्वीकायरूप जीव कहे जाने योग्य है। क्रम क्रमसे ही उस कर्मको भोगकर जीव निवृत्त होता है। उस समय केवल पत्थरका दल परमाणुरूपसे रहता है, परन्तु उसमें जीवका संबंध चला आता है, इसलिये उसे आहार आदि संज्ञा नहीं होती। अर्थात् जीव सर्वथा जड़—पत्थर—हो जाता है, यह बात नहीं है। कर्मकी विषमतासे चार इन्द्रियोंका अव्यक्त समागम होकर केवल एक स्पर्शन इन्द्रियरूपसे जीवको जिस कर्मसे देहका समागम होता है, उस कर्मके भोगते हुए वह पृथिवी आदिमें जन्म लेता है, परन्तु वह सर्वथा पृथ्वीरूप अथवा पत्थररूप नहीं हो जाता; जानवर होते समय सर्वथा जानवर भी नहीं हो जाता। जो देह है वह जीवका वेषधारीपना है, स्वरूपपना नहीं।

६-७. प्रश्नोत्तरः—इसमें छठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है।

इसमें सातवें प्रश्नका भी समाधान आ गया है, कि केवल पत्थर अथवा पृथ्वी किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है। उनमें आकर उत्पन्न हुआ जीव ही कर्मका कर्त्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध और पानीका संयोग होनेपर भी दूध दूध है और पानी पानी ही है, उसी तरह एकेन्द्रिय आदि कर्मबंधसे जीवका पत्थरपना—जड़पना—माळूम होता है, तो भी वह जीव अंतरमें तो जीवरूपसे ही है, और वहाँ भी वह आहार भय आदि संज्ञापूर्वक ही रहता है, जो अव्यक्त जैसी है।

८ प्रश्नः—आर्यधर्म क्या है? क्या सबकी उत्पत्ति वेदसे ही हुई है?

उत्तरः—(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करते हुए सबके सब अपने अपने पक्षको ही आर्य-धर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनधर्मको, बौद्ध बौद्धधर्मको, वेदांती वेदांतधर्मको आर्यधर्म कहें, यह साधारण बात है। फिर भी ज्ञानी-पुरुष तो जिससे आत्माको निज स्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग है उसे ही आर्यधर्म कहते हैं, और ऐसा ही योग्य है।

(२) सबकी उत्पत्ति वेदमेंसे होना संभव नहीं हो सकता। वेदमें जितना ज्ञान कहा गया है उससे हज़ार गुना आशययुक्त ज्ञान श्रीतीर्थंकर आदि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है; और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि अल्प वस्तुमेंसे सम्पूर्ण वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण वेदमेंसे सबकी उत्पत्ति मानना योग्य नहीं है। हाँ, वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आश्रयसे माननेमें कोई बाधा नहीं है। जैन बौद्धके अन्तिम महावीर आदि महात्माओंके पूर्व वेद विद्यमान थे, ऐसा माळूम होता है। तथा वेद बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, ऐसा भी माळूम होता है। परन्तु जो कुछ प्राचीन हो वह सब सम्पूर्ण हो अथवा सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता; तथा जो पीछेसे उत्पन्न हो वह सब असम्पूर्ण और असत्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। बाकी तो वेदके समान अभिप्राय और जैनके समान अभिप्राय अनादिसे चला आ रहा है। सर्व भाव अनादि ही हैं, मात्र उनका रूपांतर हो जाता है; सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता। वेद, जैन, और दूसरे सबके अभिप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है; फिर उसमें किस बातका विवाद हो सकता है? फिर भी इन सबमें विशेष बलवान सत्य अभिप्राय किसका मानना योग्य है, इसका हमें तुम्हें सबको विचार करना चाहिये।

९. प्रश्नः—वेद किसने बनाये? क्या वे अनादि हैं? यदि वेद अनादि हों तो अनादिका क्या अर्थ है?

उत्तरः—(१) वेदोंकी उत्पत्ति बहुत समय पहिले हुई है।

(२) पुस्तकरूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नहीं; और उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सभी शास्त्र अनादि हैं। क्योंकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न भिन्न जीव भिन्न भिन्नरूपसे कहते आये हैं, और ऐसा ही होना संभव है। क्रोध आदि भाव भी अनादि हैं, और क्षमा आदि भाव भी अनादि हैं। हिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं और अहिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं। केवल जीवको हितकारी क्या है, इतना विचार करना ही कार्यकारी है। अनादि तो दोनों हैं, फिर कभी किसीका कम मात्रामें बल होता है और कभी किसीका विशेष मात्रामें बल होता है।

१०. प्रश्नः—गीता किसने बनाई है? वह ईश्वरकृत तो नहीं है? यदि ईश्वरकृत हो तो क्या उसका कोई प्रमाण है?

उत्तरः—ऊपर कहे हुए उत्तरोंसे इसका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अर्थात् 'ईश्वर'का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करनेसे तो वह ईश्वरकृत हो सकती है; परन्तु नित्य, निष्क्रिय आकाशकी तरह ईश्वरके व्यापक स्वीकार करनेपर उस प्रकारकी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं। क्योंकि वह तो साधारण कार्य है, जिसका कर्तृत्व आरंभपूर्वक ही होता है—अनादि नहीं होता।

गीता वेदव्यासजीकी रची हुई पुस्तक मानी जाती है, और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको उस प्रकारका बोध किया था, इसलिये मुख्यरूपसे श्रीकृष्ण ही उसके कर्त्ता कहे जाते हैं; यह बात संभव है। ग्रंथ श्रेष्ठ है। उस तरहका आशय अनादि कालसे चला आ रहा है, परन्तु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हों, यह संभव नहीं हैं; तथा निष्क्रिय ईश्वरसे उसकी उत्पत्ति होना भी संभव नहीं। वह क्रिया किसी सक्रिय अर्थात् देहधारीसे ही होने योग्य है; इसलिये जो सम्पूर्ण ज्ञानी है वह ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदेश किये हुए शास्त्र ईश्वरीय शास्त्र हैं, यह माननेमें कोई बाधा नहीं है।

११. प्रश्नः—पशु आदिके यज्ञ करनेसे थोड़ासा भी पुण्य होता है, क्या यह सच है?

उत्तरः—पशुके वधसे, होमसे अथवा उसे थोड़ासा भी दुःख देनेसे पाप ही होता है, तो फिर उसे यज्ञमें करो अथवा चाहे तो ईश्वरके धाममें बैठकर करो। परन्तु यज्ञमें जो दान आदि क्रियायें होती हैं, वे कुछ पुण्यकी कारणभूत हैं। फिर भी हिंसा-मिश्रित होनेसे उनका भी अनुमोदन करना योग्य नहीं है।

१२. प्रश्नः—जिस धर्मको आप उत्तम कहते हो, क्या उसका कोई प्रमाण दिया जा सकता है?

उत्तरः—प्रमाण तो कोई दिया न जाय, और इस प्रकार प्रमाणके विना ही यदि उसकी उत्तमताका प्रतिपादन किया जाय तो फिर तो अर्थ-अनर्थ, धर्म-अधर्म सभीको उत्तम ही कहा जाना चाहिये। परन्तु प्रमाणसे ही उत्तम-अनुत्तमकी पहिचान होती है। जो धर्म संसारके क्षय करनेमें सबसे उत्तम हो और निजस्वभावमें स्थिति करानेमें बलवान हो, वही धर्म उत्तम और वही धर्म बलवान है।

१३. प्रश्नः—क्या आप ख्रिस्तीधर्मके विषयमें कुछ जानते हैं? यदि जानते हैं तो क्या आप अपने विचार प्रगट करेंगे?

उत्तरः—ख्रिस्तीधर्मके विषयमें मैं साधारण ही जानता हूँ। भरतखंडके महात्माओंने जिस तरहके धर्मकी शोध की है—विचार किया है, उस तरहके धर्मका किसी दूसरे देशके द्वारा विचार नहीं किया गया, यह तो थोड़ेसे अभ्याससे ही समझमें आ सकता है। उसमें (ख्रिस्तीधर्ममें) जीवकी सदा परवशता कही गई है, और वह दशा मोक्षमें भी इसी तरहकी मानी गई है। जिसमें जीवके अनादि स्वरूपका यथायोग्य विवेचन नहीं है, जिसमें कर्म-बंधकी व्यवस्था और उसकी निवृत्ति भी जैसी चाहिये वैसी नहीं कही, उस धर्मका मेरे अभिप्रायके अनुसार सर्वोत्तम धर्म होना संभव नहीं है। ख्रिस्ती-धर्ममें जैसा मैंने ऊपर कहा, उस प्रकारका जैसा चाहिये वैसा समाधान देखनेमें नहीं आता। इस वाक्यको मैंने मतभेदके वश होकर नहीं लिखा। अधिक पूँछने योग्य माछ्म हो तो पूँछना—तो विशेष समाधान हो सकेगा।

१४. प्रश्नः—वे लोग ऐसा कहते हैं कि बाइबल ईश्वर-प्रेरित है। ईसा ईश्वरका अवतार है—वह उसका पुत्र है और था।

उत्तरः—यह बात तो श्रद्धासे ही मान्य हो सकती है, परन्तु यह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। जो बात गीता और वेदके ईश्वर-कर्तृत्वके विषयमें लिखी है, वही बात बाइबलके संबंधमें भी समझना चाहिये। जो जन्म-मरणसे मुक्त हो, वह ईश्वर अवतार ले, यह संभव नहीं है। क्योंकि राग-

द्वेष आदि परिणाम ही जन्मके हेतु हैं; ये जिसके नहीं हैं, ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचारनेसे यथार्थ नहीं माळूम होती। 'वह ईश्वरका पुत्र है और था' इस बातको भी यदि किसी रूपकके तौरपर विचार करें तो ही यह कदाचित् ठीक बैठ सकती है, नहीं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है। मुक्त ईश्वरके पुत्र हो, यह किस तरह माना जा सकता है? और यदि मानें भी तो उसकी उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? यदि दोनोंको अनादि मानें तो उनका पिता-पुत्र संबंध किस तरह ठीक बैठ सकता है? इत्यादि बातें विचारणीय हैं। जिनके विचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है कि वह बात यथायोग्य नहीं माळूम हो सकती।

१५. प्रश्नः—पुराने क़रारमें जो भविष्य कहा गया है, क्या वह सब ईसाके विषयमें ठीक ठीक उतरा है?

उत्तरः—यदि ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों शास्त्रोंके विषयमें विचार करना योग्य है। तथा इस प्रकारका भविष्य भी ईसाको ईश्वरावतार कहनेमें प्रबल प्रमाण नहीं है; क्योंकि ज्योतिष आदिसे भी महात्माकी उत्पत्ति जानी जा सकती है। अथवा भले ही किसी ज्ञानसे वह बात कही हो परन्तु वह भविष्य-वेत्ता सम्पूर्ण मोक्ष-मार्गका जाननेवाला था, यह बात जबतक ठीक ठीक प्रमाणभूत न हो, तबतक वह भविष्य वगैरह केवल एक श्रद्धा-ग्राह्य प्रमाण ही है; और वह दूसरे प्रमाणोंसे बाधित न हो, यह बुद्धिमें नहीं आ सकता।

१६. प्रश्नः—इस प्रश्नमें 'ईसामसीह'के चमत्कारके विषयमें लिखा है।

उत्तरः—जो जीव कायामेंसे सर्वथा निकलकर चला गया है, उसी जीवको यदि उसी कायामें दाखिल किया गया हो अथवा यदि दूसरे जीवको उसी कायामें दाखिल किया हो तो यह होना संभव नहीं है, और यदि ऐसा हो तो फिर कर्म आदिकी व्यवस्था भी निष्फल ही हो जाय। बाकी योग आदिकी सिद्धिसे बहुतसे चमत्कार उत्पन्न होते हैं; और उस प्रकारके बहुतसे चमत्कार ईसाको हुए हों तो यह सर्वथा मिथ्या है, अथवा असंभव है, ऐसा नहीं कह सकते। उस तरहकी सिद्धियाँ आत्माके ऐश्वर्यके सामने अल्प हैं—आत्माके ऐश्वर्यका महत्व इससे अनंत गुना है। इस विषयमें समागम होनेपर पूँछना योग्य है।

१७. प्रश्नः—आगे चलकर कौनसा जन्म होगा, क्या इस बातकी इस भवमें खबर पड़ सकती है? अथवा पूर्वमें कौनसा जन्म था, इसकी कुछ खबर पड़ सकती है?

उत्तरः—हाँ, यह हो सकता है। जिसे निर्मल ज्ञान हो गया हो उसे वैसा होना संभव है। जैसे बादल इत्यादिके चिह्नोंके ऊपरसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे ही इस जीवकी इस भवकी चेष्टाके ऊपरसे उसके पूर्व कारण कैसे होने चाहिये, यह भी समझमें आ सकता है—चाहे थोड़े ही अंशोंसे समझमें आये। इसी तरह वह चेष्टा भविष्यमें किस परिणामको प्राप्त करेगी, यह भी उसके स्वरूपके ऊपरसे जाना जा सकता है, और उसके विशेष विचार करनेपर भविष्यमें किस भवका होना संभव है, तथा पूर्वमें कौनसा भव था, यह भी अच्छी तरह विचारमें आ सकता है।

१८. प्रश्नः—दूसरे भवकी खबर किसे पड़ सकती है?

उत्तरः—इस प्रश्नका उत्तर ऊपर आ चुका है।

१९. प्रश्नः—जिन मोक्ष-प्राप्त पुरुषोंके नामका आप उल्लेख करते हो, वह किस आधारसे करते हो ?

उत्तरः—इस प्रश्नको यदि मुझे खास तौरसे लक्ष करके पूँछते हो तो उसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जिसकी संसार दशा अत्यंत परिक्षीण हो गई है, उसके वचन इस प्रकारके संभव हैं, उसकी चेष्टा इस प्रकारकी संभव है, इत्यादि अंशसे भी अपनी आत्मामें जो अनुभव हुआ हो, उसके आधारसे उन्हें मोक्ष हुआ कहा जा सकता है; और प्रायः करके वह यथार्थ ही होता है। ऐसा माननेमें जो प्रमाण हैं वे भी शास्त्र आदिसे जाने जा सकते हैं।

२०. प्रश्नः—बुद्धदेवने भी मोक्ष नहीं पाई, यह आप किस आधारसे कहते हो ?

उत्तरः—उनके शास्त्र-सिद्धांतोंके आधारसे। जिस तरहसे उनके शास्त्र-सिद्धांत हैं, यदि उसी तरह उनका अभिप्राय हो तो वह अभिप्राय पूर्वापर-विरुद्ध भी दिखाई देता है, और वह सम्पूर्ण ज्ञानका लक्षण नहीं है।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता वहाँ सम्पूर्ण राग-द्वेषका नाश होना संभव नहीं। जहाँ वैसा हो वहाँ संसारका होना ही संभव है। इसलिये उन्हें सम्पूर्ण मोक्ष मिली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। और उनके कहे हुए शास्त्रोंमें जो अभिप्राय है उसको छोड़कर उनका कुछ दूसरा ही अभिप्राय था, उसे दूसरे प्रकारसे तुम्हें और हमें जानना कठिन पड़ता है; और फिर भी यदि कहें कि बुद्धदेवका अभिप्राय कुछ दूसरा ही था तो उसे कारणपूर्वक कहनेसे वह प्रमाणभूत न समझा जाय, यह बात नहीं है।

२१. प्रश्नः—दुनियाकी अन्तिम स्थिति क्या होगी ?

उत्तरः—सब जीवोंको सर्वथा मोक्ष हो जाय, अथवा इस दुनियाका सर्वथा नाश ही हो जाय, ऐसा होना मुझे प्रमाणभूत नहीं मालूम होता। इसी तरहके प्रवाहमें उसकी स्थिति रहती है। कोई भाव रूपांतरित होकर क्षीण हो जाता है, तो कोई वर्धमान होता है; वह एक क्षेत्रमें बढ़ता है तो दूसरे क्षेत्रमें घट जाता है, इत्यादि रूपसे इस सृष्टिकी स्थिति है। इसके ऊपरसे और बहुत ही गहरे विचारमें उतरनेके पश्चात् ऐसा कहना संभव है कि यह सृष्टि सर्वथा नाश हो जाय, अथवा इसकी प्रलय हो जाय, यह होना संभव नहीं। सृष्टिका अर्थ एक इसी पृथिवीसे नहीं समझना चाहिये।

२२. प्रश्नः—इस अनीतिमेंसे सुनीति उद्भूत होगी, क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—इस प्रश्नका उत्तर सुनकर जो जीव अनीतिकी इच्छा करता है, उसके लिये इस उत्तरको उपयोगी होने देना योग्य नहीं। नीति-अनीति सर्व भाव अनादि हैं। फिर भी हम तुम अनीतिका त्याग करके यदि नीतिको स्वीकार करें, तो इसे स्वीकार किया जा सकता है, और यही आत्माका कर्त्तव्य है। और सब जीवोंकी अपेक्षा अनीति दूर करके नीतिका स्थापन किया जाय, यह वचन नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एकांतसे उस प्रकारकी स्थितिका हो सकना संभव नहीं।

२३. प्रश्नः—क्या दुनियाकी प्रलय होती है ?

उत्तरः—प्रलयका अर्थ यदि सर्वथा नाश होना किया जाय तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि पदार्थका सर्वथा नाश हो जाना संभव ही नहीं है। यदि प्रलयका अर्थ सब पदार्थोंका ईश्वर आदिमें

लीन होना किया जाय तो किसी अभिप्रायसे यह बात स्वीकृत हो सकती है, परन्तु मुझे यह संभव नहीं लगती। क्योंकि सब पदार्थ सब जीव इस प्रकार सम परिणामको किस तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका संयोग बने? और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग आये भी तो फिर विषमता नहीं हो सकती। यदि अव्यक्तरूपसे जीवमें विषमता और व्यक्तरूपसे समताके होनेको प्रलय स्वीकार करें तो भी देह आदि संबंधके बिना विषमता किस आधारसे रह सकती है? यदि देह आदिका संबंध मानें तो सबको एकेन्द्रियपना माननेका प्रसंग आये; और वैसा माननेसे तो बिना कारण ही दूसरी गतियोंका निषेध मानना चाहिए—अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने आया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो, इत्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंकी अपेक्षा प्रलय होना संभव नहीं है।

२४. प्रश्नः—अनपढ़को भक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है?

उत्तरः—भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षर-ज्ञान न हो यदि उसे अनपढ़ कहा हो तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभावसे युक्त है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी आवृत्ति हुए बिना सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे मालूम नहीं होता; और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ सर्व भाषा-ज्ञान समा जाता है, यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भाषा-ज्ञान मोक्षका हेतु है, तथा वह जिसे न हो उसे आत्म-ज्ञान न हो, यह कोई नियम नहीं है।

२५. प्रश्नः—कृष्णावतार और रामावतारका होना क्या यह सच्ची बात है? यदि हो तो वे कौन थे? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अंश थे? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है?

उत्तरः—(१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे, यह तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व आवरण दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें विवाद नहीं है। कोई जीव ईश्वरका अंश है, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। क्योंकि इसके विरोधी हज़ारों प्रमाण देखनेमें आते हैं। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेसे बंध-मोक्ष सब व्यर्थ ही हो जाँयेंगे। क्योंकि फिर तो ईश्वर ही अज्ञान आदिका कर्त्ता हुआ, और यदि वह अज्ञान आदिका कर्त्ता हो तो वह फिर ऐश्वर्यरहित होकर वह अपना ईश्वरत्व ही खो बैठे; अर्थात् जीवका स्वामी होनेका प्रयत्न करते हुए ईश्वरको उल्टा हानिके सहन करनेका प्रसंग उपस्थित हो। तथा जीवको ईश्वरका अंश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य हो सकता है? क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध हो नहीं सकता? इत्यादि विरोध आनेसे किसी जीवको ईश्वरके अंशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर श्रीकृष्ण अथवा राम जैसे महात्माओंके साथ तो उस संबंधके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है? वे दोनों अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर भी उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) 'क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है' इस प्रश्नका उत्तर सहज है। जीवके सब राग, द्वेष और अज्ञानका अभाव होना अर्थात् उनसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है। वह जिसके उपदेशसे

हो सके, उसे मानकर और उसका परमार्थ स्वरूप विचारकर अपनी आत्मामें भी उसी तरहकी निष्ठा रखकर उसी महात्माकी आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तभी मोक्ष होनी संभव है। बाकी दूसरी उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नहीं है—वह उसके साधनका ही हेतु होती है। वह भी निश्चयसे हो ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२६. प्रश्नः—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे?

उत्तर—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोंको मानकर उनके आश्रयसे उनका यह रूप बताया हो, तो यह बात ठीक बैठ सकती है, तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे उन ब्रह्मा आदिका स्वरूप समझमें आता है। परन्तु पुराणोंमें जिस प्रकारसे उनका स्वरूप कहा है, वह स्वरूप उसी प्रकारसे है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हों, ऐसा भी मालूम होता है। फिर भी हमें उनका उपदेशके रूपमें लाभ लेना, और ब्रह्मा आदिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी जंजालमें न पड़ना, यही मुझे ठीक लगता है।

२७. प्रश्नः—यदि मुझे सर्प काटने आवे तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिये या उसे मार डालना चाहिये? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

उत्तरः—सर्पको तुम्हें काटने देना चाहिये, यह काम यद्यपि स्वयं करके बतानेसे विचारमें प्रवेश कर सकता है, फिर भी यदि तुमने यह जान लिया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इस असारभूत देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्रीति है, ऐसे सर्पको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है? जिसे आत्म-हितकी चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् यदि किसीको आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिभ्रमण करना चाहिये; अर्थात् सर्पको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं? यदि अनार्य-वृत्ति हो तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय, परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करना योग्य है।

अब संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र समाप्त करता हूँ। षट्दर्शनसमुच्चयके समझनेका विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोत्तरोंके लिखनेके संकोचसे तुम्हें इनका समझना विशेष अकुलता-जनक हो, ऐसा यदि जरा भी मालूम हो, तो भी विशेषतासे विचार करना, और यदि कुछ भी पत्रद्वारा पूँछने योग्य मालूम दे तो यदि पूँछोगे तो प्रायः करके उसका उत्तर लिखूँगा। विशेष समागम होनेपर समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

लिखित आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चिंतामें रहनेवाले रायचन्द्रका प्रणाम।

४४८

बम्बई, कार्तिक सुदी १, १९५१

मतिज्ञान आदिके प्रश्नोंके विषयमें पत्रद्वारा समाधान होना कठिन है। क्योंकि उन्हें विशेष बाँचनेकी या उत्तर लिखनेकी आजकल प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

महात्माके चित्तकी स्थिरता भी जिसमें रहनी कठिन है, ऐसे दुःषमकालमें तुम सवपर अनुकंपा आती है, यह विचारकर लोकके आवेशमें प्रवृत्ति करते हुए मुझे तुमने जो प्रश्न आदि लिखनेरूप चित्तमें अवकाश प्रदान किया, इससे मेरे मनको संतोष हुआ है ।

---

४४१ वम्बई, कार्तिक सुदी ३ वुध. १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री सूर्यपुरस्थित, वैराग्यचित्त, सत्संग-योग्य श्री·······के प्रति—श्री मोहमयी भूमिसे जीवन्मुक्त दशाके इच्छुक श्री·······का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे । विशेष विनती है कि तुम्हारे लिखे हुए तीनों पत्र थोड़े थोड़े दिनके अंतरसे मिले हैं ।

यह जीव अत्यंत मायाके आवरणसे दिशा-मूढ़ हो गया है, और उस संबंधसे उसको परमार्थ-दृष्टि प्रगट नहीं होती—अपरमार्थमें परमार्थका दृढ़ आग्रह हो गया है, और उससे बोध प्राप्त होनेके संबंधसे भी जिससे उसमें बोधका प्रवेश हो सके, ऐसा भाव स्फुरित नहीं होता, इत्यादि रूपसे जीवकी विषम दशा कहकर प्रभुके प्रति दीनता प्रगट की है कि ' हे नाथ ! अब मेरी कोई गति (मार्ग) मुझे नहीं दिखाई देती । क्योंकि मैंने सर्वस्व लुटा देने जैसा काम किया है, और स्वाभाविक ऐश्वर्यके होते हुए प्रयत्न करनेपर भी उस ऐश्वर्यसे विपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है, उस उस संबंधसे मेरी निवृत्ति कर, और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सदुपायभूत जो सद्गुरुके प्रति शरण भाव है, वह जिससे उत्पन्न हो, ऐसी कृपा कर ।' इस भावके वीस दोहे हैं, जिनमें " हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं ? दीनानाथ दयाल " यह प्रथम वाक्य है । वे दोहे तुम्हें याद होंगे । जिससे इन दोहोंकी विशेष अनुप्रेक्षा हो वैसे करोगे तो यह विशेष गुणावृत्तिका हेतु है ।

उनके साथ दूसरे आठ त्रोटक छंदोंकी अनुप्रेक्षा करना भी योग्य है, जिसमें इस जीवको क्या आचरण करना बाकी रहा है, और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किया वह अबतक वृथा ही हुआ, तथा उस आचरणमें मिथ्या आग्रहको निवृत्त करनेके लिये जो उपदेश दिया है, वह भी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवको विशेष पुरुषार्थका हेतु है ।

योगवासिष्ठका वाँचन पूरा हो गया हो तो थोड़े समय उसको वन्द रखकर अर्थात् अब फिरसे उसका वाँचना वन्द करके उत्तराध्ययनसूत्रका विचार करना । परन्तु उसका कुल-सम्प्रदायके आग्रहार्थके निवृत्त करनेके लिये ही विचार करना । क्योंकि जीवको कुल-योगसे जो सम्प्रदाय प्राप्त हुआ रहता है, वह परमार्थरूप है या नहीं, ऐसा विचार करनेसे दृष्टि आगे नहीं चलती; और सहज ही उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थसे चूक जाता है । इसलिये मुमुक्षु जीवका तो यही कर्त्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्प कालमें ही होनेके साधनभूत वैराग्य और उप-शमके लिये योगवासिष्ठ, उत्तराध्ययन आदिका विचार करना योग्य है; तथा प्रत्यक्ष पुरुषके वचनोंका पूर्वापर अविरोध भाव जाननेके लिये विचार करना योग्य है ।

---

४५० बम्बई, कार्तिक सुदी ३ बुध. १९५१

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट माल्स्म होता है कि वे आत्मभावमें उपयोगसहित थे। जिन श्रीकृष्णने कांचनकी द्वारिकाका, छप्पन करोड़ यादवोंके समूहका और पंचविषयके आकर्षित करनेवाले कारणोंके संयोगमें स्वामीपनेका भोग किया, उन कृष्णने जब देहको छोड़ा, तब उनकी क्या दशा थी, यह विचार करने योग्य है। और उसे विचारकर इस जीवको ज़रूर आकुलतासे मुक्त करना योग्य है। कुलका संहार हो गया है, द्वारिका भस्म हो गई है, उसके शोकसे विह्वल होकर वे अकेले वनमें भूमिके ऊपर सो रहे हैं। वहाँ जराकुमारने जब बाण मारा, उस समय भी जिसने धीरजको रक्खा है, उस कृष्णकी दशा विचार करने योग्य है।

---

४५१ बम्बई, कार्तिक सुदी ४ गुरु. १९५१

मुमुक्षु जीवको दो प्रकारकी दशा रहती है:—एक विचार-दशा और दूसरी स्थितिप्रज्ञ-दशा। स्थितिप्रज्ञ-दशा, विचार-दशाके लगभग पूरी हो जानेपर अथवा सम्पूर्ण हो जानेपर प्रगट होती है। उस स्थितिप्रज्ञ-दशाकी प्राप्ति होना इस कालमें कठिन है; क्योंकि इस कालमें प्रधानतया आत्म-परिणामका व्याघातरूप ही संयोग रहता है, और उससे विचार-दशाका संयोग भी सद्गुरुके-सत्संगके अंतरायसे प्राप्त नहीं होता—ऐसे कालमें कृष्णदास विचार-दशाकी इच्छा करते हैं, यह विचार-दशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है। और वैसे जीवको भय, चिन्ता, पराभव आदि भावमें निज बुद्धि करना योग्य नहीं है। तो भी धीरजसे उन्हें समाधान होने देना, और चित्तका निर्भय रखना ही योग्य है।

---

४५२ बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

मुमुक्षु जीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस संसारमें अज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भी भय नहीं होता। एक अज्ञानकी निवृत्तिकी इच्छा करनेरूप जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी कोई भी इच्छा नहीं होती, और पूर्व कर्मके बलसे कोई वैसा उदय हो तो भी विचारवानके चित्तमें 'संसार काराग्रह है, समस्त लोक दुःखसे पीड़ित है, भयसे आकुल है, राग-द्वेषके प्राप्त फलसे प्रज्वलित है'—यह विचार निश्चयसे रहता है; और 'ज्ञान-प्राप्तिका कुछ अंतराय है, इसलिये वह काराग्रहरूप संसार मुझे भयका हेतु है, और मुझे लोकका समागम करना योग्य नहीं,' एक यही भय विचारवानको रखना योग्य है।

महात्मा श्रीतीर्थंकरने निर्ग्रन्थको प्राप्त हुए परिषह सहन करनेका वारम्वार उपदेश दिया है। उस परिषहके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञानपरिषह और दर्शनपरिषह इस प्रकार दो परिषहोंका प्रतिपादन किया है। अर्थात् किसी उदय-योगका प्राबल्य हो और सत्संग-सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी अज्ञानके कारणोंको दूर करनेमें हिम्मत न चल सकती हो, घबराहट पैदा हो जाती हो, तो भी धीरज रखना चाहिये; सत्संग-सत्पुरुषके संयोगका विशेष विशेषरूपसे आराधन करना चाहिये—

तो ही अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी, क्योंकि यही निश्चित उपाय है, और यदि जीवकी निवृत्त होनेकी बुद्धि है तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह ठहर सकता है ?

एक मात्र पूर्व कर्मके योगके सिवाय वहाँ उसे कोई भी आधार नहीं है। वह तो जिस जीवको सत्संग-सत्पुरुषका संयोग हुआ है, और जिसका पूर्व कर्मकी निवृत्ति करनेका ही प्रयोजन है, उसीके क्रमसे दूर हो सकता है; ऐसा विचार करके मुमुक्षु जीवको उस अज्ञानसे होनेवाली आकुल-व्याकुलताको धीरजसे सहन करना चाहिये—इस तरह परमार्थ कहकर परिग्रहको कहा है। यहाँ हमने संक्षेपमें उन दोनों परिषहोंका स्वरूप लिखा है। इस परिग्रहका स्वरूप जानकर सत्संग-सत्पुरुषके संयोगसे, जिस अज्ञानसे घबराहट होती है, वह निवृत्त होगी—यह निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर भगवान्‌ने धीरज रखना ही बताया है। परन्तु धीरजको इस अर्थमें नहीं कहा कि सत्संग-सत्पुरुषके संयोग होनेपर प्रमादके कारण विलंब करना वह धीरज है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है।

श्रीतीर्थंकर आदिने फिर फिरसे जीवोंको उपदेश दिया है, परन्तु जीव दिशा-मूढ़ ही रहना चाहता है, तो फिर वहाँ कोई उपाय नहीं चल सकता। उन्होंने फिर फिरसे ठोक ठोककर कहा है कि यदि यह जीव एक इसी उपदेशको समझ जाय तो मोक्ष सहज ही है, नहीं तो अनंत उपायोंसे भी मोक्ष नहीं मिलती; और वह समझना भी कोई कठिन नहीं है। क्योंकि जीवका जो स्वरूप है केवल उसे ही जीवको समझना है; और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं कि कभी दूसरा उसे छिपा ले अथवा न बताये, और इस कारण वह समझमें न आ सके। अपने आपसे अपने आपका गुप्त रहना भी किस तरह हो सकता है ? परन्तु जिस तरह जीव स्वप्न दशामें असंभाव्य अपनी मृत्युको भी देखता है, वैसे ही अज्ञान दशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव, जो स्वयं निजका नहीं है, ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजपना मान रहा है; और यह मान्यता ही संसार है, यही अज्ञान है, नरक आदि गतिका हेतु भी यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, यही देहका विकार है; यही पुत्र, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्र आदि भावकी कल्पनाका कारण है; और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज ही मोक्ष है। तथा इसी निवृत्तिके लिये सत्संग-सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं, और यदि इन साधनोंमें भी जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये बगैर लगावे तो ही सिद्धि है। अधिक क्या कहें ? इतना संक्षेप कथन ही यदि जीवको लग जाय तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्र-ज्ञान आदिसे मुक्त हो जाय, इसमें कोई संशय नहीं है।

---

४५३ बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर तुम्हारे सबके मनमें खेद रहता है, यह होना स्वाभाविक है। यदि बने तो योगवासिष्ठ ग्रन्थको तीसरे प्रकरणसे उन्हें बँचाना अथवा श्रवण कराना; और प्रवृत्ति-क्षेत्रसे जिस तरह अवकाश मिले तथा सत्संग हो, उस तरह करना। दिनमें जिससे वैसा अधिक समय अवकाश मिल सके उतना लक्ष रखना योग्य है। कृष्णदासके चित्तमेंसे विक्षेपकी निवृत्ति करना उचित है।

---

४५४ बम्बई, कार्तिक सुदी ९ बुध. १९५१

साफ मनसे खुलासा किया जाय ऐसी तुम्हारी इच्छा रहा करती है। उस इच्छाके कारण ही साफ मनसे खुलासा नहीं किया जा सका, और अब भी उस इच्छाके निरोध करनेके सिवाय तुम्हें दूसरा कोई विशेष कर्तव्य नहीं है। हम साफ चित्तसे खुलासा करेंगे, ऐसा समझकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं, परन्तु सत्पुरुषके संगके माहात्म्यकी रक्षा करनेके लिये उस इच्छाको शान्त करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसका शान्त ही करना उचित है। सत्संगकी इच्छासे ही यदि संसारके प्रतिबंधके दूर होनेकी दशाके सुधार करनेकी इच्छा रहती हो, तो भी हालमें उसे दूर करना ही योग्य है। क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि तुम जो बारंबार लिखते हो वह कुटुम्ब-मोह है, संक्लेश परिणाम है, और किसी अंशसे असाता सहन न करनेकी ही बुद्धि है। और जिस पुरुषको वह बात किसी भक्तजनने लिखी हो तो उससे उसका रास्ता बनानेके बदले ऐसा होता है कि जबतक इस प्रकारकी निदानबुद्धि रहे तबतक सम्यक्त्वका विरोध ही रहता है। ऐसा विचारकर खेद ही होता है। उसे तुमको लिखना योग्य नहीं है।

---

४५५ बम्बई, कार्तिक सुदी १४ सोम. १९५१

(१)

सब जीव आत्मरूपसे समस्वभावी हैं। दूसरे पदार्थमें जीव यदि निजबुद्धि करे तो वह परिभ्रमण दशाको प्राप्त करता है, और यदि निजके विषयमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमण दशा दूर होती है। जिसके चित्तमें इस मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसकी आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हो गया है, उसकी दासानुदासरूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है।

और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है। उतनी सर्वांश दशा जबतक प्रगट न हुई हो तबतक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे तो प्रथम उस गुरुपनेको छोड़कर उस शिष्यमें ही अपनी दासानुदासता करना योग्य है।

(२)

हे जीव! स्थिर दृष्टिपूर्वक तू अंतरंगमें देख, तो समस्त पर द्रव्योंसे मुक्त तेरा परम प्रसिद्ध स्वरूप तुझे अनुभवमें आयेगा।

हे जीव! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शंका है, व्यामोह है और भय है।

सम्यग्दर्शनका योग मिलनेसे उस अज्ञान आदिकी निवृत्ति होगी।

हे सम्यग्दर्शनसे युक्त! सम्यक्चारित्रको ही सम्यग्दर्शनका फल मानना योग्य है, इसलिये उसमें अप्रमत्त हो।

जो प्रमत्तभाव उत्पन्न करता है वह तुझे कर्म-बंधकी सुप्रतीतिका कारण है।

हे सम्यक्चारित्रसे युक्त! अब शिथिलता करना योग्य नहीं। जो बहुत अंतराय था वह तो अब निवृत्त हुआ, फिर अब अंतरायरहित पदमें किसलिये शिथिलता करता है?

वर्ष २८वाँ

परमपद-प्राप्तिकी भावना

(अंतर्गत)

गुणश्रेणीस्वरूप

४५६

बम्बई, कार्तिक १९५१

ॐ

ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? कब मैं बाह्य और अभ्यंतरसे निर्ग्रन्थ बनूँगा? समस्त संबंधके तीक्ष्ण बंधनको छेदकर कब मैं महान् पुरुषोंके पंथपर विचरण करूँगा? ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ १ ॥

समस्त भावोंसे उदासीन वृत्ति होकर, देह भी केवल संयमके ही हेतु रहे; तथा अन्य किसी कारणसे अन्य कुछ भी कल्पना न हो, और देहमें किंचिन्मात्र भी मूर्छाभाव न रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ २ ॥

दर्शनमोहनीयके नाश होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न हो; तथा देहसे भिन्न शुद्ध चैतन्यके ज्ञानसे चारित्रमोहनीयको क्षीण हुआ देखें, इस तरह शुद्ध स्वरूपका ध्यान रहा करे। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ ३ ॥

तीनों योगोंके मंद हो जानेसे मुख्यरूपसे देहपर्यंत आत्म-स्थिरता रहे। तथा इस स्थिरताका घोर परिषहसे अथवा उपसर्गोंके भयसे कभी भी अंत न आ सके। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ ४ ॥

संयमके हेतु ही योगकी प्रवृत्ति हो और वह भी जिनभगवान्‌की आज्ञाके आधीन होकर निज-स्वरूपके लक्षसे हो। तथा वह भी प्रतिक्षण घटती हुई स्थितिमें हो, जो अन्तमें निज स्वरूपमें लीन हो जाय। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा? ॥ ५ ॥

४५६

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे? क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो?
सर्व संबंधनुं बंधन तिक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो? अपूर्व० ॥१॥
सर्व भावथी औदासीन्यवृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो। अपूर्व० ॥२॥
दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवळ चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारितमोह विलोकिये, वर्त्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो। अपूर्व० ॥३॥
आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्त्ते देहपर्यंत जो;
घोर परिषह के उपसर्गभये करी, आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो। अपूर्व० ॥४॥
संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना, स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां, अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो। अपूर्व० ॥५॥

पाँच विषयोंमें राग-द्वेषका अभाव हो, और पंचप्रमादके कारण मनमें क्षोभ न हो। तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके प्रतिबंध बिना ही लोभरहित होकर उदयके आधीन विचरण करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ६ ॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभाव रहे, मानके प्रति सरलताका मान रहे, मायाके प्रति साक्षी-भावकी माया रहे, और लोभके प्रति उसके समान लोभ न रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ?॥ ७ ॥

बहुत उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध न रहे; यदि चक्रवर्ती भी वंदना करे तो भी मान न हो; देह नाश होती हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न न हो, तथा प्रबल सिद्धिका कारण होनेपर भी लोभ न हो। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ८ ॥

नग्नभाव, मुंडभाव, स्नानाभाव, अदंत-धोवन, इत्यादि परम प्रसिद्ध लक्षणरूप जो द्रव्यसंयम है; तथा केश, रोम, नख अथवा शरीरका शृंगार न करनेरूप जो भावसंयम है, उस द्रव्य-भाव संयममय पूर्ण निर्ग्रंथ अवस्था रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ९ ॥

शत्रु-मित्रके प्रति समदर्शिता रहे, मान-अपमानमें समभाव रहे, जीवन-मरणमें न्यूनाधिक भाव न हो, तथा संसार और मोक्षमें शुद्ध समभाव रहे। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १० ॥

स्मशानमें अकेले विचरण करते हुए, पर्वतमें बाघ सिंहके संयोगमें रहते हुए, मनमें क्षोभको प्राप्त न होकर अडोल आसनसे स्थिर रहूँ, और ऐसा समझूँ कि मानो परम मित्रका ही संबंध प्राप्त हुआ है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ११ ॥

घोर तपश्चर्यामें भी मनको संताप न हो, स्वादिष्ट भोजनमें भी मनको प्रसन्नता न हो, तथा रज-कणसे लेकर वैमानिक देवोंकी ऋद्धितक सभीको एक पुद्गलरूप मानूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १२ ॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता, पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंधवण, विचरवुं उदयाधीनपण वीतलोभ जो। अपूर्व० ॥६॥
क्रोधप्रत्ये तो वर्त्ते क्रोधस्वभावता, मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी, लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो। अपूर्व० ॥७॥
बहु उपसर्ग-कर्त्ताप्रत्ये पण क्रोध नहीं, वंदे चक्रि तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां, लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो। अपूर्व० ॥८॥
नग्नभाव, मुंडभाव सह अस्नानता, अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहीं, द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो। अपूर्व० ॥९॥
शत्रु मित्रप्रत्ये वर्त्ते समदर्शिता, मान अमाने वर्त्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता, भव मोक्षे पण शुद्ध वर्त्ते समभाव जो। अपूर्व० ॥१०॥
एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां, वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन, ने मनमां नहीं क्षोभता, परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो। अपूर्व० ॥११॥
घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं, सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो। अपूर्व० ॥१२॥

इस तरह चारित्रमोहनीयका पराजय करके जहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान है उस दशाको प्राप्त करूँ, तथा क्षपकश्रेणी आरूढ़ होकर अतिशय शुद्ध स्वभावका अपूर्व चिंतन करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १३ ॥

स्वयंभूरमणरूपी मोह-समुद्रको पार करके क्षीणमोह गुणस्थानमें आकर रहूँ, और वहाँ अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण वीतराग-स्वरूप होकर अपने केवलज्ञानके खजानेको प्रगट करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १४ ॥

जहाँ चार घनघाती कर्मोंका नाश हो जाता है, जहाँ संसारके बीजका आत्यंतिक नाश हो जाता है, ऐसी सर्वभावकी ज्ञाता द्रष्टा, शुद्ध, कृतकृत्य प्रभु, और जहाँ अनंत वीर्यका प्रकाश रहता है, उस अवस्थाको प्राप्त करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १५ ॥

जहाँपर जली हुई रस्सीकी आकृतिके समान वेदनीय आदि चार कर्म ही बाकी रह जाते हैं। उनकी स्थिति देहकी आयुके आधीन है और आयु कर्मका नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १६ ॥

जहाँ मन, वचन, काय, और कर्मकी वर्गणारूप समस्त पुद्गलोंका संबंध छूट जाता है, ऐसा वहाँ अयोगकेवली नामका महाभाग्य, सुखदायक, पूर्ण और बंधरहित गुणस्थान रहता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १७ ॥

जहाँ एक परमाणुमात्रकी भी स्पर्शता नहीं है, जो पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप है, जो शुद्ध, निरंजन, चैतन्यमूर्ति, अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त और सहजपदरूप है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १८ ॥

पूर्वप्रयोग आदि कारणोंसे जो ऊर्ध्व-गमन करके सिद्धालयको प्राप्त होकर सुस्थित होता है, और सादि-अनंत अनंत समाधि-सुखमें विराजमान होकर अनंत दर्शन और अनंत ज्ञानयुक्त हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १९ ॥

एम पराजय करीने चारितमोहनो, आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता, अनन्यचिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो। अपूर्व० ॥१३॥
मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी, स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थइ, प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो। अपूर्व० ॥१४॥
चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां, भवनां बीजतणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्वभाव ज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो। अपूर्व० ॥१५॥
वेदनीयादि चार कर्म वर्त्ते जहां, बळी सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष् आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष् पूर्णे, मटिये दैहिकपात्र जो। अपूर्व० ॥१६॥
मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहां सकळ पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगि गुणस्थानक त्यां वर्त्ततुं, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो। अपूर्व० ॥१७॥
एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता, पूर्ण कलंकरहित अडोलस्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त्त सहजपदरूप जो। अपूर्व० ॥१८॥
पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधिसुखमां, अनंतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व० ॥१९॥

इस पदको श्रीसर्वज्ञने ज्ञानमें देखा है, परन्तु श्रीभगवान् भी इसे कह नहीं सके। फिर इस स्वरूपको अन्य वाणीसे तो क्या कहा जा सकता है ? यह ज्ञान केवल अनुभव-गोचर ही ठहरता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ २० ॥

जिस परमपदकी प्राप्तिका मैंने ध्यान किया है, वह इस समय शक्ति वगैर यद्यपि केवल मनोरथरूप ही है, तो भी यह रायचन्द्रके मनमें निश्चयसे है इसलिये प्रभुकी आज्ञासे उस स्वरूपको अवश्य पाऊँगा। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥२१॥

४५७

केवल समवस्थित शुद्ध चेतन ही मोक्ष है।

उस स्वभावका अनुसंधान ही मोक्ष-मार्ग है।

प्रतीतिके रूपमें वह मार्ग जहाँ शुरू होता है वहाँ सम्यग्दर्शन है।

एक देश आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह पंचम गुणस्थानक है।

सर्व आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह छट्ठा गुणस्थानक है।

अप्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति होना यह सप्तम गुणस्थानक है।

अपूर्व आत्म-जागृतिका होना यह अष्टम गुणस्थानक है।

सत्तागत स्थूल कषायोंका बलपूर्वक निजस्वरूपमें रहना यह नौवाँ गुणस्थानक है।

,,	सूक्ष्म	,,	,,	,, दसवाँ	,,
,,	उपशांत	,,	,,	,, ग्यारहवाँ	,,
,,	क्षीण	,,	,,	,, बारहवाँ	,,

४५८

ज्ञानी पुरुषोंकी प्रतिसमय अनंत संयम-परिणामोंकी वृद्धि होती है—ऐसा सर्वज्ञने कहा है, यह सत्य है।

वह संयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसमें स्थिर होनेसे प्राप्त होता है।

४५९

आकिंचिनरूपमें विचरते हुए एकांत मौनके द्वारा जिनभगवान्के समान ध्यानपूर्वक मैं तन्मयात्मस्वरूप कब होऊँगा ?

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहीं पण ते श्रीभगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ? अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो। अपूर्व० ॥२०॥
एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान मैं, गजावगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो, प्रभुआज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो। अपूर्व० ॥२१॥

४६०

एक बार विक्षेप शांत हुए विना अति समीप आने दे सकने योग्य अपूर्व संयम प्रकट नहीं होगा। कैसे, कहाँ, स्थिति करें?

---

४६१ बम्बई, कार्तिक सुदी १५ भौम. १९५१

श्रीठाणांगसूत्रकी एक चौभंगीका उत्तर यहाँ संक्षेपमें लिखा है:—

(१) जो आत्माका तो भवांत करे किन्तु दूसरेका न करे, वह प्रत्येकबुद्ध अथवा अशोच्या केवली है। क्योंकि वे उपदेश-मार्ग नहीं चलाते हैं, ऐसा व्यवहार है।

(२) जो आत्माका तो भवांत नहीं कर सकता किन्तु दूसरेका भवांत करता है, वह अचरिमशरीरी आचार्य है, अर्थात् उसको कुछ भव धारण करना अभी और बाकी है। किन्तु उपदेश मार्गकी आत्माके द्वारा उसको पहिचान है, इस कारण उसके द्वारा उपदेश सुनकर श्रोता जीव उसी भवसे इस संसारका अंत भी कर सकता है; और आचार्यको उसी भवसे भवांत न कर सकनेके कारण उसे दूसरे भंगमें रक्खा है। अथवा कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानाराधन कर प्रारब्धोदयमें मंद क्षयोपशमसे वर्तमानमें मनुष्य देह पाकर, जिसने मार्ग नहीं जाना है, ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुननेपर पूर्व संस्कारसे—पूर्वके आराधनसे—ऐसा विचार करे कि यह प्ररूपणा अवश्य ही मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि उपदेष्टा अंधपनेसे मार्गकी प्ररूपणा कर रहा है; अथवा यह उपदेश देनेवाला जीव स्वयं अपरिणामी रहकर उपदेश दे रहा है, यह महा अनर्थ है—ऐसा विचार करते हुए उसका पूर्वाराधन जागृत हो उठे, और वह उदयका नाश कर भवका अंत करे—इसीसे निमित्तरूप ग्रहण कर ऐसे उपदेशका समास भी इस भंगमें किया होगा, ऐसा माल्म होता है।

(३) जो स्वयं भी तरें और दूसरोंको भी तारें, वे श्री तीर्थकरादि हैं।

(४) जो स्वयं भी तरे नहीं और दूसरोंको भी तार न सके, वे अभव्य या दुर्भव्य जीव हैं।

इस प्रकार यदि समाधान किया हो तो जिनागम विरोधको प्राप्त न हो।

---

४६२ बम्बई, कार्तिक १९५१

अन्यसंबंधी जो तादात्म्यपन है, वह तादात्म्यपन यदि निवृत्त हो जाय तो सहज स्वभावसे आत्मा मुक्त ही है—ऐसा श्रीऋषभादि अनंत ज्ञानी-पुरुष कह गये हैं। जो कुछ है वह सब कुछ उसी रूपमें समाया हुआ है।

---

४६३ बम्बई, कार्तिक वदी १३. रवि १९५१

जब प्रारब्धोदय द्रव्यादि कारणोंमें निर्बल हो तब विचारवान जीवको विशेष प्रवृत्ति करना योग्य नहीं, अथवा आसपासकी प्रवृत्ति बहुत सँभालसे करनी उचित है; केवल एक ही लाभ देखते रहकर प्रवृत्ति करना उचित नहीं है।

दुर्विपाकके द्वारा किसी कर्मकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं तो वह नहीं होती, और आर्त्तध्यान होकर ज्ञानीके मार्गपर पग रक्खा जाता है।

---

४६४ बम्बई, मंगसिर सुदी ३ शुक्र. १९५१

प्रश्नः—इसका मध्य नहीं, अर्ध नहीं, और वह अछेद्य तथा अभेद्य है, इत्यादि रूपसे श्रीजिनभगवान्ने परमाणुकी व्याख्या कही है; तो इसमें अनन्त पर्यायें किस तरह घट सकती हैं? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका ही दूसरा नाम है या और कुछ? इस प्रश्नसूचक पत्र मिला था। उसका समाधान इस प्रकार है:—

उत्तरः—प्रत्येक पदार्थकी अनन्त पर्यायें (अवस्थायें) होती हैं। अनन्त पर्यायरहित कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता—ऐसा श्रीजिनभगवान्का अभिमत है, और वह यथार्थ ही मालूम होता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थान्तरको प्राप्त करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जिस तरह आत्मामें प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प परिणतियोंके कारण अवस्थान्तर हुआ करती हैं, उसी तरह परमाणुमें भी वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं। ऐसी अवस्थान्तरोंकी प्राप्ति होनेसे उस परमाणुके अनन्त भाग हुए, ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि वह परमाणु अपने एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहित्वको छोड़े बिना ही उन अवस्थान्तरोंको प्राप्त होता है। एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहित्वके अनन्त भाग हो नहीं सकते। एक ही समुद्रमें जिस तरह तरंगें उठती रहती हैं और वे तरंगें उसीमें समा जाती हैं; जुदी तरंगोंके कारण उस समुद्रकी जुदी जुदी अवस्थायें होनेपर भी जिस तरह समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रको नहीं छोड़ता, और न कहीं उस समुद्रके अनन्त भिन्न भिन्न हिस्से ही होते हैं, मात्र अपने ही स्वरूपमें वह क्रीड़ा करता है; तरंगित होना यह समुद्रकी एक परिणति है; यदि जल शान्त हो तो शान्तता उसकी एक परिणति है—कोई न कोई परिणति उसमें होनी जरूर चाहिए। उसी तरह वर्ण, गंधादि परिणाम परमाणुमें बदलते रहते हैं, किन्तु उस परमाणुके कहीं टुकड़े हो जानेका प्रसंग नहीं आता; वे मात्र अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं। जैसे सोना कुंडलाकारको छोड़कर मुकुटाकार होता है, उसी तरह परमाणुकी भी एक समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी अवस्थामें कुछ अन्तर हुआ करता है। जैसे सोना दोनों पर्यायोंको धारण करनेपर भी सोना ही है, वैसे ही परमाणु भी परमाणु ही रहता है। एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर जवान होता है, जवानी छोड़कर वृद्ध होता है, किन्तु पुरुष वही रहता है; इसी तरह परमाणु भी पर्यायोंको प्राप्त होता है।

आकाश भी अनन्त पर्यायी है, और सिद्ध भी अनन्त पर्यायी हैं—ऐसा जिनभगवान्का अभिप्राय है। इसमें विरोध नहीं मालूम होता। वह बहुत कुछ मेरी समझमें आया है, किन्तु विशेषरूपसे नहीं लिखे जा सकनेके कारण, जिससे तुमको यह बात विचार करनेमें कारण हो, इस तरह ऊपर ऊपर से लिखी है।

आँखमें मेष-उन्मेष जो अवस्थायें हैं, वे उसकी पर्यायें हैं। दीपककी हलन चलन स्थिति उसकी पर्याय है। आत्माकी संकल्प-विकल्प दशा अथवा ज्ञान-परिणति यह उसकी पर्याय है। उसी तरहसे वर्ण गंध परिणमनको प्राप्त हों, यह परमाणुकी पर्याय है। यदि इस तरहका परिणमन न हो तो यह

जगत् इस विचित्रताको प्राप्त न हो सके, क्योंकि यदि एक परमाणुमें पर्यायें न होंगी तो सभी परमाणुओंमें भी पर्यायें न होंगी। संयोग, वियोग, एकत्व, पृथक्त्व इत्यादि परमाणुकी पर्यायें हैं और वे सभी परमाणुओंमें होती हैं। जिस तरह मेष-उन्मेषसे चक्षुका नाश नहीं होता, उसी तरह यदि इन भावोंका प्रति समय उसमें परिवर्तन होता रहे तो भी परमाणुका व्यय (नाश) नहीं होता।

---

४६५ मोहमयी (बम्बई), मंगसिर वदी ८ बुध. १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद बहुत करके ववाणीआ, अर्थात् इस भवके जन्म-ग्राममें साधारण व्यावहारिक प्रसंगसे जानेकी ज़रूरत है। चित्तमें बहुत प्रकारोंसे उस प्रसंगके छूट सकनेका विचार करनेसे उससे छूटा जा सकता है, यह भी संभव है। फिर भी बहुतसे जीवोंको अल्प कारणमें ही कभी अधिक संदेह होनेकी भी संभावना होती है, इसलिये अप्रतिबंध भावको विशेष दृढ़ करके वहाँ जानेका विचार है। वहाँ जानेपर, एक महीनेसे अधिक समय लग जाना संभव है। कदाचित् दो महीने भी लग जाँय। उसके बाद फिर वहाँसे लौटकर इस क्षेत्रकी तरफ आना हो सकेगा, फिर भी जहाँ-तक हो सकेगा वहाँतक दो-एक महीनेका एकान्तमें निवृत्ति योग मिल सके तो वैसा करनेकी इच्छा है, और वह योग अप्रतिबंध भावसे हो सके इसका विचार कर रहा हूँ।

सब व्यवहारोंसे निवृत्त हुए बिना चित्त ठिकाने नहीं बैठता, ऐसे अप्रतिबंध—असंगभावका चित्तमें बहुत कुछ विचार किया है इस कारण उसी प्रवाहमें रहना होता है। किन्तु उपार्जित प्रारब्धके निवृत्त होनेपर ही वैसा हो सकता है, इतना प्रतिबंध पूर्वकृत है—आत्माकी इच्छाका प्रतिबंध नहीं है।

सर्व सामान्य लोक व्यवहारकी निवृत्तिसंबंधी प्रसंगके विचारको किसी दूसरे प्रसंगपर बतानेके लिये रखकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेकी विशेष इच्छा रहा करती है। किन्तु वह भी उदयके सामने नहीं बनता। फिर भी रात दिन यही चिन्तन रहा करता है, तो संभव है कि थोड़े समय बाद यह हो जाय। इस क्षेत्रके प्रति कुछ भी द्वेष भाव नहीं है, तथापि संगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयो-जन बिना यहाँ रहना आत्माके कुछ विशेष लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है।

यद्यपि प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी तरह प्रयोजनभूत नहीं लगती है, तो भी उदयानुसार काम करते रहनेके ज्ञानीके उपदेशको अंगीकार कर उदयको भोगनेके लिये हमें प्रवृत्ति-योग लेना पड़ा है।

ज्ञानपूर्वक आत्मामें उत्पन्न हुआ यह निश्चय कभी भी नहीं बदलता है कि समस्त संग बड़ा भारी आस्रव है; चलते, देखते, प्रसंग करते एक समयमात्रमें यह निजभावको विस्मरण करा देता है; और यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें भी आई है, आती है और आ सकती है। इस कारण रात दिन इस बड़े आस्रवरूप समस्त संगमें उदास भाव रहता है, और वह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है, इसीलिये विशेष परिणामको प्राप्त कर सब संगोंसे निवृत्ति हो, ऐसी अपूर्व कारण-योगसे इच्छा रहा करती है।

संभव है, यह पत्र प्रारंभसे व्यावहारिक स्वरूपमें लिखा गया मालूम हो, किन्तु इसमें यह बात बिलकुल भी नहीं है। असंगभावके विषयमें आत्म-भावनाका थोड़ासा विचारमात्र यहाँ लिखा है।

---

४६६ बम्बई, मंगसिर वदी ९ शुक्र. १९५१

ॐ

ज्ञानी पुरुषका सत्संग होनेसे—निश्चय होनेसे—और उसके मार्गका आराधन करनेसे जीवका दर्शनमोहनीय कर्म उपशांत हो जाता है अथवा क्षय हो जाता है, और क्रम क्रमसे सर्व ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव कृतकृत्य होता है—यह बात यद्यपि प्रकट सत्य है, किन्तु उससे उपार्जित प्रारब्ध भी नहीं भोगना पड़ता, यह सिद्धांत नहीं हो सकता। जिसे केवलज्ञान हुआ है, ऐसे वीतरागको भी जब उपार्जित प्रारब्धस्वरूप चार कर्मोंको भोगना पड़ता है, तो उससे नीची भूमिकामें स्थित जीवोंको प्रारब्ध भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जिस तरह उस सर्वज्ञ वीतरागीको घनघाती चार कर्मोंको, उनका नाश हो जानेके कारण, भोगना नहीं पड़ता है, और उन कर्मोंके पुनः उत्पन्न होनेके कारणोंकी स्थिति उस सर्वज्ञ वीतरागमें नहीं है, उसी तरह ज्ञानीका निश्चय होनेपर अज्ञान भावसे जीवको उदासीनता होती है; और उस उदासीनताके कारण ही भविष्य कालमें उस प्रकारका कर्म उपार्जन करनेका उस जीवको कोई मुख्य कारण नहीं रहता। यदि कदाचित् पूर्वानुसार किसी जीवको विपर्यय उदय हो जाय, तो भी वह उदय क्रमशः उपशांत एवं क्षय होकर, जीवको ज्ञानीके मार्गकी पुनः प्राप्ति होती है और वह अर्धपुद्गल-परावर्तनमें अवश्य ही संसार-मुक्त हो जाता है। किन्तु समकिती जीवको, अथवा सर्वज्ञ वीतरागको, अथवा अन्य किसी योगी या ज्ञानीको ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे उपार्जित प्रारब्ध न भोगना पड़े, अथवा दुःख न हो, यह सिद्धांत नहीं हो सकता।

तो फिर हमको तुमको जहाँ मात्र सत्संगका अल्प ही लाभ होता है, वहाँ सब सांसारिक दुःख निवृत्त हो जाने चाहिये—ऐसा मानने लगें तब तो केवलज्ञानादि निरर्थक ही हो जाँयगे। क्योंकि उपार्जित प्रारब्ध यदि बिना भोगे ही नष्ट हो जाय तो फिर सब मार्ग झूँठा ही हो जाय। ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीके प्रसंगकी रुचि मुरझा जाती है एवं सत्यासत्यका विवेक होता है; अनन्तानुबंधी क्रोधादि खप जाते हैं; और क्रम क्रमसे सब राग-द्वेष क्षय हो जाते हैं—यह सब कुछ होना संभव है, और ज्ञानीके निश्चय-द्वारा यह अल्पकालमें ही अथवा सुगमतासे हो जाता है, यह सिद्धांत है। तो भी जो दुःख इस तरहसे उपार्जित किया हुआ है कि जिसका भोग बिना नाश न हो, उसे तो भोगना ही पड़ेगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

मेरी आन्तरिक मान्यता तो यह है कि यदि परमार्थके हेतुसे किसी मुमुक्षु जीवको मेरा प्रसंग हो और वह अवश्य मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे, तो ही उसका कल्याण हो सकता है। किन्तु यदि द्रव्यादि कारणकी कुछ भी इच्छा रहे अथवा वैसे व्यवसायका मुझे उसके द्वारा पता चल जाय, तो फिर वह जीव अनुक्रमसे मलिन वासनाको प्राप्त होकर मुमुक्षुताका नाश करता है—ऐसा मुझे निश्चय है। और इसी कारणसे तुम्हारी तरफसे जब जब व्यावहारिक प्रसंग लिखा आया है, तब तब तुमको कई बार उपालंभ देकर सूचित भी किया था कि मेरे प्रति तुम्हारे द्वारा इस प्रकार व्यवसाय व्यक्त न किया जाय, इसका तुम अवश्य ही प्रयत्न करना। और हमें याद आ रहा है कि तुमने मेरी इस सूचनाको स्वीकार भी की थी, किन्तु तदनुसार थोड़े समयतक ही हुआ। बादमें अब फिर व्यवसायके संबंधमें तुम लिखने लगे हो, तो आजके हमारे पत्रपर मनन कर अवश्यमेव उस बातको

तुम छोड़ देना; और यदि नित्य वैसी ही वृत्ति रक्खा करोगे तो यह अवश्य ही तुम्हारे लिये हितकारी होगा। उससे मुझे ऐसा माल्रम होगा कि तुमने मेरी आन्तर्वृत्तिको उल्लासित करनेका कारण दिया है। सत्संगके प्रसंगमें कोई भी ऐसा करे तो मेरा चित्त बहुत विचारमें पड़ जाता है अथवा घबरा जाता है, क्योंकि 'परमार्थको नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमें आई,' ऐसा भाव, जब जब तुम व्यवसायके संबंधमें लिखा करते हो, तब तब मुझे प्रायः हुआ करता है। फिर भी आपकी वृत्तिमें विशेष परिवर्तन होनेके कारण थोडी बहुत घबराहट चित्तमें कम हुई होगी। तुमको परमार्थकी इच्छा है इसलिये इस बातपर तुमको अवश्य स्थिर होना चाहिये।

---

४६७ बम्बई, मंगसिर वदी ११ रवि. १९५१

परसोंके दिन लिखे हुए पत्रमें जो गंभीर आशय लिखा है वह विचारवान जीवको आत्माका परम हितैषी होगा। हमनें तुम्हें यह उपदेश अनेक बार थोड़ा-बहुत किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टसे उत्पन्न क्लेशके कारण तुम बहुत बार उसे भूल गये हो अथवा भूल जाते हो। हमारे प्रति माताके समान तुम्हारा भक्तिभाव है, ऐसा मानकर लिखनेमें कोई हानि नहीं है। तथा दुःख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमारेसे वैसे व्यवहारकी याचना तुम्हारे द्वारा दो प्रकारसे हुई है:— एक तो किसी सिद्धि-योगसे दुःख मिटाया जा सके इस मतलबकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। इन दोनों प्रकारकी तुम्हारी याचनाओंमेंसे एक भी हमारे पास करना वह तुम्हारी आत्माके हितके कारणको रोकनेवाला और अनुक्रमसे मलिन वासनाका कारण होगा। क्योंकि जिस भूमिमें जो करना अनुचित है, और यदि कोई जीव वही उसमें करे, तो उस भूमिकाका उसे अवश्य ही त्याग करना पडेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। तुम्हारी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होना चाहिये, और तुमपर कितना भी दुःख क्यों न आ पड़े फिर भी तुम्हें उसे धैर्यपूर्वक ही सहन करना चाहिये। यदि वैसा न हो सके तो भी उसके एक अक्षरकी भी सूचना हमको न करनी चाहिये—यही तुमको सर्वथा योग्य है। और तुमको वैसी स्थितिमें देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और जितना तुम्हारा उस स्थितिमें हित है, वह पत्रद्वारा अथवा वचनद्वारा हमसे बताया नहीं जा सकता। फिर भी पूर्वमें किसी उसी उदयके कारण तुम उस बातको भूल जाते हो, जिससे तुम्हें हमको लिखकर सूचित करनेकी इच्छा बनी रहती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें, प्रथम कही हुई याचना तो किसी भी निकट-भव्यको करनी योग्य ही नहीं है, और यदि कदाचित् अल्पमात्र हो भी तो उसे मूलसे ही काट डालना उचित है। क्योंकि वह लोकोत्तर मिथ्यात्वका कारण है, ऐसा तीर्थंकरादिका निश्चय है; और वह हमको भी सप्रमाण माल्रम होता है। दूसरे प्रकारकी याचना भी करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमारे लिये परिश्रमका कारण है। हमको व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह इस जीवकी सद्वृत्तिकी बहुत ही अल्पता बताता है। क्योंकि हमारे लिये परिश्रम करके तुम्हें व्यवहारको चला लेना पड़ता हो तो वह तुम्हारे लिये हितकारी है, और हमारे लिये भी वैसे दुष्ट निमित्तका कारण नहीं है। ऐसी परिस्थिति होनेपर भी हमारे

चित्तमें ऐसा विचार रहा करता है कि जबतक हमसे परिग्रह आदिका लेने देनेका व्यवहार उदयमें हो तबतक स्वयं उस कार्यको करना चाहिये, अथवा उसे व्यवहारसंबंधी नियमोंसे करना चाहिये। किन्तु मुमुक्षु पुरुषको तत्संबंधी परिश्रम देकर नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस कारणसे जीवके मलिन वासनाका पैदा हो जाना संभव है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रह सकता हो, किन्तु फिर भी काल ही कुछ ऐसा है कि यदि द्रव्यसे भी शुद्धि रक्खें तो दूसरे जीवमें विषमता पैदा न होने पावे, और अशुद्ध वृत्तिवान जीव भी तदनुसार वर्तन कर परम पुरुषोंके मार्गका नाश न करे—इत्यादि विचारपर मेरा चित्त लगा रहता है।

तो फिर जिसका परमार्थ-बल अथवा चित्त-शुद्धिभाव हमसे कम हो उसे तो अवश्य ही उस मार्गणाको मजबूत बनाये रखनी चाहिये, यही उसके लिये प्रबल श्रेय है, और तुम्हारे जैसे मुमुक्षु पुरुषको तो अवश्य ही वैसा करना उचित है। क्योंकि तुम्हारा अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओंके हिताहितका कारण हो सकता है। प्राण जानेकी विषम अवस्थामें भी तुमको निष्कामता ही रखनी चाहिये—हमारा यह विचार तुम्हारी आजीविकाके कारण चाहे जैसे दुःखोंके प्रति अनुकंपा होनेपर भी मिटता नहीं है, किन्तु उल्टा और बलवान होता है। इस विषयमें विशेष हेतु देकर तुम्हें निश्चय करानेकी इच्छा है और वह निश्चय तुम्हें होगा ही, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

इस प्रकार तुम्हारे अथवा दूसरे मुमुक्षु जीवोंके हितके लिये मुझे जो ठीक लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद मेरे आत्मार्थके संबंधमें मेरा कुछ दूसरा ही निजी विचार है, जिसको लिखना उचित न था। किन्तु तुम्हारी आत्माको दुखाने जैसा मैंने तुम्हें कुछ लिखा है, इसलिये उसका लिखना योग्य मानकर ही उसे यहाँ लिखा है। वह इस प्रकार है कि जबतक परिग्रहादिका लेना देना हो—वैसा व्यवहार हमारे उदयमें हो, तबतक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु अथवा सत्पात्र जीवकी अथवा उसकी हमारे द्वारा अनुकंपा भावकी जो कुछ भी सेवा-चाकरी, उसको कहे बिना ही, की जा सके, उसे द्रव्यादि पदार्थसे भी करनी चाहिये। क्योंकि इस मार्गको ऋषभ आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण-निष्पन्नताके लिये आवश्यक माना है। यह हमारा अपना निजका विचार है और वैसा आचरण सत्पुरुषके लिये निषिद्ध नहीं है, किन्तु किसी प्रकारसे वह कर्तव्य ही है। यदि उस विषय या सेवा-चाकरीसे उस जीवके परमार्थका निरोध होता हो तो उसका भी सत्पुरुषको उपशमन ही करना चाहिये।

४६८

बम्बई, मंगसिर १९५१

श्रीजिन आत्म-परिणामकी स्वस्थताको समाधि, और आत्म-परिणामकी अस्वस्थताको असमाधि कहते हैं। यह अनुभव-ज्ञानसे देखनेसे परम सत्य सिद्ध होता है।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्म-परिणामको स्वस्थ रखना, ऐसी विषम प्रवृत्ति श्रीतीर्थंकर जैसे ज्ञानीद्वारा भी बनना कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीवके द्वारा उस बातको संभवित कर दिखाना कठिन हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

किसी भी पर पदार्थके लिये इच्छाकी प्रवृत्ति करना, और किसी भी पर पदार्थमें वियोगकी चिन्ता करना, उसे श्रीजिन आर्त्तध्यान कहते हैं, इसमें सन्देह करना योग्य नहीं है।

तीन वर्षोंके उपाधि-योगसे उत्पन्न हुए विक्षेप भावको मिटानेका विचार रहता है। जो प्रवृत्ति दृढ़ वैराग्यवानके चित्तको बाधा कर सकती है वह प्रवृत्ति यदि अदृढ़ वैराग्यवान जीवको कल्याणके सन्मुख न होने दे तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

संसारमें जितनी परिणतियोंको सारभूत माना गया है, उतनी ही आत्म-ज्ञानकी न्यूनता श्रीतीर्थंकरने कही है।

परिणाम जड़ होता है, ऐसा सिद्धांत नहीं है। चेतनको चेतन परिणाम होता है और अचेतनको अचेतन परिणाम होता है, ऐसा जिनभगवान्ने अनुभव किया है। परिणाम अथवा पर्यायरहित कोई भी पदार्थ नहीं है, ऐसा श्रीजिनने कहा है, और वह सत्य है।

श्रीजिनने जो आत्मानुभव किया है और पदार्थके स्वरूपको साक्षात्कार कर जो निरूपण किया है, वह सब मुमुक्ष जीवोंको अपने परम कल्याणके लिये अवश्य ही विचार करना चाहिये। जिन-भगवान्द्वारा कथित सब पदार्थके भाव एक आत्माको प्रकट करनेके लिये ही हैं, और मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति तो केवल दोकी ही होती है:—एक आत्म-ज्ञानीकी और एक आत्म-ज्ञानीके आश्रयवानकी—ऐसा श्रीजिनने कहा है।

वेदकी एक श्रुतिमें कहा गया है कि आत्माको सुनना चाहिये, विचारना चाहिये, मनन करना चाहिये, अनुभव करना चाहिये; अर्थात् यदि केवल यही एक प्रवृत्ति की जाय तो जीव संसार-सागरको तैरकर पार पा जाय, ऐसा लगता है। बाकी तो श्रीतीर्थंकरके समान ज्ञानीके बिना हर किसीको इस प्रवृत्तिको करते हुए कल्याणका विचार करना, उसका निश्चय होना तथा आत्म-स्वस्थताका प्राप्त होना दुर्लभ है।

---

४६९ बम्बई, मंगसिर १९५१

ईश्वरेच्छा बलवान है और काल भी बड़ा विषम है। पहिले ही जानते थे और स्पष्ट श्रद्धान था कि ज्ञानी-पुरुषको सकाम भावसहित भजनेसे आत्माको प्रतिबंध होता है, और बहुत बार तो ऐसा होता है कि परमार्थ दृष्टि नष्ट होकर संसारार्थ दृष्टि हो जाती है। ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुनः सुलभ-बोधिता प्राप्त होना बड़ी कठिन बात है, ऐसा जानकर कोई भी जीव सकाम भावसे समागम न करे, इसी प्रकारका आचरण हो रहा था। हमने तुमको तथा श्री..........आदिको इस मार्गके संबंधमें कहा था, किन्तु हमारे दूसरे उपदेशोंकी भाँति किसी पूर्व प्रारब्ध योगसे तत्काल ही उसका ग्रहण तुमको नहीं होता था। हम जब कभी भी तत्संबंधी कुछ भी कहते थे तब पूर्वके आचार्योंने ऐसा आचरण किया है—आदि प्रकारके प्रत्युत्तर दिये जाते थे। उन उत्तरोंसे हमारे चित्तमें इसलिये बड़ा खेद होता था कि यह सकाम-वृत्ति दुःषम कालके कारण ऐसे मुमुक्षु पुरुषमें भी मौजूद है, नहीं तो उसका स्वप्नमें भी होना संभव न था। यद्यपि उस सकाम-वृत्तिसे तुम परमार्थ दृष्टिभावको भूल जाओगे, ऐसा

संशय नहीं होता था, फिर भी प्रसंगानुसार परमार्थ दृष्टिके लिये शिथिलताका कारण होनेकी संभावना दिखाई देती थी। किन्तु उसको देखते हुए बड़ा खेद तो इसलिये होता था कि इस मुमुक्षुकी कुटुम्बमें सकामबुद्धि विशेष होगी और परमार्थ दृष्टि मिट जायगी, अथवा उसकी उत्पत्तिकी संभावना दूर हो जायगी, और इस कारणसे दूसरे बहुतसे जीवोंको वह स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिमें हेतुभूत होगी। फिर सकामभावसे भजनेवालेकी वृत्तिको शांत करना हमारे द्वारा होना कठिन बात है, इसलिये सकामी जीवोंको पूर्वापर विरोध बुद्धि होने अथवा परमार्थ—पूज्यभावना दूर हो जानेकी संभावना हमें जो दिखाई देती थी, वह वर्तमानमें न हो, उसका विशेष उपयोग रहे, इसीलिये उसे सामान्यरूपसे लिखा है। पूर्वापर इस बातका माहात्म्य समझा जाय और दूसरे जीवोंका उपकार हो वैसा विशेष लक्ष रखना।

४७० मोहमयी, पौष सुदी ? शुक्र. १९५१

जिस किसी प्रकार असंगताद्वारा आत्मभाव साध्य हो उसी प्रकारका आचरण करना, यही जिनभगवान्की आज्ञा है।

इस उपाधिरूप व्यापारादि प्रसंगसे छूटनेका बारंबार विचार रहा करता है, तो भी उसका अपरिपक्व काल समझकर उदयके कारण व्यवहार करना पड़ता है। किन्तु उपरि-लिखित जिनभगवान्की आज्ञा प्रायः विस्मरण नहीं होती है, और हालमें तो हम तुमको भी उसी भावके विचार करनेके लिये कहते हैं।

४७१ बम्बई पौष सुदी १० रवि. १९५१

प्रत्यक्ष जेलखाना होनेपर भी उसको त्याग करनेकी जीवकी इच्छा नहीं होती, अथवा वह अत्यागरूप शिथिलताको त्याग नहीं सकता, अथवा वह त्याग बुद्धि होनेपर त्याग करते करते कालयापन करता जाता है—इन सब विचारोंको शीघ्र कैसे दूर करे, अल्पकालमें वैसा करना कैसे हो, इस विषयमें हो सके तो पत्रद्वारा लिखना।

४७२ बम्बई, पौष वदी २, १९५१

*२–२–३ मा—१९५१

द्रव्य,	एक लक्ष.
क्षेत्र,	मोहमयी.
काल,	—मा. व. ८-१.
भाव,	उदयभाव.

* स्पष्टीकरणः—२–२–३ मा—१९५१=[२=द्वितीया, २=कृष्ण पक्ष, ३=पौष, मा=मास, १९५१=संवत् १९५१]=पौष वदी २, १९५१.

द्रव्य=धन.	एक लक्ष=एक लाख.
क्षेत्र=स्थान.	मोहमयी=बम्बई.
काल=समय.	मा. व. ८–१=एक वर्ष और आठ महीने.

—यह विचारणा पौष वदी २, १९५१ के दिन लिखी गई है कि द्रव्य-मर्यादा एक लक्ष रुपयेकी करनी, बम्बईमें एक वर्ष आठ महीने निवास करना, और ऐसी वृत्ति होनेपर भी उदयभावके अनुसार प्रवृत्ति करना। —अनुवादक.

*द्रव्य—	एक लक्ष.	उदासीन.
क्षेत्र—	मोहमयी.	
काल—	८—१.	इच्छा.
भाव—	उदयभाव.	प्रारब्ध.

---

४७३ बम्बई, पौष वदी १० रवि. १९५१

(१)

विषम संसारके बंधनको तोड़कर जो चल निकले, उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम हैं.

चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य न होनेसे उदय प्रारब्धके सिवाय अन्य सब प्रकारोंमें असंगभाव रखना ही योग्य माल्रम होता है; और वह वहाँतक कि जिनके साथ जान-पहिचान है, उनको भी हालमें भूल जाँय तो अच्छी बात। क्योंकि संगसे निष्कारण ही उपाधि बढ़ा करती है, और वैसी उपाधि सहन करने योग्य हालमें मेरा चित्त नहीं है। निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेकी इच्छा माल्रम नहीं होती है; और जो व्यापार व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंतना रहा करती है। उसी तरह मनमें दूसरेको बोध करनेके उपयुक्त मेरी योग्यता हालमें मुझे नहीं लगती, क्योंकि जबतक सब प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तबतक यथार्थ आत्मज्ञान नहीं कहा जा सकता, और जबतक ऐसा हो तबतक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना ही योग्य है, और हालमें उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं इसी प्रकार रह रहा हूँ, वह क्षम्य है। क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

(२)

वेदांत जगत्को मिथ्या कहता है, इसमें असत्य ही क्या है ?

---

४७४ बम्बई, पौष १९५१

ॐ

यदि ज्ञानी-पुरुषके दृढ़ आश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है तो फिर प्रतिक्षण आत्मोपयोगको स्थिर करने योग्य वह कठिन मार्ग उस ज्ञानी-पुरुषके दृढ़ आश्रयसे होना सुलभ क्यों न हो ? क्योंकि

---

* यहाँ इस बातका फिरसे विचार किया माल्रम होता है:—

प्रश्नः—एक लाख रुपया किस तरह प्राप्त हो ?
उत्तरः—उदासीन रहनेसे।
प्रश्नः—बम्बईमें किस तरह निवास हो ?
उत्तरमें कुछ नहीं कहा गया।
प्रश्नः—एक वर्ष और आठ महीनेका काल किस तरह व्यतीत किया जाय ?
उत्तरः—इच्छाभावसे।
प्रश्नः—उदयभाव क्या है ?
उत्तरः—प्रारब्ध।

—अनुवादक.

उस उपयोगकी एकाग्रताके बिना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति है ही नहीं। ज्ञानी-पुरुपके वचनका दृढ़ आश्रय जिसको हो जाय उसको सर्व साधन सुलभ हो जाते हैं, ऐसा अखंड निश्चय सत्पुरुषोंने किया है। तो फिर हम कहते हैं कि इन वृत्तियोंका जय करना ही योग्य है। उन वृत्तियोंका जय क्यों नहीं हो सकता? इतना तो सत्य है कि इस दुःषम कालमें सत्संगकी समीपता अथवा दृढ़ आश्रय अधिक चाहिये, और असत्संगसे अत्यन्त निवृत्ति चाहिये; तो भी मुमुक्षुके लिये तो यही उचित है कि कठिन-से कठिन आत्म-साधनकी ही प्रथम इच्छा करे, जिससे सर्व साधन अल्पकालमें ही फलीभूत हो जाँय।

श्रीतीर्थंकरने तो इतनातक कहा है कि जिस ज्ञानी-पुरुषकी संसार-परिक्षीण दशा हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुपके परंपरा-कर्मबंध होना संभव नहीं है, तो भी पुरुषार्थको ही मुख्य रखना चाहिये, जो दूसरे जीवके लिये भी आत्मसाधनके परिणामका हेतु हो।

ज्ञानी-पुरुपको आत्म-प्रतिबंधरूपमें संसार-सेवा होती नहीं, किंतु प्रारब्ध-प्रतिबंधरूपमें होती हैं, फिर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामकी प्राप्तिकी ही ज्ञानीकी रीति हुआ करती है। जिस रीतिका आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषरूपसे वैसा किया है, और उसमें अवश्यमेव आत्मदशाको भुलानेका संभव रहे, ऐसे उदयको भी यथाशक्य समभावसे सहन किया है। यद्यपि उस वेदन कालमें सर्वसंग निवृत्ति किसी भी प्रकारसे हो जाय तो बड़ी अच्छी बात हो, ऐसा सदैव ध्यान रहा है। फिर भी सर्वसंग निवृत्तिसे जैसी दशा होनी चाहिये, वह दशा उदयमें रहे, तो अल्पकालमें ही विशेष कर्मकी निवृत्ति हो जाय, ऐसा जानकर जितना हो सका उतना उस प्रकारका प्रयत्न किया है। किन्तु मनमें अब यों रहा करता है कि यदि इस प्रसंगसे अर्थात् सकल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके, तो न सही, किन्तु यदि व्यापारादि प्रसंगसे निवृत्त—दूर—हुआ जा सके तो उत्तम हो। क्योंकि आत्मभावसे परिणामकी प्राप्तिमें ज्ञानीकी जो दशा होनी चाहिये, वह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षु जीवको दिखाई नहीं देती है। इस प्रकार जो लिखा है, उसके विषयमें अभी हालमें कभी कभी विशेष विचार उदित होता है; उसका जो कुछ भी परिणाम आवे सो ठीक।

---

४७५ बम्बई, माघ सुदी २ रवि. १९५१

चित्तमें कोई भी विचारवृत्ति परिणमी हैं, यह जानकर हृदयमें आनंद हुआ है। असार एवं क्लेशरूप आरंभ परिग्रहके कार्यमें रहते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय अथवा अजागृत रहे तो बहुत वर्षोंके उपासित वैराग्यके भी निष्फल चले जानेकी दशा हो जाती है, इस प्रकार नित्य प्रति निश्चयको याद करके निरुपाय प्रसंगमें डरसे काँपते हुए चित्तसे अनिवार्यरूपमें प्रवृत्त होना चाहिये—इस बातका मुमुक्षु जीवके प्रत्येक कार्यमें, क्षण क्षणमें और प्रत्येक प्रसंगमें लक्ष्य रक्खे बिना मुमुक्षुता रहनी दुर्लभ है; और ऐसी दशाका अनुभव किये बिना मुमुक्षुता भी संभव नहीं है। मेरे चित्तमें हालमें यही मुख्य विचार हो रहा है।

---

४७६ बम्बई, माघ सुदी २ सोम. १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अंततक आत्मार्थको त्याग करनेकी इच्छा न करे, इतनी ही भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है, वह सत्य है।

४७७

माघ सुदी ७ शनिवार विक्रम संवत् १९५१ के बाद डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं; और उतने कालमें उसके बादका जीवनकाल किस तरह भोगा जाय, उसका विचार किया जायगा।

---

४७८ बम्बई, माघ सुदी ८ रवि. १९५१

तुमने पत्रमें जो कुछ लिखा है, उसपर बारंबार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पंच-विषयादिका अशुचि-स्वरूपका वर्णन किया हो, ऐसे शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंके चरित्रोंको विचार करनेसे तथा प्रत्येक कार्यमें लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होनेसे जो कुछ भी उदास भावना होनी उचित है सो होगी।

---

४७९ बम्बई, फाल्गुन सुदी १२ शुक्र. १९५१

जिस प्रकारसे बंधनोंसे छूटा जा सके, उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करना यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचयको विचारकर निवृत्त करना यह छूटनेका एक मार्ग है। जीव इस बातको जितना विचार करेगा उतना ही ज्ञानी-पुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आता जायगा।

---

४८० बम्बई, फाल्गुन सुदी १४ रवि. १९५१

अशरण इस संसारमें निश्चित बुद्धिसे व्यवहार करना जिसको योग्य न लगता हो और उस व्यवहारके संबंधको निवृत्त करने एवं कम करनेमें विशेष काल व्यतीत हो जाया करता हो, तो उस कामको अल्पकालमें करनेके लिये जीवको क्या करना चाहिये? समस्त संसार मृत्यु आदि भयोंके कारण अशरण है, वह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना केवल मृग-तृष्णाके जलके समान है। विचार कर करके श्रीतीर्थंकर जैसे महापुरुषोंने भी उससे निवृत्त होना—छूट जाना—यही उपाय ढूँढ़ा है। उस संसारके मुख्य कारण प्रेम-बंधन तथा द्वेष-बंधन सब ज्ञानियोंने स्वीकार किये हैं। उनकी व्यग्रताके कारण जीवको निजका विचार करनेका अवकाश ही प्राप्त नहीं होता है, और यदि होता भी है तो उस योगसे उन बंधनोंके कारण आत्मवीर्य प्रवृत्ति नहीं कर सकता, और वह समस्त प्रमादका हेतु है। और वैसे प्रमादसे लेशमात्र—समयकाल—भी निर्भय अथवा अजागृत रहना, यह इस जीवकी अतिशय निर्बलता है, अविवेकिता है, भ्रांति है और उसके दूर करनेमें अति कठिन मोह है।

समस्त संसार दो प्रकारोंसे बह रहा है:—प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे

छूटा नहीं जाता, और प्रेमसे विरक्त पुरुषसे सर्व संगसे विरक्त हुए विना व्यवहारमें रहकर अप्रेम (उदास) दशा रखनी एक भयंकर व्रत है। यदि केवल प्रेमका त्याग करके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जाय तो कितने ही जीवोंकी दयाका, उपकारका एवं स्वार्थका भंग करने जैसा होता है; और वैसा विचार कर यदि दया उपकारादिके कारण कोई प्रेमदशा रखनेसे विवेकीको चित्तमें क्लेश भी हुए विना न रहना चाहिये, तो उसका विशेष विचार किस प्रकारसे किया जाय?

४८१

बम्बई, फाल्गुन सुदी १५, १९५१

श्रीवीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

श्रीजिन जैसे पुरुषने गृहवासमें जो प्रतिबंध नहीं किया, वह प्रतिबंध न होनेके लिये, आना अथवा पत्र लिखना नहीं हो सका, उसके लिये अत्यन्त दीनभावसे क्षमा माँगता हूँ। संपूर्ण वीतरागता न होनेसे इस प्रकार वर्तन करते हुए अन्तरमें विक्षेप हुआ है और यह विक्षेप भी शान्त करना चाहिये, इस प्रकार ज्ञानीने मार्ग देखा है। आत्माका जो अन्तर्व्यापार (अन्तर परिणामकी धारा) है वही बंध और मोक्ष (कर्मसे आत्माका बंध होना तथा उससे आत्माका छूट जाना) की व्यवस्थाका हेतु है; मात्र शरीर-चेष्टा बंध-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं है।

विशेष रोगादिके संबंधसे ज्ञानी-पुरुषके शरीरमें भी निर्बलता, मंदता, म्लानता, कंप, स्वेद, मूर्च्छा, बाह्य-विभ्रम आदि दिखाई देते हैं, तथापि जितनी ज्ञानद्वारा, बोधद्वारा, वैराग्यद्वारा, आत्माकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता होनेपर उस रोगको अन्तर्परिणामसे ज्ञानी संवेदन करता है; और संवेदन करते हुए कदाचित् बाह्यस्थिति उन्मत्त दिखाई देती हो, फिर भी अंतर्परिणामके अनुसार ही कर्मबंध अथवा निवृत्ति होती है।

४८२

बम्बई, फाल्गुन वदी ५ शनि. १९५१

सुज्ञ भाई श्रीमोहनलालके प्रति, श्री डरबन।

एक पत्र मिला है। ज्यों ज्यों उपाधिका त्याग होता जाता है त्यों त्यों समाधि-सुख प्रगट होता जाता है। ज्यों ज्यों उपाधिका ग्रहण होता जाता है त्यों त्यों समाधि-सुख कम होता जाता है। विचार करनेपर यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाती है।

यदि इस संसारके पदार्थोंका कुछ भी विचार किया जाय तो उनके प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए विना न रहे, क्योंकि अविचारके कारण ही उनमें मोहबुद्धि हो रही है।

आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्मका कर्त्ता है, आत्मा कर्मका भोक्ता है, इससे वह निवृत्त हो सकती है, और निवृत्त हो सकनेके साधन हैं—इन छह कारणोंकी जिसने विचारपूर्वक सिद्धि कर ली है, उसको विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई समझ लेनी चाहिये, ऐसा श्रीजिनभगवान्ने निरूपण किया है, और उस निरूपणका मुमुक्षु जीवको विशेषरूपसे अभ्यास करना चाहिये।

पूर्वके किसी विशेष अभ्यास-बलसे ही इन छह कारणोंका विचार उत्पन्न होता है, अथवा सत्संगके आश्रयसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग बनता है।

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, एवं अव्याबाध-समाधिसुख भानमें नहीं आता है। उससे मोहबुद्धिमें जीवको अनादिकालसे ऐसी एकाग्रता चली आ रही है कि उसका विवेक करते करते जीवको हार हारकर पीछे लौटना पड़ता है; और उस मोह-ग्रंथीको नाश करनेका समयके आनेके पहिले ही उस विवेकको छोड़ बैठनेका योग पूर्वकालमें अनेकबार बना है। क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास पड़ गया है उसे, अत्यन्त पुरुषार्थके बिना, अल्पकालमें ही छोड़ा नहीं जा सकता।

इसलिये पुनः पुनः सत्संग, सत्शास्त्र, और अपनेमें सरल विचार दशा करके उस विषयमें विशेष श्रम करना योग्य है, जिसके परिणाममें नित्य, शाश्वत और सुखस्वरूप आत्मज्ञान होकर निज स्वरूपका आविर्भाव होता है। इसमें प्रथमसे ही उत्पन्न होनेवाला संशय, धैर्य एवं विचारसे शांत हो जाता है। अधैर्यसे अथवा टेढ़ी कल्पना करनेसे जीवको केवल अपने हितको ही त्याग करनेका अवसर आता है, और अनित्य पदार्थका राग रहनेसे उसके कारणसे पुनः पुनः संसारके भ्रमणका योग रहा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा तुमको रहा करती है—यह जानकर बहुत सन्तोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है। मात्र तुम समाधिके मार्गपर आना चाहते हो, इस कारण संसार-क्लेशसे निवृत्त होनेका तुमको प्रसंग प्राप्त होगा, इस प्रकारकी संभवता देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है—यही प्रार्थना है। ता० १६-३-९५ आ० स्व० प्रणाम।

---

४८३ बम्बई, फाल्गुन वदी ५ शनि १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त होते हैं, इस लोक-स्थितिको जिनागममें स्वीकार किया है; और प्रत्येक समयमें एक सौ आठ एक सौ आठ जीव मुक्त होते ही रहते हैं, ऐसा मानें तो इस क्रमसे तीनों कालमें जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोंकी जो अनंत संख्या हो, उस संख्यासे भी संसारी जीवोंकी संख्या, जिनागममें अनंतगुनी प्ररूपित की गई है। अर्थात् तीनों कालमें जितने जीव मुक्त होते हों, उनकी अपेक्षा संसारमें अनंतगुने जीव रहते हैं, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है। और इस कारण मोक्ष-मार्गका प्रवाह सदा प्रवाहित रहते हुए भी संसार-मार्गका उच्छेद हो जाना कभी संभव नहीं है, और उससे बंध-मोक्षकी व्यवस्थामें भी विरोध नहीं आता। इस विषयमें अधिक चर्चा समागम होनेपर करोगे तो कोई बाधा नहीं।

जीवकी बंध-मोक्षकी व्यवस्थाके विषयमें संक्षेपमें पत्र लिखा है। सबकी अपेक्षा हालमें विचार करने योग्य बात तो यह है कि उपाधि तो करते रहें और दशा सर्वथा असंग रहे, ऐसा होना अत्यंत कठिन है। तथा उपाधि करते हुए आत्म-परिणाम चंचल न हो, ऐसा होना असंभव जैसा है। उत्कृष्ट ज्ञानीको छोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक लक्षमें रखने योग्य है कि आत्मामें जितनी असम्पूर्ण समाधि रहती है, अथवा जो रह सकती है, उसका उच्छेद ही करना चाहिये।

---

४८४ बम्बई, फाल्गुन वदी ७ रवि. १९५१

सर्व विभावसे उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्यायको सहजरूपसे आत्माके सेवन करनेको श्रीजिनने तीव्र ज्ञानदशा कही है। इस दशाके आये विना कोई भी जीव बंधनसे मुक्त नहीं होता, यह जो सिद्धांत श्रीजिनने प्रतिपादन किया है, वह अखंड सत्य है।

कोई विरला ही जीव इस गहन दशाका विचार कर सकने योग्य होता है, क्योंकि अनादिसे अत्यंत अज्ञान दशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की हैं, उस प्रवृत्तिके एकदम असत्य और असार समझमें आनेसे उसकी निवृत्ति करनेकी बात सूझे, यह होना बहुत कठिन है। इसलिए जिनभगवान्ने ज्ञानी-पुरुषका आश्रय करनेरूप भक्तिमार्गका निरूपण किया है, जिस मार्गके आराधन करनेसे सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती है।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनके स्थापित किये विना भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता। उससे फिर फिरसे जिनागममें ज्ञानीकी आज्ञाके आराधन करनेका जगह जगह कथन किया है।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परन्तु वचनकी अपूर्वतासे उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीके प्रति अपूर्व दृष्टिसे देखनेसे, मनका स्थापित होना सुलभ होता है।

ज्ञानी-पुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाले पंचविषय आदि दोष हैं। उन दोषोंके आनेके साधनोंसे जैसे बने वैसे दूर ही रहना चाहिये, और प्राप्त साधनमें भी उदासीनता रखनी चाहिये, अथवा उन उन साधनोंमेंसे अहंबुद्धि हटाकर उन्हें रोगरूप समझकर ही प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका इस प्रकारके प्रसंगमें विशेष उदय होता है, क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये उसे अपने सन्मुख लाती है, उसका स्वरूपांतर कर उसे आकर्षित करती है, और जागृतिमें शिथिल करके अपनेमें एकाग्र बुद्धि करा देती है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि 'मुझे इस प्रवृत्तिसे उस प्रकारकी विशेष बाधा नहीं होती; मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ दूँगा और पहिलेकी अपेक्षा जागृत रहूँगा'। इत्यादि भ्रांतदशाको वह दोष उत्पन्न करता है। इस कारण जीव उस दोषका संबंध नहीं छोड़ता, अथवा वह दोष बढ़ता ही जाता हैं, इस बातका जीवको लक्ष नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है:—एक तो उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति करना, और दूसरा विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम इस पंचविषय आदिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता है।

उस पंचविषय आदि साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिये यदि जीवका बल न चलता हो तो क्रम क्रमसे थोड़ा थोड़ा करके उसका त्याग करना योग्य है—परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थोंका अल्प परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मंद पड़े, आश्रय-भक्ति दृढ़ हो तथा ज्ञानीके वचन आत्मामें परिणम कर तीव्र ज्ञानदशा प्रगट होकर जीव मुक्त हो सकता है।

जीव यदि कभी कभी इस बातका विचार करे तो उससे अनादि अभ्यासका बल घटना कठिन

हो जाय; परन्तु दिन प्रतिदिन हरेक प्रसंगमें, और हरेक प्रवृत्तिसे यदि वह फिर फिरसे विचार करे तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्व अभ्यासकी सिद्धि होनेसे सुलभ आश्रय-भक्तिमार्ग सिद्ध हो सकता है।

---

४८५ बम्बई, फाल्गुन वदी १२ शुक्र. १९५१

जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे समस्त संसार अशरण है। जिसने सर्व प्रकारसे संसारकी आस्था छोड़ दी है, वही निर्भय हुआ है, और उसीने आत्म-स्वभावकी प्राप्ति की हैं। यह दशा विचारके बिना जीवको प्राप्त नहीं हो सकती, और संगके मोहसे पराधीन ऐसे इस जीवको यह विचार प्राप्त होना कठिन है।

---

४८६ बम्बई, फाल्गुन १९५१

ॐ

जहाँतक बने तृष्णाको कम ही करना चाहिए। जन्म, जरा, मरण किसके होते हैं? जो तृष्णा रखता है, उसे ही जन्म, जरा और मरण होते हैं। इसलिये जैसे बने तैसे तृष्णाको कम ही करते जाना चाहिये।

४८७

जबतक यथार्थ सम्पूर्ण निजस्वरूप प्रकाशित हो, तबतक निजस्वरूपके निदिध्यासनमें स्थिर रहनेके लिये ज्ञानी-पुरुषके वचन आधारभूत हैं—ऐसा परमपुरुष तीर्थंकरने जो कहा है, वह सत्य है। बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाली आत्माको निदिध्यासनरूप ध्यानमें श्रुतज्ञान अर्थात् मुख्यभूत ज्ञानीके वचनोंका आशय वहाँ आधारभूत है—यह प्रमाण जिनमार्गमें बारंबार कहा है। बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर, निर्वाणमार्गकी यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमें यथास्थित स्थिति होनेके लिये ज्ञानी-पुरुषका आश्रय मुख्य साधन है, और वह ठेठ पूर्ण दशा होनेतक रहता है; नहीं तो जीवको पतित हो जानेका भय है—ऐसा माना गया है। तो फिर स्वयं अपने आपसे अनादिसे भ्रांत जीवको सद्गुरुके संयोगके बिना निजस्वरूपका भान होना अशक्य हो, इसमें संशय कैसे हो सकता है? जिसे निजस्वरूपका दृढ़ निश्चय रहता है, जब ऐसे पुरुषको भी प्रत्यक्ष जगत्का व्यवहार बारंबार भुला देनेके प्रसंगको प्राप्त करा देता है, तो फिर उससे न्यून दशामें भूल खा जानेमें तो आश्चर्य ही क्या है? अपने विचारके बलपूर्वक जिसमें सत्संग-सत्शास्त्रका आधार न हो ऐसे समागममें यह जगत्का व्यवहार विशेष जोर मारता है, और उस समय बारंबार श्रीसद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप तथा सार्थकता अत्यंत अपरोक्ष सत्य दिखाई देते हैं।

४८८

बम्बई, चैत्र सुदी ६ सोम. १९५१

आज एक पत्र मिला है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते अथवा कुछ कहते कहते बारम्बार चित्तकी अप्रवृत्ति होती है—और 'कल्पित बातका इतना अधिक माहात्म्य ही क्या है? कहना क्या? जानना क्या? सुनना क्या? प्रवृत्ति कैसी?' इत्यादि विक्षेपसे चित्तकी उसमें अप्रवृत्ति होती है; और परमार्थके संबंधमें कहते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके विक्षेपकी उत्पत्ति होती है। जिस विक्षेपमें मुख्य इस तीव्र प्रवृत्तिके निरोधके बिना उसमें—परमार्थ कथनमें—भी हालमें अप्रवृत्ति ही श्रेयस्कर लगती है। इस बाबत पहिले एक सविस्तर पत्र लिखा है, इसलिये यहाँ विशेष लिखने जैसा कुछ नहीं है। यहाँ मात्र चित्तमें विशेष स्फूर्ति होनेसे ही यह लिखा है।

मोतीके व्यापार वगैरहकी प्रवृत्तिका अधिक न करना हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा है वह यथायोग्य है; और चित्तकी इच्छा भी नित्य ऐसी ही रहा करती है। लोभके हेतुसे वह प्रवृत्ति होती है या और किसी हेतुसे? ऐसा विचार करनेपर लोभका निदान माल्रम नहीं होता। विषय आदिकी इच्छासे यह प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी माल्रम नहीं होता। फिर भी प्रवृत्ति तो होती है, इसमें सन्देह नहीं।

जगत् कुछ लेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये ही होती होगी, ऐसा माल्रम होता है। यहाँ जो यह माल्रम होता है, सो यह यथार्थ होगा या नहीं? उसके लिये विचारवान पुरुष जो कहें सो प्रमाण है।

४८९

बम्बई, चैत्र सुदी १३, १९५१

हालमें यदि किन्हीं वेदान्तसंबंधी ग्रन्थोंका बाँचन अथवा श्रवण करना रहता हो तो उस अभिप्रायका विशेष विचार होनेके लिये थोड़े समयके लिये श्रीआचारांग, सूयगडांग तथा उत्तराध्ययनका बाँचना-विचारना हो सके तो करना।

वेदान्तके सिद्धांतमें तथा जिनागमके सिद्धांतमें भिन्नता है, तो भी जिनागमको विशेष विचारका स्थल मानकर वेदान्तका पृथक्करण करनेके लिये उन आगमोंका बाँचना-विचारना योग्य है।

४९०

बम्बई, चैत्र वदी ८ बुध. १९५१

चेतनकी चेतन पर्याय होती है, और जड़की जड़ पर्याय होती है—यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समय जो जो परिणाम होते हैं, वे सब पर्याय हैं। विचार करनेसे यह बात यथार्थ माल्रम होगी।

लिखना कम हो सकता है, इसलिये बहुतसे विचारोंका कहना बन नहीं सकता। तथा बहुतसे विचारोंके उपशम करनेरूप प्रकृतिका उदय होनेसे किसीको स्पष्टरूपसे कहना भी नहीं हो सकता। हालमें यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती, तो भी प्रवृत्तिरूप संग होनेसे तथा क्षेत्रके संतापरूप होनेसे थोड़े दिनके लिये यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो हो सो ठीक है।

---

४९१ बम्बई, चैत्र वदी ८, १९५१

आत्म-वीर्यके प्रवृत्ति करनेमें और संकोच करनेमें बहुत विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना योग्य है।

शुभेच्छा संपन्न भाई····के प्रति। उस ओर आनेके संबंधमें नीचे लिखी परिस्थिति है।

जिससे लोगोंको संदेह हो इस तरहके बाह्य व्यवहारका उदय है, और उस प्रकारके व्यवहारके साथ बलवान निर्ग्रंथ पुरुष जैसा उपदेश करना, वह मार्गका विरोध करने जैसा है; और ऐसा समझकर तथा उनके समान दूसरे कारणोंके स्वरूपका विचार कर प्रायः करके जिससे लोगोंको संदेहका हेतु हो, वैसे समागममें मेरा आना नहीं होता। कदाचित् कभी कभी कोई समागममें आता है, और कुछ स्वाभाविक कहना-करना होता है। इसमें भी चित्तकी इच्छित प्रवृत्ति नहीं है।

पूर्वमें यथास्थित विचार किये बिना जीवने प्रवृत्ति की, इस कारण इस प्रकारके व्यवहारका उदय प्राप्त हुआ है; इससे बहुत बार चित्तमें शोक रहता है। परन्तु उसे यथास्थित सम परिणामसे सहन करना ही योग्य है—ऐसा जानकर प्रायः करके उस प्रकारकी प्रवृत्ति रहती है। फिर भी आत्मदशाके विशेष स्थिर होनेके लिये असंगतामें लक्ष रहा करता है। इस व्यापार आदि उदय-व्यवहारसे जो जो संग होता है, उसमें प्रायः करके असंग परिणामकी तरह प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उसमें कुछ सारभूत नहीं माल्र्म होता। परन्तु जिस धर्म-व्यवहारके प्रसंगमें आना हो, वहाँ उस प्रवृत्तिके अनुसार चलना योग्य नहीं। तथा कोई दूसरा आशय समझकर प्रवृत्ति की जाय तो हालमें उतनी समर्थता नहीं। इससे उस प्रकारके प्रसंगमें प्रायः करके मेरा आना कम ही होता है; और इस क्रमको बदल देना, यह हालमें चित्तमें नहीं बैठता। फिर भी उस ओर आनेके प्रसंगमें वैसा करनेका मैंने कुछ भी विचार किया था, परन्तु उस क्रमको बदलनेसे दूसरे विषम कारणोंका उपस्थित होना आगे जाकर संभव होगा, ऐसा प्रत्यक्ष माल्र्म होनेसे क्रम बदलनेके संबंधमें वृत्तिके उपशम करने योग्य लगनेसे वैसा किया है। इस आशयके सिवाय उस ओर न आनेके संबंधमें चित्तमें दूसरा आशय भी है। परन्तु किसी लोक-व्यवहाररूप कारणसे आनेके विषयमें विचारको नहीं छोड़ा है।

चित्तपर बहुत दबाव देकर यह स्थिति लिखी है। इसपर विचार कर यदि कुछ आवश्यक जैसा माल्र्म हो तो कभी रतनजीभाईको खुलासा करना। मेरे आने न आनेके विषयमें यदि किसी बातका कथन न करना संभव हो तो कथन न करनेके लिये ही विनती है।

---

४९२ बम्बई, चैत्र वदी १० शुक्र. १९५१

एक आत्म-परिणतिके सिवाय दूसरे विषयोंमें चित्त अव्यवस्थितरूपसे रहता है; और उस प्रकारका अव्यवस्थितपना लोक-व्यवहारसे प्रतिकूल होनेसे लोक-व्यवहारका सेवन करना रुचिकर नहीं लगता और साथ ही छोड़ना भी नहीं बनता, इस वेदनाका प्रायः करके सारे ही दिन संवेदन होता रहता है।

खानेके संबंधमें, पीनेके संबंधमें, बोलनेके संबंधमें, सोनेके संबंधमें, लिखनेके संबंधमें अथवा दूसरे व्यावहारिक कार्योंके संबंधमें जैसा चाहिये वैसे भानसे प्रवृत्ति नहीं की जाती, और उन प्रसंगोंके

रहनेसे आत्म-परिणतिको स्वतंत्र प्रगटरूपसे अनुसरण करनेमें विपत्तियाँ आया करती हैं, और इस विषयका प्रतिक्षण दुःख ही रहा करता है।

निश्चल आत्मरूपसे रहनेकी स्थितिमें ही चित्तेच्छा रहती है, और उपरोक्त प्रसंगोंकी आपत्तिके कारण उस स्थितिका बहुतसा वियोग रहा करता है; और वह वियोग मात्र परेच्छासे ही रहा है, स्वेच्छाके कारणसे नहीं रहा—यह एक गंभीर वेदना प्रतिक्षण हुआ करती है।

इसी भवमें और थोड़े ही समय पहिले व्यवहारके विषयमें भी तीव्र स्मृति थी। वह स्मृति अब व्यवहारमें क्वचित् ही मंदरूपसे रहती है। थोड़े ही समय पहिले अर्थात् थोड़े वर्षों पहिले वाणी बहुत बोल सकती थी, वक्तारूपसे कुशलतासे प्रवृत्ति कर सकती थी। वह अब मंदतासे अव्यवस्थासे रहती है। थोड़े वर्ष पहिले—थोड़े समय पहिले—लेखनशक्ति अति उग्र थी और आज क्या लिखें, इसके सूझने सूझनेमें ही दिनके दिन व्यतीत हो जाते हैं, और फिर भी जो कुछ लिखा जाता है, वह इच्छित अथवा योग्य व्यवस्थायुक्त नहीं लिखा जाता—अर्थात् एक आत्म-परिणामके सिवाय दूसरे समस्त परिणामोंमें उदासीनता ही रहती है। और जो कुछ किया जाता है, वह जैसा चाहिये वैसे भावके सौवें अंशसे भी नहीं होता। ज्यों त्यों कुछ भी कर लिया जाता है। लिखनेकी प्रवृत्तिकी अपेक्षा वाणीकी प्रवृत्ति कुछ ठीक है; इस कारण जो कुछ आपको पूँछनेकी इच्छा हो—जाननेकी इच्छा हो—उसके विषयमें समागममें कहा जा सकेगा।

कुंदकुंदाचार्य और आनन्दघनजीका सिद्धांतविषयक ज्ञान तीव्र था। कुंदकुन्दाचार्यजी तो आत्म-स्थितिमें बहुत स्थिर थे। जिसे केवल नामका ही दर्शन हो वे सब सम्यग्ज्ञानी नहीं कहे जा सकते।

४९३

बम्बई, चैत्र वदी ११ शुक्र. १९५१

जेम[1] निर्मळता रे रत्न स्फटिकतणी, तेमज जीवस्वभाव रे,
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबळ कषाय अभाव रे।

सहज-द्रव्यके अत्यंत प्रकाशित होनेपर अर्थात् समस्त कर्मोंका क्षय होनेपर जो असंगता और सुख-स्वरूपता कही है, ज्ञानी-पुरुषोंका वह वचन अत्यंत सत्य है। क्योंकि उन वचनोंका सत्संगसे प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रगट—अनुभव होता है।

निर्विकल्प उपयोगका लक्ष, स्थिरताका परिचय करनेसे होता है। सुधारस, सत्समागम, सत्शास्त्र, सद्विचार और वैराग्य-उपशम ये सब उस स्थिरताके हेतु हैं।

४९४

बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९५१

ॐ

अधिक विचारका साधन होनेके लिये यह पत्र लिखा है।

---

१ जिस तरह स्फटिक रत्नकी निर्मलता होती है, उसी तरह जीवका स्वभाव है। वीर जिनवरने प्रबल कषायके अभावको ही धर्म प्रकाशित किया है।

पूर्ण ज्ञानी श्रीऋषभदेव आदि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर ही क्षय हुआ है, तो फिर हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। खेद केवल इतना ही होता है कि हमें इस प्रकारके प्रारब्धोदयमें श्रीऋषभदेव आदि जैसी अविषमता रहे, इतना बल नहीं है; और इस कारण प्रारब्धोदयके होनेपर बारंबार उससे अपरिपक्व कालमें ही छूटनेकी कामना हो आती है कि यदि इस विषम प्रारब्धोदयमें किसी भी उपयोगका यथातथ्यभाव न रहा तो फिर आत्म-स्थिरता होते हुए भी अवसर ढूँढ़ना पड़ेगा, और पश्चात्तापपूर्वक देह छूटेगी—ऐसी चिंता बहुत बार हो जाती है।

इस प्रारब्धोदयके दूर होनेपर निवृत्तिकर्मके वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका ही विचार रहा करता है, परन्तु वह तुरत ही अर्थात् एकसे डेढ़ वर्षके भीतर हो जाय, ऐसा तो दिखाई नहीं देता, और पल पल भी बीतनी कठिन पड़ती है। एकसे डेढ़ वर्ष बाद प्रवृत्तिकर्मके वेदन करनेका सर्वथा क्षय हो जायगा—ऐसा भी नहीं मालूम होता। कुछ कुछ उदय विशेष मंद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गतवर्षका मोतियोंका व्यापार लगभग निबटने आया है। इस वर्षका मोतियोंका व्यापार गतवर्षकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। गतवर्षकी तरह उसका कोई परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोंकी अपेक्षा हालमें ठीक है, और इस वर्ष भी उसका गतवर्ष जैसा नहीं, तो भी कुछ परिणाम ठीक आवेगा यह संभव है। परन्तु उसके विचारमें बहुत समय व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है कि इस एक परिग्रहकी कामनाकी जो बलवान प्रवृत्ति जैसी होती है, उसे शांत करना योग्य है; और उसे कुछ कुछ करना पड़े, ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे तैसे करके वह प्रारब्धोदय तुरत ही क्षय हो जाय तो अच्छा है, ऐसा बहुत बार मनमें आया करता है।

यहाँ जो आड़त तथा मोतियोंका व्यापार है, उसमेंसे मेरा छूटना हो सके अथवा उसका बहुत समागम कम होना संभव हो, उसका कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखना। चाहे तो इस विषयमें समागममें विशेषतासे कह सको तो कहना। यह बात लक्षमें रखना।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थसंबंधी अथवा व्यवहारसंबंधी कुछ भी लिखते हुए अरुचि हो जाती है, और लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे बारम्बार अपूर्ण छोड़ देनेका ही मन होता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकाग्रवत् हो, उस समय यदि परमार्थसंबंधी लिखना अथवा कहना हो सके तो वह यथार्थ कहा जाय, परन्तु चित्त यदि अस्थिरवत् हो और परमार्थसंबंधी लिखा अथवा कहा जाय तो वह केवल उदीरणा जैसा ही होता है। तथा उसमें अंतर्वृत्तिका याथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्म-बुद्धिसे लिखित अथवा कथित न होनेसे, कल्पितरूप ही कहा जाता है। जिससे तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे परमार्थके संबंधमें लिखना अथवा कहना बहुत ही कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्तके अस्थिरवत् हो जानेका क्या हेतु है? जो चित्त परमार्थमें विशेष एकाग्रवत् रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिरवत् हो जानेका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। यदि परमार्थ संशयका हेतु मालूम हुआ हो तो वैसा होना संभव है, अथवा किसी तथाविध आत्मवीर्यके मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदयके बलसे वैसा हो सकता है। इन दो

हेतुओंसे परमार्थका विचार करते हुए, लिखते हुए, अथवा कहते हुए चित्तका अस्थिरवत् रहना संभव है।

उसमें पहिले कहे हुए हेतुका होना संभव नहीं। केवल जो दूसरा हेतु कहा है, वही संभव है। आत्मवीर्यके मंद होनेरूप तीव्र प्रारब्धोदय होनेसे उस हेतुको दूर करनेका पुरुषार्थ होनेपर भी कालक्षेप हुआ करता है; और उस प्रकारके उदयतक वह अस्थिरता दूर होनी कठिन है; और उससे परमार्थस्वरूप चित्तके बिना तत्संबंधी लिखना या कहना, यह कल्पित जैसा ही लगता है। तो भी कुछ प्रसंगोंमें विशेष स्थिरता रहती है।

व्यवहारके संबंधमें कुछ भी लिखते हुए उसके असारभूत और साक्षात् भ्रांतिरूप लगनेसे उसके संबंधमें कुछ लिखना अथवा कहना तुच्छ ही है, वह आत्माको विकलताका हेतु है, और जो कुछ लिखना या कहना है, वह न कहा हो तो भी चल सकता है। इसलिये जबतक वैसा रहे तबतक तो अवश्य वैसा करना योग्य है, ऐसा जानकर बहुतसी व्यावहारिक बातें लिखने, करने अथवा कहनेकी आदत नहीं रही है। केवल जिस व्यापार आदि व्यवहारमें तीव्र प्रारब्धोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ कुछ प्रवृत्ति होती है। यद्यपि उसकी भी यथार्थता माल्म नहीं होती।

श्रीजिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश दिया है, और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीको भी नहीं करना चाहिये, यह निश्चल मार्ग जिन्होंने कहा है, उन श्रीजिन वीतरागके चरण-कमलमें अत्यंत नम्र परिणामसे नमस्कार है।

दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चक्षुके स्वरूपके ऊपर विचार करोगे तो वह विचार, केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जो कहा है, उसे समझनेमें कुछ कुछ उपयोगी होगा।

४९५

केवलज्ञानसे पदार्थ किस तरह दिखाई देते हैं? इस प्रश्नका उत्तर समागममें समझनेसे स्पष्ट समझमें आ सकता है। तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है:—

जैसे जहाँ जहाँ दीपक होता है, वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे होता है; उसी तरह जहाँ जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे ही होता है। जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थको प्रकाश करनेका होता है, वैसे ही ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थोंको प्रकाश करनेका है। दीपक द्रव्यका प्रकाशक है, और ज्ञान द्रव्य-भाव दोनोंका प्रकाशक है। जैसे दीपकका प्रकाश होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है, वह पदार्थ कुदरती ही दिखाई देता है, उसी तरह ज्ञानकी मौजूदगीसे पदार्थ स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं। जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ याथातथ्य और स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं, उसे केवलज्ञान कहा है। यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमें तो केवल आत्मानुभवका ही कर्ता है, वह व्यवहारनयसे ही लोकालोक प्रकाशक है। जैसे दर्पण, दीपक और चक्षु पदार्थके प्रकाशक हैं, उसी तरह ज्ञान भी पदार्थका प्रकाशक है।

---

४९६ बम्बई, चैत्र वदी १२ रवि. १९५१

श्रीजिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश किया है, और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीको भी नहीं करना चाहिये, यह अखंड मार्ग जिसने कहा है, ऐसे श्रीजिन वीतरागके चरण-कमलके प्रति अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

आत्म-स्वरूपके निश्चय होनेमें जीवकी अनादि कालसे भूल होती आती है। समस्त श्रुतज्ञान-स्वरूप द्वादशांगमें सबसे प्रथम उपदेश करने योग्य आचारांगसूत्र है। उसके प्रथम श्रुतस्कंधमें प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशके प्रथम वाक्यमें जो श्रीजिनने उपदेश किया है, वह समस्त अंगोंके समस्त श्रुतज्ञानका सारभूत है—मोक्षका बीजभूत है—सम्यक्त्वस्वरूप है। उस वाक्यमें उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनाके बिना जीव जो कुछ स्वच्छंदसे निश्चय कर ले, वह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सभी जीवोंका स्वभाव परमात्मस्वरूप है, इसमें संशय नहीं, तो फिर श्री····अपनेको परमात्मस्वरूप मानें तो यह बात असत्य नहीं। परन्तु जबतक वह स्वरूप याथातथ्य प्रगट न हो तबतक मुमुक्षु—जिज्ञासु—रहना ही अधिक उत्तम है, और उस रास्तेसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है; जिस मार्गको छोड़कर प्रवृत्ति करनेसे उस पदका भान नहीं होता, तथा श्रीजिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कुछ मत-भेद नहीं है।

मृत्युका आगमन अवश्य है।

४९७

तुम्हें वेदान्तविषयक ग्रन्थके बाँचनेका अथवा उस प्रसंगकी बातचीतके श्रवण करनेका समागम रहता हो तो जिससे उस बाँचनसे तथा श्रवणसे जीवमें वैराग्य और उपशमकी वृद्धि हो ऐसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धांतका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें हानि नहीं, फिर भी ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनासे सिद्धांतका निश्चय किये बिना आत्म-विरोध ही होना संभव है।

---

४९८ बम्बई, चैत्र वदी १४ बुध. १९५१

ॐ

चारित्र—(श्रीजिनके अभिप्रायके अनुसार चारित्र क्या है? यह विचारकर समवस्थिति होना)—दशासंबंधी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। विचारद्वारा उत्पन्न हुई चारित्र-परिणाम-स्वभावरूप स्वस्थताके बिना ज्ञान निष्फल है, यह जो जिनभगवान्का अभिमत है वह अव्याबाध सत्य है।

तत्संबंधी अनुप्रेक्षा बहुतबार रहनेपर भी चंचल परिणतिके हेतु उपाधि-योगके तीव्र उदय-रूप होनेसे चित्तमें प्रायः करके खेदसे जैसा रहता है, और उस खेदसे शिथिलता उत्पन्न होकर कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। बाकी कुछ कहनेके विषयमें तो चित्तमें बहुत बार रहता है। यही विनती है।

४९९

बम्बई, चैत्र १९५१

विषय आदि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे चलकर उस विषय-मूर्छाका उत्पन्न होना संभव न हो, यह होना कठिन है; क्योंकि ज्ञान दशाके बिना विषयकी निर्मूलता होना संभव नहीं।

विषयोंका केवल उदय भोगनेसे ही नाश होना सम्भव है, परन्तु यदि ज्ञान-दशा न हो तो विषय-सेवन करनेमें उत्सुक परिणाम हुए बिना न रहे; और उससे पराजित होनेके बदले उल्टी विषयकी वृद्धि ही होना संभव है।

जिन्हें ज्ञान-दशा है, वैसे पुरुष विषयाकांक्षासे अथवा विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि वे इस तरह प्रवृत्ति करनेके लिये उद्यत हों तो ज्ञानपर भी आवरण आ जाना संभव है। मात्र प्रारब्धसंबंधी उदय हो, अर्थात् छूटा न जा सके, उसीसे ज्ञानी-पुरुषकी भोग-प्रवृत्ति है। वह भी पूर्व और पश्चात्में पश्चात्तापयुक्त और मंदतम परिणामयुक्त होती है।

सामान्य मुमुक्षु जीवको वैराग्यके उद्भवके लिये विषयका आराधन करनेसे तो प्रायः करके बंधनमें पड़ जाना ही संभव है, क्योंकि ज्ञानी-पुरुष भी उस प्रसंगको बहुत मुश्किलसे जीत सका है; तो फिर जिसकी केवल विचार-दशा है ऐसे पुरुषकी शक्ति नहीं है कि वह उस विषयको इस प्रकारसे जीत सके।

५००

जिस जीवको मोहनीय कर्मरूपी कषायका त्याग करना हो, और 'जब वह उसका एकदम त्याग करनेका विचार करेगा तब कर सकेगा' इस प्रकारके विश्वासके ऊपर रहकर, जो उसका क्रम क्रमसे त्याग करनेका विचार नहीं करता, तो वह एकदम त्याग करनेका प्रसंग आनेपर मोहनीय कर्मके बलके सामने नहीं टिक सकता। कारण कि कर्मरूप शत्रुको धीरे धीरे निर्बल किये बिना उसे निकाल बाहर करना एकदम असंभव होता है। आत्माकी निर्बलताके कारण उसके ऊपर मोहका प्राबल्य रहता है। उसका जोर कम करनेके लिये यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक बारगी ही उसके ऊपर जय प्राप्त कर लेनेकी धारणामें वह ठगा जाती है। जबतक मोह-वृत्ति लड़नेके लिये सामने नहीं आती तभीतक मोहके वश होकर आत्मा अपनी बलवत्ता समझती है, परन्तु उस प्रकारकी कसौटीका अवसर उपस्थित होनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमें आ जाती है। इसलिये जैसे बने तैसे पाँचों इन्द्रियोंको वशमें लाना चाहिये। उसमें भी मुख्यतया उपस्थ इन्द्रियको वशमें लाना चाहिये। इसी प्रकार अनुक्रमसे दूसरी इन्द्रियों—————————————— (अपूर्ण)

५०१

सं. १९५१ वैशाख सुदी ५ सोमवारके दिन—सायंकालसे प्रत्याख्यान.

सं. १९५१ वैशाख सुदी १४ भौमवारके दिन.

५०२ बम्बई, वैशाख सुदी ११ रवि. १९५१

(१)

धर्मको नमस्कार.

वीतरागको नमस्कार.

श्रीसत्पुरुषोंको नमस्कार.

(२)

सो[1] धम्मो जत्थ दया, दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो,
सो हु गुरू जो नाणी, आरंभपरिग्गहा विरओ ।

५०३

(१) सर्व क्लेशसे और सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्म-ज्ञान है । विचारके विना आत्म-ज्ञान नहीं होता, और असत्संग तथा असत्प्रसंगसे जीवका विचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें किंचिन्मात्र भी संशय नहीं ।

आरंभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसंगका बल घटता है । सत्संगके आश्रयसे असत्संगका बल घटता है । असत्संगका बल घटनेसे आत्म-विचार होनेका अवकाश प्राप्त होता है । आत्म-विचार होनेसे आत्म-ज्ञान होता है । और आत्म-ज्ञानसे निज स्वभावरूप, सर्व क्लेश और सर्व दुःखरहित मोक्ष प्राप्त होती है—यह बात सर्वथा सत्य है ।

जो जीव मोह-निद्रामें सो रहे हैं वे अमुनि हैं; मुनि तो निरंतर आत्म-विचारपूर्वक जागृत ही रहते हैं । प्रमादीको सर्वथा भय है, अप्रमादीको किसी तरहका भी भय नहीं, ऐसा श्रीजिनने कहा है ।

समस्त पदार्थोंके स्वरूप जाननेका एक मात्र हेतु आत्मज्ञान प्राप्त करना है । यदि आत्म-ज्ञान न हो तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता ही है ।

जितना आत्म-ज्ञान हो उतनी ही आत्म-समाधि प्रगट हो ।

किसी भी तथारूप संयोगको पाकर जीवको यदि एक क्षणभर भी अंतर्भेद-जागृति हो जाय तो उसे मोक्ष विशेष दूर नहीं है ।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतनी ही मोक्ष दूर है ।

यदि कोई आत्मयोग बन जाय तो इस मनुष्यताका किसी तरह भी मूल्य नहीं हो सकता । प्रायः मनुष्य देहके विना आत्मयोग नहीं बनता—ऐसा जानकर अत्यंत निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है ।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्य परिचयसे पीछे हट जाय तो उसे सहजमें—अभी—आत्मयोग प्रगट हो जाय ।

---

१ जहाँ दया है वहाँ धर्म है; जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है; तथा जो ज्ञानी और आरंभ-परिग्रहसे रहित है वह गुरु है ।

असत्संगके समागमका विशेष विराव है, और यह जीव उससे अनादिकालसे हीनसत्त्व हो जानेके कारण उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये, अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिए जैसे बने वैसे यदि सत्संगका आश्रय करे तो वह किसी तरह पुरुषार्थ-योग्य होकर विचार-दशाको प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकारसे इस संसारकी अनित्यता असारता अत्यंतरूपसे भासित हो, उस प्रकारसे आत्म-विचार उत्पन्न होता है।

इस समय इस उपाधि-कार्यसे छूटनेके लिये विशेष अति विशेष पीड़ा रहा करती है, और यदि इससे छूटे बिना जो कुछ भी काल व्यतीत होता है, तो वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है, अथवा ऐसा निश्चय रहा करता है।

जनक आदि जो उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावसे रहते थे, उनकी ऐसे आलंबनके प्रति कभी भी बुद्धि न होती थी। 'श्रीजिन जैसे जन्मत्यागी भी जिसे छोड़कर चल दिये, ऐसे भयके हेतुरूप उपाधि-योगकी निवृत्तिको करते करते यदि यह पामर जीव काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा,' यह भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि ऐसा ही कर्तव्य है।

जो राग-द्वेष आदि परिणाम अज्ञानके बिना संभवित नहीं होते, उन राग-द्वेष आदि परिणामोंके होनेपर, जीवन्मुक्तिको सर्वथा मानकर, जीव जीवन्मुक्त दशाकी आसातना करता है—इस प्रकार प्रवृत्ति करता है; उन राग-द्वेष परिणामोंका सर्वथा क्षय करना ही कर्तव्य है।

जहाँ अत्यंत ज्ञान हो, वहाँ अत्यंत त्याग होता है। अत्यंत त्यागके प्रगट हुए बिना अत्यंत ज्ञान नहीं होता, ऐसा श्रीतीर्थंकरने स्वीकार किया है।

आत्म-परिणामपूर्वक जितना अन्य पदार्थका तादात्म्य—अध्यास—निवृत्त किया जाय, उसे श्रीजिनने त्याग कहा है।

उस तादात्म्य-अध्यास-निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये इस बाह्य प्रसंगका त्याग भी उपकारक है—कार्यकारी है। बाह्य प्रसंगके त्यागके लिये अंतर्त्याग नहीं कहा—ऐसा होनेपर भी इस जीवको अंतर्त्यागके लिये बाह्य प्रसंगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारक मानना योग्य है।

हम नित्य छूटनेका ही विचार करते हैं, और जैसे बने जिससे वह कार्य तुरत ही निबट जाय वैसी जाप जपा करते हैं। यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तथारूप नहीं है—शिथिल है, इसलिये अत्यंत विचार और उग्रतासे उस जापके आराधन करनेका अल्पकालमें संयोग जुटाना योग्य है—ऐसा रहा करता है।

प्रसंगपूर्वक कुछ परस्परके संबंध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हैं। उनके विचारमें स्फुरित होनेसे, उन्हें स्व-विचार-बलकी वृद्धिके लिये और तुम्हारे बाँचने-विचारनेके लिये लिखा है।

(२) जीव, प्रदेश, पर्याय, संख्यात, असंख्यात, अनंत आदिके विषयमें तथा रसकी व्यापकताके विषयमें क्रमपूर्वक समझना योग्य होगा।

---

५०४ बम्बई, वैशाख सुदी १९५१

श्री·······से सुधारससंबंधी बातचीत करनेका तुम्हें अवसर प्राप्त हो तो करना।

जो देह पूर्ण युवावस्थामें और सम्पूर्ण आरोग्यतायुक्त दिखाई देनेपर भी क्षणभंगुर है, उस देहमें प्रीति करके क्या करें? जगत्के समस्त पदार्थोंकी अपेक्षा जिसके प्रति सर्वोत्कृष्ट प्रीति है, ऐसी यह देह भी दुःखकी ही हेतु है, तो फिर दूसरे पदार्थमें सुखके हेतुकी क्या कल्पना करना? जिन पुरुषोंने, जैसे वस्त्र शरीरसे भिन्न है, इसी तरह आत्मासे शरीर भिन्न है—यह जान लिया है, वे पुरुष धन्य हैं। यदि दूसरेकी वस्तुका अपने द्वारा ग्रहण हो गया हो, तो जिस समय यह माळूम हो जाता है कि यह वस्तु दूसरेकी है, उसी समय महात्मा पुरुष उसे वापिस लौटा देते हैं।

दुःषम काल है, इसमें संशय नहीं। तथारूप परमज्ञानी आप्त-पुरुषका प्रायः विरह ही है। विरले ही जीव सम्यक्दृष्टिभाव प्राप्त करें, ऐसी काल-स्थिति हो गई है। जहाँ सहज–सिद्ध–आत्म-चारित्र दशा रहती है, ऐसा केवलज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसमें संशय नहीं।

प्रवृत्ति विश्रान्त नहीं होती; विरक्तभाव अधिक रहता है। वनमें अथवा एकांतमें सहज स्वरूपका अनुभव करती हुई आत्मा निर्विषय रहे, ऐसा करनेमें ही समस्त इच्छा रुकी हुई है।

५०५ बम्बई, वैशाख सुदी १५ बुध. १९५१

आत्मा अत्यंत सहज स्वस्थता प्राप्त करे, यही श्रीसर्वज्ञने समस्त ज्ञानका सार कहा है।

अनादिकालसे जीवने निरंतर अस्वस्थताकी ही आराधना की है, जिससे जीवको स्वस्थताकी ओर आना कठिन पड़ता है। श्रीजिनने ऐसा कहा है कि 'यथाप्रवृत्तिकरण'तक जीव अनंत बार आ चुका है, परन्तु जिस समय ग्रंथी-भेद होनेतक आगमन होता है, उस समय वह क्षोभ पाकर पीछे संसार-परिणामी हो जाया करता है। ग्रंथी-भेद होनेमें जो वीर्य-गति चाहिये, उसके होनेके लिये जीवको नित्यप्रति सत्समागम, सद्विचार और सद्ग्रंथका परिचय निरंतररूपसे करना श्रेयस्कर है।

इस देहकी आयु प्रत्यक्ष उपाधि-योगसे व्यतीत हुई जा रही है, इसलिये अत्यंत शोक होता है, और उसका यदि अल्पकालमें ही उपाय न किया गया, तो हम जैसे अविचारी लोग भी थोड़े ही समझने चाहियें।

जिस ज्ञानसे काम नाश हो उस ज्ञानको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

५०६ बम्बई, वैशाख सुदी १५ बुध. १९५१

सबकी अपेक्षा जिसमें अधिक स्नेह रहा करता है, ऐसी यह काया रोग जरा आदिसे अपनी ही आत्माको दुःखरूप हो जाती है, तो फिर उससे दूर ऐसे धन आदिसे जीवको तथारूप (यथायोग्य) सुख-वृत्ति हो, ऐसा विचार करनेपर विचारवानकी बुद्धिको अवश्य क्षोभ होना चाहिये, और उसे किसी दूसरे ही विचारकी ओर जाना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंने जो निर्णय किया है, वह याथातथ्य है।

५०७ बम्बई, वैशाख वदी ७ गुरु. १९५१

ॐ

वेदान्त आदिमें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा कही है, उस विचारणाकी अपेक्षा श्रीजिनागममें जो आत्मस्वरूपकी विचारणा है, उसमें भेद आता है।

सर्व-विचारणाका फल आत्माका सहज स्वभावसे परिणाम होना ही है।

सम्पूर्ण राग-द्वेषके क्षय हुए बिना सम्पूर्ण आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता, ऐसा जो जिनभगवान्ने निर्धारण कहा है, वह वेदांत आदिकी अपेक्षा प्रबलरूपसे प्रमाणभूत है।

५०८

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका स्थान मानना योग्य है। क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका सम्पूर्ण क्षय हो गया हो, वहीं सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभावके प्रगट होनेके लिये योग्य निश्चयका होना संभव है।

श्रीजिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागताका होना संभव है। क्योंकि उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस किसी पुरुषको जितने अंशमें वीतरागता होती है, उतने ही अंशमें उस पुरुषके वाक्य मानने योग्य हैं।

सांख्य आदि दर्शनमें बंध-मोक्षकी जिस जिस व्याख्याका उपदेश किया है, उससे प्रबल प्रमाणसे सिद्ध व्याख्या श्रीजिन वीतरागने कही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

५०९

हमारे चित्तमें बारम्बार ऐसा आता है और ऐसा परिणाम स्थिर रहा करता है कि जैसा आत्म-कल्याणका निर्धारण श्रीवर्धमान स्वामीने अथवा श्रीऋषभदेव आदिने किया है, वैसा निर्धारण दूसरे सम्प्रदायमें नहीं है।

वेदान्त आदि दर्शनका लक्ष भी आत्म-ज्ञानकी और सम्पूर्ण मोक्षकी ओर जाता हुआ देखनेमें आता है, परन्तु उसमें सम्पूर्णतया उसका यथायोग्य निर्धारण मालूम नहीं होता—अंशसे ही मालूम होता है, और कुछ कुछ उसका भी पर्यायांतर मालूम होता है। यद्यपि वेदान्तमें जगह जगह आत्म-चर्याका ही विवेचन किया गया है, परन्तु वह चर्या स्पष्टरूपसे अविरुद्ध है, ऐसा अभीतक नहीं मालूम हो सका। यह भी होना संभव है कि कदाचित् विचारके किसी उदय-भेदसे वेदान्तका आशय भिन्नरूपसे समझमें आता हो, और उससे विरोध मालूम होता हो, ऐसी आशंका भी फिर फिरसे चित्तमें की है, विशेष अति विशेष आत्मवीर्यको परिणमाकर उसे अविरोधी देखनेके लिये विचार किया गया है, फिर भी ऐसा मालूम होता है कि वेदान्तमें जिस प्रकारसे आत्मस्वरूप कहा है, उस प्रकारसे वेदांत सर्वथा अविरोध भावको प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि जिस तरह वह कहता है,

आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं है—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है, और उस उस प्रकारसे सांख्य आदि दर्शनोंमें भी भेद देखा जाता है।

मात्र एक श्रीजिनने जो आत्मस्वरूप कहा है वह विशेषातिविशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है। जिनभगवान्का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतया अविरोधी होना उचित है, ऐसा मालूम होता है। परन्तु वह सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता, उसका हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया आत्मावस्था प्रगट नहीं हुई। इस कारण जो अवस्था अप्रगट है, उस अवस्थाका वर्तमानमें अनुमान करते हैं; जिससे उस अनुमानको उसपर अत्यंत भार न देने योग्य मानकर, वह विशेषातिविशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी तो पुरुषमें प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मामें निश्चय प्रतीति-भाव आता है। और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, यह विचार करनेसे वह जिनभगवान् जैसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट मालूम होता है। इस सृष्टिमंडलमें यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्धमान स्वामीमें प्रगट होने योग्य लगता है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमें सबसे प्रथम सम्पूर्ण आत्मस्वरूप———————(अपूर्ण)

ॐ

५१० बम्बई, वैशाख वदी १० रवि. १९५१

'अल्पकालमें उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेको आत्म-परिणतिको किस विचारमें लाना योग्य है, जिससे वह उपाधिरहित हो सके?' यह प्रश्न हमने लिखा था। इसके उत्तरमें तुमने लिखा कि जबतक रागका बंधन है तबतक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता, और जिससे वह बंधन आत्म-परिणतिसे कम पड़ जाय, वैसी परिणति रहे तो अल्पकालमें ही उपाधिरहित हुआ जा सकता है—इस तरह जो उत्तर लिखा है, वह यथार्थ है।

यहाँ प्रश्नमें इतनी विशेषता है कि 'यदि बलपूर्वक उपाधि-योग प्राप्त होता हो, उसके प्रति राग-द्वेष आदि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिये चित्तमें बारम्बार खेद रहता हो, और उस उपाधिके त्याग करनेमें परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदय-बलसे यदि उपाधि-प्रसंग रहता हो तो उसकी किस उपायसे निवृत्ति की जा सकती है?' इस प्रश्नविषयक जो लक्ष पहुँचे सो लिखना।

भावार्थप्रकाश ग्रंथ हमने पढ़ा है। उसमें सम्प्रदायके विवादका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है, परन्तु तारतम्यसे वह वास्तविक ज्ञानवानकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है।

श्रीडूंगरने '**अखै पुरुख एक वरख है**' यह जो सवैया लिखाया है, वह बाँचा है। श्रीडूंगरको इस सवैयाका विशेष अनुभव है, परन्तु इस सवैयामें भी प्रायः करके छाया जैसा उपदेश देखनेमें आता है, और उससे अमुक ही निर्णय किया जा सकता है, और कभी जो निर्णय किया जाय तो वह पूर्वापर अविरोधी ही रहता है—ऐसा प्रायः करके लक्षमें नहीं आता। जीवके पुरुषार्थ-धर्मको इस प्रकारकी

वाणी अनेक तरहसे बलवान बनाती है, इतना उस वाणीका उपकार बहुतसे जीवोंके प्रति होना संभव है।

तुम्हारे आजके पत्रमें अंतमें श्रीडूंगरने जो साखी लिखाई है—**'व्यवहारनी जाळ पांदडे पांदडे परजळी'**—यह जिसमें प्रथम पद है, वह यथार्थ है। यह साखी उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरजका कारण हो सकती है।

५११

बम्बई, वैशाख वदी १४ गुरु. १९५१

शरण (आश्रय) और निश्चय कर्तव्य है। अधैर्यसे खेद नहीं करना चाहिये। चित्तमें देह आदि भयका विक्षेप भी करना योग्य नहीं। अस्थिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

५१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी २ रवि. १९५१

अपारकी तरह संसार-समुद्रसे तारनेवाले ऐसे सद्धर्मका निष्कारण करुणासे जिसने उपदेश किया है, उस ज्ञानी-पुरुषके उपकारको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

मुझे प्रायः करके निवृत्ति मिल सकती है, परन्तु यह क्षेत्र स्वभावसे विशेष प्रवृत्तियुक्त है; इस कारण निवृत्ति क्षेत्रमें जैसे सत्समागमसे आत्म-परिणामका उत्कर्ष होता है, वैसा प्रायः करके विशेष प्रवृत्तिवाले क्षेत्रमें होना कठिन पड़ता है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्ति क्षेत्रमें सत्समागम विशेष लाभदायक हो जाता है। ज्ञानी-पुरुषकी, भीड़में निर्मल दशा दिखाई देती है। इत्यादि निमित्तसे भी वह विशेष लाभदायक होता है। पर-परिणातिके कार्य करनेका प्रसंग रहे और स्व-परिणातिमें स्थिति रक्खे रहना यह, आनंदघनजीने जो चौदहवें जिनभगवान्‌की सेवा कही है, उससे भी विशेष कठिन है।

ज्ञानी-पुरुषके जिस समयसे नववाड़से विशुद्ध ब्रह्मचर्य दशा रहे, उस समयसे जो संयम-सुख प्रगट होता है, वह अवर्णनीय है। उपदेश-मार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर ही प्ररूपण करने योग्य है।

५१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रवि. १९५१

ॐ

बहुत बड़े पुरुषोंके ऋद्धि-योगके संबंधमें शास्त्रमें बात आती है, तथा लोक-कथनमें भी वैसी बातें सुनी जाती हैं, उस विषयमें आपको संशय रहता है; उसका उत्तर संक्षेपमें इस तरह है—

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कहीं हैं, 'ॐ' आदि जो मंत्र-योग कहा है, वह सब सत्य है। परन्तु आत्मैश्वर्यके सामने यह सब तुच्छ है। जहाँ आत्म-स्थिरता है, वहाँ सब प्रकारका सिद्धि-योग रहता है। इस कालमें वैसे पुरुष दिखाई नहीं देते, उससे यह उसकी अप्रतीति होनेका कारण हो जाता है। परन्तु वर्तमानमें किसी किसी जीवमें ही उस तरहकी स्थिरता देखनेमें आती है। बहुतसे जीवोंमें सत्वकी न्यूनता रहती है, और उस कारणसे वैसे चमत्कार आदि दिखाई नहीं देते, परन्तु

हुआ है, तो मालूम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीव उल्टी समझसे अपने कल्याणको भूलकर दूसरेका अकल्याण करता है। तप्पा ढूँढियाके साधुको, और ढूँढिया तप्पाके साधुको अन्न-पानी न देनेके लिये अपने अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं। कुगुरु लोग एक दूसरेको मिलने नहीं देते। यदि वे एक दूसरेको मिलने दें तो कषाय कम हो जाय—निन्दा घट जाय।

जीव निष्पक्ष नहीं रहता। वह अनादिसे पक्षमें पड़ा हुआ है, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाता है।

बारह कुलकी जो गोचरी कही है, उसे बहुतसे मुनि नहीं करते। उनका कपड़े आदि परिग्रहका मोह दूर हुआ नहीं। एक बार आहार लेनेके लिये कहा है फिर भी वे दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानीपुरुषके वचनसे आत्मा उच्च दशा प्राप्त करे वह सच्चा मार्ग है—वह अपना मार्ग है। सच्चा धर्म पुस्तकमें है, *परन्तु आत्मामें गुण प्रगट न हों तबतक वह कुछ फल नहीं देता। 'धर्म अपना है' ऐसी एक कल्पना ही है।* अपना धर्म क्या है? जैसे महासागर किसीका नहीं, उसी तरह धर्म भी किसीके बापका नहीं है। जिसमें दया सत्य आदि हों, उसीको पालो। वह किसीके बापका नहीं है। वह अनादिकालका है—शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ ली है कि धर्म अपना है। परन्तु शाश्वत मार्ग क्या है? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरी, मुँहपत्ती या कपड़ा कोई आत्मा नहीं। बोहरेकी नाड़ेकी तरह जीव पक्षका आग्रह पकड़े बैठा है—*ऐसी जीवकी मूढ़ता है।* 'अपने जैनधर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र अपने पास हैं,' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चोर जो रात दिन माल चुरा रहे हैं, उसका उसे भान नहीं।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कौड़ीतक भी रखनेकी आज्ञा नहीं। वैष्णवोंके कुलधर्मके कुगुरु आरंभ-परिग्रहके छोड़े बिना ही लोगोंके पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते हैं, और उस तरहका तो एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो फिर उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शान्त हो सकती है? जैनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना चाहिये। जिस गुरुको स्वार्थ हो वह अपना अकल्याण करता है और उससे शिष्योंका भी अकल्याण होता है।

जैनलिंग धारण कर जीव अनंतों बार भटका है—बाह्यवर्ती लिंग धारण कर लौकिक व्यवहारमें अनंतों बार भटका है। इस जगह वह जैनमार्गका निषेध करता नहीं। अंतरंगसे जो जितना सच्चा मार्ग बतावे वह 'जैन' है। नहीं तो अनादि कालसे जीवने झूठेको सच्चा माना है, और वही अज्ञान है। मनुष्य देहकी सार्थकता तभी है जब कि मिथ्या आग्रह—दुराग्रह—छोड़कर कल्याण होता हो। ज्ञानी सीधा ही बताता है। जब आत्मज्ञान प्रगट हो उसी समय आत्म-ज्ञानीपना मानना चाहिये—गुण प्रगट हुए बिना उसे मानना यह भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके बिना जवेरीपना मानना नहीं चाहिए। अज्ञानी मिथ्याको सच्चा नाम देकर बाड़ा बँधवा देता है। यदि सत्की पहिचान हो तो किसी समय तो सत्यका ग्रहण होगा।

(१२) आनंद, भाद्रपद १५ मंगल.

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, पार होनेका अभिलाषी मानता हो, और उसे देहमें रोग होते समय आकुलता-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करना चाहिये कि तेरी मुमुक्षुता—होशियारी—

५१७

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ५ बुध. १९५१

सबमें सम-भावकी इच्छा रहती है।

[1]ए श्रीपालनो रासकरंतां, ज्ञान अमृत रस वुठ्यो रे। मुज०। (श्रीयशोविजयजी)

तीव्र वैराग्यवानको, जिस उदयका प्रसंग शिथिल करनेमें बहुत बार फलीभूत होता है, वैसे उदयका प्रसंग देखकर चित्तमें अत्यंत उदासभाव आता है। यह संसार किस कारणसे परिचय करने योग्य है? तथा उसकी निवृत्तिकी इच्छा करनेवाले विचारवानको प्रारब्धवशसे उसका प्रसंग रहा करता हो तो वह प्रारब्ध किसी दूसरी प्रकार शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है अथवा नहीं? उसका तुम तथा श्रीडुंगर विचार करके लिखना।

जिस तीर्थंकरने ज्ञानका फल विरति कहा है, उस तीर्थंकरको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो!

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पड़ता है, यह पूर्वकर्मके संबंधको यथार्थ सिद्ध करता है।

५१८

बम्बई, ज्येष्ठ १९५१

ज्ञानीके मार्गके आशयको उपदेश करनेवाले वाक्य—

१. सहज स्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्रीवीतराग मोक्ष कहते हैं।

२. जीव सहज स्वरूपसे रहित नहीं, परन्तु उस सहज स्वरूपका जीवको केवल भान नहीं है; यह भान होना, यही सहज स्वरूपसे स्थिति है।

३. संगके योगसे यह जीव सहज स्थितिको भूल गया है, संगकी निवृत्तिसे सहज स्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है।

४. इसलिये सब तीर्थंकर आदि ज्ञानियोंने असंगताको ही सर्वोत्कृष्ट कहा है; जिसमें सब आत्म-साधन सन्निविष्ट हो जाते हैं।

५. समस्त जिनागममें कहे हुए वचन एकमात्र असंगतामें ही समा जाते हैं; क्योंकि उसीके होनेके लिये वे समस्त वचन कहे हैं। एक परमाणुसे लेकर चौदह राजू लोककी और मेष-उन्मेषसे लेकर शैलेशी अवस्थातककी जो सब क्रियाओंका वर्णन किया गया है, उनका इसी असंगताके समझानेके लिये वर्णन किया है।

६. सर्व भावसे असंगता होना, यह सबसे कठिनसे कठिन साधन है; और उसके आश्रयके बिना सिद्ध होना अत्यंत कठिन है—ऐसा विचारकर श्रीतीर्थंकरने सत्संगको उसका आधार कहा है; जिस सत्संगके संबंधसे जीवको सहज स्वरूपभूत असंगता उत्पन्न होती है।

७. यह सत्संग भी जीवको बहुत बार प्राप्त होनेपर भी फलवान नहीं हुआ, ऐसा श्रीवीतरागने कहा है; क्योंकि उस सत्संगको पहिचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा—परम स्नेहसे उसकी उपासना नहीं की—और प्राप्तको भी अप्राप्त फलवान होने योग्य संज्ञासे छोड़

---

१ इस श्रीपालके रासको लिखते हुए ज्ञानामृत रस बरसा है।

दिया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है, उसी बातके विचारसे, जिससे हमारी आत्मामें आत्म-गुण आविर्भूत होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुआ, ऐसे सत्संगको मैं अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८. अवश्य ही इस जीवको प्रथम सब साधनोंको गौण मानकर, निर्वाणके मुख्य हेतु ऐसे सत्संगकी ही सर्वार्पणरूपसे उपासना करना योग्य है, जिससे सब साधन सुलभ होते हैं—ऐसा हमारा आत्म-साक्षात्कार है।

९. उस सत्संगके प्राप्त होनेपर यदि इस जीवको कल्याण प्राप्त न हो तो अवश्य इस जीवका ही दोष है, क्योंकि उस सत्संगके अपूर्व, अलभ्य और अत्यंत दुर्लभ ऐसे संयोगमें भी उसने उस सत्संगके संयोगको बाधा करनेवाले ऐसे मिथ्या कारणोंका त्याग नहीं किया!

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छंदता, प्रमाद और इन्द्रिय-विषयोंसे यदि उपेक्षा न की हो, तो भी सत्संग फलवान नहीं होता, अथवा सत्संगमें एकनिष्ठा, अपूर्व भक्ति न की हो, तो भी सत्संग फलवान नहीं होता। यदि एक इस प्रकारकी अपूर्व भक्तिसे सत्संगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें ही मिथ्याग्रह आदिका नाश हो, और अनुक्रमसे जीव सब दोषोंसे मुक्त हो जाय।

११. सत्संगकी पहिचान होना जीवको दुर्लभ है। किसी महान् पुण्यके योगसे उसकी पहिचान होनेपर निश्चयसे यही सत्संग-सत्पुरुष है, ऐसा जिसे साक्षीभाव उत्पन्न हुआ हो, उस जीवको तो अवश्य ही प्रवृत्तिका संकोच करना चाहिये; अपने दोषोंको प्रतिक्षण, हरेक कार्यमें, हरेक प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगपूर्वक देखना चाहिये, और देखकर उनका क्षय करना चाहिये, तथा उस सत्संगके लिये यदि देह-त्याग करना पड़ता हो तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये। परन्तु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्ति—स्नेह—होने देना योग्य नहीं। तथा प्रमादसे रसगारव आदि दोषोंसे उस सत्संगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थ-धर्म मंद रहता है, और सत्संग फलवान नहीं होता, यह जानकर पुरुषार्थ-वीर्यका गुप्त रखना योग्य नहीं।

१२. सत्संगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहिचान होनेपर भी यदि वह संयोग निरन्तर न रहता हो तो सत्संगसे प्राप्त उपदेशको प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर उसका विचार तथा आराधन करना चाहिये, जिस आराधनसे जीवको अपूर्व सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३. जीवको सबसे मुख्य और सबसे आवश्यक यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह जो आत्माके कल्याणरूप हो उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदय-बलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, तो भी अन्तमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका संकोच करते करते जिससे उसका क्षय हो जाय, वही उपाय करना चाहिये। वह उपाय मिथ्या आग्रहका त्याग, स्वच्छंदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रिय-विषयका त्याग, यह मुख्य है। उसको सत्संगके संयोगमें अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये और सत्संगकी परोक्षतामें तो उसका अवश्य अवश्य ही आराधन करते रहना चाहिये। क्योंकि सत्संगके प्रसंगमें तो यदि जीवकी कुछ न्यूनता भी हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्संग मौजूद है, परन्तु सत्संगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्म-बल ही साधन है। यदि वह आत्म-बल सत्संगसे प्राप्त बोधका अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरण करनेमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो कभी भी जीवका कल्याण न हो।

संक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानीके मार्गके आशयको उपदेश करनेवाले इन वाक्योंका मुमुक्षु जीवको अपनी आत्मामें निरन्तर ही परिणमन करना योग्य है; जिन्हें हमने आत्म-गुणको विशेष विचारनेके लिये शब्दरूपमें लिखा है।

---

५१९ बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रवि. १९५१

(१)

ज्ञानी-पुरुषको जो सुख रहता है, वह निज स्वभावमें स्थिरताका ही सुख रहता है। बाह्य पदार्थमें उसे सुख-बुद्धि नहीं होती; इसलिये उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुख-दुःख आदिकी विशेषता अथवा न्यूनता नहीं कही जा सकती। यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरको स्वस्थता आदिसे साता और ज्वर आदिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको ही होती है, परन्तु ज्ञानीको वह सब प्रसंग हर्ष-विषादका हेतु नहीं होता; अथवा यदि ज्ञानकी तरतमतामें न्यूनता हो तो उससे कुछ कुछ हर्ष-विषाद होता है, फिर भी सर्वथा अजागृतभावको पाने योग्य हर्ष-विषाद नहीं होता। उदय-बलसे कुछ कुछ वैसा परिणाम होता है, तो भी विचार-जागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके लिये ही ज्ञानी-पुरुषका परिणाम रहता है।

जैसे वायुकी दिशा बदल जानेसे जहाज़ दूसरी तरफको चलने लगता है, परन्तु जहाज़ चलानेवाला उस जहाज़को अभीष्ट मार्गकी ओर रखनेके ही प्रयत्नमें रहता है, उसी तरह ज्ञानी-पुरुष मन वचन आदि योगको निजभावमें स्थिति होनेकी ओर ही लगाता है; फिर भी उदयरूप वायुके संबंधसे यत्किंचित् दिशाका फेर हो जाता है, तो भी परिणाम—प्रयत्न—तो अपने ही धर्ममें रहता है।

ज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, और अज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, यह कोई नियम नहीं है। पूर्वमें निष्पन्न शुभ-अशुभ कर्मके अनुसार ही दोनोंको उदय रहता है। ज्ञानी उदयमें सम रहता है, अज्ञानीको हर्ष-विषाद होता है।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है, वहाँ तो स्त्रियाँ आदि परिग्रहका भी अप्रसंग है। उससे न्यून भूमिकाकी ज्ञान-दशामें (चौथे पाँचवें गुणस्थानमें जहाँ उस योगका मिलना संभव है, उस दशामें) रहनेवाले ज्ञानी—सम्यग्दृष्टिको ही—स्त्रियाँ आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है।

(२)

पर पदार्थसे जितने अंशमें हर्ष-विषाद हो उतना ही ज्ञानका तारतम्य कमती होता है, ऐसा सर्वज्ञने कहा है।

---

५२० बम्बई, आषाढ़ सुदी १ रवि. १९५१

१. सत्यका ज्ञान होनेके पश्चात् मिथ्या प्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं होता। क्योंकि जितने अंशमें सत्यका ज्ञान हो उतने ही अंशमें मिथ्याभाव-प्रवृत्तिका दूर होना संभव है, यह जिनभगवान्का निश्चय है। कभी पूर्व प्रारब्धसे यदि बाह्य प्रवृत्तिका उदय रहता हो, तो भी मिथ्या प्रवृत्तिमें तादात्म्य

न हो, यह ज्ञानका लक्षण है; और नित्य प्रति मिथ्या प्रवृत्ति क्षीण होती रहे, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। यदि मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो तो सत्यका ज्ञान भी संभव नहीं।

२. देवलोकमेंसे जो मनुष्यलोकमें आवे, उसे अधिक लोभ होता है—इत्यादि जो लिखा है, वह सामान्यरूपसे लिखा है, एकांतरूपसे नहीं।

---

५२१ बम्बई, आषाढ़ सुदी १ रवि. १९५१

जैसे अमुक वनस्पतिकी अमुक ऋतुमें ही उत्पत्ति होती है, वैसे ही अमुक ऋतुमें ही उसकी विकृति भी होती है। सामान्य प्रकारसे आमके रस-स्वादकी आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होती है। परन्तु आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न होता है, उसकी विकृतिका समय भी आर्द्रा नक्षत्र ही हो, यह बात नहीं है। किन्तु सामान्यरूपसे चैत्र वैशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी ही आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होना संभव है।

---

५२२ बम्बई, आषाढ़ सुदी १ रवि. १९५१

दिन रात प्रायः करके विचार-दशा ही रहा करती है। जिसका संक्षेपसे भी लिखना नहीं बन सकता। समागममें कुछ प्रसंग पाकर कहा जा सकेगा तो वैसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हमें भी हितकारक स्थिरता होगी।

कबीरपंथी वहाँ आये हैं; उनका समागम करनेमें बाधा नहीं है। तथा यदि उनकी कोई प्रवृत्ति तुम्हें यथायोग्य न लगती हो तो उस बातपर अधिक लक्ष न देते हुए उनके विचारका कुछ अनुकरण करना योग्य लगे तो विचार करना। जो वैराग्यवान हो, उसका समागम अनेक प्रकारसे आत्म-भावकी उन्नति करता है।

लोकसंबंधी समागमसे विशेष उदास भाव रहता है। तथा एकांत जैसे योगके बिना कितनी ही प्रवृत्तियोंका निरोध करना नहीं बन सकता।

---

५२३ बम्बई, आषाढ़ सुदी ११ बुध. १९५१

(१) जिस कषाय परिणामसे अनंत संसारका बंध हो, उस कषाय परिणामकी जिनप्रवचनमें अनंतानुबंधी संज्ञा कही है। जिस कषायमें तन्मयतासे अप्रशस्त (मिथ्या) भावसे तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति होती है, वहाँ अनंतानुबंधी स्थानक संभव है। मुख्यतः जो स्थानक यहाँ कहा है, उस स्थानकमें उस कषायकी विशेष संभवता है:—जिस प्रकारसे सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मका द्रोह होता हो, उनकी अवज्ञा होती हो तथा उनसे विमुख भाव होता हो इत्यादि प्रवृत्तिसे, तथा असत् देव, असत् गुरु, और असत् धर्मका जिस प्रकारसे आग्रह होता हो, तत्संबंधी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्तिसे आचरण करते हुए अनंतानुबंधी कषाय उत्पन्न होती है; अथवा ज्ञानीके वचनमें स्त्री-पुत्र आदि भावोंमें जो मर्यादाके पश्चात्

इच्छा करते हुए अविनाशी परिणाम कहा है, उस परिणामसे प्रवृत्ति करते हुए भी अनंतानुबंधीका होना संभव है। संक्षेपमें अनंतानुबंधी कषायकी व्याख्या इस तरह मालूम होती है।

(२) 'जो पुत्र आदि वस्तुएँ लोक-संज्ञासे इच्छा करने योग्य मानी जाती हैं, उन वस्तुओंको दुःखदायक और असारभूत मानकर—प्राप्त होनेके बाद नाश हो जानेसे—वे इच्छा करने योग्य नहीं लगती थीं, वैसे पदार्थोंकी हालमें इच्छा उत्पन्न होती है, और उससे अनित्य भाव जैसे बलवान हो वैसा करनेकी अभिलाषा उद्भूत होती है'—इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा, उसे बाँचा है। जिस पुरुषकी ज्ञान-दशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी यदि संसार-समागमका उदय हो तो जागृतरूपसे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा वीतरागने जो कहा है, वह अन्यथा नहीं है; और हम सब जागृत भावसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रक्खें तो उस संसार-समागमसे बाधा होनेमें देर न लगे—यह उपदेश इन वचनोंद्वारा आत्मामें परिणमन करना योग्य है, इसमें संशय करना उचित नहीं। प्रसंगकी सर्वथा निवृत्ति यदि अशक्य होती हो, तो प्रसंगको न्यून करना योग्य है, और क्रमपूर्वक सर्वथा निवृत्तिरूप परिणाम लाना ही उचित है, यह मुमुक्षु पुरुषका भूमिका-धर्म है। सत्संग-सत्शास्त्रके संयोगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आराधन संभव है।

५२४ बम्बई, आषाढ़ सुदी १३ गुरु. १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

(१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है?

(२) इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें उसका होना संभव हो सकता है या नहीं?

(३) केवलज्ञानीमें किस प्रकारकी आत्म-स्थिति होती है?

(४) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद हो सकता है?

(५) सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी होती है?

ऊपर कहे हुए वचनोंपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। इसके संबंधमें पत्रद्वारा तुमसे जो लिखा जा सके, सो लिखना।

हालमें यहाँ उपाधिकी कुछ न्यूनता है।

५२५ बम्बई, आषाढ़ वदी २ रवि. १९५१

श्रीमद् वीतरागको नमस्कार

सत्समागम और सत्शास्त्रके लाभको चाहनेवाले मुमुक्षुओंको आरंभ परिग्रह और रसास्वाद आदिका प्रतिबंध न्यून करना योग्य है, ऐसा श्रीजिन आदि महान् पुरुषोंने कहा है। जबतक अपना दोष विचारकर उसे कम करनेके लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जाय, तबतक सत्पुरुषके कहे हुए मार्गका फल प्राप्त करना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना चाहिये।

५२६ बम्बई, आषाढ़ वदी ७ रवि. १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

१. इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें केवलज्ञान संभव है या नहीं? इत्यादि जो प्रश्न लिखे थे, उनके उत्तरमें तुम्हारे तथा श्री लहेराभाईके विचार, प्राप्त हुए पत्रसे विशेषरूपसे मालूम हुए हैं। इन

प्रश्नोंपर तुम्हें, लहेराभाई तथा श्रीडूंगरको विशेष विचार करना चाहिये। अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे केवलज्ञान आदिका स्वरूप कहा है और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उन दोनोंमें बहुत कुछ मुख्य भेद देखनेमें आता है, उसका सबको विचार होकर समाधान हो जाय तो वह आत्माके कल्याणका अंगभूत है, इसलिये इस विषयपर अधिक विचार किया जाय तो अच्छा है।

२. 'अस्ति' इस पदसे लेकर सब भाव आत्मार्थके लिये ही विचार करने योग्य हैं। उसमें जो निज स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, उसका ही मुख्यतया विचार करना योग्य है। और उस विचारके लिये अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसके लिये उसका भी विचार करना उचित है।

परस्पर दर्शनोंमें बड़ा भेद देखनेमें आता है। उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है, यह निश्चय सब मुमुक्षुओंको होना कठिन है, क्योंकि उसकी तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी किसी जीवको ही होती है। फिर एक दर्शन सब अंशोंमें सत्य है और दूसरा दर्शन सब अंशोंमें असत्य है, यह बात यदि विचारसे सिद्ध हो जाय तो दूसरे दर्शनोंके प्रवर्त्तककी दशा आदि विचारने योग्य हैं। क्योंकि जिसका वैराग्य उपशम बलवान है, उसने सर्वथा असत्यका ही निरूपण क्यों किया होगा? इत्यादि विचार करना योग्य है। किन्तु सब जीवोंको यह विचार होना कठिन है; और वह विचार कार्यकारी भी है—करने योग्य है—परन्तु वह किसी माहात्म्यवानको ही हो सकता है। फिर बाकी जो मोक्षके इच्छुक जीव हैं, उन्हें उस संबंधमें क्या करना चाहिये, यह भी विचार करना उचित है।

सब प्रकारके सर्वांग समाधानके हुए बिना सब कर्मोंसे मुक्त होना असंभव है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सब प्रकारके समाधान होनेके लिये यदि अनंतकाल पुरुषार्थ करना पड़ता हो तो प्रायः करके कोई भी जीव मुक्त न हो सके। इससे ऐसा माल्रम होता है कि अल्पकालमें ही उस सब प्रकारके समाधानका उपाय हो सकता है। इससे मुमुक्षु जीवको कोई निराशाका कारण भी नहीं है।

३. श्रावणसुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्त होना बने, ऐसा माल्रम होता है। जहाँ क्षेत्र-स्पर्शना होगी वहीं स्थिति होगी।

५२७

आत्मा—	वेदांत,	जैन,	सांख्य,	योग,	नैयायिक,	बौद्ध.
नित्य.						
अनित्य.	+	,,	+	+	+	+
परिणामी.	+	,,	+	+	+	,,
अपरिणामी.						
साक्षी.						
साक्षी—कर्ता.						

५२८

१. सांख्यदर्शन कहता है कि बुद्धि जड़ है। पातंजल और वेदान्तदर्शन भी ऐसा ही कहते हैं। जिनदर्शन कहता है कि बुद्धि चेतन है।

२. वेदान्तदर्शन कहता है कि आत्मा एक ही है। जिनदर्शन कहता है कि आत्मा अनंत हैं। जाति एक है। सांख्यदर्शन भी ऐसा ही कहता है। पातंजलदर्शन भी ऐसा ही कहता है।

३. वेदान्तदर्शन कहता है कि यह समस्त विश्व वंध्याके पुत्रके समान है, जिनदर्शन कहता है कि यह समस्त विश्व शाश्वत है।

४. पातंजलदर्शन कहता है कि नित्य मुक्त ईश्वर एक ही होना चाहिये। सांख्यदर्शन इस बातका निषेध करता है। जिनदर्शन भी निषेध करता है।

---

५२९ बम्बई, आषाढ़ वदी ११ गुरु. १९५१

जिस विचारवान पुरुषकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप नित्यप्रति क्लेशस्वरूप भासमान होता हो, सांसारिक भोगोपभोगमें जिसे नीरसता जैसी प्रवृत्ति होती हो, उस विचारवानको दूसरी तरफ लोक-व्यवहार आदि, व्यापार आदिका उदय रहता हो, तो वह उदय-प्रतिबंध इन्द्रियके सुखके लिये नहीं, किन्तु आत्महितार्थ दूर करनेके लिये हो, तो उसे दूर कर सकनेका क्या उपाय करना चाहिये? इस संबंधमें कुछ कहना हो तो कहना।

---

५३० बम्बई, आषाढ़ वदी १४ रवि. १९५१

ॐ

जिस प्रकारसे सहज ही बन जाय, उसे करनेके लिये परिणति रहा करती है, अथवा अन्तमें यदि कोई उपाय न चले तो बलवान कारणको जिससे बाधा न हो वैसी प्रवृत्ति होती है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगकी अरुचिके कारण यदि थोड़े समय भी निवृत्तिसे किसी तथारूप क्षेत्रमें रहा जाय तो अच्छा, ऐसा चित्तमें रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय रहनेके कारण, जो देहके जन्मके निमित्त कारण हैं, ऐसे माता पिता आदिके वचनके लिये, उनके चित्तकी प्रियताके अक्षोभके लिये, तथा कुछ कुछ दूसरोंके चित्तकी अनुप्रेक्षाके लिये भी थोड़े दिनके वास्ते ववाणीआ जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनों बातोंके लिये कभी संयोग मिले तो अच्छा, ऐसा विचार करनेसे कुछ यथायोग्य समाधान न होता था। उसके लिये विचारकी सहज उद्भूत विशेषतासे हालमें जो कुछ विचारकी अल्प स्थिरता हुई, उसे तुम्हें बताया था। सब प्रकारके असंग-लक्षके विचारको, यहाँसे अप्रसंग समझकर, दूर रखकर अल्पकालकी अल्प असंगताका हालमें कुछ विचार रक्खा है, वह भी सहज स्वभावसे उदयानुसार ही हुआ है। श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १० के लगभग तक किसी निवृत्ति क्षेत्रमें रहना हो तो वैसे, यथाशक्ति उदयको उपशम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना चाहिये; यद्यपि विशेष निवृत्ति तो उदयका स्वरूप देखनेसे प्राप्त होनी कठिन जान पड़ती है।

किसी भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए जो प्रायः निष्क्रिय परिणति रहती है, उस परिणतिके कारण हालमें विचारका बराबर कहना नहीं बनता। सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य.

५३१

बम्बई, आषाढ़ वदी १५, सोम. १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

(१) सर्व प्रतिबंधसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना संभव नहीं।

(२) जन्मसे जिसे मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान थे, और आत्मोपयोगी वैराग्यदशा थी, तथा अल्पकालमें भोग-कर्मको क्षीण करके संयमको ग्रहण करते हुए मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया था, ऐसे श्रीमद् महावीरस्वामी भी बारह वर्ष और साढ़े छह महीनेतक मौन रहकर विचरते रहे। इस प्रकारका उनका आचरण, 'उस उपदेश-मार्गका प्रचार करनेमें किसी भी जीवको अत्यंतरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है,' ऐसी अखंड शिक्षाका उपदेश करता है। तथा जिनभगवान् जैसेने जिस प्रतिबंधकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया, उस प्रतिबंधमें अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव नहीं होता, ऐसा बताया है, और अनंत आत्मार्थका उस आचरणसे प्रकाश किया है—उस क्रमके प्रति विचारनेकी विशेष स्थिरता रहती है—उसे रखना योग्य है।

जिस प्रकारका पूर्व प्रारब्ध भोगनेपर निवृत्त होने योग्य है, उस प्रकारके प्रारब्धका उदासीनतासे वेदन करना उचित है, जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई अवसर प्राप्त होता है, उस उस अवसरपर जागृत उपयोग न हो तो जीवको समाधिकी विराधना होते हुए देर न लगे। इसलिये सर्व संगभावको मूलरूपसे परिणमा कर, जिससे भोगे बिना छुटकारा न हो सके, वैसे प्रसंगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारको करते हुए जिससे सर्वांशमें असंगता उत्पन्न हो, उस प्रकारका ही सेवन करना उचित है।

कुछ समयसे 'सहज-प्रवृत्ति' और 'उदीरण-प्रवृत्ति' इस भेदसे प्रवृत्ति रहा करती है। मुख्यरूपसे सहज-प्रवृत्ति रहती है। सहज-प्रवृत्ति उसे कहते हैं जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न हो परन्तु जिसमें कर्त्तव्य-परिणाम नहीं होता। दूसरी उदीरण-प्रवृत्ति वह है जो प्रवृत्ति पर पदार्थ आदिके संबंधसे करनी पड़े। हालमें दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा मंद होता है। क्योंकि अपूर्व समाधि-योगको उस कारणसे भी प्रतिबंध होता है, ऐसा सुना था और समझा था और हालमें वैसे स्पष्टरूपसे वेदन किया है। उन सब कारणोंसे अधिक समागममें आने, पत्र आदिसे कुछ भी प्रश्नोत्तर आदिके लिखने, तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेकी भी मंद हो जानेकी पर्यायका आत्मा सेवन करता है। इस पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्व समाधिकी हानि होना संभव था। ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मंद प्रवृत्ति नहीं हुई है।

५३२

बम्बई, आषाढ़ वदी १५, १९५१

अनंतानुबंधीका जो दूसरा भेद लिखा है, तत्संबंधी विशेषार्थ निम्नरूपसे है।

उदयसे अथवा उदासभावसंयुक्त मंद परिणत बुद्धिसे जबतक भोग आदिमें प्रवृत्ति रहे, उस

समयतक ज्ञानीकी आज्ञापर पैर रखकर प्रवृत्ति होना संभव नहीं। किन्तु जहाँ भोग आदिमें तीव्र तन्मयतासे प्रवृत्ति हो वहाँ ज्ञानीकी आज्ञाकी कोई अंकुशता संभव नहीं—निर्भयतासे भोग प्रवृत्ति ही संभवित है। जो अविनाशी परिणाम कहा है, वैसा परिणाम जहाँ रहे, वहाँ भी अनंतानुबंधी संभव है। तथा 'मैं समझता हूँ, मुझे बाधा नहीं है' जीव इसी तरहकी बेहोशीमें रहे, तथा 'भोगसे निवृत्ति संभव है' और फिर भी वह कुछ भी पुरुषार्थ करे तो उस निवृत्तिका होना संभव होनेपर भी, मिथ्या ज्ञानसे ज्ञान-दशा मानकर वह भोग आदिमें प्रवृत्ति करे तो वहाँ भी अनंतानुबंधी संभव है।

जागृत अवस्थामें जैसे जैसे उपयोगकी शुद्धता होती है वैसे वैसे स्वप्नदशाका परिक्षय होना संभव है।

---

५३३ ववाणीआ, श्रावण सुदी १०, १९५१

सोमवारको रात्रिमें लगभग ग्यारह बजेके बाद मेरे द्वारा जो कुछ वचन-योग प्रकाशित हुआ था, वह यदि स्मरणमें रहा हो, तो वह यथाशक्ति लिखा जा सके तो लिखना।

जो पर्याय है, वह उस पदार्थका विशेष स्वरूप है, इसलिये मनःपर्यवज्ञानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान मानकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमें गिना है। उसके सामान्य ग्रहणरूप विषयके भासित न होनेसे उसे दर्शनोपयोगमें नहीं गिना, ऐसा सोमवारको दोपहरके समय कहा था। तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है।

यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमें आ सकने जैसी है; क्योंकि उसको बहुतसे दृष्टांत आदिसे कहना योग्य है; किन्तु यहाँ तो वैसा होना असंभव है।

मनःपर्यवके संबंधमें जो प्रसंग लिखा है, उस प्रसंगको चर्चा करनेके भावसे नहीं लिखा।

---

५३४ ववाणीआ, श्रावण सुदी १२ शुक्र. १९५१

'यह जीव निमित्तवासी है,' यह एक सामान्य वचन है। वह संग-प्रसंगसे होती हुई जीवकी परिणतिके विषयमें देखनेसे प्रायः सिद्धांतरूप मालूम हो सकता है।

---

५३५ ववाणीआ, श्रावण सुदी १५ सोम. १९५१

आत्मार्थके लिये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है, किन्तु विचार-मार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नहीं, उसे उस मार्गका उपदेश करना उचित नहीं, इत्यादि जो लिखा है वह योग्य है, तो भी उस विषयमें हालमें कुछ भी लिखना चित्तमें नहीं आ सकता।

श्री····ने केवलदर्शनके संबंधमें कही हुई जो शंका लिखी है, उसे पढ़ी है। दूसरे अनेक भेदोंके समझनेके पश्चात् उस प्रकारकी शंका निवृत्त होती है, अथवा वह क्रम प्रायः करके समझने योग्य होता है। ऐसी शंकाको हालमें कम करके अथवा उपशांत करके विशेष निकट ऐसे आत्मार्थका ही विचार करना योग्य है।

---

५३६ ववाणीआ, श्रावण वदी ६ रवि. १९५१

ॐ

यहाँ पर्यूषण पूर्ण होनेतक रहना संभव है। केवलज्ञान आदिका क्या इस कालमें होना संभव है? इत्यादि प्रश्न पहिले लिखे थे; उन प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा श्री....आदिके साथ परस्पर प्रश्नोत्तर करना चाहिये।

'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?' तुम लोगोंसे हो सके तो इस प्रश्नके ऊपर विचार करना। श्री....को तो अवश्य विचार करना योग्य है।

---

५३७ ववाणीआ, श्रावण वदी ११ शुक्र. १९५१

यहाँसे प्रसंग पाकर लिखे हुए जो चार प्रश्नोंका उत्तर लिखा सो बाँचा है। पहिलेके दो प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें हैं, फिर भी यथायोग्य हैं। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, फिर भी उस प्रश्नका उत्तर विशेष सूक्ष्म विचारसे लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है:—

'गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना संभव है अथवा नहीं?' अर्थात् 'क्या समस्त गुणोंका समुदाय ही गुणी अर्थात् द्रव्य है? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी अन्य द्रव्यका अस्तित्व मौजूद है?' इसके उत्तरमें ऐसा लिखा है कि आत्मा गुणी है; उसके गुण ज्ञान दर्शन वगैरह भिन्न हैं—इस प्रकार गुणी और गुणकी विवक्षा की है। परन्तु यहाँ विशेष विवक्षा करनी योग्य है। यहाँ प्रश्न होता है कि फिर ज्ञान दर्शन आदि गुणसे भिन्न बाकीका आत्मत्व ही क्या रह जाता है? इसलिये इस प्रश्नका यथाशक्ति विचार करना योग्य है।

चौथा प्रश्न यह है कि इस कालमें केवलज्ञान होना संभव है या नहीं? इसका उत्तर इस तरह लिखा है कि प्रमाणसे देखनेसे तो यह संभव है। यह उत्तर भी संक्षिप्त है। इसपर बहुत विचार करना चाहिये। इस चौथे प्रश्नके विशेष विचार करनेके लिये उसमें इतना विशेष और सम्मिलित करना कि जिस प्रमाणसे जैन आगममें केवलज्ञान माना है अथवा कहा है, वह केवलज्ञानका स्वरूप याथातथ्य ही कहा है—क्या ऐसा मालूम होता है या किसी दूसरी तरह? और यदि वैसा ही केवलज्ञानका स्वरूप हो, ऐसा मालूम होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होना संभव है अथवा नहीं? अथवा जो जैन आगम कहता है, उसके कहनेका क्या कोई जुदा ही कारण है? और क्या केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरी प्रकारसे होना और समझा जाना संभव है? इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षण करना उचित है। इसी तरह जो तीसरा प्रश्न है, वह भी अनेक प्रकारसे विचार करने योग्य है। विशेष अनुप्रेक्षा-पूर्वक इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर लिखना बने तो लिखना। प्रथमके दो प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें लिखे हैं, उन्हें विशेषतासे लिखना बन सके तो उन्हें भी लिखना।

तुमने पाँच प्रश्न लिखे हैं। उनमेंके तीन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ संक्षेपसे लिखा है।

प्रथम प्रश्नः—जातिस्मरण ज्ञानवाला मनुष्य पहिलेके भवको किस तरह जान लेता है?

उत्तरः—जिस तरह छुटपनमें कोई गाँव, वस्तु आदि देखीं हों, और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर जिस समय उन गाँव आदिका आत्मामें स्मरण होता है, उस समय उन गाँव आदिका आत्मामें

भान होता है, उसी तरह जातिस्मरण ज्ञानवालेको भी पूर्वभवका भान होता है। कदाचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि 'पूर्वभवमें अनुभव किये हुए देह आदिका जैसा ऊपर कहा है वैसा भान होना संभव है—इस बातको यदि याथातथ्य मानें तो भी पूर्वभवमें अनुभूत देह आदि अथवा कोई देवलोक आदि निवास-स्थान जो अनुभव किये हों, उस अनुभवकी स्मृति हुई है, और वह अनुभव याथातथ्य हुआ है, यह किस आधारसे समझना चाहिये?' इस प्रश्नका समाधान इस तरह है:—अमुक अमुक चेष्टा, लिंग तथा परिणाम आदिसे अपने आपको उसका स्पष्ट भान होता है, किन्तु दूसरे किसी जीवको उसकी प्रतीति होनेके लिये तो कोई नियम नहीं है। क्वचित् अमुक देशमें अमुक गाँवमें अमुक घरमें पूर्वमें देह धारण किया हो, और उसके चिह्न दूसरे जीवको बतानेसे, उस देश आदिकी अथवा उसके निशान आदिकी कुछ भी विद्यमानता हो, तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिका कारण होना संभव है; अथवा जातिस्मरण ज्ञानवालेकी अपेक्षा जिसका ज्ञान विशेष है, उसका उसे जानना संभव है। तथा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, उसकी प्रकृति आदिको जाननेवाला ऐसा कोई विचारवान पुरुष भी जान सकता है कि इस पुरुषको किसी वैसे ज्ञानका होना संभव है, या जातिस्मरण होना संभव है; अथवा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, कोई जीव उस पुरुषके पूर्वभवमें संबंधमें आया हो—विशेषरूपसे आया हो, उसे उस संबंधके बतानेसे यदि कुछ भी स्मृति हो तो भी दूसरे जीवको प्रतीति आना संभव है।

दूसरा प्रश्नः—जीव प्रतिसमय मरता रहता है, यह किस तरह समझना चाहिये?

उत्तरः—जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका वियोग होता है—जिसे मरण कहा जाता है—उसी तरह स्थूल देहकी आयु आदि सूक्ष्म पर्यायका भी प्रतिसमय हानि-परिणाम होनेसे वियोग हो रहा है, उससे यह प्रतिसमय मरण कहा जाता है। यह मरण व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे तो आत्माके स्वाभाविक ज्ञान दर्शन आदि गुण-पर्यायकी, विभाव परिणामके कारण, हानि हुआ करती है, और यह हानि आत्माके नित्यता आदि स्वरूपको भी पकड़े रहती है—यह प्रतिसमय मरण कहा जाता है।

तीसरा प्रश्नः—केवलज्ञानदर्शनमें भूत और भविष्यकालके पदार्थ वर्तमानकालमें वर्तमानरूपसे ही दिखाई देते हैं, अथवा किसी दूसरी तरह?

उत्तरः—जिस तरह वर्तमानमें वर्तमान पदार्थ दिखाई देते हैं, उसी तरह भूतकालके पदार्थ भूतकालमें जिस स्वरूपसे थे उसी स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखाई देते हैं, और वे पदार्थ भविष्यकालमें जिस स्वरूपसे होंगे उसी स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखाई देते हैं। भूतकालमें जो जो पर्याय पदार्थमें रहती हैं, वे कारणरूपसे वर्तमान पदार्थमें मौजूद हैं, और भविष्यकालमें जो जो पर्याय रहेंगी, उनकी योग्यता वर्तमान पदार्थमें मौजूद है। उस कारणका और योग्यताका ज्ञान वर्तमानकालमें भी केवलज्ञानीको यथार्थ स्वरूपसे हो सकता है। यद्यपि इस प्रश्नके विषयमें बहुतसे विचार बताना योग्य है।

---

५३८ ववाणीआ, श्रावण वदी १२ शनि. १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतया तीन प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर निम्नरूपसे हैः—

पहला प्रश्नः—एक मनुष्य-प्राणी दिनके समय आत्माके गुणोंद्वारा अमुक मर्यादातक देख सकता है, और रात्रिके समय अंधेरेमें कुछ भी नहीं देख सकता। फिर दूसरे दिन इसी तरह देखता है, और रात्रिमें कुछ भी नहीं देखता। इस कारण इस तरह एक दिन रातमें, अविच्छिन्नरूपसे प्रवर्तमान आत्माके गुणके ऊपर, अध्यवसायके बदले विना ही, क्या नहीं देखनेका आवरण आ जाता होगा? अथवा देखना यह आत्माका गुण ही नहीं, और सूरजसे ही सब कुछ दिखाई देता है, इसलिये देखना सूरजका गुण होनेके कारण उसकी अनुपस्थितिमें कुछ भी दिखाई नहीं देता? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टांतमें कानको यथास्थान न रखनेसे कुछ भी सुनाई नहीं देता, तो फिर आत्माका गुण कैसे भुला दिया जाता है?

उत्तरः—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इन्द्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इन्द्रियलब्धि सामान्यरूपसे पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शन इन्द्रियसे श्रवण इन्द्रियतक सामान्यरूपसे मनुष्यको पाँच इन्द्रियोंकी लब्धिका क्षयोपशम होता है; उस क्षयोपशमकी शक्तिकी जहाँतक अमुक व्यापकता हो वहींतक मनुष्य जान देख सकता है। देखना यह चक्षु इन्द्रियका गुण है, परन्तु अंधकारसे अथवा वस्तुके अमुक दूरीपर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता; क्योंकि चक्षु इन्द्रियकी क्षयोपशम-लब्धि उस हदतक जाकर रुक जाती है। अर्थात् सामान्यरूपसे क्षयोपशमकी इतनी ही शक्ति है। दिनमें भी यदि विशेष अंधकार हो, अथवा कोई वस्तु बहुत अंधकारमें रक्खी हुई हो, अथवा अमुक सीमासे दूर हो तो वह चक्षुसे दिखाई नहीं दे सकती। तथा दूसरी इन्द्रियोंकी भी लब्धि-संबंधी क्षयोपशम शक्तितक ही उनके विषय ज्ञान-दर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्याघात होनेतक ही वे स्पर्श कर सकती हैं, सूँघ सकती हैं, स्वाद पहिचान सकती हैं, या सुन सकती हैं।

दूसरा प्रश्नः—आत्माके असंख्य प्रदेशोंके समस्त शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है; इसी तरह समस्त शरीरमें असंख्यात प्रदेशोंके व्यापक होनेपर भी एक छोटेसे कानसे ही सुना जा सकता है; अमुक स्थानसे ही गंधकी परीक्षा होती है; अमुक जगहसे ही रसकी परीक्षा होती है। उदाहरणके लिये मिश्रीका स्वाद हाथ-पाँव नहीं जानते, जीभ ही जानती है। आत्माके समस्त शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका क्या कारण होगा?

उत्तरः—जीवको ज्ञान दर्शन यदि क्षायिक भावसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे उसे तथा-प्रकारका निरावरणपना होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भावका ज्ञायकभाव होना संभव है, परन्तु जहाँ क्षयोपशम भावसे ज्ञान दर्शन रहते हैं वहाँ भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादामें ज्ञायकभाव होता है। जिस जीवको अत्यंत अल्प ज्ञान-दर्शनकी क्षयोपशम शक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनंतवें भाग जितना ज्ञायकभाव होता है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन इन्द्रियकी लब्धि

कुछ कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट) होती है; उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन और रसना इन्द्रियकी लब्धि उत्पन्न होती है, इस प्रकार विशेषतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दको ग्रहण करने योग्य पंचेन्द्रियसंबंधी क्षयोपशम होता है। फिर भी क्षयोपशम दशामें गुणकी सम-विषमता होनेसे, सर्वांगसे वह पंचेन्द्रियसंबंधी ज्ञान-दर्शन नहीं होता, क्योंकि शक्तिका वैसा तारतम्य (सत्व) नहीं है कि वह पाँचों विषय सर्वांगसे ग्रहण करे। यद्यपि अवधि आदि ज्ञानमें वैसा होता है, परन्तु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम और वह भी इन्द्रिय-सापेक्ष क्षयोपशमकी बात है। अमुक नियत प्रदेशमें ही उस इन्द्रियलब्धिका परिणाम होता है, उसका हेतु क्षयोपशम तथा प्राप्तभूत योनिका संबंध है, जिससे नियत प्रदेशमें (अमुक मर्यादा—भागमें) जीवको अमुक अमुक विषयका ही ग्रहण होना संभव है।

तीसरा प्रश्नः—जब शरीरके अमुक भागमें पीड़ा होती है तो जीव वहीं संलग्न हो जाता है, इससे जिस भागमें पीड़ा है, उस भागकी पीड़ा सहन करनेके कारण क्या समस्त प्रदेश वहीं खिंच आते होंगे? जगत्में भी कहावत है कि जहाँ पीड़ा हो जीव वहीं संलग्न रहता है।

उत्तरः—उस वेदनाके सहन करनेमें बहुतसे प्रसंगोंपर विशेष उपयोग रुकता है, और दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसंगोंपर स्वाभाविक आकर्षण भी होता है। किसी अवसरपर वेदनाका बाहुल्य हो तो समस्त प्रदेश मूर्च्छागत स्थितिको प्राप्त करते हैं और किसी अवसरपर वेदना अथवा भयकी बहुलतासे सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माके दशम द्वार आदिकी एक स्थानमें स्थिति होती है। यह होनेका हेतु भी यही है कि अव्याबाध नामक जीव-स्वभावके तथाप्रकारसे परिणामी न होनेके कारण, वीर्यांतरायके क्षयोपशमकी वैसी सम-विषमता होती है।

इस प्रकारके प्रश्न बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको विचारकी शुद्धिके लिये करने चाहिये, और वैसे प्रश्नोंका समाधान बतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है; परन्तु लिखनेमें विशेष उपयोगका रुक सकना बहुत मुश्किलसे होता है।

---

५३१ ववाणीआ, श्रावण वदी १४ सोम. १९५१

प्रथम पदमें ऐसा कहा है कि 'हे मुमुक्षु! एक आत्माको जानते हुए तू समस्त लोकालोकको जानेगा, और सब कुछ जाननेका फल भी एक आत्म-प्राप्ति ही है। इसलिये आत्मासे भिन्न ऐसे दूसरे भावोंके जाननेकी बारंबारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूपमें दृष्टि दे; जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि ज्ञेयरूपसे तुझे अपनेमें दृष्टिगोचर होगी। तत्त्वस्वरूप सत्शास्त्रमें कहे हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियोंने कहा है, किन्तु उपयोगपूर्वक उसे चित्तमें उतारना कठिन है। यह मार्ग जुदा है, और उसका स्वरूप भी जुदा है; मात्र 'कथन-ज्ञानी' जैसा कहते हैं वह वैसा नहीं, इसलिये जगह जगह जाकर क्या पूँछता है; क्योंकि उस अपूर्वभावका अर्थ जगह जगहसे प्राप्त नहीं हो सकता।'

दूसरे पदका संक्षिप्त अर्थः—'हे मुमुक्षु! यम, नियम आदि जो साधन शास्त्रोंमें कहे हैं, वे ऊपरोक्त अर्थसे निष्फल ठहरेंगे, यह बात भी नहीं है। क्योंकि वे भी किसी कारणके लिये ही कहे हैं। वह कारण इस प्रकार है:—जिससे आत्मज्ञान रह सके ऐसी पात्रता प्राप्त होनेके लिये, और जिससे

उसमें स्थिति हो वैसी योग्यता लानेके लिये इन कारणोंका उपदेश किया है। इस कारण तत्त्वज्ञानीने इस हेतुसे ये साधन कहे हैं, परन्तु जीवकी समझमें एक साथ फेर हो जानेसे वह उन साधनोंमें ही अटक रहा, अथवा उसने उन साधनोंको भी अभिनिवेश परिणामसे ग्रहण किया। जिस प्रकार बालकको उँगलीसे चन्द्र दिखाया जाता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानियोंने इस तत्त्वका सार कहा है।'

---

५४० ववाणीआ, श्रावण वदी १४ सोम. १९५१

प्रश्नः—'बालपनेकी अपेक्षा युवावस्थामें इन्द्रिय-विकार विशेष उत्पन्न होता है, इसका क्या कारण होना चाहिये?' ऐसा जो लिखा है उसके लिये संक्षेपमें इस तरह विचारना योग्य है।

उत्तरः—ज्यों ज्यों क्रमसे अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों इन्द्रिय-बल भी बढ़ता है; तथा उस बलको विकारके कारणभूत निमित्त मिलते हैं, और पूर्व भवमें वैसे विकारके संस्कार रहते आये हैं; इस कारण वह निमित्त आदि योगको पाकर विशेष परिणामयुक्त होता है। जिस तरह बीज तथारूप कारण पाकर वृक्षाकार परिणमता है, उसी तरह पूर्वके बीजभूत संस्कारोंका क्रमसे विशेषाकार परिणमन होता है।

---

५४१ ववाणीआ, भाद्र. सुदी ०. गुरु. १९५१

निमित्तपूर्वक जिसे हर्ष होता है, निमित्तपूर्वक जिसे शोक होता है, निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रिय-जन्य विषयके प्रति आकर्षण होता है, निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रियके प्रतिकूल विषयोंमें द्वेष होता है, निमित्तपूर्वक जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्तपूर्वक ही जिसे कषाय उत्पन्न होती है, ऐसे जीवको यथा-शक्ति उन सब निमित्तवासी जीवोंका संग त्याग करना योग्य है, और नित्यप्रति सत्संग करना उचित है; सत्संगके न मिलनेसे उस प्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। प्रतिक्षण प्रत्येक प्रसंगपर और प्रत्येक निमित्तमें अपनी निज दशाके प्रति उपयोग रखना योग्य है।

आजतक सर्वभावपूर्वक क्षमा माँगता हूँ।

५४२

अनुभवप्रकाश ग्रंथमेंसे श्रीप्रल्हादजीके प्रति सद्गुरुदेवका कहा हुआ जो उपदेश-प्रसंग लिखा, वह वास्तविक है। तथारूप निर्विकल्प और अखंड निजस्वरूपसे अभिन्न ज्ञानके सिवाय, सर्व दुःख दूर करनेका अन्य कोई उपाय ज्ञानी-पुरुषोंने नहीं जाना।

---

५४३ राणपुर (हडमतीआ) भाद्र. वदी १३ भौम. १९५१

अंतिम पत्रमें प्रश्न लिखे थे, वह पत्र कहीं गुम गया मालूम होता है। संक्षेपमें निम्न लिखित उत्तरका विचार करना।

(१) धर्म अधर्म द्रव्य, स्वभाव-परिणामी होनेसे निष्क्रिय कहे गये हैं। परमार्थसे ये द्रव्य भी

सक्रिय हैं। व्यवहार नयसे परमाणु, पुद्गल और संसारी जीव सक्रिय हैं, क्योंकि वे अन्योन्य-ग्रहण, त्याग आदिसे एक परिमाणकी तरह संबद्ध होते हैं। नष्ट होना—विध्वंस होना—यह यावत् पुद्गलके परमाणुका धर्म कहा है.......परमार्थसे गुण वर्ण आदिका पलटना और स्कंधका बिखर जाना कहा है।

(खंडित पत्र)

---

५४४ राणपुर, आसोज सुदी २ शुक्र. १९५१

कुछ भी बने तो जहाँ आत्मार्थकी चर्चा होती हो वहाँ जाना आना और श्रवण आदिका समागम करना योग्य है। चाहे तो जैनदर्शनके सिवाय दूसरे दर्शनकी व्याख्या होती हो तो उसे भी विचारके लिये श्रवण करना योग्य है।

---

५४५ श्रीखंभात, आसोज सुदी १९५१

सत्यसंबंधी उपदेशका सार.

वस्तुको यथार्थ स्वरूपसे जैसे जानना—अनुभव करना—उसे उसी तरह कहना वह सत्य है। यह सत्य दो प्रकारका है—एक परमार्थ सत्य और दूसरा व्यवहार सत्य।

परमार्थ सत्य अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय समझकर भाषा बोलनेमें, व्यवहारसे देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह आदि वस्तुओंके संबंधमें बोलनेके पहिले, एक आत्माको छोड़कर दूसरा कुछ भी मेरा नहीं है—यह उपयोग रहना चाहिये। अन्य आत्माके संबंधमें बोलते समय उस आत्मामें जाति, लिंग, और उस प्रकारके औपचारिक भेद न होनेपर भी केवल व्यवहारनयसे प्रयोजनके लिये ही उसे संबोधित किया जाता है—इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोला जाय तो वह पारमार्थिक भाषा है, ऐसा समझना चाहिये।

जैसे कोई मनुष्य अपनी आरोपित देहकी, घरकी, स्त्रीकी, पुत्रकी अथवा अन्य पदार्थकी जिस समय बात करता हो, उस समय 'स्पष्टरूपसे उन सब पदार्थोंसे बोलनेवाला मैं भिन्न हूँ, और वे मेरे नहीं हैं,' इस प्रकार बोलनेवालेको स्पष्टरूपसे भान हो तो वह सत्य कहा जाता है। जिस प्रकार कोई ग्रंथकार श्रेणिक राजा और चेलना रानीका वर्णन करता हो, तो वे दोनों आत्मा थे, और केवल श्रेणिकके भवकी अपेक्षासे ही उनका तथा स्त्री, पुत्र, धन, राज्य वगैरहका संबंध था, इस बातके लक्ष्यमें रखनेके पश्चात् बोलनेकी प्रवृत्ति करे—यही परमार्थ सत्य है। व्यवहार सत्यके आये बिना परमार्थ सत्य वचनका बोलना नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहार सत्यको निम्न प्रकारसे जानना चाहियेः—

व्यवहार सत्यः—जिस प्रकारसे वस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनेसे, श्रवण करनेसे अथवा बाँचनेसे हमें अनुभवमें आया हो, उसी प्रकारसे याथातथ्यरूपसे वस्तुका स्वरूप कहने और उस प्रसंगपर वचन बोलनेका नाम व्यवहार सत्य है। जैसे किसीने किसी मनुष्यका लाल घोड़ा जंगलमें दिनके बारह बजे देखा हो, और किसीके पूँछनेपर उसी तरह याथातथ्य वचन बोल देना, यह

व्यवहार सत्य है। इसमें भी यदि किसी प्राणीके प्राणोंका नाश होता हो, और उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो—यद्यपि वह वचन सत्य ही हो—तो भी वह असत्यके ही समान है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना चाहिये। जो सत्यसे विपरीत हो उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुगुंछा ये अज्ञान आदिसे ही बोले जाते हैं। वास्तवमें क्रोध आदि मोहनीयके ही अंग हैं। उसकी स्थिति दूसरे समस्त कर्मोंसे अधिक अर्थात् सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है। इस कर्मके क्षय हुए विना ज्ञानावरण आदि कर्म सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं हो सकते। यद्यपि सिद्धान्तमें पहिले ज्ञानावरण आदि कर्मोंको ही गिनाया है, परन्तु इस कर्मकी महत्ता अधिक है, क्योंकि संसारके मूलभूत राग-द्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिये संसारमें भ्रमण करनेमें इसी कर्मकी मुख्यता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी प्रबलता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीय कर्म भोगे विना निष्फल नहीं होता, सो बात इस कर्मके विषयमें नहीं है। मोहनीय कर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि कषाय तथा नोकषायका अनुक्रमसे क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, सरलता, अदंभता, और संतोष आदिकी विपक्ष भावनाओंसे, अर्थात् केवल विचार करनेमात्रसे ऊपर बताई हुई कषाय निष्फल की जा सकती हैं। नोकषाय भी विचार करनेसे क्षय की जा सकती है; अर्थात् उसके लिये बाह्य कुछ नहीं करना पड़ता। 'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे ही सत्य है। प्रायः करके प्रयोजनके विना नहीं बोलनेका नाम ही मुनिपना है। राग द्वेष और अज्ञानके विना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते हुए या बोलते हुए भी मुनिपना—मौनभाव—समझना चाहिये। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंने इसी तरह विचार कर मौन धारण किया था; और लगभग साढ़े बारह वर्ष मौन धारण करनेवाले भगवान् वीर-प्रभुने इसी प्रकारके उत्कृष्ट विचारपूर्वक आत्मामेंसे फिरा फिराकर मोहनीय कर्मके संबंधको निकाल बाहर करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

आत्मा विचार करे तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहार सत्य-भाषा अनेकबार बोलनेमें आती है, किन्तु परमार्थ सत्य बोलनेमें नहीं आया, इसलिये इस जीवको संसारका भ्रमण मिटता नहीं है। सम्यक्त्व होनेके बाद अभ्याससे परमार्थ सत्य बोला जा सकता है; और बादमें विशेष अभ्यासपूर्वक स्वाभाविक उपयोग रहा करता है। असत्यके बोले विना माया नहीं हो सकती। विश्वासघात करनेका भी असत्यमें ही समावेश होता है। झूठे दस्तावेज लिखानेको भी असत्य जानना चाहिये। तप-प्रधान मान आदिकी भावनासे आत्म-हितार्थ करने जैसा ढोंग बनाना, उसे भी असत्य समझना चाहिये। अखंड सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तो ही सम्पूर्णरूपसे परमार्थ सत्य वचन बोला जा सकता है; अर्थात् तो ही आत्मामेंसे अन्य पदार्थोंसे भिन्नरूप उपयोग होनेसे वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कोई पूँछे कि लोक शाश्वत क्यों कहा गया है, तो उसका कारण ध्यानमें रखकर यदि कोई बोले तो वह सत्य ही समझा जाय।

व्यवहार सत्यके भी दो विभाग हो सकते हैं—एक सर्वथा व्यवहार सत्य और दूसरा देश व्यव-हार सत्य। निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, प्रिय अर्थात् जो वचन अन्यके अथवा जिसके संबंधसे

बोला गया हो उसे प्रीतिकर हो, पथ्य और गुणकारी हो, इसी तरहके सत्य वचन बोलनेवाला प्रायः सर्व विरति त्यागी हो सकता है। संसारके ऊपर भाव न रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकर्मसे अथवा किसी दूसरे कारणसे संसारमें रहनेवाले गृहस्थको एक देशसे सत्य वचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। वह मुख्यरूपसे इस तरह है:—मनुष्यसंबंधी (कन्यासंबंधी), पशुसंबंधी (गायसंबंधी), भूमिसंबंधी (पृथ्वीसंबंधी); झूठी गवाही, और पूँजीको अर्थात् भरोसे-विश्वाससे-रखने योग्य दिये हुए द्रव्य आदि पदार्थको वापिस मँगा लेना, उसके बारेमें इन्कार कर देना—ये पाँच स्थूल भेद हैं। इन वचनोंके बोलते समय परमार्थ सत्यके ऊपर ध्यान रखकर यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारसे वस्तुओंका स्वरूप यथार्थ हो उसी तरह कहनेका, एकदेश व्रत धारण करनेवालेको अवश्य नियम करना योग्य है। इस कहे हुए सत्यके विषयमें उपदेशको विचार कर उस क्रममें आना ही लाभदायक है।

५४६

एवंभूत दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर। ऋजुसूत्र दृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर।

नैगम दृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर। एवंभूत दृष्टिसे नैगम विशुद्ध कर।

संग्रह दृष्टिसे एवंभूत हो। एवंभूत दृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर।

व्यवहार दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा। एवंभूत दृष्टिसे व्यवहारकी निवृत्ति कर।

शब्द दृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा। एवंभूत दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।

समभिरूढ़ दृष्टिसे एवंभूत अवलोकन कर। एवंभूत दृष्टिसे समभिरूढ़ स्थिति कर।

एवंभूत दृष्टिसे एवंभूत हो। एवंभूत स्थितिसे एवंभूत दृष्टिको शमन कर।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

५४७

मैं केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवस्वरूप हूँ।

मात्र व्यवहार दृष्टिसे इस वचनका वक्ता हूँ।

परमार्थसे तो केवल मैं उस वचनसे व्यंजित मूल अर्थरूप हूँ।

तुम्हारेसे जगत् भिन्न है, अभिन्न है, भिन्नाभिन्न है।

भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, यह अवकाश-स्वरूपसे नहीं है।

व्यवहार दृष्टिसे ही उसका निरूपण करते हैं।

—जगत् मेरेमें भासमान होनेसे अभिन्न है, परन्तु जगत् जगत्स्वरूप है। मैं निजस्वरूप हूँ, इस कारण जगत् मेरेसे सर्वथा भिन्न है। उन दोनों दृष्टियोंसे जगत् मेरेसे भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य.

---

५४८ बम्बई, असोज सुदी १२ सोम. १९५१

देखत भूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय—

ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होनेपर भी उसी 'साफ दिखाई देनेवाली भूल'के प्रवाहमें ही जीव बहा चला जा रहा है। ऐसे जीवोंको इस जगत्में क्या कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे—आश्रयसे— वह प्रवाहमें न बहे ?

---

५४९ बम्बई, आसोज सुदी १२, १९५१

वेदांतदर्शन कहता है कि आत्मा असंग है। जिनदर्शन भी कहता है कि परमार्थनयसे आत्मा असंग ही है। इस असंगताका सिद्ध होना—परिणत होना—यह मोक्ष है। प्रायः करके उस प्रकारकी साक्षात् असंगता सिद्ध होनी असंभव है, और इसीलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जिसे सब दुःख क्षय करनेकी इच्छा है, ऐसे मुमुक्षुको सत्संगकी नित्य ही उपासना करनी चाहिये, ऐसा जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

---

५५० बम्बई, आसोज सुदी १३ भोम. १९५१

समस्त विश्व प्रायः करके पर-कथा और पर-वृत्तिमें बहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो ? ऐसे अमूल्य मनुष्यभवको एक समय भी पर-वृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, उसका उपाय कुछ विशेषरूपसे खोजना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषका निश्चय होकर अंतर्भेद न रहे तो आत्म-प्राप्ति सर्वथा सुलभ है—इस प्रकार ज्ञानी पुकार पुकार कर कह गये हैं, फिर भी न मालूम लोग क्यों भूलते हैं ?

---

५५१ बम्बई, आसोज सुदी १३, १९५१

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह विस्मरण न हो जाय, इतना उपयोग करके क्रमपूर्वक भी उसमें अवश्य परिणति करना योग्य है। मुमुक्षु जीवमें त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्तिके सहज स्वभावरूप किये बिना आत्म-दशा कैसे आवे ? किन्तु शिथिलतासे, प्रमादसे यह बात विस्मृत हो जाती है।

---

५५२ बम्बई, आसोज वदी ३ रवि. १९५१

अनादिसे विपरीत अभ्यास चला आ रहा है, उससे वैराग्य उपशम आदि भावोंकी परिणति एकदम नहीं हो सकती, अथवा होनी कठिन पड़ती है; फिर भी निरन्तर उन भावोंके प्रति लक्ष रखनेसे सिद्धि अवश्य होती है। यदि सत्समागमका योग न हो तो वे भाव जिस प्रकारसे वृद्धिंगत हों, उस प्रकारके द्रव्य क्षेत्र आदिकी उपासना करनी, सत्शास्त्रका परिचय करना योग्य है। सब कार्योंकी

प्रथम भूमिका ही कठिन होती है, तो फिर अनंतकालसे अनभ्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सहजात्मस्वरूपसे प्रणाम।

५५३

मोहमयी, आसोज वदी ११, १९५१

'समज्या ते शमाइ रह्या' तथा 'समज्या ते शमाई गया'—इन वाक्योंका क्या कुछ भिन्न अर्थ होता है? तथा दोनोंमें कौनसा वाक्य विशेषार्थका वाचक मालूम होता है, तथा समझने योग्य क्या है? और ध्यान किसे करना चाहिये? तथा समुच्चय वाक्यका एक परमार्थ क्या है? वह विचार करने योग्य है—विशेषरूपसे विचार करने योग्य है। और जो विचारमें आवे तथा विचार करनेसे इन वाक्योंका विशेष परमार्थ लक्षमें आया हो तो उसे लिखना बने तो लिखना।

५५४

जो सुखकी इच्छा न करता हो वह या तो नास्तिक है या सिद्ध है अथवा जड़ है।

५५५

दुःखके नाश करनेकी सब जीव इच्छा करते हैं।

दुःखका आत्यंतिक अभाव कैसे हो? उसे न बतानेसे दुःख उत्पन्न होना संभव है। उस मार्गको दुःखसे छूटनेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण यह मुख्यरूपसे दुःख है। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज राग-द्वेष है। अथवा इसके निम्न पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग।

पहिले कारणका अभाव होनेपर दूसरेका अभाव, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, और अन्तमें पाँचवें कारणका अभाव होता है, यह अभाव होनेका क्रम है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है। अविरति गौण मोह है।

प्रमाद और कषायका अविरतिमें अंतर्भाव हो सकता है। योग सहचारीपनेसे उत्पन्न होता है। चारोंका नाश हो जानेके बाद भी पूर्व हेतुसे योग हो सकता है।

५५६

बम्बई, आसोज १९५१

सब जीवोंको अप्रिय होनेपर भी जिस दुःखका अनुभव करना पड़ता है, वह दुःख सकारण होना चाहिये। इस भूमिकासे मुख्यतया विचारवानकी विचारश्रेणी उदित होती है, और उसीपरसे क्रमसे आत्मा, कर्म परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा मालूम होता है।

वर्त्तमानमें जो अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिये, और भविष्यमें भी वैसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आश्रय मुमुक्षु जीवको करना

उचित है। किसी भी वस्तुका पूर्व-पश्चात् अस्तित्व न हो तो उसका अस्तित्व मध्यमें भी नहीं होता— यह अनुभव विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्वथा उत्पत्ति अथवा सर्वथा नाश नहीं होता—उसका अस्तित्व सर्वकालमें है; रूपांतर-परिणाम ही हुआ करता है, वस्तुत्वमें परिवर्तन नहीं होता—यह श्रीजिनका जो अभिमत है, वह विचारने योग्य है।

षड्दर्शनसमुच्चय कुछ कुछ गहन है, तो भी फिर फिरसे विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा।

ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है, त्यों त्यों ज्ञानीके वचनोंका विचार यथायोग्य रीतिसे हो सकता है। सर्वज्ञानका फल भी आत्म-स्थिरता होना ही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

५५७

निर्वाणमार्ग अगम अगोचर है, इसमें संशय नहीं। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रय बिना उस मार्गकी खोज करना असंभव है, ऐसा बारंबार दिखाई देता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्रीसद्गुरु-चरणके आश्रयपूर्वक जिसे बोध-बीजकी प्राप्ति हुई हो, ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समागमका नित्य आराधन करना चाहिये। जगत्के प्रसंगको देखनेसे ऐसा माळूम पड़ता है कि वैसे समागम और आश्रयके बिना निरालंब बोधका स्थिर रहना कठिन है।

५५८

ॐ

दृश्यको जिसने अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया, ऐसे ज्ञानी-पुरुषोंका आश्चर्यकारक अनंत ऐश्वर्य वीर्य-वाणीसे कहा जा सकना संभव नहीं।

५५९

बीती हुई एक पल भी पीछे नहीं मिलती और वह अमूल्य है, तो फिर समस्त आयु-स्थितिकी तो बात ही क्या है? एक पलका भी हीन उपयोग यह एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेके अपेक्षा भी विशेष हानिकारक है, तो फिर ऐसी साठ पलकी एक घड़ीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे समस्त आयु-स्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण होना संभव है, यह विचार शुद्ध हृदयसे करनेसे तुरत ही आ सकेगा।

सुख और आनन्द सब प्राणियों, सब जीवों, सब सत्त्वों, और सब जंतुओंको निरन्तर प्रिय है फिर भी वे दुःख और आनन्दको भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिये? तो उत्तर मिलता है कि अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग होते हुए रोकनेके लिये प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिये। परन्तु किस साधनके द्वारा?

५६०

जिन पुरुषोंकी अंतर्मुखदृष्टि हो गई है, उन पुरुषोंको भी श्रीवीतरागने सतत जागृतिरूप ही उपदेश किया है; क्योंकि अनंतकालके अध्यासयुक्त पदार्थोंका जो संग रहता है, वह न जाने किस दृष्टिको आकर्षित कर ले, यह भय रखना उचित है।

जब ऐसी भूमिकामें भी इस प्रकार उपदेश दिया गया है तो फिर जिसकी विचार-दशा है ऐसे मुमुक्षु जीवको सतत जागृति रखना योग्य है, ऐसा न कहा गया हो, तो भी यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षु जीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अध्यास होने योग्य पदार्थ आदिका त्याग हो, उस उस प्रकारसे अवश्य करना उचित है। यद्यपि आरंभ परिग्रहका त्याग स्थूल दिखाई देता है, फिर भी अंतर्मुखवृत्तिका हेतु होनेसे बारम्बार उसके त्यागका ही उपदेश किया है।

चलाता है, और तीर्थका भेद पैदा करता है, ऐसा महामोहसे मूढ जीव लिंगाभासपनेसे आज भी वीतरागदर्शनको घेरकर बैठा हुआ है—यही असंयतिपूजा नामका आश्चर्य माल्म होता है।

महात्मा पुरुषोंकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व और परको मोक्षमार्गके सन्मुख करनेवाली होती है। लिंगाभासी जीव अपने बलको मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें प्रवर्तमान देखकर हर्षित होते हैं; और वह सब, कर्म-प्रकृतिमें बढ़ते हुए अनुभाग और स्थितिबंधका ही स्थानक है, ऐसा मैं मानता हूँ।—(अपूर्ण.)

(५)

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु—तत्त्व—पदार्थ। इसमें मुख्य तीन अधिकार हैं।

प्रथम अधिकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य भेद कहे हैं।

दूसरे अधिकारमें जीव और अजीवका परस्पर संबंध और उससे जीवका क्या हिताहित होता है, उसे समझानेके लिये, उसकी विशेष पर्यायरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है। ये सातों तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें समाविष्ट हो जाते हैं।

तीसरे अधिकारमें यथास्थित मोक्षमार्गका प्रदर्शन किया है, जिसको लेकर ही समस्त ज्ञानीपुरुषोंका उपदेश है।

पदार्थके विवेचन और सिद्धांतपर जिनकी नींव रक्खी गई है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिबोध करते हैं, ऐसे दर्शन छह हैं:—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसक और (६) वैशेषिक। यदि वैशेषिकदर्शनका न्यायदर्शनमें अंतर्भाव किया जाय तो नास्तिक-विचारका प्रतिपादन करनेवाला छट्ठा चार्वाकदर्शन अलग गिना जाता है।

प्रश्नः—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा ये वेद-परिभाषामें छह दर्शन माने गये हैं, परन्तु यहाँ तो आपने इन दर्शनोंको जुदा पद्धतिसे ही गिनाया है। इसका क्या कारण है?

समाधानः—वेद-परिभाषामें बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिये उन्हें उस दृष्टिसे गिना गया है; और उपरोक्त क्रम तो विचारकी परिपाटीके भेदसे बताया है। इस कारण यही क्रम योग्य है।

द्रव्य और गुणका जो अनन्यत्व—अभेद—बताया गया है वह प्रदेशभेद-रहितपना ही है—क्षेत्रभेद-रहितपना नहीं। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश होता है और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है, इस तरह दोनोंका ऐक्यभाव है। द्रव्य और गुणका जो भेद कहा है, वह केवल कथनकी अपेक्षा है, वास्तविक दृष्टिसे नहीं। यदि संस्थान और संख्याविशेषके भेदसे ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन हो जाँय—यह सर्वज्ञ वीतरागका सिद्धांत है। आत्मा ज्ञानकी साथ समवाय संबंधसे ज्ञानी नहीं है। समवृत्तिको समवाय कहते हैं।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-परमाणु, द्रव्यके गुण हैं।————(अपूर्ण)

(६)

यह अत्यंत सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दुःख प्रतिकूल और अप्रिय है, तथा सुख अनुकूल और प्रिय है। उस दुःखसे रहित होनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्राणीमात्रका प्रयत्न रहता है।

अनंत ज्ञानी-पुरुषोंका अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम मोक्षमार्ग जीवके लक्षमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शान्त करते हैं। सत्संग सद्विचारसे शान्त करनेतकके समस्त पद अत्यंत सत्य हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और सन्देहरहित हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ.

---

५६२ बम्बई, कार्तिक सुदी ३ सोम. १९५२

श्रीवेदान्तमें निरूपित मुमुक्षु जीवका लक्षण तथा श्रीजिनद्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण मनन करने योग्य है (यदि उस प्रकारका योग न हो तो बाँचने योग्य है), विशेषरूपसे मनन करने योग्य है—आत्मामें परिणमाने योग्य है। अपने क्षयोपशम-बलको कम जानकर, अहं-ममता आदिके पराभव होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना चाहिये—विशेष संग-प्रसंगको कम करना चाहिये।

---

५६३ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ गुरु. १९५२

(१) आत्म-हेतुभूत संगके सिवाय मुमुक्षु जीवको सर्वसंगको घटाना ही योग्य है; क्योंकि उसके बिना परमार्थका आविर्भूत होना कठिन है। और उस कारण श्रीजिनने यह व्यवहार–द्रव्यसंयमरूप साधुत्व उपदेश किया है। सहजात्मस्वरूप.

(२) अंतर्लक्षकी तरह हालमें जो वृत्ति वर्तन करती हुई दिखाई देती है, वह उपकारक है, और वह वृत्ति क्रमपूर्वक परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारक होती है। हालमें सुंदरदासजीके ग्रंथ अथवा श्रीयोगवासिष्ठ बाँचना। श्रीसौभाग यहीं हैं।

१०. १०. १८९५

(३) निशदिन नैनमें नींद न आवे, नर तबहि नारायन पावे।

—सुंदरदासजी.

---

५६४ बम्बई, मंगसिर सुदी १० मंगल. १९५२

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निजके दोष देखनेमें दृढ़ लक्ष रहे, और सत्समागम सत्शास्त्रमें बढ़ती हुई परिणतिसे परम भक्ति रहा करे, उस प्रकारका आत्मभाव करते हुए तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा-विशेष प्राप्त करते हुए जो यथार्थ समाधिको योग्य हो, ऐसा लक्ष रखना—यह कहा था।

५६५

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सब भूमिकाओंमें सर्वसंगका परित्याग बलवान उपकारी है, यह समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने अनगारत्वका निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसंग-परित्याग, यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना संभव है, यह जानते हुए भी यदि नित्य सत्संगमें ही निवास हो तो

वैसा समय प्राप्त हो सकता है, ऐसा जानकर ज्ञानी-पुरुषोंने सामान्य रीतिसे बाह्य सर्वसंग-परित्यागका उपदेश दिया है, जिस निवृत्तिके संयोगसे शुभेच्छावान जीव सद्गुरु सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथा-योग्य उपासना कर यथार्थ बोधको प्राप्त करे।

---

५६६ बम्बई, पौष सुदी ६ रवि. १९५२

दो अभिनिवेशोंके मार्ग-प्रतिबंधक रहनेसे जीव मिथ्यात्वका त्याग नहीं कर सकता। वे अभिनिवेश दो प्रकारके हैं—एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय। क्रम क्रमसे सत्समागमके संयोगसे जीव यदि उस अभिनिवेशको छोड़ दे तो मिथ्यात्वका त्याग होता है—इस प्रकार ज्ञानी-पुरुषोंसे शास्त्र आदिद्वारा वारम्वार उपदेश दिये जानेपर भी जीव उसे छोड़नेके प्रति क्यों उपेक्षित होता है? यह बात विचारने योग्य है।

५६७

सब दुःखोंका मूल संयोग (संबंध) है, ऐसा ज्ञानवंत तीर्थकरोंने कहा है। समस्त ज्ञानी-पुरुषोंने ऐसा देखा है। वह संयोग मुख्यरूपसे दो तरहसे कहा है—अंतरसंबंधी और बाह्यसंबंधी। अंतर्संयोगका विचार होनेके लिए आत्माको बाह्य संयोगका अपरिचय करना चाहिये, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानी-पुरुषोंने भी की है।

५६८

[1]श्रद्धाज्ञान लह्यां छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे;
वंध्य तरू उपम ते पामे, संयम ठाण जो नायो रे।
गायो रे, गायो, भले वीर जगत् गुरु गायो।

---

५६९ बम्बई, पौष सुदी ८ भौम. १९५२

आत्मार्थके सिवाय, जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मान रक्खी है, वह सब शास्त्रीय अभिनिवेश है। स्वच्छंदता तो दूर नहीं हुई, और सत्समागमका संयोग प्राप्त हो गया है, उस योगमें भी स्वच्छंदताके निर्वाहके लिए शास्त्रके किसी एक वचनको जो बहुवचनके समान बताता है; तथा शास्त्रको, मुख्य साधन ऐसे सत्समागमके समान कहता है, अथवा उसपर उससे भी अधिक भार देता है, उस जीवको भी अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है।

---

१ श्रद्धा और ज्ञानके प्राप्त कर लेनेपर भी तथा संयमसे युक्त होनेपर भी यदि प्रमादका नाश नहीं हुआ तो जीव फलरहित वृक्षकी उपमाको प्राप्त होता है।

आत्माके समझनेके लिए शास्त्र उपकारी हैं, और वे भी स्वच्छंद रहित पुरुषोंको ही हैं—इतना लक्ष रखकर यदि सत्शास्त्रका विचार किया जाय तो वह शास्त्रीय अभिनिवेश गिने जाने योग्य नहीं है। संक्षेपसे ही लिखा है।

५७०

मोहमयी क्षेत्रसंबंधी उपाधिका परित्याग करनेके अभी आठ महीने और दस दिन बाकी हैं, और उसका परित्याग होना संभव है।

दूसरे क्षेत्रमें उपाधि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी क्षेत्रकी उपाधिके त्याग करनेका विचार रखा करता है, यह बात नहीं है।

परन्तु जबतक सर्वसंग-परित्यागरूप योगका निरावरण न हो, तबतक जो गृहाश्रम रहे, उस गृहाश्रममें काल व्यतीत करनेके विषयमें विचार करना चाहिये; क्षेत्रका विचार करना चाहिये; जिस व्यवहारमें रहना है, उस व्यवहारका विचार करना चाहिये। क्योंकि पूर्वापर अविरोध भाव न हो तो रहना कठिन है।

५७१

भू.—	ब्रह्म.
स्थापना.—	ध्यान.
मुख.—	योगबल.
ब्रह्मग्रहण.	निर्ग्रंथ आदि सम्प्रदाय.
ध्यान.	निरूपण.
योगबल.	भू. स्थापना. मुख. सर्वदर्शन अविरोध.
स्वायु-स्थिति.	
आत्मबल.	

५७२

आहारका जय.	निद्राका जय.
आसनका जय.	वाक्संयम.

जिनोपदिष्ट आत्मध्यान.

जिनोपदिष्ट आत्मध्यान किस तरह हो सकता है?

जिनोपदिष्ट ज्ञानके अनुसार ध्यान हो सकता है, इसलिये ज्ञानका तारतम्य चाहिये।

क्या विचार करते हुए, क्या मानते हुए, क्या दशा रहते हुए चौथा गुणस्थानक कहा जाता है?

किसके द्वारा चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानमें आते हैं?

---

५७३ बम्बई, पौष वदी १९५२

योग असंख जे जिन कह्या, घटमांहि रिद्धि दाखी रे।
नवपद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे॥

श्रीश्रीपाळरास.

५७४

ॐ

गृह आदि प्रवृत्तिके योगसे उपयोगका विशेष चंचल रहना संभव है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वसंग-परित्यागका उपदेश करते हुए।

---

५७५ बम्बई, पौष वदी २, १९५२

ॐ

सब प्रकारके भयके निवास-स्थानरूप इस संसारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है.

महान् मुनियोंको भी जो वैराग्य-दशा प्राप्त होनी दुर्लभ है, वह वैराग्य-दशा तो प्रायः जिन्हें गृहवासमें ही रहती थी, ऐसे श्रीमहावीर ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घर छोड़कर चले गये, यही त्यागकी उत्कृष्टता बताई गई है।

जबतक गृहस्थ आदि व्यवहार रहे तबतक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आत्मज्ञान हो उसे गृहस्थ आदि व्यवहार न हो, ऐसा नियम नहीं है। वैसा होनेपर भी ज्ञानीको भी परम पुरुषोंने व्यवहारके त्यागका उपदेश किया है; क्योंकि त्याग आत्म-ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है। उससे और लोकको उपकारभूत होनेके कारण त्यागको अकर्त्तव्य-लक्षसे करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

निजस्वरूपमें स्थिति होनेको परमार्थ संयम कहा है। उस संयमके कारणभूत ऐसे अन्य निमित्तोंको ग्रहण करनेको व्यवहार संयम कहा है। किसी भी ज्ञानी-पुरुषने उस संयमका निषेध नहीं किया। किन्तु परमार्थकी उपेक्षा (बिना लक्षके) से जो व्यवहार संयममें ही परमार्थ संयमकी मान्यता रक्खे, उसका अभिनिवेश दूर करनेके ही लिए उसको व्यवहार संयमका निषेध किया है। किन्तु व्यवहार संयममें कुछ भी परमार्थका निमित्त नहीं है—ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंने नहीं कहा।

परमार्थके कारणभूत व्यवहार संयमको भी परमार्थ संयम कहा है।

---

१ श्रीपाल्रासमें निम्न दो पद्य इस तरह दिये हुए हैं—

अष्ट सकल समृद्धिनी, घटमांहि ऋद्धि दाखी रे। तिम नवपद ऋद्धि जाणजो, आतमराम छे साखी रे॥
योग असंख्य छे जिन कह्या नवपद मुख्य ते जाणो रे। एह तणे अवलंबने आतमध्यान प्रमाणो रे।

अर्थः—जिस तरह अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियोंकी सम्पूर्णता घटमें दिखाई गई है, उसी तरह नवपदकी ऋद्धिको भी घटमें ही समझना चाहिये—इसकी आत्मा साक्षी है॥ श्रीजिनभगवानने जो असंख्यात योग कहे हैं, उन सबमें इस नवपदको मुख्य समझना चाहिये। अतएव इस नवपदके आलंबनसे जो आत्म-ध्यान करना है, वही प्रमाण है।

अनुवादक.

'प्रारब्ध है', ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मालूम नहीं होता। परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखाई देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्षका नित्य सेवन करता है।

---

५७६ बंबई, पौष वदी ९ गुरु. १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो.

ज्ञानी-पुरुषोंने बारम्बार आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, और फिर फिरसे उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अवश्य ही उसकी अल्पता करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

कौन कौनसे प्रतिबंधसे जीव आरम्भ-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, और वह प्रतिबंध किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी समाधान फल लाना योग्य है। यदि वैसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग होना किस प्रकारसे कहा जाय, इसका पहले विचार कर, पीछेसे उपरोक्त विचार-अंकुरको मुमुक्षु जीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है।

---

५७७ बम्बई, पौष वदी १३ रवि. १९५२

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं, उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे यदि उनका वास उसमें हुआ भी तो उन्होंने अमूर्च्छित-भावसे उदासीनभावसे उसे प्रारब्धोदय समझकर ही आचरण किया है, और त्याग करनेका ही लक्ष रक्खा है।

५७८

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग, और मृत्यु इन चारोंको, एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सब उपायोंसे अजेय समझकर, उनकी उत्पत्तिके हेतुभूत संसारको छोड़ कर चले जाते हुए। श्रीऋषभ आदि अनंत ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायकी उपासना की है, और सब जीवोंको उस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्लभ देखकर, निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अशरणको निश्चल शरणरूप और सुगम है।

---

५७९ बम्बई, माघ सुदी ४ रवि. १९५२

असंग आत्मस्वरूपको सत्संगका संयोग मिलनेपर सबसे सुलभ कहना योग्य है, इसमें संशय नहीं है। सब ज्ञानी-पुरुषोंने अतिशयरूपसे जो सत्संगका माहात्म्य कहा है, वह यथार्थ है। इसमें विचारवानको किसी तरहका विकल्प करना उचित नहीं है।

---

५८० बम्बई, फाल्गुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सब व्यवहार परमार्थ-मूलक होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार प्रवृत्ति करेगा, उस दिनको धन्य है।

सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय जो आत्मज्ञान कहा है, वह ज्ञानी-पुरुषोंका वचन सच्चा है—अत्यंत सच्चा है।

जबतक जीवको तथारूप आत्मज्ञान न हो तबतक आत्यंतिक बंधनकी निवृत्ति होना संभव नहीं, इसमें सशंय नहीं है।

उस आत्मज्ञानके होनेतक जीवको 'मूर्त्तिमान आत्मज्ञान स्वरूप' सद्गुरुदेवका आश्रय निरन्तर अवश्य ही करना चाहिये, इसमें संशय नहीं है। जब उस आश्रयका वियोग हो तब नित्य ही आश्रय-भावना करनी चाहिये।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेके पूर्व यदि उपदेश कार्य-करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थ मार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐसे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषके गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभावना और सत्पुरुषके प्रति अविरोध भावनाका लोगोंको उपदेश देता है; जिस तरह मत-मतांतरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमान कालमें उस क्रमकी विशेष हानि होगी, ऐसा समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने इस कालको दुःषमकाल कहा है। और वैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

सब कार्योंमें कर्त्तव्य केवल आत्मार्थ ही है—यह भावना मुमुक्षु जीवको नित्य करनी चाहिये।

---

५८१ बम्बई, फाल्गुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

(१) हालमें विस्तारपूर्वक पत्र लिखना नहीं होता, उससे चित्तमें वैराग्य उपशम आदिके विशेष प्रदीप्त रहनेमें सत्शास्त्रको ही एक विशेष आधारभूत निमित्त समझकर श्रीसुंदरदास आदिके ग्रंथोंका हो सके तो दोसे चार घड़ीतक जिससे नियमित वाचना-पृच्छना हो वैसा करनेके लिए लिखा था। श्रीसुंदरदासजीके ग्रंथका आदिसे लेकर अंततक हालमें विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिए विनती है।

(२) कायाके रहनेतक माया (अर्थात् कषाय आदि) संभव रहे, ऐसा श्री......को लगता है, वह अभिप्राय प्रायः (बहुत करके) तो यथार्थ ही है। तो भी किसी पुरुष-

विशेषमें सर्वथा—सब प्रकारकी—संज्वलन आदि कषायका अभाव होना संभव माल्म होता है, और उसके अभाव हो सकनेमें संदेह नहीं होता। उससे कायाके होनेपर भी कषायरहितपना संभव है—अर्थात् सर्वथा राग-द्वेषरहित पुरुष हो सकता है। यह पुरुष राग-द्वेषरहित है, इस प्रकार सामान्य जीव बाह्य चेष्टासे जान सकें, यह संभव नहीं। परन्तु इससे वह पुरुष कषायरहित—सम्पूर्ण वीतराग—न हो, ऐसे अभिप्रायको विचारवान सिद्ध नहीं करते। क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्म-दशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, यह नहीं कहा जा सकता।

(३) श्रीसुंदरदासने आत्मजागृत-दशामें 'सूरातन अंग' कहा है, उसमें विशेष उल्लासित-परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है:—

> मारे काम क्रोध जिनि लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्रीऊ कतल करी कियो रजपूतो है;
> मार्यो महामत्त मन मार्यो अहंकार मीर, मारे मद मच्छर हू, ऐसो रन रूतो है।
> मारी आसा तृष्णा सोऊ पापिनी सापिनी दोऊ, सबको प्रहार करि निज पदइ पहूतौ है;
> सुंदर कहत ऐसो साधु कोऊ सूरवीर, वैरी सब मारिके निचिंत होइ सूतौ है।
>
> श्रीसुंदरदास—सूरातन अंग ११वाँ कवित्त.

५८२

ॐ नमः

सर्वज्ञ.   जिन.   वीतराग.

सर्वज्ञ है.

राग-द्वेषका अत्यंत क्षय हो सकता है।

ज्ञानके प्रतिबंधक राग-द्वेष हैं।

ज्ञान, जीवका स्वत्वभूत धर्म है।

जीव एक अखंड सम्पूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञान सामर्थ्य-सम्पूर्ण है।

५८३

सर्वज्ञ-पद बारम्बार श्रवण करने योग्य, बाँचने योग्य, विचार करने योग्य, लक्ष करने योग्य और स्वानुभव-सिद्ध करने योग्य है।

५८४

सर्वज्ञदेव.	सर्वज्ञदेव.
निर्ग्रंथ गुरु.	निर्ग्रंथ गुरु.
उपशममूल धर्म.	दयामूल धर्म.

सर्वज्ञदेव.
निर्ग्रंथ गुरु.
सिद्धांतमूल धर्म.

सर्वज्ञदेव.
निर्ग्रंथ गुरु.
जिनाज्ञामूल धर्म.

सर्वज्ञका स्वरूप.
निर्ग्रंथका स्वरूप.
धर्मका स्वरूप.
सम्यक् क्रियावाद.

५८५

ॐ नमः

प्रदेश. समय. परमाणु.	द्रव्य. गुण. पर्याय.	जड़. चेतन.

---

५८६ बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि. १९५२

श्री सद्गुरु प्रसाद

यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले ही जिन जीवोंको उपदेशकपना रहता हो उन जीवोंको, जिस प्रकारसे वैराग्य उपशम और भक्तिका लक्ष हो, उस प्रकारसे समागममें आये हुए जीवोंको उपदेश देना योग्य है; और जिस तरह उन्हें नाना प्रकारके असद् आग्रहका तथा सर्वथा वेष व्यवहार आदिका अभिनिवेश कम हो, उस प्रकारसे उपदेश फलीभूत हो, वैसे आत्मार्थ विचार कर कहना योग्य है। क्रम क्रमसे वे जीव जिससे यथार्थ मार्गके सन्मुख हों, ऐसा यथाशक्ति उपदेश करना चाहिये।

---

५८७ बम्बई, फाल्गुन वदी ३ सोम. १९५२

देहधारी होनेपर भी जो निरावरण ज्ञानसहित रहते हैं, ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार हो.

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानी-पुरुषमें सर्व कषायका अभाव होना संभव है, यह जो हमने लिखा है, सो उस प्रसंगमें अभाव शब्दका अर्थ क्षय समझकर ही लिखा है।

प्रश्नः—जगत्वासी जीवको राग-द्वेष नाश हो जानेकी खबर नहीं पड़ती। और जो महान् पुरुष हैं वे जान लेते ह कि इस महात्मा पुरुषमें राग-द्वेषका अभाव अथवा उपशम रहता है—ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि 'जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानी-पुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षु जीव जान लेते हैं, उसी तरह जगत्के जीव भी क्यों नहीं जानते? उदाहरणके लिये मनुष्य आदि प्राणियोंको देखकर जैसे जगत्-वासी जीव जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं, उसी तरह महात्मा पुरुष भी मनुष्य आदिको जानते हैं; इन

पदार्थोंको देखनेसे दोनों ही समानरूपसे जानते हैं, और प्रस्तुत प्रसंगमें तो जाननेमें भेद पाया जाता है, उस भेदके होनेका क्या कारण है, यह मुख्यरूपसे विचार करना योग्य है।'

उत्तरः—मनुष्य आदिको जो जगत्वासी जीव जानते हैं, वे दैहिक स्वरूपसे तथा दैहिक चेष्टासे ही जानते हैं। एक दूसरेकी मुद्रामें आकारमें और इन्द्रियोंमें जो भेद है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जगत्वासी जीव जान सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगत्वासी जीव अनुमानसे जान सकते हैं, क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है। परन्तु जो ज्ञानदशा अथवा वीतराग दशा है, वह मुख्यरूपसे दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टाका विषय नहीं है—वह अंतरात्माका ही गुण है। और अंतरात्मभाव बाह्य जीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जिन्हें तथारूप अनुमान भी हो ऐसे जगत्वासी जीवोंको प्रायः करके वैसा संस्कार न होनेसे वे, ज्ञानी अथवा वीतरागको नहीं पहिचान सकते। कोई कोई जीव ही सत्समागमके संयोगसे, सहज शुभ कर्मके उदयसे और तथारूप कुछ संस्कार प्राप्त कर, ज्ञानी अथवा वीतरागको यथाशक्ति पहिचान सकते हैं। फिर भी सच्ची सच्ची पहिचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त उपदेशका अवधारण करनेपर, और अन्तरात्म-वृत्ति परिणमित होनेपर ही जीव, ज्ञानी अथवा वीतरागको पहिचान सकता है। जगत्वासी अर्थात् जो जगत्-दृष्टि जीव हैं, उनकी दृष्टिसे ज्ञानी अथवा वीतरागकी सच्ची सच्ची पहिचान कहाँसे हो सकती है? जैसे अन्धकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्य-चक्षु नहीं देख सकती; उसी तरह देहमें रहनेवाले ज्ञानी अथवा वीतरागको जगत्-दृष्टि जीव नहीं पहिचान सकता। जैसे अंधकारमें पड़े हुए पदार्थको देखनेके लिये प्रकाशकी अपेक्षा रहती है, उसी तरह जगत्-दृष्टि जीवोंको ज्ञानी अथवा वीतरागकी पहिचानके लिये विशेष शुभ संस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है। यदि वह संयोग प्राप्त न हो, तो जैसे अंधकारमें पड़ा हुआ पदार्थ और अंधकार, दोनों ही एकरूप भासित होते हैं—उनमें भेद नहीं भासित होता—उसी तरह तथारूप योगके बिना ज्ञानी अथवा अन्य संसारी जीवोंकी एकाकारता भासित होती है—उनमें देह आदि चेष्टासे प्रायः करके भेद भासित नहीं होता।

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायरहित हो गया है, उस देहधारी महात्माको त्रिकाल परमभक्तिसे नमस्कार हो! नमस्कार हो! वह महात्मा जहाँ रहता है, उस देहको, भूमिको, घरको, मार्गको, आसन आदि सबको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

५८८ बम्बई, चैत्र सुदी १ रवि. १९५२

(१)

प्रारब्धोदयसे जिस प्रकारका व्यवहार प्रसंगमें रहता है, उसके प्रति दृष्टि रखते हुए जैसे पत्र आदि लिखनेमें अल्पतासे प्रवृत्ति होती है, वैसा अधिक योग्य है—यह अभिप्राय प्रायः करके रहा करता है।

आत्माके वास्तविकरूपसे उपकारभूत ऐसे उपदेश करनेमें ज्ञानी-पुरुष अल्पभावसे वर्ताव न करें, ऐसा प्रायः करके होना संभव है; फिर भी निम्न दो कारणोंद्वारा ज्ञानी-पुरुष भी उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करते हैं:—

(१) उस उपदेशका जिज्ञासु जीवमें जिस तरह परिणमन हो, ऐसे संयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा उस उपदेशके विस्तारसे करनेपर भी उसमें उसके ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानी-पुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें अल्पभावसे प्रवृत्ति करता है।

(२) अथवा अपनेको बाह्य व्यवहार ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवको परिणमन होनेमें प्रतिबंधरूप हो, अथवा तथारूप कारणके बिना वैसा बर्ताव कर वह मुख्य-मार्गके विरोधरूप अथवा संशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो, तो भी ज्ञानी-पुरुष उपदेशमें अल्पभावसे ही प्रवृत्ति करता है अथवा मौन रहता है।

(२)

सर्वसंग-परित्याग कर चले जानेसे भी जीव उपाधिरहित नहीं होता। क्योंकि जबतक अंतर्परिणतिपर दृष्टि न हो और तथारूप मार्गमें प्रवृत्ति न हो, तबतक सर्वसंग-परित्याग भी नाम मात्र ही होता है। और वैसे अवसरमें भी अंतर्परिणतिपर दृष्टि देनेका भान जीवको आना कठिन है। तो फिर ऐसे गृह-व्यवहारमें लौकिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अंतर्परिणतिपर दृष्टि रख सकना कितना दुःसाध्य होना चाहिये, उसपर भी विचार करना योग्य है। तथा वैसे व्यवहारमें रहकर जीवको अन्तर्परिणतिपर कितना बल रखना उचित है, वह भी विचारना चाहिये, और अवश्य वैसा करना चाहिये।

अधिक क्या लिखें? जितनी अपनी शक्ति हो उस सर्व शक्तिसे एक लक्ष रखकर, लौकिक अभिनिवेशको अल्प कर, कुछ भी अपूर्व निरावरणपना दिखाई नहीं देता, इसलिये 'समझ लेनेका केवल अभिमान ही है,' इस प्रकार जीवको समझाकर, जिस प्रकारसे जीव ज्ञान दर्शन और चारित्रमें सतत जागृत हो, उसीके करनेमें वृत्ति लगाना, और रात दिन उसी चिंतनमें प्रवृत्ति करना, यही विचारवान जीवका कर्त्तव्य है। और उसके लिये सत्संग, सत्शास्त्र और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत हैं, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना उचित है।

जबतक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, दैहिक-मान, कुल, जाति आदिसंबंधी मोह अथवा विशेष मान हो, उस बातका त्याग न करना हो, अपनी बुद्धिसे—स्वेच्छासे—अमुक गच्छ आदिका आग्रह रखना हो, तबतक जीवको अपूर्व गुण कैसे उत्पन्न हो सकता है? उसका विचार सुगम है।

हालमें अधिक लिखा जा सके इस प्रकारका यहाँ उदय नहीं है। तथा अधिक लिखना अथवा कहना भी किसी किसी प्रसंगमें ही होने देना योग्य है।

तुम्हारी विशेष जिज्ञासासे प्रारब्धोदयका वेदन करते हुए जो कुछ लिखा जा सकता था, उसकी अपेक्षा भी कुछ कुछ उदीरणा करके विशेष ही लिखा है।

---

५८९ बम्बई, चैत्र सुदी २ सोम. १९५२

ॐ

जिसमें क्षण भरमें हर्ष और क्षण भरमें शोक हो आवे, ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानी-पुरुष समदशासे रहते हैं, उन्हें अत्यंत भक्तिसे धन्य मानते हैं; और सब मुमुक्षु जीवोंको इसी दशाकी उपासना करना चाहिये, ऐसा निश्चय समझकर परिणति करना योग्य है।

---

५९० बम्बई, चैत्र सुदी ११, १९५२

ॐ सद्गुरुचरणाय नमः

१ जिस ज्ञानमें देह आदि अध्यास दूर हो गया है, और दूसरे पदार्थमें अहंता-ममता नहीं रही, तथा उपयोग निज स्वभावमें परिणमता है, अर्थात् ज्ञानस्वरूपताका सेवन करता है, उस ज्ञानको 'निरावरण-ज्ञान' कहना चाहिये।

२. सब जीवोंको अर्थात् सामान्य मनुष्योंको ज्ञानी-अज्ञानीकी वाणीका भेद समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है। क्योंकि बहुतसे शुष्कज्ञानी शिक्षा प्राप्त करके यदि ज्ञानी जैसा उपदेश करें, तो उसमें वचनकी समानता देखनेसे, सामान्य मनुष्य शुष्कज्ञानीको भी ज्ञानी मान लें, और मंद-दशावाले मुमुक्षु जीवोंको भी उन वचनोंसे भ्रांति हो जाय। परन्तु उत्कृष्ट दशावाले मुमुक्षु पुरुषको, शुष्कज्ञानीकी वाणीको शब्दसे ज्ञानीकी वाणी जैसी समझकर प्रायः भ्रांति करना योग्य नहीं है। क्योंकि आशयसे, शुष्कज्ञानीकी वाणीसे ज्ञानीकी वाणीकी तुलना नहीं होती।

ज्ञानीकी वाणी पूर्वापर अविरुद्ध, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है. और अनुभवसहित होनेसे वह आत्माको सतत जागृत करती है।

शुष्कज्ञानीकी वाणीमें तथारूप गुण नहीं होते। सबसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अविरोधभाव है, वह शुष्कज्ञानीकी वाणीमें नहीं रह सकता; क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थका दर्शन नहीं होता; और इस कारण जगह जगह उसकी वाणी कल्पनासे युक्त होती है।

इत्यादि नाना प्रकारके भेदोंसे ज्ञानी और शुष्कज्ञानीकी वाणीकी पहिचान उत्कृष्ट मुमुक्षुको ही हो सकती है। ज्ञानी-पुरुषको तो सहज स्वभावसे ही उसकी पहिचान है, क्योंकि वह स्वयं भानसहित है, और भानसहित पुरुषके बिना इस प्रकारके आशयका उपदेश नहीं दिया जा सकता, इस बातको वह सहज ही जानता है।

जिसे ज्ञान और अज्ञानका भेद समझमें आ गया है, उसे अज्ञानी और ज्ञानीका भेद सहजमें समझमें आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह शान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको शुष्कज्ञानीके वचन किस तरह भ्रांति उत्पन्न कर सकते हैं? हाँ, सामान्य जीवोंको अथवा मंददशा और मध्यम-दशाके मुमुक्षुओंको शुष्कज्ञानीके वचन समानरूप दिखाई देनेसे, दोनों ही ज्ञानीके वचन हैं, ऐसी भ्रांति होना संभव है। उत्कृष्ट मुमुक्षुको प्रायः करके वैसी भ्रांति संभव नहीं, क्योंकि उसे ज्ञानीके वचनकी परीक्षाका बल विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकालमें जो ज्ञानी हो गये हों, और मात्र उनकी मुख-वाणी ही बाकी रही हो, तो भी वर्तमान कालमें ज्ञानी-पुरुष यह जान सकते हैं कि वह वाणी ज्ञानी-पुरुषकी है। क्योंकि रात्रि दिवसके भेदकी तरह अज्ञानी और ज्ञानीकी वाणीमें आशयका भेद होता है, और आत्म-दशाके तारतम्यके अनुसार आशययुक्त वाणी ज्ञानी-पुरुषकी ही निकलती है। वह आशय उसकी वाणीके ऊपरसे 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' को स्वाभाविक ही दृष्टिगोचर होता है; और कहनेवाले पुरुषकी दशाका तारतम्य लक्षमें आता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' लिखा है, वह किसी विशेष प्रज्ञावंत प्रगट-बोध-बीजसहित-पुरुष

शब्दके ही अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनकी परीक्षा यदि सब जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही हो जाता।

३. जिनागममें ज्ञानके मति श्रुत आदि पाँच भेद कहे हैं। वे ज्ञानके भेद सच्चे हैं—उपमावाचक नहीं हैं। अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञान वर्तमान कालमें व्यवच्छेद सरीखे माळूम होते हैं; उसके ऊपरसे उन ज्ञानोंको उपमावाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य-जीवोंको चारित्र पर्यायके विशुद्ध तारतम्यसे उत्पन्न होते हैं। वर्तमान कालमें वह विशुद्ध तारतम्य प्राप्त होना कठिन है; क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्रमोहनीय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य आत्मचारित्र भी किसी किसी जीवमें ही रहना संभव है। ऐसे कालमें उस ज्ञानीकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है; इससे उस ज्ञानको उपमावाचक समझना योग्य नहीं। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असंभवता दिखाई नहीं देती। जब सभी ज्ञानोंकी स्थितिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अवधि मनःपर्यव आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो तो इसमें संशय करना कैसे उचित है? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ-जीव जिस प्रकारसे व्याख्या करते हैं, वह व्याख्या विरोधयुक्त हो सकती है, किन्तु परमार्थसे उस ज्ञानका होना संभव है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या कही हो वह व्याख्या, और अज्ञानी जीव आशयके बिना जाने ही जो व्याख्या करे, उन दोनोंमें महान् भेद हो तो इसमें आश्चर्य नहीं; और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयमें संदेह होना योग्य है। परन्तु आत्म-दृष्टिसे देखनेसे वह संदेहका स्थान नहीं है।

४. कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है। रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यंत निर्मल ज्ञानकी स्थिति ही उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यरूपसे संसारी जीवोंका उपयोग असंख्यात समयवर्ती है; उस उपयोगमें साक्षात्‌रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं। यदि वह उपयोग एक-समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात्‌रूपसे समयका ज्ञान हो सकता है। उस उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषाय आदिके अभावसे होता है; क्योंकि कषाय आदिके योगसे उपयोग मूढ़ता आदि धारण करता है, तथा असंख्यात समयवर्तित्वको प्राप्त करता है। उस कषाय आदिके अभावसे उपयोगका एक समयवर्तित्व होता है। अर्थात् कषाय आदिके संबंधसे उसे असंख्यात समयमेंसे एक एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य नहीं थी, उस कषाय आदिके अभावसे वह एक एक समयको अलग करके अवगाहन करता है। उपयोगका एक-समयवर्तित्व कषायरहितपना होनेके बाद ही होता है। इसलिये एक समयका, एक परमाणुका और एक प्रदेशका जिसे ज्ञान हो उसे केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। कषायरहितपनेके बिना केवलज्ञानका होना संभव नहीं है, और कषायरहितपनेके बिना उपयोग एक समयको साक्षात्‌रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जब वह एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यंत कषायरहितपना होना चाहिये; और जहाँ अत्यंत कषायका अभाव हो वहीं केवलज्ञान होता है। इसलिये यह कहा है कि एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका जिसे अनुभव हो उसे

केवलज्ञान प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरुषार्थके लिये इस एक सुगम साधनका ज्ञानी-पुरुषने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रदेशकी सूक्ष्मता होनेसे तीनोंको एक साथ ग्रहण किया गया है। अंतर्विचारमें प्रवृत्ति करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने असंख्यात योग कहे हैं; उनके बीचका एक यह 'विचारयोग' भी कहा है, ऐसा समझना चाहिये।

५. शुभेच्छासे लगाकर सर्व कर्मरहितपनेसे निजस्वरूप-स्थिति होनेतक अनेक भूमिकायें हैं। जो जो आत्मार्थी जीव हो गये हैं, और उनमें जिस जिस अंशसे जागृतदशा उत्पन्न हुई है, उस उस दशाके भेदसे उन्होंने अनेक भूमिकाओंका आराधन किया है। श्रीकबीर सुंदरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं; और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना संभव है। अत्यंत निजस्वरूप स्थितिके लिये उनकी जागृति और अनुभव भी लक्षमें आता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय हालमें देनेकी इच्छा नहीं होती।

६. केवलज्ञानके स्वरूपका विचार कठिन है, और श्रीडूंगर उसका एकान्त कोटीसे निश्चय करते हैं, उसमें यद्यपि उनका अभिनिवेश नहीं है, परन्तु वैसा उन्हें भासित होता है, इसलिये वे कहते हैं।

मात्र एकान्त कोटी ही है, और भूत-भविष्यका कुछ भी ज्ञान किसीको होना संभव नहीं, ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। भूत-भविष्यका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, परन्तु वह किन्हीं विरले पुरुषोंको ही और वह भी विशुद्ध चारित्रके तारतम्यसे ही होता है। इसलिये वह संदेहरूप लगता है, क्योंकि वैसी विशुद्ध चारित्रकी तरतमता वर्तमानमें नहीं जैसी ही रहती है।

वर्तमानमें शास्त्रवेत्ता मात्र शब्द-बोधसे जो केवलज्ञानका अर्थ कहते हैं, वह यथार्थ नहीं, ऐसा यदि श्रीडूंगरको लगता हो तो वह संभव है। तथा भूत-भविष्य जाननेका नाम ही केवलज्ञान है, यह व्याख्या शास्त्रकारने भी मुख्यरूपसे नहीं कही। ज्ञानके अत्यंत शुद्ध होनेको ही ज्ञानी-पुरुषोंने केवलज्ञान कहा है; और उस ज्ञानमें आत्म-स्थिति और आत्म-समाधि ही मुख्यतः कही है। जगत्का ज्ञान होना इत्यादि जो कहा गया है, वह सामान्य जीवोंसे अपूर्व विषयका ग्रहण होना असंभव जानकर ही कहा गया है; क्योंकि जगत्के ज्ञानके ऊपर विचार करते करते आत्म सामर्थ्य समझमें आ सकती है।

श्रीडूंगर महात्मा श्रीऋषभ आदिके विषयमें एकान्त कोटी न कहते हों, और उनके आज्ञावर्तियों (जैसे महावीरस्वामीके दर्शनमें पाँचसौ मुमुक्षुओंने केवलज्ञान प्राप्त किया) को जो केवलज्ञान कहा है, उस केवलज्ञानको एकान्त कोटी कहते हों तो यह बात किसी तरह योग्य है। किन्तु केवलज्ञानका श्रीडूंगर एकांत निषेध करें तो वह आत्माके ही निषेध करनेके बराबर है।

लोग हालमें जो केवलज्ञानकी व्याख्या करते हैं, वह केवलज्ञानकी व्याख्या विरोधी मालूम होती है, ऐसा उन्हें लगता हो तो वह भी संभव है। क्योंकि वर्तमान प्ररूपणामें मात्र जगत्-ज्ञान ही केवलज्ञानका विषय कहा जाता है। इस प्रकारके समाधानके लिखते समय अनेक प्रकारका विरोध दृष्टिगोचर होता है। और उन विरोधोंको दिखाकर उसका समाधान लिखना हालमें तुरत बनना असंभव है। उससे संक्षेपसे ही समाधान लिखा है। समाधानका समुदायार्थ इस तरह है:—

"आत्मा जिस समय अत्यंत शुद्धज्ञान-स्थितिका सेवन करे, उसका नाम मुख्यतः केवलज्ञान है। सब प्रकारके राग-द्वेषका अभाव होनेपर अत्यंत शुद्धज्ञान-स्थिति प्रगट हो सकती है। उस

स्थितिमें जो कुछ जाना जा सके, वह केवलज्ञान है; और वह संदेह करने योग्य नहीं है। श्रीडूंगर जो एकान्त कोटी कहते हैं, वह भी महावीरस्वामीके समीपमें रहनेवाले आज्ञावर्ती पाँचसौ केवली जैसोंके प्रसंगमें ही होना संभव है। जगत्के ज्ञानका लक्ष छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है, वही केवलज्ञान है—ऐसा विचार करते हुए आत्मदशा विशेषभावका सेवन करती है "—इस तरह इस प्रश्नके समाधानका संक्षिप्त आशय है।

जैसे बने वैसे जगत्के ज्ञानका विचार छोड़कर जिस तरह स्वरूपज्ञान हो, वैसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जगत्के ज्ञान होनेको मुख्यार्थरूपसे केवलज्ञान मानना योग्य नहीं। जगत्के जीवोंका विशेष लक्ष होनेके लिये वारम्वार जगत्के ज्ञानको साथमें लिया है, और वह कुछ कल्पित है, यह बात नहीं है। परन्तु उसके प्रति अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। इस स्थलपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है और उसे रोकनी पड़ती है, तो भी संक्षेपमें फिरसे लिखते हैं।

आत्मामेंसे सब प्रकारका अन्य अध्यास दूर होकर स्फटिककी तरह आत्मा अत्यंत शुद्धताका सेवन करे—यही केवलज्ञान है, और बारम्बार उसे जिनागममें जगत्के ज्ञानरूपसे कहा है; उस माहात्म्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें, यही उसका हेतु है।

५९१

वम्बई चैत्र वदी ७ रवि. १९५२

सत्समागमके अभावके अवसरपर तो विशेष करके आरंभ परिग्रहसे वृत्ति न्यून करनेका अभ्यास रखकर जिनमें त्याग-वैराग्य आदि परमार्थ-साधनका उपदेश किया है, वैसे ग्रंथ बाँचनेका परिचय करना चाहिये, और अप्रमत्तभावसे अपने दोषोंका बारम्बार देखना ही योग्य है।

५९२

वम्बई, चैत्र वदी १४ रवि. १९५२

अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय।
वृंदावन जब जग नहीं, को व्यवहार बताय?

—विहार वृंदावन.

५९३

वम्बई, वैशाख सुदी १ भौम. १९५२

ॐ

करनेके प्रति वृत्ति नहीं है, अथवा एक क्षण भर भी जिसे करना भासित नहीं होता, और करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्त पुरुष तथारूप प्रारब्ध-योगसे परिग्रह संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ देखा जाता हो, और जिस तरह इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, वैसे कार्यसहित बर्ताव करते हुए देखनेमें आता हो, तो उस पुरुषमें ज्ञान-दशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है? अर्थात् वह पुरुष आप्त—परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य—है अथवा ज्ञानी है, यह किस लक्षणसे पहिचाना जा सकता है? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके संत्संयोगसे

वह जाननेमें आया भी हो, तो जिससे उस पहिचानमें भ्रांति हो, वैसा व्यवहार जो उस सत्पुरुषमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उस भ्रांतिके निवृत्त होनेके लिये मुमुक्षु जीवको उस पुरुषको किस प्रकारसे पहिचानना चाहिये, जिससे उस उस तरहके व्यवहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञान-स्वरूपता उसके लक्षमें रहे ?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि संयोगके प्रति उदासीन भाव रहता है, अर्थात् जिसे तथारूप संयोगोंमें अहंता-ममताभाव नहीं होता, अथवा वह भाव जिसका परिक्षीण हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको 'अनंतानुबंधी प्रकृतिसे' रहित मात्र प्रारब्धके उदयसे ही जो व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको संदेहका कारण होकर उसके उपकारभूत होनेमें निरोधरूप होता हो, उसे वह ज्ञानी-पुरुष जानता है, और उसके लिये भी परिग्रह संयोग आदि प्रारब्धोदय व्यवहारकी क्षीणताकी ही इच्छा करता है; ऐसा होनेपर उस पुरुषने किस प्रकारसे वर्ताव किया हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुके उपकार होनेमें हानि न हो ?

---

५९८ ववाणीआ, वैशाख वदी ६ रवि. १९५२

आर्य श्रीमाणेकचंद आदिके प्रति, श्रीस्तंभतीर्थ.

श्रीसुंदरलालके वैशाख वदी १ को देह छोड़ देनेकी जो खबर लिखी है, वह बाँची है। अधिक समयकी बीमारीके बिना ही युवावस्थामें अकस्मात् देह छोड़ देनेके कारण, उसे सामान्यरूपसे पहिचान-वालोंके लोगोंको भी उस बातसे खेद हुए बिना न रहे, तो फिर जिसने कुटुम्ब आदि सम्बन्धके स्नेहसे उसमें मूर्च्छा की हो, जो उसके सहवासमें रहा हो, जिसने उसके प्रति आश्रय-भावना रक्खी हो, उसे खेद हुए बिना कैसे रह सकता है ? इस संसारमें मनुष्य-प्राणीको जो खेदके अकथनीय प्रसंग प्राप्त होते हैं, उन्हीं अकथनीय प्रसंगोंमेंका यह एक महान् खेदकारक प्रसंग है। उस प्रसंगमें यथार्थ विचारवान् पुरुषोंके सिवाय सभी प्राणी विशेष खेदको प्राप्त होते हैं; और यथार्थ विचारवान पुरुषोंको विशेष वैराग्य होता है—उन्हें संसारकी अशरणता, अनित्यता और असारता विशेष दृढ़ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभावसे खेद करना, वह मात्र कर्म-बंधका हेतु भासित होता है; और वैराग्यरूप खेदसे कर्म-संगकी निवृत्ति भासित होती है, और वह सत्य है। मूर्च्छा-भावसे खेद करनेसे भी जिस संबंधीका वियोग हो गया है उसकी फिरसे प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचार दशाका फल है, ऐसा विचारकर विचारवान पुरुष उस मूर्च्छाभावप्रत्ययी खेदको शान्त करते हैं, अथवा प्रायः करके वैसा खेद उन्हें नहीं होता। किसी भी तरह उस खेदका हितकारी-पना देखनेमें नहीं आता, और आकस्मिक घटना खेदका निमित्त होती है, इसलिये वैसे अवसरपर विचारवान पुरुषोंको, जीवको हितकारी खेद ही उत्पन्न होता है। सर्व संगकी अशरणता, अबंधुता, अनित्यता, और तुच्छता तथा अन्यत्वपना देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि 'हे जीव ! तुझमें कुछ भी इस संसारविषयक उदय आदि भावसे मूर्च्छा रहती हो तो उसे त्याग कर·········त्याग कर, उस मूर्च्छाका कुछ भी फल नहीं है। उस संसारमें कभी भी शरणत्व आदि भाव प्राप्त होनेवाला नहीं, और अविचारभावके बिना उस संसारमें मोह होना योग्य नहीं; जो मोह अनंत जन्म मरण और प्रत्यक्ष खेदका हेतु है, दुःख और क्लेशका बीज है, उसे शांत कर—उसको क्षय कर। हे जीव ! इसके

बिना कोई दूसरा हितकर उपाय नहीं है ' इत्यादि, पवित्र आत्मासे विचार करनेपर वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है। जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे मालूम होता है।

इस जीवको देह-संबंध हो जानेके बाद यदि मृत्यु न होती, तो इस संसारके सिवाय दूसरी जगह उसकी वृत्तिके लगानेकी इच्छा ही न होती। मुख्यतया मृत्युके भयसे ही परमार्थरूप दूसरे स्थानमें जीवने वृत्तिको प्रेरित किया है, और वह भी किसी विरले जीवको ही प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोंको तो बाह्य निमित्तसे मृत्यु-भयके ऊपरसे बाह्य क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर, उसके विशेष कार्यकारी हुए बिना ही, वह वृत्ति नाश हो जाती है। मात्र किसी किसी विचारवान अथवा सुलभ-बोधी या लघुकर्मी जीवको ही उस भयके ऊपरसे अविनाशी निःश्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्यु-भय होता, तो भी यदि वह मृत्यु नियमितरूपसे वृद्धावस्थामें ही प्राप्त होती, तो भी जितने पूर्वमें विचारवान हो गये हैं, उतने न होते; अर्थात् वृद्धावस्थातक तो मृत्यु-भय है ही नहीं, ऐसा समझकर जीव प्रमादसहित ही प्रवृत्ति करता। मृत्युका अवश्य आगमन देखकर, उसका अनियतरूपसे आगमन देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वजन आदि सबसे अपना अरक्षण देखकर, परमार्थके विचार करनेमें अप्रमत्तभाव ही हितकर मालूम हुआ है, और सर्वसंग अहितकार मालूम हुआ है। विचारवान पुरुषोंको वह निश्चय निःसन्देह सत्य है—तीनों कालमें सत्य है। मूर्च्छाभावके खेदका त्याग कर विचारवानको असंगभाव-प्रत्ययी खेद करना चाहिये।

यदि इस संसारमें इस प्रकारके प्रसंग न हुआ करते, अपनेको अथवा परको वैसे प्रसंगोंकी अप्राप्ति दिखाई दी होती, अशरण आदि भाव न होता, तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हें प्रायः कुछ भी न्यूनता न थी ऐसे श्रीऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरत जैसे चक्रवर्ती आदि उसका क्यों त्याग करते? एकान्त असंगभावका वे किस कारणसे सेवन करते?

हे आर्य माणेकचंद आदि! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण, पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्च्छाके कारण तुम्हें कुछ भी विशेष खेद प्राप्त होना संभव है, तो भी उस खेदका दोनोंको कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असंग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारीपना नहीं है, ऐसा विचारकर, होते हुए खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी-पुरुषोंके वचनामृतसे, तथा साधु पुरुषके आश्रय समागम आदिसे और विरतिसे उपशांत करना ही कर्तव्य है।

---

५९५ मोहमयी, द्वितीय ज्येष्ठ सुदी २ शनि. १९५२

ॐ

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोगविशेषके कारण तुम्हारे नियममें छूट थी, वह रोगविशेष रहता है, इससे उस छूटको ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव नहीं। क्योंकि तुम्हारा नियम उसी प्रकारसे प्रारंभ हुआ था। किन्तु यही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस छूटका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव है।

सर्व प्रकारके आरंभ तथा परिग्रहके संबंधके मूलका छेदन करनेके लिये समर्थ ब्रह्मचर्य परम साधन है।

संसारका जो अशरण आदि भाव लिखा है वह यथार्थ है। वैसी परिणति अखंड रहे तो ही जीव उत्कृष्ट वैराग्यको पाकर निजस्वरूप-ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। कभी कभी किसी निमित्तसे वैसे परिणाम होते हैं, परन्तु उनको विघ्न करनेवाले संग-प्रसंगमें जीवका निवास होनेसे वह परिणाम अखंड नहीं रहता, और संसारके प्रति अभिरुचि हो जाती है। इससे अखंड परिणतिके इच्छावान मुमुक्षुको उसके लिये नित्य समागमका आश्रय करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जबतक जीवको वह संयोग प्राप्त न हो तबतक कुछ भी वैसे वैराग्यको आधारके हेतु तथा अप्रतिकूल निमित्तरूप ऐसे मुमुक्षु जनका समागम तथा सत्शास्त्रका परिचय करना चाहिये। दूसरे संग-प्रसंगसे दूर रहनेकी बारम्बार स्मृति रखनी चाहिये, और उस स्मृतिको प्रवृत्तिरूप करना चाहिये—बारम्बार जीव इस बातको भूल जाता है; और उससे इच्छित साधन तथा परिणामको प्राप्त नहीं करता।

---

५९६ बम्बई, द्वितीय ज्येष्ठ वदी ६ गुरु. १९५२

ॐ

'वर्त्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती,' ऐसा जिनागममें कहा है; और वेदांत आदि दर्शन ऐसा कहते हैं कि 'इस कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है'।

'वर्त्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती, इसके सिवाय दूसरे भी बहुतसे भावोंका जिनागममें तथा उसके आश्रयसे लिखे गये आचार्योंद्वारा रचित शास्त्रोंमें विच्छेद कहा है। केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, पूर्वज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसांपराय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, क्षायिक समकित और पुलाकलब्धि ये भाव मुख्यरूपसे विच्छेद माने गये हैं।'

'वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे आत्मार्थकी कौन कौन मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको प्राप्त हो सकती है, और उसके प्राप्त होनेका क्या मार्ग है?' इन प्रश्नोंके परमार्थके प्रति विचारका लक्ष रखना।

---

५९७ बम्बई, आषाढ़ सुदी २ रवि. १९५२

ज्ञान क्रिया और भक्तियोग.

मृत्युके साथ जिसकी मित्रता हो, अथवा मृत्युसे भागकर जो छूट सकता हो, अथवा 'मैं नहीं मरूँगा' ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले ही सुखपूर्वक सोवे—(श्रीतीर्थंकर—छह जीवनिकाय अध्ययन)।

ज्ञान-मार्ग कठिनतासे आराधन करने योग्य है। परमावगाढ़-दशा पानेके पहिले उस मार्गसे च्युत होनेके अनेक स्थान हैं।

संदेह, विकल्प, स्वच्छंदता, अतिपरिणामीपना इत्यादि कारण जीवको बारम्बार उस मार्गसे च्युत होनेके हेतु होते हैं, अथवा ये हेतु ऊर्ध्व भूमिका प्राप्त नहीं होने देते।

क्रिया-मार्गमें असद् अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धि-मोह, पूजा सत्कार आदि योग, और दैहिक-क्रियामें आत्मनिष्ठा आदि दोष संभव हैं।

किसी किसी महात्माको छोड़कर बहुतसे विचारवान जीवोंने उन्हीं कारणोंसे भक्ति-मार्गका

आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितभाव अथवा परमपुरुष सद्गुरुमें सर्वार्पण-स्वाधीनभावको सिरसे वंदनीय माना है, और वैसे ही प्रवृत्ति की है। किन्तु वैसा योग प्राप्त होना चाहिये, नहीं तो जिसका चिंतामणिके समान एक एक समय है, ऐसी मनुष्य-देहका उल्टा परिभ्रमणकी वृद्धिका ही हेतु होना संभव है।

५९८

ॐ

श्री····के अभिप्रायपूर्वक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र तथा श्री····का लिखा हुआ पत्र मिला है। श्री····के अभिप्रायपूर्वक श्री····ने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे ही जिनागम तथा वेदांत आदि दर्शनमें वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे मोक्षका निषेध तथा विधानका कहा जाना संभव है— यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखाई देता है, और········ने लिखा है कि वर्तमान कालमें संघयण आदिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी अपेक्षित है।

यहाँ विशेषार्थके लक्षमें आनेके लिये गत पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टरूपसे लिखते हैं:—

जिस प्रकार जिनागमसे केवलज्ञानका अर्थ वर्तमानमें, वर्तमान जैनसमूहमें प्रचलित है, उसी तरहका उसका अर्थ तुम्हें यथार्थ माल्रम होता है या कुछ दूसरा अर्थ माल्रम होता है? सर्व देश काल आदिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका वर्तमानमें रूढ़ि-अर्थ है। दूसरे दर्शनोंमें यह मुख्यार्थ नहीं है, और जिनागमसे वैसा मुख्य अर्थ लोगोंमें वर्तमानमें प्रचलित है। यदि वही केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विरोध दिखाई देता है। उस सबको यहाँ लिख सकना नहीं बन सकता। तथा जिस विरोधको लिखा है, उसे भी विशेष विस्तारसे लिखना नहीं बना। क्योंकि उसे यथावसर ही लिखना योग्य माल्रम होता है। जो लिखा है, वह उपकार दृष्टिसे लिखा है, यह लक्ष रखना।

योगधारीपना अर्थात् मन वचन और कायासहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगांतर हो जानेसे, उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना संभव है। एक समयमें किसीको दो उपयोग नहीं रहते, जब यह सिद्धांत है, तो आहार आदिकी प्रवृत्तिके उपयोगमें रहता हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति रहना संभव नहीं; और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाय। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि 'जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही केवलज्ञानमें सर्व देश काल प्रतिबिम्बित होते हैं। तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग लगाकर उन्हें जानता है, यह बात नहीं है, किन्तु सहज स्वभावसे ही वे पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहते हुए सहज स्वभावसे प्रतिभासित ऐसे केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है,'- तो यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दर्पणमें प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है; तथा उपयोगके सिवाय आत्माका ऐसा कौनसा दूसरा स्वरूप है कि जब आहार आदिमें उपयोग रहता हो, तब उससे केवलज्ञानमें प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा जान सके?

यदि सर्व देश काल आदिका ज्ञान जिस केवलीको हो उस केवलीको 'सिद्ध' मानें तो यह संभव माना जा सकता है, क्योंकि उसे योगधारीपना नहीं कहा है। किन्तु इसमें भी यह समझना चाहिये कि फिर भी योगधारीकी अपेक्षासे सिद्धमें वैसे केवलज्ञानकी मान्यता हो तो योगरहितपना होनेसे उसमें सर्व देश काल आदिका ज्ञान संभव हो सकता है—इतना प्रतिपादन करनेके लिये ही यह लिखा है, किन्तु सिद्धको वैसा ज्ञान होता ही है, इस अर्थको प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ी-अर्थके अनुसार देखनेसे तो 'देहधारी केवली' और 'सिद्ध' में केवलज्ञानका भेद नहीं होता—दोनोंको ही सर्व देश काल आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होता है, यह रूढ़ी-अर्थ है। परन्तु दूसरी अपेक्षासे जिनागम देखनेसे कुछ भिन्न ही मालूम पड़ता है। जिनागममें निम्न प्रकारसे पाठ देखनेमें आता है:—

"केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—सयोगीभवस्थ-केवलज्ञान और अयोगीभवस्थ-केवलज्ञान। सयोगी केवलज्ञान दो प्रकारका कहा है—प्रथमसमय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी-केवलज्ञान, और अप्रथमसमय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयके पहिलेका केवलज्ञान। इसी तरह अयोगीभवस्थ-केवलज्ञान भी दो प्रकारका कहा है—प्रथमसमयका केवलज्ञान और अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेके पहिलेके अन्तिम समयका केवलज्ञान।"

इत्यादि प्रकारसे केवलज्ञानके भेद जिनागममें कहे हैं, उसका परमार्थ क्या होना चाहिये? कदाचित् यह समाधान करें कि बाह्य कारणकी अपेक्षासे केवलज्ञानके ये भेद बताये हैं, तो यहाँ ऐसी शंका हो सकती है कि 'जहाँ कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध न होता हो, और जिसमें विकल्पका अवकाश न हो उसमें भेद करनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीके वचनमें संभव नहीं है। प्रथमसमय-केवलज्ञान और अप्रथमसमय-केवलज्ञान इस प्रकारका भेद करनेमें यदि केवलज्ञानका तारतम्य घटता बढ़ता हो तो वह भेद संभव है, परन्तु तारतम्यमें तो वैसा होता नहीं, तो फिर भेद करनेका क्या कारण है'?—इत्यादि प्रश्न यहाँ होते हैं, उनके ऊपर और प्रथम पत्रके ऊपर यथाशक्ति विचार करना चाहिये।

५९९

हेतु अवक्तव्य?

एकमें किस तरह पर्यवसान हो सकता है? अथवा होता ही नहीं?

व्यवहार-रचना की है, ऐसा क्या किसी हेतुसे सिद्ध होता है?

६००

स्वस्थिति—आत्मदशासंबंधी—विचार. तथा उसका पर्यवसान?

उसके पश्चात् लोकोपकारक प्रवृत्ति? लोकोपकार प्रवृत्तिका नियम.

वर्तमानमें (हालमें) किस तरह प्रवृत्ति करना उचित है?

६०१

तीनों कालमें जो वस्तु जात्यंतर न हो, उसे श्रीजिन द्रव्य कहते हैं।

कोई भी द्रव्य पर परिणामसे परिणमन नहीं करता—अपनेपनका त्याग नहीं कर सकता।

प्रत्येक द्रव्य (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे) स्व-परिणामी है।

वह नियत अनादि मर्यादारूपसे रहता है।

जो चेतन है, वह कभी अचेतन नहीं होता; जो अचेतन है, वह कभी चेतन नहीं होता।

६०२

हे योग,

६०३

चेतनकी उत्पत्तिके कुछ भी संयोग दिखाई नहीं देते, इस कारण चेतन अनुत्पन्न है। उस चेतनके नाश होनेका कोई अनुभव नहीं होता, इसलिये वह अविनाशी है। नित्य अनुभवस्वरूप होनेसे वह नित्य है।

प्रति समय परिणामांतर प्राप्त करनेसे वह अनित्य है।

निजस्वरूपका त्याग करनेके लिये असमर्थ होनेसे वह मूल द्रव्य है।

६०४

सबकी अपेक्षा वीतरागके वचनको सम्पूर्ण प्रतीतिका स्थान कहना योग्य है; क्योंकि जहाँ राग आदि दोषोंका सम्पूर्ण क्षय हो वहीं सम्पूर्ण ज्ञान-स्वभाव नियमसे प्रगट होने योग्य है।

श्रीजिनको सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट वीतरागता होना संभव है। उनके वचन प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, इसलिये जिस किसी पुरुषको जितने अंशमें वीतरागता संभव है, उतने ही अंशमें उस पुरुषका वाक्य माननीय है।

सांख्य आदि दर्शनोंमें बंध-मोक्षकी जो जो व्याख्या कही है, उससे प्रबल प्रमाण-सिद्ध व्याख्या श्रीजिन वीतरागने कही है, ऐसा मानता हूँ।

शंकाः—जिस जिनभगवान्‌ने द्वैतका निरूपण किया है, आत्माको खंड द्रव्यकी तरह बताया है, कर्ता भोक्ता कहा है, और जो निर्विकल्प समाधिके अंतरायमें मुख्य कारण हो ऐसी पदार्थकी व्याख्या कही है, उस जिनभगवान्‌की शिक्षा प्रबल प्रमाणसे सिद्ध है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है? केवल अद्वैत और सहज निर्विकल्प समाधिके कारणभूत ऐसे वेदान्त आदि मार्गका उसकी अपेक्षा अवश्य ही विशेष प्रमाणसे सिद्ध होना संभव है।

उत्तरः—एक बार जैसे तुम कहते हो वैसे यदि मान भी लें, परन्तु सब दर्शनोंकी शिक्षाकी

अपेक्षा जिनभगवान्की कही हुई बंध-मोक्षके स्वरूपकी शिक्षा जितनी सम्पूर्ण प्रतिभासित होती है, उतनी दूसरे दर्शनोंकी प्रतिभासित नहीं होती, और जो सम्पूर्ण शिक्षा है वही प्रमाणसे सिद्ध है।

शंका:—यदि तुम ऐसा समझते हो तो किसी तरह भी निर्णयका समय नहीं आ सकता, क्योंकि सब दर्शनोंमें, जिस जिस दर्शनमें जिसकी स्थिति है, उस उस दर्शनके लिये सम्पूर्णता मानी है।

उत्तर:—यदि ऐसा हो तो उससे सम्पूर्णता सिद्ध नहीं होती; जिसकी प्रमाणद्वारा सम्पूर्णता हो वही सम्पूर्ण सिद्ध होता है।

प्रश्न:—जिस प्रमाणके द्वारा तुम जिनभगवान्की शिक्षाको सम्पूर्ण मानते हो, उस प्रकारको तुम कहो; और जिस प्रकारसे वेदांत आदिकी सम्पूर्णता तुम्हें संभव माऌम होती है, उसे भी कहो।

६०५

प्रत्यक्षसे अनेक प्रकारके दुःखोंको देखकर, दुःखी प्राणियोंको देखकर तथा जगत्की विचित्र रचनाको देखकर, ऐसे होनेका हेतु क्या है? उस दुःखका मूलस्वरूप क्या है? और उसकी निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? तथा जगत्की विचित्र रचनाका अंतर्स्वरूप क्या है? इत्यादि भेदमें जिसे विचार-दशा उत्पन्न हुई है ऐसे मुमुक्षु पुरुषने, पूर्व पुरुषोंद्वारा ऊपर कहे हुए विचारोंसंबंधी जो कुछ उपाय समाधान किया था अथवा माना था, उस विचारके समाधानके प्रति भी यथाशक्ति आलोचना की। उस आलोचनाके करते हुए विविध प्रकारके मतमतांतर तथा अभिप्रायसंबंधी यथा-शक्ति विशेष विचार किया। तथा नाना प्रकारके रामानुज आदि सम्प्रदायोंका विचार किया। तथा वेदान्त आदि दर्शनका विचार किया। उस आलोचनामें अनेक प्रकारसे उस दर्शनके स्वरूपका मंथन किया, और प्रसंग प्रसंगपर मंथनकी योग्यताको प्राप्त ऐसे जैनदर्शनके संबंधमें अनेक प्रकारसे जो मंथन हुआ, उस मंथनसे उस दर्शनके सिद्ध होनेके लिये, जो पूर्वापर विरोध जैसे माऌम होते हैं, ऐसे नीचे लिखे कारण दिखाई दिये।

६०६

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकायके अरूपी होनेपर भी वे रूपी पदार्थको सामर्थ्य प्रदान करते हैं, और इन तीन द्रव्योंको स्वभावसे परिणामी कहा है, तो ये अरूपी होनेपर भी रूपीको कैसे सहायक हो सकते हैं?

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय एक क्षेत्र-अवगाही हैं, और उनका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, फिर भी उनमें गतिशील वस्तुके प्रति स्थिति-सहायतारूपसे, और स्थितिशील वस्तुके प्रति गति-सहा-यतारूपसे विरोध क्यों नहीं आता?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक आत्मा—ये तीनों असंख्यात प्रदेशी हैं, इसका क्या कोई दूसरा ही रहस्य है?

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायकी अवगाहना अमुक अमूर्ताकारसे है—ऐसा होनेमें क्या कुछ रहस्य है?

लोकसंस्थानके सदा एक स्वरूपसे रहनेमें क्या कुछ रहस्य है ?

एक तारा भी घट-बढ़ नहीं होता, ऐसी अनादि स्थितिको किस कारणसे मानना चाहिये ?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या है ? आत्मा अथवा परमाणुको कदाचित् शाश्वत माननेमें मूल द्रव्यत्व कारण है; परन्तु तारा, चन्द्र, विमान आदिमें वैसा क्या कारण है ?

६०७

सिद्ध-आत्मा लोकालोक-प्रकाशक है, परन्तु लोकालोक-व्यापक नहीं है, व्यापक तो अपनी अवगाहना प्रमाण ही है—जिस मनुष्यदेहसे सिद्धि प्राप्त की, उसका तीसरा भाग कम घन-प्रदेशाकार है। अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोक-व्यापक नहीं, किन्तु लोकालोक-प्रकाशक अर्थात् लोकालोक-ज्ञायक है। लोकालोकके प्रति आत्मा नहीं जाती, और लोकालोक भी कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी अपनी अवगाहनामें अपनी अपनी सत्तासे मौजूद हैं; वैसा होनेपर भी आत्माको उसका ज्ञान-दर्शन किस तरह होता है ?

यहाँ यदि दृष्टांत दिया जाय कि जिस तरह दर्पणमें वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है—प्रतिबिम्बित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखाई नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो विस्रसा-परिणामी पुद्गल-राशिसे प्रतिबिम्ब होता है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मके देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानती है, क्योंकि समस्त द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण समान है—ऐसा कहनेमें आता है, तो अगुरुलघु धर्मका क्या अर्थ समझना चाहिये ?

६०८

वर्तमान कालकी तरह यह जगत् सर्वकालमें है।

वह पूर्वकालमें न हो तो वर्तमान कालमें भी उसका अस्तित्व न हो।

वह वर्तमान कालमें है तो भविष्यकालमें भी उसका अत्यंत नाश नहीं हो सकता।

पदार्थमात्रके परिणामी होनेसे यह जगत् पर्यायान्तररूपसे दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूल-स्वभावसे उसकी सदा ही विद्यमानता है।

६०९

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्वकालके लिये है।

जो भाव है वह मौजूद है, जो भाव नहीं वह मौजूद नहीं।

दो प्रकारका पदार्थ स्वभाव विभागपूर्वक स्पष्ट दिखाई देता है—जड़-स्वभाव और चेतन-स्वभाव।

६१०

गुणातिशयता किसे कहते हैं ? उसका किस तरह आराधन किया जा सकता है ?

केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ? तीर्थंकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोक-ज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें प्राप्ति न होनेका क्या हेतु है ?

६११

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, परमावधि, केवल.

६१२

परमावधि ज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य विचार करने योग्य है।

अनादि अनंत कालका, अनंत अलोकका—गणितसे अतीत अथवा असंख्यातसे पर ऐसे जीव-समूह, परमाणुसमूहके अनंत होनेपर; अनंतपनेका साक्षात्कार हो उस गणितातीतपनेके होनेपर—साक्षात् अनंतपना किस तरह जाना जा सकता है ? इस विरोधका परिहार ऊपर कहे हुए रहस्यसे होने योग्य माङ्म होता है।

तथा केवलज्ञान निर्विकल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग करना पड़ता नहीं। सहज उपयोगसे ही वह ज्ञान होता है; यह रहस्य भी विचार करने योग्य है।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीव-पर्याय कौनसी है ? प्रथम परमाणु-पर्याय कौनसी है ? यह केवलज्ञान-गोचर होनेपर भी अनादि ही माङ्म होता है। अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं प्राप्त करता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ भी नहीं है, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। उनका समाधान परमावधिके विचारसे तथा सहज उपयोगके विचारसे समझमें आने योग्य दृष्टिगोचर होता है।

६१३

कुछ भी है ?
क्या है ?
किस प्रकारसे है ?
क्या वह जानने योग्य है ?
जाननेका फल क्या है ?
बंधका हेतु क्या है ?
बंध पुद्गलके निमित्तसे है अथवा जीवके दोषसे है ?

जिस प्रकारसे समझते हो उस प्रकारसे बंध नहीं हटाया जा सकता, ऐसा सिद्ध होता है; इसलिये मोक्ष-पदकी हानि होती है। उसका नास्तित्व ठहरता है।

अमूर्तता कोई वस्तु है या अवस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त्त पुद्गलका और अमूर्त जीवका संयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्यापित्व जिस प्रकारसे जिनभगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है।

धर्म, अधर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सब वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनंतता सिद्ध न हो, क्योंकि उनका अनंत-अनादिपना समझमें नहीं आता; अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता।

६१४

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुके ऊपरसे अदृष्टका विचार खोज करने योग्य है।

जिनभगवान्‌के अभिप्रायसे आत्माको स्वीकार करनेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहिये:—

१. असंख्यात प्रदेशका मूल परिमाण.

२. संकोच-विकासवाली जो आत्मा स्वीकार की है, वह संकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस प्रकार हो सकता है ?

३. निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४. सर्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५. आत्मामें योगसे विपरिणाम है, स्वभावसे विपरिणाम है ! विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है, संयोगी सत्ता है। उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

६. चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका ? पुद्गल संयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

७. जिस तरह मोक्ष-पदमें आत्मभाव प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्माके लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८. ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जडत्वभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

---

९. मध्यम-परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह संभव है?

१०. शुद्ध चेतनमें अनेककी संख्याका भेद कैसे घटित होता है?

६१५

सामान्य चेतन.	सामान्य चैतन्य.
विशेष चेतन.	विशेष चैतन्य.
निर्विशेष चेतन.	(चैतन्य.)

स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव)—निर्ग्रन्थ.

सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव)—वेदान्त.

६१६

चक्षु अप्राप्यकारी.

मन अप्राप्यकारी.

चेतनका बाह्य आगमन (गमन न होना).

६१७

ज्ञानी-पुरुषोंको समय समयमें अनंत संयम-परिणाम वृद्धिंगत होते हैं, ऐसा जो सर्वज्ञने कहा है वह सत्य है। वह संयम विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता करनेसे उत्पन्न होता है।

६१८

श्रीतीर्थंकर आत्माको संकोच-विकासका भाजन योगदशामें मानते हैं, यह सिद्धांत विशेषरूपसे विचारणीय है।

६१९

बम्बई, आषाढ़ सुदी ४ भौम. १९५२

जंगमनी[1] जुक्ति तो सर्वे जाणिये, समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो;
एकांते वसवुं रे, एकज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमां भंग जो।
ओधवजी अबळा ते साधन शुं करे?

---

१ जंगम (शिवलिंगके पूजनेवाले साधुओंका वर्ग) साधुओंकी दलीलको तो सब जानते हैं। संसर्गमें रहनेपर भी उन्हें शरीरका संग नहीं रहता। परन्तु बात तो यह है कि एकांतमें एक ही आसनपर बैठना चाहिये, क्योंकि कोई भूल हो जाय तो भजनमें बाधा होना संभव है। हे ओधवजी, मैं अबला उन कौनसे साधनोंको स्वीकार करूं?

६२० बम्बई, आषाढ सुदी ५ बुध. १९५२

ॐ

प्रश्नः—'श्रीसहजानंदके वचनामृतमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष भगवान्की भक्ति करना, और उस भक्तिको स्वधर्ममें रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे बात आती है। अब यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर स्वधर्मसहित भक्ति करना, यह कहनेका क्या कारण है?' ऐसा जो तुमने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है:—

उत्तरः—स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना, ऐसा जो कहा है, वहाँ स्वधर्म शब्दका अर्थ वर्णाश्रमधर्म है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह उत्पन्न हुई हो, उस वर्णकी श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह वर्णधर्म है; और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमें कही गई है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह आश्रमधर्म है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं; तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मण वर्णमें वर्ण-धर्मका आचरण इस तरह करना चाहिये, ऐसा जो श्रुति-स्मृतिमें कहा हो, उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है, और यदि उस प्रकार आचरण न करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे, तो वह परधर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस वर्णमें देह धारण की हो, उस उस वर्णकी श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, यह स्वधर्म कहा जाता है; और यदि दूसरे वर्णके धर्मका आचरण किया जाय तो वह परधर्म कहा जाता है।

यही बात आश्रमधर्मके विषयमें भी है। जिन वर्णोंको श्रुति-स्मृतिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-सहित प्रवृत्ति करनेके लिये कहा हैं, उस वर्णमें प्रथम चौबीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहना, तत्पश्चात् क्रमसे वानप्रस्थ और सन्यस्त आश्रममें आचरण करना, इस तरह आश्रमका सामान्य क्रम है, उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके समयमें यदि कोई दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो वह परधर्म कहा जाता है; और यदि उस उस आश्रममें उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है। इस तरह वेदाश्रित मार्गमें वर्णाश्रमधर्मको स्वधर्म कहा है। उस वर्णाश्रम-धर्मको ही स्वधर्म शब्दसे समझना चाहिये, अर्थात् सहजानंदस्वामीने यहाँ वर्णाश्रमधर्मको ही स्वधर्म शब्दसे कहा है।

भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्रायः भगवद्भक्ति करना ही जीवका स्वधर्म है, ऐसा प्रतिपादन किया है; परन्तु यहाँ उस अर्थमें स्वधर्म शब्दको नहीं कहा। क्योंकि भक्तिको स्वधर्ममें रहकर ही करना चाहिये, ऐसा कहा है। इसलिये स्वधर्मको जुदारूपसे ग्रहण किया है, और उसे वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें ही ग्रहण किया है। जीवका स्वधर्म भक्ति है, यह बतानेके लिये तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका प्रयोग किया गया है; और श्रीसहजानन्दके वचनामृतमें भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द संज्ञा-वाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया, हाँ कहीं कहीं श्रीवल्लभाचार्यने तो यह प्रयोग किया है।

---

६२१ बम्बई, आषाढ़ वदी ८ रवि. १९५२

भुजाके द्वारा जो स्वयंभूरमण समुद्रको तिर गये हैं, तैरते हैं और तैरेंगे, उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार हो.

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धके सहन करते हुए, कुछ एक परमार्थ-व्यवहाररूप प्रवृत्ति कठिन जैसी लगती है, और उन कारणोंसे पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। चित्तको जो सहज ही अवलंबन है, उसे खींच लेनेसे आर्त्तभाव होगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिबंधसे इस पत्रको लिखा है।

मोहसंगरूप और बाह्यसंगरूप दुस्तर स्वयंभूरमण समुद्रको जो वर्धमान आदि पुरुष भुजासे तिर गये हैं, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो! च्युत होनेके भयंकर स्थानकमें सावधान रहकर, तथारूप सामर्थ्य विस्तृत करके जिसने सिद्धिको साधा है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमांचित, अनंत और मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

६२२

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिबंध रहता है, उसमें कुछ लिखना अथवा कहना कृत्रिम जैसा ही मालूम होता है, और इससे हालमें पत्र आदिकी पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। बहुतसे पत्रोंके लिये वैसा ही हुआ है, इस कारण चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिबंधसे यह पत्र लिखा है। आत्माको जो मूलज्ञानसे चलायमान कर डाले, ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिबंध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है; और किसी किसी कठिन अवसरपर कभी तो वह आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देनेतककी स्थितिको प्राप्त करा देता है, ऐसा समझकर, उससे डरकर ही आचरण करना योग्य है। यह विचारकर पत्र आदिकी पहुँच नहीं लिखी; उसे क्षमा करनेकी नम्रता-सहित प्रार्थना है।

अहो! ज्ञानी-पुरुषका आशय, गंभीरता, धीरज और उपशम। अहो! अहो! वारम्वार अहो! ॐ.

६२३ बम्बई, आषाढ़ वदी १५ सोम. १९५२

तुम्हें तथा दूसरे किसी सत्समागमकी निष्ठावाले भाईयोंको हमारे समागमकी अभिलाषा रहा करती है, यह बात जाननेमें है, परन्तु उस विषयके अमुक कारणोंका विचार करते हुए प्रवृत्ति नहीं होती। प्रायः चित्तमें ऐसा रहा करता है कि हालमें अधिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नहीं है। प्रथमसे ही इस प्रकारका विचार रहा करता था, और जो विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था। किन्तु उदयवशसे बहुतसे भाईयोंको समागम होनेका प्रसंग हुआ; जिसे एक प्रकारसे प्रतिबंध होने जैसा समझा था, और हालमें कुछ भी वैसा हुआ मालूम होता है। वर्तमान आत्म-दशा देखते हुए उतना प्रतिबंध होने देने योग्य सत्ता मुझे संभवित नहीं है। यहाँ प्रसंगसे कुछ कुछ स्पष्ट अर्थ कह देना उचित है।

इस आत्मामें गुणका विशेष प्राकट्य समझकर, तुम सब किन्हीं मुमुक्षु भाईयोंकी भक्ति रहती हो तो भी उससे उस भक्तिकी योग्यता मेरे विषयमें संभव है, ऐसा समझनेकी योग्यता मेरी नहीं है।

यहाँ एक प्रार्थना कर देना योग्य है कि इस आत्मामें तुम्हें गुणका प्राकट्य भासमान होता हो और उससे अंतरमें भक्ति रहती हो, तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे तुम्हें योग्य मालूम हो वैसा करना योग्य है। परन्तु इस आत्माके संबंधमें हालमें बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य नहीं। क्योंकि अविरतिरूप उदय होनेसे गुणका प्राकट्य हो, तो भी वह लोगोंको भासमान होना कठिन पड़े, और उससे उसकी विराधना होनेका कुछ भी कारण होना संभव है; तथा इस आत्माद्वारा पूर्व महापुरुषके क्रमका खंडन करनेके समान कुछ भी प्रवृत्तिका समझा जाना संभव है।

---

६२४ बम्बई, श्रावण सुदी ५ शुक्र. १९५२

ॐ

१. प्रश्नः—जिनागममें धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्य कहे गये हैं, उनमें कालको भी द्रव्य कहा है; और अस्तिकाय पाँच कहे हैं, कालको अस्तिकाय नहीं कहा—इसका क्या कारण होना चाहिये? कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो सकता है कि धर्मास्तिकाय आदि प्रदेशके समूहरूप हैं, और पुद्गल-परमाणु भी वैसी ही योग्यतावाला द्रव्य है, और काल वैसा नहीं है। वह मात्र एक समयरूप है, उससे कालको अस्तिकाय नहीं कहा। यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक समयके बाद दूसरी फिर तीसरी इस तरह समयकी धारा चलती ही रहती है, और उस धारामें बीचमें अवकाश नहीं होता, उससे एक दूसरे समयका संबंध अथवा समूहात्मकपना होना संभव है, जिससे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उससे भी ऐसा मालूम होता है कि सर्व काल-समूह ज्ञान-गोचर होता है, और सर्व समूह ज्ञान-गोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना संभव है, और जिनागममें उसे अस्तिकाय माना नहीं?

उत्तरः—जिनागमकी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, मुख्यरूपसे उनकी वर्तनाका नाम ही काल है। उस वर्तनाका दूसरा नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमें असंख्यात प्रदेशके समूहरूप मालूम होता है, वैसे काल समूहरूपसे मालूम नहीं होता। जब एक समय रहकर नष्ट हो जाता है, तब दूसरा समय उत्पन्न होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि उन्हें पंचास्तिकाय द्रव्य-पर्यायरूपसे ज्ञानगोचर होते हैं, और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है, वही सर्व कालका ज्ञान कहा गया है। एक समयमें सर्वज्ञ भी एक समयको ही मौजूद देखते हैं, और भूतकाल अथवा भावीकालको मौजूद नहीं देखते। यदि वे इन्हें भी मौजूद देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जाय।

सर्वज्ञ भूतकालको 'उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने' और भावीकालको, 'आगे अमुक तरह होगा' के रूपमें देखते हैं।

परन्तु भूतकाल द्रव्यमें समा गया है, और भावीकाल सत्तारूपसे सन्निविष्ट है; दोनोंमेंसे एक भी वर्तमानरूपसे नहीं है, मात्र एक समयरूप ही वर्तमानकाल रहता है, इसलिये सर्वज्ञको ज्ञानमें भी उसी प्रकार भासमान होता है।

जैसे किसीने एक घड़ेको अभी देखा हो, उसके बाद वह दूसरे समयमें नाश हो गया है, और उस समय वह घड़ेरूपसे विद्यमान नहीं है, परन्तु देखनेवालेको वह घड़ा जैसा था वैसा ही ज्ञानमें भासमान होता है। इसी तरह इस समय मिट्टीका कोई पिंड पड़ा हुआ है, उसमेंसे थोड़ा समय बीतनेपर एक घड़ा उत्पन्न होगा, ज्ञानमें ऐसा भी भासमान हो सकता है, फिर भी मिट्टीका पिंड वर्तमानमें कुछ घड़ेरूपसे नहीं रहता। इसी तरह एक समयमें सर्वज्ञको त्रिकाल-ज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है।

सूर्यके कारण जो दिन और रात्रिरूप काल समझा जाता है, वह व्यवहारकाल है, क्योंकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नहीं है।

दिगम्बर कालके असंख्यात अणु स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका एक दूसरेके साथ संबंध है, ऐसा उनका अभिप्राय नहीं है, और इससे उन्होंने कालको अस्तिकायरूपसे स्वीकार नहीं किया।

२. प्रत्यक्ष सत्समागममें भक्ति वैराग्य आदि दृढ़ साधनसहित मुमुक्षुको, सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्यानुयोगका विचार करना चाहिये।

३. श्रीदेवचन्द्रजीकृत अभिनन्दन भगवान्की स्तुतिका पद लिखकर जो उसका अर्थ पूछवाया है, उसमें—'**पुद्गलअनुभव त्यागथी, करवी ज शुं परतीत हो**'—ऐसा जो लिखा है, वह मूलपद नहीं है। मूलपद इस तरह है—'**पुद्गलअनुभव त्यागथी, करवी जसु परतीत हो**'—अर्थात् वर्ण गंध आदि पुद्गल-गुणके अनुभवका अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसके प्रति उदासीन होनेसे, 'जसु' अर्थात् जिसकी (आत्माकी) प्रतीति होती है।

६२५

विश्व अनादि है। जीव अनादि है।

पुद्गल-परमाणु अनादि हैं। जीव और कर्मका संबंध अनादि है।

संयोगीभावमें तादात्म्य—अध्यास—होनेसे जीव जन्म-मरण आदि दुःखोंका अनुभव करता है।

६२६

पाँच अस्तिकायरूप लोक अर्थात् विश्व है। चैतन्य लक्षण जीव है।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त परमाणु हैं, वह संबंध स्वरूपसे नहीं, विभावरूपसे है।

६२७

कम्मदव्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्स ।
सो बंधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवमोक्खो[1] ।

६२८

बम्बई, श्रावण १९५२

ॐ

पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप कहा है:—

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहे जाते हैं ।

अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक वस्तु । एक परमाणु प्रमाण अमूर्त वस्तुके भागको प्रदेश कहते हैं । जो वस्तु अनेक प्रदेशात्मक हो उसे अस्तिकाय कहते हैं ।

एक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है ।

पुद्गल-परमाणु यद्यपि एक प्रदेशात्मक है, परन्तु दो परमाणुओंसे लगाकर असंख्यात, अनंत परमाणु एकत्र हो सकते हैं । इस तरह उसमें परस्पर मिलनेकी शक्ति रहनेसे वह अनंत प्रदेशात्मकता प्राप्त कर सकता है, जिससे वह भी अस्तिकाय कहे जाने योग्य है ।

धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण, और आकाश द्रव्य अनंत प्रदेश प्रमाण होनेसे, वे भी अस्तिकाय हैं । इस तरह पाँच अस्तिकाय हैं । इन पाँच अस्तिकायके एकमेकरूप स्वभावसे इस लोककी उत्पत्ति है, अर्थात् लोक इन पाँच अस्तिकायमय है ।

प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेश प्रमाण है । वे जीव अनंत हैं ।

एक परमाणुके समान अनंत परमाणु हैं । दो परमाणुओंके एकत्र मिलनेसे अनंत द्वि-अणुक स्कंध होते हैं, तीन परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत त्रि-अणुक स्कंध होते हैं । चार परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत चार-अणुक स्कंध होते हैं । पाँच परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे अनंत पाँच-अणुक स्कंध होते हैं । इसी तरह छह परमाणु, सात परमाणु, आठ परमाणु, नौ परमाणु, दस परमाणुओंके एकत्र सम्मिलित होनेसे ऐसे अनंत स्कंध होते हैं । इसी तरह ग्यारह परमाणुसे सौ परमाणु, संख्यात परमाणु असंख्यात परमाणु, तथा अनंत परमाणुओंसे मिलकर बने हुए ऐसे अनंत स्कंध होते हैं ।

धर्म द्रव्य एक है, वह असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

अधर्म द्रव्य एक है, वह भी असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोक-व्यापक है ।

आकाश द्रव्य एक है, वह अनंत प्रदेश प्रमाण है; वह लोकालोक-व्यापक है । लोक प्रमाण आकाश असंख्यात प्रदेशात्मक है ।

---

[1] जीवके कर्मके साथ संयोग होनेको बंध, और उसके वियोग होनेको मोक्ष कहते हैं ।

काल द्रव्य इन पाँच अस्तिकायोंकी वर्तना पर्याय है, अर्थात् वह औपचारिक द्रव्य है। वस्तुतः तो वह पर्याय ही है। और पल विपलसे लगाकर वर्षादि पर्यंत जो काल सूर्यकी गतिकी ऊपरसे समझा जाता है, वह व्यावहारिक काल है, ऐसा श्वेताम्बर आचार्य कहते हैं। दिगम्बर आचार्य भी ऐसा ही कहते हैं, किन्तु वे इतना विशेष कहते हैं कि लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु विद्यमान है, जो अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श है, अगुरुलघु स्वभावसे युक्त है। वे कालाणु वर्तना पर्याय और व्यावहारिक कालके निमित्तोपकारी हैं। वे कालाणु द्रव्य कहे जाने योग्य हैं, परन्तु अस्तिकाय कहे जाने योग्य नहीं। क्योंकि एक दूसरेसे मिलकर वे अणु, क्रियाकी प्रवृत्ति नहीं करते; जिससे बहुप्रदेशात्मक न होनेसे काल द्रव्यको अस्तिकाय कहना ठीक नहीं; और पंचास्तिकायके विवेचनमें भी उसका गौण स्वरूप कहा है।

आकाश अनंत प्रदेश प्रमाण है। उसमें असंख्यात प्रदेश-प्रमाणमें धर्म अधर्म द्रव्य व्यापक हैं। धर्म अधर्म द्रव्यका यह स्वभाव है कि जीव और पुद्गल उसकी सहायताके निमित्तसे गति और स्थिति कर सकते हैं; जिससे धर्म अधर्म द्रव्यकी व्यापकतातक ही जीव और पुद्गलकी गति-स्थिति है, और उससे लोककी मर्यादा होती है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और द्रव्यप्रमाण आकाश ये पाँच द्रव्य जहाँ व्यापक है, वह लोक कहा जाता है।

६२९

बम्बई, श्रावण १९५२

(१) दुर्लभ मनुष्य देह भी पूर्वमें अनंतवार प्राप्त हुई तो भी कुछ भी सफलता नहीं हुई, परन्तु कृतार्थता तो उसी मनुष्य देहकी है कि जिस मनुष्य देहमें इस जीवने ज्ञानी-पुरुषको पहिचाना और उस महाभाग्यका आश्रय किया। जिस पुरुषके आश्रयसे अनेक मिथ्या प्रकारके आग्रह आदिकी मंदता हुई उस पुरुषके आश्रयसे यह देह छूट जाय, यही सार्थकता है। जन्म, जरा, मरण आदिको नाश करनेवाला आत्मज्ञान जिसमें रहता है, उस पुरुषका आश्रय ही जीवको जन्म, जरा, मरण आदिका नाश कर सकता है, क्योंकि वही यथासंभव उपाय है। संयोग संबंधसे इस देहके प्रति इस जीवको जो प्रारब्ध होगा, उसके निवृत्त हो जानेपर उस देहका समागम निवृत्त होगा। तथा उसका कभी न कभी तो वियोग निश्चय है, किन्तु आश्रयपूर्वक देह छूटे, वही जन्म सार्थक है; जिस आश्रयको पाकर जीव उसी भवमें अथवा भविष्यमें थोड़े ही कालमें निजस्वरूपमें स्थिति कर सके।

(२) तुम तथा श्रीमुनि प्रसंगवश······के यहाँ जाते रहना। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिको यथाशक्ति धारण करनेकी उन्हें संभावना माल्म हो तो मुनिको वैसा करनेमें प्रतिबंध नहीं।

(३) श्रीसद्गुरुने कहा है कि ऐसे निर्ग्रन्थ मार्गका सदा ही आश्रय रहे। मैं देह आदि स्वरूप नहीं हूँ; और देह, स्त्री, पुत्र आदि कोई भी मेरा नहीं है; मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ। इस तरह आत्मभावना करते हुए राग-द्वेषका क्षय होना संभव है।

---

६३० काविठा, श्रावण वदी १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है । इसलिये असंग भावना रखना योग्य है ।

---

६३१ रालज, श्रावण वदी १३ शनि. १९५२

ॐ

१. प्रश्नः—अमुक पदार्थके गमनागमन आदिके प्रसंगमें धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमें ही क्रिया होती है; और यदि इस तरह हो तो उनमें विभाग होना संभव है, जिससे वे भी कालके समयकी तरह अस्तिकाय नहीं कहे जा सकते ?

उत्तरः—जिस तरह धर्मास्तिकाय आदिके सर्व प्रदेश एक समयमें वर्तमान हैं, अर्थात् विद्यमान हैं, उसी तरह कालके सर्व समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यकी वर्तना पर्यायके सिवाय कालका कोई जुदा द्रव्यत्व नहीं है, जिससे उसका अस्तिकाय होना संभव हो । अमुक प्रदेशमें धर्मास्तिकाय आदिमें क्रिया हो, और अमुक प्रदेशमें न हो, इससे कुछ उसके अस्तिकाय होनेका भंग नहीं होता । वह द्रव्य केवल एक प्रदेशात्मक हो और उसमें समूहात्मक होनेकी योग्यता न हो, तो ही उसके अस्तिकाय होनेका भंग हो सकता है, अर्थात् तो ही वह अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता । परमाणु एक प्रदेशात्मक है, तो भी उस तरहके दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मकरूप होता है, इसलिये वह अस्तिकाय (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है । तथा एक परमाणुमें भी अनन्त पर्यायात्मकपना है, और कालके एक समयमें कुछ अनंत पर्यायात्मकपना नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है । एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नहीं ठहरता, तो फिर उसे अस्तिकायरूप माननेका विकल्प करना भी संभव नहीं है ।

२. मूल अप्कायिक जीवोंका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म होनेसे, सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है, तो भी षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थमें, जो हालमें ही प्रसिद्ध हुआ है, १४१ से १४३ पृष्ठतक उसका कुछ स्वरूप समझाया गया है । उसका विचारना हो सके तो विचार करना ।

३. अग्नि अथवा दूसरे बलवान शस्त्रसे अप्कायिक मूल जीवोंका नाश हो जाना संभव है, ऐसा समझमें आता है । यहाँसे भाप आदिरूप होकर जो पानी ऊपर आकाशमें बादलरूपसे एकत्रित होता है, वह भाप आदिरूप होनेसे अचित्त माल्म होता है, परन्तु बादलरूप होनेसे वह फिरसे सचित्त हो जाता है । वर्षा आदिरूपसे जमीनपर पड़नेपर भी वह सचित्त हो जाता है । मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित्त रह सकता है । सामान्यरूपसे मिट्टी अग्निके समान बलवान शस्त्र नहीं है, इसलिये वैसा हो तो भी उसका सचित्त रहना संभव है ।

४. बीज जबतक बोये जानेसे उगनेकी योग्यता रखता है, तबतक निर्जीव नहीं होता; वह सजीव ही कहा जाता है । अमुक अवधिके पश्चात् अर्थात् सामान्यरूपसे बीज (अन्न आदिका) तीन वर्षतक सजीव रह सकता है । इसके बीचमें उसमेंसे जीव च्युत भी हो सकता है, परन्तु उस अवधिके

बीतनेके पश्चात् उसे निर्जीव अर्थात् निर्बीज हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका बीज जैसा आकार हो, भी परन्तु वह बोनेसे उगनेकी योग्यतारहित हो जाता है। सभी बीजोंकी अवधि तीन वर्षकी नहीं होती, कुछ ही बीजोंकी होती है।

५. फ्रेंच विद्वान्द्वारा खोज किये हुए यंत्रकी विगतके बारेमें जो समाचार भेजा है, उसे बाँचा है। उसमें उस यंत्रका जो 'आत्माके देखनेका यंत्र' नाम रक्खा है, वह यथार्थ नहीं है। ऐसा किसी भी दर्शनकी व्याख्यामें आत्माका समावेश नहीं हो सकता। तुमने स्वयं भी उसे आत्माके देखनेका यंत्र नहीं समझा है, ऐसा मानते हैं। तथापि 'उससे कार्माण अथवा तैजस शरीर दिखाई दे सकते हैं, अथवा कोई दूसरा ज्ञान हो सकता है,' यह जाननेकी तुम्हारी जिज्ञासा माछ्म होती है। परन्तु कार्माण अथवा तैजस शरीर भी उस तरहसे नहीं देखे जा सकते। किन्तु चक्षु, प्रकाश, वह यंत्र, मरनेवालेकी देह, और उसकी छाया अथवा किसी आभासविशेषसे वैसा होना संभव है। उस यंत्रविषयक अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर, यह बात पूर्वापर अधिकतर जाननेमें आयेगी।

हवाके परमाणुओंके दिखाई देनेके विषयमें भी उनके लिखनेकी अथवा देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमें कुछ कुछ पर्याय-भेद माछ्म होता है। हवासे गमन करनेवाले किसी परमाणु स्कंधका (व्यावहारिक परमाणु—कुछ कुछ विशेष प्रयोगसे जो दृष्टिगोचर हो सकता हो) दृष्टिगोचर होना संभव है; अभी उनकी अधिक कृति प्रसिद्ध होनेपर विशेष समाधान करना योग्य माछ्म होता है।

---

६३२ राळज, श्रावण वदी १४ रवि. १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होनेतक मृत्युको नित्य समीप समझकर ही प्रवृत्ति करते हैं.

प्रायः उत्पन्न किये हुए कर्मकी रहस्यरूप मति मृत्युके समय ही होती है। दो प्रकारके भाव हो सकते हैं—एक तो क्वचित्, थोड़ा ही, परिचित होनेपर परमार्थरूप भाव; और दूसरा नित्य परिचित निज कल्पना आदि भावसे रूढि-धर्मका ग्रहणरूप भाव। सद्विचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि अथवा वास्तविक उदासीनता तो सब जीवसमूहको देखनेपर, किसी किसी विरले जीवको ही क्वचित् क्वचित् होती है; और दूसरा जो अनादि परिचित भाव है, वही प्रायः सब जीवोंमें देखनेमें आता है; और देहांत होनेके प्रसंगपर भी उसीका प्राबल्य देखा जाता है, ऐसा जानकर मृत्युके समीप आनेपर विचारवान पुरुष तथारूप परिणति करनेका विचार छोड़कर पहिलेसे ही उस क्रममें रहता है। तुम स्वयं भी बाह्य क्रियाके विधि-निषेधके आग्रहको विसर्जनवत् करके, अथवा उसमें अंतर्परिणामसे उदासीन होकर, देह और तद्विषयक संबंधका बारम्बारका विक्षेप छोड़कर, यथार्थ आत्मभावके विचार करनेको लक्षमें रक्खो तो ही सार्थकता है। अन्तिम अवसर आनेपर अनशन आदि, संस्तर आदि, अथवा सल्लेखना आदि क्रियायें क्वचित बनें या न भी बनें, तो भी जो जीवको ऊपर कहा है, वह भाव जिसके लक्षमें है, उसका जन्म सफल है, और वह क्रमसे निःश्रेयसको प्राप्त होता है। . . . .

तुमको बाह्य क्रिया आदिके कितने ही कारणोंसे विशेष विधि-निषेधका लक्ष देखकर हमें खेद होता था कि इसमें काल व्यतीत होनेसे आत्मावस्था कितनी स्वरूप स्थितिको सेवन करती है, और वह किस यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि तुम्हें उसका इतना अधिक परिचय खेदका कारण मालूम नहीं होता ? सहजमात्र ही जिसमें उपयोग लगाया हो तो वह किसी तरह ठीक कहा जा सकता है, परन्तु उसमें जो लगभग जागृति-कालका अधिक भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किस लिये ? और उसका क्या परिणाम है ? वह क्यों तुम्हारे ध्यानमें नहीं आता ? इस विषयमें कचित् कुछ प्रेरणा करनेकी इच्छा हुई है, किन्तु तुम्हारी तथारूप रुचि और स्थिति न देखनेसे प्रेरित करते करते वृत्तिको संकुचित कर लिया है। अभी भी तुम्हारे चित्तमें इस बातको अवकाश देने योग्य अवसर है। लोग अपनेको विचारवान अथवा सम्यग्दृष्टि समझें, केवल उसीसे कल्याण नहीं है, अथवा बाह्य व्यवहारके अनेक विधि-निषेध करनेके माहात्म्यमें भी कुछ कल्याण नहीं है, ऐसा हमें तो लगता है। यह कुछ एकांतिक दृष्टिसे लिखा है अथवा इसमें और कोई हेतु है, इस विचारको छोड़कर जो कुछ उन वचनोंसे अंतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो, उसे करनेका विचार रखना ही सुविचार-दृष्टि है।

'लोक-समुदाय कोई भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुति-निन्दाके प्रयत्नके लिये विचारवानको इस देहकी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। बाह्य क्रियाकी अंतर्मुखवृत्तिके बिना विधि-निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। गच्छ आदिके भेदका निर्वाह करनेमें, नाना प्रकारके विकल्प सिद्ध करनेमें, आत्माको आवरण करनेके बराबर है। अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकांत निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारक नहीं है,' ऐसा समझकर जो लिखा है, वह केवल अनुकंपा बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटभावसे, अदंभभावसे, और हितके लिये ही लिखा है—यदि तुम यथार्थ विचार करोगे तो यह दृष्टिगोचर होगा, और वह वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणाके होनेका कारण होगा।

---

६३३ राळज, भाद्रपद सुदी ८, १९५२

१. प्रश्नः—प्रायः करके सभी मार्गोंमें मनुष्यभवको मोक्षका एक साधन मानकर उसका बहुत बखान किया है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् जिससे उसकी वृद्धि हो, उस तरह बहुतसे मार्गोंमें उपदेश किया मालूम होता है। जिनोक्त मार्गमें वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता। वेदोक्त मार्गमें 'अपुत्रकी गति नहीं होती,' इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रम-पूर्वक विचार करनेसे, जिससे मनुष्यकी वृद्धि हो, वैसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। जिनोक्त मार्गमें उससे उल्टा ही देखा जाता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, जब कभी भी जीवको वैराग्य हो जाय तो संसारका त्याग कर देना चाहिये—ऐसा उपदेश देखनेमें आता है। इससे बहुतसे लोगोंका गृहस्थाश्रमको ग्रहण किये बिना ही त्यागी हो जाना, और उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाना संभव है, क्योंकि उनके अत्यागसे जो कुछ उनके संतानोत्पत्तिकी संभावना रहती, वह अब न होगी, और उससे वंशके नाश होने जैसा हो जायगा। इससे दुर्लभ मनुष्यभवको जो मोक्षका साधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये जिनभगवान्‌का वैसा अभिप्राय कैसे हो सकता है ?

उत्तर:—लौकिक और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिमें महान् भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियाँ ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली हैं। लौकिक दृष्टिमें व्यवहार (सांसारिक कारण) की मुख्यता है, और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है। इसलिये अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्रायः (बहुत करके) मिला देना योग्य नहीं।

जैन और दूसरे सभी मार्गोंमें प्रायः मनुष्य देहका जो विशेष माहात्म्य बताया है, अर्थात् मोक्षके साधनका कारणरूप होनेसे उसे जो चिंतामणिके समान कहा है, वह सत्य है। परन्तु यदि उससे मोक्षका साधन किया हो, तो ही उसका यह माहात्म्य है, नहीं तो वास्तविक दृष्टिसे पशुके देह जितनी भी उसकी कीमत माल्रम नहीं होती।

मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना, यह विचार मुख्यरूपसे लौकिक दृष्टिका है; परन्तु उस देहको पाकर अवश्य मोक्षका साधन करना, अथवा उस साधनका निश्चय करना, मुख्यरूपसे यही विचार अलौकिक दृष्टिका समझना चाहिये। अलौकिक दृष्टिमें मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करना, यह जो नहीं बताया है, उससे उसमें मनुष्य आदिके नाश करनेका आशय है, ऐसा न समझना चाहिये। लौकिक दृष्टिमें तो युद्ध आदि अनेक प्रसंगोंमें हजारों मनुष्योंके नाश हो जानेका समय आता है, और उसमें बहुतसे लोग वंशरहित हो जाते हैं; किन्तु परमार्थ अर्थात् अलौकिक दृष्टिमें वैसा कार्य नहीं होता, जिससे प्रायः वैसा होनेका समय आवे। अर्थात् इस जगह अलौकिक दृष्टिसे निर्वैरता, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंकी रक्षा और उनके वंशकी मौजूदगी, यह स्वतः ही बन जाता है; और मनुष्य आदि वंशकी वृद्धि करनेका जिसका हेतु है ऐसी लौकिक दृष्टि, उल्टी उस जगह वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश और उन्हें वंशरहित करनेवाली ही होती है।

अलौकिक दृष्टिको पाकर, अथवा अलौकिक दृष्टिके प्रभावसे, कोई भी मनुष्य छोटी अवस्थामें त्यागी हो जाय, तो उससे जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण न किया हो उसके वंशका, अथवा जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हो और पुत्रकी उत्पत्ति न हुई हो उसके वंशका, नाश होनेका समय आना संभव है, और उतने ही मनुष्योंका कम उत्पन्न होना संभव है; जिससे मोक्ष-साधनके हेतुभूत मनुष्य देहकी प्राप्तिके रोकने जैसा हो जाय। किन्तु यह लौकिक दृष्टिसे ही योग्य हो सकता है, परमार्थ दृष्टिसे तो वह प्रायः करके कल्पनामात्र ही लगता है।

कल्पना करो कि किसीने पूर्वमें परमार्थ मार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यभव प्राप्त किया हो, और उसे छोटी अवस्थासे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमें आते हों, तो ऐसे मनुष्यको संतानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना, अथवा उसे आश्रमके क्रममें रखना, यह यथार्थ नहीं माल्रम देता। क्योंकि मनुष्य देह तो केवल बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षारूपसे ही मोक्षकी साधनभूत हैं, मूलरूपसे तो यथार्थ त्याग-वैराग्य ही मोक्षका साधन समझना चाहिये। और वैसे कारणोंके प्राप्त करनेसे मनुष्य देहकी मोक्ष-साधकता सिद्ध नहीं होती, फिर उन कारणोंके प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमें पड़नेकी मान्यता रखना, यह मनुष्य देहको मोक्षके साधनरूप करनेके बराबर कहा जाय, अथवा उसे संसारके साधनरूप करनेके बराबर कहा जाय, यह विचारणीय है।

वेदोक्त मार्गमें जो चार आश्रमोंकी व्यवस्था की है, वह एकांतरूपसे नहीं हैं। वामदेव, शुकदेव, जड़भरतजी इत्यादि आश्रमके क्रम बिना ही त्यागरूपसे विचरे हैं। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममें यथार्थ त्याग करनेका लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्य रीतिसे ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि वैसा क्रम भी किसी विरलेको ही प्राप्त होनेका अवसर आता है। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई भी हो, तो वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो सके, ऐसा लक्ष रखकर प्रवृत्ति करना तो किसी किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकांत सिद्धांत नहीं कि चाहे जिस अवस्थामें चाहे जिस मनुष्यको त्याग कर देना चाहिये। तथारूप सत्संग और सद्गुरुके योग होनेपर, उस आश्रयसे किसी पूर्वके संस्कारवाला अर्थात् विशेष वैराग्यवान पुरुष, गृहस्थाश्रमके ग्रहण करनेके पहिले ही त्याग कर दे, तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धान्त प्रायः कहता है। क्योंकि अपूर्व साधनोंके प्राप्त होनेपर भी भोग आदिके भोगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके, अपनेको प्राप्त आत्म-साधनको गुमा देने जैसा करना, और अपनेसे जो संतति होगी वह जो मनुष्यदेह पावेगी वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथमात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभवकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करनेके ही समान है।

इन्द्रियाँ आदि जिसकी शांत नहीं हुई, और ज्ञानी-पुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करने योग्य नहीं, ऐसे किसी मंद अथवा मोह-वैराग्यवान जीवको त्याग लेना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धांत कुछ एकांत-रूपसे नहीं है। तथा प्रथमसे ही जिसे उत्तम संस्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् त्यागका परिणाममें लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक आचरण करे, तो उसने एकांतसे भूल ही की है, और उसने त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धांत नहीं है। केवल मोक्षके साधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस अवसरको गुमा न देना चाहिये, यही जिनभगवान्का उपदेश है।

उत्तम संस्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम किये बिना ही त्याग कर दें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाय, और उससे मोक्ष-साधनके कारण भी रुक जाँय, यह विचार करना अल्प दृष्टिसे ही योग्य मालूम हो सकता है। किन्तु तथारूप त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर मनुष्य देहकी सफलता होनेके लिये उस योगका अप्रमत्तरूपसे, बिना विलंबके लाभ प्राप्त करना, यह विचार तो पूर्वापर अविरुद्ध और परमार्थ दृष्टिसे ही सिद्ध कहा जा सकता है। आयु सम्पूर्ण होगी, और अपने संतति हों तो वे जरूर मोक्षका साधन करेंगी यह निश्चय कर, तथा संतति होगी ही यह मानकर, और पीछेसे ऐसेका ऐसेही त्याग प्रकाशित होगा ऐसे भविष्यकी कल्पना कर, आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौन विचारवान एकांतरूपसे योग्य समझेगा? अतएव अपने वैराग्यमें जिसे मंदता न हो और ज्ञानी-पुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों, उसे दूसरे मनोरथमात्र कारणोंके अथवा अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर, निश्चित और प्राप्त उत्तम कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभवकी सार्थकता है; बाकी वृद्धि आदिकी तो केवल कल्पनामात्र है। सच्चे मोक्षके मार्गका नाश कर, मात्र मनुष्यकी वृद्धि करनेकी कल्पना करने जैसा करें तो यह होना सरल है।

तथा जिस तरह हालमें पुत्रोत्पत्तिके लिये इस एक पुरुषको रुकना पड़े, वैसे ही उसे (होनेवाले

पुत्रको) भी रुकना पड़े, उससे तो किसीको भी उत्कृष्ट त्यागरूप मोक्ष-साधनके प्राप्त होनेका संयोग न आने देने जैसा ही होता है।

तथा जब किसी किसी उत्तम संस्कारवान पुरुषोंके गृहस्थाश्रमके पहिलेके त्यागसे वंशवृद्धिके रोकनेके विचारको लेते हैं, तो वैसे उत्तम पुरुषके उपदेशसे, अनेक जीव जो मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश करते हुए नहीं डरते हैं, वे उपदेश प्राप्त करके वर्तमानमें उस तरहसे मनुष्य आदिका नाश करते हुए क्यों नहीं रुक सकते; तथा शुभवृत्तिके प्राप्त करनेसे फिरसे वे मनुष्यभव क्यों नहीं प्राप्त कर सकते ? और इस रीतिसे तो मनुष्यकी रक्षा और वृद्धि होना ही संभव है।

अलौकिक दृष्टिमें तो मनुष्यकी हानि-वृद्धि आदिका विचार मुख्य नहीं है, कल्याण-अकल्याणका ही विचार मुख्य है। जैसे कोई राजा यदि अलौकिक दृष्टि प्राप्त कर ले तो वह अपने मोहसे हजारों प्राणियोंके युद्धमें नाश होनेके हेतुको देखकर, बहुत बार बिना कारण ही वैसे युद्ध न करे, जिससे बहुतसे मनुष्योंका बचाव हो और उससे वंशकी वृद्धि होकर बहुतसे मनुष्य बढ़ जाँय, यह भी विचार क्यों नहीं लिया जा सकता ?

इत्यादि अनेक प्रकारसे विचार करनेसे लौकिक दृष्टि दूर होकर अलौकिक दृष्टिसे विचारकी जागृति होगी।

(इत्यादि अनेक कारणोंसे परमार्थ दृष्टिसे जो बोध किया है, वही योग्य माल्म होता है। इस प्रकारके प्रश्नोत्तरोंमें विशेष करके उपयोगको प्रेरित करना कठिन होता है, तो भी संक्षेपमें जो कुछ लिखना बना है उसे उदीरणाकी तरह करके लिखा है।)

जबतक बने तबतक ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको लौकिक आशयमें न उतारना चाहिये। अथवा अलौकिक दृष्टिसे ही विचार करना योग्य है। और जबतक बने तबतक लौकिक प्रश्नोत्तरमें भी विशेष उपकारके बिना पड़ना योग्य नहीं; वैसे प्रसंगोंसे कितनी ही बार परमार्थ दृष्टिके क्षोभ प्राप्त करने जैसा परिणाम आता है।

२. बड़के बड़फल अथवा पीपलकी पीपलीको कुछ उनके वंशकी वृद्धिके करनेके हेतुसे, उनके रक्षणके हेतुसे, उन्हें अभक्ष कहा है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु उनमें कोमलता होती है, इसलिये उनमें अनंतकायका होना संभव है, तथा उसके बदले दूसरी बहुतसी चीज़ोंसे निष्पापरूपसे रहा जा सकता है, फिर भी उसीके अंगीकार करनेकी इच्छा रखना, यह वृत्तिकी तुच्छता होती है, इस कारण इन्हें अभक्ष कहा है, यह यथार्थ माल्म होता है।

३. पानीकी बिन्दुमें असंख्यात जीव हैं, यह बात ठीक है। किन्तु ऊपर कहे अनुसार जो बड़के बड़फल वगैरहके कारण हैं, वे कारण इसमें नहीं हैं, इस कारण उसे अभक्ष नहीं कहा। यद्यपि वैसे पानीके काममें लेनेकी भी आज्ञा है, ऐसा नहीं कहा; और उससे भी अमुक पाप होना ही संभव है, ऐसा उपदेश किया है।

४. पहिलेके पत्रमें बीजके सचित्त-अचित्तके संबंधमें समाधान लिखा है, उसे किसी विशेष हेतुसे

ही संक्षिप्त किया है। परंपरा रूढ़िके अनुसार लिखा है, फिर भी उसमें जो कुछ कुछ विशेष भेद समझमें आता है, उसे नहीं लिखा। लिखने योग्य न लगनेसे उसे नहीं लिखा। क्योंकि वह भेद केवल विचार मात्र है; और उसमें कुछ उस तरहका उपकार गर्भित हुआ नहीं जान पड़ता।

५. नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंका लक्ष एक मात्र आत्मार्थके लिये हो, तो आत्माका बहुत उपकार होना संभव हो।

---

६३४ स्तंभतीर्थके पास वड़वा, भाद्र.सुदी ११ गुरु. १९५२

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य पहुँचे।

तीन पत्र मिले हैं। 'कुछ भी वृत्ति रोकते हुए विशेष अभिमान रहता है'। तथा 'तृष्णाके प्रवाहमें चलनेसे उसमें बह जाते हैं, और उसकी गतिके रोकनेकी सामर्थ्य नहीं रहती,' इत्यादि बातें, तथा 'क्षमापना और कर्कटी राक्षसीके योगवासिष्ठके प्रसंगकी, जगत्का भ्रम दूर होनेके लिये, जो विशेपता' लिखी, उसे पढ़ी है। हालमें लिखनेमें विशेप उपयोग नहीं रह सकता, इससे पत्रकी पहुँच भी लिखनेसे रह जाती है। संक्षेपमें उन पत्रोंका उत्तर निम्नरूपसे विचारने योग्य है।

१. वृत्ति आदिकी न्यूनता अभिमानपूर्वक होती हो तो करना योग्य है। विशेपता इतनी है कि उस अभिमानपर निरंतर खेद रखना हो सके तो क्रमपूर्वक वृत्ति आदिकी न्यूनता हो सकती है, और *तत्संबंधी अभिमानका भी न्यून होना संभव है।*

२. अनेक स्थलोंपर विचारवान पुरुषोंने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाव निर्मूल हो जाते हैं, वह सत्य है। फिर भी उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होनेके पूर्व वे मन्द न पड़ें अथवा कम न हों। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानके द्वारा ही होता है, परन्तु जबतक कषाय आदिकी मंदता अथवा न्यूनता न हो तबतक प्रायः करके ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है। और उस विचारके वैराग्य (भोगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कषाय आदिकी अत्यन्त मंदता, उसके प्रति विशेप खेद), ये दो मुख्य आधार हैं। ऐसा जानकर उसका निरन्तर लक्ष रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहण किये बिना प्रायः करके विचारका उद्भव नहीं होता। और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण—सत्पुरुषकी प्रतीति—यह, कल्याण होनेमें सर्वोत्कृष्ट निमित्त होनेसे, उनकी अनन्य आश्रय-भक्ति परिणमित होनेसे होता है। प्रायः करके ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रयके समान हैं। कहीं किसीकी मुख्यता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, फिर भी ऐसा तो अनुभवमें आता है कि जो सच्चा मुमुक्षु हो उसे सत्पुरुषकी आश्रयभक्ति, अहंभाव आदिका छेदन करनेके लिये और अल्पकालमें विचारदशाके फलीभूत होनेके लिये उत्कृष्ट कारणरूप होती है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी बुद्धि कम की जाय, तो तृष्णा निर्बल होती जाती है। यदि लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमें आ जाय तो उसकी विशेपता मालूम न दे, और उससे उसकी इच्छा सहज ही मंद पड़ जाय, ऐसा यथार्थ मालूम होता है। बहुत ही

कठिनतासे आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षुको वह बहुत है। क्योंकि विशेपका कुछ आवश्यक उपयोग (कारण) नहीं है—ऐसा जबतक निश्चय न किया जाय, तबतक तृष्णा नाना प्रकारसे आवरण किया ही करती है। लौकिक विशेपतामें कुछ सारभूतता नहीं है, यदि ऐसा निश्चय करनेमें आ जाय, तो मुश्किलसे आजीविका जितना मिलता हो तो भी तृप्ति रह सकती है। मुश्किलसे आजीविका जितना नहीं मिलता हो, तो भी मुमुक्षु जीव प्रायः करके आर्तध्यान होने नहीं देता, अथवा होनेपर उसपर विशेप खेद करता है, और आजीविकामें निराश होता हुआ भी यथाधर्म उपार्जन करनेकी मंद कल्पना करता है, इत्यादि प्रकारसे बर्ताव करते हुए तृष्णाका पराभव क्षीण होने योग्य माळूम होता है।

३. प्रायः आध्यात्मिक शास्त्र भी सत्पुरुषके वचनको आत्मज्ञानका हेतु होता है; क्योंकि 'परमार्थ आत्मा' शास्त्रमें रहती नहीं, सत्पुरुषमें ही रहती है। यदि मुमुक्षुको किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो प्रायः ज्ञानकी याचना करनी योग्य नहीं; मात्र तथारूप वैराग्य, उपशम आदि प्राप्त करनेका उपाय करना ही योग्य है। उसके योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुलभ होता है, और वह यथार्थ विचार तथा ज्ञानका हेतु होता है।

४. जबतक कम उपाधियुक्त क्षेत्रमें आजीविका चलती हो तबतक विशेप प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेप अलौकिक हेतुके बिना, अधिक उपाधियुक्त क्षेत्रमें जाना योग्य नहीं, क्योंकि उससे बहुत सी सद्वृत्तियाँ मंद पड़ जाती हैं, अथवा वृद्धिंगत ही नहीं होतीं।

५. योगवासिष्ठके पहिलेके दो प्रकरण और उस प्रकारके ग्रंथोंका मुमुक्षुको विशेप करके लक्ष करना योग्य है।

६३५

ब्रह्मरन्ध्र आदिमें होनेवाले ज्ञानके विषयमें प्रथम बम्बई पत्र मिला था। हालमें उस विषयकी विगतका यहाँ दूसरा पत्र मिला है। वह सब ज्ञान होना संभव है, ऐसा कहनेमें कुछ कुछ समझके भेदसे व्याख्या भेद होता है। श्री····का तुम्हें समागम है, तो उनके द्वारा उस मार्गका यथाशक्ति विशेष पुरुषार्थ होता हो तो करने योग्य है। वर्तमानमें उस मार्गके प्रति हमारा विशेप उपयोग रहता नहीं। तथा पत्रद्वारा उस मार्गका प्रायः विशेप लक्ष कराया जा सकता नहीं।

आत्माकी कुछ कुछ उज्वलताके लिये, उसका अस्तित्व तथा माहात्म्य आदि प्रतीतिमें आनेके लिये, तथा आत्मज्ञानके अधिकारीपनेके लिये वह साधन उपकारी है। इसके सिवाय प्रायः दूसरी तरह उपकारी नहीं; इतना लक्ष अवश्य रखना योग्य है।

राळज, भाद्रपद १९५२

६३६

जैनदर्शनकी पद्धतिसे देखनेपर सम्यग्दर्शन, और वेदान्तकी पद्धतिसे देखनेपर हमें केवलज्ञान संभव है।

जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है, उसे उसी तरह समझाना मुश्किल होता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीमें निषेध किया है, जिससे तत्संबंधी प्रयत्न करना भी सफल नहीं मालूम होता। जैन समागममें हमारा अधिक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसोंके द्वारा विशेषरूपसे हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आया है, इत्यादि। वर्तमानमें जैनदर्शन इतनी अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानो जिनभगवान्‌का* × × × चला गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य माथापच्ची बहुत बढ़ा दी है, और अंतमार्गका ज्ञान प्रायः विच्छेद जैसा हो गया है। वेदोक्त मार्गमें तो दोसौ चारसौ वर्षोंसे कोई कोई महान् आचार्य हुए भी देखनेमें आते हैं, जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धतिकी जागृति हुई है, तथा साधारणरूपसे कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष इसी तरह होते रहते हैं; और जैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ मालूम नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी ही बाकी रही है, और उसमें भी सैकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गके सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और वह उपदेशकके भी लक्षमें नहीं—ऐसी स्थिति हो रही है। इस कारण चित्तमें ऐसा आया करता है कि जिससे उस मार्गका अधिक प्रचार हो तो वैसा करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली समाजको मूललक्षरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत कठिन है। तथा जैनमार्गको स्वयं चित्तमें उतारना तथा समझना कठिन है। उसे चित्तमें उतारते समय बहुतसे कारण मार्ग-प्रतिबन्धक हो जाँय, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्तिको करते हुए डर मालूम होता है। उसके साथ साथ यह भी होता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमारेसे कुछ भी बने तो बन सकता है, नहीं तो हालमें तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न काममें आवे, ऐसा मालूम नहीं होता। प्रायः करके मूलमार्ग दूसरे किसीके लक्षमें ही नहीं है। तथा उस हेतुके दृष्टांतपूर्वक उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण आवश्यक हैं। इसी तरह बहुतसे अंतरंग गुणोंकी भी आवश्यकता है। वे यहाँ मौजूद हैं, ऐसा दृढ़रूपसे मालूम होता है।

इस रीतिसे यदि मूलमार्गको प्रगटरूपमें लाना हो तो प्रगट करनेवालेको सर्वसंगका परित्याग करना योग्य है, क्योंकि उससे वास्तविक समर्थ उपकार होनेका समय आ सकता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए, कुछ समय पश्चात् उसका उदयमें आना संभव है। हमें सहज-स्वरूप ज्ञान है, जिससे योग-साधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की; तथा वह सर्वसंग-परित्यागमें अथवा विशुद्ध देश-परित्यागमें साधन करने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है; यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानके बिना दूसरा कुछ नहीं है। हालमें दो वर्षतक तो वह योग-साधन विशेषरूपसे उदयमें आवे वैसा दिखाई नहीं देता। इस कारण इसके बादके समयकी ही कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत करनेमें आवें, तो ३६ वें वर्ष सर्वसंग-परित्यागी उपदेशकका समय आ सकता है, और लोगोंका कल्याण होना हो तो वह हो सकता है।

---

* यहाँ अक्षर खंडित हैं। अनुवादक.

छोटी उम्रमें मार्गका उद्धार करनेके संबंधमें अभिलाषा थी। उसके पश्चात् ज्ञान-दशाके आनेपर क्रमसे वह उपशम जैसी हो गई। परन्तु कोई कोई लोग परिचयमें आये, उन्हें कुछ विशेषता माल्म होनेसे उनका कुछ मूलमार्गपर लक्ष आया, और इस ओर तो सैकड़ों और हजारों मनुष्य समागममें आये, जिनमेंसे कुछ समझवाले तथा उपदेशकके प्रति आस्थावाले ऐसे सौ-एक मनुष्य निकलेंगे। इसके ऊपरसे यह देखनेमें आया कि लोग पार होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वैसा संयोग नहीं मिलता। यदि सच्चे सच्चे उपदेशक पुरुषका संयोग मिले तो बहुतसे जीव मूलमार्गको पा सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत होना संभव है। ऐसा माल्म होनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है। परन्तु दृष्टि डालनेसे वसा को पुरुष ध्यानमें नहीं आता। इसलिये कुछ लिखनेवालेकी ओर ही दृष्टि आती है, परन्तु लिखनेवालेका जन्मसे ही लक्ष इस तरहका रहा है कि इस पदके समान एक भी जोखम-भरा पद नहीं है, और जहाँतक उस कार्यकी, अपनी जैसी चाहिये वैसी योग्यता न रहे, वहाँतक उसकी इच्छामात्र भी न करनी, और प्रायः अबतक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आई है। मार्गका थोडा बहुत स्वरूप भी किसी किसीको समझाया है, फिर भी किसीको एक व्रत—पच्चक्खाणतक—भी दिया नहीं; अथवा तुम मेरे शिष्य हो, और हम गुरु हैं, यह भेद प्रायः प्रदर्शित किया नहीं। कहनेका आभिप्राय यह है कि सर्वसंग-परित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज-स्वभावसे उदयमें आवे तो करनी चाहिये, ऐसी ही मात्र कल्पना है।

(२) उसका सच्चा सच्चा आग्रह नहीं है, मात्र अनुकंपा आदि तथा ज्ञान-प्रभाव रहता है, इससे कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अल्पांशसे ही अंगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्वाधीन है। हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसंग-परित्याग हो तो हजारों लोग उस मूलमार्गको प्राप्त करें। और हजारों लोग उस सन्मार्गका आराधन कर सद्गतिको पावें, ऐसा हमारेसे होना संभव है। हमारे संगमें त्याग करनेके लिये अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अंगमें त्याग है।

धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है। उसकी स्पृहासे भी कचित् ऐसी वृत्ति रह सकती है, परन्तु आत्माको अनेक बार देखनेपर उसकी संभवता, इस समयकी दशामें कम ही माल्म होती है। और वह कुछ कुछ सत्तामें रही होगी तो वह भी क्षीण हो जायगी, ऐसा अवश्य माल्म होता है। क्योंकि जैसी चाहिये वैसी योग्यताके विना देह छूट जाय, वैसी दृढ़ कल्पना हो, तो भी मार्गका उपदेश करना नहीं, ऐसा आत्मनिश्चय नित्य रहता है। एक इस बलवान कारणसे ही परिग्रह आदिके त्याग करनेका विचार रहा करता है। मेरे मनमें ऐसा रहता है कि यदि वेदोक्त धर्मका प्रकाशन करना अथवा स्थापित करना हो तो मेरी दशा यथायोग्य है, परन्तु जिनोक्त धर्म स्थापित करना हो तो अभी इतनी योग्यता नहीं, तो भी विशेष योग्यता है, ऐसा माल्म होता है।

६३७

(१)

हे नाथ! या तो धर्मोन्नति करनेरूप इच्छाका सहजभावसे समाधान हो, ऐसा हो जाय, अथवा वह इच्छा अवश्य कार्यरूप परिणत हो जाय!

उसका कार्यरूप होना अवश्य बहुत दुष्कर माछ्म होता है। क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें भी बहुत मतभेद हैं, और उसका मूल बहुत गहरा है। मूलमार्गसे लोग लाखों कोस दूर हैं। इतना ही नहीं, परन्तु उन्हें यदि मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करानी हो, तो भी बहुत कालका परिचय होनेपर भी, वह होनी कठिन पड़े, ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जड़प्रधान दशा रहती है।

(२)

उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ:—

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह जगह हो।

जगह जगह मतभेदसे कुछ भी कल्याण नहीं, यह बात फैले।

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे ही धर्म है, यह बात लक्षमें आवे।

द्रव्यानुयोग—आत्मविद्याका—प्रकाश हो।

त्याग वैराग्यकी विशेषतापूर्वक साधु लोग विचरें।

नवतत्त्वप्रकाश. साधुधर्मप्रकाश.

श्रावकधर्मप्रकाश. सद्भूतपदार्थ-विचार.

बारह व्रतोंकी अनेक जीवोंको प्राप्ति.

---

६३८ वडवा, भाद्रपद सुदी १५ सोम. १९५२

ॐ

(ज्ञानकी अपेक्षासे) सर्वव्यापक सच्चिदानन्द ऐसी मैं आत्मा एक हूँ—ऐसा विचार करना—ध्यान करना।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है।

सब कुछ घटाते घटाते जो अबाध्य अनुभव रहता है, वही आत्मा है।

जो सबको जानती है, वह आत्मा है।

जो सब भावोंका प्रकाश करती है, वह आत्मा है।

उपयोगमय आत्मा है।

अव्याबाध समाधिस्वरूप आत्मा है।

'आत्मा है'। आत्मा अत्यन्त प्रगट है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रगट अनुभवमें है।

अनुत्पन्न और अमलिनस्वरूप होनेसे 'आत्मा नित्य है'।

भ्रांतिरूपसे परभावका 'कर्त्ता है'।

उसके फलका 'भोक्ता है'; भान होनेपर 'स्वभाव-परिणामी' है।

सर्वथा स्वभाव-परिणाम वह 'मोक्ष है'।

सद्गुरु, सत्संग, सत्शास्त्र, सद्विचार और संयम आदि 'उसके साधन हैं'।

आत्माके अस्तित्वसे लगाकर निर्वाणतकके पद सच्चे हैं—अत्यंत सच्चे हैं, क्योंकि वे प्रगट अनुभवमें आते हैं।

भ्रांतिरूपसे आत्माके परभावका कर्त्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्मके फल-युक्त होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगती है। इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभतक न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अवश्य है।

निजस्वभाव ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज-स्वभावसे, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणमन करती है, वह 'केवलज्ञान' है।

तथारूप प्रतीतिभावसे जो परिणमन करे, वह 'सम्यक्त्व' है।

निरन्तर वही प्रतीति रहा करे, उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते हैं।

क्वचित् मंद, क्वचित् तीव्र, क्वचित् विस्मरण, क्वचित् स्मरणरूप इस तरह प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

उस प्रतीतिको जबतक सत्तागत आवरण उदय नहीं आया, तबतक उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

आत्माको जब आवरण उदय आवे, तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़ती है, उसे 'सास्वादन सम्यक्त्व' कहते हैं।

अत्यंत प्रतीति होनेके योग्य जहाँ सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना बाकी रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते हैं।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्य भावसंबंधी अहं-ममत्व आदि, हर्ष, शोक, क्रम क्रमसे क्षय होते हैं। मनरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है, वह सिद्धि पाता है; और जो स्वरूप-स्थिरताका सेवन करता है, वह स्वभाव-स्थितिको प्राप्त करता है।

निरन्तर स्वरूप-लाभ, स्वरूपाकार उपयोगका परिणमन इत्यादि स्वभाव, अन्तराय कर्मके क्षय होनेपर प्रगट होते हैं।

जो केवल स्वभाव-परिणामी ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। ॐ सच्चिदानन्दाय नमः।

---

६३९ आनंद, भाद्र. वदी १२ रवि. १९५२

पत्र मिला है। "मनुष्य आदि प्राणियोंकी वृद्धि" के संबंधमें तुमने जो प्रश्न लिखा था, वह प्रश्न जिस कारणसे लिखा गया था, उस कारणको प्रश्न मिलनेके समय ही सुना था। ऐसे प्रश्नसे विशेष आत्मार्थ सिद्ध होता नहीं अथवा वृथा कालक्षेप जैसा ही होता है। इस कारण आत्मार्थके प्रति लक्ष होनेके लिये, तुम्हे उस प्रकारके प्रश्नके प्रति अथवा उस तरहके प्रसंगोंके प्रति उदासीन रहना ही योग्य है, यह लिखा था। तथा यहाँ उस तरहके प्रश्नके उत्तर लिखने जैसी प्रायः वर्तमानमें दशा रहती नहीं, ऐसा लिखा था।

अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमें आत्मार्थका लक्ष सबसे प्रथम करना योग्य है।

---

६४० राळज, भाद्रपद १९५२

बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन और मीमांसा ये पाँच आस्तिक अर्थात् बंध-मोक्ष आदि भावको स्वीकार करनेवाले दर्शन हैं। नैयायिकोंके अभिप्रायके समान ही वैशेषिकोंका अभिप्राय है; सांख्यके समान ही योगका अभिप्राय है—इनमें थोड़ा ही भेद है, इससे उन दर्शनोंका अलग विचार नहीं किया। मीमांसाके पूर्व और उत्तर इस तरह दो भेद हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसामें विशेष विचार-भेद है, फिर भी मीमांसा शब्दसे दोनोंका बोध होता है। इस कारण यहाँ मीमांसा शब्दसे दोनों ही समझने चाहिये। पूर्वमीमांसा जैमिनीय और उत्तरमीमांसा वेदान्त नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध और जैनदर्शनके सिवाय बाकीके दर्शन वेदको मुख्य मानकर ही चलते हैं, इसलिये वे वेदाश्रित दर्शन हैं; और वे वेदार्थको प्रकाशित कर अपने दर्शनके स्थापित करनेका प्रयत्न करते हैं। बौद्ध और जैनदर्शन वेदके आश्रित नहीं—वे स्वतंत्र दर्शन हैं।

आत्मा आदि पदार्थको न स्वीकार करनेवाला चार्वाक नामका छट्टा दर्शन है। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद हैं—

१ सौत्रांतिक, २ माध्यंमिक[1], ३ शून्यवादी और ४ विज्ञानवादी[2]। वे भिन्न भिन्न प्रकारसे भावोंकी व्यवस्था स्वीकार करते हैं।

जैनदर्शनके थोड़े ही प्रकारांतरसे दो भेद हैं:—दिगम्बर और श्वेताम्बर।

पाँच आस्तिक दर्शन जगत्को अनादि मानते हैं। बौद्ध, सांख्य, जैन और पूर्वमीमांसाके मतानुसार सृष्टिका कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है।

नैयायिकोंके अनुसार ईश्वर तटस्थरूपसे कर्त्ता है। वेदान्तके मतानुसार आत्मामें जगत् विवर्तरूप अर्थात् कल्पितरूपसे भासित होता है, और उस रीतिसे उसने ईश्वरको भी कल्पितरूपसे ही कर्त्ता स्वीकार किया है।

योगके अभिप्रायके अनुसार ईश्वर नियंतारूपसे पुरुषविशेष है।

बौद्ध मतानुसार त्रिकाल और वस्तुस्वरूप आत्मा नहीं है—क्षणिक है। शून्यवादी बौद्धके मतानुसार वह विज्ञानमात्र है; और विज्ञानवादी बौद्धके मतके अनुसार दुःख आदि तत्त्व हैं। उनमें विज्ञान-स्कंध क्षणिकरूपसे आत्मा है।

नैयायिकोंके मतके अनुसार सर्वव्यापक असंख्य जीव हैं। ईश्वर भी सर्वव्यापक है। आत्मा आदिको मनके सान्निध्यसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

सांख्यके मतानुसार सर्वव्यापक असंख्य आत्माय हैं। वे नित्य अपरिणामी और चिन्मात्र स्वरूप हैं।

---

१ शून्यवादी बौद्ध ही मध्यम-मार्गक सिद्धांतको स्वीकार करनेके कारण माध्यमिक भी कहे जाते हैं। इसलिये माध्यमिक और शून्यवादी ये दोनों एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं। बौद्धदर्शनके मुख्य चार भेद निम्नरूपसे हैं:—सौत्रांतिक, वैभाषिक, शून्यवादी और विज्ञानवादी। —अनुवादक.

२ शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार सब कुछ शून्य है, वे विज्ञानमात्रको स्वीकार नहीं करते। विज्ञानवादी बौद्ध ही विज्ञानमात्रको स्वीकार करते हैं। —अनुवादक.

जैनके मतानुसार अनंत द्रव्य आत्मा हैं। प्रत्येक आत्मा भिन्न भिन्न है। ज्ञान दर्शन आद चेतनास्वरूप, नित्य और परिणामी प्रत्येक आत्माको असंख्यात प्रदेशी स्वशरीर-अवगाहवर्ती माना है।

पूर्वमीमांसाके मतानुसार जीव असंख्य हैं, चेतन हैं।

उत्तरमीमांसाके मतानुसार एक ही आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दमय त्रिकालाबाध्य है।

६४१

आनंद, आसोज १९५२

ॐ

आस्तिक मूल पाँच दर्शन आत्माका निरूपण करते हैं, उनमें जो भेद देखनेमें आता है, उसका क्या समाधान है?

दिन प्रतिदिन जैनदर्शन क्षीण होता हुआ देखनेमें आता है, और वर्धमानस्वामीके होनेके पश्चात् थोड़े ही वर्षोंमें उसमें नाना प्रकारके भेद हुए दिखाई देते हैं, उन सबके क्या कारण हैं?

हरिभद्र आदि आचार्योंने नवीन योजनाकी तरह श्रुतज्ञानकी उन्नति की माळूम होती है, परन्तु लोक-समुदायमें जैनमार्गका अधिक प्रचार हुआ दिखाई नहीं देता, अथवा तथारूप अतिशय-संपन्न धर्मप्रवर्तक पुरुषका उस मार्गमें उत्पन्न होना कम ही दिखाई देता है, उसके क्या कारण हैं?

अब, वर्तमानमें क्या उस मार्गकी उन्नति होना संभव है? और यदि हो तो किस तरह होना संभव है, अर्थात् उस बातका कहाँसे उत्पन्न होकर, किस रीतिसे, किस रास्तेसे, कैसी स्थितिमें प्रचार होना संभवित जान पड़ता है? फिर जाने वर्धमानस्वामीके समयके समान, वर्तमान कालके योग आदिके अनुसार वह धर्म प्रगट हो, ऐसा क्या दीर्घ-दृष्टिसे संभव है? और यदि संभव हो तो किस किस कारणसे संभव है?

जो जैनसूत्र हालमें विद्यमान हैं, उनमें उस दर्शनका स्वरूप बहुत अधूरा लिखा हुआ देखनेमें आता है, वह विरोध किस तरह दूर हो सकता है?

उस दर्शनकी परंपरामें ऐसा कहा गया है कि वर्तमानकालमें केवलज्ञान नहीं होता, और केवलज्ञानका विषय समस्त कालमें लोकालोकको द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानना माना गया है, क्या वह यथार्थ जान पड़ता है? अथवा उसके लिये विचार करनेपर क्या कुछ निर्णय हो सकता है? उसकी व्याख्यामें क्या कुछ फेरफार दिखाई देता है? और मूल व्याख्याके अनुसार यदि कुछ दूसरा अर्थ होता हो तो उस अर्थके अनुसार वर्तमानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है या नहीं? और उसका उपदेश दिया जा सकता है अथवा नहीं? तथा दूसरे ज्ञानोंकी जो व्याख्या कही गई है, क्या वह भी कुछ फेरफारवाली माळूम होती है? और वह किन कारणोंसे?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय द्रव्य; मध्यम अवगाही, संकोच-विकासकी भाजन आत्मा; महाविदेह आदि क्षेत्रकी व्याख्या—वे कुछ अपूर्व रीतिसे अथवा कही हुई रीतिसे अत्यन्त प्रबल प्रमाणसहित सिद्ध होने योग्य जान पड़ते हैं या नहीं?

गच्छके मतमतान्तर बहुत ही छोटे छोटे विषयोंमें प्रबल आग्रही होकर भिन्न भिन्नरूपसे दर्शन-मोहनीयके कारण हो गये हैं; उसका समाधान करना कठिन है। क्योंकि उन लोगोंकी मतिमें, विशेष आवरणको प्राप्त किये बिना ही इतने अल्प कारणोंमें बलवान आग्रह होना संभव नहीं।

अविरति, देशविरति, सर्वविरति, इनमेंके कौनसे आश्रमवाले पुरुषसे विशेष उन्नति होनी संभव है?

सर्वविरति बहुतसे कारणोंमें प्रतिबंधके कारण प्रवृत्ति कर सकता नहीं? देशविरति और अविर-तिकी तथारूप प्रतीति होना मुश्किल है, और फिर जैनमार्गमें भी उस बातका समावेश कम है।

यह विकल्प हमें क्यों उठता है? और उसे शमन कर देनेका चित्त है, उसे शमन किये देते हैं।

६४२

ॐ जिनाय नमः

(१) भगवान् जिनके कहे हुए लोकसंस्थान आदि भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे ही सिद्ध हो सकते हैं।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे ही समझमें आ सकता है।

मनुष्यकी ऊँचाईके प्रमाण आदिमें भी ऐसा ही है।

कालप्रमाण आदि भी उसी तरह घटते है।

निगोद आदि भी उसी तरह घट सकते हैं।

सिद्धस्वरूप भी इसी भावसे मनन करने योग्य माल्रम होता है।

लोकशब्दका अर्थ, अनेकांत शब्दका अर्थ आध्यात्मिक है। सर्वज्ञ शब्दका समझाना बहुत गूढ़ है। धर्मकथारूप चरित आध्यात्मिक परिभाषासे अलंकृत माल्रम होते हैं। जम्बूद्वीप आदिका वर्णन भी आध्यात्मिक परिभाषासे निरूपित किया माल्रम होता है।

(२) अतीन्द्रिय ज्ञानके जिनभगवान्ने दो भेद बताये हैं:—देशप्रत्यक्ष और सर्व प्रत्यक्ष देश प्रत्यक्षके दो भेद हैं:—अवधि और मनःपर्यव। इच्छितरूपसे अवलोकन करते हुए आत्माके, इन्द्रियके अवलंबन बिना ही अमुक मर्यादाके जाननेको अवधि कहते हैं। अनिच्छितरूपसे मानसिक विशुद्धिके बलसे जाननेको मनःपर्यव कहते हैं। सामान्य-विशेष चैतन्य-आत्मदृष्टिमें परिनिष्ठित शुद्ध केवल-ज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है।

(३) श्रीजिनभगवान्के कहे हुए भाव अध्यात्म-परिभाषामय होनेसे समझमें आने कठिन हैं। परमपुरुषका संयोग प्राप्त होना चाहिये। जैन परिभाषाके विचारका यथावकाश निदिध्यासन करना योग्य है।

---

६४३ काविठा, श्रावण वदी २, १९५२

* उपदेश-छाया

(१)

स्त्री, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंके प्रति मूलज्ञान होनेके पश्चात् यदि ऐसी भावना रहे कि 'जब मैं चाहूँगा तब इन स्त्रियों आदिके समागमका त्याग कर सकूँगा,' तो वह मूलज्ञानके ही वमन कर देनेकी बात समझनी चाहिये; अर्थात् उससे मूलज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़ता, परन्तु वह आवरणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जावेंगे अथवा अटक जावेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी-पुरुष भी आचरण करे तो ज्ञानी-पुरुषको भी निरावरणज्ञान आवरणरूप हो जाता है; और उससे ही वर्धमान आदि ज्ञानी-पुरुष अनिद्रापूर्वक साढ़े बारह वर्षतक रहे; उन्होंने सर्वथा असंगताको ही श्रेयस्कर समझा; एक शब्दके भी उच्चारण करनेको यथार्थ नहीं माना; और सर्वथा निरावरण, योगरहित, भोगरहित और भयरहित ज्ञान होनेके बाद ही उपदेशका कार्य आरंभ किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है, अथवा इसे इस तरह न कहा जाय तो मिथ्या है,' इत्यादि विकल्पोंको साधु मुनियोंको न करना चाहिये।

आजकलके समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु तो स्त्रीके पास चली जाती है, कुछ निद्रामें चली जाती है, कुछ धंधेमें चली जाती है, और जो कुछ थोड़ीसी बाकी रहती है, उसे कुगुरु लूट लेते हैं। अर्थात् मनुष्य-भव निरर्थक ही चला जाता है।

(२) श्रावण वदी ३

प्रश्नः—केवलज्ञानीने जो सिद्धांतोंका प्ररूपण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग'? शास्त्रमें कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहते हैं।

उत्तरः—तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको करते हुए रति, अरति, हर्ष और अहंकार होते हों। ज्ञानी-पुरुषको तो तादात्म्य संबंध होता नहीं, जिससे उपदेश करते हुए उसे रति अरति नहीं होते। रति-अरतिका होना, वह 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोकको जानते हैं—देखते हैं, उन्हें भी 'पर-उपयोग' कहा जाय। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि उनमें रति-अरतिभाव नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके विषयमें यह समझना चाहिये कि यदि अपनी बुद्धि न पहुँचे, तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि जिसे तुम असत् कहते हो, उसे तुम पहिले शास्त्रसे ही जीव अजीव कहना सीखे हो। अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, तुम जो कुछ जानते हो उसे

* संवत् १९५२ श्रावण-भाद्रपद मासमें श्रीमद् राजचन्द्र आनंदके आसपास काविठा, रालज, वडवा आदि स्थलोंमें निवृत्तिके लिये रहे थे। उस समय उनके समीपवासी भाई अंबालाल लालचन्दकी स्मृतिमें श्रीमद्के उपदेश-विचारोंकी जो छायामात्र रह गई, उसके आधारसे उन्होंने उस छायाका सार भिन्न भिन्न स्थलोंपर बहुत अपूर्ण और अव्यवस्थित-रूपमें लिख लिया था। यही सार यहाँ उपदेश-छायाके रूपमें दिया है। —अनुवादक.

तुमने जाना है, तो फिर उन्हें असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर ही गिना जायगा। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इस कारण वे सिद्धांतके विषयमें जानते थे। सिद्धांत महावीरस्वामीके बहुत वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें असत् कहना दोष गिना जायगा।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षु जीवको, यदि गुरुने 'ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्रियों आदिके समागममें न जानेकी' आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ़ विश्वास कर, वह भी उस उस स्थानकमें नहीं जाता; जब कि जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि बाँचकर ही मुमुक्षता हो गई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?'—ऐसे ही पागलपनके कारण वह उन स्त्रियों आदिके समागममें जाता है। कदाचित् उस समागमसे एक-दो बार वह बच भी जाय, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है,' ऐसे करते करते उसे उसमें आनन्द आने लगता है, और उससे वह स्त्रियोंका सेवन करने लगता है।

भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है; अर्थात् वह दूसरे विकल्पोंको न करते हुए वैसे प्रसंगमें कभी भी नहीं जाता। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानकमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है, वह ब्रह्मचर्य व्रतमें रह सकता है। अर्थात् वह इस अकायमें प्रवृत्त नहीं होता; जब कि जिसे ज्ञानीकी आज्ञाकारिता नहीं, ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र बाँचकर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं, और समझा करते हैं कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?' ऐसी मान्यताको लेकर यह जीव च्युत हो जाता है, और आगे बढ़ नहीं सकता। यह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, किन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे ही तो है। तथा जो सच्चा ज्ञानी है, उसके सिवाय दूसरा कोई अब्रह्मचर्यके वश न हो, यह केवल कथनमात्र है। जैसे, जिसे निवृत्ति नहीं हुई, उसे प्रथम तो ऐसा होता है कि 'यह क्षेत्र श्रेष्ठ है, यहाँ रहना योग्य है', परन्तु फिर ऐसे करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे वृत्ति क्षेत्राकार हो जाती है। किन्तु ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि एक तो क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और दूसरे उसने स्वयं भी निवृत्तिभाव प्राप्त किया है, इससे दोनों योग अनुकूल हैं। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो ऐसा ही अभिमान रहा करता है कि इसमें जीतना ही क्या है? परन्तु पीछेसे वह धीरे धीरे स्त्रियों आदि पदार्थोंमें फँस जाता है, जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

हालमें सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है, उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थंकरने उपदेश दिया हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथाके विषयमें पूँछा तो उस समय तत्संबंधी बात कह बताई। फिर किसीने पूँछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी:—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्वेदणी, संवेगणी। इस इस तरह जब बातें होतीं हों, तो उनके पास जो गणधर होते हैं, वे उन बातोंको ध्यानमें रख लेते हैं और अनुक्रमसे उनकी रचना करते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य कोई बात करनेसे ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है। बाकी तीर्थंकर जितना कहें, उतना कुछ सबका सब उनके ध्यानमें नहीं रहता—केवल अभिप्राय ही ध्यानमें रहता है। तथा गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थंकरोंद्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सख्त हैं, फिर भी यदि लोगोंको उससे विरुद्ध आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिये कहा गया है कि साधुओंको तेल डालना नहीं चाहिये फिर भी वे लोग डालते हैं। इसमें कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नहीं है, किन्तु जीवकी समझनेकी शक्तिका ही दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसको उल्टा माल्म होता है, और यदि सद्बुद्धि हो तो सीधा भासित होता है।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त = विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव नहीं समझ लेना चाहिये, जीवके भूलके स्थानक अनेक हैं। इसलिये विशेष विशेष जागृति रखनी चाहिये; व्याकुल होना नहीं चाहिये; मंदता न करनी चाहिये; पुरुषार्थ-धर्मको वर्धमान करना चाहिये।

जीवको सत्पुरुषका संयोग मिलना कठिन है। अपना शिष्य यदि दूसरे धर्ममें चला जाय तो अपारमार्थिक गुरुको ज्वर चढ़ आता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है' यह भाव होता नहीं। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधके श्रवण करनेके लिये कभी किसी सद्गुरुके पास गया हो और फिर वह अपने उसी कुगुरुके पास आवे, तो वह कुगुरु उस जीवको अनेक विचित्र विकल्प बैठा देता है, जिससे वह जीव फिरसे सद्गुरुके पास जाता नहीं। उस बिचारे जीवको तो सत्-असत् वाणीकी परीक्षा भी नहीं, इसलिये वह ठगा जाता है, और सन्मार्गसे च्युत हो जाता है।

(३)　　राळज, श्रावण वदी ६ शनि. १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिसे अहंकार दूर होता है, स्वच्छंद नाश होता है, और सीधे मार्गमें गमन होता है, अन्य विकल्प दूर होते हैं—ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्रश्नः—आत्मा किसके अनुभवमें आई कही जानी चाहिये?

उत्तरः—जिस तरह तलवारको म्यानमेंसे निकालनेपर वह उससे भिन्न माल्म होती है, उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न माल्म होती है, उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है।

जिस तरह दूध और पानी मिले हुए हैं, उसी तरह आत्मा और देह मिले हुए रहते हैं। दूध और पानी क्रिया करनेसे जब भिन्न भिन्न हो जाते हैं तब वे भिन्न कहे जाते हैं। उसी तरह आत्मा और देह क्रियासे भिन्न हो जानेपर भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। जबतक दूध दूधकी और पानी पानीकी पर्यायको प्राप्त न कर ले तबतक क्रिया माननी चाहिये। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लगाकर समस्त निजस्वरूप तककी भ्रांति होती नहीं। अपना दोष कम हो, आवरण दूर हो, तो ही समझना चाहिये कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं। हमें भव्य अभव्यकी चिंता न रखते हुए, हालमें तो जिससे उपकार हो ऐसे लाभका धर्म-व्यापार करना चाहिये।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समयमें उपस्थित रहे; अर्थात् जिससे हर्ष-शोक न हों। सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके समागममें एकाकार होता नहीं। उसके अचेत परिणाम होते नहीं। अज्ञान आकर खड़ा हुआ कि वह जानते ही उसे तुरत दबा देता है; बहुत ही जागृति होती है। भय अज्ञानका ही है। जैसे कोई सिंह चला आ रहा हो और उससे सिंहनीको भय लगता नहीं, किन्तु उसे

मालूम होता है कि मानो कोई कुत्ता ही चला आ रहा है; उसी तरह पौद्गलिक-संयोगको ज्ञानी समझता है । राज्यके मिलनेपर आनंद होता हो तो वह अज्ञान है ।

ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है । याथातथ्य कल्याण जो समझमें आया नहीं, उसका कारण वचनको आवरण करनेवाला दुराग्रहभाव—कषाय है । दुराग्रहभावके कारण, मिथ्यात्व क्या है वह समझमें आता नहीं । दुराग्रहको छोड़ दें तो मिथ्यात्व दूर भागने लगे । कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझ लेना मिथ्यात्व है । दुराग्रह आदि भावके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप बतानेपर भी समझमें आता नहीं । कषाय दुराग्रह आदिको छोड़ा न जाय तो फिर वह विशेष प्रकारसे पीड़ा देता है । कषाय सत्तारूपसे मौजूद रहती है, और जब निमित्त आता है तब वह खड़ी हो जाती है, तबतक खड़ी होती नहीं ।

प्रश्नः—क्या विचार करनेसे समभाव आता है ?

उत्तरः—विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता—तादात्म्यभाव—होता नहीं । अज्ञानी यदि पौद्गलिक-संयोगके हर्षका पत्र बाँचे, तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगता है, और यदि भयका पत्र बाँचे तो उदास हो जाता है ।

सर्प देखकर जब आत्मवृत्तिमें भयका कारण उपस्थित हो उस समय तादात्म्यभाव कहा जाता है । जिसे तन्मयता हो उसे ही हर्ष-शोक होता है । जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता ।

मिथ्यादृष्टिके मध्यमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है* ।

देह और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है । ज्ञानीके मध्यमें साक्षी है । ज्ञान, यदि जागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिलें उन्हें पीछे हटा सकता है ।

जीव, जब विभाव परिणाममें रहे उसी समय कर्म बाँधता है, और जब स्वभाव परिणाममें रहे उस समय कर्म बाँधता नहीं ।

स्वच्छंद दूर हो तो ही मोक्ष होती है । सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्मार्थी जीवके श्वासोच्छ्वासके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता, ऐसी जिनभगवान्की आज्ञा है ।

प्रश्नः—पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं ?

उत्तरः—पदार्थोंके ऊपर तुच्छभाव लानेसे । फूलोंके सुखानेसे उनकी सुगंधि थोड़े ही समय-तक रहकर नाश हो जाती है, फूल कुम्हला जाता है, और उससे कुछ संतोष होता नहीं । उसी तरह तुच्छ भाव आनेसे इन्द्रियोंके विषयमें लुब्धता होती नहीं ।

पाँच इन्द्रियोंमें जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं ।

प्रश्नः—शिष्यने ज्ञानी-पुरुषसे प्रश्न किया कि ' बारह उपांग तो बहुत गहन हैं, और इससे वे मेरी समझमें नहीं आ सकते; इसलिये कृपा करके बारह अंगोंका सार ही बताइये कि जिसके अनुसार आचरण करूँ तो मेरा कल्याण हो जाय । '

---

* इसका आशय श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके फुटनोटमें, संशोधक मनसुखराम रवजी भाई मेहताने निम्नरूपसे लिखा है:—मिथ्यादृष्टिको विपरीतभावसे आचरण करते हुए भी कोई रोक सकनेवाला नहीं, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको कोई भय नहीं । —अनुवादक

उत्तरः—सद्गुरुने कहाः—' वृत्तियोंका क्षय करना ही बारह उपांगोंका सार है '।

ये वृत्तियाँ दो प्रकारकी कही गईं हैं:—एक बाह्य और दूसरी अंतरंग। बाह्यवृत्ति अर्थात् आत्मासे बाहर आचरण करना। तथा आत्माके भीतर परिणमन करना, उसमें समा जाना, वह अंतर्वृत्ति है। पदार्थकी तुच्छता भासमान हुई हो तो अंतर्वृत्ति रह सकती है। जिस तरह थोड़ीसी कीमतके मिट्टीके घड़ेके फूट जानेपर, बादमें उसका त्याग करते हुए आत्मवृत्तिमें क्षोभ होता नहीं, कारण कि उसमें तुच्छता समझ रक्खी है; इसी तरह ज्ञानीको जगत्के सब पदार्थ तुच्छ भासमान होते हैं। ज्ञानीको एक रुपयेसे लगाकर सुवर्ण इत्यादितक सब पदार्थोंमें सर्वथा मिट्टीपना ही भासित होता है।

स्त्री हाड़-माँसका पुतला है, यदि यह स्पष्ट जान लिया है, तो इससे उसमें विचारवानकी वृत्तिमें क्षोभ होता नहीं। तो भी साधुको ऐसी आज्ञा की है कि जो हज़ारों देवांगनाओंसे भी चलायमान न हो सके ऐसे मुनिको भी, जिसके नाक-कान काट दिये हों ऐसी सौ बरसकी वृद्धा स्त्रीके पास भी रहना नहीं चाहिये; क्योंकि वह वृत्तिको क्षुब्ध करती ही है, ऐसा ज्ञानीने जाना है। तथा साधुको इतना ज्ञान नहीं कि वह उससे चलायमान न हो सके, ऐसा सोचकर ही उसके पास रहनेकी आज्ञा नहीं की। इस वचनके ऊपर स्वयं ज्ञानीने विशेष भार दिया है; इसलिये यदि वृत्तियाँ पदार्थोंमें क्षोभको प्राप्त करें, तो उन्हें तुरत ही वापिस खींचकर उन बाह्य वृत्तियोंका क्षय करना चाहिये।

जो चौदह गुणस्थानक बताये हैं, वे अंश अंशसे आत्माके गुण बताये हैं, और अन्तमें वे किस तरहके हैं, यह बताया है। जिस तरह किसी हीरेकी यदि चौदह कली बनाओ, तो अनुक्रमसे उसमेंसे विशेष अति विशेष कान्ति प्रगट होती है, और चौदह कली बना लेनेपर अन्तमें हीरेकी सम्पूर्ण कान्ति प्रगट होती है; इसी तरह सम्पूर्ण गुणोंके प्रगट होनेसे आत्मा सम्पूर्णरूपसे प्रगट होती है।

चौदह पूर्वधारी वहाँसे (ग्यारहवेंमें से) जो पीछे गिर जाता है, उसका कारण प्रमाद है। प्रमादके कारणसे वह ऐसा मानता है कि ' अब मुझे गुण प्रगट हो गया है '। ऐसे अभिमानसे वह प्रथम गुणस्थानकमें जा पड़ता है; और उसे अनंतकालका भ्रमण करना पड़ता है। इसलिये जीवको अवश्य जागृत रहना चाहिये; कारण कि वृत्तियोंकी ऐसी प्रबलता है कि वह हरेक प्रकारसे ठग लेती है।

जीव ग्यारहवें गुणस्थानकमेंसे च्युत हो जाता है, उसका कारण यह है कि वृत्तियाँ प्रथम तो समझती हैं कि ' इस समय यह शूरतामें है, इसलिये अपना बल चलनेवाला नहीं है ' और इस कारण सब चुप होकर दबी हुई रहती हैं। परन्तु वृत्तियोंने जहाँ समझा कि ' वे क्रोधसे भी ठगी नहीं जाँयगी, मानसे भी ठगी नहीं जाँयगी, तथा मायाका बल भी चलनेवाला नहीं है ', वहाँ तुरत ही लोभ उदयमें आ जाता है। उस समय 'मेरेमें कैसी ऋद्धि सिद्धि और ऐश्वर्य प्रकट हुए हैं, ' ऐसी वृत्ति होनेपर, उसका लोभ हो जानेसे जीव वहाँसे च्युत हो जाता है, और पहिले गुणस्थानमें आ पड़ता है।

इस कारणसे वृत्तियोंको उपशम करनेकी अपेक्षा उनका क्षय ही करना चाहिये, जिससे वे फिरसे उद्भूत हो न सकें। जिस समय ज्ञानी-पुरुष त्याग करानेके लिये कहे कि इस पदार्थको त्याग दे, तो वृत्ति गाफ़िल हो जाती है कि ठीक है, मैं दो दिन पश्चात् त्याग करूँगी। वृत्ति इस तरहके धोखेमें पड़ जाती है कि वह समझती है, चलो ठीक हुआ, नाजुक समयका बचा हुआ सौ वर्ष जीता है।

इतनेमें ही जहाँ शिथिलताके कारण मिले कि वृत्तियाँ यह कहकर ठग लेती हैं 'इसके त्याग करनेसे रोगके कारण उत्पन्न होंगे, इसलिये इस समय नहीं परन्तु फिर कभी त्याग करूँगी।'

इस तरहसे अनादिकालसे जीव ठगाया जा रहा है। किसीका बीस वर्षका पुत्र मर गया हो तो उस समय तो उस जीवको ऐसी कड़वाहट लगती है कि यह संसार मिथ्या है। किन्तु होता क्या है कि दूसरे ही दिन इस विचारको बाह्य वृत्ति यह कहकर विस्मरण करा देती है कि 'इसका पुत्र कल बड़ा हो जायगा; ऐसा तो होता ही आता है; किया क्या जाय?' परन्तु यह नहीं होता जिस तरह वह पुत्र मर गया है उस तरह मैं भी मर जाऊँगा। इसलिये समझकर वैराग्य लेकर चला जाऊँ तो अच्छा है—ऐसी वृत्ति नहीं होती। वहाँ वृत्ति ठग लेती है।

जीव ऐसा मान बैठता है कि 'मैं पंडित हूँ, शास्त्रका वेत्ता हूँ, होशियार हूँ, गुणवान हूँ, लोग मुझे गुणवान कहते हैं', परन्तु जब उसे तुच्छ पदार्थका संयोग होता है, उस समय तुरत ही उसकी वृत्ति उस ओर खिंच जाती है। ऐसे जीवको ज्ञानी कहते हैं कि तू जरा विचार तो सही कि तुच्छ पदार्थकी कीमतकी अपेक्षा भी तेरी कीमत तुच्छ है! जैसे एक पाईकी चार बीड़ी मिलती हैं—अर्थात् पाव पाईकी एक एक बीड़ी हुई—उस बीड़ीका यदि तुझे व्यसन हो और तू अपूर्व ज्ञानीके वचन श्रवण करता हो, तो यदि वहाँ भी कहींसे बीड़ीका धूँआ आ गया हो तो तेरी आत्मामेंसे भी धूँआ निकलने लगता है, और ज्ञानीके वचनोंपरसे प्रेम जाता रहता है। बीड़ी जैसे पदार्थमें, उसकी क्रियामें, वृत्तिके आकृष्ट होनेसे वृत्तिका क्षोभ निवृत्त होता नहीं! जब पाव पाईकी बीड़ीसे भी ऐसा हो जाता है तो फिर व्यसनीकी कीमत तो उससे भी तुच्छ हुई—एक एक पाईकी चार चार आत्मायें हुई। इसलिये हरेक पदार्थमें तुच्छताका विचारकर वृत्तिको बाहर जाते हुए रोकनी चाहिये और उसका क्षय करना चाहिये।

अनाथदासजीने कहा है कि '**एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।**'

उत्तम जाति, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और सत्संग इत्यादि प्रकारसे आत्म-गुण प्रगट होते हैं।

तुम जैसा मानते हो वैसा आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। इसी तरह आत्माको कर्मोंने कुछ सर्वथा आवृत कर नहीं रक्खा है। आत्माका पुरुषार्थ-धर्मका मार्ग तो सर्वथा खुला हुआ है।

बाजरे और गेहूँके एक दानेको यदि एक लाख वर्षतक रख छोड़ा हो (इतने दिनोंमें वह सड़ जायगा, यह बात हमारे ध्यानमें है), परन्तु यदि उसे पानी मिट्टी आदिका संयोग न मिले तो उसका उगना संभव नहीं है, उसी तरह सत्संग और विचारका संयोग न मिले तो आत्माका गुण प्रगट होता नहीं।

श्रेणिक राजा नरकमें है, परन्तु समभावसे है, समकिती है, इसलिये उसे दुःख नहीं है।

चार लकड़हारोंकी तरह जीव भी चार प्रकारके होते हैं:—

कोई चार लकड़हारे जंगलमें गये। पहिले पहिल सबने लकड़ियाँ उठा लीं। वहाँसे आगे चलनेपर चंदन आया। वहाँ तीनने तो चंदन ले लिया, और उनमेंसे एक कहने लगा कि 'मालूम नहीं कि इस तरहकी लकड़ियाँ बिकेंगी या नहीं, इसलिये मुझे तो इन्हें नहीं लेना है। हम जो रोज लेते हैं;

मुझे तो ये ही लकड़ियाँ अच्छी हैं। ' आगे चलनेपर चाँदी-सोना आया। उन तीनमेंसे दो जनोंने चन्दनको फेंक दिया, और सोना-चाँदी ले लिया। एकने सोना-चाँदी नहीं लिया। वहाँसे आगे चले कि चिन्तामणि रत्न आया। इन दोमेंसे एकने सोना फेंककर चिंतामणि रत्न उठा लिया, और एकने सोनेको ही रहने दिया।

१. यहाँ इस तरह दृष्टांत घटाना चाहिये कि जिसने केवल लकड़ियाँ ही लीं, और दूसरा कुछ भी न लिया था—ऐसा एक तरहका जीव होता है; जिसने अलौकिक कार्योंको करते हुए ज्ञानी-पुरुषको पहिचाना नहीं; दर्शन भी किया नहीं। इससे उसका जन्म, जरा, मरण भी दूर हुआ नहीं, गति भी सुधरी नहीं।

२. जिसने चन्दन उठा लिया और लकड़ियोंको फेंक दिया—वहाँ इस तरह दृष्टांत घटाना चाहिये कि जिसने थोड़ा भी ज्ञानीको पहिचाना, उसके दर्शन किये, तो उससे उसकी गति श्रेष्ठ हो गई।

३. जिसने सोना आदि ग्रहण किया, वह दृष्टांत इस तरह घटाना चाहिये कि जिसने ज्ञानीको उस प्रकारसे पहिचाना उसे देवगति प्राप्त हुई।

४. जिसने चिंतामणि रत्न लिया, उस दृष्टांतको इस तरह घटाना चाहिये कि जीवको ज्ञानीकी यथार्थ पहिचान हुई कि जीव भवमुक्त हुआ।

कल्पना करो कि एक वन है। उसमें बहुतसे माहात्म्ययुक्त पदार्थ हैं। उनकी जैसे जैसे पहिचान होती है, उतना ही उनका माहात्म्य माल्म देता है, और उसी प्रमाणमें मनुष्य उनको ग्रहण करता है। इसी तरह ज्ञानी-पुरुषरूपी वन है। उस ज्ञानी पुरुषका माहात्म्य अगम अगोचर है। उसकी जितनी जितनी पहिचान होती है, उतना ही उसका माहात्म्य माल्म होता है; और उस उस प्रमाणमें जीवका कल्याण होता है।

सांसारिक खेदके कारणोंको देखकर, जीवको कड़वाहट माल्म होनेपर भी वह वैराग्यके ऊपर पाँव रखकर चला जाता है, किन्तु वैराग्यमें प्रवृत्ति करता नहीं।

लोग ज्ञानीको लोक-दृष्टिसे देखें तो उसे पहिचानते नहीं।

आहार आदिमें भी ज्ञानी-पुरुषकी प्रवृत्ति बाह्य रहती है। किस तरह ? जैसे किसी आदमीको पानीमें खड़े रहकर, पानीमें दृष्टि रखकर, बाण साधकर ऊपर टँगे हुए घड़ेका वेधन करना रहता है। लोग तो समझते हैं कि वेधन करनेवालेकी दृष्टि पानीमें है, किन्तु वास्तवमें देखा जाय तो उस आदमीको घड़ेका वेधन करना है, इसलिये उसपर लक्ष करनेके वास्ते, वेधन करनेवालेकी दृष्टि आकाशमें ही रहती है। इसी तरह ज्ञानीकी पहिचान किसी विचारवानको ही होती है।

दृढ निश्चय करना कि बाहर जाती हुई वृत्तियोंका क्षय करना चाहिये—अवश्य क्षय करना चाहिये, यही ज्ञानीकी आज्ञा है।

स्पष्ट प्रीतिसे संसार करनेकी इच्छा होती हो तो समझना चाहिये कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं। जिस तरह प्रथम संसारमें रसरहित आचरण करता हो उस तरह, ज्ञानीका संयोग होनेपर फिर आचरण करे—यही ज्ञानीका स्वरूप है।

ज्ञानीको ज्ञान-दृष्टिसे—अंतर्दृष्टिसे—देखनेके पश्चात् स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता नहीं। क्योंकि ज्ञानीका स्वरूप विषय-सुखकी कल्पनासे जुदा है। जिसने अनन्त सुखको जान लिया हो उसे राग होता नहीं, और जिसे राग होता नहीं, उसीने ज्ञानीको देखा है; और उसीको ज्ञानी-पुरुषका दर्शन करनेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि उसने ज्ञानीके वचनोंको यथार्थ रीतिसे सत्य जाना है। जिसने ज्ञानीके समीप, देह और आत्माको भिन्न—पृथक् पृथक्—जान लिया है, उसे देह और आत्मा भिन्न भिन्न भासित होते हैं; और उससे स्त्रीका शरीर और आत्मा जुदा जुदा माल्म होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको माँस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला ही समझा है, इसलिये उसे उसमें राग उत्पन्न होता नहीं।

समस्त शरीरका ऊपर नीचेका बल कमरके ऊपर ही रहता है। जिसकी कमर टूट गई है, उसका सब बल नष्ट हो गया है। विषय आदि जीवकी तृष्णा है। संसाररूपी शरीरका बल इस विषय आदिरूप कमरके ऊपर ही रक्खा हुआ है। ज्ञानी-पुरुषके बोधके लगनेसे विषय आदिरूप कमरका भंग हो जाता है, अर्थात् विषय आदिकी तुच्छता माल्म होने लगती है; और उस प्रकारसे संसारका बल घटता है, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

महावीरस्वामीको **संगम** नामके देवताने बहुत ही ऐसे ऐसे परीषह दिये कि जिनमें प्राण-त्याग होते हुए भी देर न लगे। वहाँ कैसी अद्भुत समता रक्खी! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिसके दर्शन करनेसे कल्याण होता हो, नाम स्मरण करनेसे कल्याण होता हो, उसीके समागममें आकर इस जीवको अनन्त संसारकी वृद्धिका कारण होता है! ऐसी अनुकंपा आनेसे आँखमें आँसू आ गये। कैसी अद्भुत समता है! दूसरेकी दया किस तरह अंकुरित हो निकली थी! उस समय मोहराजने यदि जरा ही धक्का लगाया होता तो तुरत ही तीर्थंकरपना संभव न रहता; और कुछ नहीं तो देवता तो भाग ही जाता। जिसने मोहनीयके मलका मूलसे नाश कर दिया है, अर्थात् मोहको जीत लिया है, वह मोह कैसे कर सकता है?

श्रीमहावीरस्वामीके पास **गोशालाने** आकर दो साधुओंको जला डाला, उस समय उन्होंने यदि जरा भी सामर्थ्यपूर्वक साधुओंकी रक्षा की होती, तो उन्हें तीर्थंकरपनेको फिरसे करना पड़ता। परन्तु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है' ऐसी भावना ही नहीं है, उसे वैसा कुछ भी करना नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसा विचार किया कि 'मैं शरीरके रक्षणका दातार नहीं, केवल भाव-उपदेशका ही दातार हूँ। यदि मैं इनकी रक्षा करूँ तो मुझे गोशालाकी भी रक्षा करनी चाहिये, अथवा समस्त जगत्की ही रक्षा करनी उचित है'। अर्थात् तीर्थंकर ऐसा ममत्व करते ही नहीं।

वेदान्तमें इस कालमें चरमशरीरी होना कहा है। जिनभगवान्के मतानुसार इस कालमें एकावतारी जीव होते हैं। यह कोई थोड़ी बात नहीं है; क्योंकि इसके पश्चात् कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर लगती नहीं। कुछ थोड़ा ही बाकी रह जाता है, और जो रहता है वह फिर सहजमें ही दूर हो जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा—वृत्तियाँ—कैसी होती हैं? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शान्त हुई रहती हैं; और इतनी अधिक शान्ति हुई रहती है कि राग-द्वेष सब नाश होने योग्य हो जाते हैं—उपशान्त हो जाते हैं।

सद्वृत्तियोंके उत्पन्न होनेके लिये जो जो कारण-साधन—बताये होते हैं, उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी कहते ही नहीं। जैसे रात्रिमें भोजन करना हिंसाका कारण माळ्म होता है, इसलिये ज्ञानी कभी भी आज्ञा नहीं करते कि तू रात्रिमें भोजन कर। परन्तु जिस जिस अहंभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा 'इस अमुकसे ही मोक्ष होगी, अथवा इसमें ही मोक्ष है' ऐसा दुराग्रहसे मान्य किया हो, तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिये ज्ञानी-पुरुष कहते हैं कि 'इसे छोड़ दे; ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा (रात्रिभोजन-त्याग आदि) कर;' और वैसा करेगा तो कल्याण हो जायगा। अनादि कालसे दिनमें और रातमें भोजन किया है, परन्तु जीवको मोक्ष हुई नहीं!

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं।

केशीस्वामी बड़े थे, और पार्श्वनाथ स्वामीके शिष्य थे, तो भी उन्होंने पाँच महाव्रत स्वीकार किये थे।

केशीस्वामी और गौतमस्वामी महाविचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यह नहीं कहा कि 'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिये तुम मेरेसे चारित्र ग्रहण करो'। विचारवान और सरल जीवको, जिसे तुरत ही कल्याणयुक्त हो जाना है, इस प्रकारकी बातका आग्रह होता नहीं।

कोई साधु जिसने अज्ञान-अवस्थापूर्वक आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, और पीछेसे उसे ज्ञानी-पुरुषका समागम होनेपर, वह ज्ञानी-पुरुष यदि साधुको आज्ञा करे कि जिस स्थानमें तूने आचार्य-पनेसे उपदेश किया हो, वहाँ जाकर सबसे पीछे एक कोनेमें बैठकर सब लोगोंसे ऐसा कह कि 'मैंने अज्ञानभावसे उपदेश दिया है, इसलिये तुम लोग भूल खाना नहीं;' तो साधुको उस तरह किये विना छुटकारा नहीं है। यदि वह साधु यह कहे कि 'मेरेसे ऐसा नहीं हो सकता; इसके बदले यदि आप कहो तो मैं पहाड़के ऊपरसे गिर जाऊँ, अथवा अन्य जो कुछ कहो सो करूँ; परन्तु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता'—तो ज्ञानी कहता है कि 'कदाचित् तू लाख बार भी पर्वतके ऊपरसे गिर जाय तो भी वह किसी कामका नहीं है। यहाँ तो यदि वैसा करेगा तो ही मोक्षकी प्राप्ति होगी। वैसा किये विना मोक्ष नहीं है। इसलिये यदि तू जाकर क्षमा माँगे तो ही तेरा कल्याण हो सकता है'।

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे। आनन्द श्रावक उनके पास गया। आनन्द श्रावकने कहा कि 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है'। उत्तरमें गौतमस्वामीने कहा कि 'नहीं, नहीं, इतना सब हो नहीं सकता, इसलिये तुम क्षमापना लो'। उस समय आनन्द श्रावकने विचार किया ये मेरे गुरु हैं; संभव है, इस समय ये भूल करते हों, तो भी 'आप भूल करते हो', यह कहना योग्य नहीं। ये गुरु हैं, इसलिये इनसे शान्तिसे ही बोलना ठीक है। यह सोचकर आनन्द श्रावकने कहा कि महाराज! सद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं' अथवा असद्भूतवचनका 'मिच्छामि दुक्कडं'? गौतमने कहा कि असद्भूतवचनका ही 'मिच्छामि दुक्कडं' होता है। इसपर आनन्द श्रावकने कहा कि 'महाराज! मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' लेने योग्य नहीं हूँ'। इतनेमें गौतमस्वामी वहाँसे चले गये और उन्होंने जाकर महावीरस्वामीसे पूँछा। यद्यपि गौतमस्वामी स्वयं उसका समाधान कर सकते थे, परन्तु गुरुके मौजूद रहते हुए वैसा करना ठीक नहीं, इस कारण उन्होंने महावीरस्वामीके पास जाकर यह

सब बात कह दी। महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गौतम! हाँ, आनन्द जैसा समझता है वैसा ही है, और तुम्हारी भूल है, इसलिये तुम आनन्दके पास जाकर क्षमा माँगो'। गौतमस्वामी 'तथास्तु' कहकर क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोह नामक महासुभटको पराभव न किया होता तो वे वहाँ जाते ही नहीं; और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महाराज! आपके जो इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी कर सकता हूँ, पर वहाँ तो मैं न जाऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गौतमस्वामीने स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँगी।

'सास्वादनसमकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर यदि आवरण आ जाय, तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न माळूम होती है। जैसे छाछमेंसे पहिले मक्खनको निकाल लेनेपर पीछेसे उसे छाछमें डालें, तो मक्खन और छाछ पहिले जैसे एकमेक थे, वैसे एकमेक वे फिर नहीं होते; उसी तरह समकित मिथ्यात्वके साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिसे हीरामणिकी कीमत हो गई हो उसके सामने यदि बिल्लौरका टुकड़ा आवे तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आती है—यह दृष्टांत भी यहाँ घटता है।

सद्गुरु, सद्देव और केवलीके प्ररूपित किये हुए धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सद्देव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्ग्रंथ गुरु अर्थात् पैसे रहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रंथि-भेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यवहारसे ग्रन्थि-भेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने बिल्लौरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर आदमीके पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर आदमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक कीमतकी मणिया बताकर कहा कि देख इनमें कुछ फ़रक माळूम देता है? बराबर देख। उस मनुष्यने जवाब दिया कि 'हाँ इनमें फ़रक तो माळूम पड़ता है।' इसके बाद उस चतुर पुरुषने झाड़-फन्नूस बताकर कहा कि 'देख, तेरी जैसी मणियाँ तो हज़ारों मिलती हैं।' सब झाड़ फन्नूस दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बताई तो उसे उसकी ठीक ठीक कीमत माळूम पड़ी, और उसने उस मणिको बिलकुल नकली समझकर फेंक दी। बादमें फिर, किसी दूसरे आदमीने मिलनेपर उससे कहा कि तूने जिस मणिको असली समझ रक्खा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आवरणसे वहम आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु पीछेसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी कीमत हुई हो उसी तरहसे समझता है—वह तुरत ही जागृतिमें आता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आवरण तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह भूली जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्व-प्रतीति होती है, परन्तु बादमें मिथ्यात्वीके संगसे आवरण आ जानेसे उसमें शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसे आवरण आ जाता है। इसका नाम सास्वादनसम्यक्त्व है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जौहरी था। उसके पास व्यापारमें अधिक नुकसान हो जानेसे कुछ भी द्रव्य बाकी बचा नहीं। जब मरनेका समय नज़दीक आ पहुँचा, तो वह स्त्री बच्चोंका विचार करने लगा कि मेरे

पास कुछ भी तो द्रव्य नहीं है; किन्तु यदि अभी इस वातको कह दूँ तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जावेगी। स्त्रीने सामने देखा और पूँछा कि कुछ कहना चाहते हैं? पुरुषने कहा 'क्या कहूँ?' स्त्रीने कहा कि जिससे मेरा और बच्चोंका उदर-पोषण हो ऐसा कोई मार्ग वताइये, और कुछ कहिये? उस समय उस पुरुषने सोच विचारकर कहा कि घरमें जवाहरातके सन्दूकमें कीमती नगकी एक डिबिया है। उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े, तो निकालकर मेरे भाईके पास जाकर विकवा देना, उससे तुझे वहुतसा द्रव्य मिल जायगा। इतना कहकर वह पुरुष काल-धर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनों वाद विना पैसेके उदर-पोषणके लिये पीड़ित हुआ वह लड़का, अपने पिताके कहे हुए उस जवाहरातके नगको लेकर अपने काका (पिताके भाई जौहरी) के पास गया, और कहा कि काकाजी मुझे इस नगको वेचना है; उसका जो पैसा आवे उसे मुझे दे दो। उस जौहरी भाईने पूँछा, 'इस नगको वेचकर तुझे क्या करना है?' लड़केने उत्तर दिया कि 'उदर भरनेके लिये पैसेकी जरूरत है।' इसपर उस जौहरीने कहा 'यदि सौ-पचास रुपये चाहिये तो तू ले ले; रोज मेरी दुकानपर आ, और खर्च लेता रह। इस समय इस नगको रहने दे।' उस लड़केने उस जौहरी काकाकी वातको कबूल कर लिया, और उस जवाहरातको वापिस ले गया। तत्पश्चात् वह लड़का रोज जौहरीकी दुकानपर जाने लगा, और धीरे धीरे जौहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबकी परीक्षा करना सीख गया, और उसे उन सबकी कीमत मालूम हो गई। अब उस जौहरीने कहा 'तू जो पहिले अपने जवाहरातको वेचने लाया था उसे ला, उसे अब वेच देंगे।' इसपर लड़केने घरसे अपनी जवाहरातकी डिबिया लाकर देखी तो वह नग नकली मालूम दिया, इससे उसने उसे तुरत ही फेंक दिया। जब उस जौहरीने उसके फेंक देनेका कारण पूँछा, तो लड़केने जवाब दिया कि वह तो बिलकुल नकली था, इसलिये फेंक दिया है।

देखो, उस जौहरीने यदि उसे पहिले ही नकली वताया होता तो वह लड़का मानता नहीं, परन्तु जिस समय अपने आपको वस्तुकी कीमत मालूम हो गई और नकलीको नकलीरूपसे समझ लिया, उस समय जौहरीको कहना भी पड़ा नहीं कि यह नकली है। इसी तरह अपने आपको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर यदि असद्गुरुको असत् जान लिया तो जीव असद्गुरुको छोड़कर सद्गुरुके चरणमें जा पड़ता है; अर्थात् अपने आपमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास हर रोज जाकर यह जीव एकेन्द्रिय आदि जीवोंके संवंधमें अनेक प्रकारकी शंकायें और कल्पनायें करके पूँछा करता है, परन्तु किसी दिन भी यह पूँछता नहीं कि एकेन्द्रियसे लगाकर पंचेन्द्रियको जाननेका परमार्थ क्या है? एकेन्द्रिय आदि जीवोंसंबंधी कल्पनाओंसे कुछ मिथ्यात्वरूपी ग्रंथीका छेदन होता नहीं। एकेन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका हेतु तो दयाका पालन करना है। मात्र प्रश्न करनेके लिये वैसी वातें करनेका कोई फल नहीं। वास्तविकरूपसे तो समकित प्राप्त करना ही उस सबका फल है। इसलिये गुरुके पास जाकर व्यर्थके प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुको कहना चाहिये कि आज एकेन्द्रिय आदिकी वात आज जान ली है; अब उस वातको आप कलके दिन न करें, किन्तु समकितकी व्यवस्था करें—इस तरह कहे तो किसी दिन निस्तारा हो सकता है। परन्तु रोज रोज एकेन्द्रिय आदिकी माथापच्ची करे तो इस जीवका कल्याण कब होगा?

समुद्र खारा है। एकदम तो उसका खारापन दूर होता नहीं। उसके दूर करनेका उपाय यह है कि उस समुद्रमेंसे एक एक जलका प्रवाह लेकर उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और उसमें मिठास आ जाय ऐसा खार डालना चाहिए। उस पानीके सुखानेके दो उपाय हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरी ज़मीन। इसलिये प्रथम ज़मीन तैय्यार करना चाहिये और बादमें नालियोंद्वारा पानी ले जाना चाहिये और पीछेसे खार डालना चाहिए, जिससे उसका खारापन दूर हो जायगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रह आदिरूप खारापन है, इसलिये कुलधर्मरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर उसमें सद्बोधरूपी खार डालना चाहिये—इससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन दूर होगा।

*** दुर्बल देहने मास उपवासी, जो छे मायारंग रे,**
तो पण गर्भ अनंता लेशे, बोले बीजुं अंग रे।

+ जितनी भ्रान्ति अधिक उतना ही अधिक मिथ्यात्व। सबसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जब जब तपश्चर्या करना तब तब उसे स्वच्छंदसे न करना, अहंकारसे न करना लोगोंके लिये न करना। जीवको जो कुछ करना है, उसे स्वच्छंदसे न करना चाहिये। 'मैं होशियार हूँ' यह जो मान रखना, वह किस भवके लिये? 'मैं होशियार नहीं', इस तरह जिसने समझ लिया वह मोक्षमें गया है। सबसे मुख्य विघ्न स्वच्छंद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है, वह लोगोंको भी प्रिय होता है—कदाग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरे लोगोंको भी प्रिय होता है। इसलिये कदाग्रहके छोड़ देनेसे सब फल मिलना संभव है।

गौतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदसंबंधी प्रश्न पूँछे। उन प्रश्नोंका, जिसने सब दोषोंका क्षय कर दिया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टांत देकर समाधान (सिद्ध) कर बताया।

दूसरेको उच्च गुणोंमें चढ़ाना चाहिये, किन्तु किसीकी निन्दा करनी नहीं। किसीको स्वच्छंदतासे कुछ भी कहना नहीं। कुछ कहने योग्य हो तो अहंकाररहित भावसे ही कहना चाहिये। परमार्थ दृष्टिसे यदि राग-द्वेष घट गये हों तो ही फलदायक है, क्योंकि व्यवहारसे तो भोले जीवोंके भी राग-द्वेष घटे हुए रहते हैं; परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मंद पड़ गये हों तो वह कल्याणका कारण है।

महान् पुरुषोंकी दृष्टिसे देखनेसे सब दर्शन एकसे हैं। जैन दर्शनमें बीसलाख जीव मतमतांतरमें पड़े हुए हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद होता नहीं।

जिस जीवको अनंतानुबंधीका उदय है, उसे सच्चे पुरुषकी बात भी रुचिकर होती नहीं, अथवा सच्चे पुरुषकी बात भी सुनना उसे अच्छा लगता नहीं।

मिथ्यात्वकी जो ग्रन्थि है, उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आवे तो सातों साथ साथ आती हैं; उसमें अनंतानुबंधीकी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान हैं। वे किसी भी तरह ग्रन्थिमेंसे निकलने देतीं नहीं। मिथ्यात्व रखवाला (रक्षपाल) है। समस्त जगत् उसकी सेवा चाकरी करता है।

---

* दुर्बल देह है, और एक एक मासका उपवास करता है, परन्तु यदि अंतरंगमें माया है, तो भी जीव अनंत गर्भ धारण करेगा ऐसा दूसरे अंगमें कहा गया है।

+ यहाँ मूलपाठमें केवल इतना ही है—जेटली भ्रान्ति वधारे तेटलुं वधारे। —अनुवादक.

प्रश्नः—उदयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तरः—ऐश्वर्यपद प्राप्त होते समय उसे धक्का मारकर पीछे निकाल बाहर करे, कि 'यह मुझे चाहिये नहीं; मुझे इसका करना क्या है ?' कोई राजा यदि प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसके लेनेकी इच्छा करे नहीं। 'इसका मुझे करना क्या है ? घरसंबंधी उपाधि हो तो वही बहुत है'—इस तरह उस पदको मना कर दे। ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा फिर फिरसे देनेकी इच्छा करे, और इस कारण यह ऊपर आ ही पड़े, तो उसे विचार होता है कि 'देख, यदि तेरा प्रधानपद होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तक-शालायें खुलेंगी, पुस्तकें छपाई जावेंगी'—इस तरह धर्मके बहुतसे कारणोंको समझकर वैराग्य भावनासे वेदन करना, उसे उदय कहा जाता है। इच्छासहित तो भोग करे, और उसे उदय बतावे तो वह शिथिलता और संसारमें भटकनेका ही कारण होता है।

बहुतसे जीव मोह-गर्भित वैराग्यसे और बहुतसे दुःख-गर्भित वैराग्यसे दीक्षा ले लेते हैं। 'दीक्षा लेनेसे अच्छे अच्छे नगर और गाँवोंमें फिरनेको मिलेगा। दीक्षा लेनेके पश्चात् अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे। बस मुश्किल एक इतनी ही है कि गरमीमें नंगे पैरों चलना पड़ेगा, किन्तु इस तरह तो साधारण किसान अथवा पटेल लोग भी गरमीमें नंगे पैरों चलते हैं, तो फिर उनकी तरह यह भी आसानीसे ही हो जायगा। परन्तु और किसी दूसरी तरहका दुःख नहीं है, और कल्याण ही है'—ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य है वह मोह-गर्भित वैराग्य है। पूनमके दिन बहुतसे लोग डाकोर जाते हैं, परन्तु कोई यह विचार करता नहीं कि इससे अपना कल्याण क्या होता है ? पूनमके दिन रणछोड़जीके दर्शन करनेके लिये उनके बाप दादे जाते थे, इसलिए उनके लड़के बच्चे भी जाते हैं। परन्तु उसके हेतुका विचार करते नहीं। यह भी मोह-गर्भित वैराग्यका भेद है।

जो सांसारिक दुःखसे संसार-त्याग करता है, उसे दुःख-गर्भित वैराग्य समझना चाहिये।

जहाँ जाओ वहाँ कल्याणकी ही वृद्धि हो, ऐसी दृढ़ बुद्धि करनी चाहिये। कुल-गच्छके आग्रहको छुड़ाना, यही सत्संगके माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है। मतमतांतर आदि, धर्मके बड़े बड़े अनंतानुबंधी पर्वतके फाटककी तरह कभी मिलते ही नहीं। कदाग्रह करना नहीं और जो कदाग्रह करता हो तो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना, तो ही समझनेका फल है। अनंतानुबंधी मान, कल्याण होनेमें बीचमें स्तंभरूप कहा गया है। जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो, वहाँ वहाँ विचारवान जीव उसका संग करनेके लिये कहता है। अज्ञानीके लक्षण लौकिक भावके होते हैं। जहाँ जहाँ दुराग्रह हो, उस उस जगहसे छूटना चाहिये। 'इसकी मुझे आवश्यकता नहीं,' यही समझना चाहिये।

(४) राळज, भाद्रपद सुदी ६ शनि. १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है। अज्ञानीको प्रमाद है। योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो, तो वह ज्ञानीमें भी संभव है, इसलिये ज्ञानीको योग होता है, परन्तु प्रमाद होता नहीं।

"स्वभावमें रहना और विभावसे छूटना," यही मुख्य बात समझनेकी है। बाल-जीवोंके समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने सिद्धान्तोंके बड़े भागका वर्णन किया है।

किसीके ऊपर रोष करना नहीं, तथा किसीके ऊपर प्रसन्न होना नहीं। ऐसा करनेसे एक शिष्यको दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रगट होनेका शास्त्रमें वर्णन आता है।

जितना रोग होता है, उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो सहज ही विचार प्रगट हो जाय, परन्तु मिथ्यात्वरूपी महान् रोग मौजूद है, इसलिये समझनेमें बहुत काल व्यतीत होना चाहिये। शास्त्रमें जो सोलह रोग कहे हैं, वे सब इस जीवको मौजूद हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जो साधन बताये हैं, वे सर्वथा सुलभ हैं। स्वच्छंदसे, अहंकारसे, लोक-लाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या करनी नहीं—आत्मार्थके लिये ही करनी। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना आदि ये बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो कुछ बताया हो उसे सत्पुरुषके आश्रयसे करना चाहिये। अपने आपसे प्रवृत्ति करना वही स्वच्छंद है, ऐसा कहा है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना श्वासोच्छ्वास क्रियाके बिना अन्य कुछ भी करना नहीं।

साधुको लघुशंका भी गुरुसे पूँछकर ही करनी चाहिये, ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छंदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा माँगता नहीं, अथवा उसकी कल्पना ही कर लेता है। परोपकार करनेमें मिथ्या कल्पना रहा करती हो, और वैसे ही अनेक विकल्पोंद्वारा जो स्वच्छंद छोड़े नहीं वह अज्ञानी, आत्माको विघ्न करता है। तथा वह इसी तरह सब बातोंका सेवन करता है, और परमार्थके रास्तेका उल्लंघन कर वाणी बोलता है। यही अपनी होशियारी है, और उसे ही स्वच्छंद कहा गया है।

बाह्य व्रतको अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे—ऐसा जीव विचार करे, तो यह संभव नहीं। क्योंकि जैसे एक भैंसा जो हजारों ज्वार-बाजरेके पूलेके पूले खा गया है, वह एक तिनकेसे डरता नहीं; उसी तरह मिथ्यात्वरूपी भैंसा, जो पूलेरूपी अनंतानुबंधी कषायसे अनंतों चारित्र खा गया है, वह तिनकेरूपी बाह्य व्रतसे कैसे डर सकता है? परन्तु जैसे भैंसेको यदि किसी बंधनसे बाँध दें तो वह वशमें हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी बंधनसे बाँध देनेसे वह वश हो जाता है; अर्थात् जब आत्माका बल बढ़ता तो मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण जितना काल व्यतीत हुआ, उतना काल मोक्ष होनेके लिये चाहिये नहीं। कारण कि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कितने ही जीव दो घड़ीमें कल्याण कर गये हैं! सम्यग्दृष्टि किसी भी तरह हो आत्माको ऊँचे ले जाता है—अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि, समकितीके अनुसार ही जप तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते नहीं, संसारके ही कारणभूत होते हैं। समकितीके ही जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते हैं। समकिती उन्हें दंभ रहित करता है, अपनी आत्माकी ही निन्दा करता है, और कर्म करनेके कारणोंसे पीछे हटता है। यह करनेसे उसके अहंकार आदि स्वाभाविक-रूपसे ही घट जाते हैं। अज्ञानीके समस्त जप तप आदि अहंकारकी वृद्धि करते हैं, और संसारके हेतु होते हैं।

जैनशास्त्रोंमें कहा है कि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जैन और वेददर्शन जन्मसे ही लड़ते आते हैं, परन्तु इस बातको तो दोनों ही जने कबूल करते हैं, इसलिये यह संभव है। जब आत्मा साक्षी देता है उसी समय आत्मामें उल्लास-परिणाम आता है।

होम हवन आदि वहुतसे लौकिक रिवाजोंको प्रचलित देखकर तीर्थंकरभगवान्‌ने अपने समयमें दयाका वहुत ही सूक्ष्म रीतिसे वर्णन किया है। जैनदर्शनके समान दयासंवंधी विचार कोई दर्शन अथवा संप्रदायवाले लोग नहीं कर सके। क्योंकि जैन लोग पंचेन्द्रियका घात तो करते ही नहीं, किन्तु उन्होंने एकेन्द्रिय आदिमें भी जीवके अस्तित्वको विशेष अतिविशेष दृढ़ करके, दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छंदसे, मिथ्यात्वसे और संशयसे ही किया है, ऐसा कहा गया है। ये वचन वहुत ही भारी लिखे हैं। यहाँ वहुत अधिक विचार कर पीछेसे वर्णन किया है कि अन्य दर्शन—वेद आदि—के जो ग्रन्थ हैं उन्हें यदि सम्यग्दृष्टि जीव वाँचे तो सम्यक् प्रकारसे परिणमन करता है, और जिनभगवान्‌के अथवा चाहे जिस तरहके ग्रन्थोंके यदि मिथ्यादृष्टि वाँचे करे तो वह मिथ्यात्वरूपसे परिणमन करता है।

जीवको ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचनोंके सुननेसे अपूर्व उल्लास-परिणाम आता है, परन्तु वादमें प्रमादी हो जानेसे अपूर्व उल्लास आता नहीं। जिस तरह हम यदि अग्निकी सिगड़ीके पास बैठे हों तो ठंड लगती नहीं, और सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है; उसी तरह ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्व वचनोंके श्रवण करनेसे प्रमाद आदि नष्ट हो जाते हैं, और उल्लास-परिणाम आता है; परन्तु पीछेसे फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके संस्कारसे वे वचन अंतर्परिणामको प्राप्त करें तो दिन प्रतिदिन उल्लास-परिणाम वढ़ता ही जाय; और यथार्थ रीतिसे भान हो। अज्ञानके दूर होनेपर समस्त भूल दूर हो जाती है—स्वरूप जागृतिमान होता है। वाहरसे वचनोंके सुननेसे अन्तर्परिणाम होता नहीं; तो फिर जिस तरह सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है, उसी तरह उसका दोष घटता नहीं।

केशीस्वामीने परदेशी राजाको वोध देते समय जो उसे 'जड़ जैसा' 'मूर्ख जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ जागृत करनेका था। जड़ता—मूढ़ता—के दूर करनेके लिये ही यह उपदेश दिया है। ज्ञानीके वचन अपूर्व परमार्थको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे होते नहीं। वाल-जीव ऐसी वातें किया करते हैं कि छद्मस्थभावसे ही केशीस्वामीने परदेशी राजाके प्रति वैसे वचन कहे थे; परन्तु यह वात नहीं। उनकी वाणी परमार्थके कारण ही निकली थी।

जड़ पदार्थको लेने-रखनेमें उन्मादसे प्रवृत्ति करे तो उसे असंयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दवाजीसे लेने-रखनेमें आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस कारण उपयोगके चूक जानेको असंयम कहा है।

अहंकारसे आचार्यभाव धारण कर दंभ रक्खे और उपदेश दे तो पाप लगता है। आत्मवृत्ति रखनेके लिये ही उपयोग रखना चाहिये।

श्रीआचारांग सूत्रमें कहा है कि 'जो आस्रवा हैं वे परिस्रवा हैं' और जो 'परिस्रवा हैं वे आस्रवा हैं।' जो आस्रव है, वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो संवर है वह संवर होनेपर भी अज्ञानीको वंधका हेतु होता है—ऐसा स्पष्टरूपसे कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी जागृति करना है, और वह अज्ञानीमें है नहीं।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं:—१ द्रव्य उपयोग. २ भाव उपयोग.

जैसी सामर्थ्य सिद्धभगवान्‌की है, वैसी सब जीवोंको हो सकती है। केवल अज्ञानके कारण ही वह ध्यानमें आती नहीं। जो विचारवान जीव हो उसे तो नित्य ही तत्संबंधी विचार करना चाहिये।

जीव ऐसा समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ इससे मोक्ष है। क्रिया करना ही श्रेष्ठ बात है, परन्तु उसे वह लोक-संज्ञासे करे तो उसका फल मिलता नहीं।

जैसे किसी आदमीके हाथमें चिंतामणि रत्न आ गया हो, किन्तु यदि उसे उसकी खबर न हो तो वह निष्फल ही चला जाता है, और यदि खबर हो तो ही उसका फल मिलता है। इसी तरह यदि जीवको ज्ञानीकी सच्ची सच्ची खबर पड़े तो ही उसका फल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल—मिथ्यात्व—है, उसका मूलसे ही छेदन करना चाहिये। यदि उसका मूलसे छेदन किया जाय तो वह फिर अंकुरित होती नहीं, अन्यथा वह फिरसे अंकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें यदि वृक्षकी जड़ बाकी रह गई हो तो वृक्ष फिरसे उग आता है। इसलिये जीवकी वास्तविक भूल क्या है, उसका विचार विचार कर उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? 'वह किस तरह दूर हो सकता है'? यह विचार पहले करना चाहिये।

रात्रि-भोजन करनेसे आलस-प्रमाद उत्पन्न होता है, जागृति होती नहीं, विचार आता नहीं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रि-भोजनसे पैदा होते हैं। मैथुन करनेके पश्चात् भी बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरियाली विनारता हो तो वह हमसे देखा जा सकता नहीं। तथा आत्मा उज्वलता प्राप्त करे तो बहुत ही अनुकंपा बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा ही भासित होता है, उल्टा भासित नहीं होता। ज्ञानी मोहको प्रवेश करने देता नहीं। उसके जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जिस तरहका परिणाम हो वैसा ही ज्ञानीको कार्य होता है। तथा जिस तरह अज्ञानीका परिणाम हो, वैसा ही अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सब कुछ सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उल्टा ही होता है; वर्त्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओघ-भावसे खबर होगी, विचारभावसे प्रतीति आवेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उसका वैद्य है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाय। ज्ञानी जो जो व्रत दे वे सब ठेठ अन्ततक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके पश्चात् आत्मा समाधिको प्राप्त करेगी, क्योंकि अब वह सच्ची हो गई है।

(५) भाद्रपद सुदी ९, १९५२

प्रश्नः—ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—सार जाननेको ज्ञान कहते हैं और सार न जाननेको अज्ञान कहते हैं। हम किसी भी पापसे निवृत्त हों, अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थको समझकर करना चाहिये। अहंकाररहित, लोकसंज्ञारहित, आत्मामें प्रवृत्ति करनेका नाम 'निर्जरा' है।

इस जीवकी साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं। जीव यद्यपि अनंतज्ञान-दर्शनसहित है, परन्तु राग-द्वेषके कारण वह उससे रहित ही है, यह बात जीवके ध्यानमें आती नहीं।

सिद्धको राग-द्वेष नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंका भी स्वरूप है। जीवको केवल अज्ञानके कारण यह ध्यानमें आता नहीं। उसके लिये विचारवानको सिद्धके स्वरूपका विचार करना चाहिये, जिससे अपना स्वरूप समझमें आ जाय।

जैसे किसी मनुष्यके हाथमें चिंतामणि रत्न आया हो, और उसे उसकी (पहिचान) है तो उसे उस रत्नके प्रति बहुत ही प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु जिसे उसकी खबर ही नहीं, उसे उसके प्रति कुछ भी प्रेम उत्पन्न होता नहीं।

इस जीवकी अनादिकालकी जो भूल है, उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीवकी बड़ीसे बड़ी भूल क्या है? उसका विचार करना चाहिये, और उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष रखना चाहिये। जबतक मूल रहती है तबतक वह बढ़ती ही है।

'मुझे किस कारणसे बंधन होता है'? और 'वह किससे दूर हो सकता है'? इसके जाननेके लिये शास्त्र रचे गये हैं; लोगोंमें पुजनेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये।

इस जीवका स्वरूप क्या है?

जबतक जीवका स्वरूप जाननेमें न आवे, तबतक अनन्त जन्म मरण करने पड़ते हैं। जीवकी क्या भूल है? वह अभीतक ध्यानमें आती नहीं।

जीवका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुपना कहा जावेगा। यही बात श्रावकपनेके लिये समझनी चाहिये।

कर्मकी वर्गणा जीवको दूध और पानीके संयोगकी तरह है। अग्निके संयोगसे जैसे पानीके जल जानेपर दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निसे कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाव माना हुआ है, इस कारण जीवकी भूल दूर होती नहीं। जीव देहकी साथ एकमेक हो जानेसे ऐसा मानने लगता है कि 'मैं बनिया हूँ,' 'ब्राह्मण हूँ,' परन्तु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि 'मैं शुद्ध स्वरूपमय हूँ'। आत्माका नाम ठाम कुछ भी नहीं है— जीव इस तरह विचार करे तो उसे कोई गाली वगैरह दे, तो भी उससे उसे कुछ भी लगता नहीं।

जहाँ जहाँ कहीं जीव ममत्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसके दूर करनेके लिये ही शास्त्र रचे गये हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह वैराग्य है। जहाँ जहाँ 'यह मेरा भाई बन्धु है' इत्यादि भावना है, वहाँ वहाँ कर्म-बंधका कारण है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी अपने चेलेके प्रति रक्खे तो उसका आचार्यपना नाश हो जाय। वह अदंभता, निरहंकारता करे तो ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं? वस्तुओंके ऊपर तुच्छ भाव लानेसे। जैसे फूलमें यदि सुगंध हो तो उससे मन संतुष्ट होता है, परन्तु वह सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, और फूल कुम्हला जाता है, फिर मनको कुछ भी संतोष होता नहीं। उसी तरह सब पदार्थोंमें तुच्छभाव

लानेसे इन्द्रियोंको प्रियता होती नहीं, और उससे क्रमसे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। तथा पाँच इन्द्रियोंमें भी जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे बाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करना चाहिये। किसी रसवाले पदार्थकी ओर प्रेरित होना नहीं। बलिष्ठ आहार करना नहीं।

जैसे किसी बर्त्तनमें खून, माँस, हड्डी, चमड़ा, वीर्य, मल, और मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हुई हों, और उसकी ओर कोई देखनेके लिये कहे तो उसके ऊपर अरुचि होती है, और थूँकातक भी नहीं जाता; उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है। परन्तु उसमें ऊपर ऊपरसे रमणीयता देखकर जीवको मोह होता है, और उसमें वह तृष्णापूर्वक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीव भूलता है—ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर, पदार्थके ऊपर अरुचिभाव लाना चाहिये। इसी तरह हरेक वस्तुकी तुच्छता समझनी चाहिए। इस तरह समझकर मनका निरोध करना चाहिये।

तीर्थंकरने उपवास करनेकी आज्ञा की है, वह केवल इन्द्रियोंको वश करनेके लिये ही की है। अकेले उपवासके करनेसे इन्द्रियाँ वश होतीं नहीं, परन्तु यदि उपयोग हो तो—विचारसहित हो तो—वश होती हैं। जिस तरह लक्षरहित बाण व्यर्थ ही चला जाता है, उसी तरह उपयोगरहित उपवास आत्मार्थके लिये होता नहीं।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई अपनी स्तुति करे, और यदि उससे अपनी आत्मामें अहंकार उत्पन्न हो तो वह पीछे हट जाती है। अपनी आत्माकी निन्दा करे नहीं, अभ्यंतर दोष विचारे नहीं, तो जीव लौकिक भावमें चला जाता है; परन्तु यदि अपने दोषोंका निरीक्षण करे, अपनी आत्माकी निन्दा करे, अहंभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष होता है।

मार्गके पानेमें अनन्त अन्तराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया' 'मैंने यह कैसा सुन्दर किया' इस प्रकारका अभिमान होता है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं' यह दृष्टि रखनेसे ही वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक इस तरह दो भाव होते हैं। लौकिकसे संसार और अलौकिकसे मोक्ष होती है।

बाह्य इन्द्रियोंको वश किया हो तो सत्पुरुषके आश्रयसे अंतर्लक्ष हो सकता है। इस कारण बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इन्द्रियाँ वशमें हो जाँय, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेकी संभावना रहती है।

उपाय किये बिना कोई रोग मिटता नहीं। इसी तरह जीवको लोभरूपी जो रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर होता नहीं। ऐसे दोषके दूर करनेके लिये जीव जरा भी उपाय करता नहीं। यदि उपाय करे तो वह दोष हालमें ही भाग जाय। कारणको खड़ा करो तो ही कार्य होता है। कारण बिना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीव खोजता नहीं। जीव ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको श्रवण करे तो उसकी एवजमें प्रतीति होती नहीं। 'मुझे लोभ छोड़ना है, ऐसी बीजभूत भावना हो तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीज-ज्ञान' प्रगट होता है।

प्रश्नः—आत्मा एक है अथवा अनेक ?

उत्तरः—यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वमें जो रामचन्द्रजी मुक्त हो गये हैं, उससे सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये; और तो फिर दूसरोंको सत्शास्त्र सद्गुरु आदि साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं।

प्रश्नः—मुक्ति होनेके पश्चात्, क्या जीव एकाकार हो जाता है?

उत्तरः—यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो स्वानुभव आनन्दका अनुभव करे नहीं। कोई पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह विदेह-मुक्त हो गया। बादमें दूसरा पुरुष यहाँ आकर बैठा, वह भी मुक्त हो गया। परन्तु इस तरह तीसरे चौथे सबके सब मुक्त हो नहीं जाते। आत्मा एक है, उसका आशय यह है कि सब आत्मायें वस्तुरूपसे तो समान हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं, स्वानुभव करती हैं। इस कारण आत्मा भिन्न भिन्न हैं। "आत्मा एक है, इसलिये तुझे कोई दूसरी भ्रांति रखनेकी जरूरत नहीं! जगत् कुछ चीज़ ही नहीं, ऐसे भ्रान्तिरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है"—ऐसा जो कहता है, उसे विचारना चाहिये कि तब तो एककी मुक्तिसे जरूर सबकी मुक्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न हैं। जगत्की भ्रांति दूर हो गई, इससे ऐसा समझना नहीं कि चन्द्र सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं। इसका आशय यही है कि आत्माकी विपयसे भ्रान्ति दूर हो गई है। रूढ़िसे कोई कल्याण नहीं। आत्माके शुद्ध विचारको प्राप्त किये बिना कल्याण होता नहीं।

माया-कपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोले तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिये झूठ बोलना पड़ा हो, और पश्चात्ताप करे तो उसे पहिलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

बाप स्वयं पचास बरसका हो, और उसका बीस बरसका पुत्र मर जाय तो वह बाप उसके पास जो आभूषण होते हैं उन्हें निकाल लेता है! पुत्रके देहान्त-क्षणमें जो वैराग्य था, वह स्मशान वैराग्य था!

भगवान्ने किसी भी पदार्थको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा दी नहीं। देहको धर्मका साधन मानकर उसे निबाहनेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है, उतनी ही आज्ञा दी है; बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी आज्ञा दी नहीं। आज्ञा दी होती तो परिग्रहकी वृद्धि ही होती, और उससे अनुक्रमसे अन्न पानी आदि लाकर कुटुम्बका अथवा दूसरोंका पोषण करके, वह बड़ा दानवीर होता। इसलिये मुनिको विचार करना चाहिये कि तीर्थंकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है, वह केवल तेरे अपने लिये ही है, और वह भी लौकिक दृष्टि छुड़ाकर संयममें लगनेके लिये ही दी है।

कोई मुनि गृहस्थके घरसे सुँई लाया हो, और उसके खो जानेसे वह उसे वापिस न दे, तो उसे तीन उपवास करने चाहिये—ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है। उसका कारण यही है कि वह मुनि उपयोगशून्य रहा है। यदि इतना अधिक बोझा मुनिके सिरपर न रक्खा जाता, तो उसका दूसरी वस्तुओंके भी लानेका मन होता, और वह कुछ समय बाद परिग्रहकी वृद्धि करके मुनिपनेको ही गुमा बैठता। ज्ञानीने इस प्रकारके जो कठिन मार्गका प्ररूपण किया है उसका यही कारण है कि वह जानता है कि यह जीव विश्वासका पात्र नहीं है। कारण कि वह भ्रान्तिवाला है। यदि कुछ छूट दी

होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति होगी, यह जानकर ज्ञानीने सुँई जैसी निर्जीव वस्तुके संबंधमें भी इस तरह आचरण करनेकी आज्ञा की है। लोककी दृष्टिमें तो यह बात साधारण है। परन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उतनी छूट भी जड़मूलसे नाश कर सके, इतनी बड़ी माल्रम होती है।

ऋषभदेवजीके पास अट्ठानवें पुत्र यह कहनेके अभिप्रायसे आये थे कि 'हमें राज प्रदान करो।' वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अट्ठानवेंके अट्ठानवेंको ही मूँड लिया। देखो महान् पुरुषकी करुणा !

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे ! दोनोंने ही एक मार्गको जाननेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये थे। आजकलके समयमें दोनों पक्षोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने। आजकलके ढूँढिया और तप्पा[1], तथा हरेक जुदे जुदे संघाड़ोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने; उसमें कितना ही काल व्यतीत हो जाय। यद्यपि उसमें है कुछ भी नहीं, परन्तु असरलताके कारण वह संभव ही नहीं।

सत्पुरुष कुछ सत् अनुष्ठानका त्याग कराते नहीं, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं। आग्रह दूर होनेके बाद पीछेसे उसे वे ग्रहण करनेको कहते हैं।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नग्न होकर चले गये हैं ! कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्याग कर दीक्षा ग्रहण की हो; और उसकी कुछ भूल हो गई, और कोई ऐसी बात हो कि उस चक्रवर्तीके राज्य-कालका दासीका कोई पुत्र उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, चक्रवर्तीको उसके कथनके ग्रहण करनेकी आज्ञा की गई है। यदि उसे उस दासीके पुत्रके पास जाते समय ऐसा हो कि 'मैं दासीके पुत्रके पास कैसे जाऊँ' तो उसे भटक भटककर मरना है। ऐसे कारणोंके उपस्थित होने-पर लोक-लाजको छोड़नेका ही उपदेश किया है; अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचे ले जानेका कोई अवसर हो, वहाँ लोक-लाज नहीं मानी गई। परन्तु कोई मुनि विषय-इच्छासे वेश्याके घर जाय, और वहाँ जाकर उसे ऐसा हो कि 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निन्दा होगी, इसलिये यहाँसे वापिस लौट चलना चाहिये' तो वहाँ लोक-लाज रखनेका विधान है। क्योंकि ऐसे स्थानमें लोक-लाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है।

हितकारी क्या है, उसे समझना चाहिये। आठमकी तकरारको तिथिके लिये करना नहीं, परन्तु हरियालीके रक्षणके लिये ही तिथि पालनी चाहिये। हरियालीके रक्षणके लिये आठम आदि तिथि कही गई हैं, कुछ तिथिके लिये आठम आदिको कहा नहीं। इसलिये आठम आदि तिथिके कदाग्रहको दूर करना चाहिये। जो कुछ कहा है वह कदाग्रहके करनेके लिये कहा नहीं। आत्माकी शुद्धिसे जितना करोगे उतना ही हितकारी है। जितना अशुद्धिसे करोगे उतना ही अहितकारी है, इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्व्रतका सेवन करना चाहिये।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव, चाहे जो हो सब समान ही हैं। कोई जैन कहा जाता हो और मतसे ग्रस्त हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखनी होगी, तो पीछेसे विचार करेगा; नियम नहीं बाँधा हो तो दूसरे काममें पड़ जायगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बाँधा।

[1] तपगच्छवाले। —अनुवादक.

जैसा मनका परिणाम हो वैसा ही सामायिक होता है । मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मबंध होता है । मनका घोड़ा दौड़ता हो और सामायिक किया हो तो उसका फल कैसा हो ?

कर्मबंधको थोड़ा थोड़ा छोड़नेकी इच्छा करे तो छूटे । जैसे कोई कोठी भरी हो, और उसमेंसे कण कण करके निकाला जाय तो वह अंतमें खाली हो जाती है । परन्तु दृढ़ इच्छासे कर्मोंको छोड़ना ही सार्थक है ।

आवश्यक छह प्रकारके हैं:—सामायिक, चौवीसत्थो, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान । सामायिक अर्थात् सावद्य-योगकी निवृत्ति ।

वाचना (बाँचना), पृच्छना (पूँछना), परिवर्त्तना (फिर फिरसे विचार करना) और धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं; और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं । यदि अनुप्रेक्षा न आवे तो पहिले चार द्रव्य हैं ।

अज्ञानी लोग ' आजकल केवलज्ञान नहीं है, मोक्ष नहीं है ' ऐसी हीन पुरुषार्थकी वातें करते हैं । ज्ञानीका वचन पुरुषार्थ प्रेरित करनेवाला होता है । अज्ञानी शिथिल है, इस कारण वह ऐसे हीन पुरुषार्थके वचन कहता है । पंचम कालकी, भवस्थितिकी अथवा आयुकी वातको मनमें लाना नहीं और इस तरहकी वाणी सुनना नहीं ।

कोई हीन-पुरुषार्थी वातें करे कि उपादान कारणकी क्या जरूरत है ? पूर्वमें अशोच्याकेवली हो ही गये हैं । तो ऐसी वातोंसे पुरुषार्थ-हीन न होना चाहिये । सत्संग और सत् साधनके विना कभी भी कल्याण होता नहीं । यदि अपने आपसे ही कल्याण होता हो, तो मिट्टीमेंसे स्वयं ही घड़ा उत्पन्न हो जाया करे । परन्तु लाखों वर्ष व्यतीत हो जायँ फिर भी मिट्टीमेंसे घड़ा स्वयं उत्पन्न होता नहीं । उसी तरह उपादान कारणके विना कल्याण होता नहीं । शास्त्रका वचन है कि तीर्थंकरका संयोग हुआ और फिर भी कल्याण नहीं हुआ, उसका कारण पुरुषार्थ-रहितपना ही है । पूर्वमें उन्हें ज्ञानीका संयोग हुआ था फिर भी पुरुषार्थके विना जैसे वह योग निष्फल चला गया; उसी तरह जो ज्ञानीका योग मिला है, और पुरुषार्थ न करो तो यह योग भी निष्फल ही चला जायगा । इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये, और तो ही कल्याण होगा । उपादान कारण श्रेष्ठ है ।

ऐसा निश्चय करना चाहिये कि सत्पुरुषके कारण—निमित्तसे—अनंत जीव पार हो गये हैं । कारणके विना कोई जीव पार होता नहीं । अशोच्याकेवलीको आगे पीछे वैसा संयोग मिला होगा । सत्संगके विना समस्त जगत् डूव ही गया है ।

मीरावाई महाभक्तिवान थी ।

सुंदर आचरणवाले सुन्दर समागमसे समता आती है । समताके विचारके लिये दो घड़ी सामायिक करना कहा है । सामायिकमें मनके मनोरथको उल्टा सीधा चिंतन करे तो कुछ भी फल न हो । सामायिकका मनके दौड़ते हुए घोड़ेको रोकनेके लिये प्ररूपण किया है । एक पक्ष, संवत्सरीके दिवससंबंधी चौथकी तिथिका आग्रह करता है, और दूसरा पक्ष पाँचमकी तिथिका आग्रह करता है । आग्रह करनेवाले दोनों ही मिथ्यात्वी हैं । ज्ञानी-पुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्माके लिये ही की है । क्योंकि यदि कोई एक दिन निश्चित न किया होता तो आवश्यक विधियोंका नियम रहता नहीं । आत्मार्थके लिये तिथिकी

मर्यादाका लाभ लेना चाहिये। बाकी तिथि-विथिके भेदको छोड़ ही देना चाहिये। ऐसी कल्पना करना नहीं, ऐसी भंगजालमें पड़ना नहीं।

आनन्दघनजीने कहा है:—

फळ अनेकांत लोचन न देखे,
फळ अनेकांत किरिया करी बापडा, रडवडे चार गतिमांहि लेखे।

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फल हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं है। अनेक क्रियाओंका फल मोक्ष ही होना चाहिये। आत्माके अंशोंके प्रगट होनेके लिये क्रियाओंका वर्णन किया गया है। यदि क्रियाओंका वह फल न हुआ हो तो वे सब क्रियायें संसारकी ही हेतु हैं।

'निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि' ऐसा जो कहा है, उसका हेतु कषायको विस्मरण करानेका है, परन्तु लोग तो बिचारे एकदम आत्माको ही विस्मरण कर देते हैं।

जीवको देवगतिकी, मोक्षके सुखकी, और अन्य उस तरहकी कामनाकी इच्छा न रखनी चाहिये।

पंचमकालके गुरु कैसे होते हैं, उसका एक संन्यासीका दृष्टान्तः—

कोई संन्यासी अपने शिष्यके घर गया। ठंड बहुत पड़ रही थी। भोजन करने बैठनेके समय शिष्यने स्नान करनेके लिये कहा, तो गुरुने मनमें विचार किया कि 'ठंड बहुत पड़ रही है और इसमें स्नान करना पड़ेगा', यह विचार कर संन्यासीने कहा कि 'मैंने तो ज्ञान-गंगाजलमें स्नान कर लिया है'। शिष्य बुद्धिमान् था, वह समझ गया और उसने ऐसा रास्ता पकड़ा जिससे गुरुको कुछ शिक्षा मिले। शिष्यने गुरुजीको भोजन करनेके लिये मानपूर्वक बुला कर उन्हें भोजन कराया। प्रसाद लेनेके बाद गुरु महाराज एक कमरेमें सो गये। गुरुजीको जब प्यास लगी, तो उन्होंने शिष्यसे जल माँगा। इसपर शिष्यने तुरत ही जवाब दिया, 'महाराज, आप ज्ञान-गंगामेंसे ही जल ले लें।' जब शिष्यने ऐसा कठिन रास्ता पकड़ा तो गुरुने स्वीकार किया कि 'मेरे पास ज्ञान नहीं है। देहकी साताके लिये ही मैंने स्नान न करनेके लिये ऐसा कह दिया था!'

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभीतक भी एक आत्महितार्थके लिये हुए नहीं!

आत्मा मुख्यरूपसे आत्मस्वभावसे आचरण करे, यह 'अध्यात्मज्ञान'। मुख्यरूपसे जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह 'अध्यात्मशास्त्र'। अक्षर (शब्द) अध्यात्मीका मोक्ष होता नहीं। जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं, वे गुण यदि आत्मामें रहें तो मोक्ष हो जाय। सत्पुरुषोंमें भाव-अध्यात्म प्रगट रहता है। केवल वाणीके सुननेके लिये ही जो वचनोंको सुने, उसे शब्द-अध्यात्मी कहना चाहिये। शब्द-अध्यात्मी लोग अध्यात्मकी बातें करते हैं और महा अनर्थकारक आचरण करते हैं। इस कारण उन जैसोंको ज्ञान-दग्ध कहना चाहिये। ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके पश्चात् सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे आचरण करते नहीं, वे भाव-अध्यात्ममें ही प्रगटरूपसे रहते हैं। आत्मामें सच्चे सच्चे गुणोंके उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होती है। इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी ज्ञानदग्ध बहुत हैं। द्रव्य-अध्यात्मी केवल मंदिरके कलशकी शोभाके समान हैं।

मोह आदि विकार इस तरहके हैं कि जो सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर डालते हैं; इसलिये तुम्हें तो ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष-मार्गके प्राप्त करनेमें वैसे अनेक विघ्न हैं। आयु तो थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस प्रकार नौका तो छोटी हो और बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है और संसाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं, उन पुरुषोंको धन्य है। अज्ञानी जीवको खबर नहीं कि अमुक जगह गिरनेकी है, परन्तु वह ज्ञानियोंद्वारा देखी हुई है। अज्ञानी-द्रव्य-अध्यात्मी-कहते हैं कि मेरेमें कषाय नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि चैतन्य-संयोगसे ही है।

कोई मुनि गुफामें ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ एक सिंह मिल गया। मुनिके हाथमें एक लकड़ी थी। 'सिंहके सामने यदि लकड़ी उठाई जाय तो सिंह भाग जायगा,' इस प्रकार मनमें होनेपर मुनिको विचार आया कि 'मैं आत्मा अजर अमर हूँ, देहसे प्रेम रखना योग्य नहीं। इसलिये हे जीव! यहीं खड़ा रह। सिंहका जो भय है वही अज्ञान है। देहमें मूर्च्छाके कारण ही भय है,' इस प्रकारकी भावना करते करते वे दो घड़ीतक वहीं खड़े रहे, कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचार विचार दशामें बहुत ही अन्तर है।

उपयोग जीवके बिना होता नहीं। जड़ और चैतन्य इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहधारी जीवमें अध्यवसायकी प्रवृत्ति होती है, संकल्प-विकल्प उपस्थित होते हैं, परन्तु निर्विकल्पपना ज्ञानसे ही होता है। अध्यवसायका ज्ञानसे क्षय होता है। यही ध्यानका हेतु है। परन्तु उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त और रौद्रध्यान मिथ्या कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्यवसाय है। उत्तम लेश्या हो तो ध्यान कहा जाता है, और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करती है।

माणेकदासजी एक वेदान्ती थे। उन्होंने मोक्षकी अपेक्षा सत्संगको ही अधिक यथार्थ माना है। उन्होंने कहा है:—

निज छंदनसे ना मिले, हीरो वैकुंठ धाम।
संतकृपासे पाईये, सो हरि सबसे ठाम।

कुगुरु और अज्ञानी पाखंडियोंका इस कालमें पार नहीं।

बड़े बड़े वरघोड़ा चढ़ावे, और द्रव्य खर्च करे—यह सब ऐसा जानकर कि मेरा कल्याण होगा। ऐसा समझकर हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसेको झूठ बोल बोलकर तो इकट्ठा करता है और एक ही साथ हजारों रुपये खर्च कर देता है! देखो, जीवका कितना अधिक अज्ञान! कुछ विचार ही नहीं आता!

आत्माका जैसा स्वरूप है, उसके उसी स्वरूपको 'यथाख्यात चारित्र' कहा है। भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहिनीको होता नहीं। नागका भय नागिनीको होता नहीं। इसका कारण यही है कि उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जबतक सम्यक्त्व प्रगट न हो तबतक मिथ्यात्व है, और जब मिश्र गुणस्थानकका नाश हो जाय तब सम्यक्त्व कहा जाता है। समस्त अज्ञानी पहिले गुणस्थानकमें हैं।

सत्शास्त्र-सद्गुरुके आश्रयसे जो संयम होता है, उसे 'सरागसंयम' कहा जाता है। निवृत्ति अनिवृत्तिस्थानकका अन्तर पड़े तो सरागसंयममेंसे 'वीतरागसंयम' पैदा होता है। उसे निवृत्ति अनिवृत्ति दोनों ही बराबर हैं। स्वच्छंदसे कल्पना होना 'भ्रान्ति' है। 'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' इस प्रकारका भाव 'शंका' है। समझनेके लिये विचार करके पूँछनेको 'आशंका' कहते हैं।

अपने आपसे जो समझमें न आवे, वह 'आशंका मोहनीय है'। सच्चा जान लिया हो और फिर भी सच्चा सच्चा भाव न आवे, वह भी 'आशंका मोहनीय' है। अपने आपसे जो समझमें न आवे उसे पूँछना चाहिये। मूलस्वरूप जाननेके पश्चात् उत्तर विषयके संबंधमें यह किस तरह होगा, इस प्रकार जाननेके लिये जिसकी आकांक्षा हो उसका सम्यक्त्व नष्ट होता नहीं; अर्थात् वह पतित होता नहीं। मिथ्या भ्रान्तिका होना शंका है। मिथ्या प्रतीति अनंतानुबंधीमें ही गर्भित हो जाती है। नासमझीसे दोषका देखना मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और उपशम हो जाना।

(६) राळजका बाह्य प्रदेश, बड़के नीचे दोपरके दो बजे

यदि ज्ञान-मार्गका आराधन करे तो रास्ते चलते हुए भी ज्ञान हो जाता है। समझमें आ जाय तो आत्मा सहजमें ही प्रगट हो जाय, नहीं तो ज़िन्दगी बीत जाय तो भी प्रगट न हो। केवल माहात्म्य समझना चाहिये। निष्काम बुद्धि और भक्ति चाहिये। अंतःकरणकी शुद्धि हो तो ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता। यदि ज्ञानीका परिचय हो तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यदि किसी जीवको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि समस्त कल्पना छोड़ देने जैसी ही हैं। ज्ञान ले। ज्ञानीको जीव यदि ओघ-संज्ञासे पहिचाने तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं।

जब ज्ञानीका त्याग—दृढ़ त्याग—आवे अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे, तो माया भुला देती है, इसलिये बराबर जागृत रहना चाहिये; और मायाको दूर करते रहना चाहिये। ज्ञानीके त्याग—ज्ञानीके बताये हुए त्याग—के लिये कमर कसकर तैय्यार रहना चाहिये।

जब सत्संग हो तब माया दूर रहती है। और सत्संगका संयोग दूर हुआ कि वह फिर तैय्यारकी तैय्यार खड़ी है। इसलिये बाह्य उपाधिको कम करना चाहिये। इससे विशेष सत्संग होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग करना श्रेष्ठ है।

ज्ञानीको दुःख नहीं। अज्ञानीको ही दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचरणका सेवन करना चाहिये। जो नकली रंग है वह तो नकली ही है। असली रंग ही सदा रहता है। ज्ञानीके मिलनेके पश्चात् देह छूट गई, अर्थात् देह धारण करना नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानीके वचन प्रथम तो कडुवे लगते हैं, परन्तु पीछेसे माल्म होता है कि ज्ञानी-पुरुष संसारके अनन्त दुःखोंको दूर करता है। जैसे औषध कडुवी तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको दूर कर देती है।

त्यागके ऊपर हमेशा लक्ष रखना चाहिये। त्यागको शिथिल नहीं रखना चाहिये। श्रावकको तीन मनोरथ चिंतवन करने चाहिये। सत्यमार्गकी आराधना करनेके लिये मायासे दूर रहना चाहिये। त्याग करते ही जाना चाहिये। माया किस तरह भुला देती है, उसका एक दृष्टान्तः—

एक संन्यासी कहा करता था कि 'मैं मायाको घुसनेतक भी न दूँगा, मैं नग्न होकर विचरूँगा'। मायाने कहा कि 'मैं तेरे आगे आगे चलूँगी'। संन्यासीने कहा कि 'मैं जंगलमें अकेला विचरूँगा'। मायाने कहा 'मैं सामने आ जाऊँगी'। इस तरह वह संन्यासी जंगलमें रहता, और 'मुझे कंकड़ और रेत दोनों समान हैं' यह कहकर रेतपर सोया करता। एक दिन उसने मायासे पूँछा कि बोल अब तू कहाँ है? मायाने समझ लिया कि इसे गर्व बहुत चढ़ रहा है, इसलिये उसने उत्तर दिया कि मेरे आनेकी ज़रूरत क्या है? मैं अपने बड़े पुत्र अहंकारको तेरी खिदमतमें भेज ही चुकी हूँ।

माया इस तरह ठगती है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सबसे न्यारा हूँ, सर्वथा त्यागी हो गया हूँ, अवधूत हूँ, नग्न हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही श्रेष्ठ है। माया मुझे रोकेगी नहीं' ऐसी मात्र कल्पनासे मायाद्वारा ठगाये जाना नहीं चाहिये।

स्वच्छंदमें अहंकार है। जबतक राग-द्वेष दूर होते नहीं तबतक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या है? 'जनकविदेहीमें विदेहीपना हो नहीं सकता, यह केवल कल्पना है। संसारमें विदेहीपना रहता नहीं,' ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। अपनापन दूर हो जानेसे उस तरह रहा जा सकता है। जनकविदेहीकी दशा उचित है। जब वसिष्ठजीने रामको उपदेश दिया, उस समय राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परन्तु गुरुने राज्य लिया ही नहीं। शिष्य और गुरु ऐसे होने चाहिये।

अज्ञान दूर करना है। उपदेशसे अपनापन दूर हटाना है। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया।

ज्ञानी गृहस्थावासमें बाह्य उपदेश व्रत देते नहीं। जो गृहस्थावासमें हों ऐसे परमज्ञानी मार्ग चलाते नहीं; मार्ग चलानेकी रीतिसे मार्ग चलाते नहीं; स्वयं अविरत रहकर व्रत ग्रहण कराते नहीं, क्योंकि वैसा करनेसे बहुतसे कारणोंमें विरोध आना संभव है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान होता नहीं। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छाभावसे उपदेश देते हैं, स्पृहारहित होते हैं। उपदेश ज्ञानका माहात्म्य है। माहात्म्यके कारण अनेक जीव बोध पाते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है; जो संसारके फलका कारण है। जगत्में अज्ञानीका मार्ग अधिक है। ज्ञानीको मिथ्याभाव क्षय हो गया है; अहंभाव दूर हो गया है। इसलिये उसके अमूल्य वचन निकलते हैं। बाल-जीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहिचान होती नहीं।

आचार्यजीने जीवोंको स्वभावसे प्रमादी जानकर, दो दो तीन तीन दिनके अन्तरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है। तिथियोंके लिये मिथ्याग्रह न रख उसे छोड़ना ही चाहिये। कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ बनाई हैं, परन्तु उसके बदले उसी दिन कदाग्रह बढ़ता है। हालमें बहुत वर्षोंसे पर्यूषणमें तिथियोंकी भ्रान्ति चला करती है। तिथियोंके नियमोंको लेकर तकरार करना मोक्ष जानेका रास्ता नहीं। क्वचित् पाँचमका दिन न पाला जाय, और कोई छठका दिन पाले,

और आत्मामें कोमलता हो तो वह फलदायक होता है। जिससे वास्तवमें पाप लगता है, उसे रोकना अपने हाथमें है, यह अपनेसे बन सकने जैसा है; उसे जीव रोकता नहीं; और दूसरी तिथि आदिकी योंही फिक्र किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहता आया है, उस मोहको दूर करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अविरतिके पापकी चिंता होती हो उससे वहाँ रहा ही कैसे जा सकता है?

स्वयं त्याग कर सकता नहीं और बहाना बनावे कि मुझे अन्तराय बहुत हैं। जब धर्मका प्रसंग आवे तो कहता है कि 'उदय है'। 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुवेमें गिर पड़ता नहीं। गाड़ीमें बैठा हो, और गड्ढा आ जावे तो सहजमें सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी तो शिथिलता हो, उसके बदले उदयका दोष निकालता है।

लौकिक और लोकोत्तर विचार जुदा जुदा होता है। उदयका दोष निकालना यह लौकिक विचार है। अनादि कालके कर्म तो दो घड़ीमें नाश हो जाते हैं, इसलिये कर्मका दोष निकालना चाहिये नहीं; आत्माकी ही निन्दा करनी चाहिये। धर्म करनेकी बात आवे तो जीव पूर्व कर्मके दोषकी बातको आगे कर देता है। पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। पुरुषार्थको पहिले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगका त्याग करना चाहिये।

कर्मोंके दूर किये बिना कर्म दूर होनेवाले नहीं। इतनेके लिये ही ज्ञानियोंने शास्त्रोंकी रचना की है। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिये। कर्म उदयमें आवेगा, यह मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाय। जिससे उपकार हो वही लक्ष रखना चाहिये।

(७)बडवा,सवेरे ११ बजे भाद्रपद सुदी १० गुरु. १९५२

कर्म गिन गिनकर नाश किये नहीं जाते। ज्ञानी-पुरुष तो एक साथ ही सबके सब इकट्ठे कर नाश कर देता है।

विचारवानको दूसरे आलंबन छोड़कर, जिससे आत्माके पुरुषार्थका जय हो, वैसा आलंबन लेना चाहिये। कर्म-बंधनका आलंबन नहीं लेना चाहिये। आत्मामें परिणाम हो वह अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घड़े बननेकी सत्ता है; परन्तु जब दंड, चक्र, कुम्हार आदि इकट्ठे हों तभी तो। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदिका साधन मिले तो ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। जो ज्ञान हुआ हो वह, पूर्वकालीन ज्ञानियोंने जो ज्ञान सम्पादन किया है, उसके साथ और वर्तमानमें जो ज्ञान ज्ञानी-पुरुषोंने सम्पादन किया है, उसके साथ पूर्वापर संबद्ध होना चाहिये, नहीं तो अज्ञानको ही ज्ञान मान लिया है, ऐसा कहा जायगा।

ज्ञान दो प्रकारके हैं:—एक बीजभूत ज्ञान और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों ही समान हैं, उनमें भेद नहीं। वृक्षभूत—सर्वथा निरावरण ज्ञान—हो तो उसी भवसे मोक्ष हो जाय, और बीजभूत ज्ञान हो तो अन्तमें पन्द्रह भवमें मोक्ष हो।

आत्मा अरूपी है, अर्थात् वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरहित वस्तु है—अवस्तु नहीं।

जिसने षड्दर्शनोंकी रचना की है, उसने बहुत बुद्धिमानीका उपयोग किया है।

बंध अनेक अपेक्षाओंसे होता है; परन्तु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। वे कर्मकी आँटोंको उधेड़नेके लिये आठ प्रकारकी कही हैं।

आयु कर्म एक ही भवका बँधता है। अधिक भवकी आयु बँधती नहीं। यदि अधिक भवकी आयु बँधे तो किसीको भी केवलज्ञान उत्पन्न न हो।

ज्ञानी-पुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताता है, वह उपकारके लिये ही बताता ह। ज्ञानी-पुरुष मार्गमें भूले भटके हुए जीवको सीधा रास्ता बताते हैं। जो ज्ञानीके मार्गसे चले उसका कल्याण हो जाय। ज्ञानीके विरह होनेके पश्चात् बहुत काल चला जानेसे अर्थात् अंधकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है, और ज्ञानी-पुरुषोंके वचन समझमें नहीं आते। इससे लोगोंको उल्टा ही भासित होता है। समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना लेते हैं। गच्छके भेद ज्ञानियोंने बनाये नहीं। अज्ञानी मार्गका लोप करता है। ज्ञानी हो तो मार्गका उद्योत करता है। अज्ञानी ज्ञानीके सामने होते हैं। मार्गके सन्मुख होना चाहिये।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी छोटी बातोंमें भेद बना लेते हैं। तिलक और मुँहपत्ती वगैरहके आग्रहमें कल्याण नहीं। अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर लगती नहीं। ज्ञानी-पुरुष रूढ़ि-मार्गके बदले शुद्ध-मार्गका प्ररूपण करते हों तो ही जीवको जुदा भासित होता है, और वह समझता है कि यह अपना धर्म नहीं। जो जीव कदाग्रहरहित हो, वह शुद्ध मार्गका आदर करता है। विचारवानोंको तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है। अज्ञान मार्गके अनन्त भेद हैं।

जैसे अपना लड़का कुबड़ा हो और दूसरेका लड़का अतिरूपवान हो, परन्तु प्रेम अपने लड़केपर ही होता है, और वही अच्छा भी लगता है; उसी तरह जो कुल-धर्म अपने आपने स्वीकार किया है, वह चाहे कैसा भी दूषणयुक्त हो, तो भी वही सच्चा लगता है। वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाग्रहरहित भावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा उसीका कल्याण होगा।

(कायाकी) सामायिक कायाके रोगको रोकती है; आत्माके निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकना चाहिये। रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है। कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा एकबार तो आत्माकी सामायिक करो। ज्ञानी-पुरुषके वचन सुन सुनकर गाँठ बाँधो, तो आत्माकी सामायिक होगी। मोक्षका उपाय अनुभवगोचर है। जैसे अभ्यास करते करते आगे बढ़ते हैं, वैसे ही मोक्षके लिये भी समझना चाहिये।

जब आत्मा कोई भी क्रिया न करे तब अबंध कहा जाता है।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त हो। अनन्तकालके कर्म हों और यदि जीव यथार्थ पुरुषार्थ करे, तो कर्म यह नहीं कहता कि मैं नहीं जाता। दो घड़ीमें अनन्त कर्म नाश हो जाते हैं। आत्माकी पहिचान हो तो कर्मोंका नाश हो जाय।

प्रश्नः—सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है?

उत्तरः—आत्माका यथार्थ लक्ष हो उससे। सम्यक्त्व दो तरहका हैः—१ व्यवहार और २

परमार्थ। सद्गुरुके वचनोंका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, वह 'व्यवहार सम्यक्त्व' है। आत्माकी पहिचान होना वह 'परमार्थ सम्यक्त्व' है।

अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना बोध असर करता नहीं; इसलिये प्रथम अंतःकरणमें कोमलता लानी चाहिये। व्यवहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें आग्रहरहित रहना चाहिये—मध्यस्थ भावसे रहना चाहिये। आत्माके स्वभावका जो आवरण है, उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है। अनंतानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ जब क्षय हो जाँय, उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है।

प्रश्नः—कषाय क्या है?

उत्तरः—सत्पुरुष मिलनेपर जीवको बताते हैं कि तू जो विचार किये बिना करता जाता है, उसमें कल्याण नहीं, फिर भी उसे करनेके लिये जो दुराग्रह रखता है, वह कषाय है।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने, और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने वह 'मिथ्यात्व मोहनीय' है। उन्मार्गसे मोक्ष होता नहीं, इसलिये मार्ग कोई दूसरा ही होना चाहिये—ऐसे भावको 'मिश्र मोहनीय' कहते हैं। 'आत्मा यह होगी'—ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है। 'आत्मा है'—ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है।

नियमसे जीव कोमल होता है। दया आती है। मनके परिणाम उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगें; और यदि उपयोगरहित हों तो अधिक लगें। अंतःकरणको कोमल करनेके लिये—शुद्ध करनेके लिये—व्रत आदि करनेका विधान किया है। स्वाद-बुद्धिको कम करनेके लिये नियम करना चाहिये। कुल-धर्म, जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ रास्तेमें आता है।

(८) वडवा, भाद्रपद सुदी १३ शनि. १९५२

लौकिक दृष्टिमें वैराग्य भक्ति नहीं है; पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे आचरण करना ध्यानमें ही आता नहीं। उसे तो लोग भूल ही गये हैं।

लोग, जब बरसात आती है तो पानीको टंकीमें भरकर रख लेते हैं; वैसे ही मुमुक्षु जीव इतना इतना उपदेश सुनकर उसे जरा भी ग्रहण करता नहीं, यह एक आश्चर्य है। उसका उपकार किस तरह हो?

ज्ञानियोंने दोषके घटानेके लिये अनुभवके वचन कहे हैं, इसलिये वैसे वचनोंका स्मरण कर यदि उन्हें समझा जाय—उनका श्रवण-मनन हो—तो सहज ही आत्मा उज्वल हो जाय। वैसा करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है। उन वचनोंका विचार न करे तो कभी भी दोष घटे नहीं।

सदाचार सेवन करना चाहिये। ज्ञानी-पुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण वगैरहको सदाचार कहा है। ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना बताया है, वे यथार्थ हैं—सेवन करने योग्य हैं। बिना साक्षीके जीवको व्रत-नियम करने चाहिये नहीं।

विषय कषाय आदि दोषोंके गये बिना जब सामान्य आशयवाले दया आदि भी आते नहीं, तो फिर

गहन आशयवाले दया वगैरह तो कहाँसे आवें ? विषय कषायसहित मोक्ष जाते नहीं । अंतःकरणकी शुद्धिके बिना आत्मज्ञान होता नहीं । भक्ति सब दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिये वह सर्वोत्कृष्ट है ।

जीवको विकल्पका व्यापार करना चाहिये नहीं । विचारवानको अविचार और अकार्य करते हुए क्षोभ होता है । अकार्य करते हुए जिसे क्षोभ न हो वह अविचारवान है ।

अकार्य करते हुए प्रथम जितना कष्ट रहता है उतना कष्ट दूसरी बार करते हुए रहता नहीं । इसलिये पहिलेसे ही अकार्य करनेसे रुकना चाहिये—दृढ निश्चय कर अकार्य करना चाहिये नहीं ।

सत्पुरुष उपकारके लिये जो उपदेश करते हैं, उसे श्रवण करे और उसका विचार करे, तो अवश्य ही जीवके दोष घटें । पारस मणिका संयोग हुआ, और पत्थरका सोना न बना, तो या तो असली पारसमणि ही नहीं, या असली पत्थर ही नहीं । उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो, तो या तो उपदेष्टा ही सत्पुरुष नहीं और या उपदेश लेनेवाला ही योग्य जीव नहीं । जीव योग्य हो और सत्पुरुष सच्चा हो तो गुण प्रगट हुए बिना नहीं रहें ।

लौकिक आलम्बन कभी करना ही नहीं चाहिए । जीव स्वयं जागृत हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाँय । जैसे कोई पुरुष घरमें नींदमें पड़ा सो रहा है, उसके घरमें कुत्ते बिल्ली वगैरह घुस कर नुकसान कर जाँय, और बादमें जागनेके बाद वह पुरुष नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकाले, किन्तु अपना दोष निकाले नहीं कि मैं सो गया था इसीलिये ऐसा हुआ है; इसी तरह जीव अपने दोषोंको देखता नहीं । स्वयं जागृत रहता हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाँय, इसलिये स्वयं जागृत रहना चाहिये ।

जीव ऐसा कहता है कि मेरे तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि दोष दूर होते नहीं; अर्थात् जीव अपने दोष निकालता नहीं, और दोषोंके ही दोष निकालता है । जैसे गरमी बहुत पड़ रही हो और इसलिये बाहर न निकल सकते हों, तो जीव सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु वह छतरी और जूते, जो सूर्यके तापसे बचनेके लिये बताये हैं, उनका उपयोग करता नहीं । ज्ञानी-पुरुषोंने लौकिक भाव छोड़कर जिस विचारसे अपने दोष घटाये हैं—नाश किये हैं—उन विचारोंको और उन उपायोंको ज्ञानियोंने उपकारके लिये कहा है । उन्हें श्रवण कर जिससे आत्मामें परिणाम हो, वैसा करना चाहिये ।

किस तरहसे दोष घट सकता है ? जीव लौकिक भावोंको तो किये चला जाता है, और दोष क्यों घटते नहीं, ऐसा कहा करता है ।

मुमुक्षुओंको जागृत अति जागृत होकर वैराग्यको बढ़ाना चाहिये । सत्पुरुषके एक वचनको सुनकर यदि अपनेमें दोषोंके रहनेके कारण बहुत ही खेद करेगा, और दोषको घटावेगा तो ही गुण प्रगट होगा । सत्संग-समागमकी आवश्यकता है । बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक मार्गदर्शक दूसरे मार्ग-दर्शकको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चला जाता है । शिष्य बनानेकी सत्पुरुषकी इच्छा नहीं । जिसे दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है । भ्रान्ति दूर हो तो तुरत ही सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय ।

बाहुबलिजीको, जैसे केवलज्ञान पासमें ही—अंतरमें ही—था कुछ बाहर न था, उसी तरह सम्यक्त्व अपने पास ही है ।

(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थंकर, (४) अतीर्थंकर. (५) स्वयंबुद्ध, (६) प्रत्येकबुद्ध, (७) बुद्धबोधित, (८) स्त्रीलिंग, (९) पुरुषलिंग, (१०) नपुंसकलिंग, (११) अन्यलिंग, (१२) जैनलिंग, (१३) गृहस्थलिंग, (१४) एक, और (१५) अनेक।

संसारी:—संसारी जीव एक प्रकार, दो प्रकार इत्यादि अनेक प्रकारसे कहे हैं। सामान्यरूपसे उपयोग लक्षणसे सर्व संसारी जीव एक प्रकारके हैं। त्रस स्थावर, अथवा व्यवहारराशि अव्यवहारराशिके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर जिसने कभी त्रसपर्याय प्राप्त की है वह व्यवहार-राशि है। तथा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर, जिसने कभी भी त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की, वह अव्यवहारराशि है। संयत असंयत और संयतासंयत, अथवा स्त्री पुरुष और नपुंसक इस तरह जीवके तीन प्रकार हैं। चार गतियोंकी अपेक्षा चार भेद हैं। पाँच इन्द्रियोंकी अपेक्षा पाँच भेद हैं। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस इस तरह छह भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल और अलेशी (यहाँ चौदहवें गुणस्थानवाले जीव लेने चाहिये, सिद्ध न लेने चाहिये, क्योंकि यह संसारी जीवकी व्याख्या है), इस तरह जीवके सात भेद हैं। अंडज, पोतज, जरायुज, स्वेदज, रसज, सम्मूर्च्छन, उद्भिज और उपपादके भेदसे जीवके आठ भेद समझने चाहिये। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके नौ प्रकार समझने चाहिये। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके दस भेद समझने चाहिये। सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, और पंचेन्द्रियोंमें जलचर, थलचर, नभचर, तथा मनुष्य, देव और नारकी इस तरह जीवके ग्यारह भेद समझने चाहिये। छहकायके पर्याप्त और अपर्याप्त इस तरह जीवके बारह भेद समझने चाहिये। उक्त संव्यवहारिकके बारह भेद, तथा एक असंव्यवहारिक (सूक्ष्म निगोदका) मिलाकर तेरह भेद होते हैं। चौदह गुणस्थानोंके भेदसे; अथवा सूक्ष्म बादर, तीन विकलेन्द्रिय तथा संज्ञी असंज्ञी इन सातोंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे जीवके चौदह भेद होते हैं। इस तरह बुद्धिमान पुरुषोंने सिद्धांतका अनुसरण कर जीवके अनेक भेद (विद्यमान भावोंके भेद) कहे हैं।

(६) आषाढ़ सुदी ९ शुक्र. १९५६

१. जातिस्मरण ज्ञानके विषयमें जो शंका रहती है, उसका समाधान निम्न प्रकारसे होगा:—जैसे बाल्यावस्थामें जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो, उसका बहुतसोंको वृद्धावस्थामें स्मरण होता है और बहुतसोंको नहीं होता; उसी तरह बहुतसोंको पूर्वभवका भान रहता है और बहुतसोंको नहीं रहता। उसके न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोड़ते हुए जीव बाह्य पदार्थोंमें संलग्न हो कर मरण करता है, और नई देह पाकर वह उसीमें आसक्त रहता है। इससे उल्टी रीतिसे चलनेवालेको (जिसने अवकाश रक्खा हो उसे) पूर्वभव अनुभवमें आता है।

२. जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञानका भेद है। पूर्वपर्यायको छोड़ते हुए वेदनाके कारण, नई देह धारण करते हुए गर्भावासके कारण, बालावस्थामें मूढ़ताके कारण, और वर्त्तमान देहमें लीनताके कारण, पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेका अवकाश ही नहीं मिलता। तथापि जिस तरह गर्भावास और बाल्यावस्था स्मृतिमें नहीं रहते, इस कारण वे होते ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; उसी तरह उपर्युक्त कारणोंको

छोड़कर सत्पुरुषोंके वचनोंको आत्मामें परिणमन करे, तो सब दोष दूर हो जाँय। जीवको अपनापन आना ही न चाहिये। बड़ाई और महत्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्यक्त्वके मार्गका परिणाम होना कठिन है।

वेदांतशास्त्र वर्तमानमें स्वच्छंदतासे पढ़नेमें आते हैं, और उससे शुष्कता जैसा हो जाता है। षड्दर्शनमें झगड़ा नहीं, परन्तु आत्माको केवल मुक्त-दृष्टिसे देखनेपर तीर्थंकरने लंबा विचार किया है। मूल लक्ष होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा माल्म होगा।

आत्माको कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा राग-द्वेष परिणाम न हो, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। षड्दर्शनवालोंने जो विचार किया है, उससे आत्माका उन्हें भान होता है—तारतम्य भावमें भेद पड़ता है। षड्दर्शनको अपनी समझसे बैठावें तो कभी भी बैठे नहीं। उसका बैठना सत्पुरुषके आश्रयसे ही होता है। जिसने आत्माका असंग निष्क्रिय विचार किया हो, उसे भ्रान्ति होती नहीं—संशय होता नहीं, आत्माके अस्तित्वके संबंधमें शंका रहती नहीं।

प्रश्नः—सम्यक्त्व कैसे माल्म होता है ?

उत्तरः—जब भीतरसे दशा बदले, तब सम्यक्त्वकी खबर स्वयं ही पड़ती है। सद्देव अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान जिसके क्षय हो गये हैं। सद्गुरु कौन कहा जाता है ? मिथ्यात्वकी ग्रन्थि जिसकी छिन्न हो गई है। सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रंथ। सद्धर्म अर्थात् ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा बोध किया हुआ धर्म। इन तीनों तत्त्वोंको यथार्थ रीतिसे जाननेपर सम्यक्त्व हुआ समझा जाना चाहिये।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण (साधन) बताये हैं। ज्ञानका स्वरूप जिस समय जान ले उस समय मोक्ष हो जाय।

परम वैद्यरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दवा आत्मामें लगे तो रोग दूर हो। परन्तु उस दवाको जीव यदि अन्तरमें न उतारे, तो उसका रोग कभी भी दूर होता नहीं। जीव सच्चे सच्चे साधनोंको करता नहीं। जैसे समस्त कुटुम्बको पहिचानना हो तो पहिले एक आदमीको जाननेसे सबकी पहिचान हो जाती है, उसी तरह पहिले सम्यक्त्वकी पहिचान हो तो आत्माके समस्त गुणोंरूपी कुटुम्बकी पहिचान हो जाती है। सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है। बाह्य वृत्तियोंको कम करके जीव अंतर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग आवे। चलते चलते ही गाँव आता है, बिना चले गाँव नहीं आ जाता। जीवको यथार्थ सत्पुरुषोंकी प्रतीति हुई नहीं।

बहिरात्मामेंसे अन्तरात्मा होनेके पश्चात् परमात्मभाव प्राप्त होना चाहिये। जैसे दूध और पानी जुदा जुदा हैं, उसी तरह सत्पुरुषके आश्रयसे—प्रतीतिसे—देह और आत्मा जुदा जुदा हैं, ऐसा भान होता है। अन्तरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी जुदे जुदे होते हैं, उसी तरह देह और आत्मा जब भिन्न माल्म हों, उस समय परमात्मभाव प्राप्त होता है। जिसे आत्माका विचाररूपी ध्यान है—सतत निरंतर ध्यान है, जिसे आत्मा स्वप्नमें भी जुदा ही भासित होती है, जिसे किसी भी समय आत्माकी भ्रान्ति होती ही नहीं, उसे ही परमात्मभाव होता है।

अन्तरात्मा निरन्तर कषाय आदि दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करती है। चौदहवें गुणस्थानतक यह विचाररूपी क्रिया रहती है। जिसे वैराग्य-उपशम रहता हो, उसे ही विचारवान कहते हैं। आत्मायें मुक्त

होनेके पश्चात् संसारमें आतीं नहीं। आत्मा स्वानुभव-गोचर है, वह चक्षुसे दिखाई देती नहीं; इन्द्रियसे रहित ज्ञान ही उसे जानता है। जो आत्माके उपयोगका मनन करे वह मन है। संलग्नताके कारण मन भिन्न कहा जाता है। संकल्प-विकल्प त्याग देनेको 'उपयोग' कहते हैं। ज्ञानका आवरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बाँधा हो उसे सत्पुरुषका बोध लगता है। आयुका बंध हो तो वह रुकता नहीं।

जीवने अज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश लगता नहीं। क्योंकि आवरणके कारण लगनेका कोई रास्ता ही नहीं। जबतक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहो तबतक आत्मा ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं। बहुतसे जीव सत्पुरुषके बोधको सुनते हैं, परन्तु उन्हें विचार करनेका योग बनता नहीं।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुल-धर्मका आग्रह, मान-श्लाघाकी कामना, अमध्यस्थभाव यह कदाग्रह है। उस कदाग्रहको जीव जबतक नहीं छोड़ता तबतक कल्याण होता नहीं। नव पूर्वोको पढ़ा तो भी जीव भटका! चौदह राजू लोक जाना, परन्तु देहमें रहनेवाली आत्माको न पहिचाना, इस कारण भटका! ज्ञानी-पुरुष समस्त शंकाओंका निवारण कर सकता है। परन्तु पार होनेका साधन तो सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलना ही है, और तो ही दुःख नाश होता है। आज भी जीव यदि पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान हो जाय। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, उससे कल्याण होता नहीं।

व्यवहार जिसका परमार्थ है, वैसे आत्म-ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेपर आत्मा लक्षमें आती है—कल्याण होता है।

आत्मज्ञान सहज नहीं। पंचीकरण, विचारसागरको पढ़कर कथनमात्र माननेसे ज्ञान होता नहीं। जिसे अनुभव हुआ है, ऐसे अनुभवीके आश्रयसे, उसे समझकर उसकी आज्ञानुसार आचरण करे तो ज्ञान हो। समझे बिना रास्ता बहुत विकट है। हीरा निकालनेके लिये खानके खोदनेमें तो मेहनत है, पर हीरेके लेनेमें मेहनत नहीं। उसी तरह आत्मासंबंधी समझका आना दुर्लभ है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं; भान नहीं इससे वह दूर मालूम होती है। जीवको कल्याण करने न करनेका भान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है।

चौथे गुणस्थानमें ग्रंथि-भेद होता है। जो ग्यारहवेंमेंसे पड़ता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहा जाता है। लोभ चारित्रके गिरानेवाला है। चौथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामें आवरणका रहना। कल्याणके सच्चे सच्चे कारण जीवके विचारमें नहीं। जो शास्त्र वृत्तिको न्यून करें नहीं, वृत्तिको संकुचित करें नहीं, परन्तु उल्टी उसकी वृद्धि ही करें, वैसे शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे हो सकता है?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनोंको ही विचार तथा उपयोग रखना चाहिये। उपयोग रक्खे नहीं और भार रक्खे तो निकाचित कर्म बँधे। 'कम करना', परिग्रहकी मर्यादा करनी, यह जिसके मनमें हो वह शिथिल कर्म बाँधता है। पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं। केवल एक व्रतको लेकर जो अज्ञानको दूर करना चाहता है, ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितना ही चारित्र मैं खा गया हूँ; उसमें यह तो क्या बड़ी बात है?

जो साधन कोई बतावे, वे साधन पार होनेके साधन हों तो ही वे सत्साधन हैं, बाकी तो सब निष्फल साधन हैं । व्यवहारमें अनन्त बाधायें आती हैं तो फिर पार किस तरह पड़े ? कोई आदमी जल्दी जल्दी बोले तो वह कषायी कहा जाता है, और कोई धीरजसे बोले तो उसमें शान्ति मालूम होती है; परन्तु अंतर्परिणाम हो तो ही शान्ति कही जा सकती है।

जिसे सोनेके लिये एक विस्तरा-भर चाहिये, वह दस घर फाल्तू रक्खे तो उसकी वृत्ति कब संकुचित होगी ? जो वृत्ति रोके उसे पाप नहीं । बहुतसे जीव ऐसे हैं जो इस तरहके कारणोंको इकट्ठा करते हैं कि जिससे वृत्ति न रुके—इससे पाप नहीं रुकता ।

(९) भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौंदह राजू लोककी जो कामना है वह पाप है, इसलिये परिणाम देखना चाहिये। कदाचित् ऐसा कहो कि चौंदह राजू लोककी तो खबर भी नहीं, तो भी जितनेका विचार किया उतना तो निश्चित पाप हुआ । मुनिको एक तिनकेके ग्रहण करनेकी भी छूट नहीं । गृहस्थ इतना ग्रहण करे तो उसे उतना ही पाप है ।

जड़ और आत्मा तन्मय नहीं होते । सूतकी आँटी सूतसे कुछ जुदी नहीं होती, परन्तु आँटी खोलनेमें कठिनता है, यद्यपि सूत घटता बढ़ता नहीं है । उसी तरह आत्मामें आँटी पड़ गई है।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं । सद्गुरु-सत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे जब निज-स्वरूप शुद्ध हो जाय, तब केवलज्ञान होता है । निज-स्वरूपके जाननेका नाम समकित है । सत्पुरुषके वचनका सुनना दुर्लभ है, श्रद्धान करना दुर्लभ है, विचार करना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो, इसमें नवीनता ही क्या है ?

उपदेश-ज्ञान अनादि कालसे चला आता है । अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता । यदि पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकको ही मोक्ष हो जाय । सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाय तो पुस्तक केवल अवलम्बनरूप हैं । चैतन्यभाव लक्ष्यमें आ जाय तो चेतनता प्राप्त हो जाय; चेतनता अनुभवगोचर हैं । सद्गुरुका वचन श्रवण करे, मनन करे और उसे आत्मामें परिणमावे तो कल्याण हो जाय।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष हो जाय । व्यवहारका निषेध करना नहीं चाहिये । अकेले व्यवहारको ही लगे रहना नहीं चाहिये।

आत्म-ज्ञानकी बात, जिससे वह सामान्य हो जाय—इस तरह करनी योग्य नहीं । आत्म-ज्ञानकी बात एकांतमें कहनी चाहिये । आत्माका अस्तित्व विचारमें आवे तो अनुभवमें आता है, नहीं तो उसमें शंका होती है । जैसे किसी आदमीको अधिक पटल होनेसे दिखाई नहीं देता, उसी तरह आवरणकी संलग्नताके कारण आत्माको दिखाई नहीं देता । नींदमें भी आत्माको सामान्यरूपसे जागृति रहती है । आत्मा सम्पूर्णरूपसे सोती नहीं, उसे आवरण आ जाता है । आत्मा हो तो ज्ञान होना संभव है; जड़ हो तो फिर ज्ञान किसे हो ?

अपनेको अपना भान होना—अपनेको अपना ज्ञान होना—वह जीवन्मुक्त होना है ।

चैतन्य एक हो तो भ्रान्ति किसे हुई समझनी चाहिये ? मोक्ष किसे हुई समझनी चाहिये ? समस्त चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यका स्वतंत्ररूपसे जुदा चैतन्य है । चैतन्यका स्वभाव एक है । मोक्ष स्वानुभव-गोचर है । निरावरणमें भेद नहीं । परमाणु एकत्रित न हों, अर्थात् आत्मा और परमाणुका संबंध न होना मुक्ति है; परस्वरूपमें मिलनेका नाम मुक्ति नहीं है ।

कल्याण करने न करनेका तो भान नहीं, परन्तु जीवको अपनापन रखना है । बंध कबतक होता है ? जीव चैतन्य न हो तबतक । एकेन्द्रिय आदि योनिमें भी जीवका ज्ञान-स्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अंशसे खुला ही रहता है । अनादि कालसे जीव बँधा हुआ है । निरावरण होनेके पश्चात् वह बँधता नहीं । 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वही चैतन्यकी अशुद्धता है । इस जगत्में बंध और मोक्ष न होता तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये होता ? आत्मा स्वभावसे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है । जिस समय निर्विकल्प समाधि होती है उसी समय निष्क्रियता कही है । निर्विवादरूपसे वेदान्तके विचार करनेमें बाधा नहीं । आत्मा अर्हंत-पदका विचार करे तो अर्हंत हो जाय । सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध हो जाय । आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य हो जाय । उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय हो जाय । स्त्रीरूपका विचार करे तो आत्मा स्त्री हो जाय; अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाती है । आत्मा एक है अथवा अनेक हैं, इसकी चिन्ता नहीं करना । हमें तो इस विचारकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ' । जगत्भरको इकट्ठा करनेकी क्या ज़रूर है ? एक-अनेकका विचार बहुत दूर दशाके पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये । जगत् और आत्माको स्वप्नमें भी एक नहीं मानना । आत्मा अचल है; निरावरण है । वेदान्त सुनकर भी आत्माको पहिचानना चाहिये । आत्मा सर्वव्यापक है, अथवा आत्मा देह-व्यापक है, यह अनुभव प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।

सब धर्मोंका तात्पर्य यही है कि आत्माको पहिचानना चाहिये । दूसरे जो सब साधन हैं वे जिस जगह चाहिये (योग्य हैं), उन्हें ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक उपयोग करनेसे अधिकारी जीवको फल होता है। दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन हैं।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभ योग, ये अनुक्रमसे दूर हो जाँय तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें प्रवेश करे; उससे समस्त दोष अनुक्रमसे नाश हो जाँय । आत्मज्ञान विचारसे होता है । सत्पुरुष तो पुकार पुकार कर कह गये हैं; परन्तु जीव लोक-मार्गमें पड़ा हुआ है, और उसे लोकोत्तर मार्ग मान रहा है । इससे किसी भी तरह दोष दूर नहीं होता । लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें प्रवेश करें तो सब दोष दूर हो जाँय । जीवको अहंभाव लाना नहीं चाहिये । मान-बड़ाई और महत्ताके त्यागे बिना सम्यक्मार्ग आत्मामें प्रवेश नहीं करता ।

ब्रह्मचर्यके विषयमें:—परमार्थके कारण नदी उतरनेके लिये मुनिको ठंडे पानीकी आज्ञा दी है, परन्तु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी; और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, और अन्तमें ज़हर खाकर मर जाना, परन्तु ब्रह्मचर्य भंग नहीं करना ।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह माल्रम हो सकता है ? सर्प काट खाय और भय न हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है । आत्मा अजर अमर है । 'मैं' मरने-

जाता नहीं, तो फिर मरणका भय क्या है ? जिसकी देहकी मूर्च्छा चली गई है उसे आत्म-ज्ञान हुआ कहा जाता है।

प्रश्नः—जीवको किस तरह वर्ताव करना चाहिये ?

उत्तरः—जिस तरह सत्संगके योगसे आत्माको शुद्धता प्राप्त हो उस तरह। परन्तु सदा सत्संगका योग नहीं मिलता। जीवको योग्य होनेके लिये हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, बिना दिया हुआ नहीं लेना, ब्रह्मचर्य पालना, परिग्रहकी मर्यादा करनी, रात्रिभोजन नहीं करना—इत्यादि सदाचरणको, ज्ञानियोंने शुद्ध अंतःकरणसे करनेका विधान किया है। वह भी यदि आत्माका लक्ष रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नहीं तो उससे केवल पुण्य-योग ही प्राप्त होता है। उससे मनुष्यभव मिलता है, देवगति मिलती है, राज मिलता है, एक भवका सुख मिलता है, और पीछेसे चारों गतियोंमें भटकना पड़ता है। इसलिये ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियायें आत्माके उपकारके लिये, अहंकाररहित भावसे करनेके लिये कही हैं, उन्हें परमज्ञानी स्वयं भी जगत्के उपकारके लिये निश्चयरूपसे सेवन करता है।

महावीरस्वामीने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किया, ऐसा किसी भी ज्ञानीने नहीं किया। फिर भी लोगोंके मनमें यह न हो कि ज्ञान होनेके पश्चात् खाना-पीना सब एक-सा है—इतनेके लिये ही अन्तिम समय तपकी आवश्यकता बतानेके लिये उपवास किया; दानके सिद्ध करनेके लिये दीक्षा लेनेके पहिले स्वयं एकवर्षीय दान दिया। इससे जगत्को दान सिद्ध कर दिखाया; माता-पिताकी सेवा सिद्धकर दिखाई। दीक्षा जो छोटी वयमें न ली वह भी उपकारके लिये ही, नहीं तो अपनेको करना न करना दोनों ही समान हैं। जो साधन कहे हैं, वे आत्मलक्ष करनेके लिये हैं। परके उपकारके लिये ही ज्ञानी सदाचरण सेवन करता है।

हालमें जैनदर्शनमें बहुत समयसे अव्यवहृत कुँएकी तरह आवरण आ गया है; कोई ज्ञानी-पुरुष नहीं है। कितने ही समयसे कोई ज्ञानी नहीं हुआ, अन्यथा उसमें इतना अधिक कदाग्रह नहीं हो जाता। इस पंचमकालमें सत्पुरुषका योग मिलना दुर्लभ है, और उसमें हालमें तो विशेष दुर्लभ देखनेमें आता है। प्रायः पूर्वके संस्कारी जीव देखनेमें आते नहीं। बहुतसे जीवोंमें कोई कोई ही सच्चा मुमुक्षु—जिज्ञासु—देखनेमें आता है। बाकी तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं; जो बाह्य दृष्टिसे युक्त हैं:—

१. 'क्रिया करना नहीं चाहिये; क्रियासे बस देवगति मिलती है, उससे अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता। जिससे चार गतियोंका भ्रमण दूर हो, वही सत्य है'—ऐसा कहकर सदाचरणको केवल पुण्यका हेतु मान उसे नहीं करते, और पापके कारणोंका सेवन करते हुए अटकते नहीं। ऐसे जीवोंको कुछ करना ही नहीं है, और बस बड़ी बड़ी बातें करना है। इन जीवोंको 'अज्ञानवादी' रूपमें रक्खा जा सकता है।

२. 'एकान्त क्रिया करना चाहिये, उसीसे कल्याण होगा,'—इस प्रकार माननेवाले एकान्त व्यवहारमें कल्याण मानकर कदाग्रह नहीं छोड़ते। ऐसे जीवोंको 'क्रियावादी' अथवा 'क्रियाजड़' समझना चाहिये। क्रिया-जड़को आत्माका लक्ष नहीं होता।

३, 'हमको आत्मज्ञान है। आत्माको भ्रान्ति होती ही नहीं, आत्मा कर्त्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं, इसलिये वह कुछ भी नहीं'—इस प्रकार बोलनेवाले 'शुष्क अध्यात्मी' शून्य ज्ञानी होकर अनाचार सेवन करते हुए रुकते नहीं।

इस तरह हालमें तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं। जीवको जो कुछ करना है, वह आत्माके उपकारके लिये ही करना है—यह बात वे भूल गये हैं। हालमें जैनोंमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमें कदाग्रह हो गया है, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्म हमारा है'।

'पडिक्कमामि, निंदामि' आदि पाठका लोकमें, वर्तमानमें ऐसा अर्थ हो गया माऌम होता है कि 'मैं आत्माको विस्मरण करता हूँ'। अर्थात् जिसका अर्थ—उपकार—करना है, उसीको—आत्माको ही—विस्मरण कर दिया है। जैसे बारात चढ़ गई हो, और उसमें तरह तरहके वैभव वगैरह सब कुछ हों, परन्तु यदि एक वर न हो तो बारात शोभित नहीं होती, वर हो तो ही शोभित होती है; उसी तरह क्रिया वैराग्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो ही शोभाको प्राप्त होते हैं, नहीं तो नहीं होते। जैनोंमें हालमें आत्माकी विस्मृति हो गई है।

सूत्र, चौदह पूर्वोंका ज्ञान, मुनिपना, श्रावकपना, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो मेहनत, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं। वह प्रयत्न यदि आत्माको पहिचाननेके लिये—खोज निकालनेके लिये—आत्माके लिये हो तो सफल है, नहीं तो निष्फल है। यद्यपि उससे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतियोंका नाश होता नहीं। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष हो तो वह जीव सहजमें ही योग्य हो जाय, और बादमें यदि सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

शम=क्रोध आदिका कृश पड़ जाना।

संवेग=मोक्षमार्गके सिवाय अन्य किसी इच्छाका न होना।

निर्वेद=संसारसे थक जाना—संसारसे अटक जाना।

आस्था=सच्चे गुरुकी—सद्गुरुकी—आस्था होना।

अनुकंपा=सब प्राणियोंपर समभाव रखना—निर्वैर बुद्धि रखना।

ये गुण समकिती जीवमें स्वाभाविक होते हैं। प्रथम सच्चे पुरुषकी पहिचान हो तो बादमें ये चार गुण आते हैं। वेदान्तमें विचार करनेके लिये षट् संपत्तियाँ बताई हैं। विवेक वैराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य—मुमुक्षु—कहा जाता है।

समकित जो है वह देशचारित्र है—एक देशसे केवलज्ञान है। शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका सर्वथा निषेध नहीं। जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे इष्ट मार्गपर जल्दी पहुँच जाते हैं और पैदलके रास्ते देरमें पहुँचते हैं, उसी तरह इस कालमें मोक्षका रास्ता पैदलके रास्तेके समान हो, और इससे वहाँ न पहुँच सकें, यह कोई बात नहीं है। जल्दी चलें तो जल्दी पहुँच जाँय—रास्ता कुछ बंद नहीं है। इसी तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मान स्वच्छंद कल्पना कर, जीवोंका पार होना बंद करा देता है। अज्ञानीके रागी भोलेभाले जीव अज्ञानीके कहे अनुसार चलते

हैं; और उस प्रकारके कर्मसे बाँधे हुए दोनों कुगतिको प्राप्त होते हैं। ऐसी मुश्किल जैन लोगोंमें विशेष हो गई है।

नय आत्माके समझनेके लिये कहे हैं, परन्तु जीव तो नयवादमें ही गुँथ जाते हैं। आत्माको समझते हुए नयमें गुँथ जानेसे वह प्रयोग उल्टा ही हो गया। समकितदृष्टि जीवको 'केवलज्ञान' कहा जाता है। उसे वर्तमानमें भान हुआ है, इसलिये 'देश-केवलज्ञान' कहा जाता है; बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है। वह इस तरह कहा जाता है:—समकितदृष्टिको जब आत्माका भान हो तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ; और जब उसका भान प्रगट हो गया, तो केवलज्ञान अवश्य होना चाहिये, इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन जोतकर बीज बो दिया; वृक्ष हुआ, फल आये, फल थोड़े ही खाये, और खाते खाते आयु पूर्ण हो गई; तो फिर अब दूसरे भवमें फल खावेंगे। इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं—नहीं, ऐसा विपरीत मान नहीं लेना, और नहीं कहना। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे अनंतभव दूर होकर एक भव बाकी रह जाता है, इसलिये सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मामें केवलज्ञान है, परन्तु आवरण दूर होनेपर केवलज्ञान होता है। इस कालमें सम्पूर्ण आवरण दूर नहीं होता—एक भव बाकी रह जाता है; अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणीय दूर हो, उतना ही केवलज्ञान होता है। समकित आनेपर, भीतरमें—अंतरमें—दशा बदल जाती है; केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है। सद्गुरु बिना मार्ग नहीं, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है। यह उपदेश बिना कारण नहीं किया।

समकिती अर्थात् मिथ्यात्वसे मुक्त; केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरणसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त; और सिद्ध अर्थात् देह आदिसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त।

प्रश्नः—कर्म किस तरह कम होते हैं?

उत्तरः—क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे—उससे कर्म कम होते हैं।

बाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्य जन्म मिलेगा, और किसी दिन सत्पुरुषका संयोग होगा।

प्रश्नः—व्रत-नियम करने चाहिये या नहीं?

उत्तरः—व्रत-नियम करने चाहिये। परन्तु उसकी साथ झगड़ा, कलह, लड़के बच्चे, और घरमें मारामारी नहीं करना चाहिये। ऊँची दशा पानेके लिये ही व्रत-नियम करने चाहिये।

सच्चे-झूठेकी परीक्षा करनेके ऊपर एक सच्चे भक्तका दृष्टान्तः—

एक राजा बहुत भक्तिवाला था। वह भक्तोंकी बहुत सेवा किया करता था। बहुतसे भक्तोंको अन्न-वस्त्र आदिसे पोषण करनेके कारण बहुतसे भक्त इकट्ठे हो गये। प्रधानने सोचा कि राजा बिचारा भोला है, और भक्त लोग ठग हैं; इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा करानी चाहिय। परन्तु इस समय तो राजाको इनपर बहुत प्रेम है, इसलिये वह मानेगा नहीं, इसलिये किसी दूसरे अवसरपर बात करूँगा। ऐसा विचार कुछ समय ठहरकर किसी अवसरके मिलनेपर उसने राजासे कहा—'आप बहुत समयसे सब भक्तोंकी एक-सी सेवा-चाकरी करते हैं, परन्तु उनमें कोई बड़ा होगा और कोई छोटा होगा; इसलिये सबकी परीक्षा करके ही भक्ति करना चाहियें।' राजाने इस बातको स्वीकार किया और पूँछा कि तो फिर क्या करना चाहिये। राजाकी आज्ञा लेकर प्रधानने जो दो हज़ार भक्त थे उन सबको

इंकट्ठा करके कहलवाया कि आप सब लोग दरवाजेके बाहर आवें, क्योंकि राजाको तेलकी ज़रूरत है इसलिये आज भक्त-तेल निकालना है। तुम सब लोग बहुत दिनोंसे राजाके माल-मसाले खा रहे हो, तो आज राजाका इतना काम तुम्हें अवश्य करना चाहिये। जब भक्तोंने, घाणीमें डालकर तेल निकालनेकी बात सुनी तो सबके सब भाग गये और अदृश्य हो गये। उनमें एक सच्चा भक्त था, उसने विचार किया कि राजाका नमक खाया है तो उसकी नमकहरामी कैसे की जा सकती है? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है, इसलिये राजा चाहे कुछ भी करे, उसे करने देना चाहिये। यह विचार कर घाणीके पास जाकर उसने कहा कि 'आपको भक्त-तेल निकालना हो तो निकालिये'। प्रधानने राजासे कहा—'देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे, परन्तु आपको सच्चे-झूठेकी परीक्षा न थी'। देखो, इस तरह, सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और वैसे विरले सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन वचन और कायासे करनी चाहिये।

एक बात जबतक समझमें न आवे तबतक दूसरी बात सुनना किस कामकी? सुने हुएको भूलना नहीं। जैसे एक बार जो भोजन किया है, उसके पचे बिना दूसरा भोजन नहीं करना चाहिये। तप वगैरह करना कोई महाभारत बात नहीं, इसलिये तप करनेवालेको अहंकार करना नहीं चाहिये। तप यह छोटेमें छोटा हिस्सा है। भूखे मरना और उपवास करनेका नाम तप नहीं। भीतरसे शुद्ध अंतःकरण हो तो तप कहा जाता है; और तो मोक्षगति होती है। बाह्य तप शरीरसे होता है। तप छह प्रकारका है:—१ अंतर्वृत्ति होना, २ एक आसनसे कायाको बैठाना, ३ कम आहार करना, ४ नीरस आहार करना और वृत्तियोंका संकुचित करना, ५ संलीनता और ६ आहारका त्याग।

तिथिके लिये उपवास नहीं करना, परन्तु आत्माके लिये उपवास करना चाहिये। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वा इन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वा इन्द्रिय वश की तो यह समस्त इन्द्रियोंके वशमें होनेका निमित्त है। उपवास करो तो उसकी बात बाहर न करो, दूसरेकी निन्दा न करो, क्रोध न करो। यदि इस प्रकारके दोष कम हों तो महान् लाभ हो। तप आदि आत्माके लिये ही करने चाहिये—लोकके दिखानेके लिये नहीं। कषायके घटनेको तप कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाना चाहिये।

सब कोई सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सत्य है। समकित होगा या नहीं, उसे भी यदि ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे? अज्ञानीके स्वीकार करने जैसा ही तुम्हारा सामायिक, व्रत और समकित है! अर्थात् वास्तविक सामायिक, व्रत और समकित तुम्हारेमें नहीं। मन वचन और काया व्यवहार-समतामें स्थिर रहें, यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग मालूम होता है, फिर भी वस्तुतः वह स्थिर नहीं है, और इस कारण वह समता भी नहीं है। मन वचन और काया चौदह गुणस्थान-तक होते हैं; मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नहीं। केवलीके मनयोग चपल होता है, परन्तु आत्मा चपल नहीं होती। आत्मा चौथे गुणस्थानकमें चपल होती है, परन्तु सर्वथा नहीं। 'ज्ञान' अर्थात् आत्माको याथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी याथातथ्य प्रतीति।

'चारित्र' अर्थात् आत्माका स्थिर होना। आत्मा और सद्गुरुको एक ही समझना चाहिये। यह बात विचारसे ग्रहण होती है। वह विचार यह कि देह अथवा देहके समान दूसरा भाव सद्गुरु नहीं, परन्तु सद्गुरुकी आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूप लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे प्रगट अनुभव किया है, और वही परिणाम जिसकी आत्माका हो गया है, वह आत्मा और सद्गुरु एक ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। पूर्वमें जो अज्ञान इकट्ठा किया है, वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्व वाणी समझमें आये।

मिथ्यावासना=धर्मके मिथ्या स्वरूपको सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानकी कसौटी है। साता-शील आचरण रक्खा हो और असाता आ जाय तो ज्ञान मंद हो जाता है।

विचार बिना इन्द्रियाँ वश नहीं होतीं। अविचारसे इन्द्रियाँ दौड़तीं हैं। निवृत्तिके लिये उपवास करना बताया है। हालमें बहुतसे अज्ञानी जीव उपवास करके दुकानपर बैठते हैं, और उसे पौषध बताते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये हैं। उन सबको ज्ञानियोंने निष्फल ठहराया है। जब स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जाय, उसी समय सामायिक किया कहा जाता है। व्यवहार-सामायिक बहुत निषेध करने योग्य नहीं; यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड़ बना डाला है। उसे करनेवाले जीवोंको खबर भी नहीं होती कि इससे कल्याण क्या होगा? पहिले सम्यक्त्व चाहिये। जिस वचनके सुननेसे आत्मा स्थिर हो उस सत्पुरुषका वचन श्रवण हो तो पीछेसे सम्यक्त्व होता है। सामान्य विचारको लेकर इन्द्रियाँ वश करनेके लिये छह कायका आरंभ कायासे न करते हुए जब वृत्ति निर्मल होती है, तब सामायिक हो सकता है।

भवस्थिति, पंचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शंकाओंसे जीवने बाह्य वृत्ति कर रक्खी है। परन्तु यदि जीव ऐसा पुरुषार्थ करे, और पंचमकाल मोक्ष होते समय हाथ पकड़ने आवे, तो उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हाथी नहीं, अथवा जाज्वल्यमान अग्नि नहीं। मुफ्तमें ही जीवको भड़का रक्खा है। जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसको लेकर बहाना ढूँढ़ना है। इसे अपना ही दोष समझना चाहिये। समताकी वैराग्यकी बातें सुननी और विचारनी चाहिये। बाह्य बातोंको जैसे बने वैसे छोड़ देना चाहिये। जीव पार होनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करे तो समस्त वासनायें दूर हो जाँय।

सद्गुरुकी आज्ञामें सब साधन समा गये हैं। जो जीव पार होनेके अभिलाषी होते हैं, उनमें सब वासनाओंका नाश हो जाता है। जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो वह दो चार दिनमें घर आकर मिल सकता है, परंतु जो लाखों कोस दूर हो वह एकदम घर आकर कैसे मिल सकता है? उसी तरह यह जीव कल्याणमार्गसे थोड़ा दूर हो तो वह कभी कल्याण प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि वह एकदम ही उल्टे रास्ते हो तो कहाँसे पार हो सकता है?

देह आदिका अभाव होना—मूर्च्छाका नाश होना—ही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता उचित नहीं। अज्ञान दूर होनेके पश्चात् एक भवकी कुछ कीमत नहीं। लाखों भव चले गये तो फिर एक भव तो किस हिसाबमें है?

किसीको हो तो मिथ्यात्व और माने वह छट्ठा-सातवाँ गुणस्थानक, तो उसका क्या करना ? चौथे गुणस्थानकी स्थिति कैसी होती है ? गणधरके समान मोक्षमार्गकी परम प्रतीति आवे (ऐसी)।

पार होनेका अभिलाषी हो वह सिर काटकर देते हुए पीछे नहीं हटता। जो शिथिल हो वह जो थोड़े कुलक्षण हों उन्हें भी नहीं छोड़ सकता। वीतराग भी जिस वचनको कहते हुए डरे हैं, उसे अज्ञानी स्वच्छंदतासे कहता है, तो वह फिर कैसे छूटेगा ?

महावीरस्वामीके दीक्षाके वरघोड़ेकी बातका स्वरूप यदि विचारें तो वैराग्य हो। यह बात अद्भुत है। वे भगवान् अप्रमादी थे। उन्हें चारित्र रहता था, परन्तु जिस समय उन्होंने बाह्य चारित्र ग्रहण किया, उस समय वे मोक्ष गये।

अविरति शिष्य हो तो उसका आदर सत्कार कैसे किया जाय ? कोई राग-द्वेष नाश करनेके लिये निकले, और उसे तो काममें ही ले लिया, तो राग-द्वेष कहाँसे दूर हो सकते हैं ? जिनभगवान्के आगमका जो समागम हुआ हो वह अपने क्षयोपशमके अनुसार होता है, परन्तु वह सद्गुरुके अनुसार नहीं होता। सद्गुरुका योग मिलनेपर जो उसकी आज्ञानुसार चला, उसका राग-द्वेष सचमुच दूर हो गया।

गंभीर रोगके दूर करनेके लिये असली दवा तुरत ही फल देती है। ज्वर तो एक ही दो दिनमें दूर हो जाता है।

मार्ग और उन्मार्गकी परीक्षा होनी चाहिये। 'पार होनेका अभिलाषी' इस शब्दका प्रयोग करो तो अभव्यका प्रश्न ही नहीं उठता। अभिलाषीमें भी भेद हैं।

प्रश्नः—सत्पुरुषकी किस तरह परीक्षा होती है ?

उत्तरः—सत्पुरुष अपने लक्षणोंसे पहिचाने जाते हैं। सत्पुरुषोंके लक्षणः—उनकी वाणीमें पूर्वापर अविरोध होता है; वे क्रोधका जो उपाय बतावें, उससे क्रोध दूर हो जाता है; मानका जो उपाय बतावें, उससे मान दूर हो जाता है। ज्ञानीकी वाणी परमार्थरूप ही होती है। वह अपूर्व है। ज्ञानीकी वाणी दूसरे अज्ञानीकी वाणीके ऊपर ऊपर ही होती है। जबतक ज्ञानीकी वाणी सुनी नहीं, तबतक सूत्र भी नीरस जैसे मालूम होते हैं। सद्गुरु और असद्गुरुकी परीक्षा, सोने और पीतलकी कंठीकी परीक्षाकी तरह होनी चाहिये। यदि पार होनेका अभिलाषी हो, और सद्गुरु मिल जाय तो कर्म दूर हो जाते हैं। सद्गुरु कर्म दूर करनेका कारण है। कर्म बाँधनेके कारण मिलें तो कर्म बँधते हैं, और कर्म दूर होनेके कारण मिलें तो कर्म दूर होते हैं। जो पार होनेका अभिलाषी हो वह भवस्थिति आदिके आलंबनको मिथ्या कहता है। पार होनेका अभिलाषी किसे कहा जाय ? जिस पदार्थको ज्ञानी ज़हर कहें, उसे ज़हर समझकर छोड़ दे, और ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन करे, उसे पार होनेका अभिलाषी कहा जाता है।

उपदेश सुननेके लिये, सुननेके अभिलाषीने कर्मरूप गुदड़िया ओढ़ रक्खी है, उससे उपदेशरूप लकड़ी नहीं लगती। तथा जो पार होनेका अभिलाषी है उसने धोतीरूप कर्म ओढ़ रक्खे हैं, इससे उसपर उपदेशरूप लकड़ी आदिमें ही असर करती है। शास्त्रमें अभव्यके तारनेसे पार हो जाय, ऐसा नहीं कहा। चौभंगीमें यह अर्थ नहीं है। ढूँढियाओंके धरमशी नामक मुनिने इसकी टीका की है।

स्वयं तो पार हुआ नहीं और दूसरोंको पार उतारता है, इसका अर्थ अंधमार्ग बताने जैसा है। असद्गुरु इस प्रकारका मिथ्या आलंबन देते हैं*।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति नामक जैनसूत्रमें ऐसा कहा है कि इस कालमें मोक्ष नहीं। इसके ऊपरसे यह न समझना चाहिये कि मिथ्यात्वका दूर होना और उस मिथ्यात्वके दूर होनेरूप भी मोक्ष नहीं है। मिथ्यात्वके दूर होनेरूप मोक्ष है; परन्तु सर्वथा अर्थात् आत्यंतिक देहरहित मोक्ष नहीं है। इसके ऊपरसे यह कहा जा सकता है कि इस कालमें सर्व प्रकारका केवलज्ञान नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस कालमें सम्यक्त्व भी न होता हो। इस कालमें मोक्षके न होनेकी ऐसी बातें कोई करे तो उन्हें सुनना भी नहीं। सत्पुरुषकी बात पुरुषार्थको मंद करनेकी नहीं होती—पुरुषार्थको उत्तेजन देनेकी ही होती है।

ज़हर और अमृत दोनों समान हैं, ऐसा ज्ञानियोंने कहा हो, तो वह अपेक्षित ही है। ज़हर और अमृतको समान कहनेसे कुछ ज़हरका ग्रहण करना बताया है, यह बात नहीं। इसी तरह शुभ और अशुभ क्रियाओंके संबंधमें समझना चाहिये। शुभ और अशुभ क्रियाका निषेध किया हो तो वह मोक्षकी अपेक्षासे ही है। किन्तु उससे शुभ और अशुभ दोनों क्रियायें समान हैं, यह समझकर शुभ क्रिया भी नहीं करना चाहिये—ऐसा ज्ञानी-पुरुषका कथन कभी भी नहीं होता। सत्पुरुषका वचन कभी अधर्ममें धर्म स्थापन करनेका नहीं होता।

जो क्रिया करना उसे अदंभपनेसे, निरहंकारपनेसे करना चाहिये—क्रियाके फलकी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये। शुभ क्रियाका कोई निषेध किया ही नहीं, परन्तु जहाँ जहाँ केवल बाह्य क्रियासे ही मोक्ष स्वीकार किया है, वहीं उसका निषेध किया है।

शरीर ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। मन ठीक रहे, यह भी एक तरहकी समाधि है। सहज-समाधि अर्थात् बाह्य कारणरहित समाधि। उससे प्रमाद आदिका नाश होता है। जिसे यह समाधि रहती है, उसे कोई लाख रुपये दे तो भी उसे आनन्द नहीं होता; अथवा उससे कोई उन्हें ज़बर्दस्ती छीन ले तो भी उसे खेद नहीं होता। जिसे साता-असाता दोनों समान हैं, उसे सहज-समाधि कही गई है। समकितदृष्टिको अल्प हर्ष, अल्प शोक कभी हो भी जाय, परन्तु पीछेसे वह शान्त हो जाता है। उसे अंगका हर्ष नहीं रहता; जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह उसे पीछे खींच लेता है। वह विचारता है कि 'इस तरह होना योग्य नहीं', और वह आत्माकी निन्दा करता है। उसे हर्ष-शोक हों तो भी उसका (समकितका) मूल नाश नहीं होता। समकितदृष्टिको अंशसे सहज प्रतीतिके होनेसे सदा ही समाधि रहती है। पतंगकी डोरी जैसे हाथमें रहती है, उसी तरह समकित-दृष्टिकी वृत्तिरूपी डोरी उसके हाथमें ही रहती है।

समकितदृष्टि जीवको सहज-समाधि है। सत्तामें कर्म बाकी रहे हों, उसे फिर भी सहज-समाधि ही है। उसे बाह्य कारणोंसे समाधि नहीं, किन्तु आत्मामेंसे जो मोह दूर हो गया वही समाधि है। मिथ्यादृष्टिके हाथमें डोरी नहीं, इससे वह बाह्य कारणोंमें तदाकार होकर उसरूप हो जाता है।

समकितदृष्टिको बाह्य दुःख आनेपर भी खेद नहीं होता। यद्यपि वह ऐसी इच्छा नहीं करता कि रोग आये। परन्तु रोग आनेपर उसके राग-द्वेष परिणाम नहीं होते।

---

* इसके बादके तीन पेराग्राफ़ पत्र नम्बर ६३८ में आ गये हैं। —अनुवादक.

शरीरके धर्म—रोग आदि—केवलीके भी होते हैं; क्योंकि वेदनीय कर्मको तो सबको भोगना ही पड़ता है। समकित आये बिना किसीकी सहज-समाधि होती नहीं। समकित होनेसे ही सहज-समाधि होती है। समकित होनेसे सहजमें ही आसक्तिभाव दूर हो जाता है। उस दशामें आसक्ति-भावके सहज निषेध करनेसे बंध रहता नहीं। सत्पुरुषके वचन अनुसार—उसकी आज्ञानुसार—जो चले उसे अंशसे समकित हुआ है।

दूसरे सब प्रकारकी कल्पनायें छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनकी सच्ची श्रद्धा करना, और उन्हें आत्मामें प्रवेश करना चाहिये, तो समकित होता है। शास्त्रमें कही हुई महावीर-स्वामीकी आज्ञानुसार चलनेवाले जीव वर्तमानमें नहीं हैं; इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी चाहिये। काल विकराल है। कुगुरुओंने लोकको मिथ्या मार्ग बताकर भुला दिया है—मनुष्यभव लूट लिया है; तो फिर जीव मार्गमें किस तरह आ सकता है? यद्यपि कुगुरुओंने लूट तो लिया है, परन्तु उसमें उन विचारोंका दोष नहीं, क्योंकि उन्हें उस मार्गकी खबर ही नहीं है। मिथ्यात्वरूपी तिल्लीकी गाँठ मोटी है, इसलिये सब रोग तो कहाँसे दूर हो सकता है? जिसकी ग्रंथि छिन्न हो गई है, उसे सहज-समाधि होती है; क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उसकी मूल गाँठ ही नष्ट हो गई, और उससे फिर अन्य गुण अवश्य ही प्रगट हो जाते हैं।

सत्पुरुषका बोध प्राप्त होना यह अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने बिचारे मनुष्योंको लूट लिया है। किसी जीवको गच्छका आग्रह कराकर, किसीको मतका आग्रह कराकर, जिससे पार न हो सकें, ऐसे आलंबन देकर सब कुछ लूटकर व्याकुल कर डाला है—मनुष्य भव ही लूट लिया है।

समवसरणसे भगवान्की पहिचान होती है, इस सब माथापच्चीको छोड़ देना चाहिये। लाख समवसरण हों, परन्तु यदि ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता; ज्ञान हो तो ही कल्याण होता है। भगवान् मनुष्य जैसे ही मनुष्य थे। वे खाते, पीते, उठते और बैठते थे—इन बातोंमें फेर नहीं है। फेर कुछ दूसरा ही है। समवसरण आदिके प्रसंग लौकिक-भावना है। भगवान्का स्वरूप ऐसा नहीं है। भगवान्का स्वरूप—सर्वथा निर्मल आत्मा—सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर प्रगट होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाय यही भगवान्का स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान् होता तो तुम उसे भी न मानते। भगवान्का माहात्म्य ज्ञान है। भगवान्के स्वरूपका चिंतवन करनेसे आत्मा भानमें आती है, परन्तु भगवान्की देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो जाय उसे भगवान् कहा जाता है। जैसे यदि भगवान् मौजूद होते और वे तुम्हें बताते तो तुम उन्हें भी न मानते, इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी मौजूद हो तो वह भी नहीं माना जाता। तथा स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी हुआ नहीं। और पीछेसे तो लोग उसकी प्रतिमाको पूजते हैं, परन्तु वर्तमानमें उसपर प्रतीति भी नहीं लाते। जीवको ज्ञानीकी पहिचान वर्तमानमें होती नहीं।

समकितका सच्चा सच्चा विचार करे तो नौवें समयमें केवलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भवमें केवलज्ञान होता है; और अन्तमें पन्द्रहवें भवसे तो केवलज्ञान हो ही जाता है, इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। जुदा जुदा विचार-भेदोंको आत्मामें लाभ होनेके लिये ही कहा है; परन्तु भेदमें ही आत्माको घुमानेके लिये नहीं कहा। हरेकमें परमार्थ होना चाहिये।

समकितीको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं!

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको कुमार्गपर चढ़ा दिया है; उल्टा पकड़ा दिया है; इससे लोग गच्छ, कुल, आदि लौकिक भावोंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोकको एकदम मिथ्या ही मार्ग समझा दिया है। उनके संगसे इस कालमें अंधकार हो गया है। हमारी कही हुई हरेक–प्रत्येक–बातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करना चाहिये। गच्छ आदिके कदाग्रहको छोड़ देना चाहिये। जीव अनादि कालसे भटक रहा है। यदि समकित हो तो सहज ही समाधि हो जाय, और अन्तमें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञाका सच्चा सच्चा आराधन करे, उसके ऊपर प्रतीति लावे, तो अवश्य ही उपकार हो।

एक ओर तो चौदह राजू लोकका सुख हो, और दूसरी ओर सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो, तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्ति चाहे किसी भी तरह हो रोकना चाहिये, ज्ञान-विचारसे रोकना चाहिये, लोक-लाजसे रोकना चाहिये, उपयोगसे रोकना चाहिये, किसी भी तरह हो वृत्तिको रोकना चाहिये। मुमुक्षुओंको, किसी अमुक पदार्थके बिना न चले ऐसा नहीं रखना चाहिये।

जीव जो अपनापन मानता है, वही दुःख है; क्योंकि जहाँ अपनापन माना और चिंता हुई कि अब कैसे होगा? अब कैसे करें? चिंतामें जो स्वरूप हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारके द्वारा, ज्ञानके द्वारा देखा जाय तो मालूम होता है कि कोई अपना नहीं। यदि एककी चिंता करो तो समस्त जगत्की ही चिंता करनी चाहिये। इसलिये हरेक प्रसंगमें अपनापन होते हुए रोकना चाहिये, तो ही चिंता–कल्पना–कम होगी। तृष्णाको जैसे बने कम करना चाहिये। विचार कर करके तृष्णाको कम करना चाहिये। इस देहको कुछ पचास-सौ रुपयेका तो खर्च चाहिये, और उसके बदले वह हजारों लाखोंकी चिंता कर अग्निसे सारे दिन जला करती है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव मान-बड़ाईके कारण तृष्णाको बढ़ाता है, उस मान-बड़ाईको रखकर मुक्ति होती नहीं। जैसे बने वैसे मान-बड़ाई, तृष्णाको कम करना चाहिये। निर्धन कौन है? जो धन माँगे—धनकी इच्छा करे—वह निर्धन है। जो न माँगे वह धनवान है। जिसे लक्ष्मीकी विशेष तृष्णा, उसकी दुविधा, पीड़ा है, उसे जरा भी सुख नहीं। लोग समझते हैं कि श्रीमंत लोग सुखी हैं, परन्तु वस्तुतः उनके तो रोम रोममें पीड़ा है, इसलिये तृष्णाको घटाना चाहिये।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, उसे करना नहीं चाहिये। विहारकी अर्थात् क्रीड़ाकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता और दीनता ये सब तुच्छताकी बातें करनी नहीं चाहिये। आहार विष्टा है। विचार करो कि खानेके पीछे विष्टा हो जाती है। विष्टा गाय खाती है तो दूध हो जाता है; और खेतमें खाद डालनेसे अनाज हो जाता है। इस तरह उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विष्टातुल्य समझ, उसकी चर्चा न करनी चाहिये। वह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे सर्वथा मौन नहीं रहा जाता, और यदि रहें भी तो अंतरकी कल्पना दूर होती नहीं; और जबतक कल्पना रहे तबतक उसके लिये कोई रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये पीछेसे वे लिखकर कल्पनाको बाहर निकालते हैं। परमार्थ काममें बोलना चाहिये। व्यवहार काममें

प्रयोजनके बिना व्यर्थकी बातें करनी नहीं। जहाँ माथापच्ची होती हो वहाँसे दूर रहना चाहिये—वृत्ति कम करनी चाहिये।

क्रोध, मान, माया, लोभको मुझे कम करना है, ऐसा जब लक्ष होगा—जब उसका थोड़ा थोड़ा भी लक्ष्य किया जायगा—तब बादमें वह सरल हो जायगा। आत्माको आवरण करनेवाले दोष जब जाननेमें आ जाँय तब उन्हें दूर भगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोध आदिके थोड़े थोड़े कम होनेके बाद सब सहज हो जायगा। बादमें उन्हें नियममें लेनेके लिये जैसे बने अभ्यास रखना चाहिये; और विचारमें समय बिताना चाहिये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदिके उत्पन्न होनेका निमित्त हो तो उसे मानना नहीं चाहिये; क्योंकि जब स्वयं ही क्रोध करें तभी क्रोध होता है। जिस समय अपनेपर कोई क्रोध करे, उस समय विचारना चाहिये कि उस विचारेको हालमें उस प्रकृतिका उदय है; यह स्वयं ही घड़ी दो घड़ीमें शांत हो जायगा। इसलिये जैसे बने तैसे अंतर्विचार कर स्वयं स्थिर रहना चाहिये। क्रोध आदि कषायको हमेशा विचार विचारकर कम करना चाहिये। तृष्णा कम करनी चाहिये। क्योंकि वह एकांत दुःखदायी है। जैसा उदय होगा वैसा होगा, इसलिये तृष्णाको अवश्य कम करना चाहिये। बाह्य प्रसंगोंको जैसे बने वैसे कम करना चाहिये।

चेलातीपुत्रने किसीका सिर काट लिया था। बादमें वह ज्ञानीको मिला, और कहा कि मोक्ष दे, नहीं तो तेरा भी सिर काट डालूँगा। इसपर ज्ञानीने कहा कि क्या तू ठीक कहता है? विवेक (सच्चेको सच्चा समझना), शम (सबके ऊपर समभाव रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर न जाने देना और अंतर्वृत्ति रखना) को विशेषातिविशेष आत्मामें परिणमानेसे आत्माको मोक्ष मिलती है।

कोई सम्प्रदायवाला कहता है कि वेदांतियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रम-दशाकी अपेक्षा—तो चार गतियाँ ही श्रेष्ठ हैं; इनमें अपने आपको सुख दुःखका अनुभव तो रहता है।

सिद्धमें संवर नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म आते नहीं, इसलिये फिर उनका निरोध भी नहीं होता। मुक्तमें एक गुणसे—अंशसे—लगाकर सम्पूर्ण अंशोंतक स्वभाव ही रहता है। सिद्धदशामें स्वभावसुख प्रगट हो गया है, कर्मके आवरण दूर हो गये हैं, तो फिर अब संवर-निर्जरा किसे रहेंगे? वहाँ तीन योग भी नहीं होते। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग इन सबसे मुक्त उनको कर्मोंका आगमन नहीं होता। इसलिये उनके कर्मोंका निरोध भी नहीं होता। जैसे एक हजारकी रकम हो, और उसे थोड़ी थोड़ी पूरी कर दें तो खाता बंद हो जाता है; इसी तरह कर्मके जो पाँच कारण थे, उन्हें संवर-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणोंरूपी खाता बंद हो गया, अर्थात् वह फिर पीछेसे किसी भी तरह प्राप्त नहीं होता।

धर्मसंन्यास=क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका छेदन करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किसी समय भी सोता नहीं अथवा मरता नहीं—मरना उसका संभव नहीं। स्वभावसे सब जीव जीवित ही हैं। जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना कोई जीव देखनेमें आता नहीं, उसी तरह ज्ञानस्वरूप चैतन्यके बिना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करना चाहिये और ऐसा खेद करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो—संसार मिथ्या मालूम हो। चाहे कोई भी मर जाय परन्तु जिसकी आँखमें आँसू आ जाँय—संसारको

असार मान जन्म, जरा, मरणको महा भयंकर समझ वैराग्य प्राप्त कर आँसू आ जाँय—वह उत्तम है। अपना पुत्र मर जाय और रोने लगे, तो इसमें कोई विशेषता नहीं, वह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता ? इसने बड़े बड़े पर्वतके पर्वत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचारकर उनको रेल्वेके काममें लिया है। यह तो केवल बाहरका काम है, फिर भी विजय प्राप्त की है। आत्माका विचार करना, यह कुछ बाहरकी बात नहीं। जो अज्ञान है उसके दूर होनेपर ज्ञान होता है।

अनुभवी वैद्य दवा देता है, परन्तु यदि रोगी उसे गलेमें उतारे तो ही रोग मिटता है। उसी तरह सद्गुरु अनुभवपूर्वक ज्ञानरूप दवा देता है, परन्तु उसे मुमुक्षु ग्रहण करनेरूप गले उतारे तो ही मिथ्यात्वरूप रोग दूर होता है।

दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाय—ऐसा कहा है। रेल्वे इत्यादि, चाहे कैसा भी पुरुषार्थ क्यों न करें तो भी दो घड़ीमें तैय्यार होतीं नहीं, तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है, इसका विचार तो करो।

जो बातें जीवको शिथिल कर डालती हैं—प्रमादी कर डालती हैं, वैसी बातें सुनना नहीं। इसीके कारण जीव अनादिकालसे भटका है। भव-स्थिति काल आदिका आलंबन लेना नहीं। ये सब बहाने हैं।

जीवको सांसारिक आलंबन—विडम्बनायें—छोड़ना तो है नहीं, और वह मिथ्या आलंबन लेकर कहता है कि कर्मके दल मौजूद हैं इसलिये मेरेसे कुछ बन नहीं सकता। ऐसे आलंबन लेकर जीव पुरुषार्थ करता नहीं। यदि वह पुरुषार्थ करे और भवस्थिति अथवा काल रुकावट डालें तो उसका उपाय हम कर लेंगे, परन्तु पहिले तो पुरुषार्थ करना चाहिये।

सत्पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना भी परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही है। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस आदमीने लाखों रुपयोंके सामने पीछा फिरकर देखा नहीं, वह अब जो हज़ारके व्यापारमें बहाना निकालता है, उसका कारण यही है कि अंतरसे आत्मार्थकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया है वह पीछा फिरकर देखता नहीं—वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमें कहा है कि आवरण, स्वभाव, भवस्थिति कब पकती हैं ? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिल जाँय तो मुक्ति हो जाय। वे पाँचों कारण पुरुषार्थमें अन्तर्हित हैं। अनंत चौथे आरे मिल जाँय, परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो ही मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनंत कालसे पुरुषार्थ किया नहीं। समस्त मिथ्या आलंबनोंको लेकर मार्गमें विघ्न डाले हैं। कल्याण-वृत्ति उदित हो तब भवस्थिति परिपक्व हुई समझनी चाहिये। शूरता हो तो वर्षका काम दो घड़ीमें किया जा सकता है।

प्रश्नः—व्यवहारमें चौथे गुणस्थानमें कौन कौन व्यवहार लागू होता है ? शुद्ध व्यवहार या और कोई ?

उत्तरः—उसमें दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है, और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे वह शुद्ध कर्त्ता कहा जाता है। प्रत्याख्यानी अप्रत्याख्यानीको खपा दिया है, इसलिये वह शुद्ध व्यवहारका कर्त्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यवहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्त्ता है। नयके अनेक प्रकार हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची आवे, पुरुषार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकार विचारना चाहिये। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलके ऊपर लक्ष रखना चाहिये। एक यदि सम्यक् उपयोग हो तो अपनेको अनुभव हो जाय कि कैसी अनुभव-दशा प्रगट होती है!

सत्संग हो तो समस्त गुण सहजमें ही हो जाँय। दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मर्यादा आदि अहंकाररहित करने चाहिये। लोगोंको बतानेके लिये कुछ भी करना नहीं चाहिये। मनुष्यभव मिला है, और सदाचारका सेवन न करे, तो फिर पीछे पछताना होगा। मनुष्यभवमें सत्पुरुषके वचनके सुननेका-विचार करनेका—संयोग मिला है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं—बिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हों उन्हें ही करना चाहिये। यदि छह महीनेतक इस तरह आचरण किया जाय तो फिर सत्यका बोलना सरल हो जाता है। सत्य बोलनेसे, कदाचित् प्रथम तो थोड़े समयतक थोड़ा नुकसान भी हो सकता है, परन्तु पीछेसे अनंत गुणकी धारक आत्मा जो तमाम लुटी जा रही है, वह लुटती हुई बंद हो जाती है। सत्य, बोलनेसे धीमे धीमे सहज हो जाता है; और यह होनेके पश्चात् व्रत लेना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये, क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाली आत्मा कोई विरली ही होती है।

जीवने यदि अलौकिक भयसे भय प्राप्त किया हो, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोक चाहे जैसे बोले उसकी परवा न करते हुए, जिससे आत्म-हित हो उस सदाचरणका सेवन करना चाहिये।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनके बिना विचार नहीं आता। विचारके बिना वैराग्य नहीं आता—वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारण सत्पुरुषके वचनोंका बारंबार विचार करना चाहिये।

वास्तविक आशंका दूर हो जाय तो बहुत-सी निर्जरा हो जाती है। जीव यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे बारंबार बोध होता हो तो बहुत फल हो।

जो सात अथवा अनंत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आवे तो फल होता है; नहीं तो जीवको नयका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है; और वह फिर अहंकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे वह जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भंगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमें आत्मार्थ नहीं। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कषाय आदि मंद करो और सदाचारका सेवन करके अहंकार रहित हो जाओ, तो तुम्हारा और दूसरेका हित हो सकता है। दंभरहित आत्मार्थसे सदाचार सेवन करना चाहिये, जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस काममें आ सकती है? उसी तरह जबतक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश प्रवेश न करे, तबतक वह किस कामका? जबतक उपदेश-वार्ता आत्मामें प्रवेश न करे तबतक उसे फिर फिर मनन करना और विचारना चाहिये—उसका पीछा छोड़ना

नहीं चाहिये—कायर होना नहीं चाहिये—कायर हो जाय तो आत्मा ऊँची नहीं जाती। ज्ञानका अभ्यास जिस तरह बने बढ़ाना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये—उसमें कुटिलता अथवा अहंकार नहीं रखना चाहिये।

आत्मा अनंत ज्ञानमय है। जितना अभ्यास बढ़े उतना ही कम है। सुंदरविलास आदिके पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये। गच्छकी अथवा मतमतांतरकी पुस्तकें हाथमें नहीं लेना। परम्परासे भी कदाग्रह आ जाय तो जीव पीछेसे मारा जाता है; इसलिये कदाग्रहकी बातोंमें नहीं पड़ना। मतोंसे अलग रहना चाहिये—दूर रहना चाहिये। जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं। वैराग्यकी पुस्तकें पढ़ना चाहिये।

दया, सत्य आदि जो साधन हैं, वे विभावको त्याग करनेके साधन हैं। अंतस्पर्शसे विचारको बड़ा आश्रय मिलता है। अबतकके साधन विभावके आधार-स्तंभ थे; उन्हें सच्चे साधनोंसे ज्ञानी-पुरुष हिला डालते हैं। जिसे कल्याण करना हो उसे सत्य-साधन अवश्य करना चाहिये।

सत्समागममें जीव आया और इन्द्रियोंकी लुब्धता न गई, तो वह सत्समागममें आया ही नहीं, ऐसा समझना चाहिये। जबतक सत्य बोले नहीं तबतक गुण प्रगट नहीं होते। सत्पुरुष हाथसे पकड़कर व्रत दे तो लो। ज्ञानी-पुरुष परमार्थका ही उपदेश देता है। मुमुक्षुओंको सत्साधनोंका सेवन करना योग्य है।

समकितके मूल बारह व्रत हैं:—स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद; स्थूल कहनेका हेतु०—

ज्ञानीने आत्माका और ही मार्ग समझाया है। व्रत दो प्रकारके हैं:—समकितके बिना बाह्य व्रत है; और समकितसहित अंतर्व्रत है। समकितसहित बारह व्रतोंका परमार्थ समझमें आ जाय तो फल होता है।

बाह्यव्रत अंतर्व्रतके लिये हैं; जैसे कि एकका अंक सिखानेके लिये लकीरें बनाई जाती हैं। यद्यपि प्रथम तो लकीरें करते हुए एकका अंक टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, परन्तु इस तरह करते करते पीछेसे वह अंक ठीक ठीक बनने लगता है।

जीवने जो जो कुछ श्रवण किया है, वह सब मिथ्या ही ग्रहण किया है। ज्ञानी बिचारा क्या करे? कितना समझावे? वह समझानेकी रीतिसे ही तो समझाता है। मार कूटकर समझानेसे तो आत्मज्ञान होता नहीं। पहिले जो जो व्रत आदि किये थे सब निष्फल ही गये, इसलिये अब सत्पुरुषकी दृष्टिसे परमार्थ समझकर करो। एक ही व्रत हो, परन्तु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे बंध है; और सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है। पूर्वमें जो व्रत आदि निष्फल गये, उन्हें अब सफल करने योग्य सत्पुरुषका योग मिला है; इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये। सदाचरणका आश्रयसहित सेवन करना चाहिये—मरण आनेपर पीछे हटना नहीं चाहिये। ज्ञानीके वचन श्रवण होते नहीं—मनन होते नहीं, नहीं तो दशा बदले बिना कैसे रह सकती है?

आरंभ-परिग्रहको न्यून करना चाहिये। पढ़नेमें चित्त न लगे तो उसका कारण नीरसता मालूम होती है। जैसे कोई आदमी नीरस आहार कर ले तो फिर उसे पीछेसे भोजन अच्छा नहीं लगता।

ज्ञानियोंने जो कहा है, उससे जीव विपरीत ही चलता है; फिर सत्पुरुषकी वाणी कहाँसे लग सकती है? लोक-लाज आदि शल्य हैं। इस शल्यके कारण जीवका पानी चमकता नहीं। उस शल्यपर

यदि सत्पुरुषके वचनरूपी टाँकीसे दरार पड़ जाय तो पानी चमक उठे । जीवका शल्य हजारों दिनके जातियोगके कारण दूर नहीं होता, परन्तु सत्संगका संयोग यदि एक महीनेतक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीव रास्तेसे चला जाय ।

बहुतसे लघुकर्मी संसारी जीवोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए जितना खेद होता है उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होता नहीं !

तृष्णावाला जीव सदा भिखारी; संतोषवाला जीव सदा सुखी ।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी, सच्चे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सच्चे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहिचान हो जाय । सबका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है ।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ, और सच्चे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । ग्रंथरहित अर्थात् गाँठरहित । मिथ्यात्व अंतर्ग्रन्थि है । परिग्रह बाह्य ग्रन्थि है । मूलमें अभ्यंतर ग्रंथि छिन्न न हो तबतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता । जिसकी ग्रन्थि नष्ट हो गई है, वैसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाय; और उसमें यदि सत्समागम रहे तो विशेष कल्याण हो । जिस मूल गाँठका शास्त्रमें छेदन करना कहा है, उसे सब भूल गये हैं, और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं । दुःखके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं, क्योंकि दुःख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है, जीव उसे भूल गया है । दुःख अज्ञानका है ।

अंदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अंदरसे छूटे बिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे छोड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-साधनके बिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य और अंतर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है, और इसलिये वह श्रेष्ठ है । जिस साधुके संगसे अंतर्गुण प्रगट हो उसका संग करना चाहिये । कलई और चाँदीके रुपये दोनों समान नहीं कहे जाते । कलईके ऊपर सिक्का लगा दो, फिर भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं होती; और चाँदी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गृहस्थ अवस्थामें समकित हो, तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सब कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । आत्मामें राग-द्वेषके नाश होनेपर ज्ञान प्रगट होता है । चाहे जहाँ बैठो और चाहे जिस स्थितिमें हो, मोक्ष हो सकती है; परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिथ्यात्व और अहंकार नाश हुए बिना कोई राजपाट छोड़ दे, वृक्षकी तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिथ्यात्व नाश होनेके पश्चात् ही सब साधन सफल हैं । इस कारण सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है ।

संसारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें अपनापन हो रहा है, और कषायका जो भरा हुआ है, वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाय तभी उसका सत्फल होता है ।

हालमें जैनधर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिती नहीं समझना; उन्हें दान देनेमें हानि नहीं, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वेश कल्याण नहीं करता । जो साधु केवल बाह्य क्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं ।

ज्ञान तो वह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं—संसारपरसे सच्ची प्रीति घट जाती है—जीव सच्चेको सच्चा समझने लगता है । जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान ।

मनुष्यभव पाकर भटकनेमें और स्त्री-पुत्रमें तदाकार होकर, यदि आत्म-विचार नहीं किया, अपना दोष नहीं देखा, आत्माकी निन्दा नहीं की, तो वह मनुष्यभव—चिंतामणि रत्नरूप देह—वृथा ही चला जाता है।

जीव कुसंगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है; इसलिये सत्पुरुषको पहिचानना चाहिये। सत्पुरुष कैसा है? सत्पुरुष तो वह है कि जिसका देहके ऊपरसे ममत्व दूर हो गया है—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष कम हो जाँय, कषाय आदि मंद पड़ जाँय और परिणाममें सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वास्तविक पाप हैं। उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है। हजार वर्ष तप किया हो परन्तु यदि एक-दो घड़ी भी क्रोध कर लिया तो सब तप निष्फल चला जाता है।

'छह खंडका भोक्ता भी राज्य छोड़कर चला गया, और मैं ऐसे अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठा हूँ?'—जीव ऐसा क्यों नहीं विचारता?

आयुके इतने वर्ष व्यतीत हो गये, तो भी लोभ कुछ घटा नहीं, और न कुछ ज्ञान ही प्राप्त हुआ। चाहे कितनी भी तृष्णा हो परन्तु जब आयु पूर्ण होती है उस समय वह जरा भी काममें आती नहीं; और तृष्णा की हो तो उल्टे उससे कर्म ही बँधते हैं। अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो—उदाहरणके लिये दस हजार रुपयेकी—तो समता आती है। इतना मिल जानेके पश्चात् धर्मध्यान करेंगे, ऐसा विचार रक्खें तो भी नियममें आ सकते हैं।

किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना। जैसे रात्रि-भोजनका त्याग किया है, वैसे ही क्रोध मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेके लिये प्रयत्न करके उन्हें मंद करना चाहिये। उनके मंद पड़ जानेसे अन्तःमें सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीव विचार करे तो अनंतों कर्म मंद पड़ जाँय, और यदि विचार न करे तो अनंतों कर्मोंका उपार्जन हो।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई अथवा दूसरा कोई भी रोगको ले नहीं सकता।

संतोषसे धर्मध्यान करना चाहिये; लड़के-बच्चों वगैरह किसीकी अनावश्यक चिंता नहीं करनी चाहिये। एक स्थानमें बैठकर विचार कर, सत्पुरुषके संगसे, ज्ञानीके वचन मननकर विचारकर धन आदिकी मर्यादा करनी चाहिये।

ब्रह्मचर्यको याथातथ्य प्रकारसे तो कोई विरला ही जीव पाल सकता है, तो भी लोक-लाजसे भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है।

मिथ्यात्व दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती हैं। समकित न आया हो और ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है।

जीवने वैश्य, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे 'मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, पशु हूँ'—ऐसा मान रक्खा है, परन्तु जीव विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं। 'मेरा' स्वरूप तो उससे जुदा ही है।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन बीत जाता है, तथा अंजुलिके जलकी तरह आयु बीत जाती है। जिस तरह लकड़ी आरीसे काटी जाती है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है; तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता और मोहके ढेरको इकट्ठा किया करता है।

'सबकी अपेक्षा मैं संसारमें बड़ा हो जाऊँ' ऐसे बड़प्पनके प्राप्त करनेकी तृष्णामें, पाँच इन्द्रियोंमें लवलीन, मद्यपायीकी तरह, मृग-तृष्णाके जलके समान, संसारमें जीव भ्रमण किया करता है; और कुल, गाँव और गतियोंमें मोहके नचानेसे नाचा करता है!

जिस तरह कोई अंधा रस्सीको बटता जाता है, और बछड़ा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल चली जाती है।

'मैं कर्त्ता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कैसा करता हूँ' इत्यादि जो विभाव हैं, वही मिथ्यात्व है। अहंकारसे संसारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है—चारों गतियोंमें भटकना होता है!

किसीका दिया हुआ दिया नहीं जाता; किसीका लिया हुआ लिया नहीं जाता; जीव व्यर्थकी कल्पना करके ही भटका करता है। जिस प्रमाणमें कर्मोंका उपार्जन किया हो उसी प्रमाणमें लाभ, अलाभ, आयु, साता असाता मिलते हैं। अपने आपसे कुछ दिया लिया नहीं जाता। जीव अहंकारसे 'मैंने इसे सुख दिया, मैंने दुःख दिया, मैंने अन्न दिया' ऐसी मिथ्या भावनायें किया करता है और उसके कारण कर्म उपार्जन करता है। मिथ्यात्वसे विपरीत धर्मका उपार्जन करता है।

जगत्में यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु कोई भी किसीका नहीं। पूर्व कर्मके उदयसे ही सब कुछ बना है।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भूला हुआ है—वह [चा]र गतियोंमें भटकता है, और दुःख भोगता है।

अधमाधम पुरुषके लक्षणः—सत्पुरुषको देखकर जिसे रोष उत्पन्न होता है, उसके सच्चे वचन सुनकर जो उसकी निंदा करता है—खोटी बुद्धिवाला जैसे सद्बुद्धिवालेको देखकर रोष करता है—सरलको मूर्ख कहता है, जो विनय करे उसे धनका खुशामदी कहता है, पाँच इन्द्रियाँ जिसने वश की हों उसे भाग्यहीन कहता है, सच्चे गुणवालेको देखकर रोष करता है, जो स्त्री-पुरुषके सुखमें लवलीन रहता है—ऐसे जीव कुगतिको प्राप्त होते हैं। जीव कर्मके कारण अपने स्वरूप-ज्ञानसे अंध है; उसे ज्ञानकी खबर नहीं है।

एक नामके लिए—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमें उतरता है—पर नाककी तो राख हो जानेवाली है!

देह कैसी है? रेतके घर जैसी। स्मशानकी मढ़ी जैसी। पर्वतकी गुफाके समान देहमें अंधेरा है। चमड़ीके कारण देह ऊपर ऊपरसे सुंदर मालूम होती है। देह अवगुणका घर तथा माया और मैलके रहनेका स्थान है। देहमें प्रेम रखनेके कारण जीव भटका है। वह देह अनित्य है; बदफैलकी खान है। उसमें मोह रखनेसे जीव चार गतियोंमें भटकता है। किस तरह भटकता है? घाणीके बैलकी तरह। आँखपर पट्टी बाँध लेता है, चलनेके मार्गमें उसे तंग होकर चलना पड़ता है, छूटनेकी इच्छा होनेपर भी वह छूट नहीं सकता, भूखसे पीड़ित होनेपर भी वह कह नहीं सकता, श्वासोच्छ्वास वह निराकुलतासे ले नहीं सकता। उसकी तरह जीव भी पराधीन है। जो संसारमें प्रीति करता है, वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है।

धुँवे जैसे कपड़े पहिनकर वे आडम्बर रचते हैं, परन्तु वे धुँवेकी तरह नाश हो जानेवाले हैं। आत्माका ज्ञान मायाके कारण दबा हुआ रहता है।

जो जीव आत्मेच्छा रखता है, वह पैसेको नाकके मैलकी तरह त्याग देता है। जैसे मक्खियाँ मिठाईपर चिपटी रहती हैं, उसी तरह ये अभागे जीव कुटुम्बके सुखमें लवलीन हो रहे हैं।

वृद्ध, युवा, बालक—ये सब संसारमें डूबे हुए हैं—कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना चाहिये। उस भयको रख संसारमें उदासीनतासे रहना चाहिये।

सौ उपवास करे, परन्तु जबतक भीतरसे वास्तविक दोष दूर न हों तबतक फल नहीं होता।

श्रावक किसे कहना चाहिये ? जिसे संतोष आया हो, कषाय जिसकी मंद पड़ गई हों, भीतरसे गुण उदित हुए हों, सत्संग मिला हो—उसे श्रावक कहना चाहिये। ऐसे जीवको बोध लगे तो समस्त वृत्ति बदल जाय—दशा बदल जाय। सत्संग मिलना यह पुण्यका योग है।

जीव अविचारसे भूले हुए हैं। जरा कोई कुछ कह दे तो तुरत ही बुरा लग जाता है, परन्तु विचार नहीं करते कि मुझे क्या ? वह कहेगा तो उसे ही कर्म-बंध होगा।

सामायिक समताको कहते हैं। जीव अहंकार कर बाह्य-क्रिया करता है, अहंकारसे माया खर्च करता है—ये कुगतिके कारण हैं। सत्संगके बिना यह दोष नहीं घटता।

जीवको अपने आपको होशियार कहलवाना बहुत अच्छा लगता है। वह बिना बुलाये होशियारी करके बड़ाई लेता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका अन्त नहीं। यदि जीव विचार करे और सन्मार्गपर चले तो छूटनेका अन्त आवे।

अहंकारसे मानसे केवल्य प्रगट नहीं होता। यह बड़ा दोष है। अज्ञानमें बड़े छोटेकी कल्पना रहती है। बाहुबलिजीने विचारा कि मैं अंकुशरहित हूँ, इसलिये———

(११)　　　　आनंद, भाद्रपद वदी १४ सोम.

पंद्रह भेदोंसे जो सिद्ध कहा है, उसका कारण यह है कि जिसका राग द्वेष और अज्ञान नष्ट हो गया है, उसका चाहे जिस वेषसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण हो जाता है।

सत् मार्ग एक ही है, इसलिये आग्रह नहीं रखना। अमुक ढूँढिया है, अमुक तपा है, ऐसी कल्पना नहीं रखना। दया सत्य आदि सदाचरण मुक्तिके मार्ग हैं इसलिये सदाचरण सेवन करना चाहिये।

लोंच करना किस लिये कहा है ? शरीरकी ममताकी वह परीक्षा है। (सिरमें बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। उससे स्नान करनेका मन होता है, दर्पण लेनेका मन होता है, उसमें मुँह देखनेका मन होता है, और इससे फिर उनके साधनोंके लिये उपाधि करनी पड़ती है; इस कारण ज्ञानियोंने केशलोंच करनेके लिये कहा है।

यात्रा करनेका एक तो कारण यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति मिल सके; दूसरे सौ दोसौ रुपयोंके ऊपरसे मूर्च्छाभाव कम हो सके; तथा परदेशमें देशाटन करनेसे कोई सत्पुरुष खोजते खोजते मिल जाय तो कल्याण हो जाय। इन कारणोंसे यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनंत लाभ प्राप्त हुआ है। सत्पुरुष दूसरे जीवकी निष्काम करुणाके सागर हैं। वाणीके उदय अनुसार उनकी

वाणी निकलती है। वे किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले ले। तीर्थंकरने पूर्वमें जो कर्म बाँधे हैं, उनका वेदन करनेके लिये वे दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं, नहीं तो उन्हें उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण ह, तथा उन्हें दूसरेकी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो ही गया है। वह तीन लोकका नाथ तो पार होकर ही बैठा है। सत्पुरुष अथवा समकितीको भी ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वह भी निष्कारण दयाके वास्ते ही उपदेश देता है। महावीरस्वामी गृहवासमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षका संयमी भी जैसा वैराग्य नहीं रख सकता, वैसा वैराग्य भगवान्का था। जहाँ जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ वहाँ सब प्रकारका उपकार भी रहता है। उनकी वाणी उदयके अनुसार शांतिपूर्वक परमार्थ हेतुसे निकलती है, अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही होती है। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनंत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी बात अगम्य है। उनका अभिप्राय जाननेमें नहीं आता। ज्ञानी-पुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे दूर न होनेवाले राग-द्वेष और अज्ञानको छिन्न-भिन्न कर डाला है। इस भगवान्की अनंत कृपा है। उन्हें पच्चीससौ वर्ष हो गये, फिर भी उनकी दया आदि आजकल भी मौजूद हैं। यह उनका अनंत उपकार है। ज्ञानी आडम्बर दिखानेके लिये व्यवहार करते नहीं। वे सहज स्वभावसे उदासीन भावसे रहते हैं।

ज्ञानी दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर ,लता है; जब कि अज्ञानी जीव दोषको छोड़ नहीं सकता। ज्ञानीकी बात अद्भुत है।

बाड़ेमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीका बाड़ा होता है। जैसे पत्थर स्वयं नहीं तैरता और दूसरेको भी नहीं तैराता, उसी तरह अज्ञानी है। वीतरागका मार्ग अनादिका है। जिसके राग द्वेष और अज्ञान दूर हो गये, उसका कल्याण हो गया। परन्तु अज्ञानी कहे कि मेरे धर्मसे कल्याण है, तो उसे मानना नहीं। इस तरह कल्याण होता नहीं। ढूँढियापना अथवा तप्पापना माना हो तो कषाय चढ़ती है। तप्पा ढूंढियाके साथ बैठा हो तो कषाय चढ़ती है, और ढूँढिया तप्पाके साथ बैठे तो कषाय चढ़ती है—इन्हें अज्ञानी समझना चाहिये। दोनों ही समझे बिना बाड़ा बाँधकर कर्म उपार्जन कर भटकते फिरते हैं। बोहरेकी* नाड़ेकी तरह वे मताग्रह पकड़े बैठे हैं। मुँहपत्ति आदिके आग्रहको छोड़ देना चाहिये।

जैनमार्ग क्या है? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओंने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वयं विचार करे कि मेरा दोष कौनसा कम

---

* बोहरा (बोरा) इस्लाम धर्मकी एक शाखाके अनुयायी मुसलमानोंकी एक जाति होती है। बोहरा लोग मूलमें सिद्धपुर (गुजरात) के निवासी ब्राह्मण थे। ये लोग मुसलमानोंके राज्य-समयमें मुसलिम धर्मके अनुयायी हो गये थे। बोहरा लोग प्रायः व्यापारी ही होते हैं। कहा जाता है कि जहाँतक बने ये लोग नौकरी-पेशा करना पसंद नहीं करते। इनके धर्मगुरु मुल्लाजीका प्रधान-केन्द्र सूरतमें है। एक बारकी बात है कि कोई बोहरा व्यापारी गाड़ीमें माल भरकर चला जा रहा था। रास्तेमें कोई गड्ढा आया तो गाड़ीवानने बोहराजीसे 'नाड़ा' पकड़कर होशियार होकर बैठ जानेको कहा। नाड़ेके दो अर्थ होते हैं। एक तो पायजामेमें जो इज़ारबन्द होता है, उसे नाड़ा कहते हैं, और दूसरे रस्सी—डोरी—को भी नाड़ा कहते हैं। गाड़ीवानका अभिप्राय इस रस्सीको ही पकड़कर बैठे रहनेका था। परन्तु बोहराजीने समझा कि गाड़ीवान इज़ारबन्दको पकड़कर बैठनेके लिये कह रहा है। इसलिये वे अपने नाड़ेको जोरसे पकड़कर बैठ गये। —अनुवादक.

हुआ है, तो माछूम होगा कि जैनधर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीव उल्टी समझसे अपने कल्याणको भूल-कर दूसरेका अकल्याण करता है। तथा ढूँढियाके साधुको, और ढूंढिया तपाके साधुको अन्न-पानी न देनेके लिये अपने अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं। कुगुरु लोग एक दूसरेको मिलने नहीं देते। यदि वे एक दूसरेको मिलने दें तो कषाय कम हो जाय—निन्दा घट जाय।

जीव निष्पक्ष नहीं रहता। वह अनादिसे पक्षमें पड़ा हुआ है, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाता है।

बारह कुलकी जो गोचरी कही है, उसे बहुतसे मुनि नहीं करते। उनका कपड़े आदि परिग्रहका मोह दूर हुआ नहीं। एक बार आहार लेनेके लिये कहा है फिर भी वे दो बार लेते हैं। जिस ज्ञानी-पुरुषके वचनसे आत्मा उच्च दशा प्राप्त करे वह सच्चा मार्ग है—वह अपना मार्ग है। सच्चा धर्म पुस्तकमें है, परन्तु आत्मामें गुण प्रगट न हों तबतक वह कुछ फल नहीं देता। 'धर्म अपना है' ऐसी एक कल्पना ही है। अपना धर्म क्या है? जैसे महासागर किसीका नहीं, उसी तरह धर्म भी किसीके बापका नहीं है। जिसमें दया सत्य आदि हों, उसीको पालो। वह किसीके बापका नहीं है। वह अनादिकालका है—शाश्वत है। जीवने गाँठ पकड़ ली है कि धर्म अपना है। परन्तु शाश्वत मार्ग क्या है? शाश्वत मार्गसे सब मोक्ष गये हैं। रजोहरण, डोरी, मुँहपत्ती या कपड़ा कोई आत्मा नहीं। बोहरेकी नाड़ेकी तरह जीव पक्षका आग्रह पकड़े बैठा है—ऐसी जीवकी मूढ़ता है। 'अपने जैनधर्मके शास्त्रोंमें सब कुछ है, शास्त्र अपने पास हैं,' ऐसा मिथ्याभिमान जीव कर बैठा है। तथा क्रोध, मान, माया और लोभरूपी चोर जो रात दिन माल चुरा रहे हैं, उसका उसे भान नहीं।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कौड़ीतक भी रखनेकी आज्ञा नहीं। वैष्णवोंके कुलधर्मके कुगुरु आरंभ-परिग्रहके छोड़े बिना ही लोगोंके पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते हैं, और उस तरहका तो एक व्यापार हो गया है। वे स्वयं अग्निमें जलते हैं, तो फिर उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शान्त हो सकती है? जैनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना चाहिये। जिस गुरुको स्वार्थ हो वह अपना अकल्याण करता है और उससे शिष्योंका भी अकल्याण होता है।

जैनलिंग धारण कर जीव अनंतों बार भटका है—बाह्यवर्ती लिंग धारण कर लौकिक व्यव-हारमें अनंतों बार भटका है। इस जगह वह जैनमार्गका निषेध करता नहीं। अंतरंगसे जो जितना सच्चा मार्ग बतावे वह 'जैन' है। नहीं तो अनादि कालसे जीवने झूठेको सच्चा माना है, और वही अज्ञान है। मनुष्य देहकी सार्थकता तभी है जब कि मिथ्या आग्रह—दुराग्रह—छोड़कर कल्याण होता हो। ज्ञानी सीधा ही बताता है। जब आत्मज्ञान प्रगट हो उसी समय आत्म-ज्ञानीपना मानना चाहिये—गुण प्रगट हुए बिना उसे मानना यह भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिके बिना जवेरीपना मानना नहीं चाहिए। अज्ञानी मिथ्याको सच्चा नाम देकर बाड़ा बँधवा देता है। यदि सत्‌की पहिचान हो तो किसी समय तो सत्यका ग्रहण होगा।

(१२) आनंद, भाद्रपद १५ मंगल.

जो जीव अपनेको मुमुक्षु मानता हो, पार होनेका अभिलाषी मानता हो, और उसे देहमें रोग होते समय आकुलता-व्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करना चाहिये कि तेरी मुमुक्षुता—होशियारी—

कहाँ चली गई ? जो पार होनेका अभिलाषी हो वह तो देहको असार समझता है—देहको आत्मासे भिन्न मानता है—उसे आकुलता आनी चाहिये ही नहीं । देहकी संभाल करते हुए वह सँभाली जाती नहीं, क्योंकि वह उसी क्षणमें नाश हो जाती है—उसमें क्षणभरमें रोग, क्षणभरमें वेदना हो जाती है। देहके संगसे देह दुःख देती है, इसलिये आकुलता-व्याकुलता होती है, वही अज्ञान है । शास्त्र श्रवण कर रोज रोज सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है—क्षणभंगुर है, परन्तु देहको यदि वेदना हो तो यह जीव राग-द्वेष परिणामसे शोर-गुल मचाता है। तो फिर, देह क्षणभंगुर है, यह तुम शास्त्रमें सुनने जाते किस लिये हो ? देह तो तुम्हारे पास है तो अनुभव करो । देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है–वह रक्खी हुई रक्खी नहीं जा सकती। वेदनाका वेदन करते हुए कोई उपाय चलता नहीं। अब फिर किसकी सँभाल करें? कुछ भी नहीं बन सकता । इस तरह देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना ? देहका प्रगट अनुभव कर शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है—देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं ।

जबतक देहमें आत्मबुद्धि दूर न हो तबतक सम्यक्त्व नहीं होता । जीवको सचाई कभी आई ही नहीं; यदि आई होती तो मोक्ष हो जाती। भले ही साधुपना, श्रावकपना अथवा चाहे जो स्वीकार कर लो, परन्तु सचाई बिना सब साधन वृथा हैं। देहमें आत्मबुद्धि दूर करनेके जो साधन बतायें हैं वे साधन, देहमें आत्मबुद्धि दूर हो जाय तभी सच्चे समझे जाते हैं । देहमें जो आत्मबुद्धि हुई है उसे दूर करनेके लिये, अपनेपनको त्यागनेके लिये साधन करने आवश्यक हैं । यदि वह दूर न हो तो साधुपना, श्रावकपना, शास्त्रश्रवण अथवा उपदेश सब कुछ अरण्यरोदनके समान है। जिसे यह भ्रम दूर हो गया है, वही साधु, वही आचार्य और वही ज्ञानी है । जैसे कोई अमृतका भोजन करे तो वह छिपा हुआ नहीं रहता, उसी तरह भ्रांतिका दूर होना किसीसे छिपा हुआ रहता नहीं ।

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने। परन्तु जो स्वयं आत्मा है वह उसे क्यों नहीं जानती ? आत्मा कुछ गाँव तो चली ही नहीं गई । अर्थात् समकित हुआ है, इसे आत्मा स्वयं ही जानती है । जैसे किसी पदार्थके खानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समकितके होनेपर भ्रान्ति दूर हो जानेपर उसका फल आत्मा स्वयं ही जान लेती है । ज्ञानके फलको ज्ञान देता ही है । पदार्थके फलको पदार्थ, अपने लक्षणके अनुसार देता ही है । आत्मामेंसे—अन्तरमेंसे—यदि कर्म जानेको तैय्यार हुए हों, तो उसकी अपनेको खबर क्यों न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है । समकितीकी दशा छिपी हुई नहीं रहती । कल्पित समकितको समकित मानना, पीतलकी कंठीको सोनेकी कंठी माननेके समान है ।

समकित हुआ हो तो देहमें आत्मबुद्धि दूर होती है। यद्यपि अल्पबोध, मध्यमबोध, विशेषबोध जैसा भी बोध हुआ हो, तदनुसार ही पीछेसे देहमें आत्म-बुद्धि दूर होती है । देहमें रोग होनेपर जिसे आकुलता मालूम पड़े, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए ।

जिस ज्ञानीको आकुलता-व्याकुलता दूर हो गई है, उसे अंतरंग पच्चक्खाण है ही । उसमें समस्त पच्चक्खाण आ जाते हैं । जिसके राग द्वेष दूर हो गये हैं, उसका यदि बीस वरसका पुत्र मर जाय तो भी उसे खेद नहीं होता । शरीरको व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका कल्पना मात्र ज्ञान है, उसे शून्य अध्यात्मज्ञान मानना चाहिये। ऐसा कल्पित ज्ञानी शून्य-ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके बहुत ही भटकता है । देखो शास्त्रका फल !

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता। जो इस तरहकी कल्पनाको सत्य मान बैठा है वह मिथ्यात्वी है। कुसंगसे समझमें नहीं आता, इसलिये समकित नहीं आता। सत्पुरुषके संगसे योग्य जीव हो तो सम्यक्त्व होता है।

समकित और मिथ्यात्वकी तुरत ही खबर प जाती है। समकिती और मिथ्यात्वीकी वाणी घड़ी घड़ीमें जुदी पड़ती है। ज्ञानीकी वाणी एक ही धारायुक्त पूर्वापर मिलती चली आती है। जब अंतरंग गाँठ खुले उसी समय सम्यक्त्व होता है। रोगको जान ले, रोगकी दवा जान ले, पथ्यको जान ले और तदनुसार उपाय करे तो रोग दूर हो जाय। रोगके जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता ही है। पथ्य सेवन करे और दवा करे नहीं, तो रोग कैसे मिट सकता है? अर्थात् नहीं मिट सकता। तो फिर यह तो रोग कुछ और है, और दवा कुछ और है! कुछ शास्त्र तो ज्ञान कहा नहीं जाता। ज्ञान तो उसी समय कहा जाता है जब अंतरंगसे गाँठ दूर हो जाय। तप संयम आदिके लिये सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण करना बताया गया है।

ज्ञानी भगवानने कहा है कि साधुओंको अचित्त आहार लेना चाहिये। इस कथनको तो बहुतसे साधु भूल ही गये हैं। दूध आदि सचित्त भारी भारी पदार्थोंका सेवन करके ज्ञानीकी आज्ञाके ऊपर पाँव देकर चलना कल्याणका मार्ग नहीं। लोग कहते हैं कि वह साधु है, परन्तु आत्म-दशाकी जो साधना करे वही तो साधु है।

नरसिंहमहेता कहते हैं कि अनादिकालसे ऐसे ही चलते चलते काल बीत गया, परन्तु निस्तारा हुआ नहीं। यह मार्ग नहीं है, क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग हाथ लगा नहीं। यदि मार्ग यही होता तो अबतक कुछ भी हाथमें नहीं आया—ऐसा नहीं हो सकता था। इसलिये मार्ग कुछ भिन्न ही होना चाहिये।

तृष्णा किस तरह घटती है? लौकिक भावमें मान-बड़ाई त्याग दे तो। 'घर-कुटुम्ब आदिका मुझे करना ही क्या है? लोकमें चाहे जैसे हो, परन्तु मुझे तो मान-बड़ाईको छोड़कर चाहे किसी भी प्रकारसे, जिससे तृष्णा कम हो वैसा करना है'—ऐसा विचार करे तो तृष्णा घट जाय—मंद पड़ जाय।

तपका अभिमान कैसे घट सकता है? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे। 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है'—इस प्रकार रोज विचार करनेसे अभिमान मंद पड़ेगा।

ज्ञानी कहता है कि जीव यदि कुंजीरूपी ज्ञानका विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाय—कितने ही ताले खुल जाँय। यदि कुंजी हो तो ताला खुलता है, नहीं तो हथौड़ी मारनेसे तो ताला टूट ही जाता है।

'कल्याण न जाने क्या होगा' ऐसा जीवको वहम है। वह कुछ हाथी घोड़ा तो है नहीं। जीवको ऐसी ही भ्रान्तिके कारण कल्याणकी कुंजियाँ समझमें नहीं आती। समझमें आ जाँय तो सब सुगम है। जीवकी भ्रान्ति दूर करनेके लिये जगत्का वर्णन किया है। यदि जीव हमेशाके अंधमार्गसे थक जाय तो मार्गमें आ जाय।

ज्ञानी जो परमार्थ—सम्यक्त्व—हो उसे ही कहते हैं । "' कषाय घटे वही कल्याण है। जीवके राग, द्वेष, अज्ञान दूर हो जाँय तो उसे कल्याण कहा जाता है '—ऐसा तो लोग कहते हैं कि हमारे गुरु ही कहते हैं, तो फिर सत्पुरुष भिन्न ही क्या बताते हैं "? ऐसी उलटी-सीधी कल्पनायें करके जीवको अपने दोषोंको दूर करना नहीं है ।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गई है । ज्ञानी ही आत्माको ऊँचा उठावेगा । आत्मा दब गई है इसलिये कल्याण सूझता नहीं । ज्ञानी जो सद्विचाररूपी सरल कुंजियोंको बताता है वे हजारों तालोंको लगती हैं ।

जीवके भीतरसे अजीर्ण दूर हो जाय तो अमृत अच्छा लगे; उसी तरह भ्रांतिरूपी अजीर्णके दूर होनेपर ही कल्याण हो सकता है। परन्तु जीवको तो अज्ञानी गुरुने भड़का रक्खा है, फिर भ्रांतिरूप अजीर्ण दूर कैसे हो सकता है ? अज्ञानी गुरु ज्ञानके बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं—इस तरह उल्टा उल्टा बताते हैं, उससे जीवको पार होना बहुत कष्टसाध्य है । अहंकार आदिरहित भावसे तप आदि करना चाहिये ।

कदाग्रह छोड़कर जीव विचार करे तो मार्ग जुदा ही है । समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है। जीव गाँवको छोड़कर दूर चला गया है, तो फिर जब वह पीछे फिरे तो गाँव आ सकता है । सत्पुरुषोंके वचनोंका आस्थासहित श्रवण मनन करे तो सम्यक्त्व आता है । उसके उत्पन्न होनेके पश्चात् व्रत पचक्खाण आते हैं और तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थानक प्राप्त होता है ।

सचाई समझमें आकर उसकी आस्था हो जाना ही सम्यक्त्व है । जिसे सच्चे-झूठेकी कीमत हो गई है—वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता । दया, सत्य, बिना दिया हुआ न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत् साधन हैं । सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रके सिद्धान्तका परमार्थ है । हम अनुभवसे कहते हैं—अनुभवसे शंका दूर करनेको कह सकते हैं । अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमें लिखा हुआ दीपक है ।

ढूँढियापना अथवा तप्पापना किया करो, परन्तु उससे समकित होनेवाला नहीं । यदि वास्तविक सच्चा स्वरूप समझमें आ जाय—भीतरसे दशा बदल जाय, तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मामेंसे बाह्य वृत्ति । घातिकर्म उसे कहते हैं जो घात करे । परमाणु आत्मासे निरपेक्ष है, परमाणुको पक्षपात नहीं है; उसे जिस रूपसे परिणमावें वह उसी रूपसे परिणमता है ।

निकाचित कर्ममें स्थितिबंध हो तो बराबर बंध होता है। स्थिति-काल न हो और विचार करे, पश्चात्तापसे ज्ञानका विचार करे, तो उसका नाश होता है। स्थिति-काल हो तो भोगनेपर छुटकारा होता है ।

क्रोध आदिद्वारा जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उनका भोगनेपर ही छुटकारा होता है । उदय आनेपर भोगना ही चाहिये । जो समता रक्खे उसे समताका फल होता है । सबको अपने अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं ।

ज्ञानी, स्त्रीत्वमें पुरुषत्वमें एक-समान है । ज्ञान आत्माका ही है ।

६४४

मनःपर्यवज्ञान किस तरह प्रगट होता है ?

साधारणतया प्रत्येक जीवको मतिज्ञान ही होता है। उसके आश्रयभूत श्रुतज्ञानमें वृद्धि होनेसे उस मतिज्ञानका बल बढ़ता है। इस तरह अनुक्रमसे मतिज्ञानके निर्मल होनेसे आत्माका असंयमभाव दूर होकर संयमभाव उत्पन्न होता है, और उससे मनःपर्यवज्ञान प्रगट होता है। उसके संबंधसे आत्मा दूसरेके अभिप्रायको जान सकती है।

किसी ऊपरके चिह्नके देखनेसे दूसरेके जो क्रोध हर्ष आदि भाव जाने जाते हैं, वह मतिज्ञानका विषय है। तथा उस तरहका चिह्न न होनेपर जो भाव जाने जाते हैं, वह मनःपर्यवज्ञानका विषय है।

६४५

आनन्द, आसोज सुदी १, १९५२

मूलमार्गरहस्य

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

अरे, यदि पूजा आदिकी कामना न हो, अंतरका संसारका दुःख प्रिय न हो, तो अखंड वृत्तिको सन्मुख करके जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ १ ॥

जिनसिद्धान्तका शोधन कर जो कुछ जिन-वचनकी तुलना की है, उसे केवल परमार्थ-हेतुसे ही कहना है। उसके रहस्यको कोई मुमुक्षु ही पाता है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ २ ॥

एकरूप और अविरुद्ध जो ज्ञान दर्शन और चारित्रकी शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा पंडितजनोंने सिद्धांतमें कहा है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ३ ॥

जो चारित्रके लिंग और भेद कहे हैं, वे सब द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षाके भेदसे ही हैं। परन्तु जो ज्ञान आदिकी शुद्धता है वह तो तीनों कालमें भेदरहित है। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ४ ॥

अब ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंका संक्षेपसे परमार्थ सुनो। उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आवेगा। जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ५ ॥

६४५

मूळ मारग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख। मूळ०
नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हालुं अंतर् भवदुख। मूळ० ॥ १ ॥
करी जो जो वचननी तुलना रे, जो जो शोधिने जिनसिद्धांत। मूळ०
मात्र कहेवुं परमारथ हेतुथी रे, कोई पामे मुमुक्षु वात। मूळ० ॥ २ ॥
ज्ञान दर्शन चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध। मूळ०
जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कह्युं सिद्धांते बुद्ध। मूळ० ॥ ३ ॥
लिंग अने भेदो जे वृत्तना रे, द्रव्य देश काळादि भेद। मूळ०
पण ज्ञानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो त्रणे काळे अभेद। मूळ० ॥ ४ ॥
हवे ज्ञान दर्शनादि शब्दनो रे, संक्षेपे सुणो परमार्थ। मूळ०
तेने जोतां विचारि विशेषथी रे, समजाशे उत्तम आत्मार्थ। मूळ० ॥ ५ ॥

आत्मा, देह आदिसे भिन्न है, उपयोगमय है, सदा अविनाशी है,—इस तरह सद्गुरुके उपदेशसे जाननेका नाम ज्ञान कहा है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ६ ॥

जो ज्ञानद्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवान्‌ने दर्शन कहा है। उसका दूसरा नाम समकित भी है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ७ ॥

जीवकी जो प्रतीति हुई—उसे जो सबसे भिन्न असंग समझा—उस स्थिर स्वभावके उत्पन्न होनेको चारित्र कहते हैं, उसमें लिंगका भेद नहीं है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ८ ॥

जहाँ ये तीनों अभेद-परिणामसे रहते हैं, वह आत्माका स्वरूप है। उसने जिनभगवान्‌के मार्गको पा लिया है, अथवा उसने निजस्वरूपको ही पा लिया है। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ ९ ॥

ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिये, अनादिका बंध दूर होनेके लिये, सद्गुरुका उपदेश पानेके लिये, स्वच्छंद और प्रतिबंधको दूर करो। जिनभगवान्‌के मूलमार्गको सुनो ॥ १० ॥

इस तरह जिनेन्द्रदेवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है। उसका यहाँ भक्तजनोंके हितके लिये संक्षेपसे स्वरूप कहा है। जिनभगवान्‌का मूलमार्गको सुनो ॥ ११ ॥

---

६४६ श्री आनंद, आसोज सुदी २ गुरु. १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्रीरामदासस्वामीकी बनाई हुई दासबोध नामकी पुस्तक मराठी भाषामें है। उसका गुजराती भाषांतर छपकर प्रगट हो गया है। इस पुस्तकको बाँचने-विचारनेके लिये भेजी है।

उसमें प्रथम तो गणपति आदिकी स्तुति की है। उसके पश्चात् जगत्‌के पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश किया है। बादमें उसमें वेदान्तकी मुख्यताका वर्णन किया है। उस सबसे कुछ भी भय न करते हुए, अथवा शंका न करते हुए, ग्रन्थकर्त्ताके आत्मार्थविषयक विचारोंका अवगाहन करना योग्य है।

छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश। मूळ०
एम जाणे सद्गुरु-उपदेशथी रे, कह्युं ज्ञान तेनुं नाम खास। मूळ० ॥ ६ ॥
जे ज्ञाने करीने जाणियुं रे, तेनी वर्त्ते छे शुद्ध प्रतीत। मूळ०
कह्युं भगवंते दर्शन तेहने रे, जेनुं बीजुं नाम समकीत। मूळ० ॥ ७ ॥
जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वेथी भिन्न असंग। मूळ०
तेवो स्थिर स्वभाव ते उपजे रे, नाम चारित्र ते अणलिंग। मूळ० ॥ ८ ॥
ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्यारे वर्त्ते ते आत्मारूप। मूळ०
तेह मारग जिननो पामियो रे, किंवा पाम्यो ते निजस्वरूप। मूळ० ॥ ९ ॥
एवां मूळ ज्ञानादि पामवां रे, अने जवा अनादिबंध। मूळ०
उपदेश सद्गुरुनो पामवा रे, टाळी स्वच्छंद ने प्रतिबंध। मूळ० ॥ १० ॥
एम देव जिनंदे भाखियुं रे, मोक्षमारगनुं शुद्ध स्वरूप। मूळ०
भव्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेपे कह्युं स्वरूप। मूळ० ॥ ११ ॥

आत्मार्थके विचारनेमें उससे क्रम क्रमसे सुलभता होती है।

श्री···को जो व्याख्यान करना होता है, उससे जो अहंभाव आदिका भय रहता है, वह संभव है।

जिसने सद्गुरुविषयक तथा उनकी दशाविषयक विशेषता समझ ली है, उसको उस तरहके प्रसंगके समान दूसरे प्रसंगोंमें प्रायः करके अहंभाव उदय नहीं होता, अथवा वह तुरत ही शान्त हो जाता है। उस अहंभावको यदि पहिले ज़हरके समान समझा हो तो वह पूर्वापर कम संभव होता है। तथा कुछ कुछ अंतरमें चातुर्य आदि भावसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी, उसमें मिठास रक्खी हो तो वह पूर्वापर विशेषता प्राप्त करता है। परन्तु 'वह ज़हर ही है—निश्चयसे ज़हर ही है—स्पष्ट कालकूट ज़हर है, इसमें किसी तरह भी संशय नहीं; और यदि संशय हो तो संशय मानना नहीं, उस संशयको अज्ञान ही समझना चाहिये'—ऐसी तीव्र खाराश कर डाली हो तो वह अहंभाव प्रायः बल नहीं कर सकता।

कदाचित् उस अहंभावके रोकनेसे निरहंभाव हुआ हो तो भी उसका फिरसे अहंभाव हो जाना संभव है। उसे भी पहिलेसे ज़हर, और ज़हर ही मानकर प्रवृत्ति की हो तो आत्मार्थको बाधा नहीं होती।

---

६४७ श्रीआनन्द आसोज, सुदी ३ शुक्र. १९५२

आत्मार्थी भाई मोहनलालके प्रति डरबन,

तुम्हारा लिखा हुआ पत्र मिला था। यहाँ उसका संक्षिप्त उत्तर लिखा है।

जान पड़ता है कि नैटालमें रहनेसे तुम्हारी बहुतसी सद्वृत्तियोंमें विशेषता आ गई है। परन्तु उसमें तुम्हारी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उत्कृष्ट इच्छा ही कारणभूत है। राजकोटकी अपेक्षा नैटाल ऐसा क्षेत्र जरूर है कि जो बहुतसी बातोंमें तुम्हारी वृत्तिका उपकारक हो सकता है, यह माननेमें हानि नहीं है। क्योंकि तुम्हारी सरलताकी रक्षा करनेमें जिससे निजी विघ्नोंका भय रह सके, ऐसे प्रपंचमें अनुसरण करनेका दबाव नैटालमें विशेष करके नहीं है। परन्तु जिसकी सद्वृत्तियाँ विशेष बलवान न हों अथवा निर्बल हों, और उसे इंग्लैंड आदि देशमें स्वतंत्रतासे रहना हो तो उसे अभक्ष आदिसंबंधी दोष लग सकता है, ऐसा मालूम होता है। जैसे तुम्हें नैटाल क्षेत्रमें प्रपंचका विशेष संयोग न होनेसे, तुम्हारी सद्वृत्तियाँ विशेषताको प्राप्त हुई हैं, वैसे राजकोट जैसी जगहमें होना कठिन हो, यह यथार्थ मालूम होता है। परन्तु किसी श्रेष्ठ आर्यक्षेत्रमें सत्संग आदि योगमें तुम्हारी वृत्तियोंका नैटालकी अपेक्षा भी विशेषता प्राप्त करना संभव है। तुम्हारी वृत्तियोंको देखते हुए, नैटाल तुम्हें अनार्य क्षेत्ररूपसे असर कर सके, प्रायः ऐसी मेरी मान्यता नहीं। परन्तु वहाँ सत्संग आदि योगकी विशेष करके प्राप्ति न होनेसे कुछ आत्म-निराकरण न होनेरूप हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

यहाँसे जो 'आर्य आचार-विचार' के सुरक्षित रखनेके संबंधमें लिखा था, उसका भावार्थ यह था:—आर्य-आचार अर्थात् मुख्यरूपसे दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना; और आर्य-विचार अर्थात् मुख्यरूपसे आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्त्तमानकालमें उस स्वरूपका अज्ञान, तथा उस अज्ञान और भान न होनेके कारण, उन कारणोंकी निवृत्ति और वैसा होनेसे अव्याबाध आनन्दस्वरूप भानरहित निजपदमें स्वाभाविक स्थिति होना—इन सबका विचार करना। इस तरह संक्षेपसे मुख्य अर्थको लेकर उन शब्दोंको लिखा है।

वर्णाश्रम आदि—वर्णाश्रम आदिपूर्वक आचार—यह सदाचारके अंगभूतके समान है। विशेष पारमार्थिक हेतु न हो तो वर्णाश्रम आदिपूर्वक वर्तन करना ही योग्य है, ऐसा विचारसे सिद्ध है। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म वर्तमानमें बहुत निर्बल स्थितिको प्राप्त हो गया है, तो भी हमें तो, जबतक हम उत्कृष्ट त्याग दशाको न प्राप्त करें और जबतक गृहाश्रममें वास हो, तबतक तो वैश्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना ही योग्य है। क्योंकि उसमें अभक्ष आदि ग्रहण करनेका व्यवहार नहीं है। यहाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि 'लुहाणा लोग भी उस तरह आचरण करते हैं तो फिर उनके अन्न आहार आदिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है?' तो इसके उत्तरमें इतना ही कह देना उचित होगा कि बिना कारण उस रिवाजको बदलना भी योग्य नहीं। क्योंकि उससे, बादमें, दूसरे समागमवासी अथवा किसी प्रसंग आदिमें अपने रीति-रिवाजका अनुकरण करनेवाले, यह समझने लगेंगे कि किसी भी वर्णके यहाँ भोजन करनेमें हानि नहीं। लुहाणाके घर अन्न आहार ग्रहण करनेसे वर्णधर्मकी हानि नहीं होती, परंतु मुसलमानोंके घर अन्न आहार ग्रहण करते हुए तो वर्णधर्मकी विशेष हानि होती है; और वह वर्णधर्मके लोप करनेके दोषके समान होता है। अपनी किसी लोकके उपकार आदि कारणसे वैसी प्रवृत्ति होती हो—यद्यपि रसलुब्धता बुद्धिसे वैसी प्रवृत्ति न होती हो—तो भी अपना वह आचरण ऐसे निमित्तका हेतु हो जाता है कि दूसरे लोग उस हेतुके समझे बिना ही प्रायः उसका अनुकरण करते हैं, और अंतमें अभक्ष आदिके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करने लगते हैं; इसीलिये उस तरह आचरण न करना अर्थात् मुसलमान आदिका अन्न आहार आदि ग्रहण नहीं करना, यह उत्तम है। तुम्हारी वृत्तिकी तो बहुत कुछ प्रतीति है, परन्तु यदि किसीकी उससे उतरती हुई वृत्ति हो तो उसका अभक्ष आदि आहारके संयोगसे प्रायः उस मार्गमें चले जाना संभव है। इसलिये इस समागमसे जिस तरह दूर रहा जाय उस तरह विचार करना कर्त्तव्य है।

दयाकी भावना विशेष रखनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थ जहाँ खरीदे बेचे जाते हैं, वहाँ रहनेके अथवा जाने आनेके प्रसंगको न आने देना चाहिये, नहीं तो प्रायः जैसी चाहिये वैसी दयाकी भावना नहीं रहती। तथा अभक्षके ऊपर वृत्ति न जाने देनेके लिये और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन करनेके लिये, अभक्ष आदि ग्रहण करनेवालेका, आहार आदिके लिये परिचय न रखना चाहिये।

ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मालूम नहीं होती, परन्तु भक्षाभक्षके भेदका तो वहाँ भी विचार करना चाहिये, और उसके लिये मुख्यरूपसे इस वृत्तिका रखना ही उत्तम है। बहुतसे कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें कोई प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अथवा उनसे कोई अन्य दोष नहीं लगता, परन्तु उसके संबंधसे दूसरे दोषोंको आश्रय मिलता है, उसका भी विचारवानको लक्ष रखना उचित है। नैटालके लोगोंके उपकारके लिये कदाचित् तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निश्चय नहीं समझा जा सकता। यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए बाधा मालूम हो, और आचरण करना न बने तो ही वह हेतु माना जा सकता है। तथा उन लोगोंके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये, ऐसा विचारनेमें भी कुछ कुछ तुम्हारी समझ-फेर होती होगी, ऐसा लगा करता है। तुम्हारी सद्वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखना योग्य नहीं जान पड़ता। जिस तरह सदाचार और सद्विचारका आराधन हो, वैसा आचरण करना योग्य है।

दूसरी नीच जातियाँ अथवा मुसलमानों आदिके किसी वैसे निमंत्रणोंमें अन्न आहार आदिके बदले, न पकाये हुए फलाहार आदि लेनेसे उन लोगोंके उपकारकी रक्षा संभव हो, तो उस तरह आचरण करना योग्य है।

६४८

जीवकी व्यापकता, परिणामीपना, कर्मसंबंध, मोक्ष-क्षेत्र ये किस किस प्रकारसे घट सकते हैं? उसके विचारे बिना तथारूप समाधि नहीं होती।

गुण और गुणीका भेद समझना किस प्रकार योग्य है?

जीवकी व्यापकता, सामान्य-विशेषात्मकता, परिणामीपना, लोकालोक-ज्ञायकता, कर्मसंबंध, मोक्ष-क्षेत्र, यह पूर्वापर अविरोधसे किस तरह सिद्ध होता है?

एक ही जीव नामक पदार्थको जुदे जुदे दर्शन, सम्प्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं। उसके कर्मसंबंधका और मोक्षका भी भिन्न भिन्न स्वरूप कहते हैं, इस कारण निर्णय करना कठिन क्यों नहीं है?

६४९

आत्मसाधन

द्रव्यः—मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ।
क्षेत्रः—मैं असंख्यात निज-अवगाहना प्रमाण हूँ।
कालः—मैं अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।
भावः—मैं शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ।

६५०

वचन संयम— वचन संयम— वचन संयम.
मनो संयम— मनो संयम— मनो संयम.
काय संयम— काय संयम— काय संयम.

काय संयम—
इन्द्रिय-संक्षेप, आसन-स्थिरता,
इन्द्रिय-स्थिरता, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति.

वचन संयम—
मौन, सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति,
वचन-संक्षेप, वचन-गुणातिशयता.

मनो संयम—
मनो संक्षेप, मनःस्थिरता.
आत्मचिंतन,

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—

संयमके कारण निमित्तरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव.

द्रव्य—संयमित देह.

क्षेत्र—निवृत्तिवाले क्षेत्रमें स्थिति-विहार.

काल—यथासूत्र काल.

भाव—यथासूत्र निवृत्ति-साधन-विचार.

६५१

अनुभव.

६५२

ध्यान.

ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान—ध्यान.

६५३

चिद्धातुमय, परमशांत, अडग, एकाग्र, एक स्वभावमय, असंख्यात प्रदेशात्मक, पुरुषाकार, चिदानन्दघनका ध्यान करो।
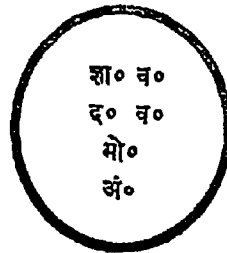
का आत्यंतिक अभाव। प्रदेशसंबंध-प्राप्त, पूर्व-निष्पन्न, सत्ताप्राप्त, उदयप्राप्त, उदीरणाप्राप्त ऐसे चार *ना० गो० आ० और वेदनीयका वेदन करनेसे, जिसे इनका अभाव हो गया ह ऐसे शुद्धस्वरूप जिन चिन्मूर्ति सर्व लोकालोक-भासक चमत्कारके धाम हैं।

---

*ज्ञा० व०=ज्ञानावरणीय; द० व०=दर्शनावरणीय; मो०=मोहनीय; अं०=अंतराय; ना०=नाम; गो०=गोत्र; आ०=आयु. —अनुवादक.

६५४

सोऽहं (आश्चर्यकारक) महापुरुषोंने गवेषणा की है।

कल्पित परिणतिसे जीवका विराम लेना जो इतना अधिक कठिन हो गया है, उसका हेतु क्या होना चाहिये ?

आत्माके ध्यानका मुख्य प्रकार कौनसा कहा जा सकता है ?

उस ध्यानका स्वरूप किस तरह है ?

केवलज्ञानका जिनागममें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ? अथवा वेदान्तमें जो प्ररूपण किया है वह यथायोग्य है ?

६५५

प्रेरणापूर्वक स्पष्ट गमनागमन क्रियाका आत्माके असंख्यात प्रदेश प्रमाणत्वके लिये विशेष विचार करना चाहिये।

प्रश्नः—परमाणुके एक प्रदेशात्मक और आकाशके अनंत प्रदेशात्मक माननेमें जो हेतु है, वह हेतु आत्माके असंख्यात प्रदेशत्वके लिये याथातथ्य सिद्ध नहीं होता। क्योंकि मध्यम-परिणामी वस्तु अनुत्पन्न देखनेमें नहीं आती।

उत्तरः—

६५६

अमूर्त्तत्वकी क्या व्याख्या है ?

अनंतात्वकी क्या व्याख्या है ?

आकाशका अवगाहक-धर्मत्व किस प्रकार है ?

मूर्त्तामूर्त्तका बंध यदि आज नहीं होता तो वह अनादिसे कैसे हो सकता है ? वस्तुस्वभाव इस प्रकार अन्यथा किस तरह माना जा सकता है ?

क्रोध आदि भाव जीवमें परिणामीरूपसे हैं या विवृत्तिरूपसे हैं ?

यदि उन्हें परिणामीरूपसे कहें तो वे स्वाभाविक धर्म हो जाँय, और स्वाभाविक धर्मका दूर होना कहीं भी अनुभवमें आता नहीं।

यदि उन्हें विवृत्तिरूपसे समझें तो जिस प्रकारसे जिनभगवान्ने साक्षात् बंध कहा है, उस तरह माननेमें विरोध आना संभव है।

६५७

(१)

जिनभगवान्के अनुसार केवलदर्शन, और वेदान्तके अनुसार ब्रह्म इन दोनोंमें क्या भेद है ?

(२)

जिनके अनुसार—

आत्मा असंख्यात प्रदेशी, संकोच-विकासकी भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक है।

६५८

जिन—

मध्यम परिमाणकी नित्यता, क्रोध आदिका पारिणामिक भाव (?) ये आत्मामें किस तरह घटते हैं?

कर्म-बंधकी हेतु आत्मा है? पुद्गल है? या दोनों हैं? अथवा इससे भी कोई भिन्न प्रकार है?

मुक्तिमें आत्मा घन-प्रदेश किस तरह है?

द्रव्यकी गुणसे भिन्नता किस तरह है?

समस्त गुण मिलकर एक द्रव्य होता है, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा ही विशेष स्वरूप है?

सर्व द्रव्यके वस्तुत्व गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है या किसी दूसरी तरह?

आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है, यह कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञान-रहितपना ठीक है या नहीं? यदि आत्मामें ज्ञान-रहितपना स्वीकार करें तो वह जड़ हो जायगी।

उसमें यदि चारित्र वीर्य आदि गुण मानें तो उसकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वह जड़ हो जायगी, उसका समाधान किस तरह करना चाहिये?

अभव्यत्व पारिणामिक भावमें किस तरह घट सकता है?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्य-दृष्टिसे देखें तो वह एक वस्तु है या नहीं? द्रव्यत्व क्या है?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशका विशेष स्वरूप किस तरह प्रतिपादित हो सकता है?

लोक असंख्य प्रदेशी है, और द्वीप समुद्र असंख्यातों हैं, इत्यादि विरोधका किस तरह समाधान हो सकता है?

आत्मामें पारिणामिकता किस तरह है?

मुक्तिमें भी सब पदार्थोंका ज्ञान किस तरह होता है?

अनादि-अनंतका ज्ञान किस तरह हो सकता है?

६५९

वेदान्त—

एक आत्मा, अनादि माया, बंध-मोक्षका प्रतिपादन, यह जो तुम कहते हो वह नहीं घट सकता।

आनन्द और चैतन्यमें श्रीकपिलदेवजीने जो विरोध कहा है उसका क्या समाधान है?

उसका यथायोग्य समाधान वेदान्तमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने बिना बंध-मोक्ष हो ही नहीं सकता। और वह है तो जरूर; ऐसा होनेपर भी उसे कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करने योग्य नहीं ठहरता।

---

६६० श्री नड़ियाद, आसोज वदी १ गुरु. १९५२

श्रीआत्मसिद्धिशास्त्र*

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्रीसद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

जिस आत्मस्वरूपके समझे विना, भूतकालमें मैंने अनंत दुःख भोगे, उस स्वरूपको जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनंत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उसका जिसने मूल ही नष्ट कर दिया—ऐसे श्रीसद्गुरु भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ।

वर्त्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप।
विचारवा आत्मार्थिने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥ २ ॥

इस वर्तमानकालमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही लोप हो गया है। उस मोक्षके मार्गको, आत्मार्थी जीवोंके विचारनेके लिये, हम यहाँ गुरु-शिष्यके संवादरूपमें स्पष्टरूपसे कहते हैं।

कोई क्रियाजड थइ रह्या, शुष्कज्ञानमां कोइ।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोइ ॥ ३ ॥

कोई तो क्रियामें लगे हुए हैं, और कोई शुष्क ज्ञानमें लगे हुए हैं; और इसी तरह वे मोक्ष-मार्गको भी मान रहे हैं—उन्हें देखकर दया आती है।

बाह्य क्रियामां राचतां, अंतर्भेद न कांइ।
ज्ञानमार्ग निषेधतां, तेह क्रियाजड आंहि ॥ ४ ॥

जो मात्र बाह्य क्रियामें ही रचे पचे हैं, जिनके अंतरमें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञान-मार्गका निषेध किया करते हैं, उन्हें यहाँ क्रिया-जड़ कहा है।

बंध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणीमांहि।
वर्त्ते मोहावेशमां शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥ ५ ॥

बंध और मोक्ष केवल कल्पना मात्र है—इस निश्चय वाक्यको जो केवल वाणीसे ही बोला करता है, और तथारूप दशा जिसकी हुई नहीं, और जो मोहके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्क-ज्ञानी कहा है।

---

* श्रीमद् राजचन्द्रने 'आत्मसिद्धि' की पद्य-बद्ध रचना श्री सौभाग्य, श्री अचल आदि मुमुक्षु, तथा भव्य जीवोंके हितके लिये की थी। यह निम्न पद्यसे विदित होता है:—

श्री सौभाग्य अने श्री अचल, आदि मुमुक्षु काज।
तथा भव्य हित कारणे, कह्यो बोध सुखकाज ॥

आत्मसिद्धिके इन पद्योंका संक्षिप्त विवेचन भाई अंबालाल लालचन्दने किया है, जो श्रीमद्‌की दृष्टिमें आ चुका है। तथा किसी किसी पद्यका जो विस्तृत विवेचन दिया है, वह स्वयं श्रीमद्‌का लिखा हुआ है; जिसे उन्होंने पत्रोंके रूपमें समय समयपर लिखा था। —अनुवादक.

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान ।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्य त्याग आदि, यदि साथमें आत्मज्ञान हो तो ही सफल हैं, अर्थात् तो ही वे मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं; और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता हो तो भी वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं ॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि जो अंतरंगकी क्रियायें हैं, उनकी साथ यदि आत्मज्ञान हो तो ही वे सफल हैं—अर्थात् तो ही वे भवके मूलका नाश करती हैं। अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं; अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे उसमें सद्गुरुका उपदेश प्रवेश करता है। उज्वल अंतःकरणके बिना सद्गुरुका उपदेश प्रवेश नहीं करता। इस कारण यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं।

यहाँ, जो जीव क्रिया-जड़ हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि केवल कायाका रोकना ही कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका कारण नहीं। यद्यपि वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये तुम उन क्रियाओंका अवगाहन तो करो; परन्तु उन क्रियाओंमें ही उलझे रहना योग्य नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे क्रियायें भी संसारके मूलका छेदन नहीं कर सकतीं। इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंमें प्रवृत्ति करो, और कायक्लेशमें—जिसमें कषाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं—तुम मोक्ष-मार्गका दुराग्रह न रक्खो—यह उपदेश क्रिया-जड़को दिया है।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी त्याग वैराग्य आदिरहित हैं—केवल वचन-ज्ञानी ही हैं—उन्हें ऐसा कहा गया है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण ज़रूर बताये हैं; परन्तु कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं; और तुमने जब वैराग्य आदिको भी नहीं प्राप्त किया तो फिर आत्मज्ञान तो तुम कहाँसे प्राप्त कर सकते हो ? उसका ज़रा आत्मामें विचार तो करो। संसारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति, तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान फलीभूत होता ही नहीं, और आत्मज्ञान प्राप्त करने लेनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञानरूप जो मूल है वह प्राप्त हो गया है। तथा उसके बदले तो तुम ऐसा मान रहे हो कि तुम्हें आत्मज्ञान है; परन्तु आत्मामें तो भोग आदि कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा सत्कार आदिकी कामना बारंबार स्फुरित होती है, थोड़ीसी असातासे ही बहुत आकुलता व्याकुलता हो जाती है। फिर यह क्यों लक्षमें आता नहीं कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं! 'मैं केवल मान आदिकी कामनासे ही अपनेको आत्मज्ञानी कहलवाता हूँ'—यह जो तुम्हारी समझमें नहीं आता उसे समझो; और प्रथम तो वैराग्य आदि साधनोंको आत्मामें उत्पन्न करो, जिससे आत्मज्ञानकी सन्मुखता हो सके।

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग-वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता; और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकांक्षा नहीं रखता वह अपना भान भूल जाता है—

अर्थात् वह अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे, पूजा-सत्कार आदिसे पराभव पाकर आत्मार्थको ही भूल जाता है ॥

जिसके अंतःकरणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता। क्योंकि जैसे मलिन अंतःकरणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नहीं, उसी तरह केवल त्याग-वैराग्यमें रचा-पचा रहकर जो कृतार्थता मानता है, वह भी अपनी आत्माका भान भूल जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे उसे अज्ञानका साहचर्य रहता है, इस कारण उस त्याग-वैराग्य आदिका मान उत्पन्न करनेके लिए, और उस मानके लिये ही, उसकी सर्व संयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे संसारका उच्छेद नहीं होता। वह केवल उसीमें उलझ जाता है; अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता।

इस तरह क्रिया-जड़को साधन—क्रिया—और उस साधनकी जिससे सफलता हो, ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है; और शुष्क-ज्ञानीको त्याग-वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके केवल वचन-ज्ञानमें कल्याण नहीं, ऐसी प्रेरणा की है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

जहाँ जहाँ जो योग्य है, वहाँ वहाँ उसे समझे और वहाँ वहाँ उसका आचरण करे, यह आत्मार्थी पुरुषका लक्षण है ॥

जिस जगह जो योग्य है अर्थात् जहाँ त्याग-वैराग्य आदि योग्य हों, वहाँ जो त्याग-वैराग्य आदि समझता है; और जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझता है—इस तरह जो जहाँ योग्य है उसे वहाँ समझता है, और वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करता है—वह आत्मार्थी जीव है। अर्थात् जो कोई मतार्थी अथवा मानार्थी होता है, वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं करता। अथवा क्रियामें ही जिसे दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्क ज्ञानके अभिमानमें ही जिसने ज्ञानीपना मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता।

जो आत्मार्थी होता है, वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है, उस सबको करता है; और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस सबको समझता है। अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है, जो उस सबको समझता है, और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है, उस सबका आचरण करता है—वह आत्मार्थी कहा जाता है।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं। परन्तु यहाँ दोनोंको अलग अलग कहनेका यह भी आशय है कि जो जो जहाँ जहाँ समझना योग्य है उस सबको समझनेकी, और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है उस सबको वहाँ आचरण करनेकी जिसकी कामना है—वह भी आत्मार्थी कहा जाता है।

सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दई निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥ ९ ॥

अपने पक्षको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष होता है ॥

आशंकाः—बहुतसोंको क्रिया-जड़ता रहती है और बहुतसोंको शुष्क-ज्ञानीपना रहता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?

समाधानः—जो अपने पक्ष अर्थात् मतको छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह पदार्थको प्राप्त करता है, और निजपदका अर्थात् आत्म-स्वभावका लक्ष ग्रहण करता है। अर्थात् बहुतसोंको जो क्रिया-जड़ता रहती है, उसका हेतु यही है कि उन्होंने, जो आत्मज्ञान और आत्मज्ञानके साधनको नहीं जानता, ऐसे असद्गुरुका आश्रय ले रक्खा है। इससे वह असद्गुरु उन्हें, वह अपने जो मात्र क्रिया-जड़ताके अर्थात् कायक्लेशके मार्गको जानता है, उसीमें लगा लेता है, और कुल-धर्मको दृढ़ कराता है। इस कारण उन्हें सद्गुरुके योगके मिलनेकी आकांक्षा भी नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी उन्हें पक्षकी दृढ़ वासना सदुपदेशके सन्मुख नहीं होने देती; इसलिये क्रिया-जड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति भी नहीं होती।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी है, उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया; और केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही स्वच्छंदरूपसे अध्यात्मके ग्रन्थ पढ़ लिये हैं। अथवा किसी शुष्क-ज्ञानीके पाससे वैसे ग्रन्थ अथवा वचनोंको सुनकर अपनेमें ज्ञानीपना मान लिया है; और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है, उसमें उसे मिठास रहती आई है, और यह उसका पक्ष ही हो गया है। थवा किसी विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी जो समानता कही है; उन वचनोंको, उसका परमार्थ समझे विना ही, हाथमें लेकर, केवल अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवोंके तिरस्कारके लिये, वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परन्तु उन वचनोंको किस लक्षसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। तथा जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्फलता कही है, उसी तरह नवपूर्वतक पढ़ लेनेपर भी वे निष्फल चले गये—इस तरह ज्ञानकी भी निष्फलता कही है—और वह तो शुष्क-ज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष होता नहीं। क्योंकि वह अपनेको ज्ञानी मानता है इसलिये उसकी आत्मा मूढताको प्राप्त हो गई है, इस कारण उसे विचारका अवकाश ही नहीं रहा। इस तरह क्रिया-जड़ अथवा शुष्क-ज्ञानी दोनों ही भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं; अथवा वे कहते हैं कि हमने परमार्थ पा लिया है। यह केवल उनका दुराग्रह है—यह प्रत्यक्ष माल्म होता है।

यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, जीव आत्म-साधनमें प्रेरित होता, तथारूप साधनसे परमार्थकी प्राप्ति करता, और निजपदके लक्षको ग्रहण करता; अर्थात् उसकी वृत्ति आत्माके सन्मुख हो जाती।

तथा जगह जगह एकाकीरूपसे विचरनेका जो निषेध है, और सद्गुरुकी ही सेवामें विचरनेका जो उपदेश किया है, इससे भी यही समझमें आता है कि वही जीवको हितकारी और मुख्य मार्ग है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है, ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी—ज्ञानीकी—आसातना करनेके ही समान है। क्योंकि फिर तो उनमें और असद्गुरुमें कोई भी भेद नहीं रहा—फिर तो जन्मांधमें और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्षुवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा श्रीठाणांगसूत्रकी चौभंगी ग्रहण करके कोई ऐसा कहे कि 'अभव्यका पार किया हुआ भी पार हो जाता है,' तो वह वचन भी 'वदतो व्याघात' जैसा ही है। क्योंकि पहिले तो मूलमें ठाणांगमें वह पाठ ही नहीं; और जो पाठ है वह

इस तरह है........... । उसका शब्दार्थ इस प्रकार है .... । उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस तरह किया है .... । उसमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि अभव्यका पार किया हुआ पार होता है, और किसी टब्बामें किसीने जो यह वचन लिखा है, वह उसकी समझकी अयथार्थता ही मालूम होती है।

कदाचित् कोई इसका यह अर्थ करे कि ' जो अभव्य कहता है वह यथार्थ नहीं है—ऐसा भासित होनेके कारण यथार्थ लक्ष होनेसे जीव स्व-विचारको प्राप्त कर पार हो जाता है, ' तो वह किसी तरह संभव है । परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि। अभव्यका पार किया हुआ पार हो जाता है । यह विचारकर जिस मार्गसे अनंत जीव पार हुए हैं, पार होते हैं और पार होंगे, उस मार्गका अवगाहन करना, और स्वकल्पित अर्थका मान आदिकी रक्षा छोड़कर त्याग करना ही श्रेयस्कर है । यदि तुम ऐसा कहो कि जीव अभव्यसे पार होता है, तो इससे तो अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरु ही पार करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

तथा अशोच्या-केवलीको, जिन्होंने पूर्वमें किसीसे धर्म नहीं सुना, किसी तथारूप आवरणके क्षय होनेसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा जो शास्त्रमें निरूपण किया है, वह आत्माके माहात्म्यको बतानेके लिये, और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिये और उस उस अनेकांत मार्गका निरूपण करनेके लिये ही प्रदर्शित किया है । उसे कुछ सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गको उपेक्षित करनेके लिये प्रदर्शित नहीं किया । तथा यहाँ तो उल्टे उस मार्गके ऊपर दृष्टि आनेके लिये ही उसे अधिक मजबूत किया है। किन्तु अशोच्या-केवली .... अर्थात् अशोच्या-केवलीके इस प्रसंगको सुनकर किसीसे जो शाश्वत मार्ग चला आता है, उसका निषेध करनेका यहाँ आशय नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

किसी तीव्र आत्मार्थीको कदाचित् ऐसे सद्गुरुका योग न मिला हो, और उसे अपनी तीव्र कामना कामनामें ही निज-विचारमें पड़ जानेसे, अथवा तीव्र आत्मार्थके कारण निज-विचारमें पड़ जानेसे आत्मज्ञान हो गया हो तो सद्गुरुके मार्गकी उपेक्षा न कर, और ' मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला, इसलिये मैं बड़ा हूँ, ' ऐसा भाव न रख, विचारवान जीवको जिससे शाश्वत मोक्षमार्गका लोप न हो, ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिये ।

एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसे किसी पचास बरसके पुरुषको भी—यद्यपि वह लाखों गाँव देख आया हो—उस मार्गकी खबर नहीं पड़ती । किसीसे पूँछनेपर ही उसे उस मार्गकी खबर पड़ती है, नहीं तो वह भूल खा जाता है; और यदि उस मार्गका जाननेवाला कोई दस बरसका बालक भी उसे उस मार्गको दिखा दे तो उससे वह इष्ट स्थानपर पहुँच सकता है—यह बात लौकिक व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष है । इसलिये जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे, सद्गुरुके योगसे पार होनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो, उस मार्गका लोप करना योग्य नहीं । क्योंकि उससे सर्व ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा लोप करने जैसा ही होता है ।

आशंकाः—' पूर्वमें सद्गुरुका योग तो अनेक बार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं

हुआ। इससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती।' इसका उत्तर दूसरे पदमें कहा है।

उत्तरः—जो अपने पक्षको त्यागकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थ प्राप्त करता है। अर्थात् पूर्वमें सद्गुरुके योग होनेकी तो बात सत्य है, परन्तु वहाँ जीवने उस सद्गुरुको जाना ही नहीं, उसे पहिचाना ही नहीं, उसकी प्रतीति ही नहीं की, और उसके पास अपना मान और मत छोड़ा ही नहीं, और इस कारण उसे सद्गुरुका उपदेश लगा नहीं, और परमार्थकी प्राप्ति हुई नहीं। जीव इस तरह यदि अपने मत अर्थात् स्वच्छंद और कुलधर्मका आग्रह दूर कर सदुपदेशके ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अवश्य ही परमार्थको पा जाता।

आशंकाः—यहाँ असद्गुरुसे दृढ़ कराये हुए दुर्बोधसे अथवा मान आदिकी तीव्र कामनासे यह भी आशंका हो सकती है कि 'कितने ही जीवोंका पूर्वमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना ही कल्याणकी प्राप्ति हो गई है। अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है। असद्गुरुको भले ही स्वयं मार्गकी प्रतीति न हो, परन्तु वह दूसरेको उसे प्राप्त करा सकता है। अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो परमार्थको पा सकता है। इसलिए सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है'।

उत्तरः—यद्यपि कोई जीव स्वयं विचार करते हुए बोधको प्राप्त हुए हैं—ऐसा शास्त्रमें प्रसंग आता है, परन्तु कहीं ऐसा प्रसंग नहीं आता कि अमुक जीवने असद्गुरुसे बोध प्राप्त किया है। अब, किसीने स्वयं विचार करते हुए बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि 'सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है, ऐसा हमने जो कहा है वह बात यथार्थ नहीं;' अथवा सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई भी कारण नहीं है, यह कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा। तथा जीवोंने अपने विचारसे स्वयं ही बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, सो उन्होंने भी यद्यपि वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे ही ज्ञान प्राप्त किया है; परन्तु पूर्वमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने ही उनके सन्मुख किया है, और उसीसे वर्तमानमें उसका स्फुरित होना संभव है। तथा तीर्थंकर आदिको जो स्वयंबुद्ध कहा है, सो उन्होंने भी पूर्वमें तीसरे भवमें सद्गुरुसे ही निश्चय समकित प्राप्त किया है, ऐसा बताया है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धपना कहा है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे ही कहा है, उस सद्गुरुके पदका निषेध करनेके लिये उसे नहीं कहा। और यदि सद्गुरु-पदका निषेध करें तो फिर तो 'सद्देव, सद्गुरु और सद्धर्मकी प्रतितिके विना समकित नहीं होता' यह जो बताया है, वह केवल कथनमात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रको तुम प्रमाण कहते हो, वह शास्त्र सद्गुरु जिनभगवान्का कहा हुआ है, इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? अथवा वह किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर अज्ञान और राग-द्वेषके सेवन करनेसे भी मोक्ष हो सकती है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं—यह विचारणीय है।

आचारांगसूत्रमें कहा है:—

प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशका यह प्रथम वाक्य है .... । क्या यह जीव पूर्वसे आया है, पश्चिमसे आया है, उत्तरसे आया है, दक्षिणसे आया है, ऊँचेसे आया है, या नीचेसे आया है, अथवा किसी दूसरी ही दिशासे आया है ? जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है; जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है । इसके जाननेके निम्न तीन कारण है:—

(१) तीर्थंकरका उपदेश,

(२) सद्गुरुका उपदेश,

और (३) जातिस्मरण ज्ञान।

यहाँ जो जातिस्मरण ज्ञान कहा है वह भी पूर्वके उपदेशके संयोगसे ही कहा है, अर्थात् पूर्वमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुकी असंभावना मानना योग्य नहीं । तथा जगह जगह जिनागममें ऐसा कहा है:—

गुरुणो छंदाणुं वत्त—गुरुकी आज्ञानुसार चलना चाहिये ।

गुरुकी आज्ञानुसार चलनेसे अनंत जीव सिद्ध हो गये हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे । तथा किसी जीवने जो अपने विचारसे बोध प्राप्त किया है, उसमें भी प्रायः पूर्वमें सद्गुरुका उपदेश ही कारण होता है । परन्तु कदाचित् जहाँ वैसा न हो वहाँ भी उस सद्गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्विचारमें प्रेरित होते हुए ही, उसने स्वविचारसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा कहना चाहिये । अथवा उसे किसी सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है, और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है, वहाँ मान होना संभव है; और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वहीं कल्याण होना कहा है, अर्थात् उसे सद्विचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है ।

उस तरहका मान आत्मगुणका अवश्य घातक है । बाहुबलिजीमें अनेक गुण विद्यमान होते हुए भी 'अपनेसे छोटे अट्ठानवे भाईयोंको वंदन करनेमें अपनी लघुता होगी, इसलिये यहीं ध्यानमें स्थित हो जाना ठीक है'—ऐसा सोचकर एक वर्षतक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे वे ध्यानमें अवस्थित रहे, तो भी उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ । बाकी दूसरी हरेक प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके ही कारण ही वह ज्ञान रुका हुआ था । जिस समय श्रीऋषभदेवसे प्रेरित ब्राह्मी और सुंदरी सतियोंने उन्हें उस दोषको निवेदन किया और उन्हें उस दोषका भान हुआ, तथा उस दोषकी उपेक्षा कर उन्होंने उसकी असारता समझी, उसी समय उन्हें केवलज्ञान हो गया । वह मान ही यहाँ चार घनघाती कर्मोंका मूल हो रहा था । तथा बारह बारह महीनेतक निराहाररूपसे, एक लक्षसे, एक आसनसे, आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने उस तरहकी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे भी मान समझमें न आया; और जब सद्गुरु श्रीऋषभदेवने सूचना की कि 'वह मान है', तो वह मान एक मुहूर्तमें ही नष्ट हो गया । यह भी सद्गुरुका ही माहात्म्य बताया है ।

तथा सम्पूर्ण मार्ग ज्ञानीकी ही आज्ञामें समाविष्ट हो जाता है, ऐसा बारंबार कहा है । आचारांगसूत्रमें कहा है कि .... । सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामीको उपदेश करते हैं कि समस्त जगत्का जिसने दर्शन किया है, ऐसे महावीरभगवान्ने हमें इस तरह कहा है । गुरुके आधीन होकर चलनेवाले ऐसे अनन्त पुरुष मार्ग पाकर मोक्ष चले गये हैं ।

उत्तराध्ययन, सूयगडांग आदि में जगह जगह यही कहा है ।

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमें जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं; तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है; केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं; जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है; और जो षट्दर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित विचरे पूर्वप्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय और मान पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मके उदयसे ही जो विचरता है, अपूर्व जिसकी वाणी है—अर्थात् जिसका उपदेश निज अनुभवसहित होनेके कारण अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा भिन्न पड़ता है—और परमश्रुत अर्थात् षट्दर्शनका यथारूपसे जो जानकार है—वह योग्य सद्गुरु है।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' जो यह प्रथम पद कहा, उससे ज्ञान-दशा कही है। तथा जो 'इच्छारहितपना' कहा, उससे चारित्रदशा कही है। 'जो इच्छारहित होता है वह किस तरह विचर सकता है'? इस आशंकाकी यह कहकर निवृत्ति की है कि वह पूर्वप्रयोग अर्थात् पूर्वके बंधे हुए प्रारब्धसे विचरता है— विचरण आदिकी उसे कामना बाकी नहीं है। 'अपूर्व वाणी' कहनेसे वचनातिशयता कही है, क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे उसे षट्दर्शनके अविरुद्ध दशाका जानकार कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखाई है।

आशंका:—वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषणयुक्त सद्गुरु कहा है वह आजकल होना संभव नहीं।

समाधान:—वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो तो उसका अर्थ यह हो सकता है कि 'केवल-भूमिका'के संबंधमें ऐसी स्थिति असंभव है; परन्तु उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्मज्ञान ही नहीं होता, और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है।

आशंका:—आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें भी मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधान:—इस वचनको कदाचित् एकांतसे इसी तरह मान भी लें तो भी उससे एकावतारीपनेका निषेध नहीं होता, और एकावतारीपना आत्मज्ञानके बिना प्राप्त होता नहीं।

आशंका:—त्याग-वैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे ही उसका एकावतारीपना कहा होगा।

समाधान:—परमार्थसे उत्कृष्ट त्याग-वैराग्यके बिना एकावतारीपना होता ही नहीं, यह सिद्धांत है; और वर्तमानमें भी चौथे, पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानका कुछ भी निषेध नहीं, और चौथे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञान संभव है। पाँचवेंमें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, छट्ठेमें बहुत अंशसे स्वरूपस्थिति होती

हैं, वहाँ पूर्वप्रेरित प्रमादके उदयसे कुछ थोड़ीसी ही प्रमाद-दशा आ जाती है, परन्तु वह आत्मज्ञानकी रोधक नहीं, चारित्रकी ही रोधक है।

आशंकाः—यहाँ तो 'स्वरूपस्थित'पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुणस्थानमें ही संभव है।

समाधानः—स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है, क्योंकि नाम गोत्र आदि चार कर्मोंका वहाँ नाश हो जाता है। परन्तु उसके पहिले केवलीके चार कर्मोंका संग रहता है, इस कारण सम्पूर्ण स्वरूपस्थिति तेरहवें गुणस्थानमें भी कही जाती है।

आशंकाः—वहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अव्याबाध स्वरूपस्थितिका निषेध करें तो वह ठीक है। परन्तु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इस कारण वहाँ स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है; और यहाँ तो वह है नहीं, इसलिये यहाँ स्वरूपस्थिति कैसे कही जा सकती है?

समाधानः—केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका विशेष तारतम्य है; और चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमें वह उससे अल्प है—ऐसा कहा जाता है; परन्तु वहाँ स्वरूपस्थिति ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वरहित दशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है और स्वरूपस्थिति है। पाँचवें गुणस्थानकमें एकदेशसे चारित्र-घातक कषायोंके निरोध हो जानेसे, चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है; और छट्ठेमें कषायोंके विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, उससे वहाँ आत्मस्वभावका और भी विशेष आविर्भाव है। केवल इतनी ही बात है कि छट्ठे गुणस्थानमें पूर्व निबंधित कर्मके उदयसे क्वचित् प्रमत्त दशा रहती है, इस कारण वहाँ 'प्रमत्त सर्वचारित्र' कहा जाता है। परन्तु उसका स्वरूपस्थितिसे विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ आत्मस्वभावका बाहुल्यतासे आविर्भाव है। तथा आगम भी ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानतक आत्मप्रतीति समान ही है—वहाँ केवल ज्ञानके तारतम्यका ही भेद है।

यदि चौथे गुणस्थानमें अंशसे भी स्वरूपस्थिति न हो तो फिर मिथ्यात्व नाश होनेका फल ही क्या हुआ? अर्थात् कुछ भी नहीं हुआ। जो मिथ्यात्व नष्ट हो गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है। यदि सम्यक्त्वसे उस रूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिको एकावतारीपना कैसे प्राप्त होता? वहाँ एक भी व्रत—पच्चक्खाणतक भी नहीं था, और वहाँ भव तो केवल एक ही बाकी रहा—ऐसा जो अल्प संसारीपना हुआ वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है। पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें चारित्रका विशेष बल है, और मुख्यतासे उपदेशक-गुणस्थान तो छट्ठा और तेरहवाँ है। बाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं हैं; अर्थात् तेरहवें और छट्ठे गुणस्थानमें ही वह स्वरूप रहता है।

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार।
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार॥ ११॥

जबतक जीवको पूर्वकालीन जिनतीर्थंकरोंकी बातपर ही लक्ष रहा करता है, और वह उनके ही उपकारको गाया करता है; और जिससे प्रत्यक्ष आत्म-भ्रांतिका समाधान हो सके, ऐसे सद्गुरुका

समागम मिलनेपर भी, 'उसमें परोक्ष जिनभगवान्‌के वचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार समाया हुआ है,' इस बातको नहीं समझता, तबतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरुना उपदेशवण, समजाय न जिनरूप।
समज्यावण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥ १२ ॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनका स्वरूप समझमें नहीं आता, और उस स्वरूपके समझमें आये बिना उपकार भी क्या हो सकता है ? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशाको ही प्राप्त करे॥

सद्गुरुना उपदेशथी, समजे जिननुं रूप।
तो ते पामे निजदशा, जिन छे आत्मस्वरूप।
पाम्या शुद्धस्वभावने, छे जिन तेथी पूज्य।
समजो जिनस्वभाव तो, आत्मभावनो गुज्य॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शुद्ध आत्मभाव ही जिनका स्वरूप है। अथवा राग द्वेष और अज्ञान जो जिनभगवान्‌में नहीं, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तासे सब जीवोंको मौजूद है। वह सद्गुरु-जिनके अवलम्बनसे और जिनभगवान्‌के स्वरूपके कथनसे मुमुक्षु जीवको समझमें आता है।

आत्मादि अस्तित्वनां, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥ १३ ॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वके तथा परलोक आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहीं सुपात्र जीवको आधाररूप हैं; परन्तु उन्हें सद्गुरुके समान भ्रांति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥ १४ ॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो, तो उन शास्त्रोंको, मतांतर अर्थात् कुलधर्मके सार्थक करनेके हेतु आदि भ्रान्तिको छोड़कर, केवल आत्मार्थके लिये ही नित्य विचारना चाहिये।

रोके जीव स्वच्छंद तो, पामे अवश्य मोक्ष।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥ १५ ॥

जीव अनादिकालसे जो अपनी चतुराईसे और अपनी इच्छासे चलता आ रहा है, इसका नाम स्वच्छंद है। यदि वह इस स्वच्छंदको रोके, तो वह जरूर मोक्षको पा जाय; और इस तरह भूतकालमें अनंत जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राग द्वेष और अज्ञानमेंसे जिनके एक भी दोष नहीं, ऐसे निर्दोष वीतरागने कहा है।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगथी, स्वछंद ते रोकाय ।
अन्य उपाय कर्या थकी, माये बमणो थाय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छंद रुक जाता है; नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्रायः करके वह दुगुना ही होता है ।

स्वच्छंद मत आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष ।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥ १७ ॥

स्वछंद तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्षसे चलना है, उसे समकितका प्रत्यक्ष कारण समझकर वीतरागने 'समकित' कहा है ।

मानादिक शत्रु महा, निजछंदे न मराय ।
जातां सद्गुरुशरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

मान और पूजा-सत्कार आदिका लोभ इत्यादि जो महाशत्रु हैं, वे अपनी चतुराईसे चलनेसे नाश नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें जानेसे वे थोड़ेसे प्रयत्नसे ही नाश हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुउपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान ।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया हो, और वह सद्गुरु अभी छद्मस्थ ही हो; तो भी जिसने केवलज्ञान पा लिया है, ऐसे केवली भगवान् भी अपने छद्मस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करते हैं ।

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्रीवीतराग ।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समझे कोई सुभाग्य ॥ २० ॥

इस तरह श्रीजिनभगवान्ने विनयके मार्गका उपदेश दिया है। इस मार्गका जो मूल हेतु है— अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है—उसे कोई ही भाग्यशाली अर्थात् सुलभ-बोधी अथवा आराधक जीव ही समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांइ ।
महामोहिनी कर्मथी, बूडे भवजल मांहि ॥ २१ ॥

यह जो विनय-मार्ग कहा है, उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छासे, जो कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुकी स्थापना करता है, वह महामोहनीय कर्मका उपार्जन कर भवसमुद्रमें डूबता है ।

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार ।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है वह तो इस विनय-मार्ग आदिके विचारको समझ लेता है, किन्तु जो मतार्थी होता है वह उसका उल्टा ही निश्चय करता है। अर्थात् या तो वह स्वयं उस विनयको किसी शिष्य आदिसे कराता है, अथवा असद्गुरुमें सद्गुरुकी भ्रांति रख स्वयं इस विनय-मार्गका उपयोग करता है ।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।
तेह मतार्थिलक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष नहीं होता। ऐसे मतार्थी जीवके यहाँ निष्पक्ष होकर लक्षण कहते हैं।

मतार्थीके लक्षणः—

बाह्य त्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥ २४ ॥

जो केवल बाह्यसे ही त्यागी दिखाई देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं, और उपलक्षणसे जिसे अंतरंग त्याग भी नहीं है, ऐसे गुरुको जो सद्गुरु मानता है, अथवा अपने कुलधर्मका चाहे कैसा भी गुरु हो, उसमें ममत्व रखता है—वह मतार्थी है।

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निजबुद्धि ॥ २५ ॥

जिनभगवान्‌की देह आदिका जो वर्णन है, जो उसे ही जिनका वर्णन समझता है; और वे अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये अहंभावके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदि माहात्म्यको ही गाया करता है, और उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रहता है—अर्थात् परमार्थ-हेतुस्वरूप ऐसे जिनका जो जानने योग्य अंतरंग स्वरूप है उसे जो नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न भी नहीं करता, और केवल समवसरण आदिमें ही जिनका स्वरूप बताकर मतार्थमें ग्रस्त रहता है—वह मतार्थी है।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां वर्त्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका कभी योग मिले भी तो दुराग्रह आदिके नाश करनेवाली उनकी वाणी सुनकर, जो उससे उल्टा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको जो ग्रहण नहीं करता; और 'वह स्वयं सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' इस मानको मुख्यरूपसे प्राप्त करनेके लिये ही असद्गुरुके पास जाकर, जो स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढ़ता बताता है—वह मतार्थी है।

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निज मतवेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव नरक आदि गतिके 'भंग' आदिका जो स्वरूप किसी विशेष परमार्थके हेतुसे कहा है, उस हेतुको जिसने नहीं जाना, और उस भंगजालको ही जो श्रुतज्ञान समझता है; तथा अपने मतका—वेषका—आग्रह रखनेको ही मुक्तिका कारण मानता है—वह मतार्थी है।

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है? उसे भी जो नहीं जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ' ऐसा अभिमान जिसने धारण कर रक्खा है। तथा यदि कभी परमार्थके उपदेशका योग बने भी, तो 'लोकमें जो अपना मान और पूजा सत्कार आदि है वह चला जायगा, अथवा वे मान आदि फिर पीछेसे प्राप्त न होंगे'—ऐसा समझकर, जो परमार्थको ग्रहण नहीं करता—वह मतार्थी है।

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद्व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २९ ॥

अथवा समयसार या योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थोंको बाँचकर जो केवल निश्चयनयको ही ग्रहण करता है । किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कथनरूपसे ग्रहण करता है । परन्तु जिसके अंतरंगमें तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और जो सद्गुरु, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपने आपको ज्ञानी मानकर जो साधनरहित आचरण करता है—वह मतार्थी है ।

ज्ञानदशा पाम्यो नहीं, साधनदशा न कांइ ।
पामे तेनो संग जे, ते बुडे भव मांहि ॥ ३० ॥

वह जीव ज्ञान-दशाको नहीं पाता, और इसी तरह वैराग्य आदि साधन-दशा भी उसे नहीं हैं । इस कारण ऐसे जीवका यदि किसी दूसरे जीवको संयोग हो जाय तो वह जीव भी भव-सागरमें डूब जाता है ।

ए पण जीव मतार्थमां निजमानादि काज ।
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारिमां ज ॥ ३१ ॥

यह जीव भी मतार्थमें ही रहता है । क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिसे मतार्थता रहती है, उसी तरह इसे भी अपनेको ज्ञानी मनवानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्क मतका आग्रह रहता है । इसलिये वह भी परमार्थको नहीं पाता, और इस कारण वह भी अनधिकारी अर्थात् जिसमें ज्ञान प्रवेश होने योग्य नहीं, ऐसे जीवोंमें गिना जाता है ।

नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतर्वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥ ३२ ॥

जिसकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय कृश नहीं हुई; तथा जिसे अंतर्वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ; जिसे आत्मामें गुण ग्रहण करनेरूप सरलता नहीं है; तथा सत्य असत्यकी तुलना करनेकी जिसे पक्षपातरहित दृष्टि नहीं है, वह मतार्थी जीव भाग्यहीन है । अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गके प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य ही नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

लक्षण कह्यां मतार्थीनां, मतार्थ जावा काज ।
हवे कहुं आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥ ३३ ॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे । उसके कहनेका हेतु यही है कि जिससे उन्हें जानकर जीवोंका मतार्थ दूर हो । अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं । वे लक्षण कैसे हैं ? कि आत्माको अव्याबाध सुखकी सामग्रीके हेतु हैं ।

आत्मार्थीके लक्षण—

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं, ते साचा गुरु होय ।
बाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥ ३४ ॥

जहाँ आत्म-ज्ञान हो वहीं मुनिपना होता है; अर्थात् जहाँ आत्म-ज्ञान नहीं वहाँ मुनिपना संभव

नहीं है । जं समंति पासह तं मोणंति पासह—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान है वहीं मुनिपना समझो, ऐसा आचारांगसूत्रमें कहा है । अर्थात् आत्मार्थी जीव ऐसा समझता है कि जिसमें आत्मज्ञान हो वही सच्चा गुरु है; और जो आत्मज्ञानसे रहित हो ऐसे अपने कुलके गुरुको सद्गुरु मानना—यह मात्र कल्पना है, उससे कुछ संसारका नाश नहीं होता ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुप्राप्तिनो, गणे परम उपकार ।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्त्ते आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

वह प्रत्यक्ष सद्गुरुकी प्राप्तिका महान् उपकार समझता है; अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान नहीं हो सकता, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा धारण किये बिना दूर नहीं होते, उनका सद्गुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरुका वह महान् उपकार समझता है; और उस सद्गुरुके प्रति मन वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक चलता है ।

एक होय त्रण काळमां, परमारथनो पंथ ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥ ३६ ॥

तीनों कालमें परमार्थका पंथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक ही होना चाहिये; और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो, वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, दूसरा नहीं ।

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग ॥
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मनरोग ॥ ३७ ॥

इस तरह अंतरमें विचारकर जो सद्गुरुके योगकी शोध करता है; केवल एक आत्मार्थकी ही इच्छा रखता है; मान पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिकी कुछ भी इच्छा नहीं रखता—यह रोग जिसके मनमें ही नहीं है—वह आत्मार्थी है ।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष ।
भवे खेद प्राणी-दया, त्यां आत्मार्थ निवास ॥ ३८ ॥

कषाय जहाँ कृश पड़ गई हैं, केवल एक मोक्ष-पदके सिवाय जिसे दूसरे किसी पदकी अभिलाषा नहीं, संसारपर जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रके ऊपर जिसे दया है—ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है ।

दशा न एवी ज्यांसुधी, जीव लहे नहीं जोग्य ।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतररोग ॥ ३९ ॥

जबतक ऐसी योग-दशाको जीव नहीं पाता, तबतक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्म-भ्रांतिरूप अनंत दुःखका हेतु अंतर-रोग नहीं मिटता ।

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय ।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥ ४० ॥

जहाँ ऐसी दशा होती है, वहाँ सद्गुरुका बोध शोभाको प्राप्त होता है—फलीभूत होता है, और उस बोधके फलीभूत होनेसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है ।

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥ ४१ ॥

जहाँ सुविचार-दशा प्रगट हो, वहीं आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, और उस ज्ञानसे मोहका क्षय कर आत्मा निर्वाण-पदको प्राप्त करती है।

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय।
गुरुशिष्यसंवादथी, भाखुं षट्पद आंहि ॥ ४२ ॥

जिससे सुविचार-दशा उत्पन्न हो, और मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय, उस विषयको यहाँ षट् पदरूपसे गुरु-शिष्यके संवादरूपमें कहता हूँ।

षट्पदनामकथन—

आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म।
छे भोक्ता, वळी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥ ४३ ॥

'आत्मा है', 'वह आत्मा नित्य है', वह आत्मा अपने कर्मकी कर्त्ता है', 'वह कर्मकी भोक्ता है', 'उससे मोक्ष होती है', और 'उस मोक्षका उपायरूप सत्धर्म है।*

षट्स्थानक संक्षेपमां षट्दर्शन पण तेह।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

ये छह स्थानक अथवा छह पद यहाँ संक्षेपमें कहे हैं; और विचार करनेसे षट्दर्शन भी यही हैं। परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषने ये छह पद कहे हैं।

१ शंका–शिष्य उवाच—

शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानकके विषयमें शंका करता हैः—

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ॥ ४५ ॥

वह दृष्टिमें नहीं आता, और उसका कोई रूप भी मालूम नहीं होता। तथा स्पर्श आदि दूसरे अनुभवसे भी उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिये जीवका निजरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है।

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण।
मिथ्या जूदो मानवो, नहीं जूदुं एंधाण ॥ ४६ ॥

अथवा जो देह है वही आत्मा है; अथवा जो इन्द्रियाँ हैं वही आत्मा है; अथवा श्वासोच्छ्वास ही आत्मा है; अर्थात् ये सब एक एक करके देहस्वरूप हैं, इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या है। क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न दिखाई नहीं देता।

---

१ उपाध्याय यशोविजयजीने 'सम्यक्त्वनां षट्स्थान-स्वरूपनी चौपाई' के नामसे गुजरातीमें १२५ चौपाईयाँ लिखी हैं। उसमें जिस गाथामें सम्यक्त्वके षट्स्थानक बताये हैं, वह गाथा निम्नरूपसे हैः—

अत्थि जीवो तहा णिच्चो, कत्ता भुत्ताय पुण्णपावाणां।
अत्थि धुवं णिव्वाणं तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥

—अनुवादक.

* इसके विस्तृत विवेचनके लिये देखो अंक नं० ४०६.

वळी जो आतमा होय तो, जणाय ते नहीं केम ।
जणाय जो ते होय तो, घटपट आदि जेम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह माल्म क्यों नहीं होती ? जैसे घट पट आदि पदार्थ मौजूद हैं, और वे माल्म होते हैं, उसी तरह यदि आत्मा हो तो वह क्यों माल्म नहीं होती ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।
ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अतएव आत्मा नहीं है; और आत्मा नहीं, इसलिये उसके मोक्षके लिये उपाय करना भी व्यर्थ है—इस मेरी अंतरकी शंकाका कुछ भी सदुपाय हो तो कृपा करके मुझे समझाइये—अर्थात् इसका कुछ समाधान हो तो कहिये ।

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व है:—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

देहाध्याससे अर्थात् अनादिकालके अज्ञानके कारण देहका परिचय हो रहा है, इस कारण तुझे आत्मा देह जैसी अर्थात् आत्मा देह ही भासित होती है । परन्तु आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न लक्षणपूर्वक प्रगट देखनेमें आते हैं ।

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान ।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अनादिकालके अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुई है, अथवा देहके समान ही आत्मा भासित हुई है । परन्तु जिस तरह तलवार और म्यान दोनों एक म्यानरूप माल्म होते हैं फिर भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं ।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥

वह आत्मा, दृष्टि अर्थात् आँखसे कैसे दिखाई दे सकती है ? क्योंकि उलटी आत्मा ही आँखको देखनेवाली है । जो स्थूल सूक्ष्म आदिके स्वरूपको जानता है; और सबमें किसी न किसी प्रकारकी बाधा आती है परन्तु जिसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती, ऐसा जो अनुभव है, वही जीवका स्वरूप है ।

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान ।
पाँच इन्द्रिना विषयनुं, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥

जो कर्णेन्द्रियसे सुना जाता है उसे कर्णेन्द्रिय जानती है, उसे चक्षु इन्द्रिय नहीं जानती; और जो चक्षु इन्द्रियसे देखा जाता है उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती । अर्थात् सब इन्द्रियोंको अपने अपने विषयका ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता. और आत्माको तो पाँचों इन्द्रियोंके

विषयका ज्ञान होता है अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियोंसे ग्रहण किये हुए विषयको जानता है, वह आत्मा है; और ऐसा जो कहा है कि आत्माके विना प्रत्येक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है, वह केवल उपचारसे ही कहा है ।

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण ।
आत्मानी सत्तावडे, तेह प्रवर्ते जाण ॥ ५३ ॥

उसे न तो देह जानती है, न इन्द्रियाँ जानती हैं, और न श्वासोच्छ्वासरूप प्राण ही उसे जानता है। वे सब एक आत्माकी सत्तासे ही प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जड़रूप ही पड़े रहते हैं—तू ऐसा समझ।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय ।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाणे सदाय ॥ ५४ ॥

जाग्रत स्वप्न और निद्रा अवस्थाओंमें रहनेपर भी वह उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करता है, और उन सब अवस्थाओंके बीत जानेपर भी उसका अस्तित्व रहता है । वह उन सब अवस्थाओंको जाननेवाला प्रगटस्वरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जानते रहना ही उसका स्पष्ट स्वभाव है; और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है—उस निशानीका कभी भी नाश नहीं होता ।

घट पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान ।
जाणनार ते मान नहीं, कहिये केवुं ज्ञान ? ॥ ५५ ॥

घट पट आदिको तू स्वयं ही जानता है, और तू समझता है कि वे सब मौजूद हैं; तथा जो घट पट आदिका जाननेवाला है, उसे तू मानता नहीं—तो उस ज्ञानको फिर कैसा कहा जाय ?

परमबुद्धि कृप देहमां, स्थूळ देह मति अल्प ।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ॥ ५६ ॥

दुर्बल देहमें तीक्ष्ण बुद्धि और स्थूल देहमें अल्प बुद्धि देखनेमें आती है । यदि देह ही आत्मा हो तो इस शंका—विरोध—के उपस्थित होनेका अवसर ही नहीं आ सकता ।

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव ।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वय भाव ॥ ५७ ॥

किसी कालमें भी जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं वह जड़ है, और जो सदा ही जाननेके स्वभावसे युक्त है वह चेतन है—इस तरह दोनोंका सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभाव है; और वह किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकता । तीनों कालमें जड़ जड़रूपसे और चेतन चेतनरूपसे ही रहता है । इस तरह दोनोंका ही भिन्न भिन्न द्वैतभाव स्पष्ट अनुभवमें आता है ।

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप ।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥ ५८ ॥

*आत्मा स्वयं ही आत्माकी शंका करती है । परन्तु जो शंका करनेवाला है वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है ।

---

* शंकराचार्यकी भी आत्माके अस्तित्वमें यही प्रसिद्ध युक्ति है—
सर्वो हि आत्मास्तित्वम् प्रत्येति, न नाहमस्मीति । य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम् ।
फ्रान्सके विचारक डेकार्टे (Descarte) ने भी यही लिखा है—cogito ergo sum—I am because I exist—अर्थात् मैं हूँ क्योंकि मैं मौजूद हूँ । —अनुवादक.

२ शंका—शिष्य उवाच—

शिष्य कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है:—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर् कर्ये विचार ॥ ५९ ॥

आत्माके अस्तित्वमें आपने जो जो बातें कहीं, उनका अंतरंगमें विचार करनेसे वह अस्तित्व तो संभव मालूम होता है ।

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

परन्तु दूसरी शंका यह होती है कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है । वह तीनों कालमें रहनेवाला पदार्थ नहीं, वह केवल देहके संयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे उसका नाश हो जाता है ।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ॥ ६१ ॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इसलिये सब वस्तु क्षणिक हैं, और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं मालूम होती ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है:—

देह मात्र संयोग छे, वळी जडरूपी दृश्य ।
चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥ ६२ ॥

समस्त देह परमाणुके संयोगसे बनी है, अथवा संयोगसे ही आत्माके साथ उसका संबंध है । तथा वह देह जड़ है, रूपी है और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है; इसलिये जब वह अपने आपको भी नहीं जानती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको तो वह कहाँसे जान सकती है ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे भी वह जड़ ही समझमें आती है । इस कारण उसमेंसे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; और जब उसमें उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उसके साथ चेतनका नाश भी नहीं हो सकता । तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामवाली है, और चेतन द्रष्टा है; फिर उसके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ? तथा देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसके साथ ही वह नाश हो जाता है, यह बात किसके अनुभवके आधीन है ? अर्थात् इस बातको कौन जानता है ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे प्रथम तो होती नहीं, और नाश तो उससे पहिले ही हो जाता है । तो फिर यह अनुभव किसे होता है ? ॥

आशंका:—जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना संभव नहीं । वह देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ ही पैदा होता है, और देहके वियोग अर्थात देहके नाश होनेपर वह नाश हो जाता है ।

समाधानः—देहका जीवके साथ मात्र संयोग संबंध है। वह कुछ जीवके मूल स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल संयोगसे ही उत्पन्न पदार्थ है; तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसीको भी नहीं जानती; और जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर दूसरेको तो वह क्या जान सकती है? तथा देह रूपी है—स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चक्षुका विषय है। जब स्वयं देहका ही ऐसा स्वरूप है तो वह चेतनकी उत्पत्ति और नाशको किस तरह जान सकती है? अर्थात् जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है,' इसे कैसे जान सकती है? और 'मेरे छूट जानेके पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा—नाश हो जायगा'—इस बातको जड़ देह कैसे जान सकती है? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ ही तो जाननेवाला रहता है—देह तो कुछ जाननेवाली हो नहीं सकती; तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशके अनुभवको किसके आधीन कहना चाहिये?

यह अनुभव देहके आधीन तो कहा जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके जड़त्वको जाननेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ समझमें आता है।

कदाचित् यह कहें कि चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन ही जानता है, तो इस बातके बोलनेमें ही इसमें बाधा आती है। क्योंकि फिर तो चेतनकी उत्पत्ति और नाश जाननेवालेके रूपमें चेतनका ही अंगीकार करना पड़ा; अर्थात् यह वचन तो मात्र अपसिद्धांतरूप और कथनमात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं,' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं'। इस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो।

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जूदा विना, थाय न केमें भान॥ ६३॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न माने विना, वह ज्ञान किसी भी प्रकारसे संभव नहीं। अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसीके भी अनुभवमें नहीं आ सकता॥

देहकी उत्पत्ति और देहके नाशका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देहसे यदि जुदा न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा जो जिसकी उत्पत्ति और नाशको जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न ठहरा, परन्तु उसके जाननेवाला ही ठहरा। इसलिये फिर उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है?

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभव दृश्य।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष॥ ६४॥

जो जो संयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवरूप आत्माके दृश्य होते हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें जानती है; और उन संयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी संयोग समझमें नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होती हो। इसलिये आत्मा संयोगसे अनुत्पन्न है अर्थात् वह असंयोगी है—स्वाभाविक पदार्थ है—इसलिये वह स्पष्ट 'नित्य' समझमें आती है॥

जो जो देह आदि संयोग दिखाई देते हैं वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके ही दृश्य हैं, अर्थात्

आत्मा ही उन्हें देखने और जाननेवाली है। उन सब संयोगोंका विचार करके देखो तो तुम्हें किसी भी संयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य माल्रम न होगी।

कोई भी संयोग ऐसे नहीं जो तुम्हें जानते हों, और तुम तो उन सब संयोगोंको जानते हो, इसीसे तुम्हारी उनसे भिन्नता, और असंयोगीपना—उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना—सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। उससे—किसी भी संयोगसे—जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी संयोग जिसका उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकता, और जिन संयोगोंकी हम कल्पना करें उससे जो अनुभव भिन्न—सर्वथा भिन्न—केवल उसके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको तुम नित्य स्पर्शरहित—जिसने उन संयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया—समझो।

जडथी चेतन उपजे, चेतनथी जड थाय।
एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥ ६५ ॥

जड़से चेतन उत्पन्न होता है और चेतनसे जड़ उत्पन्न होता है, ऐसा किसीको कभी भी अनुभव नहीं होता।

कोइ संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥ ६६ ॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती, उसका नाश भी किसीके साथ नहीं होता इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है॥

जो किसी भी संयोगसे उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् अपने स्वभावसे ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थके साथ नहीं होता; और यदि दूसरे पदार्थके साथ उसका नाश होता हो तो प्रथम उसमेंसे उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक थी, नहीं तो उसके साथ उसकी नाशरूप एकता भी नहीं हो सकती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी समझकर यही प्रतीति करना योग्य ह कि वह नित्य है।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय।
पूर्वजन्म-संस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय ॥ ६७ ॥

सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेपता जन्मसे ही देखनेमें आती है—कुछ वर्तमान देहमें उन्होंने वह अभ्यास किया नहीं। वह तो उनके जन्मसे ही है। यह पूर्व जन्मका ही संस्कार है। यह पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है॥

सर्पमें जन्मसे क्रोधकी विशेषता देखनेमें आती है। कबूतरमें जन्मसे ही अहिंसक-वृत्ति देखनेमें आती है। मकड़ी आदि जंतुओंको पकड़नेपर उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है, यह भय संज्ञा उनके अनुभवमें पहिलेसे ही रहती है; और इस कारण ही वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें निर्भयताकी, किसीमें गंभीरताकी, किसीमें विशेष भय संज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अत्यधिक लुब्धताकी विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि जो भेद हैं अर्थात् क्रोध आदि संज्ञाकी जो न्यूनाधिकता है, तथा उन सब प्रकृतियोंका जो साहचर्य है, वह जो जन्मसे ही साथ देखनेमें आता है उसका कारण पूर्व-संस्कार ही हैं।

कदाचित् यह कहें कि गर्भमें वीर्य और रेतसके गुणके संयोगसे उस उस तरहके गुण उत्पन्न

होते हैं, उनमें कुछ पूर्वजन्म कारण नहीं है, तो यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जो मा-बाप काम-वासनामें विशेष प्रीतियुक्त देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र बाल्यपनेसे ही परम वीतराग जैसे देखे जाते हैं। तथा जिन माता-पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, उनकी संततिमें समताकी विशेषता दृष्टि-गोचर होती है—यह सब फिर कैसे हो सकता है? तथा उस वीर्य-रेतसके वैसे गुण नहीं होते, क्योंकि वह वीर्य-रेतस स्वयं चेतन नहीं है; उसमें तो चेतनका संचार होता है—अर्थात् उसमें चेतन स्वयं देह धारण करता है। इस कारण वीर्य और रेतसके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते—चेतनके बिना वे भाव कहीं भी अनुभवमें नहीं आते। इसलिये वे केवल चेतनके ही आश्रित हैं, अर्थात् वे वीर्य और रेतसके गुण नहीं। इस कारण वीर्यकी न्यूनाधिकताकी मुख्यतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे ही क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वे गर्भस्थ वीर्य-रेतसके गुण नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे गुण चेतनके ही आश्रित हैं; और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही संभव है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि चेतनका पूर्वप्रयोग उस प्रकारसे हो तो ही वह संस्कार रहता है, जिससे इस देह आदिके पूर्वके संस्कारोंका अनुभव होता है, और वे संस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं; तथा पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६८ ॥

आत्मा वस्तुरूपसे नित्य है; किन्तु प्रतिसमय ज्ञान आदि परिणामके पलटनेसे उसकी पर्यायमें परिवर्तन होता है। जैसे समुद्रमें परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी लहरोंमें परिवर्तन होता है। उदाहरणके लिये बाल युवा और वृद्ध ये जो तीन अवस्थायें हैं, वे आत्माकी विभाव-पर्याय हैं। बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक मालूम होती है। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा युवावस्था धारण करती है, उस समय युवा मालूम होती है; और युवावस्था छोड़कर जब वृद्धावस्था धारण करती है, उस समय वृद्ध मालूम होती है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद है वह पर्यायभेद ही है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं होता; अर्थात् केवल अवस्थाओंमें ही परिवर्तन होता है, आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानती है, और उसे ही उन तीनों अवस्थाओंकी स्मृति है। इसलिये यदि तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा हो तो ही यह होना संभव है। यदि आत्मा क्षण क्षणमें बदलती रहती हो तो वह अनुभव कभी भी नहीं हो सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥ ६९ ॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है जो ऐसा जानता है, और क्षणिकत्वका कथन करता है, वह कथन करनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नहीं होता। क्योंकि प्रथम क्षणमें जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही दूसरे क्षणमें वह अनुभव हुआ कहा जा सकता है; और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो फिर उसे वह अनुभव कहाँसे कहा जा सकता है? इसलिये इस अनुभवसे भी तू आत्माके अक्षणिकत्वका निश्चय कर।

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्वथा नाश नहीं होता, केवल अवस्थांतर ही होता है, इसलिये चेतनका भी सर्वथा नाश नहीं होता। तथा यदि चेतनका अवस्थांतररूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है? अथवा वह किस प्रकारके अवस्थांतरको प्राप्त करता है? इसकी तू खोज कर। घट आदि पदार्थ जब टूट-फूट जाते हैं तो लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया है—परन्तु कुछ मिट्टीपनेका नाश नहीं हो जाता। घड़ा छिन्न-भिन्न होकर यदि उसकी अत्यन्त बारीक धूल हो जाय फिर भी वह परमाणुओंके समूहरूपमें तो मौजूद रहता ही है—उसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता; और उसमेंका एक परमाणु भी कम नहीं होता। क्योंकि अनुभवसे देखनेपर उसका अवस्थांतर तो हो सकता है, परन्तु पदार्थका समूल नाश हो सकना कभी भी संभव नहीं। इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहे तो भी उसका सर्वथा नाश तो कभी कहा ही नहीं जा सकता, वह नाश केवल अवस्थांतररूप ही कहा जायगा। जैसे घड़ा टूट-फूट कर अनुक्रमसे परमाणुओंके समूहरूपमें रहता है, उसी तरह तुझे यदि चेतनका अवस्थांतर नाश मानना हो तो वह किस स्थितिमें रह सकता है? अथवा जिस तरह घटके परमाणु परमाणु-समूहमें मिल जाते हैं, उसी तरह चेतन किस वस्तुमें मिल सकता है? इसकी तू खोज कर। अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देखेगा तो तुझे मालूम होगा कि चेतन—आत्मा—किसीमें भी नहीं मिल सकता; अथवा पर-स्वरूपमें उसका अवस्थांतर नहीं हो सकता।

३ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मकी कर्त्ता नहीं है:—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं—कर्म ही कर्मका कर्त्ता है; अथवा कर्म अनायास ही होते रहते हैं। यदि ऐसा न हो और जीवको ही उसका कर्ता कहो, तो फिर वह जीवका धर्म ही ठहरा, और वह उसका धर्म है इसलिये उसकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती।

आत्मा सदा असंग नें, करे प्रकृति बंध।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

अथवा यदि ऐसा न हो तो यह मानना चाहिये कि आत्मा सदा असंग है, और सत्त्व आदि गुणयुक्त प्रकृतियाँ ही कर्मका बंध करती हैं। यदि ऐसा भी न मानो तो फिर यह मानना चाहिये कि जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इस कारण ईश्वरेच्छापर निर्भर होनेसे जीवको उस कर्मसे 'अबंध' ही मानना चाहिये।

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय।
कर्मतणुं कर्त्तापणुं, कां नहीं कां नहीं जाय ॥ ७३ ॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता, और न तब मोक्षके उपाय करनेका ही कोई कारण मालूम होता है। इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्त्ता ही न मानना चाहिये और यदि उसे कर्त्ता मानो तो उसका वह स्वभाव किसी भी तरह नाश नहीं हो सकता।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा कर्मकी कर्त्ता किस तरह है:—

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ? ।
जडस्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म ॥ ७४ ॥

चेतन—आत्मा—की प्रेरणारूप प्रवृत्ति न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? क्योंकि जड़का स्वभाव तो कुछ प्रेरणा करनेका है नहीं। जड़ और चेतन दोनोंके धर्मोंको विचार करके देखो ॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? प्रेरणारूपसे ग्रहण करानेरूप स्वभाव कुछ जड़का तो है नहीं । और यदि ऐसा हो तो घट पट आदिका भी क्रोध आदि भावमें परिणमन होना चाहिये, और फिर तो उन्हें भी कर्मको ग्रहण करना चाहिये । परन्तु ऐसा तो किसीको कभी भी अनुभव होता नहीं । इससे सिद्ध होता है कि चेतन—जीव—ही कर्मको ग्रहण करता है, और इस कारण उसे ही कर्मका कर्त्ता कहते हैं—इस तरह जीव ही कर्मका कर्त्ता सिद्ध होता है। इससे 'कर्मका कर्त्ता कर्म ही कहा जायगा या नहीं ?' तुम्हारी इस शंकाका भी समाधान हो जायगा। क्योंकि जड़ कर्ममें प्रेरणारूप धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मोंके ग्रहण करनेको असमर्थ है; इसलिये कर्मका कर्त्तापन जीवमें ही है, क्योंकि प्रेरणाशक्ति उसीमें है ।

जो चेतन करतुं नथी, थतां नथी तो कर्म ।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीवधर्म ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा कर्मको न करती तो वह कर्म होता भी नहीं; इससे यह कहना योग्य नहीं कि वह कर्म सहज स्वभावसे—अनायास ही—हो जाता है । इसी तरह जीवका वह धर्म भी नहीं है; क्योंकि स्वभावका तो नाश होता नहीं । तथा यदि आत्मा कर्म न करे तो कर्म होता भी नहीं; अर्थात् यह भाव दूर हो सकता है, इसलिये आत्माका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ।

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम ? ।
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥ ७६ ॥

यदि आत्मा सर्वथा असंग होती अर्थात् उसे कभी भी कर्मका कर्त्तापन न होता, तो फिर स्वयं तुझे ही वह आत्मा पहिलेसे ही क्यों न भासित होती ? यद्यपि परमार्थसे तो आत्मा असंग ही है, परन्तु यह तो जब हो सकता है जब कि स्वरूपका भान हो जाय ।

कर्त्ता ईश्वर को नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७७ ॥

जगत्का अथवा जीवोंके कर्मका कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है । क्योंकि जिसका शुद्ध आत्मस्वभाव प्रगट हो गया है वही ईश्वर है, और यदि उसे प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्त्ता मानें तो उसे भी दोषका प्रभाव मानना चाहिये । इसलिये जीवके कर्मोंके कर्त्तापनेमें ईश्वरकी प्रेरणा भी नहीं कही जा सकती ॥

अब तुमने जो कहा कि 'वे कर्म अनायास ही होते रहते हैं', तो यहाँ अनायासका क्या अर्थ होता है ?

(१) क्या कर्म आत्माके द्वारा बिना विचारे ही हो गये ?

(२) या आत्माका कर्तृत्व न होनेपर भी कर्म हो गये ?

(३) या ईश्वर आदि किसीके लगा देनेसे कर्म हो गये ?

(४) या प्रकृतिके बलपूर्वक संबंध हो जानेसे कर्म हो गये ?

इस तरह मुख्य चार विकल्पोंसे अनायास कर्त्तापनका विचार करना योग्य है।

प्रथम विकल्प यह है कि 'आत्माके द्वारा बिना विचारे ही कर्म हो गये'। परन्तु यदि ऐसा होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता; और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न हो वहाँ कर्मका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। परन्तु जीव तो उसका प्रत्यक्ष चिंतवन करता है, और उसका ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है। तथा जिनमें जीव किसी भी तरह प्रवृत्ति नहीं करता, ऐसे क्रोध आदि भाव उसे कभी भी प्राप्त नहीं होते; इससे मालूम होता है कि आत्माके बिना विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए कर्मोंका ग्रहण आत्माको नहीं हो सकता। अर्थात् इन दोनों प्रकारोंसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा विकल्प यह है कि 'ईश्वर आदि किसीके कर्म लगा देनेसे अनायास ही कर्मका ग्रहण होता है'—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहिये; और इस प्रसंगको भी विशेष समझना चाहिये। फिर भी यहाँ ईश्वर अथवा विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार करके उसके ऊपर विचार करते हैं:—

यदि ईश्वर आदि कर्मका लगा देनेवाला हो तो फिर तो बीचमें कोई जीव नामका पदार्थ ही न रहा। क्योंकि जिन प्रेरणा आदि धर्मसे जो वह अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वर-कृत ठहरे; अथवा वे ईश्वरके ही गुण ठहरे। तो फिर जीवका स्वरूप ही क्या बाकी रह गया जिससे उसे जीव—आत्मा—कहा जा सके ? अर्थात् कर्म ईश्वरसे प्रेरित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं आत्माके ही किये हुए हो सकते हैं।

तथा 'प्रकृति आदिके बलपूर्वक कर्म लग जानेसे कर्म अनायास ही हो जाते हों'—यह चौथा विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड़ हैं, उन्हें यदि आत्मा ही ग्रहण न करे तो वे उससे किस तरह संबद्ध हो सकते हैं ? अथवा द्रव्यकर्मका ही दूसरा नाम प्रकृति है। इसलिये यह तो कर्मको ही कर्मका कर्त्ता कहनेके बराबर हुआ, और इसका तो पूर्वमें निषेध कर ही चुके हैं। यदि कहो कि प्रकृति न हो तो अन्तःकरण आदि जो कर्मको ग्रहण करते हैं, उससे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है—तो वह भी एकांतसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अन्तःकरण आदि भी अन्तःकरण आदिरूपसे चेतनकी प्रेरणाके बिना, पहिले ठहर ही कहाँसे सकते हैं ? क्योंकि चेतन कर्मोंकी संलग्नताका मनन करनेके लिये जो अवलंबन लेता है, उसे अन्तःकरण कहते हैं। इसलिये यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ स्वयं उस संलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है; वह तो केवल जड़ है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका अवलंबन लेकर कुछ ग्रहण करता है, उससे उसमें कर्त्ता-पनेका आरोप होता है, परन्तु मुख्यरूपसे तो वह चेतन ही कर्मका कर्त्ता है।

यहाँ यदि वेदान्त आदि दृष्टिसे विचार करोगे तो हमारे ये वाक्य किसी भ्रांतियुक्त पुरुषके कहे हुए मालूम होंगे। परन्तु जिस प्रकारसे नीचे कहा है उसके समझनेसे तुम्हें उन वाक्योंकी यथार्थता मालूम होगी, और भ्रांति दूर होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व न हो तो वह किसी भी प्रकारसे उसका भोक्ता भी नहीं हो सकती; और यदि ऐसा हो तो फिर उसे किसी भी तरहके दुःखोंकी संभावना भी न माननी चाहिये। तथा यदि आत्माको किसी भी तरहके दुःखोंकी बिल्कुल भी संभावना न हो तो फिर वेदान्त आदि शास्त्र सर्व दुःखोंसे छूटनेके जिस मार्गका उपदेश करते हैं, उसका वे किसलिये उपदेश देते हैं? वेदान्त आदि दर्शन कहते हैं कि 'जबतक आत्मज्ञान न हो तबतक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती'—सो यदि दुःखका ही सर्वथा अभाव हो तो फिर उसकी निवृत्तिका उपाय भी क्यों करना चाहिये? तथा यदि आत्मामें कर्मोंका कर्तृत्व न हो तो उसे दुःखका भोक्तृत्व भी कहाँसे हो सकता है? यह विचार करनेसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है।

प्रश्नः—अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है और तुमने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आत्माको कर्मकी कर्त्ता मानें तो वह आत्माका धर्म ठहरता है; और जो जिसका धर्म होता है, उसका कभी भी उच्छेद नहीं हो सकता, अर्थात् वह उससे सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। जैसे अग्निकी उष्णता और उसका प्रकाश उससे भिन्न नहीं हो सकते; इसी तरह यदि कर्मका कर्तृत्व आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश भी नहीं हो सकता।'

उत्तरः—सर्व प्रमाणांशके स्वीकार किये बिना ही यह बात सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो विचारवान होता है वह किसी एक प्रमाणांशको स्वीकार करके दूसरे प्रमाणांशका उच्छेद नहीं करता। 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्व नहीं होता' और 'यदि हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकती' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें जीवको कर्मका कर्त्ता सिद्ध किया गया है। परन्तु आत्मा यदि कर्मकी कर्त्ता हो तो उस कर्मका नाश ही न हो—यह कोई सिद्धांत नहीं है। क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुकी सर्वथा एकता कैसे हो सकती है? इस कारण जीव यदि अपनेसे ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्मका त्याग करे तो वह हो सकना संभव है। क्योंकि वह उसका सहकारी स्वभाव ही है—सहज स्वभाव नहीं। तथा उस कर्मको मैंने तुम्हें अनादिका भ्रम कहा है; अर्थात् उस कर्मका कर्त्तापन जीवको अज्ञानसे ही प्रतिपादित किया है; इस कारण भी वह कर्म निवृत्त हो सकता है—यह बात साथमें समझनी चाहिये। जो जो भ्रम होता है, वह सब वस्तुकी उल्टी स्थितिकी मान्यतारूप ही होता है, और इस कारण वह निवृत्त किया जा सकता है; जैसे मृगजलमेंसे जलबुद्धि।

कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्त्तापना न हो, तो फिर कुछ भी उपदेश आदिका श्रवण विचार और ज्ञान आदिके समझनेका कोई भी हेतु नहीं रहता।

अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्त्तापन है, उसे कहते हैं—

चेतन जो निजभानमां, कर्त्ता आपस्वभाव।
वर्त्ते नहीं निजभानमां, कर्त्ता कर्मप्रभाव॥ ७८॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावकी कर्त्ता है, अर्थात् वह उसी स्वरूपमें स्थित रहती है; और यदि वह शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावके भानमें न रहती हो, तो वह कर्मभावकी कर्त्ता है॥

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावकी अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावकी ही कर्त्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिकी कर्त्ता नहीं; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नहीं रहती, तो उसे कर्मभावकी कर्त्ता कहा है।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय ही है, ऐसा वेदान्त आदि दर्शनोंका कथन है; और जिन-प्रवचनमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियताका निरूपण किया है। फिर भी, यहाँ यह संदेह हो सकता है कि हमने आत्माको शुद्धावस्थामें कर्त्ता होनेसे सक्रिय क्यों कहा ? उस संदेहकी निवृत्ति इस तरह करनी चाहियेः—शुद्धात्मा, परयोगकी परभावकी और विभावकी कर्त्ता नहीं है, इसलिये वह निष्क्रिय कही जाने योग्य है। परन्तु यदि ऐसा कहें कि आत्मा चैतन्य आदि स्वभावकी भी कर्त्ता नहीं, तब तो फिर उसका कुछ स्वरूप ही नहीं रह जाता। इस कारण शुद्धात्माको योग-क्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय भी है। तथा चैतन्यस्वभाव, आत्माका स्वाभाविक गुण है, इस कारण उसमें एकात्मरूपसे ही आत्माका परिणमन होता है, और उससे वहाँ परमार्थनयसे भी आत्माको सक्रिय विशेषण नहीं दिया जा सकता। परन्तु निज स्वभावमें परिणमनरूप क्रिया होनेसे, शुद्ध आत्माको निज स्वभावका कर्त्तापन है; इस कारण उसमें सर्वथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका एकात्मरूपसे परिणमन होता है, इसलिये उसे सक्रिय कहनेमें भी दोष नहीं है।

जिस विचारसे सक्रियता और निष्क्रियताका निरूपण किया है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता और निष्क्रियता कहनेमें कुछ भी दोष नहीं।

४ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीव कर्मका भोक्ता नहीं होताः—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहीं सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळपरिणामी होय? ॥ ७९ ॥

यदि जीवको कर्मका कर्त्ता मान भी लें तो भी जीव उस कर्मका भोक्ता नहीं ठहरता। क्योंकि जड़ कर्म इस बातको क्या समझ सकता है कि उसमें फल देनेकी शक्ति है ?

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय ॥ ८० ॥

हाँ, यदि फल देनेवाले किसी ईश्वरको मानें तो भोक्तृत्वको सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाता है, यह मानें तो जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है। परन्तु इसमें फिर यह भी विरोध आता है कि यदि ईश्वरको दूसरेको फल देने आदि प्रवृत्तियुक्त मानें तो उसका ईश्वरत्व ही नहीं रहता॥

"ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—कर्मके फल देने आदिमें किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—जगत्की व्यवस्थाका टिकना संभव नहीं है।"—इस संबंधमें निम्नरूपसे विचार करना चाहियेः—

यदि ईश्वरको कर्मका फल देनेवाला मानें तो वहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहता। क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपंचमें प्रवृत्ति करते हुए, ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका संग होना संभव है, और उससे उसकी यथार्थ शुद्धताका भंग होता है। जैसे मुक्त जीव निष्क्रिय है, अर्थात् जैसे वह परभाव आदिका कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यदि वह परभाव आदिका कर्त्ता हो तो फिर उसे संसारकी ही प्राप्ति होनी चाहिये;

उसी तरह यदि ईश्वर भी दूसरेको फल देने आदिरूप क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्त्तापनेका प्रसंग आता है; और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसकी न्यूनता ही ठहरती है—इससे तो उसका ईश्वरत्व ही उच्छेद करने जैसा हो जाता है।

तथा जीव और ईश्वरका स्वभाव-भेद माननेसे भी अनेक दोष आते हैं। क्योंकि यदि दोनोंको ही चैतन्य-स्वभाव मानें तब तो दोनों ही समान धर्मके कर्त्ता हुए। फिर उसमें ईश्वर तो जगत् आदिकी रचना करे अथवा कर्मके फल देनेरूप कार्यको करे, और मुक्त गिना जाय; तथा जीव एक मात्र देह आदि सृष्टिकी ही रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वरका आश्रय ले, तथा बंधनमें बद्ध समझा जाय—यह बात यथार्थ नहीं मालूम होती। यह विषमता किस तरह हो सकती है?

तथा जीवकी अपेक्षा यदि ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें, तो भी विरोध आता है। क्योंकि ईश्वरको यदि शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर शुद्ध चैतन्य मुक्त जीवमें और उसमें कोई भेद ही न होना चाहिये; और फिर ईश्वरद्वारा कर्मका फल देना आदि कार्य भी न होना चाहिये; अथवा मुक्त जीवसे भी वह कार्य होना चाहिये। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर वह भी संसारी जीवोंके ही समान ठहरेगा; फिर उसमें सर्वज्ञ आदि गुण कहाँसे हो सकते हैं? अथवा यदि देहधारी सर्वज्ञकी तरह उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सब कर्मोंके फल देनेरूप जो विशेष स्वभाव है, वह ईश्वरमें कौनसे गुणके कारण माना जायगा? तथा देह तो विनाशीक है, इस कारण ईश्वरकी देह भी नाश हो जायगी और वह मुक्त होनेपर कर्मका फल देनेवाला न रहेगा, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्म-फलदाता कहनेमें दोष आते हैं, और ईश्वरको उस स्वरूपसे माननेसे उसका ईश्वरत्व ही उत्थापन करनेके समान होता है।

ईश्वर सिद्ध थया विना, जगत्-नियम नहीं होय।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहीं कोय ॥ ८१ ॥

जब ऐसा फलदाता कोई ईश्वर सिद्ध नहीं होता, तो फिर जगत्का कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभ अशुभ कर्मके भोगनेका स्थान भी कोई नहीं ठहरता—तो जीवको फिर कर्मका भोक्तृत्व भी कहाँ रहा?

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मको भोगता है:—

भावकर्म निजकल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥ ८२ ॥

जीवको भाव-कर्म अपनी भ्रांतिसे ही है, इसलिये वह उसे चेतनरूप मान रहा है; और उस भ्रांतिका अनुसरण करके ही जीवका वीर्य स्फुरित होता है, इस कारण वह जड़ द्रव्य-कर्मकी वर्गणा ग्रहण करता है॥

आशंकाः—कर्म तो जड़ है, तो वह क्या समझ सकता है कि इस जीवको मुझे इस तरह फल देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणमन करना है? इसलिये जीव कर्मका भोक्ता नहीं हो सकता।

समाधानः—जीव अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही कर्मका कर्त्ता है। तथा 'जो अज्ञान है वह चेत-

नरूप है,' यह जीवकी निजी कल्पना है, और उस कल्पनाके अनुसार ही उसके वीर्य-स्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसके अनुरूप ही उसकी सामर्थ्यका परिणमन होता है, और इस कारण वह द्रव्यकर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको ग्रहण करता है।

झेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥ ८३ ॥

ज़हर और अमृत स्वयं नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे उनका फल मिलता है। इसी तरह शुभ-अशुभ कर्म यद्यपि यह नहीं जानते कि हमें इस जीवको यह फल देना है, तो भी ग्रहण करनेवाला जीव ज़हर और अमृतके फलकी तरह कर्मका फल प्राप्त करता है ॥

ज़हर और अमृत स्वयं यह नहीं जानते कि हमें खानेवालेको मृत्यु और दीर्घायु मिलती है, परन्तु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेको स्वभावसे ही उनका फल मिलता है, उसी तरह जीवमें शुभ-अशुभ कर्मका परिणमन होता है, और उसका फल मिलता है। इस तरह जीव कर्मका भोक्ता समझमें आता है।

एक रांकने एक नृप, ए आदि जे भेद।
कारण विना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥ ८४ ॥

एक रंक है और एक राजा है, इत्यादि प्रकारसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता आदि बहुतसी विचित्रतायें देखी जातीं हैं, और इस प्रकारका जो भेद है वह सबको समान नहीं रहता—यही जीवको कर्मका भोक्तृत्व सिद्ध करता है। क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती ॥

यदि उस शुभ-अशुभ कर्मका फल न होता हो तो एक रंक है और एक राजा है इत्यादि जो भेद है, वह न होना चाहिये। क्योंकि जीवत्व और मनुष्यत्व तो सबमें समान है, तो फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होना चाहिये। इसलिये जिसके कारण ऐसी विचित्रतायें माळूम होतीं हैं, वही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है। क्योंकि कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥ ८५ ॥

इसमें फलदाता ईश्वरकी कुछ भी ज़रूरत नहीं है। ज़हर और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्मका भी स्वभावसे ही फल मिलता है; और जैसे ज़हर और अमृत निःसत्व हो जानेपर, फल देनेसे निवृत्त हो जाते हैं; उसी तरह शुभ-अशुभ कर्मके भोग लेनेसे कर्म भी निःसत्व हो जानेसे निवृत्त हो जाते हैं ॥

ज़हर ज़हररूपसे फल देता है और अमृत अमृतरूपसे फल देता है; उसी तरह अशुभ कर्म अशुभ रूपसे फल देता है और शुभ कर्म शुभरूपसे फल देता है। इसलिये जीव जैसे जैसे अध्यवसायसे कर्मको ग्रहण करता है, वैसे वैसे विपाकरूपसे कर्म भी फल देता है। तथा जैसे ज़हर और अमृत फल देनेके बाद निःसत्व हो जाते हैं, उसी तरह वे कर्म भी भोगसे दूर हो जाते हैं।

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥ ८६ ॥

उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट शुभ गति है, और उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय उत्कृष्ट अशुभ गति है, शुभाशुभ अध्यवसाय मिश्र गति है; अर्थात् उस जीवके परिणामको ही मुख्यरूपसे गति कहा गया है। फिर भी उत्कृष्ट शुभ द्रव्यका उर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभ-अशुभकी मध्य-स्थिति, इस तरह द्रव्यका विशेष स्वभाव होता है। तथा उन उन कारणोंसे वैसे ही भोग्यस्थान भी होने चाहिये। हे शिष्य! इसमें जड़-चेतनके स्वभाव संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका बहुतसा विचार समा जाता है, इसलिये यह वात गहन है, तो भी उसे अत्यंत संक्षेपमें कही है॥

शंकाः—यदि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला न हो अथवा उसे जगत्का कर्त्ता न मानें, तो कर्मके भोगनेके विशेष स्थानक—नरक आदि गति आदि स्थान—कहाँसे हो सकते हैं? क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है।

समाधानः—मुख्यरूपसे तो उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय ही उत्कृष्ट देवलोक है, उत्कृष्ट अशुभ अध्यवसाय ही उत्कृष्ट नरक है, शुभ-अशुभ अध्यवसाय ही मनुष्य-तिर्यंच आदि गतियाँ हैं; तथा स्थान-विशेष—ऊर्ध्वलोकमें देवगति—इत्यादि जो भेद हैं, वे भी जीवोंके कर्मद्रव्यके परिणाम-विशेष ही हैं; अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके परिणाम-विशेष आदिसे ही संभव हैं।

यह वात बहुत गहन है। क्योंकि अचिन्त्य जीव-वीर्य और अचिन्त्य पुद्गल-सामर्थ्यके संयोग-विशेषसे लोकका परिणमन होता है। उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहना चाहिये। परन्तु यहाँ तो मुख्यरूपसे आत्मा कर्मका भोक्ता है, इतना लक्ष करानेका अभिप्राय होनेसे ही इस कथनको अत्यंत संक्षेपसे कहा है।

५ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है:—

कर्त्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहीं मोक्ष।
वीत्यो काल अनंत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥ ८७ ॥

जीव कर्त्ता और भोक्ता भले ही हो, परन्तु उससे उसका मोक्ष हो सकता है, यह वात नहीं है। क्योंकि अनंतकाल वीत गया तो भी अभी जीवमें कर्म करनेरूप दोष विद्यमान हैं ही।

शुभ करे फळ भोगवे, देवादि गति मांय।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्मरहित न क्यांय ॥ ८८ ॥

यदि जीव शुभ कर्म करे तो उससे वह देव आदि गतिमें उसके शुभ फलका भोग करता है, और यदि अशुभ कर्म करे तो वह नरक आदि गतिमें उसके अशुभ फलका भोग करता है, परन्तु किसी भी जगह जीव कर्मरहित नहीं होता।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि उस कर्मसे जीवको मोक्ष हो सकती हैः—

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्ति सफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने जीवको शुभ-अशुभ कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोंका कर्ता, और कर्ता होनेसे उसे कर्मका भोक्ता समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे उसकी निवृत्ति भी होना संभव है। इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है; अर्थात् जिस तरह वह शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती। इसलिये हे विचक्षण! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है।

वीत्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाल बीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण ही बीता है। परन्तु उसपर उदासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, और उससे मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो सकता है।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग ।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देह आदि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो सदा होता ही रहता है; परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह फिरसे ग्रहण न हो, तो सिद्धस्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत पदमें अनंत आत्मानन्द भोगनेको मिले।

६ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है:—

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय ।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ? ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् जिससे याथातथ्य प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय मालूम नहीं होता। क्योंकि अनंतकालके जो कर्म हैं वे अल्प आयुकी मनुष्य-देहसे कैसे छेदन किये जा सकते हैं ?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो ? बने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देहकी अल्प आयु वगैरहकी शंका छोड़ भी दें, तो भी संसारमें अनेक मत और दर्शन हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं। अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है, फिर उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक होना कठिन है।

कयी जातिमां मोक्ष छे ? कया वेषमां मोक्ष ?
एनो निश्चय ना बने, घणा भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेषसे मोक्ष है, इसका निश्चय होना

कठिन है। क्योंकि वैसे बहुतसे भेद हैं; और इस दोषके कारण भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखाई नहीं देता।

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष-उपाय।
जीवादि जाण्यातणो, शो उपकार ज थाय॥ ९५॥

इससे ऐसा मालूम होता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो सकता है? अर्थात् जिस पदके लिये इसके जाननेकी आवश्यकता है, उस पदका उपाय प्राप्त होना असंभव दिखाई देता है।

पाँचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग।
समजुं मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग (ग्य)॥ ९६॥

आपने जो पाँच उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शंकाओंका सर्वांग—सम्पूर्ण रूपसे—समाधान हो गया है। परन्तु यदि मैं मोक्षका उपाय समझ लूँ तो मुझे सद्भाग्यका उदय—अति उदय—हो।

(यहाँ 'उदय' 'उदय' शब्द जो दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे होनेवाली मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तीव्रता दिखाता है)।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय हैः—

पाँचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत॥ ९७॥

जिस तरह तेरी आत्मामें पाँच उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, इसी तरह मोक्षके उपायकी भी तुझे सहज ही प्रतीति हो जायगी।

यहाँ 'होगी' और 'सहज' ये दो शब्द जो सद्गुरुने कहे हैं, वे इसलिये कहे हैं कि जिसे पाँचों पदोंकी शंका निवृत्त हो गई है, उसे मोक्षका उपाय समझाना कुछ भी कठिन नहीं है; तथा उससे शिष्यकी विशेष जिज्ञासा-वृत्तिके कारण उसे अवश्य मोक्षोपायका लाभ होगा—यह सद्गुरुके वचनका आशय है।

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास।
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश॥ ९८॥

जो कर्मभाव है वही जीवका अज्ञान है, और जो मोक्षभाव है वही जीवका निज स्वरूपमें स्थित होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकारके समान है। इस कारण जिस तरह प्रकाश होनेपर दीर्घकालीन अंधकार होनेपर भी नाश हो जाता है, उसी तरह ज्ञानका प्रकाश होनेपर अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदक दशा, मोक्षपंथ भवअंत॥ ९९॥

जो जो कर्म-बंधके कारण हैं, वे सब कर्म-बंधके मार्ग हैं; और उन सब कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वही मोक्षका मार्ग है—भवका अंत है।

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है; इसके विना कर्मका बंध नहीं होता। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है ।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित ।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

'सत्'—अविनाशी, 'चैतन्यमय'—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् अन्य सर्वविभाव और देह आदिके संयोगके आभाससे रहित, तथा 'केवल'—शुद्ध—आत्माको प्राप्त करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है ।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ ।
तेमां मुख्ये मोहिनीय, हणाय ते कहुं पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनंत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं । उसमें भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म है । जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ ।

कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं:—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय । परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं; और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभावमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व संस्काररूप कषाय और नोकषायको चारित्रमोहनीय कहते हैं ।

आत्मबोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं । ये उसके अचूक उपाय हैं । क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मबोध है; तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है । अर्थात् जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—वह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अंधकारके दूर करनेमें प्रकाश स्वरूप हैं; इसलिये वे उसके अचूक उपाय है ।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह ।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भावसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भावसे उसका नाश हो जाता है। अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, संतोषसे लोभ रोका जा सकता है । इसी तरह रति अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे सब दोष रोके जा सकते हैं । वही कर्म-बंधका निरोध है; और वही उसकी निवृत्ति है । तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, अथवा उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । क्रोध आदि रोकनेसे रुक जाते हैं, और जो कर्मके

बंधको रोकना है, वह अकर्म-दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभवमें आता है, तो इसमें फिर क्या संदेह करना?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये; अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भव बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बतानेके लिये किया है कि कचित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना संभव है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि बादमें जीव उसे वमन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है'; तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भवमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

षट्पदना षट्प्रश्न तें, पूछ्यां करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य! तूने जो विचार कर छह पदके छह प्रश्नोंको पूँछा है, सो उन पदोंकी सर्वांगतामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकांतसे अथवा अविचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेषसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच-नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद—फेर-फार—नहीं है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कषाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, और संसारके भोगोंके प्रति जिसे उदासीनता रहती है, तथा अंतरंगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकीतने, वर्त्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा जाता है और अंतरकी शोधमें रहता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।

लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष॥ ११० ॥

मत और दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है; जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।

वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकीत॥ १११ ॥

जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होती है, वहीं परमार्थसे समकित होता है।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास।

उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास मालूम हुआ है उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधिरूप चारित्रका उदय होता है; जिससे समस्त राग-द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान।

कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म-स्वभावका अखंड—जो कभी भी खंडित न हो—मंद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके विद्यमान रहनेपर भी, उत्कृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय।

तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका विभाव है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म।

नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म॥ ११५ ॥

हे शिष्य! देहमें जो जीवने आत्मभाव मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सबमें जो अहंभाव–ममत्वभाव–रहता है, वह आत्मभाव यदि आत्मामें ही माना जाय; और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-बुद्धि और आत्मामें देहबुद्धि है–वह दूर हो जाय; तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है।

एज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप।

अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप॥ ११६ ॥

इसी धर्मसे मोक्ष है; और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है। तू अनंतज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहिये केटलुं? कर विचार तो पाम॥ ११७॥

तू देह आदि सब पदार्थोंसे जुदा है। आत्मद्रव्य न किसी दूसरेमें मिलता है और न आत्मद्रव्यमें कोई मिलता है। परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा भिन्न है, इसलिये तू शुद्ध है—बोध स्वरूप है—चैतन्य-प्रदेशात्मक है—स्वयं-ज्योति है—तेरा कोई भी प्रकाश नहीं करता—तू स्वभावसे ही प्रकाश-स्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है। अधिक कितना कहें? अधिक क्या कहें? संक्षेपमें इतना ही कहते हैं कि यदि तू विचार करेगा, तो तू उस पदको पावेगा।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र शमाय।
धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय॥ ११८॥

सब ज्ञानियोंका निश्चय इसीमें आकर समा जाता है—यह कहकर सद्गुरु मौन धारण करके—वचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग करके सहज समाधिमें स्थित हो गये।

शिष्य-बोधबीज-प्राप्ति कथन—

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान।
निजपद निज मांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान॥ ११९॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व—जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त न हुआ हो—भान हुआ; उसे निजका स्वरूप अपने निजमें जैसाका तैसा भासित हुआ; और देहमें आत्म-बुद्धिरूप उसका अज्ञान दूर हो गया।

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप।
अजर अमर अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप॥ १२०॥

वह अपना निजका स्वरूप शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ।

कर्त्ता भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्त्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय॥ १२१॥

जहाँ विभाव—मिथ्यात्व—रहता है, वहीं मुख्यनयसे कर्मका कर्त्तापन और भोक्तापन है; आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रवाहित होनेसे तो यह जीव अकर्त्ता हो जाता है।

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप।
कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप॥ १२२॥

अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो आत्म-परिणाम है, जीव उसका निर्विकल्प स्वरूपसे कर्त्ता और भोक्ता है।

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रन्थ॥ १२३॥

आत्माका जो शुद्धपद है वही मोक्ष है; और जिससे वह मोक्ष प्राप्त किया जाय वह मोक्षका मार्ग है। श्रीसद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रन्थके सकल मार्गको समझाया है।

अहो ! अहो ! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार।
आ पामरपर प्रभु कर्यो, अहो ! अहो ! उपकार ॥ १२४ ॥

अहो ! अहो ! करुणाके अपार, समुद्रस्वरूप, आत्म-लक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु ! आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यजनक उपकार किया है।

शुं प्रभु चरणकने धरूं ! आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥ १२५ ॥

मैं प्रभुके चरणोंके समक्ष क्या रक्खूं ? (सद्गुरु तो यद्यपि परम निष्काम हैं—एकमात्र निष्कारण करुणासे ही उपदेशके देनेवाले हैं, परन्तु शिष्यने शिष्यधर्मसे ही यह वचन कहा है)। जगत्में जितनेभर पदार्थ हैं, वे सब आत्माकी अपेक्षासे तो मूल्यहीन ही हैं। फिर उस आत्माको ही जिसने प्रदान किया है, उसके चरणोंके समीप मैं दूसरी और क्या भेंट रक्खूं ? मैं केवल उपचारसे इतना ही करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही आधीन रहूँ।

आ देहादि आजथी, वर्त्तो प्रभुआधीन।
दास दास हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥ १२६ ॥

इस देह आदि शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे ही सद्गुरुप्रभुके आधीन रहो। मैं उस प्रभुका दास हूँ—दास हूँ—दीन दास हूँ।

षट् स्थानक समजावीने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यानथकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥ १२७ ॥

हे सद्गुरु देव ! छह स्थानोंको समझाकर, जिस तरह कोई म्यानसे तलवारको अलग निकालकर बताता है, उसी तरह आपने देह आदिसे आत्माको स्पष्ट भिन्न बताई है। इसलिये आपने मेरा असीम उपकार किया है।

उपसंहार—

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट् स्थानक मांहि।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांइ ॥ १२८ ॥

छहों दर्शन इन छह स्थानोंमें समाविष्ट हो जाते हैं। इनका विशेषरूपसे विचार करनेसे इसमें किसी भी प्रकारका संशय नहीं रह जाता।

आतमभ्रांतिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ॥ १२९ ॥

आत्माको जो अपने निज स्वरूपका भान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं; सद्गुरुके समान उसका कोई भी सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं; सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चलनेके समान दूसरा कोई भी पथ्य नहीं; और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औषधि नहीं।

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ।
भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहीं आत्मार्थ ॥ १३० ॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो।

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नोय।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय ॥ १३१ ॥

आत्मा अबंध है, असंग है, सिद्ध है, इस निश्चय-प्रधान वाणीको सुनकर साधनोंका त्याग करना योग्य नहीं। परन्तु तथारूप निश्चयको लक्षमें रखकर साधन जुटाकर उस निश्चय स्वरूपको प्राप्त करना चाहिये।

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल।
एकांते व्यवहार नहीं, बन्ने साथ रहेल ॥ १३२ ॥

यहाँ एकांतसे निश्चयनयको नहीं कहा, अथवा एकांतसे व्यवहारनयको भी नहीं कहा। दोनों ही जहाँ जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं।

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहीं सद्व्यवहार।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहीं सार ॥ १३३ ॥

गच्छ-मतकी जो कल्पना है, वह सद्व्यवहार नहीं; किन्तु आत्मार्थीके लक्षणमें जो दशा कही है और मोक्षके उपायमें जिज्ञासुके जो लक्षण आदि कहे हैं, वही सद्व्यवहार है; उसे यहाँ संक्षेपसे कहा है। जीवको अपने स्वरूपका तो भान नहीं—जिस तरह देह अनुभवमें आती है, उस तरह आत्माका अनुभव तो हुआ नहीं—बल्कि देहाध्यास ही रहता है—और वह वैराग्य आदि साधनके प्राप्त किये बिना ही निश्चय निश्चय चिल्लाया करता है, किन्तु वह निश्चय सारभूत नहीं है।

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्त्तमानमां होय।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहीं कोय ॥ १३४ ॥

भूतकालमें जो ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, वर्तमानकालमें जो मौजूद हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे, उनका किसीका भी मार्ग भिन्न नहीं होता, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक ही मार्ग है; और यदि उसे प्राप्त करने योग्य व्यवहारको, उसी परमार्थके साधकरूपसे, देश काल आदिके कारणभेदपूर्वक कहा हो, तो भी वह एक ही फलको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उसमें परमार्थसे भेद नहीं है।

सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय ॥ १३५ ॥

सब जीवोंमें सिद्ध-सत्ता समान है, परन्तु वह तो उसे ही प्रगट होती है जो उसे समझता है। उसके प्रगट होनेमें सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना चाहिये, तथा सद्गुरुसे उपदेश की हुई जिन-दशाका विचार करना चाहिये—ये दोनों ही निमित्त कारण हैं।

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥ १३६ ॥

सद्गुरुकी आज्ञा आदि आत्म-साधनके निमित्त कारण हैं, और आत्माके ज्ञान दर्शन आदि

उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शास्त्रमें कहा है। इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको नहीं पा सकता, और वह भ्रांतिमें ही रहा करेगा। क्योंकि शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या सच्चे निमित्तके निषेध करनेके लिये नहीं कही। परन्तु शास्त्रकारकी कही हुई उस व्याख्याका यही परमार्थ है कि उपादानके अजाग्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम न होगा, इसलिये सद्निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अवलंबन लेकर उपादानको सन्मुख करना चाहिये, और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर् छूट्यो न मोह।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

जो मुखसे निश्चय-प्रधान वचनोंको कहता है, परन्तु अंतरसे जिसका अपना मोह छूटा नहीं, ऐसा पामर प्राणी मात्र केवलज्ञानी कहलवानेकी कामनासे ही सद्ज्ञानी पुरुषका द्रोह करता है।

दया शांति समता क्षमा, सत्य त्याग वैराग्य।
होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शांति, समता, सत्य, त्याग, और वैराग्य गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जाग्रत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके विना तो मुमुक्षुपना भी नहीं होता।

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।
ते कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रांत ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहभावका क्षय हो गया है, अथवा जहाँ मोह-दशा क्षीण हो गई हो, उसे ज्ञानीकी दशा कहते हैं; और नहीं तो जिसने अपनेमें ही ज्ञान मान लिया हो, वह तो केवल भ्रांति ही है।

सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्नसमान।
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

समस्त जगत्को जिसने उच्छिष्ट समान समझा है, अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान मालूम होता है, वही ज्ञानीकी दशा है; बाकी तो सब केवल वचन-ज्ञान—मात्र कथन ज्ञान—ही है।

स्थानक पांच विचारीने, छट्ठे वर्त्ते जेह।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहीं संदेह ॥ १४१ ॥

पाँचों पदोंका विचारकर जो छट्ठे पदमें प्रवृत्ति करता है—जो मोक्षके उपाय ऊपर कहे हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है—वह पाँचवें स्थानक मोक्षपदको पाता है।

देह छतां जेनी दशा, वर्त्ते देहातीत।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणित ॥ १४२ ॥

जिसे पूर्व प्रारब्धके योगसे देह रहनेपर भी जिसकी दशा उस देहसे अतीत—देह आदिकी कल्पनारहित—आत्मामय रहती है, उस ज्ञानी-पुरुषके चरण-कमलमें अगणित वार वंदन हो! वंदन हो!

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु।

६६१

जीवको बंधनके मुख्य दो हेतु हैं—राग और द्वेष।

रागके अभावसे द्वेषका अभाव होता है ?

राग मुख्य है।

रागके कारण ही आत्मा संयोगमें तन्मय रहती है।

वही मुख्यरूपसे कर्म है।

ज्यों ज्यों राग-द्वेष मंद होते हैं त्यों त्यों कर्म-बंध भी मंद होता है; और ज्यों ज्यों राग-द्वेष तीव्र होते हैं त्यों त्यों कर्मबंध भी तीव्र होता है। जहाँ राग-द्वेषका अभाव है वहाँ कर्मबंधका सांपरायिक अभाव है।

राग-द्वेष होनेका मुख्य कारण मिथ्यात्व—असम्यग्दर्शन है।

सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है, उससे असम्यग्दर्शनकी निवृत्ति होती है। उस जीवको सम्यक्चारित्र प्रगट होता है। वही वीतरागदशा है।

सम्पूर्ण वीतरागदशा जिसे रहती है, उसे हम चरमशरीरी मानते हैं।

६६२

*बंधविहाण विमुक्कं, वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं॥

×सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।

कीरइ जिएण हेऊहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं॥

+कम्मदव्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्स।

सो बंधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो॥

६६३ नड़ियाद, आसोज वदी १० शनि. १९५२

(१)

१. श्रीसद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है।

२. इसके साथ एकांतमें अवगाहन करनेके लिये आत्मसिद्धिशास्त्र भेजा है। वह हालमें श्री······को अवगाहन करने योग्य है।

३. श्री·······अथवा श्री·······की यदि जिनागमके विचारनेकी इच्छा हो तो आचारांग, सूयगडांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और प्रश्नव्याकरण विचार करने योग्य हैं।

---

* यह सम्पूर्ण गाथा निम्नरूपसे है:—

बंधविहाणविमुक्कं वंदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंदं। गईआईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं॥

अर्थात् कर्म-बंधकी रचनासे रहित श्रीवर्धमानजिनको नमस्कार करके गति आदि चौदह मार्गणाओंद्वारा संक्षेपसे बंध-स्वामित्वको कहूँगा।

× श्रीवीरजिनको नमस्कार करके संक्षेपसे कर्मविपाक नामक ग्रन्थको कहूँगा। जो जीवसे किसी हेतुद्वारा किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।

+ अर्थके लिये देखो अंक ६२७।

४. श्री·······द्वारा आत्मसिद्धिशास्त्रका आगे चलकर अवगाहन करना विशेष हितकारी जानकर, उसे हालमें मात्र श्री·······को ही अवगाहन करनेके लिये लिखा है। तो भी यदि श्री·······की हालमें विशेष आकांक्षा रहती हो तो उन्हें भी 'प्रत्यक्ष सत्पुरुषके समान मेरा किसीने भी परम उपकार नहीं किया,' ऐसा अखंड निश्चय आत्मामें लाकर, और 'इस देहके भविष्य जीवनमें भी यदि मैं उस अखंड निश्चयको छोड़ दूँ तो मैंने आत्मार्थ ही त्याग दिया, और सच्चे उपकारीके उपकारके विस्मरण करनेका दोष किया, ऐसा ही मानूँगा; और नित्य सत्पुरुषकी आज्ञामें रहनेमें ही आत्माका कल्याण है'—इस तरह भिन्नभावसे रहित, लोकसंबंधी अन्य सब प्रकारकी कल्पना छोड़कर, निश्चय लाकर, श्री·······मुनिके साथमें इस ग्रंथके अवगाहन करनेमें हालमें भी बाधा नहीं है। उससे बहुतसी शंकाओंका समाधान हो सकेगा।

(२)

सत्पुरुषकी आज्ञामें चलनेका जिसका दृढ़ निश्चय रहता है, और जो उस निश्चयकी आराधना करता है, उसे ही ज्ञान सम्यक् प्रकारसे फलीभूत होता है—यह बात आत्मार्थी जीवको अवश्य लक्षमें रखना योग्य है। हमने जो यह वचन लिखा है, उसके सर्व ज्ञानी-पुरुष साक्षी हैं।

जिस प्रकारसे दूसरे मुनियोंको भी वैराग्य उपशम और विवेककी वृद्धि हो, उस उस प्रकारसे श्री·······तथा श्री·······को उन्हें यथाशक्ति सुनाना और आचरण कराना योग्य है। इसी तरह अन्य जीव भी आत्मार्थके सन्मुख हों, ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाके निश्चयको प्राप्त करें, विरक्त परिणामको प्राप्त करें, तथा रस आदिकी लुब्धता मंद करें, इत्यादि प्रकारसे एक आत्मार्थके लिये ही उपदेश करना योग्य है।

(३)

अनंतबार देहके लिये आत्माको व्यतीत किया है। जो देह आत्मार्थके लिये व्यतीत की जायगी, उस देहको आत्म-विचार पाने योग्य समझकर सर्व देहार्थकी कल्पना छोड़कर एक मात्र आत्मार्थमें ही उसका उपयोग करना योग्य है, यह निश्चय मुमुक्षु जीवको अवश्य करना चाहिये। श्रीसहजात्मस्वरूप.

---

६६४ नड़ियाद, आसोज वदी १२ सोम. १९५२

शिरच्छत्र श्रीपिताजी!

बम्बईसे इस ओर आनेमें केवल एक निवृत्तिका ही हेतु है; कुछ शरीरकी बाधासे इस ओर आना नहीं हुआ है। आपकी कृपासे शरीर स्वस्थ है। बम्बईमें रोगके उपद्रवके कारण आपकी तथा रेवाशंकर भाईकी आज्ञा होनेसे इस ओर विशेष स्थिरता की है, और उस स्थिरतामें आत्माको विशेष निवृत्ति रहती है।

हालमें बम्बईमें रोगकी बहुत शांति हो गई है। सम्पूर्ण शांति हो जानेपर उस ओर जानेका विचार है, और वहाँ जानेके पश्चात् बहुत करके भाई मनसुखको आपकी तरफ थोड़े समयके लिये भेजनेकी इच्छा है, जिससे मेरी मातेश्वरीके मनको भी अच्छा लगेगा।

आपके प्रतापसे पैसा पैदा करनेका तो बहुत करके लोभ नहीं है, किन्तु आत्माके परम कल्याण करनेकी ही इच्छा है। मेरी मातेश्वरीको पायलागन पहुँचे। बालक रायचन्द्रका दण्डवत्।

---

६६५ नड़ियाद, आसोज वदी १५, १९५२

जो ज्ञान महा निर्जराका हेतु होता है, वह ज्ञान अनधिकारी जीवके हाथमें जानेसे प्रायः उसे अहितकारी होकर फल देता है।

३०वाँ वर्ष

६६६ ववाणीआ, कार्तिक सुदी १० शनि. १९५३

मातेश्वरीको ज्वर आ जानेसे, तथा कुछ समयसे यहाँ आनेके संबंधमें उनकी विशेष आकांक्षा होनेसे, गत सोमवारको यहाँसे आज्ञा मिलनेसे, नड़ियादसे मंगलवारको रवाना हुआ था। यहाँ बुधवारको दुपहरको आना हुआ है।

जब शरीरमें वेदनीयका असातारूपसे परिणमन हुआ हो, उस समय विचारवान पुरुष शरीरके अन्यथा स्वभावका विचार कर, उस शरीर और शरीरके साथ संबंधसे प्राप्त स्त्री पुत्र आदिका मोह छोड़ देते हैं, अथवा मोहके मंद करनेमें प्रवृत्ति करते हैं।

आत्मसिद्धिशास्त्रका विशेष विचार करना चाहिये।

---

६६७ ववाणीआ, कार्तिक सुदी ११ रवि. १९५३

जबतक जीव लोक-दृष्टिका वमन न करे और उसमेंसे अंतर्वृत्ति न छूट जाय, तबतक ज्ञानीकी दृष्टिका माहात्म्य लक्षमें नहीं आ सकता, इसमें संशय नहीं।

---

६६८ ववाणीआ, कार्तिक १९५३

ॐ

*परमपद पंथ अथवा वीतराग दर्शन

गीति

जिस प्रकार परम वीतरागने परमपदके पंथका उपदेश किया है, उसका अनुसरण कर, उस प्रभुको भक्ति-रागसे प्रणाम करके, उस पंथको यहाँ कहेंगे ॥ १ ॥

पूर्ण सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये परमपदके मूल कारण हैं। जहाँ ये तीनों एक स्वभावसे परिणमन करते हैं, वहाँ शुद्ध परिपूर्ण समाधि होती है ॥ २ ॥

मुनीन्द्र सर्वज्ञने जिस प्रकार जड़ और चेतन भावोंका अवलोकन किया है, वैसी अंतर आस्था प्रगट होनेपर तत्त्वज्ञोंने उसे दर्शन कहा है ॥ ३ ॥

सम्यक् प्रमाणपूर्वक उन सब भावोंके ज्ञानमें भासित होनेको सम्यग्ज्ञान कहा गया है। वहाँ संशय विभ्रम और मोहका नाश हो जाता है ॥ ४ ॥

६६८

पंथ परमपद बोध्यो, जेह प्रमाणे परम वीतरागे। ते अनुसरि कहीशुं, प्रणमीने ते प्रभु भक्ति रागे ॥ १ ॥
मूळ परमपद कारण, सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण पूर्ण। प्रणमे एक स्वभावे, शुद्ध समाधि त्यां परिपूर्ण ॥ २ ॥
जे चेतन जड भावो, अवलोक्या छे मुनीन्द्र सर्वज्ञे। तेवी अंतर आस्था, प्रगटये दर्शन कह्युं छे तत्त्वज्ञे ॥ ३ ॥
सम्यक् प्रमाणपूर्वक, ते ते भावो ज्ञान विषे भासे। सम्यग्ज्ञान कह्युं ते, संशय विभ्रम मोह त्यां नासे ॥ ४ ॥

---

* इस विषयकी ३६ या ५० गीतियाँ थीं। बाकीकी कहीं गुम गई हैं। यहाँ कुल आठ गीतियाँ दी गई हैं।
—अनुवादक.

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित विषयारंभकी निवृत्ति—राग-द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समाधिका सदुपाय जो शुद्धाचरण है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

जहाँ इन तीनोंके अभिन्न स्वभावसे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अजीव पदार्थ, तथा पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये सात तत्त्व मिलकर नौ पदार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अजीवमें इन नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान् मुनिराजोंने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है ॥ ८ ॥

---

६६९ ववाणीआ, कार्तिक वदी २ शुक्र. १९५३

ज्ञानियोंने मनुष्यभवको चिंतामणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समझमें आनेवाली बात है। विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक एक समय भी चिंतामणि रत्नसे परम माहात्म्यवान और मूल्यवान मालूम होता है। तथा यदि वह मनुष्यभव देहार्थमें ही व्यतीत हो गया, तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं, यह निस्सन्देह मालूम होता है।

---

६७० ववाणीआ, कार्तिक वदी १५ शुक्र. १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जबतक देहका और प्रारब्धका उदय बलवान हो तबतक देहसंबंधी कुटुम्बको—जिसका भरण-पोषण करनेका संबंध न छूट सकनेवाला हो, अर्थात् गृहवासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना उचित हो—यदि भरण-पोषण मात्र मिलता हो, तो उसमें मुमुक्षु जीव संतोष करके आत्महितका ही विचार और पुरुषार्थ करता है। वह देह और देहसंबंधी कुटुम्बके माहात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृतिको भी नहीं होने देता। क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके आत्महितके अवसरको ही प्राप्त नहीं होने देते।

---

६७१ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १ शनि. १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु, अनियत प्राप्ति, असीम—बलवान—असत्संग, प्रायःकरके पूर्वकी अनाराधकता, बलवीर्यकी हीनता—इन कारणोंसे रहित जहाँ कोई विरला ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीति न किया हुआ, आराधन न किया हुआ, और स्वभावसे असिद्ध ऐसा मार्ग प्राप्त

विषयारंभ निवृत्ति, रागद्वेषनो अभाव ज्यां थाय। सहित सम्यग्दर्शन, शुद्धाचरण त्यां समाधि सदुपाय ॥ ५ ॥
त्रणे अभिन्न स्वभावे, परिणमी आत्मस्वरूप ज्यां थाय। पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्यां अनन्य सुखदाय ॥ ६ ॥
जीव अजीव पदार्थो, पुण्य पाप आस्रव तथा बंध। संवर निर्जरा मोक्ष, तत्त्व कह्यां नव पदार्थ संबंध ॥ ७ ॥
जीव अजीव विषे ते, नवे तत्त्वनो समावेश थाय। वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रबोध्या महान मुनिराय ॥ ८ ॥

करना कठिन हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। फिर भी जिसने एक उसे ही प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई भी लक्ष नहीं रक्खा, वह इस कालमें भी अवश्य ही उस मार्गको प्राप्त करता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष-विषाद नहीं करता।

---

६७२ ववाणीआ, मंगसिर सुदी ६ गुरु. १९५३

श्रीमाणेकचन्द्रकी देहके छूट जानेके समाचार मालूम हुए।

सर्व देहधारी जीव मरणके समीप शरणरहित हैं। जिसने मात्र उस देहका प्रथमसे ही यथार्थ स्वरूप जानकर उसका ममत्व नष्ट कर, निज-स्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको पा लिया है, वही जीव उस मरण-समयमें शरणसहित होकर प्रायः फिरसे देह धारण नहीं करता; अथवा मरणकालमें देहके ममत्वभावकी अल्पता होनेसे भी वह निर्भय रहता है। देहके छूटनेका समय अनियत है, इसलिये विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहिलेसे ही उसके ममत्वके निवृत्त करनेके अविरोधी उपायोंका साधन करते हैं; और इसीका तुम्हें और हमें सबको लक्ष रखना चाहिये। यद्यपि प्रीति-बंधनसे खेद होना संभव है, परन्तु इसमें अन्य कोई उपाय न होनेसे, उस खेदको वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्त्तव्य है।

---

६७३ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १० सोम. १९५३

सर्वज्ञाय नमः

योगवासिष्ठके आदिके दो प्रकरण, पंचीकरण, दासबोध तथा विचारसागर ये ग्रंथ तुम्हें विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी ग्रंथको यदि तुमने पहिले बाँचा हो तो भी उन्हें फिरसे बाँचना और विचारना योग्य है। ये ग्रंथ जैन-पद्धतिके नहीं हैं, यह जानकर उन ग्रंथोंका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना उचित नहीं।

लौकिक दृष्टिमें जो जो बातें अथवा वस्तुयें—जैसे शोभायुक्त गृह आदि आरंभ, अलंकार आदि परिग्रह, लोक-दृष्टिकी विचक्षणता, लोकमान्य धर्मकी श्रद्धा—बडप्पनकी मानी जाती हैं उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष ज़हरका ही ग्रहण करना है, इस बातको यथार्थ समझे बिना ही तुम उन्हें धारण करते हो, इससे उस वृत्तिका लक्ष नहीं होता। आरंभमें उन बातों और वस्तुओंके प्रति ज़हर-दृष्टि आना कठिन समझकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना ही उचित है।

---

६७४ ववाणीआ, मंगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

१. आत्मसिद्धिकी टीकाके पृष्ठ मिले हैं।

२. यदि सफलताका मार्ग समझमें आ जाय तो इस मनुष्यदेहका एक एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चिंतामणि है, इसमें संशय नहीं।

---

६७५ वत्राणीआ, मंगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वसंग-परित्यागके प्रति वृत्तिका तथारूप लक्ष रहनेपर भी जिस मुमुक्षुको प्रारब्धविशेषसे उस योगका अनुदय रहा करता है, और कुटुम्ब आदिके प्रसंग तथा आजीविका आदिके कारण जिसकी प्रवृत्ति रहती है—जो न्यायपूर्वक करनी पड़ती है; परन्तु उसे त्यागके उदयको प्रतिबंधक समझकर जो उसे खेदपूर्वक ही करता है, ऐसे मुमुक्षुको यह विचारकर कि पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मानुसार ही आजीविका आदि प्राप्त होगी, मात्र निमित्तरूप प्रयत्न करना ही उचित है; किन्तु भयसे आकुल होकर चिंता अथवा न्यायका त्याग करना उचित नहीं, क्योंकि वह तो केवल व्यामोह है।

शुभ-अशुभ प्रारब्धके अनुसार प्राप्ति ही होती है। प्रयत्न तो केवल व्यावहारिक निमित्त है, इसलिये उसे करना उचित है, परन्तु चिंता तो मात्र आत्म-गुणका निरोध करनेवाली है, इसलिये उसका शान्त करना ही योग्य है।

६७६ ववाणीआ, मंगसिर वदी ११ बुध. १९५३

आरंभ तथा परिग्रहकी प्रवृत्ति आत्महितको अनेक प्रकारसे रोकनेवाली है; अथवा सत्समागमके योगमें एक विशेष अंतरायका कारण समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने उसके त्यागरूपसे बाह्य संयमका उपदेश किया है; जो प्रायः तुम्हें प्राप्त है। तथा तुम यथार्थ भाव-संयमकी जिज्ञासासे प्रवृत्ति करते हो, इसलिये अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ समझ कर सत्पुरुषोंके वचनोंकी अनुप्रेक्षाद्वारा, सत्शास्त्र अप्रतिबंधता और चित्तकी एकाग्रताको सफल करना उचित है।

---

६७७ ववाणीआ, मंगसिर वदी ११ बुध. १९५३

वैराग्य और उपशमको विशेष बढ़ानेके लिये भावनाबोध, योगवासिष्ठके आदिके दो प्रकरण, पंचीकरण इत्यादि ग्रंथोंका विचारना योग्य है।

जीवमें प्रमाद विशेष है, इसलिये आत्मार्थके कार्यमें जीवको नियमित होकर भी उस प्रमादको दूर करना चाहिये—अवश्य दूर करना चाहिये।

---

६७८ ववाणीआ, पौष सुदी १० भौम. १९५३

विषम भावके निमित्तोंके बलवानरूपसे प्राप्त होनेपर भी जो ज्ञानी-पुरुष अविषम उपयोगसे रहे हैं, रहते हैं, और भविष्यमें रहेंगे, उन सबको बारम्बार नमस्कार है।

उत्कृष्टसे उत्कृष्ट व्रत, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट तप, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट नियम, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट लब्धि, उत्कृष्टसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य—ये जिसमें सहज ही समा जाते हैं, ऐसे निरपेक्ष अविषम उपयोगको नमस्कार हो! यही ध्यान है।

---

६७९ ववाणीआ, पौष सुदी ११ बुध. १९५३

राग-द्वेषके प्रत्यक्ष बलवान निमित्तोंके प्राप्त होनेपर भी जिसका आत्मभाव किंचिन्मात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता, उस ज्ञानीके ज्ञानका विचार करनेसे भी महा निर्जरा होती है, इसमें संशय नहीं।

---

६८० ववाणीआ, पौष वदी ४ शुक्र. १९५२

आरंभ और परिग्रहका इच्छापूर्वक प्रसंग हो तो वह आत्म-लाभको विशेष घातक है, और वारम्वार अस्थिर और अप्रशस्त परिणामका हेतु है, इसमें तो संशय नहीं। परन्तु जहाँ अनिच्छासे भी उदयके किसी योगसे यह प्रसंग रहता हो वहाँ भी आत्मभावकी उत्कृष्टताको बाधक और आत्म-स्थिरताको अंतराय करनेवाले उस आरंभ-परिग्रहका प्रायः प्रसंग होता है। इसलिये परम कृपालु ज्ञानी-पुरुषोंने त्यागमार्गका जो उपदेश दिया है, वह मुमुक्षु जीवको एकदेशसे और सर्वदेशसे अनुकरण करने योग्य है।

---

६८१ मोरबी, माघ सुदी ९ बुध. १९५२

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—इन चार तरहसे, आत्मभावसे प्रवृत्ति करनेवाले निर्ग्रन्थको जो अप्रतिबंधभाव कहा है—वह विशेष अनुप्रेक्षण करने योग्य है।

---

६८२ मोरबी, माघ सुदी ९ बुध. १९५२

(१) कोई पुरुष स्वयं ही विशेष सदाचारमें और संयममें प्रवृत्ति करता हो, तो उसके समागममें आनेकी इच्छा करनेवाले जीवोंको, उस पद्धतिके अवलोकनसे जैसा सदाचार तथा संयमका लाभ होता है, वैसा लाभ प्रायः करके विस्तृत उपदेशसे भी नहीं होता, यह लक्षमें रखना योग्य है।

(२) आत्मसिद्धिका विचार करनेसे क्या कुछ आत्मासंबंधी अनुप्रेक्षा रहती है या नहीं ?

(३) परमार्थ-दृष्टि-पुरुषको अवश्य करने योग्य ऐसे समागमके लाभमें विकल्परूप अंतराय कर्त्तव्य नहीं है। सर्वज्ञाय नमः।

---

६८३ मोरबी, माघ वदी ४ रवि. १९५२

(१) संस्कृतका परिचय न हो तो करना।

(२) जिस तरह अन्य मुमुक्षु जीवोंके चित्तमें और अंगमें निर्मल भावकी वृद्धि हो, उस तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। जिस तरह नियमित श्रवण किया जाय, और यह बात चित्तमें दृढ़ हो जाय कि आरंभ-परिग्रहके स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे समझनेसे निवृत्ति और निर्मलताके बहुतसे प्रतिबंधक मौजूद हैं, तथा उस तरह परस्पर ज्ञानकथा हो, वैसा करना चाहिये।

---

६८४ मोरबी, माघ वदी ४ रवि. १९५२

(१) * सकळ संसारी इन्द्रियरामी, मुनि गुण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निष्कामी रे॥

---

* सब संसारी जीव इन्द्रिय-सुखमें ही रमण करनेवाले होते हैं, और केवल मुनिजन ही आतमरामी हैं। जो मुख्यतासे आतमरामी होते हैं, उन्हें ही निष्कामी कहा जाता है।

(२) श्री····तथा श्री····आत्मसिद्धिशास्त्रको विशेषरूपसे मनन करें । तथा अन्य मुनियोंको भी प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रोंको सत्पुरुषके लक्षसे सुनाया जाय तो सुनावें ।

६८५

ववाणीआ, माघ वदी १२, १९५३

+ ते माटे उभा कर जोड़ी, जिनवर आगळ कहिये रे ।
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनन्दघन लहिये रे ॥

(२) कर्मग्रन्थ शास्त्रको हालमें आदिसे अन्ततक बाँचनेका श्रवण करनेका और अनुप्रेक्षा करनेका परिचय रख सको तो रखना । हालमें उसे बाँचनेमें सुननेमें नित्यप्रति दोसे चार घड़ी नियमपूर्वक व्यतीत करना योग्य है ।

६८६

ववाणीआ, फाल्गुन सुदी २, १९५३

(१) एकान्त निश्चनयसे मति आदि चार ज्ञान, सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानकी अपेक्षासे विकल्पज्ञान कहे जा सकते हैं, परन्तु ये ज्ञान सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पज्ञान उत्पन्न होनेके साधन हैं । उसमें भी श्रुतज्ञान तो मुख्य साधन है, उस ज्ञानका केवलज्ञान उत्पन्न होनेमें अन्ततक अवलंबन रहता है । कोई जीव यदि इसका पहिलेसे ही त्याग कर दे तो वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता ।

केवलज्ञानतककी दशा प्राप्त करनेका हेतु श्रुतज्ञानसे ही होता है ।

(२) कर्मबंधकी विचित्रता सबको सम्यक् (अच्छी तरह) समझमें आ जाय, ऐसा नहीं होता ।

६८७

* त्याग वैराग्य न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग वैराग्यमां, तो भूले निजभान ॥

× जहां कल्पना जल्पना, त्हां मानुं दुख छांई ।
मिटे कल्पना जल्पना, तब वस्तू तिन पाई ॥

पढे पार कहां पामवो, मिटे न मनकी आश ।
ज्यों कोल्हुके बैलको, घर ही कोश हजार ॥

'मोहनीय'का स्वरूप इस जीवको बारम्बार अत्यन्त विचारने योग्य है । उस मोहनीयने महा मुनीश्वरोंको भी पलभरमें अपने पाशमें फँसाकर ऋद्धि-सिद्धिसे अत्यंत विमुक्त कर दिया है; शाश्वत सुखको छीनकर उन्हें क्षणभंगुरतामें ललचाकर भटकाया है । इसलिये निर्विकल्प स्थिति लाकर, आत्मस्वभावमें रमण करना और केवल द्रष्टारूपसे रहना, यह ज्ञानियोंका जगह जगह उपदेश है । उस उपदेशके यथार्थ प्राप्त होनेपर इस जीवका कल्याण हो सकता है । जिज्ञासामें रहो यह योग्य है ।

+ इस कारण मैं हाथ जोड़कर खड़ा रहकर जिनभगवान्के आगे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शास्त्रानुसार चारित्रकी शुद्ध सेवा प्रदान करो, जिससे मैं आनन्दघनको प्राप्त करूँ ।

*. आत्मसिद्धि ७ ।

× अंक ९१ पृ. १८९. —अनुवादक

* कर्म मोहिनी भेद बे, दर्शन चारित्र नाम ।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ।। ॐ शान्तिः ।

६८८ ववाणीआ, फाल्गुन वदी ११, १९५३

(१) कर्मग्रंथ विचारनेसे कषाय आदिका बहुतसा स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आता; उसे विशेष अनुप्रेक्षासे, त्याग-वृत्तिके बलसे, समागममें समझना योग्य है ।

(२) ज्ञानका फल विरति है । वीतरागका यह वचन सब मुमुक्षुओंको नित्य स्मरणमें रखना योग्य है । जिसके बाँचनेसे, समझनेसे और विचारनेसे आत्मा विभावसे, विभावके कार्योंसे, और विभावके परिणामसे उदास न हुई, विभावकी त्यागी न हुई, विभावके कार्योंकी और विभावके फलकी त्यागी न हुई—उसका बाँचना, विचारना और उसका समझना अज्ञान ही है । विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है—यह कहनेका ही ज्ञानीका परमार्थ है ।

(३) समयका अवकाश प्राप्त करके नियमित रीतिसे दोसे चार घड़ीतक हालमें मुनियोंको शांत और विरक्त चित्तसे सूयगडांग सूत्रका विचारना योग्य है ।

---

६८९ ववाणीआ, फाल्गुन वदी ११, १९५३

ॐ नमः सर्वज्ञाय

आत्मसिद्धिमें कहे हुए समकितके भेदोंका विशेष अर्थ जाननेकी जिज्ञासाका पत्र मिला है ।

१. आत्मसिद्धिमें तीन प्रकारके समकितका उपदेश किया है:—

(१) आप्तपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्व रुचिरूप, स्वच्छंद निरोध भावसे आप्तपुरुषकी भक्तिरूप—यह प्रथम समकित है ।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभवांशसे प्रतीति होना, यह दूसरे प्रकारका समकित है ।

(३) निर्विकल्प परमार्थ अनुभव, यह तीसरे प्रकारका समकित है ।

पहिला समकित दूसरे समकितका कारण है । दूसरा तीसरेका कारण है । ये तीनों ही समकित वीतराग पुरुषने मान्य किये हैं । तीनों समकित उपासना करने योग्य हैं—सत्कार करने योग्य हैं—भक्ति करने योग्य हैं ।

२. केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके अंतिम समयतक वीतरागने सत्पुरुषके वचनोंका अवलंबन लेना कहा है । अर्थात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानतक श्रुतज्ञानसे आत्माके अनुभवको निर्मल करते करते, उस निर्मलताकी सम्पूर्णता प्राप्त होनेपर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके उत्पन्न होनेके प्रथम समयतक सत्पुरुषका उपदेश किया हुआ मार्ग आधारभूत है—यह जो कहा है, वह निस्सन्देह सत्य है ।

६९०

(१)

लेश्याः—जीवके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम ।

---

* आत्मसिद्धि १०३ ।

अध्यवसायः—लेश्या-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति।

संकल्पः—प्रवृत्ति करनेका कुछ निर्धारित अध्यवसाय।

विकल्पः—प्रवृत्ति करनेका कुछ अपूर्ण, अनिर्धारित, संदेहात्मक अध्यवसाय।

संज्ञाः—आगे पीछेकी कुछ विशेष चिंतवनशक्ति अथवा स्मृति।

परिणामः—जलके द्रवण स्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अवस्थांतर पानेकी जो शक्ति है उस अवस्थांतरकी विशेष धारा—वह परिणति।

अज्ञानः—मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

विभंगज्ञानः—मिथ्यात्वसहित अतीन्द्रिय ज्ञान।

विज्ञानः—कुछ विशेष ज्ञान।

(२)

शुद्ध चैतन्य.

शुद्ध चैतन्य. शुद्ध चैतन्य.

सद्भावकी प्रतीति—सम्यग्दर्शन.

शुद्धात्मपद.

ज्ञानकी सीमा कौनसी है ?

निरावरण ज्ञानकी क्या स्थिति है ?

क्या अद्वैत एकांतसे घटता है ?

ध्यान और अध्ययन।

उ० अप०

(३)

जैनमार्ग

१. लोक-संस्थान.
२. धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य.
३. अरूपित्व.
४. सुषम दुषमादि काल.
५. उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊंचाई आदिका प्रमाण।
६. सूक्ष्म निगोद.
७. दो प्रकारके जीवः—भव्य और अभव्य.
८. पारिणामिक भावसे विभाव दशा.
९. प्रदेश और समय—उसका कुछ व्यावहारिक पारमार्थिक स्वरूप.
१०. गुण-समुदायसे द्रव्यका भिन्नत्व.
११. प्रदेश-समुदायका वस्तुत्व.
१२. रूप, रस, गंध और स्पर्शसे परमाणुकी भिन्नता.

१३. प्रदेशका संकोच-विकास.

१४. उससे घनत्व या सूक्ष्मत्व.

१५. अस्पर्शगति.

१६. एक ही समयमें यहाँ और सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकांत-गमन.

१७. सिद्धसंबंधी अवगाह.

१८. जीवकी तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे अवधि मनःपर्यव और केवलज्ञानकी कुछ व्यावहारिक पारमार्थिक व्याख्या.

'उसी प्रकारसे मति-श्रुतकी भी व्याख्या.'

१९. केवलज्ञानकी कोई अन्य व्याख्या.

२०. क्षेत्रप्रमाणकी कोई अन्य व्याख्या.

२१. समस्त विश्वका एक अद्वैततत्त्वपर विचार.

२२. केवलज्ञानके बिना किसी अन्य ज्ञानसे जीवके स्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण.

२३. विभावका उपादान कारण.

२४. तथा उसका समाधानके योग्य कोई प्रकार.

२५. इस कालमें दस बोलोंके व्यवच्छेद होनेका कोई अन्य रहस्य.

२६. केवलज्ञानके दो भेदः—बीजभूत केवलज्ञान और सम्पूर्ण केवलज्ञान.

२७. वीर्य आदि आत्माके गुणोंमें चेतनता.

२८. ज्ञानसे आत्माकी भिन्नता.

२९. वर्तमानकालमें जीवके स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य भेद.

३०. उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य भेद.

३१. अतिशयका स्वरूप.

३२. (बहुतसी) लब्धियाँ ऐसी मानी जाती हैं जो अद्वैततत्त्व माननेसे सिद्ध होती हैं.

३३. लोक-दर्शनका वर्तमानकालमें कोई सुगम मार्ग.

३४. देहान्त-दर्शनका वर्तमानकालमें सुगम मार्ग.

३५. सिद्धत्व-पर्याय सादि-अनंत, मोक्ष अनादि-अनंत०

३६. परिणामी पदार्थ यदि निरंतर स्वाकार परिणामी हो तो भी उसका अव्यवस्थित परिणामीपना; तथा जो अनादिसे हो वह केवलज्ञानमें भासमान हो—ये पदार्थमें किस तरह घट सकते हैं ?

(४)

१. कर्मव्यवस्था.

२. सर्वज्ञता.

३. पारिणामिकता.

४. नाना प्रकारके विचार और समाधान.

५. अन्यसे न्यून पराभव.

६. जहाँ जहाँ अन्य सब विकल हैं वहाँ वहाँ यह अविकल है। तथा जहाँ यह अविकल दिखाई देता है, वहीं अन्य किसीकी क्वचित् अविकलता रहती है, अन्यथा नहीं।

---

*६९१

बम्बई, श्रावण १९५०

(१)

१. जिस पत्रमें प्रत्यक्ष-आश्रयका स्वरूप लिखा वह पत्र यहाँ मिला है। मुमुक्षु जीवको परम भक्तिसहित उस स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

२. जो सत्पुरुष योग-बलसहित—जिनका उपदेश बहुतसे जीवोंको थोड़े ही प्रयाससे मोक्षका साधनरूप हो सके ऐसे अतिशयसहित—होता है, वह जिस समय उसे प्रारब्धके अनुसार उपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त होता है, उसी समय मुख्यरूपसे प्रायः उस भक्तिरूप प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गको प्रकाशित करता है; वैसे उदय-योगके बिना वह प्रायः उसे प्रकाशित नहीं करता।

३. सत्पुरुष जो प्रायः दूसरे किसी व्यवहारके योगमें मुख्यरूपसे उस मार्गको प्रकाशित नहीं करते, वह तो उनका करुणा-स्वभाव है। जगत्के जीवोंका उपकार पूर्वापर विरोधको प्राप्त न हो अथवा बहुतसे जीवोंका उपकार हो, इत्यादि अनेक कारणोंको देखकर अन्य व्यवहारमें प्रवृत्ति करते समय, सत्पुरुष वैसे प्रत्यक्ष-आश्रयरूप-मार्गको प्रकाशित नहीं करते। प्रायः करके तो अन्य व्यवहारके उदयमें वे अप्रकट ही रहते हैं। अथवा किसी प्रारब्धविशेषसे वे सत्पुरुषरूपसे किसीके जाननेमें आये भी हों, तो भी उसके पूर्वापर श्रेयका विचार करके, जहाँतक बने वहाँतक वे किसीके विशेष प्रसंगमें नहीं आते। अथवा वे बहुत करके अन्य व्यवहारके उदयमें सामान्य मनुष्यकी तरह ही विचरते हैं।

४. तथा जिससे उस तरह प्रवृत्ति की जाय वैसा प्रारब्ध न हो तो जहाँ कोई उस उपदेशका अवसर प्राप्त होता है, वहाँ भी प्रायः करके वे प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गका उपदेश नहीं करते। क्वचित् प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गके स्थानपर 'आश्रय-मार्ग' इस सामान्य शब्दसे, अनेक प्रकारका हेतु देखकर ही, कुछ कहते हैं, अर्थात् वे उपदेश-व्यवहारके चलानेके लिये उपदेश नहीं करते।

(२)

प्रायः करके जो किन्हीं मुमुक्षुओंको हमारा समागम हुआ है, उनको हमारी दशाके संबंधमें थोड़े-बहुत अंशसे प्रतीति है। फिर भी यदि किसीको भी समागम न हुआ होता तो अधिक योग्य था।

यहाँ जो कुछ व्यवहार उदयमें रहता है, वह व्यवहार आदि भविष्यमें उदयमें आने योग्य है, ऐसा मानकर, जबतक तथाउपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त न हुआ हो तबतक हमारी दशाके विषयमें तुम लोगोंको जो कुछ समझमें आया हो उसे प्रकाशित न करनेके लिये कहनेमें, यही मुख्य कारण था, और अब भी है।

---

*यह पत्र यहाँ २१ वें वर्षका दिया गया है। —अनुवादक.

६९२ श्री ववाणीआ, मोरबी, कार्तिकसे फाल्गुन १९५३

श्रीआनन्दघनजी चौवीसी-विवेचन

(१)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ० ॥

नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेवजी तीर्थंकर मेरे परम प्रिय हैं। इस कारण मैं अन्य किसी भी स्वामीकी इच्छा नहीं करती। ये स्वामी ऐसे हैं कि जो प्रसन्न होनेपर फिर कभी भी संग नहीं छोड़ते। मेरा इनका संग हुआ है इसलिये तो उसकी आदि है, परन्तु वह संग अटल होनेसे अनंत है ॥ १ ॥

विशेषार्थः—जो स्वरूप-जिज्ञासु पुरुष हैं वे, जिन्होंने पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान्के स्वरूपमें अपनी वृत्तिको तन्मय करते हैं। इससे उनकी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है, और वह सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्रको प्राप्त होती है। जैसा भगवान्का स्वरूप है वैसा ही शुद्धनयकी अपेक्षा आत्माका भी स्वरूप है। इस आत्मा और सिद्धभगवान्के स्वरूपमें केवल औपाधिक भेद है। यदि स्वाभाविक स्वरूपसे देखते हैं तो आत्मा सिद्धभगवान्के ही तुल्य है। दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धभगवान्का स्वरूप निरावरण है, और वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आवरणसहित है। वस्तुतः इनमें कोई भी भेद नहीं। उस आवरणके क्षीण हो जानेसे आत्माका सिद्धस्वरूप प्रगट होता है।

तथा जबतक वह सिद्धस्वरूप प्रगट नहीं हुआ तबतक जिन्होंने स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धभगवान्की उपासना करनी ही योग्य है। इसी तरह अर्हंत्भगवान्की भी उपासना करनी चाहिये क्योंकि वे भगवान् सयोगी-सिद्ध हैं। यद्यपि सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं, परन्तु वे भगवान् स्वरूप-समवस्थित हैं। सिद्धभगवान्, और उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है; अर्थात् अर्हंत्भगवान्की उपासनासे भी यह आत्मा स्वरूप-तन्मयताको प्राप्त कर सकती है। पूर्व महात्माओंने कहा हैः—

जे जाणइ अरिहंते, दव्वगुणपज्जवेहिं य।
सो जाणइ निय अप्पा, मोहो खलु जाइ तस्स लयं।

—जो अर्हंतभगवान्का स्वरूप, द्रव्य गुण और पर्यायसे जानता है, वह अपनी आत्माके स्वरूपको जानता है, और निश्चयसे उसका मोह नाश हो जाता है।

उस भगवान्की उपासना जीवोंको किस अनुक्रमसे करनी चाहिये, उसे श्रीआनंदघनजी नौवें स्तवनमें कहनेवाले हैं, उसे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे।

भगवान्सिद्धके नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु इन कर्मोंका भी अभाव रहता है। वे भगवान् सर्वथा कर्मोंसे रहित हैं। तथा भगवान्अर्हंतको केवल आत्मस्वरूपको आवरण करनेवाले कर्मोंका ही क्षय है; परन्तु उन्हें उपर कहे हुए चार कर्मोंका—वेदन करके क्षीण करनेपर्यंत—पूर्वबंध रहता है; इस कारण वे परमात्मा साकार-भगवान् कहे जाने योग्य हैं।

उन अर्हंतभगवान्में, जिन्होंने पूर्वमें तीर्थंकर नामकर्मका शुभयोग उत्पन्न किया है, वे तीर्थंकर-भगवान् कहे जाते हैं। उनका प्रताप उपदेश-बल आदि महत्पुण्ययोगके उदयसे आश्चर्यकारक शोभाको प्राप्त होता है।

भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालमें श्रीऋषभदेवसे लगाकर श्रीवर्धमानतक ऐसे चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं।

वर्तमानकालमें वे भगवान् सिद्धालयमें स्वरूपस्थितभावसे विराजमान हैं। परन्तु भूत-प्रज्ञापनीय नयसे उनमें तीर्थंकरपदका उपचार किया जाता है। उस औपचारिक नयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानोंके स्तवनरूप इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की गई है।

सिद्धभगवान् सर्वथा अमूर्तपदमें स्थित हैं इसलिये उनका स्वरूप सामान्यरूपसे चिंतवन करना कठिन है। तथा अर्हंतभगवान्का स्वरूप भी मूलदृष्टिसे चिंतवन करना तो वैसा ही कठिन है, परन्तु सयोगी-पदके अवलंबनपूर्वक चिंतवन करनेसे वह सामान्य जीवोंकी भी वृत्तिके स्थिर होनेका कुछ सुगम उपाय है। इस कारण अर्हंतभगवान्के स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझ-कर, श्रीआनंदघनजीने चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनरूप इस चौबीसीकी रचना की है। नमस्कारमंत्रमें भी प्रथम अर्हंतपदके रखनेका यही हेतु है कि उनका हमारे प्रति विशेष उपकारभाव है।

भगवान्के स्वरूपका चिंतवन करना यह परमार्थदृष्टियुक्त पुरुषोंको गौणतासे निजस्वरूपका ही चिंतवन करना है। **सिद्धप्राभृतमें** कहा है:—

जारिस सिद्धसहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाणं।
तम्हा सिद्धंतरुई, कायव्वा भव्वजीवेहिं॥

—जैसा सिद्धभगवान्का आत्मस्वरूप है, वैसा ही सब जीवोंकी आत्माका स्वरूप है, इसलिये भव्य जीवोंको सिद्धत्वमें रुचि करनी चाहिये।

इसी तरह श्रीदेवचन्द्रस्वामीने श्रीवासुपूज्यके स्तवनमें कहा है।

जिनपूजा रे ते निजपूजना—यदि यथार्थ मूलदृष्टिसे देखें तो जिनभगवान्की पूजा ही आत्म-स्वरूपका पूजन है।

इस तरह स्वरूपकी आकांक्षा रखनेवाले महात्माओंने जिनभगवान्की और सिद्धभगवान्की उपासनाको स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु माना है। क्षीणमोह गुणस्थानतक उस स्वरूपका चिंतवन करना जीवको प्रबल अवलंबन है।

तथा मात्र अकेले अध्यात्मस्वरूपका चिंतवन जीवको व्यामोह पैदा करता है, बहुतसे जीवोंको वह शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलाप-दशा उत्पन्न करता है। तथा भगवान्के स्वरूपके ध्यानके अवलंबनसे भक्तिप्रधान दृष्टि होती है और अध्यात्मदृष्टि गौण होती है; इससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त-प्रलापित्व नहीं होता। आत्मदशा प्रबल होनेसे स्वाभाविक अध्यात्मप्रधानता होती है; आत्मा उच्च गुणोंका सेवन करती है, अर्थात् शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नहीं होते; और भक्तिमार्गके प्रति भी जुगुप्सा नहीं होती; तथा स्वाभाविक आत्मदशा स्वरूप-लीनताको प्राप्त करती जाती है। जहाँ अर्हंत् आदिके स्वरूपके ध्यानके अवलंबनके विना वृत्ति आत्माकारता सेवन करती है, वहाँ———————————————अपूर्ण.

(२)

*वीतरागियोंमें ईश्वर ऐसे ऋषभदेवभगवान् मेरे स्वामी हैं। इस कारण अब मैं किसी दूसरे कंतकी इच्छा नहीं करती। क्योंकि वे प्रभु यदि एक वार भी रीझ जाँय तो फिर छोड़ते नहीं हैं। उन प्रभुका योग प्राप्त होना यह उसकी आदि है, परन्तु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिये वह अनंत है।

चैतन्यवृत्ति जो जगत्के भावोंसे उदासीन होकर, शुद्धचैतन्य-स्वभावमें समवस्थित भगवान्में प्रीतियुक्त हो गई है, आनंदघनजी उसके हर्षका प्रदर्शन करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनंदघनजीकी चैतन्यवृत्ति कहती है कि हे सखि! मैंने ऋषभदेव-भगवान्की साथ लग्न किया है और वह भगवान् मुझे सर्वप्रिय है। यह भगवान् मेरा पति हुआ है, इसलिये अब मैं अन्य किसी भी पतिकी कभी भी इच्छा न करूँगी। क्योंकि अन्य सब जीव जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे आकुल व्याकुल हैं—क्षणभरके लिये भी सुखी नहीं हैं; ऐसे जीवोंको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सकता है? तथा भगवान् ऋषभदेव तो अनन्त अव्याबाध सुख-समाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये यदि उनका आश्रय ग्रहण करूँ तो मुझे भी उस वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। वर्तमानमें उस योगके मिलनेसे, हे सखि! मुझे परम शीतलता हुई है। दूसरे पतियोंका तो कभी वियोग भी हो जाता है, परन्तु मेरे इस स्वामीका तो कभी भी वियोग हो ही नहीं हो सकता। जबसे वह स्वामी प्रसन्न हुआ है तभीसे वह कभी भी संग नहीं छोड़ता। इस स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धांतमें 'सादि-अनंत' कहा है, अर्थात् उस योगके होनेकी आदि तो है, परन्तु उसका कभी भी वियोग होनेवाला नहीं, इसलिये वह अनंत है। इस कारण अब मुझे कभी भी उस पतिका वियोग नहीं होगा ॥ १ ॥

हे सखि! इस जगत्में पतिका वियोग न होनेके लिये स्त्रियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करतीं हैं, वे उपाय यथार्थ उपाय नहीं हैं, और इस तरह मेरे पतिकी प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंको मिथ्या बतानेके लिये उनमेंसे थोड़ेसे उपायोंको तुझे कहती हूँ:—

कोई स्त्री तो पतिकी साथ काष्ठमें जल जानेकी इच्छा करती है, जिससे सदा ही पतिकी साथ मिलाप रहे। परन्तु वह मिलाप कुछ संभव नहीं है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार जहाँ उसे जाना था वहाँ चला गया; और जो स्त्री सती होकर पतिसे मिलनेकी इच्छा करती है, वह स्त्री भी मिलापके लिये किसी चितामें जलकर मरनेकी ही इच्छा करती है, परन्तु उसे तो अपने कर्मानुसार ही देह धारण करना है। दोनों एक ही जगह देह धारण करें और पति-पत्नीरूपसे संबद्ध होकर निरंतर सुखका

* आनन्दघनजीकृत श्रीऋषभजिन-स्तवनके पाँच पद्य निम्न प्रकारसे हैं:—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ० ॥ १ ॥
कोइ कंत कारण काष्ठभक्षण करे रे, मळशुं कंतने धाय।
ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ० ॥ २ ॥
कोई पतिरंजन अतिघणुं तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन में नवि चित धर्युं रे, रंजन धातुमेळाप ॥ ऋषभ० ॥ ३ ॥
कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।
दोष रहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोषविलास ॥ ऋषभ० ॥ ४ ॥
चित्त प्रसन्ने रे पूजनफळ कह्युं रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम-अरपणा रे, आनंदघनपदरेह ॥ ऋषभ० ॥ ५ ॥ —अनुवादक.

भोग करें, ऐसा कुछ नियम नहीं है। अर्थात् जिस पतिका वियोग हो गया, और जिसका संयोग भी अब संभव नहीं रहा, ऐसे पतिका जो मिलाप है उसे मैंने मिथ्या समझा है, क्योंकि उसका नाम ठिकाना कुछ नहीं है।

अथवा प्रथम पदका यह अर्थ भी होता है:—परमेश्वररूप पतिकी प्राप्तिके लिये कोई काष्ठका भक्षण करता है, अर्थात् पंचाग्निकी धूनी जलाकर उसमें काष्ठ होमकर, कोई उस अग्निका परिषह सहन करता है, और इससे ऐसा समझता है हम परमेश्वररूप पतिको पा लेंगे, परन्तु यह समझना मिथ्या है। क्योंकि उसकी तो पंचाग्नि तपनेमें ही प्रवृत्ति रहती है। वह उस पतिका स्वरूप जानकर, उस पतिके प्रसन्न होनेके कारणोंको जानकर, कुछ उन कारणोंकी उपासना नहीं करता, इसलिये फिर वह परमेश्वररूप पतिको कहाँसे पायेगा? वह तो, उसकी मतिका जिस स्वभावमें परिणमन हुआ है, वैसी ही गतिको पावेगा, इस कारण उस मिलापका कोई भी नाम ठिकाना नहीं है॥ २॥

हे सखि! कोई पतिको रिझानेके लिये अनेक प्रकारके तप करता है, परन्तु वह केवल शरीरको ही संताप देता है। इसे मैंने पतिके प्रसन्न करनेका मार्ग नहीं समझा। पतिके रंजन करनेके लिये तो दोनोंकी धातुओंका मिलाप होना चाहिये।

कोई स्त्री चाहे कितने ही कष्टसे तपश्चर्या करके अपने पतिके रिझानेकी इच्छा करे, तो भी जबतक वह स्त्री अपनी प्रकृतिको पतिकी प्रकृतिके स्वभावानुसार न कर सके, तबतक प्रकृतिकी प्रतिकूलताके कारण वह पति कभी भी प्रसन्न नहीं होता, और उस स्त्रीको मात्र अपने शरीरमें ही क्षुधा आदि संतापकी प्राप्ति होती है।

इसी तरह किसी मुमुक्षुकी वृत्ति भगवान्को पतिरूपसे प्राप्त करनेकी हो तो वह यदि भगवान्के स्वरूपके अनुसार वृत्ति न करे, और अन्य स्वरूपमें रुचिमान होते हुए, अनेक प्रकारका तप करके कष्टका सेवन करे, तो भी वह भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि जिस तरह पति-पत्नीका सच्चा मिलाप और सच्ची प्रसन्नता धातुके एकत्वमें ही है; उसी तरह हे सखि! भगवान्में इस वृत्तिका पतित्व स्थापन करके उसे यदि अचल रखना हो, तो उस भगवान्की साथ धातु-मिलाप करना ही योग्य है। अर्थात् उन भगवान्ने जो शुद्धचैतन्य-धातुरूपसे परिणमन किया है, वैसी शुद्धचैतन्यवृत्ति करनेसे ही उस धातुमेंसे प्रतिकूल स्वभावके निवृत्त होनेसे ऐक्य होना संभव है; और उसी धातुके मिलापसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्तिका कभी भी वियोग नहीं होगा॥ ३॥

हे सखि! कोई फिर ऐसा कहता है कि यह जगत् ऐसे भगवान्की लीला है कि जिसके स्वरूपकी पहिचान करनेका लक्ष ही नहीं हो सकता; और वह अलक्ष भगवान् सबकी इच्छा पूर्ण करता है, इस कारण वह इस जगत्को भगवान्की लीला मानकर, उस स्वरूपसे उस भगवान्की महिमाके गान करनेमें ही अपनी इच्छा पूर्ण होगी—भगवान् प्रसन्न होकर उसमें संलग्नता करेंगे—ऐसा मानता है। परन्तु यह मिथ्या है। क्योंकि वह भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही ऐसा कहता है।

जो भगवान् अनंत ज्ञान-दर्शनमय सर्वोत्कृष्ट सुख समाधिमय है, वह भगवान् इस जगत्का कर्त्ता किस तरह हो सकता है? और उसकी लीलाके कारण प्रवृत्ति किस तरह हो सकती है? लीलाकी प्रवृत्ति तो सदोषमें ही संभव है। जो पूर्ण होता है वह तो कुछ भी इच्छा नहीं करता। तथा भगवान्

तो अनंत अव्याबाध सुखसे पूर्ण हैं। उनमें अन्य कोई कल्पना कहाँसे आ सकती है? तथा लीलाकी उत्पत्ति तो कुतूहल वृत्तिसे होती है और वैसी कुतूहल वृत्ति तो ज्ञान-सुखकी अपरिपूर्णतासे होती है। तथा भगवान् ज्ञान और सुख दोनोंसे परिपूर्ण हैं, इसलिये उनकी प्रवृत्ति जगत्को रचनेरूप लीलाके प्रति कभी भी नहीं हो सकती। तथा यह लीला तो दोषका विलास है और वह सरागीके ही संभव है। तथा जो सरागी होता है वह द्वेषसहित होता है; और जिसे ये दोनों होते हैं, उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सब दोषोंका होना भी संभव है। इस कारण यथार्थ दृष्टिसे देखनेसे तो लीला दोषका ही विलास ठहरता है, और ऐसे दोष-विलासकी तो इच्छा अज्ञानी ही करता है। जब विचारवान मुमुक्षु भी ऐसे दोष-विलासकी इच्छा नहीं करते, तो फिर अनंत ज्ञानमय भगवान् तो उसकी इच्छा कैसे कर सकते हैं? इस कारण जो उस भगवान्के स्वरूपको लीलाके कर्त्ताभावसे समझता है वह भ्रान्ति है; और उस भ्रान्तिका अनुसरण करके जो भगवान्के प्रसन्न करनेके मार्गको ग्रहण करता है, वह मार्ग भी भ्रान्तिरूप ही है। इस कारण उसे उस भगवान्रूप पतिकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४ ॥

हे सखि! पतिके प्रसन्न करनेके तो अनेक प्रकार हैं। उदाहरणके लिये अनेक प्रकारके शब्द स्पर्श आदिके भोगसे पतिकी सेवा की जाती है। परन्तु उन सबमें चित्तकी प्रसन्नता ही सबसे उत्तम सेवा है, और वह ऐसी सेवा है जो कभी भी खंडित नहीं होती। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करके पतिकी सेवा करनेसे अत्यन्त आनंदके समूहकी प्राप्तिका भाग्योदय होता है।

भगवान्रूप पतिकी सेवाके अनेक प्रकार हैं:—जैसे द्रव्यपूजा, भावपूजा, आज्ञापूजा। द्रव्यपूजाके भी अनेक भेद हैं। उनमें सर्वोत्कृष्ट पूजा तो चित्तकी प्रसन्नता—उस भगवान्में चैतन्यवृत्तिका परम हर्षसे एकत्वको प्राप्त करना—ही है। उसमें ही सब साधन समा जाते हैं। वही अखंडित पूजा है, क्योंकि यदि चित्त भगवान्में लीन हो तो दूसरे योग भी चित्तके आधीन होनेसे वे भगवान्के ही आधीन रहते हैं; और यदि भगवान्मेंसे चित्तकी लीनता दूर न हो तो ही जगत्के भावोंमें उदासीनता रहती है, और उसमें ग्रहण-त्यागरूप विकल्प नहीं रहते। इस कारण वह सेवा अखंड ही रहती है।

जबतक चित्तमें अन्य कोई भाव हो तबतक यदि इस बातका प्रदर्शन किया जाय कि 'तुम्हारे सिवाय मेरा दूसरे किसीमें कोई भी भाव नहीं', तो वह वृथा ही है और वह कपट है; और जबतक कपट रहता है तबतक भगवान्के चरणमें आत्मसमर्पण कहाँसे हो सकता है? इस कारण जगत्के सर्व भावोंके प्रति विराम प्राप्त करके वृत्तिको शुद्ध चैतन्यभावयुक्त करनेसे ही, उस वृत्तिमें अन्यभाव न रहनेके कारण, वृत्ति शुद्ध कही जाती है और उसे ही निष्कपट कहते हैं। ऐसी चैतन्यवृत्ति भगवान्में लीन की जाय तो वही आत्मसमर्पणता कही जाती है।

धन धान्य आदि सब कुछ भगवान्को अर्पण कर दिया हो; परन्तु यदि आत्मसमर्पण न किया हो, अर्थात् उस आत्माकी वृत्तिको भगवान्में लीन न की हो, तो उस धन धान्य आदिका अर्पण करना सकपट ही है। क्योंकि अर्पण करनेवाली आत्मा अथवा उसकी वृत्ति तो किसी दूसरी जगह ही लीन हो रही है। तथा जो स्वयं दूसरी जगह लीन है, उसके अर्पण किये हुए दूसरे जड़ पदार्थ भगवान्में कहाँसे अर्पित हो सकते हैं? इसलिये भगवान्में चित्तवृत्तिकी लीनता ही आत्मसमर्पणता है, और यही आनंदघन-पदकी रेखा अर्थात् परम अव्याबाध सुखमय मोक्षपदकी निशानी है। अर्थात् जिसे ऐसी दशाकी प्राप्ति हो जाय वह परम आनंदघनस्वरूप मोक्षको प्राप्त होगा। यह लक्षण ही सच्चा लक्षण है ॥ ५ ॥ इति श्रीऋषभजिन-स्तवन।

*(२)

प्रथम स्तवनमें भगवान्में वृत्तिके लीन होनेरूप हर्षको बताया है, परन्तु वह वृत्ति अखंड और पूर्णरूपसे लीन हो तो ही आनंदघन-पदकी प्राप्ति हो सकती है। इससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए भी आनंदघनजी दूसरे तीर्थंकर श्रीअजितनाथका स्तवन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसके प्राप्त होनेमें जो जो विघ्न समझे हैं, उन्हें आनंदघनजी भगवान्के दूसरे स्तवनमें संक्षेपसे निवेदन करते हैं; और अपने पुरुषत्वको मंद देखकर खेदखिन्न होते हैं—इस तरह वे ऐसी भावनाका चिंतवन करते हैं जिससे पुरुषत्व जाग्रत रहे।

हे सखि! दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भगवान्ने जो पूर्ण लीनताके मार्गका प्रदर्शन किया है—जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है—उसे जब मैं देखती हूँ तो वह मार्ग अजित है—मेरे समान निर्बल वृत्तिके मुमुक्षुसे अजेय है। तथा भगवान्का जो अजित नाम है वह सत्य ही है, क्योंकि जो बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनके द्वारा भी जिस गुणोंके धामरूप पंथका जय नहीं हुआ, उसका भगवान्ने जय किया है। इसलिये भगवान्का अजित नाम सार्थक ही है, और अनंत गुणोंके धामरूप उस मार्गके जीतनेसे भगवान्का गुणोंका धाम कहा जाना सिद्ध है। हे सखि! परन्तु मेरा नाम जो पुरुष कहा जाता है वह सत्य नहीं। तथा भगवान्का नाम तो अजित है; जिस तरह यह नाम तद्रूप गुणोंके कारण है, उसी तरह मेरा नाम जो पुरुष है वह तद्रूप गुणोंके कारण नहीं। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है जो पुरुषार्थसे सहित हो—स्वपराक्रमसे सहित हो; परन्तु मैं तो वैसा हूँ नहीं। इसलिये मैं भगवान्से कहता हूँ कि हे भगवन्! तुम्हारा नाम जो अजित है वह यथार्थ है, और मेरा नाम जो पुरुष है वह मिथ्या है। क्योंकि राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका तुमने जय किया है इस कारण तुम अजित कहे जाने योग्य हो; परन्तु उन्हीं दोषोंने तो मुझे जीत लिया है, इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जा सकता है? ॥ १ ॥

हे सखि! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त संसार भूला ही हुआ है। उस परम तत्त्वका विचार होनेके लिये जिन दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है, उन दिव्य नेत्रोंका निश्चयसे वर्तमानकालमें वियोग हो गया है।

हे सखि! उस अजितभगवान्का अजित होनेके लिये ग्रहण किया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और उसका अंतरात्मदृष्टिसे ही अवलोकन किया जा सकता है। जैसे एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेके लिये पृथिवीपर सड़क वगैरह मार्ग होते हैं, उस तरह यह बाह्य मार्ग नहीं है, अथवा वह चर्मचक्षुसे देखनेपर दिखाई पड़नेवाला मार्ग नहीं है, कुछ चर्मचक्षुसे वह अतीन्द्रिय मार्ग दिखाई नहीं देता ॥ २ ॥——————अपूर्ण

---

*आनन्दघनजीकृत अजितनाथ स्तवनके दो पद्य निम्नरूपसे हैं:—

पंथडो निहाळुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम।
जे तें जीत्या रे तेणें हुं जीतियो रे पुरुष किस्युं मुज नाम ॥ पंथडो० ॥ १ ॥
चरम नयण करि मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जिन नयणे करि मारग जोवियें रे, नयण ते दिव्य विचार ॥ पंथडो० ॥२॥ —अनुवादक

६९३

हे ज्ञातपुत्र भगवन् ! कालकी बलिहारी है ! इस भारतके पुण्यहीन मनुष्योंको तेरा सत्य अखंड और पूर्वापर विरोधरहित शासन कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? उसके प्राप्त होनेमें इस प्रकारके विघ्न उपस्थित हुए हैं:—तेरे उपदेश दिये हुए शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विराधना की; कितनोंका तो समूल ही खंडन कर दिया; ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखों लोग फिर गये; और तेरे बादमें परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोंमें और तेरे वचनोंमें भी शंका डाल दी—एकान्तका उपयोग करके तेरे शासनकी निन्दा की।

हे शासन देवि ! कुछ ऐसी सहायता कर कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याण-मार्गका बोध कर सकूँ—उसका प्रदर्शन कर सकूँ—उसे सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकें। सर्वोत्तम निर्ग्रन्थ प्रवचनके बोधकी ओर फिराकर उन्हें इन आत्म-विरोधक पंथोंसे पीछे खींचनेमें सहायता प्रदान कर ! समाधि और बोधिमें सहायता करना तेरा धर्म है।

६९४

(१)

ॐ नमः

'अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल व्याकुल जीवोंकी, उन दुःखोंसे छूटनेकी बहुत बहुत प्रकारसे इच्छा होनेपर भी वे उनमेंसे मुक्त नहीं हो सकते—इसका क्या कारण है ?' यह प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान तो किसी विरले जीवको ही होता है। जबतक दुःखके मूल कारणको यथार्थरूपसे न जाना हो, तबतक उसके दूर करनेके लिये चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता; और उस दुःखके प्रति चाहे कितनी भी अरुचि अप्रियता और अनिच्छा क्यों न हो, तो भी उन्हें वह अनुभव करना ही पड़ता है।

अवास्तविक उपायसे यदि उस दुःखके दूर करनेका प्रयत्न किया जाय, और उस प्रयत्नके असह्य परिश्रमपूर्वक करनेपर भी, उस दुःखके दूर न होनेसे, दुःख दूर करनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको अत्यंत व्यामोह हो आता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण है ? यह दुःख क्यों दूर नहीं होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इष्ट न होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति कुछ भी वृत्ति न होनेपर भी, उसकी ही प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ उन सबके निष्फल हो जानेसे मैं दुःखका ही अनुभव किया करता हूँ, इसका क्या कारण है ?

क्या यह दुःख किसीका भी दूर नहीं होता होगा ? क्या दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा ? क्या कोई जगत्का कर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह बात भवितव्यताके आधीन होगी ? अथवा यह कुछ मेरे पूर्वमें किये हुए अपराधोंका फल होगा ? इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पोंको मनसहित देहधारी जीव किया करते हैं; और जो जीव मनसे रहित हैं वे अव्यक्तरूपसे दुःखका अनुभव करते हैं, और वे अव्यक्तरूपसे ही उन दुःखोंके दूर हो जानेकी इच्छा किया करते हैं।

इस जगत्में प्राणीमात्रकी व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यही है कि मुझे किसी भी तरहसे दुःख न हो और सर्वथा सुख ही सुख हो; और उनका प्रयत्न भी इसीलिये है; फिर भी वह दुःख क्यों दूर नहीं होता ? इस तरहके प्रश्न बड़े बड़े विचारवान जीवोंको भी भूतकालमें हुए थे, वर्तमानकालमें भी होते हैं और भविष्यकालमें भी होंगे । तथा उन अनंतानंत विचारवानोंमेंसे अनंत विचारवानोंको तो उसका यथार्थ समाधान भी हुआ है और वे दुःखसे मुक्त हो गये हैं । वर्तमानकालमें भी जिन विचारवानोंको उसका यथार्थ समाधान होता है, वे भी तथारूप फलको प्राप्त करते हैं, और भविष्यकालमें भी जिन जिन विचारवानोंको यथार्थ समाधान होगा वे सब तथारूप फलको पावेंगे, इसमें संशय नहीं है ।

शरीरका दुःख यदि केवल औषध करनेसे ही दूर हो जाता, मनका दुःख यदि धन आदिके मिलनेसे ही भाग जाता, और बाह्य संसर्गसंबंधी दुःख यदि मनको कुछ भी असर पैदा न कर सकता, तो दुःखके दूर करनेके लिये जो जो प्रयत्न किये जाते हैं वे सब, सभी जीवोंको सफल हो जाते । परन्तु जब यह होना संभव दिखाई न दिया, तभी विचारवानोंको प्रश्न उठा कि दुःखके दूर होनेके लिये कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिये । तथा यह जो कुछ उपाय किया जाता है वह अयथार्थ है, और यह सम्पूर्ण श्रम वृथा है, इसलिये उस दुःखका यदि यथार्थ मूल कारण जान लिया जाय और तदनुसार उपाय किया जाय तो ही दुःख दूर होना संभव है, नहीं तो वह कभी भी दूर नहीं हो सकता ।

जो विचारवान दुःखके यथार्थ मूल कारणको विचार करनेके लिये उत्कंठित हुए हैं, उनमें भी किसी किसीको ही उसका यथार्थ समाधान हुआ है, और बहुतसे तो यथार्थ समाधान न होनेपर भी मति-व्यामोह आदि कारणोंसे ऐसा मानने लगे हैं कि हमें यथार्थ समाधान हो गया है, और वे तदनुसार उपदेश भी करने लगे हैं, तथा अनेक लोग उनका अनुसरण भी करने लगे हैं । जगत्में भिन्न भिन्न जो धर्म-मत देखनेमें आते हैं, उनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण यही है ।

विचारवानोंकी विशेषतः यही मान्यता है कि धर्मसे दुःख मिट जाता है । परन्तु धर्मके स्वरूप समझनेमें तो एक दूसरेमें बहुत अन्तर पड़ गया है । बहुतसे तो अपने मूल विषयको ही भूल गये हैं, और बहुतसोंने उस विषयमें अपनी बुद्धिके थक जानेसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिणाम बना लिये हैं ।

दुःखके मूल कारण और उनकी किस किस तरह प्रवृत्ति हुई, इसके संबंधमें यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्रायोंको संक्षेपमें कहा जाता है ।

(२)

दुःख क्या है ? उसके मूल कारण क्या हैं ? और वह दुःख किस तरह दूर हो सकता है ? उसके संबंधमें जिनभगवान् वीतरागने अपना जो मत प्रदर्शित किया है, उसे यहाँ संक्षेपसे कहते हैं:—

. . . .

अब, वह यथार्थ है या नहीं, उसका अवलोकन करते हैं:—

. . . .

जिन उपायोंका प्रदर्शन किया है, वे उपाय सम्यक्‌दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र हैं; अथवा उन तीनोंका एक नाम 'सम्यक्‌मोक्ष' है।

उन वीतरागियोंने अनेक स्थलोंपर सम्यक्‌दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी ही मुख्यता कही है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी पहिचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना ज्ञान, संसार-दुःख-का कारणभूत है इसलिये सम्यग्दर्शनकी ही मुख्यता बताई है।

ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्‌चारित्रके प्रति वीर्य उल्लासित होता जाता है; और क्रमपूर्वक सम्यक्‌चारित्रकी प्राप्ति होनेका समय आता है। इससे आत्मामें स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है; और आत्मा निजपदमें लीन होकर सर्व कर्म-कलंकसे रहित होनेसे, एक शुद्ध आत्मस्वभावरूप मोक्षमें—परम अव्याबाध सुखके अनुभव-समुद्रमें—स्थित हो जाती है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे जिस तरह ज्ञान सम्यक्‌स्वभावको प्राप्त करता है—यह सम्यग्दर्शनका परम उपकार है—वैसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होकर पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्‌चारित्रको प्राप्त होता हैं, उसके लिये उसे सम्यग्ज्ञानके बलकी सच्ची आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतरागश्रुत और उस श्रुततत्त्वका उपदेष्टा महात्मा पुरुष है।

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त असंग और परम करुणाशील महात्माका संयोग मिलना अतिशय कठिन है। महान् भाग्योदयके योगसे ही वह योग प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। कहा भी हैः—

तहा रुवाणं समणाणं—

उन श्रमण महात्माओंके प्रवृत्ति-लक्षणोंको परम पुरुषने इस तरह कहा हैः—

उन महात्माओंके प्रवृत्ति-लक्षणोंसे अभ्यन्तरदशाके चिह्नोंका निर्णय किया जा सकता है। यद्यपि प्रवृत्ति-लक्षणोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे भी अभ्यन्तरदशाविषयक निश्चय होता है; परन्तु किसी शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षुको ही उस अभ्यन्तरदशाकी परीक्षा होती है।

ऐसे महात्माओंके समागम और विनयकी क्या आवश्यकता है? तथा चाहे कैसा भी पुरुष हो, परन्तु जो अच्छी तरह शास्त्र पढ़कर सुनाता हो ऐसे पुरुषसे भी जीव कल्याणके यथार्थ मार्गको क्यों नहीं पा सकता? इस आशंकाका समाधान किया जाता हैः—

ऐसे महात्मा पुरुषोंका योग मिलना अत्यन्त अत्यन्त कठिन है। जब श्रेष्ठ देश कालमें भी ऐसे महात्माका योग होना कठिन है, तो ऐसे दुःख-प्रधान कालमें वैसा हो तो इसमें कुछ कहना ही नहीं रहता। कहा भी है:—

यद्यपि उस महात्मा पुरुषका योग क्वचित् मिलता भी है, तो भी यदि कोई शुद्ध वृत्तिवान मुमुक्षु पुरुष हो तो वह उस मुहूर्तमात्रके समागममें ही अपूर्व गुणको प्राप्त कर सकता है। जिन महात्मा पुरुषोंके वचनोंके प्रतापसे चक्रवर्ती राजा भी एक मुहूर्तमात्रमें ही अपना राजपाट छोड़कर भयंकर वनमें तपश्चर्या करनेके लिये चले जाते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्व गुण क्यों प्राप्त नहीं हो सकते?

श्रेष्ठ देश कालमें भी क्वचित् ही महात्माका योग मिलता है। क्योंकि वे तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं। फिर ऐसे पुरुषोंका नित्य संग रह सकना तो किस तरह बन सकता है, जिससे मुमुक्षु जीव सर्व दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके? उसके मार्गको भगवान् जिनने इस तरह अवलोकन किया है:—

नित्य ही उनके समागममें आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिये, और उसके लिये बाह्य-आभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना ही योग्य है।

जो उस त्यागको सर्वथा करनेमें समर्थ नहीं हैं, उन्हें उसे निम्न प्रकारसे एकदेशसे करना उचित है। उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है:—

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक् आचरणसे, परम ज्ञानसे, परम शांतिसे, परम निवृत्तिसे, मुमुक्षु जीवकी अशुभ वृत्तियाँ परावृत्त होकर शुभ स्वभावको पाकर निजस्वरूपके प्रति सन्मुख होती जाती हैं।

उस पुरुषके वचन यद्यपि आगमस्वरूप हैं, तो भी बारंबार अपनेसे वचन-योगकी प्रवृत्ति

न होनेके कारण, निरंतर समागमका योग न बननेके कारण, उस वचनका उस तरहका श्रवण स्मरणमें न रहनेके कारण, बहुतसे भावोंका स्वरूप जाननेमें आवर्तनकी आवश्यकता होनेके कारण, तथा अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धि होनेके लिए, वीतरागश्रुत—वीतरागशास्त्र—एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो उस महात्मा पुरुषद्वारा ही उसके रहस्यको जानना चाहिये, परन्तु बादमें तो विशुद्ध दृष्टि हो जानेपर, वह श्रुत महात्माके समागमके अंतरायमें भी बलवान उपकारक होता है। अथवा जहाँ उन महात्माओंका सर्वथा संयोग ही नहीं हो सकता, वहाँ भी विशुद्ध दृष्टिवालेको वीतरागश्रुत परम उपकारी है; और इसीलिये महान् पुरुषोंने एक श्लोकसे लगाकर द्वादशांगतककी रचना की है।

उस द्वादशांगके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं। महात्मा पुरुष उनके स्वरूपका निरंतर ध्यान करते हैं; और उस पदकी प्राप्तिमें ही सब कुछ गर्भित है, यह प्रतीतिसे अनुभवमें आता है। सर्वज्ञ वीतरागके वचनको धारण करके ही महान् आचार्योंने द्वादशांगकी रचना की थी, और उनकी आज्ञामें रहनेवाले महात्माओंने अन्य अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशांगके नाम निम्न प्रकारसे हैं:—

(१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्मकथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अंतकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण किया है:—

कालदोषसे उनमेंके अनेक स्थल तो विस्मृत हो गये हैं, और केवल थोड़े ही स्थल बाकी बचे हैं:—

जो अल्प स्थल बाकी बचे हैं, उन्हें श्वेताम्बराचार्य एकादश अंगके नामसे कहते हैं। दिगम्बर इससे सहमत नहीं हैं और वे ऐसा कहते हैं:—

विसंवाद अथवा मताग्रहकी दृष्टिसे तो उसमें दोनों सम्प्रदाय सर्वथा भिन्न भिन्न मार्गकी तरह देखनेमें आते हैं, परन्तु जब दीर्घदृष्टिसे देखते हैं तो उसका कुछ और ही कारण समझमें आता है।

चाहे जो हो परन्तु इस तरह दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं:—

विवादके अनेक स्थल तो प्रयोजनशून्य जैसे ही हैं; और वे भी परोक्ष हैं।

अपात्र श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावके उपदेश करनेसे, नास्तिक आदि भावोंके उत्पन्न होनेका समय आता है, अथवा शुष्कज्ञानी होनेका समय आता है।

अब, इस प्रस्तावनाको यहाँ संक्षिप्त करते हैं; और जिस महात्मा पुरुषने ————(अपूर्ण)

यदि इस तरह अच्छी तरह प्रतीति हो जाय तो

***हिंसारहिओ धम्मो, अट्ठारस दोसविरहिओ देवो।**
निग्गंथे पवयणे, सद्दहणं होई सम्मत्तं॥

तथा

. . . .

जीवको या तो मोक्षमार्ग है, नहीं तो उन्मार्ग है।

सर्व दुःखका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय, सर्व जीवोंको हितकारी, सर्व दुःखोंके क्षयका एक आत्यंतिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है। उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुकरणसे, उसकी आज्ञाके परम अवलंबनसे, जीव भव-सागरसे पार हो जाता है। समवायांगसूत्रमें कहा है:—

आत्मा क्या है? कर्म क्या है? उसका कर्त्ता कौन है? उसका उपादान कौन है? निमित्त कौन है? उसकी स्थिति कितनी है? कर्त्ता किसके द्वारा है? वह किस परिमाणमें कर्म बाँध सकती है? इत्यादि भावोंका स्वरूप जैसा निर्ग्रंथ सिद्धांतमें स्पष्ट सूक्ष्म और संकलनापूर्वक कहा है वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है। ———————————————(अपूर्ण)

* हिंसारहित धर्म, अठारह दोषोंसे रहित देव और निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।—अनुवादक.

(३)

जैनमार्ग-विवेक

अपने समाधानके लिये यथाशक्ति जो जैनमार्ग समझा है, उसका यहाँ कुछ संक्षेपसे विचार करता हूँ:—

वह जैनमार्ग, जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व स्वीकार करता है।

वह कहता है कि जिनका अस्तित्व है ऐसे पदार्थ दो प्रकारके हैं:—जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीके स्वभावका त्याग नहीं कर सकता।

अजीव रूपी और अरूपीके भेदसे दो प्रकारका है।

जीव अनंत हैं। प्रत्येक जीव तीनों कालमें जुदा जुदा है। जीव ज्ञान दर्शन आदि लक्षणोंसे पहिचाना जाता है। प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है; संकोच-विकासका भाजन है; अनादिसे कर्मका ग्राहक है। यथार्थ स्वरूपको जाननेसे, उसे प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है; अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है।——————————(अपूर्ण)

(४)

मोक्षसिद्धान्त

भगवान्को परम भक्तिसे नमस्कार करके अनंत अव्याबाध सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिये, भगवान् सर्वज्ञद्वारा निरूपण किये हुए मोक्ष-सिद्धांतको कहता हूँ:—

द्रव्यानुयोग, कारणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वीतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मरूपी वैरीका पराजय करनेवाले अर्हंतभगवान्को; शुद्ध चैतन्यपदमें सिद्धालयमें विराजमान सिद्धभगवान्को; ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पंचाचारोंका पालन करनेवाले, और दूसरे भव्य जीवोंको आचारमें लगानेवाले आचार्यभगवान्को; द्वादशांगके अभ्यासी और उस श्रुत, शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले ऐसे उपाध्यायभगवान्को; तथा मोक्ष-मार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले ऐसे साधुभगवान्को, मैं परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्रीऋषभदेवसे श्रीमहावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं बारम्बार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान् वर्धमानजिनकी शिक्षासे ही वर्तमानमें मोक्षमार्गका अस्तित्व मौजूद है। उनके इस उपकारको सुबोधित पुरुष बारम्बार आश्चर्यमय समझते हैं।

कालके दोषसे अपार श्रुत-सागरका बहुतसा भाग विस्मृत हो गया है, और वर्तमानमें केवल बिन्दुमात्र अथवा अल्पमात्र ही बाकी बचा है। अनेक स्थलोंके विस्मृत हो जानेसे, और अनेक स्थलोंमें

स्थूल निरूपण रहनेके कारण, वर्तमान मनुष्योंको निर्ग्रन्थभगवान्‌के उस श्रुतका इस क्षेत्रमें पूर्ण लाभ नहीं मिलता।

अनेक मतमतांतर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसी कारण निर्मल आत्मतत्त्वके अभ्यासी महात्माओंकी भी अल्पता हो गई है।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, अनेक मतमातांतरोंके मौजूद रहनेपर भी, समाधानके बहुतसे साधनोंके परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके क्वचित् क्वचित् मौजूद रहनेपर भी, हे आर्यजनो! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पंथ, आत्मानुभवका हेतु सम्यक्‌चारित्र और विशुद्ध आत्म-ध्यान आज भी विद्यमान है—यह परम हर्षका कारण है।

वर्तमानकालका नाम दुःषम काल है। इस कारण अनेक अंतरायोंके होनेसे, प्रतिकूलता होनेसे और साधनोंकी दुर्लभता होनेसे, मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुःखसे होती है; परन्तु वर्तमानमें कुछ मोक्षका मार्ग ही विच्छिन्न हो गया है, यह विचार करना उचित नहीं।

पंचमकालमें होनेवाले महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है। तदनुसार यहाँ कहता हूँ।

सूत्र और दूसरे अनेक प्राचीन आचार्योंका अनुकरण करके रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। सुबोधित पुरुषोंने तो उनकी हितकारी बुद्धिसे ही रचना की है। इसलिये यदि किन्हीं मतवादी, हठवादी, और शिथिलताके पोषक पुरुषोंके द्वारा रची हुई कोई पुस्तकें, उन सूत्रों अथवा जिनाचारसे न मिलतीं हों, और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, तो उन पुस्तकोंके उदाहरण देकर भवभीरु महात्मा लोग प्राचीन सुबोधित आचार्योंके वचनोंके उत्थापन करनेका प्रयत्न नहीं करते। परन्तु यह समझकर कि उससे उपकार ही होता है, उनका बहुत मान करते हुए वे उनका यथायोग्य सदुपयोग करते हैं।

जिनदर्शनमें दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो मुख्य भेद हैं। मतदृष्टिसे तो उनमें महान् अंतर देखनेमें आता है। परन्तु जिनदर्शनमें तत्त्वदृष्टिसे वैसा विशेष भेद मुख्यरूपसे परोक्ष ही है। उनमें कुछ ऐसा भेद नहीं है कि जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सकता हो। इसलिये दोनों सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणवान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे ही देखते हैं; और जिस तरह तत्त्व-प्रतीतिका अंतराय कम हो वैसा आचरण करते हैं।

जैनाभाससे निकले हुए दूसरे अनेक मतमतांतर भी हैं। उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति संकुचित होती है। जिनमें मूल प्रयोजनका भी भान नहीं; इतना ही नहीं परन्तु जो मूल प्रयोजनसे विरुद्ध पद्धतिका ही अवलंबन लेते हैं; उन्हें मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो सकता है? क्योंकि वे तो मूल प्रयोजनको भूलकर क्लेशमें पड़े हुए हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिये जीवोंको परमार्थ-मार्गमें अंतराय करते हैं।

वे मुनिका लिंग भी धारण नहीं करते, क्योंकि स्वकपोल-रचनासे ही उनकी सर्व प्रवृत्ति रहती है। जिनागम अथवा आचार्यकी परम्परा तो केवल नाममात्र ही उनके पास है; वास्तवमें तो वे उससे पराङ्मुख ही हैं।

कोई कमंडलु जैसी और कोई डोरे जैसी अल्प वस्तुके ग्रहण-त्यागके आग्रहसे भिन्न भिन्न मार्ग

चलाता है, और तीर्थका भेद पैदा करता है, ऐसा महामोहसे मूढ़ जीव लिंगाभासपनेसे आज भी वीतरागदर्शनको घेरकर बैठा हुआ है—यही असंयतिपूजा नामका आश्चर्य मालूम होता है।

महात्मा पुरुषोंकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व और परको मोक्षमार्गके सन्मुख करनेवाली होती है। लिंगाभासी जीव अपने बलको मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें प्रवर्तमान देखकर हर्षित होते हैं; और वह सब, कर्म-प्रकृतिमें बढ़ते हुए अनुभाग और स्थितिबंधका ही स्थानक है, ऐसा मैं मानता हूँ।—(अपूर्ण)

(५)

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु—तत्त्व—पदार्थ। इसमें मुख्य तीन अधिकार हैं।

प्रथम अधिकारमें जीव और अजीव द्रव्यके मुख्य भेद कहे हैं।

दूसरे अधिकारमें जीव और अजीवका परस्पर संबंध और उससे जीवका क्या हिताहित होता है, उसे समझानेके लिये, उसकी विशेष पर्यायरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है। वे सातों तत्त्व जीव और अजीव इन दो तत्त्वोंमें समाविष्ट हो जाते हैं।

तीसरे अधिकारमें यथास्थित मोक्षमार्गका प्रदर्शन किया है, जिसको लेकर ही समस्त ज्ञानीपुरुषोंका उपदेश है।

पदार्थके विवेचन और सिद्धांतपर जिनकी नींव रक्खी गई है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिबोध करते हैं, ऐसे दर्शन छह हैं:—(१) बौद्ध, (२) न्याय, (३) सांख्य, (४) जैन, (५) मीमांसक और (६) वैशेषिक। यदि वैशेषिकदर्शनका न्यायदर्शनमें अंतर्भाव किया जाय तो नास्तिक-विचारका प्रतिपादन करनेवाला छट्ठा चार्वाकदर्शन अलग गिना जाता है।

प्रश्नः—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसा ये वेद-परिभाषामें छह दर्शन माने गये हैं, परन्तु यहाँ तो आपने इन दर्शनोंको जुदा पद्धतिसे ही गिनाया है। इसका क्या कारण है?

समाधानः—वेद-परिभाषामें बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिये उन्हें उस दृष्टिसे गिना गया है; और उपरोक्त क्रम तो विचारकी परिपाटीके भेदसे बताया है। इस कारण यही क्रम योग्य है।

द्रव्य और गुणका जो अनन्यत्व—अभेद—बताया गया है वह प्रदेशभेद-रहितपना ही है—क्षेत्रभेद-रहितपना नहीं। द्रव्यके नाशसे गुणका नाश होता है और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश होता है, इस तरह दोनोंका ऐक्यभाव है। द्रव्य और गुणका जो भेद कहा है, वह केवल कथनकी अपेक्षा है, वास्तविक दृष्टिसे नहीं। यदि संस्थान और संख्याविशेषके भेदसे ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन हो [illegible]—यह [illegible] वीतरागका सिद्धांत है। [illegible] ज्ञानकी साथ समवाय संबंधसे ज्ञानी नहीं है। [illegible] कहते हैं।

वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-[illegible], इनके [illegible] हैं।

(६)

यह अत्यंत सुप्रसिद्ध है कि [illegible] दुःख [illegible] और अप्रिय है, [illegible] और प्रिय है। उस दुःखसे रहित [illegible] और सुखकी प्राप्तिके लिये [illegible]

प्राणीमात्रका यह प्रयत्न होनेपर भी, वे दुःखका ही अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कहीं कहीं कोई सुखका अंश जो किसी किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दिखाई देता भी है, तो वह भी दुःखकी बाहुल्यतासे ही देखनेमें आता है।

शंकाः—प्राणीमात्रको दुःख अप्रिय होनेपर भी, तथा उसके दूर करनेके लिये उसका सदा प्रयत्न रहनेपर भी, वह दुःख दूर नहीं होता; तो फिर इससे तो ऐसा समझमें आता है कि उस दुःखके दूर करनेका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि जिसमें सबका प्रयत्न निष्फल ही चला जाता हो वह बात तो निरुपाय ही होनी चाहिये?

समाधानः—दुःखके स्वरूपको यथार्थ न समझनेसे; तथा उस दुःखके होनेके मूल कारण क्या हैं, और वे किस तरह दूर हो सकते हैं, इसे यथार्थ न समझनेसे; तथा दुःख दूर करनेका जीवोंका प्रयत्न स्वभावसे ही अयथार्थ होनेसे, वह दुःख दूर नहीं हो सकता।

दुःख यद्यपि सभीके अनुभवमें आता है, तो भी उसके स्पष्टरूपसे ध्यानमें आनेके लिये उसका यहाँ थोड़ासा व्याख्यान करते हैं:—

प्राणी दो प्रकारके होते हैं:—

(१) एक त्रस और दूसरे स्थावर। त्रस उन्हें कहते हैं जो स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हों और जो चलने-फिरने आदिकी शक्ति रखते हों।

(२) स्थावर उन्हें कहते हैं कि जो, जिस जगह देह धारण की है उसी जगह रहते हों और जिनमें भय आदिके कारण समझकर भाग जाने वगैरहकी समझ-शक्ति न हो।

अथवा एकेन्द्रियसे लगाकर पाँच इन्द्रियतक पाँच प्रकारके प्राणी होते हैं। एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहे जाते हैं, और दो इन्द्रियवाले प्राणियोंसे लगाकर पाँच इन्द्रियोंतकके प्राणी त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इन्द्रियोंसे अधिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

एकेन्द्रियके पाँच भेद हैं:—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व तो साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानसे समझमें आता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुमें जीवका अस्तित्व आगम-प्रमाणसे और विशेष विचारबलसे कुछ समझमें आ सकता है—यद्यपि उसका सर्वथा समझमें आना तो प्रकृष्ट ज्ञानका ही विषय है।

अग्नि और वायुकायिक जीव कुछ कुछ गतियुक्त देखनेमें आते हैं; परन्तु वह गति अपनी निजकी शक्तिकी समझपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें भी स्थावर ही कहा जाता है।

यद्यपि एकेन्द्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीव सुप्रसिद्ध है, फिर भी इस ग्रंथमें अनुक्रमसे उसके प्रमाण आवेंगे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें निम्न प्रकारसे जीवकी सिद्धि की गई है:—(अपूर्ण)

(७)

जीवके लक्षण:—

जीवका मुख्य लक्षण चैतन्य है,
वह देहके प्रमाण है,

वह असंख्यात प्रदेश प्रमाण है; वह असंख्यात प्रदेशत्व लोक-प्रमाण है,
वह परिणामी है,
अमूर्त है,
अनंत अगुरुलघुगुणसे परिणमनशील द्रव्य है,
स्वाभाविक द्रव्य है,
कर्त्ता है,
भोक्ता है,
अनादि संसारी है,
भव्यत्व लब्धि परिपाक आदिसे वह मोक्ष-साधनमें प्रवृत्ति करता है,
उसे मोक्ष होती है,
वह मोक्षमें स्वपरिणामयुक्त है,

संसार-अवस्थामें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थान हैं।
सिद्धावस्थामें योगका भी अभाव है,
मात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य ही सिद्धपद है,
विभाव-परिणाम भावकर्म है।
पुद्गलसंबंध द्रव्यकर्म है।————————(अपूर्ण)

*(८)

आस्रवः—ज्ञानावरणीय आदि कर्मोका पुद्गलके संबंधसे जो ग्रहण होता है, उसे द्रव्यास्रव जानना चाहिये। जिनभगवान्ने उसके अनेक भेद कहे हैं।

बंधः—जीव जिस परिणामसे कर्मका बंध करता है वह भावबंध है। कर्म-प्रदेश, परमाणु और जीवका अन्योन्य-प्रवेशरूपसे संबंध होना द्रव्यबंध है।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बंध है। प्रकृति और प्रदेशबंध योगसे होता है। स्थिति और अनुभागबंध कषायसे होता है।

संवर—जो आस्रवका निरोध कर सके वह चैतन्यस्वभाव भावसंवर है; और उससे जो द्रव्यास्रवका निरोध करना है वह द्रव्यसंवर है। व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषह-जय इस तरह चारित्रके जो अनेक भेद हैं उन्हें भावसंवरके ही भेद जानना चाहिये।

निर्जराः—तपश्चर्याद्वारा जिस कालमें कर्मके पुद्गल रसको भोग लेते हैं, वह भावनिर्जरा है, तथा उन पुद्गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे झड़ जाना द्रव्यनिर्जरा है।

मोक्षः—सब कर्मोके क्षय होनेरूप आत्मस्वभाव भावमोक्ष है। कर्म-वर्गणासे आत्मद्रव्यका पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

* इसमें नेमिचन्द्र आचार्यकृत द्रव्यसंग्रहकी कुछ गाथाओंका अनुवाद दिया गया है। —अनुवादक

पुण्य और पापः—जीवको शुभ और अशुभ भावके कारण ही पुण्य पाप होते हैं। साता, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्रका हेतु पुण्य है। उससे उल्टा पाप है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके कारण हैं। व्यवहारनयसे ये तीनों अलग अलग हैं। निश्चयसे आत्मा ही इन तीनों रूप है।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं रहते, इसलिये आत्मा इन तीनों रूप है, और इस कारण मोक्षका कारण भी आत्मा ही है।

जीव आदि तत्त्वोंकी आस्थारूप आत्मस्वभाव सम्यग्दर्शन है।

मिथ्या आग्रहसे रहित होना सम्यग्ज्ञान है। संशय विपर्यय और भ्रांतिसे रहित जो आत्मस्वरूप और परस्वरूपको यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह सम्यग्ज्ञान है। उसके साकार उपयोगरूप अनेक भेद हैं।

जो भावोंके सामान्यस्वरूप उपयोगको ग्रहण कर सके वह दर्शन है। दर्शन शब्द श्रद्धाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, ऐसा आगममें कहा है।

छद्मस्थको पहिले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; केवलीभगवान्को दोनों साथ साथ होते हैं।

अशुभ भावसे निवृत्ति और शुभ भावमें प्रवृत्ति होना चारित्र है। व्यवहारनयसे श्रीवीतरागियोंने उस चारित्र व्रतको समिति-गुप्तिरूपसे कहा है।

संसारके मूल हेतुओंका विशेष नाश करनेके लिये, ज्ञानी-पुरुषके जो बाह्य और अंतरंग क्रियाका निरोध होना है, उसे वीतरागियोंने परम सम्यक्चारित्र कहा है।

मुनि ध्यानके द्वारा मोक्षके कारणभूत इन दोनों चारित्रोंको अवश्य प्राप्त करते हैं; उसके लिये प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करो।

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक परमेष्ठीपदके वाचक जो मंत्र हैं, उनका जपपूर्वक ध्यान करो। इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे जानना चाहिये।

(९)

ॐ नमः

सर्व दुःखोंका आत्यंतिक अभाव और परम अव्याबाध सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है, और वही परम हित है। वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है।

उस सन्मार्गका संक्षिप्त विवेचन इस तरह है:—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

सर्वज्ञके ज्ञानमें भासमान तत्त्वोंकी सम्यक् प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है।

उस तत्त्वका बोध होना सम्यग्ज्ञान है।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना सम्यक्चारित्र है।

शुद्ध आत्मपदस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होना, यह तीनोंकी एकता है।

सर्वज्ञदेव, निर्ग्रंथ गुरु और सर्वज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वकी प्रतीति होती है।

सर्व ज्ञानावरण, दर्शनावरण, सर्व मोह, और सर्व वीर्य आदि अंतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्वज्ञवीतराग-स्वभाव प्रगट होता है। निर्ग्रंथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है। उसका रहस्य सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म है।

(१०)

सर्वज्ञ-कथित उपदेशसे आत्माका स्वरूप जानकर उसकी सम्यक् प्रकार प्रतीति करके उसका ध्यान करो।

ज्यों ज्यों ध्यानकी विशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानावरणीयका क्षय होगा।

वह ध्यान अपनी कल्पनासे सिद्ध नहीं होता।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोत्कृष्ट भावसे प्राप्त हुई है, और जिन्होंने समस्त पर द्रव्यका त्याग कर दिया है, उस देवको नमस्कार हो! नमस्कार हो!

बारह प्रकारके निदानरहित तपसे, वैराग्यभावनासे भावित और अहंभावसे रहित ज्ञानीके ही कर्मोंकी निर्जरा होती है।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी समझनी चाहियेः—स्वकालप्राप्त और तपपूर्वक। पहिली निर्जरा चारों गतियोंमें होती है; और दूसरी व्रतधारीको ही होती है।

ज्यों ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी अधिक निर्जरा होती है।

उस निर्जराके क्रमको कहते हैं। मिथ्यादर्शनमें रहते हुए भी जिसे थोड़े समयमें उपशम-सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिको असंख्यात गुण निर्जरा होती है, उससे असंख्यात गुण निर्जरा देशविरतिको होती है, उससे असंख्यात गुण निर्जरा सर्वविरति ज्ञानीको होती है, उससे——————————————————————————— (अपूर्ण)

(११)

ॐ

हे जीव इतना अधिक क्या प्रमाद ?

शुद्ध आत्म-पदकी प्राप्तिके लिये वीतराग सन्मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

सर्वज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
दयामुख्य धर्म } ये शुद्ध आत्मदृष्टि होनेके अवलंबन हैं।

श्रीगुरुसे सर्वज्ञद्वारा अनुभूत ऐसे शुद्ध आत्मप्राप्तिके उपायको समझकर, उसके रहस्यको ध्यानमें लेकर आत्मप्राप्ति करो।

सर्वविरति-धर्म यथाजाति और यथालिंग है। देशविरति-धर्म बारह प्रकारका है।

स्वरूपदृष्टि होते हुए द्रव्यानुयोग सिद्ध होता है।

विवाद-पद्धति शांत करते हुए चरणानुयोग सिद्ध होता है।

प्रतीतियुक्त दृष्टि होते हुए करणानुयोग सिद्ध होता है।

बालबोधके हेतुको समझाते हुए धर्मकथानुयोग सिद्ध होता है।

(१२)

(१)		(२)	
मोक्षमार्गका अस्तित्व.	निर्जरा.	प्रमाण.	आगम.
आप्त.	बंध.	नय.	संयम.
गुरु.	मोक्ष.	अनेकांत.	वर्तमानकाल.
धर्म.	ज्ञान.	लोक.	गुणस्थान.
धर्मकी योग्यता.	दर्शन.	अलोक.	द्रव्यानुयोग.
कर्म.	चारित्र.	अहिंसा.	करणानुयोग.
जीव.	तप.	सत्य.	चरणानुयोग.
अजीव.	द्रव्य.	असत्य.	धर्मकथानुयोग.
पुण्य.	गुण.	ब्रह्मचर्य.	मुनित्व.
पाप.	पर्याय.	अपरिग्रह.	गृहधर्म.
आश्रव.	संसार.	आज्ञा.	परिषह.
संवर.	एकेन्द्रियका अस्तित्व.	व्यवहार.	उपसर्ग.

६९५

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत है. मूल द्रव्यः—जीव अजीव.
पर्याय अशाश्वत है. अनादि नित्य पर्यायः—मेरू आदि.

६९६

नमो जिणाणं जिदभवाणं

जिनतत्त्व-संक्षेप

आकाश अनंत है। उसमें जड़ चेतनात्मक विश्व सन्निविष्ट है।
विश्वकी मर्यादा दो अमूर्त्त द्रव्योंसे है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं।
जीव और परमाणु-पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं। सब द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत हैं।
जीव अनंत हैं। परमाणु-पुद्गल अनंतानंत हैं।
धर्मास्तिकाय एक है। अधर्मास्तिकाय एक है।
आकाशास्तिकाय एक है। काल द्रव्य है.
प्रत्येक जीव विश्व-प्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है।

६१७

(१)

ॐ नमः

सब जीव सुखकी इच्छा करते हैं।

दुःख सबको अप्रिय है।

सब जीव दुःखसे मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं।

उसका वास्तविक स्वरूप न समझनेसे दुःख दूर नहीं होता।

उस दुःखके आत्यंतिक अभावको मोक्ष कहते हैं।

अत्यंत वीतराग हुए बिना मोक्ष नहीं होती।

सम्यग्ज्ञानके बिना वीतराग नहीं हो सकते।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है।

वस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है उस स्वभावसे उस वस्तुकी स्थिति समझनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्यग्दर्शनसे प्रतीत आत्मभावसे आचरण करना चारित्र है।

इन तीनोंकी एकतासे मोक्ष होती है।

जीव स्वाभाविक है। परमाणु स्वाभाविक है।

जीव अनंत हैं। परमाणु अनंत हैं।

जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है।

जबतक जीवको पुद्गलका संबंध है तबतक जीव कर्मसहित कहा जाता है।

भावकर्मका कर्त्ता जीव है।

भावकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है।

भावकर्मके कारण जीव पुद्गलको ग्रहण करता है।

इससे तैजस आदि शरीर और औदारिक आदि शरीरका संयोग होता है।

भावकर्मसे विमुख हो तो निजभाव प्राप्त हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके बिना जीव वास्तविकरूपसे भावकर्मसे विमुख नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शनके होनेका मुख्य हेतु जिनवचनसे तत्त्वार्थमें प्रतीति होना है।

(२)

ॐ नमः

विश्व अनादि है।

आकाश सर्वव्यापक है।

उसमें लोक सन्निविष्ट है।

जड़ चेतनसे सम्पूर्ण लोक भरपूर है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये द्रव्य जड़ हैं।

जीव द्रव्य चेतन है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अमूर्त्त हैं।

वस्तुतः काल औपचारिक द्रव्य है।

धर्म, अधर्म, और आकाश एक एक द्रव्य हैं।

काल, पुद्गल और जीव अनंत द्रव्य हैं।

द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक है।

६९८

एकांत आत्मवृत्ति.

एकांत आत्मा.

केवल एक आत्मा.

केवल एक आत्मा ही.

केवल मात्र आत्मा.

केवल मात्र आत्मा ही.

आत्मा ही.

शुद्ध आत्मा ही.

सहज आत्मा ही.

बस निर्विकल्प शब्दातीत सहजस्वरूप आत्मा ही.

६९९

मैं असंग शुद्ध चेतन हूँ। वचनातीत निर्विकल्प एकांत शुद्ध अनुभवस्वरूप हूँ।

मैं परम शुद्ध अखंड चिद्धातु हूँ।

अचिद् धातुके संयोग रसके इस आभासको तो देखो!

आश्चर्यवत् आश्चर्यरूप, घटना है।

अन्य किसी भी विकल्पका अवकाश नहीं है।

स्थिति भी ऐसी ही है।

७००

ॐ सर्वज्ञाय नमः—नमः सद्गुरवे.

पंचास्तिकाय

शत इन्द्रोंद्वारा वन्दनीय, तीनों लोकोंको कल्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य हैं, अनंत जिनके गुण हैं, संसारको जिन्होंने जीत लिया है, ऐसे सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार है ॥ १ ॥

जीवको चारों गतियोंसे मुक्त करके निर्वाण प्राप्त करनेवाले ऐसे आगमको नमस्कार कर, सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे उत्पन्न अमृतरूप इस शास्त्रको कहता हूँ; उसे श्रवण करो ॥ २ ॥

पाँच अस्तिकायोंके समूहरूप अर्थ-समयको सर्वज्ञ वीतरागदेवने लोक कहा है। उसके पश्चात् अनंत आकाशरूप मात्र अलोक ही अलोक है ॥ ३ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पदार्थ नियमसे अपने अस्तित्वमें ही रहते हैं, ये अपनी सत्तासे अभिन्न हैं, और अनेक प्रदेशात्मक हैं ॥ ४ ॥

अनेक गुण और पर्यायोंसे सहित जिसका अस्तित्व-स्वभाव है उसे अस्तिकाय कहते हैं; उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

ये अस्तिकाय तीनों कालमें भावरूपसे परिणमन करते हैं। तथा इनमें परिवर्तन लक्षणवाले कालद्रव्यके मिला देनेसे छह द्रव्य हो जाते हैं ॥ ६ ॥

ये द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और फिर जुदा हो जाते हैं, परन्तु फिर भी वे अपने अपने स्वभावका त्याग नहीं करते ॥ ७ ॥

सत्तास्वरूपसे समस्त पदार्थ एकरूप हैं। वह सत्ता अनंत प्रकारके स्वभाववाली है, वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त है और सामान्य-विशेषात्मक है ॥ ८ ॥

द्रव्यका लक्षण सत् है; वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है; गुण-पर्यायका आश्रयभूत है—ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ॥ ९ ॥

द्रव्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते। उसका स्वभाव ही 'अस्ति' है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, उसकी पर्यायको लेकर ही होते हैं ॥ १० ॥

द्रव्य अपनी स्वकीय पर्यायोंको प्राप्त होता है—उस उस भावसे परिणमन करता है—इसलिये उसे द्रव्य कहते हैं, वह अपनी सत्तासे अभिन्न है ॥ ११ ॥

पर्यायसे रहित द्रव्य नहीं होता, और द्रव्यरहित पर्याय नहीं होती—दोनों ही अनन्यभावसे रहते हैं, ऐसा महामुनियोंने कहा है ॥ १२ ॥

द्रव्यके बिना गुण नहीं होते, और गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होते—इस कारण दोनोंका (द्रव्य और गुणका) स्वरूप अभिन्न है ॥ १३ ॥

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य—इन विवक्षाओंको लेकर द्रव्यके सात भंग होते हैं ॥ १४ ॥

भावका कभी नाश नहीं होता, और अभावकी उत्पत्ति नहीं होती। उत्पाद और व्यय गुण-पर्यायके स्वभावसे ही होते हैं ॥ १५ ॥

जीव आदि छह पदार्थ हैं। जीवका गुण चैतन्य-उपयोग है। देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि उसकी अनेक पर्यायें हैं ॥ १६ ॥

मनुष्य-पर्यायसे मरण पानेवाला जीव, देव अथवा अन्य किसी स्थानमें उत्पन्न होता है। परन्तु दोनों जगह जीवत्व तो ध्रुव ही रहता है। उसका नाश होकर उससे अन्य कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥ १७ ॥

जो जीव उत्पन्न हुआ था, उसी जीवका नाश होता है। वस्तुतः तो वह जीव न तो उत्पन्न होता है और न उसका नाश ही होता है। उत्पन्न और नाश तो देव और मनुष्य पर्यायका ही होता है ॥ १८ ॥

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवकी उत्पत्ति होती है। जीवको जो देव मनुष्य आदि पर्याय होती हैं वे गतिनाम कर्मसे ही होती हैं ॥ १९ ॥

जीवने ज्ञानावरणीय आदि कर्मभावोंको सुदृढ़रूपसे—अतिशय गाढ़रूपसे—बाँध रक्खा है। उनका अभाव करनेसे अभूतपूर्व सिद्धपद मिलता है ॥ २० ॥

इस तरह गुण-पर्यायसहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभाव-भावसे संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ २१ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा बाकीके अस्तिकाय किसीके भी बनाये हुए नहीं—वे स्वरूपसे ही अस्तित्व-स्वभावाले हैं, और लोकके कारणभूत हैं ॥ २२ ॥

सत्ता स्वभाववाले जीव और पुद्गलके परिवर्तनसे उत्पन्न जो काल है, उसे निश्चयकाल कहा है ॥ २३ ॥

वह काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु गुणसे सहित है, अमूर्त्त है और वर्तना लक्षणसे युक्त है ॥ २४ ॥

* समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु, और संवत्सर आदि काल व्यवहारकाल है ॥ २५ ॥

कालके किसी भी परिमाण (माप) के बिना बहुकाल और अल्पकालका भेद नहीं बन सकता। तथा उसकी मर्यादा पुद्गल द्रव्यके बिना नहीं होती, इस कारण कालका पुद्गल द्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है ॥ २६ ॥

जीवत्वयुक्त, ज्ञाता, उपयोगसहित, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहके प्रमाण, निश्चयनयसे अमूर्त्त, और कर्मावस्थामें मूर्त्त ये जीवके लक्षण हैं ॥ २७ ॥

कर्म-मलसे सर्व प्रकारसे मुक्त होनेसे, ऊर्ध्वलोकके अंतको प्राप्त होकर, वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी जीव इन्द्रियसे पर अनंतसुखको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

---

*मंद गतिसे चलनेवाले पुद्गल-परमाणुकी जितनी देरमें अतिसूक्ष्म चाल हो, उसे समय कहते हैं। जितने समयमें नेत्रके पलक खुलें उसे निमेष कहते हैं। असंख्यात समयोंका एक निमेष होता है। पन्द्रह निमेषोंकी एक काष्ठा होती है। बीस काष्ठाओंकी एक कला होती है। कुछ अधिक बीस कलाओंकी एक नाली अथवा घटिका होती है। दो घटिकाका एक मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है।—अनुवादक.

अपने स्वाभाविक भावोंके कारण आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होती है, और अपने कर्मोंसे मुक्त होनेसे वह अनंत सुखको पाती है ॥ २९ ॥

बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे जो भूतकालमें जीवित था, वर्तमानकालमें जीवित है, और भविष्यकालमें जीवित रहेगा, वह जीव है ॥ ३० ॥

अनंत अगुरुलघु गुणोंसे निरन्तर परिणमनशील अनंत जीव हैं। वे जीव असंख्यात प्रदेशप्रमाण हैं। उनमें कितने ही जीवोंने लोक-प्रमाण अवगाहनाको प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

कितने ही जीवोंने उस अवगाहनाको प्राप्त नहीं किया। मिथ्यादर्शन कषाय और योगसहित अनंत संसारी जीव हैं। उनसे रहित अनंत सिद्धजीव हैं ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पद्मराग मणिको दूधमें डाल देनेसे वह दूधके परिणामकी तरह भासित होती है, उसी तरह देहमें स्थित आत्मा मात्र देह-प्रमाण ही प्रकाशक है, अर्थात् आत्मा देह-व्यापक है ॥ ३३ ॥

जिस तरह एक कायामें सर्व अवस्थाओंमें वहीका वही जीव रहता है, उसी तरह सर्वत्र संसार-अवस्थाओंमें भी वहीका वही जीव रहता है। अध्यवसायविशेषसे ही कर्मरूपी रजोमलसे वह जीव मलिन होता है ॥ ३४ ॥

जिनके प्राण-धारण करना बाकी नहीं रहा है—जिनके उसका सर्वथा अभाव हो गया है—वे देहसे भिन्न और वचनसे अगोचर सिद्ध जीव हैं ॥ ३५ ॥

वास्तवमें देखा जाय तो सिद्धपद उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किसी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नहीं है। इसी तरह वह किसीके प्रति कारणभूत भी नहीं है, क्योंकि उसकी अन्य किसी संबंधसे प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

यदि मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही न हो तो फिर शाश्वत, अशाश्वत, भव्य, अभव्य, शून्य, अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान ये भाव ही किसके हों ? ॥ ३७ ॥

कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं; कोई जीव कर्म-संबंधके कर्तृत्वका वेदन करते हैं; और कोई जीव मात्र शुद्ध ज्ञानके ही स्वभावका वेदन करते हैं—इस तरह वेदकभावसे जीवोंके तीन भेद हैं ॥ ३८ ॥

स्थावरकायिक जीव अपने अपने किये हुए कर्मोंके फलका वेदन करते हैं। त्रस जीव कर्मबंधचेतनाका वेदन करते हैं; और प्राणोंसे रहित अतीन्द्रिय जीव शुद्धज्ञान चेतनाका वेदन करते हैं ॥३९॥

ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है। उसे जीवसे सर्व कालमें अभिन्न समझना चाहिये ॥ ४० ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, और केवलके भेदसे ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं ॥ ४१ ॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अविनाशी अनंत केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं ॥ ४२ ॥

आत्मा कुछ ज्ञान गुणके संबंधसे ज्ञानी है, यह बात नहीं है। परमार्थसे तो दोनोंकी अभिन्नता ही है ॥ ४३ ॥

यदि द्रव्य भिन्न हो और गुण भिन्न हो, तो एक द्रव्यके अनंत द्रव्य हो जाँय, अथवा द्रव्यका ही अभाव हो जाय ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुण अभिन्नरूपसे रहते हैं—दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है। उनमें ऐसी एकता है कि द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है, और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ॥ ४५ ॥

व्यपदेश (कथन), संस्थान, संख्या और विषय इन चार प्रकारकी विवक्षाओंसे द्रव्य और गुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु परमार्थनयसे तो इन चारोंका अभेद ही है ॥ ४६ ॥

जिस तरह किसी पुरुषके पास यदि धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, उसी तरह आत्माको ज्ञान होनेसे वह ज्ञानवान कही जाती है। इस तरह तत्त्वज्ञ पुरुष भेद-अभेदके स्वरूपको दोनों प्रकारोंसे जानते हैं ॥ ४७ ॥

यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन ही हो जाँय—यह वीतराग सर्वज्ञका सिद्धान्त है ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा मानें कि ज्ञानका संबंध होनेसे ही आत्मा ज्ञानी होती है, तो फिर आत्मा और अज्ञान (जडत्व) दोनों एक ही हो जाँयगे ॥ ४९ ॥

समवृत्तिको समवाय कहते हैं। वह अपृथक्भूत और अयुतसिद्ध है, इसलिये वीतरागियोंने द्रव्य और गुणके संबंधको अयुतसिद्ध कहा है ॥ ५० ॥

परमाणुके वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार गुण पुद्गलद्रव्यसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे ही वे पुद्गल द्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं ॥ ५१ ॥

इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अभिन्न हैं। व्यवहारसे ही उनका आत्मासे भेद कहा जाता है ॥ ५२ ॥

आत्मा (वस्तुरूपसे) अनादि-अनंत है, और संतानकी अपेक्षा सादि-सांत है, इसी तरह वह सादि-अनंत भी है। पाँच भावोंकी प्रधानतासे ही वे सब भंग होते हैं। सत्तारूपसे तो जीव द्रव्य अनंत हैं ॥ ५३ ॥

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवका उत्पाद परस्पर विरुद्ध होने पर भी, जिस तरह अविरोधरूपसे सिद्ध होता है, उस तरह सर्वज्ञ वीतरागने कहा है ॥ ५४ ॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत्भावका उत्पाद करती हैं ॥ ५५ ॥

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत विस्तार है ॥ ५६ ॥

द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर उदय आदि भावोंसे जीव परिणमन करता है, और भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म परिणमन करता है; द्रव्यभाव कर्म एक दूसरेके भावके कर्त्ता नहीं हैं, तथा वे किसी कर्त्ताके विना नहीं होते ॥ ५७ ॥

सब अपने अपने स्वभावके कर्त्ता हैं; उसी तरह आत्मा भी अपने ही भावकी कर्त्ता है; आत्मा पुद्गलकर्मकी कर्त्ता नहीं है—ये वीतरागके वाक्य समझने चाहिये ॥ ५८ ॥

यदि कर्म ही कर्मका कर्ता हो, और आत्मा ही आत्माकी कर्ता हो, तो फिर उस कर्मके फलका भोग कौन करेगा ? और कर्म अपने फलको किसे देगा ? ॥ ५९ ॥

कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणमन करता है, और जीव अपने स्वभावके अनुसार भावकर्मका कर्ता है ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण लोक पुद्गल-समूहोंसे—सूक्ष्म और बादर विविध प्रकारके अनंत स्कंधोंसे—अतिशय गाढ़रूपसे भरा हुआ है ॥ ६१ ॥

आत्मा जिस समय अपने भावकर्मरूप स्वभावको करती है, उस समय वहाँ रहनेवाले पुद्गल-परमाणु अपने स्वभावके कारण द्रव्यकर्मभावको प्राप्त होते हैं, तथा परस्पर एकक्षेत्र अवगाहरूपसे अतिशय गाढ़रूप हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

कोई कर्त्ता न होनेपर भी, जिस तरह पुद्गलद्रव्यसे अनेक स्कंधोंकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे स्वाभाविकरूपसे ही परिणमन करता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६३ ॥

जीव और पुद्‌गल-समूह परस्पर मजबूतरूपसे संबद्ध हैं। यथाकाल उदय आनेपर उससे जीव सुख-दुःखरूप फलका वेदन करता है ॥ ६४ ॥

इस कारण जीव कर्मभावका कर्त्ता है, और भोक्ता भी वही है। वेदकभावके कारण वह कर्मफलका अनुभव करता है ॥ ६५ ॥

इस तरह आत्मा अपने भावसे ही कर्त्ता और भोक्ता होती है। मोहसे चारों ओरसे आच्छादित यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ६६ ॥

(मिथ्यात्व) मोहका उपशम होनेसे अथवा क्षय होनेसे, वीतराग-कथित मार्गको प्राप्त धीर शुद्ध ज्ञानाचारवंत जीव निर्वाणपुरीको गमन करता है ॥ ६७ ॥

एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, छह कायके भेदसे, सात भंगोंके उपयोगसे, आठ गुण अथवा आठ कर्मोंके भेदसे, नव तत्त्वोंके भेदसे और दश स्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है ॥ ६८-६९ ॥

प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधसे सर्वथा मुक्त होनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। संसार अथवा कर्मावस्थामें जीव विदिशाको छोड़कर अन्य दिशाओंमें गमन करता है ॥ ७० ॥

स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश, और परमाणु इस तरह पुद्गल-अस्तिकायके चार भेद जानने चाहिये ॥ ७१ ॥

सकल समस्त लक्षणवालेको स्कंध, उसके आधे भागको देश, उसके आधे भागको प्रदेश, और जिसका कोई भाग न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं ॥ ७२ ॥

बादर और सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त स्कंधोंमें पूरण (बढ़ना) और गलन (कम होना) स्वभाव होनेके कारण परमाणु पुद्गलके नामसे कहा जाता है। उसके छह भेद हैं, उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ७३ ॥

सर्व स्कंधोंका जो सबसे अन्तिम भेद कहा है वह परमाणु है। वह सत्, असत्, एक, अविभागी और मूर्त होता है ॥ ७४ ॥

जो विवक्षासे मूर्त्त है और चार धातुओंका कारण है, उसे परमाणु समझना चाहिये। वह परिणमन-स्वभावसे युक्त है, स्वयं शब्दरहित है परन्तु शब्दका कारण है ॥ ७५ ॥

स्कंधसे शब्द उत्पन्न होता है। अनंत परमाणुओंके मिलाप (संघात) के समूहको स्कंध कहते हैं। इन स्कंधोंके परस्पर स्पर्श होनेसे (संबद्ध होनेसे) निश्चयसे शब्द उत्पन्न होता है ॥७६॥

वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अवकाश (आश्रय) प्रदान करता है, स्वयं एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके बाद अवकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको (आकाशकी तरह) अवकाश प्रदान नहीं करता, स्कंधके भेदका कारण है, स्कंधके खंडका कारण है, स्कंधका कर्त्ता है और कालके परिमाण (माप) और संख्या (गणना) का हेतु है ॥ ७७ ॥

जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, एक प्रदेशात्मक शब्दरहित है, जिसका स्कंधरूप परिणमन होनेपर भी जो उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

जो इन्द्रियोंद्वारा उपभोग्य हैं, तथा काया मन और कर्म आदि जो जो अनंत अमूर्त्त पदार्थ हैं, उन सबको पुद्गलद्रव्य समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है, सकल लोक-प्रमाण है, तथा अखंड, विस्तीर्ण और असंख्यात प्रदेशात्मक है ॥ ८० ॥

वह निरंतर अनंत अगुरुलघु गुणरूपसे परिणमन करता है; गति-क्रियायुक्त पदार्थोंको कारणभूत है, स्वयं कार्यरहित है, अर्थात् वह द्रव्य किसीसे भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ८१ ॥

जिस तरह मछलीको गमन करनेमें जल उपकारक होता है, उसी तरह जो जीव और पुद्गल द्रव्यकी गतिका उपकार करता है, उसे धर्मास्तिकाय समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय भी स्वतंत्र द्रव्य है। वह पृथ्वीकी तरह स्थिति-क्रियायुक्त जीव और पुद्गलको कारणभूत है ॥ ८३ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे लोक अलोकका विभाग होता है। ये धर्म और अधर्म द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा जुदे जुदे हैं; स्वयं हलन-चलन क्रियासे रहित हैं; और लोक-प्रमाण हैं ॥ ८४ ॥

धर्मास्तिकाय कुछ जीव और पुद्गलको स्वयं चलाता है, यह बात नहीं है। परन्तु जीव पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं, वह उन्हें केवल सहायकमात्र होता है ॥ ८५ ॥

जो सब जीवोंको और शेष पुद्गलोंको सम्पूर्ण अवकाश प्रदान करता है, उसे लोकाकाश कहते हैं ॥ ८६ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अधर्मद्रव्य लोकसे अभिन्न हैं, अर्थात् वे लोकमें ही हैं—लोकके बाहर नहीं हैं। आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनंत है, उसे अलोक कहते हैं ॥ ८७ ॥

यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अभावके कारण सिद्धभगवान्का अलोकमें भी गमन हो जाता ॥ ८८ ॥

इस कारण सर्वज्ञ वीतरागदेवने सिद्धभगवान्का स्थान ऊर्ध्वलोकके अंतमें बताया है। इस कारण आकाशको गमन और स्थानका कारण नहीं समझना चाहिये ॥ ८९ ॥

यदि गमन अथवा स्थानका हेतु आकाश होता, तो अलोककी हानि हो जाती और लोकके अंतकी वृद्धि हो जाती ॥ ९० ॥

इस कारण धर्म और अधर्म द्रव्य ही गमन और स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं। इस तरह सर्वज्ञ वीतरागने श्रोता जीवोंको लोकके स्वभावका वर्णन किया है ॥ ९१ ॥

धर्म, अधर्म और लोकाकाश अपृथक्भूत (एक क्षेत्रावगाही) और सदृश परिणामवाले हैं। ये तीनों द्रव्य निश्चयसे पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं, और अपनी अपनी सत्तासे रहते हैं। इस तरह इनमें एकता और अनेकता दोनों हैं ॥ ९२ ॥

आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त्त हैं, और पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। उनमें जीव द्रव्य चेतन है ॥ ९३ ॥

जिस तरह जीव और पुद्गल एक दूसरेको क्रियाके सहायक हैं, उस तरह दूसरे द्रव्य सहायक नहीं हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियावान होता है। कालके कारण पुद्गल अनेक स्कंधरूपसे परिणमन करता है ॥ ९४ ॥

जीवको जो इन्द्रिय-ग्राह्य विषय है वह पुद्गलद्रव्य मूर्त्त है, बाकीके सब अमूर्त्त हैं। मन अपने विचारके निश्चितरूपसे दोनोंको जानता है ॥ ९५ ॥

काल परिणामसे उत्पन्न होता है। परिणाम कालसे उत्पन्न होता है। दोनोंका ऐसा ही स्वभाव है। निश्चयकालसे क्षणभंगुरकाल होता है ॥ ९६ ॥

काल शब्द अपने अस्तित्वका बोधक है। उसमें एक नित्य है और दूसरा उत्पाद और व्ययवाला है ॥ ९७ ॥

काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल तथा जीव इन सबकी द्रव्य संज्ञा है। कालकी अस्तिकाय संज्ञा नहीं है ॥ ९८ ॥

इस प्रकार निर्ग्रंथके प्रवचनके रहस्यभूत इस पंचास्तिकायके स्वरूपके संक्षिप्त विवेचनको यथार्थरूपसे जानकर, जो राग-द्वेषसे मुक्त होता है वह सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९९ ॥

इस परमार्थको जानकर जिसने मोहका नाश कर दिया है, जिसने राग-द्वेषको शांत कर दिया है, वह जीव संसारकी दीर्घ परम्पराका नाश करके शुद्ध आत्मपदमें लीन होता है ॥ १०० ॥

इति पंचास्तिकाय प्रथम अध्याय.

ॐ जिनाय नमः—नमः श्रीसद्गुरवे.

मोक्षके कारण श्रीभगवान्महावीरको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उस भगवान्के कहे हुए पदार्थोंके भेदरूप मोक्षके मार्गको कहता हूँ ॥ १ ॥

दर्शन ज्ञान तथा राग-द्वेषरहित चारित्र, और सम्यक्बुद्धि जिसे प्राप्त हुई है, ऐसे भव्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ २ ॥

तत्त्वार्थकी प्रतीति सम्यक्त्व है; उन भावोंका जानना ज्ञान है; और विषय-मार्गके प्रति शांत-भाव होना चारित्र है ॥ ३ ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं ॥ ४ ॥

जीव दो प्रकारके होते हैं:—संसारी और असंसारी। दोनोंका लक्षण चैतन्योपयोग है। संसारी जीव देहसहित और असंसारी देहरहित होते हैं ॥ ५ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये जीवोंसे युक्त हैं। इन जीवोंको मोहकी प्रबलता रहती है, और उन्हें स्पर्शन इन्द्रियके विषयका ज्ञान मौजूद रहता है ॥ ६ ॥

उनमें तीन प्रकारके जीव स्थावर हैं। अल्प योगवाले अग्निकाय और वायुकाय जीव त्रस हैं। उन सबको मनके परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ७ ॥

ये पाँचों प्रकारके जीव मन-परिणामसे रहित और एकेन्द्रिय हैं, ऐसा सर्वज्ञने कहा है ॥ ८ ॥

जिस तरह अण्डेमें पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्यके गर्भमें मूर्च्छागत अवस्था होनेपर भी जीवत्व मौजूद है, उसी तरह एकेन्द्रिय जीवोंको भी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

शंबूक, शंख, सीप, कृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें दो इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १० ॥

जूँ, मकड़ी, चींटी, बिच्छू इत्यादि, और अनेक प्रकारके दूसरे भी जो कीड़े रस स्पर्श और गंधको जानते हैं, उन्हें तीन इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ११ ॥

डाँस, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग इत्यादि जो रूप, रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें चार इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १२ ॥

देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच (जलचर, स्थलचर और खेचर) ये वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं। ये बलवान पाँच इन्द्रियोंवाले जीव हैं ॥ १३ ॥

देवताओंके चार निकाय होते हैं। मनुष्य कर्म और अकर्मभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यंच अनेक प्रकारके हैं। नारकी जीवोंकी जितनी पृथिवी-योनियाँ हैं, उतनी ही उनकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

पूर्वमें बाँधी हुई आयुके क्षीण हो जानेसे जीव गति नामकर्मके कारण आयु और लेश्याके वश होकर दूसरी देहमें जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह देहाश्रित जीवोंके स्वरूपके विचारका निर्णय किया। उनके भव्य और अभव्यके भेदसे दो भेद हैं। देहरहित सिद्धभगवान् हैं ॥ १६ ॥

जो सब कुछ जानता है, देखता है, दुःखका नाश करके सुखकी इच्छा करता है, शुभ और अशुभ कर्म करता है और उसके फलको भोगता है, वह जीव है ॥ १७ ॥

आकाश, काल, पुद्गल और धर्म अधर्म द्रव्यमें जीवत्व गुण नहीं है, उन्हें अचेतन कहते हैं; और जीवको सचेतन कहते हैं ॥ १८ ॥

सुख-दुःखका वेदन, हितमें प्रवृत्ति, अहितमें भीति, ये तीनों कालमें जिसे नहीं हैं, उसे सर्वज्ञ महामुनि अजीव कहते हैं ॥ १९ ॥

संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाली अनेक गुण-पर्याय हैं ॥ २० ॥

अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अनिर्दिष्ट संस्थान, और वचनके अगोचर जिसका चैतन्य गुण है, वह जीव है ॥ २१ ॥

जो निश्चयसे संसारमें स्थित जीव है, उसके दो प्रकारके परिणाम होते हैं। परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, और उससे अच्छी और बुरी गति होती है ॥ २२ ॥

गतिकी प्राप्तिसे देह उत्पन्न होती है, देहसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

संसार-चक्रवालमें उन भावोंसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमें किसी जीवका संसार अनादि-सांत है, और किसीका अनादि-अनंत है—ऐसा भगवान् सर्वज्ञने कहा है ॥ २४ ॥

जिसके भावोंमें अज्ञान, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं ॥ २५ ॥

जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है। उससे शुभाशुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मावस्था प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

तृषातुरको, क्षुधातुरको, रोगीको अथवा अन्य किसी दुःखी चित्तवाले जीवको, उसके दुःख दूर करनेके उपायकी क्रिया करनेको अनुकंपा कहते हैं ॥ २७ ॥

जीवको क्रोध, मान, माया, और लोभकी मिठास क्षुभित कर देती है, और वह पाप-भावकी उत्पत्ति करती है ॥ २८ ॥

बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इन्द्रियके विषयोंमें लुब्धता, दूसरे जीवोंको दुःख देना, उनकी निन्दा करनी इत्यादि आचरणोंसे जीव पापाश्रव करता है ॥ २९ ॥

चार संज्ञायें, कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, इन्द्रियाधीनत्व, आर्त्त और रौद्र ध्यान, और दुष्टभाववाली क्रियाओंमें मोह होना—यह भावपापाश्रव है ॥ ३० ॥

जीवको, इन्द्रियाँ कषाय और संज्ञाका जय करनेवाला कल्याणकारी मार्ग जिस कालमें रहता है, उस कालमें जीवको पापाश्रवरूप छिद्रका निरोध हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

जिसे किसी भी द्रव्यके प्रति राग द्वेष और अज्ञान नहीं रहता, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्ग्रन्थ महात्माको शुभ-अशुभ आश्रव नहीं होता ॥ ३२ ॥

योगका निरोध करके जो तपश्चर्या करता है, वह निश्चयसे बहुत प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥ ३३ ॥

जिस संयमीको जिस समय योगमें पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती, उस समय उसे शुभ और अशुभ कर्मके कर्तृत्वका भी संवर—निरोध—हो जाता है ॥ ३४ ॥

जो आत्मार्थका साधन करनेवाला, संवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है, वह महात्मा साधु कर्म-रजको झाड़ डालता है ॥ ३५ ॥

जिसे राग, द्वेष, मोह और योगका व्यापार नहीं रहता, उसे शुभाशुभ कर्मको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है ॥ ३६ ॥

जो, दर्शन-ज्ञानसे भरपूर और अन्य द्रव्यके संसर्गसे रहित ऐसे ध्यानको, निर्जराके हेतुसे करता है, वह महात्मा स्वभावसहित है ॥ ३७ ॥

जो संवरयुक्त होकर सर्व कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुकर्मसे रहित होता है, वह महात्मा उसी भवसे मोक्ष जाता है ॥ ३८ ॥

जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है। उसके अभिन्नस्वरूप आचरण करनेको (शुद्ध निश्चयमय स्थिर स्वभावको) सर्वज्ञ वीतरागदेवने निर्मल चारित्र कहा है ॥ ३९ ॥

वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है; परन्तु गुण और पर्याययुक्त होकर उसने पर-समय परिणामसे अनादिसे परिणमन किया है, इसलिये वह अनिर्मल है। यदि वह आत्मा स्व-समयको प्राप्त कर ले तो कर्म-बंधसे रहित हो जाय ॥ ४० ॥

जो पर-द्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है, वह जीव स्व-चारित्रसे भ्रष्ट होता है, और वह पर-चारित्रका आचरण करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

जिस भावसे आत्माको पुण्य और पाप-आश्रवकी प्राप्ति हो, उसमें प्रवृत्ति करनेवाली आत्मा पर-चारित्रमें आचरण करती है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञने कहा है ॥ ४२ ॥

जो सर्व संगसे मुक्त होकर, अभिन्नरूपसे आत्म-स्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता द्रष्टा है, वह जीव स्व-चारित्रका आचरण करनेवाला है ॥ ४३ ॥

पर-द्रव्यमें भावसे रहित, निर्विकल्प ज्ञान-दर्शनमय परिणामयुक्त जो आत्मा है, वह स्व-चारित्र आंचरण है ॥ ४४ ॥

जिसे सम्यक्त्व, आत्मज्ञान, राग-द्वेषसे रहित चारित्र और सम्यक्बुद्धि प्राप्त हो गई है, ऐसे भव्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ ४५ ॥

तत्त्वार्थमें प्रतीति होना सम्यक्त्व है। तत्त्वार्थका ज्ञान होना ज्ञान है; और विषयके मोहयुक्त मार्गके प्रति शांतभाव होना चारित्र है ॥ ४६ ॥

धर्मास्तिकाय आदिके स्वरूपकी प्रतीति होना सम्यक्त्व है, बारह अंग और चौदह पूर्वका जानना ज्ञान है, तथा तपश्चर्या आदिमें प्रवृत्ति करना व्यवहार मोक्षमार्ग है ॥ ४७ ॥

जहाँ सम्यग्दर्शन आदिसे एकाग्रभावको प्राप्त आत्मा, एक आत्माके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करती, केवल अभिन्न आत्मामय ही रहती है, वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने निश्चय मोक्षमार्ग कहा है ॥४८॥

जो आत्मा आत्म-स्वभावमय ज्ञान-दर्शनका अभेदरूपसे आचरण करती है, वह स्वयं ही निश्चय ज्ञान दर्शन और चारित्र है ॥ ४९ ॥

जो इस सबको जानेगा और देखेगा, वह अव्याबाध सुखका अनुभव करेगा। इन भावोंकी प्रतीति भव्यको ही होती है, अभव्यको नहीं होती ॥ ५० ॥

दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मोक्षमार्ग है; उसके सेवन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; और (अमक कारणसे) उससे बंध भी होता है, ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ ५१ ॥

अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, गण और ज्ञानमें भक्तिसंपन्न जीव बहुत पुण्यका उपार्जन करता है, परन्तु वह सब कर्मोंका क्षय नहीं करता ॥ ५२ ॥

जिसके हृदयमें पर-द्रव्यके प्रति अणुमात्र भी राग रहता है, वह यदि सब आगमोंका जाननेवाला हो तो भी वह स्व-समयको नहीं जानता, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

इसलिये सब इच्छाओंसे निवृत्त होकर निःसंग और निर्ममत्व होकर जो सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

परमेष्ठीपदमें जिसे तत्त्वार्थकी प्रतीतिपूर्वक भक्ति है, और जिसकी बुद्धि निर्ग्रंथ-प्रवचनमें रुचिपूर्वक प्रविष्ट हुई है, तथा जो संयम-तपसहित आचरण करता है, उसे मोक्ष कुछ भी दूर नहीं है ॥५५॥

जो अर्हत्की, सिद्धकी, चैत्यकी और प्रवचनकी भक्तिसहित तपश्चर्या करता है, वह नियमसे देवलोकको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

इस कारण इच्छामात्रकी निवृत्ति करो। कहीं भी किंचिन्मात्र भी राग मत करो। क्योंकि वीतराग भव-सागरको पार हो जाता है ॥ ५७ ॥

मैंने प्रवचनकी भक्तिसे उत्पन्न प्रेरणासे, मार्गकी प्रभावनाके लिये, प्रवचनके रहस्यभूत पंचास्तिकायके संग्रहरूप इस शास्त्रकी रचना की है ॥ ५८ ॥

इति पंचास्तिकाय समाप्त.

---

७०१ ववाणीआ, फाल्गुन वदी ११॥ मंगल १९५३

संवत् १९५३ को फाल्गुन वदी १२ भौमवार—

जिन	मुख्य	आचार्य.
सिद्धांत	पद्धति	धर्म.
शांतरस	अहिंसा	मुख्य.
लिंगादि	व्यवहार	जिनमुद्रा-सूचक.
मतांतर	समावेश	
शांतरस	प्रवहन	
जिन	अन्यको	धर्मप्राप्ति.
लोक आदि स्वरूप—	संशयकी	निवृत्ति—समाधान.
जिन	प्रतिमा	कारण.

कुछ गृह-व्यवहारको शांत करके परिगृह आदि कार्यसे निवृत्त होना चाहिये।

अप्रमत्त गुणस्थानतक पहुँचना चाहिये। सर्वथा भूमिकाका सहजपरिणामी ध्यान—

---

७०२ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १२ भौम. १९५३

श्रीमद्राजचन्द्र-स्व-आत्मदशा-प्रकाश

अहा! इस दिनको धन्य है, जो अपूर्व शान्ति जाग्रत हुई है। दस वर्षकी अवस्थामें यह धारा उल्लसित हुई और उदय-कर्मका गर्व दूर हो गया। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ १ ॥

७०२

धन्य रे दिवस आ अहो, जागी जे रे शांति अपूर्व रे,
दश वर्षे रे धारा उल्लसी, मट्यो उदय कर्मनो गर्व रे। धन्य० ॥ १ ॥

संवत् उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्व क्रम प्राप्त हुआ; और उन्नीससौ बियालिसमें अद्भुत वैराग्य-धारा प्रकाशित हुई। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

संवत् उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ; श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया। उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा। ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगाते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रंचमात्र भी कम न होता था। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई। इस समय वह कुछ क्षीण माल्म होती है। मनमें ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा! यह कैसी अपूर्व वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बाकी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है। इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा। अहा! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

---

७०३ ववाणीआ, चैत्र सुदी ३ रवि. १९५३

रहस्यदृष्टि अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेपसे परिषह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्को वारम्बार नमस्कार हो!

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये।

ओगणीसें ने एकतालीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसें ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे। धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसें ने सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा, निजस्वरूप अवभास्युं रे। धन्य० ॥ ३ ॥
त्यां आव्यो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रंच रे। धन्य० ॥ ४ ॥
वधतुं एम ज चालियुं, हवे दीसे क्षीण कांई रे,
क्रमे करीने रे ते जशे, एम भासे मनमांहि रे। धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
थशे अवश्य आ देहथी, एम थयो निरधार रे। धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्व वृत्ति अहो, थशे अप्रमत्त योग रे,
केवळ लगभग भूमिका, स्पर्शीने देह वियोग रे। धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारिने, जाशु स्वरूप स्वदेश रे। धन्य० ॥ ८ ॥

(१) शंका:—मुनि·······को आचारांग पढ़ते हुए शंका हुई है कि साधुको दीर्घशंका आदि कारणोंमें भी बहुत सख्त मार्गका प्ररूपण देखनेमें आता है, तो ऐसी ऐसी अल्प क्रियाओंमें भी इतनी अधिक सख्ती रखनेका क्या कारण होगा?

समाधान:—सतत अन्तर्मुख उपयोगमें स्थिति रखना ही निर्ग्रंथका परम धर्म है। एक समय भी उस उपयोगको बहिर्मुख न करना चाहिये, यही निर्ग्रंथका मुख्य मार्ग है। परन्तु उस संयमके लिये जो देह आदि साधन बताये हैं, उनके निर्वाहके लिये सहज ही प्रवृत्ति भी होना उचित है। तथा उस तरहकी कुछ भी प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है। इस कारण उस प्रवृत्तिके इस तरह ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है कि जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगके प्रति रहा करे। यद्यपि केवल और सहज अन्तर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानमें ही होता है; किन्तु अनिर्मल विचारधाराकी प्रबलतासहित अंतर्मुख उपयोग तो सातवें गुणस्थानमें भी होता है। वहाँ वह उपयोग प्रमादसे स्खलित हो जाता है, और यदि वह उपयोग वहाँ कुछ विशेष अंशमें स्खलित हो जाय तो उपयोगके विशेष बहिर्मुख हो जानेसे उसकी असंयम-भावसे प्रवृत्ति होती है। उसे न होने देनेके लिये, और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी ऐसी है जो छोड़ी नहीं जा सकती इस कारण, जिससे वह प्रवृत्ति अन्तर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत संकलनासे उस प्रवृत्तिका उपदेश किया है। इसे पाँच समितिके नामसे कहा जाता है।

जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक चलना पड़े तो चलना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञापूर्वक बोलना पड़े तो बोलना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोग-पूर्वक आहार आदि ग्रहण करना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक वस्त्र आदिको लेना रखना; जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक दीर्घशंका आदि त्याग करने योग्य शरीरके मलका त्याग करना—इस प्रकार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ कहीं हैं। संयममें प्रवृत्ति करनेके जो जो दूसरे प्रकारोंका उपदेश दिया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है। अर्थात् जो कुछ निर्ग्रंथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की है वह, जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिको करनेकी आज्ञा की है; और वह इस प्रकारसे ही की है कि जिस तरह मुख्य हेतु जो अंतर्मुख उपयोग है उसमें अस्खलित भाव रहे। यदि इसी तरह प्रवृत्ति की जाय तो उपयोग सतत जाग्रत रह सकता है, और जिस जिस समय जीवकी जितनी जितनी ज्ञान-शक्ति और वीर्य-शक्ति है वह सब अप्रमत्त रह सकती है।

दीर्घशंका आदि क्रियाओंको करते हुए भी जिससे अप्रमत्त संयमदृष्टि विस्मृत न हो जाय, इसलिये उन सख्त क्रियाओंका उपदेश किया है, परन्तु वे सत्पुरुषकी दृष्टि बिना समझमें नहीं आतीं। यह रहस्यदृष्टि संक्षेपमें लिखी है, उसपर अधिकाधिक विचार करना चाहिये। किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका लक्ष रखना योग्य है।

जो जो ज्ञानीकी आज्ञारूप क्रियायें हैं, उन सब क्रियाओंमें यदि तथारूप भावसे प्रवृत्ति की जाय तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका साधन है। इस आशययुक्त इस पत्रका ज्यों ज्यों विशेष विचार करोगे, त्यों त्यों अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा।

(२) हमेशा अमुक शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् इस पत्रके विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञान हो सकता है।

(३) कर्मग्रन्थका बाँचन करना चाहिये। उसके पूरे होनेपर उसका फिरसे आवृत्तिपूर्वक अनुप्रेक्षण करना योग्य है।

७०४

वत्राणीआ, चैत्र सुदी ४, १९५२

(१)

१. एकेन्द्रिय जीवको जो अनुकूल स्पर्श आदिकी अव्यक्तरूपसे प्रियता है, वह मैथुनसंज्ञा है।

२. एकेन्द्रिय जीवको जो देह और देहके निर्वाह आदि साधनोंमें अव्यक्त मूर्च्छा है, वह परिग्रह-संज्ञा है। वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवोंमें यह संज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है।

(२)

(१) तीनों प्रकारके समकितमेंसे चाहे किसी भी प्रकारका समकित आविर्भूत हो, तो भी अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष हो जाती है; और यदि समकित होनेके पश्चात् जीव उसका वमन कर दे तो उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तनतक संसारमें परिभ्रमण होकर मोक्ष हो सकती है।

(२) तीर्थंकरके निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनी, श्रावक और श्राविका—इन सबको जीव-अजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो केवल सच्चे अंतरग भावसे तीर्थंकरकी और उनके उपदेश दिए हुए मार्गकी प्रतीति थी, इस कारण भी उन्हें समकित कहा है। इस समकितके प्राप्त करनेके पश्चात् जीवने यदि उसे वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक उसके पन्दरह भव होते हैं। सिद्धांतमें अनेक स्थलोंपर यथार्थ मोक्षमार्गको प्राप्त सत्पुरुषकी यथार्थ प्रतीतिसे ही समकित कहा है। इस समकितके उत्पन्न हुए विना, जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। जीव और अजीवके ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है।

(३) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान, इन आठोंको जीवके उपयोगस्वरूप होनेसे अरूपी कहा है। ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें इतना ही मुख्य अंतर है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह ज्ञान है, और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है, वह अज्ञान है; वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म और अज्ञान दोनों एक नहीं हैं। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको आवरण-स्वरूप है, और अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमस्वरूप अर्थात् आवरण दूर होनेरूप है।

(५) अज्ञान शब्दका अर्थ साधारण भाषामें ज्ञानरहित होता है—उदाहरणके लिये जड़ ज्ञानसे रहित कहा जाता है; परन्तु निर्ग्रंथ-भाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम ही अज्ञान है; अर्थात् उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है।

(६) यहाँ शंका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो वह फिर सिद्धमें भी होना चाहिये। उसका समाधान इस प्रकारसे है:—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है। उसमेंसे मिथ्यात्व नष्ट हो जानेसे ज्ञान बाकी बच जाता है। वह ज्ञान सम्पूर्ण शुद्धतासहित सिद्धभगवान्में रहता

ही है। सिद्धका केवलज्ञानीका और सम्यक्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। जीवको मिथ्यात्व भ्रांतिस्वरूप है। उस भ्रांतिके यथार्थ समझमें आ जानेपर उसकी निवृत्ति हो सकती है। मिथ्यात्व दिशाकी भ्रांतिरूप है।

(३)

ज्ञान जीवका स्वभाव है इसलिये वह अरूपी है, और ज्ञान जबतक विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तबतक उसे अज्ञान ही कहना चाहिये, ऐसी निर्ग्रंथकी परिभाषा है। परन्तु यहाँ ज्ञानके दूसरे नामको ही अज्ञान समझना चाहिये।

शंकाः—यदि ज्ञानका ही दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होनी चाहिये। तथा जिस तरह मुक्त जीवोंमें ज्ञान बताया गया है, उसी तरह उनमें अज्ञान भी कहना चाहिये।

समाधानः—जैसे कोई डोरा गाँठके पड़नेसे उलझा हुआ और गाँठके खुल जानेसे उलझन-रहित कहा जाता है; यद्यपि देखा जाय तो डोरे दोनों ही हैं, फिर भी गाँठके पड़ने और खुल जानेकी अपेक्षा ही उन्हें उलझा हुआ और उलझनरहित कहा जाता है; उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानको 'अज्ञान' और सम्यग्ज्ञानको 'ज्ञान' कहा गया है। परन्तु मिथ्यात्वज्ञान कुछ जड़ है और सम्यग्ज्ञान चेतन है, यह बात नहीं है। जिस तरह गाँठवाला डोरा और बिना गाँठका डोरा दोनों ही डोरे हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे संसार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होती है। जैसे यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोसपर किसी गाँवमें जानेके लिये प्रस्थित कोई मनुष्य, यदि दिशाके भ्रमसे पूर्वके बदले पश्चिम दिशामें चला जाय, तो वह पूर्व दिशावाले गाँवमें नहीं पहुँच सकता; परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ चलने-रूप ही क्रिया नहीं की; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी, जिसने देह और आत्माको एक समझ लिया है, वह जीव देह-बुद्धिसे संसार-परिभ्रमण करता है; परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ जाननेरूप ही कार्य नहीं किया। उक्त जीव जो पूर्वसे पश्चिमकी ओर गया है—यह जिस तरह पूर्वको पश्चिम मान लेनेरूप भ्रम है; उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक मानना भ्रम ही है। परन्तु पश्चिमकी ओर जाते हुए—चलते हुए—जिस तरह चलनेरूप स्वभाव तो रहता ही है, उसी तरह देह और आत्माको एक समझनेमें भी जाननेरूप स्वभाव तो रहता ही है। जिस तरह यहाँ पूर्वकी जगह पश्चिमको ही पूर्व मान लेनेरूप जो भ्रम है वह भ्रम, तथारूप सामग्रीके मिलनेसे समझमें आ जानेसे जब पूर्व पूर्व समझमें आता है और पश्चिम पश्चिम समझमें आता है, उस समय दूर हो जाता है, और पथिक पूर्वकी ओर चलने लगता है; उसी तरह जिसने देह और आत्माको एक मान रक्खा है, वह सद्गुरु-उपदेश आदि सामग्रीके मिलनेपर, जब यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है कि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं, उस समय उसका भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग होता है। जैसे भ्रममें पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मान लेनेपर भी, पूर्व पूर्व ही था और पश्चिम पश्चिम ही था, केवल भ्रमके कारण ही वह विपरीत भासित होता था; उसी तरह अज्ञानमें भी, देह देह और आत्मा आत्मा होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत ज्ञान है। उसके यथार्थ समझनेमें आनेपर, भ्रमके निवृत्त हो जानेसे देह देह भासित होती है और आत्मा

आत्मा भासित होती है; और जो जाननेरूप स्वभाव विपरीत-भावको प्राप्त होता था, वह अब सम्यक्भावको प्राप्त होता है। जिस तरह वास्तवमें दिशा-भ्रम कुछ भी वस्तु नहीं है, और केवल गमनरूप क्रियासे इष्ट गाँवकी प्राप्ति नहीं होती; उसी तरह वास्तवमें मिथ्यात्व भी कोई चीज नहीं है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी रहता है; परन्तु बात इतनी ही है कि साथमें मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे निज-स्वरूपभावमें परम स्थिति नहीं होती। दिशा-भ्रमके दूर हो जानेसे इच्छित गाँवकी ओर फिरनेके बाद मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, और निजस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमें स्थिति हो सकती है, इसमें किसी भी सन्देहको कोई अवकाश नहीं है।

---

७०५ ववाणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५३

तीनों समकितमेंसे किसी भी एक समकितको प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पन्दरह भवमें मोक्ष प्राप्त करता है; और कमसे कम उसे उसी भवमें मोक्ष होती है; और यदि वह उस समकितका वमन कर दे तो वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तन कालतक संसार-परिभ्रमण करके मोक्ष प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके पश्चात् अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्त्तन संसार होता है।

यदि क्षयोपशम अथवा उपशम समकित हो तो जीव उसका वमन कर सकता है, परन्तु यदि क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जाता। क्षायिकसमकिती जीव उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करता है; यदि वह अधिक भव करे तो तीन भव करता है, और किसी जीवकी अपेक्षा तो कभी चार भव भी होते हैं। युगलियोंकी आयुके बंध होनेके पश्चात् यदि क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो तो चार भव होने संभव हैं—प्रायः किसी जीवको ही ऐसा होता है।

भगवान्के तीर्थंकर निर्ग्रंथ, निर्ग्रंथिनी, श्रावक और श्राविकाको कुछ सबको ही जीव-अजीवका ज्ञान था, और इस कारण उन्हें समकित कहा है, यह शास्त्रका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो, 'तीर्थंकर सच्चे पुरुष हैं, सच्चे मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं, और वे जिस तरह कहते हैं मोक्षमार्ग उसी तरह है,' ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्रीतीर्थंकरके आश्रयसे और निश्चयसे समकित कहा गया है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि और ऐसे आश्रयका तथा ऐसी आज्ञाका जो निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीव अजीवका ज्ञान ही है। 'पुरुष सच्चे मिले हैं और उनकी प्रतीति भी ऐसी सच्ची हुई है कि जिस तरह ये परमकृपालु कहते हैं, मोक्षमार्ग उसी तरह है—मोक्षमार्ग उसी तरह हो सकता है; उस पुरुषके लक्षण आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। तथा जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार किया जा सकता है' ऐसी सुविचारणा भी एक तरहसे गौणरूपसे जीव-अजीवका ही ज्ञान है।

उस प्रतीतिसे, उस रुचिसे और उस आश्रयसे बादमें जीवाजीवका स्पष्ट विस्तारसहित अनु-क्रमसे ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासना करनेसे, राग-द्वेषका क्षय होकर वीतराग-दशा होती है। तथारूप सत्पुरुषका प्रत्यक्ष योग हुए बिना यह समकित होना कठिन है। हाँ, उस पुरुषके वचनरूप शास्त्रोंसे पूर्वमें आराधक किसी जीवको समकित होना संभव है, अथवा कोई कोई आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके कारणसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराते हैं।

---

७०६ ववाणीआ, चैत्र सुदी ६ बुध. १९५३

वेशभूषामें ऊपरकी चटक-मटक न रखते हुए योग्य सादगीसे रहना ही अच्छा है। चटक-मटक रखनेसे कोई पाँचसौके वेतनके पाँचसौ एक नहीं कर सकता, और योग्य सादगीसे रहनेसे कोई पाँचसौके चारसौ निन्यानवें नहीं कर सकता।

(२) धर्मका लौकिक बड़प्पन, मान-महत्वकी इच्छा, यह धर्मका द्रोहरूप है।

धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्र आदिके भेजनेका निषेध करनेवाले—नगारा बजाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान-महत्व बड़प्पनका सवाल आता है वहाँ, इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसंबंधी मान आदिका सवाल ही मुख्य सवाल है—यह धर्मद्रोह ही है।

वीरचंद गांधीको विलायत भेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रंग हो तब अहोभाग्य है!

(३) प्रयोगके बहाने पशुवध करनेवाला, यदि रोग—दुःख—को दूर करे तो तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो वह बिचारे निरपराधी प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर अज्ञानतावश कर्मका उपार्जन करता है! पत्रकार भी विवेक-विचारके बिना ही इस कार्यकी पुष्टि करनेके लिये लिख मारते हैं।

---

७०७ ववाणीआ, चैत्र सुदी १० सोम. १९५३

१. औषध आदि, मिलनेपर, बहुतसे रोग आदिके ऊपर असर करती हैं। क्योंकि उस रोग आदिके हेतुका कुछ कर्म-बंध ही उस तरहका होता है। औषध आदिके निमित्तसे वह पुद्गल विस्तारसे फैलकर अथवा दूर होकर वेदनीयके उदयके निमित्तको छोड़ देता है। यदि उस रोग आदिका उस तरह निवृत्त होने योग्य कर्म-बंध न हो तो उसके ऊपर औषध आदिका असर नहीं होता, अथवा औषध आदि प्राप्त नहीं होती, अथवा औषध मिले भी तो सम्यक् औषध आदि प्राप्त नहीं होती।

२. अमुक कर्म-बंध किस प्रकारका है, उसे यथार्थ ज्ञानदृष्टिके बिना जानना कठिन है। अर्थात् औषध आदि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकांतसे निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि अपनी देहके संबंधमें कोई परम आत्म-दृष्टिवाला पुरुष उस तरह आचरण करे, अर्थात् वह औषध आदि ग्रहण न करे तो वह योग्य है। परन्तु दूसरे सामान्य जीव भी यदि उस तरह चलने लगें तो वह एकांतिक दृष्टि होनेसे कितनी ही हानि पहुँचानेवाला है। फिर उसमें भी अपने आश्रित जीवोंके प्रति अथवा दूसरे किन्हीं जीवोंके प्रति रोग आदि कारणोंमें उस तरहका उपचार करनेके व्यवहारमें प्रवृत्तिकी जा सकती है, फिर भी यदि कोई उपचार आदिके करनेकी उपेक्षा करे तो वह अनुकंपा-मार्गको छोड़ देना जैसा ही होता है। क्योंकि कोई जीव चाहे कितना ही पीड़ित हो फिर भी यदि उसे दिलासा देने तथा औषध आदि देनेके व्यवहारको न किया जाय, तो वह उसे आर्तध्यानके हेतु होने जैसा हो जाता है। गृहस्थ-व्यवहारमें ऐसी एकांतिक दृष्टि करनेसे बहुत विरोध आता है।

३. त्याग-व्यवहारमें भी ज्ञानीने एकांतसे उपचार आदिका निषेध नहीं किया। निर्ग्रन्थको यदि स्व-परिग्रहीत शरीरमें रोग आदि हो जाँय, तो औषध आदिके ग्रहण करनेके संबंधमें ऐसी आज्ञा है कि जबतक आर्त्तध्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे, तबतक औषध आदि ग्रहण न करनी चाहिये; और यदि औषध ग्रहण करनेका कोई विशेष कारण दिखाई दे तो निरवद्य औषध आदि ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथाशुभ औषध आदि ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ग्रंथको यदि शरीरमें रोग आदि हुआ हो, तो जहाँ उसकी वैयावृत्य आदिके करनेका क्रम प्रदर्शित किया है, वहाँ भी उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ विशेष अनुकंपा आदि दृष्टि रहे। अर्थात् इससे यह बात समझमें आ जायगी कि उसका गृहस्थ-व्यवहारमें एकांतसे त्याग करना असंभव है।

४. वे औषध आदि यदि कुछ भी पाप-क्रियासे उत्पन्न हुई हों, तो जिस तरह वे अपने औषध आदिके गुणको बिना दिखाये नहीं रहतीं, उसी तरह उसमें होनेवाली पाप-क्रिया भी अपने गुणको बिना दिखाये नहीं रहती। अर्थात् जिस तरह औषध आदिके पुद्गलोंमें रोग आदि पुद्गलोंके पराभव करनेका गुण मौजूद है, उसी तरह उसके लिये की जानेवाली पाप-क्रियामें भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण मौजूद है; और उससे कर्म-बंध होकर यथावसर उस पाप-क्रियाका फल उदयमें आता है। उस पाप-क्रियावाली औषध आदिके करनेमें, करानेमें और अनुमोदन करनेमें, उस ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी देह आदिके प्रति मूर्छा है, जैसी मनकी आकुलता व्याकुलता है, जैसा आर्तध्यान है, तथा उस औषध आदिकी जैसी पाप-क्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर यथावसर फल देते हैं। जैसे रोग आदिका कारणरूप कर्म-बंध, जैसा अपना स्वभाव होता है, उसे वैसा ही प्रदर्शित करता है, और जैसे औषध आदिके पुद्गल अपने स्वभावको दिखाते हैं; उसी तरह औषध आदिकी उत्पत्ति आदिमें होनेवाली क्रिया, उसके कर्ताकी ज्ञान आदि वृत्ति, तथा उसके ग्रहण करनेवालेके जैसे परिणाम हैं, उसका जैसा ज्ञान आदि है, वृत्ति है, तदनुसार उसे अपने स्वभावका प्रदर्शित करना योग्य ही है। तथारूप शुभ शुभस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे फलदायक होता है।

५. गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोग आदि हो जानेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रह सके उतनी रखनी चाहिये, और यदि योग्य दृष्टिसे देखनेसे अवश्य ही आर्तध्यानका परिणाम आने योग्य दिखाई दे तो, अथवा आर्तध्यान उत्पन्न होता हुआ दिखाई दे तो, औषध आदि व्यवहारको ग्रहण करते हुए निरवद्य (निष्पाप) औषध आदिकी वृत्ति रखनी चाहिये। तथा क्वचित् अपने आपके लिये अथवा अपने आश्रित अथवा अनुकंपा-योग्य किन्हीं दूसरे जीवोंके लिये यदि सावद्य औषध आदिका ग्रहण हो तो यह लक्ष रखना उचित है कि उसका सावद्यपना निर्ध्वंस—क्रूर—परिणामके हेतुके समान, अथवा अधर्म मार्गको पोषण करनेवाला न होना चाहिये।

६. सब जीवोंको हितकारी ऐसी ज्ञानी-पुरुषकी वाणीको किसी भी एकांतदृष्टिसे ग्रहण करके उसे अहितकारी अर्थमें न उतारनी चाहिये, इस उपयोगको निरंतर स्मरणमें रखना उचित है।

---

७०८ ववाणीआ, चैत्र सुदी १५ शनि. १९५३

१. जो औषध वेदनीयके ऊपर असर करती है, वह औषध वास्तवमें वेदनीयके बंधको ही निवृत्त कर सकती है—ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि वह औषध यदि कर्मरूप वेदनीयका नाश करनेवाली हो तो फिर अशुभ कर्म ही निष्फल हो जाय, अथवा स्वयं औषध ही शुभ कर्मरूप कही जाय। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसका अन्यथाभाव होनेमें औषध आदि निमित्त-कारणरूप हो सकती हैं। मंद अथवा मध्यम और शुभ अथवा अशुभ बंधको किसी सजातीय कर्मके मिलनेसे वह उत्कृष्ट बंध भी हो सकता है। तथा जिस तरह मंद अथवा मध्यम बाँधे हुए कितने ही शुभ बंधका किसी अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणमन होता है; उसी तरह उस अशुभ बंधका किसी शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणमन भी होता है।

२. मुख्यरूपसे तो बंध परिणामके अनुसार ही होता है। उदाहरणके लिये यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यका तीव्र परिणामसे नाश करनेके कारण निकाचित कर्म बाँधे, परन्तु बहुतसे बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमोंके अनुसार, उस कर्मको करनेवाला मनुष्य यदि छूट जाय, तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका बंध निकाचित नहीं होता। क्योंकि उसके विपाकके उदयका समय दूर होनेके कारण भी ऐसा हो सकता है। तथा बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिके नियमानुसार जो दंड होता है वह भी कर्त्ताके परिणामके अनुसार ही होता हो, यह एकांतिक बात नहीं है। अथवा वह दंड किसी पूर्वमें उत्पन्न किये हुए अशुभ कर्मके उदयसे भी होता है; और वर्तमान कर्मबंध सत्तामें पड़ा रहता है, जो यथावसर विपाक देता है।

३. सामान्यरूपसे असत्य आदिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष होता है। परन्तु विशेषरूपसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्य आदिका पाप एकांतरूपसे कम ही है, यह नहीं समझना चाहिये; अथवा वह अधिक ही है, ऐसा भी एकांतसे न समझना चाहिये। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और उसके कर्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अवलंबन लेकर ही कर्ताको उसका बंध होता है। इसी तरह असत्य आदिके संबंधमें भी यही समझना चाहिये। किसी अमुक हिंसाकी अपेक्षा किसी अमुक असत्य आदिका फल एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है। इसी तरह किसी असत्य आदिकी अपेक्षा किसी हिंसाका फल भी एकगुना दोगुना अथवा अनंतगुना विशेषतक होता है।

४. त्यागकी बारम्बार विशेष जिज्ञासा होनेपर भी, संसारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी पूर्वकर्मके प्राबल्यसे जो जीव गृहस्थावासको नहीं छोड़ सकता, वह पुरुष गृहस्थावासमें कुटुम्ब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसके जैसे जैसे परिणाम रहते हैं, उसे तदनुसार ही बंध आदि होता है। मोहके होनेपर भी अनुकंपा माननेसे, अथवा प्रमाद होनेपर भी उदय माननेसे कर्म-बंध धोखा नहीं खाता। उसका तो परिणामके अनुसार ही बंध होता है। कर्मके सूक्ष्म भेदोंका यदि बुद्धि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म तो फलसहित ही होता है, इस निश्चयको जीवको भूलना नहीं चाहिये।

५. अर्हंतके प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा उनके सिद्धपदके प्ररूपक होनेके कारण भी सिद्धकी अपेक्षा अर्हंतको ही प्रथम नमस्कार किया है।

---

७०९ ववाणीआ, चैत्र वदी ५, १९५२

छहकायके स्वरूपकी भी सत्पुरुषकी दृष्टिसे प्रतीति करनेसे और विचारनेसे ज्ञान ही होता है। 'यह जीव किस दिशासे आया है,' इस वाक्यसे शास्त्रपरिज्ञा-अध्ययनका आरंभ किया है। सद्गुरुके मुखसे उस आरंभ-वाक्यके आशयको समझनेसे समस्त द्वादशांगीका रहस्य समझना योग्य है।

हालमें तो जो आचारांग आदिका वाँचन करो, उसका अधिक अनुप्रेक्षण करना। यह बहुतसे उपदेश-पत्रोंके ऊपरसे सहजमें ही समझमें आ सकेगा। सब मुमुक्षुओंको प्रणाम पहुँचे।

---

७१० सायला, वैशाख सुदी १५, १९५२

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मबंधके पाँच कारण हैं। किसी स्थलपर प्रमादको छोड़कर बाकीके चार ही कारण बतायें हों, तो वहाँ प्रमादका अंतर्भाव मिथ्यात्व अविरति और कषायमें ही किया गया है।

शास्त्रकी परिभाषानुसार प्रदेशबंधका अर्थ निम्नरूपसे है:—परमाणु सामान्यरूपसे एक प्रदेश-अवगाही है। उस एक परमाणुके ग्रहण करनेको एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्म-बंधसे अनंत परमाणुओंको ग्रहण करता है। वे परमाणु यदि फैले हों तो वे अनंतप्रदेशी हो सकते हैं, इस कारण अनंत प्रदेशोंका बंध कहा जाता है। उसमें भी मंद अनंत आदिसे भेद आता है; अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबंध कहा हो वहाँ परमाणु तो अनंत समझने चाहिये, परन्तु उस अनंतकी सघनताको अल्प समझना चाहिये। तथा यदि उससे विशेष अधिक विशेष लिखा हो तो अनंतताको सघन समझनी चाहिये।

जरा भी व्याकुल न होते हुए आदिसे अंततक कर्मग्रंथका वाँचना विचार करना योग्य है।

---

७११ ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र. १९५२.

तथारूप (यथार्थ) आप्तका—मोक्षमार्गके लिये जिसके विश्वासपूर्वक प्रवृत्ति की जा सके ऐसे पुरुषका—जीवको समागम होनेमें कोई पुण्यका हेतु ही समझते हैं। तथा उसकी पहिचान होनेमें भी महान् पुण्य ही समझते हैं; और उसकी आज्ञा-भक्तिसे आचरण करनेमें तो महान् महान् पुण्य समझते हैं—ऐसे ज्ञानीके जो वचन हैं वे सच्चे हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आने जैसी बात है।

यद्यपि तथारूप आप्तपुरुषके अभाव जैसा यह काल चल रहा है, तो भी आत्मार्थी जीवको उस समागमकी इच्छा करते हुए उसके अभावमें भी अवश्य ही विशुद्धिस्थानकके अभ्यासका लक्ष करना चाहिये।

---

७१२ ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र. १९५२

सर्वथा निराशा हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्समागमके अभावका खेद रखते हुए भी जो सत्समागम हुआ है, यह परम पुण्यका योग मिला है। इसलिये सर्वसंग त्यागका योग बननेतक जबतक गृहस्थावासमें रहना हो तबतक उस प्रवृत्तिको नीतिके

साथ साथ, कुछ सावधानीपूर्वक, परमार्थमें अति उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विशुद्धिस्थानका नित्य ही अभ्यास करते रहना चाहिये।

७१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १९५२

स्वभाव-जाग्रतदशा

(१)

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी इहाँ झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै न, विद्यमान पलक न यामें अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझै, सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै संभालै रूप अपना॥

(२)

अनुभव-उत्साहदशा

जैसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अब भेद कौन कहैगौ।
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ॥
कबहूँ कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ, याही भांति आगम अनंतकाल रहैगौ॥

(३)

स्थितिदशा

एक परिनामके न करता दरव दोइ, दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै, दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ, अपनें अपनें रूप दोउ कोउ न टरतु है।
जड़ परिनामनिकौ करता है पुद्गल, चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है॥

(४)

ॐ सर्वज्ञ

आत्मा सर्व अन्यभावसे रहित है, जिसे सर्वथा इसी तरहका अनुभव रहता है वह मुक्त है।

जिसे अन्य सब द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे सर्वथा असंगता रहती है, वह मुक्त है।

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा जहाँसे सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो वहाँसे मुक्तदशा रहती है। वह पुरुष मौन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असंग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है, और वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

जिन्होंने इस तरहकी असंगदशा उत्पन्न की है कि तीनों कालमें देह आदिसे अपना कोई भी संबंध न था, उन भगवान्‌रूप सत्पुरुषोंको नमस्कार है।

(५)

तिथि आदिके विकल्पको छोड़कर निज विचारमें आचरण करना ही कर्त्तव्य है। शुद्ध सहज आत्मस्वरूप.

'प्रारब्ध है', ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मालूम नहीं होता। परन्तु परिणतिसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखाई देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्षका नित्य सेवन करता है।

---

५७६ बंबई, पौष वदी ९ गुरु. १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यंत भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो.

ज्ञानी-पुरुषोंने बारम्बार *आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता* कही है, और फिर फिरसे उस त्यागका उपदेश किया है, और प्रायः करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अवश्य ही उसकी अल्पता करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है।

कौन कौनसे प्रतिबंधसे जीव आरम्भ-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, और वह प्रतिबंध किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अंकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है। यदि वैसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्रायः कहा जा सकता है।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग होना किस प्रकारसे कहा जाय, इसका पहले विचार कर, पीछेसे उपरोक्त विचार-अंकुरको मुमुक्षु जीवको अपने अंतःकरणमें अवश्य उत्पन्न करना योग्य है।

---

५७७ बम्बई, पौष वदी १३ रवि. १९५२

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं, उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चल दिये हैं; अथवा प्रारब्धोदयसे यदि उनका वास उसमें हुआ भी तो उन्होंने अमूर्च्छित-रूपसे उदासीनभावसे उसे प्रारब्धोदय समझकर ही आचरण किया है, और त्याग करनेका ही लक्ष रक्खा है।

५७८

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग, और मृत्यु इन चारोंको, एक आत्मज्ञानके बिना अन्य सब उपायोंसे अजेय समझकर, उनकी उत्पत्तिके हेतुभूत संसारको छोड़ कर चले जाते हुए। श्रीऋषभ आदि अनंत ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायकी उपासना की है, और सब जीवोंको उस उपायका उपदेश दिया है। उस आत्मज्ञानको प्रायः दुर्लभ देखकर, निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अशरणको निश्चल शरणरूप और सुगम है।

सच्चे अंतःकरणसे विशेष सत्समागमके आश्रयसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत थोड़े समयमें ही प्राप्त हो जाती है।

३. व्यवहार अथवा परमार्थसंबंधी यदि कोई भी जीवकी वृत्ति हो तो उसे शमन करके, सर्वथा असंग उपयोगपूर्वक अथवा परम पुरुषकी उपरोक्त दशाके अवलम्बनपूर्वक, आत्मामें स्थिति करना चाहिये, यही निवेदन है। क्योंकि अन्य कोई भी विकल्प रखना उचित नहीं है। जो कोई सच्चे अंतःकरणसे सत्पुरुषके वचनको ग्रहण करेगा वह सत्यको पायेगा, इसमें कोई संशय नहीं; और शरीरका निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार ही प्राप्त होना योग्य है, इसलिये तत्संबंधी कोई भी विकल्प रखना उचित नहीं। उस विकल्पको यद्यपि तुमने प्रायः शान्त कर दिया है तो भी निश्चयकी प्रबलताके लिये यह लिखा है।

४. सब जीवोंके प्रति, सब भावोंके प्रति, अखंड एकरस वीतरागदशाका रखना ही सर्व ज्ञानका फल है।

आत्मा, शुद्धचैतन्य जन्म जरा मरणरहित असंगस्वरूप है। इसमें सर्व ज्ञानका समावेश हो जाता है। उसकी प्रतीतिमें सर्व सम्यग्दर्शनका समावेश हो जाता है। आत्माको असंगस्वरूपसे जो स्वभावदशा रहना है, वह सम्यक्चारित्र उत्कृष्ट संयम और वीतरागदशा है। उसकी सम्पूर्णताका फल सर्व दुःखोंका क्षय हो जाना है, यह बिल्कुल सन्देहरहित है—बिलकुल सन्देहरहित है। यही प्रार्थना है।

---

७१६ बम्बई, ज्येष्ठ वदी १२ शनि. १९५३

आर्य श्रीसोभागके मरणके समाचार पढ़कर बहुत खेद हुआ। ज्यों ज्यों उनके अनेक अद्भुत गुणोंके प्रति दृष्टि जाती है, त्यों त्यों अधिकाधिक खेद होता है।

जीवको देहका संबंध इसी तरहसे है। ऐसा होनेपर भी जीव अनादिसे देहका त्याग करते समय खेद प्राप्त किया करता है, और उसमें दृढ़ मोहसे एकभावकी तरह रहता है। यही जन्म मरण आदि संसारका मुख्य बीज है। श्रीसोभागने ऐसी देहको छोड़ते हुए, महान् मुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चल असंगतासे निज उपयोगमय दशा रखकर अपूर्व हित किया है, इसमें संशय नहीं।

उनके पूज्य होनेसे, उनका तुम्हारे प्रति बहुत उपकार होनेसे, तथा उनके गुणोंकी अद्भुतताके कारण, उनका वियोग तुम्हें अधिक खेदकारक हुआ है, और होना योग्य भी है। तुम उनके प्रति सांसारिक पूज्यभावके खेदको विस्मरण कर, उन्होंने तुम सबके लिये जो परम उपकार किया हो, तथा उनके गुणोंकी जो तुम्हें अद्भुतता मालूम हुई हो, उसका बारम्बार स्मरण करके, उस पुरुषका वियोग हो गया है, इसका अंतरमें खेद रखकर, उन्होंने आराधना करने योग्य जो जो वचन और गुण बताये हों उनका स्मरण कर, उसमें आत्माको प्रेरित करनेके लिये ही तुम सबसे प्रार्थना है। समागममें आये हुए मुमुक्षुओंको श्रीसोभागका स्मरण सहज ही अधिक समयतक रहने योग्य है।

जिस समय मोहके कारण खेद उत्पन्न हो उस समयमें भी उनके गुणोंकी अद्भुतताको स्मरणमें लाकर, उत्पन्न होनेवाले खेदको शान्त कर, उनके गुणोंकी अद्भुतताका वियोग हो गया है, इस तरह वह खेद करना योग्य है।

इस क्षेत्रमें इस कालमें श्रीसोभाग जैसे पुरुष विरले ही मिलते हैं यह हमें बारम्बार भासित होता है।

धीरजपूर्वक सबोंको खेदका शान्त करना, और उनके अद्भुत गुणों और उपकारी वचनोंका आश्रय लेना ही योग्य है। श्रीसोभाग मुमुक्षुओंद्वारा विस्मरण किये जाने योग्य नहीं हैं।

जिसने संसारके स्वरूपको स्पष्टरूपसे जान लिया है, उसे उस संसारके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा जान पड़ता है कि अमुक गुणस्थानतक उसे भी सत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ हर्ष, और उसके वियोगसे कुछ खेद हो सकता है।

आत्मसिद्धि ग्रंथके विचार करनेकी इच्छा हो तो विचार करना। परन्तु उसके पहिले यदि और बहुतसे वचन और सद्ग्रन्थोंका विचार करना बन सके, तो आत्मसिद्धि प्रबल उपकारका हेतु होगा, ऐसा माल्रूम होता है।

श्रीसोभागकी सरलता, परमार्थसंबंधी निश्चय, मुमुक्षुओंके प्रति परम उपकारित्व आदि गुण बारम्बार विचार करने योग्य हैं। शांतिः शांतिः शांतिः.

---

७१७ बम्बई, आषाढ सुदी ४ रवि. १९५३

श्रीसोभागको नमस्कार.

१. श्रीसोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्भुत निश्चय बारम्बार स्मृतिमें आया करता है।

२. सब जीव सुखकी इच्छा करते हैं, परन्तु कोई विरला ही पुरुष उस सुखके यथार्थ स्वरूपको समझता है।

जन्म मरण आदि अनंत दुःखोंके आत्यंतिक (सर्वथा) क्षय होनेका उपाय, जीवको अनादिकालसे जाननेमें नहीं आया। जीव यदि उस उपायके जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर सत्पुरुषके समागमके लाभको प्राप्त करे तो वह उस उपायको समझ सकता है, और उस उपायकी उपासना करके सब दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

वैसी सच्ची इच्छा भी प्रायः करके जीवको सत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। वैसा समागम, उस समागमकी पहिचान, बताए हुए मार्गकी प्रतीति और उस तरह आचरण करनेकी प्रवृत्ति होना जीवको परम दुर्लभ है।

'मनुष्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण मिलना, उसकी प्रतीति होना, और उनके द्वारा कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है'—यह उपदेश श्रीवर्धमानस्वामीने उत्तराध्ययनके तीसरे अध्ययनमें किया है।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम और उसके आश्रयमें विचरण करनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षसंबंधी समस्त साधन प्रायः (बहुत करके) अल्प प्रयाससे और अल्प ही कालमें सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु उस समागमका योग मिलना बहुत दुर्लभ है। मुमुक्षु जीवका चित्त निरन्तर उसी समागमके योगमें रहता है।

सत्पुरुषका योग मिलना तो जीवको सब कालमें दुर्लभ ही है। उसमें भी ऐसे दुःषमकालमें तो

वह योग क्वचित् ही मिलता है। सत्पुरुष विरले ही विचरते हैं। उस समागमका अपूर्व लाभ मानकर जीवको मोक्षमार्गकी प्रतीति कर, उस मार्गका निरन्तर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग न हो तब आरंभ-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाना चाहिये, और सत्शास्त्रका विशेषरूपसे परिचय रखना चाहिये। यदि व्यावहारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीव उसमेंसे वृत्तिको मंद करनेकी इच्छा करता है, वह जीव उसे मंद कर सकता है; और वह सत्शास्त्रके परिचयके लिये अधिक अवकाश प्राप्त कर सकता है।

आरंभ-परिग्रहके ऊपरसे जिनकी वृत्ति खिन्न हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीव उससे पीछे हट गये हैं, उन जीवोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्शास्त्रका श्रवण विशेषरूपसे हितकारी होता है। तथा जिस जीवकी आरंभ-परिग्रहके ऊपर विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीवमें सत्पुरुषके वचनोंका और सत्शास्त्रका परिणमन होना कठिन है।

आरंभ-परिग्रहके ऊपरसे वृत्तिको कम करना और सत्शास्त्रके परिचयमें रुचि करना प्रथम तो कठिन मालूम होता है, क्योंकि जीवका अनादि-प्रकृतिभाव उससे भिन्न ही है; तो भी जिसने वैसा करनेका निश्चय कर लिया है, वह उसे करनेमें समर्थ हुआ है। इसलिये विशेष उत्साह रखकर उस प्रवृत्तिको करना चाहिये।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और नित्य नियम करना योग्य है। प्रमाद और अनियमितताको दूर करना चाहिये।

७१८

सच्चे ज्ञानके बिना और सच्चे चारित्रके बिना जीवका कल्याण नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं है।

सत्पुरुषके वचनका श्रवण, उसकी प्रतीति, और उसकी आज्ञासे चलनेवाले जीव चारित्रको प्राप्त करते हैं, यह निस्सन्देह अनुभव होता है।

यहाँसे योगवासिष्ठ पुस्तक भेजी है, उसका पाँच-सात बार फिर फिरसे बाचन और बारम्बार विचार करना योग्य है।

---

७१९ ई, आषाढ़ वदी १ गुरु. १९५३

(१) शुभेच्छासे लगाकर शैलेसीकरणतक जिस ज्ञानीकी सब क्रियायें मान्य हैं, उस ज्ञानीके वचन त्याग-वैराग्यका निषेध नहीं करते। इतना ही नहीं, किन्तु त्याग वैराग्यका साधनभूत जो पहिले त्याग-वैराग्य आता है, ज्ञानी उसका भी निषेध नहीं करते।

(२) कोई जड़-क्रियामें प्रवृत्ति करके ज्ञानीके मार्गसे विमुख रहता हो, अथवा बुद्धिकी मूढ़ताके कारण उच्चदशाको प्राप्त करते हुए रुक जाता हो, अथवा जिसने असत् समागमसे मति-व्यामोह प्राप्त करके अन्यथा त्याग-वैराग्यको ही सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, तो यदि उसके निषेध करनेके लिये ज्ञानी योग्य वचनसे करुणा बुद्धिसे उसका क्वचित् निषेध करता हो, तो व्यामोहयुक्त न होकर उसका सद्हेतु समझकर, यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अंतर तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्ति करना ही उचित है।

---

७२० बम्बई, आषाढ़ वदी १ गुरु. १९५३

(१) * सकळ संसारी इंद्रियरामी, मुनि गुण आतमरामी रे,
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे।

(२) हे मुनियो ! तुम्हें आर्य सोभागकी अंतरदशाकी और देह-मुक्त समयकी दशाकी, बारम्बार अनुप्रेक्षा करना चाहिये।

(३) हे मुनियो ! तुम्हें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—असंगभावसे—विचरण करनेके सतत उपयोगको सिद्ध करना चाहिये। जिसने जगत्के सुखकी स्पृहाको छोड़कर ज्ञानीके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है, वह अवश्य उस असंग उपयोगको पाता है। जिस श्रुतसे असंगता उल्लसित हो उस श्रुतका परिचय करना योग्य है।

---

७२१ बम्बई, आषाढ़ वदी ११ रवि. १९५३

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार हो.

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी तरह करनेका उदय मौजूद रहनेपर भी, जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाव—स्वधर्ममें निश्चलभावसे रहे हैं, उन पुरुषोंके भीष्म-व्रतका हम बारम्बार स्मरण करते हैं।

---

७२२ बम्बई, श्रावण सुदी ३ रवि. १९५३

(१) परम उत्कृष्ट संयम जिनके लक्षमें निरन्तर रहा करता है, उन सत्पुरुषोंके समागमका निरंतर ध्यान है।

(२) प्रतिष्ठित (निर्ग्रंथ) व्यवहारकी श्री·······की जिज्ञासासे भी अनंतगुण विशिष्ट जिज्ञासा रहती है। उदयके बलवान और वेदन किये बिना अटल होनेसे, अंतरंग खेदका समतासहित वेदन करते हैं। दीर्घकालको अत्यन्त अल्पभावमें लानेके ध्यानमें वर्तन करते हैं।

(३) यथार्थ उपकारी पुरुषकी प्रत्यक्षतामें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है।

---

७२३ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५३

(१) जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर जिन्होंने कर्मोंका क्षय किया है, उन महात्माओंको नमस्कार है।

(२ सदाचरण सद्ग्रंथ और सत्समागममें प्रमाद नहीं करना चाहिये।

---

* अर्थके लिये देखो अंक ६८४. —अनुवादक.

७२४ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५३

(१) मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथका मुमुक्षु जीवको विचार करना योग्य है।

उसका अवलोकन करते हुए यदि किसी विचारमें कुछ मतांतर जैसा माल्म हो तो व्याकुल न होकर उस स्थलको अधिक मनन करना चाहिये, अथवा उस स्थलको सत्समागममें समझना चाहिये।

(२) परमोत्कृष्ट संयममें स्थितिकी वात तो दूर रही, परन्तु उसके स्वरूपका विचार होना भी कठिन है।

---

७२५ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५३

'क्या सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार कर सकता है'? इत्यादि जो प्रश्न लिखे हैं उन प्रश्नोंके हेतुको विचारनेसे कहना योग्य होगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी दृष्टांतको लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करनेके ही समान है। मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता।

यद्यपि किसी जगह किसी ग्रंथमें श्रेणिक आदिके संबंधमें ऐसी वात कही है, परन्तु वह किसीके द्वारा आचरण करनेके लिये नहीं कही; तथा वह वात उसी तरह यथार्थ है, यह वात भी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र भी व्रत नहीं होता, तो भी सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उसका यदि जीव वमन न करे तो वह अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है, ऐसा सम्यग्दर्शनका वल है—इस हेतुसे कही हुई वातको अन्यथारूपमें न ले जानी चाहिये। सत्पुरुषकी वाणी, विषय और कषायके अनुमोदनसे अथवा राग-द्वेषके पोषणसे रहित होती है—यह निश्चय रखना चाहिये; और चाहे कैसा भी प्रसंग हो उसका उसी दृष्टिसे अर्थ करना उचित है।

---

७२६ बम्बई, श्रावण वदी ८ शुक्र. १९५३

(१) मोहमुद्गर और मणिरत्नमाला इन दो पुस्तकोंका हालमें वाँचनेका परिचय रखना। इन दोनों पुस्तकोंमें मोहके स्वरूपके तथा आत्म-साधनके बहुतसे उत्तम भेद वताये हैं।

(२) पारमार्थिक करुणाबुद्धिसे निष्पक्षभावसे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उपासना और उसकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये। तथा उस समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका बुद्धि-अनुसार परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना ही योग्य है।

---

७२७ बम्बई, श्रावण वदी १० रवि. १९५३

मोक्षमार्गप्रकाश श्रवण करनेकी जिन जिज्ञासुओंको अभिलाषा है, उनको उसे श्रवण कराना—अधिक स्पष्टीकरणपूर्वक और धीरजसे श्रवण कराना। श्रोताको यदि किसी स्थलपर विशेष संशय हो तो उसका समाधान करना उचित है। तथा किसी स्थानपर यदि समाधान होना असंभव जैसा माल्म हो तो उसे किसी महात्माके संयोगसे समझनेके लिये कहकर श्रवणको रोकना नहीं चाहिये। तथा उस संशयको किसी महात्माके सिवाय अन्य किसी स्थानमें पूँछनेसे वह विशेष भ्रमका ही कारण होगा, और

उससे निस्सन्देह श्रवण किया हुआ श्रवणका लाभ व्यर्थ ही चला जायगा। यह दृष्टि यदि श्रोताको हो जाय तो वह अधिक हितकारी हो सकती है।

---

७२८ बम्बई, श्रावण वदी १२, १९५३

ॐ

१. सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें स्थिति होनेतक, श्रुतज्ञानका अवलंबन लेकर सत्पुरुष भी स्वदशामें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जो जिनभगवान्का अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखाई देता है।

२. सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत श्रुतज्ञान (ज्ञानी-पुरुषके वचन) का अवलंबन जब जब मंद पड़ता है, तब तब सत्पुरुष भी कुछ कुछ अस्थिर हो जाते हैं; तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव अथवा जिन्हें विपरीत समागम—विपरीत श्रुत आदि अवलंबन—रहते आये हैं, उन्हें तो वारम्बार विशेष अति विशेष अस्थिरता होना संभव है। ऐसा होनेपर भी जो मुमुक्षु, सत्समागम सदाचार और सत्शास्त्रके विचाररूप अवलंबनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यंत पहुँच जाना कठिन नहीं है—कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है।

---

७२९ बम्बई, श्रावण वदी १२ बुध. १९५३

ॐ

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन पुरुषोंको प्रतिबंध नहीं, उन सत्पुरुषोंको नमस्कार है!

सत्समागम सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास होना यह आत्मदशा होनेका प्रबल अवलंबन है। यद्यपि सत्समागमका योग मिलना दुर्लभ है, तो भी मुमुक्षुओंको उस योगकी तीव्र जिज्ञासा रखनी चाहिये, और उसकी प्राप्ति करना चाहिये। तथा उस योगके अभावमें तो जीवको अवश्य ही सत्शास्त्ररूप विचारके अवलंबनसे सदाचारकी जागृति रखनी योग्य है।

---

७३० बम्बई, भाद्रपद सुदी ६ गुरु. १९५३

परम कृपालु पूज्य श्रीपिताजी!

आजतक मैंने आपकी कुछ भी अविनय अभक्ति अथवा अपराध किये हों, तो मैं दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नमाकर शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें। अपनी मातेश्वरीसे भी मैं इसी तरह क्षमा माँगता हूँ। इसी प्रकार अन्य दूसरे साथियोंके प्रति भी मैंने यदि किसी भी प्रकारका अपराध अथवा अविनय—जाने या बिना जाने—किये हों, तो उनकी भी शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ। कृपा करके सब क्षमा करनाजी।

७३१ बम्बई, भाद्रपद सुदी ९ रवि. १९५३

१. आत्मक्रिया और गुणस्थान आदिमें रहनेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, हालमें प्रायः अपने और परके लिये उपकारी नहीं होगा।

२. इतना ही कर्त्तव्य है कि तुच्छ मतमतांतरपर दृष्टि न डालते हुए, असद्वृत्तिका निरोध करनेके लिये, जीवको सत्शास्त्रके परिचय और विचारमें ही स्थिति करनी चाहिये।

---

७३२ बम्बई, भाद्रपद वदी ८ रवि. १९५३

जीवको परमार्थके प्राप्त करनेमें अपार अंतराय हैं; उसम भी इस कालमें तो अंतरायोंका अवर्णनीय चक्र रहता है। शुभेच्छासे लगाकर कैवल्यपर्यंत भूमिकाके पहुँचनेमें जगह जगह वे अंतराय देखनेमें आते हैं, और वे अंतराय जीवको वारम्बार परमार्थसे च्युत कर देते हैं। जीवको महान् पुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अपूर्व लाभ रहा करे, तो वह निर्विघ्नतया कैवल्यपर्यंत भूमिकाको पहुँच जाता है। सत्समागमके वियोगमें जीवको आत्मबलको विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छासंपन्न पुरुषोंके समागममें ही रहना उचित है।

---

७३३ बम्बई, भाद्रपद वदी १५ रवि. १९५३

ॐ

१. शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बरवृत्तिसे रहते हुए चारित्रका निर्वाह नहीं हो सकता; इसलिये वर्त्तमानकाल जैसे कालमें चारित्रका निर्वाह करनेके लिये, ज्ञानीद्वारा उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्वेताम्बरवृत्तिसे जो आचरण है, उसका निषेध करना उचित नहीं। तथा इसी तरह वस्त्रका आग्रह रखकर दिगम्बरवृत्तिका एकांत निषेध करके वस्त्र-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी उचित नहीं है।

दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व, देश काल और अधिकारीके संबंधसे ही उपकारके कारण हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है, उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही होता है।

२. मोक्षमार्गप्रकाशमें, श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्त्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगमोंमें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें संशय करना उचित नहीं है।

---

७३४ बम्बई, आसोज सुदी ८ रवि. १९५३

ॐ

(१)

(१) सत्पुरुषोंके अगाध गंभीर संयमको नमस्कार हो।

(२) अविषम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विषको पी लिया है, ऐसे श्रीऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार हो!

(३) जो परिणाममें तो अमृत ही है, परन्तु प्रारंभिक दशामें जो कालकूट विषकी तरह व्याकुल कर देता है, ऐसे श्रीसंयमको नमस्कार हो!

(४) उस ज्ञानको उस दर्शनको और उस चारित्रको वारम्बार नमस्कार हो!

(२)

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्संग अथवा दर्शन महान् पुण्यरूप समझना चाहिए।

(३)

(१) पारमार्थिक हेतुविशेषसे पत्र आदिका लिखना नहीं हो सकता।

(२) जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है, वह इस जीवकी प्रतीतिका कारण क्यों होता है? इस बातका रात-दिन विचार करना चाहिये।

(३) लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिको पूर्व और पश्चिम जितना अन्तर है। ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निरालंबन ही होती है, वह रुचि उत्पन्न नहीं करती, और जीवकी प्रकृतिको अनुकूल नहीं आती; और इस कारण जीव उस दृष्टिमें रुचियुक्त नहीं होता। परन्तु जिन जीवोंने परिग्रह सहन करके थोड़े समयतक भी उस दृष्टिका आराधन किया है, उन्होंने सर्व दुःखोंके क्षयरूप निर्वाणको प्राप्त किया है—उन्होंने उसके उपायको पा लिया है।

जीवकी प्रमादमें अनादिसे रति है, परन्तु उसमें रति करने योग्य तो कुछ दिखाई देता नहीं।

---

७३५ बम्बई, असोज सुदी ८ रवि. १९५३

ॐ

(१) सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि ही है।

(२) सत्पुरुषका योग तथा सत्समागमका मिलना बहुत कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। ग्रीष्म ऋतुके तापसे तप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह, मुमुक्षु जीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है। सब शास्त्रोंमें उस योगका मिलना दुर्लभ ही कहा गया है।

(३) शांतसुधारस और योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथोंका हालमें विचार करना।

---

७३६ बम्बई, असोज सुदी ८ रवि. १९५३

ॐ

(१) विशेष उच्च भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा समागम आधार-भूत होता है, इसमें संदेह नहीं। निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग बननेसे जीव उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है।

(२) निवृत्तिमान भाव—परिणाम—होनेके लिये जीवको निवृत्तिमान द्रव्य क्षेत्र और कालको प्राप्त करना उचित है। शुद्ध बुद्धिसे रहित इस जीवको किसी भी योगसे शुभेच्छा—कल्याण करनेकी इच्छा—प्राप्त हो, और निस्पृह परम पुरुषका योग मिले, तो ही इस जीवको भान आ सकता है। उसके वियोगमें उसे सत्शास्त्र और सदाचारका ही परिचय करना चाहिये—अवश्य करना चाहिये।

---

७३७ बम्बई, आसोज वदी ७, १९५३

(१) उपरकी भूमिकाओंमें भी अवकाश मिलनेपर अनादि वासनाका संक्रमण हो जाता है, और वह आत्माको बारम्बार आकुल-व्याकुल बना देता है। बारम्बार ऐसा ही हुआ करता है कि अब ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ ही है; और वर्तमान भूमिकामें भी उस स्थितिका फिरसे होना दुर्लभ है। जब ऊपरकी भूमिकामें भी ऐसे असंख्य अन्तराय-परिणाम होते हैं, तो फिर शुभ इच्छा आदि भूमिकामें वैसा हो, तो यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है।

(२) उस अन्तरायसे खेद न पाकर आत्मार्थी जीवको पुरुषार्थ-दृष्टि करनी चाहिये और हिम्मत रखनी चाहिये; हितकारी द्रव्य क्षेत्र आदि योगकी खोज करनी चाहिये; सत्शास्त्रका विशेष परिचय रखकर बारम्बार हठपूर्वक भी मनको सद्विचारमें प्रविष्ट करना चाहिये। तथा मनके दुर्भावसे आकुल-व्याकुल न होकर धैर्यसे सद्विचारके पंथमें जानेका उद्यम करते हुए जय होकर ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और अविक्षेपभाव होता है।

२. योगदृष्टिसमुच्चय बारम्बार अनुप्रेक्षा करने योग्य है।

---

७३८ बम्बई, आसोज वदी १४ रवि. १९५३

ॐ

श्रीहरिभद्राचार्यने योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रंथकी संस्कृतमें रचना की है। उन्होंने योग-बिन्दु नामके योगके दूसरे ग्रंथको भी बनाया है। हेमचन्द्राचार्यने योगशास्त्र नामक ग्रंथ बनाया है। श्रीहरिभद्रकृत योगदृष्टिसमुच्चयका अनुसरण करके श्रीयशोविजयजीने गुजराती भाषामें स्वाध्यायकी रचना की है।

उस ग्रंथमें, शुभेच्छासे लगाकर निर्वाणपर्यंतकी भूमिकाओंमें मुमुक्षु जीवको बारंबार श्रवण करने योग्य विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयसे बोध-तारतम्य तथा चारित्र-स्वभाव-तारतम्य प्रकाशित किया है। यमसे लगाकर समाधिपर्यंत अष्टांग योगके दो भेद हैं:—एक प्राण आदिका निरोधरूप और दूसरा आत्मस्वभाव-परिणामरूप।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आत्मस्वभाव-परिणामरूप योगका ही मुख्य विषय है। उसका बारम्बार विचार करना चाहिये।

३१वाँ वर्ष

७३९

बम्बई, कार्त्तिक १९५४

शुद्ध चैतन्य
अनंत आत्मद्रव्य
केवलज्ञान स्वरूप
शक्तिरूपसे
वह
जिसे सम्पूर्ण प्रगट हो गया है, तथा प्रगट होनेके
मार्गको जिन पुरुषोंने प्राप्त किया है,
उन पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है!

७४०

बम्बई, कार्त्तिक वदी १ बुध. १९५४

जो आर्य इस समय अन्य क्षेत्रमें विहार करनेके आश्रममें हैं उनको, जिस क्षेत्रमें शांतरस-प्रधान वृत्ति रहे, निवृत्तिमान द्रव्य क्षेत्र काल और भावका लाभ मिले, वैसे क्षेत्रमें विचरना उचित है।

७४१

बम्बई, कार्त्तिक वदी ५ रवि. १९५४

ॐ

सर्वथा अंतर्मुख होनेके लिये सत्पुरुषोंका मार्ग सब दुःखोंके क्षय होनेका उपाय है, परन्तु वह किसी किसी जीवकी ही समझमें आता है। महत्पुण्यके योगसे, विशुद्ध बुद्धिसे, तीव्र वैराग्यसे और सत्पुरुषके समागमसे उस उपायको समझना उचित है।

उसके समझनेका अवसर एकमात्र यह मनुष्य देह ही है, और वह भी अनियमित कालके भयसे ग्रस्त है; और उसमें भी प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है।

७४२

बम्बई, कार्त्तिक वदी १२, १९५४

ॐ

आत्मदशाको प्राप्त कर जो निर्द्वन्द्वरूपसे प्रारब्धके अनुसार विचरते हैं, ऐसे महात्माओंका जीवको संयोग मिलना दुर्लभ है।

तथा उस योगके मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी परीक्षा नहीं होती, और यथार्थ परीक्षा हुए बिना उस महात्माके प्रति दृढ़ आश्रय नहीं होता।

तथा जबतक आश्रय दृढ़ न हो तबतक उपदेश नहीं लगता, और उपदेशके लगे बिना सम्यग्दर्शनका योग नहीं बनता।

तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना जन्म आदि दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती।

ऐसे महात्मा पुरुषका योग मिलना तो दुर्लभ ही है, इसमें संशय नहीं; परन्तु आत्मार्थी जीवोंका भी योग मिलना कठिन है; तो भी क्वचित् क्वचित् वर्तमानमें वह योग मिल सकता है।

सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय करना चाहिये।

७४३

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि. १९५४

ॐ

१. क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक और सान्निपातिक इन छह भावोंको लक्षमें रखकर, आत्माको उन भावोंसे अनुप्रेक्षण करके देखनेसे सद्विचारमें विशेष स्थिति होगी।

२. ज्ञान दर्शन और चारित्र जो आत्मस्वभावरूप हैं, उन्हें समझनेके लिये उपरोक्त भाव विशेष अवलंबनके कारण हैं।

७४४

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि. १९५४

ॐ

खेद न करते हुए, हिम्मत रखकर, ज्ञानीके मार्गसे चलनेसे मोक्ष-नगरी सुलभ ही है।

जिस समय विषय कषाय आदि विशेष विकार उत्पन्न करके निवृत्त हो जाँय, उस समय विचारवानको अपनी निर्वीर्यता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह अपनी बारम्बार निंदा करता है। वह फिर फिरसे अपनेको तिरस्कारकी वृत्तिसे देखकर, फिरसे महान् पुरुषोंके चरित्र और वाक्योंका अवलंबन ग्रहण कर, आत्मामें शौर्य उत्पन्न कर, उन विषय आदिके विरुद्ध अत्यन्त हठ करके, उन्हें हटा देता हैं; तबतक वह हिम्मत हारकर नहीं बैठता, तथा वह केवल ही खेद करके भी नहीं रुक जाता। आत्मार्थी जीवोंने इसी वृत्तिके अवलंबनको ग्रहण किया है, और अंतमें उन्होंने इसीसे जय प्राप्त की है।

इस बातको सब मुमुक्षुओंको मुखमार्गसे हृदयमें स्थिर करना चाहिये।

७४५

बम्बई, मंगसिर सुदी ५ रवि. १९५४

(१) कौनसे गुणोंके अंगमें आनेसे यथार्थरूपसे मार्गानुसारीपना कहा जा सकता है?

(२) कौनसे गुणोंके अंगमें आनेसे यथार्थरूपसे सम्यग्दृष्टिपना कहा जा सकता है?

(३) कौनसे गुणोंके अंगमें आनेसे श्रुतज्ञान केवलज्ञान हो सकता है?

(४) तथा कौनसी दशा होनेसे केवलज्ञान यथार्थरूपसे होता है अथवा कहा जा सकता है?

ये प्रश्न सद्विचारवानको हितकारी हैं।

७४६

बम्बई, पौष सुदी ३ रवि. १९५४

.........ने क्षमा माँगकर लिखा है कि सहजभावसे ही व्यावहारिक बातका लिखना हुआ है, उस संबंधमें आप खेद न करें। सो यहाँ वह खेद नहीं है। परन्तु यदि वह बात तुम्हारी दृष्टिमें

रहेगी, अर्थात् जबतक वह व्यावहारिक वृत्ति रहेगी, तबतक यह समझना कि वह आत्महितके लिये बलवान प्रतिबंध है; और स्वप्नमें भी उस प्रतिबंधमें न रहा जाय, इस बातका लक्ष रखना।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उसके ऊपर तुम यथाशक्ति पूर्ण विचार करना और उस वृत्तिके मूलको ही अंतरसे सर्वथा निवृत्त कर देना। अन्यथा समागमका लाभ मिलना असंभव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नहीं परन्तु उत्साहवृत्तिसे मस्तकपर चढ़ानी उचित है।

---

७४७ आनन्द, पौष वदी १३ गुरु. १९५४

(१) श्रीसोभागकी मौजूदगीमें कुछ पहिलेसे सूचित करना था, और हालमें वैसा नहीं बना- ऐसी किसी भी लोकदृष्टिमें जाना उचित नहीं।

(२) अविषमभावके बिना हमें भी अबंधताके लिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना ही योग्य मार्ग है।

---

७४८ मोरबी, माघ सुदी ४ बुध. १९५४

शुभेच्छासे लगाकर क्षीणमोहतक सत्श्रुत और सत्समागमका सेवन करना ही योग्य है। सर्व-कालमें इस साधनकी जीवको कठिनता है। उसमें फिर यदि इस तरहके कालमें वह कठिनता रहे, तो वह ठीक ही है।

दुःषमकाल और हुंडावसर्पिणी नामका आश्चर्यरूप अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। आत्म-कल्याणके इच्छुक पुरुषको उससे क्षोभ न पाकर, बारम्बार उस योगपर पैर रखकर, सत्श्रुत सत्समागम और सद्वृत्तिको बलवान बनाना उचित है।

---

७४९ मोरबी, माघ सुदी ४ बुध. १९५४

आत्मस्वभावकी निर्मलता होनेके लिये मुमुक्षु जीवको दो साधनोंका अवश्य ही सेवन करना चाहियेः—एक सत्श्रुत और दूसरा सत्समागम।

प्रत्यक्षसत्पुरुषोंका समागम जीवको कभी कभी ही प्राप्त होता है; परन्तु जीव यदि सद्दृष्टिवान हो तो वह सत्श्रुतके बहुत समयके सेवनसे होनेवाले लाभको, प्रत्यक्षसत्पुरुषके समागमसे बहुत ही अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभावयुक्त वचन और वृत्तिकी सक्रियता रहती है। जीवको जिससे उस समागमका योग मिले, उस तरह विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

उस योगके अभावमें सत्श्रुतका अवश्य अवश्य परिचय करना चाहिये। जिसमें शांतरसकी मुख्यता है, शांतरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है और जिसमें समस्त रस शांतरसगर्भित हैं—ऐसे शास्त्रके परिचयको सत्श्रुतका परिचय कहा है।

---

७५० मोरबी, माघ सुदी ४ बुध. १९५४

ॐ

(१) सत्श्रुतका परिचय जीवको अवश्य करना चाहिये।

(२) मल विक्षेप और प्रमाद, उसमें वारम्वार अन्तराय उत्पन्न करते हैं। क्योंकि उनका दीर्घकालसे परिचय है; परन्तु यदि निश्चय करके उनके अपरिचय करनेकी प्रवृत्ति की जाय तो वह होना संभव है।

(३) यदि मुख्य अन्तराय हो तो वह जीवका अनिश्चय है।

(२)

१. आत्मस्वरूपके निर्णय होनेमें अनादिसे जीवकी भूल होती आ रही है, इस कारण वह भूल अव भी हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं माल्म होता।

२. आत्मज्ञानके सिवाय सर्व क्लेशोंसे और सब दुःखोंसे मुक्त होनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। सद्विचारके विना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्संगके प्रसंगसे जीवका विचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें जरा भी संशय नहीं है।

३. आत्म-परिणामकी स्वस्थताको श्रीतीर्थंकर समाधि कहते हैं।

आत्म-परिणामकी अस्वस्थताको श्रीतीर्थंकर असमाधि कहते हैं।

आत्म-परिणामकी सहज-स्वरूपसे परिणति होनेको श्रीतीर्थंकर धर्म कहते हैं।

आत्म-परिणामकी कुछ भी चंचल प्रवृत्ति होनेको श्रीतीर्थंकर कर्म कहते हैं।

४. श्रीजिनतीर्थंकरने जैसा बंध और मोक्षका निर्णय किया है, वैसा निर्णय वेदांत आदि दर्शनोंमें दृष्टिगोचर नहीं होता। तथा श्रीजिनमें जैसा यथार्थ-वक्तृत्व देखनेमें आता है, वैसा यथार्थ-वक्तृत्व किसी अन्य दर्शनमें देखनेमें नहीं आता।

५. आत्माके अंतर्व्यापारके (शुभ अशुभ परिणामधाराके) अनुसार ही बंध-मोक्षकी व्यवस्था है, वह शारीरिक चेष्टाके अनुसार नहीं है। पूर्वमें उपार्जित वेदनीय कर्मके उदयके अनुसार रोग आदि उत्पन्न होते हैं, और तदनुसार ही निर्बल, मंद, म्लान, उष्ण, शीत आदि शरीरकी चेष्टा होती है।

६. विशेष रोगके उदयसे अथवा शारीरिक मंद बलसे ज्ञानीका शरीर कम्पित हो सकता है, निर्बल हो सकता है, म्लान हो सकता है, मंद हो सकता है, रौद्र माल्म हो सकता है, अथवा उसे भ्रम आदिका उदय भी हो सकता है; परन्तु जिस प्रमाणमें जीवमें बोध और वैराग्यकी वासना हुई है, उस प्रमाणमें ही जीव उस प्रसंगमें प्रायः करके उस रोगका वेदन करता है।

७. किसी भी जीवको अविनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो—यह कभी देखा नहीं, जाना नहीं और ऐसा संभव भी नहीं; और मृत्युका आगमन तो अवश्य होता ही है—यह अनुभव तो प्रत्यक्ष संदेहरहित है। ऐसा होनेपर भी यह जीव उस बातको फिर फिरसे भूल जाता है, यह आश्चर्य है।

८. जिस सर्वज्ञ वीतरागमें अनंत सिद्धियां प्रगट हुई थीं, उस वीतरागने भी इस देहको अनित्य समझा है, तो फिर दूसरे जीव तो इस देहको किस तरह नित्य बना सकेंगे?

९. श्रीजिनका अभिमत है कि प्रत्येक द्रव्य अनंत पर्यायोंसे युक्त है। जीवकी अनंत पर्याय हैं। परमाणुकी भी अनंत पर्याय हैं। जीवके चेतन होनेके कारण उसकी पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणुके अचेतन होनेसे उसकी पर्याय भी अचेतन हैं। जीवकी पर्याय अचेतन नहीं, और परमाणुकी पर्याय सचेतन नहीं—ऐसा श्रीजिनने निश्चय किया है; तथा वैसा ही योग्य भी है। क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थका स्वरूप भी विचार करनेसे वैसा ही प्रतीत होता है।

---

७५१ ववाणीआ, माघ वदी ४ गुरु. १९५४

इस जीवको उत्तापनाका मूल हेतु क्या है, तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह निवृत्ति किस तरह हो सकती है? इस प्रश्नका विशेषरूपसे विचार करना योग्य है—अंतरमें उतरकर विचार करना योग्य है।

जबतक इस क्षेत्रमें रहना हो तबतक चित्तको अधिक दृढ़ बनाकर प्रवृत्ति करना चाहिये।

---

७५२ मोरबी, माघ वदी १५, १९५४

जिस तरह मुमुक्षुवृत्ति दृढ़ बने उस तरह करो। हार जाने अथवा निराश होनेका कोई कारण नहीं है। जब जीवको दुर्लभ योग ही मिल गया तो फिर थोड़ेसे प्रमादके छोड़ देनेमें उसे घबड़ाने जैसी अथवा निराश होने जैसी कुछ भी बात नहीं है।

७५३

* व्याख्यानसार.

१. प्रथम गुणस्थानकमें जो ग्रंथि है उसका भेदन किये बिना, आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकती। कभी योगानुयोगके मिलनेसे जीव अकामनिर्जरा करता हुआ आगे बढ़ता है, और ग्रंथिभेद करनेके पास आता है; परन्तु यहाँ ग्रंथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि जीव यह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर—असमर्थ हो जानेके कारण—वापिस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण विपरीतार्थ समझमें आनेसे, वह ऐसा समझता है कि वह स्वयं ग्रंथिभेद कर रहा हैं; किन्तु उल्टा वह उस तरह समझनेरूप मोहके कारण ग्रंथिकी निबिड़ता ही करता है। उसमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करते हुए, अति बलवान होकर, उस ग्रंथिको शिथिल करके अथवा बलहीन करके आगे बढ़ता है। यह अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है। यहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है। इसका दूसरा नाम बोधबीज भी है। यहाँ आत्माके अनुभवकी शुरुआत होती है, अर्थात् मोक्ष होनेके बीजका यहाँ रोपण होता है।

२. इस बोधबीज गुणस्थानक (चौथा गुणस्थानक) से तेरहवें गुणस्थानकतक आत्मानुभव

---

* श्रीमद् राजचन्द्रने ये व्याख्यान संवत् १९५४ में माघ महीनेसे चैत्र महीनेतक, तथा संवत् १९५५में मोरबीमें दिये थे। यह व्याख्यानसार एक मुमुक्षुकी स्मृतिके ऊपरसे यहाँ दिया गया है। इस सारको इस मुमुक्षु भाईने भिन्न भिन्न स्थानोंपर अव्यवस्थितरूपसे लिख लिया था। यह उसीका संग्रह है। —अनुवादक.

एकसा रहता है। परन्तु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी कम ज्यादा विशुद्धता होती है, और उसके प्रमाणमें ही अनुभवका प्रकाश होना कहा जा सकता है।

३. ज्ञानावरणका सब प्रकारसे निरावरण होना केवलज्ञान—मोक्ष—है। वह कुछ बुद्धिबलसे कहनेमें नहीं आता, वह अनुभवके गम्य है।

४. बुद्धिबलसे निश्चय किया हुआ सिद्धांत, उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कके द्वारा कदाचित् बदल भी सकता है; परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसे सिद्ध) हो गई है वह तीनों कालमें भी नहीं बदल सकती।

५. वर्तमान समयमें जैनदर्शनमें अविरतिसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानकसे अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानकतक आत्मानुभवको स्पष्ट स्वीकार किया है।

६. सातवेंसे सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानकतकका समय अंतमुहूर्तका समय है। तेरहवें गुणस्थानकका समय कदाचित् लंबा भी होता है। वहाँतक आत्मानुभव प्रतीतिरूप रहता है।

७. इस कालमें मोक्ष नहीं, ऐसा मानकर जीव मोक्षकी कारणभूत क्रिया नहीं कर सकता; और उस मान्यताके कारण जीवकी प्रवृत्ति अन्यथारूपसे ही होती है।

८. जिस तरह पिंजरेमें बंद किया हुआ सिंह यद्यपि पिंजरेसे प्रत्यक्ष भिन्न होता है, तो भी वह बाहर निकलनेकी सामर्थ्यसे रहित है; उसी तरह अल्प आयुके कारण अथवा संहनन आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मारूपी सिंह कर्मरूपी पिंजरेमेंसे बाहर नहीं आ सकता—यदि ऐसा माना जाय तो यह मानना सकारण है।

९. इस असार संसारमें चार गतियाँ मुख्य हैं; ये कर्म-बंधसे प्राप्त होतीं हैं। बंधके बिना ये गतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। बंधरहित मोक्षस्थान, बंधसे होनेवाले चतुर्गतिरूप संसारमें नहीं है। यह तो निश्चित है कि सम्यक्त्व अथवा चारित्रसे बंध नहीं होता, तो फिर चाहे किसी भी कालमें सम्यक्त्व अथवा चारित्र प्राप्त करें, वहाँ उस समय बंध नहीं होता; और जहाँ बंध नहीं वहाँ संसार भी नहीं है।

१०. सम्यक्त्व और चारित्रमें आत्माकी शुद्ध परिणति रहती है, किन्तु उसके साथ मन वचन और शरीरका शुभ योग रहता है। उस शुभ योगसे शुभ बंध होता है। उस बंधके कारण देव आदि गतिरूप संसार करना पड़ता है। किन्तु उससे विपरीत भाववाले सम्यक्त्व और चारित्र जितने अंशोंमें प्राप्त होते हैं, उतने ही अंशोंसे मोक्ष प्रगट होती है; उनका फल केवल देव आदि गतिका प्राप्त होना ही नहीं है। तथा जो देव आदि गति प्राप्त हुई हैं वे तो ऊपर कहे हुए मन वचन और शरीरके योगसे ही हुई हैं; और जो बंधरहित सम्यक्त्व और चारित्र प्रगट हुआ है, वह कायम रहकर, उससे फिर मनुष्यभव पाकर—फिर उस भागसे संयुक्त होकर—मोक्ष होती है।

११. चाहे कोई भी काल हो, उसमें कर्म मौजूद रहता है—उसका बंध होता है, और उस बंधकी निर्जरा होती है; और सम्पूर्ण निर्जराका नाम ही मोक्ष है।

१२. निर्जराके दो भेद हैं:—सकामनिर्जरा अर्थात् सहेतु (मोक्षकी कारणभूत) निर्जरा, और अकामनिर्जरा अर्थात् विपाकनिर्जरा।

१३. अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। इस निर्जराको जीवने अनंतोंवार किया है; और वह कर्म-बंधकी ही कारण है।

१४. सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है। यह कर्मके अबंधका कारण है। जितने अंशोंमें सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने ही अंशोंमें आत्मा प्रगट होती है। यदि अकाम (विपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, और वह कर्म-बंधका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे आत्मा प्रगट नहीं होती।

१५. अनंतवार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है, वह औदयिक भावसे (जो भाव बंधरहित नहीं है)-ही हुई है; क्षायोपशमिक भावसे नहीं हुई। यदि वह क्षायोपशमिक भावसे हुई होती, तो इस तरह भटकना न पड़ता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं:—एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग। ये दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध हैं।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध लोकोत्तर मार्गके पालन करनेसे उसका फल लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य होता है वैसा ही उसका फल होता है।

१८. इस संसारमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटी है। व्यवहार आदि प्रसंगमें अनंत जीव क्रोध आदिसे प्रवृत्ति करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावोंसे संग्राम करते हैं, और लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीको तो उसी कालमें मोक्ष हुई है।

१९. क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीको कषायके नामसे कहा जाता है। यह कषाय अत्यंत क्रोधादिवाली है। यदि वह अनंत कषाय संसारका कारण होकर अनंतानुबन्धी कषाय होती हो, तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनंत संसारकी वृद्धि होनी चाहिए, और इस हिसाबसे तो अनंत संसारके व्यतीत होनेके पहिले उन्हें किस तरह मोक्ष हो सकती है? यह बात विचारने योग्य है।

२०. तथा जिस क्रोध आदिसे अनंत संसारकी वृद्धि हो वही अनंतानुबंधी कषाय है, यह भी निस्सन्देह है। इस हिसाबसे ऊपर कहे हुए क्रोध आदिको अनंतानुबंधी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अनंतानुबंधीकी चौकड़ी किसी अन्य प्रकारसे ही होना संभव है।

२१. सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी एकताको मोक्ष कहते हैं। वह सम्यक्ज्ञान दर्शन चारित्र, वीतरागज्ञान दर्शन चारित्र ही है। उसीसे अनंत संसारसे मुक्ति होती है। यह वीतराग-ज्ञान कर्मके अबंधका कारण है। वीतरागके मार्गसे चलना अथवा उनकी आज्ञानुसार चलना भी अबंधका ही कारण है। उसके प्रति जो क्रोध आदि कषाय हों उनसे विमुक्त होना, यही अनंत संसारसे अत्यंतरूपसे मुक्त होना है, अर्थात् यही मोक्ष है। जिससे मोक्षसे विपरीत ऐसे अनंत संसारकी वृद्धि होती है, उसे अनंतानुबंधी कहा जाता है; और बात भी ऐसी ही है। वीतरागमार्गसे और उनकी आज्ञानुसार चलनेवालोंका कल्याण होता है; ऐसा जो बहुतसे जीवोंको कल्याणकारी मार्ग है, उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा विपरीतताके करनेवाले हैं) ही अनंतानुबंधी कषाय है।

२२. क्रोध आदि भाव लोकमें भी निष्फल नहीं जाते; तथा उनसे वीतरागद्वारा प्ररूपित वीतरागज्ञानका मोक्षधर्मका अथवा सत्धर्मका खंडन करना, अथवा उनके प्रति तीव्र मंद आदि जैसे

भावोंसे क्रोध आदि भाव होते हों उन भावोंसे, अनंतानुबंधी कषायसे बंध होकर भविष्यमें भी अनंत संसारकी वृद्धि होती है।

२३. अनुभवका किसी भी कालमें अभाव नहीं है। परन्तु बुद्धिबलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है, उसका क्वचित् अभाव भी हो सकता है।

२४. क्या केवलज्ञान उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा कुछ भी जानना शेष नहीं रहता? अथवा आत्मप्रदेशोंका जो स्वभाव है, उसे केवलज्ञान कहते हैं?—

(अ) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभावपरिणाम, और उससे जड़ पदार्थके संयोगरूपसे होनेवाले आवरणपूर्वक जो कुछ देखना और जानना होता है, वह इन्द्रियोंकी सहायतासे हो सकता है। परन्तु तत्संबंधी यह विवेचन नहीं है। यह विवेचन तो केवलज्ञानसंबंधी है।

(आ) विभावपरिणामसे होनेवाला जो पुद्गलास्तिकायका संबंध है, वह आत्मासे भिन्न है। उसका, तथा जितना पुद्गलका संयोग हुआ है उसका, न्यायपूर्वक जो ज्ञान—अनुभव—होता है वह सब अनुभवगम्यमें ही समाविष्ट होता है; और उसको लेकर जो समस्त लोकके पुद्गलोंका इसी तरहका निर्णय होता है, वह बुद्धिबलमें समाविष्ट होता है। उदाहरणके लिये जिस आकाशके प्रदेशमें अथवा उसके पास जो विभावयुक्त आत्मा स्थित है, उस आकाशके प्रदेशके उतने भागको लेकर जो अछेद्य अभेद्य अनुभव होता है, वह अनुभवगम्यमें समाविष्ट होता है; और उसके पश्चात् बाकीके आकाशको जिसे स्वयं केवलज्ञानीने भी अनंत—जिसका अंत नहीं—कहा है, उस अनंत आकाशका भी तदनुसार ही गुण होना चाहिये, यह बुद्धिबलसे निर्णय किया जाता है।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है अथवा आत्मज्ञान हो गया है—यह बात अनुभवगम्य है। परन्तु उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके पश्चात् क्या क्या होना चाहिये, यह जो कहा गया है, वह बुद्धिबलसे ही कहा है, ऐसा समझा जा सकता है।

(ई) इन्द्रियोंके संयोगसे जो कुछ देखना जानना होता है, उसका यद्यपि अनुभवगम्यमें समावेश हो जाता है, यह ठीक है; परन्तु यहाँ तो आत्मतत्त्वसंबंधी अनुभवगम्यकी बात है। यहाँ तो जिसमें इन्द्रियोंकी सहायता अथवा संबंधकी आवश्यकता नहीं, उसके अतिरिक्त किसी दूसरेके संबंधकी ही बात है। केवलज्ञानी सहज ही देख और जान रहे हैं, अर्थात् उन्होंने लोकके सब पदार्थोंका अनुभव किया है—ऐसा जो कहा जाता है, सो उसमें उपयोगका संबंध रहता है। कारण कि केवलज्ञानीके १३वाँ गुणस्थानक और १४वाँ गुणस्थानक इस तरह दो विभाग किये गये हैं। उनमें १३वें गुण-स्थानवाले केवलज्ञानीके योग रहता है, यह स्पष्ट है; और जहाँ यह बात है वहाँ उपयोगकी खास जरूरत है; और जहाँ उपयोगकी खास जरूरत है, वहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना चल नहीं सकता। तथा जहाँ यह बात सिद्ध होती है, वहाँ अनुभवकी साथ साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है।

(उ) इस तरह उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माके पासमें जो जड़ पदार्थ है, उसका तो अनुभव होता है, परन्तु जो पदार्थ पासमें नहीं है—जिसका संबंध नहीं है—उसका अनुभव कहनेमें कठिनाई आती है; और उसकी साथ ही 'दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं हैं,' ऐसा कहनेसे केवलज्ञानके प्रचलित

अर्थमें विरोध आता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि वहाँ बुद्धिबलसे ही सब पदार्थोंका, सब प्रकारसे, सब कालका ज्ञान होता है।

२५. एक कालके कल्पित जो अनंत समय हैं, उनके कारण अनंतकाल कहा जाता है। तथा उसमेंके वर्तमानकालके पहिलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं, वे फिरसे लौटकर आनेवाले नहीं यह बात न्याययुक्त है; फिर वह समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकता है? यह विचारणीय है।

२६. अनुभवगम्य जो समय हो गये हैं उनका जो स्वरूप है, उस स्वरूपको छोड़कर उनका कोई दूसरा स्वरूप नहीं होता; और इसी तरह अनादि अनंतकालके जो दूसरे समय हैं उनका भी वैसा ही स्वरूप है—यह बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ माळूम होता है।

२७. इस कालमें ज्ञान क्षीण हो गया है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं। ज्यों ज्यों ज्ञान कम होता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ते हैं, और ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों मतभेद कम होते हैं। उदाहरणके लिये, ज्यों ज्यों पैसा घटता है त्यों त्यों क्लेश बढ़ता है, और जहाँ पैसा बढ़ा कि क्लेश कम हो जाता है।

२८. ज्ञानके बिना सम्यक्त्वका विचार नहीं सूझता। 'मतभेद मुझे उत्पन्न नहीं करना है,' यह बात जिसके मनमें है, वह जो कुछ बांचता और सुनता है वह सब उसको फलदायक ही होता है। मतभेद आदिके कारणको लेकर शास्त्र-श्रवण आदि फलदायक नहीं होते।

२९. जैसे रास्तेमें चलते हुए किसी आदमीके सिरकी पगड़ी काँटोंमें उलझ जाय, और उसकी मुसाफिरी अभी बाकी रही हो; तो पहिले तो जहाँतक बने उसे काँटोंको हटाना चाहिये; किन्तु यदि काँटोंको दूर करना संभव न हो तो उसके लिये वहाँ ठहरकर, रातभर वहीं न बिता देनी चाहिये; परन्तु पगड़ीको वहीं छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये। उसी तरह जिनमार्गके स्वरूप और उसके रहस्यको समझे बिना अथवा उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शंकाओंके लिये वहीं बैठ जाना और आगे न बढ़ना उचित नहीं। जिनमार्ग वास्तविक रीतिसे देखनेसे तो जीवको कर्मोंके क्षय करनेका उपाय है, परन्तु जीव तो अपने मतमें गुँथा हुआ है।

३०. जीव प्रथम गुणस्थानसे निकलकर ग्रंथिभेद होनेतक अनंतबार आया, और वहाँसे पीछे फिर गया है।

३१. जीवको ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास ही आ जाता होगा, परन्तु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नहीं होता।

३२. कर्म प्रकृति १५८ हैं। सम्यक्त्वके आये बिना उनमेंसे कोई भी प्रकृति समूल क्षय नहीं होती। जीव अनादिसे निर्जरा करता है, परन्तु मूलमेंसे तो एक भी प्रकृति क्षय नहीं होती! सम्यक्त्वमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह प्रकृतिको मूलसे ही क्षय कर देता है। वह इस तरह कि वह अमुक प्रकृतिके क्षय होनेके पश्चात् आता है; और जीव यदि बलवान होता है तो वह धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है।

३३. सम्यक्त्व सबको माळूम हो जाय, यह बात नहीं है। इसी तरह वह किसीको भी माळूम न पड़े, यह बात भी नहीं। विचारवानको वह माळूम पड़ जाता है।

३४. जीवको समझ आ जाय तो समझ आनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम हो जाता है। परन्तु समझ आनेके लिये जीवने आजतक सच्चा सच्चा लक्ष नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जब जब योग मिला है, तब तब उसने उसपर बराबर ध्यान नहीं दिया। कारण कि जीवको अनेक अन्तराय मौजूद हैं। उनमें बहुतसे अन्तराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि कोई उन्हें बतानेवाला मिल जाय तो भी अंतरायके योगसे उनका ध्यानमें लेना नहीं बनता। तथा बहुतसे अंतराय अव्यक्त हैं, जिनका ध्यानमें आना भी मुश्किल है।

३५. सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वचनयोगसे ही कहा जा सकता है। यदि वह एकदम कहा जाय तो उसमें जीवको उल्टा ही भाव माल्रम होने लगे; तथा सम्यक्त्वके ऊपर उल्टी अरुचि ही हो जाय। परन्तु यदि वही स्वरूप अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा बढ़ती जाती है, त्यों त्यों कहा जाय, अथवा समझाया जाय तो वह समझमें आ सकता है।

३६. इस कालमें मोक्ष है—यह दूसरे मार्गोंमें कहा गया है। यद्यपि जैनमार्गमें इस कालमें अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना नहीं कहा जाता, फिर भी उसमें यह कहा गया है कि उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है।

३७. ज्ञान दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें मौजूद हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंके जाननेको ज्ञान कहते हैं। उसकी सुप्रतीतिको दर्शन कहते हैं, और उससे होनेवाली जो क्रिया है उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र इस कालमें जैनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके बाद सातवें गुणस्थानतक प्राप्त किया जा सकता है, यह स्वीकार किया गया है।

३८. कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो भी बड़ी बात है।

३९. यदि कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो उसमें सम्यक्त्व समाविष्ट हो जाता है; और यदि कोई वहाँतक पहुँच जाय तो उसे विश्वास हो जाता है कि आगेकी दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवेंतक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

४०. यदि बढ़ती हुई दशा होती हो तो उसे निषेध करनेकी जरूरत नहीं, और यदि बढ़ती हुई दशा न हो तो उसे माननेकी जरूरत नहीं। निषेध किये बिना ही आगे बढ़ते जाना चाहिये।

४१. सामायिक छह और आठ कोटिका विवाद छोड़ देनेके पश्चात् नवकोटि बिना नहीं होता; और अन्तमें नवकोटिसेभी वृत्ति छोड़े बिना मोक्ष नहीं है।

४२. ग्यारह प्रकृतियोंके क्षय किये बिना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँसे जीव छट्ठे सातवें और आठवें गुणस्थानमें जाता है, और वहाँसे दो घड़ीमें मोक्ष हो सकती है।

४३. मोक्षमार्ग तलवारकी धारके समान है, अर्थात् वह एकधारा—एकप्रवाहरूप—है। तीनों कालमें जो एकधारासे अर्थात् एक समान रहे वही मोक्षमार्ग है; प्रवाहमें जो अखंड है वही मोक्षमार्ग है।

४४. पहिले दो बार कहा जा चुका है फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि कहीं भी

वादर और बाह्य क्रियाका निषेध नहीं किया गया। कारण कि हमारी आत्मामें वह भाव कभी भी स्वप्नमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

४५. रूढीवाली गाँठ, मिथ्यात्व अथवा कषायका सूचन करनेवाली क्रियाओंके संबंधमें कदाचित् किसी प्रसंगपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके निषेध करनेके लिये तो कुछ भी नहीं कहा गया है। फिर भी यदि यह कथन किसी दूसरी तरह ही समझमें आया हो तो उसमें समझनेवालेको अपनी खुदकी ही भूल हुई समझनी चाहिये।

४६. जिसने कषायभावका छेदन कर डाला है, वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे कषायभावका सेवन हो।

४७. जबतक हमारी तरफसे ऐसा नहीं कहा गया हो कि अमुक क्रिया करनी चाहिये, तबतक यह समझना चाहिये कि वह सकारण ही है; और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि क्रिया करनी ही न चाहिये।

४८. हालमें यदि ऐसा कहा जाय कि अमुक क्रिया करनी चाहिये; और पीछेसे देश कालके अनुसार उस क्रियाको दूसरे प्रकारसे करनेके लिये कहा जाय, तो इससे श्रोताके मनमें शंका हो सकती है कि पहिले तो दूसरी तरह कहा जाता था और अब दूसरी तरह कहा जाता है—परन्तु ऐसी शंका करनेसे उसका श्रेय होनेके बदले अश्रेय ही होता है।

४९. बारहवें गुणस्थानके अन्त समयतक भी ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलना पड़ता है। उसमें स्वच्छंदभाव नाश हो जाता है।

५०. स्वच्छंदसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शान्त नहीं होतीं, उल्टी उन्मत्त ही होतीं हैं, और उससे च्युत होनेका समय आता है; और ज्यों ज्यों आगे जानेके पश्चात् पतन होता है त्यों त्यों उसे जोरकी पटक लगती है—इससे जीव अधिक गहराईमें जाता है, अर्थात् वह पहिलेमें जाकर पड़ता है। इतना ही नहीं किन्तु उसे जोरकी पटक लगनेके कारण उसे वहाँ बहुत समयतक पड़े रहना पड़ता है।

५१. यदि अभी भी शंका करना हो तो करो, परन्तु इतना तो निश्चयसे श्रद्धान करना चाहिये कि जीवसे लगाकर मोक्षतकके स्थानक मौजूद हैं, और मोक्षका उपाय भी है; इसमें कुछ भी असत्य नहीं। यह निर्णय करनेके पश्चात् उसमें तो कभी भी शंका न करना चाहिये; और इस प्रकार निर्णय हो जानेके पश्चात् प्रायः शंका नहीं होती। यदि कदाचित् शंका हो भी तो वह एकदेश ही शंका होती है, और उसका समाधान हो सकता है। परन्तु यदि मूलमें ही अर्थात् जीवसे लेकर मोक्षतकके स्थानकोंमें ही अथवा उसके उपायमें ही शंका हो तो वह एकदेश शंका नहीं, परन्तु सर्वदेश शंका है; और उस शंकासे प्रायः पतन ही होता है, और वह पतन इतना अधिक जोरसे होता है कि उसकी बहुत जोरकी पटक लगती है।

५२. यह श्रद्धा दो प्रकारकी है:—एक ओघ और दूसरी विचारपूर्वक।

५३. मतिज्ञान और श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमें अनुमान साथमें रहता है। परन्तु उससे आगे, और अनुमानके बिना ही शुद्धरूपसे जानना यह मनःपर्यवज्ञानका विषय है। अर्थात् मूलमें तो मति श्रुत और मनःपर्यवज्ञान एक हैं, परन्तु मनःपर्यवमें अनुमानके बिना भी मतिकी निर्मलतासे शुद्धरूपसे जाना जा सकता है।

५४. मतिकी निर्मलता संयमके बिना नहीं हो सकती। वृत्तिको रोकनेसे संयम होता है, और उस संयमसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके बिना शुद्ध पर्यायको जाननेका नाम मनःपर्यवज्ञान है।

५५. मतिज्ञान लिंग–चिह्न–से जाना जा सकता है; और मनःपर्यवज्ञानमें लिंग अथवा चिह्नकी आवश्यकता नहीं रहती।

५६. मतिज्ञानसे जाननेमें अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानकी सहायतासे जो ज्ञान होता है, उसमें फेरफार भी होता है। परन्तु मनःपर्यवज्ञानमें वैसा फेरफार नहीं होता। क्योंकि उसमें अनुमानकी सहायताकी जरूरत नहीं है। शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदिकी परीक्षा हो सकती है, परन्तु जिससे क्रोधादिका मूलस्वरूप ही माळूम न हो सके, उसके लिये यदि विपरीत चेष्टा की गई हो, तो उसके ऊपरसे क्रोध आदिकी परीक्षा करना कठिन है। तथा यदि शरीरकी किसी भी तरहकी चेष्टा न की गई हो, तो चेष्टाके बिलकुल देखे बिना ही क्रोध आदिका जानना बहुत कठिन है; फिर भी उसका साक्षात्कार हो सकना मनःपर्यवज्ञानका विषय है।

५७. लोगोंमें ओघसंज्ञासे प्रचलित रूढ़िके अनुसार यह माना जाता है कि 'हमें सम्यक्त्व है या नहीं, इसे तो केवली जाने; निश्चय सम्यक्त्व होनेकी बात तो केवलीगम्य ही है;' परन्तु बनारसीदास और उस दशाके अन्य पुरुष ऐसा कहते हैं कि "हमें सम्यक्त्व हो गया है, यह हम निश्चयसे कहते हैं।"

५८. शास्त्रमें जो ऐसा कहा गया है कि 'निश्चय सम्यक्त्व है या नहीं, उसे केवली जाने' सो यह बात अमुक नयसे ही सत्य है। तथा केवलज्ञानीसे भिन्न बनारसीदास वगैरहने भी जो अस्पष्ट-रूपसे ऐसा कहा है कि "हमें सम्यक्त्व है, अथवा हमें सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है," यह कथन भी सत्य है। कारण कि जो निश्चय सम्यक्त्व है उसे तो प्रत्येक रहस्यकी पर्यायसहित केवली ही जान सकते हैं; अथवा जहाँ प्रत्येक प्रयोजनभूत पदार्थके हेतु अहेतुको सम्पूर्णरूपसे केवलीके सिवाय अन्य कोई दूसरा नहीं जान सकता, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वको केवलीगम्य कहा है। तथा उस प्रयोजनभूत पदार्थके सामान्य अथवा स्थूलरूपसे हेतु अहेतुका समझ सकना भी संभव है, और इस कारण बनारसी-दास वगैरहने अपनेको सम्यक्त्व होना कहा है।

५९. समयसारमें बनारसीदासकी बनाई हुई कवितामें कहा है कि "हमारे हृदयमें बोधबीज उत्पन्न हो गया है," अर्थात् उन्होंने कहा है कि हमें सम्यक्त्व है।

६०. सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पश्चात् अधिकसे अधिक पंद्रह भवके भीतर मुक्ति हो जाती है, और यदि जीव वहाँसे च्युत हो जाता है तो अर्धपुद्गल-परावर्तनमें मुक्ति होती है। यदि इस कालको अर्ध-पुद्गल-परावर्तन गिना जाय तो भी वह सादिसांतके भंगमें आ जाता है—यह बात शंकारहित है।

६१. सम्यक्त्वके लक्षणः—

१. कषायकी मंदता, अथवा उसके रसकी मंदता।

२. मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति।

३. संसारका बंधनरूप लगना या उसका खारा अथवा ज़हररूप माळूम होना।

४. सब प्राणियोंके ऊपर दयाभाव; उसमें विशेष करके अपनी आत्माके ऊपर दयाभाव।

५. सत्देव सत्धर्म और सद्गुरुके ऊपर आस्था।

६२. आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप अथवा पुद्गलास्तिकाय वगैरहका जो भिन्न भिन्न प्रकारसे, भिन्न भिन्न प्रसंगपर, अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत स्वरूप ज्ञानीद्वारा प्रकाशित हुआ है, उसमें कोई हेतु गर्भित है या नहीं ? और यदि गर्भित है तो वह कौनसा है ? उस संबंधमें विचार करनेसे उसमें सात कारण गर्भित माळूम पड़ते हैं:—सद्भूतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीव-संरक्षण वगैरह । उन सात हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है । तथा मोक्षकी प्राप्तिका जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है ।

६३. कर्मके अनंत भेद हैं । उनमें मुख्य १५८ हैं । उनमें मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है । इन सब कर्मोंमें मुख्य कर्म मोहनीय है; इसकी सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यंत है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है ।

६४. आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं । उन चारोंमें भी मोहनीय अत्यन्त प्रबलरूपसे घन-घाती है । मोहनीय कर्मके सिवाय जो बाकीके सात कर्म हैं वे मोहनीय कर्मके प्रतापसे ही प्रबल होतें हैं । यदि मोहनीय दूर हो जाय तो दूसरे कर्म भी निर्बल हो जाते हैं । मोहनीयके दूर होनेसे दूसरोंका पैर नहीं टिक सकता ।

६५. कर्मबंधके चार प्रकार हैं:—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और रसबंध । उनमें प्रदेश स्थिति और रस इन तीन बंधोंके ऐक्यका नाम प्रकृतिबंध रक्खा गया है । आत्माके प्रदेशोंकी साथ पुद्गलके जमाव—संयोग—को प्रदेशबंध कहते हैं । वहाँ उसकी प्रबलता नहीं होती; उसे दूर करना चाहें तो दूर कर सकते हैं । तथा मोहके कारण स्थिति और रसका बंध पड़ता है, और उस स्थिति तथा रसका जो बंध है, उसे जीव यदि बदलना चाहे तो उसका बदला जा सकना असंभव है । ऐसे मोहके कारण इस स्थिति और रसकी प्रबलता है ।

६६. सम्यक्त्व अन्योक्तिसे अपना दूषण बताता है:—

'मुझे ग्रहण करनेके बाद यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बलपूर्वक मोक्ष ले ही जाना पड़ता है । इसलिये मुझे ग्रहण करनेके पहिले यह विचार करना चाहिये कि यदि मोक्ष जानेकी इच्छाको बदलना होगा तो भी वह कुछ काम आनेवाली नहीं । क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके पश्चात् नौवें समयमें मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिये । यदि ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाय, तो भी हो सके तो उसी भवमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पन्दरह भवोंमें, मुझे उसे अवश्य मोक्ष पहुँचाना चाहिये । यदि कदाचित् वह मुझे छोड़कर मेरेसे विरुद्ध आचरण करे अथवा अत्यंत प्रबल मोहको धारण कर ले, तो भी अर्धपुद्गल-परावर्तनके भीतर तो मुझे उसे अवश्य मोक्ष पहुँचाना चाहिये ही—यह मेरी प्रतिज्ञा है ' ।

अर्थात् यहाँ सम्यक्त्वकी महत्ता बताई है ।

६७. सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है:—

'मैं इतनातक कर सकता हूँ कि जीवको मोक्ष पहुँचा दूँ, और तू उससे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता । तो फिर तेरे मुकाबलेमें मुझमें किस बातकी न्यूनता है ? इतना ही नहीं किन्तु तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है ।

६८. किसी ग्रंथ आदिका वाँचन शुरू करते हुए, पहिले मंगलाचरण करना चाहिये; और उस ग्रंथको फिरसे वाँचते हुए अथवा चाहे कहींसे भी उसका वाँचन शुरू करनेके पहिले मंगलाचरण करनेकी शास्त्रपद्धति है। उसका मुख्य कारण यह है कि बाह्यवृत्तिमेंसे आत्मवृत्ति करना है, इसलिये वैसा करनेमें प्रथम शांतभाव करनेकी जरूरत है, और तदनुसार प्रथम मंगलाचरण करनेसे शांतभाव प्रवेश करता है। वाँचन करनेका जो क्रम हो उसे यथाशक्ति कभी भी न तोड़ना चाहिये। उसमें ज्ञानीका दृष्टांत लेनेकी जरूरत नहीं है।

६९. आत्मानुभव-गम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख ये सब एक ही हैं। मात्र शब्द जुदा जुदा हैं।

७०. शरीरके कारण अथवा दूसरोंके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमें आता है, कुछ इसलिये केवलज्ञानी केवलज्ञानी नहीं कहे जाते। तथा वह केवलज्ञान कुछ शरीरसे पैदा हुआ है, यह बात भी नहीं हैं। वह तो आत्माद्वारा प्रगट किया गया है। इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नहीं है; और विशेषतावाला शरीर लोगोंके देखनेमें नहीं आता, इसलिये लोग उसका बहुत माहात्म्य नहीं जान सकते।

७१. जिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी अंशसे भी खबर नहीं, वह जीव यदि केवलज्ञानके स्वरूपकी जाननेकी इच्छा करे तो वह किस तरह बन सकता है? अर्थात् वह नहीं बन सकता।

७२. मतिके स्फुरायमान होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है; और श्रवण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान है; और श्रुतज्ञानका मनन होकर जो उसका अनुभव होता है वह पीछे मतिज्ञान हो जाता है; अथवा उस श्रुतज्ञानका अनुभव होनेके बाद यदि वह दूसरेको कहा जाय, तो उससे कहनेवालेको मतिज्ञान और सुननेवालेको श्रुतज्ञान होता है। तथा श्रुतज्ञान मतिके बिना नहीं हो सकता, और वही मतिपूर्वक श्रुत समझना चाहिये। इस तरह एक दूसरेका कार्य-कारण संबंध है। उनके अनेक भेद हैं। उन सब भेदोंको जैसे चाहिये वैसे हेतुपूर्वक तो समझा नहीं—क्योंकि हेतुपूर्वक जानना समझना कठिन है; तथा इसके अतिरिक्त आगे चलकर रूपी पदार्थोंको जाननेवाले अनेक भेदयुक्त अवधिज्ञानको, और रूपी पदार्थोंको जाननेवाले मनःपर्यवज्ञानको जानने समझनेकी जिसकी किसी अंशसे भी शक्ति नहीं, ऐसे मनुष्य पर और अरूपी पदार्थोंके समस्त भावोंसे जाननेवाले केवलज्ञानके विषयमें जाननेका-समझनेका प्रश्न करें, तो वे उसे किस तरह समझ सकते हैं? अर्थात् नहीं समझ सकते।

७३. ज्ञानीके मार्गमें चलनेवालेको कर्मबंध नहीं है। तथा उस ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलनेवालेको भी कर्मबंध नहीं होता। क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका वहाँ अभाव है और उस अभावके कारण कर्मबंध नहीं होता। तो भी 'इरियापंथ' में चलनेसे ज्ञानीको 'इरियापंथ' की क्रिया होती है, और ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलनेवालेको भी वह क्रिया होती है।

७४. जिस विद्यासे जीव कर्म बाँधता है, उसी विद्यासे जीव कर्म छोड़ता भी है।

७५. उसी विद्याका सांसारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेसे जीव कर्मबंध करता है, और जीव जब उसी विद्याका द्रव्यके स्वरूपको समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो वह कर्म छोड़ता है।

७६. क्षेत्रसमासमें क्षेत्रसंबंधी जो जो बातें हैं उन्हें अनुमानसे माननी चाहिये। उनमें अनुभव नहीं होता। परन्तु उन सबका कारणपूर्वक ही वर्णन किया जाता है। उसकी विश्वासपूर्वक श्रद्धा रखना चाहिये। मूल श्रद्धामें फेर हो जानेसे आगे चलकर समझनेमें ठेठतक भूल चली जाती है। जैसे गणितमें यदि पहिलेसे भूल हो गई हो तो वह भूल अन्ततक चली जाती है।

७७. ज्ञान पाँच प्रकारका है। वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके बिना, मिथ्यात्वसहित हो तो मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और अवधि अज्ञान कहा जाता है। उन्हें मिलाकर ज्ञानके कुल आठ भेद होते हैं।

७८. मति श्रुत और अवधि यदि मिथ्यात्वसहित हों तो वे अज्ञान हैं, और सम्यक्त्वसहित हों तो ज्ञान हैं। इसके सिवाय उनमें कोई दूसरा भेद नहीं।

७९. जीव राग आदिपूर्वक जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, उसका नाम कर्म है। शुभ अथवा अशुभ अध्यवसायवाले परिणमनको कर्म कहते हैं; और शुद्ध अध्यवसायवाला परिणमन कर्म नहीं, किन्तु निर्जरा है।

८०. अमुक आचार्य ऐसा कहते हैं कि दिगम्बर आचार्योंकी मान्यता है कि "जीवको मोक्ष नहीं होती, किन्तु मोक्ष समझमें आती है। वह इस तरह कि जीव शुद्धस्वरूपवाला है; इसलिये जब उसे बंध ही नहीं हुआ, तो फिर उसे मोक्ष कहाँसे हो सकती है? परन्तु जीवने यह मान रक्खा है कि 'मैं बँधा हुआ हूँ।' यह मान्यता शुद्धस्वरूप समझ लेनेसे नहीं रहती—अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है।" परन्तु यह बात शुद्धनयकी अथवा निश्चयनयकी ही है। यदि पर्यायार्थिक नयवाले इस नयमें संलग्न रहकर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है।

८१. ठाणांगसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व मौजूद है—उनकी कुछ कल्पना की गई हो यह बात नहीं।

८२. वेदान्त शुद्धनय-आभासी है। शुद्धनयाभास मतवाले निश्चयनयके सिवाय किसी दूसरे नयको—व्यवहारनयको—नहीं मानते। जिनदर्शन अनेकान्तिक है—स्याद्वादी है।

८३. कोई नवतत्त्वोंकी, कोई षट्द्रव्यों की, कोई षट्पदोंकी और कोई दो राशिकी बात कहता है, परन्तु वह सब जीव अजीव इन दो राशिमें—दो तत्त्वोंमें—दो द्रव्योंमें ही गर्भित हो जाता है।

८४. निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें, तथा कंदमूलमें सुईकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनंत जीव रहते हैं इस बातमें, शंका नहीं करना चाहिये। ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा वैसा ही कहा है। यह जीव, जो स्थूल देहके प्रमाण होकर रहता है, और जिसे अभी भी अपना निजका स्वरूप समझमें नहीं आया, उसे ऐसी सूक्ष्म बातें समझमें न आवें तो यह सच है। परन्तु उसमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है। इस बातको इस तरह समझना चाहिये:—

चौमासेके समयमें किसी गाँवके बाह्य भागमें जो बहुतसी हरियाली देखनेमें आती है, उस थोड़ीसी हरियालीमें भी जब अनंत जीव होते हैं, तो यदि इस तरहके अनेक गाँवोंका विचार करें तो जीवोंकी संख्याके प्रमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेसे उसका अनंतपना

संभव हो सकता है। कंदमूल आदिमें अनंतपना संभव है। दूसरी हरियालीमें अनंतपना संभव नहीं, परन्तु कंदमूलमें अनंतपना घटता है। तथा कंदमूलके यदि थोड़ेसे भागको भी काटकर लगाया जाय तो वह उग आता है, इस कारण भी उसमें जीवोंका आधिक्य रहता है। फिर भी यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करना चाहिये। आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता, तबतक उस प्रतीतिका होना मुश्किल है। इसलिये यदि उसकी प्रतीति करना हो तो प्रथम आत्माका अनुभवी होना चाहिये।

८५. जबतक ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम नहीं हुआ, तबतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवालेको उस बातकी प्रतीति रखकर आज्ञानुसार ही चलना चाहिये।

८६. जीवमें संकोच-विस्तारकी शक्तिरूप गुण रहता है, इस कारण वह सूक्ष्म स्थूल शरीरमें देहके प्रमाण स्थिति करता है। इसी कारण जहाँ थोड़े अवकाशमें भी वह विशेषरूपसे संकोचपना कर सकता है, वहाँ जीव संकोचपूर्वक रहता है।

८७. ज्यों ज्यों जीव कर्म-पुद्गलोंको अधिक ग्रहण करता है, त्यों त्यों वह अधिक निबिड़ होकर अनेक देहोंमें रहता है।

८८. पदार्थोंमें अचिन्त्य शक्ति है। कोई भी पदार्थ अपने धर्मका त्याग नहीं करता। एक एक जीवमें परमाणुरूपसे ग्रहण किये गये अनंत कर्म हैं। तथा ऐसे अनंत जीव, जिनकी साथ अनंतानंत कर्मरूपी परमाणु संबद्ध हैं, निगोदके आश्रयसे थोड़ेसे अवकाशमें रहते हैं—यह बात भी शंका करने योग्य नहीं। साधारण गिनतीके अनुसार तो एक परमाणु एक आकाश-प्रदेशका अवगाहन करता है, परन्तु उसमें अचिंत्य सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य-स्वभावके कारण थोड़ेसे आकाशमें भी अनंत परमाणु रहते हैं। जैसे किसी दर्पणके सन्मुख यदि उस दर्पणसे किसी बहुत बड़ी वस्तुको रक्खा जाय, तो भी उसका उतना आकार उस दर्पणमें समा जाता है; तथा जैसे यद्यपि आँख एक छोटीसी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमें सूर्य चन्द्र आदि बड़े बड़े पदार्थोंका स्वरूप दिखाई देता है; इसी तरह आकाश यद्यपि एक बड़ा विशाल क्षेत्र है, फिर भी वह आँखमें दृश्यरूपसे समा जाता है; तथा आँख जैसी छोटीसी वस्तु बड़े बड़े बहुतसे घरोंको देख सकती है। यदि थोड़ेसे आकाशमें अचिंत्य सामर्थ्यके कारण अनंत परमाणु न समा सकते हों, तो फिर आँखसे उसके परिमाण जितनी ही वस्तु दिखाई देनी चाहिये, उसमें उससे अधिक मोटा भाग न दिखाई पड़ना चाहिये। अथवा दर्पणमें भी बहुतसी घर आदि बड़ी बड़ी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इस कारण परमाणुकी अचिंत्य सामर्थ्य है, और इस कारण थोड़ेसे आकाशमें भी अनंत परमाणु समा सकते हैं।

८९. इस तरह परमाणु आदि द्रव्योंका जो सूक्ष्मभावसे निरूपण किया गया है, वह यद्यपि परभावका विवेचन है, फिर भी वह सकारण है और वह हेतुपूर्वक ही किया गया है।

९०. चित्तके स्थिर करनेके लिये, अथवा वृत्तिको बाहर न जाने देकर उसे अंतरंगमें ले जानेके लिये, परद्रव्यके स्वरूपका समझना उपयोगी है।

९१. परद्रव्यके स्वरूपका विचार करनेसे वृत्ति बाहर न जाकर अंतरंगमें ही रहती है, और

निजस्वरूप समझ लेनेके पश्चात्, उससे प्रादुर्भूत ज्ञानसे उसका वही विषय हो जानेके कारण, अथवा उसे अमुक अंशमें समझनेसे उसका उतना ही विषय रहनेके कारण, वृत्ति बलपूर्वक बाहर निकलकर परपदार्थोंमें रमण करनेके लिये दौड़ जाती है। उस समय जाने हुए परद्रव्यको फिरसे सूक्ष्मभावसे समझते हुए वृत्तिको फिरसे अंतरंगमें लाना पड़ता है; और इस तरह उसे अंतरंगमें लानेके पश्चात् उसका विशेषरूपसे स्वरूप समझनेसे, ज्ञानके द्वारा उसका केवल उतना ही विषय हो जानेके कारण, वृत्ति फिरसे बाहर दौड़ने लगती है। उस समय जितना समझा हो उससे भी विशेष सूक्ष्मभावसे फिरसे विचार करते हुए वृत्ति फिरसे अंतरंगमें प्रेरित होती है। इस तरह करते करते वृत्तिको बारम्बार अंतरंगभावमें लाकर शांत की जाती है; और इस तरह वृत्तिको अंतरंगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है; और जब यह अनुभव हो जाता है तो वृत्ति फिर बाहर नहीं जाती; परन्तु आत्मामें ही शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है; और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थोंका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे परद्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुभूत होता है।

९२. जीवको अपने आपको जो अल्पज्ञान होता है, उसके द्वारा वह बड़े बड़े ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, सो यह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जब जीवको ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता, तो वहाँ जीव अपने अल्पज्ञानको उसे न समझ सकनेका कारण न मानता हुआ, अपनेसे बड़े ज्ञेय पदार्थोंमें दोष निकालता है। परन्तु सीधी तरहसे इस अपनी अल्पज्ञताको, उसे न समझ सकनेका कारण नहीं मानता।

९३. जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता तो फिर वह जो परके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, उसे तो वह किस तरह जान (समझ) सकता है? और जबतक वह समझमें नहीं आता तबतक वह वहीं गुँथा रहकर डोलायमान हुआ करता है। श्रेयकारी निजस्वरूपका ज्ञान जबतक प्रगट नहीं किया, तबतक परद्रव्यका चाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर लो, फिर भी वह किसी कामका नहीं। इसलिये उत्तम मार्ग तो दूसरी समस्त बातोंको छोड़कर अपनी आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना ही है। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये, 'यह आत्मा सद्भाववाली है,' 'वह कर्मकी कर्त्ता है,' और उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है, 'वह बंध किस तरह होता है,' 'वह बंध किस तरह निवृत्त हो सकता है,' 'और उस बंधसे निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है'—इत्यादिके विषयमें बारम्बार और प्रत्येक क्षणमें विचार करना योग्य है; और इस तरह बारम्बार विचार करनेसे विचार वृद्धिंगत होता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अंश अंशसे अनुभव होता है। ज्यों ज्यों निजस्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यों द्रव्यकी अचिन्त्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आती जाती है। इससे ऊपर बताई हुई शंकाओंके (उदाहरणके लिये थोड़ेसे आकाशमें अनंत जीवोंका समा जाना अथवा उसमें अनंत पुद्गल परमाणुओंका समाना) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उनकी यथार्थता समझमें आती है। यह होनेपर भी यदि उसे न माना जाता हो, अथवा उसमें शंका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि वह ऊपर कहे हुए पुरुषार्थ करनेसे अनुभवसे सिद्ध होगा।

९४. जीव जो कर्मबंध करता है, वह देहस्थित आकाशमें रहनेवाले सूक्ष्म पुद्गलोंमेंसे ही ग्रहण करके करता है। कुछ वह बाहरसे लेकर कर्मोंको नहीं बाँधता।

९५. आकाशमें चौदह राजू लोकमें पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर हैं; उसी तरह शरीरमें रहनेवाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओंका समूह भरा हुआ है। जीव वहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मबंध करता है।

९६. यहाँ ऐसी शंका की जा सकती है कि यदि शरीरसे दूर—बहुत दूर—रहनेवाले किसी पदार्थके प्रति जीव राग-द्वेष करे, तो वहाँके पुद्गल ग्रहण करके जो वह बंध करता है, वह किस तरह करता है? उसका समाधान यह है कि वह राग-द्वेष परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है; और उस परिणतिके करनेवाली आत्मा है; और वह शरीरमें रहकर ही उसे करती है। इसलिये शरीरमें रहनेवाली जो आत्मा है, वह जिस क्षेत्रमें है, उस क्षेत्रमें रहनेवाले पुद्गल-परमाणुओंको ही ग्रहण करके वह उनका बंध करती है—वह उन्हें ग्रहण करनेके लिये कहीं बाहर नहीं जाती।

९७. यश-अपयशकीर्ति नामकर्म—नामकर्मसंबंध जिस शरीरको लेकर है, वह शरीर जहाँतक रहता है—वहाँतक चलता है, वहाँसे आगे नहीं चलता। जीव जब सिद्धावस्थाको प्राप्त हो जाता है अथवा विरतिभावको प्राप्त कर लेता है, उस समय वह संबंध नहीं रहता। सिद्धावस्थामें एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, और नामकर्म तो एक तरहका कर्म है, तो फिर वहाँ यश-अपयश आदिका संबंध किस तरह घट सकता है? तथा अविरतिभावसे जो कुछ पापक्रिया होती है, वह पाप तो चालू रहता है।

९८. विरति अर्थात् 'छुड़ाना', अथवा जो रतिसे विरुद्ध है उसे विरति कहते हैं। अविरतिमें तीन शब्द हैं:—अ + वि + रतिः – अ = नहीं + वि = विरुद्ध + रति = प्रीति—मोह; अर्थात् जो प्रीतिसे—मोहसे—विरुद्ध नहीं वह अविरति है। वह अविरति बारह प्रकारकी है।

९९. पाँच इन्द्रिय, छठा मन, तथा पाँच स्थावर जीव, और एक त्रस जीव ये सब मिलकर उसके बारह भेद होते हैं।

१००. सिद्धान्त यह है कि कर्मके बिना जीवको पाप नहीं लगता। उस कर्मकी जबतक विरति नहीं की तबतक अविरतिभावका पाप लगता है—समस्त चौदह राजू लोकमेंसे उसको पापक्रिया चालू रहती है।

१०१. कोई जीव किसी पदार्थका विचार करके मरणको प्राप्त हो जाय, और उस पदार्थका विचार इस प्रकारका हो कि वह विचार किया हुआ पदार्थ जबतक रहे, तबतक उससे पापक्रिया हुआ ही करती हो, तो तबतक उस जीवको अविरतिभावकी पापक्रिया चालू रहती है। यद्यपि जीवने दूसरी पर्याय धारण करनेके पहिलेकी पर्यायके समय, जिस जिस पदार्थका विचार किया है, उसकी उसे खबर नहीं है तो भी, तथा वर्तमानकी पर्यायके समयमें वह जीव उस विचार किये हुए पदार्थकी क्रिया नहीं करता तो भी, जहाँतक उसका मोहभाव विरतिभावको प्राप्त नहीं हुआ तबतक उसकी अव्यक्तरूपसे क्रिया चालू ही रहती है।

१०२. इसलिये वर्तमानकी पर्यायके समयमें उसे उसकी अज्ञानताका लाभ नहीं मिल सकता। उस जीवको समझना चाहिये था कि इस पदार्थसे होनेवाली क्रिया जबतक कायम रहेगी तबतक उसकी

पापक्रिया चालू रहेगी। उस विचार किये हुए पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली क्रियासे यदि मुक्त होना हो तो मोहभाव छोड़ना चाहिये। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिभाव करनेसे पापक्रिया बंद हो जाती है। उस विरतिभावको यदि उसी भवमें ग्रहण किया जाय तो वह पापक्रिया, जबसे जीव विरतिभावको ग्रहण करे, तभीसे आती हुई रुक जाती है। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोहनीयके कारणसे ही लगती है; और वह मोहभावके क्षय होनेसे आती हुई रुक जाती है।

१०३. क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगट, और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगट। अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया यद्यपि सम्पूर्णरूपसे नहीं जानी जा सकती, परन्तु इसलिये वह होती ही नहीं, यह बात नहीं है।

१०४ पानीमें जो लहरें—हिल्लोरें—उठती हैं वे व्यक्तरूपसे माळूम होती हैं; परन्तु उस पानीमें यदि गंधक अथवा कस्तूरी डाल दी हो, और वह पानी शान्त अवस्थामें हो तो भी उसमें जो गंधक अथवा कस्तूरीकी क्रिया है, वह यद्यपि दिखाई नहीं देती, तथापि वह उसमें अव्यक्तरूपसे मौजूद रहती ही है। इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियाका यदि श्रद्धान न किया जाय, और केवल व्यक्तरूप क्रियाका ही श्रद्धान हो, तो जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती ऐसे ज्ञानीकी क्रिया, और जो व्यक्तरूपसे कुछ भी क्रिया नहीं करता ऐसे सोते हुए मनुष्यकी क्रिया, ये दोनों समान ही हो जाँयगी। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो यह बात नहीं। सोते हुए मनुष्यको अव्यक्त क्रिया रहती ही है; तथा इसी तरह जो मनुष्य (जो जीव) चारित्रमोहनीयकी निद्रामें सो रहा है, उसे अव्यक्त क्रिया न रहती हो, यह बात नहीं है। यदि मोहभावका क्षय हो जाय तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीयकी क्रिया बंद होती है। उससे पहिले वह बंद नहीं होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतया पाँच प्रकारका है:—

मिथ्यात्व	अविरति	कषाय	प्रमाद	योग.
५	१२	२५		१५

१०५. जबतक मिथ्यात्वकी मौजूदगी हो तबतक अविरतिभाव निर्मूल नहीं होता—नाश नहीं होता। परन्तु यदि मिथ्यात्वभाव दूर हो जाय तो अविरतिभावको दूर होना ही चाहिये, इसमें सन्देह नहीं। कारण कि मिथ्यात्वसहित विरतिभावका ग्रहण करनेसे मोहभाव दूर नहीं होता। तथा जबतक मोहभाव कायम है तबतक अभ्यंतर विरतिभाव नहीं होता। और मुख्यरूपसे रहनेवाले मोहभावके नाश होनेसे अभ्यंतर अविरतिभाव नहीं रहता; और यद्यपि बाह्य अविरतिभावका ग्रहण न किया गया हो, तो भी जो अभ्यंतर है वह सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६. अभ्यंतर विरतिभावके प्राप्त होने पश्चात्, उदयाधीन बाह्यभावसे कोई विरतिभावका ग्रहण न कर सके, तो भी जब उदयकाल सम्पूर्ण हो जाय उस समय सहज ही विरतिभाव रहता है। क्योंकि अभ्यंतर विरतिभाव तो पहिलेसे ही प्राप्त है। इस कारण अब अविरतिभाव नहीं है, जो अविरतिभावकी क्रिया कर सके।

१०७. मोहभावको लेकर ही मिथ्यात्व है। मोहभावका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्ष सम्यक्भाव प्रगट होता है। इसलिये वहाँ मोहभाव कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

१०८. यहाँ ऐसी शंका की जा सकती है कि यदि पाँच इन्द्रियाँ और छट्ठा मन तथा पाँच स्थावरकाय और छट्ठा त्रसकाय इस तरह बारह प्रकारसे विरतिका ग्रहण किया जाय, तो लोकमें रहनेवाले जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह हैं, उनमेंसे पाँच स्थावरकाय और छट्ठा त्रसकाय मिलकर जीवराशिकी तो विरति हो गई; परन्तु लोकमें भटकानेवाली जो अजीवराशि है, जो जीवसे भिन्न है, जबतक उसके प्रति प्रीतिकी इसमें निवृत्ति नहीं आती, तबतक उसे विरति किस तरह समझा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि पाँच इन्द्रियाँ और छट्ठे मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिभावमें अजीवराशिकी भी विरति आ जाती है।

१०९. पूर्वमें इस जीवने ज्ञानीकी वाणीको निश्चयरूपसे कभी भी नहीं सुना, अथवा उस वाणीको सम्यक् प्रकारसे सिरपर धारण नहीं किया—ऐसा सर्वदर्शीने कहा है।

११०. सद्गुरुद्वारा उपदिष्ट यथोक्त संयमको पालते हुए—सद्गुरुकी आज्ञासे चलते हुए—पापसे विरति होती है, और जीव अभेद्य संसार-समुद्रसे पार हो जाता है।

१११. वस्तुस्वरूप कितने ही स्थानकोंमें आज्ञासे प्रतिष्ठित है, और कितने ही स्थानकोंमें वह सद्विचारपूर्वक प्रतिष्ठित है। परन्तु इस दुःषमकालकी इतनी अधिक प्रबलता है कि इससे आगेके क्षणमें भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठित होनेके लिये जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा, यह जाननेकी इस कालमें शक्ति नहीं मालूम होती; इसलिये वहाँ आज्ञापूर्वक ही प्रतिष्ठित रहना योग्य है।

११२. ज्ञानीने कहा है कि 'समझो! क्यों समझते नहीं? फिर ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है!'

११३. लोकमें जितने भी पदार्थ हैं, उनके धर्मोका, देवाधिदेवने, अपने ज्ञानमें भासित होनेके कारण, यथार्थ वर्णन किया है। पदार्थ कुछ उन धर्मोंसे बाहर जाकर नहीं रहते। अर्थात् जिस तरह ज्ञानीमहाराजने उन्हें प्रकाशित किया है, उससे भिन्न प्रकारसे वे नहीं रहते। इस कारण वे ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही प्रवर्तते हैं, ऐसा कहा है। कारण कि ज्ञानीने पदार्थका जैसा धर्म था उसे उसी तरह कहा है।

११४. काल मूल द्रव्य नहीं है, वह औपचारिक द्रव्य है; और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें मुख्यतया पुद्गलास्तिकायमें विशेषरूपसे समझमें आता है) मेंसे उत्पन्न होता है। अथवा जीवाजीवकी पर्याय-अवस्था ही काल है। हरेक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्-प्रचय नामके भी दो धर्म हैं; और कालमें तिर्यक्प्रचय नहीं है, उसमें केवल ऊर्ध्वप्रचय ही है।

११५. ऊर्ध्वप्रचयसे पदार्थमें जो धर्मका उद्भव होता है, उस धर्मका तिर्यक्प्रचयसे फिर उसीमें समावेश हो जाता है। कालके समयको तिर्यक्प्रचय नहीं है, इस कारण जो समय चला गया वह फिर पीछे नहीं आता।

११६. दिगम्बरमतके अनुसार कालद्रव्यके लोकमें असंख्यात अणु हैं।

११७. हरेक द्रव्यके अनंत धर्म हैं। उनमें कितने ही धर्म व्यक्त हैं, कितने ही अव्यक्त हैं, कितने ही मुख्य हैं, कितने ही सामान्य हैं, और कितने ही विशेष हैं।

११८. असंख्यातको असंख्यातसे गुणा करनेपर भी असंख्यात ही होते हैं, अर्थात् असंख्यातके असंख्यात भेद हैं।

११९. एक अंगुलके असंख्यात भाग—अंश—प्रदेश—एक अंगुलमें असंख्यात होते हैं। लोकके भी असंख्यात प्रदेश होते हैं। उन्हें चाहे किसी भी दिशाकी समश्रेणीसे गिनो वे असंख्यात ही होते हैं। इस तरह एकके बाद एक दूसरी तीसरी समश्रेणीका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एकगुना, दोगुना, तीनगुना, चारगुना होता है; परन्तु असंख्यातगुना नहीं होता। किन्तु एक सम-श्रेणी—जो असंख्यात प्रदेशवाली है—उस समश्रेणीकी दिशावाली समस्त समश्रेणियोंको—जो असं-ख्यातगुणी हैं—हरेकको असंख्यातसे गुणा करनेसे; इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे, और इसी तरह उक्त रीतिसे तीसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे असंख्यात होते हैं। इन असंख्यातके भागोंका जबतक परस्पर गुणाकार किया जा सके, तबतक असंख्यात होते हैं; और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी न रहे, तब असंख्यात पूरे हो जानेपर उसमें एक मिला देनेसे जघन्यातिजघन्य अनंत होते हैं।

१२० नय प्रमाणका एक अंश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है वहाँ उतना ही प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है उसके सिवाय, वस्तुमें जो दूसरे और धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया। क्योंकि एक ही समय वाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है, उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यतया वही धर्म कहा जाता है। उस उस स्थलपर उस उस नयसे प्रमाण समझना चाहिये।

१२१. नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है; परन्तु नयाभास है; और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व ठहरता है।

१२२. नय सात माने हैं। उनके उपनय सातसौ हैं, और विशेष भेदोंसे वे अनंत हैं; अर्थात् जितने वचन हैं वे सब नय ही हैं।

१२३. एकांत ग्रहण करनेका स्वच्छंद जीवको विशेषरूपसे होता है, और एकांत ग्रहण करनेसे नास्तिकभाव होता है। उसे न होने देनेके लिये इस नयका स्वरूप कहा गया है। इसके समझ जानेसे जीव एकांतभावको ग्रहण करता हुआ रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकताको अवकाश नहीं मिल सकता।

१२४. नय जो कहनेमें आता है, सो नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है। परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने तथा उसकी सुप्रतीति होनेके लिये वह केवल प्रमाणका अंश है।

१२५. यदि अमुक नयसे कोई बात कही जाय, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले धर्मका अस्तित्व ही नहीं है।

१२६. केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही; इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। फिर उसमें अन्य कुछ भी गर्भित नहीं होता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे राग-द्वेषका क्षय हो जाय, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। यदि किसी अंशसे राग-द्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे ही होते हैं। जहाँ जितने अंशसे राग-द्वेष हैं, वहाँ उतने ही अंशसे अज्ञान है। इस कारण वे केवलज्ञानमें गर्भित नहीं हो सकते; अर्थात् वे केवलज्ञानमें नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ राग-द्वेष नहीं, अथवा जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

१२७. गुण और गुणी एक ही हैं। परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं। सामान्य प्रकारसे तो गुणोंके समुदायको ही गुणी कहते हैं; अर्थात् गुण गुणी एक ही हैं, भिन्न भिन्न वस्तु नहीं। गुणीसे गुण भिन्न नहीं हो सकते। जैसे मिश्रीका टुकड़ा गुणी और उसकी मिठास उसका गुण भिन्न नहीं हो सकते। गुणी मिश्री और गुण मिठास दोनों साथ साथ ही रहते हैं; मिठास उससे कुछ भिन्न नहीं होती। तथापि गुण और गुणी किसी अंशसे भिन्न भी हैं।

१२८. केवलज्ञानीकी आत्मा भी देहव्यापक क्षेत्रमें अवगाहयुक्त है; फिर भी वह लोकालोकके समस्त पदार्थोंको भी, जो देहसे दूर हैं, एकदम जान सकती है।

१२९. स्व और परको भिन्न करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञानको प्रयोजनभूत कहा गया है। इसके सिवाय बाकीका सब ज्ञान अज्ञान है। जिनभगवान् शुद्ध आत्मदशारूप शांत हैं। उनकी प्रतीतिको जिन-प्रतिबिम्ब सूचन करती है। उस शांत दशाको पानेके लिये जो परिणति, अनुकरण, अथवा मार्ग है उसका नाम जैनमार्ग है। इस मार्गपर चलनेसे जैनत्व प्राप्त होता है।

१३०. यह मार्ग आत्मगुणका रोकनेवाला नहीं; परन्तु उसका बोधक ही है—अर्थात् यह आत्मगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। यह बात परोक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करनेकी इच्छा रखनेवालेको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीति होकर यह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है।

१३१. सूत्र और सिद्धांत ये दोनों जुदा हैं। सिद्धान्तोंका रक्षण करनेके लिये उन्हें सूत्ररूपी सन्दूकमें रक्खा गया है। देश-कालका अनुसरण करके सूत्रोंकी रचना की गई है; और उनमें सिद्धांत गूँथे गये हैं। वे सिद्धांत किसी भी काल और किसी भी क्षेत्रमें नहीं बदलते, अथवा खंडित नहीं होते; और यदि वे खंडित हो जाँय तो वे सिद्धान्त नहीं हैं।

१३२. सिद्धांत गणितकी तरह प्रत्यक्ष हैं, इसलिये उनमें किसी तरहकी भूल अथवा अधूरापन नहीं रहता। अक्षर यदि कान-मात्रारहित हों तो मनुष्य उन्हें सुधारकर बाँच सकता है, परन्तु यदि अंकोंकी ही भूल हो जाय, तो फिर हिसाब ही गलती हो जाता है; इसलिये अंक कान-मात्रारहित नहीं होते। इस दृष्टान्तको उपदेशमार्ग और सिद्धांतमार्गपर घटाना चाहिये।

१३३. सिद्धांत, चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें, और चाहे जिस कालमें लिखे गये हों, तो भी वे असिद्धांत नहीं होते। उदाहरणके लिये दो और दो चार ही होते हैं। फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, परशियन और इंगलिश किसी भी भाषामें क्यों न लिखे गये हों। उन अंकोंको चाहे किसी भी नामसे बोला जाय, तो भी दो और दोका जोड़ चार ही होता है, यह बात प्रत्यक्ष है। जैसे नौको नौसे गुणा करनेसे किसी भी देशमें, किसी भी भाषामें, सफेद दिनमें अथवा अंधेरी रातमें, कभी भी गिनो ८१ ही होते हैं—कभी भी ८० अथवा ८२ नहीं होते; इसी तरह सिद्धांतके विषयमें भी समझना चाहिये।

१३४. सिद्धांत प्रत्यक्ष हैं—ज्ञानीके अनुभवके विषय हैं; उसमें अनुमान काम नहीं आता। अनुमान तर्कका विषय है, और तर्क आगे बढ़नेपर कितनी ही बार झूठी भी हो [illegible]। परन्तु प्रत्यक्ष जो अनुभवगम्य है उसमें कुछ भी भूल नहीं होती।

१३५. जिसे गुणा और जोड़का ज्ञान हो गया है, वह कहता है कि नौको नौसे गुणा करनेसे ८१ होते हैं। परन्तु जिसे जोड़ और गुणाका ज्ञान नहीं हुआ—क्षयोपशम नहीं हुआ—वह अनुमानसे अथवा तर्कसे यदि ऐसा कहे कि 'नौको नौसे गुणा करनेसे कदाचित् ९८ होते हों, तो उसको कौन मना कर सकता है?' तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान न होनेके कारण वह ऐसा कहे तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उसे गुणाकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौतक अंक बताकर नौ बार गिनाया जाय, तो उसे अनुभवमें आ जानेसे ९×९=८१ ही होते हैं, यह सिद्ध हो जाता है। कदाचित् उसका क्षयोपशम मंद होनेसे गुणाकी अथवा जोड़की पद्धतिसे, ९×९=८१ होते हैं, यह उसे समझमें न भी आवे, तो भी नौको नौसे गुणा करनेपर तो ८१ ही होते हैं, इसमें कुछ भी फरक नहीं है। इसी तरह यदि सिद्धांत भी आवरणके कारण समझमें न आवें, तो वे सिद्धांत असिद्धांत नहीं हो जाते—इस बातकी निश्चय प्रतीति रखना चाहिये। फिर भी यदि प्रतीति करनेकी ज़रूरत हो तो सिद्धांतके कहे अनुसार चलनेसे प्रतीति होकर वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है।

१३६. जबतक वह अनुभवका विषय न हो तबतक उसकी सुप्रतीति रखनेकी ज़रूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रम क्रमसे वह अनुभवमें आ जाता है।

१३७. सिद्धांतके दृष्टान्तः—

(१) 'राग-द्वेषसे बंध होता है।'

(२) 'बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है।'

यदि इस सिद्धान्तकी प्रतीति करना हो तो राग-द्वेष छोड़ो। यदि सब प्रकारसे राग-द्वेष छूट जाँय तो आत्माकी सब प्रकारसे मोक्ष हो जाती है। आत्मा बंधनके कारण मुक्त नहीं हो सकती। जहाँ बंधन छूटा कि वह मुक्त ही है। बंधन होनेके कारण राग-द्वेष हैं। जहाँ राग-द्वेष सब प्रकारसे छूटे कि आत्माको बंधसे छूटी हुई ही समझनी चाहिये। उसमें कुछ भी प्रश्न अथवा शंका नहीं रहती।

१३८. जिस समय जिसके राग-द्वेष सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उसे दूसरे समयमें ही केवलज्ञान हो जाता है।

१३९. जीव पहिले गुणस्थानकमेंसे आगे नहीं जाता—आगे जानेका विचार नहीं करता। तथा पहिलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है? उसका क्या उपाय है? किस तरह पुरुषार्थ करना चाहिये? उसका वह विचारतक भी नहीं करता; और जब बातें करने बैठता है तो ऐसी ऐसी बातें करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहर हैं, उन्हें वह किस तरह समझ सकता है? अर्थात् जितना अपनेको क्षयोपशम हो, उसके बादकी बातें यदि कोई करने बैठे तो वे कभी भी समझमें नहीं आ सकतीं।

१४०. जो पहिले गुणस्थानकमें ग्रंथि है, उसका भेदन करके आगे बढ़कर संसारी जीव चौथेतक नहीं पहुँचा। कोई कोई जीव निर्जरा करनेसे उच्च भावोंमें आते हुए, पहिलेमेंसे निकलनेका विचार करके, ग्रंथिभेदके समीप आता है; परन्तु वहाँपर उसके ऊपर ग्रंथिका इतना अधिक जोर होता है कि वह ग्रंथिभेद करनेमें शिथिल होकर रुक जाता है; और इस तरह वह शिथिल होकर वापिस आ जाता

हैं। इस तरह जीव अनंतोंवार ग्रंथी-भेदके पासमें आकर वापिस फिर गया है। कोई जीव ही प्रबल पुरुषार्थ करके निमित्त कारणोंका योग पाकर, पूर्ण शक्ति लगाकर ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ता है, और जहाँ वह ग्रंथिभेद करके आगे बढ़ा कि वह चौथेमें आ जाता है; और जहाँ चौथेमें आया कि उस जीवको ऐसी छाप पड़ती है कि अब आगे-पीछे मोक्ष हो ही जायगी।

१४१. इस गुणस्थानकका नाम अविरतसम्यग्दृष्टि है; यहाँ विरतिभावसे रहित सम्यग्ज्ञान दर्शन होता है।

१४२. कहनेमें तो ऐसा आता है कि इस कालमें इस क्षेत्रसे तेरहवाँ गुणस्थानक प्राप्त नहीं होता, परन्तु यह कहनेवाले पहिलेमेंसे भी निकलते नहीं। यदि वे पहिलेमेंसे निकलकर चौथेतक आवें और वहाँ पुरुपार्थ करके सातवें अप्रमत्ततक गुणस्थानक पहुँच जाय, तो भी यह एक बड़ीसे बड़ी बात है। सातवेंतक पहुँचे बिना उसके बादकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल है।

१४३. आत्मामें जो प्रमादरहित जाग्रतदशा है वही सातवाँ गुणस्थानक है। वहाँतक पहुँच-जानेसे उसमें सम्यक्त्व समाविष्ट हो जाता है। जीव चौथे गुणस्थानकमें आकर वहाँसे पाँचवें देशविरत, छट्ठे सर्वविरत और सातवें अप्रमत्तविरतमें पहुँचता है। वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अंशसे अनु-भव अथवा उसकी सुप्रतीति होती है। चौथा गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमें पहुँचनेवालेकी दशाका यदि विचार करे तो उसकी किसी अंशसे प्रतीति हो सकती है। परन्तु यदि उसके पहिलेके गुणस्थानकवाला जीव उसका विचार करे तो उसकी किस तरह प्रतीति हो सकती है? कारण कि जाननेका साधन जो आवरणरहित होना है, वह पहिले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता।

१४४. सम्यक्त्व-प्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप भिन्न ही होता है। पहिले गुणस्थानवाले दशाकी जो स्थिति अथवा भाव है, उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकके प्राप्त करनेवालीकी दशाकी स्थिति अथवा भाव भिन्न ही देखनेमें आते हैं; अर्थात् दोनोंमें भिन्न भिन्न दशाका आचरण देखनेमें आता है।

१४५. पहिलेको शिथिल करे तो चौथेमें आ जाय, यह केवल कथनमात्र है। चौथेमें आनेमें जो वर्तन है, वह विषय विचारणीय है।

१४६. पहिले ४, ५, ६ और ७ गुणस्थानककी जो बात कही गई है, वह कुछ कथनमात्र और श्रवणमात्र ही है, यह बात नहीं; उसे समझकर उसका बारम्बार विचार करना योग्य है।

१४७. यथाशक्य पुरुपार्थ करके आगे बढ़ना आवश्यक है।

१४८. प्राप्त करनेमें कठिन ऐसा धीरज, संहनन, आयुकी अपूर्णता इत्यादिके अभावसे, कदा-चित् सातवें गुणस्थानकके ऊपरका विचार न भी आ सके, परन्तु उसकी सुप्रतीति तो हो सकती है।

१४९. जैसे सिंहको यदि लोहेके किसी जबर्दस्त पिंजरेमें बंद कर दिया जाय तो वह सिंह जिस तरह अपनेको भीतर बन्द हुआ समझता है—अपनेको पिंजरेमें बंद समझता है—और वह पिंजरेकी भूमिको भी देखता है, केवल लोहेके मजबूत सींकचोंकी बाड़के कारण ही वह बाहर नहीं निकल सकता; उसी तरह सातवें गुणस्थानकके ऊपरके विचारकी सुप्रतीति हो सकती है।

१५०. यह हो जानेपर भी मतभेद आदिके कारण अटककर जीव आगे नहीं बढ़ सकता।

१५१. मतभेद अथवा रूढ़ि आदि निर्जीव बातें हैं, अर्थात् उनमें मोक्ष नहीं है। इसलिये सच्चे प्रकारसे सत्यकी प्रतीति करनेकी आवश्यकता है।

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामोंके ऊपर समस्त आधार रहता है। छोटी छोटी बातोंमें भी यदि दोष माना जाय तो वहाँ मोक्ष नही होती। लोक-रूढ़ि अथवा लोक-व्यवहारमें पड़ा हुआ जीव जो मोक्षतत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यही है कि उसमें रूढ़िका अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य मौजूद है। इससे बादर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो जीव कुछ भी न करते हुए एकदम अनर्थ ही अनर्थ किया करता है उसके लिये बादर क्रिया उपयोगी है। तो भी उससे यह कहनेका भी अभिप्राय नहीं है कि बादर क्रियासे आगे न बढ़ना चाहिये।

१५३. जीवको अपनी चतुराई और मरजीके अनुसार चलना मनको प्रिय लगता है, परन्तु वह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषके दूर करनेके लिये ज्ञानीका उपदेश है कि प्रथम किसीको उपदेश नहीं देना चाहिये, परन्तु पहिले तो स्वयं ही उपदेश लेनेकी ज़रूरत है। जिसमें राग-द्वेष न हों, उसका संग हुए बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे जीव बदल जाता है—जीवकी दशा बदल जाती है; अर्थात् वह प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनभगवान्की प्रतिमा (शांतभावके लिये) का दर्शन करनेसे सातवें गुणस्थानकमें रहनेवाली ज्ञानीकी जो शांतदशा है, उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें वर्तमानमें अनेक गच्छ प्रचलित हैं। उदाहरणके लिये तपगच्छ, अंचल-गच्छ, लुंकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। ये प्रत्येक गच्छ अपनेसे भिन्न पक्षवालेको मिथ्यात्वी समझते हैं। इसी तरह दूसरे छहकोटि आठकोटि इत्यादि जो विभाग हैं, वे सब अपनेसे भिन्न कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो नौकोटि चाहिये। उसमेंसे जितनी कम हों उतना ही कम समझना चाहिये; और यदि उससे भी आगे जाँय तो समझमें आता है कि नौकोटिके भी छोड़े बिना रास्ता नहीं है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जो मार्ग प्राप्त किया वह मार्ग पामर नहीं है। रूढ़ीका थोड़ा भी छोड़ देना यह अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर जीव महान् और महाभारत मोक्षमार्गको किस तरह ग्रहण कर सकेगा? यह विचारणीय है।

१५६. मिथ्यात्व प्रकृतिके क्षय किये बिना सम्यक्त्व नहीं आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय उसकी दशा अद्भुत रहती है। वहाँसे ५, ६, ७ और ८ वें में जाकर दो घड़ीमें मोक्ष हो सकती है। एक सम्यक्त्वके प्राप्त कर लेनेसे कैसा अद्भुत कार्य बन जाता है। इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अंशमें समझमें आ सकता है।

१५७. दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त करने योग्य मोक्षमार्ग अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाता। आत्म-ज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नहीं होते, अथवा किसीके आशीर्वादसे वे प्राप्त नहीं हो जाते। वे पुरुषार्थके अनुसार ही होते हैं, इसलिये पुरुषार्थकी ज़रूरत है।

१५८. सूत्र–सिद्धांत–शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके बिना फल नहीं देते। जो फेरफार है वह व्यव-

हार मार्गमें ही है। मोक्षमार्ग तो फेरफाररहित है—वह एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें शिथिलताका निषेध किया गया है। वहाँ हिम्मत रखनी चाहिये। जीवको मूर्च्छारहित करना ही जरूरी है।

१५९. विचारवान पुरुषको व्यवहारके फेरफारसे व्याकुल न होना चाहिये।

१६०. ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेकी बराबर नहीं है। परन्तु नीचेकी भूमिकावालेसे वह ठीक है। जीव स्वयं जिस व्यवहारमें हो, उससे यदि दूसरेका व्यवहार ऊँचा देखनेमें आवे, तो उस उच्च व्यवहारका निषेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्षमार्गमें कुछ भी फेरफार नहीं है। तीनों कालमें किसी भी क्षेत्रमें जो एक ही समान रहे वही मोक्षमार्ग है।

१६१. अल्पसे अल्प निवृत्ति करनेमें भी जीवको ठंड माल्रम होती है, तो फिर वैसी अनंत प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उससे निवृत्ति प्राप्त करना यह कितना दुर्धर होना चाहिये? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही सम्यक्त्व है।

१६२. जीवाजीवकी विचाररूपसे तो प्रतीति की न गई हो, और कथनमात्र ही जीवाजीव है—यह कहना सम्यक्त्व नहीं है। तीर्थंकर आदिने भी इसका पूर्वमें आराधन किया है, इससे उन्हें पहिलेसे ही सम्यक्त्व होता है। परन्तु दूसरोंको कुछ अमुक कुलमें, अमुक जातिमें, अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमें अवतार लेनेसे जन्मसे ही वह सम्यक्त्व होता है, यह बात नहीं है।

१६३. विचारके बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता; और जबतक चारित्र न हो तबतक जीव केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता; और जबतक जीव केवलज्ञान नहीं पाता तबतक मोक्ष नहीं—यह देखनेमें आता है।

*१६४. देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

१६५. कर्मरूपसे रहनेवाले परमाणु केवलज्ञानीको दृश्य होते हैं; इसके अतिरिक्त उनके लिये और कोई निश्चित नियम नहीं होता। परमावधिवालेको भी उनका दृश्य होना संभव है; और मनःपर्यवज्ञानीको उनका अमुक देशसे दृश्य होना संभव है।

१६६. पदार्थमें अनंत धर्म-गुण-आदि मौजूद रहते हैं। उनका अनंतवाँ भाग वचनसे कहा जा सकता है; और उसका अनंतवाँ भाग सूत्रमें उपनिबद्ध किया जा सकता है।

१६७. यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण और अपूर्वकरणके बाद युंजनकरण और गुणकरण होते हैं। युंजनकरणका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८. युंजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजन करना। तथा आत्माका गुण जो ज्ञान है, उससे दर्शन, और दर्शनसे चारित्र होना गुणकरण है; इस गुणकरणसे युंजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणकी निरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६९. कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाव, और उसके बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण, सत्ता, और क्षयभावका जो वर्णन किया गया है, उसका परम सामर्थ्यके बिना वर्णन नहीं किया जा सकता। इनका वर्णन करनेवाला कोई जीवकोटिका पुरुष नहीं, परन्तु ईश्वरकोटिका ही पुरुष होना चाहिये, यह सुप्रतीति होती है।

---

* यह व्याख्यानसार श्रोतासे पुस्तकारूढ नहीं हो सका। —अनुवादक.

१७०. किस किस प्रकृतिका किस रससे क्षय होना चाहिये ? किस प्रकृतिमें सत्ता है ? किसमें उदय होता है ? कौन संक्रमणसे है ? इत्यादिकी रचनाको कहनेवालेने, ऊपर कहे अनुसार 'प्रकृतिके स्वरूपको माप तोलकर ही कहा है '—इस उनकी परमज्ञानकी बातको यदि एक ओर रख दें तो भी, यह तो निश्चय होता है कि वह कथन करनेवाला ईश्वरकोटिका ही पुरुष होना चाहिये।

१७१. जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानके धारणा नामक भेदमें गर्भित होता है। वह पिछले भवको जान सकता है। जबतक पिछले भवमें असंज्ञीपना न आया हो, तबतक वह आगे चल सकता है।

१७२. (१) तीर्थंकरने आज्ञा न दी हो, और जीव अपनी वस्तुके सिवाय परवस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है, तो वह परका लिया हुआ और अदत्त ही गिना जाता है। उस अदत्तमेंसे तीर्थंकरने परवस्तुकी जितनी ग्रहण करनेकी छूट दी है, उसको परवस्तु नहीं गिना जाता।

(२) गुरुकी आज्ञानुसार किये गये आचरणके संबंधमें अदत्त नहीं गिना जाता।

१७३. उपदेशके मुख्य चार भेद हैं:—

(१) द्रव्यानुयोग (२) चरणानुयोग (३) गणितानुयोग और (४) धर्मकथानुयोग.

(१) लोकमें रहनेवाले द्रव्य, उनका स्वरूप, उनके गुण, धर्म, हेतु, अहेतु, पर्याय आदि अनंतानंत प्रकारोंका जिसमें वर्णन है, वह द्रव्यानुयोग है।

(२) इस द्रव्यानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, जिसमें आचरणसम्बन्धी वर्णन हो वह चरणानुयोग है।

(३) द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाणका, तथा लोकमें रहनेवाले पदार्थ, भाव, क्षेत्र, काल आदिकी गिनतीके प्रमाणका जो वर्णन है वह गणितानुयोग है।

(४) सत्पुरुषोंके धर्म-चरित्रकी कथायें—जिनका आश्रय लेनेसे वे गिरनेवाले जीवको अवलम्बनकारी होतीं हैं—धर्मकथानुयोग है।

१७४ परमाणुमें रहनेवाले गुण स्वभाव आदि तो कायम रहते हैं, और पर्यायमें ही फेरफार होता है। उदाहरणके लिये पानीमें रहनेवाले शीत गुणमें फेरफार नहीं होता, परन्तु पानीमें जो तरंगें उठतीं हैं, उन्हींमें फेरफार होता है; अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमें समाती रहतीं हैं। इस तरह पर्यायावस्थाका ही अवस्थांतर हुआ करता है, परन्तु इससे पानीमें रहनेवाली शीतलतामें अथवा स्वयं पानीमें परिवर्तन नहीं होता; वे तो कायम ही रहते हैं; और पर्यायरूप तरंगोंमें ही परिवर्तन हुआ करता है। तथा उस गुणकी हानि वृद्धिरूप जो फेरफार है वह भी पर्याय ही है। उसके विचारसे प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग, और त्यागसे ज्ञान होता है।

१७५. तैजस और कार्माण शरीर स्थूल देहके प्रमाण हैं। तैजस शरीर गरमी करता है, और वह आहारके पचानेका काम करता है। शरीरके अमुक अमुक अंगके परस्पर रगड़नेसे जो वे गरम माछ्म होते हैं, सो वे तैजसके कारण ही माछ्म होते हैं। तथा सिरके ऊपर घृत आदि लगाकर शरीरकी परीक्षा करनेकी भी जो रूढ़ी प्रचलित है, उसका अर्थ भी यही है कि वह शरीर स्थूल शरीरमें है अथवा नहीं ? अर्थात् वह शरीर, स्थूल शरीरमें जीवकी तरह, समस्त शरीरमें रहता है।

१७६. कार्माण शरीर भी इसी तरह है। वह तैजसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी तैजसकी तरह रहता है। स्थूल शरीरके भीतर जो पीड़ा होती है, अथवा जो क्रोध आदि होते हैं, वही कार्माण शरीर है। कार्माणसे क्रोध आदि होकर तेजोलेश्या आदि उत्पन्न होती हैं। यद्यपि वेदनाका अनुभव जीव ही करता है, परन्तु जो वेदना होती है, वह कार्माण शरीरके कारण होती है। कार्माण शरीर जीवका अवलंबन है।

१७७. ऊपर कहे हुए चार अनुयोगोंके तथा उनके सूक्ष्म भावोंके स्वरूपका जीवको विचार करना योग्य है—समझना योग्य है। वह परिणाममें निर्जराका हेतु होता है, अथवा उससे निर्जरा होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिये ही यह सब कहा गया है। कारण कि जीवने यदि सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्वरूपको कुछ समझा हो तो उसके लिये बारंबार विचार करना होता है, और उस विचारके करनेसे जीवकी बाह्यवृत्ति न होकर, वह विचार करनेतक भीतरकी भीतर ही समाई रहती है।

१७८. यदि जीवको अंतर्विचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुके ऊपर जाकर, उससे तरह तरहके घाट घड़े जाते हैं। क्योंकि जीवको कोई अवलंबन तो चाहिये। उसे खाली बैठे रहना ठीक नहीं लगता; उसे ऐसी ही आदत पड़ गई है। इस कारण यदि उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ हो तो उसके विचारके कारण, सत्चित्तवृत्ति बाहर निकलकर जानेके बदले, भीतर ही समा जाती है; और ऐसा होनेसे निर्जरा होती है।

१७९. पुद्गल-परमाणु और उसकी पर्याय आदिकी सूक्ष्मताको, जितना वह वचनका विषय हो सकता है, उतना कहा गया है। वह इसलिये कि ये पदार्थ मूर्त्तिमान हैं—अमूर्त्तिमान नहीं। ये मूर्त्तिमान होनेपर भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनका बारम्बार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें आता है, और उनके उस तरह समझमें आनेसे, उससे सूक्ष्म अरूपी आत्मासंबंधी ज्ञान करनेका काम सरल हो जाता है।

१८०. मान और मताग्रह ये मार्गप्राप्तिमें स्तंभरूप हैं। उनका त्याग नहीं किया जा सकता, और इस कारण समझ भी नहीं आती। तथा समझ आनेमें विनय-भक्तिकी पहिले जरूरत पड़ती है। तथा वह भक्ति मान-मताग्रहके कारण ग्रहण नहीं की जा सकती।

१८१. बाँचना, पूँछना, बारम्बार विचारना, चित्तमें निश्चय लाना और धर्मकथा। वेदान्तमें भी श्रवण मनन और निदिध्यासन ये भेद बताये हैं।

१८२. उत्तराध्ययनमें धर्मके मुख्य चार अंग कहे हैं:—

(१) मनुष्यता (२) सत्पुरुषके वचनोंका श्रवण (३) उसकी प्रतीति और (४) धर्मका आचरण करना—ये चार वस्तुयें दुर्लभ हैं।

१८३. मिथ्यात्वके दो भेद हैं—व्यक्त और अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये गये हैं:—उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य। जबतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व रहता है तबतक जीव पहिले गुणस्थानकमेंसे बाहर नहीं निकलता। तथा जबतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है, तबतक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक भी नहीं माना जाता। गुणस्थानक जीवके आश्रयसे होता है।

१८४. मिथ्यात्वके द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता है, और इस कारण जहाँ जरा आगे चले कि जीव तुरत ही मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आ जाता है।

१८५. गुणस्थानक आत्माके गुणको लेकर ही होता है।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकला हो, परन्तु यदि थोड़ा भी निकल गया हो, तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है। यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वके द्वारा मंद होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंश जो कषाय होती है, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्व गुण-स्थानक हुआ कहा जाता है।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें—पूर्ण प्रतीतिमें—उसी तरहके मिलते जुलते अन्य मार्गकी सदृशताके अंशसे सदृशतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है। परन्तु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, इस तरह दोनोंके ऊपर एकसी प्रतीति रखना मिश्र नहीं, किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थानक है। तथा अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें समान है—यह कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। कारण कि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनकी साथ समानता करनेमें पहिला दर्शन ही सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है।

१८८. पहिले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जाते, परन्तु चौथेसे पीछे फिरते हुए जब पहिलेमें आना रहता है, तब बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक कहा जाता है। उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ गुणस्थानक माना जाय, तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें चढ़ जाय; और यहाँ तो सास्वादनको चौथेसे पतित हुआ माना गया है। अर्थात् वह नीचे उतरता हुआ ही है, उसे पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता, इसलिये उसे दूसरा ही कहना ठीक है।

१८९. आवरण मौजूद है, यह बात तो सन्देहरहित है। इसे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही कहते हैं। परन्तु आवरणको साथ लेकर कथन करनेमें एक दूसरेमें कुछ थोड़ासा भेद आता है।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं, परन्तु शक्तिरूपसे रहता है।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक ही है, परन्तु विशेषार्थकी दृष्टिसे उसमें कुछ थोड़ासा फेर है।

१९२. दृढ़रूपसे ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे 'विचारसहित आस्था' होती है।

१९३. तीर्थंकर जैसे भी संसारदशामें विशेष समृद्धिके स्वामी थे; फिर भी उन्हें त्याग करनेकी ज़रूरत पड़ी; तो फिर अन्य जीवोंको वैसा करनेके सिवाय कैसे छुटकारा हो सकता है?

१९४. त्याग दो प्रकारका है:—एक बाह्य और दूसरा अभ्यंतर। बाह्य त्याग अभ्यंतर त्यागका सहकारी है (त्यागके साथ वैराग्यको भी सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है)।

१९५. जीव ऐसा समझता है कि 'मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करनेका विचार करूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा,' परन्तु यह मानना भूलसे भरा हुआ है। क्योंकि जबतक ऐसा प्रसंग नहीं आया, तभीतक अपना जोर रहता है। किन्तु जब ऐसा समय आता है तब जीव

शिथिल-परिणामी होकर मंद पड़ जाता है। इसलिये धीरे धीरे इस बातकी जाँच और परिचय करना चाहिये कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शिथिल हो जाते हैं ?

१९६. आँख जीभ आदि इन्द्रियोंकी एक एक अंगुल जगह जीतनी भी जिसे मुश्किल हो जाती है, अथवा उसका जीतना असंभव हो जाता है, उसे यदि महान् पराक्रम करनेका अथवा महान् क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह बन सकता है ? इसलिये 'जब एकदम त्याग करनेका समय आवेगा तबकी बात तब रही'—इस विचारकी ओर लक्ष रखकर, हालमें तो धीरे धीरे त्यागकी कसरत करनेकी ही ज़रूरत है। उसमें भी प्रथम शरीर और शरीरके साथ संबंध रखनेवाले सगे संबंधियोंकी जाँच करनी चाहिये; और शरीरमें भी प्रथम आँख जीभ और उपस्थ इन तीन इन्द्रियोंके विषयको देश देशसे त्याग करनेकी ओर लक्ष्य करना चाहिये, और उसके अभ्याससे त्याग एकदम सुगम हो जाता है।

१९७. इस समय जाँच करनेके तौरपर अंश अंशसे जितना जितना त्याग करना है, उसमें भी शिथिलता न रखनी चाहिये। तथा रूढ़ीका अनुसरण करके त्याग करना भी ठीक नहीं। जो कुछ त्याग करना वह शिथिलतारहित द्वार-दरवाजेरहित ही करना चाहिये; अथवा यदि कुछ द्वार-दरवाजे रखनेकी जरूरत हो तो उन्हें भी निश्चितरूपमें खुले हुए रखना चाहिये। परन्तु उन्हें इस तरह न रखना चाहिये कि उसका जिस समय जैसा अर्थ करना हो वैसा अर्थ हो सके। जिस समय जिसकी जरूरत पड़े, उस समय उसका अपनी इच्छानुसार अर्थ हो सके, ऐसी व्यवस्था ही त्यागमें न रखनी चाहिये। यदि इस तरहकी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूर पड़े तब मनवांछित अर्थ हो सके, तो जीव शिथिल-परिणामी होकर त्याग किया हुआ सब कुछ बिगाड़ डालता है।

१९८. यदि अंशसे भी त्याग करना हो तो उसकी पहिलेसे ही निश्चयरूपसे व्याख्या बाँधकर साक्षी रखकर त्याग करना चाहिये; तथा त्याग करनेके बाद अपनेको मनवांछित अर्थ नहीं करना चाहिये।

१९९. संसारमें परिभ्रमण करानेवाली क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकड़ीरूप कषाय है। उसका स्वरूप भी समझना चाहिये। उसमें भी जो अनंतानुबंधी कषाय है वह अनंत संसारमें भटकानेवाली है। उस कषायके क्षय होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले क्रोध, फिर मान, फिर माया और फिर लोभका क्षय होता है; और उसके उदय होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले मान, और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधका उदय होता है।

२००. इस कषायके असंख्यात भेद हैं। जिस रूपमें कषाय होती है उसी रूपमें जीव संसार-परिभ्रमणके लिये कर्मबंध करता है। कषायोंमें बड़ासे बड़ा बंध अनंतानुबंधी कषायका है। जो अंतर्मुहूर्तमें सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी आयुको बाँधती है, उस अनंतानुबंधीका स्वरूप भी ज़बर्दस्त है। वह इस तरह कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, मिथ्यात्वमोहरूपी राजाको बराबर सावधानीसे सैन्यके मध्य भागमें रखकर उसकी रक्षा करते हैं; और जिस समय जिसकी जरूरत होती है उस समय वह बिना बुलाये ही मिथ्यात्वमोहनीयकी सेवा बजाने जुट पड़ता है। इसके पश्चात् उसका नोकषायरूप दूसरा परिवार है। वह कषायके अग्रभागमें रहकर मिथ्यात्वमोहनीयकी रखवाली करता है; परन्तु यह सब रखवाली करते हुए भी नहीं जैसी कषायका ही काम करता है। भटकाने-

वाली तो कषाय ही है, और उस कषायमें भी अनंतानुबंधी कषायके चार योद्धा तो बहुत ही मार डालनेवाले हैं। इन चार योद्धाओंके बीचमें क्रोधका स्वभाव दूसरे अन्य तीनकी अपेक्षा कुछ जल्दी मालूम हो जाता है। क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी ही मालूम हो सकता है। इस तरह जब किसीका स्वरूप जल्दी मालूम हो जाय, तो उस समय उसकी साथ लड़ाई करनेमें, क्रोधीकी प्रतीति हो जानेसे, लड़नेकी हिम्मत होती है।

२०१. घनघाती चार कर्म—मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय—जो आत्माके गुणोंको आवरण करनेवाले हैं, उनका एक तरह क्षय करना सरल भी है। तथा वेदनीय आदि कर्म यद्यपि घनघाती नहीं हैं, तो भी उनका एक तरहसे क्षय करना दुष्कर है। वह इस तरह कि जब वेदनीय कर्मका उदय आवे तो उसका क्षय करनेके लिये उसे भोगना ही चाहिये। उसे न भोगनेकी इच्छा हो तो भी वह इच्छा निरुपयोगी ही है—क्योंकि उसे तो भोगना ही चाहिये; और यदि ज्ञानावरणीयका उदय हो तो वह प्रयत्न करनेसे क्षय हो जाता है। उदाहरणके लिये, कोई श्लोक यदि ज्ञानावरणीयके उदयसे याद न रहता हो तो उसे दोबार, चारबार, आठबार, सोलहबार, बत्तीसबार, चौंसठबार, सौबार, अर्थात् उसे अधिकबार याद करनेसे ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर वह श्लोक याद रहता है; अर्थात् बलवान होनेके कारण ज्ञानावरणीयका उसी भवमें अमुक अंशमें क्षय किया जा सकता है। यही बात दर्शनवरणीय कर्मके संबंधमें भी समझनी चाहिये। महाबलवान मोहनीय कर्म भी इसी तरह शिथिल होता है—उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आगमन—प्रवाह—आनेमें जबर्दस्त है, उसी तरह वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीय कर्मका तीव्र बंध होता है, तो भी वह प्रदेशबंध न होनेसे उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। तथा नाम आयु आदि कर्मका जो प्रदेशबंध होता है, वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्ततक भोगना पड़ता है; जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उसके पहिले ही क्षय हो जाते हैं।

२०२. उन्मत्तता यह चारित्रमोहनीयकी विशेष पर्याय है। वह क्वचित् हास्य, क्वचित् शोक, क्वचित् रति, क्वचित् अरति, क्वचित् भय, और क्वचित् जुगुप्सारूपसे मालूम होती है। कुछ अंशसे उसका ज्ञानावरणीयमें भी समावेश होता है। स्वप्नमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय-पर्याय ही मालूम होती है।

२०३. 'संज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परन्तु परिग्रहसंज्ञा लोभप्रकृतिमें गर्भित होती है। आहारसंज्ञा वेदनीयमें गर्भित होती है; और भयसंज्ञा भयप्रकृतिमें गर्भित होती है।

२०४. अनंत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे प्रकृतिके नामसे कहे जाते हैं। वह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति, अमुक अमुक गुणस्थानकतक होती है। इस तरह माप तोलकर ज्ञानीदेवने दूसरोंके समझानेके लिये स्थूलरूपसे उसका विवेचन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म अर्थात् 'कर्मप्रकृति'का समावेश होता है; अर्थात् जिस प्रकृतिके नाम कर्मग्रंथमें नहीं आते, वह प्रकृति ऊपर बताई हुई प्रकृतिकी ही विशेष पर्याय है, अथवा वह ऊपर बताई हुई प्रकृतिमें गर्भित हो जाती है।

२०५. विभावका अर्थ विरुद्धभाव नहीं, किन्तु उसका अर्थ विशेषभाव होता है। आत्मा जो आत्मारूपसे परिणमन करती है वह भाव अथवा स्वभाव है। तथा जब आत्मा और जड़का संयोग

होनेसे आत्मा स्वभावको छोड़कर आगे जाकर विशेषभावसे परिणमन करती है, वह विभाव है। इसी तरह जड़के लिये भी समझना चाहिये।

२०६. कालके अणु लोक-प्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमें रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं हैं। इससे एक अणु दूसरेमें नहीं मिल जाता, और हरेक जुदा जुदा रहता है। परमाणुके पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूलसत्ताके मौजूद रहनेके कारण उसका—परमाणु-पुद्गलका—स्कंध होता है।

(२)

उत्पाद.
व्यय.
ध्रुव. } यह भाव एक वस्तुमें एक समयमें है।

जीव और परमाणुओंका
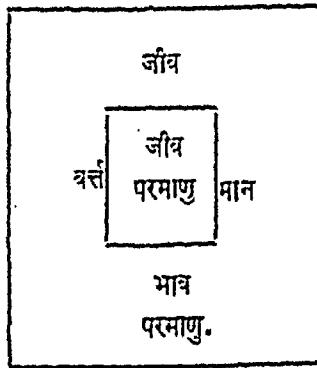
संयोग.

कोई जीव एकेन्द्रियरूपसे पर्याय है ,, दो इन्द्रियरूपसे ,, है ,, तीन इन्द्रियरूपसे ,, है ,, चार इन्द्रियरूपसे ,, है ,, पाँच इन्द्रियरूपसे ,, है	वर्त्तमानभाव.
संज्ञी असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त	वर्त्तमानभाव.
ज्ञानी अज्ञानी	वर्त्तमानभाव.
मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि	वर्त्तमानभाव.
एक अंश क्रोध यावत अनंत अंश क्रोध.	वर्त्तमानभाव.

(३)

प्रश्नः— आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग;
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ।

(१) सद्गुरुके योग्य ये लक्षण मुख्यतया कौनसे गुणस्थानकमें संभव हैं ?

(२) समदर्शीता किसे कहते हैं ?

उत्तर:—(१) सद्गुरुके योग्य जो इन लक्षणोंको बताया है, वे लक्षण मुख्यतया—विशेषरूपसे—उपदेशक अर्थात् मार्गप्रकाशक सद्गुरुके ही लक्षण कहे हैं। तथा उपदेशक गुणस्थानक छट्ठा और तेरहवाँ है; बीचके सातवेंसे बारहतकके गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं; अर्थात् उनमें उपदेशक प्रवृत्ति संभव नहीं है। मार्गोपदेशक प्रवृत्ति छट्ठेसे आरंभ होती है।

छट्ठे गुणस्थानकमें संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं है; वह तो तेरहवेंमें है; और यथावत् मार्गोपदेशकत्व तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परमसद्गुरु श्री-जिनतीर्थंकर आदिमें ही घटता है। तथापि छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि, जो सम्पूर्ण वीतरागता और कैवल्यदशाका उपासक है, जिसकी उस दशाके लिये ही प्रवृत्ति-पुरुषार्थ-रहता है; जिसने उस दशाको यद्यपि सम्पूर्ण रूपसे नहीं पाया, फिर भी जिसने उस सम्पूर्ण दशाके पानेके मार्गसाधनको, स्वयं परम सद्गुरु श्रीतीर्थंकर आदि आप्तपुरुषके आश्रय-वचनसे जाना है—उसकी प्रतीति की है, अनुभव किया है; और इस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह उत्तरोत्तर दशा विशेष प्रगट होती जाती है; तथा जिसके निमित्तसे श्रीजिनतीर्थंकर आदि परम सद्गुरुकी और उनके स्वरूपकी पहिचान होती है—उस सद्गुरुमें भी मार्गोपदेशकत्व अविरोधरूपसे रहता है।

उससे नीचेके पाँचवें और चौथे गुणस्थानकमें तो मार्गोपदेशकत्व संभव ही नहीं। क्योंकि वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी और ज्ञानकी पहिचान नहीं, प्रतीति नहीं, तथा सम्यक्विरति नहीं; और यह पहिचान—प्रतीति—और सम्यक्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपना और मार्गका विरोधरूप है।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहिचान-प्रतीति-रहती है, और वहाँ आत्मज्ञान आदि गुण अंशसे ही रहते हैं; और पाँचवेंमें देशविरतिभावको लेकर यद्यपि चौथेकी अपेक्षा विशेषता है, तथापि वहाँ सर्वविरतिके जितनी विशुद्धि नहीं है।

आत्मज्ञान समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, उन्हें मुख्यतासे संयतिधर्ममें स्थित, वीतराग-दशाके साधक, उपदेशक गुणस्थानमें रहनेवाले सद्गुरुको लक्ष करके ही बताया है; और उनमें वे गुण बहुत अंशोंसे रहते भी हैं। तथापि वे लक्षण सर्वांशसे-संपूर्णरूपसे-तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवन्मुक्त सयोगकेवली परमसद्गुरु श्रीजिन अरहंत तीर्थंकरमें ही रहते हैं। क्योंकि उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी ज्ञानदशा अर्थात् ज्ञानातिशयको सूचन करता है। तथा उनमें समदर्शिता सम्पूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी वीतराग चारित्रदशा अर्थात् अपायागमातिशयको सूचित करता है। तथा वे सम्पूर्णरूपसे इच्छारहित हैं इसलिये उनकी विचरने आदिकी दैहिक आदि योगक्रियायें पूर्वप्रारब्धका वेदन करनेके लिये पर्याप्त ही हैं,

इसलिये " विचरे उदय प्रयोग " ऐसा कहा है। सम्पूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी, अज्ञानीकी वाणीसे विलक्षण और एकांत आत्मार्थकी बोधक है, इस कारण उनमें वाणीकी अपूर्वता कही है; जो उनके वचनातिशयको सूचन करता है। वाणीधर्ममें रहनेवाला श्रुत भी उनमें ऐसी सापेक्षतासे रहता है कि जिससे कोई भी नय खंडित न हो; यह उनके परमश्रुत गुणको सूचित करता है; और जिनमें परमश्रुत गुण रहता है, वे पूजनीय हैं, इससे उनके पूजातिशय गुणका सूचन होता है।

ये श्रीजिन अरिहंत तीर्थंकर, परमसद्गुरुकी भी पहिचान करानेवाले विद्यमान सर्वविरति सद्गुरु हैं, इसलिये मुख्यतया इन सद्गुरुको लक्ष्य करके ही इन लक्षणोंको बताया है।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमें इष्टानिष्टबुद्धिरहितपना, इच्छारहितपना और ममत्वरहितपना। समदर्शिता चारित्रदशाका सूचन करती है। राग-द्वेषरहित होना यह चारित्रदशा है। इष्टानिष्टबुद्धि ममत्व और भावाभावका उत्पन्न होना राग-द्वेष है। 'यह मुझे प्रिय है, यह मुझे अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता'—ऐसे भाव समदर्शीमें नहीं होते।

समदर्शी बाह्य पदार्थोंको और उनकी पर्यायोंको, वे पदार्थ और पर्याय जिस भावसे रहते हैं, उन्हें उसी भावसे देखता है, जानता है और कहता है; परन्तु वह उन पदार्थोंमें अथवा उनकी पर्यायोंमें ममत्व अथवा इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता।

आत्माका स्वाभाविक गुण देखना-जानना है, इसलिये वह ज्ञेय पदार्थको देखती जानती है; परन्तु जिस आत्माको समदर्शिता प्रगट हो गई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते जानते हुए भी, उसमें ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव और इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करती। विषमदृष्टि आत्माको ही पदार्थमें तादात्म्यवृत्ति होती है—समदृष्टि आत्माको नहीं होती।

कोई पदार्थ काला हो तो समदर्शी उसे काला ही देखता जानता और कहता है। कोई पदार्थ सफेद हो तो वह उसे वैसा ही देखता जानता और कहता है। कोई पदार्थ सुगंधित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है; कोई दुर्गंधित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है। कोई ऊँचा हो, कोई नीचा हो, तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है। वह सर्पको सर्पकी प्रकृतिरूपसे देखता जानता और कहता है; और बाघको बाघकी प्रकृतिरूपसे देखता जानता और कहता है। इत्यादि प्रकारसे वस्तुमात्र जिस रूपसे जिस भावसे होती हैं, समदर्शी उसे उसी रूपसे, उसी भावसे देखता जानता और कहता है। वह हेय (छोड़ने योग्य) को हेयरूपसे देखता जानता और कहता है; और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को उपादेयरूपसे देखता जानता और कहता है। परन्तु समदर्शी-जीव उन सबमें अपनापन, इष्टानिष्टबुद्धि और राग-द्वेष नहीं करता। सुगंध देखकर वह उसमें प्रियता नहीं करता, दुर्गंध देखकर वह उसमें अप्रियता—दुगुंछा—नहीं करता। व्यवहारमें कुछ अच्छा गिना जाता हुआ देखकर, वह ऐसी इच्छाबुद्धि (राग-रति) नहीं करता कि यह मुझे मिल जाय तो ठीक है। तथा व्यवहारमें कुछ खराब समझा जाता हुआ देखकर, वह ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष-अरति) नहीं करता कि यह मुझे न मिले तो ठीक है। प्राप्त स्थितिमें—संयोगमें—अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टबुद्धि, आकुलता व्याकुलता न करते हुए, उसमें समवृत्तिसे, अर्थात् अपने निज स्वभावसे, रागद्वेष-रहित भावसे रहना ही समदर्शिता है।

साता-असाता, जीवन-मृत्यु, सुगंध-दुर्गंध, सुस्वर-दुस्वर, रूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टबुद्धि और आर्तध्यान न रहना ही समदर्शिता है।

समदर्शीमें हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका त्याग अवश्य होता है। यदि अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता संभव नहीं। समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यकारण, अविनाभावी और अन्योन्याश्रयसंबंध है। यदि एक न हो तो दूसरा नहीं होता, और यदि दूसरा न हो तो पहिला नहीं होता।

समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि व्रत होते हैं।
समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि व्रत नहीं होते।
अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता नहीं होती।
अहिंसा आदि व्रत हों तो समदर्शिता होती है।

जितने अंशमें समदर्शिता होती है, उतने ही अंशमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, और
जितने अंशोंमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, उतने ही अंशमें समदर्शिता होती है।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता तो मुख्यतया सर्वविरति गुणस्थानकमें होती है। बादके गुणस्थानकोंमें वह उत्तरोत्तर वर्धमान होती जाती है—विशेष प्रगट होती जाती है। तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा, और बादमें सम्पूर्ण वीतरागता होती है।

समदर्शिताका अर्थ लौकिकभावमें समानभाव, अभेदभाव, एकसमान बुद्धि और निर्विशेषपना नहीं है। अर्थात् काँच और हीरे दोनोंको एकसा समझना, अथवा सत्श्रुत और असत्श्रुतमें समानभाव मानना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद समझना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी बुद्धि रखना, अथवा सद्देव और असद्देवमें निर्विशेषभाव दिखाना—अर्थात् दोनोंको एकसमान समझना इत्यादि समानवृत्तिको समदर्शिता नहीं कहते; यह तो आत्माकी मूढ़ता, विवेकशून्यता, और विवेकविकलता है। समदर्शी सत्को सत् जानता है, सत्का बोध करता है; असत्को असत् जानता है, असत्का निषेध करता है; सत्श्रुतको सत्श्रुत समझता है, उसका बोध करता है; कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है; सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है; असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है; सद्गुरुको सद्गुरु समझता है, उसका बोध करता है; असद्गुरुको असद्गुरु समझता है, उसका निषेध करता है; सद्देवको सद्देव समझता है, उसका बोध करता है; असद्देवको असद्देव समझता है, उसका निषेध करता है—इत्यादि जो जैसा होता है, जो उसे वैसा ही देखता है, जानता है, उसका प्ररूपण करता है, और उसमें राग-द्वेष इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता, उसे समदर्शी समझना चाहिये। ॐ.

---

७५४ मोरबी, चैत्र वदी १२ रवि. १९५४

(१) कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार शास्त्र आदिसे अंततक विचारने योग्य हैं।

(२) दुःषमकालका प्रबल राज्य विद्यमान है। तो भी अडग निश्चयसे सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्ति लगाकर, जो पुरुष अगुप्त वीर्यसे सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहते हैं, उन्हें परमशांतिका मार्ग अभी भी प्राप्त हो सकता है।

७५५

ॐ नमः

केवलज्ञान—

एक ज्ञान.

सर्व अन्य भावोंके संसर्गसे रहित एकांत शुद्धज्ञान.

सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका सब प्रकारसे एक समयमें ज्ञान.

उस केवलज्ञानका हम ध्यान करते हैं.

वह निजस्वभावरूप है.

वह स्वतत्त्वभूत है.

निरावरण है.

भेदरहित है.

निर्विकल्प है.

सर्वभावका उत्कृष्ट प्रकाशक है.

७५६

मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ—यह सम्यक् प्रतीत होता है।

वैसे होनेके हेतु सुप्रतीत हैं।

सर्व इन्द्रियोंका संयम कर, सर्व परद्रव्योंसे निजस्वरूपको व्यावृत्त कर, योगको अचल कर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है।

७५७

आकाशवाणी.

तप करो। तप करो। शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो। शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो।

७५८

मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावोंसे मुक्त हूँ। मैं असंख्यात प्रदेशात्मक निज अवगाहना प्रमाण हूँ।

मैं अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। मैं स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ।

मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ।
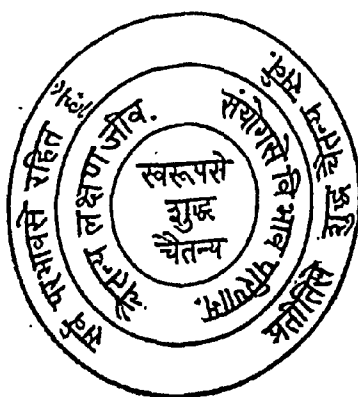
७५९ ववाणीआ, ज्येष्ठ १९५४

१. देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप ऐसी इस आत्मामें निमग्न होओ।

हे आर्यजनो! अंतर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मामें ही रहो, तो अनंत अपार आनन्दका अनुभव करोगे।

२. सर्व जगत्के जीव कुछ न कुछ पाकर सुख पानेकी ही इच्छा करते हैं। महान् चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभव और परिग्रहके संकल्पमें प्रयत्नशील रहते हैं; और वे उसके प्राप्त करनेमें ही सुख समझते हैं। परन्तु अहो! ज्ञानियोंने तो उससे विपरीत ही सुखका मार्ग निर्णय किया है, कि किंचित् मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है।

३. विषयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्त्त हैं, उसे शीतल आत्मसुख—आत्मत्त्व—कहाँसे प्रतीतिमें आ सकता है?

४. परमधर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं विरक्ति लेनेकी ही इच्छा करता हूँ। हमें परिग्रहका क्या करना है? हमें उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं।

५. 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि है वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है'—हे आर्यजनो! तुम इस परम वाक्यका आत्मरूपसे अनुभव करो।

---

७६० ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी १ शनि. १९५४

१. सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भावसे जो सर्व प्रकारसे अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूपमें स्थित हो गये, उन परम पुरुषोंको नमस्कार हो!

२. जिसे कुछ प्रिय नहीं, जिसे कुछ अप्रिय नहीं; जिसका कोई शत्रु नहीं; जिसका कोई मित्र नहीं; जिसने मान, अपमान, लाभ, अलाभ, हर्ष शोक, जन्म, मृत्यु आदिके द्वंद्वका अभाव कर, शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिति पाई है, पाता है और पावेगा, उसका अति उत्कृष्ट पराक्रम आनन्दसहित आश्चर्य उत्पन्न करता है।

३. देहके प्रति जैसा वस्त्रका संबंध है, वैसा ही आत्माके प्रति जिसने देहके संबंधको याथातथ्य देखा है; जैसे म्यानके प्रति तलवारका संबंध है, वैसा ही देहके प्रति जिसने आत्माके संबंधको देखा है; तथा जिसने आत्माको अबद्ध–स्पष्ट–अनुभव किया है, उन महान् पुरुषोंको जीवन और मरण दोनों समान हैं।

४. जो अचिन्त्य द्रव्यकी शुद्धचितिस्वरूप कांति, परम प्रगट होकर उसे अचिन्त्य करती है, वह अचिन्त्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परम कृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया, उसका अपार उपकार है।

५. चन्द्र भूमिका प्रकाश करता है—उसकी किरणोंकी कांतिके प्रभावसे समस्त भूमि श्वेत हो जाती है; परन्तु चन्द्र कभी भी भूमिरूप नहीं होता। इसी तरह समस्त विश्वकी प्रकाशक आत्मा कभी भी विश्वरूप नहीं होती, वह सदा—सर्वदा—चैतन्यरूप ही रहती है। विश्वमें जीव जो अभेदबुद्धि मानता है, यही भ्रान्ति है।

६. जिस तरह आकाशमें विश्वका प्रवेश नहीं—आकाश सर्व भावोंकी वासनासे रहित ही है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने, सर्व द्रव्योंसे भिन्न, सर्व अन्य पर्यायोंसे रहित ही आत्माको प्रत्यक्ष देखा है।

७. जिसकी उत्पत्ति अन्य किसी भी द्रव्यसे नहीं होती, उस आत्माका नाश भी कहाँसे हो सकता है ?

८. अज्ञानसे और निजस्वरूपके प्रति प्रमादसे, आत्माको केवल मृत्युकी भ्रांति ही है। उस भ्रान्तिको निवृत्त कर, शुद्धचैतन्य निजअनुभव-प्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर, ज्ञानी सदा ही निर्भय रहता है। इसी स्वरूपके लक्षसे सब जीवोंके प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है, और सर्व परद्रव्योंसे वृत्तिको व्यावृत्त कर, आत्मा क्लेशरहित समाधिको पाती है।

९. परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्धचैतन्यस्वरूप समाधिको जिसने सर्व कालके लिये प्राप्त किया, उन भगवान्को नमस्कार हो! उस पदमें निरंतर लक्षरूप जिनका प्रवाह है, उन सत्पुरुषोंको नमस्कार हो।

१०. सबसे सब प्रकारसे मैं भिन्न हूँ, मैं एक केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट अचिन्त्यसुखस्वरूप, मात्र एकांत शुद्धअनुभवरूप हूँ। फिर वहाँ विक्षेप क्या ? विकल्प क्या ? भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मैं शुद्ध शुद्ध प्रकृष्ट शुद्ध परमशान्त चैतन्य हूँ; मैं मात्र निर्विकल्प हूँ; निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ; तन्मय होता हूँ। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

---

७६१ ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी ६ गुरु. १९५४

महान् गुणनिष्ठ स्थविर आर्य श्रीडूंगर ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवारकी रात्रिको नौ बजे समाधिसहित देह-मुक्त हो गये।

---

७६२ बम्बई, ज्येष्ठ वदी ४ बुध. १९५४

ॐ नमः

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो, ऐसे सत्समागमका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। तथा उसमें भी यह दुःषमकाल होनेसे जीवको उसका विशेष अन्तराय है। जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महत्पुण्यवान है। सत्समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका सदाचारपूर्वक परिचय अवश्य करना चाहिये।

---

७६३ बम्बई, ज्येष्ठ वदी १४ शनि. १९५४

नमो वीतरागाय.

मुनियोंके समागममें ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करनेके संबंधमें यथासुख प्रवृत्ति करना, प्रतिबंध नहीं। मुनियोंको जिनस्मरण पहुँचे।

---

७६४ बम्बई, आषाढ़ सुदी ११ गुरु. १९५४

ॐ

अनंत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जिस पुरुषने अपार मोहजालको पार किया, उन श्री-भगवान्‌को नमस्कार है!

अनंतकालसे जो ज्ञान संसारका हेतु होता था, उस ज्ञानको एक समयमात्रमें जात्यंतर करके, जिसने उसे भवनिवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार है!

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है।

---

७६५ मोहमयी, श्रावण सुदी १५ सोम. १९५४

१. मोक्षमार्गप्रकाश ग्रंथके विचारनेके बाद कर्मग्रंथ विचारनेसे अनुकूल पड़ेगा।

२. दिगम्बर सम्प्रदायमें द्रव्यमनको आठ पांखडीका कहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उस बातकी विशेष चर्चा नहीं की। योगशास्त्रमें उसके अनेक प्रसंग हैं। समागममें उसका स्वरूप जानना सुगम हो सकता है।

---

७६६ काविठा, श्रावण वदी १२ शनि. १९५४

ॐ नमः

तुमने अपनी वृत्ति हालमें समागममें आनेके संबंधमें प्रगट की, उसमें तुम्हें अंतराय जैसा हुआ; क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेके पहिले ही लोगोंमें पर्यूषणका प्रारंभ हुआ समझा जायगा। इस कारण तुम यदि इस ओर आओ, तो गुण-अवगुणका विचार किये बिना ही मताग्रही लोग निंदा करेंगे, और उस निमित्तको ग्रहण कर, वे बहुतसे जीवोंको उस निन्दाद्वारा, परमार्थकी प्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करेंगे। इस कारण जिससे वैसा न हो उसके लिये, तुम्हें हालमें तो पर्यूषणमें बाहर न निकलनेसंबंधी लोकपद्धतिकी ही रक्षा करना चाहिये।

वैराग्यशतक, आनंदघनचौवीसी, भावनाबोध आदि पुस्तकोंका जितना बाँचना विचारना बने, उतना निवृत्तिका लाभ लेना। प्रमाद और लोकपद्धतिमें ही कालको सर्वथा वृथा गुमा देना यह मुमुक्षु जीवका लक्षण नहीं।

(२)

(१) सत्पुरुष अन्याय नहीं करते। सत्पुरुष यदि अन्याय करें तो इस जगत्‌में बरसात किसके लिये पड़ेगी? सूर्य किसके लिये प्रकाशित होगा? वायु किसके लिये बहेगी?

(२) आत्मा कैसी अपूर्व वस्तु है? जबतक वह शरीरमें रहती है—भले ही वह हजारों वर्ष रहे—तबतक शरीर नहीं सड़ता। आत्मा पारेके समान है। चेतन निकल जाता है और शरीर मुर्दा हो जाता है, और वह सड़ने लगता है!

(३) जीवमें जाग्रति और पुरुषार्थ चाहिये। कर्मबंध पड़नेके बाद उसमेंसे (सत्तामेंसे—उदय आनेके पहिले) छूटना हो तो अबाधाकाल पूर्ण होनेतक छूटा जा सकता है!

(४) पुण्य पाप और आयु ये एक दूसरेको नहीं दिये जा सकते । उन्हें हरेक अपने आप ही भोगता है ।

(५) स्वच्छंदसे, अपनी मतिकी कल्पनासे और सद्गुरुकी आज्ञाके विना ध्यान करना तरंगरूप है, और उपदेश व्याख्यान करना अभिमानरूप है ।

(६) देहधारी आत्मा पथिक है, और देह वृक्ष है । इस देहरूपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—रास्तागिर—विश्रान्ति लेने बैठा है । वह पथिक यदि वृक्षको ही अपना मानने लगे तो वह कैसे बन सकता है ?

(७) सुंदरविलास सुंदर—श्रेष्ठ—ग्रंथ है । उसमें जहाँ कहीं कमी—भूल—है उसे हम जानते हैं । उस कमीको दूसरेको समझाना मुश्किल है । उपदेशके लिये यह ग्रन्थ उपकारी है ।

(८) छह दर्शनोंके ऊपर दृष्टान्तः—छह भिन्न भिन्न वैद्योंकी दुकान लगी है । उनमें एक वैद्य सम्पूर्ण सच्चा है; और वह सब रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है । तथा उसकी निदान-चिकित्सा सच्ची होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है । वैद्य कमाता भी अच्छा है । यह देखकर दूसरे पाँच कुवैद्य भी अपनी अपनी दुकान खोलते हैं । परन्तु जहाँतक उनके पास सच्चे वैद्यके घरकी दवा होती है, वहाँतक तो वे रोगीका रोग दूर करते हैं; और जब वे अपनी अन्य किसी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उल्टा रोग बढ़ जाता है । तथा वे सस्ती दवा देते हैं, इससे लोभके मारे लोग उसे लेनेके लिये बहुत ललचाते हैं, परन्तु उससे उन्हें उल्टा नुकसान ही होता है ।

इसका उपनय यह है कि सच्चा वैद्य वीतरागदर्शन है; जो सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है । वह मोहविषय आदिको राग-द्वेषको और हिंसा आदिको सम्पूर्णरूपसे दूर करनेके लिये कहता है; जो बात पराधीन रोगीको महँगी पड़ती है—अच्छी नहीं लगती । तथा जो अन्य पाँच कुवैद्य हैं, वे कुदर्शन हैं । वे जहाँतक वीतरागके घरकी बातें करते हैं, वहाँतक तो उनकी रोग दूर करनेकी बात ठीक है; परन्तु साथ साथ वे जो हिंसा आदि धर्मके बहाने, मोहकी संसार-वृद्धिकी और मिथ्यात्वकी बातें करते हैं, वह उनकी अपनी निजी कल्पनाकी ही बात है; और वह संसाररूप रोग दूर करनेके बदले उसकी वृद्धिका ही कारण होती है । विषयमें रचे-पचे पामर संसारीको मोहकी बातें मीठी लगतीं हैं—सस्ती पड़ती हैं; इसलिये वह कुवैद्यकी तरफ आकर्षित होता है; परन्तु परिणाममें वह अधिक ही रोगी पड़ता है ।

वीतरागदर्शन त्रिवैद्यके समान है:—वह रोगीको दूर करता है, निरोगीको रोग होनेके लिये दवा देता नहीं, और आरोग्यकी पुष्टि करता है । अर्थात् वह जीवका सम्यग्दर्शनसे मिथ्यात्व दूर करता है, सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है, और सम्यक्चारित्रसे सम्पूर्ण शुद्ध चेतनारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है ।

---

७६७ वसो (गुजरात), प्रथम आसोज सुदी ६ बुध. १९५४

१. श्रीमत् वीतराग भगवंतोंका निश्चित किया हुआ अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम हित-

कारी, परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसंशय आत्यंतिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवंत वर्त्तो, त्रिकाल जयवंत वर्त्तो!

२. उन श्रीमत् अनंत चतुष्टयस्थित भगवंतका और उस जयवंत धर्मका आश्रय सदैव करना चाहिये। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अबुध और अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखके हेतु अद्भुत फलको पाया है, पाते हैं और पावेंगे। इसलिये उसका निश्चय और आश्रय अवश्य ही करना चाहिये, अधीरजसे खेद नहीं करना चाहिये।

३. चित्तमें देह आदि भयका विक्षेप भी करना उचित नहीं। जो पुरुष देहादि-संबंधी हर्ष-विषाद नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशांगको संक्षेपमें समझे हैं—ऐसा समझो। यही दृष्टि कर्त्तव्य है।

४. 'मैंने धर्म पाया नहीं, मैं धर्म कैसे पाऊँगा?' इत्यादि खेद न करते हुए, वीतराग-पुरुषोंका धर्म देहादिसंबंधी हर्ष-विषाद वृत्तिको दूरकर, 'आत्मा असंग शुद्ध चैतन्यस्वरूप है,' ऐसी जो वृत्ति है उसका निश्चय और आश्रय ग्रहण कर, उसी वृत्तिका बल रखना; और जहाँ मंद वृत्ति होती हो वहाँ वीतरागपुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, और उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिको अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। निर्विकल्प.

---

७६८ श्रीवसो, आसोज सुदी ७, १९५४

*७—१२—५४
३१-११—२२

इस तरह काल व्यतीत होने देना योग्य नहीं। प्रत्येक समय आत्मोपयोगको उपकारी कर निवृत्ति होने देना उचित है।

अहो इस देहकी रचना! अहो चेतन! अहो उसकी सामर्थ्य! अहो ज्ञानी! अहो उसकी गवेषणा! अहो उनका ध्यान! अहो उनकी समाधि! अहो उनका संयम! अहो उनका अप्रमत्त भाव! अहो उनकी परम जागृति! अहो उनका वीतरागस्वभाव! अहो उनका निरावरण ज्ञान! अहो उनके योगकी शांति! अहो वचन आदि योगका उदय!

हे आत्मन्! यह सब तुझे सुप्रतीत हो गया, फिर अप्रमत्तभाव क्यों? मंद प्रयत्न क्यों? जघन्य-मंद जागृति क्यों? शिथिलता क्यों? घबराहट क्यों? अंतरायका हेतु क्या?

अप्रमत्त हो, अप्रमत्त हो।

परम जाग्रत स्वभावको भज, परम जाग्रत स्वभावको भज।

---

*७–१२ ५४ अर्थात् ७वाँ दिन १२वाँ मास और ५४वाँ साल—अर्थात् आसोज सुदी ७, संवत् १९५४। तथा ३१–११–२२ अर्थात् ३१वाँ दिन ११वाँ मास और २२वाँ दिन—अर्थात् आसोज सुदी ७, संवत् १९५४ के दिन श्रीमद् राजचन्द्र ३१ वर्ष ११ मास और २२ दिनके थे। —अनुवादक.

७६९

तीव्र वैराग्य, परम आर्जव, बाह्याभ्यंतर त्याग.
आहारका जय.
आसनका जय.
निद्राका जय.
योगका जय.
आरंभपरिग्रहविरति, ब्रह्मचर्यके प्रति निवास.
एकांतवास.
अष्टांगयोग.
सर्वज्ञध्यान.
आत्मईहा.
आत्मोपयोग.
मूल आत्मोपयोग.
अप्रमत्त उपयोग.
केवल उपयोग.
केवल आत्मा.
अचिन्त्य सिद्धस्वरूप.

---

*७७०

जिनचैतन्यप्रतिमा.
सर्वांगसंयम.
एकांतस्थिरसंयम.
एकांतशुद्धसंयम.
केवल बाह्यभावनिरपेक्षता.

आत्मतत्त्वविचार.
जगत्तत्त्वविचार.
जिनदर्शनतत्त्वविचार.
अन्यदर्शनतत्त्वविचार.
} समाधान.

धर्मसुगमता.
लोकानुग्रह.
} पद्धति.

यथास्थित शुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट जयवंत
धर्मका उदय.
} वृत्ति.

---

* इस योजनाका उद्देश्य यह मालूम होता है कि "एकांतस्थिरसंयम," "एकांतशुद्धसंयम" और "केवल बाह्यभावनिरपेक्षता" पूर्वक "सर्वांगसंयम" प्राप्त कर, उसके द्वारा "जिनचैतन्यप्रतिमारूप" होकर, अर्थात् अडोल आत्मावस्था पाकर, जगत्के जीवोंके कल्याणके लिये, अर्थात् मार्गके पुनरोद्धारके लिये प्रवृत्ति करना चाहिये। यहाँ जो "वृत्ति" "पद्धति" और "समाधान" शब्द आये हैं, सो उनमें प्रथम 'वृत्ति क्या है?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि "यथास्थित शुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट जयवंत धर्मका उदय करना" यह वृत्ति है। उसे 'किस पद्धतिसे करना चाहिये?' इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिससे लोगोंको "धर्म-सुगमता हो और लोकानुग्रह भी हो"। इसके बाद 'इस वृत्ति और पद्धतिका परिणाम क्या होगा?' इसके 'समाधान' में कहा गया है कि "आत्मतत्त्वविचार, जगत्तत्त्वविचार, जिनदर्शन तत्त्वविचार और अन्यदर्शनतत्त्वविचार" के संबंधमें संसारके जीवोंका समाधान करना।

अंक ७७३ पृष्ठ ७३० (नीचे) जो कहा गया है कि "परानुग्रह परमकारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो"—इस वाक्यसे भी यह बात अधिक स्पष्ट होती है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके संशोधक श्रीमनसुखभाई रवजीभाई मेहताके नोटके आधारसे लिखा गया है। —अनुवादक.

७७१

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत वर्त्तो.

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं।

खंडित है।

सम्पूर्ण करनेके साधन कठिन माल्रम होते हैं।

उस प्रभावमें महान् अंतराय हैं।

देश-काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं।

वीतरागोंका मत लोक-प्रतिकूल हो गया है।

रूढ़ीसे जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्षमें भी वह प्रतीत माल्रम नहीं होता; अथवा वे अन्यमतको ही वीतरागोंका मत समझकर प्रवृत्ति करते हैं।

यथार्थ वीतरागोंके मत समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है।

दृष्टिरागका प्रबल राज्य विद्यमान है।

वेष आदि व्यवहारमें बड़ी विडम्बना कर जीव मोक्षमार्गका अन्तराय कर बैठा है।

तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्तिके बहुत अग्रभागमें रहते हैं।

किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणोंके घात होनेके समान दुःख माल्रम होता है, ऐसा दिखाई देता है।

७७२

फिर तुम किसलिये उस धर्मका उद्धार करना चाहते हो?

परम कारुण्य-स्वभावसे. उस सद्धर्मके प्रति परम भक्तिसे.

७७३

परानुग्रह परमकारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो.

क्या वैसा काल है? उसमें निर्विकल्प हो।

क्या वैसा क्षेत्र योग है? खोजकर।

क्या वैसा पराक्रम है? अप्रमत्त शूरवीर बन।

क्या उतना आयुबल है? क्या लिखें? क्या कहें? अन्तर्मुख उपयोग करके देख।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः.

७७४

हे काम! हे मान! हे संगउदय!

हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोहदया!

हे शिथिलता ! तुम क्यों अंतराय करती हो ?

परम अनुग्रह कर अब अनुकूल हो ! अनुकूल हो !

७७५

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !

इस अनादि अनंत संसारमें अनंतानंत जीव तेरे आश्रय विना अनंतानंत दुःखका अनुभव करते हैं।

तेरे परम अनुग्रहसे निजस्वरूपमें रुचि होकर, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिनवीतराग ! तुम्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामरके प्रति अनंतानंत उपकार किया है।

हे कुंदकुंद आदि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

हे श्रीसोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

७७६

जिस तरह भगवान् जिनने पदार्थोंका स्वरूप निरूपण किया है, उसी तरह सब पदार्थोंका स्वरूप है। भगवान् जिनके उपदेश किये हुए आत्माके समाधिमार्गको श्रीगुरुके अनुग्रहसे जानकर, उसकी परम प्रयत्नसे उपासना करो।

७७७

श्रीवसो, आसोज १९५४

(१)

ॐ

ठाणांगसूत्रमें नीचे बताया हुआ सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, उसका विचार करो।

***एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं (इमीए) ओसप्पीणीए चउव्वीसाए तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे (जाव) सव्वदुखप्पहीणे।**

(२)

काल कराल ! इस अवसर्पिणी कालमें चौवीस तीर्थंकर हुए। उनमें अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान्महावीर दीक्षित भी अकेले हुए ! उन्होंने सिद्धि भी अकेले ही पाई ! परन्तु उनका भी प्रथम उपदेश निष्फल गया !

---

* श्रमण भगवान्महावीर एक हैं। वे इस अवसर्पिणी कालमें चौवीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर हैं; वे सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वृत हैं और उनके सर्व दुःख परिक्षीण हो गये है।—अनुवादक.

७७८

१. जो सर्व वासनाका क्षय करे वह सन्यासी। जो इंद्रियोंको वशमें रक्खे वह गोंसाई। जो संसारसे पार हो वह यति (जति)।

२. समकिती को आठ मदोंमेंसे एक भी मद नहीं होता।

३. (१) अविनय (२) अहंकार (३) अर्धदग्धता—अपनेको ज्ञान न होनेपर भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेंसे जिसे एक भी दोष हो, उस जीवको समकित नहीं होता, ऐसा श्रीठाणांगसूत्रमें कहा है।

४. मुनिको यदि व्याख्यान करना पड़ता हो, तो ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करना चाहिये कि वह स्वयं सज्झाय (स्वाध्याय) करता है। मुनिको सबेरे सज्झायकी आज्ञा है, वह मनमें की जाती है। उसके बदले व्याख्यानरूप सज्झायको, ऊँचे स्वरसे मान, पूजा, सत्कार, आहार आदिकी अपेक्षा बिना, केवल निष्कामबुद्धिसे आत्मार्थके लिये ही करनी चाहिये।

५. क्रोध आदि कषायका जब उदय हो, तब उसके सामने होकर उसे बताना चाहिये कि तूने मुझे अनादिकालसे हैरान किया है। अब मैं इस तरह तेरा बल न चलने दूँगा। देख, मैं अब तेरेसे युद्ध करने बैठा हूँ।

६. निद्रा आदि प्रकृति और क्रोध आदि अनादि वैरीके प्रति क्षत्रियभावसे रहना चाहिये, उनका अपमान करना चाहिये। यदि वे फिर भी न मानें, तो उन्हें क्रूर होकर उपशांत करना चाहिये। यदि फिर भी वे न मानें, तो उन्हें खयालमें (उपयोगमें) रखकर, समय आनेपर उन्हें मार डालना चाहिये। इस तरह शूर क्षत्रियस्वभावसे रहना चाहिये; जिससे वैरीका पराभव होकर समाधि-सुख प्राप्त हो।

७. प्रभुकी पूजामें पुष्प चढ़ाये जाते हैं। उसमें जिस गृहस्थको हरियालीका नियम नहीं है, वह अपने कारणसे उनका उपयोग कम करके, प्रभुको फूल चढ़ा सकता है। त्यागी मुनिको तो पुष्प चढ़ाने अथवा उसके उपदेशका सर्वथा निषेध ही है। ऐसा पूर्वाचार्योंका प्रवचन है।

८. कोई सामान्य मुमुक्षु भाई-बहन साधनके विषयमें पूँछे तो उसे ये साधन बताने चाहियेः—

(१) सात व्यसनका त्याग.
(२) हरियालीका त्याग.
(३) कंदमूलका त्याग.
(४) अभक्ष्यका त्याग.
(५) रात्रिभोजनका त्याग.
(६) 'सर्वज्ञदेव' और 'परमगुरु'की पाँच पाँच मालाओंकी जाप.
(७) *भक्तिरहस्य दोहाका पठन-मनन.
(८) ×क्षमापनाका पाठ.
(९) सत्समागम और सत्शास्त्रका सेवन.

९. 'सिज्झंति,' 'बुज्झंति,' 'मुच्चंति,' 'परिणिव्वायंति' और 'सव्वदुक्खाणमंतं करेंति'—इन शब्दोंके रहस्यका विचार करना चाहिये। 'सिज्झंति' अर्थात् सिद्ध होते हैं। उसके बादमें 'बुज्झंति' अर्थात् बोधसहित—ज्ञानसहित—होते हैं। आत्माके सिद्ध होनेके बाद कोई उसकी

* अंक २२४.
× मोक्षमाला पाठ ५६.—अनुवादक.

शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं, उसका 'बुज्झंति'से निषेध किया गया है। इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद 'मुच्चंति' अर्थात् वे सर्वकर्मसे रहित होते हैं; और उसके पश्चात् 'परिणिव्वायंति' अर्थात् वे निर्वाण पाते हैं—कर्मरहित होनेसे वे फिरसे जन्म–अवतार–धारण नहा करते। 'मुक्त जीव कारणविशेषसे अवतार धारण करता है'—इस मतका 'परिणिव्वायंति' कहकर निषेध किया है। कारण कि भवके कारणभूत कर्मसे जो सर्वथा मुक्त हो गया है, वह फिरसे भव धारण नहीं करता; क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं होता। इस तरह निर्वाण-प्राप्त जीव 'सव्वदुक्खाणमंतं करेंति'—अर्थात् सर्व दुःखोंका अंत करते हैं—उनके दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है—वे सहज स्वाभाविक सुख आनन्दका अनुभव करते हैं—यह कहकर 'मुक्त आत्माओंको केवल शून्यता ही है, आनन्द नहीं' इस मतका निषेध किया है।

७७९

(१)

+ इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं णेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेमोत्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामोत्ति।

(२)

१. अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।
नेत्रमुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

—जो अज्ञानरूपी तिमिर (अंधकार) से अंध हैं, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अंजनकी सलाईसे खोला, उन श्रीसद्गुरुको नमस्कार हो।

२. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥

—मोक्षमार्गके नेता (मोक्षमार्गमें ले जानेवाले), कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता (भेदनेवाले) और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता (जाननेवाले) को, मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूँ।

यहाँ 'मोक्षमार्गके नेता' कहकर, आत्माके अस्तित्वसे लगाकर उसके मोक्ष और मोक्षके

+ यह निर्ग्रथप्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवल-भाषित है, पूर्ण है, अत्यंत शुद्ध है, न्यायसंपन्न है, शल्यको काटनेमें कैंचीके समान है, सिद्धिका मार्ग है, मुक्तिका मार्ग है, आवागमनरहित होनेका मार्ग है, निर्वाणका मार्ग है, सत्य है, असंदिग्ध है, और सर्व दुःखोंके क्षय करनेका मार्ग है। इस मार्गमें स्थित जीव सिद्धि पाते हैं, बोध पाते हैं, सब कर्मोंसे मुक्त होते हैं, निर्वाण पाते हैं, और सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं। आपकी आज्ञापूर्वक हम भी उसी तरह चलते हैं, उसी तरह खड़े होते हैं, उसी तरह बैठते हैं, उसी तरह सोते हैं, उसी तरह भोजन करते हैं, उसी तरह बोलते हैं, उसी तरह सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं, और उसी तरह उठते हैं; तथा उस तरह उठते हुए जिससे प्राण–भूत–जीव–सत्त्वोंकी हिंसा न हो ऐसे संयमका आचरण करते हैं।—अनुवादक.

उपायसहित समस्त पदोंको, मोक्षप्राप्त जीवको, तथा जीव अजीव आदि सब तत्त्वोंको स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है; तथा बंध, बंधके कारण आस्रव, पुण्य-पाप कर्म, और बंधनेवाली नित्य अविनाशी आत्माकी; मोक्षकी, मोक्षके मार्गकी, संवरकी, निर्जराकी और बंधके कारणोंके दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा, जाना और अनुभव किया है, वह नेता हो सकता है। अर्थात् 'मोक्षमार्गका नेता' कहकर उसे परिप्राप्त ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागको स्वीकार किया है। इस तरह 'मोक्षमार्गके नेता' इस विशेषणसे जीव अजीव आदि नव तत्त्व, छह द्रव्य, आत्माका अस्तित्व आदि छह पद, और मुक्त आत्माको स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गके उपदेश करनेका—उस मार्गमें ले जानेका—कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष ही कर सकता है, देहरहित निराकार जीव नहीं कर सकता। यह कहकर यह सूचित किया है कि आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकती है—मुक्त हो सकती है। तथा इससे यह सूचित किया है कि ऐसे देहधारी मुक्त पुरुष ही बोध कर सकते हैं, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया गया है।

'कर्मरूपी पर्वतके भेदन करनेवाला' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोंके भेदन करनेसे मोक्ष होती है; अर्थात् जीवने कर्मरूपी पर्वतोंका स्ववीर्य द्वारा देहधारीरूपसे भेदन किया, और उससे वह जीवन्मुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता—मोक्षमार्गका बतानेवाला हुआ। इससे यह सूचित किया है कि बार बार देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप संसारका कारण जो कर्म है, उसके समूल भेदन करनेसे—नाश करनेसे—जीवको फिर देहका धारण करना नहीं रहता। इससे यह बताया है कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती।

'विश्वतत्त्वका ज्ञाता'—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक लोकालोकका—विश्वका—जाननेवाला—कहकर, मुक्त आत्माका अखंड स्वपर ज्ञायकपना बताया है। इससे यह सूचित किया है कि मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है।

'जो इन गुणोंसे सहित है, उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वन्दन करता हूँ'—यह कहकर यह सूचित किया है कि परम आप्त, मोक्षमार्गके लिये विश्वास करने योग्य, वंदन करने योग्य, भक्ति करने योग्य तथा जिसकी आज्ञापूर्वक चलनेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होती है—उनको प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है—वे गुण प्रगट होते हैं—ऐसा जो कोई भी हो, मैं उसे वंदन करता हूँ। इससे यह सूचित किया है कि उक्त गुणोंसे सहित मुक्त परम आप्त वंदनके योग्य हैं—उनका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; तथा उनकी आज्ञापूर्वक चलनेवाले भक्तिमानको, उनको जो गुण प्रगट हुए हैं वे गुण प्रगट होते हैं।

३. वीतरागके मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

---

७८० वनक्षेत्र उत्तरखंडा, प्र. आसोज वदी ९ रवि. १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिऽसावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा॥

—भगवान् जिनने मुनियोंको आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण) का उपदेश किया है। (वह भी किसलिये ?) केवल मोक्षसाधनके लिये—मुनिको जो देहकी आवश्यकता है उसके धारण करनेके लिये, (दूसरे अन्य किसी भी हेतुसे उसका उपदेश नहीं किया)।

अहो णिच्चं तवो कम्मं, सव्वजिणेहिं वण्णियं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥

—सर्व जिन भगवंतोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपकर्मको नित्य ही करनेके लिये उपदेश किया है। (वह इस तरह कि) संयमके रक्षणके लिये सम्यक्वृत्तिसे एक समय आहार लेना चाहिये।

—दशवैकालिकसूत्र.

तथारूप असंग निर्ग्रंथपदके अभ्यासको सतत बढ़ाते रहना। प्रश्नव्याकरण दशवैकालिक और आत्मानुशासनको हालमें सम्पूर्ण लक्ष रखकर विचार करना। एक शास्त्रको सम्पूर्ण बाँच लेनेपर दूसरा विचारना।

७८१

वनक्षेत्र, द्वि. आसोज सुदी १, १९५४

ॐ नमः

सर्व विकल्पोंका, तर्कका त्याग करके

मनका
वचनका
कायाका
इन्द्रियका
आहारका
निद्राका } जय करके

निर्विकल्पस्वरूपसे अंतर्मुखवृत्ति करके आत्मध्यान करना चाहिये।

मात्र निराबाध अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देनी चाहिये। दूसरी कोई चिंतना न करनी चाहिये। जो जो तर्क आदि उठें, उन्हें दीर्घ कालतक न करते हुए शान्त कर देना चाहिये।

७८२

आभ्यंतर भान अवधूत,
विदेहीवत्,
जिनकल्पीवत्,
सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त,

निजस्वभावके भानसहित, अवधूतवत्, विदेहवित्, जिनकल्पीवत् विचरते हुए पुरुष भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते हैं।

७८३

खेड़ा, द्वि. आसोज वदी १९५४

हे जीव ! इस क्लेशरूप संसारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो !

वीतराग प्रवचन.

×७८४

श्रीखेड़ा, द्वि० आसोज वदी १९५४

प्रश्न—क्या आत्मा है ?

उत्तर—हाँ, आत्मा है।

प्र.—क्या आप अनुभवसे कहते हो कि आत्मा है ?

उ.—हाँ, हम अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है। जैसे मिश्रीके स्वादका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनुभवगोचर है; इसी तरह आत्माका वर्णन नहीं हो सकता; वह भी अनुभवगोचर है। परन्तु वह है अवश्य।

प्र.—जीव एक है या अनेक ? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ।

उ.—जीव अनेक हैं।

प्र.—क्या जड़, कर्म वास्तवमें हैं, अथवा यह सब मायिक है ?

उ.—जड़, कर्म वास्तविक हैं, मायिक नहीं।

प्र.—क्या पुनर्जन्म है ?

उ.—हाँ, पुनर्जन्म है।

प्र.—क्या आप वेदान्तद्वारा मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं ?

उ.—नहीं।

प्र.—क्या दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल ऊपरका दिखाव ही है, या वह किसी तत्त्वका बना हुआ है ?

उ.—दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल दिखाव ही नहीं, किन्तु वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है।

(२)

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ—इतनी शांत हो जाओ कि कोई मृग भी इस शरीरको देखकर खड़ा हो जाय, भय पाकर भाग न जाय !

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो, इस शरीरको जड़ पदार्थ समझकर, अपने सिरकी खुजली मिटानेके लिये इस शरीरको रगड़े !

× यह लेख श्रीमद्का स्वयंका लिखा हुआ नहीं है। खेड़ाके एक विदांतविद् विद्वान् वकीलके साथ जो श्रीमद् राजचन्द्रका प्रश्नोत्तर हुआ था, उसे यहाँ दिया गया है।—अनुवादक.

३२वाँ वर्ष

७८५

बम्बई, कार्त्तिक १९५५

ॐ नमः

(१)

संयम

(२)

जाग्रतसत्ता. ज्ञायकसत्ता. आत्मस्वरूप.

(३)

सर्वज्ञोपदिष्ट आत्माको सद्गुरुकी कृपासे जानकर, निरंतर उसके ध्यानके लिये विचरना, संयम तपपूर्वकः—

(४)

अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी जिसने सुप्रतीति कराई ऐसे परम कृपालु सद्गुरुदेव—

इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्त्तो, जयवंत वर्त्तो ।

७८६

ईडर, मंगसिर सुदी १४ सोम. १९५५

ॐ नमः

जैसे बने वैसे वीतरागश्रुतका विशेष अनुप्रेक्षण (चिंतवन) करना चाहिये । प्रमाद परम रिपु है—यह वचन जिसे सम्यक् निश्चित हो गया है, वे पुरुष कृतकृत्य होनेतक निर्भयतासे आचरण करनेके स्वप्नकी भी इच्छा नहीं करते । राज्यचन्द्र.

७८७

ईडर, मंगसिर वदी ४ शनि. १९५५

ॐ नमः

तुम्हें जो समाधानविशेषकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोगमें पूर्ण हो सकती है ।

जिज्ञासाबल, विचारबल, वैराग्यबल, ध्यानबल और ज्ञानबल वर्धमान होनेके लिये, आत्मार्थी जीवको तथारूप ज्ञानीपुरुषके समागमकी विशेष करके उपासना करनी योग्य है ।

उसमें भी वर्त्तमानकालके जीवोंको उस बलकी दृढ़ छाप पड़नेके लिये अनेक अन्तराय देखनेमें आते हैं। इससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यंत सत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता रहती है । सत्समागमके अभावमें वीतरागश्रुतकी परम शान्तरस-प्रतिपादक वीतरागवचनोंकी-अनुप्रेक्षा-बारंबार करनी चाहिये । चित्तकी स्थिरताके लिये वह परम औषध है ।

---

७८८ ईडर, मंगसिर वदी १५ गुरुवारकी सवेरे १९५५

ॐ नमः

वनस्पतिसंबंधी त्यागमें, अमुक दससे पाँच वनस्पतियोंकी हालमें छूट रखकर, बाकीकी दूसरी वनस्पतियोंसे विरक्त होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

सद्देव, सद्गुरु, सत्शास्त्रकी भक्ति अप्रमत्तरूपसे उपासनीय है। श्री ॐ.

७८९

मैं प्रत्यक्ष निज अनुभवस्वरूप हूँ, इसमें संशय ही क्या?

उस अनुभवमें जो विशेषविषयक न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाय तो केवल अखंडाकार स्वानुभव स्थिति रहे।

अप्रमत्त उपयोगमें वैसा हो सकता है।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं। उस तरह वर्त्तन किया जाता है, यह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है।

वैसी अविच्छिन्न धारा रहे, तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समवस्थित रहे।

७९० ईडर, पौष सुदी १५ गुरु. १९५५

ॐ

(१) वर्षोमें ग्रहण किये हुए नियमानुसार.......को हरियालीमें विरतिभावसे आचरण करना चाहिये। दो श्लोकोंके याद करनेके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके विना हमेशा निबाहना चाहिये। गेहूँ और घीको शारीरिक हेतुसे ग्रहण करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं।

(२) यदि कुछ दोष लग गया हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री.......मुनि आदिके समीप लेना योग्य है।

(३) मुमुक्षुओंको उन मुनियोंके समीप नियमादिका ग्रहण करना चाहिये।

७९१

प्रवृत्तिके कार्योंके प्रति विरति।

संग और स्नेह-पाशको तोड़ना (अतिशय कठिन होते हुए भी उसे तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है)।

आशंका:—जो अपनेपर स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर दृष्टिसे वर्त्तन करना, क्या वह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नहीं है?

समाधान:—

७९२ मोरबी, माघ वदी ९ सोम. (रात) १९५५

कर्मकी मूल प्रकृतियाँ आठ हैं। उनमें चार घातिकी और और चार अघातिकी कही जातीं हैं।

चार घातियोंका धर्म आत्माके गुणका घात करना है; अर्थात् उनका धर्म उस गुणको आवरण करनेका, उस गुणके बल-वीर्यको रोकनेका, अथवा उसे विकल कर देनेका है; और इसलिये उस प्रकृतिको घातिसंज्ञा दी है।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनको आवरण करे, उसे अनुक्रमसे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय नाम दिया है।

अंतराय प्रकृति इस गुणका आवरण नहीं करती, परन्तु वह उसके भोग उपभोग आदिको—उसके वीर्य-बलको—रोकती है। इस जगह आत्मा भोग आदिको समझती है, जानती-देखती है, इसलिये उसे आवरण नहीं रहता। परन्तु उसके समझते हुए भी, वह प्रकृति भोग आदिमें विघ्न—अंतराय—करती है; इसलिये उसे आवरण न कहकर अंतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह आत्मघातिकी तीन प्रकृतियाँ हुई। घातिकी चौथी प्रकृति मोहनीय है। यह प्रकृति आवरण नहीं करती, परन्तु आत्माको मूर्च्छित कर—मोहित कर—उसे विकल कर देती है; ज्ञान-दर्शन होनेपर भी—अंतराय न होनेपर भी—आत्माको वह कभी भी विकल कर देती है, वह उल्टा पट्टा बँधा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है।

इस तरह ये चारों सर्वघातिकी प्रकृतियाँ कहीं।

दूसरी चार प्रकृतियाँ, यद्यपि आत्माके प्रदेशोंके साथ संबद्ध हैं, वे अपना काम किया करती हैं, और उदयानुसार वेदन की जाती हैं, तथापि वे उस आत्माके गुणको आवरण करनेरूप, अथवा अंतराय करनेरूप, अथवा उसे विकल करनेरूप घातक नहीं, इसलिये उन्हें अघातिकी ही प्रकृति कहा है।

---

७९३ मोरबी, फाल्गुन सुदी १ रवि. १९५५

ॐ नमः

(१) नाकेरूप निहाळता—इस चरणका अर्थ वीतरागमुद्राका सूचक है। रूपावलोकन दृष्टिसे स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वरूपावलोकन दृष्टिमें भी सुगमता होती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूपावलोकन दृष्टि होती है। महत्पुरुषोंका निरन्तर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुतचिंतवन, और गुण-जिज्ञासा, ये दर्शनमोहके अनुभाग घटनेके मुख्य हेतु हैं। उससे स्वरूपदृष्टि सहजमें ही होती है।

(२) जीव यदि शिथिलता घटानेका उपाय करे तो वह सुगम है। वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखना।

---

७९४ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १० बुध. १९५५

आत्मार्थीको बोध कब फलीभूत हो सकता है, इस भावको स्थिर चित्तसे विचारना चाहिये, वह मूलस्वरूप है।

अमुक असद्वृत्तियोंका प्रथम अवश्य ही निरोध करना चाहिये। इस निरोधके हेतुका दृढ़तासे अनुसरण करना चाहिये; उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं। ॐ.

७९५ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १५, १९५५

×चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे।
दोष टळे ने दृष्टि खुले भली, प्रापति प्रवचनवाक रे ॥ १ ॥
परिचय पातिकघातक साधुशुं, अकुशल अपचय चेत रे।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी, परिशीलन नय हेत रे ॥ २ ॥
मुग्ध सुगम करी सेवन लेखवे, सेवन अगम अनूप रे।
देजो कदाचित सेवक याचना, आनंदघनरसरूप रे ॥ ३ ॥

संभवजिन-स्तवन —आनंदघन.

---

७९६ ववाणीआ, चैत्र सुदी १, १९५५.

उवसंतखीणमोहो, मग्गे जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी, निव्वाणपुरं वज्जदि धीरो ॥

—जिसका दर्शनमोह उपशांत अथवा क्षीण हो गया है, ऐसा धीर पुरुष वीतरागोंद्वारा प्रदर्शित मार्गको अंगीकार कर, शुद्ध चैतन्यस्वभाव परिणामी होकर मोक्षपुरीको जाता है।

---

७९७ ववाणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ. द्रव्यानुयोग परम गंभीर और सूक्ष्म है, निर्ग्रन्थ प्रवचनका रहस्य है, और शुक्लध्यानका अनन्य कारण है। शुक्लध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्यसे ही उस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है।

दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नाश होनेसे, विषयोंके प्रति उदासीनतासे, और महान् पुरुषोंके चरण-कमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग फल देता है।

ज्यों ज्यों संयम वर्धमान होता है, त्यों त्यों द्रव्यानुयोग यथार्थ फल देता है। संयमकी वृद्धिका कारण सम्यग्दर्शनकी निर्मलता है। उसका कारण भी द्रव्यानुयोग होता है।

सामान्यरूपसे द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है। आत्माराम-परिणामी, परम वीतराग-दृष्टिवंत और परमअसंग ऐसे महात्मा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं।

×उसे (जिसे अभय और अखेद प्राप्त हो गये हैं) संसारमें भ्रमण करनेका अन्तिम फेरा ही बाकी रह जाता है, उसे अन्तिम अपूर्व और अनिवृत्ति नामके करण होते हैं, और उसकी भव-परिणतिका परिपाक हो जाता है। उसी समय दोष दूर होते हैं, उत्तम दृष्टि प्रकट होती है, तथा प्रवचन-वाणीकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पापोंका नाश करनेवाले साधुओंका परिचय करनेसे चित्तके अकुशलभावका नाश होता है। तथा ऐसा होनेसे अध्यात्मग्रंथोंके श्रवण मननसे, नयोंका विचार करते हुए भगवान्के स्वरूपके साथ अपने आत्मस्वरूपकी समस्त प्रकारसे सदृशता होकर निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

भोले लोग भगवान्की सेवाको सुगम समझकर उसका सेवन करते हैं, परन्तु वह सेवा तो अगम और अनुपम है। इसलिये हे आनंदघनरसरूप प्रभु! इस सेवकको भी कभी वह सेवा प्रदान करना! यही याचना है ॥३॥

किसी महत्पुरुषके मननके लिये पंचास्तिकायका संक्षिप्त स्वरूप लिखा था, उसे मनन करनेके लिये इसके साथ भेजा है।

हे आर्य ! द्रव्यानुयोगका फल सर्वभावसे विराम पानेरूप संयम है—इस पुरुषके इस वचनको तू कभी भी अपने अंतःकरणमें शिथिल न करना। अधिक क्या ? समाधिका रहस्य यही है। सर्व दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय यही है।

---

७९८ ववाणीआ, चैत्र वदी २ गुरु. १९५५

हे आर्य ! जैसे रेगिस्तान उतर कर पार हुए, उसी तरह भव-स्वयंभूरमणको तैर कर पार होओ !

७९९

स्वपर उपकारके महान् कार्यको अब कर ले ! शीघ्रतासे कर ले !

अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो !

क्या आर्यपुरुषोंने कालका क्षणभरका भी भरोसा किया है ?

हे प्रमाद ! ! अब तू जा, जा !

हे ब्रह्मचर्य ! अब तू प्रसन्न हो, प्रसन्न हो !

हे व्यवहारोदय ! अब प्रबलतासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत !

हे दीर्घसूत्रता ! तू सुविचारके, धीरजके और गंभीरताके परिणामकी क्यों इच्छा करती है ?

हे बोधबीज ! तू अत्यंत हस्तामलकवत् प्रवृत्ति कर, प्रवृत्ति कर !

हे ज्ञान ! तू अब दुर्गमको भी सुगम स्वभावमें लाकर रख !

हे चारित्र ! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर !

हे योग ! तुम स्थिर होओ, स्थिर होओ !

हे ध्यान ! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावकार हो !

हे व्यग्रता ! तू दूर हो जा, दूर हो जा !

हे अल्प अथवा मध्य अल्प कषाय ! अब तुम उपशम होओ ! क्षीण होओ ! हमें तुम्हारे प्रति कोई रुचि नहीं रही !

हे सर्वज्ञपद ! यथार्थ सुप्रतीतिरूपसे तू हृदयमें प्रवेश कर !

हे असंग निर्ग्रंथपद ! तू स्वाभाविक व्यवहाररूप हो !

हे परमकरुणामय सर्व परम हितके मूल वीतरागधर्म ! प्रसन्न हो, प्रसन्न !

हे आत्मन् ! तू निजस्वभावाकार वृत्तिमें ही अभिमुख हो, अभिमुख हो ! ॐ.

हे वचनसमिति ! हे कायस्थिरता ! हे एकांतवास ! और असंगता ! तुम भी प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ !

खलबली मचाती हुई जो आभ्यंतर वर्गणा है, या तो उसका अभ्यंतर ही वेदन कर लेना चाहिये; अथवा उसे स्वच्छ पुट देकर उसका उपशम कर देना चाहिये।

ज्यों ज्यों निस्पृहता बलवान हो, त्यों त्यों ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है।

८००

मोरवी, चैत्र वदी ७, १९५५

(१) विशेष हो सके तो अच्छा। ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है। विकल्प करना योग्य नहीं।

(२) 'जातिस्मरण' हो सकता है। पूर्वभव जाना जा सकता है। अवधिज्ञान है।

(३) तिथि पालना चाहिये।

(४) जैसेको तैसा मिलता है; जैसेको तैसा अच्छा लगता है।

*** चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे।**
तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे॥

(५) × **चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे।**
दोष टळे ने दृष्टि खुले अति भली, प्रापति प्रवचनवाक रे॥

८०१

मोरवी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) षड्दर्शनसमुच्चय और तत्त्वार्थसूत्रका अवलोकन करना। योगदृष्टिसमुच्चय (सज्झाय) को मुखाग्र कर विचारना योग्य है। ये दृष्टियाँ आत्मदशा-मापक (थर्मामीटर) यंत्र हैं।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं। शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन। इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये। 'मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिल्लानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते। तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है। सदुपदेष्टाकी बहुत ज़रूरत है।

(४) पाँचसौ-हज़ार श्लोक कंठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते। फिर भी थोड़ा जानकर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है।

+(५) ऋतुको सन्निपात हुआ है।

८०२

मोरवी, चैत्र वदी ९ गुरु. १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर विचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभावसे उपासना करते हैं।

(२) आचारांगसूत्रके एक वाक्यके संबंधमें चर्चापत्र आदि देखे हैं। बहुत करके थोड़े दिनोंमें किसी सुज्ञकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा। ॐ.

---

* जैसे चकोर चंद्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है; उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके संयोगकी इच्छा करते हैं।

×अर्थके लिये देखो अंक ७९५।

+संवत् १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा था।—अनुवादक.

(२)

यदि परमसत्को पीड़ा पहुँचती हो, तो वैसे विशिष्ट प्रसंगके ऊपर देवता लोग रक्षण करते हैं, प्रगटरूपसे भी आते हैं। परन्तु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर।

योगी अथवा वैसी विशिष्ट शक्तिवाला उस प्रसंगपर सहायता कर सकता है, परन्तु वह ज्ञानी तो नहीं है।

जीवको मतिकल्पनासे ऐसा माळूम होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं, मेरे पास देवता आता है, मुझे उसका दर्शन होता है; परन्तु देवता इस तरह दिखाई नहीं देते।

---

८०३ मोरबी, चैत्र वदी १०, १९५५

(१) दूसरेके मनकी पर्याय जानी जा सकती है। परन्तु यदि अपने मनकी पर्याय जानी जा सके, तो दूसरेके मनकी पर्याय जानना सुलभ है। किन्तु अपने मनकी पर्याय जानना भी मुश्किल है। यदि स्वमन समझमें आ जाय तो वह वश हो सकता है। उसके समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है।

(२) आसनजयसे (स्थिर आसन दृढ़ करनेसे) उत्थानवृत्तिका उपशमन होता है; उपयोग चपलतारहित हो सकता है; निद्रा कम हो सकती है।

(३) सूर्यके प्रकाशमें जो बारीक बारीक सूक्ष्म रजके समान माळूम होता है, वे अणु नहीं, परन्तु वे अनेक परमाणुओंके बने हुए स्कंध हैं। परमाणु चक्षुसे नहीं देखा जा सकता। वह चक्षु-इन्द्रियलब्धिके प्रबल क्षयोपशमवाले जीव अथवा दूरंदेशीलब्धि-संपन्न योगी अथवा केवलीको ही दिखाई पड़ सकता है।

---

८०४ मोरबी, चैत्र वदी ११, १९५५

१. मोक्षमाला हमने सोलह बरस पाँच मासकी अवस्थामें तीन दिनमें बनाई थी। ६७वें पाठके ऊपर स्याही गिर जानेसे, उस पाठको फिरसे लिखना पड़ा था; और उस स्थानपर 'बहु पुण्यकेरा पुंजथी' इस अमूल्य तात्त्विक विचारका काव्य लिखा था।

२. उसमें जैनमार्गको यथार्थ समझानेका प्रयास किया है। उसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा। जिससे वीतरागमार्गपर आबालवृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आवे, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालावबोधरूप योजना की है। उस शैली तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिये यह एक नमूना उपस्थित किया है। इसका प्रज्ञावबोध नामका भाग भिन्न है, उसे कोई बनावेगा।

३. इसके छपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये, उसके बाद भावनाबोध रचकर, उसे ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया था।

४. *हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूं खरूं ?
कोना संबंधे वळगणा छे ? राखुं के ए परिहरूं ?

—इसपर जीव विचार करे, तो उसे नौ तत्त्वोंका–तत्त्वज्ञानका–संपूर्ण बोध प्राप्त हो जाता है। इसमें तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक विवेकसे विचार करना चाहिये।

५. बहुत बड़े लंबे लेखसे कुछ ज्ञानकी–विद्वत्ताकी–तुलना नहीं होती। परन्तु सामान्यरूपसे जीवोंको इस तुलनाका विचार नहीं है।

६. प्रमाद बड़ा शत्रु है। हो सके तो जिनमंदिरमें नियमित पूजा करने जाना चाहिये। रातमें भोजन न करना चाहिये। ज़रूरत हो तो गरम दूधका उपयोग करना चाहिये।

७. काव्य, साहित्य अथवा संगीत आदि कला यदि आत्मार्थके लिये न हों, तो वे कल्पित ही हैं। कल्पित अर्थात् निरर्थक—जो सार्थक न हो—वह जीवकी कल्पनामात्र है। जो भक्ति प्रयोजन-रूप अथवा आत्मार्थके लिये न हो वह सब कल्पित ही है।

---

८०५ मोरबी, चैत्रवदी १२, १९५५

प्रश्नः—श्रीमद् आनन्दघनजीने श्रीअजितनाथजीके स्तवनमें कहा है—**तरतम योग रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार। पंथडो०** —इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—ज्यों ज्यों योगकी (मन वचन कायाकी) तरतमता अर्थात् अधिकता होती है, त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता होती है—यह ' तरतम योग रे तरतम वासना रे ' का अर्थ है। अर्थात् यदि कोई पुरुष बलवान योगवाला हो, उसके मनोबल वचनबल आदि बलवान हों, और वह किसी पंथको चलाता हो; परन्तु जैसा बलवान उसका मन वचन आदि योग है, उसकी वैसी ही बलवान अपनेको मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान सत्कार वैभव आदिकी वासना हो, तो उस वासनावालेका बोध वासित बोध हुआ—कषाययुक्त बोध हुआ—वह विषय आदिकी लालसावाला बोध हुआ—वह मानके लिये बोध हुआ—आत्मार्थके लिये वह बोध न हुआ। श्रीआनंदघनजी श्रीअजितप्रभुका स्तवन करते हैं कि हे प्रभो ! ऐसा आधाररूप जो वासित बोध है, वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो कषाय-रहित, आत्मार्थसंपन्न और मान आदि वासनारहित बोधकी जरूरत है। ऐसे पंथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मन वचन आदि बलवान योगवाले जुदे जुदे पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, और प्ररूपण करते हैं; परन्तु हे प्रभो ! वासनाके कारण वह बोध वासित है, और मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। हे वासनाविषय कषाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजितदेव ! ऐसा बोध तो तेरा ही है। उस तेरे पंथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिये।

(२) आनंदघनजीकी चौवीसी कंठस्थ करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। सो लिखना।

---

* मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, किसके संबंधसे यह संलग्नता है, इसे रक्खूँ या छोड़ दूँ। देखो मोक्षमाला पृष्ठ ६७ पाठ ६७. —अनुवादक.

८०६

मोरबी चैत्र वदी १४, १९५५

ॐ. श्रीहेमचन्द्राचार्यको हुए आठसौ वरस हो गये। श्रीआनंदघनजीको दोसौ वरस हो गये। श्रीहेमचन्द्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मसमर्पण किया। श्रीआनंदघनजीने आत्महित-साधन-प्रवृत्तिको मुख्य बनाया। श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक जुदा ही पंथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हज़ार घरोंको श्रावक बनाया। तीस हज़ार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें कुल एक लाख आदमी होंगे। जब एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना सम्प्रदाय चलाया, तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक जुदा ही सम्प्रदाय चला सकते थे।

परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्त्तक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थंकरकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेरूप लोकानुग्रह किया। वैसा करनेकी ज़रूरत भी थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्यमार्गकी तरफसे विषमता ईर्ष्या आदि आरंभ हो चुके थे। ऐसी विषमतामें लोगोंको वीतरागमार्गकी ओर फिराने, लोकोपकार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें ज़रूरत माल्रम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको अर्पण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं—वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। जुदा जुदा दर्शनोंको यथावत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।

श्रीहेमचन्द्राचार्यने बहुत किया। श्रीआनंदघनजी उनके छहसौ वरस बादमें हुए। इस छहसौ वरसके भीतर वैसे दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी ज़रूरत थी। विषमता व्याप्त होती जा रही थी। काल उग्र रूप धारण करता जाता था। श्रीवल्लभाचार्यने शृंगारयुक्त धर्मका प्ररूपण किया। लोग शृंगारयुक्त धर्मकी ओर फिरे—उस ओर आकर्षित हुए। वीतरागधर्मके प्रति विमुखता बढ़ती गई। जीव अनादिसे ही शृंगार आदि विभावमें मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है; उसे वैराग्यके सन्मुख होना मुश्किल है। वहाँ फिर यदि उसके पास शृंगारको ही धर्मरूपसे रक्खा जाय, तो फिर वह वैराग्यकी ओर किस तरह फिर सकता है? इस तरह वीतरागमार्गकी विमुखता बढ़ी।

वहाँ फिर प्रतिमा-प्रतिपक्ष संप्रदाय ही जैनधर्ममें खड़ा हो गया। उससे, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारण ऐसी जिन-प्रतिमाके प्रति लाखों लोग दृष्टि-विमुख हो गये। वीतरागशास्त्र कल्पित अर्थसे विराधित हुए—कितने तो समूल ही खंडित किये गये। इस तरह इन छहसौ वरसके अंतरालमें वीतरागमार्गके रक्षक दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी ज़रूरत थी। आचार्य तो अन्य भी बहुतसे हुए हैं, परन्तु वे श्रीहेमचन्द्राचार्य जैसे प्रभावशाली नहीं हुए, अर्थात् वे विषमताके सामने नहीं टिक सके। विषमता बढ़ती गई। उस-समय दोसौ वरस पूर्व श्रीआनन्दघनजी हुए।

श्रीआनंदघनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरंभ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया; परन्तु वीतरागधर्म-विमुखता—विषमता—इतनी अधिक बढ़ गई थी कि

लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें श्रीआनंदघनजीको लगा कि प्रबलरूपसे व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थप्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस विचारणासे अन्तमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें विचरते हुए भी वे अप्रगटरूपसे रहकर चौवीसपद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।

प्रगटरूपसे लोग आनंदघनजीको पहिचान न सके। परन्तु आनंदघनजी अप्रगट रहकर उनका हित ही करते रहे।

इस समय तो श्रीआनंदघनजीके समयकी अपेक्षा भी अधिक विषमता—वीतरागमार्ग-विमुखता—व्याप्त हो रही है।

(२) श्रीआनंदघनजीको सिद्धांतबोध तीव्र था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें थे। यदि '**चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे**' इत्यादि पंचांगीका नाम उनके श्रीनमिनाथजीके स्तवनमें न आया होता, तो यह भी खबर न पड़ती कि वे श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे या दिगम्बर सम्प्रदायके?

८०७

मोरबी चैत्र वदी १५, १९५५

'इस भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई है—' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे—लिखते थे। करीब दस बरस हुए उनका अहमदाबादमें मिलाप हुआ, तो उनसे पूँछाः—

प्रश्नः—भाई! जैनधर्म क्या अहिंसा, सत्य, मेल, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहार-पान, अव्यसन, और उद्यम आदिका उपदेश करता है?

उत्तरः—हाँ (महीपतरामने उत्तर दिया)।

प्रश्नः—भाई! जैनधर्म क्या हिंसा, असत्य, चोरी, फूट, अन्याय, अनीति, विरुद्ध आहार-विहार, विषयलालसा, आलस-प्रमाद आदिका निषेध करता है?

महीपतराम—हाँ?

प्रश्नः—देशकी अधोगति किससे होती है? क्या अहिंसा, सत्य, मेल, न्याय, नीति, तथा जो आरोग्य प्रदान करे और उसकी रक्षा करे ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, और अव्यसन, उद्यम आदिसे देशकी अधोगति होती है? अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फूट अन्याय, अनीति, तथा जो आरोग्यको विगाड़े और शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, और व्यसन, मौज शौक, आलस-प्रमाद आदिसे देशकी अधोगति होती है।

उत्तरः—दूसरेसे; अर्थात् विपरीत हिंसा, असत्य, फूट, प्रमाद आदिसे?

प्रश्नः—तो फिर क्या इनसे उल्टे अहिंसा, सत्य, मेल, अव्यसन, उद्यम आदिसे देशकी उन्नति होती है?

उत्तरः—हाँ।

प्रश्नः—तो क्या जैनधर्म ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी अधोगति हो? या वह ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी उन्नति हो?

उत्तरः—भाई ! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे साधनोंका उपदेश करता है जिससे देशकी उन्नति हो। ऐसी सूक्ष्मतासे विवेकपूर्वक मैंने विचार नहीं किया था। हमने तो बालकपनमें पादरियोंकी पाठशालामें पढ़ते समय पड़े हुए संस्कारोंसे, बिना विचार किये ही ऐसा कह दिया था—लिख मारा था।

महीपतरामने सरलतासे कबूल किया। सत्य-शोधनमें सरलताकी ज़रूरत है। सत्यका मर्म लेनेके लिये विवेकपूर्वक मर्ममें उतरना चाहिये।

८०८ मोरबी, वैशाख सुदी २, १९५५

ज्योतिषको कल्पित समझकर उसको हमने त्याग दिया है। लोगोंमें आत्मार्थता बहुत कम हो गई है—यह नहींकी तरह रह गई है। इस संबंधमें स्वार्थके हेतुसे लोगोंने हमें कष्ट देना शुरू कर दिया। इसलिये जिससे आत्मार्थ साध्य न हो ऐसे इस विषयको कल्पित—असार्थक—समझकर हमने गौण कर दिया, उसका गोपन कर दिया।

२. लोग किसी कार्यकी तथा उसके कर्त्ताकी प्रशंसा करते हैं, यह ठीक है। यह सब कार्यका पोषक तथा उसके कर्त्ताके उत्साहको बढ़ानेवाला है। परन्तु साथ साथमें इस कार्यमें जो कमी हो उसे भी विवेक और अभिमानरहितभावसे सभ्यतापूर्वक बताना चाहिये; जिससे फिर कमीका अवकाश न रहे, और वह कार्य न्यूनतारहित होकर पूर्ण हो जाय। केवल प्रशंसा-गान करनेसे ही सिद्धि नहीं होती। इससे तो उल्टा मिथ्याभिमान ही बढ़ता है। वर्त्तमानके मानपत्र आदिमें यह प्रथा विशेष है। विवेक चाहिये।

३. परिग्रहधारी यतियोंका सन्मान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है—मार्गका विरोध होता है। दाक्षिण्य—सभ्यता—की भी रक्षा करनी चाहिये। जीवको त्याग करना अच्छा नहीं लगता, कुछ करना अच्छा नहीं लगता, और उसे मिथ्या होशियारी होशियारीकी बातें करना है, मान छोड़ना नहीं; उससे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता।

---

८०९ मोरबी, वैशाख सुदी ६, १९५५

ॐ. ध्यान श्रुतके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें चातुर्मासकी स्थिति होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं—ऐसा मुनिश्री····आदिको सविनय कहना।

जिस सत्श्रुतकी जिज्ञासा है, वह सत्श्रुत थोड़े दिनोंमें प्राप्त होना संभव है—ऐसा मुनिश्रीको निवेदन करना।

वीतराग-सन्मार्गकी उपासनामें वीर्यको उत्साहयुक्त करना।

---

८१० ववाणीआ, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ. गृहवासका जिसे उदय रहता है, वह यदि किसी भी शुभध्यानकी प्राप्तिकी इच्छा करता हो, तो उसके मूल हेतुभूत अमुक सदाचरणपूर्वक रहना योग्य है। उस अमुक नियममें 'न्यायसंपन्न आजीविकादि व्यवहार' इस पहिले नियमको साध्य करना योग्य है। इस नियमके साध्य होनेसे बहुतसे

आत्मगुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। यदि इस प्रथम नियमके ऊपर ध्यान रक्खा जाय, और उस नियमको अवश्य सिद्ध किया जाय, तो कषाय आदि स्वभावसे मंद पड़ने योग्य हो जातीं हैं, अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्म-परिणामी होता है। उसके ऊपर ध्यान देना योग्य है।

८११

ईडर, वैशाख वदी ६ मंगल. १९५५

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिका विशेष योग हो, तो कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाका वारम्बार निदिध्यासन करना चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको विनयपूर्वक कहना योग्य है।

जिन्होंने बाह्याभ्यंतर असंगता प्राप्त की है, ऐसे महात्माओंको संसारका अंत समीप है—ऐसा निस्सन्देह ज्ञानीका निश्चय है।

८१२

सर्व चारित्र वशीभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्मामें अखंडवृत्ति रहनेके लिये, मोक्षसंबंधी सब प्रकारके साधनोंका जय करनेके लिये, 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहकारी है, अथवा मूलभूत है।

८१३

ईडर, वैशाख वदी १० शनि. १९५५

ॐ. किसनदासजीकृत क्रियाकोष नामक पुस्तक मिली होगी। उसका आदिसे लगाकर अंततक अध्ययन करनेके पश्चात्, सुगम भाषामें एक तद्विषयक निबंध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी; और वैसी क्रियाका आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा संभव है।

राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था; उसे अप्रमत्त चित्तसे वारंवार एकांतयोगमें स्मरण करना उचित है।

८१४

ॐ **नमः**

सर्वज्ञ वीतरागदेव.

सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका सर्व प्रकारसे जाननेवाला, और राग-द्वेष आदि सर्व विभाव जिसके क्षीण हो गये हैं, वह ईश्वर है।

वह पद मनुष्यदेहमें प्राप्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण वीतराग हो वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है। सम्पूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत होते हैं।

८१५

नड़ियाद, ज्येष्ठ १९५५

मंत्र तंत्र औषध नहीं, जेथी पाप पलाय।
वीतरागवाणी विना अवर न कोई उपाय ॥

८१६

बम्बई, ज्येष्ठ १९५५

ॐ. अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम !

सुषुप्त चेतनको जाग्रत करनेवाले; पतित होती हुई वृत्तिको स्थिर रखनेवाले; दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक; स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त संयम और पूर्ण वीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत; और अन्तमें अयोगी स्वभाव प्रगट कर, अनंत अव्याबाध स्वरूपमें स्थिति करानेवाले ! त्रिकाल जयवंत वर्त्तो ! ॐ शान्तिः शान्तिः.

८१७

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ भौम. १९५५

(१) यदि मुनि अध्ययन करते हों तो योगप्रदीप श्रवण करना । कार्तिकेयानुप्रेक्षाका योग तुम्हें बहुत करके मिलेगा ।

*(२) जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजल लोक ॥ जीव्युं धन्य तेहनुं ।
दासी आशा पिशाची थई रही, कामक्रोध ते केदी लोक ॥ जीव्युं० ।
दीसे खातां पीतां बोलतां, नित्ये छे निरंजन निराकार ॥ जीव्युं० ।
जाणे संत सलोणा तेहने, जेने होय छेलो अवतार ॥ जीव्युं० ।
जगपावनकर ते अवतर्यो, अन्य मातउदरनो भार ॥ जीव्युं० ।
तेने चौद लोकमां विचरतां, अंतराय कोये नव थाय ॥ जीव्युं० ।
रिधिसिधियो दासियो थई रही, ब्रह्मानंद हृदे न समाय ॥ जीव्युं० ।

८१८

बम्बई, ज्येष्ठ वदी २ रवि. १९५५

ॐ. जिस विषयकी चर्चा चलती है वह ज्ञान है । उसके संबंधमें यथावसरोदय ।

८१९

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ७ शुक्र. १९५५

व्यवहार-प्रतिबंधसे विक्षेप न पाकर, धैर्य रखकर उत्साहमान वीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करना योग्य है।

८२०

मोहमयी, आषाढ सुदी ८ रवि. १९५५

१. इससे सरळ दूसरा क्रियाकोष नहीं । विशेष अवलोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा ।

---

* जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे लोक मृगतृष्णाके जलके समान मालूम होता है, उसका जीना धन्य है ॥ जिसकी आशारूपी पिशाचिनी दासी है, और काम क्रोध जिसके बन्दी लोग हैं, उसका जीना धन्य है ॥ जो यद्यपि खाता, पीता और बोलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जो नित्य निरंजन और निराकार है, उसका जीना धन्य है ॥ उसे सलौना संत जानो और उसका यह अन्तिम भव है, उसका जीना धन्य है ॥ उसने जगत्को पवित्र करनेके लिये अवतार लिया है; बाकी तो सब माताके उदरके भारभूत ही हैं, उसका जीना धन्य है ॥ उसे चौदह लोकमें विचरण करते हुए किसीसे भी अंतराय नहीं होता, उसका जीना धन्य है ॥ उसकी ऋद्धि सिद्धि सब दासियाँ हो गई हैं, और उसके हृदयमें ब्रह्मानन्द नहीं समाता, उसका जीना धन्य है ।

२. शुद्ध आत्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इन्द्रियजय ये दो मुख्य अवलंबन हैं। उनकी सुदृढ़तापूर्वक उपासना करनेसे उनकी सिद्धि होती है।

हे आर्य! निराशाके समय महात्मा पुरुषोंका अद्भुत चारित्र स्मरण करने योग्य है। उल्लासित वीर्यवान्, परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है।

३. अप्रमत्त स्वभावका बारम्बार स्मरण करते हैं। शान्तिः.

---

८२१ बम्बई, आषाढ़ वदी ८ रवि. १९५५

ॐ. मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रतापकी सूचना—विज्ञप्ति—की है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं।

हालमें वैसे प्रवृत्ति-स्वभावके प्रति उपशांत वृत्ति है। प्रारब्धयोगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक ही होना योग्य है।

महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है। उससे यह माल्रम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान् ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिसके योगका स्वभाव है, उसका आत्मस्वभाव सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो—वैसी निष्कारण करुणावाला हो—वह यथार्थ है।

---

८२२ बम्बई, आषाढ़ वदी ८ रवि. १९५५

ॐ नमः

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात.

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टिसंबंधी हैं। यह वाक्य स्वाभाविक उत्कर्षार्थके लिये है। समागमके योगमें इसका स्पष्टार्थ समझमें आ सकता है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके लिये हालमें बहुत ही अल्प प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमें उनका सहज ही समाधान हो सकता है।

'बिना नयन' आदि वाक्यका अपनी निजकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा जिससे शुद्ध चैतन्यदृष्टिके प्रति जो वृत्ति है वह विक्षेप प्राप्त न करे, इस तरह आचरण करना चाहिये। कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा दूसरे सत्शास्त्र बहुत करके थोड़े समयमें मिलेंगे।

दुःषम काल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य चरण और आज्ञाका योग मिलना कठिन है। इस कारण बलवान अप्रमत्त प्रयत्न करना चाहिये। शांतिः.

---

८२३ बम्बई, श्रावण सुदी ३, १९५५.

ॐ. परमपुरुषकी मुख्य भक्ति, ऐसे सदाचरणसे प्राप्त होती है जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो।

चरणप्रतिपत्ति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सदाचरण ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है; जो आज्ञा परमपुरुषकी मुख्य भक्ति है।

उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होनेमें गृहवासी जनोंको सदुद्यमरूप आजीविका-व्यवहारसहित प्रवृत्ति करना योग्य है। बहुतसे शास्त्र और वाक्योंका अभ्यास करते हुए भी, जीव यदि ज्ञानी-पुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे, तो बहुतसे शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें ही प्राप्त हो जाय।

८२४

मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी ७, १९५५

ॐ. श्रीपद्मनन्दि शास्त्रकी एक प्रति, किसी अच्छे आदमीके हाथ, जिससे वसो क्षेत्रमें मुनिश्रीको प्राप्त हो, ऐसा करना।

बलवान निवृत्तिवाले द्रव्य क्षेत्र आदि योगमें उस शास्त्रका तुम वारम्वार मनन और निदिध्यासन करना। प्रवृत्तिवाले द्रव्य क्षेत्र आदिमें उस शास्त्रको बाँचना योग्य नहीं।

जब तीन योगकी अल्प प्रवृत्ति हो—वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो— तब महान् पुरुषके वचनामृतका मनन परम श्रेयके मूलको दृढ़ करता है—वह क्रमसे परमपदको प्राप्त कराता है।

चित्तको विक्षेपरहित रखकर परमशांत श्रुतका अनुप्रेक्षण करना चाहिये।

८२५

मोहमयी, श्रावण सुदी ७, १९५५

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महान् पुरुषोंके मार्गको नमस्कार हो !

१. महान् भाग्यके उदयसे अथवा पूर्वके अभ्यस्त योगसे जीवको सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होती है; जो अति दुर्लभ है। वह सच्ची मुमुक्षुता प्रायः महान् पुरुषोंके चरणकमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अथवा वैसी मुमुक्षुतावाली आत्माको महान् पुरुषके योगसे आत्मनिष्ठभाव होता है—सनातन अनंत ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा उपासित सन्मार्ग प्राप्त होता है। सच्ची मुमुक्षुता जिसे प्राप्त हो गई हो, उसे भी ज्ञानीका समागम और आज्ञा, अप्रमत्तयोग कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस तरह माल्म होता है।

२. वर्त्तमानकालमें ऐसे महान् पुरुषका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है। ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हो गई हो, रात-दिन आत्मकल्याण होनेका तथारूप चिंतन रहा करता हो, वैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

३. आत्मानुशासन हालमें मनन करने योग्य है। शान्तिः.

८२६

बम्बई, भाद्रपद सुदी ५ रवि. १९५५

(१)

ॐ. जिन वचनोंकी आकांक्षा है, वे प्रायः थोड़े समयमें प्राप्त होंगे।

इन्द्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सत्श्रुत और सत्समागमकी निरंतर उपासना करनी चाहिये।

क्षीणमोहपर्यंत ज्ञानीकी आज्ञाका अवलंबन परम हितकारी है।

आज दिनतक तुम्हारे प्रति तथा तुम्हारे समीप रहनेवाली बाईयों और भाईयोंके प्रति योगके प्रमत्तस्वभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमाकी याचना है। शमम्.

(२)

जो वनवासी-शास्त्र (श्री पद्मनन्दि पंचविंशति) भेजा है, वह प्रबल निवृत्तिके योगमें संयत इन्द्रियरूपसे मनन करनेसे अमृत है।

८२७

बम्बई, आसोज, १९५५

(१)

ॐ. जिन ज्ञानी-पुरुषोंका देहाभिमान दूर हो गया है, यद्यपि उन्हें कुछ करना बाकी नहीं रहा, तो भी उन्हें सर्वसंगपरित्याग आदि सत्पुरुषार्थताको परमपुरुषने उपकारभूत कहा है।

(२)

श्री....के प्रति पत्र लिखवाते हुए सूचित करना " विहार करके अहमदाबाद स्थिति करनेमें मनको कोई भय, उद्वेग अथवा क्षोभ नहीं है; परन्तु हितबुद्धिसे विचार करनेसे हमारी दृष्टिमें यह आता है कि हालमें उस क्षेत्रमें स्थिति करना योग्य नहीं। यदि आप कहेंगे तो ' उसमें आत्महितको क्या बाधा होती है ', इस बातको विदित करेंगे; और उसके लिये आप कहेंगे तो उस क्षेत्रमें समागममें आवेंगे। अहमदाबादका पत्र पढ़कर आप लोगोंको कोई भी उद्वेग अथवा क्षोभ न करना चाहिये—समभाव ही रखना चाहिये। लिखनेमें यदि कुछ भी अनम्रभाव हुआ हो तो क्षमा करना। "

यदि तुरत ही उनका समागम होनेवाला हो तो ऐसा कहना कि "आपने विहार करनेके संबंधमें जो लिखा, सो उस विषयमें आपका समागम होनेपर जैसा आप कहेंगे वैसा करेंगे; " और समागम होनेपर कहना कि " पहले की अपेक्षा यदि संयममें शिथिलता की हो, ऐसा आपको मालूम होता हो तो आप उसे बतावें, जिससे उसकी निवृत्ति की जा सके; और यदि आपको वैसा न मालूम होता होता हो, तो फिर यदि कोई जीव विषमभावके आधीन होकर वैसा कहे, तो उस बातके प्रति न जाकर, आत्मभावपर ही जाकर, प्रवृत्ति करना योग्य है। ऐसा जानकर हालमें अहमदाबाद क्षेत्रमें जानेकी वृत्ति हमें योग्य नहीं लगती। क्योंकि (१) रागदृष्टियुक्त जीवके पत्रकी प्रेरणासे, और (२) मानकी रक्षाके लिये ही उस क्षेत्रमें जाने जैसा होता है; जो बात आत्माके अहितकी कारण है। कदाचित् आप ऐसा समझते हों कि जो लोग असंभव बात कहते हैं, उन लोगोंके मनमें उनको अपनी निजकी भूल मालूम पड़ेगी, और धर्मकी हानि होती हुई रुक जावेगी, तो यह एक हेतु ठीक है। परन्तु उसके रक्षण करनेके लिये यदि उपरोक्त दो दोष न आते हों, तो किसी अपेक्षासे लोगोंकी भूल दूर करनेके लिये विहार करना उचित है। परन्तु एक बार तो अविषमभावसे उस बातको सहन करके, अनुक्रमसे स्वाभाविक विहार होते होते उस क्षेत्रमें जाना बने, और किन्हीं लोगोंको बहम हो तो जिससे वह बहम निवृत्त हो जाय, ऐसा करना चाहिये। परन्तु रागदृष्टिवानके वचनोंकी प्रेरणासे, तथा मानकी रक्षाके लिये अथवा अविषमता न रहनेसे उसे लोककी भूल मिटानेका निमित्त मानना, वह आत्महितकारी नहीं। इसलिये हालमें इस बातको उपशांत कर..........आप बताओ कि कांचित्..........वगैरह मुनियोंके लिये किसीने कुछ कहा हो, तो उससे वे मुनि दोषके पात्र नहीं हैं। उनके समागममें आनेसे जिन लोगोंको वैसा संदेह होगा, वह सहज ही निवृत्त हो जायगा; अथवा किसी समझकी फेरसे संदेह हो, या दूसरा कोई

स्वपक्षके मानके लिये संदेह उपस्थित करे, तो वह विषम मार्ग है; इस कारण विचारवान मुनियोंको वहाँ समदर्शी होना ही योग्य है। तुम्हें चित्तमें कोई क्षोभ करना उचित नहीं"।

आप ऐसा करेंगे तो हमारी आत्माका, तुम्हारी आत्माका, और धर्मका रक्षण होगा। इस प्रकार जैसे उनकी वृत्तिमें बैठे, वैसे योगमें बातचीत करके समाधान करना, और हालमें जिससे अहमदाबाद क्षेत्रमें स्थिति करना न बने, ऐसा करोगे तो वह आगे चलकर विशेष उपकारका हेतु है। वैसा करते हुए भी यदि किसी भी प्रकारसे………न मानें तो अहमदाबाद क्षेत्रको भी विहार कर जाना, और संयमके उपयोगमें सावचेत रहकर आचरण करना। तुम अविषम रहना।

---

८२८ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी ५ ज्ञान पंचमी १९५५

ॐ

१. परमशांत श्रुतका मनन नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये। शान्तिः।

२. परम वीतरागोंद्वारा आत्मस्थ किये हुए यथाख्यातचारित्रसे प्रगट हुई असंगताको निरन्तर व्यक्ताव्यक्तरूपसे स्मरण करता हूँ।

३. इस दुःषमकालमें सत्समागमका योग भी अति दुर्लभ है। वहाँ फिर परम सत्संग और परम असंगताका योग कहाँसे बन सकता है?

४. परमशांत श्रुतके विचारमें इन्द्रियनिग्रहपूर्वक आत्मप्रवृत्ति रखनेमें स्वरूपस्थिरता अपूर्वरूपसे प्रगट होती है।

सत्समागमका प्रतिबंध करनेके लिये कोई कहे, तो उस प्रतिबंधको न करनेकी वृत्ति बताना, यह योग्य है—यथार्थ है। तदनुसार वर्तन करना। सत्समागमका प्रतिबंध करना योग्य नहीं। तथा सामान्यरूपसे जिससे ऐसा वर्तन हो कि उनकी साथ समभाव रहे, वैसा हितकारी है। फिर जैसे उस संगमें विशेष आना न हो, ऐसे क्षेत्रमें विचरना योग्य है—जिस क्षेत्रमें आत्मसाधन सुलभतासे हो सके।………आर्या आदिको यथाशक्ति जो ऊपर कहा है, वह प्रयत्न करना योग्य है। शान्तिः।

---

८२९ मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५६

ॐ. यह प्रवृत्तिव्यवहार ऐसा है कि जिसमें वृत्तिका यथाशांतभाव रखना असंभव जैसा है। कोई विरला ही ज्ञानी इसमें शांत स्वरूप-नैष्ठिक रह सकता हो, इतना बहुत कठिनतासे बनना संभव है।

उसमें अल्प अथवा सामान्य मुमुक्षुवृत्तिके जीव शांत रह सकें, स्वरूपनैष्ठिक रह सकें, ऐसा यथारूप नहीं, परन्तु अमुक अंशसे भी होनेके लिये, जिस कल्याणरूप अवलंबनकी आवश्यकता है, उसका समझमें आना, प्रतीति होना और अमुक स्वभावसे आत्मामें स्थिति होना भी कठिन है।

यदि वैसा कोई योग बने तो, और जीव यदि शुद्ध नैष्ठिक हो तो, शांतिका मार्ग प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है। प्रमत्त स्वभावका जय करनेके लिये प्रयत्न करना योग्य है।

इस संसार-रणभूमिमें दुःषमकालरूप ग्रीष्मके उदयके योगका वेदन न करनेकी स्थितिका विरले जीव ही अभ्यास करते हैं।

---

८३० मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५५

ॐ

जिससे अविरोध और एकता रहे वैसा करना चाहिये; और इन सबका उपकारका मार्ग संभव है।

भिन्नता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव उल्टा चलता है। वास्तवमें तो अभिन्नता है—एकता है—इसमें सहज समझका फेर होनेसे ही तुम भिन्नता समझते हो, ऐसी उन जीवोंको यदि शिक्षा मिले, तो सन्मुखवृत्ति हो सकती है।

जबतक परस्पर एकताका व्यवहार रहे तबतक वह सर्वथा कर्त्तव्य है। ॐ.

---

८३१ मोहमयी क्षेत्र, कार्त्तिक सुदी १४ गुरु. १९५५

हालमें मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ। अपनेसे बनता ध्यान दूँगा। अपने मनमें निश्चिंत रहना।

केवल अन्नवस्त्र हो तो भी बहुत है। परन्तु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कुछ संयोगोंके कारण थोड़ा बहुत चाहिये, इसलिये यह प्रयत्न करना पड़ा है। इसलिये धर्मकीर्तिपूर्वक वह संयोग जबतक उदयमान हो, तबतक जितना बन पड़े उतना बहुत है।

हालमें मानसिक वृत्तिसे बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रवास करना पड़ा है। तप्त-हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ। ॐ शान्तिः।

(२) ईडर, पौष १९५५

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥
पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण॥

—यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो, तो प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक मंत्रोंका जपपूर्वक ध्यान करो। इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे समझना चाहिये।

जं किंचिवि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्चयं झाणं॥

—ध्यानमें एकाग्रवृत्ति रखकर जो साधु निस्पृह-वृत्तिमान् अर्थात् सर्व प्रकारकी इच्छासे रहित होता है, उसे परमपुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं।

श्रीमद् राजचंद्र

वर्ष ३३ मुं.

वि. सं. १९५६

Lakshmi Art, Bombay 8.

३३वाँ वर्ष

८३२

बम्बई, कार्त्तिक पूनम, १९५६

(१)

ॐ

१. गुरु गणधर गुणधर अधिक, प्रचुर परंपर और।
व्रततपधर तनु नगनधर, वंदौ वृष सिरमौर॥

२. जगत्, विषयके विक्षेपमें स्वरूपविश्रांतिसे विश्रान्ति नहीं पाता।

३. अनंत अव्यावाध सुखका एक अनन्य उपाय स्वरूपस्थ होना ही है। यही हितकारी उपाय ज्ञानियोंने देखा है। भगवान् जिनने द्वादशांगीका इसीलिये निरूपण किया है, और इसी उत्कृष्टतासे वह शोभित है, जयवंत है।

४. ज्ञानीके वाक्यके श्रवणसे उल्लासित हुआ जीव चेतन-जड़को यथार्थरूपसे भिन्नस्वरूप प्रतीत करता है, अनुभव करता है—अनुक्रमसे स्वरूपस्थ होता है। यथावस्थित अनुभव होनेसे वह स्वरूपस्थ हो सकता है।

५. दर्शनमोहका नाश होनेसे ज्ञानीके मार्गमें परमभक्ति उत्पन्न होती है—तत्त्वप्रतीति सम्यक्-रूपसे उत्पन्न होती है।

६. तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध चैतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह फिर जाता है।

७. शुद्ध चैतन्यके अनुभवके लिये चारित्रमोहका नाश करना योग्य है।

८. चारित्रमोह चैतन्यके—ज्ञानी-पुरुषके—सन्मार्गके नैष्ठिकभावसे नाश होता है।

९. असंगतासे परमावगाढ़ अनुभव हो सकता है।

१०. हे आर्य मुनिवरो! इसी असंग शुद्ध चैतन्यके लिये असंगयोगकी अहर्निश इच्छा करते हैं। हे मुनिवरो! असंगका अभ्यास करो।

११. जो महात्मा असंग चैतन्यमें लीन हुए हैं, होते हैं और होंगे, उन्हें नमस्कार हो! ॐ शान्तिः।

(२)

हे मुनियो! जबतक केवल समवस्थानरूप सहजस्थिति स्वाभाविक न हो जाय, तबतक तुम ध्यान और स्वाध्यायमें लीन रहो!

जीव जब केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो जाय, तो वहाँ कुछ करना बाकी नहीं रहा।

जहाँ जीवके परिणाम वर्धमान-हीयमान हुआ करते हैं, वहाँ ध्यान करना चाहिये। अर्थात् ध्यानमें लीनभावसे सर्व बाह्यद्रव्यके परिचयसे विश्रांति पाकर निजस्वरूपके लक्षमें रहना उचित है।

उदयके धक्केसे वह ध्यान जब जब छूट जाय, तब तब उसका बहुत शीघ्रतासे अनुसंधान करना चाहिये।

बीचके अवकाशमें स्वाध्यायमें लीनता करनी चाहिये। सर्व पर द्रव्योंमें एक समय भी उपयोग संगको न पावे, जब ऐसी दशाका जीव सेवन करता है, तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

(३)

परम गुणमय चारित्र चाहिये। बलवान असंग आदि स्वभाव.

परम निर्दोष श्रुत.

परम प्रतीति.

परम पराक्रम.

परम इन्द्रियजय.

१ मूलका विशेषता.

२ मार्गके प्रारंभसे लगाकर अंततककी अद्भुत संकलना।

३ निर्विवाद—

४ मुनिधर्म-प्रकाश.

५ गृहस्थधर्म-प्रकाश.

६ निर्ग्रंथ परिभाषा-निधि.

७ श्रुतसमुद्र-प्रवेशमार्ग.

८३३

(१)

वीतरागदर्शन-संक्षेप.

मंगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार.

भूमिकाः—मोक्षप्रयोजन.

....

उस दुःखके दूर होनेके लिये, भिन्न भिन्न मतोंका पृथक्करण करके देखनेसे, उसमें वीतराग-दर्शन पूर्ण और अविरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन; उस दर्शनका स्वरूप.

उसकी जीवको अप्राप्ति, और प्राप्तिसे अनास्था होनेके कारण.

मोक्षाभिलाषी जीवको उस दर्शनकी कैसे उपासना करनी चाहिये।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु.

विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु.

विशुद्धि—उस विशुद्धिके प्रकार और हेतु.

मध्यस्थ रहनेके स्थानक—उसके कारण.

धीरजके स्थानक—उसके कारण.

शंकाके स्थानक—उसके कारण.

पतित होनेके स्थानक—उसके कारण.

उपसंहार.

आस्था.

पदार्थकी अचिंत्यता, बुद्धिमें व्यामोह, कालदोष.

(२)

स्वरूपबोध.

योगनिरोध.

सर्वधर्म-स्वाधीनता.

धर्मनूर्तित्व.

सर्व प्रदेश संपूर्ण गुणात्मकता.

सर्वांग संयम.

लोकके प्रति निष्कारण अनुग्रह.

---

८३४ बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(१) अवगाहना अर्थात् अवगाहना। अवगाहनाका अर्थ कद—आकार—नहीं होता। कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता; जिनके अनुरूप दूसरा कोई शब्द नहीं मिलता; तथा जो समझे तो जा सकते हैं, पर व्यक्त नहीं किये जा सकते।

अवगाहना ऐसा ही शब्द है। बहुत बोधसे विशेष विचारसे यह समझमें आ सकता है।

अवगाहना क्षेत्रकी अपेक्षासे है। जुदा रहनेपर भी एकमेक होकर मिल जाना, फिर भी जुदा रहना—इस तरह सिद्धात्माकी जितनी क्षेत्र-व्यापकता है वह उसकी अवगाहना कही है।

(२) जो बहुत भोगा जाता है, वह बहुत क्षीण होता है। समतासे कर्म भोगनेपर उनकी निर्जरा होती है—वे क्षीण होते हैं। शारीरिक विषय भोगते हुए शारीरिक शक्ति क्षीण होती है।

(३) ज्ञानीका मार्ग सुलभ होनेपर भी उसका पाना कठिन है। पहिले सच्चा ज्ञानी चाहिये; उसे पहिचानना चाहिये, उसकी प्रतीति आनी चाहिये। बादमें उसके वचनपर श्रद्धा रखकर निःशंकतासे चलनेसे मार्ग सुलभ है, परन्तु ज्ञानीका मिलना और उसकी पहिचान होना विकट है—दुर्लभ है।

---

८३५ बम्बई, कार्तिक वदी ११ मंगल. १९५६

(१)

* जड़ ने चैतन्य बंने द्रव्य तो स्वभाव भिन्न, सुप्रतीतपणे बंने जेने समजाय छे;
स्वरूप चेतन निज जड छे संबंधमात्र, अथवा ते ज्ञेयपण (णे) परद्रव्यमांय छे।
एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो, जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे;
कायानी विसारी माया स्वरूपे शमाया एवा, निर्ग्रंथनो पंथ भव अंतनो उपाय छे।

---

* जड़ और चैतन्य दोनोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है। इन दोनोंकी सुप्रतीति होकर ये जिसकी समझमें आते हैं; तथा 'निजका स्वरूप चेतन है, और जड़ केवल संबंधमात्र है, अथवा वह ज्ञेयरूपसे पर द्रव्यमें ही गर्भित है'—इस अनुभवका जिसे प्रकाश उल्लासित हुआ है, उसकी जड़से उदासीन वृत्ति होकर, आत्मामें वृत्ति होती है। कायाकी मायाको विस्मरण कर जो निजरूपमें लीन हो गये हैं, ऐसे निर्ग्रंथका पंथ ही संसारके अंत करनेका उपाय है।

(२)

× देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे, क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे;
जीवनी उत्पत्ति अने रोग शोक दुःख मृत्यु, देहनो स्वभाव जीवपदमां जणाय छे।
एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव, ज्ञानिनां वचन वडे दूर थई जाय छे;
भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न, बंने द्रव्य निज निजरूपे स्थित थाय छे।

(३)

* जन्म जरा ने मृत्यु मुख्य दुःखना हेतु।
कारण तेनां बे कह्यां रागद्वेष अणहेतु ॥

(४)

+ वचनामृत वीतरागनां परम शांतरस मूळ।
औषध जे भवरोगनां, कायरने प्रतिकूळ ॥

(५)

प्राणीमात्रका रक्षक, बांधव और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो वह वीतरागधर्म ही है।

(६)

संतजनो! जिनेन्द्रवरोंने लोक आदि जो स्वरूप वर्णन किया है, वह अलंकारिक भाषामें योगाभ्यास और लोक आदिके स्वरूपका निरूपण है; वह पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर नहीं हो सकता। इसलिये तुम अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध करनेवाले नहीं, परन्तु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होना।

---

८३६ बम्बई, कार्तिक वदी १२, १९५५

(१) इनॉक्युलेशन—महामारीका टीका। टीकेके नामपर, देखो, डाक्टरोंने यह तूफान खड़ा किया है। बिचारे घोड़े आदिको टीकेके बहाने वे क्रूरतासे मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं—पाप उपार्जन करते हैं। पूर्वमें पापानुबंधी जो पुण्य उपार्जन किया है, उसके योगसे ही वे वर्त्तमानमें पुण्यको भोगते हैं, परन्तु परिणाममें वे पाप ही इकट्ठा करते हैं—इसकी बिचारे डाक्टरोंको खबर भी नहीं है। टीका लगानेसे जब रोग दूर हो जाय तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो उसमें हिंसा प्रगट है। टीका लगानेसे एक रोग दूर करते हुए दूसरा रोग भी खड़ा हो जाता है।

× देह और जीव अज्ञानसे ही एकरूप भासित होते हैं। उससे क्रियाकी प्रवृत्ति भी वैसी ही होती है। जीवकी उत्पत्ति और रोग, शोक, दुःख मृत्यु यह जो देहका स्वभाव है, वह अज्ञानसे ही जीवपदमें मालूम होता है। ऐसा जो अनादिका जीव और देहको एकरूप माननेका मिथ्यात्वभाव है, वह ज्ञानीके वचनसे दूर हो जाता है। तथा उस समय जड़ और चैतन्यका स्वभाव स्पष्ट भिन्न भिन्न मालूम होने लगता है, और दोनों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं।

* जन्म जरा और मृत्यु ये दुःखके मुख्य हेतु हैं। उसके राग और द्वेष ये दो कारण हैं।

+ वीतरागके वचनामृत परम शांतरसके मूल हैं। वह भवरोगकी औषध है, जो कायर पुरुषको प्रतिकूल होती है।

(२) प्रारब्ध और पुरुषार्थ शब्द समझने योग्य हैं। पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खबर नहीं पड़ सकती। जो प्रारब्धमें होगा वह हो रहेगा, यह कहकर बैठे रहनेसे काम नहीं चलता। निष्काम पुरुषार्थ करना चाहिये। प्रारब्धको समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना—यह बड़ा पुरुषार्थ है। सामान्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर यदि प्रारब्धका वेदन न कर सके, तो विषम परिणाम आता ही है। इसलिये उसे न होने देनेके लिये—कम होनेके लिये—उद्यम करना चाहिये। समभाव और विकल्परहितभाव सत्संगसे आता और बढ़ता है।

८३७ मोहमयी क्षेत्र, पोष वदी १२ रवि. १९५६

महात्मा मुनिवरोंके चरणकी,—संगकी—उपासना और सत्शास्त्रका अध्ययन मुमुक्षुओंकी आत्म-बलकी वृद्धिका सदुपाय है।

ज्यों ज्यों इंद्रिय-निग्रह होता है, ज्यों ज्यों निवृत्तियोग होता है, त्यों त्यों वह सत्समागम और सत्शास्त्र अधिकाधिक उपकारी होता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

८३८ धर्मपुर, चैत्र वदी १ रवि. १९५६

ॐ

* धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे, ज्ञानवंत ज्ञानिशुं मळता तनमनवचने साचा।
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे साची जिननी वाचा, धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे॥

(२) बाह्य और अंतर समाधियोग रहता है। परम शान्तिः।

(३) भावनासिद्धि.

८३९ श्रीधर्मपुर, चैत्र वदी ४ बुध. १९५६

(१)

ॐ. समस्त संसारी जीव कर्मवशसे साता और असाताके उदयको अनुभव किया ही करते हैं; उसमें भी मुख्यतया तो असाताका ही उदय अनुभवमें आता है। क्वचित् अथवा किसी किसी देह-संयोगमें यद्यपि साताका उदय अधिक अनुभवमें आता हुआ माल्म होता है; परन्तु वस्तुतः वहाँ भी अंतर्दाह ही प्रज्वलित हुआ करती है। पूर्णज्ञानी भी जिस असाताका वर्णन कर सकने योग्य वचन-योग धारण नहीं करते, वैसी अनंतानंत असातायें इस जीवको भोगनी हैं; और यदि अभी भी उनके कारणोंका नाश न किया जाय तो वे भोगनी पड़ेंगी ही, यह सुनिश्चित है—ऐसा जानकर विचारवान उत्तम पुरुष उस अंतर्दाहरूप साता और बाह्याभ्यंतर संक्लेश-अग्निरूपसे प्रज्वलित असाताका आत्यंतिक

* उन मुनिवरोंको धन्य है जो समभावपूर्वक रहते हैं। जो स्वयं ज्ञानवंत हैं, और ज्ञानियोंसे मिलते हैं। जिनके मन, वचन और काय सच्चे हैं; तथा जो द्रव्य भाव जो वाणी बोलते हैं, वह जिनभगवान्की सच्ची वाणी ही है। उन मुनिवरोंको धन्य है जो समभावपूर्वक रहते हैं।

वियोग करनेके मार्गको गवेषण करनेके लिये तत्पर हुए; और उस सन्मार्गका गवेषण कर, प्रतीति कर, उसका यथायोग्य आराधन कर, अव्याबाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप परम पदमें लीन हो गये।

साता असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले ऐसे उन महान् पुरुषोंको ऐसी विलक्षण सानंद आश्चर्यकारक वृत्ति उद्भूत होती थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर, और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर, उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता था, उल्लासित होता था, और वह समय अधिकतासे कल्याणकारी समझा जाता था। कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे, वे ग्रहण करने योग्य औषध आदिको आत्ममर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे, परन्तु मुख्यतया वे उस परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे।

(१) उपयोग लक्षणसे सनातन-स्फुरित ऐसी आत्माको देहसे (तैजस और कार्माण शरीरसे) भी भिन्न अवलोकन करनेकी दृष्टिको साध्य कर; (२) वह चैतन्यात्मक स्वभाव—आत्मा—निरंतर वेदक स्वभाववाली होनेसे, अबंधदशाको जबतक प्राप्त न हो, तबतक साता-असातारूप अनुभवका वेदन हुए बिना रहनेवाला नहीं, यह निश्चय कर; (३) जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता असाताका बंध करती है, उस धाराके प्रति उदासीन होकर; (४) देह आदिसे भिन्न और स्वरूपमर्यादामें रहनेवाली उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणाम-धारा है, उसका आत्यंतिक वियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण कर; (५) परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे जो सकलंक परिणाम प्रदर्शित करती है, उससे उपशम प्राप्त कर; जिस तरह उपशमयुक्त हुआ जाय, उस उपयोगमें और उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाय, अचल हुआ जाय, वही लक्ष, वही भावना, वही चिंतवना और वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना उचित है। महात्माओंकी वारम्वार यही शिक्षा है।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए, आत्मार्थी जनको परमवीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निस्पृह निर्ग्रंथरूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार, और परमशांतरस रहस्यवाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी सम्पूर्णता होनेतक, परम भक्तिसे उपासना करने योग्य हैं; जो आत्माके कल्याणका परम कारण है।

भीसण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए।
पत्तोसि तिव्वदुःखं, भावहि जिणभावणा जीव॥

—भयंकर नरकगतिमें, तिर्यंचगतिमें, और कुदेव तथा मनुष्यगतिमें, हे जीव! तूने तीव्र दुःखको पाया, इसलिये अब तू जिनभावनाका (जिनभगवान् जो परम शांतरससे परिणमकर स्वरूपस्थ हुए उस परमशांतस्वरूप चिंतवनाका) भाव न कर—चिंतवन कर (जिससे उन अनंत दुःखोंका आत्यंतिक वियोग होकर, परम अव्याबाध सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो)। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

(२)

जहाँ जनवृत्ति असंकुचित भावसे संभव होती हो, और जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हों, ऐसे क्षेत्रमें महान् पुरुषोंको विहार चातुर्मासरूप स्थिति करनी चाहिये। शांतिः।

(३)

ॐ नमः

१. उपशमश्रेणीमें मुख्यरूपसे उपशमसम्यक्त्व संभव है।

२. चार घनघाति कर्मोंका क्षय होनेसे अंतराय कर्मकी प्रकृतिका भी क्षय होता है; और उससे दानांतराय, लाभांतराय, वीर्यांतराय, भोगांतराय और उपभोगान्तराय इस पाँच प्रकारके अंतरायका क्षय होकर, अनंत दानलब्धि, अनंत लाभलब्धि, अनंत वीर्यलब्धि और अनंत भोगउपभोगलब्धि प्राप्त होती है। इस कारण जिसका वह अंतराय कर्म क्षय हो गया है, ऐसा परमपुरुष अनंत दान आदि देनेको सम्पूर्ण समर्थ है।

तथापि परमपुरुष पुद्गल द्रव्यरूपसे इन दानादि लब्धियोंकी प्रवृत्ति नहीं करता। मुख्यतया तो उस लब्धिकी प्राप्ति भी आत्माकी स्वरूपभूत ही है, क्योंकि वह प्राप्ति क्षायिकभावसे होती है, औदयिकभावसे नहीं; इस कारण वह आत्मस्वभावकी स्वरूपभूत ही है। तथा जो आत्मामें अनंत सामर्थ्य अनादिसे शक्तिरूपसे मौजूद थी, उसके व्यक्त होनेसे आत्मा उसे निजस्वरूपमें ला सकती है—तद्रूप शुद्ध स्वच्छभावसे वह उसे एक स्वभावसे परिणमा सकती है—उसे अनंत दानलब्धि कहना चाहिये। इसी तरह अनंत आत्मसामर्थ्यकी प्राप्तिमें किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इसलिये उसे अनंत लाभलब्धि कहना चाहिये। तथा अनंत आत्मसामर्थ्यकी प्राप्ति सम्पूर्णरूपसे परमानंदस्वरूपसे अनुभवमें आती है; उसमें भी किंचित्मात्र भी वियोगका कारण नहीं रहा, इस कारण उसे अनंत भोगउपभोगलब्धि कहना चाहिये। इसी तरह अनंत आत्मसामर्थ्यकी प्राप्ति पूर्ण होनेपर, जिससे उस सामर्थ्यके अनुभवसे आत्मशक्ति थक जाय, उसकी सामर्थ्यको न उठा सके, वहन न कर सके, अथवा उस सामर्थ्यको किसी भी प्रकारके देशकालका असर होकर, किंचित्मात्र भी न्यूनाधिकता करावे, ऐसा कुछ भी बाकी नहीं रहा, उस स्वभावमें रहनेकी सम्पूर्ण सामर्थ्य त्रिकाल सम्पूर्ण बलसहित रहना है, उसे अनंत वीर्यलब्धि समझना चाहिये।

क्षायिकभावकी दृष्टिसे देखनेसे ऊपर कहे अनुसार उस लब्धिका परमपुरुषको उपयोग रहता है। तथा ये पाँच लब्धियाँ हेतुविशेषसे समझानेके वास्ते ही भिन्न भिन्न बताई हैं; नहीं तो अनन्तवीर्य लब्धिमें भी उन पाँचोंका समावेश हो सकता है। आत्मामें ऐसी सामर्थ्य है कि वह सम्पूर्ण वीर्यको प्राप्त होनेसे, इन पाँचों लब्धियोंका पुद्गल द्रव्यरूपसे उपयोग कर सकती है; तथापि कृतकृत्य परमपुरुषमें सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव होनेके कारण वह उपयोग संभव नहीं। और उपदेश आदिके दानरूपसे जो उस कृतकृत्य परमपुरुषकी प्रवृत्ति है, वह योगाश्रित पूर्वबंधके उदय होनेसे ही है, आत्मस्वभावके किंचित् भी विकृतभावसे नहीं।

इस तरह संक्षेपमें उत्तर समझना। निवृत्तिवाला अवसर प्राप्त कर अधिकाधिक मनन करनेसे विशेष समाधान और निर्जरा होगी। सोल्लास चित्तसे ज्ञानीकी अनुप्रेक्षा करनेसे अनंत कर्मका क्षय होता है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः.

---

८४० अहमदाबाद भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

(१) आज दशा आदिके संबंधमें जो कहा है, और बीजारोपण किया है, उसे खोद मत डालना; वह सफल होगा।

(२) एक श्लोक पढ़ते हुए हमें हज़ारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग फिर जाता है।

(३) 'चतुरांगल हैं दगसे मिल हैं'—यह आगे जाकर समझमें आवेगा।

---

८४१ मोरबी, वैशाख सुदी ८, १९५६

ॐ. भगवद्गीतामें पूर्वापर-विरोध है, उसे देखनेके लिये उसे भेजी है। पूर्वापर-विरोध क्या है, यह अवलोकन करनेसे माल्रम होगा। पूर्वापर-अविरोध दर्शन और पूर्वापर-अविरोध वचन तो वीतरागके ही हैं।

भगवद्गीताके ऊपर विद्यारण्य स्वामी, ज्ञानेश्वरी आदिकी अनेक भाष्य-टीकायें रची गई हैं। हरेक कोई अपनी अपनी मान्यताओंके ऊपर चले गये हैं। थियासफीवाली टीका जो तुम्हें भेजी है, वह अधिक स्पष्ट है।

मणिलाल नभुभाईने (गीताके ऊपर) विवेचनरूप टीका करते हुए बहुत मिश्रण कर दिया है—खिचड़ी बना दी है। विद्वत्ता और ज्ञानको एक नहीं समझना चाहिये—वे एक नहीं है; विद्वत्ता हो सकती है, फिर भी ज्ञान न हो। सच्ची विद्वत्ता तो वह है जो आत्मार्थके लिये हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मतत्त्व समझमें आवे—वह प्राप्त हो। जहाँ आत्मार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, वहाँ विद्वत्ता हो भी सकती है नहीं भी।

मणिभाई (षड्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावनामें) कहते हैं कि "हरिभद्रसूरिको वेदांतकी खबर न थी। यदि उन्हें वेदान्तकी खबर होती तो ऐसी कुशाग्र-बुद्धिवाले हरिभद्रसूरि जैनदर्शनकी ओरसे अपनी वृत्तिको फिराकर वेदांती बन जाते"। मणिभाईके ये वचन गाढ़ मताभिनिवेशसे निकले हैं। हरिभद्रसूरिको वेदांतकी खबर थी या नहीं—इस बातकी, मणिभाईने यदि हरिभद्रसूरिकी धर्मसंग्रहणी देखी होती, तो उन्हें खबर पड़ जाती। हरिभद्रसूरिको वेदांत आदि समस्त दर्शनोंकी खबर थी। उन समस्त दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक ही उन्होंने जैनदर्शनकी पूर्वापर-अविरोध प्रतीति की थी। यह अवलोकनसे माल्रम पड़ेगा। षड्दर्शनसमुच्चयके भाषांतरमें दोष होनेपर भी मणिभाईने भाषांतर ठीक किया है। यह सुधारा जा सकता है।

---

८४२ श्रीमोरबी, वैशाख सुदी ९, १९५६

ॐ. वर्तमानकालमें क्षयरोग विशेष बढ़ा है और बढ़ता जाता है, इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषय आदिकी आसक्ति है। क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्त्तन है।

---

८४३ ववाणीआ, वैशाख १९५६

१. ॐ. यथार्थ ज्ञानदशा, सम्यक्त्वदशा और उपशमदशाको तो, जो यथार्थ मुमुक्षु जीव सत्पुरुषके समागममें आता है, वही जानता है।

जिनके उपदेशसे वैसी दशाके अंश प्रगट हुए हों, उनकी अपनी निजकी दशामें वे गुण कैसे उत्कृष्ट रहने चाहिये, उसका विचार करना सुगम है; और जिनका उपदेश एकांत नयात्मक हो, उससे वैसी एक भी दशा प्राप्त होनी संभव नहीं। सत्पुरुषकी वाणी सर्व नयात्मक रहती है।

२. दूसरे प्रश्नोंका उत्तरः—

(१) प्रश्नः—क्या जिन-आज्ञा-आराधक स्वाध्याय-ध्यानसे मोक्ष है या और किसी तरह ?

उत्तरः—तथारूप प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगमें अथवा किसी पूर्वके दृढ़ आराधनसे जब जिनाज्ञा यथार्थ समझमें आती है, उसकी यथार्थ प्रतीति होती है, और उसकी यथार्थ आराधना होती है, तो मोक्ष होती है, इसमें संदेह नहीं।

(२) प्रश्नः—ज्ञान-प्रज्ञासे सर्व वस्तुओंको जानकर, जो प्रत्याख्यान-प्रज्ञासे उनका पच्चक्खाण करता है, उसे पंडित कहा है।

उत्तरः—वह यथार्थ है। जिस ज्ञानसे परभावके मोहका उपशम अथवा क्षय न हुआ हो, उस ज्ञानको अज्ञान ही कहना चाहिये; अर्थात् ज्ञानका लक्षण परभावके प्रति उदासीन होना ही है।

(३) प्रश्नः—जो एकांतज्ञान मानता है, उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उत्तरः—वह यथार्थ है।

(४) प्रश्नः—जो एकांतक्रिया मानता है, उसे मिथ्यात्वी कहा है।

उत्तरः—वह यथार्थ है।

(५) प्रश्नः—मोक्ष जानेके चार कारण कहे हैं। तो क्या उन चारमेंसे किसी एक कारणको छोड़कर मोक्ष जाते हैं, अथवा चारोंके संयोगसे मोक्ष जाते हैं ?

उत्तरः—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्षके चार कारण कहे हैं, उनके परस्पर अविरोधभावसे प्राप्त होनेपर ही मोक्ष होती है।

(६) प्रश्नः—समकित अध्यात्मकी शैली किस तरह है ?

उत्तरः—यथार्थ समझमें आनेपर, परभावसे आत्यंतिक निवृत्ति करना यह अध्यात्ममार्ग है। जितनी जितनी निवृत्ति होती है, उतने उतने ही सम्यक् अंश होते हैं।

(७) प्रश्नः—पुद्गलसे रातो रहे—इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उत्तर.—पुद्गलमें आसक्ति होना मिथ्यात्वभाव है।

(८) प्रश्नः—'अंतरात्मा परमात्माका ध्यान करे'—इत्यादिका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—अंतरात्मरूपसे जो परमात्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमात्मा हो जाता है।

(९) प्रश्नः—हालमें कौनसा ध्यान रहता है ? इत्यादि।

उत्तरः—सद्गुरुके वचनको वारम्वार विचार कर, अनुप्रेक्षण कर, परभावसे आत्माको असंग करना।

(१०) प्रश्नः—समकित नाम रखा कर, विषय आदिकी आकांक्षा और पुद्गलभावके सेवन करनेमें कोई वाधा नहीं, और हमें वंध नहीं है—ऐसा जो कहता है, क्या वह यथार्थ कहता है ?

उत्तरः—ज्ञानीके मार्गकी दृष्टिसे देखनेसे तो वह मात्र मिथ्या ही कथन करता है। क्योंकि पुद्गल-

भावसे तो भोग करते जाना और कहना कि आत्माको कर्म लगते नहीं, तो वह ज्ञानीकी दृष्टिका वचन नहीं—वह केवल वचन-ज्ञानीका ही वचन है।

(११) प्रश्नः—जैनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलीभूत होगा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—वह यथार्थ कहता है।

(१२) प्रश्नः—स्वभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—वह तथारूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है।

(१३) प्रश्नः—विभावदशा क्या फल देती है ?

उत्तरः—जन्म, जरा मरण आदि संसार।

(१४) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि पोरसीकी स्वाध्याय करे तो उससे क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है।

(१५) प्रश्नः—वीतरागकी आज्ञासे यदि ×पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तरः—वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है।

—इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ।

३. लौकिकभाव छोड़कर, वचनज्ञान छोड़कर, कल्पित विधिनिषेधका त्यागकर, जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश लेकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है, उसका अवश्य कल्याण होता है।

निजकल्पनासे ज्ञान दर्शन चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जिस तरह समझकर, अथवा निश्चयात्मक बोल सीखकर, जो सद्व्यवहारके लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं। अथवा काल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं।

* ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥

एकांत क्रिया-जडत्वमें अथवा एकांत शुष्कज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता।

---

८४४ ववाणीआ, वैशाख वदी ८ मंगल. १९५६

ॐ. प्रमत्त अत्यंत प्रमत्त ऐसे आजकलके जीव हैं, और परमपुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है। इसलिये उस विरोधके शांत होनेके लिये परमपुरुषका समागम—चरणका योग—ही परम हितकारी है। ॐ शान्तिः.

---

८४५ ववाणीआ, वैशाख वदी ९ बुध. १९५६

ॐ. मोक्षमालामें शब्दांतर अथवा प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यांतर करनेकी वृत्ति हो तो करना। उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखना। जीवनचरित्रकी वृत्ति उपशांत करना।

× यह एक प्रकारका तपविशेष है। इसमें प्रथम प्रहरतक भोजन आदिका त्याग किया जाता है।
—अनुवादक.

* आत्मसिद्धि ८.

उपाद्घातसे वाचकको, श्रोताको, अल्प अल्प मतांतरकी वृत्ति विस्मृत होकर, जिससे ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परमधर्मके विचार करनेकी स्फुरणा हो, ऐसा सामान्यतः लक्ष रखना। यह सहज सूचना है। शान्तिः.

---

८४६ ववाणीआ, वैशाख वदी १३ शनि. १९५६

ॐ. जहाँ बहुत विरोधी गृहवासीजन अथवा जहाँ आहार आदिका जनसमूहका संकोचभाव रहता हो, वहाँ चातुर्मास करना योग्य नहीं; नहीं तो सब क्षेत्र श्रेयकारी ही हैं।

आत्मार्थीको विक्षेपका हेतु क्या हो सकता है? उसे तो सब समान ही हैं। आत्मभावसे विचरते हुए ऐसे आर्य पुरुषोंको धन्य है। ॐ शान्तिः।

---

८४७ ववाणीआ, वैशाख वदी १५ सोम. १९५६

(१)

ॐ. आर्य मुनिवरोंके लिये अविक्षेपभाव संभव है। विनयभक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है।

अनादिसे चपल ऐसे मनको स्थिर करना चाहिये। प्रथम वह अत्यंतरूपसे सामने होता हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। क्रम क्रमसे उस मनको महात्माओंने स्थिर किया है—शान्त किया है—क्षय किया है—यह सचमुच आश्चर्यकारक है।

(२)

* क्षायोपशमिक असंख्य, क्षायक एक अनन्य—अध्यात्मगीता.

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो परमार्थ अंतरात्मवृत्तिमें प्रतिभासित हो, उसे यथाशक्ति लिखना योग्य है। शान्तिः.

(३)

ॐ. यथार्थरूपसे देखें तो शरीर वेदनाकी मूर्ति है। समय समयपर जीव उसके द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है। क्वचित् साता और नहीं तो प्रायः वह असाताका ही वेदन करता है। मानसिक असाताकी मुख्यता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिको माळूम हो जाती है। शारीरिक असाताकी मुख्यता स्थूल दृष्टिवानको भी माळूम हो जाती है। जो वेदना पूर्वमें सुदृढ़ बंधनसे जीवने बाँधी है, उस वेदनाके उदय होनेपर उसे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी रोकनेको समर्थ नहीं। उसका उदय जीवको वेदन करना ही चाहिये। अज्ञानदृष्टि जीव उसका खेदसे वेदन करें, तो भी कुछ वह वेदना घटती नहीं, अथवा होती हुई रुकती नहीं। तथा सत्यदृष्टिवान जीव यदि उसका शांतभावसे वेदन करें, तो वह वेदना बढ़ नहीं जाती। हाँ, वह नवीन बंधका हेतु नहीं होती—उससे पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है। आत्मार्थीको यही कर्त्तव्य है।

---

* क्षायोपशमिक भाव असंख्य होते हैं, परन्तु क्षायिकभाव एक और अनन्य ही होता है।

मैं शरीर नहीं, परन्तु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य शाश्वत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्वकर्म है, परन्तु यह मेरा स्वरूप नाश करनेको समर्थ नहीं। इसलिये मुझे खेद नहीं करना चाहिये—इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है। ॐ.

---

८४८ ववाणीआ, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभुवनके अल्प समयमें शान्तवृत्तिसे देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुशील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीवके विविध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमें इन्द्र तथा सामान्य त्रयस्त्रिंशत् आदि स्थान हैं। मनुष्यलोकमें चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव, तथा मांडलिक आदि स्थान हैं। तिर्यंचोंमें भी कहीं इष्ट भोगभूमि आदि स्थान हैं।

उन सब स्थानोंको जीव छोड़ेगा, इसमें सन्देह नहीं। ये जाति, गोती और बंधु आदि इन सबके अशाश्वत अनित्य वास हैं। शान्तिः.

---

८४९ ववाणीआ, ज्येष्ट सुदी १२ सोम. १९५६

(१)

ॐ. मुनियोंको चातुर्माससंबंधी विकल्प कहाँसे हो सकता है? निर्ग्रन्थ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधें? सिरेका तो कोई संबंध ही नहीं।

निर्ग्रन्थ महात्माओंका दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माओंके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अवधारण होनेसे यावत् काल मोक्ष होती है, ऐसा श्रीमान् तीर्थंकरने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीवमें तथारूप योग्यताकी आवश्यकता है। शान्तिः।

(२)

ॐ. पत्र और समयसारकी प्रति मिली। कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार ग्रन्थ जुदा है। इस ग्रन्थका कर्त्ता जुदा है, और ग्रन्थका विषय भी जुदा है। ग्रन्थ उत्तम है।

आर्य त्रिभुवनकी देहोत्सर्ग करनेकी खबर तुम्हें मिली, उससे खेद हुआ वह यथार्थ है। ऐसे कालमें आर्य त्रिभुवन जैसे मुमुक्षु विरले ही हैं। दिन प्रतिदिन शांतावस्थासे उसकी आत्मा स्वरूप-लक्षित होती जाती थी। कर्मतत्त्वका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदिध्यासन कर, आत्माको तदनुयायी परिणतिका जिससे निरोध हो—यह उसका मुख्य लक्ष था। उसकी विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्र-मोहको क्षीण करनेके लिये अवश्य प्रवृत्ति करता। शांतिः शांतिः शांतिः.

---

८५० ववाणीआ, ज्येष्ठ वदी ९ गुरु. १९५६

व्यसन बढ़ानेसे बढ़ता है, और नियममें रखनेसे नियममें रहता है। व्यसनसे कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश हो जाता है। इससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है।

समयके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नहीं पड़ता। तथा वजनरहित मनुष्य इस जगत्में किसी कामका नहीं।

अपनेको मिली हुई मनुष्यदेह भगवान्की भक्ति और अच्छे काममें व्यतीत करनी चाहिये।

---

८५१ वत्राणीआ, ज्येष्ठ वदी १०, १९५६

ॐ. पत्र मिला। शरीर-प्रकृति स्वस्थास्वस्थ रहती है, विक्षेप करना योग्य नहीं।

हे आर्य! अंतर्मुख होनेका अभ्यास करो। शांतिः।

---

८५२ ववाणीआ, ज्येष्ठ वदी १५ बुध. १९५६

ॐ. परम पुरुषको अभिमत अभ्यंतर और बाह्य दोनों संयमको उल्लासित भक्तिसे नमस्कार हो!

मोक्षमालाके संबंधमें जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो।

मनुष्यता, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उसके प्रति आस्तिक्यभाव, संयम, उसके प्रति वीर्यप्रवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति होना, अंतपर्यंत सम्पूर्ण मार्गरूप समुद्रका पार हो जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं; इसमें सन्देह नहीं।

शरीर-प्रकृति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, और क्वचित् उससे विपरीत भी देखनेमें आती है। इस समय कुछ असाताकी मुख्यता देखनेमें आती है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. चक्रवर्तीकी समस्त संपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समयमात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसी इस मनुष्यदेहका, और परमार्थको अनुकूल योग प्राप्त होनेपर यदि जन्म मरणसे रहित परमपदका ध्यान न रहा, तो इस मनुष्यजन्मको अधिष्ठित इस आत्माको अनंतवार धिक्कार हो।

जिन्होंने प्रमादका जय किया, उन्होंने परमपदका जय किया। शांतिः.

(३)

शरीर-प्रकृतिकी अनुकूल-प्रतिकूलताके आधीन उपयोग करना उचित नहीं। शान्तिः.

८५३

जिससे मनचिंता प्राप्त हो, उस मणिको चिंतामणि कहा है। यह यही मनुष्य देह है कि जिस देहमें—योगमें—आत्यंतिक सर्व दुःखके क्षय करनेका चिंतन किया हो तो पार पड़ती है।

जिसका अचिन्त्य माहात्म्य है, ऐसा सत्संगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर भी जीव दरिद्र बना रहे, तो इस जगत्में यह ग्यारहवाँ आश्चर्य है।

---

८५४ ववाणीआ, आषाढ़ सुदी १ गुरु. १९५६

(१)

ॐ. दो समय उपदेश और एक समय आहार-ग्रहण, तथा निद्राके समयको छोड़कर बाकीका

अवकाश मुख्यतया आत्म-विचारमें, पद्मनन्दि आदि शास्त्रोंके अवलोकनमें, और आत्मध्यानमें व्यतीत करना उचित है। कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करें तो उनका उचित समाधान करना चाहिये, जिससे उनकी आत्मा शांत हो। अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते हुए, जिस तरह शुद्ध क्रियामें लोगोंकी रुचि बढ़े, उस तरह क्रिया कराते रहना चाहिये।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी रूढ़ीके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें, सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये। किंचित्मात्र आभासरूपसे भी सामायिक व्रत आदिका निषेध हृदयमें भी न आवे, उसे ऐसी गंभीरतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये।

स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी क्रियासे रहित होकर जीव उन्मत्त हो जाता है; अथवा 'तुम्हारी यह क्रिया बराबर नहीं'—इतना कहनेसे भी, तुम्हें दोष देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रमत्त जीवोंका स्वभाव है; और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है। इसलिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, अपनी आत्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी आत्माका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये; और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना चाहिये, यही निर्जराका सुन्दर मार्ग है।

स्वात्महितमें जिससे प्रमाद न हो, और दूसरेको अविक्षेपभावसे आस्तिक्यवृत्ति बँधे, वैसा उसका श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित भेदोंकी वृद्धि न हो, और अपनी और परकी आत्माको शांति हो, इस तरह प्रवृत्ति करानेमें उल्लासित वृत्ति रखना। सत्शास्त्रके प्रति जिससे रुचि बढ़े वैसा करना। ॐ शान्तिः.

(२)

१. ×ते माटे उभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनंदघन लहिये रे॥

२. मुमुक्षु भाईयोंको, जिस तरह लोक-विरुद्ध न हो, उस तरह तीर्थके लिये गमन करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं। ॐ. शांतिः.

---

८५५ मोरबी, आषाढ़ वदी ९ शुक्र. १९५६

(१)

१. सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परमपुरुषोंने परमधर्म कहा है।

२. तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूप-भ्रंशवृत्ति न हो, यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है।

३. उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने योग्य है। ॐ शान्तिः.

(२)

ॐ. आषाढ़ पूर्णिमातक चातुर्माससंबंधी जो किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ।

× अर्थके लिये देखो. अंक ६८५.

पद्मनन्दि, गोम्मटसार, आत्मानुशासन, समयसारमूल इत्यादि परमशांत श्रुतका अध्ययन होता होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपका स्मरण करते हैं। ॐ शान्तिः.

---

८५६ मोरबी, आषाढ़ सुदी १९५६

१ प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

—तेरे दो नेत्र प्रशमरसमें डूबे हुए हैं—परमशांत रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुखकमल प्रसन्न है—उसमें प्रसन्नता व्याप रही है। तेरी गोदी स्त्रीके संगसे रहित है। तेरे दोनों हाथ शस्त्रसे रहित हैं, अर्थात् तेरे हाथोंमें शस्त्र नहीं है—इस तरह हे देव! जगत्में तू ही वीतराग है।

देव कौन? वीतराग। दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी? जो वीतरागता सूचन करे।

२. स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्यका उत्तम ग्रन्थ है। द्रव्यको—वस्तुको—यथावत् लक्षमें रखकर, इसमें वैराग्यका निरूपण किया है। गतवर्ष मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्त्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत विचरे हैं। इस ओरके नग्न, भव्य, ऊँचे और अडोल वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर, स्वामी कार्त्तिकेय आदिकी अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति याद आती थी। नमस्कार हो उन स्वामी कार्त्तिकेय आदिको!

---

८५७ मोरबी, श्रावण वदी ४ मंगल. १९५६

ॐ. संस्कृतके अभ्यासके योगके संबंधमें लिखा; परन्तु जबतक आत्मा सुदृढ़ प्रतिज्ञासे प्रवृत्ति न करे तबतक आज्ञा करनी भयंकर है।

जिन नियमोंमें अतिचार आदि लगे हों, उनका कृपालु श्रीमुनियोंसे यथाविधि प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करना उचित है; नहीं तो वह भयंकर तीव्र बंधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्त्तन करनेकी अपेक्षा मरना श्रेयस्कर है—ऐसी महान् पुरुषोंकी आज्ञाका कोई भी विचार नहीं रक्खा? तो फिर ऐसा प्रमाद आत्माको भयंकर क्यों न हो?

---

८५८ मोरबी, श्रावण वदी ५ बुध. १९५६

ॐ. कदाचित् यदि निवृत्ति-मुख्य स्थलकी स्थितिके उदयका अंतराय प्राप्त हो, तो हे आर्य! तुम श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १५ तक सदा सविनय परम निवृत्तिको इस तरह सेवन करना कि जिससे समागमवासी मुमुक्षुओंको तुम विशेष उपकारक होओ; और वे सब निवृत्तिभूत सद्नियमोंका सेवन करते हुए सत्शास्त्र-अध्ययन आदिमें एकाग्र हों, यथाशक्ति व्रत नियम गुणके ग्रहण करनेवाले हों।

शरीर-प्रकृतिमें सबल आसातनाके उदयसे यदि निवृत्ति-मुख्य स्थलका अंतराय मालूम होगा, तो यहाँसे प्रायः तुम्हारे अध्ययन मनन आदिके लिये योगशास्त्र पुस्तक भेजेंगे; जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षु भाईयोंको भी श्रवण करानेसे परम लाभ होना संभव है।

हे आर्य! अल्पआयुवाले दुःषमकालमें प्रमाद करना योग्य नहीं; तथापि आराधक जीवोंको तद्वत् सुदृढ़ उपयोग रहता है।

आत्मबलाधीनतासे पत्र लिखा है। ॐ शान्तिः.

---

८५९ मोरबी, श्रावण वदी ८, १९५६

(१) षड्दर्शनसमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चयका भाषांतर गुजरातीमें करना योग्य है, सो करना। षड्दर्शनसमुच्चयका भाषांतर हुआ है, परन्तु उसे सुधारकर फिरसे करना उचित है। धीरे धीरे होगा; करना। आनंदघनचौबीसीका अर्थ भी विवेचनके साथ लिखना।

(२) **नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे।**
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने॥

श्रीहेमचन्द्राचार्य योगशास्त्रकी रचना करते हुए मंगलाचरणमें वीतरागसर्वज्ञ अरिहंत योगिनाथ महावीरको स्तुतिरूपसे नमस्कार करते हैं।

जो रोके रुक नहीं सकते, जिनका रोकना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे रागद्वेष अज्ञानरूपी शत्रुके समूहको जिसने रोका—जीता—जो वीतराग सर्वज्ञ हुआ; वीतराग सर्वज्ञ होकर जो अर्हत् पूजनीय हुआ; और वीतराग अर्हंत होकर, जिनका मोक्षके लिये प्रवर्त्तन है ऐसे भिन्न भिन्न योगियोंका जो नाथ हुआ—नेता हुआ; और इस तरह नाथ होकर जो जगत्का नाथ—तात—त्राता हुआ, ऐसे महावीरको नमस्कार हो।

यहाँ सद्देवके अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय और पूजातिशयका सूचन किया है।

इस मंगलस्तुतिमें समग्र योगशास्त्रका सार समाविष्ट कर दिया है; सद्देवका निरूपण किया है; समग्र वस्तुस्वरूप—तत्त्वज्ञानका—समावेश कर दिया है। कोई खोज करनेवाला चाहिये।

(३) लौकिक मेलेमें वृत्तिको चंचल करनेवाले प्रसंग विशेष होते हैं। सच्चा मेला तो सत्संगका है। ऐसे मेलेमें वृत्तिकी चंचलता कम होती है—दूर होती है। इसलिये ज्ञानियोंने सत्संगके मेलेका बखान किया है—उपदेश किया है।

---

८६० मोरबी, श्रावण वदी ९, १९५६

ॐ जिनाय नमः

१. (१) परमनिवृत्तिका निरन्तर सेवन करना चाहिये, यही ज्ञानीकी प्रधान आज्ञा है।

(२) तथारूप योगमें असमर्थता हो, तो निवृत्तिका सदा सेवन करना चाहिये, अथवा

(३) स्वात्मवीर्यको छिपाये बिना, जितना बने उतना निवृत्ति सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर, आत्माको अप्रमत्त करना चाहिये यही आज्ञा है। अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वतिथियोंमें ऐसे आशयसे सुनियमित वर्त्तनसे प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की गई है।

२. जिस स्थलमें धर्मकी सुदृढ़ता हो, वहाँ श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमातक स्थिति करना

योग्य है। ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमें जिससे निःसंशयभाव प्राप्त हो, और उत्तम गुणव्रत, नियम शील और देव गुरु धर्मकी भक्तिमें वीर्य परम उल्लासित होकर वर्त्तन करे, ऐसी सुदृढ़ता करनी योग्य है, और वही परम मंगलकारी है।

३. जहाँ स्थिति करो वहाँ अपना ऐसा वर्त्तन रखना कि जिससे समागमवासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ़ हो, और वे अप्रमत्तभावसे सुशीलकी वृद्धि करें। ॐ. शान्तिः.

८६१

मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

ॐ. आज योगशास्त्र ग्रन्थको डाकसे भेजा दिया है।

मुमुक्षुओंके अध्ययन और श्रवण मननके लिये श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १५ तक सुव्रत, नियम और और निवृत्ति-परायणताके हेतुसे इस ग्रन्थका उपयोग करना चाहिये।

प्रमत्तभावसे इस जीवका बुरा करनेमें कोई न्यूनता नहीं रक्खी, तथापि इस जीवको निज-हितका उपयोग नहीं, यही खेदकारक है।

हे आर्य ! हालमें उस अप्रमत्तभावको उल्लासित वीर्यसे मंद करके सुशीलसहित सत्श्रुतका अध्ययन कर निवृत्तिसे आत्मभावका पोषण करना।

८६२

मोरबी, श्रावण वदी १०, १९५६

श्रीपर्यूषण-आराधन

१. एकांत योगस्थलमें.

प्रभातमें—(१) देव गुरुकी उत्कृष्ट भक्तिवृत्तिसे अंतरात्माके ध्यानपूर्वक दो घड़ीसे चार घड़ीतक उपशांत व्रत.

(२) श्रुत—पद्मनन्दि आदि अध्ययन, श्रवण.

मध्याह्नमें—(१) चार घड़ी उपशांत व्रत.

(२) श्रुत—कर्मग्रन्थका अध्ययन, श्रवण; सुदिष्ट[दृष्टि]तरंगिणी आदिका थोडा अध्ययन.

सांयकालमें—(१) क्षमापनाका पाठ.

(२) दो घड़ी उपशांत व्रत.

(३) कर्मविषयक ज्ञानचर्चा.

२. सब प्रकारके रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग। हो सके तो भाद्रपद पूर्णिमातक एक समय आहार लेना.

पंचमीके दिन घी, दूध, तेल, दहीका भी त्याग। उपशांतव्रतमें विशेष काल बिताना; हो सके तो उपवास करना।

हरियाली—सर्वथा त्याग (आठों दिन)।

ब्रह्मचर्य—आठों दिन पालना। बने तो भाद्रपद पूनमतक। शमम्.

८६३

× व्याख्यानसार और प्रश्नसमाधान

(१) मोरवी, आषाढ़ सुदी ४ रवि. १९५६

१. ज्ञान वैराग्यके साथ, और वैराग्य ज्ञानके साथ होता है—अकेला नहीं होता।

२. वैराग्य शृंगारके साथ नहीं होता, और शृंगार वैराग्यके साथ नहीं होता।

३. वीतराग-वचनके असरसे जिसे इन्द्रिय-सुख निरस न लगा, उसे ज्ञानीके वचन कानमें ही पड़े नहीं, ऐसा समझना चाहिये।

४. ज्ञानीके वचन विषयके विरेचन करानेवाले हैं।

५. छद्मस्थ अर्थात् आवरणयुक्त।

६. शैलेशीकरण (शैल=पर्वत+ईश=महान्)–पर्वतोंमें महान् मेरुके समान अचल–अडग।

७. अकंप गुणवाला=मन वचन कायाके योगकी स्थिरतावाला.

८. मोक्षमें आत्माके अनुभवका यदि नाश होता हो, तो फिर मोक्ष किस कामका?

९. आत्माका ऊर्ध्वस्वभाव है, तदनुसार आत्मा प्रथम ऊँची जाती है; और कदाचित् वह सिद्धशिलातक भटक आती है, परन्तु कर्मरूपी बोझा होनेसे वह फिर नीचे आ जाती है; जैसे डूबा हुआ मनुष्य उछाला लेनेसे एकवार ऊपर आता है, परन्तु फिर नीचे ही चला जाता है।

(२) आषाढ़ सुदी ५ सोम. १९५६

१. जैन आत्माका स्वरूप है। उस स्वरूपके (धर्मके) प्रवर्त्तक भी मनुष्य ही थे। उदाहरणके लिये वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऋषभ आदि धर्मके प्रवर्त्तक थे। इससे कुछ उन्हें अनादि आत्मधर्मका विचार न था–यह बात न थी।

२. लगभग दो हज़ार वर्षसे अधिक हुए जैनयति शिखरसूरि आचार्यने वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिला दिया।

३. उत्कर्ष, अपकर्ष, और संक्रमण ये सत्तामें रहनेवाली कर्मप्रकृतिके ही हो सकते हैं—उदयमें आई हुई प्रकृतिके नहीं हो सकते।

४. आयुकर्मका जिस प्रकारसे बंध होता है, उस प्रकारसे देहस्थिति पूर्ण होती है।

५. ओसवाल 'ओरपाक' जातिके राजपूत हैं।

६. अंधेरेमें न देखना, यह एकांत दर्शनावरणीय कर्म नहीं कहा जाता, परन्तु मंद दर्शनावरणीय कहा जाता है। तमस्का निमित्त और तेजस्का अभाव उसीको लेकर होता है।

७. दर्शनके रुकनेपर ज्ञान रुक जाता है।

८. ज्ञेयको जाननेके लिये ज्ञानको बढ़ाना चाहिये। जैसा वजन वैसे ही बाट।

× संवत् १९५६ में जिस समय श्रीमद् राजचन्द्र मोरबीमें थे, उस समय उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उन व्याख्यानोंका सार एक श्रोताने अपनी स्मृतिके अनुसार लिख लिया था; उसीका यह संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है।

—अनुवादक.

९. जैसे परमाणुकी शक्ति पर्याय प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है, उसी तरह चैतन्यद्रव्यकी शक्ति विशुद्धताके प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है। काँच, चश्मा, दुरबीन आदि पहिले (परमाणु) के अनुसार हैं; और अवधि, मनःपर्यव, केवलज्ञान, लब्धि, ऋद्धि वगैरह दूसरे (चैतन्यद्रव्य) के अनुसार हैं।

(३) आषाढ़ सुदी ६ भौम. १९५६

१. क्षयोपशमसम्यक्त्वको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है। परन्तु क्षयोपशममेंसे क्षायिक होनेकी संधिके समयका जो सम्यक्त्व है, वही वास्तविक रीतिसे वेदकसम्यक्त्व है।

२. पाँच स्थावर एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दोनों हैं। वनस्पतिके सिवाय बाकीके चारमें असंख्यात सूक्ष्म कहे जाते हैं। निगोद सूक्ष्म अनंत हैं; और वनस्पतिके भी सूक्ष्म अनंत हैं; वहाँ निगोदमें सूक्ष्म वनस्पति घटती है।

३. श्रीतीर्थंकर ग्यारहवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते, इसी तरह वे पहिले, दूसरे तथा तीसरेका भी स्पर्श नहीं करते।

४. वर्धमान, हीयमान और स्थित ऐसी जो तीन परिणामोंकी धारा है, उसमें हीयमान परिणामकी सम्यक्त्वसंबंधी (दर्शनसंबंधी) धारा श्रीतीर्थंकरदेवको नहीं होती; और चारित्रसंबंधी धाराकी भजना होती है।

५. जहाँ क्षायिकचारित्र है वहाँ मोहनीयका अभाव है; और जहाँ मोहनीयका अभाव है, वहाँ पहिला, दूसरा, तीसरा और ग्यारहवाँ इन चार गुणस्थानोंकी स्पर्शनाका अभाव है।

६. उदय दो प्रकारका है:—एक प्रदेशोदय और दूसरा विपाकोदय। विपाकोदय बाह्य (दिखती हुई) रीतिसे वेदन किया जाता है, और प्रदेशोदय भीतरसे वेदन किया जाता है।

७. आयुकर्मका बंध प्रकृतिके बिना नहीं होता, परन्तु वेदनीयका होता है।

८. आयुप्रकृति एक ही भवमें वेदन की जाती है। दूसरी प्रकृतियाँ उस भवमें और दूसरे भवमें भी वेदन की जातीं हैं।

९. जीव जिस भवकी आयुप्रकृतिका भोग करता है, वह समस्त भवकी एक ही बंधप्रकृति है। उस बंधप्रकृतिका उदय, जहाँसे आयुका आरंभ हुआ वहींसे गिना जाता है। इस कारण उस भवकी आयुप्रकृति उदयमें है; उसमें संक्रमण, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि नहीं हो सकते।

१०. आयुकर्मकी प्रकृति दूसरे भवमें नहीं भोगी जाती।

११. गति, जाति, स्थिति, संबंध, अवगाह (शरीरप्रमाण) और रसको, अमुक जीवमें अमुक प्रमाणमें भोगनेका आधार आयुकर्मके ही ऊपर है। उदाहरणके लिये, किसी मनुष्यकी सौवर्षकी आयुकर्म-प्रकृतिका उदय हो; और उसमेंसे यदि वह अस्सीवें वर्षमें अधूरी आयुमें मर जाय, तो फिर बाकीके बीस वर्ष कहाँ और किस तरहसे भोगे जाँयेगे? क्योंकि दूसरे भवमें तो गति, जाति, स्थिति, संबंध आदि सब नये सिरेसे ही होते हैं—इक्यासीवें वर्षसे नहीं होते। इस कारण आयुउदय-प्रकृति बीचमेंसे नहीं टूट सकती। जिस जिस प्रकारसे बंध पड़ा हो, उस उस प्रकारसे वह उदयमें आता है; इससे किसीको कदाचित् आयुका त्रुटित होना मालूम हो सकता है, परन्तु ऐसा बन नहीं सकता।

१२. संक्रमण अपकर्ष उत्कर्ष आदि करणका नियम, जबतक आयुकर्मवर्गणा सत्तामें हो, तब-तक लागू हो सकता है। परन्तु उदयका प्रारंभ होनेके बाद वह लागू नहीं पड़ सकता।

१३. आयुकर्म पृथ्वीके समान है; और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है)।

१४. आयु दो प्रकारकी है:—सोपक्रम और निरुपक्रम। इसमेंसे जिस प्रकारकी आयु बाँधी हो, उसी तरहकी आयु भोगी जाती है।

१५. उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है। क्योंकि उपशम सत्तामें है इसलिये वह उदय आकर क्षय होता है।

१६. चक्षु दो प्रकारकी होती है:—ज्ञानचक्षु और चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह वस्तु दुरबीन सूक्ष्म-दर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखाई देती है; वैसे ही चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्नरूपसे ही दिखाई देती है और उसी तरह कही जाती है; फिर भी उसे अपनी होशियारीसे—अहंभावसे—न मानना, यह योग्य नहीं।

(४) आषाढ़ सुदी ७, बुध. १९५६

१. श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्यने अष्टपाहुड़ (अष्टप्राभृत) की रचना की है। प्राभृतोंके भेद:—दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभावका स्वरूप बताया है। शास्त्रकर्त्ता कहते हैं कि अन्य भावोंको हमने, तुमने और देवाधिदेवोंतकने पूर्वमें सेवन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसलिये जिनभावके सेवन करनेकी जरूरत है। वह जिनभाव शांत है, आत्माका धर्म है, और उसके सेवन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२. चारित्रप्राभृत ०

३. जहाँ द्रव्य और उसकी पर्याय नहीं माने जाते; वहाँ उसमें विकल्प होनेसे उलझन हो जाती है। पर्यायोंको न माननेका कारण, उतने अंशको नहीं पहुँचना ही है।

४. द्रव्यकी पर्याय हैं, यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है; परन्तु वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेके कारण उलझन हो जाती है, और उससे ही भटकना होता है।

५. सिद्धपद द्रव्य नहीं है, परन्तु आत्माकी एक शुद्ध पर्याय है। वह पद पहिले जब मनुष्य या देवपद था, उस समय वही पर्याय थी। इस तरह द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायांतर होता है।

६. शान्तभाव प्राप्त करनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७. आत्मसिद्धिके लिये द्वादशांगीका ज्ञान करते हुए बहुत समय चला जाता है; जब कि एक मात्र शांतभावके सेवन करनेसे वह तुरत ही प्राप्त हो जाता है।

८. पर्यायका स्वरूप समझनेके लिये श्रीतीर्थंकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) समझाये हैं।

९. द्रव्य ध्रुव—सनातन—है।

१०. पर्याय उत्पादव्ययुक्त है।

० लेखकसे सार नहीं लिया जा सका।—अनुवादक.

११. छहों दर्शन एक जैनदर्शनमें समाविष्ट हो जाते हैं। उसमें भी जैन एक दर्शन है।

बौद्ध—क्षणिकवादी=पर्यायरूप सत् है। वेदान्त—सनातन=द्रव्यरूपसे सत् है। चार्वाक—निरीश्वरवादी= जबतक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तबतक उसे पहिचाननेरूप सत् है।

१२. (आत्मा) पर्यायके दो भेद हैं:—जीवपर्याय (संसारावस्थामें) और सिद्धपर्याय। सिद्धपर्याय सौ टंचके सोनेके समान है, और जीवपर्याय खोटसहित सोनेके समान है।

१३. व्यंजनपर्याय०

१४. अर्थपर्याय०

१५. विषयका नाश (वेदका अभाव) क्षायिकचारित्रसे होता है। चौथे गुणस्थानकमें विषयकी मंदता होती है, और नवमें गुणस्थानकतक वेदका उदय होता है।

१६. जो गुण अपनेमें नहीं हैं, वे गुण अपनेमें हैं—जो ऐसा कहता अथवा मनवाता है, उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

१७. जिन और जैन शब्दका अर्थ:—

घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।
मति-मदिराके पानसौं, मतवारा समुझै न ॥ (समयसार)

१८. आत्माका सनातन धर्म शांत होना—विराम पाना है; समस्त द्वादशांगीका सार भी वही है। वह षड्दर्शनमें समा जाता है, और वह षड्दर्शन जैनदर्शनमें समाविष्ट होता है।

१९. वीतरागके वचन विषयका विरेचन करानेवाले हैं।

२०. जैनधर्मका आशय, दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंका आशय, और द्वादशांगीका आशय मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करानेका है—और वही साररूप है। इस बातमें किसी प्रकारसे ज्ञानियोंको विकल्प नहीं। वही तीनों कालमें ज्ञानियोंका कथन है, था, और होगा।

२१. बाह्य विषयोंसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाय, त्यों त्यों आत्मा विरत होती जाती है—निर्मल होती जाती है।

२२. भंगजालमें पड़ना नहीं चाहिये। मात्र आत्माकी शांतिका विचार करना योग्य है।

२३. ज्ञानी लोग यद्यपि वैश्योंकी तरह हिसाबी होते हैं (वैश्योंकी तरह कसर न खानेवाले होते हैं—अर्थात् सूक्ष्मरूपसे शोधनकर तत्त्वोंको स्वीकार करनेवाले होते हैं), तो भी आखिर तो वे साधारण लोगों जैसे ही लोग (किसान आदि—एक सारभूत बातको ही पकड़कर रखनेवाले) होते हैं। अर्थात् अन्तमें चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु वे एक शांतभावको नहीं छोड़ते; और समस्त द्वादशांगीका सार भी वही है।

२४. ज्ञानी उदयको जानता है; परन्तु वह साता असातामें परिणाम नहीं करता।

२५. इन्द्रियोंके भोगसे मुक्ति नहीं। जहाँ इन्द्रियोंका भोग है वहाँ संसार है; और जहाँ संसार है वहाँ मुक्ति नहीं।

२६. बारहवें गुणस्थानकतक ज्ञानीका आश्रय लेना चाहिये—ज्ञानीकी आज्ञासे वर्तन करना चाहिये।

२७. महान् आचार्य और ज्ञानियोंमें दोष तथा भूलें नहीं होतीं। अपनी समझमें नहीं, आता, इसलिये हम उसे भूल मान लेते हैं। तथा जिससे अपनेको समझमें आ जाय वैसा अपनेमें ज्ञान नहीं; इसलिये वैसा ज्ञान प्राप्त होनेपर जो ज्ञानीका आशय भूलवाला लगता है, वह समझमें आ जायगा, ऐसी भावना रखनी चाहिये। परस्पर आचार्योंके विचारमें यदि किसी जगह कोई भेद देखनेमें आये तो वह क्षयोपशमके कारण ही संभव है, परन्तु वस्तुतः उसमें विकल्प करना योग्य नहीं।

२८. ज्ञानी लोग बहुत चतुर थे। वे विषय-सुख भोगना जानते थे। पाँचों इन्द्रियाँ उनके पूर्ण थीं (पाँचों इन्द्रियाँ जिसके पूर्ण हों, वही आचार्य-पदवीके योग्य होता है); फिर भी इस संसार और इन्द्रिय-सुखके निर्माल्य लगनेसे तथा आत्माके सनातन धर्ममें श्रेय माल्म होनेसे, वे विषय-सुखसे विरक्त होकर आत्माके सनातनधर्ममें संलग्न हुए हैं।

२९. अनंतकालसे जीव भटकता है, फिर भी उसे मोक्ष नहीं हुई; जब कि ज्ञानीने एक अंतर्मूहूर्त्तमें ही मुक्ति बताई है।

३०. जीव ज्ञानीकी आज्ञानुसार शांतभावमें विचरे तो अंतमुहूर्त्तमें मुक्त हो जाता है।

३१. अमुक वस्तुयें व्यवच्छेद हो गई हैं, ऐसा कहनेमें आता है; परन्तु उसका पुरुषार्थ नहीं किया जाता, और इससे यह कहा जाता है कि वे व्यवच्छेद हो गई हैं। यदि उसका सच्चा (जैसा चाहिये वैसा) पुरुषार्थ हो तो गुण प्रगट हों, इसमें संशय नहीं। अंग्रेजोंने उद्यम किया तो कारीगरी तथा राज्य प्राप्त किया, और हिन्दुस्तानवालोंने उद्यम न किया तो वे उसे प्राप्त न कर सके; इससे विद्या (ज्ञान) का व्यवच्छेद होना नहीं कहा जा सकता।

३२. विषय क्षय नहीं हुए, फिर भी जो जीव अपनेमें वर्त्तमानमें गुण मान बैठे हैं, उन जीवोंके समान भ्रमणा न करते हुए उन विषयोंके क्षय करनेके लिये ही लक्ष देना चाहिये।

(५) आषाढ़ सुदी ८ गुरु. १९५६

१. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्ष पहिले तीनसे बढ़कर है। मोक्षके लिये ही बाकीके तीनों हैं।

२. आत्माका धर्म सुखरूप है, ऐसा प्रतीत होता है। वह सोनेके समान शुद्ध है।

३. कर्मसे सुखदुःख सहन करते हुए भी परिग्रह उपार्जन करने तथा उसके रक्षण करनेका सब प्रयत्न करते हैं। सब सुखको चाहते हैं, परन्तु वे परतंत्र हैं। तथा परतंत्रता प्रशंसनीय नहीं है।

४. वह मार्ग (मोक्ष) रत्नत्रयकी आराधनासे सब कर्मोंका क्षय होनेसे प्राप्त होता है।

५. ज्ञानीद्वारा निरूपण किये हुए तत्त्वोंका यथार्थ बोध होना सम्यग्ज्ञान है।

६. जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये तत्त्व हैं। (यहाँ पुण्यपापको आश्रवमें गिना है)।

७. जीवके दो भेद हैं:—सिद्ध और संसारी:—

सिद्धः—सिद्धको अनंतज्ञान दर्शन वीर्य और सुख ये स्वभाव समान हैं। फिर भी अनंतर परंपर होनेरूप उनके पन्द्रह भेद निम्न प्रकारसे कहे हैं:—

(१) तीर्थ, (२) अतीर्थ, (३) तीर्थंकर, (४) अतीर्थंकर. (५) स्वयंबुद्ध, (६) प्रत्येकबुद्ध, (७) बुद्धबोधित, (८) स्त्रीलिंग, (९) पुरुषलिंग, (१०) नपुंसकलिंग, (११) अन्यलिंग, (१२) जैनलिंग, (१३) गृहस्थलिंग, (१४) एक, और (१५) अनेक।

संसारीः—संसारी जीव एक प्रकार, दो प्रकार इत्यादि अनेक प्रकारसे कहे हैं। सामान्यरूपसे उपयोग लक्षणसे सर्व संसारी जीव एक प्रकारके हैं। त्रस स्थावर, अथवा व्यवहारराशि अव्यवहारराशिके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर जिसने कभी त्रसपर्याय प्राप्त की है वह व्यवहार-राशि है। तथा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमेंसे निकलकर, जिसने कभी भी त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की, वह अव्यवहारराशि है। संयत असंयत और संयतासंयत, अथवा स्त्री पुरुष और नपुंसक इस तरह जीवके तीन प्रकार हैं। चार गतियोंकी अपेक्षा चार भेद हैं। पाँच इन्द्रियोंकी अपेक्षा पाँच भेद हैं। पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस इस तरह छह भेद हैं। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल और अलेशी (यहाँ चौदहवें गुणस्थानवाले जीव लेने चाहिये, सिद्ध न लेने चाहिये, क्योंकि यह संसारी जीवकी व्याख्या है), इस तरह जीवके सात भेद हैं। अंडज, पोतज, जरायुज, स्वेदज, रसज, सम्मूर्छन, उद्भिज और उपपादके भेदसे जीवके आठ भेद समझने चाहिये। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके नौ प्रकार समझने चाहिये। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय इस तरह जीवके दस भेद समझने चाहिये। सूक्ष्म, बादर, तीन विकलेन्द्रिय, और पंचेन्द्रियोंमें जलचर, थलचर, नभचर, तथा मनुष्य, देव और नारकी इस तरह जीवके ग्यारह भेद समझने चाहिये। छहकायके पर्याप्त और अपर्याप्त इस तरह जीवके बारह भेद समझने चाहिये। उक्त संव्यवहारिकके बारह भेद, तथा एक असंव्यवहारिक (सूक्ष्म निगोदका) मिलाकर तेरह भेद होते हैं। चौदह गुणस्थानोंके भेदसे; अथवा सूक्ष्म बादर, तीन विकलेन्द्रिय तथा संज्ञी असंज्ञी इन सातोंके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे जीवके चौदह भेद होते हैं। इस तरह बुद्धिमान पुरुषोंने सिद्धांतका अनुसरण कर जीवके अनेक भेद (विद्यमान भावोंके भेद) कहे हैं।

(६) आषाढ़ सुदी ९ शुक्र. १९५६

१. जातिस्मरण ज्ञानके विषयमें जो शंका रहती है, उसका समाधान निम्न प्रकारसे होगाः— जैसे बाल्यावस्थामें जो कुछ देखा हो अथवा अनुभव किया हो, उसका बहुतसोंको वृद्धावस्थामें स्मरण होता है और बहुतसोंको नहीं होता; उसी तरह बहुतसोंको पूर्वभवका भान रहता है और बहुतसोंको नहीं रहता। उसके न रहनेका कारण यह है कि पूर्वदेहको छोड़ते हुए जीव बाह्य पदार्थोंमें संलग्न हो कर मरण करता है, और नई देह पाकर वह उसीमें आसक्त रहता है। इससे उल्टी रीतिसे चलनेवालेको (जिसने अवकाश रक्खा हो उसे) पूर्वभव अनुभवमें आता है।

२. जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञानका भेद है। पूर्वपर्यायको छोड़ते हुए वेदनाके कारण, नई देह धारण करते हुए गर्भवासके कारण, बाल्यावस्थामें मूढ़ताके कारण, और वर्त्तमान देहमें लीनताके कारण, पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेका अवकाश ही नहीं मिलता। तथापि जिस तरह गर्भवास और बाल्यावस्था स्मृतिमें नहीं रहते, इस कारण वे होते ही नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; उसी तरह उपर्युक्त कारणोंको

लेकर पूर्वपर्याय स्मृतिमें नहीं रहती, इसलिये वह होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, तो उसमें यदि सानुकूलता होती है तो ही वह लगती है; उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेकी सानुकूलता (योग्यता) हो तो जातिस्मरण ज्ञान होता है। पूर्वसंज्ञा कायम होनी चाहिये। असंज्ञीका भव आ जानेसे जातिस्मरण ज्ञान नहीं होता।

३. आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाणः—

(१) बालकको दूध पीते हुए क्या 'चुक चुक' शब्द करना कोई सिखाता है? वह तो पूर्वका अभ्यास ही है।

(२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका, चूहे और बिल्लीका स्वाभाविक वैर है। उन्हें उसे कोई भी नहीं सिखाता। पूर्वभवके वैरकी स्वाभाविक संज्ञा है—पूर्वज्ञान है।

४. निःसंगता यह वनवासीका विषय है—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दोनों व्यवहार (सांसारिक और असांसारिक) होते हैं, उससे निःसंगता नहीं होती।

५. संसारके छोड़े बिना अप्रमत्त गुणस्थानक नहीं। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी है।

६. 'हमने समझ लिया है, हम शान्त हैं'—ऐसा जो कहते हैं वे ठगाये जाते हैं।

७. संसारमें रहकर सातवें गुणस्थानके ऊपर नहीं चढ़ सकते; इससे संसारी जीवको निराश न होना चाहिये—परन्तु उसे ध्यानमें रखना चाहिये।

८. पूर्वमें स्मृतिमें आई हुई वस्तुको फिर शांतभावसे याद करे तो वह यथास्थित याद पड़ती है।

९. ग्रंथिके दो भेद हैं—एक द्रव्य—बाह्यग्रन्थि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि); दूसरी भाव—अभ्यंतरग्रंथि (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों ग्रंथियोंसे निवृत्त हो, वह निर्ग्रंथ है।

१०. मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं, उसके वस्त्रका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या करेगा?

११. सक्रिय जीवको अबंधका अनुष्ठान हो, ऐसा कभी बनता ही नहीं। (क्रिया होनेपर अबंध गुणस्थानक नहीं होता)।

१२. राग आदि दोषोंका क्षय होनेसे उनके सहकारी कारणोंका क्षय होता है; जबतक उनका सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं होता, तबतक मुमुक्षु जीव संतोष मानकर नहीं बैठता।

१३. राग आदि दोष और उनके सहकारी कारणोंके अभाव होनेपर बंध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाव ही समझना चाहिये।

१४. आयुकर्मः—

(अ) अपवर्त्तन=विशेष कालका हो तो वह कर्म थोड़े ही कालमें वेदन किया जा सकता है। इसका कारण पूर्वका वैसा बंध है, इससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है—भोगा जाता है।

(आ) 'टूट गया' शब्दका अर्थ बहुतसे लोग 'दो भाग होना' करते हैं; परन्तु उसका अर्थ वैसा नहीं है। जिस तरह 'कर्जा टूट गया' शब्दका अर्थ 'क़र्जा उतर गया–कर्जा दे दिया' होता है, उसी तरह 'आयु टूट गई' शब्दका आशय समझना चाहिये।

(इ) सोपक्रम—शिथिल—जिसे एकदम भोग लिया जाय।

(ई) निरुपक्रम=निकाचित। देव, नरक, युगल, तरेसठ शलाकापुरुष और चरम-शरीरीको होता है।

(उ) प्रदेशोदय=प्रदेशको मुखके पास ले जाकर वेदन करना, वह प्रदेशोदय है। प्रदेशोदयसे ज्ञानी कर्मका क्षय अंतमुहूर्त्तमें कर देते हैं।

(ऊ) अनपवर्त्तन और अनुदीरणा—इन दोनोंका अर्थ मिलता हुआ है। तथापि दोनोंमें अंतर यह है कि उदीरणामें आत्माकी शक्ति है, और अनपवर्त्तनमें कर्मकी शक्ति है।

(ए) आयु घटती है, अर्थात् थोड़े कालमें भोग ली जाती है।

१५. असाताके उदयमें ज्ञानकी कसौटी होती है।

१६. परिणामकी धारा थरमामीटरके समान है।

(७) आषाढ़ सुदी १० शनि. १९५५

१. (१) असमंजसता—अनिर्मल भाव (अस्पष्टता). (२) विषम=जैसे तैसे. (३) आर्य=उत्तम। आर्य शब्द श्रीजिनेश्वरके, मुमुक्षुके, तथा आर्यदेशके रहनेवालोंके लिये प्रयुक्त होता है। (४) निक्षेप=प्रकार, भेद, विभाग।

२. भयत्राण=भयसे पार करनेवाला; शरण देनेवाला।

३. हेमचन्द्राचार्य धंधुकाके मोढ़ वैश्य थे। उन महात्माने कुमारपाल राजासे अपने कुटुम्बके लिये एक क्षेत्रतक भी न माँगा था। तथा स्वयं भी राज-अन्नका एक ग्रासतक भी न लिया था—यह बात श्रीकुमारपालने उन महात्माके अग्निदाहके समय कही थी। उनके गुरु देवचन्द्रसूरि थे।

---

(८) आषाढ़ सुदी ११ रवि. १९५६

१. सरस्वती=जिनवाणीकी धारा.

२. (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बंधन और (४) बंधनके फलसे समस्त संसारका प्रपंच रहता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है।

३. बनारसीदास श्रीआगराके दशाश्रीमाली वैश्य थे।

(९) आषाढ़ सुदी १२ सोम. १९५६

१. श्रीयशोविजयजीने योगदृष्टि ग्रन्थमें—छट्ठी 'कान्तादृष्टि' में बताया है कि वीतरागस्वरूपके बिना कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती; वीतरागसुखके सिवाय दूसरा सब सुख निःसत्व लगता है—आडम्बररूप लगता है। पाँचवीं 'स्थिरादृष्टि' में बताया है कि वीतरागसुख प्रियकर लगता है। आठवीं 'परादृष्टि' में बताया है कि परमावगाढ़सम्यक्त्व होता है; वहाँ केवलज्ञान होता है।

२. पातंजलयोगके कर्त्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गानुसारी माना है।

३. हरिभद्रसूरिने उन दृष्टियोंका अध्यात्मरूपसे संस्कृतमें वर्णन किया है; और उसके ऊपरसे यशोविजयजी महाराजने उन्हें ढालरूपसे गुजरातीमें लिखा है।

४. योगदृष्टिमें छहों भावोंका (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सान्निपातिक) समावेश होता है। ये छह भाव जीवके स्वतत्त्वभूत हैं।

५. जबतक यथार्थ ज्ञान न हो तबतक मौन रहना ही ठीक है। नहीं तो अनाचार दोप लगता है। इस विषयमें उत्तराध्ययनसूत्रमें अनाचारनामक अधिकार है।

६. ज्ञानीके सिद्धांतमें फेर नहीं हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिये बनाये गये हैं; परन्तु उनका रहस्य यथार्थ समझमें नहीं आता; इससे फेर माल्रम होता है।

८. दिगम्बरमतके तीव्र वचनोंके कारण कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। श्वेताम्बरमतकी शिथिलताके कारण रस ठंडा होता गया।

९. 'शाल्मलि वृक्ष' यह शब्द नरकमें असाता बतानेके लिये प्रयुक्त होता है। वह वृक्ष खदिरके वृक्षसे मिलता जुलता होता है। भावसे संसारी-आत्मा उस वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे (अध्यवसाय छोड़कर) नंदनवनके समान है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है:—कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिये दूसरे अनेक आसन किये गये हैं, किन्तु मुख्यतः ये दो ही आसन हैं।

११. **प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंकः कामिनीसंगशून्यः।**
करयुगमपि यत्ते शास्त्रसंबंधवंध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

१२. चैतन्य लक्ष करनेवालेकी बलिहारी है।

१३. तीर्थ=पार होनेका मार्ग।

१४. अरहनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनंदघनजीने की है। श्रीआनंदघनजीका दूसरा नाम लाभानंद था। वे तपगच्छमें हुए हैं।

१५. वर्त्तमानमें लोगोंको ज्ञान तथा शांतिके साथ संबंध नहीं रहा। मताचार्यने मार डाला है।

१६. **×आशय आनंदघनतणो, अति गंभीर उदार।**
बालक बांह पसारि जिम, कहे उदधिविस्तार ॥

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है:—(१) जड़ जड़रूपसे रहता है; (२) चैतन्य—संसारी जीव—विभावरूपसे रहते हैं; (३) सिद्ध शुद्ध चैतन्यभावसे रहते हैं।

(१०) आषाढ़ सुदी १३ भौम. १९५६

१ भगवतीआराधना जैसी पुस्तकें मध्यमउत्कृष्ट-भावके महात्माओंके तथा मुनिराजोंके योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थोंको उससे कम पदवी (योग्यता) वाले साधु श्रावकको देनेसे कृतघ्नता होती है। उन्हें उससे उल्टा नुकसान ही होता है। सच्चे मुमुक्षुओंको ही यह लाभकारी है।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्यः—मात्र विभावदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग ऐसा नहीं रहा जो समझमें आ सके; और इस कारण वर्त्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके पश्चात्

× आनंदघनका आशय अति गंभीर और उदार है, फिर भी जिस तरह बालक बाँह फैलाकर समुद्रका विस्तार कहता है, उसी तरह यह विस्तार कहा है।

अज्ञानद्वारा नाड़ी पकड़कर दवा करनेके फलकी बराबर ही मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और उससे मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता।

सरलः—मतभेदकी माथापच्चीको दूरकर, यदि आत्मा और पुद्गलका पृथक्करण करके शांतभावसे अनुभव किया जाय, तो मोक्षमार्ग सरल है, और वह दूर नहीं।

३. अनेक शास्त्र हैं। उन्हें एक एकको बाँचनेके बाद, यदि उनका निर्णय करनेके लिये बैठा जाय, तो उस हिसाबसे पूर्वआदिका ज्ञान और केवलज्ञान कभी भी प्राप्त न हो, अर्थात् उसकी कभी भी पार न पड़े; परन्तु उसकी संकलना है, और उसे श्रीगुरु बताते हैं कि महात्मा उसे अंतमुहूर्त्तमें ही प्राप्त कर लेते हैं।

४. इस जीवने नवपूर्वतक ज्ञान प्राप्त किया, तो भी कोई सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण विमुख-दशासे परिणमन करना ही है। यदि जीव सन्मुखदशासे चला होता तो वह तत्क्षण मुक्त हो जाता।

५. परमशांत रसमय भगवतीआराधना जैसे एक भी शास्त्रका यदि अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो बस है।

६. इस आरे (काल) में संघयण अच्छे नहीं, आयु कम है, और दुर्भिक्ष महामारी जैसे संयोग बारम्बार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नहीं, इसलिये जैसे बने वैसे आत्महितकी बात तुरत ही करनी चाहिये। उसे स्थगित कर देनेसे जीव धोखा खा बैठता है। ऐसे कठिन समयमें तो सर्वथा ही कठिन मार्ग (परमशांत होना) को ग्रहण करना चाहिये। उससे ही उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव होते हैं।

७. काम आदि कभी कभी ही अपनेसे हार मानते हैं; नहीं तो बहुत बार तो वे अपनेको ही थप्पड़ मार देते हैं। इसलिये जहाँतक हो, जैसे बने वैसे, त्वरासे उसे छोड़नेके लिये अप्रमादी होना चाहिये—जिस तरह जल्दीसे हुआ जाय उस तरह होना चाहिये। शूरवीरतासे वैसा तुरत हुआ जा सकता है।

८. वर्त्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं।

९. यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो, तो देहका विधर्म सहजमें ही औषधिके द्वारा विधर्ममेंसे निकलकर स्वधर्म पकड़ लेता है। उसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो तो आत्माकी शांति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें ही हो जाती है।

१०. क्रिया करनेमें तत्पर अर्थात् अप्रमादी होना चाहिये। प्रमादसे उल्टा कायर न होना चाहिये।

११. सामायिक=संयम। प्रतिक्रमण=आत्माकी क्षमापना–आराधना। पूजा=भक्ति.

१२. जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करने चाहिये—यह कहनेसे एकके बाद एक प्रश्न उठते हैं, और उनका किसी तरह पार पड़नेवाला नहीं। ज्ञानीकी आज्ञानुसार, ज्ञानीद्वारा कहे अनुसार, चाहे जीव किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करे तो भी वह मोक्षके मार्गमें ही है।

१३. हमारी आज्ञासे चलनेसे यदि पाप लगे, तो उसे हम अपने सिरपर ओढ़ लेते हैं। कारण कि जैसे रास्तेमें काँटे पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लगेंगे, मार्गमें जाता हुआ कोई आदमी उन्हें वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी दूसरी एकांत जगहमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लगें, तो कुछ वह राज्यका गुनाह नहीं कहा जाता; उसी तरह मोक्षका शांत मार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है?

१४. ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक चलते हुए ज्ञानी-गुरुने क्रियाकी अपेक्षासे, अपनी योग्यतानुसार किसीको कुछ बताया हो, और किसीको कुछ बताया हो, तो उससे मार्ग अटकता नहीं है।

१५. यथार्थ स्वरूपके समझे बिना, अथवा 'जो स्वयं बोलता है, वह परमार्थसे यथार्थ है अथवा नहीं,' इसके जाने बिना—समझे बिना—जो वक्ता होता है, वह अनंत संसार बढ़ाता है; इसलिये जहाँतक यह समझनेकी शक्ति न हो वहाँतक मौन रहना ही उत्तम है।

१६. वक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थंकरगोत्र बँधता है, और उससे उलटा करनेसे महामोहनीय कर्म बँधता है।

१७. यद्यपि हम इसी समय तुम सबको मार्ग चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार ही तो वस्तु रक्खी जाती है। नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमें भारी वस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जात है, उसी तरह यहाँ भी वही बात होगी।

१८. तुम्हें किसी तरह डरने जैसी बात नहीं है। कारण कि तुम्हारे साथ हमारे जैसे हैं। तो अब मोक्ष तुम्हारे पुरुषार्थके आधीन है। यदि तुम पुरुषार्थ करो तो मोक्ष होना दूर नहीं है। जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, वे सब महात्मा पहिले अपने जैसे मनुष्य ही थे; और केवलज्ञान पानेके बाद भी (सिद्ध होनेके पहिले) देह तो वही की वही रहती है; तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है। उसमें डर किसका? वादविवाद अथवा मतभेद किसका? मात्र शांतभावसे वही उपासनीय है।

(११) आषाढ़ सुदी १४ बुध. १९५६

१. प्रथमसे आयुधको बाँधना और उपयोगमें लाना सीखे हों, तो वह लड़ाईके समय काम आता है; उसी तरह प्रथमसे ही यदि वैराग्यदशा प्राप्त की हो, तो वह अवसर आनेपर काम आती है—आराधना हो सकती है।

२. यशोविजयजीने ग्रंथ लिखते हुए इतना अखंड उपयोग रक्खा था कि वे प्रायः किसी जगह भी न भूले थे। तो भी छद्मस्थ अवस्थाके कारण डेढ़सौगाथाके स्तवनमें ७वें ठाणांगसूत्रकी जो शाखा दी है, वह मिलती नहीं; वह श्रीभगवतीजीके पाँचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई माळूम होती है। इस जगह अर्थकर्त्ताने 'रासभवृत्ति' का अर्थ पशुतुल्य गिना है; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं। रासभ-वृत्ति अर्थात् जैसे गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर, उसका लोट जानेका मन हो जाता है; उसी तरह वर्त्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें कहनेकी बात बोल दी जाती है।

३. भगवतीआराधनामें लेश्या अधिकारमें हरेककी स्थिति वगैरह अच्छी तरह बताई है।

४. परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समवस्थित। प्रथमके दो छद्मस्थको होते हैं, और अन्तिम समवस्थित (अचल अकंप शैलेशीकरण) केवलज्ञानीको होता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें लेश्या तथा योगका चल-अचलभाव है, तो फिर वहाँ समवस्थित परिणाम किस तरह हो सकता है? उसका आशयः—सक्रिय जीवको अबंध अनुष्ठान नहीं होता।

तेरहवें गुणस्थानकमें केवलीको भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बंध है; परन्तु वह बंध अबंध-बंध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अचल होते हैं। उदाहरणके लिये, जिस तरह पिंजरेमें रक्खा हुआ सिंह जालीको स्पर्श नहीं करता, वह स्थिर होकर बैठा रहता है, और कोई क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्माके प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अचलता है वहाँ अक्रियता मानी जाती है।

६. चलई सो बंधे [धो]—योगका चलायमान होना बंध है। योगका स्थिर होना अबंध है।

७. जब अबंध हो उस समय जीव मुक्त हुआ कहा जाता है।

८. उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र—जो निरतिचार है।

उत्सर्गमें तीन गुप्तियाँ गर्भित होती हैं। अपवादमें पाँच समितियाँ गर्भित होती हैं। उत्सर्ग अक्रिय है। अपवाद सक्रिय है। उत्सर्गमार्ग उत्तम है; और उससे जो उतरता हुआ है वह अपवाद है। चौदहवाँ गुणस्थान उत्सर्ग है; उससे नीचेके गुणस्थान एक दूसरेकी अपेक्षा अपवाद हैं।

९. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बंध पड़ता है।

१०. मिथ्यात्व अर्थात् जो यथार्थ समझमें नहीं आता। मिथ्यात्वसे विरतिभाव नहीं होता। विरतिके अभाव कषायसे होती है; कषायसे योगकी चंचलता होती है। योगकी चंचलता आश्रव, और उससे उल्टा संवर है।

११. दर्शनमें भूल होनेसे ज्ञानमें भूल होती है। जैसे रससे ज्ञानमें भूल होती है, वैसे ही आत्माका वीर्य स्फुरित होता है, और उसी प्रमाणमें वह परमाणु ग्रहण करती है, और वैसा ही बंध पड़ता है; और उसी प्रमाणमें विपाक उदयमें आता है। उँगलीमें उँगली डाल देनेरूप—अंटीरूप—उदय है और उनको मरोड़नेरूप भूल है; उस भूलसे दुःख होता है, अर्थात् बंध बँधता है। परन्तु मरोड़नेरूप भूल दूर हो जानेसे उनकी परस्परकी अंटी सहजमें विपाक देकर झड़ जाती है, और नया बंध नहीं होता।

१२. दर्शनमें भूल होती है, उसका उदाहरणः—जैसे लड़का बापके ज्ञानमें तथा दूसरेके ज्ञानमें देहकी अपेक्षा एक ही है, अन्यथा नहीं; परन्तु बाप उसे जो अपना लड़का करके मानता है वही भूल है। वही दर्शनमें भूल है, और उससे यद्यपि ज्ञानमें फेर नहीं तो भी वह भूल करता है, और उससे ऊपर कहे अनुसार बंध पड़ता है।

१३. यदि उदयमें आनेके पहिले रसमें मंदता कर दी जाय, तो आत्मप्रदेशसे कर्म खिरकर निर्जरा हो जाय, अथवा मंद रससे उदय आवे।

१४. ज्ञानी लोग नई भूलें नहीं करते; इसलिये वे बंधरहित हो सकते हैं।

१५. ज्ञानियोंने माना है कि देह अपनी नहीं है, वह रहनेवाली भी नहीं; कभी न कभी उसका वियोग तो होनेवाला ही है—इस भेद-विज्ञानको लेकर मानो हमेशा नगारा बज रहा हो, इस तरह ज्ञानीके कानमें सुनाई देता है, और अज्ञानीके कान बहरे होते हैं इसलिये वह उसे जानता नहीं।

१६. ज्ञानी देहको नाशमान समझकर, उसका वियोग होनेपर उसमें खेद नहीं करता। परन्तु जिस तरह किसीकी वस्तु ले ली हो, और बादमें वापिस देनी पड़े, उसी तरह देहको वह उल्लाससे पीछे सौंप देता है—अर्थात् वह देहमें परिणति नहीं करता।

१७. देह और आत्माका भेद करना भेदज्ञान है। वह ज्ञानीका तेजाब है; उस तेजाबसे देह और आत्मा जुदी जुदी हो सकती है। उस विज्ञानके होनेके लिये महात्माओंने समस्त शास्त्र रचे हैं। जिस तरह तेजाबसे सोना और उसका खोट अलग अलग हो जाते हैं, उसी तरह ज्ञानीके भेद-विज्ञानरूप तेजाबसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभाववाला होकर प्रयोगी द्रव्यसे जुदा होकर स्वधर्ममें आ जाता है।

१८. दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरह समाधान कर सकती है, परन्तु वेदनीय कर्ममें वैसा नहीं हो सकता, और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिये; और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान सम्पूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणमन करती है, अर्थात् देहको अपना मानकर वेदन करती है; और उसके कारण आत्माकी शांति भंग हो जाती है। ऐसे प्रसंगमें जिन्हें भेदज्ञान सम्पूर्ण हो गया है ऐसे ज्ञानियोंको असातावेदका वेदन करनेसे निर्जरा होती है, और वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। इससे अन्य दर्शनवाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकता है।

१९. पुद्गलद्रव्यकी अपेक्षा रक्खी जाय, तो भी वह कभी न कभी तो नाश हो जानेवाला है ही; और जो अपना नहीं, वह अपना होनेवाला नहीं; इसलिये लाचार होकर दीन बनना किस कामका?

२०. **जोगापयडिपदेसा**—योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं।

२१. स्थिति तथा अनुभागबंध कषायसे बँधते हैं।

२२. आठ तरहसे, सात तरहसे, छह तरहसे, और एक तरहसे बंध बाँधा जाता है।

(१२) आषाढ़ सुदी १५ गुरु. १९५६

१. ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र, उसका फल निर्वाण, और उसका फल अव्याबाध सुख है।

(१३) आषाढ़ वदी १ शुक्र. १९५६

१. देवागमस्तोत्र जो महात्मा समंतभद्राचार्यने (जिसका शब्दार्थ होता है कि 'जिसे कल्याण मान्य है') बनाया है; और उसके ऊपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका की है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर भी उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। इस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्॥

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागमन (देवताओंका आगमन होता हो), आकाशगमन (आकाशमें गमन होता हो), चामरादि विभूति (चामर वगैरह विभूति होती हो, समवसरण होता हो इत्यादि)—ये सब मायावियोंमें भी देखे जाते हैं (ये मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते हैं), इसलिये उतने मात्रसे ही आप हमारे महत्तम नहीं (उतने मात्रसे तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्रदेवका अस्तित्व नहीं माना जा सकता। ऐसी विभूति आदिका हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं। हमने तो उसका त्याग कर दिया है)

इस आचार्यने मानो गुफामेंसे निकलते हुए तीर्थंकरका हाथ पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षभावसे वचन कहे हों—यह आशय यहाँ बताया गया है।

२. आप्तके अथवा परमेश्वरके लक्षण कैसे होने चाहिये, उसके संबंधमें तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें पहिली गाथा निम्नरूपसे है:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

सारभूत अर्थः—' मोक्षमार्गस्य नेतारं '—मोक्षमार्गको ले जाने वाला—यह कहनेसे मोक्षका अस्तित्व, मार्ग, और ले जानेवाला इन तीन बातोंको स्वीकार किया है। यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी होना चाहिये; और यदि मार्ग है तो उसका द्रष्टा भी होना चाहिए; और जो द्रष्टा होता है वही मार्गमें ले जा सकता है। मार्गमें ले जानेका कार्य निराकार नहीं कर सकता—साकार ही कर सकता है। अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश, साकार ही कर सकता है; साकार उपदेष्टा ही—जिसने देहस्थितिसे मोक्षका अनुभव किया है—उसका उपदेश कर सकता है। ' भेत्तारं कर्मभूभृताम्—कर्मरूप पर्वतका भेदन करनेवाला; अर्थात् कर्मरूपी पर्वतोंके भेदन करनेसे मोक्ष हो सकती है; अर्थात् जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्वतोंको भेदन किया है, वही साकार उपदेष्टा है। वैसा कौन है? जो वर्तमान देहमें जीवन्मुक्त है वह। जो कर्मरूपी पर्वतोंको तोड़कर मुक्त हो गया है, उसे फिरसे कर्मका अस्तित्व नहीं होता। इसलिये जैसा बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करे वह जीवन्मुक्त है, सो ऐसा जीवन्मुक्त हमें नहीं चाहिये। ' ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां '—विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाला—कहनेसे यह बताया कि आप्त कैसा चाहिये कि जो समस्त विश्वका ज्ञाता हो। ' वंदे तद्गुणलब्धये '—उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं उसे वंदन करता हूँ—अर्थात् जो इन गुणोंसे युक्त हो वही आप्त है, और वही वंदनीय है।

३. मोक्षपद समस्त चैतन्योंको ही सामान्यरूपसे चाहिये, वह एक जीवकी अपेक्षासे नहीं है; अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है। वह एक जीवको ही हो और दूसरे जीवको न हो, ऐसा नहीं होता।

४. भगवतीआराधनाके ऊपर श्वेताम्बर आचार्योंने जो टीका की है, वह भी उसी नामसे कही जाती है।

५. करणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोगमें दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके बीचमें कोई अन्तर नहीं; मात्र बाह्य व्यवहारमें ही अन्तर है।

६. करणानुयोगमें गणितरूपसे सिद्धान्त रक्खे गये हैं। उसमें फेर होना संभव नहीं।

७. कर्मग्रन्थ मुख्यरूपसे करणानुयोगमें गर्भित होता है।

८. परमात्मप्रकाश दिगम्बर आचार्यका बनाया हुआ है। उसके ऊपर टीका है।

९. निराकुलता सुख है। संकल्प दुःख है।

१०. कायक्लेश तप करते हुए भी महामुनिको निराकुलता अर्थात् स्वस्थता देखनेमें आती है। मतलब यह है कि जिसे तप आदिकी आवश्यकता है, और उससे वह तप आदि कायक्लेश करता है, फिर भी वह स्वास्थ्यदशाका अनुभव करता है; तो फिर जिसे कायक्लेश करना बाकी ही नहीं रहा, ऐसे सिद्धभगवान्को निराकुलता कैसे संभव नहीं?

११. देहकी अपेक्षा चैतन्य बिलकुल स्पष्ट है। जैसे देहगुणधर्म देखनेमें आता है, वैसे ही

यदि आत्मगुणधर्म देखनेमें आवे, तो देहके ऊपरका राग ही नष्ट हो जाय—आत्मवृत्ति विशुद्ध होकर दूसरे द्रव्यके संयोगसे आत्मा देहरूपसे (विभावसे) परिणमन करती हुई माळूम हो।

१२. चैतन्यका अत्यन्त स्थिर होना मुक्ति है।

१३. मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योगके अभावसे अनुक्रमसे योग स्थिर होता है।

१४. पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोका आ जाता है वह प्रमाद है।

१५. योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वयं ही स्थिर हो जाता है।

१६. राग और द्वेष यह आकर्षण है।

१७. संक्षेपमें ज्ञानीका यह कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है; अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षणको दूर हटाना है।

१८. जहाँतक अप्रमत्त हुआ जाय वहाँतक जाग्रत ही रहना चाहिये।

१९. जिनपूजा आदि अपवादमार्ग है।

२०. मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है, परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता। तीर्थंकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है; और वह दूसरोंके समान कठिन भी लगता है। परन्तु उसमें (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होकर उसकी निर्जरा होती है; और दूसरेको—अज्ञानीको—बंध पड़ता है। क्षुधा तृषा यह मोहनीय नहीं, किन्तु वेदनीय कर्म है।

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ।
जो अपनौ धन व्यौहरै, सो धनपति धर्मज्ञ॥ —श्रीबनारसीदास.

२२. प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थके तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन किया है। यह श्वेताम्बरीय ग्रन्थ है। उसमें कहा है कि इस कल्पको साधनेवालेको निम्न गुणोंवाला महात्मा होना चाहियेः—

१ संघयण, २ धीरज, ३ श्रुत, ४ वीर्य, और ५ असंगता।

२३. दिगम्बरदृष्टिमें यह दशा सातवें गुणस्थानवर्ती जीवकी है। दिगम्बरदृष्टिके अनुसार स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ये नग्न होते हैं; और श्वेताम्बरोंके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थविर नग्न नहीं होते। इस कल्पको साधनेवालेका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिये कि उसकी वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी जाहिये—विषयाकार वृत्ति न होनी चाहिये। दिगम्बर कहते हैं कि नग्न दशा-वालेका ही मोक्षमार्ग है, बाकी तो सब उन्मत्त मार्ग हैं—**णग्गो विमोक्खमग्गो शेषा य उमग्गया सव्वे।** तथा 'नागो ए बादशाहथी आघो'—अर्थात् नग्न बादशाहसे भी अधिक बढ़कर है—इस कहावतके अनुसार यह दशा बादशाहको भी पूज्य है।

२४. चेतना तीन प्रकारकी है:—१ कर्मफलचेतना—एकेन्द्रिय जीव अनुभव करते हैं; २ कर्मचेतना—विकलेंद्रिय तथा पंचेन्द्रिय अनुभव करते हैं; ३ ज्ञानचेतना—सिद्धपर्याय अनुभव करती है।

२५. मुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होनी चाहिये; परन्तु उसके बदले हालमें वह लौकिक देखनेमें आती है।

(१४) आषाढ़ वदी २ शनि. १९५६

१. पर्यालोचन—एक वस्तुका दूसरी तरह विचार करना।

२. आत्माकी प्रतीतिके लिये संकलनाके प्रति दृष्टान्तः—इन्द्रियोंमें मन अधिष्ठाता है; और बाकीकी पाँच इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली हैं; और उनकी संकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई भी कार्य न बनता। वास्तवमें किसी इन्द्रियका कुछ भी नहीं चलता। मनका ही समाधानका होता है; वह इस तरह कि कोई चीज़ आँखसे देखी, उसे पानेके लिए पैरोंसे चलने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथसे उठा ली और उसे खा ली इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मन ही करता है, फिर भी इन सबका आधार आत्माके ही ऊपर है।

३. जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो, उसका वह मुख्यतया वेदन करता है, और बाकीके प्रदेश उसका गौणतया वेदन करते हैं।

४. जगत्में अभव्य जीव अनंतगुने हैं। उससे अनंतगुने परमाणु एक समयमें एक जीव ग्रहण करता है।

५. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे बाह्य और अभ्यंतर परिणमन करते हुए परमाणु, जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकट्ठे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं, और वहाँ जिस प्रकारका बंध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकट्ठे हो जाँय, तो वे वहाँ सिरके दुखानेके आकारसे परिणमन करते हैं, और आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६. वहीका वही चैतन्य स्त्रीमें स्त्रीरूपसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है, और खुराक भी तथाप्रकारके आकारसे ही परिणम कर पुष्टि देती है।

७. परमाणुको परमाणुके साथ शरीरमें लड़ते हुए किसीने नहीं देखा, परन्तु उसका परिणाम-विशेष जाननेमें आता है। जैसे ज्वरकी दवा ज्वरको रोक देती है, इस बातको हम जान सकते हैं; परन्तु भीतर क्या क्रिया हुई, इसे नहीं जान सकते—इस दृष्टान्तसे कर्म होता हुआ देखनेमें नहीं आता, परन्तु उसका विपाक देखनेमें आता है।

८. अनागार=जिसे व्रतमें अपवाद नहीं।

९. अणगार=घररहित।

१०. समिति=सम्यक् प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, यथास्थितभावसे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोंने जो मार्ग कहा है, उस मार्गके अनुसार मापतोलसहित प्रवृत्ति करना।

११. सत्तागत=उपशम।

१२. श्रमणभगवान्=साधुभगवान् अथवा मुनिभगवान्।

१३ अपेक्षा=जरूरत—इच्छा।

१४. सापेक्ष=दूसरा कारण—हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५. सापेक्षत्व अथवा अपेक्षासे=एक दूसरेको लेकर।

(१५) आषाढ़ वदी ३ रवि. १९५६.

१. पार्थिवपाक=जो सत्तासे हुआ हो।

२. अनुपपन्न=जो संभव नहीं; सिद्ध न होने योग्य।

(१६) रात्रि.

श्रावककी अपेक्षासे परस्त्रीत्याग और अन्य अणुव्रतके संबंधमें—

१. जबतक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाय, तबतक सब क्रियायें निष्फल हैं; तबतक आत्मामें छल कपट होनेसे धर्म फलीभूत नहीं होता।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है।

३. जबतक मृषात्याग और परस्त्रीत्याग गुण न हों, तबतक वक्ता तथा श्रोता नहीं हो सकते।

४. मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर, निवृत्तिका प्रसंग आता है। उसमें सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है।

५. मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं। यदि ऐसा होता हो तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगत्में जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये; परन्तु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता। तथा असत्य बोलनेसे लाभ हो तो कर्म एकदम रद्द हो जाँय और शास्त्र भी खोटे पड़ जाँय।

६. सत्यकी ही जय है। उसमें प्रथम तो मुश्किल मालूम होती है, परन्तु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है, और उसका दूसरे मनुष्य तथा संबंधमें आनेवालेके ऊपर असर होता है।

७. सत्यसे मनुष्यकी आत्मा स्फटिकके समान हो जाती है।

(१७) आषाढ़ वदी ४ सोम. १९५६

१. दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है।

२. श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञानको सत्तारूपसे रहनेको स्वीकार करता है।

३. शक्ति शब्दका अर्थ सत्तासे अधिक गौण होता है।

४. शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं। ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उसके ऊपर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

५. सत्तामें अर्थात् आवरणमें है, ऐसा कहा जाता है।

६. सत्तामें कर्मप्रकृति हो, और वह उदयमें आवे, यह शक्तिरूप नहीं कहा जाता।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो और आवरणमें न हो, ऐसा नहीं होता। भगवतीआराधना देखना।

८. कान्ति, दीप्ति, शरीरका जलना, खुराकका पचना, खूनका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्घात आदि होना), रक्तता, ज्वर आना, ये सब तैजस परमाणुकी क्रियायें हैं। तथा सामान्य रीतिसे आत्माके प्रदेश जो ऊँचे नीचे हुआ करते हों—कंपायमान रहते हों, यह भी तैजस परमाणुसे ही होता है।

९. कार्माण शरीर उसी जगह आत्मप्रदेशोंको अपने आवरणके स्वभावसे बताता है।

१०. आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते। सामान्य रीतिसे स्थूलनयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं—सूक्ष्मरूपसे तो वहाँ असंख्यातों प्रदेश कहे जाते हैं।

११. एक परमाणु एकप्रदेशी होनेपर भी छह दिशाओंको स्पर्श करता है (चार दिशायें तथा एक ऊर्ध्व और एक अधो ये सब मिलकर छह दिशायें होती हैं)।

१२. नियाणुं अर्थात् निदान.

१३. आठ कर्म सत्र वेदनीय हैं, क्योंकि उन सबका वेदन किया जाता है; परन्तु उनका वेदन लोक-प्रसिद्ध न होनेसे, लोक-प्रसिद्ध वेदनीय कर्मको अलग गिना है।

१४. कार्माण, तैजस, आहारक, वैक्रियक और औदारिक इन पाँच शरीरके परमाणु एक जैसे ही अर्थात् एक समान हैं; परन्तु वे आत्माके प्रयोगके अनुसार ही परिणमन करते हैं।

१५. अमुक अमुक मास्तिष्ककी नसें दबानेसे क्रोध, हास्य, उन्मत्तता उत्पन्न होते हैं। शरीरमें मुख्य मुख्य स्थल जीभ, नाक इत्यादि प्रगट माळूम होते हैं, इससे उन्हें हम मानते हैं; परन्तु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट माळूम नहीं होते, इसलिये हम उन्हें नहीं मानते; परन्तु वे हैं ज़रूर।

१६. वेदनीयकर्म निर्जरारूप है, परन्तु दवा इत्यादि उसमेंसे विभाग कर देती है।

१७. ज्ञानीने ऐसा कहा है कि आहार लेते हुए भी दुःख होता हो और छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ संलेखना करनी चाहिये। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानियोंने कुछ आत्मघात करनेका उपदेश नहीं किया।

१८. ज्ञानीने अनंत औषधियाँ अनंत गुणोंसे संयुक्त देखीं हैं; परन्तु कोई ऐसी औषधि देखनेमें नहीं आई जो मौतको दूर कर सके। वैद्य और औषधि ये केवल निमित्तरूप हैं।

१९. बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, वृद्धावस्था और मौत इन चार बातोंके ऊपरसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था।

(१८) आषाढ़ वदी ५ भौम. १९५६

१. चक्रवर्तीको उपदेश किया जाय, तो वह एक घड़ीभरमें राज्यका त्याग कर दे। परन्तु भिक्षुकको अनंत तृष्णा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२. यदि एक बार आत्मामें अंतर्वृत्ति स्पर्श कर जाय, तो वह अर्धपुद्गल-परावर्त्तनतक रहती है, ऐसा तीर्थंकर आदिने कहा है। अंतर्वृत्ति ज्ञानसे होती है। अंतर्वृत्ति होनेका आभास स्वयं ही (स्वभावसे ही) आत्मामें होता है; और वैसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा थरमामीटरके समान है। ज्वर होनेकी और उतर जानेकी जाँच थरमामीटर कराता है। यद्यपि थरमामीटर ज्वरकी आकृति नहीं बताता, फिर भी उससे उसकी जाँच होती है। उसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी आकृति माळूम नहीं होती, फिर भी अंतर्वृत्ति हुई है ऐसी आत्माको जाँच हो जाती है। जैसे औषध ज्वरको किस तरह उतारती है, इस बातको वह नहीं बताती, फिर भी औषधसे ज्वर दूर हो जाता है—ऐसी जाँच होती है; इसी तरह अंतर्वृत्ति होनेकी स्वयं ही जाँच होती है। यह प्रतीति ' परिणामप्रतीति ' है।

३. वेदनीयकर्म +

४. निर्जराका असंख्यातगुना उत्तरोत्तर क्रम है। जिसने सम्यक्दर्शन प्राप्त नहीं किया, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा सम्यक्दृष्टि अनंतगुनी निर्जरा करता है।

+ लेखकका नोट—वेदनीय कर्मकी उदयमान प्रकृतिमें आत्मा हर्ष धारण करती है, तो कैसे भावमें आत्माके भावित रहनेसे वैसा होता है ? इस विषयमें श्रीमद्ने अपनी आत्माको लेकर विचार करनेके लिये कहा।—अनुवादक.

५. तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गाढ़ अथवा अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

६. गाढ़ अथवा अवगाढ़ एक ही कहा जाता है।

७. केवलीको परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

८. चौथे गुणस्थानमें गाढ़ अथवा अवगाढ़ सम्यक्त्व होता है।

९. क्षायिकसम्यक्त्व अथवा गाढ़ अवगाढ़ सम्यक्त्व एक समान हैं।

१०. देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं—कष छेद और ताप। इस तरह तीन प्रकारकी कसौटी होती है। यहाँ सोनेकी कसौटीका दृष्टान्त लेना चाहिये (धर्मबिन्दु ग्रन्थमें है)। पहिला और दूसरा प्रकार किसी दूसरेमें भी मिल सकते हैं; परन्तु तापकी विशुद्ध कसौटीसे जो शुद्ध गिना जाय, वही देव गुरु और धर्म सच्चा गिना जाता है।

११. शिष्यकी जो कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशकके ध्यानमें नहीं आतीं, उसे उपदेशकर्त्ता न समझना चाहिये। आचार्य ऐसे चाहिये जो शिष्यके अल्पदोषको भी जान सकें और उसका यथा-समय बोध भी दे सकें।

१२. सम्यक्दृष्टि गृहस्थ ऐसा चाहिये जिसकी प्रतीति दुश्मन भी करें—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। तात्पर्य यह है कि ऐसे निष्कलंक धर्म पालनेवाले चाहिये।

(१९) रात्रि.

१. अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानमें अन्तर*।

२. परमावधिज्ञान मनःपर्यवज्ञानसे भी चढ़ जाता है; और वह एक अपवादरूप है।

(२०) आषाढ़ वदी ७ बुध. १९५६

१. आराधना होनेके लिए समस्त श्रुतज्ञान है; और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिये श्रुतकेवली भी अशक्य हैं।

२. ज्ञान, लब्धि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है।

३. गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसके आधीन लब्धि सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी विधि है।

४. दशवैकालिककी पहिली गाथा—

+ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

इसमें सब विधि गर्भित हो जाती हैं। परन्तु अमुक विधि ऐसी नहीं कही गई, इससे यह समझमें आता है कि स्पष्टरूपसे विधि नहीं बताई।

*लेखकका नोट—अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानसंबंधी जो कथन नंदीसूत्रमें है उससे भिन्न कथन भगवती-आराधनामें है—ऐसा श्रीमद्ने कहा। पहिलेके (अवधिज्ञानके) टुकड़े हो सकते हैं, जैसे हयिमान इत्यादि; वह चौथे गुणस्थानमें भी हो सकता है; स्थूल है; और मनकी स्थूल पर्यायको जान सकता है। तथा दूसरा (मनःपर्यवज्ञान) स्वतंत्र है; खास मनकी पर्यायसंबंधी शक्तिविशेषको लेकर एक भिन्न इलाकेके समान है; और वह अप्रमत्तको ही हो सकता है—इत्यादि उन्होंने मुख्य मुख्य अंतर बताये।

+ धर्म—अहिंसा संयम और तप—ही उत्कृष्ट मंगल है। जिसका धर्ममें निरन्तर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।—अनुवादक.

५. (आत्माके) गुणातिशयमें ही चमत्कार है।

६. सर्वोत्कृष्ट शान्त स्वभाव करनेसे परस्पर वैरवाले प्राणी अपने वैरभावको छोड़कर शान्त हो बैठते हैं; ऐसी श्रीतीर्थंकरका अतिशय है।

जो कुछ सिद्धि लब्धि इत्यादि हैं, वे आत्माके जाग्रतभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमें हैं। वे समस्त शक्तियाँ आत्माके आधीन हैं। आत्माके विना कुछ नहीं। इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र है।

८. अत्यंत लेश्याशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं; यहाँ सात्त्विक असात्त्विक वृक्षके नीचे बैठनेसे होनेवाले असरका दृष्टान्त लेना चाहिये।

९. लब्धि सिद्धि सच्ची हैं; और वे निरपेक्ष महात्माको प्राप्त होतीं हैं—जोगी वैरागी जैसे मिथ्यात्वीको प्राप्त नहीं होतीं। उसमें भी अनंत प्रकारके अपवाद हैं। ऐसी शक्तिवाले महात्मा प्रगट नहीं आते—वे वैसा बताते भी नहीं। जो जैसा कहता है वैसा उसके पास नहीं होता।

१०. लब्धि क्षोभकारी और चारित्रको शिथिल करनेवाली है। लब्धि आदि मार्गसे च्युत होनेके कारण हैं। इससे ज्ञानीको उनका तिरस्कार होता है। ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे च्युत होना संभव होता है, वहाँ वह अपनेसे विशेष ज्ञानीके आश्रयकी शोध करता है।

११. आत्माकी योग्यताके विना यह शक्ति नहीं आती। आत्माको अपना अधिकार बढ़ा लेनेसे वह आती है।

१२. जो देह छूटती है वह पर्याय छूट जाती है; परन्तु आत्मा आत्माकारसे अखंड अवस्थित रहती है; उसका अपना कुछ नहीं जाता; जो जाता है वह अपना नहीं—जबतक ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तबतक मृत्युका भय लगता है।

१३. गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल), प्रचुर परंपर और।
व्रततपधर तनु नगनतर, वंदौ वृष सिरमौर॥ —स्वामीकार्त्तिक।

* प्रचुर=अलग अलग—विरले। वृष=धन। सिरमौर=सिरका मुकुट।

१४ अवगाढ़=मजबूत। परमावगाढ़=उत्कृष्टरूपसे मजबूत। अवगाह=एक परमाणु प्रदेशको रोके—व्याप्त हो। श्रावक=ज्ञानीके वचनोंका श्रोता—ज्ञानीके वचनका श्रवण करनेवाला। दर्शन ज्ञानके विना क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान बाँचते हुए भी, श्रावक साधु नहीं हो सकता। औदयिक-भावसे ही श्रावक साधु कहा जाता है, पारिणामिकभावसे नहीं कहा जाता। स्थविर=स्थिर—दृढ़।

१५. स्थविरकल्प=जो साधु वृद्ध हो गये हैं, उन्हें शास्त्रकी मर्यादासे वर्त्तन करनेका—चलनेका—ज्ञानियोंद्वारा मुकर्रर किया हुआ—बाँधा हुआ—निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम।

१६. जिनकल्प=एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये कल्पित किया हुआ—बाँधा हुआ—मुकर्रर किया हुआ जिनमार्ग या नियम।

(२१) आषाढ़ वदी ८ गुरु. १९५६

१. सब धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है। जैसा दयाका स्थापन उसमें किया

* प्रचुरका प्रसिद्ध अर्थ 'बहुत' होता है; और वृषका अर्थ 'धर्म' होता है। —अनुवादक.

गया है; वैसा किसी दूसरे धर्ममें नहीं है। 'मारने' शब्दको ही मार डालनेकी दृढ़ छाप तीर्थंकरोंने आत्मामें 'मारी' है। इस जगह उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते हैं। श्रीजिनकी छातीमें मानो जीवहिंसाके परमाणु ही न हों, ऐसा श्रीजिनका अहिंसाधर्म है। जिसमें दया नहीं होती, वे जिन नहीं होते। जैनोंके हाथसे खून होनेकी घटनायें भी प्रमाणमें अल्प ही होंगी। जो जैन होता है वह असत्य नहीं बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोंके मुकाबलेमें अहिंसामें बौद्धधर्म भी चढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक-क्रियाओंका नाश भी श्रीजिनने और बुद्धने ही किया है; जो अबतक कायम है।

३ ब्राह्मणोंने यज्ञ आदि हिंसक धर्मवाले होनेसे श्रीजिनको तथा श्रीबुद्धको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके धिक्कारा है। वह यथार्थ है।

४. ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे यह हिंसक क्रिया दाखिल की है। श्रीजिनने तथा श्रीबुद्धने स्वयं वैभवका त्याग किया था। इससे उन्होंने निःस्वार्थ बुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश कर, हिंसक-क्रियाका विच्छेद किया। जगत्के सुखमें उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्थानके लोग एक समय किसी विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए उन्हें अरुचि हो जाती है। योरपियन लोगोंमें इससे उल्टी ही बात है; वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परन्तु जारी ही रखते हैं। हाँ, प्रवृत्तिके कारण ज्यादा कम अभ्यास हो सकता हो, यह बात अलग है।

(२२) रात्रि.

१. वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्तकी है। इस कारण कम स्थितिका बंध भी कषायके बिना एक समयका पड़ता है, दूसरे समय वेदन होता है, और तीसरे समय निर्जरा हो जाती है।

२. ईर्यापथिकी क्रिया=चलनेकी क्रिया।

३. एक समयमें सात, अथवा आठ प्रकृतियोंका बंध होता है; यहाँ खुराक तथा विषका दृष्टान्त लेना चाहिये। जिस तरह खुराक एक जगहसे ली जाती है, परन्तु उसका रस हरेक इन्द्रियको पहुँचता है, और हरेक इन्द्रिय अपनी अपनी शक्ति अनुसार उसे ग्रहणकर उस रूपसे परिणमन करती है; उसमें अन्तर नहीं पड़ता; उसी तरह यदि कोई विष खा ले अथवा किसीको सर्प काट ले, तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है; परन्तु उसका असर विषरूपसे हरेक इन्द्रियको जुदे जुदे प्रकारसे समस्त शरीरमें होता है। इसी तरह कर्म बाँधते समय मुख्य उपयोग तो एक ही प्रकृतिका होता है; परन्तु उसका असर अर्थात् बँटवारा दूसरी सब प्रकृतियोंके परस्परके संबंधको लेकर ही मिलता है। जैसा रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदंश होता है, उस भागको यदि काट डाला जाय, तो जहर नहीं चढ़ता; उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाय, तो बंध पड़ता हुआ रुक जाता है; और उसके कारण दूसरी प्रकृतियोंमें बँटवारा पड़ता हुआ रुक जाता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढ़ा हुआ विष वापिस उतर

जाता है, उसी तरह प्रकृतिका रस मंद कर दिया जाय, तो उसका बल कम हो जाता है। एक प्रकृति बंध करती है और दूसरी प्रकृतियाँ उसमेंसे भाग लेती हैं—ऐसा उनका स्वभाव है।

४. मूल प्रकृतिका क्षय न हुआ हो और उत्तर कर्मप्रकृतिका बंध-विच्छेद हो गया हो, तो भी उसका बंध मूल प्रकृतिमें रहनेवाले रसके कारण पड़ सकता है—यह आश्चर्य जैसा है।

५. अनंतानुबंधी कर्मप्रकृतिकी स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ीकी, और मोहनीय (दर्शनमोहनीय) की सत्तर कोड़ाकोड़ीकी है।

(२३) आषाढ़ वदी ९ शुक्र. १९५६

१. आत्मा, आयुका बंध एक आगामी भवका ही कर सकती है, उससे अधिक भवोंका बंध नहीं कर सकती।

२. कर्मग्रन्थके बंधचक्रमें जो आठों कर्मप्रकृतियाँ बताई हैं, उनकी उत्तर प्रकृतियाँ एक जीवकी अपेक्षा, अपवादके साथ, बंध उदय आदिमें हैं, परन्तु उसमें आयु अपवादरूपसे है। वह इस तरह कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवको बंधमें चार आयुकी प्रकृतिका (अपवाद) बताया है। उसमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीव मौजूद पर्यायमें चारों गतिकी आयुका बंध करता है, परन्तु इसका अर्थ यही है कि आयुका बंध करनेके लिये वर्त्तमान पर्यायमें इस गुणस्थानकवर्त्ती जीवको चारों गतियाँ खुली हैं। उसमें वह चारमेंसे किसी एक गतिका ही बंध कर सकता है। उसी तरह जीव जिस पर्यायमें हो उसे उसी आयुका उदय होता है। मतलब यह कि चार गतियोंमेंसे वर्त्तमान एक गतिका उदय हो सकता है, और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३. जो प्रकृति उदयमें हो, उसके सिवाय दूसरी प्रकृतिकी उदीरणा की जा सकती है; और उतने समय उदयमान प्रकृति रुक जाती है, और वह पीछेसे उदयमें आती है।

४. सत्तर कोड़ाकोड़ीका बड़ासे बड़ा स्थितिबंध है। उसमें असंख्यातों भव होते हैं। तथा बादमें वैसेका वैसा ही क्रम क्रमसे बंध पड़ता जाता है। ऐसे अनंतबंधकी अपेक्षासे अनंतों भव कहे जाते हैं, परन्तु भवका बंध पहिले कहे अनुसार ही पड़ता है।

(२४) आषाढ़ वदी १० शनि. १९५६

१. विशिष्ट मुख्यतया मुख्यभावका वाचक शब्द है।

२. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अंतराय ये तीन प्रकृतियाँ उपशमभावमें कभी नहीं हो सकतीं—वे क्षयोपशमभावसे ही होती हैं। ये प्रकृति यदि उपशमभावमें हों तो आत्मा जड़वत् हो जाय और क्रिया भी न कर सके; अथवा उससे प्रवृत्ति भी न हो सके। ज्ञानका काम जाननेका है, दर्शनका काम देखनेका है, और वीर्यका काम प्रवर्त्तन करनेका है।

वीर्य दो प्रकारसे प्रवृत्ति कर सकता है:—१. अभिसंधि. २. अनभिसंधि।

अभिसंधि=आत्माकी प्रेरणासे वीर्यकी प्रवृत्ति होना। अनभिसंधि=कषायसे वीर्यकी प्रवृत्ति होना। ज्ञानदर्शनमें भूल नहीं होती। परन्तु उदयभावसे रहनेवाले दर्शनमोहके कारण भूल होनेसे अर्थात् औरका और मालूम होनेसे, वीर्यकी प्रवृत्ति विपरीतभावसे होती है; यदि वह सम्यक्भावसे हो तो जीव

सिद्धपर्याय पा जाय। आत्मा कभी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकती। जबतक योग रहते हैं तबतक आत्मा जो क्रिया करती है वह अपनी वीर्यशक्तिसे ही करती है। क्रिया देखनेमें नहीं आती, परन्तु वह परिणामके ऊपरसे जाननेमें आती है। जैसे खाई हुई खुराक निद्रामें पच जाती है--यह सबेरे उठनेसे माळ्म होता है। यदि कोई कहे कि निद्रा अच्छी आई थी, तो यह होनेवाली क्रियाके समझमें आनेसे ही कहा जाता है। उदाहरणके लिये किसीको यदि चालीस बरसकी उम्रमें अंक गिनना आवे, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे पहिले अंक थे ही नहीं। इतना ही कहा जायगा कि उसको उसका ज्ञान न था। इसी तरह ज्ञानदर्शनको समझना चाहिये। आत्मामें ज्ञानदर्शन और वीर्य थोड़े बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकती है। वीर्य हमेशा चलाचल रहा करता है। कर्मग्रंथ बाँचनेसे विशेष स्पष्ट होगा। इतने खुलासासे बहुत लाभ होगा।

३. जीवत्वभाव हमेशा पारिणामिकभावसे है। इससे जीव जीवभावसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिकभावसे होता है; क्योंकि प्रकृतियोंके क्षय करनेसे ही सिद्धपर्याय मिलती है।

४. मोहनीयकर्म औदायिकभावसे होता है।

५. वैश्य लोग कानमात्रारहित अक्षर लिखते हैं; परन्तु अंकोंको कानमात्रारहित नहीं लिखते; उन्हें तो बहुत स्पष्टरूपसे लिखते हैं। उसी तरह कथानुयोगमें ज्ञानियोंने कदाचित् कुछ कानमात्रारहित लिखा हो तो भले ही; परन्तु कर्मप्रकृतिमें तो निश्चित ही अंक लिखे हैं। उसमें जरा भी भेद नहीं आने दिया।

(२५) आषाढ़ वदी ११ रवि. १९५६

ज्ञान, डोरा पिरोई हुई सूँईके समान है—ऐसा उत्तराध्ययनसूत्रमें कहा है। जिस तरह डोरा पिरोई हुई सूँई खोई नहीं जाती, उसी तरह ज्ञान होनेसे संसारमें धोखा नहीं खाते।

(२६) आषाढ़ वदी १२ सोम. १९५६

१. प्रतिहार=तीर्थंकरका धर्मराज्यत्व बतानेवाला। प्रतिहार=दरवान।

२. जिस तरह स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर पदार्थोंका ज्ञान होता है; उसी तरह सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान भी किसीको होना सिद्ध हो सकता है।

३. नग्न=आत्मनग्न।

४. उपहत=मारा गया। अनुपहत=नहीं मारा गया। उपष्टंभजन्य=आधारभूत। अभिधेय=जो वस्तुधर्मसे कहा जा सके। पाठान्तर=एक पाठकी जगह दूसरा पाठ। अर्थांतर=कहनेका हेतु बदल जाना। विषय=जो यथायोग्य न हो—फेरफारवाला—कम ज्यादा। आत्मद्रव्य यह सामान्यविशेष उभयात्मक सत्तावाला है। सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है। सविशेष चेतनसत्ता ज्ञान है।

५. सत्तासमुद्भूत=सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना—प्रकाशित होना, स्फुरित होना—माळ्म होना।

६. दर्शन=जगत्के किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिबिम्बित होना, उसका अस्तित्व माळ्म होना, निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलकके समान सामनेके पदार्थका भास होना, दर्शन है। जहाँ विकल्प होता है वहाँ ज्ञान होता है।

७. दर्शनावरणीय कर्मके आवरणके कारण दर्शनके अवगाढ़रूपसे आवृत होनेसे चेतनमें मूढ़ता हो गई; और वहींसे शून्यवाद आरम्भ हुआ।

८. जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है।

९. दर्शन और ज्ञानका विभाग किया गया है। ज्ञानदर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे जुदे जुदे पड़ सकते हों यह बात नहीं है। ये आत्माके गुण हैं। जिस तरह एक रुपयेमें दो अठन्नी होतीं हैं, उसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान होता है।

१०. तीर्थंकरको एक ही समय दर्शन ज्ञान दोनों साथ होते हैं, इस तरह दिगम्बर मतके अनुसार दो उपयोग माने हैं; श्वेताम्बर मतके अनुसार नहीं। १२ वें गुणस्थानकमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इस तरह तीन प्रकृतियोंका एक साथ ही क्षय होता है, और उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी साथमें होती है। यदि ये एक ही समयमें न होते हों, तो उनका भिन्न भिन्न प्रकृतियोंसे अनुभव होना चाहिये। श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान सत्तामें रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते। परन्तु दिगम्बरोंकी उससे जुदी मान्यता है।

११. शून्यवाद='कुछ भी नहीं' ऐसा माननेवाला; यह बौद्धधर्मका एक भेद है। आयतन=किसी भी पदार्थका स्थल—पात्र। कूटस्थ=अचल—जो चलायमान न हो सके। तटस्थ=किनारेपर—उस स्थलमें। मध्यस्थ=बीचमें।

(२७) आषाढ़ वदी १३ भौम. १९५६

१. चयोपचय=जाना आना। परन्तु प्रसंगवश उसका अर्थ आना जाना—गमनागमन होता है। यह मनुष्यके गमनागमनको लागू नहीं पड़ता—श्वासोच्छ्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाको ही लागू पड़ता है। चयविचय=जाना आना।

२. आत्माका ज्ञान जब चिंतामें रुक जाता है, उस समय नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते; और जो होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं; उससे शरीरका वजन घट जाता है।

३. श्रीआचारांगसूत्रके पहिले शास्त्रपरिज्ञा अध्ययनमें और श्रीषड्दर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और वनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया है। वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, दोनों ही बढ़ते हैं, आहार लेते हैं, परमाणु लेते हैं, छोड़ते हैं, मरते हैं इत्यादि।

(२८) श्रावण सुदी ३ रवि. १९५६

१. साधु=सामान्यरूपसे गृहवासका त्यागी मूलगुणोंका धारक। यति=ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणी माँडनेवाला। मुनि=जिसे अवधि, मनःपर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान होता है। ऋषि=जो बहुत ऋद्धिधारी हो। ऋषिके चार भेद हैं:—राज्य, ब्रह्म, देव और परम। राजर्षि=ऋद्धिवाला। ब्रह्मर्षि=महान् ऋद्धिवाला। देवर्षि=आकाशगामी देव। परमर्षि=केवलज्ञानी।

(२९) श्रावणसुदी १० सोम. १९५६

१. अभव्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बाँधा करे; और जिसे उसके कारण मोक्ष न हो सके। भव्य अर्थात् जिस जीवका वीर्य शांतरससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबंध न होनेसे जिसे मोक्ष हो जाय। जिस जीवकी वृत्ति उत्कट रससे परिणमन करती

हो, उसका वीर्य उसी प्रमाणमें परिणमन करता है; इस कारण ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य दिखाई दिये। आत्माकी परमशांत दशासे मोक्ष और उत्कट दशासे अमोक्ष होती है। ज्ञानीने द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षा भव्य अभव्य भेद कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपर्याय नहीं पा सकता, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। भजना=अंशसे होती है—वह होती भी है नहीं भी होती। वंचक=(मन, वचन कायासे) ठगनेवाला।

(३०) श्रावण वदी ८ शनि. १९५६

१. **कम्मदव्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्स।**
सो बंधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो॥

—कर्म द्रव्यकी अर्थात् पुद्गल द्रव्यकी साथ जीवका संबंध होना बंध है। तथा उसका वियोग हो जाना मोक्ष है।

समं—अच्छी तरह संबंध होना—वास्तविक रीतिसे संबंध होना; ज्यों त्यों कल्पनासे संबंध होना नहीं समझ लेना चाहिये।

२. प्रदेश और प्रकृतिबंध, मन वचन और कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभाग बंध कषायसे होता है।

३. विपाक अर्थात् अनुभागसे फलकी परिपक्वता होना। सर्व कर्मोंका मूल अनुभाग है। उसमें जैसा तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर रस पड़ा है, वैसा उदयमें आता है। उसमें फेरफार अथवा भूल नहीं होती। यहाँ मिट्टीकी कुल्हियामें पैसा, रुपया, सोनेकी मोहर आदिके रखनेका दृष्टान्त लेना चाहिये। जैसे किसी मिट्टीकी कुल्हियामें बहुत समय पहिले रुपया, पैसा, सोनेकी मोहर रक्खी हो, तो उसे जिस समय निकालो वह उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलती है, उसमें जगहका और उसकी स्थितिका फेरफार नहीं होता; अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता; उसी तरह बाँधा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही उदयमें आता है।

४. आत्माके अस्तित्वमें जिसे शंका हो वह चार्वाक कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थंकर आदिको एक समयका बंध होता है। मुख्यतया कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानमें अकषायीको भी एक समयका बंध हो सकता है।

६. पवन पानीकी निर्मलताका भंग नहीं कर सकती, परन्तु उसे चलायमान कर सकती है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती; परन्तु जो योगकी चंचलता है, उससे रसके बिना एक समयका बंध कहा है।

७. यद्यपि कषायका रस पुण्य तथा पापरूप है, तो भी उसका स्वभाव कड़वा है।

८. पुण्य भी खरासमेंसे ही होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है, क्योंकि वहाँ एकांत साताका उदय नहीं। कषायके दो भेद हैं:—प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग। कषायके बिना बंध नहीं होता।

९. आर्त्तध्यानका समावेश मुख्यतया कषायमें हो सकता है। प्रमादका चारित्रमोहमें और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१०. श्रवण पवनकी लहरके समान है; वह आता है और चला जाता है।

११. मनन करनेसे छाप बैठ जाती है; और निदिध्यासन करनेसे ग्रहण होता है।

१२. अधिक श्रवण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई देखनेमें आती है।

१३. प्राकृतजन्य अर्थात् लौकिक वाक्य—ज्ञानीका वाक्य नहीं।

१४. आत्माके प्रत्येक समय उपयोगयुक्त होनेपर भी, अवकाशकी कमी अथवा कामके बोझेके कारण, उसे आत्मसंबंधी विचार करनेका समय नहीं मिल सकता—ऐसा कहना प्राकृतजन्य लौकिक वचन है। जो खाने पीने सोने इत्यादिका समय मिला और उसे काममें लिया—जब वह भी आत्माके उपयोगके बिना नहीं हुआ; तो फिर जो खास सुखकी आवश्यकता है, और जो मनुष्यजन्मका कर्त्तव्य है, उसमें समय न मिला, इस वचनको ज्ञानी कभी भी सच्चा नहीं मान सकता। इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इन्द्रिय आदि सुखके काम तो ज़रूरतके लगे हैं, और उसके बिना दुःखी होनेके डरकी कल्पना रहती है; तथा 'आत्मिक सुखके विचारका काम किये बिना अनंतों काल दुःख भोगना पड़ेगा, और अनंत संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा'—यह बात ज़रूरी लगती नहीं! मतलब यह कि इस चैतन्यको कृत्रिम मान रक्खा है, सच्चा नहीं माना।

१५. सम्यग्दृष्टि पुरुष, जिसको किये बिना न चले ऐसे उदयके कारण लोकव्यवहारको निर्दोष-रूपसे लज्जित करते हैं। प्रवृत्ति करते जाना चाहिये, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसी दृढ़ मान्यताके साथ, वह ऊपर ऊपरसे ही प्रवृत्ति करता है।

१६. दूसरे पदार्थोंके ऊपर उपयोग दें तो आत्माकी शक्ति आविर्भूत होती है। इसलिये सिद्धि लब्धि आदि शंका करने योग्य नहीं। वे जो प्राप्त नहीं होतीं उसका कारण यह कि आत्मा निरा-वरण नहीं की जा सकती। यह शक्ति सब सच्ची है। चैतन्यमें चमत्कार चाहिये; उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिये। ऐसी सिद्धिवाले पुरुष असाताकी साता कर सकते हैं। ऐसा होनेपर भी वे उसकी अपेक्षा नहीं करते। वे वेदन करनेमें ही निर्जरा समझते हैं।

१७. तुम जीवोंमें उल्लासमान वीर्य अथवा पुरुषार्थ नहीं। तथा जहाँ वीर्य मंद पड़ा वहाँ उपाय नहीं।

१८. जब असाताका उदय न हो तब काम कर लेना चाहिये—ऐसा ज्ञानी पुरुषोंने जीवकी असामर्थ्य देखकर कहा है; जिससे उसका उदय आनेपर उसकी पार न बसावे।

१९. सम्यग्दृष्टि पुरुषको जहाजके कमाण्डरकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजको फिराकर रास्ता बदलना पड़ता है, उससे वे ऐसा समझते हैं कि स्वयं ग्रहण किया हुआ मार्ग सच्चा नहीं। उसी तरह ज्ञानी-पुरुष उदयविशेषके कारण व्यवहारमें भी अंतरात्मदृष्टि नहीं चूकते।

२०. उपाधिमें उपाधि रखनी चाहिये। समाधिमें समाधि रखनी चाहिये। अँग्रेजोंकी तरह कामके समय काम, और आरामके समय आराम करना चाहिये। एक दूसरेको परस्पर मिला न देना चाहिये।

२१. व्यवहारमें आत्मकर्त्तव्य करते रहना चाहिये। सुख दुःख, धनकी प्राप्ति अप्राप्ति यह शुभाशुभ तथा लाभांतरायके उदयके ऊपर आधार रखता है। शुभके उदयकी साथ पहिलेसे अशुभके उदयकी पुस्तक बाँची हो तो शोक नहीं होता। शुभके उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अशुभके उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है। सुख-दुःखका सच्चा कारण कर्म ही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आवे तो उसे कर्ज चुका देनेसे सिरपरसे बोझा कम हो जानेसे

जैसे हर्ष होता है; उसी तरह पुद्गल द्रव्यरूपी शुभाशुभ कर्ज, जिस कालमें उदयमें आ जाय, उस कालमें उसे सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा हो जाती है, और नया क़र्ज़ नहीं होता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषको कर्ज़मेंसे मुक्त होनेके लिये हर्षयुक्त भावसे तैय्यार रहना चाहिये। क्योंकि उसके चुकाये बिना छुटकारा नहीं।

२२. सुखदुःख जो द्रव्य क्षेत्र काल भावमें उदय आना हो, उसमें इन्द्र आदि भी फेरफार करनेमें समर्थ नहीं हैं।

२३. करणानुयोगमें ज्ञानीने अंतमुहूर्त्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमें सिद्धान्तका समावेश होता है।

२५. चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरण किया जाय उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देता है, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे है; करणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं। क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नवमें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है—तबतक नहीं हो सकता।

---

८६४ वढ़वाण कैम्प, भाद्रपद वदी १९५६

(१)

(१) मोक्षमालाके पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं।

पुनरावृत्तिके संबंधमें जैसे सुख हो वैसा करना। कुछ वाक्योंके नीचे (अंडर लाइन) लाईन की है, वैसा करना जरूरी नहीं।

श्रोता-वाचकको यथाशक्ति अपने अभिप्रायपूर्वक प्रेरित न करनेका लक्ष रखना चाहिये। श्रोता-वाचकमें स्वयं ही अभिप्राय उत्पन्न होने देना चाहिये। सारासारके तोलन करनेको वाचक-श्रोताके खुदके ऊपर छोड़ देना चाहिये। हमें उन्हें प्रेरित कर, उन्हें स्वयं उत्पन्न हो सकनेवाले, अभिप्रायको रोक न देना चाहिये।

प्रज्ञावबोध भाग मोक्षमालाके १०८ दाने यहाँ लिखावेंगे।

(२) परम सत्श्रुतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होनेसे परमार्थ मार्गका प्रकाश होगा।

(२)

श्रीमोक्षमालाके प्रज्ञावबोधभागकी संकलना.

१. वाचकको प्रेरणा.
२. जिनदेव.
३. निर्ग्रन्थ.
४. दया ही परमधर्म है.
५. सच्चा ब्राह्मणत्व.
६. मैत्री आदि चार भावनायें.
७. सत्शास्त्रका उपकार.
८. प्रमादके स्वरूपका विशेष विचार.
९. तीन मनोरथ.
१०. चार सुखशय्या.
११. व्यावहारिक जीवोंके भेद.
१२. तीन आत्मायें.
१३. सम्यग्दर्शन.
१४. महात्माओंकी असंगता.
१५. सर्वोत्कृष्ट सिद्धि.
१६. अनेकांतकी प्रमाणता.
१७. मनभ्रांति.
१८. तप.
१९. ज्ञान.
२०. क्रिया.

२१. आरंभ परिग्रहकी निवृत्तिके ऊपर ज्ञानीद्वारा दिया हुआ भार.
२२. दान.
२३. नियमितता.
२४. जिनागमस्तुति.
२५. नवतत्त्वका सामान्य संक्षेप स्वरूप.
२६. सार्वजनिक श्रेय.
२७. सद्गुण.
२८. देशधर्मविषयक विचार.
२९. मौन.
३०. शरीर.
३१. पुनर्जन्म.
३२. पंचमहाव्रतविषयक विचार
३३. देशबोध.
३४. प्रशस्तयोग.
३५. सरलता.
३६. निरभिमानीपना.
३७. ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता.
३८. आज्ञा
३९. समाधिमरण.
४०. वैतालिय अध्ययन.
४१. संयोगकी अनित्यता.
४२. महात्माओंकी अनंत समता.
४३. सिरपर न चाहिये.
४४. (चार) उदयादि भंग.
४५. जिनमत निराकरण.
४६. महामोहनीय स्थानक.
४७. तीर्थंकरपद प्राप्ति स्थानक.
४८. माया.
४९. परिपहजय.
५०. वीरत्व.
५१. सद्गुरुस्तुति.
५२. पंच परमपदविषयक विशेष विचार.
५३. अविरति.
५४. अध्यात्म.
५५. मंत्र.
५६. षट्पद निश्चय.
५७. मोक्षमार्गकी अविरोधता.
५८. सनातन धर्म.
५९. सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति.
६०. समिति गुप्ति.
६१. कर्मके नियम.
६२. महापुरुषोंकी अनंत दया.
६३. निर्जराक्रम.
६४. आकांक्षा स्थानकमें किस तरह रहना चाहिये ?
६५. मुनिधर्मयोग्यता.
६६. प्रत्यक्ष और परोक्ष.
६७. उन्मत्तता.
६८. एक अंतर्मुहूर्त.
६९. दर्शनस्तुति.
७०. विभाव.
७१. रसास्वाद.
७२. अहिंसा और स्वच्छंदता.
७३. अल्पशिथिलतासे महादोषका जन्म.
७४. पारमार्थिक सत्य.
७५. आत्मभावना.
७६. जिनभावना.
७७–९०. महत्पुरुष चरित्र.
९१–१००. (भागमें वृद्धि).
१०१–१०६. हितार्थ प्रश्न.
१०७–१०८ समाप्ति अवसर.

३४वाँ वर्ष

८६५ वढवाण कैम्प, कार्तिक सुदी ५ रवि. १९५७

ॐ. वर्त्तमान दुःषमकाल रहता है। मनुष्योंका मन भी दुःषम ही देखनेमें आता है। प्रायः करके परमार्थसे शुष्क अंतःकरणवाले परमार्थका दिखाव करके स्वेच्छासे आचरण करते हैं।

ऐसे समयमें किसका संग करना, किसके साथ कितना काम निकालना, किसकी साथ कितना बोलना, और किसकी साथ अपने कितने कार्य व्यवहारका स्वरूप विदित किया जा सकता है—यह सब लक्षमें रखनेका समय है। नहीं तो सद्वृत्तिवान् जीवको ये सब कारण हानिकारक होते हैं। ॐ शान्तिः।

---

८६६ वम्बई माटुंगा, मंगसिर १९५७

श्रीशांतसुधारसका भी फिरसे विवेचनरूप भाषांतर करना योग्य है, सो करना।

---

८६७ वम्बई शिव, मंगसिर वदी १९५७

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

स्तुतिकार श्रीसमंतभद्रसूरिको वीतरागदेव मानो कहते हों कि हे समंतभद्र! इस हमारी अष्ट प्रातिहार्य आदि विभूतिको तू देख—हमारा महत्त्व देख। इसपर, जिस तरह सिंह गुफामेंसे गंभीर पदसे बाहर निकलकर गर्जना करता है, उसी तरह श्रीसमंतभद्रसूरि गर्जना करते हुए कहते हैं:—

देवताओंका आगमन, आकाशमें विचरण, चामर आदि विभूतिका भोग करना, चामर आदि वैभवसे ढोला जाना—यह तो मायावी इन्द्रजालिये भी बता सकते हैं। तेरे पास देवोंका आगमन होता है, अथवा तू आकाशमें विचरता है, अथवा तू चामर छत्र आदि विभूतिका उपभोग करता है, क्या इसलिये तू हमारे मनको महान् है? नहीं नहीं, कभी नहीं। कुछ इसलिये तू हमारे मनको महान् नहीं। उतनेसे ही तेरा महत्त्व नहीं। ऐसा महत्त्व तो मायावी इन्द्रजालिया भी दिखा सकते हैं।

तो फिर सद्देवका वास्तविक महत्त्व क्या है? तो कहते हैं कि वीतरागता। इसे आगे बताते हैं।

ये श्रीसमंतभद्रसूरि वि. सं. दूसरी शताब्दिमें हुए थे। वे श्वेताम्बर दिगम्बर दोनोंमें एक सरीखे सन्मानित हैं। उन्होंने देवागमस्तोत्र (ऊपर कही हुई स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) अथवा आप्तमीमांसा रची है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणकी टीका करते हुए यह स्तोत्र (देवागम) लिखा गया है; और उसपर अष्टसहस्री टीका तथा चौरासी हजार श्लोकप्रमाण *गंधहस्तिमहाभाष्य टीका रची गई है।

---

*जिन दिगम्बर ग्रन्थों और शिलालेखोंमें स्वामी समंतभद्रको गंधहस्ती टीकाका रचयिता माना गया, है उन ग्रन्थों और शिलालेखोंसे यही पता लगता है कि समंतभद्रने गंधहस्ती नामकी कोई टीका तो जरूर लिखी थी, परन्तु यह टीका उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर नहीं थी, किसी दूसरे दिगम्बरीय सिद्धान्तोंके ऊपर ही थी—इस बातको पं० जुगलकिशोरजीने अपने 'स्वामी समंतभद्र-ग्रंथ परिचय' पृ. २३०-२४३ में बहुतसी दलीलें देकर साबित किया है। तथा श्वेताम्बर परम्परामें जो तत्त्वार्थसूत्रपर गन्धहस्ती टीकाकी प्रसिद्धि है, वह भी कोई अनुपलब्ध अथवा नष्ट कृति नहीं है, वह सिद्धसेनगणिकी वर्त्तमान तत्त्वार्थभाष्यकी बृहद्वृत्ति ही है। देखो पं० सुखलालजीकी तत्त्वार्थसूत्रकी गुजराती व्याख्या पृ. ३६-४२.

—अनुवादक

श्रीमद् राजचंद्र

वर्ष ३३ मुं.　　　　वि. सं. १९९६.

Lakshmi Art, Bombay 8.

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

यह इसका प्रथम मंगलस्तोत्र है ।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता (भेदन करनेवाले) और विश्व (समग्र) तत्त्वके ज्ञाता (जाननेवाले) को, उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वंदन करता हूँ ।

आप्तमीमांसा, योगबिन्दु और उपमितिभवप्रपंचकथाका गुजराती भाषांतर करना । योगबिन्दुका भाषांतर हुआ है; उपमितिभवप्रपंचका हो रहा है । परन्तु उन दोनोंको फिरसे करना योग्य है, उसे करना । धीमे धीमे होगा ।

लोक-कल्याण हितरूप है और वह कर्त्तव्य है । अपनी योग्यताकी न्यूनतासे और जोखमदारी न समझ सकनेसे अपकार न हो जाय, यह भी लक्ष रखना चाहिए ।

---

८६८ वम्बई शिव, मंगसिर वदी ८, १९५७

ॐ. मदनरेखाका अधिकार, उत्तराध्ययनके नवमें अध्ययनमें जो नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामें है ।

ऋषिभद्रपुत्रका अधिकार भगवतीसूत्रके शतकके उद्देशमें आया है ।

ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे वैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति वंदना आदि भक्तिका निरूपण करते हैं । परन्तु जनमंडलके कल्याणका विचार करते हुए वैसे विषयकी चर्चा करनेसे तुम्हें दूर ही रहना योग्य है ।

अवसर भी वैसा ही है । इसलिये तुम्हें इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमें एकदम शान्त रहना चाहिये । परन्तु दूसरी तरह, जिस तरह उन लोगोंकी तुम्हारे प्रति उत्तम लगन अथवा भावना हो, वैसा वर्त्तन करना चाहिए, जो पूर्वापर अनेक जीवोंके हितका ही हेतु होता है ।

जहाँ परमार्थके जिज्ञासु पुरुषोंका मंडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है; नहीं तो प्रायः उससे श्रेय नहीं होता ।

यह मात्र छोटी परिषह है । योग्य उपायसे वर्त्तन करना चाहिये । परन्तु उद्वेगयुक्त चित्त न रखना चाहिये ।

---

८६९ वढ़वाण कैम्प, फाल्गुन सुदी ६ शनि. १९५७

ॐ. जो अधिकारी संसारसे विराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके संयोगमें विचरनेकी इच्छा करता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसरे प्रतिबंधका कोई हेतु नहीं ।

उस अधिकारीको अपने बड़ोंका संतोष संपादन कर आज्ञा प्राप्त करनी योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दीक्षित होनेमें दूसरा विक्षेप न रहे ।

इस अथवा दूसरे किसी अधिकारीको संसारसे उपरामवृत्ति हुई हो, और वह आत्मार्थकी साधक है, ऐसा माळूम होता हो, तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिवर अधिकारी हैं । मात्र त्याग लेनेवालेको और त्याग देनेवालेको श्रेयका मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

प्रायः करके आज राजकोट जाना होगा। प्रवचनसार ग्रंथ लिखा जाता है, वह यथावसर प्राप्त हो सकता है। शान्तिः।

---

८७० राजकोट, फाल्गुन वदी ३ शुक्र. १९५७

बहुत त्वरासे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया।

सिरपर बहुत बोझा था, उसे आत्मवीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाय, उस तरह व्यवस्था करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान विश्राम ग्रहण किया।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।

प्रकृति उदयानुसार कुछ असाताका मुख्यतः वेदन करके साताके प्रति। ॐ शान्तिः।

---

८७१ राजकोट, फाल्गुन वदी १३ सोम. १९५७

ॐ शरीरसंबंधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ। ज्ञानियोंका सनातन सन्मार्ग जयवंत वर्त्तो।

---

८७२ राजकोट, चैत्र सुदी २ शुक्र. १९५७

ॐ अनंत शांतमूर्ति चन्द्रप्रभस्वामीको नमो नमः

वेदनीयको तथारूप उदयमानपनेसे वेदन करनेमें हर्ष शोक क्या? ॐ शान्तिः।

---

८७३ राजकोट, चैत्र सुदी ९, १९५७

अंतिम संदेश

परमार्थमार्ग अथवा शुद्ध आत्मपदप्रकाश

ॐ श्रीजिनपरमात्मने नमः

(१) जिस अनंत सुखस्वरूपकी योगीजन इच्छा करते हैं, वह मूल शुद्ध आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप है ॥ १ ॥

वह आत्मस्वभाव अगम्य है, वह अवलंबनका आधार है। उस स्वरूपके प्रकारको जिनपदसे बताया गया है ॥ २ ॥

जिनपद और निजपद दोनों एक हैं, इनमें कोई भी भेदभाव नहीं। उसके लक्ष होनेके लिये ही सुखदायक शास्त्र रचे गये हैं ॥ ३ ॥

८७३

अन्तिम संदेश

(१) इच्छे छे जे जोगीजन अनंत सुखस्वरूप। मूळ शुद्ध ते आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप ॥ १ ॥

आत्मस्वभाव अगम्य ते अवलंबन आधार। जिनपदथी दर्शावियो तेह स्वरूप प्रकार ॥ २ ॥

जिनपद निजपद एकता भेदभाव नहीं कांई। लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाई ॥ ३ ॥

जिन प्रवचन बहुत दुर्गम है, उसे प्राप्त करनेमें बुद्धिमान लोग भी थक जाते हैं। वह श्रीसद्गुरुके अवलंबनसे ही सुगम और सुखकी खान है ॥ ४ ॥

यदि जिनभगवान्‌के चरणोंकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो, मुनिजनोंकी संगतिमें संयम-सहित अत्यन्त रति हो—॥ ५ ॥

यदि गुणोंमें अतिशय प्रमोद रहे और अंतर्मुख योग रहे, तो श्रीसद्गुरुसे जिनदर्शन समझा जा सकता है ॥ ६ ॥

मानो समुद्र एक बिन्दुमें ही समा गया हो, इस तरह प्रवचनरूपी समुद्र चौदह पूर्वकी लब्धि-रूप बिन्दुमें समा जाता है ॥ ७ ॥

जो विषय विकारसहित मतिके योगसे रहता है, उसे परिणामोंकी विषमता रहती है, और उसे योग भी अयोग हो जाता है ॥ ८ ॥

मंद विषय, सरलता, आज्ञापूर्वक सुविचार तथा करुणा कोमलता आदि गुण यह प्रथम भूमिका है ॥ ९ ॥

जिसने शब्द आदि विषयको रोक लिया है, जो संयमके साधनमें राग करता है, जिसे आत्माके लिये जगत् इष्ट नहीं, वह महाभाग्य मध्यम पात्र है ॥ १० ॥

जिसे जीनेकी तृष्णा नहीं, जिसे मरणके समय क्षोभ नहीं, वह मार्गका महापात्र है, वह परम-योगी है, और उसने लोभको जीत लिया है ॥ ११ ॥

(२) जिस तरह जब सूर्य सम देशमें आता है तो छाया समा जाती है, उसी तरह स्वभावमें आनेसे मनका स्वरूप भी समा जाता है ॥ १ ॥

यह समस्त संसार मोहविकल्पसे उत्पन्न होता है। अंतर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसके नाश होते हुए देर नहीं लगती ॥ २ ॥

(३) जो अनंत सुखका धाम है, जिसकी संत लोग इच्छा करते हैं, जिसके ध्यानमें वे दिन रात लीन रहते हैं, जो परमशांति है, अनंत सुधामय है—उस पदको प्रणाम करता हूँ, वह श्रेष्ठ है, उसकी जय हो ॥ १ ॥

समाप्त

जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मतिमान। अवलंबन श्रीसद्गुरु सुगम अने सुखखाण ॥ ४ ॥
उपासना जिनचरणनी अतिशय भक्तिसहीत। मुनिजन संगति रति अति संयम योग घटीत ॥ ५ ॥
गुणप्रमोद अतिशय रहे रहे अंतर्मुख योग। प्राप्ति श्रीसद्गुरुवडे जिनदर्शन अनुयोग ॥ ६ ॥
प्रवचन समुद्रबिंदुमां उलसी (उलटी) आवे एम। पूर्व चौदनी लब्धिनुं उदाहरण पण तेम ॥ ७ ॥
विषय विकार सहीत जे रह्या मतिना योग। परिणामनी विषमता तेने योग अयोग ॥ ८ ॥
मंद विषयने सरळता सह आज्ञा सुविचार। करुणा कोमळतादि गुण प्रथम भूमिका धार ॥ ९ ॥
रोक्या शब्दादिक विषय संयम साधन राग। जगत इष्ट नहीं आत्मथी मध्यपात्र महाभाग्य ॥ १० ॥
नहीं तृष्णा जीव्यातणी मरण योग्य नहीं क्षोभ। महापात्र ते मार्गना परम योग जितलोभ ॥ ११ ॥
(२) आव्ये बहु समदेशमां छाया जाय समाई। आव्ये तेम स्वभावमां मन स्वरूप पण जाई ॥ १ ॥
उपजे मोह विकल्पथी समस्त आ संसार। अंतर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहीं वार ॥ २ ॥
(३) सुख धाम अनंत सुसंत चहि। दिन रात्र रहे तद् ध्यानमंहि।
परशांति अनंत सुधामय जे, प्रणमुं पद ते वर ते जय ते ॥ १ ॥

परिशिष्ट (१)

'श्रीमद् राजचन्द्र'में आये हुए ग्रन्थ ग्रन्थकार आदि विशिष्ट शब्दोंका संक्षिप्त परिचय

अकबर—

अकबरका पूरा नाम अबुल् फतेह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर था। इनका जन्म सन् १५४२ में अमरकोट हुआ था। सन् १५५६ में अकबरको राज्य-सिंहासन मिला। अकबर बहुत उद्यमशील और बुद्धिमान बादशाह था। उसने अपने कौशलसे धीरे धीरे अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया, और बहुतसे लोगोंको अपना साथी बना लिया था। उसने अनेक युद्ध भी किये, जिनमें उसे सफलता मिली। अकबर बहुत सहिष्णु थे। वे गोमांस इत्यादिसे परहेज़ करते थे। अकबरने हिन्दु और मुसलमान दोनोंमें ऐक्य और प्रेमसंबंध स्थापित करनेके लिये 'दीनइलाही'धर्मकी स्थापना की थी। इस धर्मके हिन्दु और मुसलमान दोनों ही अनुयायी थे। अकबरने अमुक दिनोंमें जीवहिंसा न करनेकी भी अपने राज्यमें मनाई कर रक्खी थी। अकबरको विद्याभ्यासका बहुत शौक था। उन्होंने रामायण महाभारत आदि ग्रंथोंके फ़ारसीमें अनुवाद कराये थे। अकबरकी सभामें हिन्दु विद्वानोंको भी बहुत सन्मान मिलता था। अकबर ज्यों ज्यों वृद्ध होते गये, त्यों त्यों उनकी विषय-लोलुपताका ह्रास होता गया। अकबर सोते भी बहुत कम थे। कहते हैं दिनरात मिला कर वे कुल तीन घंटे सोते थे। अकबर बहुत मिताहारी थे। वे दिनमें एक ही बार भोजन करते थे, और उसमें भी अधिकतर दूध, भात और मिठाई ही लेते थे। अकबरका पुत्र सलीम हिन्दुरानी जोधाबाईके गर्भसे पैदा हुआ था। राजचन्द्रजीने अकबरके मिताहारका उल्लेख किया है।

अखा—

अखा गुजराती साहित्यमें एक अद्वितीय मध्यकालीन कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १६१९ में अहमदाबादमें सोनी जातिमें हुआ था। ये अक्षयभगतके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। अखाकी बोधप्रधान कविताका बड़ा भाग सातसौ छियालिस छप्पामें है, जिसके सब मिलाकर चवालीस अंग हैं। छप्पाके अतिरिक्त, अखाने अखेगीता, अनुभवबिन्दु, कैवल्गीता, चित्तविचारसंवाद, पंचीकरण, गुरुशिष्यसंवाद तथा बहुतसे पद आदिकी भी रचना की है। अखाको दंभ और पाखंडके प्रति अत्यन्त तिरस्कार था। इन्होंने शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तोंको अत्यन्त सरल भाषामें लिखा है। अखा एक अनुभवी विचारशील चतुर कवि थे। इन्होंने सत्संग, सद्गुरु, ब्रह्मरस आदिकी जगह जगह महिमा गाई है। 'अखानी वाणी' नामक पुस्तक 'सस्तुं साहित्य-वर्धक कार्यालय'से सन् १९२४ में प्रकाशित हुई है। इनके अन्य ग्रन्थ तथा पद काव्यदोहनमें छपे हैं। राजचन्द्रजीने अखाको मार्गानुसारी बताते हुए उनके ग्रन्थोंके पढ़नेका अनुरोध किया है। उन्होंने अखाके पद भी उद्धृत किये हैं।

अध्यात्मकल्पद्रुम—

अध्यात्मकल्पद्रुम वैराग्यका बहुत उत्तम ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता श्वेताम्बर विद्वान् मुनिसुंदरसूरि हैं। मुनिसुंदरसूरि सहस्रावधानी थे। कहा जाता है कि इन्हें तपके प्रभावसे पद्मावती आदि देवियाँ

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करती थीं। मुनिसुंदरसूरिने अपने गुरुदेव सुंदरसूरिकी सेवामें एकसौ आठ हाथ लम्बा एक विज्ञप्तिपत्र भेजा था, जिसमें उन्होंने नाना तरहके सैकड़ों चित्र और हजारों काव्य लिखे थे। मुनिसुंदरसूरिने स्वोपज्ञ वृत्तिसहित उपदेशरत्नाकर, जयानंदचरित्र, शांतिकरस्तोत्र आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। मुनिसुंदरसूरि श्वेताम्बर आम्नायमें बहुत प्रख्यात कवि गिने जाते हैं। ये सं० १५०३ में स्वर्गस्थ हुए। अध्यात्मकल्पद्रुममें सोलह अधिकार हैं। ग्रन्थका विस्तृत गुजराती विवेचन मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़ियाने किया है, जो जैनधर्मप्रसारक सभाकी ओरसे सन् १९११ में प्रकाशित हुआ है।

अध्यात्मसार (देखो यशोविजय).

अनाथदासजी—

माॡम होता है अनाथदास कोई बहुत अच्छे वेदान्ती थे। इन्होंने गुजरातीमें विचारमाला नामक ग्रंथ बनाया है। इस ग्रंथके ऊपर टीका भी है। राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थका अवलोकन करनेके लिये लिखा है। उपदेशछायामें अनाथदासजीका एक वचन भी राजचन्द्रजीने उद्धृत किया है।

अनुभवप्रकाश (पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश)—

इस ग्रन्थके कर्त्ता विशुद्धानन्दजीने गृहस्थाश्रमके त्याग करनेके पश्चात् बहुत समयतक देशाटन किया, और तत्पश्चात् वे हृषीकेशमें आकर रहने लगे। ये सदा संत पुरुषोंके समागममें रहते हुए ब्रह्मविचारमें मग्न रहते थे। विशुद्धानन्दजीने हृषीकेशमें रहकर नाना प्रकारके कष्ट उठाये। इन्होंने कलकत्ताके सेठ सूर्यमलजीको प्रेरित कर हृषीकेशमें अन्नक्षेत्र आदि भी स्थापित किये, जिससे वहाँ रहनेवाले संत साधुओंको बहुत आराम मिला। विशुद्धानन्दजीको किसी धर्म या वेषके लिये कोई आग्रह न था। ये केवल दो कंबली रखते थे। अनुभवप्रकाशका गुजराती भाषांतर सन् १९२७ में बम्बईसे प्रकट हुआ है। इसमें आठ सर्ग हैं, जिनमें वेदान्तविषयका वर्णन है। प्रह्लादआख्यान तृतीय सर्गमें आता है।

अभयकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ ३०—३२).

अंबारामजी—

×अम्बारामजी और उनकी पुस्तकके संबंधमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—" हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है। परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्तज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं माॡम होतीं। और ऐसा ही है; तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है; मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं। " तथा " धर्म ही जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये। "

अयमंतकुमार—

इनके बाल्यावस्थामें मोक्ष प्राप्त करनेका राजचन्द्रजीने मोक्षमालामें उल्लेख किया है। इनकी कथा भगवतीसूत्रमें आती है।

अष्टक (देखो हरिभद्र).

अष्टपाहुड़ (देखो कुन्दकुन्द).

×अगाससे पं० गुणभद्रजी सूचित करते हैं कि अंबारामजी भादरणके निवासी एक महन्त थे। इन्होंने बहुतसे भजन आदि बनाये हैं। लेखक.

अष्टसहस्री—

विद्यानन्दस्वामीकी आप्तमीमांसापर लिखी हुई टीकाका नाम अष्टसहस्री है। इस ग्रन्थमें बहुत प्रौढ़ताके साथ जैनदर्शनके स्याद्वाद सिद्धांतका प्रतिपादन किया गया है। अष्टसहस्रीके ऊपर श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजीने नव्यन्यायसे परिपूर्ण टीका भी लिखी है। विद्यानन्द आदिमें ब्राह्मण थे। उनका मीमांसा बौद्ध आदि दर्शनोंका बहुत अच्छा अध्ययन था। वे अपने समयके एक बहुत अच्छे कुशल वादी गिने जाते थे। विद्यानन्दजीने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक नामकी दार्शनिक टीका भी लिखी है, जिसका जैनसाहित्यमें उच्चस्थान है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आप्तपरीक्षा पत्रपरीक्षा आदि और भी महत्वशाली ग्रन्थ लिखे हैं। आप्तपरीक्षामें ईश्वरकर्तृत्व आदि सिद्धांतोंका विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। इनका समय ईसवी सन् ९ वीं शताब्दि माना जाता है।

अष्टावक्र—

अष्टावक्र सुमतिके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम कहोड़ था। एक दिन अष्टावक्र जब गर्भमें थे, कहोड़ अपनी पत्नीके पास बैठे हुए वेदका पाठ कर रहे थे। वेदपाठमें उनकी कहीं भूल हो गई, जिसे गर्भस्थ शिशुने बता दिया। इसपर कहोड़को बहुत क्रोध आया, और उन्होंने गर्भस्थ शिशुसे कहा कि जब तेरा स्वभाव अभीसे इतना वक्र है, तो आगे जाकर न मालूम तू क्या करेगा। अतएव जा, मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू अष्टावक्र होकर जन्म ग्रहण करेगा। कहते हैं इसपर शिशुका शरीर आठ जगहसे टेढ़ा हो गया, और उसका नाम अष्टावक्र पड़ा। बादमें चलकर इनके पिताने अष्टावक्रसे प्रसन्न होकर इन्हें समंगा नदीमें स्नान कराया, जिससे अष्टावक्रकी वक्रता तो दूर हो गई, पर नाम इनका फिर भी वही रहा। अष्टावक्र जनकके गुरु थे। उन्होंने जो जनकको उपदेश दिया, वह अष्टावक्रगीतामें दिया है।

आचारांग (आगमग्रंथ)—इसका राजचंद्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है।

आत्मसिद्धिशास्त्र (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. ५८५–६२२).

आत्मानुशासन—

आत्मानुशासनके कर्त्ता दिगम्बर सम्प्रदायमें गुणभद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं। ये आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीके शिष्य थे। ये दोनों गुरु शिष्य अमोघवर्ष महाराजके समकालीन थे। गुणभद्र स्वामीने उत्तरपुराणकी भी रचना की है, जिसे उन्होंने शक संवत् ८२० में समाप्त किया था। गुणभद्र न्याय काव्य आदि विषयोंके बहुत अच्छे विद्वान थे। आत्मानुशासनकी कई टीकायें भी हुई हैं। इनमें पं० टोडरमलजीकी हिन्दी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इसका गुजराती अनुवाद भी हुआ है। इस अध्यात्मके ग्रंथको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों बहुत चावसे पढ़ते हैं।

आनन्द श्रावक—

आनन्द श्रावककी कथा उपासकदशासूत्रमें आती है। एक बारकी बात है कि गौतमस्वामी भिक्षाके लिये जा रहे थे। उन्होंने सुना कि महावीरके शिष्य आनन्दने मरणान्त सल्लेखना स्वीकार की है। गौतमने आनन्दको देखनेका विचार किया। आनन्दने गौतमस्वामीको नमस्कार करके पूछा कि भगवन्! क्या गृहस्थावस्थामें अवधिज्ञान होता है? गौतमने कहा 'हाँ' होता है। इसपर आनन्दने

कहा कि मुझे इतनी सामर्थ्यका अवधिज्ञान हो गया है कि मैं पाँचसौ योजनतकके रूपी पदार्थको जान सकता हूँ। गौतमस्वामीने इस बातका निषेध किया, और आनन्दको आलोचना करनेको कहा। बादमें दोनों महावीरके पास गये। गौतमको अपनी भूल माळूम हुई और उन्होंने आनन्दसे क्षमा माँगी।

आनंदघन—

आनंदघनजी एक महान् अध्यात्मी योगी पुरुष हो गये हैं। इनका दूसरा नाम लाभानंद था। इन्होंने हिन्दी मिश्रित गुजरातीमें चौवीस जिनभगवान्की स्तुतिरूप चौवीस स्तवनोंकी रचना की है, जो आनन्दघनचौवीसीके नामसे प्रसिद्ध है। आनन्दघनजीकी दूसरी सुन्दर रचना आनंदघन-बहोत्तरी है। आनंदघनजीकी वाणी बहुत मार्मिक और अनुभवज्ञानसे परिपूर्ण है। इनकी रचनाओंसे माळूम होता है कि ये जैनसिद्धांतके एक बड़े अनुभवी मर्मज्ञ पंडित थे। आनन्दघनजी गच्छ मत इत्यादिका बहुत विरोध करते थे। इन्होंने पट्दर्शनोंको जिन भगवान्का अंग बताकर छहों दर्शनोंका सुन्दर समन्वय किया है। आनन्दघनजी आत्मानुभवकी मस्त दशामें विचरण किया करते थे। आनन्दघनजीका यशोविजयजीसे मिलाप भी हुआ था, इस बातको यशोविजयजीने अपनी बनाई हुई अष्टपदीमें व्यक्त किया है। राजचन्द्रजी आनन्दघनजीको बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। वे उन्हें कुन्दकुन्द और हेमचन्द्राचार्यकी कोटिमें लाकर रखते हैं। वे आनन्दघनजीकी हेमचन्द्राचार्यसे तुलना करते हुए लिखते हैं—"श्रीआनंदघनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरंभ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया। परन्तु वीतरागधर्म-विमुखता—विपमता—इतनी बढ़ गई थी कि लोग धर्मको अथवा आनंदघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें आनंदघनजीको लगा कि प्रबलरूपसे व्याप्त विषमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थ-प्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है; इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस विचारणासे अन्तमें वे लोकसंगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें विचरते हुए भी वे अप्रगटरूपसे रहकर चौवीस पद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।" राजचन्द्रजीने आनंदघनचौवीसीका विवेचन भी लिखना आरंभ किया था, जो अंक ६९२ में छपा है।

ईसामसीह—

ईसामसीह ईसाईधर्मके आदिसंस्थापक थे। ये कुमारी मरियमके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ईसा बचपनसे ही धर्मग्रन्थोंके अध्ययन करनेमें सारा समय विताया करते थे। ईसाके पूर्व फिलस्तीन और अरब आदि देशोंमें यहूदीधर्मका प्रचार था। यहूदी पादरी लोग धर्मके बहाने जो मनमाने अत्याचार किया करते थे, उनके विरुद्ध ईसामसीहने प्रचण्ड आन्दोलन मचाया। ईसामसीहपर यहूदियोंने खूब आक्रमण किये, जिससे इन्हें जैरुसलेम भाग जाना पड़ा। वहांपर भी इनपर वार किये गये। यहूदियोंने इन्हें पकड़कर बन्दी कर लिया, और इन्हें काँटोंका मुकट पहनाकर सूलीपर लटका दिया। जिस समय इनके हाथों पैरोंमें कीलें ठोकी गईं, उस समय भी इनका मुख प्रसन्नतासे खिलता रहा, और ये अपने वध करनेवालोंकी अज्ञानताको क्षमा करनेके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना

करते रहे। ईसाने अपने धर्ममें सेवा, प्रेम, दया और सहानुभूतिपर अधिक भार दिया है। ईसाई लोग ईसाको ईश्वरका अवतार मानते हैं। बाइबिलमें उनके उपदेशोंका संग्रह है। ईसाके चमत्कारोंका बाइबिलमें वर्णन आता है। राजचन्द्रजीने ईसाईधर्मका विशेष अध्ययन नहीं किया था। महात्मा गांधीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए राजचन्द्रजीने पत्रांक ४४७ में ईसाईधर्मके विषयमें अपने विचार प्रकट किये हैं।

आप्तमीमांसा (देखो समंतभद्र).

इन्द्रियपराजयशतक—

यह वैराग्यका अत्युत्तम छोटासा प्राकृतका ग्रन्थ है। ग्रन्थके कर्त्ता कोई श्वेताम्बर विद्वान् हैं। इसके ऊपर सं० १६६४ में गुणविनय उपाध्यायने संस्कृत टीका लिखी है। इसका गुजराती भाषांतर हुआ है। हिन्दी पद्यानुवाद बुद्धूलाल श्रावकने किया है, जो बम्बईसे प्रकाशित हुआ है। इन्द्रियपराजयशतक प्रकरणरत्नाकरमें भी छपा है। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथके पढ़नेका अनुरोध किया है।

उत्तराध्ययन (आगमग्रन्थ)— इसका राजचंद्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है।

***उत्तमविजय—**

उत्तमविजय श्वेताम्बर आम्नायमें गुजरातीके अच्छे कवि हो गये हैं। इनके संयमश्रेणीस्तवनमेंसे राजचन्द्रजीने दो पद उद्धत किये हैं। उक्त स्तवन प्रकरणरत्नाकरमें प्रकाशित हुआ है।

उपमितिभवप्रपंचा कथा—

उपमितिभवप्रपंचा कथा भारतीय साहित्यका संस्कृतका एक विशाल रूपक ग्रंथ (allegory) माना जाता है। यह ग्रंथ साहित्यकी दृष्टिसे बहुत उच्च कोटिका है। इस ग्रंथके बनानेवाले सिद्धर्षि नामके एक प्रतिष्ठित जैनाचार्य हो गये हैं। सिद्धर्षि हरिभद्रसूरिकी बहुत पूज्यभावसे स्तुति करते हैं। ये हरिभद्रसूरि सिद्धर्षिको धर्मबोधके देनेवाले थे। सिद्धर्षि प्राकृत और संस्कृतके बहुत अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने उपदेशमाला आदि प्राकृतके ग्रन्थोंपर संस्कृत टीकायें लिखी हैं। इन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी टीका लिखी है। सिद्धर्षिका विस्तृत वर्णन प्रभावकचरितमें आता है। उपमितिभवप्रपंचा कथाको सिद्धर्षिने सं० ९६२ में समाप्त किया था। इस ग्रंथके अनुवाद करनेके लिये राजचन्द्रजीने किसी मुमुक्षुको लिखा था।

ऋभु—

ऋभु राजाका वर्णन महाभारतमें आता है। " पुराणमें ऋभु ब्रह्माके पुत्र थे। इन्होंने तपबलसे विशुद्धज्ञान लाभ किया था। पुलस्त्यपुत्र निदाघ इनके शिष्य थे। ये अतिशय कार्यकुशल थे। इन्होंने इन्द्रके रथ और अश्वगणको शोभित किया था, जिससे सन्तुष्ट होकर इन्द्रने इनके माता पिताको पुनर्यौवन प्रदान किया "—हिन्दी शब्दसागर। " ऋभु राजाने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया। परमात्माने उसे देहधारीके रूपमें दर्शन दिये, और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर ऋभु राजाने वर माँगा कि हे भगवन्! आपने जो ऐसी राज्यलक्ष्मी मुझे दी है, वह बिलकुल भी ठीक नहीं। यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पंचविषयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मी-

* इस चिह्नके ग्रंथ अथवा ग्रंथकारोंका राजचन्द्रजीने साक्षात् उल्लेख नहीं किया, केवल उनके पद आदि ही उद्धृत किये हैं। —लेखक.

का फिरसे मुझे स्वप्न भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको पधार गये।" —'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. २४४.

ऋषिभद्रपुत्र—

ऋषिभद्रपुत्र आलभिका नगरीके रहनेवाले थे। ये श्रमणोपासक थे। इस नगरीमें और भी बहुतसे श्रमणोपासक रहते थे। एक बार उन श्रमणोपासकोंमें देवोंकी स्थितिसंबंधी कुछ चर्चा चली। ऋषिभद्रपुत्रने तत्संबंधी ठीक ठीक बात श्रमणोपासकोंको कही। परन्तु उसपर अन्य श्रमणोपासकोंने श्रद्धा न की, और उन लोगोंने महावीर भगवान्से उस प्रश्नको फिर जाकर पूछा। भगवान् महावीरने कहा कि जो ऋषिभद्र कहते हैं, वह सत्य है। यह सुनकर वे श्रमणोपासक ऋषिभद्रपुत्रके पास आये, और उन सबने अपने दोषोंकी क्षमा माँगी। ये ऋषिभद्रपुत्र मोक्षगामी जीव थे। यह कथन भगवती-सूत्रके ११ वें शतकके १२ वें उद्देशमें आता है।

कपिल (मुनि) (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ ४६-४८).

कपिल (ऋषि)—

कपिल ऋषि सांख्यमतके आद्यप्रणेता कहे जाते हैं। कपिलको परमर्षि भी कहते हैं। इनके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कपिल अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं।

कबीर—

कबीर साहबका जन्म संवत् १४५५ में हुआ था। ये जुलाहे थे। कहा जाता है कि ये विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कबीर स्वामी रामानंदके शिष्य थे। कबीर बालकपनसे ही बड़े धर्मपरायण थे। वे पढ़े-लिखे तो न थे, परन्तु उन्होंने सत्संग बहुत किया था। उनके हृदयमें हिन्दु-मुसलमान किसीके लिये द्वेषभाव न था। आजकल भी हिन्दु मुसलमान दोनों ही कबीरपंथके अनुयायी पाये जाते हैं। कबीर साहबने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। वे साखी और भजन बनाकर कहा करते थे, जिन्हें उनके चेले कंठस्थ कर लिया करते थे। कबीर मूर्तिपूजाके कट्टर विरोधी थे। कबीर जातिपाँतिको न मानते थे। वे एक पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनकी भाषामें विविध भाषाओंके शब्द मिलते हैं। कबीरकी वाणीमें अगाध ज्ञान और बड़ी शिक्षा भरी हुई है। हिन्दी साहित्यमें कबीर साहबका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। कबीरने सं० १५७५ में देहत्याग किया। कविवर रवीन्द्रनाथ कबीरके बहुत प्रशंसक हैं। इनकी वाणियोंका अंग्रेजी और फारसीमें भी अनुवाद हुआ है। कबीरको राजचन्द्रजीने मार्गानुसारी कहा है। वे उनकी भक्तिके विषयमें लिखते हैं—"महात्मा कबीर तथा नरसी मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत और सर्वोत्कृष्ट थी; ऐसा होनेपर भी वह निस्पृह थी। ऐसी दुखी स्थिति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये—व्यवहारके लिये—परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरेच्छानुसार व्यवहार चलता गया है, तथापि उनकी दरिद्रावस्था आजतक जगत्प्रसिद्ध ही है, और यही उनका सबल माहात्म्य है। परमात्माने इनका 'परचा' पूरा किया है, और इन भक्तोंकी इच्छाके विरुद्ध जाकर किया है। क्योंकि वैसी भक्तोंकी इच्छा नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें भक्तिके रहस्य-की प्राप्ति भी न हो।"

कर्कटी राक्षसी—

कर्कटी राक्षसी हिमालय पर्वतके शिखरपर रहा करती थी। एक वार उसकी इच्छा हुई कि मैं जम्बूद्वीपके संपूर्ण जीवोंका भक्षण करके तृप्त होऊँ। यह विचार कर वह पर्वतकी गुफामें एक टाँगसे खडी हो, भुजाओंको ऊँचा कर, आँखोंको आकाशकी ओर स्थिर कर तप करने लगी। इस दशामें उसे हजार वर्ष बीत गये। तब वहाँ ब्रह्माजी आये और उन्होंने उससे वर माँगनेको कहा। राक्षसीने कहा कि मैं चाहती हूँ कि मैं लोहेकी तरह वज्रसूचिका होऊँ, और जीवोंके हृदयमें प्रवेश कर सकूँ। ब्रह्माजीने यह वरदान स्वीकार किया, और कहा कि तू दुराचारियोंके हृदयमें तो प्रवेश कर सकेगी, पर गुणवानोंके हृदयमें तेरा प्रवेश न होगा। तदनुसार कर्कटीका शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने लगा। इस प्रकार वह राक्षसी कितने ही वर्षोंतक प्राणीवध करती रही। परन्तु इससे राक्षसीको वहुत दुःख हुआ, और वह अपने पूर्व शरीरके लिये वहुत वहुत पश्चात्ताप करने लगी। उसने फिरसे तप करना आरंभ किया, और उसे फिर हजार वर्ष घोर तप करते हुए हो गये। इससे सात लोक तप्तायमान हुए। इसपर ब्रह्माजीने फिर कर्कटीको दर्शन दिये, और वर माँगनेको कहा। कर्कटीने उत्तर दिया, 'अब मुझे किसी भी वरकी कामना नहीं, अब मैं निर्विकल्प शांतिमें स्थित हो गई हूँ।' इसपर ब्रह्माजीने उसे राक्षसीके शरीरमें ही जीवन्मुक्त होकर विचरनेका वरदान दिया, और कहा कि तू पापी जीवोंका भक्षण करती हुई विचर, और फिरसे पूर्व शरीरको प्राप्त कर। कुछ समय वाद कर्कटी हिमालयपरसे उतर कर किरातदेशमें पहुँची, और उसने वहाँ किरातदेशके राजाको अपने मंत्री और वीरोंके साथ यात्राके लिये जाते हुए देखा। उसने सोचा कि ऐसे मूढ़ अज्ञानियोंको भक्षण कर जाना ही ठीक है, क्योंकि इससे लोककी रक्षा होती है। वस राक्षसी उन्हें देख गर्जना करने लगी, और उसने उन्हें अपना भोज्य वनानेके लिये ललकारा। इसके वाद किरातदेशके राजा-मंत्री और राक्षसीके वहुतसे प्रश्नोत्तर हुए। राक्षसी परम शांत हो गई, और उसने जीव-वधका त्याग किया। यह वर्णन योगवासिष्ठके उत्पत्तिप्रकरणके ६८ और ७७–८३ सर्गोंमें आता है।

कर्मग्रन्थ—

जो महत्त्व दिगम्बर सम्प्रदायमें गोम्मटसार आदि सिद्धांतग्रंथोंका है, वही महत्त्व श्वेताम्बर आम्नायमें कर्मग्रन्थका है। इस ग्रन्थके कर्मविपाक, कर्मस्तव, बंधस्वामित्व, षडशीतिक, शतक और सप्ततिका ये छह प्रकरण हैं। ये क्रमसे पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा और छठा कर्मग्रन्थके नामसे प्रसिद्ध हैं। कर्मग्रन्थके कर्त्ता श्वेताम्बर विद्वान् देवेन्द्रसूरि हैं। इनका जन्म लगभग सं० १२७५ में हुआ था। देवेन्द्रसूरि जैनागमके प्रखरवेत्ता और संस्कृत प्राकृतके असाधारण पंडित थे। इनके गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि था। इन्होंने श्राद्धदिनकृत्यसूत्रवृत्ति, सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ति, सुदर्शन-चरित्र आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने पत्रांक ४१७ में 'मूलपद्धति कर्मग्रन्थ' के पढ़नेके लिये किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। मालूम होता है इससे उनका तात्पर्य मूल कर्मग्रन्थसे ही है+। राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर कर्मग्रंथके पठन-मनन करनेका उल्लेख किया है।

+ श्रीयुत दलसुखभाई मालवणीया इस विषयमें पत्रसे सूचित करते हुए लिखते हैं—" मूलपद्धति कोई अलग ग्रन्थ तो सुननेमें नहीं आया। मूल कर्मग्रन्थका ही मतलब होना चाहिये। स्थानकवासी सम्प्रदायमें कर्मविषयक परिचय 'थोकड़ा'से प्राप्त करनेका रिवाज है। अतः उन्होंने (राजचन्द्रजीने) मूल कर्मग्रन्थ पढ़नेको लिखा होगा। —लेखक.

कामदेव श्रावक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २२).

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा—

यह अध्यात्मका ग्रन्थ दिगम्बर विद्वान् स्वामी कार्त्तिकेय (कार्त्तिकस्वामी) का वनाया हुआ है। ये कब हो गये हैं और कहांके रहनेवाले थे, इत्यादि बातोंका कुछ ठीक ठीक पता नहीं चलता। राजचन्द्रजी लिखते हैं—" गतवर्ष मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्त्तिकस्वामी इस भूमिमें वहुत विचरे हैं। इस ओरके नग्न, भव्य, ऊँचे और अडोल वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर, स्वामी कार्त्तिकेय आदिकी अडोल वैराग्यमय दिगम्बर वृत्ति याद आती है। नमस्कार हो उन कार्त्तिकेय आदिको।" कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके ऊपर कई टीकायें भी हैं। यह ग्रन्थ पं० जयचन्द्रजीकी वचनिकासहित बम्बईसे छपा है। पं० जयचन्द्रजीने दिगम्बर विद्वान् शुभचन्द्रजीकी संस्कृत टीकाके आधारसे यह वचनिका लिखी है। राजचन्द्रजीने कार्त्तिकेयानुप्रेक्षाके मनन-निदिध्यासन करनेका कई जगह उल्लेख किया है।

किसनदास (सिंह) (देखो क्रियाकोष).

कुण्डरीक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११८).

कुन्दकुन्द—

कुन्दकुन्द आचार्य दिगम्बर आम्नायमें वहुत मान्य विद्वान् हो गये हैं। कुन्दकुन्दका दूसरा नाम पद्मनन्दि भी था। इनके विषयमें तरह तरहकी दन्तकथायें प्रचलित हैं। इनके समयके विषयमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। साधारणतः कुन्दकुन्दका समय ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दि माना जाता है। कुन्दकुन्द आचार्यके नामसे वहुतसे ग्रंथ प्रचलित हैं, परन्तु उनमें पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, ×समयसार और अष्टपाहुड ये बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें आदिके तीन कुन्दकुन्दत्रयीके नामसे प्रसिद्ध हैं। तीनोंकी अमृतचन्द्राचार्यने संस्कृत टीका भी लिखी है। इन ग्रंथोंपर और भी विद्वानोंकी संस्कृत-हिन्दी टीकायें हैं। हिन्दी टीकाओंमें समयसारके ऊपर बनारसीदासजीका हिन्दी समयसारनाटक अत्यंत सुंदर है। इसे उन्होंने अमृतचन्द्रके समयसारकलशाके आधारसे हिन्दी कवितामें लिखा है। उक्त तीनों ही ग्रंथ अध्यात्मके उच्च कोटिके ग्रंथ माने जाते है। कुन्दकुन्दको ८४ पाहुड (प्राभृत) का भी कर्त्ता माना जाता है। इनमें दर्शन, चारित्र, सूत्र, वोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील नामक आठ पाहुड छप चुके हैं। राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें एक स्थानपर सिद्धप्राभृतका उल्लेख किया है और उसकी एक गाथा उद्धृत की है। यह सिद्धप्राभृत उक्त आठ-पाहुड़से भिन्न है। यह पाहुड़ कुन्दकुन्दके अप्रसिद्ध पाहुड़ोंमेंसे कोई पाहुड़ होना चाहिये। राजचन्द्रजीने कुन्दकुन्दके ग्रंथोंका खूब मर्मपान किया था। कुन्दकुन्द आदि आचार्योंके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करते हुए राजचन्द्रजी लिखते हैं—" हे कुन्दकुन्द आदि आचार्यो! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।" राजचन्द्रजीने पंचास्तिकायका भाषांतर भी किया है, जो अंक ७०० में दिया गया है।

× मालूम होता है कुन्दकुन्द आचार्यके समयसारके अतिरिक्त किसी अन्य विद्वान्‌ने भी समयसार नामक कोई ग्रंथ बनाया है, जिसका विषय कुन्दकुन्दके समयसारसे भिन्न है। इस ग्रंथका राजचन्द्रजीने वाचन किया था। देखो पत्र ८४९।—लेखक.

कुमारपाल (देखो हेमचन्द्र).

केशीस्वामी—

केशिगौतमीय नामका अधिकार उत्तराध्ययनके २३ वें अधिकारमें आता है। केशी भगवान् पार्श्वनाथकी परम्पराको माननेवाले थे, और गौतम गणधर महावीरकी परम्पराके उपासक थे। एक वार दोनोंका श्रावस्ती नगरीमें मिलाप हुआ। एक ही धर्मके अनुयायी दोनों संघोंके मुनियोंके शिष्य भिन्न भिन्न क्रियाओंका पालन करते थे। यह देखकर केशीमुनि और गौतम गणधरमें बहुतसे विषयों-पर परस्पर चर्चा हुई, और शंका समाधानके बाद केशीमुनि महावीर भगवान्की परंपरामें दीक्षित हो गये। केशीमुनिकी अपेक्षा यद्यपि गौतम छोटे थे, फिर भी केशीमुनिने परिणामोंकी सरलताके कारण उनसे दीक्षा ग्रहण करनेमें कोई संकोच न किया।

क्रियाकोष—

क्रियाकोषके कर्ता किसनसिंह× सांगानेरके रहनेवाले खण्डेलवाल थे। क्रियाकोष सं० १७८४ में रचा गया है। इसकी रचना छन्दोबद्ध है। किसनसिंहजीने भद्रबाहुचरित्र और रात्रिभोजनकथा नामकी अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं। क्रियाकोष चारित्रका ग्रन्थ है। इसमें बाह्याचारसंबंधी क्रियाओंका खूब विस्तारसे वर्णन है। यह ग्रन्थ सन् १८९२ में शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

गजसुकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ ४३).

गीता—

गीता वेदव्यासकी रचना है। इसमें कृष्णभगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगका उपदेश दिया है। इसके संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी आदि संसारकी प्रायः सभी भाषाओंमें अनेक अनुवाद विवेचन आदि हुए हैं। गीताके कर्तृत्वके विषयमें राजचन्द्रजीने जो विचार प्रकट किये हैं, वे महात्मा गांधीके प्रश्नोंके उत्तरोंमें पत्रांक ४४७ में छपे हैं। गीतामें पूर्वापरविरोध होनेका राजचन्द्रजीने अंक ८४१ में उल्लेख किया है।

गोकुलचरित्र—

यह कोई चरित्रग्रंथ मालूम होता है। इसका उल्लेख पत्रांक ४० में किया गया है।

गोम्मटसार—

गोम्मटसार कर्मग्रन्थका एक उच्च कोटिका दिगम्बरीय ग्रन्थ है। इसके जीवकांड और कर्मकांड दो विभाग हैं, जिनमें जीव और कर्मका जैनपद्धतिसे विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। नेमिचन्द्रने लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि अन्य भी सिद्धांतग्रंथोंकी रचना की है। नेमिचन्द्र अपने विषयके असाधारण विद्वान् थे, गणितशास्त्रके तो वे पण्डित थे। इनके विषयमें भी बहुतसी किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। नेमिचन्द्रने अपने शिष्य चामुण्डरायके उपदेशके लिये गोम्मटसार बनाया था। गोम्मटसारका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है। गोम्मटसारके

× राजचन्द्रजीने किसनसिंहके स्थानपर किसनदास नामका उल्लेख किया है, परन्तु क्रियाकोषके कर्त्ता किसनसिंह हैं। —लेखक.

ऊपर कई दिगम्बर विद्वानोंकी टीकायें हैं। नेमिचन्द्रका समय ईसाकी ११ वीं शताब्दि माना जाता है। राजचन्द्रजीने गोम्मटसारके पठन करनेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है।

गोशाल—

जैनशास्त्रोंके अनुसार मंखलिपुत्र गोशाल महावीर भगवान्‌के शिष्य थे। किसी बातको लेकर गोशाल और महावीरमें मतभेद हो गया। गोशालने महावीरके संघको छोड दिया और उन्होंने अपना निजी संघ स्थापित किया। गोशाल अपनेको 'जिन' कहा करते थे। एक वार महावीरके किसी शिष्यने महावीर भगवान्‌से कहा कि गोशाल अपनेको जिन कहते हैं। महावीरने कहा गोशाल जिन नहीं है। जब इस बातकी गोशालको खबर लगी तब वे बहुत क्रोधित हुए, और उन्होंने महावीरको अत्यन्त आक्रोशपूर्ण वचन कहे। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामके मुनियोंने गोशालकको बहुत समझाया, पर उन्होंने उन दोनोंको अपनी तेजोलेश्यासे जला डाला। गोशालने भगवान् महावीरके ऊपर भी अपनी तेजोलेश्याका प्रयोग किया था। गोशालका विस्तृत वर्णन भगवतीके १५ वें शतकके १५ वें उद्देशमें दिया है।

गौतम (ऋषि)—

गौतम ऋषि न्यायदर्शनके आद्यप्रणेता माने जाते हैं। न्यायसूत्र इन्हींके बनाये हुए हैं। न्यायसूत्रोंकी रचनाकालके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ईसवी सन्‌के पूर्वकी रचना मानते हैं, और कुछ लोग न्यायसूत्रोंको ईसवी सन्‌के बादका लिखा हुआ मानते हैं।

गौतम गणधर—गौतम इन्द्रभूति महावीरके ११ शिष्योंमेंसे मुख्य शिष्य थे। ये आदिमें ब्राह्मण थे। इनमें गौतम इन्द्रभूति और सुधर्माको छोड़कर बाकीके गणधरोंने महावीर भगवान्‌की मौजूदगीमें ही निर्वाण पाया था। जैनशास्त्रोंमें गौतम गणधरका नाम जगह जगह आता है। गौतम गणधरके शिष्योंको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी; परन्तु स्वयं गौतमको, भगवान् महावीरके ऊपर मोह रहनेके कारण केवलज्ञान नहीं हुआ—यह कथन मोक्षमालामें आता है।

चारित्रसागर—

यह कोई पदबद्ध ग्रन्थ माल्म होता है। इसका उल्लेख पत्रांक ४३४ में है।

चिदानन्द—

चिदानन्दजीका पूर्व नाम कर्पूरविजय था। ये संवेगी साधु थे। इनके विषयमें बहुतसी किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। चिदानन्दजी कोई बड़े विद्वान् भाषाशास्त्री न थे, किन्तु ये एक आत्मानुभवी अध्यात्मी पुरुष थे। चिदानन्दजीने मिश्र हिन्दी भाषामें अध्यात्मकृतियाँ बनाई हैं। चिदानन्दजीने स्वरोदयज्ञानकी भी रचना की है। इसकी भाषा हिन्दीमिश्रित गुजराती है। इस ग्रंथमें छंदकी कोई विशेष टीपटाप नहीं है। शरीरमें जो पाँच तरहकी पवन होती है, यह पवन किस तरह, कब निकलती है, और किसके कहाँसे निकलनेसे क्या फल होता है, इत्यादि स्वरसंबंधी बातोंका स्वरोदयज्ञानमें वर्णन है। श्रीमद् राजचन्द्रने स्वरोदयज्ञानका विवेचन लिखना आरंभ किया था। उसका जो भाग मिलता है वह प्रस्तुत ग्रंथमें अंक ९ के नीचे दिया गया है। सुनते हैं कि चिदानन्दजी

संवत् १९०५ तक मौजूद थे। उनकी रचना अनुभवपूर्ण और मार्मिक है। राजचन्द्रजी चिदानन्दजीके संबंधमें लिखते हैं—"उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें जान पड़ा कि वे अब क्रमपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे यम नियमोंका पालन न कर सकेंगे। तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता है कि जिस पदार्थकी प्राप्ति होनेके लिये यम-नियमका क्रमपूर्वक पालन किया जाता है, उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस श्रेणीसे प्रवृत्ति करना अथवा न करना दोनों समान हैं। जिसको निर्ग्रंथ प्रवचनमें अप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती मुनि माना है, उसमें की सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु केवल उनके वचनोंका मेरे अनुभव-ज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अप्रमत्त दशामें थे। फिर उस दशामें यम-नियमका पालन करना गौणतासे आ जाता है। इसलिये अधिक आत्मानंदके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की। इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योंका मिलना भी बड़ा कठिन है। इस अवस्थामें अप्रमत्तताविषयक बातकी असंभावना आसानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनियतपनेसे और गुप्तरूपसे बिताया। यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उलटी ही छाप पड़ती। ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने इस दशाको स्वीकार की।"

चेलातीपुत्र—

चेलातीपुत्रका जीव पूर्वभवमें यज्ञदेव नामका ब्राह्मण था। वह चारित्रकी जुगुप्साके कारण राजगृहमें धनावह सेठकी चिलाती नामकी दासीके यहाँ पैदा हुआ, और उसका नाम चिलातीपुत्र (चेलातीपुत्र) पड़ा। चेलातीपुत्रकी पूर्वभवकी स्त्रीने भी धनावह सेठके घर उसकी कन्यारूपसे जन्म लिया। चेलातीपुत्र सेठकी कन्याको बहुत प्यार करता था। एक दिन सेठने चेलातीपुत्रको अपनी लड़कीके साथ कायसे कुचेष्टा करते देख उसे वहाँसे निकाल दिया। वह दासीपुत्र चोरोंकी मंडलीमें जा मिला, और चोरोंका अधिपति बनकर रहने लगा। एक दिन वह अपने साथी चोरोंके साथ धनावह सेठके घर आया। चोर बहुतसा धन और सेठकी कन्याको लेकर चलते [illegible] सेठ और उसके कर्मचारियोंने चोरोंका पीछा किया। चेलातीपुत्र सेठकी कन्याका सिर काटकर उस सिरको लेकर भाग गया। उसने आगे जाकर एक मुनिको देखा और मुनिसे उपदेश माँगा। मुनिने विचार किया कि यद्यपि यह जीव पापिष्ट है फिर भी यह उपदेश तो ले सकता है। यह कहकर मुनिने कहा—"तुझे उपशम, विवेक और संवर करने चाहिये।" यह सुनकर चेलातीपुत्रको बोध पैदा हुआ, और वह वहीं कायोत्सर्गमें स्थित हो गया। चेलातीपुत्रने अढ़ाई दिन कठोर तप किया और वह मरकर देवलोकमें गया। यह कथा उपदेशमाला आदि जैन कथाग्रंथोंमें आती है।

छोटम—

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। ये गुजरातके एक भक्त कवि माने जाते हैं। इनका जन्म पेटलादके पास सोजित्रा ग्रामके नजदीक सं० १८६८ में हुआ था। छोटम बहुत सरल और शान्त प्रकृतिके थे। मान अथवा लोभकी आकांक्षा तो इन्हें थी ही नहीं। इन्होंने लोकप्रसिद्धिमें आनेकी कभी भी इच्छा

नहीं की। छोटम बहुत कम बोलते, और कम आहार करते थे। छोटम बाल-ब्रह्मचारी थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यात्ममें ही व्यतीत किया था। छोटमने व्रजलालजी नामके साधुको अपना गुरु बनाया था। छोटमने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। इनमें प्रश्नोत्तररत्नमाला, धर्मभक्तिआख्यान, बोधचिंतामणि, हंसउपनिषद्सार, वेदान्तविचार आदि मुख्य हैं। छोटम ७३ वर्षकी अवस्थामें समाधिस्थ हुए।

जड़भरत—

एक समय राजा भरत नदीके किनारे बैठे हुए ओंकारका जाप कर रहे थे। वहाँ एक गर्भिणी हरिणी पानी पीनेके लिये आई। इतनेमें वहाँ सिंहके गर्जनका शब्द सुनाई पड़ा, और हरिणीने डरके मारे नदीको फाँद जाने प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि उसका गर्भ नदीमें गिर पड़ा, और वह नदीके उस पार पहुँचते ही मर गई। राजर्षि भरत नदी किनारे बैठे बैठे यह घटना देख रहे थे। भरतजीका हृदय दयासे व्याकुल हो उठा। वे उठे और मृगशावकको नदीके प्रवाहमेंसे निकाल कर अपने आश्रमको ले गये। वे नित्यप्रति उस बच्चेकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे। कुछ समय बाद भरतजीको उस हरिणके प्रति अत्यन्त मोह हो गया। एक दिन वह मृग उनके पाससे कहीं भाग गया और अपने झुण्डमें जा मिला। इसपर भरतजीको अत्यंत शोक हुआ, और वे ईश्वराराधनासे भ्रष्ट हो गये। इस अत्यन्त मृगवासनाके कारण भरतजीको दूसरे जन्ममें मृगका शरीर धारण करना पड़ा। भरतजीको मृगजन्ममें अपने किये हुए कर्मपर बहुत पश्चात्ताप हुआ, और वे बहुत असंगभावसे रहने लगे। तत्पश्चात् राजर्षि भरत मृगके शरीरको त्यागकर ब्राह्मणके घर उत्पन्न हुए। भरतजीका यह अन्तिम शरीर था, और इस शरीरको छोड़नेके बाद वे मुक्त हो गये। भरतजी अपने पहिले भवोंको भूले न थे, इसलिये वे असंगभावसे हरिभक्तिपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। साधारण लोग भरतजी-को जड़, गूँगा या बधिर समझकर उनसे बेगार वगैरह कराते थे, और उसके बदले उन्हें रूखा सूखा अन्न दे देते थे। यह जड़भरतका वर्णन भागवतके आठवें-नवमें अध्यायमें आता है। "मुझे जड़भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ"—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. १२४.

जनक—

जनक इक्ष्वाकुवंशज राजा निमिके पुत्र थे। ये मिथिलाके राजा थे। राजा जनक अपने समय-के एक बड़े योगी थे, और वे संसारमें जलकमलकी तरह निर्लिप्त रहते थे। जनक 'राजर्षि' और 'विदेह' नामसे भी कहे जाते थे। जनक केवल योगी ही नहीं, परन्तु परमज्ञानी और भगवान्के भक्त भी थे। ऋषि याज्ञवल्क्य इनके पुरोहित तथा मंत्री थे। तथा शुकदेव आदि अनेक ऋषियोंने जनकजीसे ही उपदेश लिया था। गीतामें भी जनकके निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा की गई है। जनकजीकी पुत्री सीताका विवाह रामचन्द्रजीसे हुआ था। जनकका वर्णन भागवत, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंमें मिलता है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति श्वेताम्बर साहित्यके १२ उपांगोंमेंसे छठा उपांग माना जाता है। इसमें जम्बू-द्वीपका विस्तारसे वर्णन किया गया है। यह जैन भूगोलविषयक ग्रंथ है। इसमें राजा भरतकी कथा

विस्तारसे आती है। इसपर जैन आचार्योंने अनेक टीका टिप्पणियाँ लिखी हैं। इस ग्रंथमें इस कालमें मोक्ष न होनेका उल्लेख आता है।

जम्बूस्वामी—

जम्बूस्वामी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें अन्तिम केवली हो गये हैं। महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी इन तीन केवलियोंका होना दोनों ही सम्प्रदायोंको मान्य है। इसके बाद ही दोनों सम्प्रदायोंकी परम्परामें भेद दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों विद्वानोंने संस्कृत, गुजराती और हिन्दीमें जम्बूस्वामीके अनेक चरित रास आदि लिखे हैं। श्वेताम्बर विद्वानोंमें हेमचन्द्रसूरि और जयशेखरसूरि, और दिगम्बरोंमें उत्तरपुराणके कर्त्ता गुणभद्रसूरि और पंडित राजमल्ल आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। पं० राजमल्लका जम्बूस्वामी-चरित अभी हालमें इस लेखकद्वारा संपादित होकर माणिकचन्द जैनग्रन्थमाला बम्बईकी ओरसे प्रकाशित हुआ है।

ठाणांग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है।

ढेढ़सौ गाथाका स्तवन (देखो यशोविजय).

तत्त्वार्थसूत्र—

तत्त्वार्थसूत्रमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको सूत्रोंमें लिखा गया है। अपने ढंगकी जैनसाहित्यमें यह प्रथम ही रचना उपलब्ध होती है। इस ग्रंथके कर्त्ता उमास्वाति हैं, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंद्वारा पूज्य माने जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रका भी दोनों सम्प्रदायोंमें समान आदर है, और दोनों ही आम्नायोंके विद्वान् इस सारगर्भित ग्रंथकी टीका टिप्पणियाँ लिखनेमें प्रेरित हुए हैं। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर स्वयं भाष्यकी भी रचना की है, जिसे दिगम्बर विद्वान् नहीं मानते। श्वेताम्बरोंके अनुसार उमास्वाति प्रशमरति श्रावकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंके भी कर्त्ता कहे जाते हैं। उमास्वाति वाचकमुख्यके नामसे कहे जाते है। दिगम्बर साहित्यमें इनका नाम उमास्वामि भी आता है, और ये कुन्दकुन्द आचार्यके शिष्य अथवा वंशज माने जाते हैं। इनका समय ईसवी सन् प्रथम शताब्दि माना जाता है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणका राजचन्द्रजीने विवेचन किया है।

थियोसफी—

थियोसफीधर्मकी मूलप्रवर्त्तक मेडम ब्लैवेट्स्कीका जन्म सन् १८३१ में अमेरिकामें हुआ था। इनका विवाह १७ वर्षकी अवस्थामें अमेरिकाके एक गवर्नरके साथ हुआ। बादमें चलकर ब्लैवेट्स्कीने इस संबंधका विच्छेद कर लिया, और देशाटनके विचारसे वे हिन्दुस्तान आईं। इन्होंने तिब्बत रूस आदि देशोंमें भी भ्रमण किया। ब्लैवेट्स्कीने कर्नल आलकट साहबकी मददसे सन् १८७४ में थियोसफिकल सोसायटीकी स्थापना की। ये सन् १८७९ में फिर हिंदुस्तान आईं, और बड़े बड़े शहरोंमें जाकर अपने सिद्धांतोंका प्रचार करने लगीं। थियोसफीधर्म सब धर्मोंका समन्वय करता है, और प्रत्येक धर्मके महान् पुरुषोंको पूज्यदृष्टिसे देखता है। हिन्दु, मुसलमान, पारसी

आदि सभी लोग इस धर्मके अनुयायी हैं। ब्लैवेट्स्कीके बाद श्रीमती एनीबिसेन्टने इस सोसायटीकी उन्नतिके लिये बहुत उद्योग किया। थियोसफीका गीताका गुजराती विवेचन थियोसफिकल सोसायटी बम्बईसे सन् १८९९ में प्रकाशित हुआ है।

दशवैकालिक (आगमग्रंथ)—

दशवैकालिककी कुछ गाथाओंका राजचन्द्रजीने अनुवाद किया है, जो अंक ३४ में छपा है।

दयानन्द—

स्वामी दयानन्दका जन्म सं० १८८१ में मोरवी राज्यके अन्तर्गत टंकारा गाँवके एक धनी घरानेमें हुआ था। स्वामी दयानन्दके पिता एक कट्टर ब्राह्मण थे। दयानन्द स्वामी आरंभसे ही स्वतंत्र बुद्धिके थे, और मिथ्या व्रत आदिका विरोध किया करते थे। जब स्वामीजी बाईस वर्षके हुए तो उनके विवाहके बातचीत हुई। विवाहकी सब तैय्यारियाँ भी हो गईं, पर दयानन्द इस समाचारको सुनते ही कहीं भाग गये, और गेरवे रंगके वस्त्र पहिनकर रहने लगे। दयानन्दजीको सद्गुरुकी तालाशमें इधर उधर बहुत भटकनेके पश्चात् पंजाबमें स्वामी विरजानन्दजीके दर्शन हुए। दयानन्दने अपने गुरुके पास अढ़ाई बरस रहकर संस्कृत और वेदोंका खूब अभ्यास किया। विद्याध्ययनके पश्चात् स्वामी दयानन्दने वैदिकधर्मका दूर दूर घूमकर प्रचार किया। काशीमें आकर इन्होंने वैदिक पंडितोंसे भी शास्त्रार्थ किया। स्वामीजीकी प्रतिभा और असाधारण बुद्धिकौशल देखकर बहुतसे लोग उनके अनुयायी होने लगे। स्वामी दयानन्दने सं० १९३२ में बम्बईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। स्वामीजीने उदयपुर, इन्दौर, शाहपुरा आदि रियासतोंमें भी प्रचारके लिये भ्रमण किया। अन्तमें वे जोधपुरके महाराणाके यहाँ रहने लगे। वहाँ कुछ लोग उनके बहुत विरोधी हो गये, और उनके रसोइयेसे उन्हें विष दिलवाकर मरवा डाला। स्वामीजीने संवत् १९४० में दिवालीके दिन देहत्याग किया। इनके बाद स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपतराय आदिने आर्यसमाजका काम किया। स्वामी दयानन्दने हिन्दीमें सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें सब धर्मोंकी कड़ी समालोचना की गई है।

***दयाराम—**

कवि दयारामका जन्म सन् १७७७ में हुआ था। उन्हें देवनागरी लिपिके अतिरिक्त अन्य कोई लिपि न आती थी। इन्होंने गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, मराठी, संस्कृत और फारसी भाषामें कवितायें की हैं। उनके एक शिष्यके कथनानुसार दयारामने सब मिलाकर १३५ ग्रन्थोंकी रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुतसे पद लावनी वगैरह भी लिखे हैं। दयाराम कृष्णके बहुत भक्त थे, और इन्होंने कृष्णलीलाके बहुतसे रसिक पद वगैरह लिखे हैं। दयारामने गोकुल, मथुरा, काशी, वृंदावन, श्रीनाथजी आदि सब धामोंकी सात बरस घूमकर यात्रा की थी। इनके शिष्य दयारामको नरसिंह मेहताका अवतार मानते थे। इनका मरण सन् १८५२ में हुआ। राजचन्द्रजीने इनके पद उद्धृत किये हैं।

दासबोध (देखो रामदास).

देवचन्द्रजी—

देवचन्द्रजीका जन्म मारवाड़में संवत् १७४६ में हुआ था। देवचन्द्रजी श्वेताम्बर आम्नायमें

एक बहुत अच्छे अध्यात्मवेत्ता कवि हो गये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर साहित्यके विशाल अध्ययनके साथ साथ गोम्मटसार आदि दिगम्बर ग्रन्थोंका भी अच्छा अभ्यास किया था। देवचन्द्रजीने संस्कृत, प्राकृत, व्रज और गुजराती भाषामें अनेक कृतियां बनाई हैं। इन्होंने दस वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ले ली थी, और जीवनपर्यंत ब्रह्मचारी रहकर साहित्य सेवा की। देवचन्द्रजीकी रचनाओंमें द्रव्यप्रकाश, नयचक्र, ज्ञानमंजरीटीका, विचाररत्नसार, अध्यात्मगीता, चतुर्विंशतिजिनस्तवन आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने अध्यात्मगीता और चतुर्विंशतिजिनस्तवनके पद्य उद्धृत किये हैं।

देवचन्द्रसूरि (देखो हेमचन्द्र).

देवागमस्तोत्र (देखो समंतभद्र).

दृढ़प्रहारी (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११९–२०).

धनाभद्र-शालिभद्र—

धनाभद्र शालिभद्रकी कथा श्वेताम्बर साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कथा सूत्रग्रंथोंमें भी आती है। सं० १८३३ में जिनकीर्तिसूरिने संस्कृत धन्यचरित्रमें यह कथा विस्तारसे दी है। इस संस्कृतचरित्रके ऊपरसे पं० जिनविजय महाराजने सूरतमें रहकर धन्नाशालिभद्रका रास लिखा है। यह रास चार ढालमें है। चौथी ढालमें धनाभद्र और शालिभद्रके संयम ग्रहण करनेका उल्लेख है। धनाभद्र और शालिभद्र मोक्षगामी जीव थे। उक्त रासको भीमसिंह माणेकने सन् १९०७ में प्रकाशित किया है।

×धरमशी (धरमसिंह) मुनि—

धरमशी मुनिका जन्म जामनगरमें हुआ था। इनके गुरुका नाम शिवजी ऋषि था। ये लोंकागच्छका शिथिलाचार देखकर उससे अलग हो गये थे, और संवत् १६८५ में उन्होंने दरियापुरी-सम्प्रदायकी स्थापना की थी। ये अवधान भी करते थे। धरमशी मुनिने २७ सूत्रोंपर 'टब्बा' की रचना की है। इन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विशेष परिचय "जैनधर्मनो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास" पुस्तकमें है। यह पुस्तक स्थानकवासी जैन कार्यालय अहमदाबादसे प्रकाशित हुई है।

धर्मबिन्दु (देखो हरिभद्र).

धर्मसंग्रहणी (देखो हरिभद्र).

नंदिसूत्र (आगमग्रन्थ)—इसका राजचंद्रजीने एक स्थलपर कवितामें उल्लेख किया है।

नमिराजर्षि (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. १०३–६).

नरसिंह (सी) मेहता—

नरसिंह मेहता गुजरातके उच्च कोटिके भक्त कवि माने जाते हैं। इनका जन्म जूनागढ़में हुआ था। इनका जन्मकाल संवत् १५५० से १६५० के भीतर माना जाता है। इनकी हारलीला, सुरतसंग्राम, रासलीला आदि रचनायें गुजराती साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध हैं। नरसिंह मेहता कृष्णके अत्यंत भक्त थे। उनकी कविता सरल, कोमल और भक्तिभावसे परिपूर्ण है। लोकवार्त्ता है कि नरसिंह मेहताको प्रभु

× यह सूचना मुझे मेरे मित्र श्रीयुत दलसुखभाई मालवणीयाने दी है। —लेखक.

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे, तथा संकटके समय स्वयं कृष्ण भगवान्ने इनकी हुंडी चुकाई थी। कहा जाता है कि नरसिंह मेहताने सब मिलाकर सवा लाख पद बनाये हैं। नरसी मेहता और कबीरकी निस्पृह भक्तिका राजचन्द्रजीने बहुत गुणगान किया है।

नवतत्त्व—

नवतत्त्वप्रकरणका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रचार है। इसमें चौदह गाथाओंमें नव तत्त्वोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया है। नवतत्त्वके कर्त्ता देवगुप्ताचार्य हैं। इन्होंने संवत् १०७३ में नवतत्त्व-प्रकरणकी रचना की है। नवतत्त्वप्रकरणके ऊपर अभयदेवसूरिने भाष्य लिखा है। इसपर और भी अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं।

नारदजी (देखो नारदभक्तिसूत्र).

नारद (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३).

नारदभक्तिसूत्र—

नारदभक्तिसूत्र महर्षि नारदजीकी रचना है। इस ग्रंथमें ८४ सूत्र हैं। ग्रंथकारने इसमें भक्तिकी सर्वोत्कृष्टताका प्रतिपादन किया है, और उसके लिये कुमार, वेदव्यास, शुकदेव आदि भक्ति-आचार्योंकी साक्षी दी है। ग्रंथकारने बताया है कि भक्तोंमें जाति कुल आदिका कोई भेद नहीं होता, और भक्ति गूँगेकी स्वादकी तरह अनिर्वचनीय होती है। इसमें व्रजगोपियोंकी भक्तिकी प्रशंसा की गई है। भक्त लोग षड्दर्शनोंकी तरह भक्तिको सातवाँ दर्शन मानते हैं। उक्त पुस्तक हनुमानप्रसाद पोद्दारके विवेचनसहित गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है। नारदजीने नारदगीता नारदस्मृति आदि अन्य भी ग्रंथ लिखे हैं।

***निष्कुलानन्द—**

निष्कुलानन्दजी स्वामीनारायण सम्प्रदायके साधु थे। इनके गुजराती भाषामें बहुतसे काव्य हैं। ये काठियावाड़में रहते थे, और सं० १८७७ में मौजूद थे। निष्कुलानन्दजीके पूर्व आश्रमका नाम लालजी था। इनकी कविताका मुख्य अंग वैराग्य है। इन्होंने भक्तचिन्तामणि, उपदेशचिंतामणि, धीरजाख्यान, निष्कुलानन्द काव्य तथा अन्य अनेक पदोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने निष्कुलानन्दके धीरजाख्यानमें से पद उद्धृत किये हैं।

नीरांत—

नीरांत भक्त जातिसे पाटीदार थे। इनका मरण सन् १८४३ में बहुत वृद्धावस्थामें हुआ था। इनकी कविता वेदान्तज्ञान और कृष्णभक्तिके ऊपर है। ये तुलसी लेकर हर पूर्णिमाको डाकोर जाया करते थे। कहते हैं एक बार इन्हें रास्तेमें कोई मुसलमान मिला, और उसने कहा कि 'ईश्वर तो तेरे नजदीक है, तू हाथमें तुलसी लेकर उसे क्या ढूँढता फिरता है।' इसपर नीरांतको ज्ञान उत्पन्न हुआ, और उन्होंने मुसलमान गुरुको प्रणाम किया। उसके बाद उनका वेदांतकी ओर अधिक झुकाव हुआ, और उनका आत्मज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। राजचन्द्रजीने इनको योगी (परम योग्यतावाला) कहा है।

नैपोलियन—

नैपोलियनका जन्म १५ अगस्त सन् १७६९ में कार्सिका द्वीपमें हुआ था। इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें लेफ्टिनेंटका पद प्राप्त किया। नैपोलियनने रूस, आस्ट्रिया और इंगलैंडके साथ बहुत समयतक अपने देश फ्रांसकी रक्षाके लिये युद्ध किया, और विजयी होकर अपनी असाधारण प्रतिभा और वीरताकी समस्त विश्वके ऊपर छाप मारी। नैपोलियन असाधारण वीर था, उसमें साहस तो कूट कूट कर भरा हुआ था। वह कहा करता था कि कोषमेंसे 'असंभव' शब्दको ही निकाल डालना चाहिये, क्योंकि उद्यमके सामने कोई भी काम कठिन नहीं। परन्तु मनुष्यकी दशा सदा एकसी नहीं रहती। सन् १८१४ में इंगलैंड, रूस और आस्ट्रियाकी संगठित सेनाके सामने इसे हार माननी पड़ी, और इसे एल्वामें जाकर रहनेकी आज्ञा हुई। नैपोलियन कुछ महीने एल्वामें रहा। बादमें इसने वहाँसे निकलकर फिर फ्रांसपर अधिकार कर लिया। परिणाम यह हुआ सन् १८१५ में इसे फिर समस्त युरोपके सम्मिलित दलका सामना करना पड़ा। इस समय इसे इसके साथियोंने धोखा दिया। फलतः नैपोलियनकी वाटरलूके युद्धमें हार हुई और सम्राट् नैपोलियन सदाके लिये सो गया। नैपोलियनने भागकर अंग्रेजी झंडेकी शरण ली। यहाँ इसे बंदी कर लिया गया और इसे सैंट हेलनामें सदाके लिये निर्वासित जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा हुई। यहाँ नैपोलियनने पाँच वर्ष अतीव कष्टप्रद अवस्थामें विताये। यहाँ उसके साथ अत्यंत अन्याय और नीचतापूर्ण वर्ताव किया गया। अन्तमें नैपोलियन धीरे धीरे बहुत निर्बल हो गया, और उस वीर सैनिकने ५ मई सन् १८२१ में अपने प्राणोंका त्याग किया। "यदि तू सत्तामें मस्त हो तो नैपोलियन बोनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर"—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. २.

पतंजलि—

योगाचार्य पतंजलि कब हुए और कहाँके रहनेवाले थे, इत्यादि बातोंके संबंधमें कोई निश्चित पता नहीं लगता। पतंजलि आधुनिक योगसूत्रोंके व्यवस्थापक माने जाते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि पाणिनीयव्याकरणके महाभाष्य और चरकसंहिताके रचयिता भी ये ही पतंजलि हैं। इन विद्वानोंके मतमें पतंजलिका समय इसवी सन्के पूर्व १५० वर्ष माना जाता है। पातंजलयोगसूत्रोंपर अनेक भाष्य टीकायें आदि हैं। इनके संबंधमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—"पातंजलयोगके कर्त्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था; परन्तु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गानुसारी माना है।"

पद्मनन्दिपंचविंशतिका—

इस ग्रंथके कर्त्ता पद्मनन्दी आचार्य हैं। जैन सम्प्रदायमें पद्मनन्दि नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। प्रस्तुत पद्मनन्दी दिगम्बर जैन विद्वान् थे। इन्होंने अन्य ग्रंथोंकी भी रचना की है। पद्मनन्दि प्राकृतके बहुत पंडित थे। इन्होंने इस ग्रन्थमें वीरनन्दीको नमस्कार किया है। इनके समयका कुछ निश्चित पता नहीं लगता। पद्मनन्दिपंचविंशति जैन समाजमें बहुत आदरसे पढ़ा जाता है। इस ग्रंथमें पच्चीस प्रकरण हैं। वैराग्यका यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी एक हस्तलिखित संस्कृत टीका भी है। इस ग्रंथको पठन करनेका राजचन्द्रजीने कई जगह उल्लेख किया है।

परमात्मप्रकाश—

परमात्मप्रकाश अध्यात्मका अपभ्रंशका एक उच्च कोटिका ग्रंथ है। इसके कर्त्ता योगीन्द्रदेव (योगीन्दु) हैं। परमात्मप्रकाशपर ब्रह्मदेवने संस्कृत टीका लिखी है। योगीन्द्रदेवने अपने शिष्य भट्ट प्रभाकरको उपदेश करनेके लिये परमात्मप्रकाश लिखा था। ग्रंथमें सब मिलाकर २१४ दोहे हैं, जिनमें निश्चयनयका बहुत सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथका प्रो० ए० एन० उपाध्येने अभी हालमें सम्पादन किया है, जो रायचंद्रशास्त्रमालासे प्रकाशित हो रहा है। योगीन्द्रदेवकी दूसरी रचना योगसार है। यह भी इस लेखकद्वारा हिन्दी अनुवादसहित रायचन्द्रशास्त्रमालामें प्रकाशित हो रहा है। योगीन्द्रदेवका समय ईसवी सन् छठी शताब्दि माना जाता है। परमात्मप्रकाश दिगम्बर समाजमें बहुत आदरके साथ पढ़ा जाता है।

परदेशी राजा—

परदेशी राजाकी कथा रायपसेणीयसूत्रमें आती है। यह राजा बहुत अधर्मी था, और इसके हृदयमें दयाका लवलेश भी न था। एकवार परदेशी राजाके मंत्री सारथीचित्रने श्रावस्ती नगरीमें केशीस्वामीके दर्शन किये। केशीस्वामीका उपदेश सुनकर सारथीचित्रको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और उन्होंने केशीस्वामीको अपनी नगरीमें पधारनेका आमंत्रण दिया। केशीस्वामी उस नगरीमें आये। सारथीचित्र परदेशी राजाको अपने साथ लेकर केशीस्वामीके पास गये। परदेशी राजाको केशीश्रमणका उपदेश लगा, और परदेशीने अनेक व्रत आदि धारण कर अपना जन्म सफल किया। परदेशी राजाका गुजरातीमें रास भी है, जिसे भीमसिंह माणेकने सन् १९०१ में प्रकाशित किया है।

परीक्षित—

राजा परीक्षित अर्जुनके पौत्र और अभिमन्युके पुत्र थे। पांडव हिमालय जाते समय परीक्षितको राजभार सौंप गये थे। परीक्षितने भारतवर्षका एकछत्र राज्य किया। अंतमें साँपके डसनेसे इनकी मृत्यु हुई। शुकदेवजीने इन्हें भागवतकी कथा सात दिनमें सुनाई थी। इनकी कथा श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे आती है।

पर्वत (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३).

पाण्डव—पाँच पाण्डवोंके १३ वर्षकी बनवासकी कथा जैन और जैनेतर ग्रंथोंमें बहुत प्रसिद्ध है। पाण्डवोंका विस्तृत वर्णन महाभारत आदि ग्रंथोंमें विस्तारसे आता है।

पीराणा (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. ५५० फुटनोट).

पुद्गल परिव्राजक—

आलभिका नगरीमें पुद्गल नामका एक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मणशास्त्रोंमें बहुत कुशल था। वह निरंतर छट्ठ-छट्ठका तप करता, और ऊँचे हाथ रखकर आतापना लेता था। इससे पुद्गलको विभंगज्ञान उत्पन्न हुआ। इस विभंगज्ञानसे उसे ब्रह्मलोक स्वर्गमें रहनेवाले देवोंकी स्थितिका ज्ञान हो गया। उसने विचार किया—' मुझे अतिशययुक्त ज्ञानदर्शन उत्पन्न हुआ है। देवलोकमें देवोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है, और उत्कृष्ट दस सागरकी है। तत्पश्चात्

देव च्युत हो जाते हैं'। यह विचार कर पुद्गल त्रिदंड, कुंडिका और भगवे वस्त्रोंको धारणकर तापस आश्रममें गया और वहाँ अपने उपकरण रखकर इस बातको सबसे कहने लगा। इसपर लोग परस्पर कहने लगे कि यह कैसे संभव हो सकता है ? तत्पश्चात् भिक्षाको जाते समय, गौतमने भी लोगोंके मुँहसे इस बातको सुना। इस बातको गौतमने महावीर भगवान्से पूँछा। बादमें पुद्गल परिव्राजक विभंगज्ञानसे रहित हुआ, और उसने त्रिदंड कुंडिका आदिको छोड़कर, जैन प्रव्रज्या ग्रहण कर शाश्वत सुखको पाया। यह कथा भगवतीके ११ वें शतकके १२ वें उद्देशमें आती है।

पुण्डरीक (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११८).

पंचास्तिकाय (देखो कुन्दकुन्द).

पंचीकरण—

पंचीकरण वेदान्तका ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता श्रीरामगुरुका जन्म सं० १८४० में दक्षिण हैदराबादमें हुआ था। ये जातिके ब्राह्मण थे, और इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मचर्य ग्रहण किया था। ये महात्मा जगह जगह भ्रमण करके अद्वैतमार्गका उपदेश देते थे। इनके बहुतसे शिष्य भी थे। इन शिष्योंमें पं० जयकृष्णने पंचीकरणके ऊपर गुजराती भाषामें विस्तृत टीका लिखी है, जिसे वेदधर्मसभाने सन् १९०७ में प्रकाशित की है। श्रीरामगुरु संवत् १९०६ में बड़ोदेमें समाधिस्थ हुए। इसके अतिरिक्त अखा आदिने भी पंचीकरण नामके ग्रन्थ बनाये हैं। जैनेतर ग्रन्थ होनेपर भी वैराग्य और उपशमकी वृद्धिके लिये राजचन्द्रजीने कई जगह पंचीकरण आदि ग्रंथोंके मनन करनेका उपदेश किया है।

प्रबोधशतक—

प्रबोधशतक वेदान्तका ग्रन्थ है। चित्तकी स्थिरताके लिये राजचन्द्रजीने इसे किसी मुमुक्षुके पढ़नेके लिये भेजा था। वे लिखते हैं " किसीको यह सुनकर हमारे विषयमें ऐसी शंका न करनी चाहिये कि इस पुस्तकमें जो कुछ मत बताया गया है, वही हमारा भी मत है। केवल चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके विचार बहुत उपयोगी हैं। "

प्रवचनसार (देखो कुन्दकुन्द).

प्रवचनसारोद्धार—

यह ग्रन्थ श्वेताम्बर आचार्य नेमिचन्द्रसूरिका बनाया हुआ है। मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है। इस ग्रन्थके विषयके अवलोकनसे मालूम होता है कि नेमिचन्द्र जैनधर्मके एक बड़े अद्वितीय पंडित थे। इस ग्रन्थके ऊपर सिद्धसेनसूरिकी टीका जामनगरसे सन् १९१४ में प्रकाशित हुई है। प्रवचनसारोद्धार प्रकरणरत्नाकरमें भी प्रकाशित हुआ है। इसमें तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन है।

प्रवीणसागर—

प्रवीणसागरमें विविध विषयोंके ऊपर ८४ लहरें हैं। इनमें नवरस, मृगया, सामुद्रिकचर्चा, कामविहार, संगीतभेद, नायिकाभेद, नाड़ीभेद, उपालंभभेद, ऋतुवर्णन, चित्रभेद, काव्यचित्रबंध, अष्टांग-योग आदि विषयोंका सुन्दर वर्णन है। इस ग्रन्थको राजकोटके कुंवर महेरामणजीने स. १८३८ में

आरंभ किया, और अपने सात मित्रोंकी सहायतासे पूर्ण किया था। कहते हैं कि कुंवर महेरामणजीको अपने मामा लींबडीके ठाकुरकी पुत्री सुजनवाके साथ प्रेम हो गया था, और इस प्रेमको इन दोनोंने अंत समयतक निवाहा। प्रवीणसागरमें राजकुमारी सुजनवा (प्रवीण) ने महेरामणजी (सागर) को संवोधन करके, और महेरामणजीने राजकुमारीको संवोधन करके कवितायें लिखी हैं। राजचन्द्रजी लिखते हैं—" प्रवीणसागर समझपूर्वक पढ़ा जाय तो यह दक्षता देनेवाला ग्रंथ है, नहीं तो यह अप्रशस्त रागरंगोंको वढ़ानेवाला ग्रंथ है "।

प्रह्लादजी (देखो अनुभवप्रकाश).

प्रश्नव्याकरण (आगमग्रंथ)—इसका कई जगह राजचन्द्रजीने उल्लेख किया है।

प्रज्ञापना (आगमग्रंथ)—इसका भी प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख आता है।

प्रीतमदास—

ये भक्त कवि भाट जातिके थे, और ये सन् १७८२ में मौजूद थे। ये साधु-संतोंके समागममें वहुत काल विताते थे। इनकी कविता भी अन्य भक्तोंकी तरह वेदान्तज्ञान और प्रेमभक्तिसे पूर्ण है। प्रीतमदासको ' चरोतर ' का रत्न कहा जाता है। इनके वड़े ग्रंन्थ गीता और भागवतका ११ वाँ स्कंध हैं। इसके अतिरिक्त प्रीतमदासने अन्य भी वहुतसे पद गरवी इत्यादि लिखे हैं। ' प्रीतमदासनो कक्को ' गुजरातीमें वहुत प्रसिद्ध है। श्रीमद् राजचन्द्र अपने भक्तोंसे इसे पढ़नेके लिये कहा करते थे। उन्होंने प्रीतमको मार्गानुसारी कहा है। प्रीतमदासने गोविंदरामजी नामक साधुका वहुत समयतक सहवास किया, और उन्हें अपना गुरु वनाया था। कहते हैं कि प्रीतमदास अन्त समय अंधे हो गये थे। ये उस समय भी पद-रचना करते थे। गुजराती साहित्यमें इनकी कविताओंका वहुत आदर है।

वनारसीदास—

वनारसीदासजी आगराके रहनेवाले श्रीमाली वैश्य थे। इनका जन्म सं० १६४३ में जौनपुरमें हुआ था। वनारसीदासजीका मूल नाम विक्रमाजीत था। इनके पिताको पार्श्वनाथके ऊपर अत्यंत प्रीति थी, इसलिये उन्होंने इनका नाम वनारसीदास रक्खा था। वनारसीदासजीको यौवन कालमें इश्क-वाजीका वहुत शौक हो गया था। इन्होंने श्रृंगारके ऊपर एक ग्रथ भी लिखा था, जिसे वादमें इन्होंने गोमती नदीमें वहा दिया था। वनारसीदासजीकी अवस्थामें धीरे धीरे वहुत परिवर्त्तन होता गया। इन्हें कुंदकुंद आचार्यके अध्यात्मरसके ग्रंथ पढ़नेको मिले, और ये निश्चयनयकी ओर झुके। इन्होंने निश्चयनयको पुष्ट करनेवाली ज्ञानपचीसी, ध्यानवत्तीसी, अध्यात्मवत्तीसी आदि कृतियोंकी रचना की। वनारसीदासजी चंद्रभाण, उदयकरण, थानमलजी आदि अपने मित्रोंसहित अध्यात्मचर्चामें डूवे रहते थे। अन्तमें तो यहाँतक हुआ कि ये चारों नग्न होकर अपनेको मुनि मान कर रहा करते थे। इसी कारण श्रावक लोग वनारसीदासको ' वोसरामती ' कहने लगे थे। वनारसीदासजीकी यह एकांतदशा सं० १६९२ तक रही। वादमें इनको इस दशापर वहुत खेद हुआ, और इनका हृदय-पट खुल गया। इस समय ये आगरामें पं० रूपचन्द्रके समागममें आये, और

इन्होंने गोम्मटसार आदिका अवलोकन किया। उपाध्याय यशोविजयजीने अध्यात्ममतखंडनमें तथा उपाध्याय मेघविजयजीने युक्तिप्रबोधनाटकमें बनारसीदासजीके मतको अध्यात्ममत कहकर इनके मतका खंडन किया है। बनारसीदासने अर्धकथानकमें ६७३ दोहोंमें अपनी आत्मकथा लिखी है। इनका समयसारनाटक हिन्दी साहित्यका एक अद्वितीय काव्यग्रन्थ है। समयसारनाटकके अनेक पद्योंको राजचंद्रजीने जगह जगह उद्धृत किया हैं। राजचंद्रजी बनारसीदासजीको सम्यग्दृष्टि मानते थे। वे बनारसीदासजीके संबंधमें लिखते हैं—"उनकी समयसार ग्रंथकी रचनाके ऊपरसे मालूम होता है कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका संयोग बना होगा। मूल समयसारमें बीजज्ञानके विषयमें इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई नहीं मालूम होती, और बनारसीदासने तो बहुत जगह वस्तुरूपसे और उपमारूपसे यह बात कही है। जिसके ऊपरसे ऐसा मालूम होता है कि बनारसीदासको, साथमें अपनी आत्माके विषयमें जो कुछ अनुभव हुआ है, उन्होंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है, जिससे वह बात किसी विचक्षण जीवके अनुभवको आधारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो। ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षण आदिके भेदसे जीवका विशेष निश्चय किया था, और उस उस लक्षण आदिके सतत मनन होते रहनेसे, उनके अनुभवमें आत्मस्वरूप कुछ तीक्ष्ण-रूपसे आया है और उनको अव्यक्तरूपसे आत्मद्रव्यका भी लक्ष हुआ है, और उस 'अव्यक्तलक्ष'से उन्होंने उस बीजज्ञानको गाया है। 'अव्यक्तलक्ष'का अर्थ यहाँ यह है कि चित्तवृत्तिके विशेषरूपसे आत्म-विचारमें लगे रहनेसे, बनारसीदासको जिस अंशमें परिणामकी निर्मल धारा प्रकट हुई, उस निर्मल धाराके कारण अपना निजका यही द्रव्य है, ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वाभाविकरूपसे भी उनकी आत्मामें वह छाया भासमान हुई, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है, और आगे जाकर वह बात उन्हें सहज ही एकदम स्पष्ट हो गई हो, प्रायः उनकी ऐसी दशा उस ग्रंथके लिखते समय रही है।"

बाइबिल (देखो ईसामसीह).

बाहुबलि (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ १७).

ब्राह्मी (देखो मोक्षमाला पाठ १७).

बुद्ध—

गौतमबुद्ध कपिलवस्तुमें राजा शुद्धोदनके घर ईसवी सन्‌से ५५७ वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। इन्होंने संसारको असार जानकर त्याग दिया, और वनमें जाकर कठोर तपस्या करने लगे। कई वर्षतक इन्होंने घोर तप किया, और जब इन्हें 'बोधि' प्राप्त हो गया, तो ये घूम घूम कर अपने मन्तव्योंका प्रचार करने लगे। बुद्धदेव अपने उच्च त्यागके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्यम-मार्ग चलाया था। बुद्धका कथन था कि न तो हमें एकदम विलासप्रिय ही हो जाना चाहिये, और न कठोर तपश्चर्य्यासे अपने शरीरको ही सुखा डालना चाहिये। बौद्धधर्मके आजकल भी संसारमें सबसे अधिक अनुयायी हैं। बौद्धपंडित नागार्जुन, दिग्नाग, वसुबन्धु, धर्मकीर्त्ति आदिने बौद्धधर्मको खूब विकसित किया। बौद्धोंके आगमग्रन्थ जिन्हें त्रिपिटक नामसे कहा जाता है, पालि भाषामें है। जैनधर्म और बौद्धधर्मकी बहुतसी बातें मिलती जुलती हैं; कुछ बातोंमें अन्तर भी है। महावीर और

बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों होने अपने धर्मका विहार प्रान्तसे प्रचार आरंभ किया। बुद्ध भगवान्‌के देशी विदेशी भाषाओंमें अनेक जीवनचरित्र लिखे गये हैं।

बृहत्कल्प—

बृहत्कल्प छह छेदसूत्रोंमें एक सूत्र माना जाता है। इसके कर्त्ता भद्रबाहुस्वामी हैं। बृहत्कल्प-पर अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं। इन छह छेदसूत्रोंमें साधु साध्वियोंके आचार क्रिया आदिके सामान्य नियम-मार्गोंके प्रतिपादनके साथ साथ, द्रव्य क्षेत्र काल भाव उत्सर्ग अपवाद आदि मार्गोंका भी समया-नुसार वर्णन है। इसलिये ये छह छेदसूत्र अपवादमार्गके सूत्र माने जाते हैं। बृहत्कल्पमें छह उद्दे-शक हैं। इस सूत्रमें साधु साध्वियोंके आचारका वर्णन है। इसमें जो पदार्थ कर्मके हेतु और संयमके बाधक हैं, उनका निषेध करते हुए, संयमके साधक स्थान, वस्त्र, पात्र आदिका वर्णन किया है। इसमें प्रायश्चित्त आदिका भी वर्णन है।

ब्रह्मदत्त—

ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती था। एक समयकी बात है कि एक ब्राह्मणने आकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्तीसे कहा कि हे चक्रवर्त्ती! जो भोजन तू स्वयं खाता है उसे मुझे भी खिला। ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि मेरा भोजन बहुत गरिष्ठ और उन्मादकारी है। परन्तु ब्राह्मणने जब चक्रवर्त्तीको कृपण आदि शब्दोंसे धिक्कारा, तो ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको कुटुंबसहित अपना भोजन खिलाया। भोजन करनेके पश्चात् रात्रिमें ब्राह्मण और उसके कुटुंबको महा उन्माद हुआ, और वह ब्राह्मण अपने पुत्रसहित माता बहन आदि सबके साथ पशुकी तरह रमण करने लगा। जब सुबह हुई तो ब्राह्मण और उसके गृहजनोंको बहु लज्जा मालूम हुई। ब्राह्मणको ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्तीके ऊपर बहुत क्रोध आया और वह क्रोधसे घरसे निकल पड़ा। कुछ दूरपर ब्राह्मणने एक गड़रियेको पीपलके पत्तोंपर कंकरें फेंककर पत्तोंको फाड़ते हुए देखा। ब्राह्मणने गड़रियेसे कहा कि जो पुरुष सिरपर श्वेत छत्र और चमर धारण करके गजेन्द्रपर बैठकर यहाँसे निकले, तू उसकी दोनों आँखोंको कंकरोंसे फोड़ डाल। गड़रियेने दिवालकी ओटमें खड़े होकर हाथीपर बैठकर जाते हुए ब्रह्मदत्तकी दोनों आँखें फोड़ दीं। बादमें चक्रवर्त्तीको मालूम हुआ कि उसी ब्राह्मणने इस दुष्कृत्यको कराया है। ब्रह्मदत्तको ब्राह्मण जातिके ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने उस ब्राह्मणको उसके पुत्र, बंधु और मित्रोंसहित मरवा डाला। क्रोधान्ध ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्तीने अपने मंत्रीको सब ब्राह्मणोंको मारकर उनके नेत्रोंसे विशाल थाल भरकर अपने सामने लानेकी आज्ञा दी। मंत्रीने श्लेष्मातक फलोंसे थाल भरकर राजाके सामने रक्खी। ब्रह्मदत्त उस थालमें रक्खे हुए फलोंको नेत्र समझकर उन्हें बार बार हाथसे स्पर्श करता और बहुत हर्षित हुआ करता था। अन्तमें हिंसानुबन्धी परिणामोंसे मरकर वह सातवें नरकमें गया। यह कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि कथाग्रंथोंमें आती है।

भगवतीसूत्र (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

भगवतीआराधना—

यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। पं० नाथूरामजी प्रेमीका कहना है कि इसके ग्रन्थकर्त्ताका असली नाम आर्यशिव या शिवकोटि था। बहुतसे लोग इनको समंतभद्र आचार्यका शिष्य मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता। यह ग्रन्थ प्रधानतया

मुनिधर्मका ग्रन्थ है, और इसकी अनेक गाथायें श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं। इस ग्रन्थके ऊपर चार दिगम्बर विद्वानोंकी संस्कृत टीकायें भी हैं। अभीतक इसके ऊपर कोई श्वेताम्बर विद्वान्की टीका देखनेमें नहीं आई। पं० सदासुखजीने जो श्वेताम्बर टीकाका उल्लेख किया है, सो उन्होंने अपराजितसूरिकी दिगम्बर टीकाको ही श्वेताम्बर टीका समझकर उल्लेख किया है। माल्रम होता है कि सदासुखजीके इस कथनके ऊपरसे ही राजचन्द्रजीने भी भगवतीआराधनापर श्वेताम्बर विद्वान्की टीका पाये जानेका उल्लेख किया है। इस ग्रन्थके कर्त्ताके समयके विषयमें कुछ निश्चित नहीं है, फिर भी यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन समझा जाता है।

भरत (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ १७; तथा भावनाबोध पृ. १०८-१११).

भर्त्तृहरि—

ये उज्जैनके राजा विक्रमादित्यके सौतेले भाई थे। भर्त्तृहरिको अपनी रानीकी दुश्चरित्रता देखकर वैराग्य हो गया। भर्त्तृहरि महान् योगी माने जाते हैं। इन्होंने शृंगार, नीति और वैराग्य इन तीन शतकोंकी रचना की है। इनका फ्रेंच, लेटिन, अंग्रेजी और जर्मन भाषाओंमें भी अनुवाद हो चुका है। इन शतकोंमें वैराग्यशतक बहुत सुन्दर है। वैराग्यशतक गुजराती और हिन्दी पद्यानुवाद-सहित सन् १९०७ में अहमदाबादसे प्रकाशित हुआ है। भर्त्तृहरिके वैराग्यशतकके अतिरिक्त जैन विद्वान् पद्मानन्दकवि और धनराज (धनद) ने भी वैराग्यशतक नामक ग्रंथ लिखे हैं। पद्मानन्दकविका वैराग्यशतक काव्यमाला सप्तम गुच्छकमें प्रकाशित हुआ है। माल्रम होता है राजचन्द्रजीने भर्त्तृहरिके वैराग्यशतकका ही अवलोकन किया था।

भागवत—

भागवतका हिन्दु समाजमें अत्यन्त आदर है। आजकल भी जगह जगह भागवतकी कथाओंका वाचन होता है। श्रीमद्भागवतको पुराण, वेद और उपनिषदोंका सार कहा जाता है। इसमें बड़े बड़े गूढ़ विषयोंको बहुत सरलतासे रक्खा गया है। इसमें वैराग्यके वर्णनमें भी भगवद्भक्तिको ही मुख्य मानकर उसकी पुष्टि की है। इसमें स्थान स्थानपर परब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। भागवतके गुजराती हिन्दी आदि अनुवाद हो गये हैं। भागवतके कर्त्ता व्यासजी माने जाते है। इसमें बारह स्कंध हैं। भागवतमें कृष्ण और व्रजगोपियोंका विस्तृत वर्णन है। इसका राजचन्द्रजीने खूब वाचन किया था।

भावनाबोध (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. ९१-१२०).

भावार्थप्रकाश—

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है, किस भाषाका है इत्यादि बातोंका कुछ पता नहीं लग सका। इस ग्रन्थके विषयमें राजचन्द्रजीने लिखा है—" उसमें सम्प्रदायके विवादका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है; परन्तु तारतम्यसे वह वास्तविक ज्ञानवानकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है।"

भोजा—

भोजा भगतका जन्म काठियावाड़में जेतपुरके पास कुनबी जातिमें सन् १७८५ में हुआ था। भोजा भगतके चाबखा गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध हैं। भोजा भगत काठियावाड़ी थे, इसलिये उनकी भाषा गुजरातीसे कुछ भिन्न पड़ती है। उनकी काव्यसंबंधी कृतियाँ भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं। प्रायः उनकी

कवितामें बोधज्ञान अधिक पाया जाता है। भोजाने खल-ज्ञानी और बगुले-भक्तोंका खूब उपहास किया है। भोजा भगत अपनी भक्ति और योगशक्तिके लिये बहुत प्रसिद्ध थे। इनका अनुभव और परीक्षकशक्ति बहुत तीव्र थी। इन्होंने ६५ वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

मणिरत्नमाला—

मणिरत्नमाला तुलसीदासजीकी संस्कृतकी रचना है। इसमें मूल श्लोक कुल ३२ हैं। ये बत्तीस श्लोक प्रश्नोत्तररूपमें लिखे गये हैं। मणिरत्नमालाके ऊपर गुजरातके जगजीवन नामके ब्राह्मणकी संवत् १६७२ में रची हुई टीका भी मिलती है। इसमें अनात्मा और आत्माका बहुत सुंदर प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ वैराग्यप्रधान है। मणिरत्नमालाका एक श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ति तोषः।
जीवन्मृतो कस्तु निरुद्यमो यः
को वामृता स्यात्सुखदा निराशा ॥ ५ ॥

अर्थ—दरिद्री कौन है? जिसकी तृष्णा विशाल है। श्रीमान् कौन है? जो संतोषी है। जीते हुए भी मृत कौन है? जो निरुद्यमी है। अमृतके समान सुखदायक कौन है? निराशा।

मणिलाल नभुभाई—

ये नड़ियादके रहनेवाले थे। मणिलाल नभुभाई गुजरातके अच्छे साहित्यकार हो गये हैं। इन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये हैं, और गीतापर विवेचन लिखा है। इनके षड्-दर्शनसमुच्चयके अनुवादकी और गीताके विवेचनकी राजचन्द्रजीने समालोचना की है। सुदर्शन-गद्यावलिमें इनके लेखोंका संग्रह प्रकाशित हुआ है।

मदनरेखा—

सुदर्शनपुरके मणिरथ राजाके लघुभ्राता युगबाहुकी स्त्रीका नाम मदनरेखा था। मदनरेखा अत्यन्त सुंदरी थी। उसके अनुपम सौंदर्यको देखकर मणिरथ उसपर मोहित हो गया, और उसे प्रसन्न करनेके लिये वह नाना प्रकारके फलपुष्प आदि भेजने लगा। मदनरेखाको जब यह बात माल्रूम हुई तो उसने राजाको बहुत धिक्कारा, पर इसका मणिरथपर कोई असर न हुआ। अब वह राजा किसी तरह अपने छोटे भाई मदनरेखाके पति युगबाहुको मार डालनेकी घातमें रहने लगा। एक दिन मदनरेखा और युगबाहु दोनों उद्यानमें क्रीड़ा करने गये हुए थे। मणिरथ भी अकेला वहाँ पहुँचा। युगबाहुको जब अपने बड़े भाईके आनेके समाचार मिले तो वह उससे मिलने आया। युगबाहुने झुककर भाईके चरणोंका स्पर्श किया। इसी समय मणिरथने उसपर खड्गप्रहार किया। मदनरेखाने पतिको मरणासन्न देखकर उसे धर्मबोध दिया। पतिके मर जानेसे मदनरेखाको अपने ज्येष्ठकी ओरसे बहुत भय हुआ। मदनरेखा गर्भवती थी। वह उसी समय किसी जंगलमें निकलकर चली गई, और उसने आधी रातको पुत्र प्रसव किया। वहाँसे वह किसी विद्याधरके हाथ पड़ी। वह भी उसपर मोहित होकर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगा। मदनरेखाने विद्याधरसे उसे नंदीश्वर ले चलनेको कहा। वहाँ जाकर किसी मुनिने विद्याधरको स्वदारसंतोष व्रत ग्रहण कराया। इतनेमें मदनरेखाके पतिका जीव जो मरकर

स्वर्गमें उत्पन्न हुआ था, वहाँ आया। वह मदनरेखाको उसके पुत्रसे मिलानेके वास्ते ले गया। मदनरेखाके पुत्रका नाम नमि था। ये नमि ही आगे चलकर नमिराजर्षि हुए। बादमें मदनरेखाने भी दीक्षा ग्रहण की।

महीपतराम रूपराम—

ये गुजरातके प्रसिद्ध साहित्यकार हो गये हैं। महीपतराम रूपराम अपने समयके बहुत अच्छे सुधारक थे। इन्होंने गुजरातीमें बहुतसी पुस्तकें लिखी हैं। एकबार इनकी साथ राजचन्द्रजीका अहमदाबादमें मिलाप हुआ। उस समय 'क्या भारतवर्षकी अधोगति जैनधर्मसे हुई?' इस विषयपर जो दोनोंमें प्रश्नोत्तर हुए वे अंक ८०७ में दिये गये हैं।

***मनोहरदास—**

मनोहरदास जातिसे नागर ब्राह्मण थे। ये भावनगरके रहनेवाले थे। इन्होंने फारसीका अच्छा अभ्यास किया था, और प्रथम फारसीमें ही उपनिषदोंके अनुवादको पढ़कर उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त किया था। बादमें इन्होंने व्याकरण और न्यायकी भी अच्छी योग्यता प्राप्त की। संवत् १८९४ में मनोहरदासजीने चतुर्थ आश्रम स्वीकार किया, और अपना नाम बदलकर सच्चिदानन्द ब्रह्मतीर्थ रक्खा। इस समय इन्होंने वेदान्तरहस्य-गर्भित एकाध संस्कृत ग्रंथोंकी भी रचना की। मनोहरदासजीने मनहरपदकी गुजराती और हिन्दी पदोंमें रचना की है। इन पदोंमें कुछ पदोंके अन्तमें 'मनोहर' और कुछके अन्तमें 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' नाम मिलता है। इन पदोंमें मनोहरदासजीने वैराग्यपूर्वक ईश्वरभक्तिका निरूपण करते हुए पाखंड और ढोंगका मार्मिक वर्णन किया है। मनोहरदासजीने महाभारतके कुछ भाग और गीताके ऊपर भी गुजरातीमें टीका आदि लिखी है। इन्होंने पुरातन-कथा और पंचकल्याणी वगैरह ग्रंथोंकी भी रचना की है। ये ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हुए। मनोहरदासजी संवत् १९०१ में देहमुक्त हुए। राजचन्द्रजीने मनहरपदके कुछ पद उद्धृत किये हैं।

माणेकदास—

ये कोई वेदान्ती थे। इनका एक पद राजचन्द्रजीने उद्धृत किया है, जिसमें सत्संगकी महिमा गाई है।

मीराबाई—

मीराबाई जोधपुर मेड़ताके राठौर रतनसिंहजीकी इकलौती बेटी थी। इनका जन्म संवत् १५५५ के लगभग माना जाता है। संवत् १५७३ में इनका विवाह हुआ। ये दस बरसके भीतर ही विधवा हो गईं। मीराबाईके पदोंसे पता लगता है कि वे रैदासको अपना गुरु मानती थीं। मीराबाईके हृदयमें गिरिधर गोपालके प्रति बड़ी भक्ति थी; वे उनके प्रेममें मतवाली रहती थीं, और अपने कुलकी लोकलाज छोड़कर साधु संतोंकी सेवा करती थीं। जब मीराबाईका मन चित्तौड़ न लगा तब वे वृन्दावन चलीं गईं। वहाँसे फिर द्वारका चली गईं। मीराबाईके हृदयमें अगाध प्रेम और हार्दिक भक्ति थी। मीराबाई संस्कृत भी जानती थीं। उन्होंने गीतगोविन्दकी भाषापद्यमें टीका लिखी है। नरसीजीका मायरा और रागगोविन्द भी उनके रचे हुए कहे जाते हैं। मीराबाईकी कविता राजपूतानी बोली मिश्रित हिन्दी भाषामें है। गुजरातीमें भी मीराबाईने मधुर कविता लिखी है।

***मुक्तानन्द—**

ये काठियावाड़के रहनेवाले साधु थे। मुक्तानन्दजी सं० १८६४ में मौजूद थे। इन्होंने उद्धवगीता, धर्माख्यान, धर्मामृत तथा बहुतसे पद वगैरहकी रचना की है। राजचन्द्रजीने उद्धवगीताका एक पद उद्धृत किया है।

मृगापुत्र (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनाबोध पृ. ११२)

मोहमुद्गर—

मोहमुद्गर स्वामी शंकराचार्यका बनाया हुआ है। यह वैराग्यका अत्युत्तम ग्रन्थ है। इसमें मोहके स्वरूप और आत्मसाधनके बहुतसे उत्तम भेद बताये हैं। यह ग्रंथ वेदधर्मसभा बम्बईकी ओरसे गुजराती टीकासहित सन् १८९८ में प्रकाशित हुआ है। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथमेंसे श्लोकका एक चरण उद्धृत किया है। इसका प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है:—

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णां।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥

—हे मूढ़! धनप्राप्तिकी तृष्णाको छोड़। हे कम बुद्धिवाले! मनको तृष्णारहित कर। तथा जो धन अपने कर्मानुसार मिले, उससे चित्तको प्रसन्न रख।

मोक्षमार्गप्रकाश—

मोक्षमार्गप्रकाशके रचयिता टोडरमलजी हैं। पं० टोडरमलजी आधुनिक कालके दिगम्बर विद्वानोंमें बहुत अच्छे विद्वान् हो गये हैं। इनका जन्म संवत् १९७३ के लगभग जयपुरमें हुआ था। पं० टोडरमलजी जैनसिद्धांतके एक बहुत मार्मिक पंडित गिने जाते हैं। इन्होंने नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसारपर विस्तृत हिन्दी वचनिका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मानुशासन पुरुषार्थसिद्धिउपाय आदि ग्रंथोंपर भी विवेचन किया है। मोक्षमार्गप्रकाश टोडरमलजीका स्वतंत्र ग्रंथ है। यह अधूरा है। इसका शेषार्ध भाग ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने लिखकर पूर्ण किया है। इस ग्रंथमें टोडरमलजीने जैनधर्मकी प्राचीनता, अन्य मतोंका खंडन, मोक्षमार्गका स्वरूप आदि विषयोंका बहुत सरल भाषामें वर्णन किया है। पं० टोडरमलजी दिगम्बर जैन विद्वानोंमें ऋषितुल्य समझे जाते हैं। टोडरमलजी १५–१६ वर्षकी अवस्थासे ही ग्रंथ-रचना करने लगे थे। पं० टोडरमलजीने श्वेताम्बरोंद्वारा मान्य वर्त्तमान जिनागमका निषेध किया है। इस विषयमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ मोक्षमार्गप्रकाशमें श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्त्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्त्तमान आगममें अमुक स्थल अधिक संदेहास्पद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है; इसलिये उपशम-दृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें संशय करना उचित नहीं। ”

मोक्षमाला (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ. १०–९६).

यशोविजय—

यशोविजय श्वेताम्बर परम्परामें अपने समयके एक महान् प्रतिभाशाली प्रखर विद्वान हो गये हैं। इनकी रचनायें संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी चारों भाषाओंमें मिलती हैं। तार्किकशिरोमणि

यशोविजयजीका जन्म संवत् १६८० के लगभग हुआ था। यशोविजयजीने सतरह-अठारह वर्षतक विद्याभ्यास करके जीवनपर्यंत साहित्यसर्जनमें ही अपना समय व्यतीत किया। आपने न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, कथाचरित, धर्मनीति आदि सभी विषयोंपर अपनी प्रौढ़ लेखनी चलाई है। यशोविजयजीने वैदिक और बौद्धग्रन्थोंका गहन अभ्यास किया था। इन्होंने जैनदर्शनका अन्य दर्शनोंके साथ समन्वय करनेमें भी अत्यंत श्रम किया है। यशोविजयकी कृतियाँ आज भी बहुत-सी अनुपलब्ध हैं, फिर भी जो कुछ उपलब्ध हैं, वे यशोविजयजीका नाम सदाके लिये अमर रखनेके लिये पर्याप्त हैं। उन्होंने संस्कृतमें अध्यात्मसार, उपदेशरहस्य, शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीका, न्याय-खंडनखाद्य, जैनतर्कपरिभाषा आदि बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं। गुजरातीमें इन्होंने डेढ़सौ गाथाका स्तवन, योगदृष्टिनी सज्झाय, श्रीपालरास, समाधिशतक आदि ग्रंथ बनाये हैं। यशोविजयजीने हिन्दीमें भी कवितायें लिखी हैं। ये सं० १७४३ में स्वर्गस्थ हुए। राजचन्द्रजीने यशोविजयजीके अध्यात्मसार, डेढसौ गाथाका स्तवन और योगदृष्टिनी सज्झायका उल्लेख किया है; तथा उपदेशरहस्य, योगदृष्टिनी सज्झाय, श्रीपालरास, समाधिशतक वगैरहके अनेक पद्य आदि उद्धृत किये हैं। यशोविजयजीके उग्र प्रशंसक होनेपर भी राजचंद्रजीने एक स्थलपर उनकी छद्मस्थ अवस्थाका दिग्दर्शन कराया है।

योगकल्पद्रुम—

यह कोई वेदान्तका ग्रंथ मालूम होता है। इसके पठन करनेका राजचंद्रजीने किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। इसका अंक ३५७ में उल्लेख है।

योगदृष्टिसमुच्चय (देखो हरिभद्र).

योगदृष्टिनी सज्झाय (देखो यशोविजय).

योगप्रदीप (देखो हरिभद्र).

योगबिन्दु (देखो हरिभद्र).

योगवासिष्ठ—

भारतीय साहित्यमें योगवासिष्ठ, जिसे महारामायण भी कहा जाता है, का स्थान बहुत ऊँचा है। योगवासिष्ठके कर्त्ता वसिष्ठ ऋषि माने जाते हैं। योगवासिष्ठमें बत्तीस हज़ार श्लोक हैं, जिनमें नाना कथा उपकथाओंद्वारा आत्मविद्याका अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इस ग्रन्थके छह प्रकरण हैं, और हरेक प्रकरणमें कई कई अध्याय हैं। योगवासिष्ठके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अभी एक संशोधित संस्करण निर्णयसागरसे प्रकाशित हो रहा है। इसके हिन्दी गुजराती आदिमें भी अनुवाद हुए हैं। अंग्रेज़ीमें एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या माननीय प्रो० भिक्खनलाल आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्ने लिखी है। योगवासिष्ठकी रचनाके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। प्रो० आत्रेय इस ग्रन्थकी रचनाका समय ईसवी सन्की छठी शताब्दि मानते हैं। राजचंद्रजीने योगवासिष्ठका खूब मनन और निदिध्यासन किया था। वे लिखते हैं—“ उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह शीतल चंदन है। इसके पढ़ते हुए आधि-व्याधिका आगमन संभव नहीं। ” राजचंद्रजीने अनेक स्थलोंपर योगवासिष्ठको वैराग्य और उपशमका कारण बताकर उसे पुनः पुनः पढ़नेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। योगवासिष्ठके वैराग्य और मुमुक्षु नामके आदिके दो प्रकरण अलग भी प्रकाशित हुए हैं।

योगशास्त्र (देखो हेमचन्द्र).

रहनेमि-राजीमती—

रहनेमि अथवा अरिष्टनेमि समुद्रविजय राजाके पुत्र थे। उनका विवाह उग्रसेनकी पुत्री राजीमतीसे होना निश्चित हुआ था। रहनेमिने जब बाजे गाजेके साथ अपने श्वसुर-गृहको प्रस्थान किया, तो रास्तेमें जाते हुए उन्होंने बहुतसे बँधे हुए पशु पक्षियोंका आक्रन्दन सुना। सारथीसे पूछनेपर उन्हें मालूम हुआ कि वे पशु बारातके अतिथियोंके लिये वध करनेके लिये एकत्रित किये गये हैं। इसपर नेमिनाथको बहुत वैराग्य हो आया, और उन्होंने उसी समय दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया। उधर जब राजीमतीके पास नेमिनाथकी दीक्षाका समाचार पहुँचा तो वह अत्यंत व्याकुल हुई, और उसने भी नेमिनाथकी अनुगामिनी हो जानेका निश्चय किया। दोनों दीक्षा धारण कर गिरनार पर्वतपर तपश्चरण करने लगे। एक बारकी बात है, नेमिनाथने राजीमतीको नग्न अवस्थामें देखा, और उनका मन डाँवाडोल हो गया। इस समय राजीमतीने अत्यंत मार्मिक बोध देकर नेमिनाथको फिरसे संयममें दृढ़ किया। यह कथा उत्तराध्ययनके २२ वें रथनेमीय अध्ययनमें आती है। " कोई राजीमती जैसा समय प्राप्त होओ। "—' श्रीमद् राजचंद्र ' पृ. १२६

रामदास—

स्वामी समर्थ रामदासका जन्म औरंगाबाद जिलेमें सन् १६०८ में हुआ था। समर्थ रामदास पहिलेसे ही चंचल और तीव्रबुद्धि थे। जब ये बारह वर्षके हुए तब इनके विवाहकी बातचीत होने लगी। इस खबरको सुनकर रामदास भाग गये और बहुत दिनोंतक छिपे रहे। छोटी अवस्थामें ही रामदासजीने कठोर तपस्यायें कीं। बादमें ये देशाटनके लिये निकले और काशी, प्रयाग, बदरीनाथ, रामेश्वर आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा की। शिवाजी रामदासको अपना परम गुरु मानते थे, और इनके उपदेश और प्रेरणासे ही सब काम करते थे। सन् १६८० में जब शिवाजीकी मृत्यु हुई तो रामदासजीको बहुत दुःख हुआ। श्रीसमर्थ केवल बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा ही न थे, वरन् वे राजनीतिज्ञ, कवि और अच्छे अनुभवी भी थे। उनको विविध विषयोंका बहुत अच्छा ज्ञान था। उन्होंने बहुतसे ग्रंथ बनाये हैं। उनमें दासबोध मुख्य है। यह ग्रन्थ मुख्यतः अध्यात्मसंबंधी है, पर इसमें व्यावहारिक बातोंका भी बहुत सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें विश्वभावनाके ऊपर खूब भार दिया है। मूल ग्रन्थ मराठीमें है। इसके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हो गये हैं।

रामानुज—

रामानुज आचार्य श्रीसम्प्रदायके आचार्य माने जाते हैं। इनका जन्म ईसवी सन् १०१७ में कर्णाटकमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। रामानुजने १६ वर्षकी अवस्थामें ही चारों वेद कण्ठ कर लिये थे। इस समय रामानुजका विवाह कर दिया गया। रामानुजने व्याकरण, न्याय, वेदांत आदि विद्याओंमें निपुणता प्राप्त की थी। इनकी स्त्रीका स्वभाव झगड़ालू था, इसलिये इन्होंने उसे उसके पिताके घर पहुँचाकर स्वयं संन्यास धारण कर लिया। रामानुज स्वामीने बहुत दूर दूरतक देशोंकी यात्रा की थी। इन्होंने भारतके प्रधान तीर्थस्थानोंमें अपने मठ स्थापित किये, और भक्तिमार्गका प्रचार किया। रामानुज विशिष्टाद्वैतके संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने वेदान्तसूत्रोंपर श्रीभाष्य, वेदन्तप्रदीप, वेदान्त-

सार, गीताभाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। रामानुजने बहुतसे शास्त्रार्थ भी किये। इन्होंने १२० वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

वचनसप्तशती—

यह सप्तशती स्वयं राजचन्द्रजीने लिखी है। इसमें सातसौ वचनोंका संग्रह है। यह संग्रह हेमचन्द्र टोकरशी मेहताकी 'श्रीमद् राजचन्द्र' की पाँचवीं गुजराती आवृत्तिके प्रथम भागके ८३ पृष्ठपर दिया गया है। राजचन्द्रजीने वचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरण रखनेके लिये लिखा है।

वज्रस्वामी (प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनाबोध पृ. ११९).

वल्लभ—

वल्लभाचार्य पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैत) के प्रतिष्ठाता एक महान् आचार्य हो गये हैं। इनका जन्म संवत् १५३५ में हुआ था। इन्होंने अनेक दिग्गज विद्वानोंको शास्त्रार्थमें जीता और आचार्य पदवी प्राप्त की। वल्लभने रामेश्वर आदि समस्त तीर्थोंकी यात्रा की थी। इन्होंने सं० १५५६ में व्रजमें श्री-नाथजीकी मूर्तिकी स्थापना की। यह मूर्त्ति अब मेवाड़में है, और इसके लिये भोगमें लाखों रुपया वार्षिक व्यय होता है। भारतवर्षके प्रायः सभी तीर्थ और देवस्थानोंमें वल्लभाचार्यकी बैठकें हैं। वल्ल-भाचार्यने भागवतपर सुबोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्रपर अणुभाष्य, गीतापर टीका तथा अन्य ग्रन्थोंकी रचना की है। अन्त समय वल्लभाचार्य काशीमें आ गये थे, और वे संवत् १५८७ में भगवत्धामको पधारे। वल्लभसम्प्रदायके अनुयायी विशेषकर गुजरात, मारवाड़, मथुरा और वृन्दावनमें पाये जाते हैं।

वशिष्ठ (देखो योगवासिष्ठ).

वामदेव—

वामदेव एक वैदिक ऋषि हो गये हैं। ये ऋग्वेदके चौथे मण्डलके अधिकांश सूक्तोंके द्रष्टा थे। ये वैदिक परम्परामें एक बहुत अच्छे तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं। इनका वर्णन उपनिषदोंमें आता है।

वाल्मीकि—

वाल्मीकि ऋषि आदिकाव्य रामायणके कर्त्ता हैं। वाल्मीकिने २४ हजार श्लोकोंमें रामायणकी रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने उत्तरकाण्डमें जो कुछ लिख दिया था उसीके अनुसार राजचन्द्रजीने सब काम किये। वाल्मीकि राजा जनकसे भाईका नाता मानते थे, और राजा दशरथसे भी उनकी मित्रता थी। वाल्मीकिजीने समस्त रामायणको रामचन्द्रजीको साढ़े तीस दिनमें गाकर सुनाई थी। वाल्मीकि ऋषिके समझानेपर ही रामचन्द्रजीने लव और कुश नामके अपने पुत्रोंको अंगीकार किया था। वाल्मीकि ऋषिकी जन्मभूमि प्रयागके पास बताई जाती है। इनके आश्रमके निकट अनेक मुनि अपने बाल बच्चोंसहित पर्णशालायें बनाकर रहते थे। रामायण संस्कृतका बहुत सुन्दर काव्य माना जाता है।

विक्टोरिया—

रानी विक्टोरियाका जन्म सन् १८१९ में एडवर्ड ड्यूक ऑफ केन्टकी पत्नी मेरी लुइजाके गर्भसे हुआ था। विक्टोरियाको आरंभसे ही उच्च शिक्षा दी गई थी। सन् १८४० में विक्टोरियाने प्रिन्स एल्बर्टसे शादी की। विक्टोरियाने बहुत दिनोंतक राज्य किया। उन्हें धन, प्रभुता, सुहाग,

सन्तति, स्वास्थ्य आदि सब कुछ प्राप्त था। ईसवी सन् १८७७ में विक्टोरियाको कैसरेहिन्द (Empress of India) का खिताब मिला। इनकी ही प्रेरणासे लेडी डफरिनने भारतमें जनाने अस्पताल खोले थे। विक्टोरियाको इंगलैंडके राजकोशसे ३७१८०० पौन्ड वार्षिक वेतन मिलता था। विक्टोरियाका अशक्ति बढ़ जानेके कारण सन् १९०१ में देहान्त हुआ।

विचारसागर—

विचारसागर वेदान्तशास्त्रका प्रवेशग्रंथ माना जाता है। इसके कर्त्ता निश्चलदासका जन्म पंजाबमें सं० १८४९ में जाट जातिमें हुआ था। निश्चलदासजीने बहुत समयतक काशीमें रहकर विद्याभ्यास किया। निश्चलदासजी अपने ग्रंथमें दादुजीको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। इन्होंने और सुंदरदासजीने दादुपंथकी बहुत वृद्धि की। निश्चलदासजीकी असाधारण विद्वत्तासे मुग्ध होकर बूंदीके राजा रामसिंहने उन्हें अपने पास बुलाकर रक्खा और उनका बहुत आदर सत्कार किया था। विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर निश्चलदासजीके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कहा जाता है कि इन्होंने संस्कृतमें ईशावास्य उपनिषद्पर भी टीका लिखी है, और वैद्यकशास्त्रका भी कोई ग्रंथ बनाया है। इनका संस्कृतके २७ लाख श्लोकोंका किया हुआ संग्रह इनके 'गुरुद्वार' में अब भी विद्यमान बताया जाता है। विचारसागरकी रचना संवत् १९०५ में हुई थी। इसमें वेदान्तकी मुख्य मुख्य प्रक्रियाओंका बहुत सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। यह मूलग्रन्थ हिन्दीमें है। इसके गुजराती, बंगाली, अंग्रेजी आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हुए हैं। निश्चलदासजी ७० वर्षकी अवस्थामें दिल्लीमें समाधिस्थ हुए। विचारसागरके मनन करनेके लिये राजचन्द्रजीने मुमुक्षुओंको अनेक स्थलोंपर अनुरोध किया है।

विचारमाला (देखो अनाथदास).

विदुर—

विदुर एक बहुत बड़े भारी नीतिज्ञ माने जाते हैं। विदुर बड़े ज्ञानी, विद्वान् और चतुर थे। महाराज पांडु तथा धृतराष्ट्रने क्रमशः इन्हें अपना मंत्री बनाया। ये महाभारतके युद्धमें पांडवोंकी ओरसे लड़े। अंतमें इन्होंने धृतराष्ट्रको नीति सुनाई, और उन्हींके साथ वनको चले गये, और वहाँ अग्निमें जल मरे। इनका विस्तृत वर्णन महाभारतमें आता है। "सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके।"—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. ५.

विद्यारण्यस्वामी—

विद्यारण्यस्वामीके समयके विषयमें कुछ निश्चित पता नहीं चलता। विद्वानोंका अनुमान है कि वे सन् १३०० से १३९१ के बीचमें विद्यमान थे। विद्यारण्यस्वामीने छोटी अवस्थामें ही संन्यास ले लिया था। इन्होंने वेदोंके भाष्य, शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके भाष्य, उपनिषदोंकी टीका, ब्रह्मगीता, सर्वदर्शनसंग्रह, शंकरदिग्विजय, पंचदशी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। विद्यारण्यस्वामी सर्व शास्त्रोंके महान् पण्डित थे। इन्होंने अद्वैतमतका नाना प्रकारकी युक्ति प्रयुक्तियोंसे सुन्दर प्रतिपादन किया है।

***विहार वृन्दावन—**

इसका राजचन्द्रजीने एक पद उद्धृत किया है। इसके विषयमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका।

वीरचन्द गांधी—

वीरचंद गांधीका जन्म काठियावाड़में सन् १८६४ में हुआ था। इन्होंने आत्मारामजी सूरिके पास जैनतत्त्वज्ञानका अध्ययन किया और चिकागोमें सन् १८९३ में भरनेवाली विश्वधर्म परिषद्में जैनधर्मके प्रतिनिधि होकर भाग लिया था। वीरचंद गांधीको उक्त परिषद्में जो सफलता मिली, उसकी अमेरिकन पत्रोंने भी प्रशंसा की थी। वीरचंद गांधीको वहाँ स्वर्णपदक भी मिले थे। अमेरिकासे लौटकर वीरचंद गांधीने इंग्लैंडमें भी जैनधर्मपर व्याख्यान दिये। बादमें भी वीरचंद गांधी दो बार अमेरिका गये। इन्होंने अंग्रेज़ी भाषामें जैन फिलासफी आदि पुस्तकें भी लिखी हैं। वीरचन्द सन् १९०१ में स्वर्गस्थ हुए। वीरचंद गांधीको विलायत भेजनेका कुछ लोगोंने विरोध किया था। उसके संबंधमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—"धर्मके बहाने अनार्य देशमें जाने अथवा सूत्र आदि भेजनेका निषेध करनेवाले—नगारा बजाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान बड़ाईका सवाल आता है, वहाँ इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसंबंधी मान आदिका सवाल ही मुख्य सवाल है। वीरचंद गांधीको विलायत भेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।"

वैराग्यशतक (देखो भर्तृहरि).

व्यास-वेदव्यास—

व्यास महर्षिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वेदविद्यामें पारंगत थे, इसलिये इन्हें वेदव्यास भी कहा जाता है। इनका दूसरा नाम बादरायण भी है। ये ही कृष्णद्वैपायनके नामसे भी कहे जाते हैं। व्यासजीने चारों वेदोंका संग्रह करके उन्हें श्रेणीबद्ध किया था। व्यासजी बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी, इतिहासकार, सूत्रकार, भाष्यकार और स्मृतिकार माने जाते हैं। इनके जैमिनी वैशम्पायन आदि २५००० शिष्य थे। महाभारत, भागवत, गीता, और वेदान्तसूत्र इन्हीं व्यास ऋषिके रचें हुएं माने जाते हैं। व्यास ऋषिका नाम हिन्दुग्रन्थोंमें बहुत अधिक सन्मानके साथ लिया जाता है।

शंकराचार्य—

शंकराचार्य अद्वैतमतके स्थापक महान् आचार्य थे। इनका जन्म केरल प्रदेशमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। शंकराचार्यने आठ वर्षकी अवस्थामें संन्यास धारण किया, और वेद आदि विद्याओंका अध्ययन किया। शंकराचार्यने बड़े बड़े शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्तकर सनातन वेदधर्मको चारों ओर फैलाया। शंकराचार्यने अपने मतके प्रचारके लिये भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार बड़े बड़े मठ स्थापित किये थे। शंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र, दस उपनिषदोंपर भाष्य, गीताभाष्य आदि ग्रंथ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त शंकराचार्यकी विवेकचूडामणि मोहमुद्गर आदि अनेक कृतियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रो० के० बी० पाठकके मतानुसार शंकराचार्य ईसवी सन् ८ वीं सदीमें हुए हैं। शंकराचार्य ३२ वर्षकी अवस्थामें समाविस्थ हुए। शंकराचार्यजीको राजचन्द्रजीने महात्मा कहकर संबोधन किया है।

शांतसुधारस—

शांतसुधारसके कर्त्ता विनयविजयजी, हीरविजय सूरिके शिष्य कीर्तिविजयके शिष्य थे। विनयविजयजी श्वेताम्बर आम्नायमें एक प्रतिभाशाली विद्वान् गिने जाते हैं। विनयविजयजीने भक्ति और

वैराग्यका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। विनयविजयजीने शांतसुधारसको संवत् १७२३ में लिखा है। इसके अतिरिक्त आपने लोकप्रकाश, नयकर्णिका, कल्पसूत्रकी टीका, स्वोपज्ञ टीकासहित हेमलघुप्रक्रिया आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। विनयविजयजीने श्रीपालराजाका रास भी गुजरातीमें लिखा है। यह रास गुजराती भाषाका एक सुंदर काव्यग्रंथ माना जाता है। विनयविजय इस रासको अपूर्ण ही छोड़ गये, और बादमें यशोविजयजीने इसे पूर्ण किया। राजचन्द्रजीने श्रीपालरासमेंसे कुछ पद उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने शांतसुधारसके मनन करनेका कई जगह मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। इसका श्रीयुत् मनसुखराम कीरतचंदद्वारा किया हुआ गुजराती विवेचन अभी डॉ० भगवानदास मनसुखरामने प्रकाशित किया है।

शांतिनाथ—

शांतिनाथ भगवान् जैनोंके १६ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। ये पूर्वभवमें मेघरथ राजाके जीव थे। एकबार मेघरथ पौषध लेकर बैठे हुए थे। इतनेमें उनकी गोदीमें एक कबूतर आकर गिरा। उन्होंने उस निरपराध पक्षीको आश्वासन दिया। इतनेमें वहाँ एक बाज आया, और उसने मेघरथसे अपना कबूतर वापिस माँगा। राजाने बाजको बहुत उपदेश दिया, पर वह न माना। अन्तमें मेघरथ राजा कबूतर जितना अपने शरीरका माँस देनेको तैय्यार हो गये। काँटा मँगाया गया। मेघरथ अपना माँस काट काट कर तराजूमें रखने लगे, परन्तु कबूतर वजनमें बढ़ता गया। यह देखकर वहाँ उपस्थित सामंत लोगोंमें हाहाकार मच गया। इतनेमें एक देव प्रगट हुआ और उसने कहा, महाराज! मैं इन दोनों पक्षियोंमें अधिष्ठित होकर आपकी परीक्षाके लिये आया था। मेरा अपराध क्षमा करें। ये ही मेघरथ राजा आगे जाकर शांतिनाथ हुए। यह कथा त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितके ५ वें पर्वके ४ थे सर्गमें आती है।

शांतिप्रकाश—

सुना जाता है कि राजचन्द्रजीके समय स्थानकवासियोंकी ओरसे शांतिप्रकाश नामका कोई पत्र निकलता था।

शालिभद्र (देखो धनाभद्र).

शिखरसूरि—

राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें पृ. ७७२ पर जैनयति शिखरसूरि आचार्यका उल्लेख किया है, जिन्होंने लगभग दो हजार वर्ष पहिले वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिला दिया था। परन्तु आजसे दो हजार वर्ष पहिले शिखरसूरि नामके किसी आचार्यके होनेका उल्लेख पढ़नेमें नहीं आया। हाँ, रत्नप्रभाचार्य नामके तो एक आचार्य हो गये हैं।

शिक्षापत्र—

यह ग्रन्थ वैष्णवसम्प्रदायमें अत्यंत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें ४१ पत्र हैं, जो हरिरायजीने अपने लघुभ्राता गोपेश्वरजीको संस्कृतमें लिखे थे। हरिरायजी वैष्णवसम्प्रदायमें बहुत अच्छे महात्मा हो गये हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन उपदेश और भगवत्सेवामें लगाया था। ये महात्मा सदा पैदल चलकर ही मुसाफिरी करते थे, और कभी किसी गांव या शहरके भीतर मुकाम नहीं करते

थे। वे सदा भगवद्भक्ति और भगवद्विचारमें ही लीन रहते थे। गोपेश्वरजीने इस ग्रन्थकी टीका की है। यह ग्रन्थ पुष्टिमार्ग ग्रंथावलीमें सन् १९०७ में बड़ोदासे प्रकाशित हुआ है।

शीलांकसूरि—

शीलांकसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक अच्छे प्रौढ़ विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने सं० ९२५ में दश हजार श्लोकप्रमाण प्राकृतमें महापुरुषचरिय नामका ग्रंथ बनाया है। शीलांकसूरिने आचारांग और सूत्रकृतांग सूत्रोंके ऊपर संस्कृतवृत्तिकी रचना की है। इसके अतिरिक्त, कहा जाता है कि शीलांकसूरिने बाकीके नौ सूत्रोंपर भी टीकायें लिखी थीं। ये विच्छिन्न हो गईं, और बादमें अभयदेवसूरिने इन सूत्रोंकी नवीन टीकायें लिखीं। शीलांक आचार्यने और भी अनेक रचनायें की हैं। श्वेताम्बर विद्वानोंने शीलांक आचार्यका गुर्जरराजके गुरु और चारों विद्याओंका सर्जनकार उत्कृष्ट कवि कहकर उल्लेख किया है।

शुकदेव—

शुकदेवजी वेदव्यासजीके पुत्र थे। ये बाल्यावस्थामें ही संन्यासी हो गये थे। इन्होंने वेद-वेदांग, इतिहास, योग आदिका खूब अभ्यास किया था। इन्होंने राजा जनकके पास जाकर मोक्षप्राप्तिकी साधना सीखी, और बादमें जाकर हिमालय पर्वतपर कठोर तपस्या की। शुकदेवजी बहुत बड़े ज्ञानयोगी माने जाते हैं। इन्होंने राजा परीक्षितको शापकालमें भागवतकी कथा सुनाकर उपदेश दिया था। शुकदेवजी जीवन्मुक्त और चिरजीवी महापुरुष माने जाते हैं।

श्रीपालरास (देखो विनयविजय और यशोविजय).

श्रेणिक—

श्रेणिक राजा जैन साहित्यमें बहुत सुप्रसिद्ध हैं। इन्होंने जैनधर्मकी प्रभावनाके लिये बहुत कुछ किया है। इनके अनेक चरित आदि दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने लिखे हैं। एक श्रेणिकचरित नामका महाकाव्य श्वेताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने लिखा है। इसका गुजराती अनुवाद जैनधर्म-विद्याप्रसारक वर्ग पालिताणासे सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है।

षड्दर्शनसमुच्चय (देखो हरिभद्रसूरि).

सन्मतितर्क (देखो सिद्धसेन).

सनत्कुमार (देखो मोक्षमाला पाठ ७०-७१).

समयसार (देखो कुन्दकुन्द और बनारसीदास).

समवायांग (आगमग्रंथ)—इसका राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख किया है।

समन्तभद्र—

स्वामी समंतभद्रका नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत महत्त्वका है। जैसे सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, वैसे ही समंतभद्र दिगम्बर सम्प्रदायमें आदिस्तुतिकार गिने जाते हैं। समंतभद्रने आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), रत्नकरण्डश्रावकाचार, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। सिद्धसेन और समंतभद्रकी कृतियोंमें कुछ श्लोक समानरूपसे भी पाये जाते हैं। प्रायः समंतभद्र सिद्धसेनके समकालीन माने जाते हैं। समंतभद्रसूरि अपने समयके एक प्रकाण्ड तार्किक थे। इन्होंने

जैनेतर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मकी ध्वजापताका फहराई थी। ये परीक्षाप्रधानी थे। श्वेताम्बर साहित्यमें भी स्वामी समंतभद्रका नाम बहुत महत्त्वके साथ लिया जाता है। राजचन्द्रजीने आप्तमीमांसाके प्रथम श्लोकका विवेचन लिखा है, और उसके भाषांतर करनेका किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। समंतभद्रकी गंधहस्तिमहाभाष्य टीकाके विषयमें देखो पृ. ८०० का फुटनोट।

सहजानंद स्वामी—

स्वामीनारायण सम्प्रदायके स्थापक सहजानंद स्वामी अपने समयके महान् पुरुषोंमें गिने जाते हैं। इनका जन्म सन् १७८१ में हुआ था, इन्होंने सन् १८३० देहत्याग किया। इनके गुरुका नाम स्वामी रामानन्दजी था। इन्होंने तीस वर्षतक गुजरात, काठियावाड़ और कच्छमें घूम घूमकर हिंदु-अहिंदु समस्त जातियोंको अपना उपदेश सुनाया। इन्होंने चित्तशुद्धिके ऊपर सबसे अधिक भार दिया, और लोगोंको शराब माँस आदिका त्याग, ब्रह्मचर्यका पालन, यज्ञमें हिंसाका निषेध, व्रत संयमका पालन इत्यादि बातोंका उपदेश देकर सुमार्गपर चढ़ाया। सहजानन्द स्वामीकी शिक्षापत्री, धर्मामृत और निष्कामशुद्धि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें शिक्षापत्री अधिक प्रसिद्ध है। शिक्षापत्रीमें २१२ श्लोक हैं; जिनमें गृहस्थ, सधवा, विधवा, ब्रह्मचारी, साधु आदिके कर्त्तव्यधर्म आदिका विवेचन किया है। सहजानन्द स्वामीके वचनामृतका संग्रह गुजराती भाषाका एक रत्न माना जाता है। 'सहजानन्द स्वामी अथवा स्वामिनारायण संप्रदाय'के ऊपर किशोरीलाल मशरूवाळाने गुजरातीमें पुस्तक लिखी है।

सिद्धप्राभृत (देखो कुन्दकुन्द).

सिद्धसेन—

सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर आम्नायमें प्रमाणशास्त्रके प्रतिष्ठाता एक महान् आचार्य हो गये हैं। सिद्धसेन संस्कृत प्राकृतके उच्च कोटिके स्वतंत्र प्रकृतिके आचार्य थे। इन्होंने उपयोगवाद, नयवाद आदि सिद्धांतोंको जैनधर्मकी प्रचलित मान्यताओंसे भिन्नरूपसे ही स्थापित किया था। सिद्धसेन दिगम्बर परम्परामें भी बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। सिद्धसेनने सन्मतितर्क, न्यायावतार, महावीर भगवान्की स्तुतिरूप द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथोंकी रचना कर जैनसाहित्यकी महान् सेवा की है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकामें इन्होंने वेद, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकायें रचकर सब दर्शनोंका समन्वय किया है। सिद्धसेन दिवाकरके संबंधमें बहुतसी किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसवी सन्की चौथी शताब्दि माना जाता है। सन्मतितर्क न्यायका बहुत उत्तम ग्रंथ है। इसपर अभयदेवसूरिका टीका है। इस ग्रंथका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन पं० सुखलाल और बेचरदासजीने किया है। यह गुजरात विद्यापीठसे निकला है। राजचन्द्रजीने सन्मतितर्कका अवलोकन किया था।

सुदर्शन सेठ (देखो मोक्षमाला पाठ ३३).

सुदृष्टितरंगिणी—

इस ग्रंथके रचियता पं० टेकचन्दजी दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने सं० १८३८ में भद्र-शालपुरमें ग्रंथको लिखकर समाप्त किया था। सुदृष्टितरंगिणीमें ४२ पर्व हैं, जिनमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको सरल हिन्दी भाषामें बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। इस ग्रंथको वीर सं० २४५४ में पन्नालाल चौधरीने बनारसमें प्रकाशित किया है।

संगम—

संगम देवताने जो महावीरस्वामीको परिषह दिये, उनका वर्णन हेमचन्द्रके त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित (१० वाँ पर्व) आदि ग्रन्थोंमें आता है।

सुंदरदास—

सुंदरदास जातिके वनिये थे। इनका जन्म सं० १६५३ में जयपुर राज्यमें हुआ था। एक समय दादूदयाल इनके गाँवमें पधारे। ये उनके शिष्य हो गये और उनकी साथ रहने लगे। सुंदरदासजी उन्नीस वरस काशीमें रहकर संस्कृत, वेदान्तदर्शन, पुराण आदिका अध्ययन करते रहे। सुंदरदासजीका स्वभाव बहुत मधुर और आकर्षक था। बालकोंसे ये बहुत प्रेम करते थे। ये बाल-ब्रह्मचारी थे। स्वच्छताको ये बहुत पसंद करते थे। सुंदरदासजीकी कविताका हिंदी साहित्यमें बहुत सन्मान है। इनकी कवितासे प्रकट होता है कि ये अच्छे ज्ञानी और काव्य-कलाके मर्मज्ञ थे। इन्होंने वेदान्तपर अच्छी कविता की है। इन्होंने सुंदरविलास, सुंदर अष्टक, ज्ञानविलास आदि सब मिलाकर ४० ग्रंथोंकी रचना की है। सुंदरदासजीने सं० १७४६ में सांगानेरमें शरीर-त्याग किया। राचजन्द्रजीने सुंदरदासजीके पद्य उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजी उनके विषयमें लिखते हैं— "श्रीकवीर सुंदरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं; और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना संभव है"।

सुंदरी (मोक्षमाला पाठ १७).

सुभूम (मोक्षमाला पाठ २५).

सूयगडांग (आगमग्रंथ)—इसका राजचन्द्रजीने कई जगह उल्लेख किया है।

हरिभद्र—

हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उच्च कोटिके एक मार्मिक विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने संस्कृत और प्राकृतमें अनेक उत्तमोत्तम दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथोंकी रचना की है। इन्होंने षड्दर्शन-समुच्चयमें छहों दर्शनोंकी निष्पक्ष समालोचना की है। हरिभद्रसूरिका साहित्य बहुत विपुल है। इन्होंने प्रायः हरेक विषयपर कुछ न कुछ लिखा ही है। अनेकांतवादप्रवेश, अनेकांतजयपताका, अष्टकप्रकरण, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मबिन्दु, धर्मसंग्रहणी, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगप्रदीप, लोकतत्त्वनिर्णय क्षेत्रसमासटीका, समराइच्चकहा आदि इनके मुख्य ग्रंथ हैं। हरिभद्रसूरि बहुत सरल और सौम्यवृत्तिके विद्वान् थे। वे जैनेतर ऋषियोंका भी बहुत सन्मानके साथ स्मरण करते हैं। हरिभद्र नामके जैन परम्परामें अनेक विद्वान् हो गये हैं। प्रस्तुत याकिनीसूनु हरिभद्रका समय ईसाकी नौंवी शताब्दि माना जाता है। राजचन्द्रजीने अष्टक, धर्मबिन्दु, धर्मसंग्रहणी, योगप्रदीप, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुचय, और षड्दर्शनसमुच्चयका प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख किया है। योगदृष्टिसमुच्चयका अनुसरण करके यशोविजयजीने योगदृष्टिनी सज्झाय गुजरातीमें लिखी है। राजचन्द्रजीने योगदृष्टि-समुच्चयका और षड्दर्शनसमुच्चयका फिरसे भाषांतर करनेका किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है।

हेमचन्द्र—

हेमचन्द्र श्वेताम्बर परम्परामें महान् प्रतिभाशाली आचार्य हो गये हैं। इनका जन्म धन्धुका ग्राममें मोढ़ वणिक् जातिमें सन् १०७८ में हुआ था। उनके गुरुका नाम देवचन्द्रसूरि था।

हेमचन्द्र चारों विद्याओंके समुद्र थे, और वे कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे। कहा जाता है कि हेमचन्द्र आचार्यने सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है। हेमचन्द्रने व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विविध विषयोंपर अपनी लेखनी चलाकर जैन साहित्यके गौरवको बढाया है। हेमचन्द्रने गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें सिद्धराज जयसिंहकी सभामें बहुत सन्मान प्राप्त किया था, और सिद्धराजके आग्रहसे गुजरातके लिये सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरणकी रचना की थी। सिद्धराजके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे। राजचन्द्रजी लिखते हैं—" श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक जुदा ही पंथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रावक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सवा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी संख्या हुई। श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें कुल एक लाख आदमी होंगे। जब एक लाखके समूहसे सहजानंदजीने अपना सम्प्रदाय चलाया तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक जुदा ही सम्प्रदाय चला सकते थे। परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्त्तक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेरूप लोकानुग्रह किया; वैसा करनेकी ज़रूरत भी थी। वीतरागमार्गके प्रति विमुखता और अन्यमार्गकी तरफसे विषमता ईर्ष्या आदि आरंभ हो चुके थे। ऐसी विषमतामें लोगोंको वीतराग मार्गकी ओर फिराने, लोकोपकार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें ज़रूरत माल्म हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको अर्पण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं—वैसे भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ही कर सकते हैं। जुदा जुदा दर्शनोंको यथावत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप हैं, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।" राजचन्द्रजीने हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मंगलाचरणका विवेचन भी किया है।

क्षेत्रसमास—

क्षेत्रसमासके कर्त्ता श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जैनसिद्धांतके प्रखर विद्वान् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। इनका जन्म सं० ६४५ में हुआ था। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य विशषणवती आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। जिनभद्रगणिके क्षेत्रसमासके ऊपर मलयगिरीकी टीका है। प्रकरणरत्नाकरमें रत्नशेखरसूरिकृत लघुक्षेत्रसमास भाषांतर सहित छपा है।

ज्ञानेश्वरी—

ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म सं० १३३२ में हुआ था। इनके पिताने संन्यासी होकर बादमें गृहस्थाश्रम धारण किया था। ज्ञानेश्वर महाराजने भावार्थदीपिका नामक मराठीमें गीताकी व्याख्या लिखी है, जो दक्षिणमें बहुत उच्च श्रेणीकी मानी जाती है। यह व्याख्यान अद्वैतज्ञानसे पूर्ण है। ज्ञानेश्वरी महाराजने इस ग्रन्थको १५ वें वर्षमें लिखा है। ज्ञानेश्वरने अमृतानुभव नामका एक वेदान्तका ग्रंथ भी लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य अनेक पद अभंग आदि रचे हैं। ज्ञानेश्वरने २१ वर्षकी अवस्थामें जीवित समाधि ली। ज्ञानेश्वरी गीताके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हुए हैं।

परिशिष्ट (२)

'श्रीमद् राजचन्द्र'में आये हुए उद्धरणोंकी वर्णानुक्रमसूची

पृष्ठ लाइन

×अखे (खै) पुरुश (ख) एक वरख हे (है) । [एक सवैया] ४५०–२८

*अजाहोतव्यं (अजैर्यष्टव्यं) [शतपथब्राह्मण ?] २७–३३

अधुवे असासयंमि संसार (रं) मि दुख्ख (क्ख) पउराए ।
किं नाम दुय्यंतकम्मयं (हुज्ज कम्मं) जेणाहं दुग्गइं (ईं) नगछेज्या (न गच्छिज्जा) ॥
[उत्तराध्ययन ८–१] ९९–४

अनुक्रमे संयम स्पर्शतोजी पाम्यो क्षायकभाव रे ।
संयमश्रेणी फूलडेजी पूजूं पद निष्पाव रे ॥
[संयमश्रेणीस्तवन १-२ पंडित उत्तमविजयजी; प्रकरणरत्नाकर भाग २ पृ. ६९९] २७५–४,११

अन्य पुरुषकी दृष्टिमें जग व्यवहार लखाय ।
वृंदावन जब जग नहीं कौन (को) व्यवहार बताय ? [विहार वृन्दावन] ४८८–१९

अलख नाम धुनी लगी गगनमें मगन भया मन मेराजी ।
आसन मारी सुरत दृढधारी दिया अगम-घर डेराजी ॥ दरश्या अलख देदाराजी ।
[छोटम-अध्यात्मभजनमाला पद १३३ पृ. ४९; कहानजी धर्मसिंह बम्बई, १८९७] २२६–१९

अवि अप्पणोवि देहंमि नायरंति ममाइयं । [ ] ४०२–१८

अहर्निश अधिको प्रेम लगावे जोगानल घटमाहिं (मांहि) जगावे ।
अल्पाहार आसन दृढ़ धरे नयनथकी निद्रा परहरे ॥
[स्वरोदयज्ञान ९८, पृ. २६ चिदानन्दजी; भीमसिंह माणेक बम्बई १९२४] १२९–९

अहो जिणेहिऽसावज्जा वित्ति (ती) साहु (हू) ण देसियं (या) ।
मोख (क्ख) साहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥
[दशवैकालिकसूत्र ५–१–९२ प्रो. अभ्यंकरद्वारा सम्पादित १९३२] ७३४–३१

अहो नि (णि) च्चं तवो कम्मं सव्वजिणेहिं वन्नि (ण्णि) यं ।
जाव (य) लज्जासमा वित्ति (त्ती) एगभत्तं च भोयणं ॥ [दशवैकालिकसूत्र ६–२३] ७३५–४

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया । पृष्ठ लाइन

× अक्षय पुरुष एक वृक्ष है ।

* मूलमें राजचन्द्रजीने 'अजाहोतव्यं' पाठ दिया है । यही पाठ रखना चाहिये । व्याकरणकी दृष्टिसे यह शुद्ध है ।
—सम्पादक.

× यह सूचना मुझे पं. सुखलालजीसे मिली है ।

+ पं. सुखलालजीका कहना है कि यह पद ‘ सज्झायमाला ’में मिलना चाहिये ।—सम्पादक

पृष्ठ लाइन

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कंत।
रिझयो (रीझ्यो) साहिब संग न परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ॥ ऋषभ० ।
[आनन्दघनचौबीसी ऋषभदेवजिनस्तवन १, पृ. १] ६३५-४

एक अज्ञानीनां कोटि अभिप्रायो छे, अने कोटि ज्ञानीनो एक अभिप्राय छे।
=एक अज्ञानीके करोड़ अभिप्राय हैं, और करोड़ ज्ञानियोंका एक अभिप्राय है।
[अनाथदास] ५२६-२०

एक देखिये जानिये [रमि रहिये इकठौर।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धि नहि और ॥]
समयसारनाटक जीवद्वार २०, पृ. ५०—पं. बनारसीदास; जैनग्रन्थरत्नाकर
कार्यालय, बम्बई] २४१-१०

एक परिनामके न करता दरब (व) दोय (दोइ) दोय (इ) परिनाम एक दर्व (र्वे) न धरतु है।
एक करतूति दोई (इ) दर्व (र्वे) कबहों (हूँ) न करै दोई (इ) करतूति एक दर्व (र्वे) न करतु है।
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोई (उ) अपने अपने रुप (रूप) दोउ कोउ न टरतु है।
जड़ परिनामनिको (कौं) करता है पुदगल चिदानंद चेतन सुभाव आचरतु है ॥
[समयसारनाटक कर्त्ताकर्मक्रियाद्वार १० पृ. ९४.] २७७-२
६७७-१८

एगे समणे भगवं महावीरे इमीसेणं (इमीए)ऊसप्पि (ओसप्पी)णीए चउवीसं (चउव्वीसाए)
तित्थयराणं चरिमतित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे (जाव) सव्वदुख्ख (क्ख) प (प्प) हीणे।
[ठाणांगसूत्र ५३. पृ. १५, आगमोदयसमिति] ७३१-२२

एनुं स्वप्ने जो दर्शन पामे रे तेनुं मन न चढे बीजे भामे रे
थाय कृष्णनो लेश प्रसंग रे तेने न गमे संसारनो संग रे ॥ १ ॥
हसतां रमतां प्रगट हरी देखुं रे मारूं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे।
मुक्तानंदनो नाथ विहारी रे ओधा जीवनदोरी अमारी रे ॥ २ ॥
[उद्धवगीता ८८-२-३; ८७-७—मुक्तानंदस्वामी; अहमदाबाद १८९४] २१६-१२

[मिगचारियं चरिस्सामि] एवं पुत्ता (पुत्तो) जहासुखं।
[अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ जहाइ उवहिं तओ] ॥ [उत्तराध्ययन १९-८५]११६-३१

[तूठो तूठो रे मुझ साहिब जगतनो तूठो।]
ए श्रीपाळनो रास करंता ज्ञान अमृतरस वुठ्यो (वूठो) रे ॥ मुज० ॥
[श्रीपालरास खंड ४, पृ. १८५—विनयविजय-यशोविजय] ४५३-३

पृष्ठ लाइन

कम्मदव्वेहिं सम्मं (मं) संजोगो जो होई जीवस्स । ५०४– २
सो बंधो ना (णा) यव्वो तस्स वियोगो भव (वे) मोख्खो (क्खो) ॥ ६२३–१७
[ ] ७९६– ७

करना फकीरि (री) क्या दिलगीरी सदा मगन मन रहे (ह) नाजी ।
[यह पद छोटमकृत कीरतनमालामें पृष्ठ ६२ पर दिया हुआ है] २२७–२

कर्त्ता मटे तो छूटे कर्म ए छे महा भजननो मर्म ।
जो तुं जीव तो कर्त्ता हरी जो तुं शिव तो वस्तु खरी ।
तुं छो जीवने तुं छो नाथ एम कही अखे झटक्या हाथ । [अखा] २६७–२६

किं वहुणा इह जह जह रागादोशा वहु त्रिलयंति (रागद्दोसा लहुं त्रिलिज्जंति) ।
तह तह वटीअवं (पयट्टिअव्वं) एसा आणा जीणं (जिणिं) दाणम् ॥
[उपदेशरहस्य-यशोविजयजी] ३२८–२८

कीचसो (सौ) कनक जाके (कै) नीच सो (सौ) नरेश (स) पद
मीचसी मित्ता (ता) ई गर (रु) वाई जाके (कै) गारसी ।
जहरसी जोग-जानि (ति) कहरसी कराम (मा) ति
हहरसी हौंस (हौस) पुदगल-छवी (वि) छारसी ।
जालसो (सौ) जग-विलास भालसो (सौ) भुवनवास
कालसो (सौ) कुटुंवकाज लोकलाज लारसी ।
सीठसो (सौ) सुजसु जाने वी (वी) ठसो (सौ) वखत मानै
ऐसी जाकी रीति ताही वं (वं) दत वनारसी ॥
[समयसारनाटक वंधद्वार १९, पृ. २३४–५] ६७८–१४

कोई ब्रह्मरसना भोगी कोई ब्रह्मरसना भोगी ।
जाणे कोई विरला जोगी कोई ब्रह्मरसना भोगी ॥
[संभव है यह पद स्वयं राजचन्द्रजीने वनाया हो ।] २३३–३०

गुरु गणधर गुणधर अधिक प्रचुर परंपर और ।
व्रत तपधर तनु नगनध (त) र वंदौ वृष सिरमो (मौ) र ॥
[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा—पं. जयचन्द्रकृत अनुवादका मंगलाचरण ३; ७५५–५
जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय वम्बई १९०४] ७९१–२०

गुरुणो छंदाणुं वत्त (छंदाणुवत्ति) [ ] ५९१–११

+ इसीसे मिलता जुलता अखाका एक पद निम्न प्रकारसे हैः—' ब्रह्मरस ते पीअे रे, जे आप त्यागी होय । '
—सम्पादक

पृष्ठ लाइन

घट घट अंतर जिन वसे (से) घट घट अंतर जैन ।
मत (ति)-मदिराके पानसें (सौं) मतवारा समजै (समुझै) न ॥
[समयसारनाटक ग्रंथसमाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति ३१, पृ. ५३८.] ७७५-१३

चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा भवपरिणति परिपाक रे ।
दोष टळे न दृ (दृ) ष्टि खुले (ले) भली प्रापति प्रवचनवाक रे ॥ १ ॥
परिचय पात (ति) कघातक साधुशुं अकुशल अपचय चेत रे ।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करी परिशीलन नय हेत रे ॥ २ ॥
मुगध (ग्ध) सुगम करी सेवन लेखवे सेवन अगम अनूप रे ।
देजो कदाचित सेवक याचना आनंदघनरसरूप रे ॥ ३ ॥ ७४०-२
[आनंदघनचौवीसी संभवनाथ जिनस्तवन ३, ४, ६, पृ. १६, १७, १९] ७४२-९

चलई सो बंधे (धो) [भगवती ?] ७८३-६

चाहे चकोर ते चंदने मधुकर मालती भोगी रे ।
तेम (तिम) भवि सहजगुणे होवे उत्तम निमित्तसंजोगी रे ॥
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-१३, पृ. ३३१] ७४२-७

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारो (रो) सेज न्यारी
चादर (रि) भी न्यारी इहाँ जू (झू) टी मेरी थपना ।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वही (निद्रावाहि) कोउ पैन (पै न)
विद्यमान पलक न यामें (मैं) अब छपना ।
श्वा (स्वा) स औ सुपन दोउ (ऊ) निद्राकी अलंग बुझे (बूझे)
सूझे सब अंग लखी (खि) आतम दरपना ।
त्यागी भयो (यौ) चेतन अचेतनता भाव त्यागी (गि)
भाले (लै) दृष्टि खोलिके (कै) संभाले (लै) रूप अपना ॥
[समयसारनाटक निर्जराद्वार १५, पृ. १७६-७] ६७७-५

भाष्य चूर्णि (चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति), वृत्ति परंपर अनुभव रे ।
[आनंदघनचौवीसी नमिनाथजिनस्तवन ८, पृ. १६१] ७४६-१२

ज(जं)णं ज(जं)णं दिसं ई(इ)च्छइ त(तं)णं त(तं)णं दिसं अपडिबद्धे। [आचारांग ?] १९८-२

जबहि तें(जबहीतैं) चेनत(चेतन) विभावसों(सौं) उलटि आपु
समो(मै) पाई(इ) अपनो(नौ) सुभाव गहि लीनो(नौ) है ।
तबहितें (तबहीतैं) जो जो लेन जोग सो सो सब लीनो (नौ)
जो जो त्यागजोग सो सो सब छांडी(डि) दीनो(नौ) है ।
लेवे (लैवे) की (कौं) न रही ठो (ठौ) र त्यागिवेको (कौं) नाहीं और
वाकी कहा उबर्यो (र्यौ) जु कारज (जु) नवीनो (नवीनौ) है ।

पृष्ठ लाइन

संग त्यागी (गि) अंग त्यागी (गि) वचन तरंग त्यागी (गि)
मन त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) आपा शु (सु)द्ध कीनो (नौ) है ॥
[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९, पृ. ३७७-८] २८२-५

जारिस सिद्धसहावो तारिस सहावो सव्वजीवाणं ।
तम्हा सिद्धंतरुई कायव्वा भव्वजीवेहिं ॥ [सिद्धप्राभृत—कुन्दकुन्द] ६३६-१४

जिन थई (इ) जिनने जे आरावे ते सही (हि) जिनवर होवे रे ।
भृं (भृं) गी ईलीकाने चटकावे ते भृं (भृं)गी जग जोवे रे ॥
[आनंदघनचौवीसी-नमिनाथजिनस्तवन ७, पृ. १६०] {३०४-११ ३०७-१८}

जिनपूजा रे ते निजपूजना [रे प्रगटे अन्वयशक्ति ।
परमानंद विलासी अनुभवे रे देवचन्द्र पद व्यक्ति]॥ [वासुपूज्यस्तवन ७—देवचन्द्रजी] ६३६-१८

जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया ।
[जे एगं जाणई से सव्वं जाणई] [आचारांग १-३-४-१२२] १०-४

जीव (मन) तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ।
जीव (चित्त) तुं शीद शोचना धरे ? कृष्णने करवुं होय ते करे ॥
[दयाराम पद ३४, पृ. १२८; दयारामकृत भक्तिनीतिकाव्यसंग्रह अहमदाबाद १८७६]
३४६-१६

जीव नवि पुग्गली नैव पुग्गल कदा पुग्गलाधार नहीं तास रंगी ।
पर तणो ईश नहिं अपर ऐश्वर्यता वस्तु धर्मे कदा न परसंगी ॥
[सुमतिजिनस्तवन ६ देवचन्द्रजी] २७९-१६

जूवो (वा) आमिष मदिरा दारी आहे (खे) टक चोरी परनारी ।
एहि (ई) सप्तव्यसन (सात विसन) दुः (दु) खदाई दुरित मूल दुर्गति (दुरगति) के जाई (भाई) ॥
[समयसारनाटक साध्यसाधकद्वार २७ पृ. ४४४] ३८२-३०

जे अबुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि (सिं) परक्कंतं सफलं होई सव्वसो ॥ १ ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो ॥ २ ॥ [सूत्रकृतांग १-८-२२,२३ पृ. ४२] ३६१-१०

(जे) एगं जाणई से सव्वं जाणई । जे सव्वं जाणई से एगं जाणई ॥
[आचारांग १-३-४-१२२] १५३-१०

पृष्ठ लाइन

जे जाणई (इ) अरिहंते दव्वगुणपज्जवेहिं य ।
सो जाणई (इ) नियअप्पा मोहो खलु जाईय (जाइ) तस्स लयं ॥
[प्रवचनसार १–८० पृ. १०१—कुन्दकुन्दाचार्य; रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला १९३५] ६३५–२२

जेनो काळ ते किंकर थई रह्यो मृगतृष्णाजल त्रैलोक (लोक) ॥ जीव्युं धन्य तेहनुं ।
दासी आशा पिशाची थई रही कामक्रोध ते केदी लोक ॥ जीव्युं० ।
(दीसे) खातां पीतां बोलतां नित्ये छे निरंजन निराकार ॥ जीव्युं० ।
जाणे संत सलुणा (सलोणा) तेहने जेने होय छेल्लो (लो) अवतार ॥ जीव्युं ।
जगपावनकर ते अवतर्या अन्य मातउदरनो भार ॥ जीव्युं० ।
तेने चौद लोकमां विचरतां अंतराय कोईए (कोये) नव थाय ॥ जीव्युं० ।
रिद्धि (धि) सिद्धि ते (धियो) दासियो थई रही ब्रह्मानंद हृदे न समाय ॥ जीव्युं० ॥
[मनहरपद पद १५–२९, ३१, ३६, ३७, ३८, ३९, पृ. १५—मनोहरदासकृत;
सस्तुं साहित्यवर्धक कार्यालय, बम्बई सं. १९६९] ७४९–९

जे (जो) पुमान परधन हरै सो अपराधि (धी) अज्ञ ।
जो अपनो (नौ) धन विवहरै (व्योहरै) सो धनपति धर्मज्ञ ॥
[समयसारनाटक मोक्षद्वार १८, पृ. २८६] ७८६–१६

जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिकतणी तेमज जीवस्वभाव रे ।
ते जिनवीरे रे धर्म प्रकाशियो प्रबळ कषाय अभाव रे ॥
[नयरहस्य श्रीसीमंधरजिनस्तवन २–१७ पृ. २१४—यशोविजय] ४४१–१९

जैसें कंचुकत्यागसें विनसत नहीं भुजंग ।
देहत्यागसें जीव पुनि तैसें रहत अभंग ॥ [स्वरोदयज्ञान ३८६ पृ.९२—चिदानन्दजी] १२८–२५

जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपति (त) मांही (हि)
तृषावंत मृषाजल कारण (न) अटतु है ।
तैसें भववासी मायाहीसों (सौं) हित मानि मानि
ठानि ठानि भ्रम भूमि (श्रम) नाटक नटतु है ।
आगेकों (आगैकौं) हुं (धु) कत धाय (इ) पा (पी) छे वछरा चराय (चवाइ)
जैसें दृग् (नैन) हीन नर जेवरि व (ब) टतु है ।
तैसें मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै
रो (रो) वत ह (हँ) सत फल खोवत खटतु है ॥
[समयसारनाटक बंधद्वार २७, पृ. २४२] ३२८–१६

जैसो (सौ) निरभेदरूप निहचें (चै) अतीत हुंतो (हुतौ)
तैसो (सौ) निरभेद अब भेदकोन (भेद कौन) ग (क) हे (है) गो (गौ) ।

पृष्ठ लाइन

दीसे (सै) कर्मरही (हि) त सही (हि) त सुख समाधान
पायो (यौ) निजथान फिरि बाहिर (बाहरि) न वहेगे (वहैगौ)।
कबहु (हूँ) कदाचि अपनो (नौ) सुभाउ (व) त्यागि करि
राग रस राचिके (कैं) न परवस्तु गहेगो (गहैगौ)।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो (यौ)
याहि (ही) भांति आगम अनंतकाल रहेगो (रहैगौ)॥
[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०८, पृ. ३७६-७] ६७७-१२

यो (जो) गा पयडिपयेशा (पदेसा) [ठिदि अणुभागा कसायदो होंति]
[द्रव्यसंग्रह] ७८४-१५

जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिज्छयं (णिच्चयं) ज्झाण (झाणं)॥ [द्रव्यसंग्रह] ७५४-२५

जंगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणिये समीप रहे पण शरीरनो नहीं संग जो।
एकांते वसवुं रे एकज आसने भूल (भेख ?) पडे तो पडे भजनमां भंग जो॥
ओधवजी अबळा ते साधन शुं करे॥
[ओधवजीने संदेसो गरबी ३-३—रघुनाथदास; बम्बई, सं. १९५१] ४९९-२०

जं संमति पासह (हा) तं मोणंति पासह (हा)।
[जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।] [आचारांग १-५-३] ५९८-१

[णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो]
नगाए (णग्गो) मोख (विमोक्ख) मग्गो शेपा (सेसा) य उमग्गया सव्वे॥
[षट्प्राभृतादिसंग्रह सूत्रप्राभृत २३—कुन्दकुन्द; माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई] ७८६-२५

तरतम योग रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार। पंथडो०।
[आनंदघनचौबीसी अजितनाथस्तवन ५, पृ. १२] ७४४-१३

तहा रुवाणं समणाणं [भगवती] ६४३-१८

[यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः]
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ [ईशावास्य उपनिषद् ७] २३३-२४

ते माटे उभा कर जोडी जिनवर आगळ कहिये रे।
समयचरण सेवा शुद्ध देजो जेम आनंदघन लहिये रे॥ ६३०-४
[आनंदघनचौबीसी नमिनाथजिनस्तवन ११, पृ. १६४] ७६८-२०

दर्शन सकलना नय ग्रहे आप रहे निजभावे रे।
हितकरी जनने संजीवनी चारो तेह चरावे रे॥
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-४, पृ. ३३०; गुर्जरसाहित्यसंग्रह] २७५-१३

दर्शन जे थयां जूजवां ते ओघ नजरने फेरे रे। पृष्ठ लाइन
दृष्टि थिरादिक तेहमां समकित दृष्टिने हेरे रे ॥
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १–५, ३ पृ. ३३०] २७५–१५

देखत भूली टळे तो सर्व दुःखनो क्षय थाय। [ ] ४७०–२

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। ७८४–२५
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्॥[आप्तमीमांसा १–समंतभद्र] ८००–११

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥ [ ] २४२–१८

दुर्बळ देहने मास उपवासी जो छे मायारंग रे।
तो पण गर्भ अनंता लेशे बोले बीजुं अंग रे ॥ [ ] ५३२–९

धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे ज्ञानवंत ज्ञानिशुं मळतां तनमनवचने साचा।
द्रव्यभाव सुधा जे भाखे साची जिननी वाचा धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे ॥
[सिद्धांतरहस्य सीमंधरजिनस्तवन १५–३, पृ. २८३—यशोविजयजी] ७५९–१४

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो।
देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥
[दशवैकालिकसूत्र १–१; प्रो. अभ्यंकरद्वारा सम्पादित १९३२] ७९०–२५

धार तरवारनी सोहली दोहली चौदमा जिनतणी चरणसेवा।
धारपर नाचता देख बाजीगरा सेवना-धारपर रहे न देवा ॥
[आनंदघनचौवीसी अनंतनाथजिनस्तवन १, पृ. ८६] ३४२–१२

नमो जिणाणं जिदभवाणं ३९०–३०
× [इसे स्थानकवासियोंके छह कोटिके 'नमोत्थुणं'में बोलनेकी परम्परा है] ६५४–२०

नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ॥
[योगशास्त्र १–१, हेमचन्द्राचार्य; जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर १९७१] ७७०–८

नाकेरूप निहाळता [ ] ७३९–२०

नागरसुख पामर नवी (व) जाणे वल्लभ सुख न कुमारी रे।
अनुभवविण तेम ध्यानतणुं सुख कोण जाणे नर नारी रे ?
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय ७–३, पृ. ३३९] ३०५–१०

निजछंदनसें ना मिले हीरो वैकुंठ धाम।
संतकृपासें पाईये सो हरि सबसें ठाम ॥ [माणेकदास] ५४३–२२

निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। [प्रतिक्रमणसूत्र] ५४२–९

× यह सूचना मुझे पं. सुखलालजीसे मिली है। —सम्पादक.

पृष्ठ लाइन

मन महिलानुं वहालो उपरे बीजां काम करंत रे । ३०५-१२,२१
तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे ज्ञानाक्षेपकवंत रे ॥ ३०६-९,११
[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय ६-६ पृ. ३३८] ३०८-३
३०९-२०

मंत्रतंत्र औषध नहीं जेथी पाप पलाय ।
वीतरागवाणी विना अवर न कोई उपाय ॥
[अगाससे पं० गुणभद्रजी सूचित करते हैं कि यह पद्य स्वयं राजचन्द्रजीका है] ७४८-२८

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह (दुस्सह) इट्ठनिट्ठअट्ठे (त्थे) सु ।
थिरमिच्छहि (ह) जह चित्तं विचित्तज्झाण (झाण) प्पसिद्धीए ॥
पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झा (झा) एह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥ [द्रव्यसंग्रह] ७५४-१७

मारे काम क्रोध सब (जिनि) लोभ मोह पीसि डारे
इन्द्रिहुं (इन्द्रीऊ) कतल करी कियो रजपूतो (तौ) है ।
मार्यो महामत्त मन मारे (मार्यो) अहंकार मीर
मारे मद मछर (मच्छर) हू ऐसो रनरु (रू) तो है ।
मारी आशा (सा) तृष्णा पुनि (सोऊ) पापिनी सापिनी दोउ (ऊ)
सबको प्रहार करि निज पद (पदइ) प्हूतो (पहूतो) है ।
सुंदर कहत ऐसो साधु कोई (ऊ) शू (सू) रवीर
वैरि (री) सब मारिके निचिंत होई (इ) सूतो (तौ) है ।
[सुंदरविलास शूरातनको अंग २१-११ सुंदरदास; बम्बई, १९६१] ४८१-९

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ७३३-२२
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥ [तत्त्वार्थसूत्रटीका] ७८५-३
८०१-१

योग असंख जे जिन कह्या घटमांही (हि) रिद्धि दाखी रे ।
नवपद तेमज जाणजो आतमराम छे साखी रे ॥
[अष्ट सकल समृद्धिनी घटमांहि ऋद्धि दाखी रे ।]
तिम नवपद ऋद्धि जाणजो आतमराम छे साखी रे ॥
योग असंख्य छे जिन कह्या नवपद मुख्य ते जाणो रे ।
एह तणे अवलंबने आतमध्यान प्रमाणो रे ॥
[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनयविजय-यशोविजयजी; पृ. १८४-५. भीमसिंह
माणिक बम्बई १९०६] ४७८-२

पृष्ठ लाइन

सिरिवीरजिणं वंदिअ कम्मविवागं समासओ वुच्छं।
कीरई जिएण हेऊहिं जेणं तो भण्णए कम्मं ॥

[प्रथम कर्मग्रन्थ १—देवेन्द्रसूरि; आगरा १९१८] ६२३-१५

[हाँसीमें विषाद बसै विद्यामैं विवाद बसै कायामैं मरन गुरु वर्त्तनमैं हीनता।
सुचिमैं गिलानि बसै प्रापतिमैं हानि बसै जैमैं हारि सुंदर दसामैं छवि छीनता ॥
रोग वसै भोगमैं संजोगमैं वियोग बसै गुनमैं गरब बसै सेवामांहि दीनता
और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती] सुखकी सहेली है (है) अकेली उदासीनता।

[समयसारनाटक पृ. ४३५-६] १६०-२५

अध्यात्मनी जननी ते उदासीनता।

[यह पद स्वयं रायचन्द्रजीका बनाया हुआ हो सकता है] १६०-२५

सुख दुः (दु) खरूप करमफल जाणो निश्चय एक आनंदो रे।
चेतनता परिणाम न चूके चेतन कहे जिनचंदो रे ॥

[आनंदघनचौवीसी वासुपूज्यजिनस्तवन ४, पृ. ७७] २८१-२२

सुखना सिंधु श्रीसहजानंदजी जगजि (जी) वनके (ह ?) जगवंदजी।
शरणागतना सदा सुखकंदजी परमस्नेही छो (छे) परमानन्दजी ॥

[धीरजाख्यान १—निष्कुलानन्द; काव्यदोहन भाग २, पृ. ५३९] २५४-२३

सुहजोगं पदु (डु) च्चं अणारंभी, असुहजोगं पदु (डु)-
च्चं आयारंभी परारंभी तदुभयारंभी। [भगवती] १९४-२४

[जोई द्रिग ग्यान चरनातममैं वैठि ठौर भयौ निरदौर पर वस्तुकौं न परसै]
शु (सु) द्धता विचारै ध्यावै शु (सु) द्धतामें केली करे (रै)।
शु (सु) द्धतामें थिर व्हे (व्है) अमृतधारा वरसे (वरसै) ॥
[त्यागि तन कष्ट है सपष्ट अष्ट करमकौ करि थान भ्रष्ट नष्ट करै और करसै
सोतौ विकलय विजई अलपकाल मांहि त्यागी भौ विधान निरवान पद परसै] २८३-२ }
[समयसारनाटक पृ. ३८२] ३६१-४ }

सो धम्मो जथ्थ (त्थ) दया दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो।
सो हु गुरु (रू) जो नाणी आरंभपरिग्गह (हा) विरओ ॥ [ ] ४४६-७

संवुझ्झ (ज्झ) हा जंतवो माणुसत्तं दट्टु (दट्ठुं) भयं वालिसेणं अलंभो।
एगंतु दुल्खे (क्खे) जरिए व लोए सकम्म (म्मु) णा विपरियासु विंति (विप्परिया सुवेइ) ॥

[सूत्रकृतांग १-७-२२, पृ. ३९] ३६६-२०

परिशिष्ट (३)

'श्रीमद् राजचन्द्र'के विशिष्ट शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका

परिशिष्ट (४)

'श्रीमद् राजचन्द्र' में आये हुए ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी वर्णानुक्रमणिका

* अहमदाबादसे श्रीयुत भोगीभाई पोपटलाल भाई सूचित करते हैं कि अंबारामजी भादरणके नहीं, परंतु 'धर्मज' के निवासी थे।—सम्पादक

परिशिष्ट (५)

' श्रीमद् राजचन्द्र ' में आये हुए मुमुक्षुओंके नामोंकी सूची

परिशिष्ट (६)

आत्मसिद्धिके पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका

संशोधन और परिवर्तन

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
४-१४ पहले	आगे
८—५ वीरं	भाई
८—८ धर्म विना राजा लोग ठगाये जाते हैं !	यदि राजाके पास ठाटबाट न हो तो वह उस कमीके कारण ठगा नहीं जाता, किन्तु धर्मकी कमीके कारण वह ठगाया जाता है ।
८—९ धुंरधता	धुरंधरता
९—४ प्रतिष्ठा	बुद्धिमत्ता
९-४ धर्मके बिना किसीभी वचनका	सभीका कथन है के धर्मके बिना
११-२८ महावीरकी	महावीरनी
१३-१६ निकाल	निकल
२२-१८ प्रवेश मार्गमें	मार्गमें प्रवेश
२३-२ चलाई	उठाई
२६-२५ स्वरूपकी	स्वरूपको
२६-२५ विनाशका	विनाश
३८-१३ व्यावस्था	व्यवस्था
५६-९ जीवोंको क्षमाकर	जीवोंसे क्षमा माँगकर
६०-१२ इतनेमें	इतने
६७-२ इस बातकी......करना।	मुझे तो उसकी दया आती है । उसको परवस्तुमें मत जकड़ रक्खो । परवस्तुके छोड़नेके लिये यह सिद्धान्त ध्यानमें रक्खो कि
७१-६ उज्ज्वलको	उज्ज्वल
७२-१२ भगवान्में	भगवान्ने
७४-८ समाणेमि	सम्माणेमि
७९-१० होंने	होते
८०-४ तत्पर्य	तात्पर्य
८४-२१ उत्पत्ति व्ययरूपसे.......तो	उत्पत्ति व्ययरूपसे मानें तो पाप पुण्य आदिका अभाव हो जानेसे
८५-१ नहीं, अर्थात् कभी	नहीं हुआ, अंतः संभव है ।
८५-२ जानकर	जानकार
८५-२० जावग	जावेंगे
९५-१४ पहले	उन
१०३-३ शरीरमें	शरीरमां
१०७-२ कंकणोंको	कंकणोंके
११५-२६ रोज	रोझ
११९-४ मामकी	नामकी

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
११९-३२ चारों	चोरों
१२२-१६ इसके कारण	इसे धारण करके
१३०-११,१२ अर्द्ध	अद्धा
१३४-१७ ज	जा
१४७-६ उसका उपाय बता देगा	संभाल लेगा
१४८-३३ पिहियास्रव	पिहियस्रव
१५२-१५, क्योंकि	।
१५४-३० उस रास्तेपर......सकता	उसकी निकटता नहीं हो सकती
१५६-३ अथवा	अन्यथा
१५६-१० यहाँ कहना चाहता हूँ	उसे दिखानेकी इच्छा है
१६४-९ एक पक्षमें	एक तरहसे
१६४-१० योग्य कहा गया	मान्य रक्खा
१६५-२२ अनंत	अंतर
१६७-२२ विना किसी अपवादके	कुछको छोड़कर
१७०-२२ अपने	आपके द्वारा
१७१-१ इसपरसे होकर जाना	जाना
१७३-२२ सुना	याद कर
१७३-३१ हीन......है	अपराधी हुई है
१७४-१ विशुद्ध	निरपराधी
१७४-१३ उलटे सीधे	इधर उधरके
१७७-२ हम	हमने
१७७-२ जानते	जाना
१७७-२६ ऐसा	उस
१८४-६ आसक्तिका भाव	दुःख
१८४-७ जिससे शंका न रहे	यह शंका भी नहीं रहती
१८४-१०; उसी समय......समझता है	कि जीव बंध और मुक्तिसहित है।
१८५-१० कर रहा है	करता रहेगा
१८५-२६ के प्रति	को
१८५-२६ भूल जाओ	भुला दे
१८६-३ तेरा	तूने
१८६-४ साक्षी...दुःखी	साक्षी और मध्यस्थ
१८६-७ कारण	विचारणा
१८६-२२ हो	हैं
१८७-१९ अपनेमें	अपनेसे
१८८-१९ आज मेरा जन्म सफल हो गया है	जन्म सफल करनेका अवसर मिल गया है
१९२-७ कौनसी	कहाँ
१९३-११ मैं आपके साथ...चाहता	और मैं आपके साथ वैसा वर्त्ताव रखना नहीं चाहता
१९४-७ कारण	नाते
१९६-३ जिसका कोई......ऐसे	अयाचित—

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
२००-२१ आती	आती होगी
२०४-६ त्यागी	का त्याग करके
२०६-२१ छोड़कर	रखकर
२०८-४ भगवती	भागवती
२१५-१ उनको	उसको
२१५-१२ आंतर	अनहद
२१६-२ इसके स्वप्नका	इसका स्वप्नमें भी
२१६-६ ओधाकवि......हमारे	मुक्तानन्दका नाथ कृष्ण ही, हे उद्धव! हमारे
२१७-२६ अज्ञानी	अज्ञात
२१७-२६ रोक	कर
२१८-३० मुझमें वैसी तथारूप	यहाँ वैसी
२१९-६ किसी	किसी किसी
२१९-१७ प्रकाशिता	प्रकाशिका
२१९-२४ (उपसंहारको यहां शीर्षक समझना चाहिये)	
२२२-४ दुःषमके विषयमें......की	दुःषम कमीवाला है, यह दिखानेकी
२२२-१३ लागू	मालूम
२२२-२२ और	और ऐसे जीव
२२२-२४ जीनेवाले ऐसे जीव	जीनेवाले
२२२-२९ और इस......सत्	और यह अनुभव ही इस कथनका सत्साक्षी
२२३-१३ जिस वर्त्तमानकालमें हूँ	अभी जिस स्थितिमें हूँ
२२४-१२ छालसहित	समूचा
२२४-१३ नारियल है	नारियलका वृक्ष है।
२२७-१४ उपदेश किया है	लिखा है।
२३२-१ इसी	ऐसे
२३२-१९,२०,३० मक्खन	दही
२३४-२१ पहिला	वह
२३७-२३ देखते	देखते हो
२३९-९ तो ऐसा	तो
२४१-१२ लौ	लौ
२४४-२१ हो सकती है	होनी चाहिये
२४८-२४ "पी पी"	"प्रिय प्रिय"
२५०-२९ कभी कभी	संभव है
२५०-३० जाता है	जाय
२५४-४ रुक हो	रुक
२५५-२७,३० मित्रभाव	भिन्नभाव
२५८-११,१२ विचारके परिणाममें......जीवको उत्पन्न हो जाता है	विचारके फलस्वरूप जो कुछ करना योग्य होता है और जिसके बारेमें 'किसी भी प्रकारसे नहीं होता' इस तरह उसे मालूम होता था वह प्रगट होनेके कारण या तो उसमें उत्पन्न होते हैं

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
२५८–२६,२७ अपना विचार......सिद्ध हो जाय	ऐसे जीवके दोष तीसरे प्रकारमें समाविष्ट होते हैं।
२६०–१३ अनेक साधन जुटाये	अनेक तरहकी साधना की
२६१–२५ यदि किसी भी......जाय तो	यदि तीनों कालमें जड़ जड़ ही है और चेतन चेतन ही है तो फिर
२६२–१,२ आत्मा जबतक......रहता है	बंध और मोक्ष तो जड़ चेतनके संयोगसे है और वह संयोग तबतक है जबतक आत्माको अपने स्वरूपको भान नहीं रहता; परन्तु आत्माने तो अपने स्वभावका त्याग किया है
२६३–१५ विशेष शास्त्रों......विश्वास करना	विशेष शास्त्रोंके ज्ञानके साथ भी यदि अपनी आत्माका स्वरूप जाना अथवा उसके लिये सच्चे मनसे आश्रय लिया तो
२६४–२ ज्ञान तो ज्ञानी......भी है	लेकिन वे ही वेदादि शास्त्र ज्ञानी पुरुषके लिये सम्यग्ज्ञानरूप हैं, ऐसा वहीं (नंदीसूत्रमें) कहा है
२६८–६ पत्रमें	पत्रमें,
२६८–८ आप और हम......होते हैं	तुम्हें, मुझे और हम सबको कौनसे वादमें दाखिल होना
२७३–१७ करने	कराने
२७४–८ कुछ पता नहीं चलता	मेल नहीं हो पाता
२७९–२२ ऐसा कहा गया है	कहते हैं
२८०–२९ हो सके	हो
२८३–१ उसे	जिसे
२८९–२२ नहीं देखने	नहीं
२९०–१९ अप्रतिबंध	अप्रतिबद्ध
२९१–२५ समागम	प्रसंग
२९५–२७ और......ही	और जितनी भी क्रियायें हैं उन सबकी अपेक्षा
३०१–११ दूसरा	दूसरे
३११–५ वह	किन्तु उसके
३११–२५ और जो श्रद्धा हम समझते हैं	, जिसे कि हम समझें कि
३१८–२८ विवेचना	विस्तार
३१९–१४ भावना	संभावना
३२२–२७,२८ प्रमादयोगमें	प्रमादयोगविषयक
३२३–११ हम मानते हैं	माना
३२३–१२ ही नहीं	नहीं;
३२३–१२ भी है	है
३२४–१ उपाधिमें	उपाधिके विषयमें
३२७–२१ अलौकिक	लौकिक
३३२–५ आधार	पोषण
३३२–१६ परमार्थहेतुमूल	परमार्थमूलहेतु
३३२–१८ जीव अपने......करनेवाला	व्यवहारका बिलकुल उत्थापन करनेवाला जीव अपने आपको

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
३३३–२६ वहां	वहां वियोग होनेपर भी
३३३–२७ दूर करना	करना
३३३–३० जिसको......किया है	जिसने......भाव किये हैं
३३४–२६ मंदवाडमें	बीमारीमें
३३५–८ हमारे	अपने
३३९–२९ अणहारा	अणहारी
३४०–३२ जीव पदार्थ किसीका	जीव पदार्थको कोई
३४३–२४ कचित्	क्वचित्
३४५–२६ अपने	हमारा
३४९–१८ गुणोंमें	दोषोंमें
३५३–४ इच्छाकी	=इच्छा और
३५३–१९ उदासीन	=उदास
३५४–१९ मांगना, उस प्राप्त किये हुए की	मांगना हो, उसको धर्म प्राप्त हुआ है कि नहीं इस बातकी
३५७–५,६,८,९ स्त्रियों	स्त्री
३६१–२ आपके	आपके,
३६१–२३ स्वभावमें	सरल
३६१–२५ यह भी	यह भी संभव है कि
३६१–२६ उदयमें होने योग्य कारण है	उदयका कारण हो
३६२–२६ चित्त......प्रवृत्तिका	चित्तका इच्छारूप किसी प्रवृत्तिमें
३६३–२० कवितार्थ	कविता
३६३–२० संसारार्थ	संसार
३६९–११ अपूर्ण	अपूर्व
३७९–३ आगापीछा	एतराज
३८२–१ बहुलसे वर्त्तमानों	बहुतसी घटनाओं
३८२–१६ सबके	सबकी
३८२–१७ करानेके	मांगना
३८२–१७ करनेके लिये	करना
३८२–१७ करनेके लिये	करना
३८२–१८ होना चाहिये	होना
३९१–२७ जिसे	जिससे
४०१–२३ जिस तरह	यदि
४०१–२३ की हुई	की जाय तो वह
४०१–२४ वैसे	और इस तरह
४०२–१६ नहो	होने
४१५–१४ यद्यपि......सकता है	बतानेके पहिले तो कुछ सोचना पड़ता है।
४१९–५ माहाम्य	माहात्म्य
४२१–९ लक्षणरूप जो द्रव्यसंयम है	लक्षणरूप
४२१–१० रूप जो भावसंयम है उस	रूप
४२१–२ संकम	सकाम

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
४३४–१३ काय	कार्य
४५३–२७ जाव	जीव
४५४–४ गाण	गौण
४५८–२६(६) +	,,
४५८–२७(६) ,,	+
४६१–१२ वह उस	वह
४६२–२१ प्रमाणसे	तरहसे
४६३–२३ पदार्थ......में	पदार्थ जैसे वर्तमानकालके पदार्थ
४६३–२४ हैं,	हैं, वैसे दिखाई देते हैं
४६५–१६ आत्माके	आत्माकी
४६५–१६ आदिकी	आदि
४७४–४ करना	होना
४९७–२७ जिस प्रकारसे......हो	जिस किसी प्रकारसे भी समझो, किन्तु
४९९–२५ मैं अबला उन......करूँ	अबला साधना कैसे कर सकती है
५००–८ वर्णकी	वर्णका
५०१–१८ दहुंच	पहुंच
५०८–१ आदिके	आदिका
५१३–८ वचनको	वचनद्वारा
५१५–८ वसाको	वैसा कोई
५२७–२६ करनेवाली	करनेवाले
५३२–२३ मंड	मंद
५४०–३४ तपगच्छवाले	श्वेताम्बर मूर्तिपूजक
५४७–१४ ही	भी
५४७–२२ रोग	योग
५५४–६ हो	हो जाय
५५७–२४ मारामारी	ममत्व
५५९–२० जीवा ऐसा	ऐसे जीव
५६१–१ अंधमार्ग बताने जैसा,	जैसे अंधा मार्ग बतावे ऐसा है।
५६१–१३ जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह	ज्योंही उसे खेद हुआ कि वह तुरत ही
५६९–१ भटकने	कमाने
५६९–१९ अन्तः	अन्त
५७५–४ प	पद
५८८–१४ थवा	अथवा
५८८–२३ पाहल	पहिले
५८९–१८ किसीसे	कोई
६१०–२३ फदळाता	फळदाता
६४७–१९ कारणानुयोग	करणानुयोग
६५७–६ करनेवाले	करानेवाले
६७३–५ धर्मका	धर्ममें

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ लाइन	
६७६–३ शास्त्रपरिज्ञा	शस्त्रपरिज्ञा
६९०–७ करना	करना बन पड़ता
६९५–६ स्वभाव	स्वभावभाव
७०५–१६ छुड़ाना	छूटना
७०५–२४,२५ का त्रिचार	की रचना
७०५–२५ विचार किया हुआ	रचित
७०५–२७,२८ का विचार	की रचना
७०६–१ विचार किये हुए	रचित
७१३–१९ इसके अतिरिक्त	केवलीसे अतिरिक्तके लिये
७२७–२७ रोगीको	रोगीके रोगको
७२८–२९ दिन	वर्ष
७३६–२७ विदांत	वेदांत
७५३–१७ बताना	बताई
७५३–२१ वह	उसका
७५६–४ मूलका	मूलकी
७६०–२८ भाव न	भावन
७७१–७ भेजा	भेज
७७१–८ और और	और
७७९–४ मुखके पास ले जाकर	सबसे आगे करके
७८०–१६ शास्त्रसंबंध	शस्त्रसंबंध
७८२–२ किसीकी	किसीको
७८७–४ समाधानका	समाधान
७८९–२० अंतवृत्ति	अंतर्वृत्ति
७९४–२७ विषय	विषम
७९५–२३ शास्त्र	शस्त्र
८००–७ सद्वात्तिवान्	सद्वृत्तिवान